"मुद्रकस्य कराघातै खिन्ना चेन्मम भारती ।
कराम्बुजामृतस्पर्शै. सन्त ! सञ्जीवयन्तु ताम् ।।"

हिन्दी

अभिनवभारती

अभिनवगुप्त-विरचित नाट्यशास्त्रविवृति
अभिनवभारतीके १, २, और ६ अध्याय

का

पाठानुसंधान, पाठसमीक्षा

हिन्दी-अनुवाद एवं विशद व्याख्या सहित

अभिनवभारती-सञ्जीवनभाष्य

प्रधान सम्पादक—डॉ० नगेन्द्र

*

सम्पादक तथा भाष्यकार

वृन्दावनस्थ गुरुकुल विश्वविद्यालयके अनुसन्धान-सञ्चालक
दिल्ली विश्वविद्यालय हिन्दी अनुसन्धान परिषद्के
सम्मान्य सदस्य

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

*

प्रकाशक

हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मूल्य पच्चीस रुपया

प्रथम संस्करण
१९६०

मुद्रक
युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली–६

हमारी योजना

'हिन्दी अभिनवभारती' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला का तेईसवां ग्रन्थ है। 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्', हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यत. दो उद्देश्य हैं, हिन्दी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फल-स्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे, जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओ के साथ प्रस्तुत किया गया है; दूसरे वे, जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० उपाधि प्रदान की गई है और तीसरे वे ग्रन्थ, जिनका अनुसन्धान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ—प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यालकारसूत्र, (२) हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, (३) अरस्तू का काव्य-शास्त्र, (४) हिन्दी-काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी-अनुवाद), (६) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, (७) काव्य-कला (होरेस-कृत) तथा (८) सौन्दर्य-तत्त्व। द्वितीय वर्ग के ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रिया, (२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, (३) सूफीमत और हिन्दी-साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला, (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिलीशरण गुप्त . कवि और भारतीय सस्कृति के आख्याता, (९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, (१०) मतिराम . कवि और आचार्य तथा (११) आधुनिक हिन्दी-कवियो के काव्य-सिद्धान्त। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है—(१) अनुसन्धान का स्वरूप, (२) हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रवन्ध तथा (३) अनुसन्धान की प्रक्रिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथम वर्ग का नवम प्रकाशन है। वास्तव में इस दुर्लभ ग्रन्थ को हिन्दी-पाठको की सेवा में अर्पित करते हुए हम एक प्रकार के सात्विक गर्व का अनुभव कर रहे हैं। अभिनवगुप्त भारतीय काव्यशास्त्र के मूर्धन्य आचार्य हैं और अभिनवभारती उनकी साहित्यिक-दार्शनिक प्रतिभा की प्रौढतम अभिव्यक्ति है . परवर्ती सस्कृत काव्यशास्त्र और उसके माध्यम से सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तो पर—विशेष रूप से रस-सिद्धान्त पर उसका गहरा प्रभाव है। अभिनवभारती का केवल एक ही सस्करण प्राप्त है और वह भी अत्यन्त त्रुटित है। हमें प्रसन्नता है कि हमारे अनुरोध पर संस्कृत वाङ्मय के उद्भट विद्वान् आचार्य विश्वेश्वर ने अपनी अपूर्व मेधा के बल पर अभिनवभारती के तीन प्रमुख अध्यायो का प्रामाणिक एव विशद भाष्य प्रस्तुत कर सर्वथा दुष्कर कार्य सम्पन्न कर दिया है। यो तो यह समस्त ग्रन्थ ही भारतीय साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है, परन्तु इसके प्रथम, द्वितीय तथा षष्ठ अध्यायो का विशेष महत्त्व है। इसीलिए आरम्भ में हमने इन तीन की ही हिन्दी-व्याख्या प्रकाशित करने का प्रवन्ध किया

भूमिका

नाटचशास्त्रका काल और कर्ता—

भरतमुनि-विरचित 'नाटचशास्त्र' भारतीय सस्कृत-साहित्यका एक अत्यन्त प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका रचना-काल विक्रम-पूर्व पञ्चम शताब्दीसे लेकर विक्रम-पूर्व प्रथम शताब्दी तक माना जाता है अर्थात् कुछ विद्वान् विक्रम-पूर्व पञ्चम शताब्दीमें इसकी रचना मानते हैं और दूसरे विद्वान् इसे विक्रम-पूर्व प्रथम शताब्दीकी कृति मानते हैं। ठीक रचना कालका निश्चय करना तो कठिन है किन्तु यह निश्चित बात है कि उसकी रचना विक्रम-सम्वत्सरके आरम्भ होनेके पूर्व ही हो चुकी थी। इस लिए वह अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है।

नाटचशास्त्रके काल-निर्णयके समान ही उसके रचयिताका निश्चय भी विशेष प्रयत्न-साध्य और विवादग्रस्त है। यो तो इसके रचयिता भरतमुनि माने जाते हैं। और इसमें कोई सन्देह नही है कि भरतमुनि ही इसके रचयिता हो सकते हैं, दूसरा कोई व्यक्ति नही। किन्तु भारतीय साहित्यमें भरत नामके कई व्यक्ति पाए जाते हैं। इस लिए थोडा-सा सन्देह उत्पन्न होता है कि किस भरतको नाटचशास्त्रका कर्ता माना जाय। किन्तु यह सन्देह केवल नाम मात्रका सन्देह है, इसमें कुछ तत्त्व नही है। भरत नाममे सबसे प्रथम रामचन्द्रजीके भाई और दशरथके पुत्र भरत का परिचय हमको मिलता है किन्तु उनके साथ नाटचशास्त्रका कोई सम्बन्ध किसी रूपमें कही नही पाया जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि वे नाटचशास्त्रके निर्माता नही हैं। भरत नामके दूसरे व्यक्ति दुष्यन्तके पुत्र भरत मिलते हैं और तीसरे इसी भरत नामके व्यक्ति मान्धाताके प्रपौत्रके रूप में पाए जाते हैं। किन्तु ये दोनों राजा या राजपुत्र हैं, मुनि नही। नाटचशास्त्रके निर्माता भरत 'मुनि' हैं, इसलिए ये दोनो भी नाटचशास्त्रके निर्माता नही कहे जा सकते हैं। इन तीन भरत व्यक्तियोके अतिरिक्त 'आदि भरत' 'वृद्ध भरत' और 'जड़ भरत' नामसे तीन भरतोंका उल्लेख सस्कृत साहित्यमें और पाया जाता है। इन्हीमेंसे किसी एक या इन तीनोको नाटचशास्त्रका निर्माता मानना होगा। तीनोंको इसलिए कि वर्तमान नाटचशास्त्र जिस रूपमें आज उपलब्ध हो रहा है वह उसका आदि रूप नही है। उसका कई बार सम्पादन हुआ है। उसके दो सस्करणोका उल्लेख तो श्री शारदातनयने अपने 'भावप्रकाशन' ग्रन्थमें किया है जिसमें प्रथम सस्करणका रचयिता 'आदि भरत' या 'वृद्ध भरत' को और द्वितीय सस्करणका रचयिता 'भरत' को बतलाया है। 'आदि भरत' या 'वृद्ध भरत' का बनाया हुआ नाट्यशास्त्र अपने कलेवरकी दृष्टिसे वर्तमान नाटचशास्त्र की अपेक्षा दुगुना बडा था। उसका परिमाण बारह सहस्र श्लोकोका था। इसलिए उसको 'द्वादश-साहस्री सहिता' कहते हैं। वर्तमान नाटचशास्त्रका परिमाण छह सहस्र श्लोको का है। इसलिए इसे 'षट्-साहस्री-सहिता' कहते हैं। 'आदि भरत' या 'वृद्ध भरत' का बनाया हुआ नाटचशास्त्र बारह

भूमिका

नाटयशास्त्रका काल और कर्ता—

भरतमुनि-विरचित 'नाटयशास्त्र' भारतीय सस्कृत-साहित्यका एक अत्यन्त प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका रचना-काल विक्रम-पूर्व पञ्चम शताब्दीसे लेकर विक्रम-पूर्व प्रथम शताब्दी तक माना जाता है अर्थात् कुछ विद्वान् विक्रम-पूर्व पञ्चम शताब्दीमें इसकी रचना मानते हैं और दूसरे विद्वान् इसे विक्रम-पूर्व प्रथम शताब्दीकी कृति मानते हैं। ठीक रचना कालका निश्चय करना तो कठिन है किन्तु यह निश्चित वात है कि उसकी रचना विक्रम-सम्वत्सरके आरम्भ होनेके पूर्व ही हो चुकी थी। इस लिए वह अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है।

नाटयशास्त्रके काल-निर्णयके समान ही उसके रचयिताका निश्चय भी विशेष प्रयत्न-साध्य और विवादग्रस्त है। यो तो इसके रचयिता भरतमुनि माने जाते हैं। और इसमें कोई सन्देह नही है कि भरतमुनि ही इसके रचयिता हो सकते हैं, दूसरा कोई व्यक्ति नही। किन्तु भारतीय साहित्यमें भरत नामके कई व्यक्ति पाए जाते हैं। इस लिए थोडा-सा सन्देह उत्पन्न होता है कि किस भरतको नाटयशास्त्रका कर्ता माना जाय। किन्तु यह सन्देह केवल नाम मात्रका सन्देह है, इसमें कुछ तत्त्व नही है। भरत नामसे सवसे प्रथम रामचन्द्रजीके भाई और दशरथके पुत्र भरत का परिचय हमको मिलता है किन्तु उनके साथ नाटयशास्त्रका कोई सम्वन्ध किसी रूपमें कही नही पाया जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि वे नाटयशास्त्रके निर्माता नही हैं। भरत नामके दूसरे व्यक्ति दुष्यन्तके पुत्र भरत मिलते हैं और तीसरे इसी भरत नामके व्यक्ति मान्धाताके प्रपौत्रके रूप में पाए जाते हैं। किन्तु ये दोनो राजा या राजपुत्र हैं, मुनि नही। नाटयशास्त्रके निर्माता भरत 'मुनि' हैं, इसलिए ये दोनो भी नाटयशास्त्रके निर्माता नही कहे जा सकते हैं। इन तीन भरत व्यक्तियोके अतिरिक्त 'आदि भरत' 'वृद्ध भरत' और 'जड भरत' नामसे तीन भरतोका उल्लेख सस्कृत साहित्यमें और पाया जाता है। इन्हीमेंसे किसी एक या इन तीनोको नाटयशास्त्रका निर्माता मानना होगा। तीनोको इसलिए कि वर्तमान नाटयशास्त्र जिस रूपमें आज उपलव्ध हो रहा है वह उसका आदि रूप नही है। उसका कई वार सम्पादन हुआ है। उसके दो संस्करणोका उल्लेख तो श्री शारदातनयने अपने 'भावप्रकाशन' ग्रन्थमें किया है जिसमें प्रथम सस्करणका रचयिता 'आदि भरत' या 'वृद्ध भरत' को और द्वितीय सस्करणका रचयिता 'भरत' को वतलाया है। 'आदि भरत' या 'वृद्ध भरत' का वनाया हुआ नाट्यशास्त्र अपने कलेवरकी दृष्टिसे वर्तमान नाटयशास्त्र की अपेक्षा दुगुना वडा था। उसका परिमाण वारह सहस्र श्लोकोका था। इसलिए उसको 'द्वादश-साहस्री सहिता' कहते हैं। वर्तमान नाटयशास्त्रका परिमाण छह सहस्र श्लोको का है। इसलिए इसे 'षट्-साहस्री-सहिता' कहते हैं। 'आदि भरत' या 'वृद्ध भरत' का वनाया हुआ नाटयशास्त्र वारह

सहस्र श्लोकोका अत्यन्त दीर्घकाय महाग्रन्थ था। भरतमुनिने उसका सक्षेप करके छह सहस्र श्लोको का यह लघु-सस्करण प्रस्तुत किया है। यह इन दोनो सहिताओका भेद है। इन दोनोका उल्लेख करते हुए शारदातनयने 'भावप्रकाशन' ग्रन्थमें लिखा है—

"एव द्वादश-साहस्रै: श्लोकैरेक, तदर्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्योनाटचवेदस्य सग्रह.॥"

(भावप्रकाशन, पृष्ठ २८७।)

इससे यह अनुभान सरलतापूर्वक किया जा सकता है कि नाटचशास्त्रकी द्वादश-साहस्री-सहिताका निर्माण जिन्होने किया था उनका आदि-भरत या वृद्ध-भरतके नामसे तथा षट्साहस्री-सहिताके रचयिताका केवल 'भरत' या भरतमुनिके नामसे उल्लेख किया गया है। इन दोनो सहिताओके निर्माता 'भरत' नामके व्यक्ति ही हैं इससे ऐसा प्रतीत होता है कि नाटय-शास्त्रके निर्माताके रूपमें जिस 'भरत' नामका प्रयोग होता है वह किसी एक व्यक्तिका नाम न हो कर एक प्रकारकी उपाधि है। जैसे आज भी शङ्कराचार्यके मठोमें उनकी गद्दीपर बैठने वाले व्यक्तियोका अपना व्यक्तिगत मूल नाम लुप्तप्राय हो जाता है और गद्दीके नामसे ही उन सबको शङ्कराचार्य कहा जाने लगता है। इसी प्रकार 'भरत' नाम कदाचित् व्यक्तिगत नाम न हो कर कोई उपाधि या गद्दी हो जो अपने समयके प्रधान नाटयाचार्यको प्राप्त होती हो। उसके कारण उसका मुख्य नाम लुप्त हो कर उसे 'भरत' नामसे ही जाना जाता हो। इसी लिए कुछ विद्वान् 'भरत' नाम को कल्पित नाम मानते हैं।

नाटचशास्त्रका परिमाण—

जैसा कि अभी ऊपर कहा जा चुका है। नाटयशास्त्रकी द्वादशसाहस्री और षट्साहस्री दो प्रकारकी सहिताओका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोमें पाया जाता है। किन्तु द्वादशसाहस्री-सहिता आज उपलब्ध नही है। इस समय जो नाटचशास्त्र उपलब्ध है वह षट्साहस्री-सहिता है। अर्थात् उसका परिमाण छह सहस्र श्लोकोका है। इस समय नाटचशास्त्रके दो प्रकारके सस्करण पाए जाते हैं। निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे काव्यमाला सिरीजमें जो सस्करण प्रकाशित हुआ है उसमें ३७ अध्याय हैं। इसके विपरीत वाराणसीसे चौखम्बा सस्कृत सिरीजमें जो सस्करण प्रकाशित हुआ है उसमें केवल ३६ अध्याय हैं। नाटचशास्त्रके प्राचीन टीकाकार अभिनवगुप्तने नाटचशास्त्रमें ३६ अध्याय ही माने हैं, ३७ नही। इस लिए ३६ अध्याय वाला विभाजन ही ठीक प्रतीत होता है। ३७ अध्याय वाला विभाजन ठीक नही है। अभिनवगुप्तने अपनी टीकाके प्रारम्भिक श्लोकोमें नाटचशास्त्रको 'षट्त्रिंशक भरतसूत्रम्' लिखा है। सेंतीस अध्याय वाले सस्करण में ३६वें अध्याय के ही कुछ भागको ३७ वे अध्यायके रूपमें पृथक् कर दिया गया है। विषयकी दृष्टिसे ३६ और ३७ अध्यायो वाले सस्करणोमें अन्तर नही है।

नाटचशास्त्रका विषय—

यो तो 'नाटचशास्त्र' नामसे ही प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में केवल नाटचके नियमादिका वर्णन होगा, किन्तु वस्तुत इस ग्रन्थमें केवल नाटच-नियमोका ही प्रतिपादन न हो कर नाटचसे साक्षात् या परम्परया सम्बन्ध रखने वाली सारी कलाओका वर्णन किया गया है।

नाट्यकला, नृत्यकला, सगीतकला, छन्दःशास्त्र, अलङ्कार-विधान, रग-निर्माण आदि सभी कलाओं और शिल्पोका उसमें सविस्तर वर्णन किया गया है। उसे हम सभी प्रकारकी ललित तथा उपयोगी कलाओंका विश्वकोश कह सकते हैं। स्वय नाट्यशास्त्रमें उसके विषयका दिग्दर्शन कराते हुए लिखा गया है कि—

"न तज्ज्ञानं न तच्छिल्प न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते॥"
ना० शा० १-११६।

प्रथम-द्वितीय अध्याय—जैसा कि कहा जा चुका है नाट्यशास्त्र ३६ अध्यायोंमें विभक्त किया गया है। इसके प्रथम अध्यायका नाम 'नाट्योत्पत्ति-अध्याय' रखा गया है। इस अध्यायमें नाट्यकी उत्पत्तिका वर्णन है। द्वितीय अध्यायका नाम 'मण्डपाध्याय' है। उसमें नाट्यमण्डपकी रचनाका वर्णन किया गया है। इन दोनो अध्यायोकी विषय-सूची प्रारम्भमें दी हुई है अतः यहाँ उसका विशेष परिचय देनेकी आवश्यकता नहीं है।

तृतीय अध्याय—इस अध्यायका नाम 'रङ्गदैवत-पूजन' अध्याय है। प्रथम अध्यायमें नाट्य-मण्डपके विभिन्न स्थानोकी रक्षाकेलिए भिन्न-भिन्न देवताओंको नियत किया गया था। उन देवताओंके पूजनका प्रकार इस अध्यायमे दिखलाया गया है। साहित्यिक दृष्टिसे इस अध्यायका कोई उपयोग नही है।

चतुर्थ अध्याय—चतुर्थ अध्यायका नाम 'ताण्डव-लक्षण अध्याय' है। यह अध्याय आकारमें बहुत बड़ा अध्याय है। इसमें ३२० श्लोक हैं। इसमें नाचनेके समय प्रयुक्त किए जाने वाले १०८ प्रकारके 'करणो', ९२ प्रकारके 'अङ्गहारो' तथा ४ प्रकारके 'रेचको' का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। नाचते समय हाथ-पैरोको कैसे रखना चाहिए—इसके प्रकारोका नाम 'करण' है—'हस्त-पादसमायोगो नृत्यस्य करण भवेत्' (४-३०)। नाचते समय हाथ-पैर चलानेके प्रकारका नाम 'अङ्गहार' है—'हस्तपादप्रचारश्च यथा योज्यः प्रयोक्तृभि. अङ्गहारेषु' (४-२८) इस प्रकार इस अध्यायमें नृत्यकालीन व्यापारोका ही वर्णन किया गया है। इसीलिए इनका नाम 'ताण्डवलक्षण अध्याय' रखा गया है। साहित्यिक दृष्टिसे इस अध्यायका भी कोई मूल्य नहीं है।

पञ्चम अध्याय—पञ्चम अध्यायका नाम 'पूर्वरङ्गविधान अध्याय' है। मुख्य नाटकके आरम्भ करनेके पूर्व विघ्नोपशमनादिकेलिए जो नान्दी आदि कार्य किए जाते हैं उन्हें पूर्वरङ्ग कहते हैं। इन सबका साङ्गोपाङ्ग विस्तृत विवेचन इस अध्यायमें किया गया है। नाट्य-रचना की दृष्टिसे इस विषयकी पर्याप्त उपयोगिता है। इस प्रकार तृतीय तथा चतुर्थ अध्यायोकी अपेक्षा इसका साहित्यिक मूल्य अधिक है।

षष्ठ-सप्तम अध्याय—इसके बाद षष्ठ अध्याय आता है। षष्ठाध्यायमें रसका विवेचन किया गया है इस लिए इसका नाम 'रसाध्याय' और सातवें अध्यायमें विभाव-अनुभाव स्थायिभाव आदि 'भावो' का विवेचन किया गया है इस लिए इसका नाम 'भाव-व्यञ्जक अध्याय' रखा गया है। इन दोनो अध्यायोका विषय साहित्यिक दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनमें भी षष्ठाध्यायका महत्त्व बहुत अधिक है क्योंकि सप्तम अध्यायके विभाव-अनुभाव-स्थायिभावका अधिकांश वर्णन

सहस्र श्लोकोंका अत्यन्त दीर्घकाय महाग्रन्थ था। भरतमुनिने उसका संक्षेप करके छह सहस्र श्लोकों का यह लघु-संस्करण प्रस्तुत किया है। यह इन दोनों संहिताओंका भेद है। इन दोनोंका उल्लेख करते हुए शारदातनयने 'भावप्रकाशन' ग्रन्थमें लिखा है—

"एव द्वादश-साहस्रैः श्लोकैरेक, तदर्धतः।
षड्भि. श्लोकसहस्रैर्योनाटचवेदस्य सग्रह. ॥"
(भावप्रकाशन, पृष्ठ २८७।)

इससे यह अनुमान सरलतापूर्वक किया जा सकता है कि नाटचशास्त्रकी द्वादश-साहस्री-संहिताका निर्माण जिन्होंने किया था उनका आदि-भरत या वृद्ध-भरतके नामसे तथा षट्साहस्री-संहिताके रचयिताका केवल 'भरत' या भरतमुनिके नामसे उल्लेख किया गया है। इन दोनों संहिताओंके निर्माता 'भरत' नामके व्यक्ति ही हैं इससे ऐसा प्रतीत होता है कि नाटच-शास्त्रके निर्माताके रूपमें जिस 'भरत' नामका प्रयोग होता है वह किसी एक व्यक्तिका नाम न हो कर एक प्रकारकी उपाधि है। जैसे आज भी शङ्कराचार्यके मठोंमें उनकी गद्दीपर बैठने वाले व्यक्तियोंका अपना व्यक्तिगत मूल नाम लुप्तप्राय हो जाता है और गद्दीके नामसे ही उन सबको शङ्कराचार्य कहा जाने लगता है। इसी प्रकार 'भरत' नाम कदाचित् व्यक्तिगत नाम न हो कर कोई उपाधि या गद्दी हो जो अपने समयके प्रधान नाटचाचार्यको प्राप्त होती हो। उसके कारण उसका मुख्य नाम लुप्त हो कर उसे 'भरत' नामसे ही जाना जाता हो। इसी लिए कुछ विद्वान् 'भरत' नाम को कल्पित नाम मानते हैं।

नाटचशास्त्रका परिमाण—

जैसा कि अभी ऊपर कहा जा चुका है। नाटचशास्त्रकी द्वादशसाहस्री और षट्साहस्री दो प्रकारकी संहिताओंका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया जाता है। किन्तु द्वादशसाहस्री-संहिता आज उपलब्ध नहीं है। इस समय जो नाटचशास्त्र उपलब्ध है वह षट्साहस्री-संहिता है। अर्थात् उसका परिमाण छह सहस्र श्लोकोंका है। इस समय नाटचशास्त्रके दो प्रकारके संस्करण पाए जाते हैं। निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे काव्यमाला सिरीजमे जो संस्करण प्रकाशित हुआ है उसमें ३७ अध्याय हैं। इसके विपरीत वाराणसीसे चौखम्बा संस्कृत सिरीजमें जो संस्करण प्रकाशित हुआ है उसमें केवल ३६ अध्याय हैं। नाटचशास्त्रके प्राचीन टीकाकार अभिनवगुप्तने नाटचशास्त्रमें ३६ अध्याय ही माने हैं, ३७ नहीं। इस लिए ३६ अध्याय वाला विभाजन ही ठीक प्रतीत होता है। ३७ अध्याय वाला विभाजन ठीक नहीं है। अभिनवगुप्तने अपनी टीकाके प्रारम्भिक श्लोकोंमें 'नाटचशास्त्रका षट्त्रिंशकं भरतसूत्रम्' लिखा है। सैंतीस अध्याय वाले संस्करण में ३६वें अध्याय [illegible] ३७ वें अध्यायके रूपमें पृथक् कर दिया गया है। विषयकी दृष्टिसे ३६ और ३७ अध्याय वाले संस्करणोंमें अन्तर नहीं है।

नाटचशास्त्रका विषय—

जैसा कि 'नाटचशास्त्र' नामसे ही प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में केवल नाटचके [illegible], किन्तु वस्तुतः इस ग्रन्थमें केवल नाटच-नियमोंका ही प्रतिपादन न हो कर [illegible] नाटचसे सम्बन्ध रखने वाली सारी कलाओंका वर्णन किया गया है।

नाटयकला, नृत्यकला, सगीतकला, छन्दःशास्त्र, अलङ्कार-विधान, रग-निर्माण आदि सभी कलाओं और शिल्पोका उसमें सविस्तर वर्णन किया गया है। उसे हम सभी प्रकारकी ललित तथा उपयोगी कलाओका विश्वकोश कह सकते हैं। स्वय नाटयशास्त्रमें उसके विषयका दिग्दर्शन कराते हुए लिखा गया है कि—

"न तज्ज्ञानं न तच्छिल्प न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते ॥"
ना० शा० १-११६।

प्रथम-द्वितीय अध्याय—जैसा कि कहा जा चुका है नाटयशास्त्र ३६ अध्यायोमें विभक्त किया गया है। इसके प्रथम अध्यायका नाम 'नाटयोत्पत्ति-अध्याय' रखा गया है। इस अध्यायमें नाटयकी उत्पत्तिका वर्णन है। द्वितीय अध्यायका नाम 'मण्डपाध्याय' है। उसमें नाटयमण्डपकी रचनाका वर्णन किया गया है। इन दोनो अध्यायोकी विषय-सूची प्रारम्भमें दी हुई है अतः यहाँ उसका विशेष परिचय देनेकी आवश्यकता नही है।

तृतीय अध्याय—इस अध्यायका नाम 'रङ्गदैवत-पूजन' अध्याय है। प्रथम अध्यायमें नाटय-मण्डपके विभिन्न स्थानोकी रक्षाकेलिए भिन्न-भिन्न देवताओको नियत किया गया था। उन देवताओके पूजनका प्रकार इस अध्यायमें दिखलाया गया है। साहित्यिक दृष्टिसे इस अध्यायका कोई उपयोग नही है।

चतुर्थ अध्याय—चतुर्थ अध्यायका नाम 'ताण्डव-लक्षण अध्याय' है। यह अध्याय आकारमें बहुत बडा अध्याय है। इसमें ३२० श्लोक हैं। इसमें नाचनेके समय प्रयुक्त किए जाने वाले १०८ प्रकारके 'करणो', ६२ प्रकारके 'अङ्गहारो' तथा ४ प्रकारके 'रेचको' का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। नाचते समय हाथ-पैरोको कैसे रखना चाहिए—इसके प्रकारोका नाम 'करण' है—'हस्त-पादसमायोगो नृत्यस्य करण भवेत्' (४-३०)। नाचते समय हाथ-पैर चलानेके प्रकारका नाम 'अङ्गहार' है—'हस्तपादप्रचारश्च यथा योज्यः प्रयोक्तृभि. अङ्गहारेषु' (४-२८) इस प्रकार इस अध्यायमें नृत्यकालीन व्यापारोका ही वर्णन किया गया है। इसीलिए इनका नाम 'ताण्डवलक्षण अध्याय' रखा गया है। साहित्यिक दृष्टिसे इस अध्यायका भी कोई मूल्य नहीं है।

पञ्चम अध्याय—पञ्चम अध्यायका नाम 'पूर्वरङ्गविधान अध्याय' है। मुख्य नाटकके आरम्भ करनेके पूर्व विघ्नोपशमनादिकेलिए जो नान्दी आदि कार्य किए जाते हैं उन्हें पूर्वरङ्ग कहते हैं। इन सबका साङ्गोपाङ्ग विस्तृत विवेचन इस अध्यायमें किया गया है। नाट्य-रचना की दृष्टिसे इस विषयकी पर्याप्त उपयोगिता है। इस प्रकार तृतीय तथा चतुर्थ अध्यायोकी अपेक्षा इसका साहित्यिक मूल्य अधिक है।

षष्ठ-सप्तम अध्याय—इसके बाद षष्ठ अध्याय आता है। षष्ठाध्यायमें रसका विवेचन किया गया है इस लिए इसका नाम 'रसाध्याय' और सातवें अध्यायमें विभाव-अनुभाव स्थायिभाव आदि 'भावो' का विवेचन किया गया है इस लिए इसका नाम 'भाव-व्यञ्जक अध्याय' रखा गया है। इन दोनो अध्यायोका विषय साहित्यिक दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनमें भी षष्ठाध्यायका महत्व बहुत अधिक है क्योंकि सप्तम अध्यायके विभाव-अनुभाव-स्थायिभावका अधिकाश वर्णन

पष्ठाध्यायमे रस-निरूपणके प्रसङ्गमें भी आ गया है। उत्तरवर्ती सारे साहित्यमे रस-सम्बन्धी जो कुछ भी विवेचना हुई है वह सब नाट्यशास्त्रके इस षष्ठाध्यायके आधारपर ही की गई है। 'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति.' यह जो भरतका प्रसिद्ध रस सूत्र, सारे रस-सिद्धान्त का एकमात्र आधार है वह इसी पष्ठाध्यायमें है। इस अध्यायमें कुछ भाग गद्यात्मक भी है। गद्य-पद्यको मिला कर इस अध्यायमें भरतमुनिने जो कुछ रसका विवेचन किया है वही रस-सिद्धान्तका प्राणभूत है। उत्तरवर्ती रसाचार्योकी सारी शक्ति उसीके ऊहापोहमें लगी हुई दिखलाई देती है। 'तदूरीकृत्यकृतिभिर्वाचस्पत्य प्रतायते'।

आठवें अध्याय का नाम 'अङ्गाभिनयाध्याय' है। इसमें आङ्गिक, वाचिक सात्विक और वेश-भूषा-सम्बन्धी आहार्य चारो प्रकारके अभिनयोका वर्णन किया गया है। और शिर, नेत्र, भौंह, कपोल, ओष्ठ, मुख, नासा आदि सारे शरीरावयवो द्वारा किए जाने वाले कर्मोका सूक्ष्म विवेचन किया गया है। विशेष रूपसे दृष्टि-अभिनयका विवेचन बडा सुन्दर और सूक्ष्म है।

नवम अध्यायका नाम 'उपाङ्गाभिनय' है। इसमें हाथ पैर, जङ्घा, कटि, उदर, आदि के अभिनयका विस्तृत वर्णन है। दशम अध्यायका नाम 'चारीविधान' है। एक पैरके ऊपर खडे हो कर जो गति आदि की जाती है उसका नाम 'चारी' है। 'एकपादप्रचारो य स चारीत्यभिसज्ञिता'। उसमें सोलह प्रकारकी पृथ्वीपर होने वाली 'भौम' चारियो और सोलह प्रकारकी 'आकाशिकी' चारियोका वर्णन किया गया है। ग्यारहवें अध्यायका नाम 'मण्डलविकल्पनम' है। 'चारीसयोगजानीह मण्डलानि निबोधत'—चारियोके सयोगसे मण्डलोकी रचना होती है। चारियो के समान मण्डल भी 'भौम' तथा 'आकाशीय' दो प्रकारके होते हैं। इस अध्यायमें दस प्रकारके भौम तथा दस प्रकारके आकाशीय मण्डलोका वर्णन किया गया है। बारहवें अध्यायका नाम 'गतिप्रचार' अध्याय है। इसमें पात्रोके रङ्गभूमि-प्रवेशकी विधि और उनकी नाना प्रकारकी गतियोका वर्णन किया गया है। प्रत्येक रसमें अलग-अलग प्रकारकी गति शीतार्दित, अन्धकार-पतित, वर्षाभिद्रुत, कृश, व्याधिग्रस्त, स्त्री, पुरुष आदि सबकी गतियोका विवेचन किया गया है। विविध प्रकारके यानोकी गतिका भी वर्णन है। अन्तमें पुरुषो और स्त्रियोके बैठने आदिके प्रकारोका भी वर्णन 'आसनविधि' प्रकरणमें किया गया है। तेरहवें अध्यायका नाम 'कक्ष्या-प्रवृत्तिधर्मीव्यञ्जक अध्याय' है। इसके आरम्भमें रङ्गमञ्चके विविध भागोका वर्णन, 'कक्ष्या-विभाग' नामसे किया गया है। उसमें अभिनय के उपयोग के अनुसार पर्वत, वन, नदी, नगर, आश्रम, आदिके दृश्य किस प्रकार प्रस्तुत किए जायें—इन सबका वर्णन है। उसके बाद दाक्षिणात्या, आवन्ती, ओड्रमागधी, और पाञ्चाली प्रवृत्तियोके भेदसे इन चारो भागोके लोगोके आचार-व्यवहार आदिके प्रकारोका उल्लेख किया गया है। इस भागका नाम 'प्रवृत्ति-व्यञ्जन' है। इस प्रकार इस अध्यायमें 'कक्ष्याविभाग' तथा 'प्रवृत्तिव्यञ्जन' रूप दो विषयोका प्रतिपादन किया गया है।

इसके बाद चौदहवें, पन्द्रहवें तथा सोलहवें इन तीन अध्यायोमे वाचिक अभिनयका वर्णन है। इनमें से सोलहवे अध्यायका नाम 'छन्दोविधानम्' है। इसके आरम्भमें अक्षरोका विभाग, उनके स्थान, प्रयत्न, नाम आख्यात उपसर्ग निपात आदि शब्द-भेद, फिर गायत्री, उष्णिक् आदि वैदिक छन्दोका वर्णन, फिर आर्या, गीति, वैतालिक आदि मात्रिक छन्दो और 'प्रस्तार', 'नष्ट',

'उद्दिष्ट' आदि छन्द.शास्त्र-सम्बन्धी नियमोका विवेचन किया गया है। पन्द्रहवें अध्यायमें वृत्तलक्षणो का वर्णन है। इनमें वर्णिक और मात्रिक सभी प्रकारके वृत्तोके लक्षण दिए गए हैं। सोलहवें अध्यायमें काव्यके गुण, दोष तथा अलकार आदिका वर्णन किया गया है। भरतके छन्दोविधान में वर्णित छन्द आदि और गुण, दोप, अलंकार आदिमें, प्रचलित छन्दोविधान और अलकार आदि से कुछ भिन्नता है। सत्रहवें अध्यायमें भापाओका वर्णन है। प्राकृत आदि भापाओंके स्वरूप, उनमें होने वाले वर्ण-परिवर्तनके प्रकार, उनके वोलनेके नियम, कहाँ विराम किया जाय, 'काकु' का प्रयोग कहाँ और कैसे किया जाय, देश-भेदसे भापामें नकारवहुला, चकारवहुला, ओकारवहुला, लकारवहुला आदि भेद दिखलाए गए हैं।

अठारहवें अध्यायका नाम 'दशरूपकलक्षणाध्याय' है। इसमें 'नाटक सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च। भाण· समवकारश्च वीथी प्रहसन डिम। ईहामृगश्च विज्ञेयो दशमो नाटच-लक्षणे' (१८ २-३) इन दस रूपकोका वर्णन किया गया है। रूपकोका निरूपण, जो नाटच-शास्त्रका मुख्य विषय है, यहाँसे प्रारम्भ होता है। उन्नीसवें अध्यायका नाम 'सन्धिनिरूपणाध्याय' है। इसमें नाटकके आधिकारिक और प्रासगिक द्विविध वृत्त, आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा आदि पाँच अवस्था बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, आदि पञ्च, अर्थ-प्रकृति, मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, और निर्वहण रूप पञ्च-सन्धि, सन्धियोके अङ्गोपाङ्ग आदिका विस्तृत विवरण है। उत्तरवर्ती दशरूपक आदि ग्रन्थोमें मुख्यत: नाटचशास्त्रके अठारहवें और उन्नीसवें अध्यायमें प्रतिपादित विपयोका ही विवेचन किया गया है। वीसवें अध्यायमें भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी वृत्तियोंका विवेचन है। इक्कीसवें अध्यायमे आहार्य अर्थात् वेशभूपादि-सम्बन्धी अभिनयका वर्णन है। बाईसवें अध्यायका नाम 'सामान्याभिनयाध्याय' है। यह अपेक्षाकृत बहुत बडा अध्याय है। इसमें ३३२ श्लोक हैं। वाचिक, आङ्गिक तथा सात्त्विक तीन प्रकारका सामान्याभिनय होता है। इनमें सात्त्विक अभिनय अर्थात् मनोभावोका अभिनय सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और मुख्य अभिनय है। हाव, भाव, हेला आदि तथा स्त्रियो और पुरुषोंके स्वाभाविक अलङ्कारोका वर्णन किया गया है। शृङ्गारके निरूपणमें स्त्रियोको सुखका मूल मान कर उनके देवशीला, आसुरी, गन्धर्वसत्त्वा, व्यालशीला, वानरसत्त्वा, महिषसत्त्वा आदि अनेक भेद किए हैं। वेश्या और कुलजाके मदनातुरत्व, कामकी दश अवस्थाओ, आठ प्रकारके नायिकाभेद, नायकोके भेद, नायिकाओंके मानके कारण आदिका मनोवैज्ञानिक विवेचन किया गया है। अगले तेईसवें अध्यायमें वेश्या और वैशिक लोगो का वर्णन है। उसमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ-यौवना चार प्रकारकी वेश्याओ और पाँच प्रकारके वैशिक पुरुषोंका विवेचन किया गया है। बाईसवें और तेईसवें अध्यायोका सम्बन्ध वस्तुतः नाटच-शास्त्रसे उतना नही है जितना कामशास्त्रसे है। चौबीसवें अध्यायमें उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकारकी प्रकृतिके पात्रोका वर्णन है। पच्चीसवें अध्यायका नाम 'चित्राभिनय' है। अङ्गादि अभिनयकी जो बातें कही-कही छूट गई है उनका ही इसमें विवेचन किया गया है। 'अङ्गाद्यभिनय-स्यैव यो विशेपः क्वचित् क्वचित्। अनुक्त· उच्यते चित्र स चित्राभिनय स्मृत.'। छब्बीसवें अध्याय का नाम 'विकृतिविकल्पाध्याय' है। इसमें बहुत हाथ-पैर वाले, अनेक मुख वाले या हाथी-घोड़े आदिके विकृत मुख वाले या इसी प्रकारके विकृत आकारोका अभिनय करनेका वर्णन किया है। सत्ताईसवें अध्यायका नाम 'सिद्धिव्यञ्जकाध्याय' है। उसमें अभिनयकी सिद्धियो और उनमें आने वाले विघ्नो तथा उनके निराकरणके प्रकार आदिका वर्णन किया गया है। अट्ठाईसवें से लेकर

तेतीसवें अध्याय तक सङ्गीत-शास्त्रका विषय प्रतिपादित हैं। जिनमें क्रमश विविध वाद्यो आदिका वर्णन पाया जाता है। चौंतीसवें अध्यायमें स्त्री-पुरुष पात्रोकी प्रकृति तथा पैंतीसवेंमें सूत्रधार, पारिपार्श्विक, विदूषक आदिका वर्णन है।

छत्तीसवां अध्याय अन्तिम है इसलिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस उपसहारात्मक अध्यायमें भी प्रथमाध्यायके समान मुनियोने भरतमुनिसे कुछ प्रश्न पूछे हैं जिनमे मुख्य प्रश्न यह है कि नाट्यका स्वर्गसे पृथिवीपर किस प्रकार अवतरण हुआ ? प्रथमाध्यायमें किए हुए वर्णनके अनुसार देवताओकी प्रार्थनापर ब्रह्मा जीने नाट्यवेद तथा उसके अनुसार देवासुर-सग्रामकी आख्यान-वस्तुको लेकर आदि-नाटककी रचना की थी। और भरत मुनि द्वारा देवताओकी सभामें उसका अभिनय कराया गया था। यह सब तो स्वर्गलोककी बात है। बीचके अध्यायोमे उपर्युक्त विवरण के अनुसार नाट्य-सम्बन्धी विषयोका सविस्तर वर्णन हो जानेके बाद भी यह जिज्ञासा तो मनमें रह ही जाती है कि स्वर्गलोकमें बनाए गए नाट्यका इस भूतलपर किस प्रकार अवतरण हुआ ? इसलिए इस अन्तिम अध्यायमें प्रथमाध्यायमें कहे हुए मुनिगणोने भरतमुनिसे इस प्रश्नको पूछ ही लिया। इस प्रश्नके उत्तरमें भरतमुनिने दो कथाएँ सुनाई हैं जो बडी मनोरञ्जक हैं। पहली कथा के अनुसार अपने उत्तम अभिनयके कारण देवताओंसे पुरस्कार-सत्कार आदि प्राप्त करनेपर भरतपुत्रोको अपने अभिनय-कौशलपर बडा गर्व हो गया और उस अभिमानके आवेशमें उन्होने एक बार मुनियोका अपमान कर डाला। उनके इस भयकर अभिमान और अपने अपमानसे क्रुद्ध होकर मुनियोने भरतपुत्रोको शाप दे डाला कि तुम ब्राह्मणोका आचरण छोड कर शूद्र हो जाओगे। तुम्हारा वश और उसमें उत्पन्न होने वाले सब शूद्र और नर्तक कहलावेंगे। दूसरोकी सेवा करना ही तुम्हारा कार्य होगा। देवताओको जब इस शापका पता चला तो उन्हे बडा दु.ख हुआ। नटोके अभावमें जिस नाट्यको उन्होने इतने प्रयत्नके बाद प्राप्त किया था उसका ही नाश हो जायगा यह देख कर उनको बडी चिन्ता तथा दु ख हुआ। इस लिए उन्होने मुनियोंसे भरतपुत्रोको क्षमा कर देनेकी प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना स्वीकार कर मुनियोने अपने शापमें इतना सशोधन कर दिया कि नाट्यका नाश तो नही होगा किन्तु शेष शाप ज्योका त्यो रहेगा। इस शापके अनुसार भरतपुत्र भूलोकपर शूद्रोके रूपमें आए और यहाँ वे शूद्रोंके रूपमें ही नर्तक कहला कर नाट्यका अभिनय आदि करते हैं। यह नाट्यके भूलोकमें अवतरणकी एक कथा है।

एक दूसरी कथा भी इस विषयमें है जो राजा नहुषसे सम्बन्ध रखती है। भूलोकके राजा नहुष अपने पुण्यके बलसे कुछ समयके लिए देवराज इन्द्रके पदपर आसीन हुए। उन्होने देवलोकके दिव्य गान्धर्व और नाट्यको देख कर देवताओसे कहा कि अप्सराओका यह नाट्य भूलोकमें हमारे घरपर होना चाहिए। तब बृहस्पति आदि देवताओने राजा नहुषको समझाया कि अप्सराओका तो मानवोके साथ कोई सम्बन्ध नही बन सकता है। हाँ, यह हो सकता है आचार्य भरतमुनि अपने पुत्रोके साथ आपके यहाँ जाकर आपका प्रिय कार्य कर दें। तब राजा नहुषने भरतमुनिसे ही प्रार्थना की कि भगवन् आप इस नाट्यको पृथिवीपर प्रतिष्ठित करनेकी कृपा करें जिससे विशिष्ट अवसरो पर वहाँ इसका अभिनय किया जा सके। भरतमुनिने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर अपने पुत्रोको भूलोकमे जाकर नाट्यका प्रचार करनेका आदेश दिया और उसका सम्यक् प्रयोग करनेपर शापसे मुक्त करनेका आश्वासन भी दिया। इस प्रकार स्वर्गसे भूतलपर नाट्यका अवतरण हुआ। 'नाट्यावतरण' की इन कथाओके कारण ही इस अध्यायका नाम 'नाट्यावतरण'

अध्याय' है।

नाट्यशास्त्रके जिन संस्करणोंमें ३७ अध्याय माने गए हैं उनमें नहुष वाली कथा ३७ वें अध्यायमें रखी गई है।

नाट्यशास्त्रका सम्पादन और प्रकाशन—

भारतवर्षमें नाट्यशास्त्रका मुद्रित संस्करण सबसे पहिले सन् १८६४ में सर्वसाधारण को उपलब्ध हो सकता। यह संस्करण काव्यमाला सीरीजमें निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे प्रकाशित हुआ था। इसका सम्पादन स्वर्गीय श्री प० शिवदत्त और काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परवने किया था। इसमें ३७ अध्याय थे। इसका द्वितीय संस्करण सन् १९४३ में फिर निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे संशोधित रूपमें प्रकाशित हुआ है। इसमें इस बीचमें प्रकाशित नाट्यशास्त्रके अन्य संस्करणोंका भी उपयोग किया गया है। इस लिए उसमें ३६ अध्याय रखे गए हैं और पाठोंमें भी सुधार हुआ है।

निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे नाट्यशास्त्रके प्रकाशनके बाद गायकवाड ओरिएन्टल सिरीज, बडोदासे अभिनवगुप्त-विरचित प्रसिद्ध टीका 'अभिनवभारती' के सहित नाट्यशास्त्र प्रकाशित हुआ है। किन्तु अभी तक अपूर्ण है। इसका प्रथम भाग जिसमें केवल सात अध्याय थे सन् १९२६ में प्रकाशित हुआ था। इसका द्वितीय संशोधित संस्करण तीस वर्ष बाद १९५६ में बडोदासे ही प्रकाशित हुआ। अभिनवभारतीयुक्त नाट्यशास्त्रका द्वितीय भाग (८-२० अध्याय) सन् १९३४ में और तृतीय भाग (२१-२७ अध्याय) सन् १९५४ में बडोदासे ही प्रकाशित हो चुके हैं। शेष २८ से लेकर ३६ वें अध्याय तकके नौ अध्यायोंका प्रकाशन अभी शेष है। जो २७ अध्याय अब तक प्रकाशित हुए हैं उनमें भी सप्तम तथा अष्टम अध्यायोंकी अभिनवभारती अब तक मिली ही नही है। इस लिए उन्हें केवल मूल रूपमें ही इन संस्करणोंमें छापा गया है। इनमेंसे प्रथम संस्करणमें नाट्यशास्त्रके मूल भागका सम्पादन ४० हस्तलिखित पाण्डुलिपियोंके आधारपर और द्वितीय संस्करणका ४४ पाण्डुलिपियोंके आधारपर किया गया है। इस लिए नीचे पाद-टिप्पणीमें बहुत अधिक पाठभेद दिए गए हैं।

बम्बई तथा बडोदासे प्रकाशित इन दो संस्करणोंके अतिरिक्त मूल नाट्यशास्त्रका एक और संस्करण सन् १९२९ में काशी संस्कृत सिरीज, बनारसमें प्रकाशित हुआ है। इसका सम्पादन हिन्दू विश्वविद्यालय बनारसके प्राध्यापक श्री बटुकनाथ शर्मा साहित्योपाध्याय एम० ए० तथा श्री बलदेव उपाध्याय एम०ए० साहित्यशास्त्रीने सरस्वतीभवन पुस्तक भण्डार बनारसमें सुरक्षित दो पाण्डुलिपियोंके आधारपर किया है। ये दोनो पाण्डुलिपियां उनसे भिन्न हैं जिनके आधारपर निर्णयसागर तथा बडोदा वाले संस्करणोंका सम्पादन हुआ है।

इनके साथ नाट्यशास्त्रके दो अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। एक मराठी भाषामें और दूसरा अंग्रेजी भाषामें। मराठी अनुवाद प्रो० भानुने किया है और १-२७ अध्याय तकका अंग्रेजी अनुवाद श्री मनमोहन घोष एम०ए० पी०एच०डी० ने किया है जो रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल (कलकत्ता) से १९५० में प्रकाशित हुआ है। हिन्दीमें नाट्यशास्त्रके अनुवादका यत्न तो हो रहा है पर अभी तक प्रकाशित नही हुआ।

नाट्यशास्त्रपर विदेशी विद्वानोंका कार्य—

सन १८९४ में निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे जो नाट्यशास्त्रका प्रकाशन हुआ था उसके लगभग ७० वर्ष पहले यूरोपमें नाट्यशास्त्रकी चर्चा आरम्भ हुई थी। विलियम जोन्स नामक विद्वान्ने सबसे पहिले सन १७८९ में कालिदासके प्रसिद्ध शकुन्तला नाटकका अंग्रेजीमें अनुवाद प्रकाशित कराया। इस अनुवादने सबसे पहिले यूरोपीय विद्वानोंको संस्कृत साहित्यके अध्ययन के प्रति विशेष रूपसे प्रेरित किया। भरत-नाट्यशास्त्रकी चर्चा सबसे पहिले एच० एच० विलसन नामक विद्वानने अपने 'सिलेक्ट स्पेसीमेन्स आफ दि थियेटर आफ हिन्दूज' (तीन भाग, कलकत्ता १८२६-२७) नामक ग्रन्थमें उठाई थी। सन १८२६ में अपने ग्रन्थके प्रथम भागको प्रकाशित करते समय उन्होंने यह लिखा था कि—'दि नाट्यशास्त्र मेन्शन्ड एड कोटेड इन सेवरल कमेन्ट्रीज एण्ड अदर वर्क्स हैड बीन लास्ट फार एवर' अर्थात् 'नाट्यशास्त्र जिसके उद्धरण अनेक टीकाओं और अन्य ग्रन्थोंमें पाए जाते हैं सदाके लिए लुप्त हो गया है'। यूरोपीय विद्वानोंमें नाट्यशास्त्र के विषयमें यह पहिली चर्चा थी जो नितान्त निराशाजनक थी। इसके लगभग चालीस वर्ष बाद १८६५ में एफ० हाल नामक विद्वान्ने धनञ्जयके दशरूपकका अंग्रेजी अनुवाद (कलकत्ता १८६१-१८६५) प्रकाशित कराया। इस ग्रन्थके प्रकाशनमें कई वर्ष लगे। किन्तु लगभग समाप्ति तक पहुँचनेपर 'हाल' को नाट्यशास्त्रकी एक पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। उसका कुछ अंश उन्होंने दशरूपक के अन्तमें परिशिष्ट रूपमें मुद्रित भी कराया। हाल महोदय ने दशरूपकके प्रकाशनके बाद इस नाट्यशास्त्रका सुसम्पादित सस्करण प्रकाशित करनेका विचार भी किया। किन्तु उनको एक ही प्रति मिली थी और वह अत्यन्त अशुद्ध और स्थल-स्थलपर खण्डित थी। उसके आधारपर सुसम्पादित सस्करणका प्रस्तुत किया जाना असम्भव था। इसलिए उनको अपना विचार त्याग देना पडा। इस प्रकार नाट्यशास्त्रके प्रकाशनका यह प्रथम प्रयास विफल हो गया।

परन्तु इस विफलतासे विद्वान् लोग निराश नही हुए। इस विफल प्रयाससे भी उनको बडा लाभ हुआ। ४० वर्ष पहिले विलसनके नाट्यशास्त्र-विषयक निश्चयने जो एक निराशावादी भावना उत्पन्न कर दी थी उसकी समाप्ति हो गई। इसलिए विद्वान अनुसन्धानकर्ता विशेष उत्साह के साथ इस ग्रन्थरत्नके उद्धारकेलिए तत्पर होने लगे। इसी बीचमें सन १८७४ में जर्मनके प्रसिद्ध विद्वान् 'हेमान' ने तब तककी उपलब्ध सामग्रीके आधारपर भरत-नाट्यशास्त्रका विवरण देते हुए एक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किया। इस विद्वत्तापूर्ण लेखने भरत-नाट्यशास्त्रके अध्ययन और अनुसन्धानकेलिए विद्वानोंमें और भी अधिक अभिरुचि एव उत्साह उत्पन्न किया। 'गोटिंगन' नगरकी राजकीय वैज्ञानिक परिषद्की विवरण-पत्रिकामे प्रकाशित 'हेमान' के उस लेखके प्रकाशित होनेके ६ वर्ष बाद 'रेग्नो' नामक प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वानने १८८० में नाट्यशास्त्रके सत्रहवें अध्याय का और उसके बाद १८८४ में पन्द्रहवें-सोलहवें अध्याय तथा उसके बाद छठे-सातवें अध्यायका प्रकाशन कराया। इस प्रकार अपूर्ण रूपमें ही सही, भरत-नाट्यशास्त्रका यह सबसे पहला सस्करण प्रकाशित हुआ।

'रेग्नो' के बाद उनके शिष्य 'ग्रोसे' ने १८८८ में नाट्यशास्त्रके संगीत-सम्बन्धी २८वें अध्यायको प्रकाशित किया। और फिर १८९८ में नाट्यशास्त्रके प्रथम चौदह अध्यायोंका एक सुसम्पादित सस्करण 'ग्रोसे' ने प्रकाशित कराया। इस प्रकार 'रेग्नो' तथा उनके शिष्य 'ग्रोसे' इन

दोनो फ्रेंच विद्वानोको ही नाटचशास्त्रके प्रकाशनका श्रेय दिया जा सकता है। इनके द्वारा मिला कर नाटचशास्त्रके अठारह अध्यायोका—प्रारम्भसे १७ वें अध्याय तक क्रमवद्ध तथा २८ वें अध्याय का—प्रकाशन किया गया। कलेवरकी दृष्टिसे यद्यपि यह आधा नाटचशास्त्र ही वनता है फिर भी जिन कठिन परिस्थितियोमें उन्होंने यह कार्य किया उनको देखते हुए यह वहुत वडा कार्य कहा जा सकता है।

तीसरे फ्रेंच विद्वान् 'सिल्वा लेवी' हैं जिन्होने भरत-नाट्यशास्त्रके विषयमें कुछ कार्य किया है। 'सिल्वा लेवी' ने भारतीय रङ्गमञ्चके विषयमें 'थियेटर इण्डियन' नामक अपना ग्रन्थ १८९० में प्रकाशित किया। उन्होंने केवल १८ से २२ तक तथा ३४ इन पांच अध्ययोका ही कुछ विवेचन अपने ग्रन्थमें दिया है। परन्तु वह भी न अनुवाद ही है और न मूलका सम्पादन ही। इस लिए विशेष महत्त्वपूर्ण नही कहा जा सकता है।

१८२६ से लेकर १९६० तक पिछले १३४ वर्षोंमें नाटचशास्त्रके सम्पादन और प्रकाशन के क्षेत्रमें देशी और विदेशी विद्वानोने मिल कर जो प्रयत्न किया है उसका यही सक्षिप्त विवरण है।

भरतके पूर्ववर्ती आचार्य—

नाट्यकला-विषयक उपलब्ध समस्त ग्रन्थोमें यद्यपि वर्तमान भरत-नाटचशास्त्र सबसे अधिक प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है किन्तु जिस प्रकार 'पाणिनि' की 'अष्टाध्यायी' की रचनाके पहिले भी व्याकरणके अनेक आचार्य थे जिनका उल्लेख स्वय पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीमें किया है इसी प्रकार भरत-नाटचशास्त्रके पूर्ववर्ती अनेक नाटचाचार्योंका उल्लेख भरतमुनिने स्वय किया है। भरतमुनिके उल्लेखके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि नाटच-विषयक ग्रन्थ और उनके प्रणेता अनेक आचार्य भरतमुनिके पहिले हो चुके थे। इनमे से 'शिलालिन' और 'कृशाश्व' नामक नटसूत्रोके रचयिता दो आचार्योंका उल्लेख पाणिनिकी 'अष्टाध्यायी' में 'पाराशर्य-शिलालिभ्या भिक्षु-नटसूत्रयो' (४-३-११०) तथा 'कर्मन्द-कृशाश्वादिनि:' (४-३-१११) इन सूत्रोमें किया गया है। ये नटसूत्र नाटचशास्त्रके मौलिक सूत्र रहे होंगे। भरतके नाट्यशास्त्रके वन जानेपर उनका भी लोप हो गया यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

कोहल—शिलालिन और कृशाश्वके वाद श्री 'कोहल' भरतके पूर्ववर्ती तीसरे प्रसिद्ध नाटचाचार्य हैं। भरत-नाट्यशास्त्रमें उनका उल्लेख कई जगह आता है। नाटचशास्त्रके अन्तिम अध्यायमे कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य और धूर्तिल इन चार प्राचीन नाटचाचार्योंका एक साथ उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"कोहलादिभिरेतैर्वा वात्स्य-शाण्डिल्य-धूर्तिलै।
एतच्छास्त्र प्रयुक्त तु नराणा बुद्धिवर्धनम् ॥"

अभिनवगुप्तने अपनी टीकामें अनेक जगह कोहलाचार्यके मतका उल्लेख किया है। जैसे प्रथमाध्यायमें [पृ० १३७] नान्दीका विवेचन करते हुए 'इत्येपा•••कोहलप्रदर्शिता नान्दी उपपन्ना भवति' दिया है। छठे अध्यायमे [पृ० ४१६] दशम श्लोकमें नाटचके रस, भाव आदि ग्यारह अङ्ग

गिनाए गए हैं। अभिनवगुप्तका मत है कि ये ग्यारह अङ्ग भरतके मतसे नही अपितु कोहलके मतसे दिखलाए गए हैं। उन्होने लिखा है—

"अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेन एकादशाङ्गत्वमुच्यते। न तु भरते।"

इसी प्रकार अन्य अनेक स्थलोपर अभिनवगुप्तने भरतमुनिके मतसे कोहलाचार्यके मत की भिन्नता दिखलाते हुए कोहलाचार्यके नामका उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भरतमुनिके पूर्ववर्ती कोहलाचार्यका अपना कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ था उसीके आधारपर अभिनवगुप्तने उनके मतका इतना स्पष्ट और इतना अधिक उल्लेख अपने ग्रन्थमें किया है।

अभिनवगुप्तने केवल कोहलके मतका अपने शब्दोमें ही उल्लेख किया हो सो बात नही है बल्कि स्वय कोहलाचार्यके श्लोकोको उन्होने कई जगह उद्धृत किया है। जैसे चतुर्थ अध्यायमें बडौदा वाले सस्करणके पृष्ठ १८० पर—'तदुक्त कोहलेन'—लिख कर दो श्लोक, और पृष्ठ १८१ पर 'तदुक्त चिरन्तनै' से फिर ८ श्लोक तथा अगले १८२ पृष्ठपर फिर—'यथोक्त कोहलेन'—लिख कर एक श्लोक स्पष्ट रूपमे कोहलके नामसे उद्धृत किया है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र तथा अभिनवभारतीमें मिला कर आठ स्थानोपर कोहलके नामका उल्लेख है।

धूर्तिल, शाण्डिल्य और वात्स्य—

नाट्यशास्त्रके अन्तिम अध्यायका जो श्लोक हम ऊपर [पृ० ६ पर] उद्धृत कर आए हैं उसमे कोहलके साथ धूर्तिल, शाण्डिल्य तथा वात्स्य इन तीन आचार्योंके नामका उल्लेख भी भरतके श्लोकमें पाया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि ये तीनो भी भरतके पूर्ववर्ती आचार्य हैं। कोहलाचार्यके समान (बडौदा स० पृ० २०३) दत्तिलाचार्यके श्लोकको भी अभिनवगुप्तने नामग्राह-पूर्वक उद्धृत किया है। सङ्गीत वाले अध्यायमें लगभग १४ वार दत्तिलके मतका उल्लेख और उसके उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि कोहलके समान दत्तिल भी नाट्य-शास्त्रके भरतके पूर्ववर्ती प्राचीन आचार्य हैं। वात्स्य और शाण्डिल्य का उल्लेख भरतमुनिके ऊपर उद्धृत किए हुए अन्तिम अध्याय वाले श्लोकमें किया गया है। पर अभिनवगुप्तने उनका कोई उद्धरण आदि नही दिया है। इसलिए यह नही कहा जा सकता है कि उन्होने कोई ग्रन्थ लिखा था या नही।

नखकुट्ट तथा अश्मकुट्ट—इन दोनो नामोकी गणना नाट्यशास्त्रके प्रथमाध्यायमें गिनाए हुए भरतमुनिके सौ पुत्रोके नामोमे की गई है (श्लोक ३३)। इनके समान ही कोहल दत्तिल, शाण्डिल्य और वात्स्य की गणना भी सौ पुत्रोके नामोमे की गई है (श्लोक २६)। परन्तु जैसे कोहल और दत्तिलके उद्धरण अभिनवभारती आदिमे पाए जाते हैं इसी प्रकार 'नखकुट्ट' और 'अश्मकुट्ट' के उद्धरण अन्य ग्रन्थोमे पाए जाते हैं। ये दोनो व्यक्ति समकालीन और एक ही स्थान के रहने वाले प्रतीत होते है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने (सा० द० २९४ पृष्ठ) नखकुट्ट का उद्धरण दिया है। और 'सागरनन्दी' ने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' नामक अपने ग्रन्थमें अश्मकुट्टके उद्धरण (पृ० ८३, ४३७, २७६६, २७६७ २७७४-२७७५) दिए हैं। इससे स्पष्ट है कि ये दोनो भी नाट्यशास्त्रके प्राचीन आचार्य है।

बादरायण—भरतपुत्रोकी सूचीमें ३२ वें श्लोकमें बादरायण नाम भी आया है। 'सागरनन्दी'ने अपने नाटकलक्षणरत्नकोश' ग्रन्थमे (१९९२-१९९४ तथा २७७०-२७७१) दो स्थानो

पर बादराण या बादरिके नामसे उद्धरण दिए हैं। उन उद्धरणोसे यह प्रतीत होता है कि बादरायण या 'बादरि' ने भी नाट्यके विषयमें कोई ग्रन्थ लिखा होगा।

शातकर्णी—'सिलेक्ट इस्क्रिप्शन्स' (पृष्ठ १९१-२०७) के अनुसार विक्रम-पूर्व प्रथम शताब्दीसे लेकर विक्रम-पश्चात् प्रथम शताब्दी तकके शिलालेखोमें 'शातकर्णी' का नाम पाया जाता है। 'सागरनन्दी' के 'नाटयलक्षणरत्नकोश' में (११०१-११०३) तथा उसकी रुचिपति-कृत टीका (पृ० ७) में शातकर्णीके उद्धरण पाए जाते हैं। इनसे प्रतीत होता है कि ये नाट्यशास्त्रके प्राचीन आचार्य हैं। और इन्होने नाटयके विषयमें कोई ग्रन्थ भी लिखा था। शिलालेखोंमें नाम होनेसे यह प्रतीत होता है कि शातकर्णी सम्भवत कोई राजा रहे हो और उन्होने नाटयपर कोई ग्रन्थ भी लिखा हो। इधर कालिदासने रघुवशके त्रयोदश सर्गके ३८-४० श्लोकोंमें शातकर्णि मुनिका उल्लेख किया है जो इन्द्रकी भेजी हुई अप्सराओके जालमें फँस गए थे। इनके आश्रमसे उठी हुई सङ्गीतकी ध्वनि रामचन्द्र जीके पुष्पक विमान तक पहुँच रही थी। भरत-नाट्यशास्त्रमें श्लोक स० २८ में 'शालिकर्ण' नाम आया है। सम्भव है उसका इस 'शातकर्णि' नामके साथ कुछ सम्बन्ध हो।

मध्यवर्ती नाटयकार—

नन्दी [नन्दिकेश्वर], तुम्बरु, विशाखिल और चारायण—ऊपर दिए हुए नाट्यकारोके अतिरिक्त अभिनवगुप्त तथा शारदातनयने नन्दी या नन्दिकेश्वर नामके नाटयकारका भी उल्लेख किया है। अभिनवगुप्तने चतुर्थ अध्याय पृ० १६९ पर नन्दिमतका उल्लेख किया है। ये नन्दिकेश्वर तथा 'अभिनयदर्पण' के रचयिता नन्दिकेश्वर सम्भवत एक ही व्यक्ति हो। अभिनवगुप्तने पृ० १६३ पर 'तुम्बुरुणेदमुक्तम्'—लिख कर आगे 'तुम्बरु' का भी उद्धरण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार पृ० १६७ पर 'विशाखिल' का उल्लेख भी किया है और 'सागरनन्दी' ने अपने 'नाटकलक्षण' में (श्लोक० ३६२-३६३ में) एक जगह 'चारायण' आचार्यका उल्लेख किया है। इन सब उद्धरणोसे प्रतीत होता है कि ये मध्यकालीन नाट्याचार्य थे और इन्होने कोई ग्रन्थ भी लिखे थे।

सदाशिव पद्मभू द्रौहिणि, व्यास तथा आञ्जनेय—शारदातनयने 'सदाशिव' का (भावप्रकाशन १५२) तथा दशरूपककार धनञ्जयने (४, ३७-३८ में) 'सदाशिव' का उल्लेख किया है। अभिनवभारतीमें भी (पृष्ठ ९ पर) सदाशिवके मतका उल्लेख किया गया है। शारदातनयने 'भावप्रकाशन' में सदाशिवके अतिरिक्त पद्मभू (पृ० ४७), द्रौहिणि (पृ० २३९) व्यास (पृ० २५१) तथा आञ्जनेय (पृ० २५१) का भी नाट्यकारके रूपमें उल्लेख किया है। परन्तु उनके किसी ग्रन्थके उद्धरण आदि नही दिए गए हैं। इस लिए यह नहीं कहा जा सकता है कि उन्होंने वस्तुतः किन्हीं ग्रन्थोकी रचना की थी या नही।

कात्यायन, राहुल तथा गर्ग—अभिनवगुप्तने अध्याय १४ पृ० २४५-२४६ पर "यथोक्तं कात्यायनेन—

वीरस्य भुजदण्डाना वर्णने स्रग्धरा भवेत।
नायिकावर्णने कार्यं वसन्ततिलकादिकम् ॥
शार्दूललीला प्राच्येषु मन्दाक्रान्ता च दक्षिणे। इत्यादि"

यह् कात्यायनका वचन उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि कात्यायनने नाटचशास्त्र तथा छन्द शास्त्रके विपय में कोई ग्रन्थ लिखा था। सागरनन्दीने भी 'नाटचलक्षरणरत्नकोश' (श्लोक १४८४-१४८५) में कात्यायनका उल्लेख किया है।

अभिनवभारतीमे चतुर्थ अध्यायमें (पृ० ११३ पर अभिनवगुप्तने राहुलके उद्धरण तथा १७० पर 'यथोक्त राहुलेन तथा 'ते च यथाह—राहुल,' लिखकर प्रस्तुत किए हैं।

इन वचनोसे प्रतीत होता है कि राहुलने भी नाटचके विपयमे कोई ग्रन्थ लिखा था। सागरनन्दीने भी 'नाटचलक्षरणरत्नकोश' में (श्लोक २८७३-२१७५) राहुलका उल्लेख किया है। सागरनन्दीने (ना० ल० ३२२६ में) एक बार 'गर्ग' का भी नाटचकारके रूपमें उल्लेख किया है। पर उनका कोई उद्धरण नही दिया गया है। सम्भव है इन्होने भी कोई ग्रन्थ लिखा हो।

शकलीगर्भ और घण्टक—अभिनवभारतीके द्वितीय भागमें पृ० ४५२ पर अभिनवगुप्तने 'शकलीगर्भ' नामक किसी नाटचाचार्यका उल्लेख किया है। और उसी द्वितीय भागमें पृष्ठ ४३६ पर 'घण्टकादयस्त्वाहु.' लिख कर 'घण्टक' नामक किसी नाटचाचार्यका उल्लेख भी किया है। इससे प्रतीत होता है कि मध्यकालीन नाट्याचार्यों में 'शकलीगर्भ' तथा 'घण्टक' ने भी नाटक विषयपर उत्तम ग्रन्थोकी रचना की थी।

वार्तिकार—अभिनवगुप्तने प्रथमभागके पृष्ठ १७० वार्तिककृताप्युक्तम्' पृष्ठ १७२ पर 'यद्वार्तिकम्', पृष्ठ २०९ पर 'श्रीहर्पस्तु', पृष्ठ २१० पर 'उक्त च वार्तिके' आदि शब्दोसे अनेक बार और अनेक प्रकारसे वार्तिककारका उल्लेख किया है। सागरनन्दी (ना० ल० ३२२५ श्लोक) तथा शारदातनय (भावप्रकाशन २३८) ने हर्प-विक्रम नामसे वार्तिककारका उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि हर्प अथवा हर्पविक्रम नामके कोई विद्वान् इस वार्तिकके रचयिता थे। यह वार्तिक नाट्यशास्त्रकी व्याख्या-रूप न होकर कदाचित् कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ रहा होगा—ऐसा विद्वानोका मत है। इसी लिए हमने उन्हे भरतके टीकाकारोमे स्थान न देकर मध्यवर्ती नाट्याचार्य इस शीर्पकके अन्तर्गत रखा है। 'राजतरङ्गिणी' में हर्पविक्रमादित्य नामक राजाका और उनके द्वारा कवि मातृगुप्तको सिंहासन पर प्रतिष्ठित किए जानेका वर्णन मिलता है। सम्भव है हर्पवार्तिक के रचयिता ये ही हर्पविक्रमादित्य रहे हो।

मातृगुप्ताचार्य—हर्पविक्रमादित्यके साथ मातृगुप्त कविका उल्लेख 'राजतरङ्गिणी' मे पाया जाता है। इधर अभिज्ञान-शाकुन्तलकी टीकामें राघवभट्टने मातृगुप्ताचार्यके नामसे अनेक पद्योको उद्धृत किया है। ये पद्य नाटकके पारिभाषिक शब्दोकी व्याख्याके प्रसङ्गमें उद्धृत किए गए हैं. जैसे पृष्ठ पांचपर सूत्रधारका लक्षण, पृष्ठ चारपर नान्दीका लक्षण, पृष्ठ नौपर नाटक-लक्षण, और पृष्ठ २७ पर यवनिकाके लक्षणके अवसरपर राघवभट्टने मातृगुप्तके ही श्लोक लक्षण रूपमें उद्धृत किए हैं। राघवभट्टने पृष्ठ पन्द्रहपर भरतके आरम्भ तथा बीज वाले पद्योको उद्धृत करते हुए लिखा है कि—

"अत्र विशेषो मातृगुप्ताचार्यैरुक्त—
क्वचित कारणमात्रन्तु क्वचिच्च फलदर्शनम्।"

इन सब उद्धरणोसे प्रतीत होता है कि मातृगुप्ताचार्यने नाटचशास्त्रके विपयमें कोई

ग्रन्थ अवश्य लिखा था। वह नाटयशास्त्रकी टीका-रूपमें था या स्वतन्त्र ग्रन्थ था—यह ठीक तरह से नही कहा जा सकता। किन्तु सुन्दरमित्र ने अपने नाट्यप्रदीप नामक ग्रन्थ (जिसका रचना-काल १६१३ ई० है) में भरत-नाटयशास्त्रके पञ्चमाध्याय के २५ तथा २८ सख्या वाले दो श्लोकोके अनुसार 'नान्दी' का लक्षण उद्धृत और उस पद्यकी व्याख्याके प्रसगमें मातृगुप्ताचार्यके मतका उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

'अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्यैः षोडशाङ्घ्रिपदापीयमुदाहृता।'

इस सबसे यह प्रतीत होता है कि मातृगुप्ताचार्य भरत-नाट्यशास्त्रके व्याख्याता हैं किन्तु राघवभट्ट ने जिस रूपमें मातृगुप्ताचार्यके पद्योको उद्धृत किया है उससे प्रतीत होता है कि उन्होने कदाचित् कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ इस विषयपर लिखा होगा।

वार्तिककार हर्ष यदि राजतरङ्गिणीमें वर्णित काश्मीरके राजा हर्षविक्रमादित्य ही हैं और यदि यह मातृगुप्त उनके समकालीन राजतरङ्गिणीमें वर्णित मातृगुप्त ही हैं तो इन दोनोका काल चतुर्थ शताब्दीके अन्त और पाँचवी शताब्दीके प्रारम्भमें रखा जा सकता है।

सुबन्धु—शारदातनयने अपने 'भावप्रकाशन' पृ० २३८ पर नाट्य-विषयपर ग्रन्थकार 'सुबन्धु' का उल्लेख किया है। ये सुबन्धु कौन हैं यह निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता है। किन्तु 'सुबन्धु' नामसे 'वासवदत्ता' के रचयिता महाकवि सुबन्धुका स्मरण हो आता है। यही सुबन्धु यदि शारदातनयके अभिप्रेत सुबन्धु हैं तो उनका समय पञ्चम शताब्दीमें समझना चाहिए।

अग्निपुराण तथा विष्णुधर्मोत्तर—'अग्निपुराण' में नाट्य, नृत्य और रस आदिका विवेचन बहुत विस्तारके साथ किया गया है। इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तरमें भी नाट्य, नृत्य, अभिनय आदिका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। किन्तु यह सब विवेचन भरत-नाट्यशास्त्रपर आधारित है। स्वतन्त्र रचना नही है। अनेक स्थानोपर भरतके पद्य ज्योके त्यो उद्धृत कर दिए गए हैं। अग्निपुराणका काल प्रायः दण्डीके बाद सप्तम शताब्दीमें निर्धारित किया जाता है।

भरत-नाटयशास्त्रके व्याख्याता—

यद्यपि इस समय भरत-नाट्यशास्त्रपर अभिनवगुप्तकी 'अभिनवभारती' को छोड़ पर और कोई व्याख्या या टीका उपलब्ध नही होती है किन्तु अभिनवगुप्तके पूर्व भी भट्ट लोल्लट, भट्ट शकुक, भट्टनायक, आदि अनेक विद्वानोने भरत-नाट्यशास्त्रपर टीकाएँ लिखी थी। अभिनवभारतीमें इन सब टीकाकारोके नाम उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त काव्य-प्रकाशकारने भरत के रससूत्रकी जो व्याख्या दी है उसमें भी उद्भट, लोल्लट, शकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त इन पाँच व्याख्याकारोके मत दिखलाए हैं। इससे प्रतीत होता है कि भरत-नाट्यशास्त्रपर कमसे कम पाँच टीकाएँ अवश्य लिखी गई हैं। 'शार्ङ्गदेव' ने अपने 'सङ्गीतरत्नाकर' में—

"व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भट-शकुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपर ॥"

लिख कर स्पष्ट रूपसे नाट्यशास्त्रके व्याख्याकारोके नाम गिनाए हैं। इनमें भट्टनायकका नाम न दे कर उसके स्थानपर कीर्तिधरका नया नाम और आगया है। अभिनवभारतीमें इनके अतिरिक्त

भट्टनायक और उनके साथ भट्टयन्त्र, वार्तिककार, और भाष्यकारका उल्लेख और किया है। भाष्यके रचयिता नान्यदेव हैं।

आचार्य कीर्तिधर तथा भाष्यकार नान्यदेव—कीर्तिधरका उल्लेख अभिनवभारती में केवल एक जगह चतुर्थ अध्यायके अन्तमें पृ० २०६ पर पाया जाता है। किन्तु इनके नामके साथ अभिनवगुप्तने विशेष सम्मान सूचक 'आचार्य' पदका प्रयोग किया है। 'इति कीर्त्तिधराचार्या'। इस प्रकार विशेष आदरपूर्वक उल्लेख किए जानेसे यह प्रतीत होता है कि कीर्तिधराचार्य कदाचित् अन्य व्याख्याकारोसे अधिक प्राचीन और प्रतिष्ठित व्याख्याकार रहे हैं। यदि वे इन सब टीकाकारो में सबसे अधिक प्राचीन हैं तो उद्भटके भी पूर्ववर्ती होनेके कारण उनका समय सम्भवत सप्तम शताब्दीमें मानना होगा। नान्यदेव नामके एक राजा मिथिलामें हुए हैं। किन्तु ये नाटचशास्त्रके भाष्यकार नान्यदेव उन राजा नान्यदेवसे निश्चय ही भिन्न हैं क्योकि राजा नान्यदेवका काल अभिनवगुप्तके बाद १२ वी शताब्दीमें पडता है। इसलिए उनका उल्लेख अभिनवभारतीमें नही हो सकता है। ये भाष्यकार नान्यदेव अन्य व्यक्ति ही हैं। 'उक्त नान्यदेवेन स्वभरतभाष्ये' (व० स० पृ० २६३) लिख कर नान्यदेवको अभिनवगुप्तने भरतके भाष्यकारके रूपमें स्मरण किया है।

भट्ट उद्भट—भट्ट उद्भटके नामका उल्लेख अभिनवभारतीके षष्ठाध्यायकी दशम कारिकाकी व्याख्यामे पृ० २६४ पर 'निर्देशे चैततक्रमव्यत्यासनादित्योद्भटा' इस रूपमें किया है। रससूत्रकी व्याख्या देते हुए मम्मटाचार्यने इनको रससूत्रका व्याख्याकार माना है और उनका मत भी दिया है। और शार्ङ्गदेवने अपने 'सङ्गीतरत्नाकर' में इनको नाटचशास्त्रके व्याख्याताओमें गिनाया है। 'सङ्गीतरत्नाकर' का श्लोक हम अभी पृ० १३ पर ऊपर दे चुके हैं। इन सबसे प्रतीत होता है कि भट्ट उद्भट नाटचशास्त्रके व्याख्याकार हैं। अभिनवभारतीमें इसी स्थलपर 'नैतदिति भट्ट लोल्लट' लिखा है। इस प्रकारके विवरणके अनुसार भट्ट उद्भटकी व्याख्याका भट्ट लोल्लटने खण्डन किया है। इसलिए उद्भटको लोल्लटका पूर्ववर्ती मानना होगा। लोल्लटका समय विद्वानो ने सप्तम शताब्दीका अन्तिम भाग अथवा अष्टम शताब्दीका प्रारम्भिक भाग माना है। इसलिए भट्ट उद्भटका समय सप्तम शताब्दीका मध्यकाल माना होगा।

भट्ट लोल्लट—'अभिनवभारती' में भट्ट लोल्लटके नामको दस बार उद्धृत किया गया है। प्रथम भागमें चार बार (पृ० २०६, २६४, २७७ और २९८) इसी प्रकार द्वितीय भागमें (पृ० १३४, १९६, ४१५, ४२३, ४३६ और ४४२ पृष्ठो पर छह बार)—कुल मिला कर दस बार भट्टलोल्लटके नामका उल्लेख अभिनवभारतीमें पाया जाता है। इनका समय आठवी शताब्दीमें निर्धारित किया जाता है। रसके प्रसङ्गमें इनका सिद्धान्त उत्पत्तिवादी है। ये मीमासक और व्यञ्जना-विरोधी हैं। दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापारसे ही व्यग्य कहलाने वाले अर्थकी प्रतीति मानने वाले हैं। काव्यप्रकाश आदिमे 'सोऽमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरो ऽभिधाव्यापार' से इन्हीके मतका उल्लेख किया गया है।

श्री शकुक—अभिनवभारतीमे श्री शकुकके मतका उल्लेख १५ बार किया गया है। (प्रथम भाग प्रथम सस्करणके अनुसार पृष्ठ ७४, २१७, २७४, २८५, २९३, २९८, ३१८। द्वितीय भाग पृ० ४११ और ४३६। तथा एस. के डे महोदयके पासकी पाण्डुलिपि में पृ० ४०३,

४१३, ४३७, ४४१, ४४८, ४६९) । ये काश्मीरके राजा अजितापीड के समय में ८१३ के लगभग हुए हैं । राजतरङ्गिणीमें अजितापीडके वर्णनके प्रसङ्गमें इनका नाम निम्न श्लोकमें पाया जाता है।

"कविर्बुधमनः सिन्धु शशाक शकुकाभिध ।
यमुद्दिश्याकरोत् काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम् ।।" राज० ४, ७०४ ।

इस श्लोकसे प्रतीत होता है कि शकुकने अजितापीडकी स्तुतिमें 'भुवनाभ्युदय' नाम का काव्य भी लिखा था। 'शार्ङ्गधरपद्धति' तथा 'सूक्तिमुक्तावली' में शकुकको मयूरका पुत्र बतलाया गया है । और उनके नामसे निम्न पद्य उद्धृत किया गया है—

"दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽप्युत्सुकं।
गाढं प्रेम नव वयोऽतिकठिना प्राणाः कुल निर्मलम् ।।
स्त्रीत्व धैर्येविरोधि मन्मथसुहृत्काल कृतान्तोऽक्षमः ।
नो सख्यश्चतुराः कथं नु विरहो सोटव्य इत्थ शठ ।।"

भट्टनायक—भरत-नाटयशास्त्र के व्याख्याताओंमें चौथे प्रमुख व्याख्याता भट्टनायक है। अभिनवभारतीमें भट्टनायकके नामका उल्लेख ६ स्थानोंपर किया गया है। (प्रथम भाग, प्रथम सस्करण पृ० ४, २६, २७८, द्वितीय भाग पृ० २९८ तथा डे पाण्डुलिपि पृ० ५०६, ५०८)। अभिनवगुप्तके अतिरिक्त जयरथ, महिमभट्ट तथा रुय्यकने भी भट्टनायकका उल्लेख किया है। भट्टनायक भी ध्वनिविरोधी आचार्य थे। इन्होने 'हृदयदर्पण' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा था। महिमभट्टने भी व्यक्तिविवेकके प्रारम्भमें 'अदृष्टदर्पणा मम धीः' आदिसे बडे सुन्दर रूपमें इस ग्रन्थका स्मरण किया है। ये सम्भवतः आनन्दवर्धनके समकालीन और उनके आश्रयदाता काश्मीर-राज अवन्तिवर्मा (८५५-८८४) के राजकविके रूपमें उपस्थित थे।

भट्टयन्त्र—अभिनवभारतीमें प्रथमभाग पृ० २०८ पर केवल एक बार भट्टयन्त्रके नामका उल्लेख पाया जाता है। उसीसे यह अनुमान होता है कि सम्भवतः इन्होने भी नाटयशास्त्र पर कोई टीका लिखी हो। इसके अतिरिक्त इनका और कोई परिचय कही उपलब्ध नही होता।

अभिनवगुप्त—नाटयशास्त्रके सबसे प्रमुख व्याख्याकार जिनकी व्याख्या आज भी पाई जाती है अभिनवगुप्त हैं। इनके विषय में हम आगे लिखेंगे। इसलिए इस समय कुछ नही लिख रहे हैं।

उत्तरवर्ती नाटच-साहित्यकार—

अब तक हमने (१) नाटयशास्त्रके पूर्ववर्ती आचार्यों का, जिनका कि उल्लेख नाटयशास्त्रमें पाया जाता है, (२) मध्यवर्ती ग्रन्थकारो का और (३) नाटयशास्त्रके टीकाकारोका परिचय देनेका यत्न किया है। अब आगे हम नाटय-साहित्यपर लिखने वाले (४) उत्तरवर्ती साहित्यकारोका परिचय देनेका यत्न करेंगे। इन सब साहित्यकारोने यद्यपि स्वतन्त्र रूपसे नाटयसाहित्यके विषय में अपने ग्रन्थोंकी रचना की है किन्तु वास्तवमें वे सब नाटयशास्त्रके ऋणी हैं। नाटयशास्त्रके आधारपर ही उसके किसी एक अशको लेकर इन्होने अपने ग्रन्थोकी रचना की है। इन ग्रन्थो में १ धनञ्जयका दशरूपक, २. सागरनन्दीका नाटय-लक्षणरत्नकोश, ३. रामचन्द्र गुणचन्द्र

का नाटचदर्पण, ४ शारदातनयका भावप्रकाशन, ५ शिङ्गभूपालकी नाटकपरिभाषा (अप्राप्य) तथा ६. रूपगोस्वामी की नाटकचन्द्रिका ये मुख्य ग्रन्थ हैं जो स्वतन्त्र रूपसे केवल नाटच-विषयक विवेचनाके लिए लिखे गए हैं। इनके अतिरिक्त भोजका 'शृङ्गारप्रकाश' और 'सरस्वतीकण्ठाभरण', विद्यानाथकृत 'प्रतापरुद्रीय यशोभूषण' तथा विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' तथा शिङ्गभूपालका 'रसार्णवसुधाकर' इस प्रकार के ग्रन्थ हैं जिनकी रचना केवल नाटय-सम्बन्धी विषयके निरूपणके लिए नही हुई है किन्तु उनके किसी एक भागमें नाटक-सम्बन्धी विवेचन भी किया गया है। इन ग्रन्थकारोका थोडा-सा परिचय हम आगे दे रहे हैं।

धनञ्जय—स्वतन्त्र रूपसे नाटच-विवेचनके लिए लिखे गए ग्रन्थोमें दशरूपक सबसे अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके रचयिता धनञ्जय हैं। धनञ्जयने अपने ग्रन्थके अन्तमें अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतु ।
आविष्कृत मुञ्जमहीशगोष्ठी-वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥"

इससे प्रतीत होता है कि ये मालवाके परमार वशके राजा मुञ्ज (या वाक्पतिराज द्वितीय) की सभाके राजकवि थे। इसलिए इनका समय ९७४ से ९९५ के बीच निर्धारित किया जाता है। इसी श्लोकसे यह भी प्रतीत होता है कि इनके पिताका नाम विष्णु था। इन्होने नाटयशास्त्रके आधारपर ही अपने ग्रन्थकी रचना की है किन्तु उसके सारे व्यापक विषयोको छोड कर केवल नाटच-विषयसे सम्बन्ध रखने वाले विषयोका ही वर्णन अपने ग्रन्थमें किया है। इसीलिए ग्रन्थके प्रारम्भमें चतुर्थ श्लोकमें उन्होने स्पष्ट ही लिख दिया है कि—

"नाटचाना किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षण सक्षिपामि ।"

धनञ्जयने अपना ग्रन्थ कारिका-रूपमें लिखा है। इसमें चार 'प्रकाश' हैं जिनमें वस्तु-विभाग, पाँच अर्थप्रकृति, अवस्थाओ तथा सन्धियोके अङ्गोका विभाजन अर्थोपक्षेपकोका वर्णन नायक नायिका भेदका मनोवैज्ञानिक आधारपर विवेचन, उनके सहकारियोका वर्णन और रस-निरूपण आदि अत्यन्त सुन्दर रूपमें प्रस्तुत किए गए हैं। इनकी इस रचनाका उत्तरवर्ती साहित्य की रचनापर बहुत अधिक प्रभाव पडा है।

धनिक—इन्ही धनञ्जयके छोटे भाई धनिकने दशरूपकके ऊपर 'दशरूपकावलोक' नामक उच्चकोटिकी टीका लिखी है। इसी टीकाके चतुर्थ प्रकाशमें इन्होने 'यथाऽवोचाम काव्य-निर्णये' लिख कर यह सूचना दी है कि इन्होने 'काव्य-निर्णय' नामका कोई दूसरा ग्रन्थ भी लिखा था। ये स्वय कवि भी थे और 'अवलोक टीका' में कई जगह अपने पद्य उदाहरण-रूपमें प्रस्तुत किए हैं।

धनिकके 'अवलोक' के अतिरिक्त दशरूपकपर और भी कई टीकाग्रन्थ लिखे गए हैं। बहुरूपभट्ट, नृसिंहभट्ट, देवपाणि, क्षोणीधर मिश्र और कूरवीराम ये सब दशरूपक के टीकाकारके रूपमें प्रसिद्ध हुए हैं। किन्तु इनमें सबसे अधिक ख्याति तथा मान धनिक और उनकी टीका 'अवलोक' को ही मिला है।

सागरनन्दी—सन् १९२२ में स्व० 'सिलवा लेवी' ने नैपालमें 'नाटचलक्षणरत्नकोश' नामक ग्रन्थकी पाण्डुलिपि प्राप्त की और उसके सम्बन्धमें परिचयात्मक विवरण 'जरनल एशियाटिक' में १९२२ पृ० २१० पर प्रकाशित कराया। उससे विदित हुआ कि सागरनन्दीने भी नाट्य-साहित्य पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की है। इसके पूर्व 'नाटचलक्षणरत्नकोश' के कुछ उद्धरण तो विभिन्न ग्रन्थोमें मिलते थे किन्तु इनके ग्रन्थका पता नही था। उसके वाद १८३७ में श्री एम०डिलन ने इस ग्रन्थको सुसम्पादित करके लन्दनसे प्रकाशित करवाया है। 'नाटचलक्षणरत्नकोश' में भरतमुनिके अतिरिक्त १ 'हर्षवार्तिकम्' २. 'मातृगुप्त' ३ गर्ग, ४. अश्मकुट्ट, ५. नखकुट्ट, ६. वादरि का भी उल्लेख पाया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि सागरनन्दीने भरत सहित सात आचार्यों के ग्रन्थोके आधारपर अपने ग्रन्थकी रचना की है। किन्तु इन सबमें अधिक नाट्यशास्त्रका आश्रय लिया गया है। अनेक स्थानोपर भरतके श्लोको को ज्यो का त्यो उतार दिया गया है। दशरूपक के समान यह ग्रन्थ भी कारिका रूपमें ही लिखा गया है।

रामचन्द्र गुणचन्द्र—कालकी दृष्टिसे धनञ्जय तथा सागरनन्दीके वाद तीसरा स्थान रामचन्द्र गुणचन्द्र का आता है। जिन्होने नाट्य-साहित्यपर 'नाटच-दर्पण' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है। रामचन्द्र गुणचन्द्र दो अलग-अलग विद्वान् हैं। इन दोनोने मिल कर 'नाटचदर्पण' की रचना की है। ये दोनों जैन हैं और प्रसिद्ध जैन दार्शनिक हेमचन्द्राचार्यके शिष्य हैं। इनका समय १२वी शताब्दीमें निर्धारित किया गया है। 'नाटचदर्पण' कारिका रूपमें लिखा गया है। उसके ऊपर इन्ही दोनो विद्वानोने स्वय अपनी वृत्ति भी लिखी है। इन दोनो विद्वानोमेंसे रामचन्द्र ने अलग स्वतन्त्र रूपसे लगभग सो ग्रन्थोंकी—जिनमें अधिकाश नाटक हैं—रचना की है। गुणचन्द्रका अलग कोई ग्रन्थ नही पाया जाता है। इन लोगोंने अपनी वृत्तिमें पूर्ववर्ती अनेक आचार्योंके मतोका खण्डन किया है। इनमेंसे दशरूपककार धनञ्जयका स्थान मुख्य है। धनञ्जय के मतकी रामचन्द्र-गुणचन्द्रने अनेक स्थानोपर आलोचना की है।

रुय्यक—अन्य साहित्यिक विद्वानोंके समान 'रुय्यक' भी एक काश्मीरी विद्वान् हैं। इन्होंने महिमभट्टके 'व्यक्तिविवेक' के ऊपर अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है। उसी टीकासे यह पता चलता है कि इन्होने 'नाटकमीमासा' नामका कोई ग्रन्थ नाट्य-साहित्यपर भी लिखा था। किन्तु वह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नही हुआ है।

शारदातनय—धनञ्जय, सागरनन्दी, और रामचन्द्र-गुणचन्द्रके वाद अगला स्थान शारदातनय का आता है। शारदातनयका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' है। यह ग्रन्थ आकारमें दशरूपक, नाटचदर्पण, आदिसे वहुत अधिक वडा और लगभग नाट्यशास्त्रके वरावरका है। इसमें नाटच-सम्वन्धी सभी विषयोका विस्तारके साथ विवेचन किया गया है। ग्रन्थ श्लोकवद्ध है। उसके दश प्रकरणोमें रूपको और उपरूपकोका उदाहरणोंके सहित विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ गायकवाड ओरिएन्टल सिरीज, वडोदासे प्रकाशित हो चुका है। उसके ऊपर टीका भी लिखी गई थी किन्तु वह अभी तक प्रकाशित नही हुई है। यह १२ और १३वी शताब्दीके वीच की रचना प्रतीत होती है। इसमें वहुतसे ऐसे नाटकोंके नाम आते हैं जो इस समय उपलब्ध नही हो रहे हैं।

शिङ्गभूपाल—शिङ्गभूपालका समय १४वीं शताब्दीमें आता है। इनके दो ग्रन्थ हैं एक 'नाटकपरिभाषा' और दूसरा 'रसार्णवसुधाकर'। 'नाटकपरिभाषा' के नामसे ही प्रतीत

होता है कि वह मुख्य रूपसे नाटकके विषयके प्रतिपादनकेलिए ही लिखा गया था। किन्तु अभी तक इसका प्रकाशन नही हुआ है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'रसार्णवसुधाकर' नाटक विषयपर नही अपितु साधारणत. साहित्य विपयपर लिखा गया है। किन्तु उसके अन्तिम भागमें नाटकका विवेचन भी किया गया है।

रूप गोस्वामी—रूपगोस्वामी प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य हैं। उनका समय १५वी शताब्दी के आस-पास निर्धारित किया जाता है। उनका 'नाटकचन्द्रिका' ग्रन्थ भरत नाटयशास्त्र तथा शिङ्गभूपालके 'रसार्णव-सुधाकर' के आधारपर लिखा गया है। इसमें मुख्य रूपसे नाटक-सम्बन्धी विषयका ही विवेचन किया गया है। उसकी मुख्य विशेषता यह है कि उसमें उदाहरण प्राय वैष्णव ग्रन्थोसे ही लिए गए हैं। रूपगोस्वामीकी दूसरी रचना 'हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु' है। वह इसपे कही अधिक प्रसिद्ध और कही अधिक महत्वपूर्ण कृति है।

राजा भोज—राजा भोजका 'शृङ्गारप्रकाश' ग्रन्थ भारतीय साहित्य-शास्त्रका कदाचित् सबसे अधिक विशाल ग्रन्थ है। यह ३६ प्रकाशोमें विभक्त है। किन्तु इसका ३६ वाँ प्रकाश अभी तक मिला ही नही है। इसके १२वें प्रकाशमें नाट्यका वर्णन हुआ है। शेप भागोमें साहित्यशास्त्र-सम्वन्धी अन्य विषयोका विवेचन किया गया है। ग्रन्थ सम्पूर्ण रूपमें प्रकाशित नही हो पाया है। इन्ही राजा भोजका दूसरा ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' है। इसके पाँचवें परिच्छेदमे नाटक-सम्बन्धी विषयोका प्रतिपादन किया गया है।

विद्यानाथ—विद्यानाथ भी १४ वी शताब्दीके लेखक हैं। इनका ग्रन्थ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' इनके आश्रयदाता काकतीय वशके राजा प्रतापरुद्रदेव की स्तुतिके रूपमें लिखा गया है। इसमें ९ प्रकरण हैं। तीसरे प्रकरणमें नाटक सम्वन्धी विषयका विवेचन किया गया है। लक्षणोके उदाहरण दिखलानेकेलिए विद्यानाथने अपने आश्रयदाताकी प्रशसामें 'प्रतापरुद्रकल्याण' नामक एक नाटककी भी रचना की है।

विश्वनाथ—कविराज विश्वनाथका 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ साहित्य शास्त्रका वडा सम्मानित ग्रन्थ है। पाठ्यग्रन्थोमें उसका सर्वत्र सन्निवेश किया गया है। इसके छठे परिच्छेदमें नाटक-सम्वन्धी विपयका विवेचन भरत-नाट्यशास्त्रके आधारपर किया गया है।

सस्कृत भापामें लिखे गए नाट्य-साहित्यकी यह सक्षिप्त रूपरेखा है। भरतसे लेकर अव तक नाट्य-साहित्यपर हुए कार्यका विवरण इसमे देने का यत्न किया गया है।

अभिनवगुप्त-द्वय—

ऊपर हम नाटयशास्त्रके टीकाकारोमे अभिनवगुप्तके नामका उल्लेख कर चुके हैं। अन्य प्राचीन आचार्यो और ग्रन्थकारोकी अपेक्षा अभिनवगुप्तका परिचय कुछ सुलभ है क्योंकि उन्होने अपने ग्रन्थोमें प्राय अपने पूर्वजो और ग्रन्थोके लिखे जानेके समयादिका उल्लेख कर दिया है। इसके आधारपर उनके कालका निर्धारण और कुछ सामान्य परिचय सरलतासे मिल जाता है। फिर भी उनके सम्वन्धमें एक समस्या उत्पन्न हो गई है और उस समस्याको उत्पन्न करनेका कारण है 'माधव' का 'शकरदिग्विजय' ग्रन्थ। शकरदिग्विजय' मे वेदान्तसूत्रोपर शाक्त-सम्प्रदायके मतानु-

सार भाष्य करने वाले अभिनवगुप्त नामक एक शाक्त भाष्यकारका उल्लेख किया गया है। ये शाक्त-भाष्यकार कामरूप आसामके निवासी हैं और अपने समयके महान् विद्वान् तथा दार्शनिक माने जाते हैं। 'शकरदिग्विजय' में उनके साथ शास्त्रार्थं करके शकराचार्यने उनको परास्त किया था इसका वर्णन पाया जाता है। 'शकरदिग्विजय' का वह श्लोक जिसमें कि इस घटनाका उल्लेख किया गया है निम्न प्रकार है—

"तदनन्तरमेष कामरूपानधिगत्याभिनवोपशब्दगुप्तम् ।
अजयत् किल शाक्तभाष्यकार स चं भग्नो मनसेदमालुलोचे॥"

(शंकर-दिग्विजय १५-१५८)

"स च भग्नोऽभिनवगुप्ताचार्यो मनसा इद वक्ष्यमाण विचारयामास।"

(शकरदिग्विजय टीका १५-१५८)

'शकरदिग्विजय' और उसकी टीकाके उपर्युक्त उद्धरणोसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कामरूप अर्थात् आसाममे पहुँच कर शङ्कराचार्यने अभिनवगुप्तके साथ शास्त्रार्थ किया और उनको पराजित किया। उस शास्त्रार्थमें पराजित हो जानेके बाद अभिनवगुप्तने अपने मनमें यह विचार किया कि—

आगे अभिनवगुप्तके विचारोका लम्बा वर्णन 'शङ्करदिग्विजय' में किया गया है। किन्तु उस सबसे हमें कोई प्रयोजन नही है। हमारा अभिप्राय तो यहाँ केवल इतनेसे ही है कि शङ्कर-दिग्विजयकारके अनुसार अभिनवगुप्तके साथ शङ्कराचार्यका शास्त्रार्थ हुआ था और उस शास्त्रार्थमें अभिनवगुप्त पराजित हो गए थे। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या यही अभिनवगुप्त नाट्यशास्त्रके टीकाकार अभिनवगुप्त हैं? अथवा ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। इस प्रश्नकी मीमासा किए विना अभिनवगुप्तका ठीक परिचय नही दिया जा सकता है। इसलिए यहाँ इस विषयमें थोड़ी विवेचना कर देना आवश्यक है।

डा० आफ़रेचटने अपने 'कैटेलागस कैटेलागरम' नामक स्व-सम्पादित, प्रकाशित ग्रन्थोके सूचीपत्रमें 'शङ्करदिग्विजय' का नाम कुछ थोडे परिवर्तनसे 'सूक्ष्मशङ्करविजय' करके दिया है। उसके साथ ही ऊपर उद्धृत किए हुए श्लोकके आधारपर उन्होने अभिनवगुप्तके विषयमें भी कुछ पक्तियाँ लिखी हैं। यहाँ तक तो कोई बात नही थी। हम इन अभिनवगुप्तको नाट्यशास्त्र तथा ध्वन्यालोकके टीकाकार अभिनवगुप्तसे भिन्न मान सकते थे। किन्तु कठिनाई वहाँसे आरम्भ हो जाती है जब कि डाक्टर महोदय नाट्यशास्त्र तथा ध्वन्यालोकके टीकाकार प्रसिद्ध अभिनवगुप्त के ग्रन्थोमें उपर्युक्त श्लोकमें वर्णित शाक्तभाष्यको भी सम्मिलित कर लेते हैं। इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि डा० आफ़रेचट शाक्तभाष्यकार अभिनवगुप्त और अभिनवभारतीकार अभिनव-गप्त दोनोको एक ही व्यक्ति मानते हैं। परन्तु यह बात उचित नही है। सम्भव है मूल ग्रन्थकार माधवाचार्यके मनमें भी यह बात रही हो। अभिनवगुप्त अपने समयके सबसे बडे विद्वान् और महान् दार्शनिक माने जाते थे। ऐसे प्रकाण्ड विद्वान्के साथ शास्त्रार्थ और उसमें शङ्कराचार्यके द्वारा उनकी पराजयके दिखलाए विना शङ्करकी दिग्विजय पूर्ण नही होती। इसलिए कदाचित् ग्रन्थकार ने भी इन्ही अभिनवभारतीकार अभिनवगुप्तकी पराजयका वर्णन इस श्लोकमें किया हो। किन्तु

यह बात ठीक नही है । इसके दो कारण हैं । पहली बात तो यह है कि हमारे प्रसिद्ध अभिनव-भारतीकार अभिनवगुप्त शैव हैं, शाक्त नही । दूसरी बात यह है कि ये काश्मीरके निवासी हैं। और शङ्करदिग्विजय वाले अभिनवगुप्त कामरूपके निवासी हैं। काश्मीर-निवासी अभिनवगुप्त भी कामरूपमें पहुँच सकते हैं और शैव तथा शाक्तका भेद भी दृष्टिसे ओझल किया जा सकता है किन्तु सबसे बडी बात यह है कि शङ्कराचार्य और प्रसिद्ध काश्मीरी अभिनवगुप्तके कालके बीच लगभग दो सौ वर्ष का व्यवधान पडता है। उसको तो किसी भी प्रकार दूर नही किया जा सकता । शङ्कराचार्यका जन्म-काल ७८८ और मृत्युकाल ८२० माना जाता है। ३२ वर्ष की स्वल्प आयुमें ही उनका देहावसान हो गया था। परन्तु काश्मीरी अभिनवगुप्तका समय उनके लगभग २०० वर्ष बाद आता है। 'क्रमस्तोत्र', 'भैरवस्तोत्र' तथा 'बृहती विमर्शिणी' आदि ग्रन्थोके लिखे जानेका जो समय अभिनवगुप्तने दिया है उसके अनुसार इनका काल दशम शताब्दीके उत्तरार्द्ध तथा ग्यारहवी शताब्दीके आरम्भमें पडता है। और शङ्कराचार्यका मृत्युकाल नवम शताब्दीके आरम्भमें पडता है। इस प्रकार इन दोनोके कालमें जो लगभग दो सौ वर्षोंका व्यवधान आता है इससे स्पष्ट है कि ये दोनो अभिनवगुप्त व्यक्ति एक नही हो सकते हैं। वास्तवमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त नामका कोई दूसरा व्यक्ति था ही नही। माधवाचार्यने केवल अपने चरित्र-नायक शङ्कराचार्यके द्वारा प्रसिद्ध विद्वान् अभिनवगुप्तकी पराजय दिखलाने और उसके द्वारा अपने चरित्र-नायकका गौरव बढ़ानेकेलिए काल-क्रम आदिका विचार किए बिना ही अभिनवगुप्तकी पराजयकी यह कथा अपने ग्रन्थमें लिख दी है। वह सब अयथार्थ और कल्पना मात्र है। और यदि ग्रन्थकारके गौरवकी रक्षाकेलिए थोडी देरके लिए यह मान भी लिया जाय कि कोई शाक्त-भाष्यकार अभिनवगुप्त भी थे और उनको शङ्कराचार्यने शास्त्रार्थमे पराजित किया था तो यह निश्चय है कि वे अभिनवगुप्त प्रसिद्ध काश्मीरी अभिनवगुप्तसे अवश्य ही भिन्न व्यक्ति रहे होगे। इसलिए डा० आफरेचटने जो काश्मीरी अभिनवगुप्त के निर्मित ग्रन्थोकी सूचीमें शाक्त-भाष्यको भी सम्मिलित कर लिया है वह अप्रामाणिक और असङ्गत है।

अभिनवगुप्त द्वारा कालका निर्देश—

अभिनवगुप्तने अपने तीन ग्रन्थोमे उनके लिखे जानेके कालका उल्लेख किया है।

(१) सबसे पहिले 'क्रम-स्तोत्र' की रचना उन्होने मार्गशीर्ष कृष्ण ९ सप्तर्षि सवत्सर ६६ मे की थी। इसके विषयमे उन्होने लिखा है—

"षट्षष्ठिनामके वर्षे नवम्यामसितेऽहनि ।
मयाभिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुत शिव. ॥"

अर्थात् सम्वत् ६६ में मार्गशीर्ष कृष्ण नवमीको मैंने (इस क्रमस्तोत्रके रूपमे) शिव की स्तुति की है।

(२) इसी प्रकार भैरव-स्तोत्रके अन्तमे उसका रचना-काल इस प्रकार दिया गया है—

'वसुरस-पौषे कृष्णदशम्यामभिनवगुप्त स्तवमिममकरोत्' ॥

वसु पद आठ सख्याका और रस पद ६ सख्याका बोधक है। 'अङ्काना वामतो गति' इस सिद्धान्तके

अनुसार पहिले ६ और वाद को ८ लिखने पर सम्वत् ६८ निकलता है। उस सम्वत् ६८ के पौष मासकी कृष्णा दशमीको अभिनवगुप्तने इस 'भैरवस्तोत्र' की रचना की यह इस श्लोक का अर्थ है।

(३) इसी प्रकार 'वृहती विमर्शिणी' तीसरा ग्रन्थ है जिसमें अभिनवगुप्तने उसके वनाए जानेके कालका निर्देश निम्न प्रकार किया है—

"इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरान्त्ये युगांशे,
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितवोधा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा,
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरित शम्भुपादै ॥"

अर्थात् आचार्य शम्भुपादकी प्रेरणासे जगत्को पूर्ण वोध प्रदान करने वाली सारी ईश्वर प्रत्यभिज्ञा की अन्त्य युगांश अर्थात् कलिसम्वत्के तिथि अर्थात् १५, शशि अर्थात् १ और जलधि अर्थात् चार 'अङ्कानां वामतो गतिः' इस सिद्धान्तके अनुसार उलटे क्रमसे लिखनेपर ४११५ सम्वत्सर वीत जानेके वाद ९० सम्वतसरमें मार्गशीर्षके अन्तमें मैंने सम्पूर्ण 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' की यह व्याख्या की है।

इस श्लोकमें कलिसम्वत्सर के ४११५ वर्ष वीत जानेके वाद ९० सम्वत्सरमें इस ग्रन्थकी रचना की यह काल दिया गया है। इसमे जो ९० सम्वत्सर दिया है वह काश्मीरका प्रसिद्ध सप्तर्षि सम्वत्सर है। और ४११५ कलि सम्वत्सरके साथ उसका सम्वन्ध भी इस श्लोकमें दिखलाया गया हैं। सम्वत्सर-विशेषज्ञोके अनुसार सप्तर्षि सम्वत्का आरम्भ कलि सम्वत्सरके २५ वर्ष वाद हुआ है अर्थात् जिस समय ४११५ कलिसम्वत्सर चल रहा था उस समय उसके २५ वर्ष वाद आरम्भ होने वाले सप्तर्षि सम्वत्सरका ४११५—२५=४०९० वाँ वर्ष चल रहा था। इसी ४०९० सप्तर्षि सम्वत्को यहाँ ग्रन्थकारने 'नवतितमेऽस्मिन्' सम्वत् ९० कहा है।

यह तो कलि सम्वत्सर तथा सप्तर्षि-सम्वत्सरके अनुसार अभिनवगुप्तको 'वृहती विमर्शिणी' का रचना-काल हुआ। परन्तु इसका सम्वन्ध वर्तमान सम्वत्सरसे कैसे जोडा जाय इसके लिए हमें वर्तमान कलि-सम्वत्को देखना चाहिए। आज सम्वत् २०१६ के पञ्चाङ्गमे कलि सम्वत् ५०६० दिया हुआ है। अर्थात् विक्रम सम्वत् तथा कलिसम्वत्में ३०४४ वर्षोंका अन्तर है। अर्थात् कलिसम्वत्मेंसे ३०४४ वर्ष घटानेसे विक्रम सम्वत्की गणना प्राप्त होती है। 'वृहती विमर्शिणी' की रचना ४११५ कलिसम्वत्में हुई थी। इसमेंसे ३०४४ वर्षोंको कम कर देनेपर (४११५-३०४४=) १०७१ विक्रम सम्वत्सरमें 'वृहती विमर्शिणी' की रचना अभिनवगुप्तने की यह अर्थ निकलता है।

जव इस विक्रम-सम्वत्सरको ईसवी सन्में परिवर्तित करना चाहे तो इसमेंसे ५७ वर्ष कम करने होंगे। क्योंकि विक्रम सम्वत्सर ईसवी सम्वत्सरसे ५७ वर्ष पुराना है। इस प्रकार जव 'वृहती-विमर्शिणी' की रचना १०७१ विक्रम सम्वत्में हुई तो ईसवी सन्के अनुसार उसका रचना-काल १०७१-५७=१०१४ ई० पडता है। अर्थात् 'वृहती-विमर्शिणी' की रचना ग्यारहवीं शताब्दीके आरम्भमें हुई।

'बृहती विमर्शिणी' का यह रचना-काल जब निर्धारित हो गया तो 'भैरवस्तोत्र' तथा 'क्रमस्तोत्र' का रचना-काल भी निकल आता है। 'क्रमस्तोत्र' की रचना सप्तर्षि सम्वत् ६६ में अर्थात् 'बृहती विमर्शिणी' से २४ वर्ष पूर्व तथा 'भैरव-स्तोत्र' की रचना उससे दो वर्ष बाद अर्थात् 'बृहती विमर्शिणी' से २२ वर्ष पूर्व हुई।

इस विवरणके अनुसार अभिनवगुप्तने जिन तीन ग्रन्थोका रचनाकाल दिया है उनमेंसे सबसे प्रथम बनने वाले 'क्रमस्तोत्र' का रचना-काल ९९० ई० है और सबसे अन्तमें बनने वाली 'बृहती-विमर्शिणी' का रचना-काल १०१४ ई० है। अर्थात् इन दोनो रचनाओंके बीचमें २४ वर्षका व्यवधान है। आगे चल कर हम देखेंगे कि अभिनवगुप्तने छोटे बडे सब मिला कर ४१ ग्रन्थ लिखे हैं। जब ४१ ग्रन्थोके इस विशालकाय साहित्यकी रचना केवल इन २४ वर्षोंमें सम्भव नही है इस लिए क्रमस्तोत्रके पहिले भी उन्होने कुछ रचनाएँ की होगी और 'बृहती-विमर्शिणी' के बाद भी उनका रचनाक्रम चलता रहा होगा। इसलिए क्रमस्तोत्रकी रचनाके समय हम अभिनवगुप्तकी आयु यदि ४० वर्षकी मान लें तो इसका अर्थ यह हुआ कि उनका जन्मकाल ९५० ई० बैठता है। और 'बृहती-विमर्शिणी' के बाद १०-११ वर्ष बाद तक उनका जीवनकाल १०२५ तक मान लेनेसे उनकी ७५ वर्षकी अवस्था होती है। इस ७५ वर्षके जीवन कालमें लगभग ४० वर्षका काल उनके साहित्यिक रचना-कार्यका काल माना जा सकता है। इस ४० वर्षके साहित्यिक रचनाकालमें अभिनवगुप्तने सब मिलाकर ४० ग्रन्थोकी रचना की है। इस प्रकार अभिनवगुप्तके अपने लेखोके आधारपर उनका काल ९५० ई० से लेकर १०२५ ई० तक बनता है।

अभिनवगुप्तके नामका रहस्य—

नाट्यशास्त्रके टीकाकार यह अभिनवगुप्त जिस 'अभिनवगुप्त' नामसे प्रसिद्ध हैं वह कदाचित् उनका असली जन्मका नाम नही है। उनका जन्मका नाम कुछ और था। यह नाम उनके गुरुजीने उनके गुणोके आधारपर रखा है ऐसा पूर्ववर्ती विद्वानोका मत है और, अभिनवगुप्त के लेखोसे भी उसकी पुष्टि-सी होती है। अभिनवगुप्तका पूरा नाम 'अभिनव-गुप्तपाद' है। और उसके साथ सम्मानसूचक आचार्य पद लगाया जाता है। इसलिए उनको सम्मानके साथ 'अभिनवगुप्तपादाचार्य' कहा जाता है। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्यने काव्यप्रकाशके चतुर्थ उल्लास में भरतमुनिके रस-सूत्रकी विवेचनाके प्रसङ्गोंमें जहाँ भट्ट लोल्लट, शकुक और भट्टनायकके मत दिखलाए हैं उनके साथ ही 'इति अभिनवगुप्तपादाचार्या.' लिख कर अभिनवगुप्तके मतका भी उल्लेख किया है। इस स्थनपर काव्यप्रकाशकी 'बालबोधिनी' टीकामें वामनाचार्यने अभिनवगुप्तपाद नामका रहस्य प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

"इदमत्र रहस्य, पुरा किल क्वचिद्वलभो पठता बहूना ब्राह्मणबालकानामध्ययनशालासीत्। तत्र पठन् कश्चिद् गौडबालोऽति सोवुद्ध्यान्मुखरत्वाच्च निखिलाना बालाना भयप्रदत्वेन बालवलभीभुजङ्ग इति गुरुणा व्यपदिष्ट। स चाचार्यतामुपगत इति सकलरहस्याभिज्ञ श्री वाग्देवतावतारो [मम्मट] गूढ तन्नाम 'अभिनवगोपानसीगुप्तपाद' इति वैदग्ध्यमुखेनाभिव्यनक्ति।"

इन पक्तियोके अनुसार अभिनव-गुप्तपाद इस नाममें 'अभिनव' पद नवीन अर्थात् शिशु या बाल अर्थका, और 'गुप्तपाद' यह सर्प या भुजङ्ग अर्थका व्यञ्जक है। सर्पके पैर बाहर दिखलाई

नही देते हैं वह अपनी छातीकी हड्डियोके बलसे ही आगे सरकता या चलता है इसलिए उसको 'गुप्तपाद' कहते हैं। सर्प जिस प्रकार लोगोको भयभीतकर देने वाला होता है इसी प्रकार अपनी बाल्यावस्थामें अभिनवगुप्त बहुत शरारती और अपने साथके विद्यार्थियोको सदा भयभीत करने वाले थे इसी लिए इनके गुरुजीने बालकोंके लिए भुजङ्गके समान त्रास-दायक होने कारण इनका नाम 'अभिनव-गुप्तपाद' रख दिया था। यह काव्यप्रकाशके टीकाकार वामनाचार्यके मतमें अभिनव-गुप्तपाद नामका रहस्य है।

वामनाचार्यके इस उपाख्यानमें कहाँ तक सत्यता है यह नही कहा जा सकता है पर एक बात तो उसमें यह खटकती है कि इन पक्तियोमें इन अभिनवगुप्तको उन्होने 'गौड बाल' कहा है। अभिनवगुप्त तो काश्मीरी बालक थे उनके लिए 'गौड़-बाल' शब्दका प्रयोग उचित प्रतीत नही होता है। परन्तु इस कथाका सार भाग इतना ही है कि अभिनव-गुप्तपाद यह नाम अभिनवगुप्तका निजी राशिनाम न हो कर गुरुप्रदत्त नाम था। इस बातकी पुष्टि अभिनवगुप्तके लेखसे भी होती है। तन्त्रालोक [१-१५०] में अभिनवगुप्तने लिखा है—

"अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेय यस्योदिता गुरुभिराख्या।"

अर्थात् यह उस अभिनवगुप्तकी कृति है जिसका यह अभिनवगुप्तपाद नाम गुरुओने रखा है। जब ग्रन्थकार स्वय यह मानते हैं कि उनका अभिनव-गुप्तपाद यह नाम गुरुओने रखा है तब वामनाचार्यने जो इसका कारण दिखलाया है वह भी ठीक ही होगा। बाल्यकालमें अभिनवगुप्तकी शरारतोको देख कर ही गुरुजनोने उसका यह नाम रख दिया होगा।

अभिनवगुप्तपाद नामका दूसरा रहस्य—

दक्षिण-भारतमें भरत-नाट्यम्का बहुत अधिक प्रचार है। वहाके नृत्यकार भरत-नाट्यशास्त्रके प्रतिपादित नियमोका कडाईके साथ पालन करते हुए ही नृत्य करते हैं। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्रके चतुर्थ अध्यायमें नृत्यके प्रसगमें जिस प्रकारके 'अङ्गहारो' और 'करणो' आदिका वर्णन किया है उन सबका ये लोग पूर्ण रूपसे पालन करते हैं। भरतमुनिके प्रतिपादित १०८ प्रकारके करणोंके चित्र भी वहाँ मन्दिरोंमें प्रस्तर-मूर्तियोके रूपमें अङ्कित किए गए हैं। इन 'भरत-नाट्यम्' के अभिनेताओंमें अभिनवगुप्तको शेषावतार माना जाता है। अभिनव गुप्तपाद नाम उनके शेषावतार होनेका सूचक है ऐसी दक्षिणी विचारधारा है।

अभिनवगुप्तके पूर्वज—

अभिनवगुप्तने अपने ग्रन्थोमें अपना और अपने पूर्वजोका परिचय काफी विस्तारके साथ दिया है। उसके देखनेसे विदित होता है कि यद्यपि अभिनवगुप्त काश्मीरके निवासी थे किन्तु इनके पूर्वज मूल रूपसे काश्मीर-निवासी नही थे। वे वर्तमान उत्तर प्रदेशके कन्नौज नगरके, जो कि किसी समय एक प्रमुख राज्य था, निवासी थे। अभिनवगुप्तके जन्मसे लगभग २०० वर्ष पूर्व आठवी शताब्दीमें इनके पूर्वज अत्रिगुप्त कन्नौजमे जाकर काश्मीरमें बसे थे। अत्रिगुप्तका काश्मीर-प्रवास कोई सामान्य घटना नही है अपितु उसके पीछे एक विशेष इतिहास है। आठवीं शताब्दीमें कन्नौजमें यशोवर्मा नामके राजा राज्य करते थे। उनका समय (७३०-७४० के लगभग है) और काश्मीरमें उसी समयमें (७२५-७६१) ललितादित्य नामक राजा राज्य करते

थे। इधर ललितादित्यका यशोवर्माके साथ युद्ध हुआ और उस युद्धमें कन्नौजपति यशोवर्मा पराजित हो गए। इस युद्धका वर्णन काश्मीरके इतिहास ग्रन्थ 'राजतरङ्गिणी' में विस्तारपूर्वक पाया जाता है। राजा ललितादित्यके कानों तक अत्रिगुप्तकी अपूर्व विद्वत्ता और ब्राह्मणोचित समस्त गुणोंकी ख्याति पहिले ही पहुँच चुकी थी। उस समयके राजा महाराजा लोग विद्वानों का मान करने वाले और गुणग्राही होते थे। उनका ध्यान राज्य सम्पत्तिका संग्रह करनेकी ओर नहीं होता था। वे विद्वानोंका संग्रह करनेमें विशेष आनन्द और गौरवका अनुभव करते थे। यही बात काश्मीर-राज ललितादित्यके सम्बन्धमें थी। जब अत्रिगुप्तकी अपूर्व विद्वत्ताका समाचार उनको मिला तो उन्होंने स्वयं अत्रिगुप्तको काश्मीर पधारनेके लिए निमन्त्रित किया और राजकीय सम्मानके साथ उनको कन्नौजसे लाकर काश्मीरमें बसाया। और उनकी जीविका के लिए एक बड़ी भूसम्पत्ति उनको प्रदान कर दी। अभिनवगुप्तने इस घटनाका उल्लेख बहुत विस्तारके साथ किया है। भारतभूमिमें गंगा-जमुनाके बीचका जो प्रदेश है उसको 'अन्तर्वेदी' कहा जाता है। कन्नौजका राज्य भी इसी अन्तर्वेदीके भीतर था जहाँ कि अत्रिगुप्तकी जन्मभूमि थी। अत्रिगुप्त इस अन्तर्वेदीके रहने वाले थे और यहींसे जाकर काश्मीरमें बसे थे इस बातको अभिनवगुप्तने निम्न प्रकारसे लिखा है—

"अन्तर्वेद्यामत्रिगुप्ताभिधान प्राप्योत्पत्ति प्राविशत् प्राग्रजन्मा ।
श्री काश्मीरांश्चन्द्रचूडावतार निःसंख्याकै पावितोपान्तभागान् ॥"

(परात्रिंशिका विवरण २८० ।)

इस श्लोकमें तो सामान्य रूपसे यह कहा है कि अत्रिगुप्त अन्तर्वेदीमें उत्पन्न होकर बादको काश्मरी में जाकर बस गए थे। उनके काश्मीर जानेके कारण और उसकी सम्मान सूचक कथाका इस श्लोकमें कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु 'तन्त्रालोक' में उन्होंने उस कथाका भी संकेत करते हुए अत्रिगुप्तके काश्मीर-प्रवासका वर्णन इस प्रकार किया है।

"निःशेषशास्त्रसदन किल मध्यदेश,
तस्मिन्नजायत गुणाभ्यधिको द्विजन्मा ।
कोऽप्यत्रिगुप्त इति नामनिरुक्तगोत्र.,
शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यदगस्त्यगोत्र ॥
तमथ ललितादित्यो राजा स्वकं पुरमानयत् ।
प्रणयरभसात् काश्मीरास्य हिमालयमूर्धगम् ॥"

(तन्त्रालोक अ० ३७ ।)

इन श्लोकोंका अर्थ यह है कि मध्यदेश अर्थात् अन्तर्वेदीका भाग सकल-शास्त्रोंके निष्णात विद्वानोंकी खान है। उसमें सकल शास्त्र रूप समुद्रका पान कर जाने वाले अगस्त्यगोत्रमें अत्रि-गुप्त नामके गुणवान् विद्वान् ब्राह्मण उत्पन्न हुए। काश्मीरके राजा ललितादित्य उनको अत्यन्त प्रेमपूर्वक हिमालयके शिखरपर स्थित अपने काश्मीर राज्यको लिवा ले गए।

अत्रिगुप्तको आदर-पूर्वक काश्मीर ले जानेके बाद वहाँ राजा ललितादित्यने उनके लिए क्या व्यवस्था की इसका वर्णन भी अभिनवगुप्तने 'तन्त्रालोक' में किया है। उससे

उन्होंने लिखा है—

"तस्मिन् कुबेरपुरचारु सिताशुमौलि—
साम्मुख्यदर्शनविरूढपवित्रभागे।
वैतस्तरोधसि निवासममुष्य चक्रे,
राजा द्विजस्य परिकल्पितभूमिसम्पत्॥"

अर्थात् अत्रिगुप्तको काश्मीर ले जाकर राजा ललितादित्यने वहाँ सिताशुमौलि शिवजीके प्रसिद्ध मन्दिरके सामने होनेसे जिसकी पवित्रता और भी अधिक बढ़ जाती है इस प्रकारकी वितस्ता (झेलम) नदीके किनारेपर इन अत्रिगुप्तकेलिए अत्यन्त सुन्दर (कुबेरपुरचारु) निवास-भवनका निर्माण कराया और उनको एक बड़ी जागीर देकर वहाँ आदरपूर्वक बसा दिया।

इस प्रकार अभिनवगुप्तने अपने लगभग २०० वर्ष पूर्ववर्ती पूर्वज अत्रिगुप्तके काश्मीर जानेकी कथाका वर्णन विस्तारके साथ किया है। उसके बाद बीचके बहुत काल का वृत्तान्त छोड़ कर फिर अपने बाबा 'वराहगुप्त' से इस इतिहासका सूत्र चालू किया है। इस सूत्रमें अपने बाबा वराहगुप्त, अपने पिता नृसिंहगुप्त और अपने चचा, भाई, आदिका वर्णन किया है। इसमें अपने बाबाका वर्णन करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा है—

"तस्यान्वये महति कोऽपि वराहगुप्त—
नामा बभूव भगवान् स्वयमन्तकाले।
गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा—
यस्याकरोत् परमनुग्रहमाग्रहेण॥"

अपने बाबा वराहगुप्तका उल्लेख करनेके बाद अपने पिताका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"तस्यात्मजः चुखुलकेति जने प्रसिद्ध—
श्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः।
य सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्त
माहेश्वरी परमलंकुरुते स्म भक्तिः॥"

अर्थात् अत्रिगुप्तके वंशमें वराहगुप्त उत्पन्न हुए, वे अभिनवगुप्तके बाबा थे। वराहगुप्तके पुत्र नरसिंह गुप्त उत्पन्न हुए, वे अभिनवगुप्तके पिता थे। उनको लोग 'चुखुलक' नामसे भी पुकारते थे। यही उनका अधिक प्रसिद्ध नाम था। उनके चाचाका नाम वामनगुप्त था। अभिनवभारतीमें अभिनवगुप्तने वामनगुप्तका एक श्लोक विशेष रूपसे उद्धृत किया है। जिससे प्रतीत होता है कि वे एक अच्छे कवि भी थे। श्लोक वामनगुप्तके नाम सहित निम्न प्रकारसे उद्धृत किया गया है—

"तत्र हास्याभासो यथास्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य—
लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एष,
सम्मन्यते यदि किमग वदाम नाम।
यत्वत्र हासमुखरस्तत्वममुष्य तेन,
पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति॥"

इस उद्धरणमें अभिनवगुप्तने वामनगुप्तको अपना पितृव्य [चाचा] बतलाया है। अगले श्लोकमें उन्होंने अपने अन्य सम्बन्धियोंमें अपने पाँच चचेरे भाइयोंके नाम इस प्रकार गिनाए हैं—

"अन्ये पितृव्यतनया शिवभक्तिशुभ्रा क्षेमोत्पलाभिनवचक्रकपद्मगुप्ता ।
ते सम्पदं तृणममंसत शम्भुसेवा-सम्पूरितं स्वहृदयं हृदि भावयन्त ॥"

अर्थात् १ क्षेमगुप्त, २ उत्पलगुप्त, ३ अभिनवगुप्त, ४ चक्रकगुप्त और ५ पद्मगुप्त ये पाँच चचेरे भाई थे जो शिवकी भक्तिके सामने सम्पत्तिको तृणके समान त्याज्य समझते थे ।

श्री कौल महोदयकी भ्रान्ति—

अभिनवगुप्तके माता पिता और अन्य सम्बन्धियोका जो उल्लेख ऊपर किया गया है वह स्वयं अभिनवगुप्तके लेखोके आधारपर ही किया गया है । किन्तु काश्मीर रिसर्च विभागके श्री मधुसूदन कौल महोदयने 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी' की भूमिकामे पृ० ७ पर यह लिखा है—

"अभिनवगुप्तने प्रत्यभिज्ञाशास्त्रका अध्ययन अपने पिता लक्ष्मणगुप्तसे किया जो लक्ष्मणगुप्त नरसिंहगुप्तके पुत्र और उत्पलके शिष्य थे ।"

कौल महोदयका यह लेख सर्वथा अशुद्ध असगत एव प्रमादपूर्ण है । लक्ष्मणगुप्त अभिनवगुप्त के गुरु तो अवश्य हैं किन्तु उनके पिता नही हैं । लक्ष्मणगुप्तने अभिनवगुप्तको प्रत्यभिज्ञा-दर्शनकी शिक्षा दी थी इसलिए—

"तद्दृष्टिसस्रुतिच्छेदि-प्रत्यभिज्ञोपदेशिन ।
श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तस्य गुरोर्विजयते वच ॥" मालिनी विजय वार्तिक २

इस श्लोकमें प्रत्यभिज्ञाशास्त्रका उपदेश करने वाले लक्ष्मणगुप्तको अभिनवगुप्तने गुरुके रूपमें स्मरण अवश्य किया है किन्तु यहाँ गुरु शब्द गुरुका ही वाचक है, पिताका बोधक नही है । और न वे लक्ष्मणगुप्तके पुत्र ही हैं । कौल महोदयका यह सारा लेख ही भ्रान्तिपूर्ण है ।

अभिनवगुप्तके गुरु—

अभिनवगुप्तके मनमें विद्योपार्जनकी बडी प्रबल उत्कण्ठा थी । वे प्रत्येक विषयका पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त करना चाहते थे इसलिए जिस विषयका जो सबसे प्रमुख विद्वान् उस समय माना जाता था उस विषयका अध्ययन उन्होने उसी विद्वान्की सेवामे उपस्थित होकर किया । इसलिए उनके गुरुओकी सूची बहुत लम्बी हो गई है । अपने ग्रन्थोमे इन्होने अपने इन सब गुरुओका उल्लेख बडी श्रद्धाके साथ किया है और यह भी लिखा है कि किस गुरुसे विशेष रूपसे किस विषयका अध्ययन किया है । इस प्रकार विषयोके नामोके सहित सात गुरुओका उल्लेख अभिनवगुप्तने किया है । उनकी सूची निम्न प्रकार है—

१ नरसिंहगुप्त [ग्रन्थकारके पिता]	व्याकरण-शास्त्रके गुरु
२ वामनाथ	द्वैताद्वैत तन्त्रके गुरु
३ भूतिराजतनय	द्वैतवादी शैव सम्प्रदायके गुरु
४ लक्ष्मणगुप्त	प्रत्यभिज्ञा, क्रम तथा त्रिक दर्शनके गुरु
५ इन्दुराज	ध्वनि-सिद्धान्तके गुरु
६ भूतिराज	ब्रह्मविद्याके गुरु
७ भट्टतोत	नाट्यशास्त्रके गुरु

इनके अतिरिक्त १३ गुरुओंके नाम और भी दिए हैं जिनसे इन्होने किसी न किसी विषयका अध्ययन किया था। किन्तु उनमें किससे किस विषयका अध्ययन किया था इसका कोई उल्लेख नही किया है। इस तरहके विद्वानोंके नाम निम्न प्रकार हैं—

१ श्रीचन्द	२ भक्तिविलास
३ योगानन्द	४ चन्द्रवर
५ अभिनन्द	६ शिवभक्त
७ विचित्रनाथ	८ धर्मानन्द
९ शिव	१० वामन
११ उद्भट	१२ भूतीश
	१३ भास्कर

इस प्रकार अभिनवगुप्तके गुरुओकी सख्या २० हो जाती है। इन सबका वर्णन प्राय: 'तन्त्रालोक' में किया गया है। इनके आधारभूत श्लोक हमने अपने अभिनवभारतीकी व्याख्यामें आगे उद्धृत कर दिए है इस लिए यहाँ दुबारा नही दे रहे हैं।

अभिनवगुप्तका जीवनवृत्त—

अभिनवगुप्तके परिवारका जो विवरण ऊपर उपस्थित किया गया है उसके देखनेसे विदित होता है कि उनके पिता एक प्रकाण्ड विद्वान् और परम शिव-भक्त थे। उनकी माता भी उसी प्रकार परम धर्मशीला थी। और अभिनवगुप्त उन दोनोंके विशेष रूपसे 'योगिनीभू' पुत्र थे। इस लिए एक 'योगिनीभू: पुत्र' में जो गुण आने चाहिए वे सब उनमें पाए जाते थे। 'योगिनीभू: पुत्र' में पाए जाने वाले गुणोका उल्लेख अभिनवगुप्तने निम्न प्रकार किया है—

"रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्र नित्य प्रतिष्ठित:।
सति तस्मिश्च चिन्हानि तस्यैतानि विलक्षयेत ॥
तत्रैतत् प्रथमं चिन्ह रुद्रे भक्ति सुनिश्चला।
द्वितीयं मन्त्रसिद्धिः स्यात् सद्य: प्रत्ययकारिका ॥
सर्वतत्वशिवत्व च तृतीयं लक्षणं स्मृतम्।
प्रारब्धकार्यनिष्पत्तिश्चिन्हमाहुश्चतुर्थकम् ॥
कवित्वं पचम ज्ञेयं सालकार मनोहरम्।
सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वमकस्माच्चास्य जायते ॥"

तन्त्रालोक टीका ८-१३७।

ये सारेके सारे चिन्ह अभिनवगुप्तके भीतर पाए जाते थे इसका उल्लेख तन्त्रालोककी टीकामें जयरथने निम्न प्रकारसे किया है—

"समस्त चेद चिह्नजातमस्मिन्नेव ग्रन्थकारे प्रादुरभूदिति प्रसिद्धि।"

इस प्रकारके अत्यन्त उत्कृष्ट वातावरणमें रहने और स्वय इतने उत्कृष्ट चरित्रके व्यक्ति होनेपर भी अभिनवगुप्तका जीवन एक सुखी जीवन नहीं कहा जा सकता है। उसमें कहीं माधुर्य नही है। आदिसे अन्त तक एकदम शुष्क, एकदम नीरस था उनका जीवन। इसका कारण था उनका

वाल्यावस्थामे ही माता-पिताकी स्निग्ध मधुर छत्र-छायासे विलग हो जाना। जीवनका माधुर्य और सरसता दो ही जगह पाई जाती है या तो माताकी मीठी गोदमें, या फिर पत्नीके प्रेमालिङ्गन में। पर विचारे अभिनवगुप्तको इन दोनोमेसे किसीका सुख नही मिल सका। माताकी मीठी गोद तो मिली किन्तु बहुत थोडे समयकेलिए। बाल्यपनमें माता उनको छोड कर चली गई। 'माता व्ययूयुजदमु किल वाल्य एव'। बाल्यकालमें ही माताके स्नेह से वञ्चित वालकका जीवनका एक दम शुष्क और नीरस हो जाना स्वाभाविक है। यह शुष्कता एव नीरसता मनुष्यको दार्शनिकताकी ओर प्रेरित करती है। अभिनवगुप्तके मातृवियोगने भी उनको दार्शनिक मार्गका पथिक बना दिया। उन्होने इस मातृवियोग जैसी घटनाको भी एक दार्शनिकको भाति भावी कल्याणके सूचकके रूपमें ग्रहण किया। और उसे अपने भावी जीवनका सस्काराधायक मान कर उसपर सन्तोष व्यक्त करते हुए लिखा है—

"माता व्युयूयुजदमु किल वाल्य एव
दैवो हि भावि परिकर्मणि सस्करोति।" तन्त्रालोक ३७।

पर यह दार्शनिक सन्तोष तो केवल सन्तोपका मार्ग है। वह स्नेहकी मधुर स्मृतियोको थोडे समयके लिए भुला सकता है, दबा सकता है पर सदाकेलिए नही। अभिनवगुप्त भी अपनी माताको भुला नही सके। वह जीवनव्यापी दर्द उन्हे सदा बना रहा है। और तन्त्रालोकमें अपने मातृस्नेहको बडे वेदनामय शब्दोमें व्यक्त करते हुए लिखा है—

"माता पर वन्धुरिति प्रवाद
स्नेहोऽति गाढीकुरुते हि पाशान्।" तन्त्रालोक ३७।

इन शब्दोके भीतरसे अभिनवगुप्तकी मातृवियोगकी वेदना फूटी सी पड रही है। मातृवियोगका दु ख स्वय ही एक महान् विपत्ति हैं किन्तु बालक अभिनवगुप्तके ऊपर तो इसीके साथ पितृ-वियोग का भी वज्रपात हो गया। अभिनवगुप्तके पिता अपनी पत्नीको बहुत प्रेम करते थे। उसके देहावसानके बाद 'जगज्जीर्णारण्य भवति कलत्रेऽव्युपरते'—नरसिंह गुप्तकेलिए यह सारा जगत् ही शून्य और 'जीर्णारण्य' वन गया। पुत्रका प्रेम भी उनको अधिक काल तक रोक नही सका और पत्नीके देहान्तके कुछ समय बाद वे घरको छोड कर चले गए। यद्यपि इस समय उनकी अवस्थाका जो वर्णन अभिनवगुप्तने किया है उसमें उसे 'तारुण्यसागरतरङ्गभङ्गोसे पूर्ण' कहा है। परन्तु अपने उस तारुण्य और अपने पुत्र-प्रेम दोनोको दबा कर वे हठात् विरक्त हो कर घरसे चले गए। अभिनवगुप्तने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"तारुण्यसागरतरङ्गभरानपोह्य
वैराग्यपोतमधिरुह्य दृढ हठेन॥" तन्त्रालोक ३७।

माताके बाद थोडा-सा सहारा था पिताका। पर जब पिता भी छोड कर चले गए तो अभिनवगुप्त को भी अपने जीवनकी धारामे परिवर्तन करना पडा। जब तक माता-पिताकी छत्रच्छायामें थे तब तक उनका सारा जीवन सरस और सुखद था। इस लिए उस कालमे उनकी बुद्धि भी साहित्य जैसे सरस और सुन्दर विषयके अध्ययनमें लगी हुई थी। किन्तु माता-पिताके वियोगजन्य तीव्र तापने जब जीवनकी सरसता और स्नेहके स्रोतको ही सुखा डाला तब अभिनवगुप्तका चित्त

साहित्यके अध्ययनकी ओरसे विरक्त हो गया। और उनकी सरस कोमल भावनाओंके स्थानपर शिवके प्रति भक्तिकी भावनाने अपना अधिकार जमा लिया। अभिनवगुप्त अन्य सब सासारिक विषयोसे विरक्त होकर शिवकी उपासना और उसके साधनभूत आगमोके अध्ययनमें प्रवृत्त हो गए। उन्होने अपनी जीवन-धाराके इस परिवर्तनका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"साहित्यसान्द्ररसभोगपरो महेश—
भक्त्या स्वयग्रहणदुर्मदया गृहीत ।
स तन्मयीभूय न लोकवर्तनी—
मजीगणत् कामपि केवल पुन. ॥
तदीयसम्भोगविवृद्धये पुरा
करोति दास्य गुरुवेश्मसु स्वयम् ॥"

यों तो इस डेढ श्लोकमें अभिनवगुप्तने अपने वैराग्यका वर्णन किया है। पर आखिर तो कवि ठहरे, उस वैराग्य-वर्णनमें भी उन्होने शृङ्गारका मधुर पुट लगा ही दिया है। अभिनवगुप्तको साहित्यके 'रस-भोग' में लगा हुआ देख कर महेश-भक्ति-रूप नायिका उन्मत्त हो उठी और उसने स्वय जाकर अभिनवगुप्तको पकड लिया। दुर्मद नायिकाके स्वयग्रहणके बाद और होना ही क्या था, अभिनवगुप्त भी सब कुछ भूल कर 'स तन्मयीभूय'—'तन्मय हो कर',—'न लोकवर्तनीमजीगणत् कामपि' लोक-लाज और लोक-व्यवहार सबको भुला बैठे। और उसके साथ अर्थात् महेशभक्ति-रूप नायिका के साथ अधिकाधिक भोग करने केलिए गुरुओके घरोपर दास्य कर्म भी स्वीकार किया। अर्थात् गुरुओंके यहाँ सेवा-कार्य करके आगमोका अध्ययन करने लगे। यह वैराग्यका कितना सुन्दर और सरस वर्णन है। वैराग्यका इससे अधिक और सरस वर्णन क्या होगा।

पर यह सरसता रही मानसिक कल्पना। असली 'रस-भोग' तो उनके भाग्यमें था नही तब इस मानसिक सम्भोगसे ही उन्होंने सन्तोष करने का यत्न किया है। माता और पिताके प्रेमसे वञ्चित होनेके बाद पत्नीका प्रेम रह जाता है जो जीवनको सरस बना देता है। पर अभिनवगुप्त केलिए अब उसका भी अवसर नही रहा था। भक्ति-नायिकाके बन्धनमें फँस जानेके बाद अब किसी दूसरी नायिकाके लिए उनके हृदयमें स्थान कहाँ निकल सकता था। इसलिए विवाहका प्रश्न यावज्जीवन उनके सामने नहीं आया। और इस प्रकार माता-पिताके वियोगने अभिनवगुप्त के जीवनकी सारी सरसताको सुखा कर 'दारा-सुतप्रभृतिबन्धुकथामनाप्त' पत्नी-पुत्रादि सम्बन्धियो की चर्चासे रहित होकर नैष्ठिक ब्रह्मचारीके रूपमे सारा जीवन एकाकी व्यतीत करनेकेलिए बाधित कर दिया। इन दु खमय परिस्थितियोंने ही साहित्यिक अभिनवगुप्तके जीवनमें महान् परिवर्तन करके दार्शनिक अभिनवगुप्तकी सृष्टि की है।

अभिनवगुप्तके ग्रन्थ—

अभिनवगुप्तके गुरुओके समान उनके ग्रन्थोकी सूची भी बहुत लम्बी है। संसारके अन्य कार्योंसे विरक्त हो जानेके बाद अब एक अध्ययन और दूसरा ग्रन्थोकी रचना—ये दोनो उनके साधनभूत व्यापार थे, और मुख्य साध्य थी शिव-भक्ति। शिवकी भक्ति या उपासनासे जितना भी समय बचता था, वह इन्ही दोनो कार्यों में व्यय होता था। जहाँ कहीं उन्हे किसी विषयके

उद्भट विद्वान या किसी उच्च कोटिके साधकका पता लगता था वे उसके पास पहुँच कर जो कुछ भी विद्या या साधना उपलब्ध हो सकती थी उसको ग्रहण करनेमें नही चूकते थे। काश्मीर और काश्मीरके बाहर भी जाकर उन्होने विभिन्न विशिष्ट विद्वानोसे विद्या ग्रहण की और उस विशाल ज्ञान-राशिके आधारपर उन्होने विशाल साहित्यका निर्माण किया। उनकी छोटी-बडी सब मिलाकर ४१ कृतियाँ पाई जाती हैं।

अभिनवगुप्तकी ४१ कृतियोमेसे ११ कृतियाँ ग्रन्थ-रूपमें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके रचना-क्रमका निर्धारण भी इस आधारपर किया जा सकता है कि उन्होने अपने ग्रन्थोके उद्धरण अपने दूसरे ग्रन्थोमें दिए हैं। अतः एक ग्रन्थ जिसका कि उद्धरण या उल्लेख दूसरे ग्रन्थमें पाया जाता है वह निश्चय ही दूसरे ग्रन्थके पूर्व लिखा गया है। जैसे 'बोधपञ्चदशिकामध्ये मया स्फुटमुक्तम्' इन शब्दोमें 'मालिनीविजयतन्त्र' में 'बोधपञ्चदशिका' उल्लेख पाया जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि 'बोधपञ्चदशिका' की रचना 'मालिनीविजयतन्त्र' के पहिले हुई है। इसी प्रकार 'मालिनीविजयवार्तिक' तथा 'परात्रीशिका', जिसका कि दूसरा नाम 'अनुत्तरपदप्रक्रिया' भी है, का उल्लेख 'तन्त्रालोक' में पाया जाता है इसलिए ये दोनो ग्रन्थ 'तन्त्रालोक' की रचनाके पूर्व लिखे गए हैं। तन्त्रालोकमें 'मालिनीविजयवार्तिक' का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"मयैतत् स्रोतसा रूप अनुत्तरपदाद् ध्रुवात्।
आरभ्य विस्तरेणोक्तं मालिनीश्लोकवार्तिके॥" तन्त्रालोक ३७।

इसी प्रकार 'परात्रीशिका' या 'अनुत्तरपदप्रक्रिया' का उल्लेख भी तन्त्रालोकमें निम्न प्रकारसे किया गया है—

"अनुत्तरपदप्रक्रियाया वैतत्येऽन प्रदर्शितम्।
एतत् तस्मात् तथा पश्येत् विस्तरार्थी विवेचक॥" तन्त्रालोक ६–२४९

इस श्लोककी टीकामे जयरथने 'अनुत्तरपदप्रक्रिया' की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"अनुत्तरपदप्रक्रियायामिति परात्रीशिकाविवरणादावित्यर्थं।"

इस प्रकार 'तन्त्रालोक' मे 'मालिनीविजयवार्तिक' तथा 'परात्रीशिकाविवरण' दोनो का उल्लेख पाए जानेसे यह स्पष्ट है कि इन दोनो ग्रन्थोकी रचना 'तन्त्रालोक' की रचनाके पूर्व हुई हैं।

'मालिनीविजयवार्तिक' तथा 'परात्रीशिका-विवरण' में से किसीका उल्लेख एक दूसरे ग्रन्थमे नही पाया जाता है। इसलिए इस आधारपर तो उनके रचना-क्रमका निर्धारण नही किया जा सकता फिर भी 'मालिनीविजयवार्तिक' का उल्लेख 'तन्त्रालोक' के ऊपर उद्धृत जिस श्लोकमे किया गया है उसमे जो 'अनुत्तरपदाद् ध्रुवात् आरभ्य विस्तरेणोक्त मालिनीश्लोकवार्तिके' यह लिखा है इसमें 'अनुत्तरपदसे आरम्भ करके' इस पदसे यह सूचित होता है कि 'अनुत्तरपद-प्रक्रिया' का वर्णन करने वाले 'परात्रीशिका-विवरण' की रचना 'मालिनीविजयवार्तिक' के पहिले हुई थी। यद्यपि अन्य विद्वानोने 'मालिनीविजयवार्तिक' को 'परात्रीशिका-विवरण' के पहले स्थान दिया है किन्तु इस विषयमें उन्होने जो युक्तियाँ दी हैं उनमें कोई सार दिखलाई नही देता है। इस लिए वह मत ठीक नही है।

इस प्रकार उत्तरग्रन्थमें पूर्व ग्रन्थके उल्लेख रूप निर्भ्रान्त प्रमाणके आधारपर अभिनवगुप्तके ११ प्रकाशित ग्रन्थोके रचना-क्रमका निर्धारण करके ही अब आगे हम उसी क्रमसे इन ११ प्रकाशित ग्रन्थोंका थोडा-थोडा परिचय दे देना चाहते हैं।

१. बोधपञ्चदशिका—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोंमें 'बोधपञ्चदशिका' सबसे पहिला ग्रन्थ है। जैसा कि इसके नामसे ही प्रतीत होता है यह शैवसम्प्रदायके मतानुसार शिव और शक्तिके स्वरूप, उनके सम्बन्ध, उनके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति, बन्धके कारण, तथा उनके स्वरूप मोक्षोपाय तथा मोक्षके स्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए लिखा गया १५ श्लोकोका ग्रन्थ है। वैसे ग्रन्थमें सोलह श्लोक है। किन्तु मुख्य विषयके प्रतिपादक १५ श्लोक ही हैं। सोलहवें श्लोकमें ग्रन्थके निर्माणका प्रयोजन निम्न प्रकार दिखलाया गया है—

"सुकुमारमतीन् शिष्यान् प्रबोधयितुमञ्जसा।
इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोकाः पञ्चदशोदिताः॥"

अर्थात् सुकुमारमति वाले शिष्योको शैव-सिद्धान्तका सरलतासे बोध करानेकेलिए अभिनवगुप्तने इन पन्द्रह श्लोकोकी रचना की है।

२. परात्रीशिका-विवरण—

यह ग्रन्थ तन्त्रशास्त्रसे सम्बन्ध रखने वाला ग्रन्थ है। वैदिक विद्वान् जैसे वेदोको अपौरुषेय और नित्य मानते हैं इसी प्रकार तान्त्रिक तन्त्रग्रन्थोको भी अनादि मानते हैं। वेदान्त-दर्शनके समान तन्त्रोमें भी द्वैतवादी, अद्वैतवादी और द्वैताद्वैतवादी तीन प्रकारके तन्त्र पाए जाते हैं। द्वैतवादी १० तन्त्र द्वैताद्वैतवादी १८ तन्त्र तथा अद्वैतवादी ६४ तन्त्र माने जाते हैं। अद्वैतवादी ६४ तन्त्रो को आठ-आठ तन्त्र करके आठ वर्गोंमें विभक्त किया गया है। इनके प्रत्येक वर्गके अलग-अलग नाम हैं। इन अद्वैतवादी तन्त्रोंके द्वितीय वर्गका नाम 'यामल-तन्त्र' है। यामल वर्गके तन्त्रोंमे जिन आठ तन्त्रोका समावेश किया जाता है उनमें सातवें तन्त्रका नाम 'रुद्र तन्त्र' है। इस 'रुद्रतन्त्र' का अन्तिमभाग 'परात्रीशिका' कहलाता है। इसका शुद्ध नाम 'परात्रीशिका' है किन्तु अनेक विद्वान् इसे 'परात्रिंशिका' भी कहते हैं। 'बोधपञ्चदशिका' में जैसे १५ श्लोक है इसी प्रकार इस 'परात्रिंशिका' नामसे यह प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थमें ३० श्लोक होगे। परन्तु यह बात नहीं है। इस ग्रन्थमें ३० से कही अधिक श्लोक हैं। अभिनवगुप्तने जब 'परात्रीशिका' पर अपना यह विवरण ग्रन्थ लिखा तो इसके नामका स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता विशेप रूपसे अनुभव हुई। पहिले उन्होने 'परात्रीशिका' इस नामकी व्याख्या इस प्रकार की है—

"त्रीशिका इति तिसृणां शक्तीनां इच्छा-ज्ञान-क्रियाणां''' ईशिका च ईश्वरी।"

अर्थात् परा शक्तिकी इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियोका प्रतिपादन होनेसे यह 'परात्रीशिका' नाम रखा गया है। इस प्रकार 'त्रीशिका' नामकी व्याख्याके बाद 'त्रिंशिका' नाम पर भी टिप्पणी की है—

'त्रिंशिका' इत्यपि गुरव. पठन्ति, अक्षरवादसाम्यात् न तु त्रिंशत् श्लोक योगात् त्रिंशिका।

अर्थात् गुरुजन इस ग्रन्थको 'परात्रिशिका' भी कहते हैं। किन्तु यह 'त्रिशिका' पद केवल अक्षरोके उच्चारणकी समानताके कारण प्रयुक्त होता है। तीस श्लोकोके सम्बन्धके कारण इसको 'त्रिशिका' नही कहा जाता है। इस 'परात्रिशिका' को 'त्रिकसूत्र' भी कहा जाता है। 'तन्त्रालोक' की टीकामे जयरथने लिखा है—

"उक्त श्री त्रिकसूत्रे च—

श्री त्रिकसूत्रे इति त्रिक-प्रमेयसूचिकाया परात्रीशिकायामित्यर्थ ।"

अर्थात् 'त्रिक-सूत्र' शब्दसे त्रिक-दर्शनके प्रमेयोका वर्णन करने वाले 'परात्रीशिका' ग्रन्थका ग्रहण करना चाहिए। जयरथकी इस व्याख्यासे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस 'परात्रीशिका' ग्रन्थमें 'त्रिक-दर्शन' के प्रमेय पदार्थोंका ही वर्णन किया गया है।

यह 'परात्रीशिका' ग्रन्थ अद्वैतवादी 'यामल तन्त्रो'के वर्गमें आए हुए 'रुद्रतन्त्र'का अन्तिम भाग है, जैसे यजुर्वेदका अन्तिम अध्याय 'ईशोपनिषद' कहलाता है। इस मूल ग्रन्थकी व्याख्या रूपमें अभिनवगुप्तने अपने 'परात्रीशिका-विवरण' नामक इस ग्रन्थकी रचना की है। मूल 'परात्रीशिका' ग्रन्थ बहुत कालसे विद्वानोमें समादृत था और उसपर अनेक शैव विद्वानोने टीकाएँ लिखी थी। इनमेंसे कुछ टीकाओका अभिनवगुप्तने बडे आदरके साथ इस प्रकार उल्लेख किया है—

"श्रीसोमानन्दकल्याण-भवभूतिपुरोगमा ।
तथा हि त्रीशिकाशास्त्र-विवृतौ तेऽभ्यधुंबुधा ॥"

'त्रीशिका' के इन तीन प्राचीन टीकाकारोमें सोमानन्द तथा कल्याणके साथ साथ भवभूतिका नाम भी पाया जाता है। इन तीनो टीकाकारोका उल्लेख तो अभिनवगुप्तने आदरके साथ किया है। किन्तु उनके अतिरिक्त 'परात्रीशिका' की कुछ और टीकाएँ भी की गई थी। अभिनवगुप्तने उनका उल्लेख बडे अनादरके साथ करते हुए उनके टीकाकारोको पदवाक्यसस्कार-विहीन कहा है और उनकी चर्चा करनेमें भी अपनी अरुचि दिखलाते हुए लिखा है—

'इतीदृग व्याख्यान त्यक्त्वा यदन्यैर्व्याख्यातम्। यद्यपि पदवाक्यसस्कारविहीनै सह गोष्ठी कृता भवति'।

'परात्रीशिका' की रचना भैरव तथा भैरवीके बीच सवादके रूपमे हुई है। भैरवी प्रश्न करती है और भैरव उत्तर देते हैं। भैरवीने 'अनुत्तरतत्त्व' के विषयमें भैरवसे प्रश्न किया है—

"अनुत्तर कथ देव सद्य कौलिकसिद्धिदम् ।
येन विज्ञातमात्रेण खेचरीसमता व्रजेत् ॥"

इसके उत्तरमें जो कुछ कहा गया है उसका भाव वही है जो वेदान्त ग्रन्थोमें 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' के शब्दोमें व्यक्त किया जाता है।

३ मालिनीविजयवार्तिक—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोमें तीसरा ग्रन्थ 'मालिनीविजयवार्तिक' है। जैसा कि इसके नामसे प्रतीत होता है यह 'मालिनीविजय' नामक तन्त्र ग्रन्थके ऊपर वार्तिक या व्याख्यको

रूपमें लिखा गया है। 'मालिनीविजयतन्त्र' को श्रीपूर्वशास्त्र भी कहते हैं। इस ग्रन्थकी रचना अभिनवगुप्तने अपने मन्द्र तथा कर्ण नाम दो शिष्यो के अत्यन्त आग्रहसे प्रेरित हो कर की है—इस बात का उल्लेख उन्होने इस ग्रन्थ के आरम्भमें इस प्रकार किया है—

सच्छिष्य-कर्ण-मन्द्राभ्या चोदितोऽह पुन पुनः।
वाक्यार्थ कथये श्रीमन्मालिन्या यत् क्वचित् क्वचित् ॥

'मालिनीविजयतन्त्र' कोई बहुत बडा ग्रन्थ मालूम होता है। उसके सम्पूर्ण ग्रन्थपर व्याख्या करनेका विचार भी अभिनवगुप्तका नही जान पडता है। इसी लिए यहां ऊपरके श्लोकमे 'क्वचित् क्वचित्' का प्रयोग किया है। 'मालिनीविजयवार्तिक' का जो भाग मुद्रित हुआ है उसमें केवल दो अध्याय हैं। उन दो अध्यायोमें भी केवल एक श्लोक की व्याख्या की गई है। इस ग्रन्थकी रचना अभिनवगुप्तने अपने मन्द्र नामक शिष्यके आग्रहसे की है। यह मन्द्र नामक शिष्य अभिनवगुप्तका बडा प्रिय शिष्य था। माता-पिताके वियोगके बाद अभिनवगुप्त अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे थे और कुछ विक्षिप्त रहने लगे थे। उस समय—

विक्षिप्तभावपरिहारमसौ चिकीर्षन्नु
मन्द्र स्वके पुरवरे स्थिततिमस्य चक्रे ।

मन्द्र नामक यह शिष्य अभिनवगुप्त को उनके घरसे हटा कर अपने 'प्रवरपुर' नगरमें ले गए और वही उनके रहने का प्रबन्ध कर दिया। वही 'प्रवरपुर' नामक नगरके पूर्व भाग में रह कर अभिनवगुप्तने इस मालिनीविजय के प्रथम श्लोकको व्याख्या रूप 'मालिनीविजयवार्तिक' ग्रन्थ की रचना की—

प्रवरपुरनामधेये पुरे पूर्वे काश्मीरिकोऽभिनवगुप्त ।
मालिन्यादिमवाक्ये वार्तिकमेतद्रचयति स्म ॥

यद्यपि 'मालिनीविजयतन्त्री' के एक ही श्लोक पर यह वार्तिक लिखा गया है और उसके दो ही अध्याय प्रकाशित हुए हैं किन्तु इसके १८ वें अध्याय का उल्लेख अभिनवगुप्तने इसी ग्रन्थमें कई बार किया है—

एतदष्टादशे तत्वमाधिकरे भविष्यति। मा० वि० वा० ५८
अष्टादशे तत्पटले तत्वं सम्यग् विभाव्यते। मा० वि० वा० १०४

आदि विविध उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि वे इस १८ अध्याय तक तो लिखना ही चाहते थे किन्तु ऐसा विदित होता है कि बहुत विस्तृत ग्रन्थ हो जाने के भयसे वे आगे उसको लिख नही सके। दो अध्याय तक जो लिखा जा सका था, वह प्रकाशित हो गया।

४ तन्त्रालोक—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोमें चौथा ग्रन्थ तन्त्रालोक है। यह उनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और सबसे बडा ग्रन्थ है। अद्वैतवादी ६४ तन्त्रोका उल्लेख पहिले किया जा चुका है—उन सबके विषयोका प्रतिपादन इसमें विस्तारपूर्वक किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना मुख्य रूपसे कौल-सिद्धान्त और तन्त्र-सिद्धान्त इन दो के वर्णनके लिए ही की गई है किन्तु इनके अतिरिक्त क्रम सिद्धान्त, प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्त आदि अन्य विषयोपर भी उसमें अनेक स्थानोपर

प्रामाणिक रूपसे चर्चा की गई है। इस विशेषता को प्रदर्शित करते हुए लिखा है—

वक्ष्यमाणस्य कुल-तन्त्रप्रक्रियात्मकत्वेन द्वैविध्येऽपि—
'तस्य मे सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता'

इत्यादिदृश सर्वत्रैव गुरूपदेशस्य भावात् आत्मनि भूयोविद्यत्व दर्शयता ग्रन्थकृता अस्य ग्रन्थस्यापि निखिलशास्त्रान्तरसारसग्रहाभिप्रायत्व दर्शितम्।

'सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता' से अभिनवगुप्तने सर्वशास्त्रो पर अपने अधिकार को सूचित किया है इस लिए इसमे उन्होने किसी भी विषयपर जो कुछ लिखा है वह उस-उस शास्त्र के विशेष आचार्योंके वचनोके समान ही प्रामाणिक है यह बात सूचित की है। तन्त्रालोक की प्रशसामें अभिनवगुप्त ने लिखा है—

इति सप्ताधिकमेना त्रिंशत य. सदा बुध.।
आन्हिकाना समभ्यस्येत स साक्षात् भैरवो भवेत्॥ १-१२८।

इस श्लोकसे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थमें ३७ आन्हिक हैं किन्तु अभी तक इसके केवल १४ आन्हिक प्रकाशित हुए हैं। उनके ऊपर जयरथकी टीका भी प्रकाशित हुई है। जयरथकी टीका सहित तन्त्रालोकके १४ आन्हिक आठ बडी-बडी जिल्दोमें प्रकाशित हो सके हैं। इससे ग्रन्थके विशाल आकारका अनुमान किया जा सकता है। २३ आन्हिक और शेष हैं। इसी हिसाबसे यदि शेष आन्हिकोका भी कलेवर हुआ तो लगभग २० भागोमें उसकी समाप्ति हो सकेगी। तन्त्रालोकके जो १४ आन्हिक अब तक प्रकाशित हुए है उनमेंसे आदिके पाँच, नवम तथा त्रयोदश आन्हिक दार्शनिक दृष्टिसे विशेष महत्वपूर्ण हैं। अभिनवभारतीके आरम्भके मङ्गल-श्लोकमें 'षट्त्रिंशकात्म-कजगद्गगनावभास' आदिमें अभिनवगुप्तने शैव दर्शनके जिन ३६ तत्त्वोकी ओर सकेत किया है उनका प्रतिपादन नवम, आन्हिकमें किया गया है इस लिए उस आन्हिकका और भी अधिक महत्व है। इस ग्रन्थका नाम 'तन्त्रालोक' क्यो रखा है इसका प्रदर्शन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

'आलोकमासाद्य यदीयमेप लोक स्वय सञ्चरति क्रियासु।'

अर्थात् इसका आलोक पाकर लोक सारे व्यापार उचित रीतिसे सरलतापूर्वक कर सकता है इस लिए इसका नाम 'तन्त्रालोक' अन्वर्थ ही है। 'मालिनीविजयवार्तिक'के समान इस ग्रन्थकी रचना भी उन्होने अपने प्रिय शिष्य मन्द्र, मनोरथ तथा अन्य शिव-भक्तोके आग्रहसे प्रेरितकी है।

५-६ तन्त्रसार तथा तन्त्रवटधानिका—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोमेंसे अगले दो ग्रन्थ है 'तन्त्रसार' तथा 'तन्त्रवटधानिका'। इनके नाम से ही इनके विषयका अनुमान किया जा सकता है। 'तन्त्रसार', 'तन्त्रालोक'का सक्षिप्त रूप है। और 'तन्त्रवटधानिका' तन्त्र-रूप वट-वृक्षके बीजके समान—उससे भी कही अधिक छोटा रूप। सिद्धातकौमुदी मध्यकौमुदी और लघुकौमुदीके समान 'तन्त्रालोक' के ये तीन रूप है। विशाल ग्रन्थका नाम 'तन्त्रालोक' है, उसका मध्यवर्ती सक्षिप्त रूप 'तन्त्रसार' है और उसका अत्यन्त सक्षिप्त लघुतम रूप 'तन्त्रवटधानिका' है।

७-८ ध्वन्यालोकलोचन तथा अभिनवभारती—

अब तक जिन प्रकाशित ६ ग्रन्थोका उल्लेख ऊपर किया गया है वे सब शैव-दर्शनसे सम्बन्ध रखने वाले दार्शनिक ग्रन्थ हैं। अगले दो ग्रन्थ 'ध्वन्यालोकलोचन' तथा 'अभिनवभारती' साहित्यशास्त्रसे सम्बन्ध रखने वाले अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। अभिनवके दार्शनिक ग्रन्थोका परिचय लोगोको कम है किन्तु उनके ध्वन्यालोक-लोचन तथा अभिनवभारतीका परिचय उनकी अपेक्षा कही अधिक है विशेष रूपसे ध्वन्यालोक-लोचनके द्वारा ही उनको साहित्यिक जगत्में विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धनाचार्यका ध्वनि-विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसपर अभिनवगुप्तने 'लोचन' नामक टीका लिखी है। उसका नाम 'ध्वन्यालोकलोचन' है। इसी प्रकार भरतमुनिके नाट्यशास्त्रपर अभिनवगुप्तने जो टीका लिखी है उसका नाम 'अभिनवभारती' है।

'तच्च मदीयादेव तद्विवरणात् सहृदयालोकलोचनादवधारणीयम्' [अभि० ३३४ व० स०] ——लिख कर ग्रन्थकारने जिस सहृदयालोकलोचनका उल्लेख किया है वह 'ध्वन्यालोकलोचन' का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार अभिनवभारतीमें ध्वन्यालोकलोचनका उल्लेख पाए जानेसे यह स्पष्ट है कि 'ध्वन्यालोकलोचन' की रचना 'अभिनवभारती' के पहिले हुई है। और ध्वन्यालोकलोचनमें पृष्ठ १ पर 'तन्त्रालोकग्रन्थे विचार्य' इन शब्दोमें 'तन्त्रालोक' का उल्लेख मिलता है इस लिए इन दोनो साहित्य-ग्रन्थोकी रचना तन्त्रालोकके बाद हुई है यह बात स्पष्ट हो जाती है। अभिनवभारतीके विषयमें हम आगे लिखेंगे।

९ भगवद्गीतार्थसंग्रह—

अभिनवगुप्तके पिछले दार्शनिक ग्रन्थोकी रचना शैव ग्रन्थोकी व्याख्याके रूपमें हुई थी। 'भगवद्गीतार्थसंग्रह' ऐसा ग्रन्थ है जो शैव ग्रन्थ नही है किन्तु इसपर अभिनवगुप्तने जो टीका लिखी है वह शैवदृष्टिकोणसे ही लिखी है। यद्यपि शैवागमोकी उत्पत्ति तीसरी या चौथी शताब्दीमें हुई है किन्तु शैव विद्वान् उनको वेदोंके समान ही अनादि मानते हैं। इस लिए उनकी दृष्टिमें शैवागम कृष्णकी गीतासे भी कही अधिक प्राचीन हैं। हरिवंश पुराणके अनुसार कृष्णने ६४ अद्वैतवादी तन्त्रोका अध्ययन दुर्वासा मुनिसे किया था इसी प्रकार महाभारतके मोक्षपर्वमें कृष्णने द्वैतवादी १० तथा अद्वैतवादी १८ कुल मिलाकर २८ शैवागमोका अध्ययन उपमन्युसे किया था। इस लिए शैव लोग कृष्णको त्रिक-सिद्धान्तका आचार्य मानते हैं। इसीलिए कृष्णकी गीतापर वसुगुप्तसे लेकर अभिनवगुप्त तक अनेक शैव विद्वानोने टीकाएँ की हैं—

तास्वन्यैः प्राक्तनैर्व्याख्या कृता यद्यपि भूयसा।
न्याय्यस्तथाप्युद्यमो मे तद्गूढार्थप्रकाशकः॥ भगवद्गीतार्थसंग्रह १–५।

इसीलिए शैव आचार्य कृष्णको अपना गुरु मानते हैं और तन्त्रालोक १–१६२ में 'गुरुवाक्य' कह कर गीता-वाक्यको उद्धृत किया गया है। इस प्रकार शैव सम्प्रदायमें भी गीताका विशेष महत्व होनेसे अभिनवगुप्तने भट्टेन्दुराजसे गीताका अध्ययन कर शैव-सिद्धान्तोके अनुसार इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है—

भट्टेन्दुराजादाम्नाय विविच्य च चिरं धिया।
कृतोऽभिनवगुप्तेन सोऽयं गीतार्थसंग्रहः॥ १–६।

अभिनवगुप्तने इस टीकाकी रचना किसी लोटक नामक सद्विप्रके आग्रहसे की है—

तच्चरणकमलमधुपो भगवद्गीतार्थसग्रह व्यधात् ।
अभिनवगुप्त सद्द्विजलोटककृतचोदनावशत ।। अन्तिम श्लोक २ ।

१० परमार्थसार—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोमें दसवाँ ग्रन्थ 'परमार्थसार' है। यह ग्रन्थ १०५ आर्या पद्योमें लिखा गया है। यद्यपि अभिनवगुप्तने—

'आर्याशतेन तदिद संक्षिप्त शास्त्रसारमतिगूढम्।

—इसे १०० आर्यामें लिखा हुआ ही बतलाया है। किन्तु यह आर्याशतका प्रयोग मुख्य विषयके प्रतिपादक १०० पद्योकी दृष्टिसे किया गया है। वैसे इसमें १०५ श्लोक हैं।

यह परामार्थसार शेष-मुनि कृत 'आधारकारिका' नामक प्राचीन ग्रन्थका सक्षिप्त सस्करण है। शेष-मुनिको आधार-भगवान् या अनन्तनाथ भी कहा जाता है और उनकी 'आधारकारिका' का दूसरा नाम 'परमार्थसार' भी है। इस आधारकारिकामें मुख्य रूपसे साख्य सिद्धान्तोका प्रतिपादन किया गया है। उसीके अनुसार प्रकृति-पुरुषके भेदज्ञानसे मोक्षकी प्राप्तिका वर्णन है। अभिनवगुप्तने अपने 'परमार्थसार' मे उसको शैवागमके अनुसार अपने ढाँचेमें ढाल लिया है।

अभिनवगुप्तके 'परमार्थसार' को छोड कर इसी नामसे तीन ग्रन्थ और पाए जाते हैं। एकका पाठ 'शब्दकल्पद्रुम' में दिया गया है। दूसरा 'त्रिवेन्द्रम सस्कृत सिरीज' में प्रकाशित हुआ है। और तीसरा मद्राससे १९०७ में तेलुगु भाषामें दिए भावार्थके सहित प्रकाशित हुआ है। 'शब्दकल्पद्रुम' के परमार्थसारकी अन्तिम पक्तिमे उसकी श्लोक-सख्या ८५ दी गई है। त्रिवेन्द्रमसे प्रकाशित सस्करणमे भी ८५ श्लोक हैं। परन्तु मद्रास वाले सस्करण में ७९ श्लोक हैं। इन सबमे अधिकाश श्लोक अभिनवगुप्तके परामार्थसारसे मिलते-जुलते है। कही कुछ भेद भी है और कुल सख्याके विषयमें तो भेद है ही। अभिनवगुप्तके 'परमार्थसार' में १०० या १०५ श्लोक हैं अन्योमें ८५ या ७९। अभिनवगुप्तके परमार्थसारको छोड कर मुख्यरूपसे मद्रास वाला सस्करण वैष्णव भावनाओके अनुकूल है। इस लिए डा० बर्नेट आदि कुछ विद्वान उसको ही मूल ग्रन्थ मानते हैं उनका कहना है कि अभिनवगुप्तने उसीके आधारपर अपने ग्रन्थकी रचना की है। जिस प्रकार भगवद्गीतार्थसग्रहमें भगवद्गीतापर शैव-सम्प्रदायका रग चढानेका यत्न किया गया है इसी प्रकार इस वैष्णव-परमार्थसारको उन्होने शैव-परमार्थसारका रूप देनेका यत्न किया है। परन्तु दूसरे विद्वान् इस मतसे सहमत नही हैं।

११ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी—

अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थोमे ११ वाँ ग्रन्थ 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' है। यह ग्रन्थ श्री उत्पलपादाचार्य विरचित 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-सूत्र' की वृत्ति रूपमें लिखा गया है। इसको 'लघ्वी विमर्शिणी' भी कहा जाता है क्योकि इसी ग्रन्थपर दूसरी बृहती विमर्शिणी' भी अभिनवगुप्तने लिखी है। उत्पलपादाचार्यने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' लिखनेके बाद स्वय ही उसपर विवृति भी लिखी थी। अभिनवगुप्तने मूल 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' तथा उसकी विवृति दोनो पर 'विमर्शिणी' नामक टीका लिखी है। मूल सूत्रपर लिखी टीका 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' कहलाती है और उसकी विवृतिपर लिखी हुई टीका 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिणी' कहलाती है। प्राचीन काल

में ग्रन्थका परिमाण श्लोकोसे मापा जाता है। अनुष्टुप् श्लोकमे ३२ अक्षर होते हैं। यदि कोई गद्यात्मक ग्रन्थ है तो उसके भी ३२ अक्षरोका एक श्लोक मान कर उसके परिमाणका निर्धारण किया जाता था। इस प्रक्रियाके अनुसार 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' चार सहस्र श्लोकोका ग्रन्थ है। और 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिणी' १८ सहस्र श्लोकोका ग्रन्थ है। इस लिए पहिलीको 'चतु साहस्री' अथवा 'लघ्वी विमर्शिणी' तथा दूसरीको 'अष्टादशसाहस्री' अथवा 'बृहती विमर्शिणी' भी कहा जाता है।

१२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्ति-विमर्शिणी—

ऊपरके ११ ग्रन्थ अभिनवगुप्तके प्रकाशित ग्रन्थ हैं। यह बारहवां ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नही हुआ है किन्तु यह अभिनवगुप्तके ग्रन्थोमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है यह ग्रन्थ यद्यपि 'उत्पलपादाचार्य' की स्वविरचित विवृतिके ऊपर टीका रूपमें लिखा गया है किन्तु वह विवृतिग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नही है। केवल उसकी यह टीका उपलब्ध है। सो वह भी अभी प्रकाशित नहीं हुई है। इस टीकाके प्रारम्भमें अभिनवगुप्तने अपनेको उत्पलपादाचार्यका प्रशिष्य कह कर अपना परिचय देते हुए लिखा है—

श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तदर्शितपथ श्री प्रत्यभिज्ञाविवौ।
टीकार्थप्रविमर्शिणी रचयते वृत्ति प्रशिष्यो गुरो ॥

१३-२० तेरहसे बीस तक आठ रचनाएँ—

इन बारह ग्रन्थोके बाद अभिनवगुप्त की आठ छोटी-छोटी रचनाएं डा० कान्तिचन्द्र जी पाण्डेयके अभिनवगुप्त-विषयक शोधप्रबन्धके साथ परिशिष्ट रूपमें छप चुकी हैं। इनमें चार तो स्तोत्रात्मक रचनाएँ हैं और चार प्रचारात्मक। स्तोत्रात्मक चार रचनाओंके नाम और उनका आकार निम्न प्रकार है—

१.	क्रमस्तोत्र	३० श्लोक
२	भैरवस्तोत्र	१० श्लोक
३	देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र	१५ श्लोक
४.	अनुभवनिवेदन	४ श्लोक

इस प्रकार ५९ श्लोकोमें चार रचनाएं समाप्त हो जाती हैं। अगली चारो प्रचारात्मक रचनाओके नाम तथा आकार निम्न प्रकार हैं —

१	अनुत्तराष्टिका	८ श्लोक
२.	परमार्थ द्वादशिका	१३ श्लोक
३	परमार्थ चर्चा	८ श्लोक
४.	महोपदेशविंशतिकम्	२० श्लोक

इस प्रकार ४९ श्लोकोमें ये चार सिद्धान्त-प्रचारात्मक रचनाएं समाप्त हो जाती हैं। इनको मिला कर यहां तक अभिनवगुप्त की २० रचनाओका परिचय हुआ जिनमेंसे १९ प्रकाशित

हो चुकी है। पहले जो ११ प्रकाशित ग्रन्थोका उल्लेख किया था वह ग्रन्थोकी दृष्टिसे किया था। इन छोटी-छोटी आठ फुटकर रचनाओ का समावेश उन ग्रन्थोमे नही किया गया था।

२१ तन्त्रोच्चय—

'तन्त्रालोक' के 'तन्त्रसार' तथा 'तन्त्रवटधानिका' नामके दो सक्षिप्त सस्करणोकी चर्चा पहिले की जा चुकी है। उसी प्रकारका तीसरा सक्षेप 'तन्त्रोच्चय' है। यह 'तन्त्रशार' की अपेक्षा छोटा तथा 'तन्त्रवटधानिका' की अपेक्षा कुछ वडा है। इसके आदि तथा अन्तके पद्योमें इसको अभिनवगुप्तकी ही रचना कहा गया है किन्तु कुछ विद्वानोको इसकी भाषादिको देखते हुए इसके अभिनवगुप्त-विरचित होनेमें सन्देह है।

२२ घटकर्परकुलक विवृति—

जैसा कि इसके नामसे ही प्रतीत होता है यह 'घटकर्परकुलक' नामक ग्रन्थ की विवृति या टीका है। 'घटकर्पर' एक छोटासा सुन्दर काव्य-ग्रन्थ है। इसमें कुल २० श्लोक हैं। उसकी रचना 'मेघदूत' के समान विरही प्रेमियोकी कथा को लेकर हुई है। किन्तु दोनोकी रचनामें इतना अन्तर है कि मेघदूतमें सब पदोका वक्ता प्रेमी यक्ष है और इसमे सारे पद्य प्रेमिकाके द्वारा कहे गए हैं। घटकर्परविवृतिमें अभिनवगुप्तने—'अत्र कर्ता महाकवि कालिदास इत्यनुश्रुतमस्मनाभि' लिख कर इसका रचयिता कालिदासको माना है। यह वीसो पद्य यमकालङ्कारसे विभूपित है। इसके लेखकको यह गर्व है कि कोई उससे बढ़ कर यमक-रचना नही कर सकता है। इसलिए उसने ग्रन्थके अन्तिम उपसहारात्मक २१ में श्लोकमें सारे कवियोको आह्वान करते हुए लिखा है—

"जीयेय येन कविना यमकै परेण।
तस्मै वहेयमुदक घटकर्परेण॥"

अर्थात् यदि कोई दूसरा कवि यमक-रचनामें मुझे जीत ले, तो मैं उसका दास्य स्वीकार कर घटके कर्पर अर्थात्) घडेके खप्पडमें (अत्यन्त कष्टपूर्वक) पानी भरने को तैयार हूँ। कुछ लोगोका विचार है कि इस अन्तिम पद्यमें आए हुए 'घटकर्पर' शब्दके आधारपर ही इसका नाम 'घटकर्पर' रखा गया है। कुछ लोगोका विचार यह है कि विक्रमकी राज-सभा में कालिदास के साथी दूसरे महाकवि 'घटकर्पर' ने कदाचित् इसकी रचना की है। और ऊपरके श्लोकमें दिया हुआ आह्वान कदाचित् कालिदासको लक्ष्यमें रख कर दिया गया है।

नवीन विद्वान् रामचरित शर्मा कृत टीका सहित इस ग्रन्थका प्रकाशन हो चुका है। उनके अनुसार इसके सारे पद्य नायिकाके ही कहे हुए हैं किन्तु अभिनवगुप्तने जो इसका विवरण दिया है उसमें लिखा है—

'तत्र किञ्चित् कविनिवद्धप्रमदारूपवक्तृक, किञ्चित् कविनिवद्धतत्सखीभापित, किञ्चित् कविनिवद्धदूतीभापितम्'।

अर्थात् कुछ नायिकाका कहा हुआ है, कुछ उसकी सखीका और कुछ दूतीका। किन्तु मुद्रित सस्करणमें सवका वक्तृत्व नायिकामें ही रखा गया है। इस काव्यकी प्रशसा करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा है—

'न चास्य काव्ये तृणमात्रमपि कलङ्कमुत्प्रेक्षितवन्तो मनोरथेऽपि स्वप्नेऽपि सहृदया.। तस्मात् प्रावतन एव समाप्तिश्लोकः'।

अर्थात् अभिनवगुप्तके अनुसार यह काव्य सर्वथा निर्दोष है। इसकी समाप्ति २१वें श्लोकपर ही होती है। अन्तिम २१ वाँ श्लोक मूल काव्यका ही है। वह प्रक्षिप्त नही है। इस निर्दोष और उत्तम काव्यकी टीका आरम्भ करनेके पूर्व अभिनवगुप्तने अपने मनको भी निर्दोष और शुद्ध बना लेनेकी आवश्यकता अनुभव करके ही लिखा है—

तत्परामर्शधवलमना कोकनदो मनाक।
काव्येऽभिनवगुप्ताख्यो विवृतिं समरीरचत् ॥

२३–३५ अभिनवगुप्तके स्वग्रन्थोमे उल्लिखित तेरह ग्रन्थ—

अभिनवके आगेके तेरह ग्रन्थ ऐसे हैं जो प्रकाशित अथवा अप्रकाशित किसी रूपमें उपलब्ध नही है किन्तु अभिनवगुप्तके अन्य ग्रन्थोंमें उनका उल्लेख पाया जाता है। उसी उल्लेख के आधारपर यह अनुमान होता है कि इन ग्रथोंकी रचना भी अभिनवगुप्तने की थी।

१ क्रमकेलि—इन तेरह ग्रंथोमें सबसे पहिला स्थान 'क्रमकेलि' नामक ग्रथका है। अभिनवगुप्तने अपने 'परमार्थत्रींशिका— विवरण' में इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'व्याख्यात चैतत् मया तट्टीकाया क्रमकेलौ विस्तरतः'।

यह क्रमकेलि क्रमस्तोत्र की टीका थी। यह क्रमस्तोत्र जिसकी टीका 'क्रमकेलि' है, अभिनवगुप्नके अपने रचे हुए 'क्रमस्तोत्र' से भिन्न कोई और प्राचीन ग्रथ था। क्योकि 'महार्थ-मञ्जरी' की टीकामें महेश्वरानन्दने उसके उद्धरण बहुत दिए हैं। और वे उद्धरण अभिनवगुप्त वाले क्रमस्तोत्रमें नही मिलते हैं। इसलिए क्रम-सिद्धातोंका प्रतिपादन करने वाला यह 'क्रमस्तोत्र' जिसपर अभिनवगुप्तने 'क्रमकेलि' टीका लिखी थी, उनके अपने बनाए 'क्रमस्तोत्र' से भिन्न ही ग्रन्थ रहा होगा।

२ शिवदृष्ट्यालोचन—'शिवदृष्टि' त्रिक-दर्शनके परमाचार्य सोमानन्दका प्रसिद्ध गन्य है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी' में, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, अभिनवगुप्तने अपनेको उत्पलपादाचार्यका प्रशिष्य कहा था। सोमानन्द उन उत्पलपादाचार्यके भी गुरु थे इसलिए वे अभिनवगुप्तके परम-प्रगुरु हुए। उनके 'शिवदृष्टि' ग्रन्थके ऊपर अभिनवगुप्तने 'शिवदृष्ट्यालोचन' टीका लिखी थी। किन्तु वह किसी रूपमें उपलब्ध नही हो रही है। अभिनवगुप्तने अपने 'परमार्थ-त्रीशिकाविवरण' में उसका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

'यथोक्त मयैव शिवदृष्ट्यालोचने—
'योऽपि स भवेद यस्य शक्तता नाम विद्यते। प० त्री० ११६।

३ पूर्वपञ्चिका—'मालिनीविजयतन्त्र'का दूसरा नाम 'पूर्वशास्त्र' भी है। इस 'मालिनी विजय' के आदि वाक्य अर्थात् केवल प्रथम श्लोकके ऊपर अभिनवगुप्तने 'मालिनीविजयवार्तिक' लिखा था। उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसी 'पूर्वशास्त्र' के ऊपर दूसरा व्याख्या ग्रंथ 'पूर्व-पञ्चिका' नामसे भी अभिनवगुप्तने लिखा था। इस प्रकारकी पञ्चिका या टीकाएँ

उन्होने अन्य तन्त्र-ग्रथोपर भी लिखी थी। इनका उल्लेख भी अभिनवगुप्तने 'परात्रीशिका-विवरण' मे निम्न प्रकार किया है—

'निर्णीत चैतन्मयैव पूर्वप्रभृतिपञ्चिकासु। प० त्री० १४७।

४ पदार्थप्रवेशनिर्णय-टीका—इसके नामसे प्रतीत होता है कि त्रिक-दर्शनके अभिमत ३६ पदार्थोंका वर्णन इस ग्रथमे किया गया होगा। इसका उल्लेख भी 'परात्रीशिका विवरण' में इस प्रकार किया गया है—

'विततय च विचारितं मयैतत् पदार्थप्रवेशनिर्णयटीकायाम्'।

परन्तु आज न तो 'पदार्थप्रवेश' ग्रथ मिलता है और न उसकी यह टीका ही मिलती है।

५ प्रकीर्णकविवरण—तन्त्रालोक ७–३३ में अभिनवगुप्तने लिखा है—'इत्य जडे सम्बन्धे न मुख्यण्यर्थसगति। आस्ता, अन्यत्र विततमेतद् विस्तरतो मया'। इसके ऊपर टीका करते हुए जयरथने लिखा है—

'अन्यत्रेति प्रकीर्णकविवरणादौ।'

६ प्रकरणविवरण—यह 'प्रकरणस्तोत्र' की टीका है और तन्त्रसार' श्लोक ३१ में उसका उल्लेख किया गया है।

७ काव्यकौतुकविवरण—अभिनवगुप्तके गुरु भट्टतौतने अलङ्कार-शास्त्रके विषयमें 'काव्य-कौतुक' ग्रथ लिखा था। उसीकी टीका रूपमें अभिनवगुप्तने इस 'काव्यकौतुक-विवरण' की रचना की थी। अभिनवगुप्तने अपने 'ध्वन्यालोकलोचन' में भट्टतौतके 'काव्यकौतुक' ग्रथ और उसपर अपने विवरणका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"स स्वयमस्मदुपाध्याय—भट्टतौतेन काव्यकौतुके, अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृत-निर्णय. पूर्वपक्षसिद्धान्त। इत्यल वहुना'"। ध्वन्यालोकलोचन १७८

८ कथामुखतिलकम्—इस ग्रथका उल्लेख अभिनवगुप्तने अपनी 'वृहती विमर्शिणी' में स्वकृत ग्रथके रूपमे किया है। किन्तु उसका विषय क्या था यह कहना कठिन है।

९ लघ्वीप्रक्रिया—यह कोई भक्तिपूर्ण स्तोत्र है। भगवदगीतार्थसग्रहमें इसका उल्लेख करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा है—

"यथा च मयैव लघ्व्या प्रक्रियायामुक्तम्—
न भोग्य व्यतिरिक्त हि भोक्तुस्तत्त्व विभाव्यते।
एष एव हि भोगो यत् तादात्म्य भोक्तृ-भाग्ययो"॥

१० भेदवादविवरण—इस ग्रन्थका उल्लेख 'भगवद्गीतार्थसग्रह' तथा 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' दोनो ग्रन्थोमें पाया जाता है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' में लिखा है—

"कृतप्रतानश्चाय प्रकृत्यर्थ-प्यर्थविवेको मयैव भेदवादविवरणे इति तत एवान्वेष्य'।
ई० प्र० वि० २-१५८।

११. देवीस्तोत्र विवरण—भगवद्गीतार्थसग्रह अ० ६ श्लो० ३० की व्याख्यामें इस ग्रन्थका उल्लेख अभिनवगुप्तने इस प्रकार किया है—

"विस्तरस्तु भेदवादविवरणादिप्रकरणे, देवीस्तोत्रविवरणे च मयैव निर्णीत"। आनन्दवर्धनाचार्यके देवीस्तोत्रके ऊपर यह टीकाग्रन्थ प्रतीत होता है।

१२. तत्त्वाध्वप्रकाशिका—इस ग्रन्थमें कदाचित् त्रिक-दर्शनके ३६ तत्त्वोंका सक्षेपमें वर्णन किया गया होगा। तन्त्रालोककी टीकामें जयरथने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"ग्रन्थकृता च तत्त्वाध्वप्रकाशनादौ तत्र तत्र तन्त्वालम्बनमेव कृतम्"।

तन्त्रालोक ११-१९।

१३. शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्र—'भगवद्गीतार्थसंग्रह' में १५वें अध्यायके १९वे श्लोक की व्याख्यामें ग्रन्थकारने इस ग्रन्थका नाम दिया है। जैसा कि इसके नामसे प्रतीत होता है इसमें शिव और शक्तिके अभेदका प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्तने उनकी स्तुति की है।

इस प्रकार २२ ग्रन्थ पहिले दिखलाए गए थे जिनमेंसे २१ किसी न किसी रूपमें प्रकाशित हो चुके हैं। उसके बाद १३ ग्रन्थ इस प्रकारके दिखलाए गए हैं जिनकी आज प्रकाशित-अप्रकाशित किसी रूपमें उपलब्धि नही हो रही है किन्तु स्वय अभिनवगुप्तके ग्रन्थोमें उनका स्वकृत ग्रन्थके रूपमें उल्लेख पाया जाता है। इन दोनोको मिला कर अब तक अभिनवगुप्त के ३५ ग्र थो का परिचय हो चुका है। शेष ग्र थोका परिचय आगे देते हैं। ये शेष ६ ग्र थ ऐसे हैं जिनका उल्लेख केवल आधुनिक सूचीपत्रोंमें अभिनवगुप्तके ग्र थोके रूपमें पाया जाता है।

आधुनिक सूचीपत्रोंमे उल्लिखित ६ ग्रन्थ—

३६ बिम्बप्रतिबिम्बवाद—इसका उल्लेख डा० ब्हूलरके काश्मीर कैटेलाग तथा डा० भण्डारकर की १८७५-७६ में सगृहीत ग्र थो की सूचीमें पाया जाता है। इसकी प्रति भी मिलती है। किन्तु उसके देखनेसे प्रतीत होता है कि यह कोई स्वतन्त्र ग्र थ नही है अपितु 'तन्त्रालोक' के तृतीय आन्हिकमें नैयायिकोके सिद्धान्तके खण्डनके प्रसगमें 'बिम्बप्रतिबिम्बवाद' का खण्डन किया गया है। उसीको किसीने अलगसे उतार कर यह पाण्डुलिपि तैयार की है। इसके अन्तमें 'श्री तन्त्रालोके बिम्बप्रतिवाद सम्पूर्ण' लिख कर जो इसकी समाप्ति की गई है उससे भी वही सिद्ध होता है कि यह 'तन्त्रालोक' का ही एक भाग है। स्वतन्त्र ग्रन्थ नही है।

३७ अनुत्तरतत्त्वविमर्शिणी वृत्ति—तंजोरके पुस्तकालयमें इसकी दो प्रतियाँ मिलती हैं। उनके देखनेसे प्रतीत होता है कि यह 'परात्रीशिका' के ऊपर अभिनवगुप्त द्वारा लिखी गई सक्षिप्त वृत्ति है।

इन ३७ कृतियोके अतिरिक्त ३८ नाट्यालोचन, ३९ परमार्थसग्रह और ४० अनुत्तरशतक का भी अभिनवगुप्तके ग्र थोके रूपमें नवीन सूचीपत्रोंमें उल्लेख पाया जाता है। किन्तु वे अभिनवगुप्त के ही ग्र थ हैं इस बातको निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है।

अभिनवगुप्तके जिन ४० ग्र थो या रचनाओंका विवरण ऊपर दिया गया है उनको हम विषयकी दृष्टिसे तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। १. दार्शनिक, २. साहित्यिक तथा ३ तान्त्रिक।

उनकी रचनाओंका सबसे बडा भाग तान्त्रिक सिद्धान्तोसे सम्बन्ध रखता है। दार्शनिक साहित्यमें उनके मुख्यत तीन ग्रन्थ आते हैं। इनमें से दो प्रत्यभिज्ञा दर्शनके सम्बन्धमें लिखे गए हैं और एक गीताके सम्बन्धमे। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी' और 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी' ये दोनो प्रत्यभिज्ञा-दर्शनसे सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ हैं और 'भगवद्गीतार्थसग्रह' गीतासे सम्बन्ध रखने वाला ग्रथ है। इसको भी हम अभिनवगुप्तकी दार्शनिक कृतियोमें मान सकते हैं। उनकी रचनाओं का दूसरा भाग साहित्य-शास्त्रसे सम्बन्ध रखता है। इसमें 'ध्वन्यालोकलोचन' तथा 'अभिनवभारती' ये दो मुख्य ग्रथ आते हैं। 'घटकर्पर-विवरण' को भी कथञ्चित् इस वर्गमें सम्मिलित किया जा सकता है। अभिनवगुप्तकी शेष प्राय: ३४ रचनाएँ तन्त्रशास्त्रसे सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ हैं।

अभिनवगुप्तके जीवनका पटाक्षेप—

अभिनवगुप्तका जीवन एक धार्मिक और साधनामय जीवन था। उनकी साधना तान्त्रिक साधना थी। तान्त्रिक साहित्यका जितना गम्भीर अध्ययन और विवेचन उन्होंने किया उतना ही उन सिद्धान्तोको अपने जीवनमें चरितार्थ करनेका यत्न भी किया था। इसलिए उनका जीवन तान्त्रिक साधनाओंका मूर्त रूप बन गया था। ऐसे महान् और आदर्श जीवनका पटाक्षेप भी स्वाभाविक रूपसे वैसा ही महान् और सुन्दर होना चाहिए था। और हुआ भी वैसा ही। काश्मीरमें श्रीनगर तथा गुलमर्गके बीच मगम नामका एक स्थान है। इस स्थानसे पाँच मीलकी दूरीपर 'भैरव कन्दरा' नामकी एक गुफा आज भी पाई जाती है। इस गुफाके पास एक छोटा-सा गांव भी है। उसका नाम भैरवगांव है। और उसके पास एक सुन्दर छोटी नदी बहती है। उसका भी नाम भैरव नदी है। इस प्रकार भैरव गांव, भैरवनदी, और भैरवगुफा तीनोंने एक स्थानपर मिल कर इस स्थानको भैरव-भक्तोके लिए विशेष आकर्षणका केन्द्र बना दिया है। इसलिए अभिनवगुप्तने अपने जीवन की सन्ध्यावेलाको इस स्थानपर ही व्यतीत करने का निश्चय किया। और अन्तिम समयमें वही आकर अपनी साधना करने लगे थे। भैरवगुफा उनका बडा प्रिय स्थान था। इस गुफाका मुख पहाडके ऊपरी भागमें है। गुफा बहुत बडी है। उसमे अनेक स्थान ऐसे हैं जिनमें चालीस-पचास आदमी एक साथ बैठ सकते हैं, और शान्त भावसे अपनी साधना कर सकते हैं। एक-दो आदमियो के बैठने और एकान्त सेवा योग्य तो सैकडो स्थान उस गुफाके भीतर सहज सुलभ हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि अभिनवगुप्तने इसी भैरवगुफाके भीतर अपनी अन्तिम समाधि ग्रहण की। यद्यपि इस विषयमे कोई लिखित प्रमाण तो उपलब्ध नही है किन्तु काश्मीरके लोगोमे और विशेष रूपमे इस भैरवकेन्द्रके आस-पास रहने वाले लोगोमे यह बात प्रसिद्ध है कि अपने अन्तिम समयमें अभिनवगुप्त अपने बारह सौ शिष्योंके साथ इस गुफाके भीतर चले गए और फिर वापस नही आए। बारह सौ शिष्यो वाली बातमे सम्भव है कुछ अत्युक्ति हो या बारह सौ शिष्य सम्भव है उनकी अन्तिम समाधिको देखने आए हो। किन्तु यह सम्भव प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्तने इस गुफामें समाधिस्थ होकर ही अपनी जीवन-लीला सवरण की हो।

अभिनवभारती—

अभिनवगुप्त भारतके महान् विद्वान्, महान् दार्शनिक और महान् साहित्याचार्य हैं। हम उनकी तान्त्रिक विचारधारासे भले ही सहमत न हों किन्तु उन्होने सस्कृत साहित्य की जो अपूर्व सेवा की है उसके लिए भारत चिरकाल तक उनका ऋणी रहेगा। उनकी साहित्य-विषयक

दो मुख्य कृतियाँ हैं एक 'ध्वन्यालोक-लोचन' और दूसरी 'अभिनवभारती'। यो कहनेको दोनो टीका-ग्रन्थ हैं। 'ध्वन्यालोकलोचन' आनन्दवर्धनाचार्यके 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थकी टीका है और 'अभिनवभारती' भरतमुनिके 'नाट्यशास्त्र' की टीका है। किन्तु इन टीका-ग्रन्थोके सामने सैकडो मौलिक ग्रन्थ 'तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण'—घटकर्पर में पानी भरते नज़र आते हैं। अभिनवगुप्तके इन टीकाग्रन्थोने भारतीय विद्वन्मण्डलीमें जो असाधारण आदर और मान्यता प्राप्तकी है उसका शतांश भी इन्हीं विषयोपर मौलिक कहे जाने वाले ग्रन्थोको प्राप्त नहीं हुआ है। अभिनवगुप्तने इन टीकाग्रन्थोमें जो कुछ लिख दिया है वह उस विषयपर अन्तिम प्रमाण है। उत्तरवर्ती सारे साहित्यिक और सारे आचार्य उसीके आधारपर अपने अपने पाण्डित्यका प्रदर्शन करते रहे हैं।' 'तद्दूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्य प्रतायते'।

ऐसे महापुरुष हैं ये अभिनवगुप्त। वे काश्मीरके निवासी हैं। उस काश्मीरके जो भारतकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका एकमात्र केन्द्र और एकमात्र मूलस्रोत है। भारतीय अलकारशास्त्र की तरङ्गिणीका उद्‌गमस्रोत भामहके काव्यलकारमें पाया जाता है और वे काश्मीरी हैं। रीति-सम्प्रदायके प्रवर्तक वामन, अलङ्कार-सम्प्रदायके उद्‌भट, ध्वनि-सम्प्रदायके आचार्य आनन्दवर्धन, वक्रोक्ति सम्प्रदायके प्रवर्तक आचार्य कुन्तक भी तो काश्मीरी हैं। इनके अतिरिक्त भट्टतौत वामन-गुप्त, महिमभट्ट, रुद्र, क्षेमेन्द्र, रुद्रट, राजानक, मम्मट, मखक, जयरथ आदि साहित्य-शास्त्रके सभी प्रमुख आचार्य काश्मीरमें उत्पन्न हुए। काश्मीरकी इन्ही महान् विभूतियोमे आचार्य अभिनवगुप्त भी एक महान् विभूति है। काश्मीर भारतका मूर्धन्य प्रदेश है। अभिनवगुप्त काश्मीरके मूर्धन्य विद्वान् है। और अभिनवभारती अभिनवगुप्तकी कृतियोमें मूर्धन्य कृति है।

अभिनवभारतीकी रचनाके प्रेरक तत्त्व—

यो तो नाट्यशास्त्रकी इस अभिनवभारती टीकाकी रचना अभिनवगुप्तने की है किन्तु उन्होने उसे अपनी व्याख्या न मान कर गुरुपरम्परागत व्याख्या माना है। अभिनवगुप्तके नाट्यशास्त्र-गुरु भट्टतौत थे। वे अपने कालके नाट्यशास्त्रके सबसे प्रमुख आचार्य माने जाते थे। उनका काम केवल अध्यापन करना था। ग्रन्थ-लेखनकी ओर उनकी प्रवृत्ति नही थी। वे भरत नाट्यशास्त्र का अध्यापन करते समय उसकी जो सुन्दर व्याख्या करते थे उसको सुन कर शिष्यगण मुग्ध हो जाते थे। उनके पूर्व उद्‌भट, लोल्लट, भट्टनायक आदिने भी नाट्यशास्त्रकी व्याख्या की थी। भट्टतौत अपने अध्यापनके समय उन सब पूर्ववर्ती व्याख्याकारोकी युक्तियुक्त आलोचना करते जाते थे जिससे उनकी अध्यापन-शैली और भी अधिक सरस एव आकर्षक बन जाती थी। जिन लोगोको उस व्याख्याके सुननेका सौभाग्य प्राप्त होता था वे तो अपने आपको धन्य मानते ही थे किन्तु अन्य दूर-दूरके लोग भी उनकी व्याख्या सुननेके लिए लालायित रहते थे। अभिनवगुप्त भट्टतौतके प्रति-भाशाली और लेखनीके धनी शिष्य थे। उन्होंने अपने गुरुकी इन अद्‌भुत व्याख्याओको सुरक्षित रखने और दूरस्थ लोगोको भी उनसे लाभ उठानेका अवसर मिल सके इस दृष्टिसे उन सबको लिपिबद्ध करनेका निश्चय किया। और उसके फलस्वरूप ही इस 'अभिनवभारती' ग्रन्थकी रचना हुई है। भट्टतौतकी व्याख्या अभिनवभारतीका मूल आधार है और दूरस्थ विद्वानोकी उन व्याख्याओंका ज्ञान प्राप्त करनेकी उत्सुकता इसका प्रेरक तत्त्व है। इन दो मौलिक तत्त्वोंके योगमे ही अभिनव-भारतीकी रचना हुई है इस तथ्यको अभिनवगुप्तने अभिनवभारतीके आरम्भमें निम्न श्लोक द्वारा व्यक्त किया है—

"सद्विप्रतोतवदनोदितनाट्यवेद—
तत्त्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतो ।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठ
सक्षिप्त-वृत्तिविधिना विशदीकरोति ॥१-४॥"

'सद्विप्रतोतवदनोदितनाट्यवेदतत्त्वार्थम्' सद्विप्र भट्टतोतने नाट्यवेदके जिस तत्त्वार्थको लिखित रूपसे नही केवल 'वदनोदित'—मौखिक रूपसे कहा था उसको अभिनवगुप्तने 'सक्षिप्तवृत्तिविधिना विशदीकरोति' सक्षिप्त वृत्तिकी रचना द्वारा स्पष्ट करनेका यह यत्न किया है। किसके लिए, कि 'अर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतो.' अर्थिजनो अर्थात् जो भट्टतोतकी इन व्याख्याओके जिज्ञासु हैं उन अर्थिजनोके मनोरथकी पूर्तिकेलिए अभिनवगुप्तने इस सक्षित वृत्तिके रूपमें इस गन्थकी रचना की है। यह इस श्लोकका भाव है।

ये अर्थिजन जिनकी मनोरथकी सिद्धिकेलिए इस ग्रन्थकी रचना की कौन थे—यह प्रश्न हो सकता है। हमारा अनुमान है कि ये लोग दक्षिण भारतके सुदूरवर्ती भरतनाट्यके प्रेमी कलाकार और विद्वान् थे। दक्षिण भारतमें 'भरतनाट्यम्' का बहुत अधिक प्रचार रहा है। आज भी वहाँ इसका बहुत अधिक प्रचार है और बहुत पुराने समयसे वहाँ उसके प्रेमी बहुत बडी सख्या में रहे हैं। 'भरतनाट्यम्' के साथ उनका विशेष प्रेम होनेके कारण ही उसपर जब भट्टतोतकी विशद व्याख्याओका समाचार उनको मिला तो वे उनके जाननेके लिए अधीर हो उठे। इतने अधीर कि अभिनवगुप्तने उनको 'अर्थिजन' याचक-वृन्द कह कर सकेतित किया है। हमने जो यह अनुमान किया है कि ये 'अर्थिजन' दक्षिण भारत के ही लोग थे इस के दो कारण हैं —

१ हमारे अनुमानका पहला आधार तो यह है कि आजके इस नवीन युगमें अभिनवभारतीकी जो पाण्डुलिपि मिली हैं वह ठेठ दक्षिण भारतके मलाबार प्रान्तमें प्राप्त हुई हैं। भारतके और किसी भागमें अब तक अभिनवभारतीकी कोई पाण्डुलिपि प्राप्त नही हुई। काश्मीरमे जिस अभिनवभारतीकी रचना हुई है वह यदि क्रमश प्रचार और प्रसिद्धि प्राप्त करते-करते दक्षिण भारत तक पहुँचती तो भारतके इस विशाल मध्यवर्ती भागमें कही अभिनवभारतीकी एक दो पाण्डुलिपियाँ तो उपलब्ध होती। भारतके मध्यवर्ती विशाल क्षेत्रमे एक भी पाण्डुलिपिका न मिलना और ठेठ दक्षिण भारतमें उनका मिलना यह सूचित करता है कि अभिनवभारती काश्मीर से सीधे दक्षिण भारत पहुँची है। अभिनवगुप्तके और बहुतसे ऐसे ग्रन्थ है जिनके नाम और उनके उद्धरण अभिनवगुप्तने अपने अन्य ग्रन्थोमें दिए हैं किन्तु वे मूल गन्थ जिनके कि उद्धरण दिए गए हैं आज उपलब्ध नही हो रहे हैं। इसी प्रकार अभिनवभारतीकी मूल प्रतिका काश्मीरमे भी अभी तक पता नही चल सका है किन्तु नाट्यशास्त्र और अभिनवगुप्तके प्रेमी उसकी जो प्रतिलिपि अपने साथ दक्षिण भारत ले गए थे वहाँ सुरक्षित रही। और दक्षिण भारतके नाट्य-प्रेमियोके प्रयत्नसे ही आज हमे इस महान् ग्रन्थरत्नकी पुन प्राप्ति हो सकी है।

२ दूसरी बात यह है कि दक्षिण भारत के चिदम्बरम् नगरमे आज भी नटराजका मन्दिर विद्यमान है जो दक्षिण भारत के राजाओके भरतनाट्यके प्रति अपूर्व प्रेमका सूचक है। दक्षिण भारतके चोल राजाओने तेरहवी शताब्दीमें इस मन्दिरकी रचना करवाई थी। इस मन्दिर के द्वारो पर भरत नाट्यशास्त्रके चतुथ अध्यायमे जिन १०८ प्रकार करणोका वर्णन किया गया

उन सबके ज्यो के त्यो चित्र पत्थरके ऊपर खुदवा कर बनवाए गए थे। प्रत्येक चित्रके नीचे उसका आधारभूत भरतमुनिका श्लोक भी खुदा हुआ है। इन १०८ चित्रोमेंसे ८५ चित्र तो बिल्कुल उसी क्रमसे दिए गए हैं जिस क्रमसे कि भरत नाट्यशास्त्रमें उन करणोका वर्णन किया गया है। शेष १५ चित्रोमें किसी कारणवश उस क्रमको नही निबाहा जा सका है। किन्तु सख्या १०८ पूरी है। इस मन्दिरका नाम और उसकी रचना दक्षिण भारतके चोल राजाओंके अद्भुत नाट्य-प्रेम की परिचायक है। मन्दिरकी रचना यद्यपि बादमें १२वी-१३वी शताब्दीमें हुई है परन्तु यह निश्चित है कि वहाँके लोगोका नाट्यके प्रति अगाध प्रेम उससे पूर्व अभिनवगुप्तके समयमें भी विद्यमान था। इससे यह अनुमान होता है कि यद्यपि अभिनवगुप्तने 'अर्थिजन' की ऐसी कोई व्याख्या नही की है किन्तु फिर भी दक्षिण भारतके लोगोका नाट्यके प्रति अगाध प्रेम और अभिनवभारतीकी प्रति की केवल दक्षिण भारतमें प्राप्तिके आधारपर यह अनुमान करना असगत नही होगा कि अभिनवगुप्त ने इन्ही 'अर्थिजनो' के 'वाञ्छितकी सिद्धिकेलिए' इस ग्रन्थकी रचनाकी थी। और उन 'अर्थिजनो'ने भी ११वी शताब्दीसे लेकर २०वी शताब्दी तक उस अमूल्य निधि 'अभिनवभारती' को अपने यहाँ सुरक्षित रख कर अपने 'अर्थिजन' होने का यथार्थ परिचय दिया है।

अभिनवभारतीकी उपलब्धि कैसे हुई—

भारतीय साहित्य एव पुरातत्त्वकी रक्षा एव अनुसन्धानके लिए ब्रिटिश शासन कालमे बडा काम किया गया। आज इस दिशामें कदाचित् उतनी सलग्नताके साथ कार्य नही हो रहा है। भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारोके अनेक अन्वेषक-दल हस्तलिखित ग्रन्थोकी खोजमें घूम-घूम कर जहाँ कही किसी हस्तलिखित पुस्तकका पता लगता वहाँ जाकर जिस किसी रूपमें भी सम्भव होता दुर्लभ ग्रन्थोका सग्रह करनेका यत्न करते थे। मद्रास-सरकार द्वारा नियुक्त ऐसे ही अन्वेषक दल के प्रयत्नसे 'अभिनवभारती' की पाण्डुलिपिकी प्राप्ति हुई थी। मद्रास सरकारके इस अन्वेषक-दलने मलाबारमें मलयालम लिपिमें लिखी हुई अभिनवभारतीकी पाण्डुलिपिको तीन खण्डोमें, तीन अलग-अलग स्थानोपर व्यक्तिगत सम्पत्तिके रूपमें लोगोके पाससे प्राप्त किया था। इन तीनो भागोमें मिल कर ३१ वें अध्याय तककी अभिनवभारती आ गई थी। ये पाण्डुलिपियाँ ताडपत्र पर अकित थी। मद्रासमें 'गवर्नमेन्ट ओरिएन्टल मैनस्क्रिप्ट लाइब्रेरी' नामक सस्था इस प्रकार हस्तलिखित ग्रन्थोका सग्रह आदिका कार्य करती है। मलयालम लिपिमें ताडपत्रपर अकित उक्त पाण्डुलिपियाँ उक्त पुस्तकालयमें लाई गई। इस पुस्तकालयके प्रारम्भिक सूचीपत्रमें ये तीनो पाण्डुलिपियाँ क्रमशः २४७८, २७८५ तथा २७७४ सख्यापर अकित की गई हैं।

२४७८ नं० की पाण्डुलिपि चेलापुरम कालीकटके श्री अम्बपालकट करबकर मेननके पाससे प्राप्त हुई थी। इसमें मूल नाट्यशास्त्रके साथ १९ वें अध्याय तककी अभिनवभारती टीका दी गई थी। सन १९१७-१८ में ताडपत्र वाली पाण्डुलिपिसे इसकी दूसरी प्रतिलिपि तैयार करवाई गई।

नं० २७८५ वाली दूसरी पाण्डुलिपि कडलूर मननरारो तिरताल डि० मलाबार के श्री नारायण नम्बूदरीपादके पाससे प्राप्त हुई थी। इस पाण्डुलिपिमें मूल नाट्यशास्त्रका अंश नही था केवल अभिनवभारती के २० से लेकर २८ अध्याय तककी अभिनवभारती टीका मात्र

ही थी। सन् १९१८-१९ मे ताडपत्र वाली पाण्डुलिपिसे देवनागरी लिपिमें इसकी दूसरी प्रतिलिपि तैयार करवाई गई।

२७७४ सख्या वाली तीसरी पाण्डुलिपि भी उसी कडलूर डि० मलाबारके निवासी श्री नारायण नम्बूदरीपादके यहाँसे प्राप्त हुई थी। इसने केवल २९-३१ तकके तीन अध्यायोकी नाट्यशास्त्र रहित केवल अभिनवभारती थी। इसकी भी दूसरी प्रतिलिपि उसी वर्ष अर्थात् १९१८-१९ में तैयार करा ली गई है।

दक्षिणभारतके मलाबार जिलेसे अभिनवभारतीकी तीन भागोमें यह एक प्रति प्राप्त हो सकी जिसमे १-३१ अध्याय तककी अभिनवभारती का पाठ आ गया था। मूल पाण्डुलिपि मलयालम लिपिमें लिखी गई थी। उससे देवनागरी लिपिमें दूसरी प्रतिलिपि तैयार कराई गई। ये प्रतिलिपियाँ मद्रास सरकारकी 'ओरिएन्टल मैनस्क्रिप्ट लाइब्रेरी' में सरक्षित है।

अभिनवभारती की दूसरी प्रति तिरुवाकुरके महाराजाके निजी पुस्तकालयमें प्राप्त हुई। इन दो प्रतियोके अतिरिक्त अभी तक और कोई प्रति कही उपलब्ध नही हुई है।

मद्रास पुस्तकालय तथा तिरुवाकुर पुस्तकालयमें अभिनवभारतीकी जो प्रतियाँ पाई गई वे दोनो किसी एक ही मूल प्रतिके आधारपर तैयार की गई थी। यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि एक प्रतिमें जो भाग अनुपलब्ध है वह भाग दूसरी प्रतिमें भी अनुपलब्ध है—जैसे सप्तम अष्टम अध्यायोकी अभिनवभारती दोनो ही प्रतियोमें नही मिलती है। इसलिए ये दोनो प्रतियां किसी एक ही मूल प्रतिके आधारपर तैयार की गई प्रतीत होती हैं। फिर भी कही लिपिकारके प्रमादसे, कही कीडा लग जाने या अन्य कारणोसे पर्याप्त अन्तर हो गया है। अभिनवभारतीके द्वितीय सस्करणके सम्पादक महोदयने अपनी भूमिका के पृ० २० पर इस भेदको दिखलाते हुए लिखा है—

"दो दीज टू सेट्स आफ मैनस्क्रिप्टस सीम टु हैव बीन कापीड आउट फ्राम वन ओरिजिनल सोर्स, दे शोड सो मच डाइवरजेन्स इन देयर कन्टेन्टस ड्यू टु दि स्क्राइबल एररर्स, ब्रेकेन पीसेज, माथ-ईटेन लीव्स एण्ड अदर नेचुरल डिकेज, दैट दे एपीयर्ड टु हैव बीन कापीड आउट फ्राम आलटुगैदर डिफरैन्ट मैनस्क्रिप्टस।"[1]

अर्थात् मद्रास पुस्तकालय वाली तथा तिरवाकुर पुस्तकालय वाली ये दोनो प्रतियां यद्यपि किसी एक ही प्रतिके आधारपर तैयार की गई हैं किन्तु कही लिपिकारके प्रमादसे, कही ताडपत्रके टूट जानेसे या कीडा लग जाने अथवा अन्य प्रकारके प्राकृतिक विकार हो जानेके कारण उनके लेखमें इतना अधिक अन्तर पाया जाता है कि मानो उन्हें बिल्कुल भिन्न आधारोपरसे

1 Though these two sets of manuscripts seem to have been copied out from one original source, they showed so much divergence in their contents due to the scribal errors, broken pieces, moth-eaten leaves and other natural decays, that they appeared to have been copied out from altogether different manuscripts

तैयार किया गया हो। प्रथम सस्करणके सम्पादक महोदयने भी इस विषयमे अपने विचार इस प्रकार (भूमिका पृष्ठ ६२ द्वितीय सस्करण) दिए हैं—

"दीज़ टू सेट्स डिफर इन रीडिंग्स, बट दि डिफरेन्सेज आर ड्यू टु दि एरेनियस डिसाइफरिंग आफ ए स्क्राइब आर टु एन इन्टेलीजेन्ट सजेशन आफ ए मिसिंग वर्ड आर लेटर ह्वेयर इन्सैक्टस हैड डैमेज्ड दी लीफ"।

जब अभिनवभारती की इन प्रतियोकी प्राप्ति की सूचना प्रकाशित हुई तो अनेक विद्वानोने उसके विषयमें अपनी अभिरुचि प्रकट की और उसकी प्रतिलिपि अपने लिए प्राप्त करनेका यत्न किया। तदनुसार जिन लोगोने मांग की उनको उनके व्यय पर उक्त पाण्डुलिपियोकी प्रतिलिपियां अंकित करवा कर भेज दी गई।

तिरुवाकुर-महाराजाके राजपुस्तकालय वाली अभिनवभारतीकी एक प्रतिलिपि सरस्वतीभवन पुस्तकालय बनारसकेलिए तैयार कराई गई। बनारस वाली प्रतिलिपिसे भण्डारकर रिसर्च इस्टीट्यूट पूना के लिए एक और प्रतिलिपि तैयार कराई गई। और इसको फिर मद्रास सरकारके पुस्तकालय वाली प्रतिके साथ मिलान किया गया। पूना वाली यह प्रति पूनाके पुस्तक-सग्रह सूची में ३४३ सख्या पर अंकित की गई है। इस प्रतिलिपि में भी उतना ही भाग और उसी रूपमें था जितना कि मद्रास पुस्तकालय वाली प्रतिलिपि में था। इससे यह अनुमान किया गया है कि ये दोनो प्रतियां किसी एक ही आधार पर तैयार की गई थी।

अर्थात् यद्यपि इन दोनो पाण्डुलिपियो में पाठ-भेद पाया जाता है परन्तु वे पाठान्तर या तो लिपिकारके अशुद्ध लेखनके कारण अथवा जहांपर कीडोंने पृष्ठके किसी स्थानको क्षत कर दिया है उस स्थानपर किसी विलुप्त शब्द अथवा अक्षरकी पूर्तिके सुन्दर सुझावके कारण हुए हैं।

अभिनवभारतीका सम्पादन और प्रकाशन—

अभिनवभारती टीका-सहित नाट्यशास्त्रके अब तक दो सस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। ये दोनो ही सस्करण गायकवाड ओरिएन्टल सिरीज़, बड़ौदासे प्रकाशित हुए हैं। प्रथम सस्करण सन् १९२६ में प्रकाशित हुआ था। इस सस्करणका सम्पादन श्री रामकृष्ण कवि महोदयने किया था। जिन दिनो 'अभिनवभारती' की मालावार और तिरुवाकुर वाली दोनो पाण्डुलिपियां प्राप्त हुई थी उन दिनो श्री रामकृष्ण कवि महोदय मद्रास सरकारके हस्तलिखित पुस्तकोके पुस्तकालयमें काम कर रहे थे। इसलिए उन्हे इस नव-आविष्कृत ग्रन्थ-रत्नके सम्पादनमें बडी अभिरुचि थी और उन्होने मुख्यत मद्रास पुस्तकालयमें सगृहीत मालाबार वाली पाण्डुलिपिके आधार पर 'अभिनव-भारती' का सम्पादन कर सन् १९२६ में बडौदासे प्रकाशित करवाया। यह केवल प्रथम भाग था। जिसमें सात अध्याय प्रकाशित हुए थे। इन सात अध्यायोंमेंसे भी सप्तम अध्यायपर अभिनवभारती नही थी। इन अध्यायो वाली मालाबारमें उपलब्ध ताडपत्र वाली पाण्डुलिपिसे सन्

---

1. These two sets differ in readings, but the differences are due to the erroneous deciphering of a scribe or to an intelligent suggestion of a missing word or a letter where insects had damaged the leaf

१९१७-१८ मे मद्रास पुस्तकालयकेलिए प्रति तैयार कर ली गई थी। उस प्रतिके आधारपर उसके केवल सात अध्यायोके सम्पादन और प्रकाशनमें लगभग आठ वर्षका समय लग गया। पाण्डुलिपियो के अत्यन्त अशुद्ध होनेके कारण रामकृष्ण कवि महोदयको इसका सम्पादन करने तथा प्रेस कापी तैय्यार करनेमे बडी कठिनाइयोका सामना करना पडा। अपनी इन कठिनाइयोका उल्लेख करते हुए उन्होने भूमिकामें (द्वितीय सस्करण पृ० ६३ पर) लिखा है—

"नेवरदिलेस दि प्रिपरेशन आफ दि प्रेसकापी, एस्पेशली फार दि फर्स्ट एण्ड दि लास्ट वाल्यूम्स हैज़ टैक्सड आल माइ रिसोर्सेज। दि ओरिजिनल्स आर सो इनकरेक्ट दैट ए स्कालर फ्रैंड आफ माइन इज प्राबेब्ली जस्टीफाइड इन सेइग दैट—इवन इफ अभिनवगुप्त डिसेंडिड फ्राम हैवन एण्ड सॉ दि मैनिस्क्रिप्ट ही वुड नाट इजिली रेस्टोर हिज ओरिजिनल रीडिंग"[1]।

अर्थात् इस अभिनवभारतीके प्रथम तथा अन्तिम भागोकी प्रेस कापी तैयार करनेमें सम्पादक महोदयको अत्यधिक कठिनाइयोका सामना करना पड़ा क्योकि मूल पाण्डुलिपियोका पाठ इतना अधिक अशुद्ध है कि जिसको देख कर सम्पादक महोदयके एक विद्वान् मित्रने यह मत व्यक्त किया था यदि एक बार स्वय अभिनवगुप्त भी स्वर्गसे उतर आवें तो वे इन पाण्डुलिपियोको देख कर अपने शुद्ध पाठका उद्धार नही कर सकेंगे।

यह है 'अभिनवभारती' के पाठोकी दुरवस्थाका एक चित्र। ऐसी निराशाजनक स्थिति में प्रथम और द्वितीय सस्करणोके सम्पादकोने जो कुछ कार्य किया है वह बडा श्रम-साध्य एव श्लाघ्य कार्य है।

पाठ-सुधार और उसके आधार—

'अभिनवभारती' के पाठोकी इस शोचनीय स्थितिका अनुभव उसके सम्पर्कमें आने वाले सभी विद्वानोने किया है और उसके सुधारका यथासाध्य यत्न भी अनेक विद्वानोने किया है। अब तक पाठसशोधनकी दिशामें जो कुछ कार्य हुआ है उसका आधार कुछ प्राचीन ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ इस प्रकारके हैं जिन्होने भरत-नाट्यशास्त्र और अभिनवभारतीके आधारपर विषयका कुछ स्वतत्र रूपसे प्रतिपादन किया गया है। (१) सम्पादक महोदय श्री रामकृष्ण कविके पास अभिनवभारतीके प्रारम्भसे लेकर छठे अध्याय तकका कोई सक्षिप्त सार ग्रन्थ था उसके द्वारा उनको विषयको समझनेमें पर्याप्त सहायता मिली थी। इस सक्षेप-सारका उल्लेख रामकृष्ण कविने भूमिका (पृ० ६२ पर) मे इस प्रकार किया है—

'देअर इज़ ऐन ऐपीटोम फार दिस कमैन्टरी फ्राम दि बिगिनिंग टु दि मिडिल आफ दि सिक्स्थ चैप्टर, ह्विच वाज़ प्राबेब्ली रिटिन बाइ पूर्ण सरस्वती, दि वेल नोन कमेन्टेटर आन मेघ-सन्देश एण्ड मालती-माधव एण्ड आल्सो दि आथर आफ ए पोयम एण्ड ए ड्रामा। वट

---

1 Nevertheless the preparation of the press copy, especially for the first and the last volumes, has taxed all my resources The originals are so incorrect that a scholar friend of mine is probably justified in saying that even if Abhinavagupta descended from heaven and saw this mss he would not easily restore his original reading

ग्रनहैपीली ही यूज्ड दि मोर एरोनियस कापी एण्ड वेयरएवर ही डिड नाट अन्डरस्टैण्ड दि पैसेज ही ओमिटेड इट आल्टुगेदर'।[1]

अर्थात् इस अभिनवभारती टीकाका आरम्भसे लेकर छठे अध्यायके मध्य तकका एक संक्षिप्त साराश भी है जिसको सम्भवत मेघसन्देश तथा मालतीमाधवके टीकाकार तथा एक काव्य तथा नाटक के लेखक पूर्ण-सरस्वतीने तैयार किया था। किन्तु दुर्भाग्यवश उन्होने अधिक अशुद्ध पाण्डुलिपिके आधारपर उसको तैय्यार किया था और जहाँ उन्होने किसी अशको ठीक तरहसे नहीं समझ पाया उसको उन्होने एकदम निकाल दिया है।

यह सक्षेप सार रामकृष्ण कवि महोदयको प्राप्त था। उन्होने अपने सम्पादनमें इसका उपयोग किया है। यह बात इससे भी मालूम होती है कि उन्होने अनेक स्थानोपर मूल अभिनवभारतीमें इस प्रकारके पाठ दिए हैं जो उपलब्ध दोनो पाण्डुलिपियोमेंसे किसीमें भी नहीं पाए जाते पर बादको यह 'साराश' द्वितीय संस्करणके सम्पादक महोदयको भी उपलब्ध नही हो सका। और हमे भी मद्रासके राजकीय पुस्तकालयने सूचना दी कि यह ग्रन्थ उनके यहाँ नही है।

(२) हेमचन्द्रने अपने काव्यानुशासनमें अभिनवभारतीके छठे अध्यायमे प्रतिपादित रस-प्रकरणको अक्षरश. समाविष्ट कर लिया था। उस काव्यानुशासनकी पाण्डुलिपि तथा प्रो०वी०सी० पारिख द्वारा सम्पादित उसके मुद्रित संस्करणके आधारपर आधुनिक विद्वानोको अभिनवभारती के छठे अध्यायमें स्थित रस-प्रकरणके पाठको सशोधित करनेका अवसर मिल गया है।

(३) इनके अतिरिक्त पुण्डरीक विट्ठलका नाट्यनिर्णय, कुम्भकर्ण राजाका सङ्गीतराज हरिपालदेव का सङ्गीतसुधाकर, सोमेश्वरदेव का मानसोल्लस और शार्ङ्गदेव का सङ्गीत रत्नाकर तथा नाट्यरत्नावली ये सब ऐसे ग्रन्थ हैं जिन्होने नाट्यशास्त्रके चतुर्थ अध्यायके विषयका अर्थात् करण और अगहार आदिका विवेचन किया है। इन सबमें शार्ङ्गदेवका सङ्गीत-रत्नाकरका विवरण सबसे अधिक प्रामाणिक विवरण है क्योकि अन्य लेखकोने अपने वर्णनमें स्वतन्त्रतासे भी काम लिया है किन्तु शार्ङ्गदेवने पूर्णतया भरतनाट्यशास्त्र तथा अभिनवभारतीका ही अनुगमन किया है। वास्तवमें उन्होने अभिनवभारती टीकामें करणो और अङ्गहारोका जो विवरण गद्य रूपमें दिया था उसको श्लोकबद्ध कर दिया है। अभिनवभारतीके सम्पादक महोदयने चतुर्थ अध्यायमें अभिनवभारतीके साथ-साथ प्रत्येक करणकी व्याख्याके शार्ङ्गदेवके सङ्गीतरत्नाकरके श्लोक भी दे दिए हैं। इन श्लोकोके आधारपर चतुथ अध्यायकी अभिनवभारतीके पाठसशोधनमें सम्पादक महोदय को पर्याप्त सहायता मिली है।

---

1 There is an epitome for this commentary from the beginning to the middle of the sixth chapter, which was probably written by Purnasaraswati, the well-known commentator on Megh-Sandesh and Maltimadhav, and also the author of a poem and a drama. But unhappily he used the more erroneous copy and wherever he did not understand the passage, he omitted it altogether.

विवेकाश्रित सम्पादन-पद्धति—

वडौदासे प्रकाशित अभिनवभारतीके प्रथम सस्करणका सम्पादन श्री रामकृष्ण कवि महोदयने तथा द्वितीय सस्करणका सम्पादन श्री 'रामस्वामी शिरोमणि' जैसे उच्चकोटिके प्रतिभा-शाली विद्वानोने वडी तन्मयता एव परिश्रमके साथ किया है किन्तु फिर भी उसके पाठोकी स्थिति वडी शोचनीय है। इसका कारण सम्पादकोका नही, अपितु सम्पादन पद्धतिका दोप है। आजके युगमें पाण्डुलिपि-मूलक-सम्पादन-पद्धतिको 'वैज्ञानिक सम्पादन-पद्धति माना जाता है। इस पद्धतिमें सम्पादक अपने ग्रन्थकी उपलब्ध सारी पाण्डुलिपियाँ एकत्र करके, और उनमेंसे किसी एकको जो उसकी दृष्टिमें सबसे अच्छी है आधार मान कर अन्य पाण्डुलिपियोमें उपलब्ध पाठान्तारोको पाद-टिप्पणीमें दे देता है। इस पद्धतिसे उन ग्रन्थोमें जिनकी कि दस-बीस पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हो कुछ काम चल जाता है। किन्तु जिनकी अधिक पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध न हो उन ग्रन्थोके सम्पादनमें यह सम्पादन-पद्धति काम नही दे सकती है। वहाँपर इस पद्धति का अवलम्बन करके यदि पाण्डुलिपिमें स्थित पाठको ज्यो-का-त्यो मुद्रित कर दिया जाता है तो अनेक अवसरोपर भारी अनर्थ हो जाता है। अभिनवभारतीके सम्वन्धमें यही स्थिति है। उसकी अधिक पाण्डुलिपियां उपलब्ध नही है। किसी एक ही-सी मूल प्रतिपर आधारित जो दो पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं उनके पाठ अत्यन्त अशुद्ध है ऐसी दशामें यदि उनकी अर्थ-सङ्गति आदिपर विचार किए बिना पाण्डुलिपिमें स्थित पाठोको ही ज्योका त्यो रख दिया जायगा तो पाडुलिपिमूलक सम्पादन-पद्धतिके अनुसार तो वह आदर्श सम्पादन हो जायेगा किन्तु उससे न तो ग्रन्थके साथ न्याय होगा और न ग्रन्यकारके साथ। वह तो केवल 'मक्षिकास्थाने मक्षिकापात.' वाली बात होगी। उसे वैज्ञानिक पद्धति कहना भी उचित प्रतीत नही होता है।

ऐसे ग्रन्थोके सम्पादनकेलिए हमें दूसरे ही प्रकारकी सम्पादन-पद्धतिका अवलम्वन करना होगा। इस दूसरी सम्पादन-पद्धतिका नाम हमने 'विवेकाश्रित-सम्पादन-पद्धति' रखा है। इस पद्धतिमें किसी विशेप सन्दिग्ध स्थलके शुद्ध पाठका निर्धारण पाण्डुलिपिके आधारपर न होकर विवेकके आधारपर करना होता है। यदि किसी स्थलका पाठ सम्पादककी दृष्टिमें स्पष्ट रूपसे असङ्गत और अशुद्ध है तो केवल पाण्डुलिपिमे होनेसे ही उसको प्रामाणिक नही माना जा सकता है। लिपिकारके प्रमादसे, असावधानतासे या अन्य कारणोसे पाण्डुलिपिमें भूल हो सकती है। उस भूलको समझ लेनेके वाद भी यदि हम उसको दोहराते जाते हैं तो वह ग्रन्थकारके साथ निश्चय ही अन्याय है। ऐसे स्थलपर सम्पादकको अपने विवेकका आश्रय लेकर शुद्ध पाठको उपस्थित करना चाहिए। साथ ही पाण्डुलिपि-स्थित अशुद्ध पाठको भी पाद-टिप्पणीमें दे देना चाहिए। हमने इसी पद्धतिका अवलम्वन करके इस ग्रन्थका सम्पादन किया है। जिस स्थलका पाठ हमारी दृष्टिमें अशुद्ध था उसको हमने अपने विवेकके आधारपर शुद्ध करके अशुद्ध पाठको पाद-टिप्पणीमे दे दिया है। साथ ही वह पाठ क्यो अशुद्ध है और जो पाठ हम प्रस्तुत कर रहे हैं वह क्यो शुद्ध है इसकी विस्तृत विवेचना भी हमने 'पाठ-समीक्षा' में दे दी है। इस पद्धतिके अवलम्वनसे 'अभिनवभारती' के पाठो की स्थितिमें निश्चय ही सुधार हुआ है और प्रत्येक स्थलपर ग्रन्थ सुवोध तथा सुसङ्गत वन गया है।

आभार-प्रदर्शन—

विवेकाश्रित सम्पादन-पद्धतिके आधारपर अभिनवभारतीके पाठानुसन्धान, पाठ-समीक्षा, विशद व्याख्या, हिन्दी अनुवाद तथा सुचारु सम्पादन सहित अभिनवभारती के तीन अध्यायोका यह संस्करण आज विद्वानोंके हाथ में देते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। वडी लम्वी साधना और कठिन परिश्रमके वाद आज इसके प्रकाशन का सुअवसर आया है। इसके इस रूपमें प्रकाशित होने का सारा श्रेय डा० नगेन्द्र जी को मिलना चाहिए। उनकी प्रेरणा, आग्रह और प्रोत्साहनसे ही यह कार्य पूर्ण हो सका है। सन् १९५४ में हिन्दी वक्रोक्तिजीवितका कार्य समाप्त होने और उसको प्रेसमें दे देने के वाद श्री डा० नगेन्द्रजीने अभिनवभारतीका कार्य हाथमें लेने का सुझाव दिया। अभिनवभारती युक्त नाट्यशास्त्रके सात अध्यायोका एक सस्करण यद्यपि १९२६ में ही वडोदा से प्रकाशित हो चुका था, किन्तु सन् १९५४ में जव इसकी हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत करनेका विचार आया उस समय अभिनवभारतीकी एक भी प्रति वाजार में नही मिल सकी। इस लिए सवसे पहली समस्या तो यह उपस्थित हुई कि मूल पुस्तक कहाँ से लाई जाय। अनेक जगह प्रयत्न करने के वाद विदित हुआ कि लखनऊ विश्वविद्यालय के पुस्तकालय मे अभिनवभारती है। पर वहाँसे मिलना वडा कठिन। अन्य सव प्रयत्नोंमें असफल होकर हम उस समयके लखनऊ विश्वविद्यालय के उपकुलपति आचार्य जुगलकिशोरजीकी सेवामें उपस्थित हुए। सौभाग्यसे उन्होने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर अपने नामपर यह पुस्तक अपने पुस्तकालयसे निकलवा कर हमको दे दी। इसलिए इस अभिनवभारतीके इस संस्करणमें दूसरा श्रेय श्री आचार्य जुगलकिशोरजीको मिलना चाहिए।

लखनऊ विश्वविद्यालय वाली पुस्तकके आधारपर कार्य तो आरम्भ कर दिया। किन्तु चिन्ता यह लगी थी कि यह पुस्तक तो सीमित समयके लिए ही है। उसके वाद वापिस कर देनी होगी। इसलिए कार्यके साथ-साथ दूसरी पुस्तककी प्राप्तिकी भी चिन्ता लगी हुई थी। इस वीचमें पता चला कि गुरुकुल कागडीके पुस्तकालय में अभिनवभारतीकी प्रति विद्यमान है। तव हमने गुरुकुल पुस्तकालयके अध्यक्ष श्री प० वागीश्वरजी विद्यालकारसे प्रार्थना की और उन्होने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर अपने यहाँसे पुस्तक भेज देनेकी कृपा की। इस पुस्तकके आ जाने के वाद ही लखनऊ विश्वविद्यालय वाली पुस्तक आचार्य जुगलकिशोरजीको, जो कि अव उपकुलपति न रह कर उतरप्रदेश-शासनमें मन्त्री वन कर आ गए थे, वापिस कर दी। और गुरुकुल कांगडी वाली पुस्तकके सहारे आगेका कार्य चालू रहा। इस वीच में सन् १९५६ में अभिनवभारती युक्त नाट्यशास्त्रके सात अध्यायोका द्वितीय सस्करण भी वडोदासे प्रकाशित हो गया। गुरुकुल कागडीके अधिकारियोंने वहुत समय तक अपनी पुस्तकका उपयोग करनेकी अनुमति प्रदान की इसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। और इस कार्यका तीसरा श्रेय उनको मिलना चाहिए।

पुस्तक मिल जाने के वाद जव उसको देखना शुरू किया तो वह वडी कठिन-सी प्रतीत हुई। कही कुछ थोड़ा-सा समझमें आता और फिर दो चार पक्तियाँ ऐसी आजातीं जिनका कोई अर्थ ही समझमें न आए। ऐसी स्थिति यदि एक आध जगह होती तो कोई वात नही थी। किन्तु

इसमे तो पद-पदपर इस प्रकारकी कठिनाई उपस्थित हो रही थी। एक दो बार नही कई-कई बार पुस्तकको लौटा-पौटा और उन पक्तियोको समझनेका यत्न किया पर कोई फल न निकला। उस समय तक मैंने पुस्तककी भूमिका नही पढी थी। यदि पढ़ ली होती तो मुझे इतना ज्ञान हो जाता कि यदि मुझे यह ग्रन्थ समझमें नही आ रहा है तो कोई बात नही है क्योकि इसके विषयमें तो विद्वानोकी यह धारणा है कि यदि स्वय अभिनवगुप्त भी स्वर्गसे उतर कर आ जावे तो वे भी इसको नही समझ सकते हैं। पर भूमिका लम्बी थी और फिर भूमिकामें तो इधर-उधरकी ऊपरी बातें रहती हैं अर्थ लगानेमें तो उससे कोई सहायता नही मिल सकती है इस दृष्टिसे मैं भूमिकाको छोड कर ग्रन्थको ही पढनेका यत्न कर रहा था। और जहाँ अटक जाता था वहाँ पर पुस्तकके पाठदोपको उसका कारण न मान कर अपनी बुद्धिको ही दोष दे रहा था। जब बहुत प्रयत्न करनेपर भी आनुपूर्वीय सारी पुस्तकका अर्थ समझमें नही आया तो बडी निराशा-सी हुई। डा० नगेन्द्रजीकी प्रेरणासे मैंने इस कामको हाथमे लिया था पर जब यह स्थिति देखी तो मैंने नगेन्द्रजीसे निवेदन कर दिया कि यह तो गाडी चलती नही दीखती है। अनेक स्थलोपर पक्तियोका कोई अर्थ ही नही लगता है। तब इस पर आगे कार्य कैसे किया जाय।

पर वे यो सहज छोडने वाले थोडे ही थे। बोले, यह तो बडा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है हिन्दीके विद्वानोके सामने आना ही चाहिए। यदि आनुपूर्वीय सारा ग्रन्थ नही समझमे आता है तो कोई बात नही। बीच-बीचमें जो अश नही आते हैं उनको छोड दीजिए जितना भाग आ जाता है उसको कर डालिए। उससे अभिनवभारतीका कुछ भाग तो हिन्दीके विद्वानोको सुलभ हो सकेगा। उनके इस आग्रहसे प्रेरित हो कर मैंने पुस्तकको फिर उठाया और अबकी बार पढ़नेके बजाय टाइप करना शुरू कर दिया। उन स्थलोको जो कि स्पष्ट नही थे छोडता चला गया। इस प्रकार प्रथम अध्याय और दूसरे अध्यायका कुछ भाग हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्याके रूपमें तैयार हो गया। दूसरे अध्यायमे जहाँसे रङ्ग-मण्डपकी स्तम्भ व्यवस्थाका विषय आरम्भ होता है वहाँपर आकर गाडी एक दम रुक गई। क्योकि वहाँसे आगेका सारा ही भाग ऐसा था जिसकी एक भी पक्ति नही लगती थी। इस लिए फिर बडी ग्लानि मालूम पडी। कहाँ तो वे विद्वान जिन्होंने इस ग्रन्थकी एक एक पक्ति सोच समझ कर साभिप्राय लिखी होगी और कहाँ हम कि उनकी किसी भी पक्तिका अर्थ समझमे नही आ रहा है। इस आत्मग्लानिसे खिन्न होकर आगेका कार्य बिल्कुल बन्द ही कर दिया और महीनो बन्द पडा रहा।

आशाका अरुणोदय—

काम महीनो बन्द पडा रहा तो क्या, डा० नगेन्द्र जी के तकाजे और आग्रह तो बन्द नही हुए। समय-समयपर उनके तकाजे तो आ ही जाते थे। कभी-कभी रेलका इजन गाडीको आगे न खीच कर पीछेकी ओर धक्का देता है, और फिर आगेको खीच ले जाता है। डा० नगेन्द्र जीके पत्रो और तकाजोसे कार्य आगे तो नही बढा पर पीछेकी ओर कुछ गति हुई। आगेकी ओरकी गतिसे निराश होकर एक बार फिर पीछेकी ओर प्रारम्भसे ग्रन्थको देखना शुरू किया। विशेषरूपसे इस दृष्टिसे कि जो स्थल पहली बारमें छोड दिए थे उनका कोई समाधान निकल सकता है या नही। सबसे पहले प्रथम कारिकाका 'सस्कारस्य पूर्वं बुद्धौ निपतनात्' वाला प्रकरण

हमारे सामने आया। यह पंक्ति लग ही नही रही थी। एक दिन प्रातःकाल दन्तधावन करते हुए अपने आप ध्यानमें आया कि यहाँ पर 'पितामह' शब्द लुप्त हो रहा है। यदि उसको जोड दिया जाय तो 'पितामहसंस्कारस्य पूर्वं वृद्धौ निपतनात्' इस पंक्ति का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। आगे पृष्ठ १७-२० तक हमने इस पाठकी विस्तृत समीक्षा की है। उसे पढनेसे इसका ठीक मूल्याङ्कन हो सकेगा। यो यह एक बडी छोटी-सी बात थी पर छोटी ही बातोसे तो बडे-बडे महान् सिद्धान्तोका सूत्रपात होता है। इस छोटी-सी बातमें वस्तुतः सारी कठिनाइयो की एक कुजी मिल गई। हम अब तक यह समझ रहे थे कि यह ग्रंथ अभिनवगुप्त सरीखे महान् विद्वान्का लिखा हुआ ग्रंथरत्न है। उसके किसी स्थलको यदि हम नही समझ पा रहे हैं तो यह हमारी बुद्धिका दोष है। ग्रंथका कोई दोष नही है। 'नैष स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति' यह हमारी धारणा थी। इस छोटी घटनाने हमारी इस धारणाको धक्का लगाया। उससे वह धारणा एकदम ध्वस्त तो नहीं हुई पर हिल गई। मनमे ऐसा विश्वास हो गया कि अभिनवभारतीका प्रस्तुत पाठ विश्वसनीय नही है। उसमें भूल हो सकती है। और जगह-जगहपर जो पंक्तियाँ नही लग रही हैं उनका कारण सम्भव है इसी प्रकार पाठदोष हो। इस भावनाने आगे विचारका दृष्टिकोण बदल दिया।

इसके बाद हमारा ध्यान 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' इत्यादि सत्रहवी कारिकाके अभिनवभारतीके पाठपर केन्द्रित हुआ। इस पाठकी चर्चा हमने आगे पृष्ठ ९६ तथा पृष्ठ ९८-१०२ तक विस्तारपूर्वक की है। 'पितामहसंस्कारस्य' वाला पूर्वोक्त पाठ तो छोटा-सा पाठ था उसकी समस्या केवल एक 'पितामह' शब्दकी स्फूर्ति हो जाने मात्रसे सुलझ गई। किन्तु यह तो बडा लम्बा और बडा कठिन पाठ था। यो सरलतासे यह समस्या हल होने वाली नही थी। पता नही कितने दिन मस्तिष्क इसमें उलझा रहा। पर प्रतिदिन प्रातःकाल एक गुरुवत् प्रेरकतत्त्व नियमपूर्वक सामने आता और बडी शान्तिसे समझा जाता कि घबडाना नही, निराश मत होना। जल्दी या देरसे यह समस्या तो हल होगी ही। यह गुरुवत् प्रेरणा देने वाला तत्त्व कौन था, कोई विद्वान नही, कोई पंडित नही, कोई आदमी नही एक जड अचेतन छोटी सी लकडी थी। उस छोटीसी लकडीका नाम है 'दन्तधावन'। वह लकडी सचमुच जादूकी लकडी थी जो तनिक-सी देरमें सारे नैराश्यको दूर कर सारी कठिनाइयोको चकनाचूर कर हृदयके भीतर भरपूर उत्साह भर देती थी। सवेरे जब दन्तधावन करने बैठता तो शुरू-शुरूमें तो उसकी लकडी दाँतोंके लिए लोहेके चने-जैसी कठोर जान पडती। पर दस-पाँच बार चबानेके बाद ही वह कठोर लकडी एक मुलायम कूँची बन जाती। यह प्रक्रिया तो नियमित रूपसे प्रतिदिन सवेरे होती ही थी। इसलिए सवेरेके समय जब पहली बार दातौनको मुँहमें देता और वह दाँतोंके लिए पत्थर-सी मालूम पडती तभी अभिनवभारतीकी विचाराधीन पंक्ति सामने आ जाती। और फिर जब दस-पाँच बार चबानेके बाद दातौनकी लकडी रुईकी तरह मुलायम कूँची बन जाती तब हृदय एकदम उत्साहसे भर जाता कि इस पंक्तिकी कठिनाई भी अधिक देर तक टिकने वाली नही है। थोडा और विचार करनेपर जब इस पंक्तिकी गुत्थी सुलझ जायगी तब वह एक सामान्य सरल-सी पंक्ति बन जायगी।

सत्रहवी कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ उस समय दुर्भेद्य दीवारकी तरह सामने खडा हुआ था। यो ही वह एक बडा लम्बा और असङ्गत पाठ था। फिर वह छपा भी इस प्रकार था कि अनुच्छेदोकी बात तो दूर रही उसमें कहीं समुचित विरामोका भी प्रयोग नही किया गया था। इस

लिए पाठार्थ किसी प्रकार लग ही नही रहा था। बहुत समयके लगातार मनन और चिन्तनके बाद यजुर्वेद और अथर्ववेदके साथ छपी हुई पक्तियोपर ध्यान केन्द्रित हुआ और ऐसा अनुभव हुआ कि ये पक्तियाँ कुछ अस्तव्यस्त-सी हो रही हैं। ठीक क्रमसे छपी हुई नही जान पडती है। तब उस सारे पाठको हमने अलग-अलग कई खण्डोमें बाँट कर अलग लिखा। जितना भाग एक जगह सङ्गत होता था वह एक खण्डमें आ गया। शेष जिस भागकी उस स्थानपर सङ्गति नही लगती थी उसका अलग खण्ड बन गया। इस प्रकार उस लम्बे अस्तव्यस्त पाठमेंसे जो-जो भाग एक साथ सम्बद्ध हो जाते थे वे तो स्पष्ट रूपसे अलग हो गए। और जो भाग अस्थानमें मुद्रित होनेके कारण न तो स्वय लगते थे और न दूसरे वाक्योकी सङ्गति लगने देते थे वे अलग छँट गए। इस प्रकार इस पाठके विविध भागोमें फूट पड गई, भेद उत्पन्न हो गया। और भेदनीति तो राजनीतिका बडा प्रमुख अस्त्र है। भेदका बीज बोकर बलवान्से बलवान् शत्रुपर सरलतासे विजय प्राप्त की जा सकती है। यही गति इस पाठकी हुई। जब तक वह सब एक साथ मिला-जुला सामने खडा था तब तक वह एक दुर्भेद्य दीवारकी तरह था। किन्तु जब उसमें भेद उत्पन्न हो गया तो फिर दरार पडी हुई दीवार, उसको तोडनेपर ही तुले हुए प्रहारोके सामने कब तक ठहर सकती है? तर्कके प्रहारसे अस्तव्यस्त पाठकी वह दुर्भेद्य दीवार क्षण भरमे विध्वस्त हो गई। और यह बात बिल्कुल हस्तामलकवत् स्पष्ट हो गई कि इस पाठके अमुक अमुक खण्डोको एक साथ जोड देनेसे और अमुक क्रमसे रख देनेसे इस स्थलका सुसङ्गत पाठ तैयार हो जाता है। कोई वैज्ञानिक अनुसन्धानकर्ता अपना सर्वस्व भेंट चढा चुकने और निराशाकी चरम सीमापर पहुँच चुकनेके बाद जब अकस्मात् अपने परीक्षणमें सफलता प्राप्त करता है उस समय उसके हृदयमें जो आनन्दकी उत्ताल तरगें उठती हैं कुछ उसी प्रकारका अद्भुत आनन्द इस विकट समस्याके इस प्रकार हल होनेपर हमको भी अनुभव हुआ। और 'क्लेश फलेन हि पुनर्नवता विधत्ते' के अनुसार एक नवीन उत्साह और स्फूर्ति प्राप्त हुई।

इन दो स्थलोके पाठानुसन्धानमें प्राप्त सफलताने हमें कई बातोमें पथ-प्रदर्शन कराया। पहली बात जो इस अनुभवमे हमको प्राप्त हुई वह थी मुद्रित पाठकी अप्रामाणिकता और अविश्वसनीयता। दूसरी बात यह मिली कि मुद्रित पाठमें कई प्रकारके दोष हैं। पहली कारिकामें पाठलोप या न्यूनपाठका दोष था। इसी प्रकार कही अधिकपाठ या पाठप्रक्षेपका भी दोष हो सकता है। सत्रहवी कारिका वाले इस स्थलमें अस्तव्यस्त पाठका दोष था। इसी प्रकार कही अशुद्ध पाठ या परिवर्तित पाठके दोष भी हो सकते हैं। तीसरी और सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात जो मिली वह थी 'विवेकाश्रित-सम्पादन-पद्धति'। इन स्थलोके विवेचनसे हमको यह विश्वास हो गया कि अभिनवभारतीके पाठ-दोषोका निवारण केवल विवेकाश्रित सम्पादन-पद्धतिके द्वारा ही हो सकता है। इसके सशोधनका और कोई दूसरा मार्ग नही है। इन तीनो मूलसूत्रोको आधार मान कर हमने अपना कार्य प्रारम्भ किया। और वे सब बाधाएँ जो पहली बारके लेखनके समय उपस्थित हुई थी स्वय हटती चली गई। द्वितीय अध्यायमे स्तम्भ-व्यवस्थासे आगेका जो स्थल अलघ्य पर्वतके समान बाधा बन कर खडा हुआ था वह भी इस बार स्थिर नही रह सका। यद्यपि वहाँ आकर बडा घोर परिश्रम करना पडा किन्तु मार्ग निकला ही और हम अन्त तक पहुँच गए। यह जो मार्ग इस समय तैयार किया गया है वह दिल्लीका राजपथ-सा प्रशस्त पथ शायद अभी न बना हो किन्तु उस ऊबड-खाबड और झाड़-झखाड़ वाले बीहड वनके विकट सकटोको हटा कर अभिनवगुप्तके

हृदय मन्दिर तक पहुँच सकनेका घण्टापथ अवश्य ही बन गया है। विद्वानोंकी जो यह धारणा थी कि यदि एक बार अभिनवगुप्त भी स्वय स्वर्गसे उतर कर आ जाय तो वे भी वर्तमान अभिनवभारतीके पाठ और अर्थको नहीं समझ सकते हैं इन अध्यायोंके विषयमें अब न वह रहेगी। हमने अभिनवगुप्तके ठीक शब्दोंको भले ही न पकड पाया हो किन्तु उनके हृद्गत भावको अवश्य ही पकड लिया है। अब अभिनवगुप्तको स्वर्गसे आनेकी आवश्यकता नहीं है। उनके आए विना भी अभिनवभारतीका पाठ और भाव समझा जा सकता है। शुद्ध और निर्दुष्ट पाठके उपलब्ध होने पर भी ग्रन्थकारके हृदयके भीतरके भावको निकाल सकना जरा टेडी खीर है। फिर अभिनवभारती जैसे भ्रष्ट पाठ वाले ग्रन्थमें ग्रन्थकारके हृद्गत अभिप्राय तक पहुँचना और उसको बाहर निकाल कर सर्व-सुलभ बना देना कितना श्रम-साध्य कार्य है इस बातका अनुभव तो विद्वान् ही कर सकते हैं 'विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्'। इसमें तो पाण्डुलिपिका जो भाग कीडोके पेटमें चला गया था उसको भी वहाँसे निकाल कर लानेका यत्न किया गया है। प्राचीन कालकी सजीवनी विद्यामें यह सामर्थ्य बतलाई गई थी। इसीलिए इसका नाम हमने 'अभिनवभारती-सजीवन-भाष्य' रखा है। यह अभिनवभारतीका अनुवाद नही है। अनुवाद उसका केवल एक छोटा सा नगण्य भाग है। उसे हम उसका कलेवरमात्र कह सकते हैं। पाठानुसन्धान उसका आत्मा और पाठसमीक्षा उसका प्राण है। देहमें आत्मा और प्राणका अस्तित्व ही उसको उपादेय बनाता है। इस ग्रन्थका गौरव और महत्त्व उसके पाठानुसन्धान तथा पाठसमीक्षामें ही अन्तर्निहित है।

श्री डा० नगेन्द्र जीने इस ग्रन्थके लिखवानेकेलिए जितना आग्रह और प्रयत्न किया वैसा ही प्रयत्न उन्होंने इस ग्रन्थको इतने सुन्दर रूपमें प्रकाशित करानेका किया। इसके लिखनेका आरम्भ होनेके पूर्व ही उन्होने उसके प्रकाशन की व्यवस्था कर ली थी पर इस बीचमें अन्य बडे-बडे कई प्रकाशकोंसे इसके विषय में बातचीत की। वे सभी इस ग्रन्थको प्रकाशित करनेके लिए उत्सुक थे। पुस्तकका मुद्रण आरम्भ हो जानेके बाद भी बहुत दिनो तक उनका तकाजा बना ही रहा पर डा० नगेन्द्रजी अपने दूसरे प्रयत्नमें भी लगे हुए थे। उन्होंने अपने दिल्ली विश्वविद्यालयकी ओर से प्रकाशनकी एक योजना बना कर 'विश्वाविद्यालय अनुदान आयोग' को भेजी हुई थी। सौभाग्यसे 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' ने उस योजनापर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। इसलिए अन्तिम रूपसे दिल्ली विश्वविद्यालयकी ओरसे ही इसके प्रकाशन का निश्चय किया गया। उस प्रकाशन-योजनाके अन्तर्गत ही आज यह ग्रन्थ दिल्ली विश्वविद्यालयके हिन्दी विभागकी ओरसे इस सुन्दर रूपमें प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकार इस ग्रन्थके लिखानेसे लेकर इस सुन्दर रूपमें प्रकाशन तकका सारा श्रेय डा० नगेन्द्रजीको ही मिलना चाहिए। अभिनवभारतीका वह सारा महाभारत-सग्राम उन्होंने ही जीता है। हम तो उसमें केवल निमित्तमात्र बन गए हैं। 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'। और उस निमित्तमात्रमें भी कार्यकी कठिनाइयोंसे खिन्न होकर मनमें जब-जब 'क्लैब्य' का उदय हुआ तब-तब 'क्लैब्यं मा स्म गम. पार्थ नैतत् त्वयि उपपद्यते' का प्रेरणात्मक उद्बोधन भी वही से आता रहा है। इस लिए इसकी पूर्णताका सारा श्रेय उनको ही मिलना चाहिए। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

वर्षोंके परिश्रम और प्रयत्नके बाद तैयार हुआ यह ग्रन्थ आज विद्वज्जनोंके हाथमें जा रहा है यह बडी प्रसन्नताकी बात है। अब इसका 'नीर-क्षीर विवेक' तो उन्हींके द्वारा होना है।

यदि उनको इससे सन्तोष हुआ और यह ग्रन्थ विद्वज्जनोका समुचित प्रेम और आदर प्राप्त क
सका तो हम अपने परिश्रमको सफल समझेंगे। अन्यथा—

"आपरितोषाद् विदुषा न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥"

विदुषा वशंवद —

नववर्ष, चैत्र शु० १ स० २०१७
सोम, २८ मार्च १९६०

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि
गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन।

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचिता

अभिनवभारती

[नाटचशास्त्र-विवृतिः]

प्रथमोऽध्यायः

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचित
अभिनवभारती-सञ्जीवन-भाष्यम्

उदीरय कवितम कवीनामुनर्त्तनमभि मध्वा घृतेन ।
स नो वसूनि प्रयता हितानि चन्द्राणि देव सविता सुवाति ।।

ऋग्वेद ५–४२–२ ।

जगन्नाट्यमिद येन ततं नित्य प्रवर्तते ।
नाट्यवेदादिमूलाय तस्मै विश्वात्मने नमः ।।
भरतमुनिकृत यन्नाटयशास्त्र प्रसिद्धं
विवृतिरभिनवाख्या भारती या च तस्य ।
द्वयमिदमिह मूल सर्वसाहित्यशास्त्रे
इति कृतमतिरेने भाषया सन्तनोमि ।।

नामकरण—

'अभिनवभारती' भरतमुनि-प्रणीत 'नाटयशास्त्र' पर सबसे अधिक महत्वपूर्ण एव प्रसिद्ध प्राचीन टीका-ग्रन्थ है । यद्यपि इस ग्रन्थमें स्वय ग्रन्थकारने अनेक प्राचीन टीकाकारोंके द्वारा लिखी गई टीकाओंका उल्लेख और उनके मतोंकी आलोचना आदि की है, परन्तु आज उनमेंसे कोई भी टीका उपलब्ध नहीं होरही है । भरतमुनिके नाटयशास्त्रका मर्म समझनेके लिए केवल यही एकमात्र साधन उपलब्ध है । इस अनुपम टीकाग्रन्थकी रचनाके बाद प्राचीन सभी टीकाएं इसके सामने निष्प्रभ होकर मानो विलीन होगई है । परन्तु भरतसूत्रोंकी अनुपम अभिनव व्याख्या प्रस्तुत करनेके लिए यह अकेली ही पर्याप्त है । इसकी इसी अपूर्व विशेषता को इसके 'अभिनवभारती' नामसे व्यक्त किया गया है । इसके साथ ही ग्रन्थकारने इस नामकरणमें अपने तथा भरतमुनि दोनोंके नामांशोंका समावेश करके उसमें एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है । इस प्रकार अपनी दुहरी उपयोगिताके कारण ग्रन्थका यह नामकरण बहुत ही सुन्दर एव सार्थक बन पडा है । वह जहां एक ओर इस ग्रन्थ और उसमें प्रस्तुत व्याख्या-दोनोंकी अपूर्वताको व्यक्त करता है वहां दूसरी ओर मूलग्रन्थकार भरतमुनि तथा उनके टीकाकार अभिनवगुप्त दोनोंका एक साथ स्मरण कराते हुए उनके सम्बन्धको भी सूचित करता है । यह इस 'अभिनवभारती' नामकी एक बडी महत्त्व-पूर्ण विशेषता है ।

यस्तन्मयान् हृदयसंवदनक्रमेण
द्राक् चित्रशक्तिगणभूमिविभागभागी ।
हर्षोल्लसत्परविकारजुषः करोति
वन्देतमां तमहमिन्दुकलावतंसम् ॥१॥

ग्रन्थारम्भका मङ्गलाचरण—

प्रत्येक शुभ कार्यके प्रारम्भमें भगवान्‌का स्मरण करना आस्तिक-जनोका एक स्वाभाविक कार्य है । ग्रन्थकार जब अपने ग्रन्थनिर्माण रूप शुभ-कार्यको प्रारम्भ करता है तो अपने ग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्तिकी कामनासे भगवान्‌का स्मरण करता है और शिष्योके शिक्षणकेलिए उसको अपने ग्रन्थके आरम्भमें अङ्कित भी कर देता है । इस प्रकारकी स्वस्थ परम्परा आस्तिक ग्रन्थकारो मे पाई जाती है । इसीको मङ्गलाचरण कहते हैं । इसी परम्पराके अनुसार श्री अभिनवगुप्त भी अपने इस ग्रन्थके आरम्भमें मङ्गलाचरणके रूपमें अपने अराध्यदेव शिवका स्मरण करते हुए उनकी वन्दनामें प्रथम श्लोक इस प्रकार लिखते हैं—

अभिनव०—नाना प्रकारकी अद्भुत शक्तियोको [भूमिविभाग अर्थात्] मर्यादाके अनुसार धारण करने वाले जो [शिव, अपनी आराधनामे] तन्मय हुए भक्तोको उनके हृदयकी तल्लीनताके अनुसार तत्क्षण ही आनन्दातिरेकसे समुद्भूत] रोमाञ्च आदि रूप) विकारोसे परिपूर्ण कर देते हैं उन चन्द्रकला-धारी शिवको मै अत्यन्त भक्तिभाव से नमस्कार करता हू।१।

इस श्लोकमें शिवको 'चित्रशक्तिगणभूमिविभागभागी' अर्थात् नाना प्रकारकी शक्तियोसे युक्त कहा है । परमेश्वरके अनन्तशक्तियोसे युक्त होनेपर भी 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' में उनकी पाच शक्तियां विशेष महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं । इनको वहा १ चित्-शक्ति, २ आनन्दशक्ति, ३ इच्छाशक्ति, ४ ज्ञानशक्ति और ५ क्रियाशक्ति नामसे कहा गया है । चित् शक्ति प्रकाशरूपा है । उसीके कारण परमेश्वर शिव स्वयम्प्रकाश रूप माने जाते हैं । वह शक्ति जिसके द्वारा कि वे वाह्य वस्तुओकी अपेक्षा किए विना स्वतन्त्र-रूपसे आनन्दका अनुभव करते हे 'आनन्दशक्ति' कहलाती है। 'तन्त्रसार' मे आनन्द-शक्तिका स्वरूप यह वतलाया है कि 'आनन्द स्वातन्त्र्यम् । स्वात्मविश्रान्तिस्वभावाह्लाद प्राधान्यात्' । 'अप्रतिहत इच्छासम्पन्नता इच्छाशक्ति' कहलाती है । 'ज्ञानशक्ति' 'आमर्ष-रूपा' मानी गई हैं । 'आमर्ष ईपत्तया वेद्योन्मुखता' अर्थात् वेद्य पदार्थोंका साधारण ज्ञान होना 'आमर्ष' कहलाता है । और 'सर्वाकारयोनित्व क्रियाशक्ति' अर्थात् समस्त आकार धारण करनेकी क्षमता 'क्रियाशक्ति' है । इन्ही शक्तियोके द्वारा शिव अन्य उपादान आदिके विना ही इस सृष्टिकी रचना करते हैं । इसी वातको 'आचार्य-वसुगुप्त' ने इस प्रकार लिखा है—

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्र नमस्तस्मै कलाश्लाध्याय शूलिने ॥

परिचय—

इस ग्रन्थके निर्माता श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य भारतीय साहित्यशास्त्रके आधार-स्तम्भ एव प्रसिद्ध आचार्य हैं । न केवल साहित्यशास्त्रके क्षेत्रमें ही अपितु दर्शनशास्त्रके क्षेत्रमें भी उनका बडा महत्त्व-पूर्ण स्थान है । वे काश्मीरके निवासी और शैवमतके अनुयायी थे । काश्मीर-देश प्राचीन-

कालसे ही भारतका एक महत्त्वपूर्ण भाग रहा है। वह जहाँ एक ओर अपने अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्यकेलिए विश्वमें विख्यात है वहाँ दूसरी ओर अपने बौद्धिक सौन्दर्यकेलिए भी उतना ही विख्यात रहा है। संस्कृतसाहित्य और दर्शनके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना काश्मीरकी पुण्यभूमिमें हुई है। कैयट, जैयट जैसे महान् वैयाकरण, आनन्दवर्धन, मम्मट, लोल्लट जैसे विख्यात साहित्यशास्त्री, उत्पलपाद और अभिनवगुप्त जैसे दार्शनिकोंकी जन्मभूमि काश्मीर दीर्घकाल तक भारतीय विद्याका प्रधान केन्द्र और विद्वानोंके आकर्षणका क्षेत्र रहा है।

प्रकृत 'अभिनवभारती' ग्रन्थके निर्माता श्री अभिनवगुप्तने इसी पुण्यभूमिमें जन्म लिया था। काश्मीरका अपना विशेष दर्शनशास्त्र है जो 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' या 'त्रिक-दर्शन' के नामसे विख्यात है। यह दर्शन शैवमतका अनुयायी है। 'त्रिक-दर्शन' के मूल प्रवर्तक 'आचार्य वसुगुप्त' [८०० विक्रमीके आस पास] हैं। अभिनवगुप्तके शिष्य क्षेमराज [९७५-१०२५] ने 'शिवसूत्रविमर्शिणी' नामक अपने ग्रन्थके आरम्भमें लिखा है कि स्वयं भगवान् श्रीकण्ठने आचार्य वसुगुप्तको स्वप्नमें महादेवगिरिके शिवोपल नामक एक विशाल शिला-खण्डपर लिखे गए 'शिवसूत्रों' का उद्धार तथा प्रचार करनेका आदेश दिया था। वसुगुप्तको स्वप्नमें निर्दिष्ट शिवोपलपर खुदे हुए ७७ सूत्र मिले थे। ये ही ७७ सूत्र इस त्रिक-दर्शनके मूल आधार हैं। वसुगुप्तने इन शिवसूत्रोंकी व्याख्यामें ही ५२ कारिकाओं वाले अपने 'स्पन्द-कारिका' नामक ग्रन्थकी रचना की है। वसुगुप्तके दो शिष्य थे १ कल्लट और २ सोमानन्द। कल्लटकी सबसे प्रमुख रचना 'स्पन्द-सर्वस्व' है जो वसुगुप्तकी 'स्पन्द-कारिका' की व्याख्या रूपमें लिखी गई है। सोमानन्दने 'शिवदृष्टि' तथा 'परात्रिंशिका-विवृति' नामके दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंकी रचना की है। सोमानन्दके प्रमुख शिष्य श्री उत्पलपादाचार्य [९०० वि०] हैं। वे 'त्रिक-दर्शन' के संस्थापक आचार्य वसुगुप्त के प्रशिष्य और हमारे चरित्र-नायक अभिनवगुप्तके परम गुरु हैं। इनका 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस दर्शनका सबसे मुख्य ग्रन्थ है। इसीके आधारपर इस दर्शनका नाम 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' पड़ा है। इस ग्रन्थमें अन्य मतोंका विस्तार-पूर्वक खण्डन करके अद्वैतवादकी स्थापना बड़ी विद्वत्ताके साथ की गई है। उत्पलपादाचार्यके शिष्य लक्ष्मणगुप्त और उनके शिष्य अर्थात् उत्पलपादाचार्यके प्रशिष्य अभिनवगुप्त [९५०-१००० वि०] हैं। १ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी, २ तन्त्रालोक, ३ तन्त्रसार, ४ मालिनीविजयवार्तिक, ५ परमार्थसार ६ परात्रिंशिकाविवृति आदि इनके त्रिक-दर्शन विषयक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थोंने त्रिक-दर्शनके इतिहासमें अभिनवगुप्तके नामको अमर बना दिया है। त्रिक-दर्शनके समान ही साहित्यशास्त्रके क्षेत्रमें भी आचार्य अभिनवगुप्तका नाम अमर हो गया है। ध्वन्यालोकके ऊपर 'लोचन' तथा भरत-नाट्यशास्त्रके ऊपर 'अभिनव-भारती' इन दोनों टीकाग्रन्थोंकी रचना कर उन्होंने साहित्यशास्त्रकी जो सेवा की है वह 'यावच्चन्द्र दिवाकरौ' अमर रहेगी और उनके नामको सदा अमर बनाए रखेगी।

यहाँ उनका इतना परिचय देने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि इस अभिनव-भारती ग्रन्थका प्रारम्भ शैवमत और प्रत्यभिज्ञा-दर्शनके सिद्धान्तोंसे ही होता है। इसलिए इस पृष्ठभूमिके परिज्ञानके बिना उसके प्रारम्भिक श्लोकोंके भावको हृदयङ्गम करना सम्भव या सुकर नहीं होगा। अत उसको ठीक तरहसे हृदयङ्गम करनेकेलिए इस बातका परिज्ञान आवश्यक समझ कर ही यहाँ उसका निर्देश किया गया है।

'षट्त्रिंशकात्मक-जगद्गगनावभास—
संविन्मरीचिचयचुम्बित[2]बिम्बशोभम् ।
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्
वन्दे शिवं श्रुति-तदर्थविवेकि[3]धाम ॥२॥

व्याख्या ग्रन्थोका महत्त्व—

यो तो मौलिक ग्रन्थकारोका महत्त्व अधिक समझा जाता है । परन्तु सस्कृत साहित्यके बहुसख्यक विद्वानोने मौलिक ग्रन्थकार बननेकी अपेक्षा व्याख्याकार बननेको ही अधिक महत्त्व दिया है । वस्तुत देखा जाय तो अधिकाश सस्कृत साहित्य टीकात्मक या व्याख्या रूप ही है । शङ्कराचार्यका वेदान्तभाष्य, वात्स्यायनका न्यायभाष्य और उद्योतकराचार्यका न्यायवार्तिक सब व्याख्याग्रन्थ ही हैं । प्रसिद्ध काव्य-टीकाकार मल्लिनाथ टीकाकारके रूप में ही हमारे सामने आते हैं । श्री वाचस्पतिमिश्र षड्दर्शन-टीकाकारके रूपमें ही इस क्षेत्रमे अवतीर्ण हुए हैं । इसी प्रकार श्री अभिनवगुप्त भी प्रधान रूपसे एक टीकाकारकी भूमिकामें ही हमारे सामने आते हैं । उनका सुप्रसिद्ध 'लोचन' आनन्दवर्धनके 'ध्वन्यालोक' की टीका है । 'मालिनी-विजय-वार्तिक' 'मालिनीतन्त्र'की टीका है । ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिणी' उत्पलपादाचार्यके 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र' की व्याख्यामात्र है । और यह 'अभिनवभारती' भी 'भरतनाट्यशास्त्र' की टीका ही है । परन्तु इन सब टीका ग्रन्थोका महत्त्व किसी मौलिक ग्रन्थसे कम नही है । इन टीकाग्रन्थोने ही उनके निर्माताओंका नाम अमर कर दिया है और मूलग्रन्थकारोके गौरवमें चार-चाद लगा दिए हैं ।

नाट्यशास्त्र और प्रत्यभिज्ञादर्शन—

प्रथम मङ्गल-श्लोकमें ग्रन्थकारने सामान्य रूपसे अनन्तशक्तिमय, एव भक्तोको आनन्दमय बनाने वाले अपने आराध्यदेव शिवका स्मरण किया है । उन्हीकी वन्दनामे वे मङ्गलाचरणका अगला दूसरा श्लोक भी लिख रहे हैं । परन्तु इसमे वे शिवकी वन्दनाके साथ-साथ अपने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन और भरतनाट्यशास्त्रके साम्यकी एक झलक भी दिखला देना चाहते हैं । इस दृष्टिसे मङ्गलाचरणका यह दूसरा श्लोक विशेष महत्त्व-पूर्ण है ।

भरत-नाट्यशास्त्रके अध्यायोकी सख्याके विषयमें कुछ मतभेद पाया जाता है । बम्बईमे प्रकाशित सस्करणमें ३७ अध्याय पाए जाते हैं । और बनारससे प्रकाशित सस्करणमें ३६ अध्याय पाए जाते हैं । अभिनवगुप्तने इसमें ३६ अध्याय ही माने हैं । इसी ३६ सख्याके आधार पर उन्होने प्रत्यभिज्ञादर्शन तथा भरतनाट्यशास्त्रकी समानताका निर्देश अपने इस द्वितीय मङ्गल-श्लोकमें किया है । उनके दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार इस जगत्में छत्तीस तत्त्व हैं । और भरत नाट्यशास्त्रमें ३६ अध्याय हैं । इसलिए छत्तीस अध्यायवाले इस नाट्यशास्त्रकी व्याख्या प्रारम्भ करते समय वे 'षट्त्रिंशकात्मक जगद्गगन' को प्रकाशित करनेवाले शिवकी वन्दना करते हैं—

अभिनव०—छत्तीस अध्यायवाले इस भरत-सूत्रकी व्याख्या प्रारम्भ करते हुए मै, छत्तीस तत्त्वोसे युक्त जगदाकाशको प्रकाशित करने वाली ज्ञान-ज्योतिकी रश्मियोसे सुशोभित वेद तथा उसके अर्थ-ज्ञानके आश्रय, तेज स्वरूप शिवको नमस्कार करता हूँ ॥२॥

१ षड्विंश । २ म चुम्बि । ३ म विवेक ।

प्रत्यभिज्ञादर्शनके छत्तीस तत्त्व—

पट्त्रिंशकात्मक जगत्के जिन ३६ तत्त्वोंकी ओर यहाँ ग्रन्थकारने संकेत किया है वे यद्यपि मुख्य रूपसे प्रत्यभिज्ञा-दर्शनमें प्रतिपादित तत्त्व ही हैं। और उसी दृष्टिसे ग्रन्थकारने यहाँ उनका संकेत किया है। परन्तु उनमेंसे अधिकांश अर्थात् २६ तत्त्वोंका वर्णन अन्य शास्त्रोंमें भी पाया जाता है। इनमें सांख्यके पच्चीस तत्त्वोंका ज्योंका त्यों समावेश होगया है। वे २५ तत्त्व जो सांख्य तथा प्रत्यभिज्ञा-दर्शन दोनोंमें माने गए हैं निम्न प्रकार हैं—

१ प्रकृति, २ महत् तत्त्व, ३ अहङ्कार, ४-८ पञ्च तन्मात्राएं, ९-१९ मन सहित ग्यारह इन्द्रियां, २०-२४ पञ्च स्थूल भूत, २५ पुरुष।

इन सांख्योक्त २५ तत्त्वोंके अतिरिक्त एक 'माया' तत्त्व अद्वैत वेदान्तसे लिया गया प्रतीत होता है। शेष दश तत्त्व प्रत्यभिज्ञा-दर्शनके अपने विशेष तत्त्व हैं। उनके नाम निम्न प्रकार हैं—

१ शिव, २ शक्ति, ३ सदाशिव, ४ ईश्वर, ५ अविद्या
६ कला, ७ विद्या, ८ राग, ९ काल, १० नियति।

इन दस तत्त्वोंके साथ सांख्योक्त पच्चीस तत्त्वों तथा मायाको मिलाकर प्रत्यभिज्ञा-दर्शनमें कुल छत्तीस तत्त्व माने गए हैं। इन सबमें मुख्य सबको प्रकाशित करने वाले शिव हैं। इसलिए ३६ अध्याय वाले नाट्यशास्त्रकी व्याख्याके आरम्भमें ३६ तत्त्वोंसे युक्त जगत्को प्रकाशित करने वाले शिवकी जो वन्दना की है उससे इस रचनामें विशेष सौन्दर्य आ गया है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शनके मान्य छत्तीस तत्त्व तो ये ही हैं किन्तु वहाँ उनका विभाजन कुछ भिन्न प्रकारसे किया गया है। सबसे पहिले उन्होंने १ शिवतत्त्व, २ विद्यातत्त्व और ३ आत्मतत्त्व ये तीन मौलिक तत्त्व माने हैं। इनमे से शिवतत्त्वके भीतर शिवतत्त्व तथा शक्तितत्त्व इन दो तत्त्वोंका समावेश होता है। शिवके भीतर जब 'सिसृक्षा' सृष्टिको उत्पन्न करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है तो उनके दो रूप हो जाते हैं। एक शिवतत्त्व और दूसरा शक्तितत्त्व। यह शक्तितत्त्व सृष्टिकी रचनाके कालमें विश्वाकार, सृष्टिकी स्थितिके समय विश्वप्रकाश-रूप और संहारकालमें विश्व-संहरण-रूप होता है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शनमें इस शक्तितत्त्वका बड़ा महत्त्व माना गया है। जिस प्रकार राजा निर्मल दर्पणमें अपने प्रतिविम्बको देखकर ही अपने विशुद्ध सौन्दर्यको जान पाता है इसी प्रकार शिव भी अपनी इस स्वाधीन स्वात्मभूता शक्तिके द्वारा ही अपने परिपूर्ण अहन्ता और प्रकाशमय स्वरूपको जानते हैं। उसके विना नहीं। मधुमें मिठास है किन्तु वह अपने मिठासको स्वयं नहीं जानता है। मद्यमें मादकता है किन्तु वह स्वयं अपने उस गुणसे अनभिज्ञ ही रहता है। इसी प्रकार विना शक्तिके शिवको भी अपने प्रकाशमय स्वरूपका ज्ञान नहीं होता है। 'विना शक्ति शिव शव' शक्तिके विना चेतन-स्वरूप शिव भी शवके समान निर्जीव अचेतन-सदृश माने गए हैं।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शनका दूसरा मौलिक तत्त्व 'विद्यातत्त्व' है। इस विद्यातत्त्वके भीतर १ सदाशिव, २ ईश्वर और ३ शुद्धविद्या इन तीन तत्त्वोंका समावेश माना है। शिव-शक्तितत्त्वके आन्तर निमेषका नाम 'सदाशिव' और बाह्य उन्मेषका नाम 'ईश्वर' है। सदाशिव तत्त्वमें 'अहम्' अंशकी प्रधानता रहती है। 'अहम्' [चेतन] अंश [अचेतन जगत् रूप] 'इदम्' अंशको आच्छादित-अभिभूत-किए रहता है। इसलिए उस दशामें जगत्की प्रतीति व्यक्त रूपसे नहीं होती है। अव्यक्त-रूपसे ही उसकी स्थिति रहती है।

विकासोन्मुख ज्ञानकी तीसरी अवस्था ईश्वर है। यह ईश्वरतत्त्व सदाशिवका वाह्य रूप है। इसमें 'इदम्' अशकी प्रधानता हो जाती है। इसमें 'अहम्' अश स्पष्ट रूपसे 'इदम्' अशका अनुभव करता है। किन्तु वह अनुभव आत्मासे अभिन्न रूपमें ही होता है।

इस वर्गके अन्तर्गत तीसरा तत्त्व 'शुद्ध-विद्या' या 'सद्विद्यातत्त्व' है। ज्ञानकी इस स्थितिमें 'अहम्' और 'इदम्' चेतन और अचेतन दोनोकी पूर्ण रूपसे समानता हो जाती है। दोनोका महत्त्व एक-सा बन जाता है। शिव सारे जगत्को अपना विभव मानने लगते हैं।

अ—शिवतत्त्वके भीतर १ शिवतत्त्व २ शक्तितत्त्व, तथा ब—विद्यातत्त्वके अन्तर्गत ३ सदाशिवतत्त्व, ४ ईश्वरतत्त्व और ५ शुद्ध-विद्या-तत्त्व इस प्रकार पाच तत्त्वो का समावेश हो जाता है। तीसरा स—आत्मतत्त्व है। इस आत्मतत्त्वके भीतर शेष ३१ तत्त्वोका समावेश माना जाता है।

पाचवें सद्विद्या-तत्त्वके बाद ही छठे माया-तत्त्वका कार्य प्रारम्भ होता है। माया 'अहम्' और 'इदम्' चेतन और अचेतन दोनो अभिन्न अशोको अलग कर देती है। चेतन 'अहम्' अश पुरुष बन जाता है और अचेतन 'इदम् अश प्रकृति कहलाने लगता है। यहांसे साख्यकी प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। किन्तु मायाके प्रभावसे शिवतत्त्वको पुरुषरूपमें लानेके लिए बीचमें पाच उपाधिया काम करती हैं। वे उपाधिया शिवतत्त्वके यथार्थ स्वरूपको आच्छादित कर उसमें पुरुपत्व या जीवत्वकी प्रतीति कराती है इसलिए शिवके स्वरूपके अच्छादक होनेके कारण उनको 'पञ्च-कञ्चुक' नामसे कहा जाता है। ये पाच 'कञ्चुक' क्रमशः ७ कला, ८ विद्या, ९ राग, १० काल और ११ नियति-तत्त्व कहलाते हैं। शिवके स्वरूपको आच्छादनमें उनका कार्य निम्न प्रकार है—

७ कला—शिवकी सर्वकर्तृत्व शक्तिको आच्छादित करने वाली उपाधि या कञ्चुकका नाम 'कला' है। इसके द्वारा सर्व शक्तिमत्ताके आच्छादित होजानेके कारण सर्वशक्तिमान शिव अल्पशक्तिमान् जीव या पुरुप बन जाते हैं।

८ विद्या—शिवतत्त्वकी सर्वज्ञताको अच्छादित करने वाली उपाधि या कञ्चुक 'विद्या' कहलाती है। इसके द्वारा सर्वज्ञत्वका आवरण होजानेके कारण सर्वज्ञ शिव अल्पज्ञ जीव या पुरुप बन जाते हैं।

९ राग—रागतत्त्व तीसरा कञ्चुक है। यह शिवके नित्यतृप्तत्व गुणका आच्छादन कर लेता है। नित्य-तृप्त शिव विषयानुरक्त जीव या पुरुष बन जाते हैं।

१० काल—शिवतत्त्वके नित्यत्व गुणको आच्छादित करने वाला चौथा कञ्चुक 'कालतत्त्व' है। इस कञ्चुकके प्रभावसे नित्यत्वका आच्छादन होजाने पर देहादिमें सम्बद्ध जीव अपनेको अनित्य मानने लगता है।

१० नियति—शिवकी स्वातन्त्र्यशक्तिका आवरण करने वाला पाचवा कञ्चुक 'नियति' है। वह परम स्वतन्त्र शिवको बन्धनमें डालकर जीव या पुरुप बना देता है।

इस प्रकार यहां तक आत्म-तत्वके अन्तर्गत एक माया और पञ्च-कञ्चुक मिला कर छ तत्त्व आ गए। इसके पूर्व शिवतत्त्व तथा सद्विद्या तत्त्वके अन्तर्गत २+३ तत्त्वो को मिलाकर पाच तत्त्वोका निरूपण किया जा चुका था। इसलिए यहां तक ५+६=११ मौलिक तत्त्वोंके स्वरूपका निरूपण होगया। ये ११ तत्त्व ही वस्तुत प्रत्यभिज्ञा-दर्शनके अपने मौलिक तत्त्व हैं। इसके बाद जो २५ तत्त्व बचते हैं वे सब साख्य दर्शनके प्रतिपादित तत्त्व ही यहा-से लिए गए हैं।

विश्वबीजप्ररोहार्थं मूलाधारतया स्थितम् ।
'धर्तृशक्तिमयं वन्दे धरणीरूपमीश्वरम् ॥३॥

माया जब पञ्च-कञ्चुकोके द्वारा 'अहम्' अंश और 'इदम्' अंशको अलग-अलग कर देती है तो 'अहम्' अंश पुरुष नाम से, और 'इदम्' अंश प्रकृति नामसे कहलाने लगता है। यहांसे आगे साख्यकी प्रक्रियां प्रारम्भ होती है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा-दर्शनमें जगत्को छत्तीस तत्वो वाला 'षट्-त्रिंशकात्मक' माना है। शिव इस षट्त्रिंशकात्मक-जगद्-गगन को प्रकाशित करने वाले हैं। इस लिए छत्तीस अध्याय वाले नाट्यशास्त्रकी व्याख्या प्रारम्भ करनेके पूर्व अभिनवगुप्तने इन दोनो षट्-त्रिंशकोका समन्वय करते हुए जो यह सुन्दर मङ्गलाचरण लिखा है वह उनकी प्रतिभाके अनुरूप अत्यन्त महत्वपूर्ण एव अत्यन्त हृदयाकर्षक बन गया है ॥२॥

अध्यायारम्भका मङ्गलाचरण—

ऊपर दो श्लोकोंमें ग्रन्थाकारने शिवकी वन्दना करते हुए जो मङ्गलाचरण किया है वह ग्रन्थारम्भका मङ्गलाचरण है। अगला तीसरा श्लोक भी वे मङ्गलाचरणके रूपमें ही लिख रहे हैं। परन्तु इसकी स्थिति उन दोनो श्लोकोमे भिन्न है। वे दोनो ग्रन्थारम्भके मङ्गलाचरण हैं और यह अध्यायारम्भका मङ्गलाचरण है। ऐसा भेद करनेका कारण यह है कि इस श्लोकमें अन्य दोनो श्लोकोसे कुछ विशेषता पाई जाती है। पहिले दोनों श्लोकोमें साक्षात् शिवकी वन्दना की गई है परन्तु इसमें उनकी साक्षात् वन्दना न करके उनके धरणीरूपकी वन्दना की गई है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शनमें तथा पुराण आदिमें भी १ पृथिवी, २ जल, ३ अग्नि, ४ वायु, ५ आकाश, ६ सूर्य ७ चन्द्रमा, तथा ८ आत्मा इन आठको शिवके प्रत्यक्ष होनेवाले स्वरूपोंके रूपमें माना गया है। महाकवि कालिदासने भी अपने अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटकके प्रारम्भ इन्ही अष्टमूर्तिवाले शिवका स्मरण करते हुए लिखा है—

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुत या हवि, या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्त श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहु सर्वबीजप्रकृतिरिति, यया प्राणिन प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभि. प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ शाकुन्तल १-१।

अभिनवगुप्तने भी इन आठो मूर्तियोको क्रमश वन्दना करनेकी एक योजना बनाई है जिसके अनुसार वे प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें इनमेंसे एक-एक स्वरूपकी वन्दना करेंगे। इस शृंखला का यह पहिला श्लोक है। इसलिए इसकी स्थिति पहिले दो मङ्गलाचरणके श्लोकोंमे भिन्न है। इसी दृष्टिसे हमने इन दोनोमें यह भेद किया है कि पहिले दोनों श्लोकोको ग्रन्थारम्भका मङ्गलाचरण माना है और इस तीसरे श्लोकको अध्यायारम्भके मङ्गलाचरणके रूपमें माना है। इस योजनाके अनुसार ग्रन्थकार श्री अभिनवगुप्त इस प्रथमाध्यायके आरम्भमें अध्यायारम्भका मङ्गलाचरण करने के लिए शिवके पृथिवी-रूपकी वन्दना करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—विश्व [रूप वृक्ष] के बीजके उत्पन्न होनेकेलिए मूल आधार रूपसे स्थित, और धारण करनेकी शक्तिसे युक्त पृथिवी रूप परमेश्वर [शिव] को मैं नमस्कार करता हूँ ॥३॥

१. म म्र धातृ, खा-सर्व—

सद्विप्र-'तोत-वदनोदित-नाट्यवेद–
तत्त्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतोः ।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठः
संक्षिप्तवृत्तिविधिना विशदीकरोति ॥४॥

ग्रन्थका आधार—

इस प्रकार ग्रन्थारम्भ और अध्यायारम्भके मङ्गलाचरणोके बाद और प्रकृत ग्रन्थको आरम्भ करनेके पूव ग्रन्थकार अभिनवगुप्त अपने ग्रन्थके मूल आधार तथा अपने ग्रन्थकी रचना-शैलीके विषयमें कुछ परिचय देना चाहते हैं। इनमें से भी पहिले अपने ग्रन्थके मूल आधारका परिचय वे इस चौथे श्लोकमें दे रहे हैं। उनका कहना यह है कि भरतमुनिके नाट्यशास्त्रकी जो यह विवृति मैं लिखने जा रहा हूँ वह मेरी अपनी कल्पना नही है। अपितु अपने साहित्यशास्त्रके गुरु श्री 'भट्ट-तोत' के मुखसे इस ग्रन्थकी जो कुछ व्याख्या मैंने सुनी है उसीको लेखबद्ध कर रहा हूँ। श्री 'भट्ट-तोत' के द्वारा की गई नाट्यशास्त्रकी व्याख्या ही मेरे इस ग्रन्थका मूल आधार है। अनेक विद्वान श्री 'भट्ट-तोत' की, की-हुई व्याख्याको जानना चाहते हैं। इसलिए उन अर्थिजनो अर्थात् जिज्ञासुओकी मनोरथ-सिद्धिकेलिए मैं इस व्याख्याको ग्रन्थ रूपमें प्रस्तुत कर रहा हूँ।

अभिनव०—उच्चकोटिके विद्वान् [सद्विप्र] श्री 'भट्ट-तोत' के मुखारविन्दसे कथित नाट्यशास्त्रके रहस्य [तत्त्वार्थ] को, जिज्ञासु-जनोके मनोरथकी सिद्धिकेलिए महेश्वर—शिव—का उपासक, अभिनवगुप्त नामसे प्रसिद्ध यह [ग्रन्थकार] सक्षिप्त वृत्ति [ग्रन्थकी रचना] के द्वारा स्पष्ट [करने का प्रयत्न प्रारम्भ] करता है ॥४॥

ग्रन्थकारके गुरुवृन्दका परिचय—

इस श्लोकमें ग्रन्थकार अभिनवगुप्तने अपने गुरुके रूपमें श्री 'भट्ट तोत' का उल्लेख किया है। ये उनके साहित्यशास्त्रके गुरु थे। अभिनवगुप्तने विभिन्न शास्त्रोंका अध्ययन उस समयके उस-उस शास्त्रके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध आचार्योंके पास जाकर किया था। अपनी अत्युत्कट ज्ञान-पिपासाके कारण न केवल काश्मीरमें ही अपितु काश्मीरके बाहर और न केवल अपने धर्मके आचार्योंसे ही अपितु अन्य धर्मोके आचार्योंसे, यहा तक कि नास्तिक आचार्योंके पास जाकर भी उन्होने ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न किया था। उनकी इस उत्कट ज्ञान-पिपासा, अपूर्व विद्या प्रेम, एव सेवा-भक्तिकी भावनासे प्रसन्न होकर सभी आचार्योंने उन्मुक्त हृदयसे अपनी सारी ज्ञान-सम्पत्ति उनको समर्पित कर देनेमें अपूर्व आनन्दका अनुभव किया था। अपने ज्ञानोपार्जनकी इस कथाको उन्होने अपने 'तन्त्रालोक' नामक विशाल ग्रन्थमें इस प्रकार लिखा है—

[2]अहमप्यत एवाध शास्त्रदृष्टिकुतूहलात् ।
नास्तिकार्हतबौद्धादीनुपाध्यायानसेविषम् ॥

[3]एते सेवारसविरचितानुग्रहा शास्त्रसार
प्रोटादेशप्रकटसुभग स्वाधिकार किलास्मै ।
यत् सम्प्रादु —

---

१ म कोक। २ तन्त्रालोक अ० ८,२०६।
३ तन्त्रालोक अ० ३७।

१—अभिनवगुप्तके इन अनेक गुरुओंमें सबसे पहिले गुरु उनके अपने पिता श्री 'नरसिंह गुप्त' ही थे। इनसे अभिनवगुप्तने व्याकरणशास्त्रका अध्ययन किया था। 'तन्त्रालोक' में 'पित्रा स शब्दगहने कृतमप्रवेशः' लिखकर उन्होने इस बातका सकेत किया है। इनके पिता श्री नरसिंहगुप्त का दूसरा नाम 'चुखुलक' था। यही नाम लोकमें अधिक प्रसिद्ध था। इनका परिचय देते हुए अभिनवगुप्तने 'तन्त्रालोक' में ही लिखा है—

'तस्यात्मजः चुखुलकेति जने प्रसिद्धश्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्त ।
य सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्त माहेश्वरी परमलकुरुते स्म भक्ति ॥

२—कौलमतके अनुयायी श्री 'शम्भुनाथ' इनके तन्त्रशास्त्रके गुरु थे उनके उपदेशसे ही इनको तान्त्रिक सिद्धियोकी प्राप्ति हुई थी। श्री शम्भुनाथ जालन्धरके निवासी थे। उनका उल्लेख करते हुए अभिनवगुप्तने 'तन्त्रालोक' में लिखा है—

'श्रीशम्भुनाथभास्करचरणनिपातप्रभापगतसङ्कोचम् ।
अभिनवगुप्तहृदम्बुजम्—

अर्थात् श्रीशम्भुनाथ रूप सूर्यके चरणोके सम्पर्कसे अभिनवगुप्तके अर्थात् मेरे हृत्कमलका विकास हुआ। इनका परिचय अभिनवगुप्तने निम्न प्रकार दिया है—

'कश्चिद् दक्षिणभूमिपीठवसतिः श्रीमान् विभुर्भैरव.
पञ्चस्रोतसि सातिमार्गविभवे शास्त्रे विधाता च य ।
तस्याभूत् सुमतिस्तत समुद्भूत् तस्यैव शिष्याग्रणी
श्रीमान् शम्भुरिति प्रसिद्धिमलभज् जालन्धरात् पीठत ॥

३—अभिनवगुप्तके तीसरे गुरु श्री 'भूतिराज' थे। इनसे अभिनवगुप्तने ब्रह्मविद्या अर्थात् वेदान्तशास्त्रका अध्ययन किया था। 'तन्त्रालोक' में ही श्री भूतिराजको अपना ब्रह्मविद्याका गुरु बतलाते हुए अभिनवगुप्तने निम्न श्लोक लिखा है—

'अथोच्यते ब्रह्मविद्या सद्य' प्रत्ययदायिनी ।
शिव श्री भूतिराजो यामस्मभ्य प्रत्यपादयत् ॥

इन्ही भूतिराजके पुत्रसे अभिनवगुप्तने द्वैतवादी शैव ग्रन्थोको पढा था।

४—अभिनवगुप्तने 'त्रिकदर्शन' अर्थात् 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' और शैवसम्प्रदायके परिज्ञानके लिए श्री 'सोमानन्द' श्री 'उत्पलपादाचार्य तथा श्री लक्ष्मणगुप्तनाथ' तीनोको अपना गुरु माना है। ये तीनो एक कालके व्यक्ति नही थे। सोमानन्द प्रत्यभिज्ञादशन' के आदि सस्थापक थे। उत्पलपादाचार्य उनके शिष्य थे। और श्री लक्ष्मणगुप्तनाथ उत्पलपादाचार्यके शिष्य थे। अभिनवगुप्तके त्रिकदर्शनके साक्षात गुरु लक्ष्मणगुप्तनाथ थे। परन्तु उन्होने इस विषयमें इन तीनोको अपना गुरु बतलाते हुए लिखा है—

'त्र्यम्बकप्रसरसागरवीचि-सोमानन्दात्मजोत्पल-लक्ष्मणगुप्तनाथा ।
'देवीत्रिशतिकेऽपि अस्य श्री सोमानन्दपादेभ्य प्रभृति त्रिकदर्शनवदेव गुरव.।

---

१. तन्त्रालोक अ० ३७।
२ तन्त्रालोक अ० १,५१।
३ तन्त्रालोक टी० १-२३६।
४. तन्त्रालोक टी० ३,१६४।
५. तन्त्रालोक टी० अ० ३७।
६. तन्त्रालोक टी० ३,१६४।

उपादेयस्य सम्पाठः तदन्यस्य प्रतीकनम् ।
स्फुट-[1]व्याख्या विरोधानां परिहारः सुपूर्णता ॥५॥
लक्ष्यानुसरणं श्लिष्ट-[2]वक्तव्यांशविवेचनम् ।
सङ्गतिः पौनरुक्त्यानां समाधानसमाकुलम् ॥६॥
संग्रहश्चेत्ययं व्याख्या-प्रकारोऽत्र समाश्रितः ॥७॥

ध्वनि-सिद्धान्तका अध्ययन अभिनवगुप्तने श्री 'भट्ट-इन्दुराज' से किया था। ध्वन्वालोकमें उनका उल्लेख करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा है—

[3]भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवास—
हृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम् ।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विद्वानोसे भी उन्होने अपने ज्ञानोपार्जनमें सहायता प्राप्त की थी उन सबका 'तन्त्रालोक' के एक श्लोकमें उन्होने इस प्रकार उल्लेख किया है—

[4]श्रीचन्द्र-चन्द्रवर-भक्तिविलास-योगा-
नन्दाभिनन्द-शिवभक्ति-विचित्रनाथा ।
अन्येऽपि धर्म-शिव-वामनकोद्भट श्री-
भूतीश-भास्करमुखप्रमुखा महान्त. ॥

रचना-व्याख्या-शैलीका निर्देश—

इस पकार अपने इस ग्रन्थके मूल आधारका प्रतिपादन करनेके बाद अगले ढाई श्लोकोमें ग्रन्थकार अभिनवगुप्त अपने इस ग्रन्थकी रचना-शैली या अपनी व्याख्या-शैलीका परिचय निम्न प्रकारसे देते हैं—

अभिनव०—१ उपादेय [पाठ] का ग्रहण करना, २ उससे भिन्न [अशुद्ध पाठो] का परित्याग करना [अर्थात् पाठोका सशोधन करना और उसके बाद], ३ स्पष्ट व्याख्या करना, ४ [गन्थमे प्रतीत होने वाले] विरोधोका परिहार करना और ५ [विषयकी] पूर्णता [का प्रतिपादन करना]—

अभिनव०—६ उदाहरणोका अनुसरण करना [अर्थात् उचित स्थानोपर उदाहरण देना], ७ उनसे सम्बद्ध वक्तव्य अशकी विवेचना करना [अर्थात् उदाहरणो-की सङ्गति दिखलाना] ८ और [गन्थमे प्रतीत होने वाली] पुनरुक्तियोके समाधान पूर्वक उसकी सङ्गति लगाना—

अभिनव०—९ [विस्तृत व्याख्यामे कहे हुए विषयका सक्षेप रूपमे श्लोको द्वारा] सग्रह करना, इस [नौ विशेषताओसे युक्त] व्याक्या-शैलीका यहा [इस ग्रन्थ मे] अवलम्बन किया गया है। ५-७।

इस प्रकार इन ढाई श्लोकोमे ग्रन्थकारने अपनी रचना-शैलीका परिचय दिया है। इन नौ विशेषताओका प्रत्येक कारिकाकी व्याख्यामें एक साथ देखनेका यत्न करना उचित नही होगा। उनका प्रयोग स्थान-स्थानपर आवश्यकतानुसार ही किया गया है ॥५-७॥

---

१ म० वाक्य। २ म० वत्त्याङ्क। ३ ध्वन्यालोक लोचन। ४ तन्त्रालोक अ० ३७।

भरतमुनिरुचितदेवतानमस्कारपूर्वकं अभिधेयगुणीभावेन प्रयोजनं मुख्यया वृत्त्या प्रतिजानानो, विशेषणद्वारेण गुरुपूर्वक्रम, अर्थाक्षिप्ततया च अभिधेय-प्रयोजन-तत्सम्बन्धान् दर्शयति 'प्रणम्य' इत्यादिना—

भरत०—प्रणम्य शिरसा देवौ पितामह-परमेश्वरौ ।
नाटचशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम्[1] ॥१॥

भरतमुनिका मङ्गलाचरण एव अनुबन्ध निरूपण—

पिछली पक्तियोमें ग्रन्थकार अभिनवगुप्तने इस ग्रन्थमें प्रयुक्तकी जाने वाली अपनी रचना-शैलीका परिचय दिया था । अब वे अपना मुख्य-कार्य अर्थात् नाट्यशास्त्रकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं । नाट्यशास्त्रकी प्रथम कारिकाकी व्याख्या आरम्भ करते हुए वे उसकी अवतरणिका निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—भरतमुनि [अपने नाटचशास्त्रके प्रारम्भमें मङ्गलाचारणके लिए] उचित देवताओ [अर्थात् पितामह और महेश्वर] को नमस्कार करके प्रतिपाद्य विषयको [कुछ देरकेलिए] गौण बना कर, [और अपनी वर्तमान प्रवृत्ति के] प्रयोजनको मुख्य रूपसे प्रतिपादन करते हुए, विशेषणोके द्वारा [नाटचशास्त्र की] गुरु-परम्पराको तथा अर्थापत्ति द्वारा आक्षिप्त रूपसे १ विषय २ प्रयोजन तथा उनके ३ सम्बन्धो [अर्थात् ४ अधिकारी-सहित अनुबन्ध-चतुष्टय] को 'प्रणम्य' इत्यादि [प्रथम कारिका] से दिखलाते हैं ।

भरत०—पितामह [ब्रह्मा] और महेश्वर [शिव] इन दोनों देवोंको शिरसे [अर्थात् सिर झुकाकर] नमस्कार करनेके उपरान्त, मैं उस नाटचशास्त्रका निरूपण करूंगा जिसको ब्रह्माने [वेदोंसे] उत्पन्न किया था ।१।

यह भरत-नाटचशास्त्र-की पहिली कारिका है । वृत्तिकारकी अवतरणिकाके अनुसार इस कारिकामें सबसे पहिले १ उचित देवताओ अर्थात् नाटचशास्त्रके प्रवर्तक ब्रह्मा तथा उसके नृत्य रूप अङ्गके प्रवर्तक शिव इन दोनो देवताओंको नमस्कार किया गया है । उसके बाद विषय प्रतिपादनको प्रारम्भ न करके 'नाटचशास्त्र प्रवक्ष्यामि' पदोसे अपनी वर्तमान प्रवृत्तिके २ प्रयोजनको मुख्य रूपसे प्रतिपादन करते हुए, ३ पितामह और महेश्वर इन विशेषण-परक नामोंके द्वारा नाटचशास्त्रकी गुरु-परम्पराको दिखलानेका यत्न किया है । इन तीन बातोंके बाद ४ अर्थाक्षिप्त रूपसे अर्थात् गौण रूपसे अभिधेय, प्रयोजन और उनके सम्बन्ध रूप अनुबन्धोको दिखलाया गया है । इस प्रकार इस कारिकामें भरतमुनिने चार बातोका प्रदर्शन किया है ।

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्य. सम्बन्ध सप्रयोजन ॥

इस नियमके अनुसार प्रत्येक ग्रन्थके आरम्भमें १ विषय, २ प्रयोजन, ३ अधिकारी तथा ४ सम्बन्ध रूप अनुबन्ध-चतुष्टयके निरूपण किए जानेकी परम्परा संस्कृत साहित्यमें पाई जाती है । इसी परम्पराके अनुसार वृत्तिकारने भरतमुनिकी नाटचशास्त्रकी इस प्रथम कारिकामें भी इन अनुबन्धोको अर्थाक्षिप्त रूपसे दिखलानेका प्रयत्न किया है ।

---

१. यदुदीरितम् ।

'पितामहोऽत्र न पितु पिता, महेश्वरश्च न राजादिरिति देव-शब्द'।' एतच्च नाशङ्कनीयम्, प्रसिद्धे ।

तदनुसार 'नाटचशास्त्र प्रवक्ष्यामि' इन शब्दोसे यह बात अर्थत निकल आती है कि १ नाटच अर्थात् नाटचकलाका प्रतिपादन इस शास्त्र या ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय है। २ नाटचका मनोविनोदके साथ-साथ कर्तव्याकर्तव्य की शिक्षा प्रदान करना रूप जो प्रयोजन 'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्य श्रव्य च यद् भवेत्' इत्यादि इसी अध्यायकी ११वी कारिकामे बतलाया जायगा वह भी यहां अर्थाक्षिप्त रूपमे प्रदर्शित किया गया है। इसके अतिरिक्त नाटचशास्त्रके जिज्ञासु व्यक्ति अर्थात् इस शास्त्रके अधिकारी, तथा ग्रन्थके साथ विषयका प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव सम्बन्ध भी अर्थाक्षिप्ततया सूचित होता है।

कारिकाके पूर्वार्द्धकी व्याख्या—

इस कारिकाकी व्याख्या वृत्तिकारने बहुत विस्तारके साथ की है। इसको तीन भागोमे विभक्त किया जा सकता है। पहिले भागमें कारिकाके प्रथम द्वितीय दोनो चरणोकी अर्थात् कारिकाके पूर्वार्द्ध-भागकी व्याख्या एक-साथ की गई है। इसलिए प्रथम भागमें कारिकाके पूर्वार्द्ध भागकी व्याख्याको समझना चाहिए। शेष तीसरे तथा चौथे चरणोकी व्याख्या अलग-अलग की गई है वे दोनो व्याख्याके शेष दो भाग हैं।

देवशब्दकी पूर्व व्याख्याका खण्डन—

पूर्वार्द्धकी व्याख्याको ग्रन्थकारने प्राचीन टीकाकारोकी व्याख्याके खण्डनसे प्रारम्भ किया है। किसी प्राचीन टीकाकारने कारिकामें 'पितामह-महेश्वरौ' के विशेषण रूपमे प्रयुक्त 'देवौ' पदका यह प्रयोजन बतलाया था कि 'पितामह' शब्दसे 'बाबा' का और 'महेश्वर' शब्दसे राजा आदिका ग्रहण न कर लिया जाय इसलिए उनके साथ 'देवौ' यह विशेषण दिया गया है। परन्तु ग्रन्थकार अभिनवगुप्त इससे सहमत नही हैं। उनका कहना है कि 'पितामह' शब्द 'ब्रह्मा' के अर्थमे और 'महेश्वर' शब्द शिवके अर्थमें अत्यन्त प्रसिद्ध है अत यहां न तो इस प्रकारकी शङ्का ही हो सकती है और न उसके निवारणार्थ देवौ' इस विशेषणका प्रयोग ही किया गया है। इस बातको प्रथम अनुच्छेद में वे इस प्रकार लिखते हैं कि—

अभिनव०—यहा 'पितामह' शब्दसे पिताके-पिता [अर्थात् बाबा] का और 'महेश्वर' शब्दसे राजा आदिका ग्रहण न हो इस लिए [देवौ इस विशेषणके रूपमे उनके साथ] 'देव' शब्द [प्रयुक्त हुआ] है। यह शङ्का [और उसका समाधान आदि जो किसी पूर्ववर्ती टीकाकारने किया है वह इन शब्दोके ब्रह्मा तथा शिवके अर्थमे अत्यन्त] प्रसिद्ध होनेके कारण नही करनी चाहिए।

अभिनवगुप्त कृत व्याख्या—

इस प्रकार अन्य टीकाकारोके द्वारा दिखलाए हुए 'देव' शब्दके प्रयोगके प्रयोजनका खण्डन करके अब ग्रन्थकार अभिनवगुप्त अपनी दृष्टिसे 'देव' पदकी व्याख्या अगले अनुच्छेदमें करते हैं। उसका भाव यह है कि 'देव' शब्द 'दिवु क्रीडा-विजिगीषा-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति गतिषु' इस धातुसे सिद्ध होता है। इनमेसे ब्रह्माकेलिए, विजिगीषा' अर्थको लेकर, और शिवकेलिए 'क्रीडा' अर्थको लेकर 'देव' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसी बातको वे आगे लिखते हैं—

एको विजिगीषु-र्नाट्यवेद प्रवर्तयिता इति देव.। भगवांश्चानन्दनिर्भरतया क्रीडाशील· सन्ध्यादौ नृत्यतीति। नाट्ये तदुपस्कारिणि च नृत्ते तदुपज्ञ[1] प्रवृत्तिरिति तावेवात्राधिदैवत गुरू चेति नमस्कार्यौ।

अभिनव० एक [अर्थात् ब्रह्मा, नाट्यवेद रूप पञ्चम वेदकी रचना द्वारा अन्य सबको] विजय करनेकी इच्छासे नाट्यवेदके प्रवर्तक होते हैं इस लिए [दिव्-धातुके 'विजिगीषा' रूप अर्थको लेकर] 'देव' [कहलाते] हैं। और भगवान् [शिव] तो आनन्द-प्रधान होनेसे क्रीडाशील ही है तथा सन्ध्या-काल आदिमे [आनन्दमग्न हो कर] नाचते हैं इस लिए [दिव-धातुके क्रीडा 'मोद-मद' आदि अर्थोको लेकर 'देव' कहलाते हैं]। नाट्यमे और उसको अलंकृत करने वाले 'नृत्त' मे उन दोनो [अर्थात् ब्रह्मा और शिव] से ही [क्रमशः] प्रवृत्ति [आरम्भ] हुई है इसलिए वे दोनो ही यहां [अर्थात् नाट्यके विषयमे] 'मुख्य देवता' और 'गुरु' होनेसे नमस्कार करने योग्य है। [इसलिए भरतमुनिने उन दोनोको इस प्रथम कारिकामे नमस्कार किया है। यह अभिनव गुप्त का अपना सिद्धान्त मत है]।

नाट्य, नृत्य और नृत्तका भेद—

इस अनुच्छेदमें नाट्यके उपस्कार' अर्थात् उसको अलकृत करने वाले 'नृत्त' का उल्लेख किया गया है। 'नृत्त' के साथ उससे मिलता-जुलता एक और शब्द 'नृत्य' भी है जो 'नृत्त' की अपेक्षा अधिक प्रचलित है। 'नाट्य', नृत्य' और 'नृत्त' इन तीनो शब्दोके अर्थमें कुछ भेद है। 'नाट्य रसाश्रित और वाक्यभिनयात्मक' होता है। 'नृत्य' भावाश्रित एव पदार्थाभिनयात्मक और 'नृत्त' ताल-लयाश्रित एव भावाभिनय-शून्य होता है। धनञ्जयने अपने 'दशरूपक' के प्रारम्भ में इनके विषयमें अच्छा विवेचन किया है। रूपकके नाटक आदि दस भेदोका निर्देश करनेके बाद उन्होने यह प्रश्न उठाया है कि डोम्बी, श्रीगदित आदि नामक 'नृत्य' के भी सात भेद होते हैं। उनकी गणना भी रूपक-भेदोके साथ की जानी चाहिए। फिर आपने रूपकके दस ही भेद कैसे माने हैं। इस प्रश्नका समाधान करते समय 'नृत्य' और 'नृत्त' का भेद प्रतिपादन करते हुए धनञ्जयने लिखा है—

'अन्यद् भावाश्रय नृत्यं, नृत्त ताललयाश्रितम्'। दशरूपक १-९।

अर्थात् रसाश्रित नाट्यसे भावाश्रित नृत्य अलग ही है। और ताल-लयाश्रित 'नृत्त' 'नृत्य' से भी भिन्न होता है। अत नृत्यके भेदोकी गणना नाट्यके दस भेदोमें नही की जा सकती है। इस प्रकार नाट्य और नृत्यके भेदका प्रतिपादन करनेके बाद कारिकाके द्वितीय चरणमें उन्होने 'नृत्य' से 'नृत्त' का भेद भी प्रसङ्गत दिखला दिया है। और वह भेद यह है कि 'नृत्य' भावाश्रित होता है और 'नृत्त' ताल-लयाश्रित होता है। धनिकने इनकी व्याख्या इस प्रकार की है—

"रसाश्रयान्नाट्याद् भावाश्रयमिति विषयभेदात्, नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेन आङ्गिक-बाहुल्यात्, तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशात, लोकेऽपि च 'अत्र प्रेक्षणीयकम्' इति व्यवहारात् नाटका-देरन्यन्नृत्यम्। तद्भेदत्वाच्छ्रीगदितादेरवधारणोपपत्ति। नाटकादि च रसविषयम्। रसस्य च पदार्थी भूतविभावादिनसर्गात्मकवाक्यार्थहेतुकत्वाद् वाक्यार्थाभिनयात्मकत्व रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम्।"

१. ख. क पमज्ञ ताण्डव प्रवृत्ति, ख- भाण्ड प्रवृत्ति।

लक्ष्मीपतिस्तु यद्यपि वृत्तीनां निर्माता तथापि पितामहवदसौ [1]स्वकर्तव्यमात्रनिष्ठस्तथाचरन् नात्र नाट्ये लोकवदुपजीवित इति गुरुत्वाभावान्न नमस्कृत ।

[2]एतदपि [3]अ-नमस्कारहेतुनिरूपणस्यानुचितत्वादसत् ।

"नाट्यमिति च 'नट अवस्पन्दने' इति । नटे किञ्चिच्चलनार्थत्वात् सात्विकबाहुल्यम् । अत एव तत्कारिषु नटव्यपदेश । यथा गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽपि अनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यन्नृत्यम् । तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकात् नाट्यात् पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति । तालश्चञ्चत्पुटादि, लयो द्रुतादिः । तन्मात्रापेक्षो गात्रविक्षेपो अभिनयशून्यो नृत्तमित्ति ।"

इसका अभिप्राय यह है कि एक तो नाट्यके रसाश्रित और नृत्यके भावाश्रित होनेके कारण 'नृत्य' नाट्यसे भिन्न ही है । दूसरी बात यह है कि नाट्य शब्द 'नट अवस्पन्दने' धातुसे बनता है जिसका अर्थ 'किंचिच्चलन' होता है । इससे नाट्यमे सात्विक भावोका बाहुल्य सूचित होता है। और 'नृत्य' शब्द 'नृती गात्रविक्षेपे' धातुसे बनता है । उसमें गात्रविक्षेप अर्थात् आङ्गिक अभिनयका प्राधान्य रहता है । नृत्यमें गात्रविक्षेप-द्वारा ही भावाभिव्यञ्जना होती है । उदयशङ्कर-भट्टके भाव-नृत्य इसके उदाहरण हैं । और नृत्तमें नृत्यके समान गात्र-विक्षेप तो होता है किन्तु भावो का अभिनय नही होता है । इसलिए ताल-लयाश्रित गात्रविक्षेप रूप 'नृत्त' भावोके अभिनयसे शून्य होनेसे नृत्यसे भिन्न ही है ।

विष्णुको नमस्कार न करनेके विषयमे पूर्वमत—

अभिनव—लक्ष्मीपति [विष्णु] तो यद्यपि [वेष-विन्यासात्मक कैशिकी आदि] वृत्तियोके निर्माता है फिर भी पितामह आदिके समान केवल अपने कर्त्तव्य मात्रके पालनमे निरत होकर उस प्रकार [वृत्तियोके निर्माणका कार्य] करते हुए, लोकमे जैसे अनुकरणीय हुए हैं, इस प्रकार यहाँ नाट्यमे उनका अनुकरण नही किया गया है इसलिए [नाट्यमे] गुरु न होनेके कारण [यहाँ] उनको नमस्कार नहीं किया गया है ।

पूर्व टीकाकारके मतका खण्डन—

यह बात किन्ही प्राचीन टीकाकारने लिखी है । परन्तु वृत्तिकार उससे सहमत नही है । इसलिए वे उसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—[किसी देवताको] नमस्कार न किए जानेके कारणकी विवेचनाके अनुचित होनेसे [पूर्व व्याख्याकारका] यह [लिखना] भी ठीक नही है ।

इसका अभिप्राय यह है कि भरतमुनिने इस प्रथम कारिकामें ब्रह्मा विष्णु और महेश इन त्रिमूर्तियोमेसे केवल ब्रह्मा तथा महेश्वरको ही नमस्कार किया है । विष्णुको छोड दिया है । इसके कारणकी विवेचना किसी पूर्ववर्ती टीकाकारने की है । परन्तु अभिनवगुप्तका कहना यह है कि किसीको नमस्कार न करनेके कारणकी विवेचनामे उसकी किसी न्यूनता आदिका निर्देश करना होगा इसलिए नमस्कार न करनेके कारणका अनुसन्धान करना अनुचित है ।

पाठसमीक्षा—अभिनवभारतीके दो पूर्व-सस्करण जो बड़ौदासे प्रकाशित हुए हैं उनमें 'नमस्कारहेतुनिरूपणस्यानुचितत्वात्' यह पाठ छपा था । परन्तु यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है ।

---

१ म कर्तव्य । २ म इत्येतदपि । ३. म भ. नमस्कार ।

'तस्मात् प्रणमन प्रह्वीभाव. कायेन वाचा मनसा च । आद्य. 'शिरसा' इति दर्शित. । द्वितीयो 'देवौ' इत्यनेन । प्रणम्यस्य निरुपपदनामग्रहणानौचित्यात्[2] प्रथम 'देवौ' इत्युक्तम् । 'अभिनयप्राधान्याच्चाङ्गिक. 'शिरसा' इति वाचिकश्च 'देवौ' इत्यादिना वाक्याभिनयो दर्शित.[4] ।

नमस्कारके हेतुका निरूपण अनुचित नही उचित ही होता है। स्वय वृत्तिकारने इसके पूर्वके अनुच्छेदमें 'पितामह' तथा 'महेश्वर' के नमस्कार किए जानेका हेतु उनका गुरु और नाट्यवेदका 'अधिदैवत' होना बतलाया है। पितामह नाट्यवेदके प्रवर्तक हैं इसलिए गुरु होनेसे नमस्कार करने योग्य है। और महेश्वर नृत्यके प्रवर्तक है। नाट्योपयोगी नृत्यकी शिक्षा महेश्वर अर्थात् शिवजीसे ही प्राप्त होती है। इसलिए वे भी नाट्यवेदमें गुरुवत् पूज्य है। अत: उनको भी नमस्कार करना उचित ही है। इस प्रकार वृत्तिकारने इससे पूर्वके अनुच्छेदमें स्वय नमस्कारके हेतुका निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त इस कारिकाकी अवतरणिकामें भी उन्होने 'उचितदेवतानमस्कारपूर्वक' यह पक्ति लिखी थी। उसमें 'उचित' पदसे नमस्कार-योग्यता या नमस्कार-हेतुको सूचित किया है। इसलिए वृत्तिकारकी दृष्टिमें नमस्कारके हेतुका निरूपण अनुचित नही है। अपितु नमस्कार न करने-अनमस्कार-के हेतुका निरूपण करना अनुचित है। क्योंकि अनमस्कार अर्थात् नमस्कार न किए जानेके हेतुका अनुसन्धान करनेमें जिसको नमस्कार नहीं किया जा रहा है उसके किसी दोष या न्यूनता आदिका निर्देश करना आवश्यक हो जाता है। अत अ-नमस्कारके हेतुका निरूपण अनुचित है। इस दृष्टिसे पूर्व-सस्करणोमे 'नमस्कारहेतुनिरूपणस्यानुचितत्वात्' यह जो पाठ छपा था वह अशुद्ध प्रतीत होता है। उसके स्थान पर 'अ-नमस्कारहेतुनिरूपणस्यानुचितत्वात्' यह पाठ होना चाहिए था। अत एव हमने सशोधित रूपमें यही पाठ प्रस्तुत किया है।

नमस्कार द्वारा विविध अभिनयोकी सूचना—

अभिनव०—इस लिए प्रणामका अर्थ नम्रता-प्रदर्शन होता है। और वह १ शरीरके द्वारा २ वाणीके द्वारा और, ३ मनके द्वारा [तीन प्रकारसे] होता है। उनमेसे पहिली तरहका [आङ्गिक विनम्रता-प्रदर्शन] 'शिरसा' इस पदसे दिखलाया गया है। और दूसरी प्रकारका [अर्थात् वाचिक नम्रताका प्रदर्शन] 'देवौ' इस [पद] के द्वारा [दिखलाया गया है।] ['देवौ' इस पदका प्रयोजन जहाँ वाचिक नम्रताका प्रदर्शन करना है वहाँ उसकेसाथ ही उसका दूसरा प्रयोजन यह भी है कि—] नमस्कार करने योग्य [पूज्य-पुरुष] का उपाधि-रहित नाम लेना अनुचित होनेसे [नाम लेनेके] पहिले [उपाधि रूप] 'देवौ' यह [पद] कहा गया है। [नाट्य मे] अभिनय की प्रधानता होनेसे [पहिले] 'शिरसा' इससे आङ्गिक [अभिनय] और 'देवौ' इत्यादिसे वाक्याभिनय रूप वाचिक [अभिनय] दिखलाया है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका भी जो पाठ पूर्व-सस्करणोमें छपा है वह शुद्ध नही है। उसमें 'प्रणम्यस्य निरुपपदनामग्रहणानौचित्यात् तेन प्रथम देवौ इत्युक्तम्' इस प्रकारका पाठ

---

१. म प्रणाम. कायादीना प्रह्वीभाव । कायिक शिरसेति दर्शित । तस्मात् ।

२. म० भ० तेन इत्यधिक पाठ । ३. अभिधेय । अभिनेय ।

४. म० च दर्शितः क्रमादेतावङ्गिकवाचिकाभिनयौ ।

लोकसिद्धो ह्ययमभिनयो न च नाट्यधर्मरूप चतुर्भुजादावध्र्वादिभिन्न इवेत्यनभिनेयोऽपि दर्शनीय एव ।

पूर्व सस्करणोमे छपा था। परन्तु इसमे 'तेन' यह पाठ अधिक छप गया है। उसकी आवश्यकता प्रतीत नही होती है। उसका प्रयोग हेतुताके सूचनार्थ ही हो सकता है। परन्तु उसके पूर्व 'निरुपपदनामग्रहणानौचित्यात्' इस पञ्चम्यन्त पदसे ही हेतुताका-सूचन हो जाता है इसलिए उसके बाद 'तेन' पदकी आवश्यकता नही रहती है। यदि हेतुता सूचनकेलिए 'तेन' पदको रखा जाय तो उधर 'नामग्रहणानौचित्यात्' मे पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग न करके 'नामग्रहणानौचित्यम्' इस प्रकार प्रथमान्त पदका प्रयोग किया जाना चाहिए था। किन्तु उधर पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग किया गया है इसलिए यहा 'तेन' पद अधिक मुद्रित हो गया है। ऐसा मानकर हमने उसे हटाकर टिप्पणीमें कर दिया है।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमें आङ्गिक अभिनय 'शिरसा' पदसे और वाचिक अभिनय 'देवौ' पदसे प्रदर्शित किया गया है। यह बात दो बार आई है। इसलिए इस अनुच्छेदमें 'अभिनय-प्राधान्याच्चाङ्गिक शिरसा इति वाचिकश्च देवौ इत्यादिना च वाक्याभिनयो दर्शित'। इतना पाठ पुनरुक्तिग्रस्त-सा प्रतीत होता है। किन्तु अभिप्राय भेदसे दुबारा पठित होनेके कारण वस्तुत पुनरुक्त नही है। अभिप्रायभेदका आशय यह है कि पहिली बार प्रणाम या प्रह्वीभावके भेद दिखलाकर उनके दोनो उदाहरण दिए गए थे। और दूसरी बारमें अभिनयके भेदोकी दृष्टिसे ये दोनो उदाहरण दिए गए है। अत एव अभिप्राय भेदके कारण उनमें पुनरुक्ति नही है।

लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी द्विविध अभिनय—

अभिनव०—यह ['शिरसा' तथा 'देवौ' पदोके द्वारा सूचित आङ्गिक तथा वाचिक] अभिनय चतुर्भुज आदि रूपके अभिनयमे [नई बढाई गई कृत्रिम] ऊपर उठी भुजा आदिसे भिन्न [नीचे लटकने वाली वास्तविक भुजाओ] के समान लोकसिद्ध अभिनय है, नाट्यधर्मी-रूप नही। इसलिए [नाट्यधर्मीके समान] अभिनेय न होने पर भी देखने योग्य [अथवा दिखलाने योग्य] ही है।

इस अनुच्छेदमें लोकसिद्ध या 'लोकधर्मी' और 'नाट्यधर्मी दो प्रकारके अभिनयोका उल्लेख किया गया है। स्वाभाविक या अकृत्रिम रूपसे जो किसीके अनुकरण आदिको प्रदर्शित किया जाता है वह लोकसिद्ध होनेसे 'लोकधर्मी' अभिनय कहलाता है। जैसे यहाँ 'शिरसा प्रणम्य' इन पदोको बोलकर वास्तवमें सिर झुकानेका जो अभिनय किया जाता है वह स्वाभाविक अकृत्रिम रूप किया जाता है इसलिए वह 'लोकसिद्ध' या 'लोकधर्मी' अभिनय कहलाता है। और जहाँ कृत्रिम रूपसे स्त्री पुरुषका रूप आदि धारण करके अभिनय किया जाता है वह 'नाट्यधर्मी' अभिनय कहलाता है। जैसे नाटकमे नट सीता-राम आदिका अथवा चतुर्भुज आदिका रूप धारण करके अवास्तविक रूपसे अभिनय करता है वह 'नाट्यधर्मी' अभिनय माना जाता है। उन लोकधर्मी और नाट्यधर्मी अभिनयोका लक्षण दशरूपकमें इस प्रकार है—

'स्वभावाभिनयोपेत नास्त्रीपुरुषाश्रय नाट्य लोकधर्मि।
स्वरालङ्कारसयुक्त अस्वस्थपुरुषाश्रय नाट्य नाट्यधर्मि।

---

१ चतुर इव भुजादावूर्ध्वादिभिन्न इत्यभिनेयोऽपि।

मानसा तु प्रह्वता वाक्-कायव्यापारगम्येति नासौ पृथगुक्ता ।

'पितामह संस्कारस्य पूर्वं बुद्धौ निपतनात् तस्य प्रथमं, चरमसंस्कारस्य च महेश्वरस्य पश्चात् स्मरणमिति 'पितामह-महेश्वरौ' इति क्रम आश्रित । छेकानुप्रासपरिपोषेण सालङ्कारस्य च वाक्याभिनयता दर्शयितुम् ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका जो पाठ पूर्व-संस्करणोमे छपा था वह भी अशुद्ध था । 'चतुर इव भुजादावूर्ध्वादिभिन्न' इस पाठकी कोई सङ्गति नहीं लगती है । इस भागमें वृत्तिकार नाट्यधर्मी अभिनयके उदाहरण रूपमें चतुर्भुज-रूपको प्रस्तुत करते प्रतीत होते हैं । परन्तु जिस रूपमें यह पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है उससे यह अर्थ नही निकलता है । और न उसकी कोई सङ्गति ही लगती है । अभीष्ट अर्थकी प्राप्तिकेलिए उसका निकटतम शुद्ध पाठ 'चतुर्भुजादा-वूर्ध्वादिभिन्न इव' हो सकता है । इस संशोधनमें केवल 'चतुर' शब्दके अन्तके रकारको हलन्त कर दिया गया है और 'इव' को 'चतुर' के आगेसे हटाकर 'भिन्न' के बाद रख दिया गया है ।

इसी प्रकार पूर्व-संस्करणोमें 'इत्यभिनेयोऽपि दर्शनीय एव' यह पाठ भी इस अनुच्छेदमें छपा था । वह भी अशुद्ध था । ग्रन्थकार यह कह रहे हैं कि यहाँ 'शिरसा' पदसे जो नमस्कार प्रदर्शित किया गया है वह लोकसिद्ध है नाट्यधर्मी रूप नही है । नाट्यधर्मीके समान उसका अभिनय नही किया जाता है । इसलिए नाट्यधर्मीके समान अभिनेय न होने पर भी दर्शनीय है । इस अर्थकी दृष्टिसे 'इत्यभिनेयोऽपि' के स्थान पर 'इत्यनभिनेयोऽपि' यह पाठ अधिक सङ्गत प्रतीत होता है । इसलिए हमने संशोधित रूपमें यही पाठ प्रस्तुत किया है । पुराने पाठको पाद टिप्पणीमें कर दिया है ।

अभिनव०—मानसी विनम्रता तो वाचिक तथा कायिक व्यापारसे ही सूचित हो जाती है इसलिए उसको अलग नहीं कहा गया है ।

नमस्कारके क्रमका उपपादन—

अभिनव०—पितामह [बाबा] का संस्कार बुद्धिमे पहिले पड़ता है इसलिए उन [पितामह अर्थात् ब्रह्मा] का पहिले स्मरण होता है । और बादमे जिनका संस्कार [मनपर] होता है उन महेश्वरका बादको स्मरण होता है इस कारण [मूलकारिकामे] 'पितामह-महेश्वरौ' इस क्रमको ग्रहण किया गया है । और ['पितामह-महेश्वरौ' पदमे मह-मह इस व्यञ्जन-समुदायकी उसी क्रमसे आवृत्ति रूप] छेकानुप्रासके परिपोषण द्वारा अलङ्कारयुक्त वाक्यको [वाचिक] अभिनेयताको दिखलानेकेलिए भी [इस क्रमको ग्रहण किया गया है] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ प्रथम संस्करणमें अत्यन्त अशुद्ध रूपमें छपा था । 'संस्कारस्य पूर्वं बुद्धौ निपतनाच्चरमसंस्कारस्य पितामहमहेश्वराविति क्रम आश्रित' इस प्रकारका पाठ प्रथम संस्करणमें दिया गया था । परन्तु इस पाठका कोई अर्थ नही निकलता है । केवल इतना

---

१ भ० पितामहमहेश्वराविति क्रम छेकानुप्रासार्थं । सालङ्कारस्य च वाक्यभिनयतां दर्शयितुम् । सालङ्कारस्य देवतापरितोषहेतुत्व च दर्शयितुम् । पितामहमहेश्वरावित्यनेन देवयोर्लोकहितैषित्वमुक्तम् । नाट्यशास्त्रमिति ।

म० संस्कारस्य पूर्वं बुद्धौ निपतनाच्चरमसंस्कारस्य । पितामह-महेश्वराविति क्रम आश्रित. ।

प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार 'पितामह-महेश्वरौ' इस रूपमें नमस्कार करनेके कारणका निरूपण कर रहे हैं। और वह सस्कारोके पौर्वापर्यके आधारपर इस क्रमको निर्धारित करना चाहते हैं। यह अभिप्राय उस पाठसे आभासितमात्र होता है स्पष्ट रूपसे प्रतीत नही होता है। इस अस्पष्टताका कारण बीचमेंसे कुछ पाठका लुप्त हो जाना ही है। ग्रन्थकारके अनुसार 'पितामह' का पहिले ग्रहण किए जानेका कारण पितामहके सस्कारका बुद्धिमें पहिले पडना है। और महेश्वर-विषयक सस्कारके बादमें पडनेके कारण उनका बादको स्मरण होता है। इसलिए सस्कार और तज्जन्य स्मरणके क्रमसे ही यहा उन दोनोके नमस्कारका क्रम रखा गया है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय प्रतीत होता है। इस अभिप्रायको स्पष्ट रूपसे बोधित करनेकेलिए हमने अपनी विवेकाश्रित-सम्पादन-पद्धतिसे प्रसङ्गानुकूल विलुप्त पाठकी कल्पना की है। इसके अनुसार इस अनुच्छेदके प्रारम्भिक वाक्यका पाठ 'पितामह-सस्कारस्य पूर्वं बुद्धौ निपतनात् तस्य प्रथम, चरमसस्कारस्य च महेश्वरस्य पश्चात् स्मरणमिति पितामह-महेश्वराविति क्रम आश्रित' इस प्रकारका होना चाहिए था। इसमें 'पितामह', 'तस्य प्रथम' और 'महेश्वरस्य च पश्चात् स्मरणमिति' इन शब्दोका समावेश किया गया है। इन पदोके समावेशके बिना इस वाक्यका कोई अर्थ नही निकलता था। इसलिए हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है। और अपने बढ़ाए शब्दोको काले टाइपमें दिया है।

द्वितीय सस्करणके पाठ-सशोधनकी समीक्षा—

अभिनवभारती-युक्त नाटचशास्त्रका प्रथम सस्करण ओरिएन्टल इस्टीट्यूट बडौदासे १९२६ में प्रकाशित हुआ था। उसीके आधारपर हमने अपने इस सस्करणका पाठ दिया है। उसमें इस स्थलका पाठ अशुद्ध और असङ्गत था उसको हमने सशोधित करके ऊपर यथा सम्भव निकटतम शुद्ध पाठ देनेका यत्न किया है। इसके बाद अभिनवभारती-युक्त नाटचशास्त्रके इसी प्रथम भागका दूसरा सस्करण १९५६ में फिर बडौदासे प्रकाशित हुआ है। इस सस्करणमें इस स्थलके पाठको सशोधित करके दूसरे रूपमें छापा गया है। परन्तु इस सशोधनसे पाठकी स्थिति सुधरनेके स्थानपर और अधिक बिगड गई है। नए द्वितीय सस्करणमे सशोधित पाठ इस प्रकार दिया गया है—

पितामह-महेश्वराविति क्रम छेकानुप्रासार्थ। सालङ्कारस्य च वाक्याभिनयता दर्शयितुम्। सालङ्कारस्य देवतापरितोषहेतुत्व च दर्शयितुम्। पितामहमहेश्वरावित्यनेन देवयोर्लोकहितैपित्वमुक्तम्।

इस द्वितीय सस्करण वाले पाठ और प्रथम सस्करण वाले पाठ दोनोके मूल्योमें बडा अन्तर है। प्रथम सस्करण वाले पाठके अशुद्ध और असङ्गत होनेपर भी उसके सामने यह द्वितीय सस्करण वाला सशोधित पाठ अत्यन्त निम्न श्रेणीका, हेय, और सर्वथा उपेक्षणीय है। अभिनवगुप्त ने यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि 'पितामह-महेश्वर इस क्रमसे ही यहाँ देवताओको नमस्कार क्यो किया गया है। अभिनवगुप्त परम-माहेश्वर है। शिवके परम भक्त हैं। उनकी दृष्टि से तो पहिले महेश्वरको नमस्कार होना चाहिए और उसके बाद किसी औरको। इसके विपरीत भरतमुनिने पहिले पितामहको और बादमें महेश्वरको नमस्कार किया है। इसलिए उनके सामने इस प्रश्नका आना स्वाभाविक था। उन्होने इस प्रश्नको उठा कर उसका जो समाधान किया है वह बडा सुन्दर है। पितामहका अर्थ बाबा भी होता है। उस बाबाका ज्ञान और सस्कार बच्चे के ऊपर बाल्यकालमे ही पड जाता है। महेश्वरका अर्थ परमात्मा है। उसका सस्कार बहुत बड़े

होने के पश्चात् बनता है। नमस्कार करते समय संस्कारके इस क्रमका विशेष महत्व ग्रन्थकार ने दिखलाया है। 'संस्कारमात्रजन्य ज्ञान स्मृति' इस लक्षणके अनुसार स्मरणके प्रति संस्कार ही कारण होता है। अत जिसका संस्कार पहिले बना उसका स्मरण पहिले और जिसका संस्कार बादको बना उसका स्मरण बादको हुआ। इसीलिए संस्कारके पौर्वापर्यके क्रमसे यहां नमस्कार का पौर्वापर्य रखा गया है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इस, और केवल इसी दृष्टिकोणको उपस्थित करनेके लिए ग्रन्थकारने यहां इस प्रश्नको उठाया है। यही इस प्रसङ्गका प्राण है। इसके अतिरिक्त छेकानुप्रासका परिपोषण तथा सालङ्कार वाक्यका देवता-परितोषहेतुत्व आदि अन्य जो बातें यहां दिखलाई हैं वे सब अत्यन्त गौण हैं। केवल प्रसङ्गत. ही उनका निर्देश कर दिया है। उन पर विशेष बल नहीं है। वे इस प्रसङ्गका प्राण नही, शरीर हैं। संस्कारका पौर्वापर्य ही इस प्रसङ्गका प्राण है। परन्तु द्वितीय संस्करणमें जो पाठ दिया गया है उसने इस प्राणतत्वको निकाल कर अलग फेंक दिया है और केवल शरीरको सजानेका व्यर्थ प्रयास किया है 'पितामह-महेश्वराविति क्रम' छेकानुप्रासार्थ.' इस समाधान में कोई सार नही है, कोई जीवन और प्रतिभा नही है। 'संस्कारस्य पूर्वं बुद्धौ निपतनात्' वाले समाधानमें एक प्रतिभा और जीवन की ज्योति दिखलाई देती है। वही समाधान ग्रन्थकारका अभिमत समाधान है। उसीकेलिए अभिनवगुप्तने इस प्रसङ्गको उठाया है। इसलिए उसको निकाल कर जो पाठ द्वितीय संस्करणमें छापा गया है वह ग्रन्थकारके अभिप्रायसे एक-दम परे होनेके कारण नितान्त अनुचित और उपेक्षणीय है।

यह पाठदोष क्यों हुआ—

इस पाठदोषका कारण पाण्डुलिपिकी भ्रष्टता है। अभिनवभारतीकी रचना भारतके ठेठ उत्तरीय भाग काश्मीरमें हुई। परन्तु चिरकाल तक लुप्तप्राय रहनेके बाद उसकी केवल मात्र दो पाण्डुलिपियोंकी प्राप्ति भारतके ठेठ दक्षिण भाग मलाबार ट्रावनकोरमें हुई। इनमेंसे एक ताडपत्र पर लिखी हुई प्रति कालीकटके चेलापुरम स्थानके निवासी श्री अम्पालकट करुणाकर मेननके पाससे प्राप्त हुई थी। उससे मद्रासके राजकीय पुस्तकालयके लिए १६१८-१९ में प्रतिलिपि तैयार करवाई गई। दूसरी पाण्डुलिपि तिरवाकुर [ट्रावनकोर] के महाराजाके निजी पुस्तकालयमें मिली थी। ये दोनो प्रतियां लगभग एक-सी हैं। और ऐसा प्रतीत होता है कि किसी एक ही मूल पुस्तकसे उन दोनोंकी प्रतिलिपि की गई है। तिरवाकुर वाली प्रतिसे वाराणसीके राजकीय पुस्तकालय सरस्वतीभवनकेलिए एक प्रतिलिपि तैयार कराई गई। और उससे फिर पूनाके 'भण्डारकर रिसर्च इस्टीट्यूट' केलिए एक प्रति तैयार कराई गई। दूसरी मद्रास वाली प्रतिसे 'ओरिएन्टल इस्टीटयूट बडोदा' केलिए एक प्रति तैयार कराई गई। इसीके आधारपर बडोदासे अभिनवभारती-युक्त नाट्यशास्त्रका प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। द्वितीय संस्करणमें इस स्थलपर जो पाठान्तर दिया गया है वह तिरवाकुरवाली पाण्डुलिपिके आधारपर प्रस्तुत 'भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट' पूनावाली प्रतिके आधारपर दिया गया है। इन दोनों पाण्डुलिपियों का केवल इसी स्थानपर मुख्य पाठभेद पाया जाता है। शेष भाग दोनोंमें प्राय एक जैसा ही है। साधारण पाठान्तर होने पर भी कोई विशेष महत्वपूर्ण पाठभेद उनमें नहीं पाया जाता है। इसलिए बडोदा वाले द्वितीय संस्करणमें भी महत्वपूर्ण स्थलोंके पाठदोष ज्योंके-त्यों बने हुए हैं।

ऐसा अनुमान होता है कि जिस मूल प्रतिसे चेलापुरमकी मेनन वाली प्रतिलिपि तैयार की गई थी उसीसे तिरवांकुरके महाराजाके पुस्तकालय वाली प्रति भी तैयार की गई थी। ताडपत्र

पर लिखी हुई इस मूल पाण्डुलिपिमें अनेक स्थानोपर कीडे लग गए थे और उनके कारण स्थान-स्थानपर बीचका पाठ लुप्त हो गया था। प्रकृत स्थल उसी प्रकारके कीटदष्ट स्थलोमेंसे एक था। इससे जो उपर्युक्त दो प्रतियां तैयार की गई उनके लेखकोने अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार इस स्थलपर भिन्न-भिन्न प्रकारकी नीतिसे काम लिया है। चेलापुरम् वाली प्रतिके लेखकने बीचके लुप्त पाठोकी उपेक्षा कर जो कुछ पाट उपलब्ध था और पढने में आ सका उसको ज्यो-का-त्यो अङ्कित कर दिया। उसके अनुसार मद्रास वाली प्रति तैयार हुई, और उसीके आधार पर बडौदाका प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ। मूल प्रतिमे 'सस्कारस्य पूर्व बुद्धौ निपतनात्' से पहिले 'पितामह' शब्द को कीडे खा गए थे, इसलिए वह पाठ लुप्त हो गया था। इसी प्रकार उसके आगे 'तस्य प्रथम' और 'चरमसस्कारस्य' के बाद 'महेश्वरस्य च पश्चात् स्मरणम्' इस भागके कीडोके पेटमें चले जाने से यह सब अनर्थ हो गया।

चेलापुरम वाली प्रतिके लेखक कोई साधारण व्यक्ति थे इसलिए उन्होने उपलब्ध पाठको ज्यो-का-त्यो अङ्कित कर लिया। किन्तु तिरवाकुरके महाराजा साहबके पुस्तकालयकेलिए जिन्होने प्रतिलिपि तैयार की थी वे कोई अच्छे पण्डित रहे होगे। इसलिए जब उनके सामने यह अशुद्ध असङ्गत और अटपटा-सा पाठ अङ्कित करनेके लिए आया तो वे उसे ज्यो-का-त्यो अङ्कित न कर सके। देखते-भालते जीती मक्खी वे नही निगल सके। इसलिए उन्होने पाठको सशोधित और सुसङ्गत बना कर ही अङ्कित करनेका यत्न किया। उनके इसी प्रयत्नके फलस्वरूप तिरवाकुर वाली प्रतिमें इस स्थलपर यह पाठान्तर जो हमने ऊपर उद्धृत किया है उपलब्ध हुआ। इसमें सन्देह नही कि इस सशोधनसे पाठकी असङ्गति दूर हो गई और एक सम्बद्ध-सा पाठ सामने आ गया। परन्तु वह वस्तुत ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुकूल नही था। इसलिए उससे ग्रन्थका गौरव बढा नही, घटा ही। पर उस समय वही बहुत था। कीडो के पेटमें समाए हुए वास्तविक पाठका उद्धार कर सकना तो उनके वशकी बात न थी। उसके लिए तो शुक्राचार्यकी सञ्जीवनी-विद्याकी आवश्यकता थी।

पाठदोष के जन्य कारण—

अभिनवभारतीके पूर्व सस्करणोका पाठ अत्यन्त अशुद्ध रूपमें छपा है, इसका यह एक उदाहरण है। यहा पर पाण्डुलिपिको कीडो द्वारा खण्डित कर दिए जानेके कारण पाठ भ्रष्ट हो गया है। पर इसके अतिरिक्त अन्य भी कई कारण हैं जिन्होने अभिनवभारतीके पाठको अत्यन्त भ्रष्ट कर दिया है। कही-कही ऐसा हुआ है कि पुरानी शैलीकी पत्राकार प्रतिमे किसीने पढते समय एक पन्ना उठाकर भूलसे किसी अन्य स्थल पर रख दिया है। सम्पादन और मुद्रणके समय वह भाग वही अ-स्थान पर छप गया है। इस प्रकारके उदाहरण आगे अनेक स्थानो पर मिलेगे। विशेष रूपसे इसी कारिकामें पृ० २८-३० तक तथा १६वी कारिकाकी व्याख्यामें इस प्रकारके उदाहरण देखनेको मिलेंगे।

कुछ स्थलोपर लिपिकारका प्रमाद ही पाठोको दूषित करनेका कारण है। जैसे दूसरे श्लोकमें 'पट्त्रिंशकात्मकजगद्गगनावभास' में लिपिकारने 'पर्टात्रश' के स्थानपर 'पर्डावश' पद लिख दिया था जिसके कारण पाठ अशुद्ध हो गया। अभी पिछले पृष्ठ पर 'चतुर्भुजादावूर्ध्वादिभिन्न इव' के स्थान पर 'चतुर इव भुजादावूर्ध्वादिभिन्न' लिख दिया गया जिसके कारण पाठको समझना कठिन हो गया। अगले पृष्ठ २२ पर 'पूर्णता च तद् गतम्' के स्थानपर 'पूर्णताया च तद्गतत्वम्' लिख

यद्वक्ष्यति—

'चेक्रीडितप्रभृतिभिर्विकृतैश्च शब्दै-
र्युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगा'।

इति । सालङ्कारस्य च देवतापरितोषहेतुत्व दर्शित भवति ।

दिया गया था । ये सब लिपिकारके प्रमादकृत दोष हैं। उनके कारण ग्रन्थका समझना कठिन हो गया है । इन सब कारणोने मिलकर अभिनवभारतीके पाठको इतना अधिक अशुद्ध और भ्रष्ट बना दिया कि सारा ग्रन्थ अत्यन्त दुरूह और दुर्ज्ञेय बन गया है । किन्ही-किन्ही विद्वानोका तो यहा तक कहना है कि यदि स्वय अभिनवगुप्त भी उतर आवें तो अभिनवभारतीका जो कुछ पाठ इस समय उपलब्द हो रहा है उसको देखकर वे स्वय भी अपने अभिप्रायको नही समझ सकेंगे । ऐसी अवस्थामें अभिनवभारतीकी विशद व्याख्या प्रस्तुत करना कितना कठिन कार्य है इसका अनुमान किया जा सकता है । फिर भी हमने इस दिशामें प्रयत्न किया है । विषम स्थलोपर अभिनवगुप्तके अभिप्रायको समझने और उसके अनुसार पाठ-सशोधन करनेका यत्न किया है। ग्रन्थकारके मूल पाठको अक्षरश. शुद्ध रूपमें ज्यो-का-त्यो उपस्थित कर देना तो सम्भव ही नहीं है परन्तु फिर भी ग्रन्थकारके अभिप्रायके निकटतम पहुचनेका यत्न किया गया है । उससे और कुछ नही तो ग्रन्थ सुसङ्गत और सुबोध अवश्य बन गया है । इस समय इतना भी बहुत है ।

सालङ्कार वाक्यके प्रयोगका समर्थन—

'पितामह-महेश्वरो' इस क्रमके रखे जानेका एक कारण तो यह बतलाया है कि पितामह अर्थात् बाबाके निकट-सम्बन्धी होनेसे बालकके मन पर उनका सस्कार पहिले और महेश्वर अर्थात् शिव या ईश्वरका सस्कार बहुत बादको होनेसे स्मरण भी इसी क्रमसे होता है । अतः इसी क्रमसे नमस्कार किया गया है ।

दूसरा कारण छेकानुप्रासके परिपोषण द्वारा अलङ्कारयुक्त वाक्यके नाटकमें प्रयोगका समर्थन है । इसकी पुष्टिके लिए ग्रन्थकार भरतमुनिके वचनको ही आगे नाटयशास्त्रके १६वें अध्याय से उद्धृत करते हैं—

अभिनव०—जैसा कि [भरतमुनि स्वय १६वें अध्यायमें] कहेगे—

अभिनव०—'चेक्रीडित' आदि जैसे [क्लिष्ट] एवं [यङ्-लुगन्त प्रक्रिया आदि के द्वारा] विकृत शब्दोंसे युक्त नाटकोंके प्रयोग सुन्दर नहीं लगते हैं।

अभिनव०—यह । और अलङ्कार युक्त [वाक्य अथवा नाटक] देवताओंके परितोषका कारण होता है इस बातको भी दिखलाया गया है ।

पाठसमीक्षा—वृत्तिकारने 'चेक्रीडित' इत्यादि आधा श्लोक ही यहा उद्धृत किया है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

'चेक्रीडितप्रभृतिभिर्विकृतैश्च शब्दै—
र्युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगाः।
यज्ञक्रिया रुरुचर्मधरै-र्घृताक्तै—
र्वन्द्या द्विजैरिव कमण्डलु-दण्डहस्तैः ॥

---

१. ना० शा० १६-१२७ ।

'प्रजा' प्रति हितैषित्वेन नाट्यप्रवर्तकत्वम् । कर्तव्यान्तरवैकल्येन [2]पूर्णतां च तद्गतम् । इति नाम्नोरभिप्राय. ।

इसका आशय यह है कि जिस प्रकार मृगचर्मको धारण किए हुए और घृत चुपड़े हुए अर्थात् विकृत वेषधारी व्यक्तियोके यज्ञवेदीपर आबैठनेसे यज्ञक्रिया शोभित नही होती है और जिस प्रकार दण्ड-कमण्डुल धारी ब्राह्मणोके समीप आ बैठनेसे वेश्या शोभित नही होती है इसी प्रकार 'चेक्रीडित' आदि जैसे क्लिष्ट एव विकृत शब्दोके प्रयोगसे नाट्यकला शोभित नही होती है ।

पाठसमीक्षा—वृत्तिकार अभिनवगुप्तने इस श्लोकको अलङ्कार-युक्त वाक्य ही वाचिक अभिनयके योग्य अर्थात् नाटकमें प्रयोगके योग्य होते हैं इस बातके समर्थनकेलिए उद्धृत किया है। परन्तु इस श्लोकसे यह अर्थ सीधी तरहसे नही अपितु अर्थापत्तिसे निकलता है । इसलिए यह श्लोक प्रसङ्गके अनुरूप सुश्लिष्ट नही हुआ है । भरत-नाट्यशास्त्रके इसी अध्यायमें जहासे यह 'चेक्रीडित' इत्यादि श्लोक लिया गया है उसके समीप ही दूसरा श्लोक भी पाया जाता है जो इस अभिप्रायको बिल्कुल ठीक ढगसे व्यक्त कर रहा है । उसी श्लोकको यदि यहा उद्धृत किया जाता तो अधिक अच्छा होता । वह श्लोक निम्न प्रकार है—

शब्दानुदारमधुरान् प्रमदाभिधेयान्
नाट्याश्रयासु कृतिषु प्रयतेत कर्तुम् ।
तै-र्भूषिता भुवि विभान्ति हि काव्यबन्धा
पद्माकरा विकसिता इव राजहंसै ॥ ना०शा० १६-१२१ ॥

पितामह और महेश्वर नामोंके प्रयोगका प्रयोजन—

भरतमुनिने इस प्रथम कारिकामें ब्रह्मा तथा शिवको नमस्कार करते हुए क्रमश पितामह और महेश्वर शब्दोका प्रयोग किया है । इन दोनो देवताओके इन नामोके अतिरिक्त और भी बहुतसे नाम प्रचलित हैं । उन सबको छोड कर इन विशेष नामोका ही प्रयोग मुनिने क्यो किया है इस बातको वृत्तिकार अगले अनुच्छेदमें दिखलाते हैं । उनका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा प्रजाओके 'पितामह' है इसलिए अपनी सन्तानोके प्रति हितैषी होनेसे उन्होने नाट्यवेदकी रचनामे भरतमुनिको प्रवृत्त किया । इस प्रकार उनकी कृपासे नाट्यशास्त्रकी रचना प्रारम्भ हुई । और महेश्वर पूर्णकाम हैं उन्हे और कोई काम करना शेष नही है । उनकी कृपासे भरतमुनिको भी अन्य सब कार्योंसे निश्चिन्त होकर इस ग्रन्थको पूर्ण करनेका अवसर मिला । इसलिए उनकी कृपासे उसकी समाप्ति हो सकी । इस प्रकार ग्रन्थके आरम्भ और समाप्तिकी सूचनाकेलिए इन नामोका प्रयोग किया गया है । इसी बातको अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अभिनव०—प्रजाओके प्रति हितकामनासे [ब्रह्मा स्वयं] नाट्यके प्रवर्तक बने [अर्थात् उन्होने प्रारम्भमे स्वय नाट्यकी उत्पत्ति कर भरतमुनिको नाट्यशास्त्रकी रचनामे प्रवृत्त किया । इस प्रकार 'पितामह' पदसे नाट्यशास्त्रकी रचनाके आरम्भको सूचित किया है] और [पूर्णकाम शिवजीकी कृपासे भरतमुनिको भी] अन्य काम न होनेसे [अर्थात् अन्य कार्योंसे अवकाश मिल जानेके कारण] वह [नाट्यशास्त्र ग्रन्थ] पूर्णताको प्राप्त हुआ यह [पितामह तथा महेश्वर] नामोका अभिप्राय है ।

---

१ म० पितामहमहेश्वरावित्यनेन देवयोर्लोकहितैषित्वमुक्तम् ।

२ म० भ० पूर्णताया च ततस्तद्गतत्वम् ।

'नाटयशास्त्रमिति नाटयस्य नटवृत्तस्य शास्त्र शासनोपायं ग्रन्थं प्रवक्ष्यामीति केचित्[2] ।

नैतदित्यन्ये । नाटयवेदो नाटयशास्त्रमिति हि पर्यायौ । तत्र नाटयशास्त्र-शब्देन चेदिह ग्रन्थ, तद्ग्रन्थस्येदानी करण न तु प्रवचनम् । तद्धि व्याख्यानरूप करणाद् भिन्नम् । 'कठेन प्रोक्तम्' इति यथा । ग्रन्थस्य च नाटयवेदत्वे उत्पत्त्यादिपञ्चकस्य तद्गतस्य अन्यग्रन्थसाधारण्यात् प्रश्नासङ्गतिः । उत्तरग्रन्थस्य चानुपपत्ति । 'दृश्य श्रव्य च यद् भवेत् [१-११] 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' [१-१७] इत्यादेर्ग्रन्थं प्रत्यसङ्गतत्वात् ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें पूर्व-सस्करणोंमें 'कर्तव्यान्तरवैकल्येन पूर्णताया च ततस्तद्गतत्वम्' यह पाठ छपा था । परन्तु उसकी ठीक सङ्गति नही लगती है । उसके स्थान पर'कर्तव्यान्तरवैकल्येन पूर्णता च तद् गतम्' यह पाठ होना चाहिए । तभी उससे विवक्षित अर्थ निकल सकता है । इसलिए हमने संशोधित रूपमे इसी पाठको काले टाइपमें प्रस्तुत किया है ।

इस प्रकार यहाँ तक वृत्तिकारने मुख्य रूपसे चार वातोका निरूपण किया है—

१—'पितामह' पदसे 'वावा' और 'महेश्वर' पदसे 'राजा' आदिका ग्रहण न हो इसके निवारणकेलिए 'देवौ' शब्दका प्रयोग किया गया है । इस मतका खण्डन ।

२—लक्ष्मीपति विष्णुको नमस्कार न करनेका कारणका खण्डन ।

३—पितामह-महेश्वर इस क्रमसे नमस्कार करनेके तीन प्रयोजन ।

४—अन्य नामोको छोडकर पितामह और महेश्वर इन विशेष नामोंके प्रयोगका प्रयोजन ।

अब आगे वृत्तिकार अभिनवगुप्त कारिकाके तृतीय चरणकी व्याख्या आरम्भ करते हैं । इसमें पहिले नाटयशास्त्र शब्दके अर्थके विषयमें पूर्वटीकाकारोके दो मतोंका निराकरण करके सिद्धान्त रूपसे अपने गुरु भट्ट-तोतके मतका प्रतिपादन करेंगे ।

ग्रन्थपरक प्रथम व्याख्या और उसका खण्डन—

अभिनव०—'नाठ्यशास्त्रम्' इसमे नाट्य अर्थात् नट-व्यवहारके 'शास्त्र' अर्थात् 'शासनके उपायभूत ग्रन्थ' को प्रकृष्ट रूपसे कहूंगा यह [अर्थ] कोई करते हैं ।

अभिनव०—दूसरोका [अर्थात् दूसरे टीकाकारोका] कहना यह है कि यह अर्थ ठीक नहीं है । क्योकि नाट्यवेद और नाट्यशास्त्र शब्द समानार्थक हैं । इसलिए नाट्यशास्त्र शब्दसे यहां यदि ग्रन्थका ग्रहण किया जाय तो [पहिला दोष यह होगा कि] उस ग्रन्थकी तो इस समय रचना हो रही है, [प्रवक्ष्यामि पदसे सूचित होने वाला] 'प्रवचन' नहीं । क्योकि वह [प्रवचन] व्याख्यान-रूप और रचनासे भिन्न होता है । जैसे 'कठके द्वारा प्रोक्त' [काठक-शाखा कठकी वनाई हुई नहीं अपितु कठके द्वारा-प्रोक्त मानी जाती है] । और ग्रन्थको ही नाट्यवेद मानने पर [दूसरा दोष यह होगा कि] उसकी उत्पत्ति आदि पाचो वातोके अन्य ग्रन्थोंके समान ही होनेसे [तद्विषयक] प्रश्नोकी सङ्गति नहीं लगती है । और [तीसरा दोष यह भी होगा कि] अगला ग्रन्थ भी असङ्गत हो जाता है । क्योंकि 'जो दृश्य और श्रव्य हो' तथा 'ऋग्वेदसे पाठ्य को ग्रहण किया' इत्यादिकी ग्रन्थके प्रति कोई सङ्गति नहीं होती है ।

---

१. तत्र नाटयस्य । २ 'केचित्' इत्यस्मदीयः पाठ ।

तस्मात्, नाट्य च तच्छास्त्र व्युत्पत्तिप्रदत्वात्। प्रवक्ष्यामि व्यख्यास्ये। नाट्याख्य वेद लक्षणतो निरूपयिष्ये इत्यर्थ।

एतदप्यमनोहरम्। शब्यात्मताव्यतिरेकेण प्रवचनायोगात्। नाट्यस्य चाशब्दात्मकत्वात्। निरूपणमात्रे च प्रवचने ग्रन्थस्यापि प्रवचनोपपत्ते। नाट्यस्य च प्रोच्यमानतयैवालाक्षणिकवाह्यस्वरूपनिरासलामे शास्त्रशब्दानार्थक्यप्रसङ्गात्। 'य इम शृणुयात् प्रोक्त नाट्यवेदम्' इति शास्त्रान्ते यद्वक्ष्यते तस्यासङ्गत्यापत्ते। शब्दविषयताव्यतिरेकेण 'शृणुयात्' इत्यस्य अवाचकत्वात्।

'नाट्य' शब्दकी दूसरी व्याख्या—

इस प्रकार पूर्व टीकाकारोमेंसे जिस प्रथम टीकाकारने नाट्यशास्त्र शब्दसे इस ग्रन्थका ग्रहण किया था उसमें पूर्वोक्त प्रकारसे तीन दोष दिखलाकर उसके मतका खण्डन अभिनवगुप्तके पूर्ववर्ती दूसरे टीकाकारने कर दिया। अब वह अपने मतका प्रतिपादन करता है। उसके मतमें नाट्य-शास्त्र शब्दसे केवल नाट्य या नाट्य-कलाका ही ग्रहण होता है। और उसको ही कर्तव्याकर्तव्यकी शिक्षा देने वाला होनेसे 'शास्त्र' शब्दसे कहा जाता है। पूर्व-टीकाकारके इस मतका प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्त अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अभिनव०—इसलिए नाट्य रूप जो, 'शास्त्र' शिक्षाप्रद होने से, उसको प्रकृष्ट रूपसे कहूगा अर्थात् उसकी व्याख्या करूगा। अर्थात् नाट्य नामक वेदको लक्षणके अनुसार निरूपण करूगा। यह [दूसरे टीकाकारके अनुसार] अर्थ है।

इस दूसरी व्याख्याका खण्डन—

इसमे नाट्यकलाको ही कर्तव्याकर्तव्यकी शिक्षा देने वाला होनेसे 'शास्त्र' माना है। परन्तु वृत्तिकार अभिनवगुप्तकी दृष्टिमें यह अर्थ भी सङ्गत नही है। इसलिए वे अगले अनुच्छेदमें इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—यह [कथन या अर्थ] भी अच्छा नहीं है। क्योकि [उसमे पहिला दोष यह होगा कि यह नाट्य पदसे जिस नाट्यकलाका ग्रहण कर रहे है वह शब्द रूप तो है नहीं, अत·] शब्दरूपताके बिना 'प्रवचन' [मुखसे कथन] नही हो सकता है। और [आपका अभिमत कला रूप] नाट्य शब्दात्मक नहीं है। [अत यह अर्थ ठीक नहीं है]। और [दूसरा दोष यह है कि] यदि केवल निरूपण करनेको ही 'प्रवचन' कहा जाय तो ग्रन्थका भी 'प्रवचन' हो सकता है [फिर पहिली व्याख्या का खण्डन आप क्यो कर रहे हैं। तीसरी बात यह भी है कि] नाट्यके प्रकृष्ट रूप से [अर्थात् शास्त्रीय रूपसे] निरूपित होनेसे ही अशास्त्रीय वाह्य स्वरूपो अर्थात् भाडोके नाच-गान आदिका निराकरण हो जाता है इसलिए [नाट्य पदके साथ] 'शास्त्र' शब्दका प्रयोग निरर्थक हो जाता है। [इस व्याख्यामे चौथा दोष यह भी आता है कि—] इस शास्त्रके अन्तमे [३६वें अध्यायमे] जो यह कहा जायगा कि 'जो कोई इस कहे हुए नाट्यवेद को सुनेगा' [उसको अमुक फलकी प्राप्ति होगी] उसकी भी असङ्गति हो जावेगी। क्योकि [नाट्यके] शब्द रूप हुए विना 'सुनेगा' यह [पद] उसका वाचक नहीं हो सकता है। [इसलिए यह अर्थ ठीक नहीं है]।

तस्मादित्थमिति मद्गुरव । सकलहितकरणप्रवृत्ते[1], उत्साहसम्पदुपेतः, तदभिवृद्धये तत्प्रत्यूहापमिसारयिषया स्वज्ञानक्रमोपारूढगुरुरूप[2]-सर्वाधिपतिब्रह्मपरमेश्वर-विषयां स्मृत्यौत्सुक्यधृतिमत्यादिलक्षणा [3]व्यभिचारिसरणि वाह्यकरणीयविषय च जडतावहित्थाप्रभृतिभावगण पुरस्सरीकृत्य धर्मवीरानुप्रविष्ट तदुचिताङ्गिकवाचिकानु-भावप्रकटनपूर्वं स्वप्रवृत्तिप्रयोजनमेव निरूपयति[4] । प्रयोजनस्यैव प्रवर्तकत्वात् । यदाहु —

[5]यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् । इति ।

भट्ट-तोत-कृत तृतीय सिद्धान्तभूत व्याख्या—

इस प्रकार पूर्ववर्ती दो टीकाकारोके द्वारा की गई तृतीय चरणकी व्याख्याका खण्डन करनेके वाद आगे वृत्तिकार अभिनवगुप्त अपने गुरु श्री भट्टतोत-कृत व्याख्याको प्रस्तुत करते हैं। यह व्याख्या केवल तृतीय चरणकी ही नही है अपितु उसके साथ ही शेष सारी कारिका की भी भट्ट-तोत-कृत व्याख्या यहाँ दे रहे हैं। उसका भाव यह है कि—'नाटयशास्त्र प्रवक्ष्यामि' इस तृतीय चरणमें भरतमुनिने अपनी वर्तमान कालमें हो रही प्रवृत्तिका प्रयोजन वतलाया है। और वह प्रयोजन नाटयशास्त्रका प्रवचन अर्थात् प्रकृष्ट रूपसे कथन करना है। इसके पूर्व कारिकाके पूर्वार्द्ध अर्थात् प्रथम द्वितीय चरणोमें भरतमुनिने सवके हितसाधन विषयक इस प्रवृत्तिके प्रति जो उनका उत्साह है उसकी वृद्धि एव उसके मार्गमें आनेवाले विघ्नोके निराकरणकेलिए धर्मवीर रससे अनुप्राणित होकर अपने ज्ञानमें क्रमसे उपारूढ गुरु रूप पितामह और महेश्वर अर्थात् ब्रह्मा और शिवको नमस्कार किया है। इस प्रकार इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने अपने गुरु श्री भट्टतोत द्वारा प्रतिपादित इस कारिकाके तीन चरणोकी व्याख्या निम्न प्रकारसे प्रस्तुतकी है—

अभिनव०—इसलिए हमारे गुरु [भट्टतोत] के मतमे इसकी व्याख्या इस प्रकार है कि—सव लोगोके हितसाधनकी प्रवृत्तिके होनेसे, उत्साह-सम्पत्तिसे परिपूर्ण, [भरतमुनि] उसकी वृद्धि, और उसके विघ्नोके निराकरणकी इच्छासे, अपने विज्ञानमें [अर्थात् बुद्धिमे पूर्व-निर्दिष्ट विधिके अनुसार] क्रमसे उपारूढ, गुरु रूप सवके अधिपति [पितामह] ब्रह्मा तथा महेश्वर विषयक स्मृति, औत्सुक्य, धृति, मति आदि व्याभिचारि-भावोको, और वाह्य विषयोमे अप्रवृत्ति रूप जडता, अवहित्था आदि भाव-गणोके-साथ, धर्मवीर-रससे अनुप्राणित होकर [भरतमुनि कारिकाके प्रथम द्वितीय चरणोमे] उस [धर्मवीर-रस] के अनुरूप [नमस्कार द्वारा शिरोनमन आदि रूप] आङ्गिक तथा वाचिक अनुभावोको प्रकट करते हुए [इतनी पूर्वार्द्धको व्याख्या हुई। उसके वाद इस कारिकाके तृतीय चरणमे] अपनी प्रवृत्तिके [नाटय शास्त्रके प्रवचन रूप] प्रयोजनको ही दिखलाते हैं। क्योकि प्रयोजन ही [प्रत्येक व्यक्तिका] प्रयोजक होता है। जैसा कि [न्यायदर्शन १-१-२४ मे] कहा गया है—

अभिनव०—'जिस अर्थको लक्ष्य करके मनुष्य प्रवृत्त होता है वह प्रयोजन कहलाता है'।

---

१ म० प्रवृत्त उत्साह। [द्वि० स०]
२. नवं ब्रह्माधिपतिपरमेश्वरविषयाम्।
३. व्यभिचारसरणिम्।
४ म० निरूपितवान्।
५. न्याय सूत्रम् १-१-२४।

तत्र नाटच नाम लौकिकपदार्थव्यतिरिक्तं तदनुकार-प्रतिबिम्ब-आलेख्य-सादृश्य-आरोप-अध्यवसाय-उत्प्रेक्षा-स्वप्न-माया-इन्द्रजालादिविलक्षण, तद्ग्राहकस्य सम्यग्ज्ञान-भ्रान्ति-सशय-अनवधारण-अनध्यवसायविज्ञानभिन्न-तया आस्वादनरूपसवेदन-सवेद्य वस्तु 'रसस्वभावमिति वक्ष्याम ।

तस्य शास्त्र शासन वाह्यभाण्डनाटचादिवैलक्षण्येन सम्यक् तत्स्वरूपावगमो-पायम्, प्रकर्षेण अपरब्रह्मशिष्योदीरितानुपयोगिविकासभावसाधनेन[2] वक्ष्यामि ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पूर्व-सस्करणस्थ पाठ दो जगह अशुद्ध छपा था। परन्तु वे अशुद्धिया विशेष महत्त्व की नही हैं। पहिली जगह 'सर्वब्रह्माधिपतिपरमेश्वरविषया' इस प्रकारका पाठ छपा था। उसके स्थानपर 'सर्वाधिपतिब्रह्मपरमेश्वरविषया' इस प्रकारका पाठ उचित प्रतीत होता है। दूसरी जगह 'व्यभिचारसरणि' पाठ छपा था उसके स्थान पर 'व्यभिचारि-सरणि' पाठ होना चाहिए था। इसलिए हमने सशोधित रूपमें वे ही पाठ प्रस्तुत किए हैं। और अपने सशोधित पाठोको काले टाइपमें तथा पूर्व-पाठोको पाद-टिप्पणीमें कर दिया है।

भट्टतोतके मतसे नाटचका अलौकिक रूप—

इस प्रकार इस अनुच्छेदमें सामान्य रूपसे कारिकाके तीनो चरणोका भट्टतोताभिमत भाव प्रदर्शित करके अब अगले अनुच्छेदमें विशेष रूपसे विवादास्पद 'नाटचशास्त्र प्रवक्ष्यामि' इस तृतीय चरणकी व्याख्या करनेकेलिए 'नाटच', 'शास्त्र' तथा 'प्रवचन' तीनो पदोंके अर्थोंका निरूपण करते हैं—

अभिनव०—उसमे नाटच, लौकिक पदार्थसे भिन्न है उसके १ अनुकरण २ प्रतिबिम्ब, ३ चित्र, ४ सादृश्य, ५ आरोप, ६ अध्यवसाय, ७ उत्प्रेक्षा, ८ स्वप्न, ९ माया, और १० इन्द्रजाल आदि [दस प्रकारकी लौकिक प्रतीतियो] से विलक्षण, [होनेसे] और उसके [ग्राहक अर्थात्] ज्ञानके [भी] १ यथार्थज्ञान, २ मिथ्याज्ञान ३ सशय, ४ अनवधारण, तथा ५ अनध्यवसायात्मक [पाचो प्रकारके लौकिक] ज्ञानसे भिन्न प्रकारका होनेके कारण, वह नाटच, आस्वादरूप साक्षात्कारात्मक ज्ञानसे ग्राह्य, रसात्मक [अलौकिक] वस्तु है यह बात हम आगे कहेगे। [यहाँ तक 'नाटच' शब्दका अर्थ किया]।

उस [अलौकिक रसात्मक नाटच] के 'शास्त्र' अर्थात् शासन अर्थात् भांड आदिके अशास्त्रीय नाटच [अर्थात् स्वाग आदि] से भिन्न प्रकारसे, उसके स्वरूपको, भली प्रकार समझनेके उपायको, प्रकृष्ट रूपसे अर्थात् ब्रह्माके अन्य शिष्योके द्वारा कहे गए [मार्ग या] उपायके अनुपयोगी विस्तारमात्रको सिद्ध करके कहूंगा। [यह 'नाटचशास्त्र प्रवक्ष्यामि' इस तृतीय चरणकी व्याख्या हुई]।

इस अनुच्छेदमें नाटचको अलौकिक रसात्मक वस्तु बतलाया है। और उसकी अलौ-किकताकी सिद्धिकेलिए उसे अनुकरण, प्रतिबिम्ब आदि दस प्रकारकी लौकिक प्रतीतियोसे भिन्न माना है। इसका अभिप्राय यह है कि नाटचमें जो नट, राम आदिका रूप धारण करके अभिनय

---

१ म स्वभावेति। म० रसस्वभा इति।

२ भ, विकासावधानेन। भ० रितोनुपयोगिविकासत्वाधानेन।

करता है उसमें नाटक देखते समय सामाजिकको यह अनुभव नही होता है कि १ यह रामका अनुकरण है, या २ प्रतिबिम्ब है, या ३ रामका चित्र देख रहा है, या ४ रामके सदृश व्यक्ति को, ५, आरोप, या ६ अध्यवसाय, या ७ उत्प्रेक्षा, या ८ माया, या ९ स्वप्न, या १० इन्द्रजाल आदिको देख रहा है। यदि इस प्रकारका अनुभव हो तो उसे रसास्वाद ही नहीं होगा। इसलिए जितने प्रकारकी लौकिक प्रतीतियाँ हो सकती है नाटयके राम आदिका ज्ञान उन सबसे भिन्न प्रकारका होता है। इसी प्रकार समस्त प्रकारके लौकिक ज्ञानोसे भिन्न उसका साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है। इसलिए नाटच लौकिक पदार्थोंसे भिन्न अलौकिक रसात्मक वस्तु है। उसके 'शास्त्र' अर्थात् शासन अर्थात् उसके स्वरूपको सम्यक् प्रकारसे समझनेके उपायको प्रकृष्ट रूपसे कहूंगा। अर्थात् अन्य लोगोने जो उपाय कहे हैं वे अनुपयोगी विस्तारमात्र हैं इस बातको सिद्ध करते हुए उनकी अपेक्षा—उत्कृष्ट रूपसे मैं उनका निरूपण करूंगा। यह भट्ट-तोतके मतानुसार तृतीय चरणका अभिप्राय है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें हमने केवल एक सशोधन नाममात्रका किया है। पूर्व संस्करणोमें 'तद्ग्राहकस्य सम्यग्ज्ञानभ्रान्तिसंशयानवधारणानध्यवसायविज्ञानभिन्नास्वादनरूपसंवेदन-सवेद्यं वस्तु रसस्वभावमिति वक्ष्यामः' इस प्रकारका पाठ छपा था। परन्तु यह पाठ शुद्ध नहीं है। यदि 'तद्ग्राहकस्य' यह पद न होता तो तब तो 'अनध्यवसायविज्ञानभिन्न-आस्वादनरूपसवेदनसवेद्यं वस्तु' इस पाठकी सङ्गति लग सकती थी। पर 'तद्ग्राहकस्य' इस पदके प्रयोगके होनेपर 'भिन्न' पदसे अर्थ नही निकल सकता है। 'भिन्न' पदके साथ 'तया' जोड कर 'भिन्नतया' इस प्रकारका पाठ मानने पर ही अर्थकी सङ्गति होती है। अन्यथा नही। बडोदा वाले द्वितीय संस्करणमें 'भिन्न' के आगे 'वृत्तान्त' पद बढाकर 'भिन्नवृत्तान्त' पाठ छापा गया है। परन्तु वह भी ठीक नहीं बनता है। उसमें भी यह दोष ज्योका-त्यो बना रहता है। अत हमने इस 'तया' का समावेश आवश्यक मान कर उसी प्रकार 'भिन्नतया' यह सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है।

संशय अनध्यवसाय और अनवधारण ज्ञानका भेद—

इसी पंक्तिमें 'सशय—अनवधारण—अनध्यवसाय इन तीन पदोंका प्रयोग किया गया है। इनमें 'सशय' और 'अनध्यवसाय' ज्ञानका भेद तो वैशेषिक-दर्शनमें किया गया है। किन्तु 'अनध्यवसाय' तथा 'अनवधारण' ज्ञानका भेद वहाँ भी नही किया गया है। पर उनके अर्थोंमें निम्न प्रकार का सूक्ष्य भेद है। १ संशयमें दो कोटिया होती है। २ अनध्यवसाय सर्वथा अपरिचित वस्तुके विषयमें होता है। और ३ अनवधारण परिचित वस्तुसे सम्बन्ध रखता है।

संशय और अनध्यवसाय इन दोनो ज्ञानोको वैशेषिक-दर्शनके प्रशस्तपाद-भाष्यमें अविद्याके चार प्रकारके भेदोंके अन्तर्गत माना गया है। 'अविद्यापि चतुर्विधा सशय-विपर्यय-स्वप्न-अनध्यवसाय-लक्षणा'। इस प्रकार अविद्याके चार भेदोंमें संशय तथा अनध्यवसाय दोनोंको अलग-अलग गिनाया गया है। 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह सशयका उदाहरण है। उसमें स्थाणु और पुरुष दो कोटियाँ होती है। उन दोनो कोटियोको स्पर्श करनेवाला ज्ञान 'सशय' कहलाता है। अनवधारण तथा अनध्यवसाय ज्ञानोंमें दो कोटियां नहीं होती है। किसी सर्वथा अपरिचित प्रथम बार सम्मुख आई वस्तुको, देखकर यह निश्चय न कर सकना कि यह क्या है 'अनध्यवसाय' कहलाता है। जैसे जिसने ऊंटको कभी नही देखा है वह अकस्मात् ऊंटके सामने आजानेपर उसका निर्णय नही कर सकता है। इसे ही वैशेषिक दर्शनमें 'अनध्यवसाय' ज्ञान कहा गया है। किन्तु कभी-कभी सुपरिचित वस्तुके देखने पर भी उसके पूर्ण रूपसे सामने न आने पर उसका निर्णय नहीं हो पाता है। उसको 'अनवधारण' कहा गया है यह इनका सूक्ष्म भेद है।

['यद्वक्ष्यति—

य इम शृणुयात् प्रोक्त नाट्यवेद स्वयम्भुवा ।
कुर्यात् प्रयोग यश्चैन तथाधीयीत वा नर ॥
या गतिर्वेदविदुषा या गतिर्यज्ञवेदिनाम् ।
या गतिर्दानशीलाना ता गति प्राप्नुयात् तु स ॥ [ना०शा०अ० ३६]

एतेन 'कामजो दशको गरण' [मनु ७-४७] इति वर्जनीयत्वेन नाट्यस्यानुपादेयतेति यत् केचिदाशङ्किरे तदयुक्तीकृतम् । याज्ञवल्क्यस्मृतिपुराणादौ चास्य प्रशसाभूयस्त्वश्रवणात् । न चागमादृते धर्मोऽनुमानगम्य इति न्यायात् ।

एतत् तु वृथैवास्थानभीरून् प्रति शङ्काशमनार्थमभिधीयते नाम] ।

बाईस पक्तियोके अस्थान-पाठका उदाहरण—

ऊपर हमने दिखलाया था कि 'अभिनवभारती' के पूर्व-मुद्रित सस्करणोमें अनेक प्रकारके पाठ-दोष पाए जाते हैं। उनमेंसे अस्थान पाठका दोष भी एक मुख्य दोप है। अस्थान-पाठका अभिप्राय यह है कि किसी अन्य स्थानपरका पाठ अपने उचित स्थानको छोड कर किसी अन्य अनुचित स्थानपर छाप दिया गया है। इस दोपके आनेके भी कई कारण हो सकते हैं। उनमेंसे एक मुख्य कारण यह है कि प्राचीन शैलीकी बहुत सी पाण्डुलिपियोमे पृष्ठ-सख्या भी नही पडी रहती है। केवल उनके पृष्ठ क्रमसे लगे रहते हैं। यदि कभी किसीने पढते समय एक पृष्ठको उठा कर भूलसे इधर-उधर रख दिया तो उसे फिर उचित स्थानपर पहुचाना बडा कठिन, प्रतिभा और परिश्रमसे साध्य कार्य हो जाता है। ऐसी दशामे मुद्रण होते समय पाठोका इधरसे उधर मुद्रित हो जाना बहुत साधारण-सी बात है। कुन्तकके 'वक्रोक्तिजीवितम्' में भी अनेक स्थानोपर इस दोपका अनुभव हुआ था। हमने 'वक्रोक्तिजीवित' के अपने सम्पादित सस्करणमें इस प्रकारके अस्थान-पाठोका उद्धार कर उनको यथोचित स्थान पर मुद्रित करनेका यत्न किया था। उसी प्रकारकी स्थिति 'अभिनवभारती' में भी अनेक स्थानोपर पाई जाती है। उनमेसे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थल यह है जो इस २८ वें पृष्ठ के 'यद्वक्ष्यति' से आरम्भ होकर अगले दो पृष्ठो तक अर्थात् ३०वें पृष्ठ के 'करोतीति वक्ष्याम' तक गया है। यह सब पाठ इस स्थलका पाठ नही है। उसका उचित स्थान आगे पृष्ठ ३८-४३ पर आवेगा। वहाँ हम इस पाठको काले टाइप में पुन मुद्रित करेंगे। और वही इसकी व्याख्या करेंगे।

हम इसको अस्थान-पाठ क्यो मानते हैं—

२८ से ३० पृष्ठ तक तीन पृष्ठोमें मुद्रित इन २२ पक्तियोके पाठको हमने अस्थान-पाठ माना है इसके कई कारण हैं। पर इसका सबसे मुख्य कारण यह है कि इन २२ पक्तियोमें जिस विपयका प्रतिपादन किया गया है उसकी इनके पहिलेके तथा इनके बाद वाले प्रकरणके साथ कोई सङ्गति नही लगती है। अर्थ और विपय दोनोकी दृष्टिसे जब हम इन पक्तियोकी स्थिति पर विचार करते हैं तो तुरन्त ही यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पक्तिया यहांपर अप्रासङ्गिक रूपसे व्यर्थ आगई है। उनकी यहां पर न कोई आवश्यकता है और न कोई सङ्गति ही लगती है। इन पक्तियोकी अप्रासङ्गिकताको समझनेकेलिए इन पक्तियोके पूर्वापर प्रकरण और स्वय इन पक्तियोके विपयकी विवेचना करना आवश्यक है। इन दोनो बातोकी विवेचनासे ही उनकी स्थितिका निश्चय हो सकेगा इसलिए पहिले हम इन पक्तियोके पूर्वापर प्रकरणकी विवेचना करते हैं।

---

१ यह सब अस्थान-पाठ है। अत कोष्टमे दिया है और यहां अनुवाद भी नहीं दिया है।

['तथाहि—नटाना तावदेतत् स्वधर्मम्नायरूपतया अनुष्ठेयमेव। न चास्माक तच्चेष्टितं विचार्यम्। सोमक्रयोपदेशिनो हि वाक्यस्य न तद्विक्रयिब्राह्मणान्तरगत-कृत्याकृत्यविचारणोद्योगो युक्त। न चाप्यस्योपदिश्यते 'गायेत्, नृत्येत्', इति। किन्तु प्रथम-नाट्यावसरक्रमप्रवृत्तविरिञ्चवचनप्रवर्तक-भरतमुनिशासनानुवर्तिशिष्यपरम्परापरि-चयागत-अद्यतनकालावधिमहानटजनस्वकप्रवृत्तिविशेषोपदेशपरम्। अत एव तद्‌गत-सिद्धसदुपायोपदेशनपरमिद शास्त्रमिति नटस्य तावन्नानेन किञ्चिदुपदिश्यते त प्रति उपकारादृते]।

['कवेरपि स्वहृदयायातनसततोदित-प्रतिभाभिधान-परवाग्देवतानुग्रहोत्थित-विचित्रापूर्वार्थनिर्माणशक्तिशालिन प्रजापतेरिव कामजनितजगत.।]

यहा 'प्रणम्य शिरसा देवौ' से लेकर 'नाट्यशास्त्र प्रवक्ष्यामि' तक भरतमुनिकी प्रथम कारिकाके तीन चरणोंकी भट्ट-तोतकृत व्याख्या चल रही है। उसमें 'नाट्यशास्त्र' शब्दसे किसका ग्रहण होता है इस विषयमें एक व्याख्याकारका यह मत दिया था कि 'नाट्यवेद शब्दसे इस नाट्यशास्त्र ग्रन्थका ग्रहण होता है।' परन्तु इस मतका खण्डन कर दिया गया है। उसके बाद 'नाट्य या नाट्य-कला ही नाट्यवेद है' यह दूसरा मत दिया गया था और उसका भी खण्डन किया जा चुका है। इन दोनो मतोंके खण्डनके बाद ग्रन्थकार अभिनवगुप्तने अपने गुरु श्री भट्ट-तोतका मत दिया है। उसी प्रसङ्गमें इन २२ पक्तियोंके अस्थान-पाठके पूर्व 'भट्ट-तोत' के मतानुसार 'नाट्यशास्त्र प्रवक्ष्यामि' इस भागकी व्याख्या चल रही है। और इन २२ पंक्तियोंके बाद भी इसी विषयमें भट्ट-तोतका मत दिया गया है। इन पक्तियोंसे पहिले भट्ट-तोतका यह मत दिया गया है कि 'नाट्यशास्त्र प्रवक्ष्यामि' में नाट्य पदसे रसस्वरूप अलौकिक वस्तुका ग्रहण करना चाहिए। उसके 'शास्त्र' अर्थात् शासनके उपायको प्रकर्षसे अर्थात् ब्रह्माके अन्य नाट्य-शिष्योंके व्याख्यानोंकी अनुपयोगिता दिखलाते हुए कहूँगा। यह 'नाट्यशास्त्र प्रवक्ष्यामि' की व्याख्या होती है। इस व्याख्या पर होनेवाली शङ्काका समाधान इन २२ पक्तियोंके बाद किया गया है।

इस व्याख्यामें यह शङ्का हो सकती है कि जब 'नाट्य' शब्दसे अलौकिक रसात्मक नाट्य वस्तुका ग्रहण होता है तो आगे चल कर 'नाट्यवेद कथ ब्रह्मन्नुत्पन्न. कस्य वा कृते' इत्यादि इसी अध्यायकी चौथी कारिकामें नाट्यकी उत्पत्ति आदि विषयक जो प्रश्न किए गए हैं उनकी इस अर्थमें सङ्गति कैसे लगेगी। इस शङ्काका उत्तर इन अस्थान-पठित २२ पक्तियोंके बाद आई हुई—

'उत्पत्त्यादिप्रश्नास्तु ये भविष्यन्ति ते नाट्याख्यवेदविषया न तु नाट्यशास्त्रविषया अतो 'नाट्यवेद कथ ब्रह्मन् [ना० शा० १-४] इत्यत्र नाट्यमेव वेद इति व्याख्यास्याम'।

इन पक्तियोंमें दिया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि नाट्यकी उत्पत्ति आदि विषयक जो प्रश्न आगे पूछे जावेंगे वे नाट्यशास्त्रकी उत्पत्तिके विषयमें नहीं किन्तु नाट्यवेद अर्थात् नाट्यविद्या, नाट्यकलाकी प्रारम्भिक उत्पत्ति आदिके विषयमें समझने चाहिए। ये पक्तिया भी भट्ट-तोतके मतको ही प्रस्तुत कर रही हैं। इसका अर्थ यह निकला कि जिन २२ पक्तियोंके पाठको हम अस्थान-पाठ कह रहे हैं उनके पहिलेकी पक्तियोंमें जिस भट्ट तोतके मतको दिया जा रहा था वही प्रकरण इन २२ पक्तियोंके बादकी पक्तियोंमें भी चल रहा है। इसलिए पूर्वापर प्रकरणके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनो भागोंका पाठ मध्यवयानसे एक-

---

१-२. यह अस्थान-पाठ है। अत कोष्ठमें दिया है और यहाँ इसका अनुवाद नहीं किया है।

['पर प्रत्याशङ्का यदि परमत्रावशिष्यते व्युत्पाद्योपकार । तस्यापि तु नैव 'गायेत् नृत्येत् वादयेत् तन्निरतो वा भवेत्' इत्युपदेश क्रियते । अपि तु स्वरसत एव तावन्मनोज्ञविषयास्वादप्रवृत्तस्य अत एव वेदशास्त्रपुराणादिभीरुहृदयस्य तन्मनोज्ञवस्तु-मध्ये तादृगिद वस्त्वनुप्रवेशित यद्बलादेव पुमर्थोपायावगति करोतीति वक्ष्याम] ।

उत्पत्त्यादिप्रश्नास्तु ये भविष्यन्ति ते नाटचाख्यवेदविषया न तु [2]नाटयशास्त्र-विषयाः । [3]अतो '[4]नाटचवेद कथ ब्रह्मन्' इत्यत्र नाटचमेव वेद इति व्याख्यास्याम ।

साथ होना चाहिए । बीचमें इन २२ पक्तियोंके मुद्रित हो जानेसे उस पाठके बीचमें व्यवधान पड गया है । इससे उन दोनोका परस्पर सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है और उनकी सङ्गति लगाना कठिन हो जाता है । इस प्रकार पूर्वापर प्रकरणकी विवेचनासे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पृष्ठ २८ के 'वद्वक्ष्यति' से लेकर पृष्ठ ३० के 'करोतीति वक्ष्याम ' तक की २२ पक्तियाँ यहाँ अ-स्थान-पठित हैं।

अ-स्थान पाठ माननेका दूसरा कारण—

इसके अतिरिक्त स्वय इन २२ पक्तियोके विषयकी विवेचनासे भी इसी परिणामकी पुष्टि होती है । इन पक्तियोमे नाटचकी उपादेयता अनुपादेयता पर विचार किया गया है । कुछ प्राचीन टीकाकारोने 'कामजो दशको गण' इत्यादि मनुस्मृतिके वचनके आधारपर नाटयकी अनुपादेयताकी शङ्का उठाकर नाटचशास्त्रके अन्तमें आए हुए 'य इम शृणुयात्' इत्यादि श्लोकोके द्वारा उस शङ्काका खण्डन करनेका यत्न किया है । किन्तु अभिनवगुप्त इस प्रकारकी शङ्का और उसके समाधान करनेके प्रयत्न, दोनोको ही अनुचित और अनावश्यक मानते हैं । उनके मतमें न नटके लिए, न कविकेलिए और न सामाजिककेलिए, किसीकेलिए भी नाटय अनुपादेय नही हो सकता है । इसलिए यह शङ्का-समाधान सर्वथा व्यर्थ है । यह अभिनवगुप्तका मत है । इसी मतका इन अस्थान-पठित २२ पक्तियोमें प्रतिपादन किया गया है । नाटचकी उपादेयता अनुपादेयताके विवेचनका यह विषय बिल्कुल नया विषय है । उसके विवेचनका स्थान कारिकाकी सामान्य व्याख्या समाप्त हो जानेके बाद ही आसकता है । अभी तो तृतीय चरणकी ही व्याख्या चल रही है, उसके बाद चतुर्थ चरणकी व्याख्या आवेगी । इस पद-व्याख्या या अक्षरार्थके प्रसङ्गमें उसका कोई अवसर नही है यहाँ कारिकाके तृतीय चरणकी पद-व्याख्याके विषयमें भट्ट तोतका मत दिया जा रहा है उसके बीचमें नाटचकी उपादेयता-अनुपादेयता विषयक प्रकरणान्तरको देनेकी कोई सङ्गति नही लग सकती है । इसलिए हमने इसको अस्थान पाठ मानकर यहाँसे अलग कर दिया है और कारिकाकी पद-व्याख्याके बाद पृष्ठ ३८-४३ तक उसका स्थान निर्धारित किया है ।

प्रकृत प्रसङ्गका अनुसरण—

अभिनव०—उत्पत्त्यादि-विषयक जो प्रश्न आगे होगे वे नाटचवेदके विषयमे होगे, [इस] नाटचशास्त्रके विषयमे नहीं । इसी लिए 'हे ब्रह्मन् नाटचवेद कैसे' [उत्पन्न हुआ] इस [चौथी कारिका] मे नाटचरूप जो वेद [वह कैसे उत्पन्न हुआ] इस प्रकारकी व्याख्या हम करेंगे ।

---

१ म० भ० यह अस्थान-पाठ है अत कोष्ठमे दिया है और यहाँ उसका अनुवाद नहीं दिया है । आगे यथास्थान पृष्ठ० ३८ से ४३ तक इसको पुन मुद्रित कर इसकी व्याख्या की है ।

२. म० भ० नाटचवेदशास्त्रविषया यतो । ३ यतो । ४ ना० शा० १-४ ।

एतच्च 'नाट्यशास्त्रं 'ब्रह्मणा उदाहृतम्' मह्यमुक्तम् । यद्वक्ष्यते—

²आज्ञापितो विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात् ।

पुत्रानध्यापयामास—

इति । अत्र तु नाट्यस्य वेद शास्त्रमिति समास. । अन्यथाध्यापनासम्भवात् । तेन ब्रह्मप्रोक्तमेव मया यथापरिपाटि निरूप्यत इति यावत् ।

नाट्यं च ब्रह्मणा उद्धृत्य ³वेदेभ्योऽङ्गानि आहृतमिति तद्विषय शास्त्रमपि 'उदाहृत' इत्युक्तम् ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें हमने दो सशोधन किए हैं। एक तो 'नाट्य वेदशास्त्रविषया' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था उसके स्थानपर 'नाट्यवेदविषयाः' यह पाठ किया है। और दूसरा पूर्वमुद्रित 'यतो' पदके स्थान पर 'अतो' पाठ दिया है। प्रकरणके अनुसार उन स्थानोपर इसी प्रकारके पाठ होने चाहिए। अत हमने सशोधित रूपमें इन्हीं पाठोको और अपने सशोधन होनेके कारण काले टाइपमें प्रस्तुत किया है। पूर्व-पाठोको पादटिप्पणीमें कर दिया है।

चतुर्थ चरणकी प्रथम व्याख्या—

यहाँ तक ग्रन्थकारने अपने गुरु श्री भट्टतोतके मतानुसार कारिकाके आदिके तीन चरणोकी व्याख्या प्रस्तुत की है। अब आगे वे उन्हीके मतानुसार इसके चतुर्थ चरणकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

अभिनव०—और इस नाट्यशास्त्रको ब्रह्माने 'उदाहृत' किया अर्थात् मुझको बतलाया। जैसा कि आगे [इसी अध्यायकी २५वीं कारिका] मे कहेंगे कि—

अभिनव०— [इन्द्रके द्वारा] 'आज्ञा मिलने पर मैंने [अर्थात् भरतमुनिने] ब्रह्मासे नाट्यवेदको सीख कर अपने पुत्रोको पढ़ाया।'

अभिनव०—यहाँ [अर्थात् 'विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात्' इस कारिकामे आए हुए 'नाट्यवेदं' पदमें] नाट्यका वेद अर्थात् शास्त्र यह समास [नाट्यवेद पदमें] है। अन्यथा [यदि नाट्यवेद पदसे नाट्यशास्त्रका ग्रहण न किया जाय तो उसका] अध्यापन भी सम्भव नहीं होगा। इसलिए ब्रह्माके द्वारा उपदिष्ट [नाट्यशास्त्र] को ही मैं परम्पराके अनुसार [या यथोचित रीतिसे] यहाँ निरूपण कर रहा हूं यह [भरतमुनिका] अभिप्राय है। ['ब्रह्मणा उदाहृतम्' का यह एक अर्थ हुआ। दूसरा अर्थ आगे देते हैं]।

चतुर्थ चरणकी द्वितीय व्याख्या—

अभिनव०—और ब्रह्माने वेदोसे [पाठ्य, गीत, अभिनय और रस-रूप] अङ्गोको निकाल कर नाट्यका उद्धार किया [अर्थात् नाट्यका निर्माण या प्रकाश किया] इसलिए तद्विषयक शास्त्र [अर्थात् नाट्यशास्त्र] को भी 'उदाहृत' कहा गया है। [यह 'उदाहृतम्' का दूसरा अर्थ हुआ]।

---

१. म. नाट्यवेदशास्त्रम्। २. नाट्यशास्त्र १-२५। ३. म भ वेदाङ्गानि।

यदि हि नाटयस्य वेदन, सत्ता, लाभो, विचारश्च यत्र 'स नाट्यवेद इति, तन्नाटयवेदशब्देन नाटयाश्रयरूप ²दशरूपकमुच्यते । ³अत्र पक्षे 'ब्रह्मणोदाहृतम्' प्रदर्शितोदाहरण कृतनिदर्शनम् दत्यर्थ. । यद्वक्ष्यति 'इतिहासो मया सृष्ट ' इति ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'ब्रह्मणा उद्धृत्य वेदाङ्गन्याहृतम्' इस प्रकारका पाठ पूर्व सस्करणोमें मुद्रित हुआ है । वह पाठ कुछ भ्रामक हो सकता है । ऊपरसे देखने पर उसका यह अर्थ प्रतीत होता है कि ब्रह्माने वेदाङ्गोको निकाल कर उद्धार किया । परन्तु यह अथ ठीक नही है । ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है वेदोसे पाठय गीत अभिनय और रस आदि अङ्गोको ग्रहण करके ब्रह्माने नाटयवेदकी रचना की है । इस प्रकारका वर्णन 'जग्राह पाठयमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च' इत्यादि इसी अध्यायकी १७वी कारिकामे किया गया है । उसीकी ओर सकेत करते हुए 'उद्धृत्य वेदाङ्गान्याहृतम्' यह लिखा गया है । परन्तु इस अर्थको स्पष्ट रूपसे बोध करानेकेलिए 'वेदाङ्गानि' इस समस्त पदके स्थान पर 'वेदोभ्योऽङ्गानि' यह व्यस्त पदोका प्रयोग किया जाना चाहिए था । समस्त पद, अर्थ-प्रतीतिमें बाधक बन जाता है । अत हमने उसको सशोधित करके यही पाठ प्रस्तुत किया है । और अपना सशोधन होनेसे उसे काले टाइपमे दिया है ।

चतुर्थ चरणकी तृतीय व्याख्या—

नाटयवेद पदमें आया हुआ वेद-शब्द व्याकरणके अनुसार अदादिगणकी 'विद ज्ञाने' अथवा दिवादिगणकी 'विद सत्तायाम्' अथवा तुदादिगणकी 'विदलृ लाभे' अथवा रुधादिगणकी 'विद विचारणे' इन चार धातुओसे सिद्ध हो सकता है । इनमेंसे किसी अर्थको लेकर यदि नाटयवेद शब्दकी व्याख्या की जाय तो उससे दशरूपकोका ग्रहण होगा । और उस दशा में 'ब्रह्मणा उदाहृतम्' का अर्थ यह होगा कि 'ब्रह्माने जिसको उदाहरण रूपमे प्रस्तुत किया है' । इसी अध्यायमे नाटयवेदका इतिहास बतलाते हुए कहेगे कि सबसे पहिले ब्रह्माने नाटकका निर्माण करके देवताओ के द्वारा अभिनय करानेकेलिए दिया था । इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अभिनव०—यदि नाटयका ज्ञान [विद ज्ञाने], सत्ता [विद सत्तायाम्], लाभ [विदलृ लाभे], अथवा विचार [विद विचारणे], जिसमे किया जाय, वह नाटयवेद कहलाता है [यह नाटयवेद शब्दका अर्थ किया जाय] तो नाटयवेद शब्दसे दशरूपक [अर्थात् रूपकके दस प्रकारके भेदो] का ग्रहण होगा । और इस पक्षमे 'ब्रह्मणा उदाहृतम्' का अर्थ 'ब्रह्माने जिसका उदाहरण दिखलाया था' अर्थात् [सबसे प्रथम नाटकका निर्माण करके ब्रह्माने] दृष्टान्त प्रस्तुत किया था यह होगा । जैसा कि [इसी अध्यायके १९वी कारिकामे] आगे कहेगे कि—'मैंने [अभिनयके लिए] इतिहास [अर्थात् आख्यान वस्तु अथवा नाटक] की रचना कर दी है' [अब आप देवताओके द्वारा उसका अभिनय करावें] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-सस्करणोमे कुछ अस्त-व्यस्त-सा छपा है । 'तन्नाटयवेदशब्देन नाटयाश्रयरूप दशरूपमित्युच्यते । यद्वक्ष्यति-इतिहासो मया दृष्ट इति । अत्र पक्षे ब्रह्मणोदाहृत प्रदर्शितोदाहरण कृतनिर्देशनमित्यर्थ ' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोमे पाया जाता है । वह कई स्थानो पर अशुद्ध है । १—इसमे 'दृष्ट' के स्थान पर 'सृष्ट ' पाठ होना चाहिए । क्योकि

---

१ अस्मदीय पाठ । २ म ग दशरूपमित्युच्यते । ३ यद्वक्ष्यति इतिहासो मया दृष्ट इति । अत्र पक्षे 'ब्रह्मणोदाहृत' प्रदर्शितोदाहरण कृतनिर्देशनमित्यर्थ । ४ ना०शा० १-१९ ।

अन्ये तु—नटनीय [1]अनुकरणीयं दशरूपकमेव नाट्यम्। तस्येद शास्त्रम्। दशरूपकलक्षणमेव हीदम्। एव च नटनीयमिति ग्रन्थतात्पर्याद् रसादीना तत्रैव [2]पर्यवसानम्। तच्च ब्रह्मणोदाहृत कृतनिदर्शनम्[3]।

जिस १६वीं कारिकाका यह भाग यहाँ उद्धृत किया गया है उसके मूल पाठमें उन सस्करणोंमें भी 'दृष्टः' के स्थान पर 'सृष्ट' पाठ ही छपा है। इसलिए यहाँ पर 'दृष्ट' पाठ अशुद्ध है। उसके स्थान पर 'सृष्ट.' पाठ ही होना चाहिए। (२) इसी प्रकार पूर्व सस्करणोंमें मुद्रित 'कृतनिर्देशनम्' यह पाठ भी अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'कृतनिदर्शनम्' पाठ होना चाहिए। क्योंकि यह पद 'उदाहृत' की व्याख्या रूपमें लिखा गया है। 'उदाहृत' का इसके पूर्व 'प्रदर्शितोदाहरण' यह अर्थ किया गया है और उसीका दूसरा पर्याय 'कृतनिदर्शन' दिया गया है। इसलिए यहाँ उदाहरणार्थक 'निदर्शन' शब्दका प्रयोग होना चाहिए। 'निर्देशन' शब्द उदाहरणार्थक नही इसलिए उसका प्रयोग अशुद्ध है। द्वितीय सस्करणमें भी यह सशोधन कर दिया गया है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें ये दो तो सामान्य अशुद्धियाँ हैं। परन्तु विशेष विचारणीय स्थल तो 'यद्वक्ष्यति-इतिहासो मया सृष्ट' इस भागकी स्थिति है। 'ब्रह्मणा उदाहृत' का जब 'ब्रह्माने जिसका उदाहरण प्रस्तुत किया था' यह अर्थ करते हैं तब इस बातके समर्थनकेलिए यद्वक्ष्यति—'इतिहासो मया सृष्ट' इत्यादि वाक्यको उद्धृत किया गया है। इसलिए नियमानुसार उसकी स्थिति 'अत्र पक्षे ब्रह्मणा उदाहृत प्रदर्शितोदाहरण कृतनिदर्शनमित्यर्थ' इसके बाद होनी चाहिए जैसा कि हमने उसे मुद्रित किया है। परन्तु पूर्व-सस्करणोंमें 'यद्वक्ष्यति—इतिहासो मया दृष्ट. इति। अत्र पक्षे 'ब्रह्मणोदाहृतम्' प्रदर्शितोदाहरण, कृतनिर्देशनमित्यर्थः'। इस रूपमें यह पाठ जिसके समर्थनकेलिए उसे उद्धृत किया गया है उसका उल्लेख किए विना ही अ-स्थान में इसके पूर्व छापा गया है। वहा उसकी स्थिति नितान्त असङ्गत है। इसलिए हमने संशोधित रूपमें नया पाठ काले टाइपमें प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—नाट्यस्य'' विचारश्च यत्र तन्नाट्यवेदशब्देन''' दशरूपकमित्युच्यते' यह पाठ भी कुछ अटपटा-सा प्रतीत होता है। 'दशरूपक' के बाद 'इति' न होता तो अधिक अच्छा रहता। और 'यत्र' के बाद 'स नाट्यवेद इति' और जुडा होता तो अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता। अत इन स्थानोपर भी हमने सशोधित रूपमें ही पाठ प्रस्तुत किया है।

चतुर्थ व्याख्या—

अभिनव०—दूसरे व्याख्याकार तो यह कहते हैं कि नटनीय अर्थात् अनुकरणीय [होनेसे नाटक आदि] दशरूपक ही नाट्य है। उसका यह शास्त्र [नाट्यशास्त्र हुआ]। इस प्रकार [दशरूपक का लक्षण रूप या] दशरूपक-स्वरूप ही यह [नाट्यशास्त्र] है। और इस प्रकार अनुकरण करने योग्य इससे [नाटक रूप] ग्रन्थका तात्पर्य होने से [पहिले जो नाटकको रसात्मक-वस्तु कहा गया था] उन रस आदिका इसीमे पर्यवसान हो जाता है। [अभिनवगुप्तके गुरु अर्थात् भट्टतोतने जो नाट्यशास्त्र शब्दकी व्याख्या की थी उसका इससे विरोध नहीं होता है]। और ब्रह्माने उसको उदाहृत किया है अर्थात् उसका उदाहरण दिया है।

---

१. म. भ. अनुकरणम्।　　२. म भ. पर्यवसानात्।　　३. कृत निर्देशनम्

अन्ये तु—'ब्रह्मणा वेदाख्येन भगवता शब्दराशिना' 'उदाहृत' निरूपित त्याज्यानुष्ठेयरूप आयदागच्छद् व्युत्पाद्यतया स्वीकुर्वन् नाटचशास्त्र प्रवक्ष्यामीति प्रयोजनमनेनैव स्वीकृतमित्याहु ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पूर्वसस्करणोमे 'नटनीय' के पर्यायवाचक शब्दके रूपमें 'अनुकरण' पाठ छपा था । परन्तु वह शुद्ध नही जान पडता है । उसके स्थान पर उसके अनुरूप अनीयर-प्रत्ययान्त 'अनुकरणीय' पाठ होना चाहिए था । इसी प्रकार अनुच्छेदके अन्तमें 'पर्यवसानात्' पाठ पूर्व-सस्करणोमे छपा था उसके स्थानपर 'पर्यवसानम्' पाठ होना चाहिए । हमने सशोधित रूपमें ये ही पाठ काले टाइपमें प्रस्तुत किए हैं ।

यहां तक ग्रन्थकारने 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' की चार प्रकारकी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं । पहिली व्याख्याके अनुसार 'उदाहृत' का अर्थ 'मह्यमुक्तम्' मुझे बतलाया यह होता है । दूसरी व्याख्याके अनुसार ब्रह्माने वेदोसे अङ्गोको निकाल कर इसकी रचना की है इसलिए उसको 'उदाहृत' कहा गया है यह अर्थ होता है । तीसरी व्याख्यामें 'ब्रह्माने जिसका उदाहरण प्रस्तुत किया था' यह 'ब्रह्मणा उदाहृतम्' का अर्थ होता है । चौथी व्याख्यामे नाटचका अर्थ नटनीय अर्थात् दशरूपक किया गया है ।

पञ्चम व्याख्या—

इसके बाद अगले अनुच्छेदमें 'ब्रह्मणायदुदाहृतम्' की अन्य प्रकारसे व्याख्या दिखलाते हैं । यह व्याख्या इन सब व्याख्याओसे विलक्षण है । इस व्याख्यामें 'ब्रह्मणा यद् उदाहृत' इस प्रकारका पदच्छेद न करके 'ब्रह्मणा आयद उदाहृतम्' इस प्रकारका पदच्छेद किया गया है । और 'ब्रह्म' का अर्थ 'वेद' ही माना गया है । उसके अनुसार वेदके द्वारा 'उदाहृत' अर्थात् 'निरूपित' और उससे आने वाले विधि और प्रतिषेधोकी शिक्षा देनेके सिद्धान्तको स्वीकार करके नाटचशास्त्रको कहूँगा यह अर्थ होता है । इस अर्थके द्वारा नाटचशास्त्रका प्रयोजन विधि प्रतिषेध या कर्तव्याकर्तव्य की शिक्षा देना है, यह बात सिद्ध होती है । इसी बातको वृत्तिकार अगली पक्तिमें लिखते हैं—

अभिनव०—दूसरे व्याख्याकार तो [इसका यह अर्थ करते है कि]—ब्रह्म अर्थात् शब्दराशि रूप वेद-भगवान्के द्वारा निरूपित और [वेदसे] 'आयद' अर्थात् आने वाले [अर्थात् प्राप्त होने वाले] जो त्याज्य और अनुष्ठेय [अर्थात् विधि तथा प्रतिषेधका शिक्षण] उसको [नाटचके द्वारा] शिक्षणीय मान कर मै [भरतमुनि] नाटचशास्त्रको प्रकृष्ट रूपसे कहूगा । इस प्रकार [नाटचशास्त्रका विधि-प्रतिषेधकी शिक्षा देना रूप] प्रयोजन इसीके द्वारा स्वीकृत कर लिया गया है यह कहते हैं ।

इस पञ्चम व्याख्यामें यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है कि यहां पद-विन्यासकी दृष्टिसे तो 'ब्रह्मणा' पदका 'आयद्' पदके साथ सम्बन्ध माना गया है, किन्तु वाक्य-रचनामें 'ब्रह्मणा' का सम्बन्ध 'आयद्' के साथ न मान कर 'उदाहृतम्' के साथ माना गया है । और 'ब्रह्मणा उदाहृतम्' वेदके द्वारा निरूपित यह अर्थ किया गया है । 'आयद्'के साथ सम्बन्ध करना हो तो 'ब्रह्मणा' इस तृतीयान्त पदके स्थान पर 'ब्रह्मण.' यह पञ्चम्यन्त प्रयोग करना होगा । उस दशामें कारिकामें 'ब्रह्मणायद्' पाठ न होकर सन्धिके नियमोके अनुसार 'ब्रह्मण आयद्' पाठ होना चाहिए था । अत 'आयद्' पदका समन्वय करनेकेलिए उस टीकाकारको अध्याहार आदि द्वारा विशेष प्रयास करना पडा है ।

भट्टनायकस्तु 'ब्रह्मणा' परमात्मना 'यदुदाहृत' अविद्याविरचित-निस्सार-भेदग्रहे यदुदाहरणीकृत तन्नाट्यम्। तद्वक्ष्यामि। यथा हि कल्पनामात्रसार तत एवानवस्थितैकरूप क्षणेन कल्पनाशतसहस्त्रसह स्वप्नादिविलक्षणमपि सुष्ठुतरां हृदयग्रहनिदान, अत्यक्तस्वावलम्बन-ब्रह्मकल्प-नटोपरचित्त रामरावणादिचेष्टित असत्य कुतोऽप्यभूनाद्भुतवृत्त्या[1] भाति। तथा भासमानमपि च [2]पुमर्थोपायतामेति। तथा तादृगेव विश्वमिदमसत्यनामरूपप्रपञ्चात्मक, अथ च श्रवणमननादिवशेन परमपुमर्थप्रापकमिति लोकोत्तरपरमपुरुषार्थसूचनेन शान्तरसाक्षेपोऽय भविष्यति—

स्व स्व निमित्तमासाद्य[3]शान्तादुत्पद्यते रस। इति

तदनेन पारमार्थिक प्रयोजनमुक्तम्' इति व्याख्यान[4]'सहृदयदर्पणे' पर्यग्रहीत।

इस प्रकार ग्रन्थकारने अपने गुरु भट्टतोत तथा अन्य व्याख्याकारो द्वारा प्रस्तुत की गई 'ब्रह्मणा यदुदाहृत' इस कारिका-भागकी पाच व्याख्याएं यहाँ तक उपस्थित की हैं। आगे भट्टनायक द्वारा की गई छठे प्रकारकी व्याख्या अगले अनुच्छेदमें निम्न प्रकार देते हैं—

भट्टनायक कृत षष्ठ व्याख्या—

अभिनव०—भट्टनायक तो [इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि—] ब्रह्म अर्थात् परमात्माने जिसको उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया अर्थात् अविद्या-कल्पित निस्सार [जगद् रूप] भेदके ग्रहण करनेमें जिसको उदाहरण वनाया है वह नाट्य है। उसका मै वर्णन करूंगा। [इसका अभिप्राय यह है कि—] जैसे [नाटकमें राम रावण आदिका चरित] केवल कल्पनात्मक, इसीलिए एक रूपसे स्थिर न रहने वाला, क्षणभरमे सैकड़ो-सहस्त्रो परिवर्तनोको सहन करनेवाला, तथा स्वप्नादिसे विलक्षण होते हुए भी हृदयको सुन्दर रूपसे आकृष्ट करनेवाला, और स्वावलम्बन करनेवाले ब्रह्म-सदृश नटके द्वारा प्रस्तुत किया गया, राम-रावण आदिका व्यापार किसी अद्भुत रूपसे प्रतीत होता है। और उस रूपमें भासित हो कर भी पुरुषार्थ [अर्थात् धर्म आदि] का साधन वन जाता है। इसी प्रकार यह जगत भी असत्य नाम-रूप प्रपञ्चात्मक है। फिर भी श्रवण-मनन आदिके द्वारा पुरुषार्थका प्राप्त करानेवाला होता है। इस प्रकार लोकोत्तर [मोक्षरूप] परम-पुरुषार्थकी सूचना द्वारा यह शान्त रसका भी आक्षेप करानेवाला होता है [अर्थात् नाटकमें शान्तरसकी प्रधानता भी हो सकती है यह वात इस 'ब्रह्मणा यदुदाहृत' पदसे सूचित होती है। [जैसा कि कहा है]—

अभिनव०—अपने अपने कारणोको प्राप्तकर शान्तरससे [ही अन्य सव] रस उत्पन्न होता है।

अभिनव०—इसलिए ['ब्रह्मणा यदुदाहृतम्'] इससे [नाट्यका मोक्षसाधन रूप] परम-प्रयोजन भी वतलाया गया है यह व्याख्या [भट्टनायकने अपने] 'सहृदयदर्पण' [नामक ग्रन्थ] मे की है।

१. म अकृताकृतवृत्या। २. म पुरुषार्थोपदेशाय। ३. म शान्तमुत्पद्यते। ४. म. हृदयदर्पणे।

यदाह—

नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यत ।
प्रतिक्षण जगन्नाटचप्रयोगरसिको जन ।। इति ।

एव नाटचशास्त्रप्रवचन प्रयोजनमुक्तम् । तत्प्रयोजन तु दर्शितमेव । अमिधेयश्च नाटचवेद । व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावलक्षणश्च सम्बन्ध ।

[1]यच्च शास्त्र यो जिज्ञासते स तावत् तदवसरे तच्छास्त्रप्रणेतरि प्रसिद्धे[2] सिद्धवदेव[3]प्रामाण्यमभिमन्यत इति[4]तद्वचनोक्ताय सम्बन्धामिधेयप्रयोजनाय तदैव निर्विशङ्क प्रवर्तते । परस्त्वधिगतसकलशास्त्रार्थो बहुमन्यते न वेति तदिदमन्यत् ।

अभिनव०—जैसा कि [भट्टनायकने अपने उक्त ग्रन्थके आरम्भमे] कहा है—

अभिनव०—त्रैलोक्य [रूप नाटक] का निर्माण करनेवाले महाकवि शङ्करको नमस्कार है क्योकि ससारके लोग प्रतिक्षण [उनके बिरचित] इस जगत् रूप नाटक के प्रयोगमे रसास्वादनका अनुभव करते है ।

अनुबन्धनिर्देश—

अभिनव०—इस प्रकार नाट्यशास्त्रका प्रवचन करना [भरतमुनिकी प्रवृत्ति का] प्रयोजन है । और उसका [अर्थात् नाट्यशास्त्रका मनोविनोदके साथ-साथ कर्तव्याकर्तव्य या विधि-प्रतिषेधकी शिक्षा देना, अथवा भट्टनायकके अनुसार शान्तरसके आक्षेप द्वारा मोक्षरूप परम पुरुषार्थकी सिद्धिरूप मुख्य] प्रयोजन [पिछली व्याख्यामे] दिखला ही चुके हैं । [इस ग्रन्थका अभिधेय अर्थात्] प्रतिपाद्य-विषय नाटचवेद है । और [इस शास्त्रके साथ उस विषयका] प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव सम्बन्ध है ।

शास्त्रमे अधिकारीकी प्रवृत्ति—

इस प्रकार इस अनुच्छेदमें प्रयोजन, विषय तथा सम्बन्ध रूप तीन अनुबन्धोका निर्देश किया है । अनुबन्ध-चतुष्टयमेसे अधिकारी रूप चौथा अनुबन्ध शेष रह जाता है । उसका निर्देश करते हुए शास्त्रमे उसकी प्रवृत्तिका उपपादन अगले अनुच्छेदमें करेगे । जो जिस शास्त्रके विषयको जानना चाहता है वही उस शास्त्रका अधिकारी होता है । इसलिए जो नाटचशास्त्रके विषयको जानना चाहता है वही उसका अधिकारी है । इस प्रकार अधिकारीका ग्रहण स्वय हो जाता है । इसलिए पृथक् रूपसे उसका निर्देश नही किया गया है । फिर भी उसके सम्बन्धमें जो विवेचना अगले अनुच्छेदमें करते हैं उससे अधिकारीका ग्रहण भी हो जाता है—

अभिनव०—जिस शास्त्रको जो जानना चाहता है [वही उस शास्त्रका अधिकारी है । और] वह उस समय उस शास्त्रके प्रसिद्ध निर्माताके विषयमे प्रामाणिकताको निश्चित ही मानता है इसलिए उस [शास्त्रकार] के वचन [अर्थात् शास्त्र] द्वारा कहे गए सम्बन्ध, विषय तथा प्रयोजन [की सिद्धि] केलिए निर्विशङ्क होकर उसी समय प्रवृत्त हो जाता है । अन्य सब शास्त्रोके अर्थको समझनेवाला दूसरा व्यक्ति उसको आदरकी दृष्टि से देखता है या नहीं यह वात अलग है ।

---

१. म० यञ्च शास्त्रार्थम् । २. म० सिद्धयेव । ३ म० प्रमाणम् । ४ म० तद्वचनोक्तात् ।

प्रथमं तावत्[1] प्रयुक्तं[2] आदिवाक्यं प्रवर्तकमेव इति स्वानुभव[3]सिद्धम्[4]। तेन अर्थसंशय-तर्क-कौतुक[5]जनकादि वाक्यं [6]प्रवर्तकमिति किमनेन।

इसका अभिप्राय यह है कि अन्य लोग किसी शास्त्र-विशेषको भले ही प्रामाणिक न माने परन्तु जो व्यक्ति जिस शास्त्रका जिज्ञासु है वह उसको प्रमाण मान कर तदनुसार अभीष्ट फल आदिकी प्राप्तिकेलिए कार्य करता ही है। इस लिए अन्य लोग नाट्यशास्त्रके कर्त्ता भरतमुनिको प्रमाण माने या न माने परन्तु नाट्यशास्त्रका जिज्ञासु तो भरतमुनिको परम-प्रमाण मान कर उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजनकी सिद्धिकेलिए उनके निर्देशानुसार प्रवृत होगा ही।

शास्त्रके आदिवाक्यका प्रवर्तकत्व—

इसपर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि न्यायदर्शनमें संशयको अनुमान आदिकी प्रवृत्तिका कारण माना गया है। 'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किन्तर्हि संशयितेऽर्थे।' लिख कर न्यायके भाष्यकार वात्स्यायनने संशयको प्रवृत्तिका कारण माना है। और लोगोमें किसीने कही तर्कजनक वाक्यको और कही कौतुक-जनक वाक्यको भी प्रवृत्तिका प्रयोजक माना है। परन्तु यहा नाट्यशास्त्रमें अर्थसंशय या तर्क या कौतुक जनक वाक्योंमें से कोई भी वाक्य नही पाया जाता है तब इसमें प्रवृत्ति कैसे हो सकती है। इस शङ्काका समाधान ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें कर रहे हैं। उसका साराश यह है कि सर्वत्र संशय या तर्क या कौतुक-जनक वाक्य ही प्रवर्तक हो ऐसा कोई नियम नही है। किसी शास्त्रका प्रारम्भिक वाक्य ही उस शास्त्रमें जिज्ञासु-जनोको प्रवृत्त कराने वाला होता है यह बात अनुभव सिद्ध है। इसलिए यहाँ संशय, तर्क या कौतुक-जनक वाक्य के न होनेपर भी प्रथम प्रयुक्त हुआ वाक्य ही प्रवर्तक हो सकता है। इसलिए यहाँ प्रवृत्तिमें कोई बाधा नही है। इसी बातको अगली पंक्तियोंमें इस प्रकार लिखते हैं—

अभिनव०—[किसी शास्त्रके] आरम्भमे प्रयुक्त आदिवाक्य [उस शास्त्रके जिज्ञासु-जनोको उस विषयमें] प्रवृत्त करानेवाला ही होता है। यह बात [हम सब को] अपने अनुभवसे सिद्ध है। इस लिए [केवल] अर्थसंशय या तर्क या कौतुक आदिके जनक वाक्य [ही] प्रवर्तक होते हैं, इसके कहनेसे क्या लाभ है।

अर्थात् यदि आप अन्य स्थलोपर संशयजनक तर्क अथवा कौतुक-जनक वाक्योंको प्रवृत्तिका प्रयोजक माननेके आधारपर, उनके बिना यहा प्रवृत्ति नही हो सकती है यह कहना चाहे तो वह उचित नही है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें बहुत अशुद्ध छपा था। यद्यपि अशुद्धि बहुत साधारण-सी है परन्तु उससे अनुच्छेदका अर्थ बिल्कुल अस्पष्ट हो जाता है इसलिए उसका संशोधन आवश्यक है। उसमें सबसे पहिले 'प्रथम तावत् प्रवृत्तमादिवाक्य प्रयुक्तमेव' यह पाठ छपा था। परन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। इस स्थलके प्रसङ्गके अनुसार—इसमें जहाँ 'प्रवृत्त' शब्दका प्रयोग किया गया है वहाँ 'प्रयुक्त' पदका और जहां 'प्रयुक्त' पदका प्रयोग किया गया है वहाँ 'प्रवर्तक' पदका प्रयोग होना चाहिए था। इसी प्रकार 'प्रसिद्ध' के स्थानपर केवल 'सिद्ध' तथा 'कौतुकजनादि' के स्थानपर 'कौतुकजनकादि' पदोंका प्रयोग होना चाहिए था। अतः हमने संशोधित रूपमें इन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है। और अपने संशोधित पदोको काले टाइपमें दिया है।

---

१ म प्रवृत्त। २ म प्रयुक्तमेव। ३. म प्रसिद्धम्। ४ प्रथमं तावत् प्रवृत्तमादिवाक्यं प्रयुक्तमेवेति स्वानुभवप्रसिद्धम्। ५ म कौतुकजनादि। ६. म न प्रवर्तकमिति।

'यद्वक्ष्यति—

य इमं शृणुयात् प्रोक्तं नाट्यवेदं स्वयम्भुवा।
कुर्यात् प्रयोगं यश्चैनं तथाधीयीय वा नरः॥
या गतिर्वेदविदुषां या गतिर्यज्ञवेदिनाम्।
या गतिर्दानशीलानां तां गतिं प्राप्नुयात् तु सः॥ इति।

नाट्यकी उपादेयताका विचार—

पाठसमीक्षा—यहां तक प्रथम कारिकाके चारो चरणोकी व्याख्या समाप्त हो जाती है और उसके साथ ही अनुबन्ध चतुष्टयका निर्देश भी जो कि प्रथम कारिकाकी व्याख्याकेसाथ होना आवश्यक है पूर्ण हो जाता है। अब आगे ग्रन्थकार इसी कारिकाकी व्याख्याके अश रूपमें नाट्यशास्त्रकी उपादेयताके विषयमें जो किन्ही पूर्व टीकाकारोने शङ्का उठाकर उसका निरास करनेका प्रयत्न किया है उसकी व्यर्थताको दिखलाते हुए नाट्यवेदकी उपादेयताका प्रतिपादन करेंगे। इस विषयकी चर्चा करनेका उपयुक्त स्थान यहांपर है। पूर्व-सस्करणोमें इस विषयकी चर्चा करनेवाले भागके पाठको तृतीय चरणकी अधूरी व्याख्याके बीचमें मुद्रित कर दिया गया था। वहां उसके मुद्रित करनेका अवसर नही था। इसलिए वहां जो उसका समावेश पूर्व-सस्करणोमें किया गया था वह प्रमादवश ही हुआ था इसका निर्देश हम पृष्ठ २८ पर कर चुके हैं। वहां हमने यह भी लिख दिया था कि इस पाठको हम यहांसे हटाकर इस कारिकाकी व्याख्याके अन्तमें जहां कि उसका उपयुक्त स्थान है समाविष्ट करेंगे। वह उपयुक्त स्थान अब आगया है। इसलिए हम उस अ-स्थानपतित पाठको वहांसे हटाकर यहां मुद्रित कर रहे हैं। यहांसे लेकर पृष्ठ ४३ तक जहां इस कारिकाकी अभिनवभारतीकी समाप्तिका सूचक १ अक पडा है वहां तक यही पाठ गया है।

इस भरतमुनिके वचनको उद्धृत कर किसी पूर्व-टीकाकारने नाट्यशास्त्रकी उपादेयताके विषयमें उठाई जाने वाली शङ्काके निराकरण करनेका प्रयत्न किया था। अभिनवगुप्त उस प्रयत्न को व्यर्थ समझते हैं। उनका कहना यह है कि नाट्यशास्त्रका सम्बन्ध नट, कवि तथा सामाजिक इन तीन व्यक्तियोंसे हो सकता है। उनमेंसे किसीकेलिए भी नाट्यशास्त्र अनुपादेय नही है। अपितु सबहीकेलिए वह अत्यन्त उपादेय है। इसलिए जो लोग उसकी उपादेयताके विषयमें शङ्का करते हैं और जो उस शङ्काका निवारण करनेका यत्न करते हैं वे दोनो ही व्यर्थका कार्य करते हैं। इसी बातकी विवेचना ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें प्रारम्भ करते हैं—

अभिनव०—[नाट्यशास्त्रकी समाप्तिके समय अन्तमे भरतमुनि] जो [यह] कहेगे [कि]—

'जो कोई ब्रह्माके द्वारा कहे गए इस नाट्यवेदका श्रवण करेगा, इसका प्रयोग करेगा अथवा जो मनुष्य इसका अध्ययन करेगा—

वेदके विद्वानोकी जो [उत्तम] गति होती है, यज्ञके जानने वालोकी जो [उत्तम] गति होती है और दानशील व्यक्तिको जो [उत्तम] गति प्राप्त होती है उसी [स्वर्गादि-प्राप्ति रूप उत्तम] गतिको [इस नाट्यशास्त्रका श्रवण प्रयोग अथवा अध्ययन करनेवाला] वह व्यक्ति भी प्राप्त करेगा।

---

१ हमने इस पाठको यहां स्थानान्तरित किया है अत काले टाइपमे दुबारा मुद्रित किया है।

एतेन 'कामजो [1]दशको गणः' इति वर्जनीयत्वेन नाट्यस्यानुपादेयतेति यत् केचिदाशङ्किरे, तदयुक्तीकृतम् । याज्ञवल्क्यस्मृतिपुराणादौ चास्य प्रशंसाभूयस्त्वश्रवणात् । न चागमादृते धर्मोऽनुमानगम्य इति न्यायात् ।

अभिनव०—इससे [अर्थात् ऊपर उद्धृत किए गए नाट्यशास्त्रके अन्तिम दोनो श्लोकोंमें जो नाटयशास्त्रके फलका वर्णन किया गया है उससे] 'कामजो दशको गणः' इस [मनुस्मृतिके वचन] के द्वारा वर्जनोय होनेसे नाटयशास्त्रकी अनुपादेयता की शङ्का जो किन्हींने उठाई थी वह खण्डित हो जाती है। क्योंकि भरतमुनिके इन दोनो श्लोकोमें नाटयविद्याकी अत्यन्त प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त] याज्ञवल्क्य स्मृति और पुराण आदिमे भी इस [नाटयविद्या] की अत्यन्त प्रशंसा पाई जाती है। आगमके विना [नाटयादिमे मोक्षजनकत्व रूप] धर्म केवल अनुमानसे नहीं जाना जा सकता है [इसलिए भरतमुनिने जो नाटयविद्याको यज्ञादि क्रियाके तुल्य फलवाला माना है वह आगमके आधारपर ही माना है] ।

मनुस्मृतिमें राजधर्मके प्रसङ्गमें कामज, क्रोधज गणोंकी वर्जनीयताका प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि—

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपति ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्या क्रोधजेष्वात्मनैव तु ।। मनुः ७—४५ ।

अर्थात् जो राजा 'कामजवर्ग' में कथित दुर्व्यसनोंमें फस जाता है वह धर्म और अर्थसे वञ्चित हो जाता है। और 'क्रोधज-वर्ग' के व्यसनोमें फमा हुआ राजा स्वयं अपना ही सर्वनाश कर लेता है। अत राजाको इन दोनों प्रकारके व्यसनोसे वचना चाहिए।

कामज वर्गका प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

मृगयाक्षो दिवास्वप्न परिवाद स्त्रियो मद ।
तौर्यत्रिकं वृथाटया च कामजो दशको गण ।। मनु ७-४७ ।

इसमें तौर्यत्रिकसे नृत्य, गीत तथा वाद्यका ग्रहण होता है। इनकी वर्जनीयतासे नाट्यविद्याकी वर्जनीयताकी शङ्का कुछ लोगोको हो सकती है। उसके निराकरणकेलिए पूर्व टीकाकारोने नाट्यशास्त्रके पूर्वोद्धृत दोनो श्लोको और याज्ञवल्क्य-स्मृति आदिमें पाई जानेवाली उनकी प्रशसाका उल्लेख कर उनकी उपादेयताका प्रतिपादन किया है। याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें गान आदिकी प्रशंसाके रूपमें निम्नाङ्कित श्लोक पाए जाते है—

यथाविधानेन पठन् सामगानमविच्युतम् ।
सावधानस्तदभ्यासात् परं ब्रह्माधिगच्छति ।।
अपरान्तकमुल्लोप्य मद्रक मकरीं तथा ।
औवेणक सरोविन्दुमुत्तरं गीतकानि च ।।
ऋग्गाथा पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिका ।
गेयमेतत् तदभ्यासकरणात् मोक्षसञ्ज्ञितम् ।।
वीणावादनतत्त्वज्ञ श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ।।

---

१. म देशको ।

गीतज्ञो यदि योगेन नाप्नोति परमं पदम् ।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥

याज्ञवल्क्यस्मृति अ० ३—श्लो० ११२-१६

इस प्रसङ्गमें ग्रन्थकारने मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृतिके जिन स्थलोंकी ओर सङ्केत किया है उनको हमने ऊपर उद्धृत कर दिया है। इनके देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका सम्बन्ध साक्षात् नाट्यकी निन्दा या प्रशसासे नही है। मनुस्मृतिने जो तौर्यत्रिकके अन्तर्गत नृत्य-गीत-वाद्यको वर्जनीय बतलाया है उसका सम्बन्ध भी सर्वसाधारणसे नही है अपितु राजधर्मके अन्तर्गत होनेसे उसका मुख्य रूपसे राजासे ही सम्बन्ध है। और उसका भी अतियोग या अत्यन्त प्रसक्तिका निषेध किया गया है । नाट्यकी साक्षात् निन्दा या वर्जनीयताका प्रतिपादन उसके आधारपर नही किया जा सकता है। इसलिए जो लोग मनुस्मृतिके इस श्लोकके आधार पर नाट्यकी वर्जनीयताकी आशङ्का करते हैं उनकी वह शङ्का उचित नही है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

इसी प्रकार इस शङ्काका जो निराकरण पूर्ववर्ती टीकाकारोंने किया है वह भी उचित नही है। याज्ञवल्क्यस्मृतिके जो श्लोक ऊपर उद्धृत किए गए हैं उनके देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें जो गानकी प्रशसा की गई है वह सामगान आदि वैदिक गानसे ही सम्बन्ध रखती है। लौकिक तौर्यत्रिक अर्थात् नृत्य गीत वाद्य आदिसे उसका सम्बन्ध नही है। इसलिए उन श्लोकोके आधारपर तौर्यत्रिक या नाट्यके प्रयोगका समर्थन करना भी युक्तिसङ्गत नही प्रतीत होता है। अत एव पूर्व टीकाकारोने जो मनुस्मृतिके उपर्युक्त श्लोकके आधारपर नाट्यकी वर्जनीयता की शङ्का उठाई है और याज्ञवल्क्य स्मृतिके श्लोकोके आधारपर जो उसका समाधान करनेका यत्न किया है वे दोनो ही बातें सुश्लिष्ट नही हुई है। इसलिए वह शङ्का-समाधान ग्रन्थकारको रुचिकर नही है। इसी दृष्टिकोणसे ग्रन्थकार उसका आगे खण्डन करेंगे।

खण्डन करनेमें ग्रन्थकारकी मुख्य युक्ति यह है कि नाट्यविद्याका कवि, नट तथा सामाजिक इन तीन व्यक्तियोसे मुख्य रूपसे सम्बन्ध है। यदि उसे वर्जनीय माना जाय तो इन्ही तीनोके प्रति अथवा उनमेसे किसी एकके प्रति वर्जनीय माना जा सकता है। परन्तु वास्तविक दृष्टिसे विचार करे तो इनमेंसे किसीके प्रति भी उसको वर्जनीय नही ठहराया जा सकता है। नाट्यका प्रदर्शन नटोका अपना धर्म है। उस क्रियाके द्वारा वे अपने धर्मका ही पालन करते हैं। इस लिए उनकेलिए उसे वर्जनीय माननेकी कोई सम्भावना ही नही है। इसी प्रकार नाट्यके निर्माता कविके लिए भी उसमें वर्जनीयताकी कोई बात नही है। क्योकि कवि तो नाट्यकी रचना करता है। वह नृत्य गीत आदिका स्वय प्रयोग नही करता है।

तीसरा सम्बद्ध व्यक्ति सामाजिक रह जाता है। उसकेलिए भी नाचने गाने बजाने का उपदेश नही दिया गया है। और न वह इन कार्योंको करता है। अत उसकेलिए भी नाट्यको वर्जनीय नही माना जा सकता है। इसके विपरीत नाट्यमें राम-रावण आदिके कार्यो और उनके फलोको देखकर उसको उत्तम शिक्षा ही प्राप्त होती है। जिससे वह अपने जीवनको सुधार सकता है। इसलिए सामाजिककेलिए भी नाट्यको वर्जनीय नही माना जा सकता है। इसी बातको ग्रन्थकार आगे लिखते हैं—

एतत् तु वृथैवास्थानभीरून् प्रति शङ्काशमनार्थमभिधीयेत[1] नाम । तथाहि—

[2]नटाना तावदेतत् स्वधर्माम्नायरूपतयानुष्ठेयमेव । न चास्माकं तच्चेष्टितं विचार्यम् । सोमक्रयोपदेशिनो हि वाक्यस्य[3] न [4]तद्विक्रयिब्राह्मणान्तरगतकृत्याकृत्यविचारणोद्योगो युक्तः ।

न चाप्यस्योपदिश्यते गायेन्नृत्येदिति । किन्तु प्रथमनाटचावसरक्रमप्रवृत्तविरिञ्चि[5]—वचनप्रवर्तकभरतमुनिशासनानुवर्तिशिष्यपरम्परापरिचयागताद्यतनकालावधिमहानटजनस्वकप्रवृत्तिविशेषोपदेशपरम्, [6]अत एव तद्गत-सिद्धसदुपायोपदेशपरमिदं शास्त्रमिति नटस्य तावन्नानेन किञ्चिदुपदिश्यते तं प्रति उपकाराहते[7] ।

अभिनव०—यह तो व्यर्थ ही बिना बातके भयभीत हो जाने वालोके प्रति शङ्काके निवारणकेलिए भले ही कह लिया जाय [परन्तु वास्तवमें तो न नाटचकी वर्जनीयताकी शङ्का ही उठाई जा सकती है और न उसका समाधान करनेकी ही आवश्यकता है । क्योकि नट, कवि तथा सामाजिक तीनोमेंसे नाटच किसीकेलिए भी वर्जनीय नहीं कहा जा सकता हैं] । जैसे कि—

नटोंके लिए नाटच की अवर्जनीयता—

अभिनव०—नटोकेलिए तो यह अपने धर्मका आम्नाय रूप [वेदरूप] है । अतः [उनको तो] उसका अवश्य पालन करना ही चाहिए । और हमारेलिए उनके इस आचरणपर विचार करना उचित नहीं है । जैसे सोम-क्रय करनेका उपदेश करनेवाले वाक्य [के अनुसार सोमका क्रय करनेवाले ब्राह्मण] का, उसका विक्रय करनेवाले दूसरे ब्राह्मणके धर्म-अधर्मके विचारका उद्योग उपयुक्त नहीं होता है ।

अभिनव०—और इस [नट] को भी गावे, नाचे, इस प्रकारका उपदेश नहीं दिया जा रहा है । अपितु सबसे पहले नाटक [प्रस्तुत किए जाने] के अवसरपर कहे गए ब्रह्माके वचनोका अनुष्ठान करानेवाले भरतमुनिकी आज्ञामे रहनेवाले शिष्योकी परम्पराके अभ्याससे आज तक चली आनेवाली महान् नटजनोकी अपनी प्रवृतिका उपदेश-परक [यह शास्त्र] है, इसलिए यह उस विषयके सिद्ध उपायोका उपदेश करने वाला शास्त्र है । इस दृष्टिसे यह नटको उसके [अपने परम्परागत धर्मके बतलाने रूप] उपकारके अतिरिक्त और कुछ [नाचो गावो आदि रूप] उपदेश नहीं देता है । [इसलिए नटोकेलिए यह शास्त्र किसी प्रकार भी वर्जनीय नहीं कहा जा सकता है अपितु सर्वथा उपादेय ही हैं] ।

नटोकी दृष्टिसे नाटच वर्जनीय नही है इस बातका प्रतिपादन ग्रन्थकारने विगत दो अनुच्छेदोंमे किया है । इस विवेचनमें यह प्रश्न अवश्य उपस्थित हो सकता है कि नाटच नटोका अपना धर्म होनेसे उनकेलिए तो वर्जनीय नहीं होता है । परन्तु उसके देखने वाले अन्य लोगोको

---

१. अभिधीयते । २ म नटस्य नाटचं तावदे । ३ म विधिवाक्यस्य ।
४ म तद्विक्रेयद । ५ म भ विरिञ्च । ६ म परमतद्गतनसिद्धिगन्पत्तिनद्गु ।
७ यह पाठ हमने स्वनान्तरित किया है अत काले टाइपमे द्वारा मुद्रित किया है ।

न कवेरपि स्वहृदयायतनसततोदितप्रतिभाभिधानपरवाग्देवतानुग्रहोत्थितविचित्रापूर्वार्थ[1] निर्माणशक्तिशालिनः प्रजापतेरिव[2] कामजनितजगतः।

तो उसका देखना मनुस्मृति के अनुसार वर्जित होनेसे पापजनक हो सकता है। इस प्रश्नका उत्तर देनेकेलिए ग्रन्थकारने सोमक्रयका उपदेश करने वाले वाक्यकी दृष्टिमें उसका विक्रय करने वाले ब्राह्मण विषयक धर्म-अधर्मके विवेचनकी अनुपयोगिताका उल्लेख किया है। यह विषय मीमासा-दर्शनसे सम्बन्ध रखता है। सस्कृत-साहित्यमें पद-विवेचनाकेलिए व्याकरणशास्त्र, प्रमाण-विवेचनाके विषयमें न्याय-शास्त्र तथा वाक्य-विवेचनाकेलिए मीमासा-शास्त्र प्रसिद्ध है। इन सब शास्त्रोंके विशिष्ट विद्वानोंके नामके आगे प्रयुक्त होने वाला 'पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ' विशेषण इसी अभिप्रायको व्यक्त करता है। इसलिए 'सोमक्रयोपदेशक-वाक्य' और उसका निषेध करने वाले वाक्योंके अर्थकी विवेचना मीमासा-पद्धतिके अनुसार जिस प्रकार की जाती है उसकी ओर ही यहा ग्रन्थकारने सङ्केत किया है।

'सोमयाग' प्रकरणमें 'अरुणया एकहायन्या गवा सोम क्रीणाति' यह एक वाक्य आता है। इसके अनुसार लाल रगकी एक वर्षकी बछिया देकर सोमयागकेलिए सोमका क्रय किया जाता है। दूसरी ओर मनुस्मृतिके दशम अध्यायके ८८ वें श्लोकमे 'अय शस्त्र विष मास सोम गन्धाश्च सवशः' आदि लिख कर सोमके विक्रयका निषेध किया गया है। जब एक सोमका क्रय करेगा तो जिससे वह क्रय करेगा वह दूसरा व्यक्ति सोमका विक्रय करने वाला होगा। उक्त वचनो के अनुसार जब क्रय करने वाला अपने धर्मका पालन कर रहा है उसी समय उसका विक्रय करने वाला अधर्मका भागी बन रहा है। इसलिए ये दोनो वाक्य आपातत: परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। परन्तु मीमासक विद्वान् ऐसे प्रसङ्गोंमें 'विरुद्धयो प्रमाणयोर्विषयव्यवस्थया अविरोधापादन-मर्थापत्तेर्विषय' इस प्रकारके लक्षण वाले अर्थापत्ति प्रमाणके आधारपर उन दोनो प्रमाणोकी विषय-व्यवस्था करके उनके अविरोधका उपपादन करते हैं। विषय-व्यवस्थाका अभिप्राय यह है कि सोमक्रयका उपदेश करने वाले वाक्यका विषय या क्षेत्र केवल सोमयागका प्रदेश है और सोमविक्रयका निषेध करने वाले वाक्यका क्षेत्र या विषय सोमयागसे व्यतिरिक्त देश है। इन वाक्योका क्षेत्र या विषय अलग-अलग होनेसे उनमें कोई विरोध नही है। इसलिए सोमक्रयका उपदेश करने वाले वाक्यके अनुसार आचरण करने वाले व्यक्तिको सोम-विक्रय करने वाले दूसरे व्यक्तिको इस कार्यसे धर्म होगा या अधर्म होगा इस बातकी चिन्ता नही करनी चाहिए। इसी प्रकार नाटचरूप स्वधर्मका पालन करने वाले नटोके व्यापारसे किसी अन्यको अधर्म होगा इसकी चिन्ता भी नही करनी चाहिए। अर्थात् नटोकेलिए तो नाट्य वर्जनीय है ही नही। किन्तु विषय-व्यवस्था-नियमके अनुसार अन्योकेलिए भी उसकी उपदेयताका प्रतिपादन किया जा सकता है। यह ग्रन्थकारकी इस चर्चा का अभिप्राय है।

कविकेलिए नाटचकी अवर्जनीयता—

अभिनव०—अपने हृदय-मन्दिरमे निरन्तर प्रकाशमान प्रतिभा रूप वाग्देवता के अनुग्रहसे प्राप्त, नाना प्रकारके लोकोत्तर [अपूर्व] अर्थोंकी रचना करनेकी शक्ति रखनेवाले, और प्रजापति [ब्रह्मा] के समान अपनी इच्छाके अनुसार [स्वतन्त्र रूपसे अपने काव्य] जगत्की रचना करने वाले कविकेलिए भी [नाटचकी वर्जनीयता का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है]।

---

१ म. विचित्रापूर्वनिर्माण। २. म वा कामजनितजगत।

[1]परं प्रत्याशङ्का यदि, परोऽत्रावशिष्यते [2]व्युत्पाद्यो वराक । तस्यापि तु नेह गायेत्, नृत्येत्, वादयेत्, तन्निरतो वा भवेदित्युपदेशःक्रियते । अपितु स्वरसत एव तावन्मनोज्ञविषयास्वादप्रवृत्तस्य, अत एव वेद-शास्त्रपुराणादिभीरुहृदयस्य तन्मनोज्ञवस्तुमध्ये तादृगिदं वस्त्वनुप्रवेशितं यद्बलादेव पुमर्थोपायावगतिं करोति इति वक्ष्यामः ॥ १ ॥

सामाजिककेलिए नाट्यकी अवर्जनीयता—

इस प्रकार नाट्य न तो नटोंकेलिए वर्जनीय हो सकता है और न कवियोंकेलिए। यह बात यहा तक कही है। अब अगले अनुच्छेद में यह दिखलाते हैं कि सामाजिककेलिए भी यह वर्जनीय नही कहा जा सकता है।

अभिनव—यदि [नट तथा कवि दोनोसे भिन्न] किसी अन्यके प्रति [नाट्यकी वर्जनीयताकी] आशङ्का हो तो वह दूसरा केवल बिचारा सामाजिक [व्युत्पाद्य] ही रह जाता है। [परन्तु] उसकेलिए भी यहाँ गावे, नाचे अथवा बजावे या उनमें आसक्त हो इस प्रकारका उपदेश नहीं किया गया है। अपितु स्वभावतः ही सुन्दर विषयोके रसास्वादनमे प्रवृत्त और इसी कारणसे वेद-शास्त्र पुराण आदि [रूक्ष साधनो] से डरने वाले [सामाजिक] केलिए, उसके मनको मुग्ध करने वाली वस्तुके बीचमें [नाट्य रूप] इस ऐसी वस्तुका समावेश कर दिया गया है कि जिसके द्वारा ही [मनोविनोदके साथ-साथ अविज्ञात रूपसे] पुरुषार्थके साधनो [अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष-प्राप्तिके उपायो] का ज्ञान भी [वह] प्राप्त कर लेता है। यह बात हम आगे कहेगे।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि नट तथा कविकेलिए जिस प्रकार नाट्यको वर्जनीय नहीं कहा जा सकता है इसी प्रकार सामाजिककेलिए भी उसको वर्जनीय नहीं ठहराया जा सकता है। क्योंकि इसमें सामाजिकको नाचने गाने आदिमें प्रवृत्त नहीं किया जाता है। इसके विपरीत वह स्वभावतः सुन्दर वस्तुओंके देखने-सुननेका रसिक होता है। वेद शास्त्र आदिमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए वेदादिके द्वारा अपने कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान प्राप्त करनेका अवसर उसे नही मिलता है। इस कमीकी पूर्तिकेलिए और उसकी स्वाभाविक मनोज्ञ-वस्तु-विषयक प्रवृत्ति की तृप्तिकेलिए इस नाट्यके द्वारा एक अत्यन्त उपयोगी एव सुन्दर वस्तुको प्रस्तुत किया गया है। इससे जहा एक ओर उसकी रसास्वादनकी प्रवृत्ति पूर्ण होती है वहा उसके साथ ही उसे राम आदिके समान आचरण करना चाहिए रावण आदिके समान नही। यह शिक्षा भी अनायास ही प्राप्त हो जाती है। अत सामाजिककेलिए भी नाट्य वर्जनीय नही अपितु अत्यन्त उपादेय है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें पूर्वसंस्करणोंमें 'परमत्रावशिष्यते व्युत्पाद्योपकार.' इस प्रकारका पाठ छपा था। परन्तु वह पाठ शुद्ध नहीं था। उसके स्थानपर यहाँ 'परोऽत्रावशिष्यते व्युत्पाद्यो वराक.' यह पाठ होना चाहिए था। इसलिए हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है। और अपना संशोधन होनेके कारण उसे भिन्न प्रकारके [सफ़ेद] टाइपमें दिया है।

इस प्रकार यहाँ तक प्रथम कारिकाकी व्याख्या समाप्त हुई ॥१॥

---

१ म भ परमप्रत्या। २. म परमत्रावशिष्यते व्युत्पाद्योपकारः। म ष्यतेवराक।

३. इस पाठको भी हमने यहां स्थानान्तरित किया है अत काले टाइपमें दुबारा मुद्रित किया है।

अथ मुनिरात्मानमेव परत्वेन कल्पयन् 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' इत्येतदेव पुराकल्पप्रदर्शनेन निश्चाययति 'समाप्तजप्यम्' इत्यादिना श्लोकद्वयेन-

भरत०—समाप्तजप्यं व्रतिनं [1]स्वसुतैः परिवारितम् ।
अनध्याये कदाचित् तु[2] भरतं नाट्यकोविदम् ॥२॥
मुनयः पर्युपास्यैनं आत्रेयप्रमुखाः पुरा ।
पप्रच्छुस्ते महात्मानो [3]नियतेन्द्रियबुद्धय ॥३॥

सुतानां अनुरागित्व नाट्यवेदयोग्यता । नाट्यस्यादृष्टता[4] विनोदहेतुता सुज्ञानत्व चेति प्रश्नावसरलाभयोग । प्रसिद्धत्व चाचार्ययोग्यता । शिष्ट-प्रामाणिकत्व, नियम-पूर्वशास्त्रग्रहण,[5] प्रसिद्धादरण, अनुमेयोपादेयत्वप्रकटन इदम्प्राथम्यप्रवृत्तता ऊहापोहपाटवं च शिष्याणां ग्रहणयोग्यता इति क्रमेण पदाना तात्पर्यमपुनरुक्तम् ॥ २-३ ॥

नाट्य-शास्त्रकी उत्पत्तिका इतिहास—

अभिनव०—अब भरतमुनि अपने आपको ही अपनेसे भिन्न मान कर 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' जिस [नाट्यवेद] को ब्रह्माने कहा [यह बात जो प्रथम कारिकामे लिखी गई थी] इसी बातको [नाट्यवेदकी उत्पत्तिके] इतिहासको दिखलाते हुए 'समाप्तजप्यम्' इत्यादि [अगले] दो श्लोकोसे निश्चय करवाते हैं—

भरत०—[सन्ध्योपासनादि] रूप जपको समाप्त कर चुकनेवाले, व्रतधारी और अपने पुत्रोसे घिरे हुए नाट्य-विद्याके विशेषज्ञ भरतमुनिसे, कभी अनध्यायके दिन महात्मा एव जितेन्द्रिय आत्रेय आदि मुनियोंने उनके समीप बैठकर विनयपूर्वक यह पूछा कि– । २–३ ।

अभिनव०—[मुनिको घेर कर बैठने वाले] पुत्रोका अनुरागित्व [ही उनकी] नाट्यवेद-विषयक योग्यता है । नाट्यका [पहले कभी] न देखा होना, उसका मनोविनोदका कारण होना, सुबोध होना इन कारणोसे प्रश्न पूछनेका अवसर प्राप्त हुआ है । [भरतमुनिकी नाट्य-विद्या-विषयक] प्रसिद्धि ही आचार्यकी योग्यता [की सूचक] है । [भरतमुनि-सदृश] शिष्ट-पुरुषोपर विश्वास करना [उनको प्रामाणिक मानना, उनसे] नियम-पूर्वक शास्त्रका अध्ययन करना, [उस शास्त्रके अन्य] प्रसिद्ध व्यक्तियोका आदर करना, प्रतिपाद्य-विषय [अनुमेय] की उपदेयताको स्वीकार करना, इसी विषयमे मुख्य रूपसे प्रवृत्त होना [इदम्प्राथम्यप्रवृत्तता अर्थात् सर्वात्मना अपने विषयके अध्ययनमे प्रवृत्त होना] और ऊहा-पोह [अर्थात् तर्क-वितर्क द्वारा विषयको ग्रहण करने] की पटुता शिष्योकी [नाट्यविद्याके] ग्रहण करने की योग्यता है । यह [श्लोकके 'स्वसुतै परिवारित', 'नाट्यकोविद' आदि] पदोका पुनरुक्ति-रहित तात्पर्य है ।

---

१ प स्वशिष्यै । २ ग म कदचित्तम् । ३ न म त नाट्यवेदसमुद्भवम् ।
४ व नाट्यस्यादृष्टता । ५ म भ प्रसिद्धादरणानुमेयोपादेयत्वप्रकटनमनिद प्राथम्यप्रवृत्तता ।
६ . म भ शिष्याणामूहापोहपाटव ग्रहणयोग्यता ।

किं पप्रच्छुरिति दर्शयति—

भरत०—योऽयं भगवता सम्यग् ग्रथितो वेदसम्मितः ।
नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते ॥४॥

भगवता तत्रभवता गुरुणा इति भरतमुनिरेवैवमुक्त । तेन भरतमुनिना यो ग्रथित सुन्दरतमवस्तुसमाहरणयोजनया गुम्फित कोऽप्यय वस्तुविशेष, स तावत् प्रयोगसमयेऽस्माभिर्दृष्ट इति प्रत्यक्षत्वेन 'अयम्' इति परामर्श । अविदितान्तस्सारतया चास्माक प्रत्यक्षोऽप्यप्रत्यक्षकल्प इति यच्छब्देनानिर्वाच्यविशेषत्वमुक्तम् । अत एव न तच्छब्दसङ्गतिरत्र मृग्यते । यथा 'यत्किञ्चिद्वदति' इति ।

पाठसमीक्षा–इस अनुच्छेदमें 'सुताना' और 'चेति' पद हमने बढाए है । अन्तिम वाक्यमे क्रमका सशोधन भी किया है । क्योकि उनके विना अर्थकी सङ्गति पूर्ण नही होती है ॥ २–३ ॥

नाट्यवेदकी उत्पत्ति विषयक दो प्रश्न—

पिछली दो कारिकाओमें यह कहा गया था कि आत्रेय आदि मुनियोने भरतमुनिके पास जाकर नाट्यवेदके विषयमें पूछा । क्या पूछा यह बात अगली दो कारिकाओमें दिखावेंगे । इन दोनो कारिकाओमें मिलाकर कुल पांच प्रश्न भरतमुनिसे पूछे गए हैं । उनमेंसे पहिले दो प्रश्न इस चौथी कारिकामे पूछे गए हैं ।

भरत०—हे ब्रह्मन् आपने वेदके सदृश जो यह नाटचवेद बनाया है वह, १ क्यो [अथवा कैसे] उत्पन्न हुआ, और २ किसकेलिए उत्पन्न हुआ । ४ ।

अभिनव०—'भगवता' का अर्थ पूजनीय गुरुदेवने [अर्थात् आपने] है । इससे भरतमुनिको ही इस प्रकार ['भगवता' पद] से कहा गया है । इस लिए भरतमुनिने जिसको [पुष्पमालाके समान सुन्दरताके साथ] गूंथा अर्थात् [पुष्पोके सदृश] सुन्दर वस्तुओको जुटा कर और क्रम-बद्ध करके जिसकी रचना की, उस अपूर्व वस्तुविशेषको सबसे पहले अभिनयके समय देखा था इसलिए उसका 'अयम्' इस पदसे प्रत्यक्ष रूपसे निर्देश किया गया है । किन्तु उसका मर्म न समझनेके कारण प्रत्यक्ष-सदृश होने पर भी हमारे लिए वह अप्रत्यक्ष-तुल्य ही है इसलिए 'यत्' शब्दसे उसकी विशेष रूपसे अनिर्वचनीयता सूचित की गई है । इस लिए यहाँ ['यत्' शब्दके साथ] 'तत्' शब्दकी सङ्गति खोजनेकी आवश्यकता नहीं होती है । जैसे 'यत्किञ्चिद्वदति' इस [प्रयोग] मे ।

'यत्-तदो-र्नित्यसम्बन्ध' इस नियमके अनुसार जहाँ-जहाँ 'यत्' शब्दका प्रयोग होता है वहाँ-वहाँ उसके साथ 'तत्' शब्दका प्रयोग अवश्य किया जाता है । इस दृष्टिसे 'योऽय' में जो 'यत्' शब्दका प्रयोग हुआ है उसकी आकाक्षा-निवृत्तिके लिए 'तत्' शब्दका प्रयोग भी होना चाहिए था । परन्तु यहा 'तत्' शब्दका प्रयोग नही किया गया है । इसका कारण यह है कि जहाँ 'यत्' शब्दका प्रयोग अनिर्वाच्यताके सूचनार्थ होता है वहा 'यत्' शब्दके साथ 'तत्' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता नही होती है । जैसे 'यत्किञ्चिद्वदति' इस प्रयोगमें 'यत्किञ्चित्' का अर्थ, 'समझ में न आने वाली, न जाने क्या बात कहता है' यह होता है । इसलिए इसमें 'यत्' शब्दका प्रयोग

---

१. क कथितो, ज सम्यग् रचितो । २. न विस्तर, प सम्मत । ३ म दृश्यते ।

स चाय परीक्षणीयतत्त्वो[1] यतो वेदै सम्मित, तुल्य । तथाहि-धीरोदात्त धीरललित-धीरोद्धत-धीरप्रशान्ताना पूर्णोपायप्रवृत्तत्वेन नायकाना, अतादृगुपायाश्रयेण[2] प्रतिनायकाना च चरित सफलत्वाफलत्वेन साक्षात्क्रियमाण वीराद्भुताभ्या, वीरशृङ्गार-हास्यै, वीर-रौद्र-भयानक-करुणै, वीर-बीभत्स-शान्तैश्च प्रतिनायकगतरमान्तरसान्तरतया सातिशयचमत्कारगोचरीभूतै, हृदयानुप्रवेश विदधत्, धर्मादिचतुष्कोपायोपादेयधिय, अधर्मादिभ्यश्च निवृत्ति निर्विशङ्क विधत्त इत्यस्माकमधिगतश्रुतितत्त्वानामपि प्रत्यक्षसिद्धमेवैतत् ।

होने पर भी उसके साथ 'तत्' शब्दका प्रयोग नही होता है। इसी प्रकार कारिकामें आया हुआ 'अय' सहित 'यत्' शब्द जो 'योऽयम्' के रूपमें प्रयुक्त हुआ है वह अनिर्वाच्यताका सूचक है इसलिए उसके साथ भी 'तत्' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता नही है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

'यत्' शब्दका उत्तर-वाक्यमें प्रयोग भी इसी प्रकारके अपवादोमें गिना जाता है। जहाँ 'यत्' शब्दका प्रयोग पहिले वाक्यमें न करके बादके वाक्यमें किया जाय वहाँ पूर्ववाक्यमें 'तत' शब्द अर्थत आक्षिप्त हो जाता है। उसका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नही होती है। जैसे—

'साधु चन्द्रमसि पुष्करै. कृत मीलित यदभिरामताधिके ।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठित पुन.' ॥

इसका भाव यह है कि अपनेसे अधिक सुन्दर चन्द्रमाके उदय होने पर कमल जो बन्द हो गए सो उन्होंने यह ठीक ही किया। परन्तु अपनेसे भी अधिक सुन्दर कामनीके मुखके समक्ष उदय होकर चन्द्रमाने अत्यन्त अनुचित कार्य किया है। यहाँ दूसरे वाक्य मे 'यत्' शब्द आया है। अत पूर्वके प्रथम वाक्यमें 'तत्' शब्दका प्रयोग नही किया गया है।

नाटयशास्त्रकी वेदतुल्यता—

अभिनव०—और वह [नाट्यवेद] क्योकि वेदोके तुल्य [कर्त्तव्याकर्त्तव्यका उपदेश देने वाला] है इसलिए इसके विषयपर विचार करना उचित ही है। [नाठ्य-वेद भी वेदोके समान कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी शिक्षा देने वाला है इस बातका उपपादन अगली पक्तियोमे करते हैं] जैसे कि—धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत और धीरप्रशान्त आदि, वैध [पूर्ण] उपायोका अवलम्बन करके प्रवृत्त होने वाले [नाटकोके चार प्रकार के] नायकोके और उससे भिन्न [अवैध एव अपूर्ण] उपायोका आश्रय लेनेवाले प्रतिनायकोके [क्रमश.] सफल एवं असफल रूपसे साक्षात् किए जानेवाले चरित्र, प्रतिनायकगत अन्य रसोसे बीच-बीचमे व्यवहित होकर, १ वीर और अद्भुत, २ अथवा वीर, शृङ्गार और हास्य, ३ अथवा वीर, रौद्र, भयानक और करुण, ४ अथवा वीर, वीभत्स तथा शान्त रूप अतिशय चमत्कारजनक [नाटकके मुख्य] रसोके द्वारा हृदयमे प्रविष्ट होते हुए-से धर्म [अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष] आदि चारो [पुरुषार्थो] के उपायोमे उपादेयता-बुद्धि [अर्थात् प्रवृत्ति] को, और अधर्म आदि से निवृत्तिको निश्चित रूपसे उत्पन्न करता है यह बात वेदोके मर्मको समझने वाले हम-जैसोको भी प्रत्यक्ष-सिद्ध ही है।

---

१ भ. परीक्षणीयो। २ म. भ तदुपायाश्रयाश्रयेण।

इस प्रकार नाट्य भी वेदोंके समान धर्म आदिमें प्रवृत्ति तथा अधर्म आदिसे निवृत्तिका करानेवाला होनेसे वेदके समान ही माना जाता है। इसीलिए वेदके समान विधि-प्रतिषेधकी शिक्षा देनेवाला होनेसे उसको नाट्यवेद कहा जाता है यह इस अनुच्छेदका अभिप्राय है।

इस अनुच्छेदका विषय कुछ क्लिष्ट है और विशेष व्याख्याकी अपेक्षा रखता है। भरतमुनिने नाट्यवेदको 'वेदसम्मित' वेदके तुल्य' कहा है। अभिनवगुप्तने उसकी वेद-तुल्यताका उपपादन करनेकेलिए यह युक्ति प्रस्तुत की है कि—'नायकाना प्रतिनायकना च चरित सफलत्वाफलत्वेन साक्षात्क्रियमाणं हृदयानुप्रवेश विदधद् धर्मादिचतुष्कोपायोपादेयधिय अधर्मादिभ्यश्च निवृत्ति निर्विशङ्क विधत्ते' अर्थात् नाट्यमें नायक और प्रतिनायकका क्रमशः सफल और असफल रूपसे दिखलाई देने वाला चरित्र हृदयके भीतर जम कर धर्मादिके उपायोंका अवलम्बन करानेवाला तथा अधर्मादिसे निवृत्ति करानेवाला बन जाता है इस लिए वह वेदके तुल्य होता है। वेद भी विधि-निषेधका प्रतिपादक होता है और नाट्य भी धर्मादिमें प्रवृत्ति तथा अधर्मादिसे निवृत्ति करानेवाला होता है यही उन दोनोंकी समानता है। इसीके कारण भरतमुनिने नाट्यवेदको 'वेदसम्मित.' कहा है।

परन्तु वेदकी अपेक्षा नाट्यमें कुछ और अधिक विशेषता यह है कि वह जो धर्मादिमें प्रवृत्ति या अधर्मादिसे निवृत्ति कराता है वह राजाज्ञाके समान बलात् नहीं अपितु सरसता पूर्वक कराता है। वेदके द्वारा कराई जाने वाली प्रवृत्ति-निवृत्ति राजाज्ञाके समान है। उसमें सरसता नहीं है किन्तु नाट्यमें राजाज्ञाकी कठोरता के स्थान पर सरसताका प्राधान्य होता है। इसी बातको ग्रन्थकारने 'सातिशयचमत्कारगोचरैं [रसैं] हृदयानुप्रवेश विदधद् नायकाना प्रतिनायकाना च चरितम्' इन शब्दोंके द्वारा कहा है। इनका अर्थ यह है कि नाटकमें अत्यन्त चमत्कारजनक रसोंके द्वारा हृदयके भीतर प्रविष्ट हो जाने वाला नायक-प्रतिनायकोंका चरित्र धर्मादिमें प्रवृत्ति तथा अधर्मादिसे निवृत्ति निश्चित रूपसे कराता है। यह नाट्यकी एक बड़ी विशेषता है। वेदकी विधि-निषेधात्मक आज्ञाओंका मनुष्य उल्लङ्घन कर सकता है और प्रतिदिन करता है किन्तु नाटक उसी बातको मनुष्यके हृदयमें सरसता-पूर्वक ऐसे जमा देता है कि उसके अनुसार आचरण करनेमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बन जाती है। वेदकी अपेक्षा नाटकके द्वारा सरलतासे उत्तम कार्योंमें प्रवृत्ति तथा बुरे कार्योंसे निवृत्ति कराई जा सकती है यह वेदकी अपेक्षा नाट्यकी मुख्य विशेषता ग्रन्थकारने यहाँ सूचित की है।

इस अनुच्छेदका इतना विषय तो स्पष्ट हो जाता है। परन्तु इन पंक्तियोंके बीचमें 'वीराद्भुताभ्या, वीरशृङ्गारहास्यैं', वीर-रौद्र-भयानक-करुणैं', वीर-बीभत्स-शान्तैश्च प्रतिनायकगतरसान्तरसान्तरतया सातिशयचमत्कारगोचरीभूतैं' यह भाग तनिक क्लिष्ट-सा है। इनमें अभिनवगुप्त ने कुछ रसोंके नाम दिए हैं और उनको 'प्रतिनायकगतरसान्तरसान्तरतया सातिशयचमत्कारगोचरीभूतं.' कहा है। अर्थात् वे रस प्रतिनायकगत अन्य रसोंसे व्यवहित होकर सातिशयचमत्कारके विषय बन जाते हैं। ये पंक्तियाँ वस्तुतः रसोंके विरोध-अविरोधके सिद्धान्तसे सम्बन्ध रखती हैं। अत एव विषयके स्पष्टीकरणकेलिए उस सिद्धान्तको सक्षेपमें यहा दे देना आवश्यक है।

साहित्यशास्त्रमें जिन शृङ्गारादि नौ रसोंका प्रतिपादन किया गया है इनमें कुछ रसोंका परस्पर विरोध माना जाता है। यह विरोध तीन प्रकारका है। एक आलम्बनैक्येन विरोध, दूसरा आश्रयैक्येन विरोध और तीसरा नैरन्तर्येण विरोध। कुछ रस ऐसे हैं जिनका आलम्बनैक्येन विरोध है। जैसे वीर और शृङ्गाररसोंका आलम्बनैक्येन विरोध है। एक ही आलम्बनको लेकर एक-साथ वीर और शृङ्गारका वर्णन नहीं करना चाहिए। जिसको देख कर हमारे मनमें

प्रेम या रतिकी उत्पत्ति होती है उसीको लेकर वीररसके स्थायिभाव उत्साहकी अभिव्यक्ति नही हो सकती है। यही आलम्बनैक्येन विरोधका अभिप्राय है। इसी प्रकार हास्य रौद्र और वीभत्सके साथ सम्भोग-शृङ्गारका तथा वीर रौद्र भयानक और करुणरसोके साथ विप्रलम्भ-शृङ्गारका आलम्वनैक्येन विरोध है। शान्त और शृङ्गाररसोका भी आलम्वनैक्यमें विरोध है। जिसको देख कर रतिकी उत्पत्ति हो रही है उसी को देख कर वैराग्य या शमकी उत्पत्ति हो वह स्वाभाविक नही है। ये सब आलम्बनैक्यमें विरोधके उदाहरण है।

वीर तथा भयानकरसोका आश्रयैक्यमें विरोध है। आश्रयैक्यका अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्तिमें वीररस या उत्साहकी अभिव्यक्ति हो रही है उसी व्यक्तिमें उसी समय भयकी उत्पत्ति हो यह बात सम्भव नही है। एक ही आश्रयमें भय और उत्साह या वीर तथा भयानक रस एक साथ उत्पन्न नही हो सकते हैं। इस लिए वीर तथा भयानक रस आश्रयैक्येन विरोधी रस माने गए हैं।

शान्त और शृङ्गारका आलम्बनैक्य तथा नैरन्तर्य दोनो रूपसे विरोध है। अत शान्त और शृङ्गारका एक-साथ निरन्तर अर्थात् व्यवधानके बिना वर्णन नही करना चाहिए। और एक आलम्बनको लेकर भी उन दोनोका वर्णन नही करना चाहिए।

इस प्रकार यह विरोधी रसो या शत्रु-रसोकी बात हुई। पर इस विरोध पक्षके अतिरिक्त दूसरा अविरोध-पक्ष भी है। कुछ रस ऐसे हैं जिनका परस्पर किसी प्रकार भी विरोध नही होता है। जैसे वीरका अद्भुत और रौद्ररसके साथ न आलम्बनैक्येन विरोध है, न आश्रयैक्येन और न नैरन्तर्येण। इसी प्रकार शृङ्गारका अद्भुतके साथ और भयानकका वीभत्सके साथ तीनो प्रकारोमें से किसी भी प्रकारका विरोध नही है। ये अविरोधी रस या मित्र-रस कहे जा सकते हैं।

मित्र-रसोका वर्णन तो बिना किसी कठिनाईके जहाँ और जिस रूपमे आवश्यकता हो उस रूप निश्शङ्क भावसे किया जा सकता है। किन्तु विरोधी-रसोके वर्णनमें कविको विशेष सावधानताका उपयोग करना होता है। क्योकि रसोका परस्पर विरोध हो जानेपर तो काव्य या नाटकका सारा स्वरूप ही विकृत हो जाता है। इस लिए रसोमे किसी प्रकारका विरोध न आने पावे इस बातकेलिए कविको विशेष रूपसे जागरूक रहना होता है। इस विरोधको बचानेका सीधा-सा मार्ग यह बतलाया गया है कि जहाँ आलम्बनैक्यमे विरोध माना गया है वहाँ दोनो रसोके आलम्वनका भेद कर देनेसे विरोधका परिहार हो जाता है। जैसे—

कपोले जानक्या करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरस्फारोड्डमरपुलक वक्त्रममलम्।
मुहु पश्यन्, शृण्वन् रजनिचरसेनाकलकल
जटाजूटग्रन्थि द्रढयति रघूणा परिवृढ ।

इस श्लोकके पूर्वार्द्ध-भागमे सीताको देख कर रामके भीतर उदय होने वाली रतिका या शृङ्गाररसका वर्णन किया गया है और उसीके उत्तरार्द्ध भागमे वीररसका वर्णन किया गया है। परन्तु उससे यहाँ कोई दोष नही आता है। वीर और शृङ्गारका आलम्वन ऐक्यमें विरोध माना गया है। यहाँ कविने दोनोके आलम्बनका भेद कर दिया है। शृङ्गाररसका आलम्वन-विभाव सीता है और वीररसका अलम्वनविभाव यहाँ रजनिचरसेना है। इस प्रकार आलम्वनका भेद हो जानेसे शृङ्गार तथा वीररसोके एक-साथ वर्णित होने पर भी दोष नही होता है।

इसी प्रकार जिन रसोका आश्रयैक्यमें विरोध माना गया है उनका यदि एक साथ वर्णन करना हो तो उनमें आश्रयका भेद कर देना चाहिए। जैसे वीर तथा भयानक रसोका आश्रयैक्य

में विरोध माना गया है। यदि नायकगत वीररसके साथ प्रतिनायकगत भयानक रसका वर्णन कर दिया जाय तो आश्रयभेद हो जानेसे वहाँ न केवल वह विरोध ही समाप्त हो जाता है अपितु उससे नायकगत वीररसका परिपोषणातिशय हो जाता है। शत्रुगत भयसे नायकका वीररस और अधिक चमत्कृत हो उठता है।

इसी प्रकार जिन रसोका नैरन्तर्येण विरोध माना गया है उनके बीचमें किसी अन्य अविरोधी रसका समावेश कर देनेसे उनके विरोधका परिहार हो जाता है। जैसे शान्त और शृङ्गार रसका नैरन्तर्येण विरोध माना गया है। यदि उन दोनोके बीचमें किसी ऐसे रसका जो न शान्तका विरोधी हो और न शृङ्गारका, समावेश कर दिया जाय तो उनका विरोध समाप्त हो जाता है। जैसे नागानन्द नाटकमें शान्त रसके आश्रय जीमूतवाहनके मलयवतीके प्रति अनुराग का वर्णन किया गया है किन्तु शान्त तथा शृङ्गारके बीचमें 'अहो गीत अहो वादित्रम्' आदिसे अद्भुत रसको प्रस्तुत कर उस विरोधका परिहार कर दिया गया है। इस प्रकारके उपायोंके अवलम्बन करनेसे न केवल रसोके विरोधका ही परिहार हो जाता है अपितु उनसे काव्य या नाटकमें चमत्कारातिशयकी सृष्टि होती है।

प्रकृतका अनुसरण—

यहाँ अभिनवगुप्तने इसी दृष्टिसे १ 'वीराद्भुताभ्याम्, २ वीरशृङ्गारहास्यैः, ३. वीररौद्रभयानककरुणैः और ४ वीरबीभत्स-शान्तैश्च इन चार वर्गोंमें विभिन्न रसोके नाम गिना कर उनको 'प्रतिनायकगतरसान्तरमान्तरतया सातिशयचमत्कारगोचरीभूतैः' कहा है। इनमेंसे प्रथम वर्गमें वीर और अद्भुत रसका यद्यपि परस्पर किसी प्रकारका विरोध नही है, वे दोनो मित्ररस हैं, फिर भी उनके नायक और प्रतिनायक रूप भिन्नाश्रयगतत्वेन वर्णन करनेसे उनमें चमत्कारातिशय आ जाता है। नायककी वीरताको देख कर यदि प्रतिनायक भी आश्चर्यमुग्ध होकर साधुवाद देने लगे तो उससे नायककी वीरता द्विगुणित चमत्कारजनक हो उठती है। जैसे उत्तररामचरितमें लव और चन्द्रकेतुके युद्धके वर्णनमें लवके युद्धकौशलको देख कर चन्द्रकेतु बार बार विस्मित हो उठते हैं। और उनके मुखसे बलात् साधुवाद निकल पडता है। इससे लवकी वीरताका अत्यन्त परिपोष होता है। इसी दृष्टिसे अभिनवगुप्तने यहाँ नायक-प्रतिनायकगत रूपमें उनका उल्लेख किया है।

दूसरे वर्गमें अभिनवगुप्तने 'वीर-शृङ्गार-हास्यैः' वीर शृङ्गार और हास्य इन तीन रसो का वर्णन किया है। इनमेंसे वीर और शृङ्गारका आलम्बनैक्यमें विरोध माना गया है। पर यहाँ ग्रन्थकारने उनके नायक-प्रतिनायकगत वर्णन द्वारा उनमें चमत्कारातिशयके परिपोषणकी चर्चा की है। जब एक ओर युद्धकी रणभेरी बज रही हो तब दूसरी ओर प्रेमालाप चल रहा हो या हास्यका प्रवाह बह रहा हो यह स्थिति अच्छी तो नही है पर उससे भी कदाचित् मुख्य वीर रसका परिपोष होता है ऐसा अभिनवगुप्तका अभिप्राय प्रतीत होता है। इसी लिए उन्होंने यहाँ नायकगत वीर और प्रतिनायकगत शृङ्गार तथा हास्यके द्वारा चमत्कारातिशयकी चर्चा की है। इस प्रकार का वर्णन वेणीसंहार नाटकमें आया है। उसमें प्रथमाङ्कके मध्यमें 'केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखः दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्' इस भीमवचनके द्वारा रणभेरी बजनेकी सूचना दी गई है। उसके बाद ही दूसरे अङ्कमें दुर्योधनकी भानुमतीके साथ रतिक्रीडाका वर्णन बहुत विस्तार के साथ किया गया है। साहित्य-ग्रन्थोंमें इस प्रकरणको 'अकाण्डे प्रथनम्' नामक रसदोषके उदाहरण रूपमें प्रायः प्रस्तुत किया गया है। इसका कारण यह है कि वहाँ शृङ्गार-वर्णनकी अति कर दी गई है।

प्रेम या रतिकी उत्पत्ति होती है उसीको लेकर वीररसके स्थायिभाव उत्साहकी अभिव्यक्ति नही हो सकती है। यही आलम्बनैक्येन विरोधका अभिप्राय है। इसी प्रकार हास्य रौद्र और वीभत्सके साथ सम्भोग-शृङ्गारका तथा वीर रौद्र भयानक और करुणरसोके साथ विप्रलम्भ-शृङ्गारका आलम्बनैक्येन विरोध है। शान्त और शृङ्गाररसोका भी आलम्बनैक्यमे विरोध है। जिसको देख कर रतिकी उत्पत्ति हो रही है उसी को देख कर वैराग्य या शमकी उत्पत्ति हो वह स्वाभाविक नही है। ये सब आलम्बनैक्यमें विरोधके उदाहरण है।

वीर तथा भयानकरसोका आश्रयैक्यमें विरोध है। आश्रयैक्यका अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्तिमें वीररस या उत्साहकी अभिव्यक्ति हो रही है उसी व्यक्तिमें उसी समय भयकी उत्पत्ति हो यह बात सम्भव नही है। एक ही आश्रयमें भय और उत्साह या वीर तथा भयानक रस एक साथ उत्पन्न नही हो सकते हैं। इस लिए वीर तथा भयानक रस आश्रयैक्येन विरोधी रस माने गए हैं।

शान्त और शृङ्गारका आलम्बनैक्य तथा नैरन्तर्य दोनो रूपसे विरोध है। अत शान्त और शृङ्गारका एक-साथ निरन्तर अर्थात् व्यवधानके बिना वर्णन नही करना चाहिए। और एक आलम्बनको लेकर भी उन दोनोका वर्णन नही करना चाहिए।

इस प्रकार यह विरोधी रसो या शत्रु-रसोकी बात हुई। पर इस विरोध-पक्षके अतिरिक्त दूसरा अविरोध-पक्ष भी है। कुछ रस ऐसे हैं जिनका परस्पर किसी प्रकार भी विरोध नही होता है। जैसे वीरका अद्भुत और रौद्ररसके साथ न आलम्बनैक्येन विरोध है, न आश्रयैक्येन और न नैरन्तर्येण। इसी प्रकार शृङ्गारका अद्भुतके साथ और भयानकका वीभत्सके साथ तीनो प्रकारोंमें से किसी भी प्रकारका विरोध नही है। ये अविरोधी रस या मित्र-रस कहे जा सकते हैं।

मित्र-रसोका वर्णन तो बिना किसी कठिनाईके जहां और जिस रूपमें आवश्यकता हो उस रूप निश्शङ्क भावसे किया जा सकता है। किन्तु विरोधी-रसोके वर्णनमें कविको विशेष सावधानताका उपयोग करना होता है। क्योकि रसोका परस्पर विरोध हो जानेपर तो काव्य या नाटकका सारा स्वरूप ही विकृत हो जाता है। इस लिए रसोमे किसी प्रकारका विरोध न आने पावे इस बातकेलिए कविको विशेष रूपसे जागरूक रहना होता है। इस विरोधको बचानेका सीधा-सा मार्ग यह बतलाया गया है कि जहां आलम्बनैक्यमे विरोध माना गया है वहां दोनो रसोके आलम्बनका भेद कर देनेसे विरोधका परिहार हो जाता है। जैसे—

कपोले जानक्या करिकलभदन्तद्युतिमुपि
स्मरस्मेरस्फारोड्डमरपुलक ववत्रममलम्।
मुहु पश्यन्, श्रृण्वन् रजनिचरसेनाकलकल
जटाजूटग्रन्थि द्रढयति रघूणा परिवृढ।

इस श्लोकके पूर्वार्द्ध-भागमे सीताको देख कर रामके भीतर उदय होने वाली रतिका या शृङ्गाररसका वर्णन किया गया है और उसीके उत्तरार्द्ध भागमे वीररसका वर्णन किया गया है। परन्तु उससे यहां कोई दोष नही आता है। वीर और शृङ्गारका आलम्बन ऐक्यमें विरोध माना गया है। यहां कविने दोनोके आलम्बनका भेद कर दिया है। शृङ्गाररसका आलम्बन-विभाव सीता है और वीररसका अलम्बनविभाव यहां रजनिचरसेना है। इस प्रकार आलम्बनका भेद हो जानेसे शृङ्गार तथा वीररसोके एक-साथ वर्णित होने पर भी दोष नही होता है।

इसी प्रकार जिन रसोका आश्रयैक्यमें विरोध माना गया है उनका यदि एक साथ वर्णन करना हो तो उनमें आश्रयका भेद कर देना चाहिए। जैसे वीर तथा भयानक रसोका आश्रयैक्य

में विरोध माना गया है। यदि नायकगत वीररसके साथ प्रतिनायकगत भयानक रसका वर्णन कर दिया जाय तो आश्रयभेद हो जानेसे वहाँ न केवल वह विरोध ही समाप्त हो जाता है अपितु उससे नायकगत वीररसका परिपोषणातिशय हो जाता है। शत्रुगत भयसे नायकका वीररस और अधिक चमत्कृत हो उठता है।

इसी प्रकार जिन रसोंका नैरन्तर्येण विरोध माना गया है उनके बीचमें किसी अन्य अविरोधी रसका समावेश कर देनेसे उनके विरोधका परिहार हो जाता है। जैसे शान्त और शृङ्गार रसका नैरन्तर्येण विरोध माना गया है। यदि उन दोनोंके बीचमें किसी ऐसे रसका जो न शान्तका विरोधी हो और न शृङ्गारका, समावेश कर दिया जाय तो उनका विरोध समाप्त हो जाता है। जैसे नागानन्द नाटकमें शान्त रसके आश्रय जीमूतवाहनके मलयवतीके प्रति अनुराग का वर्णन किया गया है किन्तु शान्त तथा शृङ्गारके बीचमें 'अहो गीतं अहो वादित्रम्' आदिमे अद्भुत रसको प्रस्तुत कर उस विरोधका परिहार कर दिया गया है। इस प्रकारके उपायोंके अवलम्बन करनेसे न केवल रसोंके विरोधका ही परिहार हो जाता है अपितु उनसे काव्य या नाटकमें चमत्कारातिशयकी सृष्टि होती है।

प्रकृतका अनुसरण—

यहाँ अभिनवगुप्तने इसी दृष्टिसे १ 'वीराद्भुताभ्याम्, २ वीरशृङ्गारहास्यैः, ३. वीररौद्र-भयानककरुणैः और ४ वीरबीभत्स-शान्तैश्च इन चार वर्गोंमें विभिन्न रसोंके नाम गिना कर उनको 'प्रतिनायकगतरसान्तरमान्तरतया सातिशयचमत्कारगोचरीभूतैः' कहा है। इनमेंसे प्रथम वर्गमें वीर और अद्भुत रसका यद्यपि परस्पर किसी प्रकारका विरोध नहीं है, वे दोनों मित्ररस हैं, फिर भी उनके नायक और प्रतिनायक रूप भिन्नाश्रयगतत्वेन वर्णन करनेसे उनमें चमत्कारातिशय आ जाता है। नायककी वीरताको देख कर यदि प्रतिनायक भी आश्चर्यमुग्ध होकर साधुवाद देने लगे तो उससे नायककी वीरता द्विगुणित चमत्कारजनक हो उठती है। जैसे उत्तररामचरितमें लव और चन्द्रकेतुके युद्धके वर्णनमें लवके युद्धकौशलको देख कर चन्द्रकेतु बार बार विस्मित हो उठते हैं। और उनके मुखसे बलात् साधुवाद निकल पड़ता है। इससे लवकी वीरताका अत्यन्त परिपोष होता है। इसी दृष्टिसे अभिनवगुप्तने यहाँ नायक-प्रतिनायकगत रूपमें उनका उल्लेख किया है।

दूसरे वर्गमें अभिनवगुप्तने 'वीर शृङ्गार-हास्यैः' वीर शृङ्गार और हास्य इन तीन रसों का वर्णन किया है। इनमेंसे वीर और शृङ्गारका आलम्बनैक्यमें विरोध माना गया है। पर यहाँ ग्रन्थकारने उनके नायक-प्रतिनायकगत वर्णन द्वारा उनमें चमत्कारातिशयके परिपोषणकी चर्चा की है। जब एक ओर युद्धकी रणभेरी बज रही हो तब दूसरी ओर प्रेमालाप चल रहा हो या हास्यका प्रवाह बह रहा हो यह स्थिति अच्छी तो नहीं है पर उससे भी कदाचित् मुख्य वीर रसका परिपोष होता है ऐसा अभिनवगुप्तका अभिप्राय प्रतीत होता है। इसी लिए उन्होंने यहाँ नायकगत वीर और प्रतिनायकगत शृङ्गार तथा हास्यके द्वारा चमत्कारातिशयकी चर्चा की है। इस प्रकार का वर्णन वेणीसंहार नाटकमें आया है। उसमें प्रथमाङ्कके मध्यमें 'केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसख. दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्' इस भीमवचनके द्वारा रणभेरी बजनेकी सूचना दी गई है। उसके बाद ही दूसरे अङ्कमें दुर्योधनकी भानुमतीके साथ रतिक्रीडाका वर्णन बहुत विस्तार के साथ किया गया है। साहित्य-ग्रन्थोंमें इस प्रकरणको 'अकाण्डे प्रथनम्' नामक रसदोषके उदाहरण रूपमें प्रायः प्रस्तुत किया गया है। इसका कारण यह है कि वहाँ शृङ्गार-वर्णनकी अति कर दी गई है।

'अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेदः । प्रसिद्धा चास्य नाटयवेदसञ्ज्ञा[2] विदिता । एवं च जिज्ञास्यतत्त्व एवायम् ।

सारा-का-सारा दूसरा अङ्क शृङ्गार वर्णनमें ही लगा दिया गया है। इस लिए वह 'अकाण्डे प्रथनम्' दोषका उदाहरण बन गया है। यदि इस प्रकारका वर्णन थोडा-सा हो तो अभिनवगुप्तके मतमे कदाचित् वह दोष नही अपितु वीररसका चमत्काराधायक ही होगा। इस दृष्टिसे यहाँ उन्होने नायकगत वीर तथा प्रतिनायकगत शृङ्गार अथवा हास्यको चमत्कारातिशयका परिपोषक माना है।

तीसरे वर्गमें अभिनवगुप्तने 'वीररौद्र-भयानककरुणैः' इन चार रसोका एक-साथ उल्लेख किया है। अर्थ करते समय इनको दो भागोमें विभक्त कर लेना चाहिए। इनमेसे वीर और रौद्रका सम्बन्ध नायकसे तथा भयानक और करुणका सम्बन्ध प्रतिनायकसे है। उनका भी सम्बन्ध यथाक्रम करना है। नायकमें वीररसके होनेपर प्रतिनायकमें भयानकका होना वीररसके चमत्कारका अभिवर्धक होता है। इसी प्रकार नायकके भीतर रौद्ररसके होनेपर प्रतिनायकगत करुणरसके वर्णनसे प्रकृत मुख्य रौद्ररसका चमत्कार बढता है। इसलिए नायकगत वीर तथा रौद्रके साथ प्रतिनायकगत भयानक तथा करुणको अभिनवगुप्तने चमत्कारातिशयका कारण माना है।

चौथे वर्गमें 'वीर-वीभत्सशान्तैश्च' इन तीन रसोकी एक साथ चर्चा की गई है। इनमें नायकगत वीरके साथ प्रतिनायकगत वीभत्स और शान्तरसका सम्बन्ध दिखलाया गया है और उससे रसप्रतीतिको सातिशयचमत्कारयुक्त कहा गया है। नायकगत वीरसे प्रतिनायकमें भयानककी उत्पत्तिमे जिस प्रकार वीररसका परिपोषातिशय होता है इसी प्रकार नायकगत वीरसे यदि प्रतिनायकमे जुगुप्सा या वैराग्य [शम] की उत्पत्ति होती है तो वह भी वीरके चमत्कारातिशयकी जनक होती है। इस अभिप्रायसे अभिनवगुप्तने यहाँ इन तीन रसोका समावेश किया है।

नाटचवेदके वेदत्वका उपसहार—

इस प्रकार इन पक्तियोमें अभिनवगुप्तने यह दिखलाया कि नाटचके द्वारा वेदादिकी अपेक्षा अधिक सरलता एव सरसतासे कर्तव्याकर्तव्य—विधि-निषेध—की शिक्षा मिल सकती है। इसीलिए उसको 'वेद' कहा जाता है। इसी दृष्टिसे अगली पक्तिमे 'अत एव उपदेशहेतुत्वाद्वेद प्रसिद्धा चास्य नाटचवेदसञ्ज्ञा' यह बात अभिनवगुप्तने लिखी है। न केवल भरतमुनिने ही यहाँ इसको वेद कहा है अपितु सामान्य रूपसे सर्वत्र ही उसकी 'नाटचवेद' सञ्ज्ञा प्रसिद्ध है। इस प्रकार अभिनवगुप्तने नाटचके वेदत्वको सिद्ध करनेका यत्न किया है।

अभिनव—इसीलिए [वेदोके समान कर्तव्याकर्तव्यके] उपदेशका देनेवाला [हेतु] होनेके कारण [नाटचवेद भी] 'वेद' [कहलाता] है। और इसकी नाट्यवेद यह सञ्ज्ञा प्रसिद्ध मानी जाती है। इस प्रकार इसके रहस्यकी जिज्ञासा [विवेचना] करनी ही चाहिए [यह बात सिद्ध होती है]।

पाठसमीक्षा—पूर्व सस्करणोमे इस अनुच्छेदके प्रथम वाक्य [अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेद] तथा द्वितीय वाक्य [प्रसिद्धा चास्य नाटचवेद-सञ्ज्ञा विदिता] का क्रम इससे विपरीत था। अर्थात् द्वितीय वाक्यको पहिले और प्रथम वाक्यको पीछे रखा गया था। किन्तु वह क्रम अधिक अच्छा नहीं था। क्योकि 'अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेद' इस द्वितीय वाक्यका सम्बन्ध गत अनुच्छेदके साथ ठीक बैठता है। गत अनुच्छेदमें यह कहा गया था कि नाटचमें प्रत्यक्ष होने वाले नायक प्रतिनायकोके चरित्रोसे धर्मादिमें प्रवृत्ति तथा अधर्मादि-से निवृत्तिकी शिक्षा स्पष्ट रूपसे प्राप्त होती है।

१ म. प्रसिद्धा चास्य नाटचवेदसञ्ज्ञा विदिता। अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेद। २. नाटचसञ्ज्ञा।

स 'कथमुत्पन्न' केन प्रयोजनप्रकारेणोत्पन्न । तत्प्रयोजनस्य वेदेभ्य एव सिद्धे ।

'उत्पन्न' इति यदि पूर्वमेव 'वेदेवदपदार्थ स्यात् तत्कथं नामाय पर्यनुयुज्येत श्रुतिचष्टयवदेव इत्यर्थ ।

अथ यस्य वेदेभ्यो नोपदेश सिद्ध । स कस्तादृगित्याह-कस्याधिकारिण कृते, प्रयोजनकरणाय । किं वेदाधिकृत एवात्राधिकारी उत तदन्योऽपि । इत्याधिकारिविषयोऽय प्रश्न । पूर्वस्तु सिद्धसाध्यतया निष्प्रयोजनत्वेनाक्षेपाय[2] प्रश्न ॥४॥

इसीके आगे 'अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेद.' इस वाक्यका आना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। इसलिए हमने यहाँ इन दोनो वाक्योंके क्रममें परिवर्तन करके 'अत एवोपदेशहेतुत्वाद्वेद । प्रसिद्धा चास्य नाट्यवेदसज्ञा विदिता ।' इस क्रमसे मुद्रित किया है। इस प्रकार दोनो वाक्योको हमने यहाँ स्थानान्तरित किया है इसलिए उसको भिन्न प्रकारके टाइपमें दिया है।

प्रथम प्रश्न—

इस प्रकार नाट्यशास्त्रके वेदत्वका उपपादन करके नाट्यशास्त्रकी उत्पत्ति आदिके विषयमें जिन पांच प्रश्नोको पूछने जा रहे हैं उनमेंसे दो प्रश्न इस कारिकामें निम्न प्रकारसे पूछते हैं—

अभिनव०—और वह किसलिए उत्पन्न हुआ अर्थात् किस प्रयोजनकेलिए उत्पन्न हुआ [यह पहिला प्रश्न है। 'कथं' का अर्थ कैसे भी होता है परन्तु यहाँ उसका किसलिए ही अर्थ करना चाहिए। 'किं' 'शब्दसे प्रकार अर्थ-मे 'किमश्च' ५-३-२५ सूत्र-से थमु-प्रत्यय हो कर 'कथ' पद वनता है इसलिए वृत्तिकारने 'केन प्रयोजनप्रकारेण' यह 'कथं' पदकी वृत्ति लिखी है] क्योकि उस [नाट्य] का प्रयोजन वेदोसे ही सिद्ध हो जाता है [इसलिए उसकी कोई आवश्यकता नही रहती है। फिर वह किसलिए उत्पन्न हुआ यह इस प्रश्नका अभिप्राय है]।

द्वितीय प्रश्न —

और 'उत्पन्न हुआ' इससे [यह प्रतीत होता है कि वह पहिले नहीं था, सो] यदि वह [नित्य] वेदोके समान पहिले [न पदार्थ अपदार्थ । अपदार्थ अर्थात्] विद्यमान नहीं था तो वह 'चारो वेदोके समान है' यह कैसे कहा जा सकता है।

यदि यह कहो कि जिसको वेदोके द्वारा उपदेश सिद्ध नहीं होता है [उसके लिए नाट्यवेद वना है]। तो उस प्रकारका वह कौन [व्यक्ति] है, इस अभिप्रायसे 'किस अधिकारीकेलिए' अर्थात् [किस अधिकारीके] प्रयोजन सम्पादनके निमित्त । [उत्पन्न हुआ यह दूसरा प्रश्न है]। क्या जिसका वेदमे अधिकार है वह [त्रैवर्णिक] ही इसका अधिकारी है अथवा उससे भिन्न [शूद्रादि] भी। इस प्रकार यह अधिकारिविषयक [द्वितीय] प्रश्न है। पहिला [प्रश्न] तो [वेदो द्वारा] सिद्ध [प्रयोजन] का साधन-मात्र होनेसे [नाट्य निष्प्रयोजन है इस प्रकारका] आक्षेप करनेकेलिए [ही प्रश्न] है ॥ ४ ॥

---

१. म भ. वेदवदपदार्थस्य ततथा कथमनेन पर्यनुयुञ्जीत । २. म, आक्षेपोऽयम् ।

भरत०—'कत्यङ्गः किम्प्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृशः ।
सर्वमेतद् यथातत्त्व भगवन् वक्तुमर्हसि ।। ५ ।।

कत्यङ्ग इति—यद्यस्य सुबहून्यङ्गानि ²तद्दुरवधारतयाऽशक्यनिर्णय । तथा परिदृश्यमानगीतातोद्याभिनयादिमध्ये कत्यस्याङ्गानि । किञ्च तदङ्गिरूप उत अङ्गसमुदायमात्र नाट्यमिति तृतीय प्रश्न ।

अगले तीन प्रश्न—

पिछली कारिकामे आत्रेय आदि मुनियोने भरतमुनिसे नाट्यवेद विषयक दो प्रश्न पूछे थे। इस कारिकामें उसी सम्बन्धमें तीन प्रश्न और पूछ रहे हैं। इस प्रकार सम्प्रति भरतमुनिमे पूछे जाने वाले कुल पाच प्रश्न हो जाते हैं। उनमेंसे ३-४-५ तीन प्रश्न इस कारिका में पूछते हैं—

भरत०—[इस नाट्यके] कितने अङ्ग हैं [यह तीसरा प्रश्न है उसके विषय मे] क्या प्रमाण है [अथवा उसका कितना परिमाण है। यह चौथा प्रश्न है।] और उसका प्रयोग कैसे होता है [यह पाँचवां प्रश्न है]। हे भगवन् इस सबको आप ठीक ठीक बतलानेकी कृपा करें। ५।

तृतीय प्रश्नके तीन रूप—

अभिनव०—कितने अङ्ग है इस [प्रश्न] का अभिप्राय यह है कि—यदि इस [नाट्य] के बहुत अधिक अङ्ग है तो [उनकी निश्चित सख्याका] अवधारण करना कठिन होनेसे उनका निर्णय असम्भव होगा [यह इस तृतीय प्रश्नका पहिला भाग है]। और [इसी प्रश्नका दूसरा अभिप्राय यह भी है कि] दिखलाई देने वाले गीत वाद्य तथा अभिनय आदिमेसे कितने इस [नाट्य] के अङ्ग है। [इसी प्रश्नका तीसरा अभिप्राय यह भी है कि] और वह [नाट्य] क्या [अङ्गोसे भिन्न] अङ्गी रूप है अथवा केवल अङ्गोका समुदाय-मात्र ही नाट्य है यह [सब] तृतीय प्रश्न [का अभिप्राय] है। [अर्थात् तृतीय प्रश्नके तीन अवान्तर भाग बन जाते हैं]।

इस प्रकार वृत्तिकारने 'कत्यङ्ग' इस तृतीय प्रश्नके अन्तर्गत भी तीन अवान्तर प्रश्न निकाल लिए हैं। इनमें से 'किमङ्गिरूपमुताङ्गसमुदायमात्र नाट्यम्' यह जो तीसरा अवान्तर प्रश्न वृत्तिकारने निकाला है वह नैयायिको तथा बौद्ध दार्शनिकोके 'अवयवी' विषयक मतभेदके आधारपर उठाया गया है। बौद्ध लोग क्षणभङ्गवादी हैं। वे किसी भी स्थिर वस्तुकी सत्ता नही मानते हैं। इसलिए वे घट आदि सभी पदार्थोंको अवयव-समुदायमात्र मानते हैं। अवयवीकी अलग सत्ता नही मानते हैं। इसके विपरीत नैयायिक लोग घट आदिको केवल अवयव समुदायमात्र ही नही मानते हैं अपितु अवयव-समुदायसे भिन्न 'अवयवी' की अलग सत्ता मानते हैं। उनका कहना यह है कि यदि 'अवयवी' की अलग सत्ता न मानी जाय और सूक्ष्म, अप्रत्यक्ष तथा अनेक परमाणुओके समुदाय को ही घट माना जाय तो परमाणुओके सूक्ष्म होनेसे 'स्थूल घट.' यह प्रतीति नही बन सकती है। इसी प्रकार परमाणुओके अप्रत्यक्ष होनेसे 'प्रत्यक्ष घट' और परमाणुओके अनेक होनेसे 'एक घट' यह प्रतीति नही बन सकती है। परमाणुओसे भिन्न घटादि अवयवीकी अलग सत्ता माननेपर वह 'अवयवी' ही एक, स्थूल, प्रत्यक्ष आदि प्रतीतियोका विषय होता है। इसलिए 'अवयवी' की सत्ता अलग माननी चाहिए यह नैयायिकोका मत हैं। इसी आधार पर यहां वृत्तिकारने 'किमङ्गिरूप उताङ्गसमुदायमात्र नाट्यम्' यह प्रश्न उठाया है।

---

१ ज म. कत्यश। २ तदवधारणतया।

किम्प्रमाणश्चेति । ननु प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्व तावन्नाटचस्य । यद्वक्ष्यति—'दृश्य श्रव्यं च यत्' [ना० शा० १-११] इति । श्रेय प्राप्त्युपायज्ञापकत्वमपि मुनीना स्वसंवेदनसिद्धम् । अन्यथा तु विचार्यत्वमेवास्य न स्यादित्युक्तम् । तत्कोऽय प्रश्न ।

सत्यम् । किन्तु यान्यङ्गानि कानिचित् तानि यदि विज्ञेयानि, केन प्रमाणेन । 'किमङ्गिता ज्ञायते तेन, किं वाङ्गभाव इति । तथा केन प्रमाणेन अङ्गाङ्गिभाव-नियमोऽत्र ज्ञेय । प्रमाणमत्र निश्चयजनकम् ।

अन्ये तु नाटचगताना रूपकादीना पाठ्य-अभिनय-रस-गीताना च किं प्रमाण-का सख्या- इति विभागविषयोऽय[2]प्रश्न इत्याचक्षते ।

चतुर्थ प्रश्नके चार रूप—

अभिनव—'इसमे क्या प्रमाण है' [यह चौथा प्रश्न पूछा गया है । इस पर सिद्धान्त पक्षसे यह कहा जा सकता है कि—] नाट्य तो प्रत्यक्ष-प्रमाणसे ही गृहीत हो जाता है । जैसा कि आगे [११ वीं कारिकामें हम] कहेंगे कि—'जो दृश्य तथा श्रव्य हो' । [इस प्रकार नाट्यका ग्रहण तो चाक्षुष-प्रत्यक्ष तथा श्रावण-प्रत्यक्षसे ही हो जाता है इसलिए यह प्रश्न व्यर्थ है । यह इस प्रश्नका प्रथम भाग है] । और [नाटच धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि रूप] श्रेय· प्राप्तिके उपायोका वोधक होता है यह वात भी मुनियोके अनुभवसे सिद्ध है [इसलिए उसको वतलानेकेलिए भी नाट्य आदि किसी अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है] । तव यह [प्रमाण-विषयक] प्रश्न क्यो किया गया है [अर्थात् 'किम्प्रमाणश्च' यह जो प्रश्न पूछा गया है वह विलकुल व्यर्थ है । इसका उत्तर अगले अनुच्छेदमे देते हैं । इस उत्तरमे इस द्वितीय भागके तीन अवान्तर विभाग हो जावेगें उसके साथ प्रथम भागको जोडकर चतुर्थ प्रश्नके चार रूप वन जाते हैं] ।

अभिनव०—[आपका कथन] ठीक है । किन्तु [मुनियोके इस प्रश्न पूछनेका अभिप्राय यह है कि—इस नाट्यके] जो कोई भी अङ्ग है उनका यदि ज्ञान करना हो तो किस प्रमाणसे [उनका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । यह इस प्रश्नका एक अभिप्राय है । उसका दूसरा अभिप्राय यह है कि—] उस [प्रमाण] से क्या [नाट्य को] अङ्गिताका ज्ञान होता है अथवा [केवल] अङ्गभावका । [और इसी प्रश्नका तीसरा भाग यह है कि—] इसमे अङ्ग-अङ्गि-भावकाका नियम किस प्रमाणकेद्वारा ज्ञात होता है । यहां [अर्थात् इस व्याख्यामें] 'प्रमाण' पद निश्चयके जनक [प्रमाण साधन] का ग्राहक हैं ।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो—नाट्यगत रूपकादि [भेदों] तथा पाठ्य, अभिनय, रस एवं गीत [आदि अङ्गो] का कितना परिमाण अर्थात्—कितनी संख्या है—इस प्रकार यह विभाग-विषयक प्रश्न है यह व्याख्या करते हैं ।

---

१ म. भ. किमङ्गना जायते । तेन किं प्रमाणाङ्ग इति । २. म भ विभागविषयो यायम् ।

अस्येति नाटचस्य, कीदृक् प्रयोग । यदि युगपदङ्गानि प्रयुज्यन्ते तद्भिन्नाक्षग्राह्येषु युगपत् सवेदनाभावात् कथ 'एक नाटचम्' इति प्रतिपत्ति । क्रमप्रयोगेऽपि नतराम्[1] । तस्मात् कथ प्रयोग इति । तथा किं नियतेनैव अङ्ग-अङ्गिभावेन प्रयोग उतानियतेनेति नाटयाङ्गप्रयोगद्वारेण सामान्याभिनय-चित्राभिनय-नाटकादिरूपक-वैचित्र्यविषय प्रश्न पञ्चम ।

पाठसमीक्षा—इन तीन अनुच्छेदोंमेंसे बीचके अनुच्छेदका पाठ पूर्वसकरणोमें अशुद्ध छपा था । 'किमङ्गता ज्ञायते ? तेन किं प्रमाणाङ्ग इति' इस पूर्व-पाठकी कोई सङ्गति नही लगती है । उसके स्थानपर 'किमङ्गिता ज्ञायते तेन किं वाङ्गभाव इति' ऐसा पाठ रखनेपर ही सङ्गति लग सकती है । इसलिए हमने सशोधित रूपसे इसी पाठको काले टाइपमें प्रस्तुत किया है ।

पञ्चम प्रश्नके पाच रूप—

अभिनव०—['प्रयोगश्चास्य कीदृशः' यह पांचवां प्रश्न पूछा गया है । इसमे आए हुए] 'अस्य' इसका, अर्थात् नाट्यका, प्रयोग किस प्रकारका होता है । [यह पाचवां प्रश्न है । इसके पूछनेका कारण यह है कि—] यदि [अभिनय और पाठ्य गीत आदि] अङ्गोका एक-साथ प्रयोग किया जाता है तो [चक्षु तथा श्रोत्र रूप] भिन्न-भिन्न इन्द्रियोसे ग्राह्य उन सबकी एक-साथ प्रतीति सम्भव न होनेसे 'यह एक नाटच है' इस प्रकारकी प्रतीति कैसे हो सकेगी ? [अर्थात् 'यह एक नाटच है' इस प्रकारकी प्रतीति कभी नहीं हो सकेगी । यह इस प्रश्नका प्रथम भाग हुआ] । और [विभिन्न अङ्गोका] क्रमसे [अलग-अलग] प्रयोग होनेपर तो ['एक नाटच' यह प्रतीति] और भी नहीं हो सकेगी । इसलिए [इस नाट्यका] प्रयोग किस प्रकार होता है [यह प्रश्न किया गया है ।] यह [इस प्रश्नका दूसरा अभिप्राय हुआ । इस प्रश्नका तीसरा और चौथा अभिप्राय यह भी है कि] क्या किसी निश्चित अङ्ग-अङ्गिभावसे प्रयोग होता है अथवा अनिश्चित [अङ्गाङ्गि-भाव] से [प्रयोग होता है] । इस प्रकार नाटचके प्रयोग [विषयक प्रश्न] के द्वारा सामान्याभिनय चित्राभिनय और नाटकादि रूपकोके वैचित्र्यके विषयमे यह पाचवा प्रश्न [किया गया] है । [यह इस प्रश्नका पाचवा भाग है ।]

इस अनुच्छेदमे 'भिन्नाक्षग्राह्येषु युगपत् सवेदनाभावात् कथमेक नाटयमिति प्रतीति' । यह बात जो कही गई है वह न्याय-दर्शनके 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति र्मनसो लिङ्गम्'[2] इस न्यायसूत्रके आधारपर कही गई है । इस सूत्रका यह अभिप्राय है कि एक साथ दो इन्द्रियोके विषयोका ज्ञान उत्पन्न नही होता है, यही बात मनकी सत्ताकी साधक होती है । मन अणु परिमाण वाला माना जाता है, इसलिए एक समयमें उसका एक ही इन्द्रियकेसाथ सम्बन्ध हो सकता है । जिस समय जिस इन्द्रियकेसाथ मनका सम्बन्ध होता है उस समय उसीके विषयका ग्रहण होता है । इसलिए एक समयमें चक्षुके विषय अभिनय तथा श्रोत्रके विषय पाठ्य या गीत आदि दोनोका ग्रहण एक-साथ नही हो सकता है । यह प्रश्नकर्ताका अभिप्राय है ।

---

१ नितराम । २ न्याय दर्शन १, १, १६ ।

एवं प्रश्नपञ्चकात् कवि-प्रयोक्त्रोरुपदेशपरं शास्त्रमिति लक्ष्यते ।

तेन 'यदिह[1]—'तस्मात् कर्तु द्रष्टुः प्रयोक्तुरुपदेशपरमिद शास्त्रम्' इति । तत्र 'द्रष्टु' इत्यसत् । न ह्यनेन सामाजिको विनीयते, अयोग्यत्वात् । श्रुति-स्मृति-इतिहासादिष्विवात्रापि न च तदुपदेश[2] श्रूयते ।

'सामान्याभिनय' और 'चित्राभिनय' की चर्चा भी इस अनुच्छेदमें आई है । नाटयशास्त्र के २२ वें तथा २४ वें अध्यायोमें 'सामान्याभिनय' तथा २५ वें अध्यायमें 'चित्राभिनय' का वर्णन किया गया है । वहाँ उनके लक्षण निम्न प्रकार किए गए हैं—

सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वज ।
तत्र कार्य प्रयत्नस्तु नाटये सत्त्व प्रतिष्ठितम् ॥ २२-१ ।
अङ्गाद्यभिनयस्यैव यो विशेषः क्वचित् क्वचित् ।
अनुक्त उच्यते चित्र. स चित्राभिनयः स्मृतः ॥ २५-१ ॥

इस शास्त्रके उपदेश्य कवि और नट हैं—

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कवि, नट तथा सामाजिक इन तीन वर्गके लोगोंके साथ इस शास्त्रका सम्बन्ध हो सकता है । इसलिए पूर्ववर्ती टीकाकारोका यह सिद्धान्त है कि इन तीनोंकी शिक्षाकेलिए इस शास्त्रकी रचना की गई है । कवि प्रयोक्ता और सामाजिक तीनों ही इस शास्त्रके उपदेश्य है । परन्तु वृत्तिकार अभिनवगुप्त इस मतको नही मानते हैं । वे केवल कवि और प्रयोक्ता अर्थात् नट इन दोको ही इस शास्त्रका उपदेश्य मानते हैं, सामाजिकको नही । अर्थात् वृत्तिकारके मतमे केवल कवि तथा प्रयोक्ता अर्थात् नट इन दोको उनके कार्यकी शिक्षा देनेके लिए ही इस शास्त्रकी रचना की गई है । सामाजिककी शिक्षाकेलिए नहीं । इसी बातकी विवेचना वृत्तिकार अगले अनुच्छेदो में करते हैं—

अभिनव०—इस प्रकार इन पांचो प्रश्नो [के विवेचन] से, यह शास्त्र कवि [अर्थात् नाटककार] तथा प्रयोक्ता [अर्थात् नट इन दोनो] को [उनके कर्त्तव्यकी] शिक्षा देनेकेलिए ही है यह बात सूचित होती है । [यह अभिनवगुप्तका अपना सिद्धान्त है] ।

सामाजिक इस शास्त्रका उपदेश्य नहीं है—

अभिनव०—इसलिए इस प्रसङ्गमे जो [पूर्ववर्ती किसी टीकाकारने] यह कहा है कि—'इस कारण कर्ता [अर्थात् नाटककार कवि], द्रष्टा [अर्थात् सामाजिक] और प्रयोक्ता [अर्थात् नट इन तीनो] को उपदेश देने वाला यह शास्त्र है' । उसमे 'द्रष्टाका' [अर्थात् सामाजिकका उपदेश-परक है] यह [कथन] अनुचित है । क्योंकि इस [नाट्यशास्त्र] केद्वारा सामाजिकको शिक्षा नहीं दी जाती है । उसके [इस प्रकारकी शिक्षाके] अयोग्य होनेसे । श्रुति, स्मृति, इतिहास आदिके समान यहां भी उसके उपदेशका वर्णन नहीं मिलता है । [अर्थात् नाट्यशास्त्र सामाजिकको भी शिक्षा देनेकेलिए है इस बातकी चर्चा न श्रुति, स्मृति इतिहासादिमें ही पाई जाती है । और न यहा नाट्यशास्त्रमे ही कहीं उसका उल्लेख है] ।

---

१. म भ यदा हि । २ न तदुपदेशोऽत्र ।

द्रष्टा तु यदि प्रेक्षाप्रवर्तक उच्यते, तदा तस्यापि न प्रबन्धेनोपदेशोऽपितु क्वचिदेव 'नर्तकोऽर्थपतिर्वा' इत्यादौ । एवं चोपदेश्यत्वे स्थपति-मालाकारप्रभृति विश्व-मपीहोपदेश्य स्यादित्यलमनेन ।

यथातत्त्वमिति । नात्र क्रम प्रति भरोऽस्माकम् । नापि इयत्ता प्रति । अज्ञा हि वयमत्र प्रष्टार । अत एवोपेयपरत्वेनैव[1] मुख्यतया प्रश्ना । यथा बालक आह– 'दु ख [2]मे शमय' इति । [3]न तद्वस्तूपाय प्रश्नयति कुतोऽन्न लभ्यते इति । तेनोपेयमुखेन[4]प्रवृत्त-मिद शास्त्रम् । उत्तरदानोपनत-वस्त्वन्तरोपेयप्रश्नक्रमेण तदुपेयोपायादिप्रबन्धेन स्थित-मिति मन्तव्यम् ।

अभिनव०—और यदि द्रष्टासे नाट्यके प्रवर्तक [राजा आदि] को लिया जाय तो उसको भी [प्रबन्धसे अर्थात्] सारे ग्रन्थसे उपदेश नहीं दिया गया है अपितु 'नर्तक अथवा अर्थपति' आदि जैसे कहीं-कहीं [के वचनोमे] ही [उपदेश दिया गया है] । और इस प्रकार [कहीं-कहीं थोडा-सा उपदेश होनेपर भी उनको] उपदेश्य मानने पर तो [नाट्यमण्डप बनाने वाले] राज [स्थपित] और माली आदि सारा जगत् ही इसका उपदेश्य बन जायगा [क्योकि कहीं-कहीं उनकी भी चर्चा की गई है] । इसलिए यह सब बात नहीं कहनी चाहिए ।

प्रश्नक्रमसे ही उत्तरका आग्रह नहीं—

अभिनव०—'यथातत्त्व' यह [कारिकाका प्रतीक भाग है जिसकी व्याख्या आगे करते हैं] । यहाँ [अर्थात् ये जो पाँच प्रश्न पूछे गए हैं उनके उत्तरके विषय में, इसी क्रमसे हमारे प्रश्नोका उत्तर मिलना चाहिए इस प्रकारके] क्रमपर हमारा बल नहीं है । और न इयत्ताके प्रति [हमारा आग्रह है । अर्थात् इतने ही प्रश्नोका उत्तर मिलना चाहिए यह भी हमारा आग्रह नहीं है] । क्योकि हम [प्रश्न पूछने वाले] इस विषयको नहीं जानते हैं । इसलिए मुख्य रूपसे [उपेय अर्थात्] विषय की प्रधानताकी दृष्टिसे ही प्रश्न किए गए हैं । जैसे, कोई बालक कहता है कि 'मेरे [भूखके] दु'खको दूर करो' । [वह केवल अपने भूखके कष्टके निवारण करनेकी प्रार्थना करता है] । उस वस्तुके उपायको नहीं पूछता है कि [मेरी भूखके निवारण के लिए] अन्न कहाँसे मिलेगा । [इसी प्रकार हम अपनी जिज्ञासाकी निवृत्तिकेलिए ये प्रश्न पूछ रहे हैं । उनका उत्तर आप किस प्रकार और किस क्रमसे दें इसपर हमारा कोई आग्रह नही है] । इसलिए यह शास्त्र उपेयमुखसे प्रवृत्त हुआ है । [उपाय को प्रधान मान कर प्रवृत्त नहीं हुआ है] । और उत्तर देते समय [प्रसङ्गत] प्राप्त होने वाले अन्य वस्तु रूप उपेय [लक्ष्य] के विषयमे प्रश्न आदिके क्रमसे उस उपेय के उपाय आदिकी परम्परासे [यह शास्त्र] स्थित है यह समझना चाहिए ।

---

१ म उपायपरत्वेनैव मुख्यतया प्रश्न । २ भ मेव ।
३ न तज्ज्ञस्तूपाय प्रश्नयति । ४ म तेनोपायमुखेन ।

तेन यादृशा क्रमेण रूपणायोग्यं, [1]तथा अप्रश्नितमपि यदि किञ्चिदस्ति तदपि स्वयमेव निरूपय इति । तत्त्वानतिक्रमेण [2]तत्त्वयोग्य चेति यथातत्त्वं निरूपणीयम् । एतदिति लक्षणपरीक्षापर्यन्तमेतत् ॥ ५ ॥

अभिनव०—इसलिए जिस क्रमसे [इन विषयोका] निरूपण करना उचित हो [उसी क्रमसे] तथा यदि कोई वात विना पूछे रह गई हो तो उसको भी स्वयं ही वतलानेकी कृपा करें। [यह सब वात 'यथातत्त्वं' के भीतर आ जाती है। क्योकि] 'तत्त्वको छोड़े विना' और [विना पूछे हुए भी कहने योग्य] 'तत्त्वयोग्य' [ये दोनों] 'यथातत्त्व' [कहलाते] हैं। उन [दोनो] का निरूपण करना चाहिए। 'एतत्' इस [पद] से यह [निरूपण केवल उद्देश-रूप नहीं अपितु] लक्षण और परीक्षा-पर्यन्त है [यह समझना चाहिए]।

उद्देश लक्षण और परीक्षा—

यहाँ उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा शब्द आए हैं। ये तीनो शब्द न्यायदर्शनके पारिभाषिक शब्द हैं और वहीसे लिए गए हैं। न्यायदर्शनमें शास्त्रप्रवृत्तिके तीन प्रकार दिखलाए हैं। 'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्ति, उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति'। उनमें 'नाममात्रेण वस्तुसकीर्तन उद्देश' वस्तुके नाममात्रके कथन करनेको 'उद्देश' कहते हैं। 'लक्षणन्तु असाधारणधर्मवचनम्' अर्थात् वस्तुके असाधारण धर्मके कथन करनेको 'लक्षण' कहते हैं और 'लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचार परीक्षा' जो लक्षण किया गया है वह ठीक है या नही इसके विचारको 'परीक्षा' कहते हैं। भरतमुनिने भी नाट्यशास्त्रके छठे अध्यायमें इन तीनोकी चर्चा की है। परन्तु उन्होंने इनकेलिए क्रमश 'सग्रह', 'कारिका' तथा 'निरुक्त' शब्दोका प्रयोग किया है। इन तीनोंके द्वारा ही किसी विषयका पूर्ण रूपसे प्रतिपादन सम्भव होता है। इसीलिए यहाँ परीक्षा-पर्यन्त निरूपण करनेकी प्रार्थना की गई है। अर्थात् केवल 'उद्देश' या नाम मात्रसे कथन कर देनेसे विषय समझमें नही आ सकेगा। अत एव लक्षण और परीक्षा द्वारा पूर्णतया विषयको स्पष्ट करनेकी कृपा करें यह अभिप्राय है।

पाठसमीक्षा—बडोदा वाले प्रथम सस्करणमें 'तद्वस्तूपाय प्रश्नयति' इस प्रकारका पाठ छपा था। द्वितीय सस्करणमें उसके स्थानपर सशोधन करके 'तज्जस्तूपाय प्रश्नयति' इस प्रकारका पाठ दिया गया है। परन्तु वे दोनो पाठ ठीक नही है। प्रश्नकर्ता मुनि यहाँ अपनी जिज्ञासाकी निवृत्तिकी प्रार्थना कर रहे हैं। वह किस उपायसे होगी इसपर उनका वल नही है। इसका सोचना तो उत्तर देने वालेका काम है। वे तो 'उपेय' फलको प्राप्त करना चाहते हैं 'उपाय' से उनको मतलब नही है। जैसे वालक अपनी वुभुक्षानिवृत्तिकी प्रार्थना करता है, उसके उपायको नही पूछता है। यही स्थिति प्रश्नकर्ता मुनियोकी है। यह वात ग्रन्थकार यहाँ कह रहे हैं। इस स्थितिमें 'न तद्वस्तूपाय प्रश्नयति' यह पाठ यहाँका एकमात्र शुद्ध और ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुसार निकटतम पाठ है। पूर्ववर्ती दोनों पाठ इसके विल्कुल विपरीत और ग्रन्थकारके अभिप्रायसे अत्यन्त दूरवर्ती होनेके कारण त्याज्य हैं। अत हमने उनको छोडकर 'न तद्वस्तूपाय प्रश्नयति' इसी पाठको सशोधित रूपमें प्रस्तुत किया है।

---

१. म तयाप्यप्रश्नितमपि। २ म तत्त्वयोग्य तत्त्वं च।

तच्चासत् । एकस्य ग्रन्थस्यानेकवक्तृवचनसन्दर्भमयत्वे प्रमाणाभावात् । स्वपरव्यवहारेण पूर्वोत्तरपक्षादीना श्रुति-स्मृति-व्याकरण-तर्कादिशास्त्रेष्वेकविरचितेष्वपि दर्शनात् ।

एतेन—'सदाशिव-ब्रह्म-भरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारताप्रतिपादनाय मत-त्रयीसारासारविवेचनपरं' तद्ग्रन्थखण्डप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रं, न तु मुनिविरचितम्' इति यदाहुर्नास्तिकधुर्योपाध्यायास्तत्प्रत्युक्तम् । सर्वानपन्हवनीयाबाधितशब्दलोकप्रसिद्धि-विरोधाच्च ।

इसका यह अभिप्राय है कि इस ग्रन्थके प्रारम्भिक इन छ श्लोकोमें 'आत्रेय आदि मुनियोने भरतमुनिके पास जाकर पूछा' और 'उनके वचन सुनकर भरतमुनि बोले' इस प्रकारका जो उल्लेख पाया जाता है । इससे किन्हीके मनमें यह शङ्का उठ सकती है इन श्लोकोकी रचना भरतमुनिने नही की है । अपितु इन श्लोकोका निर्माता उनका कोई शिष्य है । किसी पूर्व टीका-कारने इस बातका प्रतिपादन भी किया है । परन्तु वृत्तिकार अभिनवगुप्तके मतमें एक ग्रन्थके अनेक निर्माता माननेमें कोई युक्ति न होनेसे यहा यह शङ्का नही की जा सकती है । अर्थात् ये ६ श्लोक भी किसी शिष्यके नही स्वय भरतमुनिके ही बनाए हुए हैं । यही आगे लिखते हैं—

अभिनव०—वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि एक ग्रन्थको अनेक वक्ताओके वचनोका सग्रह रूप माननेमे कोई युक्ति [प्रमाण] नहीं है । [जिन प्रश्न-प्रतिवचन आदिको देख कर इस ग्रन्थके अनेक कर्ता माननेका प्रयत्न पूर्व टीकाकारोने किया है उस प्रकारके] प्रश्न-प्रतिवचन अथवा पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष तो [एक ही ग्रन्थकारके ग्रन्थमे] अपने और पराए [अर्थात् प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनो] के व्यवहार [की कल्पना] केद्वारा श्रुति, स्मृति, व्याकरण, तर्कशास्त्र आदि [के] एक व्यक्ति द्वारा रचित [ग्रन्थो] मे भी पाए जानेसे [उनके आधार पर किसी ग्रन्थके अनेक कर्ता मानना उचित नहीं है] ।

गुरुमतका खण्डन—

अभिनव०—इस [युक्ति] से जो नास्तिक-शिरोमणि उपाध्याय [अर्थात् अभिनवगुप्तके नास्तिक गुरु] यह कहते हैं कि—"सदाशिव, ब्रह्मा और भरतके मतोके विवेचन-द्वारा ब्रह्माके मतकी श्रेष्ठताके प्रतिपादनकेलिए तीनो मतोके सार-असारका विवेचन करने वाला यह शास्त्र उन [तीनो] के ग्रन्थोके भागोको मिलाकर बना है, भरतमुनिका बनाया हुआ नहीं है" उसका भी खण्डन हो जाता है । [इस युक्तिके अतिरिक्त] जिसका कोई भी निषेध न कर सके इस प्रकारकी अबाधित शास्त्र तथा लोक दोनोकी प्रसिद्धिके विरोधके कारण भी [नास्तिक-शिरोमणि उपाध्याय महोदयके इस मतका खण्डन हो जाता है] ।

अभिनवगुप्त स्वय 'परम-माहेश्वर' परम आस्तिक विचारधाराके व्यक्ति थे । परन्तु उनके गुरुओमें एक परम-नास्तिक गुरु भी थे । इसका उल्लेख पहिले भी किया जा चुका है । उनका मत यह था कि यह नाटयशास्त्र वस्तुत कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नही है अपितु केवल एक सग्रह ग्रन्थ

---

१ विवेचनम् ।

अत्र केचिदाहु—'प्रश्नपञ्चकमत्रैवाध्याये तावन्निर्णीयते । उद्देशस्थितया तद्विभाग-लक्षण-परीक्षापराणि चाध्यायान्तराणीति' ।

अन्ये त्वाहु—'पञ्चभिरध्यायैः पूर्वरङ्गविधानपर्यन्तैः प्रश्नद्वयं निर्णीतम् । सामान्याभिनय-चित्राभिनयान्तैः शिष्टैस्तु प्रश्नद्वयमिति' ।

वयं तु ब्रूमः—नात्र क्रमः कश्चित् । अपितु यथावसरं महावाक्यात्मना षट्सहस्त्रीरूपेण प्रधानतया प्रश्नपञ्चकनिरूपणपरेण शास्त्रेण तत्त्वं निर्णीयते । न तु क्रमः कश्चित् । एतच्च ग्रन्थव्याख्यानप्रसङ्ग एव स्फुटीकरिष्यामः ॥ ६ ॥

है । सदाशिव, ब्रह्मा तथा वृद्धभरत आदिके नाट्यशास्त्र विषयक अनेक पूर्व-प्रचलित ग्रन्थोके विशेष-विशेष भागोको सङ्कलित करके इस सग्रहात्मक नाट्यशास्त्रकी रचना हुई है । यह अभिनवगुप्तके इन नास्तिक गुरु महोदयका मत था । परन्तु अभिनवगुप्त इस मतसे सहमत नही । उनके मतमें यह नाट्यशास्त्र सग्रह-ग्रन्थ नहीं अपितु पूर्ण रूपसे भरतमुनि-विरचित स्वतन्त्र-ग्रन्थ है । इसलिए इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने इन 'नास्तिक-शिरोमणि, उपाध्याय' के मतका खण्डन किया है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें मतत्रयीसारासारविवेचन तद्ग्रन्थखण्डप्रक्षेपेण विहितमिद शास्त्रम्' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोमें छपा था । परन्तु यह पाठ अशुद्ध था । इसमें 'विवेचन' के स्थान पर 'विवेचनपर' पाठ होना चाहिए था । क्योंकि यह पद शास्त्र' का विशेषण पद है । इसलिए हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

ग्रन्थका विभाजन—

पिछले श्लोकोमें मुनियोने भरतमुनिसे नाट्यशास्त्र-विषयक जो पांच प्रश्न पूछे हैं उनके समाधानकेलिए ही इस ग्रन्थकी रचना हुई है । अर्थात् इस सारे ग्रन्थमें उन्ही प्रश्नोंके उत्तर विस्तार-पूर्वक प्रस्तुत किए गए हैं । किन्तु ग्रन्थकारने इस विषयके प्रतिपादनकी दृष्टिसे अपने ग्रन्थ का विभाजन किस प्रकार किया है यह बात स्वय मूल ग्रन्थसे स्पष्ट नहीं होती है । टीकाकारोंमें इस विषयमे परस्पर मतभेद पाया जाता है । अपने पूर्ववर्ती दो टीकाकारोके मतोंका उल्लेख करनेके बाद अपने मतका प्रदर्शन करते हुए अभिनवगुप्त अगले अनुच्छेदोमें इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—यहां कुछ लोगोका कहना है कि—'इन पांचो प्रश्नोका इसी अध्यायमे निर्णय कर दिया गया है । और उद्देश-क्रमसे उनका विभाग, लक्षण तथा परीक्षा करनेकेलिए शेष अध्याय हैं' ।

दूसरे लोग यह कहते हैं कि—'पूर्वरङ्गविधान-पर्यन्त पांच अध्यायोमे दो प्रश्नो का निर्णय किया गया है । और सामान्याभिनय [अ० २२, २४] तथा चित्राभिनय [अ० २५] पर्यन्त शेष अध्यायोमें तीन प्रश्नोका निरूपण किया गया है' ।

अभिनव—हमारा कहना यह है कि—इस विषयमे कोई क्रम नहीं पाया जाता है । अपितु ३६ सहस्त्र श्लोक वाले महावाक्य रूप प्रश्नपञ्चकके निरूपण करने वाले शास्त्रके द्वारा अवसरके अनुसार तत्त्वका निर्णय किया गया है । किसी विशेष क्रमका अवलम्बन नहीं किया गया है । इस बातको हम ग्रन्थकी व्याख्याके प्रसङ्गमें [उचित अवसरपर] स्पष्ट करेंगे ॥ ६ ॥

तत्र 'कथ' 'कस्य वा' इत्यमुमर्थं निर्णिनीषुराह 'भवद्भि' इत्यादि'—

भरत०—भवद्भिः शुचिभिर्भूत्वा तथावहितमानसैः ।
श्रूयतां नाट्यवेदस्य सम्भवो ब्रह्मनिर्मितः ॥ ७ ॥

घटादीनामुत्पत्तिर्व्यवहारसिद्धैव कुलालादिभि 'अभ्युपगम्यते इति 'घट क्रियते' इति युक्तम् । नत्वेव नाट्यस्य । तस्य तूत्पत्तिरेव 'विरिञ्च्युपज्ञतया स्थितेति 'सम्भवो ब्रह्मनिर्मित' इत्युक्तम् ।

केचिदत्रानादित्व वेदवन्नाट्यस्याचक्षाणा उत्पत्त्यादिशब्दान् स्मरण-अभिव्यञ्जनादावुपचरन्ति ॥ ७ ॥

उत्तरका आरम्भ—

अभिनव०—उन [पाँच प्रश्नो] मेसे [नाट्यवेदकी उत्पत्ति] 'क्यो' और 'किसलिए' [हुई] इन [आदिके दो प्रश्नो] का निर्णय करनेकी इच्छा वाले [भरतमुनि] 'भवद्भि' इत्यादि [अगले श्लोकोको] कहते हैं—

भरत०—आप लोग शुद्ध-पवित्र तथा एकाग्रचित्त होकर [अब] ब्रह्माके द्वारा किए गए नाट्यवेदके उत्पादन [के इतिहास आदि] को सुनें । ७ ।

अभिनव०—घट आदिकी कुलाल [कुम्भकार] आदिकेद्वारा होने वाली उत्पत्ति व्यवहारसिद्ध [अर्थात् प्रत्यक्ष] ही मानी जाती है । इसलिए [कुलाल] 'घडे को बनाता है' यह [कथन] ठीक ही है । परन्तु नाट्यवेदकी [उत्पत्ति] तो इस प्रकार [व्यवहारसिद्ध अथवा प्रत्यक्ष] नहीं है । उसकी उत्पत्ति तो [पूर्वकालवर्ती] ब्रह्मासे हुई है [इसलिए घटादिकी उत्पत्तिके समान उसे प्रत्यक्ष नही देखा जा सकता है । केवल शब्दोके द्वारा सुना जा सकता है] इसलिए 'ब्रह्माकेद्वारा किए गए [नाट्यवेदके] उत्पादन' [को सुनो] यह कहा गया है ।

अभिनव०—[पूर्ववर्ती टीकाकारोमेसे] कोई वेदोके समान नाट्यवेदके भी अनादित्वका प्रतिपादन करते हुए [यहां प्रयुक्त किए गए] उत्पत्ति आदि शब्दोको स्मरण या अभिव्यञ्जन आदि [अर्थो] मे लाक्षणिक [रूपसे प्रयुक्त औपचारिक] मानते हैं ।

इसका अभिप्राय यह है कि किन्ही विद्वानोके मतोमें वेदोके समान नाट्यवेद भी अनादि है । उसकी उत्पत्ति नही होती है । तब यहाँ आत्रेय आदि मुनियोने जो उसकी उत्पत्ति आदिके विषयमें प्रश्न किए हैं उनमें 'उत्पत्ति' शब्दसे स्मरण या अभिव्यक्ति अर्थ लेना चाहिए । अर्थात् ब्रह्माजीने उस अनादि नाट्यवेदका स्मरण करके उपदेश अथवा उसकी अभिव्यक्ति क्यो और किसके लिए की यह उनके प्रश्नोका आशय है । नाट्यवेदकी वास्तविक उत्पत्ति पूछनेमें उनका अभिप्राय नही है । क्योकि नाट्यवेदके नित्य होनेसे उसकी वास्तविक उत्पत्ति सम्भव ही नही है।

---

१ म० भवद्भिरिति । २ ध० सक्षेपो । ३. त० मुनिनिर्मित ।
४. म० भ० अनुगम्यते । ५. म० भ० विरिंचोपज्ञतया ।

तत्र सम्भूते कारणमुखेनाभिवाने कर्तव्ये कालस्य सर्वत्र पूर्वकारणत्वादुचित-कालपरिग्रहेण तद्विधाधिकारिविषयता दर्शयितुमाह 'पूर्वम्' इत्यादिना श्लोकपञ्चकेन—

भरत०—'पूर्वं कृतयुगे विप्रा वृत्ते स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
'त्रेतायुगेऽथ सम्प्राप्ते मनोर्वैवस्वतस्य तु' ॥ ८ ॥

अस्मिन्नवसरे पितामहो दैवैरिदमुक्त इति महावाक्यस्य सङ्गति.। कस्मिन्नवसरे? पूर्वमिति । नास्मिन्नेव कल्पेऽपि तु पूर्वकल्पेष्वपीत्यर्थ ।

पाठसमीक्षा—पूर्व-सस्करणोमें इस कारिकाकी वृत्तिके पाठमें 'कुलालादिभिरनुगम्यते' इस प्रकारका पाठ छप गया था। परन्तु उस 'अनुगम्यते' पाठ कोई सङ्गति नही लगती है इसलिए वह अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'अभ्युपगम्यते' पाठ होना चाहिए। अत हमने सशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥ ७ ॥

नाट्यवेदकी उत्पत्तिका काल--

अभिनव०—उन [प्रश्नो] मेसे उत्पत्ति [विषयक प्रश्न] का कारण [के प्रतिपादन] सहित विवेचन करना उचित होनेसे, और कालके सर्वत्र [अर्थात् समस्त कार्यमात्रके प्रति साधारण रूपसे] पूर्वकारण होनेसे [नाट्यवेदकी उत्पत्तिके] उपयुक्त कालको लेकर [अर्थात् उपयुक्त कालको दिखलाते हुए] उस प्रकारके अधिकारियोका प्रतिपादन [भी] करनेकेलिए 'पूर्वम्' इत्यादि [अगले] पांच श्लोकोसे [इस विषयको] कहते है—

भरत०—हे विप्रो पहिले [अर्थात् इस कल्पमे और इसके पूर्ववर्ती अन्य कल्पोंमे भी] स्वायम्भुव मन्वन्तरमे [अर्थात् प्रत्येक कल्पके आदि मन्वन्तरमे] और [इस कल्पके सातवें या आज के वर्तमान] वैवस्वत मन्वन्तरमे भी, सतयुगके समाप्त हो जानेके वाद और त्रेतायुगके पूर्ण रूपसे प्रारम्भ हो जाने पर [देवताओंने ब्रह्माजीसे किसी मनोरञ्जनके साधनको उत्पन्न करनेकी प्रार्थना की यह अगले श्लोकके साथ अन्वय होगा]। ८।

अभिनव०—इस अवसर पर [अर्थात् अगले श्लोकोमे जिस प्रकारकी स्थिति-का वर्णन किया है उस प्रकारकी स्थितिके उत्पन्न होनेपर] देवताओने पितामह [अर्थात् ब्रह्मा] से यह कहा [अर्थात् अगले श्लोकोमे दी हुई बात पितामह ब्रह्मासे कही]। किस अवसर पर [कहा ? यह प्रश्न है। उसका उत्तर] 'पूर्वम्' इससे [दिया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि] न केवल इस कल्पमे अपितु पूर्व-कल्पोमे भी [सतयुगके समाप्त हो जानेके वाद और त्रेतायुगके पूर्ण रूपसे प्रारम्भ हो जानेपर देवताओने ब्रह्माजीसे आगे दी हुई क्रीडनीयक विषयक प्रार्थना की]।

पाठसमीक्षा—इस मूल श्लोकका पाठ ही कुछ अस्पष्ट-सा है। एक बार सृष्टि उत्पन्न होनेके वाद प्रलय होने तकका काल कल्प कहलाता है। प्रत्येक कल्पमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। कल्पके सबसे प्रथम मन्वन्तरका नाम 'स्वायम्भुव-मन्वन्तर' होता है। वर्तमान कल्पके आदिके छ मन्वन्तर बीत चुके हैं। यह सातवां मन्वन्तर चल रहा है। इसका नाम 'वैवस्वत-मन्वन्तर' है।

---

१. पुरा। २ न. म त्रेतायुगे तु। ज. भ. त्रेतायुगे च। ग. त्रेतायुगे सम्प्रवृत्ते। ३. म च।

मन्वन्तराणि चतुर्दश तावत् कल्पो यत् तद् ब्राह्मं दिनम्। तत्र स्वायम्भुवं नाम यत् तत्[1] कल्पस्य प्रथमं मन्वन्तरम्। वैवस्वतमन्वन्तरं तु सप्तमम्। यत्राद्य वर्तामहे। तत्र सर्वेष्वेव मन्वन्तरेषु त्रेतावसरे ब्रह्मणा नाट्यवेदः प्रवर्तितः। कृतयुगे तु नेति तात्पर्यम्।

ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि प्रत्येक कल्पमे प्रत्येक मन्वन्तरमें और प्रत्येक चतुर्युगीमें [एक मन्वन्तरमें ७१ चतुर्युगी होती हैं] सतयुगके समाप्त हो जानेके बाद जब त्रेतायुग पूर्णरूपसे प्रारम्भ हो जाता है उस समय नाटयकी उत्पत्ति होती है। इस कल्पके आदिके 'स्वायाम्भुव-मन्वन्तर' में भी यही हुआ था और आजके वर्तमान वैवस्वत-मन्वन्तरमें भी यही हुआ। यह ग्रन्थकार भरतमुनि का अभिप्राय है। परन्तु इस भावको व्यक्त करनेकेलिए इस श्लोकका वर्तमान पाठ अशक्त प्रतीत होता है। 'मनोर्वैवस्वतस्य तु' इस पाठसे वह विवक्षित अर्थ नही निकलता है। वृत्तिकार अभिनवगुप्तको भी श्लोकका यह पाठ खटका था। इस लिए उन्होने वृत्ति लिखते समय 'तु-शब्दो यावच्छब्दार्थे' लिखकर पाठके दोषको दूर करनेका यत्न किया है। परन्तु उससे पूर्णरूपसे समस्याका समाधान नही होता है। ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि आदिके स्वायम्भुव मन्वन्तरमें और आजके वैवस्वत मन्वन्तरमें भी त्रेतायुगके प्रारम्भ होने पर देवताओने ब्रह्माजीसे प्रार्थना की। अर्थात् सभी कल्पो मन्वन्तरो एवं चतुर्युगियोमें ऐसा ही होता है। वृत्तिकार अभिनवगुप्तने जो 'तु'-शब्द को 'यावत्-'शब्दके अर्थमें माना है उससे यह अर्थ तो निकल आता है कि सब ही कल्पोमें ऐसा होता है। परन्तु उसके पूर्व यह अर्थ आना चाहिए कि स्वायम्भुव मन्वन्तरके समान वैवस्वत मन्वन्तरमें भी यह होता है। इस अर्थके लानेकेलिए श्लोकमें 'अपि च' शब्दोका प्रयोग होना आवश्यक है। उन शब्दोका प्रयोग करनेपर छन्दकी दृष्टिसे 'मनोर्वैवस्वतस्य तु' के स्थान पर 'मनो वैवस्वतेऽपि च' यह पाठ रखना होगा। यदि श्लोकका पाठ इस प्रकारका होता तो उससे विवक्षित अर्थ स्पष्ट रूपसे प्रतीत हो सकता था। वर्तमान पाठसे उस अर्थकी प्रतीति ठीक तरहसे नही होती है। परन्तु अभिनवगुप्तने इसी पाठको मानकर इसकी टीका की है अत हमने पाठमें परिवर्तन नही किया है। पाठान्तर भी उसमें नही रखा है।

अभिनव०—सबसे पहिले चौदह मन्वन्तरोका जो एक 'कल्प' होता है, वह [एक] 'ब्राह्मदिन' [भी कहलाता] है। उन [चौदह मन्वन्तरो] मेसे जो 'स्वायम्भुव' नामक मन्वन्तर है वह कल्पका सबसे पहिला मन्वन्तर होता है। [आजका वर्तमान] वैवस्वत-मन्वन्तर तो [इस कल्पका] सातवां मन्वन्तर है। जिसमे आज हम लोग विद्यमान है। उन सब ही मन्वन्तरोमे त्रेतायुग [के आदि] मे ब्रह्माजीने नाट्यवेदको प्रवृत्त किया था। अर्थात् सतयुगमे [नाट्यवेदको प्रवृत्त] नही किया यह [इस श्लोक का] तात्पर्य है।

पाठसमीक्षा—पूर्व संस्करणमे 'इस अनुच्छेदके पाठमें एक 'तत्' शब्द छपनेसे रह गया था। 'तत्र स्वायम्भुवं नाम यत्' इसके बाद 'तत् कल्पस्य प्रथमं मन्वन्तरम्' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए था। 'तत्' शब्दके छूट जानेसे इस पाठकी ठीक सङ्गति नही लगती है। इसलिए हमने उचित स्थान पर 'तत्' पदका समावेश करके ही संशोधित पाठ दिया है। और अपने बढ़ाए हुए 'तत' को भिन्न टाइपमें दिया है।

---

१ तत् पद पूर्व संस्करणोमे नहीं है। २ 'तत् यह पद पूर्व संस्करणोमे नहीं है।

योजना तु—स्वायम्भुवे आद्ये मन्वन्तरे यत् कृतयुग 'तस्मिन वृत्ते सति यत् त्रेतायुगं तस्मिन् सम्यक् सन्ध्यतिक्रमेण स्फुटतर प्रवृत्ते । न केवल तत्रैव मन्वन्तरे, तु-शब्दो यावत्-शब्दार्थे । यावद्वैवस्वतस्य मनोरन्तरे समये यत् त्रेतायुग तस्मिन् प्रवृत्तेऽपि । तेनाद्यन्तनिरूपणेन सर्वेपा मध्य-मन्वन्तराणा सग्रह. । तेन सर्वेपु त्रेतायुगेपु नाटचप्रवृत्तिरित्युक्त भवति ।

मन्वन्तरोका विभाग—

मनुस्मृतिमें मन्वन्तरके कालका परिमाण वतलाते हुए लिखा है कि—

यदेतत् परिसख्यातमादावेव चतुर्युगम् ।
एतद् द्वादशसाहस्त्र देवाना युगमुच्यते ॥मनु १-७१ ।
यत् प्राग् द्वादशसाहस्त्रमुदित दैविक युगम् ।
तदेकसप्ततिगुण मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ मनु: १-७९ ।

प्रत्येक कल्पके चौदह मन्वन्तरोंके नाम विष्णु-पुराणमें निम्न प्रकार दिए गए हैं—

मनु स्वायम्भुवो नाम मनु स्वारोचिपस्तथा ।
औत्तमि: तामसिश्चैव दैवत चाक्षुपस्तथा ॥
एते मनवोऽतीता' सप्तमस्तु रवे. सुत ।
वैवस्वतोऽय यस्यैतत् सप्तम वर्तते युगम् ॥

इन श्लोकोंमें आदिके सात मन्वन्तरोके नाम गिनाए हैं । आज सातवां रविनुत अर्थात् वैवस्वत-मन्वन्तर चल रहा है । आगे आने वाले शेप सात मन्वन्तरोके नाम निम्न प्रकार है—

सावर्णि. दक्षसावर्णि ब्रह्मसावर्ण इत्यपि ।
धर्मसावर्णि रुद्रस्तु सावर्णो रौच्य-भौत्यवत् ॥

कारिकाकी पदयोजना—

अभिनव०—[इस श्लोकमे आए हुए पदोंकी अर्थकी दृष्टिसे] सङ्गति तो [इस प्रकार होती है कि]—स्वायम्भुव नामक प्रथम मन्वन्तरमे जो सतयुग उसके समाप्त हो जानेके वाद [प्रारम्भ होने वाला] जो त्रेतायुग उसके, सन्धिकालके व्यतीत हो जानेके वाद पूर्ण रूपसे प्रारम्भ हो जानेपर [देवताओने पितामहसे प्रार्थना की] । न केवल उसी [स्वायम्भुव] मन्वन्तरमे [अपि तु सभी मन्वन्तरोमे ऐसा होता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । क्योकि यहाँ प्रयुक्त हुआ] तु-शब्द, [सम्पूर्ण अर्थके वाचक] यावत्-शब्दके अर्थमे [लिया गया] है । [इस लिए उसका यह अर्थ होता है कि] यहां तक कि वैवस्वत मनुके 'अन्तर' मे अर्थात् समयमे [वैवस्वत मन्वन्तर मे] भी जो त्रेतायुग उसके प्रारम्भ होनेपर भी [देवता लोग ब्रह्माजीसे इसी प्रकार की प्रार्थना करते हैं] । इस लिए आदि [के स्वायम्भुव] और [आज तककी वर्तमान सृष्टिकी दृष्टिसे] अन्त [के वैवस्वत मन्वन्तरोके नामो] का कथन होनेसे उनके वीचमे आने वाले सभी मन्वन्तरोका ग्रहण हो जाता है । अत एव सभी त्रेतायुगोमे नाटयकी प्रवृत्ति होती है यह अभिप्राय निकलता है ।

---

१. तस्मिन् सन्ध्यतिक्रमेण स्फुटतरं प्रवृत्ते ।

भरत०—'ग्राम्यधर्मप्रवृत्ते तु ²कामलोभवशङ्गते।
ईर्ष्याक्रोधादिसम्मूढे³ लोके सुखित-दुःखिते ॥ ९ ॥
देव-दानव-गन्धर्व-⁴यक्ष-रक्षो-महोरगैः।
जम्बूद्वीपे समाक्रान्ते ⁵लोकपालप्रतिष्ठिते ॥ १० ॥

पाठसमीक्षा—प्रथम सस्करणमें इस अनुच्छेदका पाठ बहुत अशुद्ध छपा है। उससे अर्थका अनर्थ हो जाता था। 'स्वायम्भुवे मन्वन्तरे यत् कृतयुग तस्मिन् सम्यक् सन्ध्यतिक्रमेण स्फुटतर प्रवृत्ते' यह पाठ प्रथम सस्करणमें छपा था। इसके अनुसार यह अर्थ निकलता है कि स्वायम्भुव मन्वन्तरमें जो सतयुग उसके प्रारम्भ होने पर नाट्यकी उत्पत्ति होती है। परन्तु यह अर्थ ग्रन्थकारके अभिप्रायसे बिल्कुल उल्टा है। ग्रन्थकार तो यह कहना चाहते हैं कि सतयुगके समाप्त हो जानेके बाद और त्रेतायुगके स्पष्ट रूपसे प्रारम्भ हो जानेपर नाट्यकी प्रवृत्ति होती है। सतयुगमें नही। परन्तु इस पाठसे यह अर्थ निकलता है कि सतयुगके प्रारम्भ होनेपर नाट्यकी प्रवृत्ति होती है। अत यह पाठ अशुद्ध है। इसमें 'स्वायम्भुवे आद्ये मन्वन्तरे यत् कृतयुग' इसके बाद 'तस्मिन् वृत्ते सति यत् त्रेतायुग' इतना पाठ कीटक्षति आदिके कारण लुप्त होगया है। इसी कारण यह अर्थका अनर्थ हो रहा है। यदि 'तस्मिन् वृत्ते सति यत् 'त्रेतायुग' इस लुप्त पाठका समावेश कर दिया जाय तो अर्थकी सङ्गति ठीक तरहसे लग जाती है। इस लिए हमने सशोधित रूपमें इसका समावेश करके ही पाठ मुद्रित किया है। परन्तु इस अपने बढ़ाए हुए पाठ को भिन्न प्रकारके काले टाइपमें दिया है। द्वितीय सस्करण में इसी प्रकारका सशोधनकर दिया गया है।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमें 'स्फुटतर' और 'प्रवृत्ते' के बीचमें 'प्राप्ते' पाठ और होना चाहिए था। इसका कारण यह है कि मूल कारिकामें 'सम्प्राप्ते' शब्द है। उसकी व्याख्या यहाँ 'सम्यक् प्राप्ते सम्प्राप्ते' यह की जा रही है। इसमें 'सम्' उपसर्ग या 'सम्यक्' यह व्याख्येय पद है और 'सन्ध्यतिक्रमेण स्फुटतर' यह उसकी व्याख्या है। इसी प्रकार 'सम्प्राप्ते' के शेष अश 'प्राप्ते' की व्याख्या 'प्रवृत्ते' यह की गई है। इसलिए यहाँ भी व्याख्येय पद 'प्राप्ते' और उसकी व्याख्या 'प्रवृत्ते' दोनोका उल्लेख होना चाहिए। इसी दृष्टिसे हम सशोधित रूपमें 'प्राप्ते' का समावेश करके 'सम्यक' सन्ध्यातिक्रमेण स्फुटतर 'प्राप्ते' 'प्रवृत्ते' इस रूपमें ही पाठ मुद्रित करना चाहते थे। परन्तु इससे भी काम चल जाता है इसलिए उसे नही दिया गया है ॥ ८ ॥

नाट्योत्पत्तिकालकी परिस्थिति—

भरत०—[ग्राम्य अर्थात्] शास्त्र-विपरीत आचरणमे प्रवृत्त होने वाले, काम तथा लोभ मे फसे हुए, एव ईर्ष्या क्रोध आदिसे अभिभूत, लोगोके विषयमे [लोगोकेलिए। अथवा लोगोके इस प्रकारके होनेपर]— ।९।

भरत०—देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और महानाग आदिके द्वारा आक्रान्त, एव लोकपालोकेद्वारा प्रतिष्ठित लोकोके विषयमे [अर्थात् इस प्रकारके लोकोकेलिए अथवा लोकोके इस प्रकारके होनेपर]— ।१०।

---

१ ग त ग्राम्यधर्मे। २. त लोभमोहवशङ्गते। ३ ठ त म ईर्ष्याक्रोधाभिसम्मूढे।
४. ग गन्धर्वं रक्षोयक्ष। ५. ड लोकपालै।

महेन्द्रप्रमुखै-र्देवैरुक्तः किल पितामहः ।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत् ॥११॥

अस्मिन्नवसरे किमसावुक्त ? आह-जम्बूद्वीपे कर्मभूमिस्थाने यो लोक. सुखितो दु खितश्च तद्विषय क्रीडनीयक 'क्रीड्यते चित्त विक्षिप्यते विह्रियते येन' तदिच्छाम । करणे कृत्यो बाहुलकात् । चित्त च इतोऽमुतश्च नीयमान मार्गेऽपि विनियोज्यते ।

यदि वा क्रीडनाय हित क्रीडनीयकम् । उभयत्राज्ञातार्थे क. । इदमस्माकं गुडप्रच्छन्नकटुकौषधकल्प चित्तविक्षेपमात्रफल इति यन्न ज्ञायते ।

भरत०—महेन्द्र इत्यादि देवताओंने पितामह [ब्रह्माजी] से यह प्रार्थना की कि—हम [पूर्वोक्त प्रकारके लोगोंकेलिए] एक ऐसा मनोविनोदका साधन [क्रीडनीयक] चाहते हैं जो आँखोंसे देखने योग्य [दृश्य] और कानोंसे सुनने योग्य [श्रव्य दोनो प्रकारका] हो । ९-११ ।

इन श्लोकोके विषयमें यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने की है कि सामान्यत' इस प्रकारके सप्तमी विभक्तिके प्रयोगोमें 'ऐसा होनेपर' यह अर्थ होता है । यदि यहाँ यही सति-सप्तमी मानी जाय तो, इन श्लोकोंमें वर्णित 'स्थितिके होनेपर' देवताओने पितामहसे कहा इस प्रकारका अर्थ होगा । परन्तु वृत्तिकारने यह अर्थ नही किया है । अपितु सुखित-दु खित लोक-विषयक क्रीडनीयक चाहते हैं । इस प्रकारका अर्थ उन्होंने किया है । अर्थात् उन्होंने यहाँ 'सति सप्तमी' न मान कर विषयत्वको सप्तम्यर्थ माना है ।

इन्द्रादिकी ब्रह्माजीसे प्रार्थना—

अभिनव०—इस अवसरपर [देवताओने] इन [पितामह] से क्या कहा । यह बतलाते हैं कि—कर्मभूमि स्थान-रूप जम्बूद्वीपमे जो सुखी और दु खी लोग हैं उनके विषयमे [अर्थात् उनके लिए क्रीडनीयक—खिलौना] मनोविनोदका साधन चाहते हैं । [क्रीडनीयक शब्दका अर्थ यह है कि] जिसके द्वारा चित्तको बहलाया [या एकाग्र किया] जा सके अथवा चित्तका विनोद किया जा सके उस [क्रीडनीयक] को [हम सब] चाहते हैं । [क्रीडृ-विहारे भ्वादिगणका धातु है उससे] बाहुलक-नियमसे करण अर्थमे कृत्य-प्रत्यय [अर्थात् अनीयर-प्रत्यय] होता है । ['इसलिए क्रीड्यते विक्षिप्यते विह्रियतेऽनेन' यह करण परक अर्थ होता है । इस प्रकार] इधर-उधर भटकने वाले चित्तको [क्रीडनीयकके द्वारा] सन्मार्गमे भी लगाया जा सकता है ।

क्रीडनीयकका दूसरा अर्थ—

अभिनव०—[क्रीडनीयक शब्दकी दूसरे प्रकारकी व्युत्पत्ति दिखलाते है कि] अथवा [क्रीडनाय अर्थात्] चित्त-विनोदकेलिए जो हितकारी हो वह क्रीडनीयक [कहलाता] है । दोनो पक्षोमे [अर्थात् क्रीडनीय शब्दको इन दोनोमेसे कोई भी व्युत्पत्ति मानें, दोनो अवस्थाओमें 'क्रीडनीय' शब्द बनता है । उसके बाद] अज्ञात अर्थ में क-प्रत्यय [होकर क्रीडनीयक शब्द बनता] है । [अज्ञातार्थमे क-प्रत्ययका आशय यह है कि] क्योंकि उसमे यह नहीं जान पड़ता है कि यह गुड़मे लिपटी हुई कड़वी औषधिके समान हमारे चित्तको सन्मार्गमें लगानेकेलिए है ।

---

१. ठ म. त श्राव्यम् । २. न. म. यद्विभो । ३. म. तद्विषयकम् । ४. म नियोज्यते ।

तच्च क्रीडनीयकं सुखित-दुःखित एव भवति। न ह्येकान्तसुखिते काले देशे वा क्रीडया किञ्चित्, नाप्येकान्तदुःखिते। तेन कृतयुगे कलिप्रान्ते वा, इलावृतादिनिवासिनि जने, नारके वा न क्रीडोपपत्तिः। उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषो दुःखस्य बाहुल्यमाह।

विक्षिप्त शब्दका उत्तम अर्थ—

इस अनुच्छेदमें या इस प्रसङ्गमें 'विक्षेप' शब्द विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। सामान्य रूपसे यह शब्द चित्तकी अस्थिरताको सूचित करता है। जिस व्यक्तिका चित्त स्थिर नही होता अथवा दिमाग खराब होता है उसको साधारण भाषामें विक्षिप्त या पागल कहा जाता है। परन्तु यहाँ 'विक्षेप' शब्दका प्रयोग उससे बिल्कुल उल्टे अर्थमें किया गया है। योग दर्शनमें चित्त की पाँच भूमियाँ मानी गई हैं उनमें एक भूमि या चित्तकी अवस्था 'विक्षिप्तावस्था'भी है। यह विक्षिप्तावस्था शब्द पागल जैसी निन्दित दशाका नही अपितु साधारण लोगोसे उत्कृष्ट कादाचित्क एकाग्रता-युक्त दशाका सूचक है। साधारणतः विषयोमें प्रतिक्षण चलायमान चित्तकी अवस्थाको योग-दर्शनमें 'क्षिप्तावस्था' कहा गया है। सर्वसाधारणके चित्तकी लोकमें यही क्षिप्तावस्था रहती है। क्षिप्तावस्थासे उत्कृष्ट अवस्थाको वहाँ 'विक्षिप्तावस्था' कहा गया है। 'क्षिप्ताद्विशिष्ट विक्षिप्त' यह विक्षिप्त-पदकी व्युत्पत्ति की गई है। क्षिप्तकी अपेक्षा विशिष्ट या उत्कृष्ट चित्तावस्था को 'विक्षिप्तावस्था' कहा जाता है। उसमें क्षिप्तकी अपेक्षा वैशिष्ट्य उसकी कादाचित्क स्थिरता को ही बतलाया गया है। 'वैशिष्ट्य चास्थेमबहुलस्य चित्तस्य कादाचित्कः स्थेमा' अर्थात् अत्यन्त अस्थिर चित्तमें जो कभी-कभी कुछ समयकेलिए स्थिरता उत्पन्न हो जाती है वही क्षिप्तावस्थाकी अपेक्षा विक्षिप्तावस्थाका वैशिष्ट्य है। इस प्रकार योग-दर्शनमें विक्षिप्तावस्थामें जो चित्तकी एकाग्रताका समावेश किया गया है उसीके आधारपर यहाँ विक्षेप शब्दका प्रयोग भी उत्तम अर्थ में हुआ है।

क्रीडनीयककी आवश्यकता किसको होती है—

अभिनव०—और वह [क्रीडनीयक] मनोविनोदका साधन [लोगोके] सुखी-दुःखी होनेपर ही [अपेक्षित] होता है। क्योकि नितान्त सुखी देश या कालमे क्रीडा [मनोविनोद] की कोई आवश्यकता नहीं होती है। और न नितान्त दुःखित [देश या काल] मे [क्रीडाका कोई लाभ होता है]। इस लिए [नितान्त सुखी] सतयुग [रूप काल] मे अथवा [एकान्त दुःखित] कलियुगके अन्तिम समयमे, अथवा इलावृतादि [स्वर्गसमीपवर्ती एकान्त सुखी देश] मे रहने वाले लोगोमे, अथवा [एकान्त दुःखी] नरकवासियोमे क्रीडा [मनोविनोद] का उपपादन नहीं किया जा सकता है। [सुखित-दुःखित लोगोको ही क्रीडाकी आवश्यकता होती है। उसमे भी सुखित-दुःखित पदमे हुआ] उत्तरपदार्थप्रधान तत्पुरुष-समास दुःखकी प्रधानताको सूचित करता है। [अर्थात् दुःखबहुल अवस्थामे ही क्रीडनीयकका ठीक उपयोग होता है]।

नाट्य गुडप्रच्छन्न औषधकल्प है—

नाट्यके देखनेमे चित्तकी एकाग्रता तो होती ही है। परन्तु उससे अज्ञात रूपसे मनुष्यको रामादिके समान आचरण करना चाहिए रावणादिके समान नही इस प्रकारकी जो शिक्षा मिलती है वह उसको सुमार्गमें भी प्रवृत्त करती है। यही नाट्यका प्रधान उद्देश्य है। इसीलिए यहाँ उसको 'गुड़मे लिपटी औषधके' समान हितकारी और चित्तको सन्मार्गमें लगानेवाला बतलाया

गया है। गुडमें लिपटी हुई कडवी औषधिको देते समय रोगीको गुड खिलाना मुख्य प्रयोजन नहीं होता है। अपितु जिस कडवी औषधको रोगी सीधी तरह ग्रहण करना नही चाहता उसको गुडमें लपेट कर देनेसे अनायास खा लेता है और इस प्रकार अज्ञात रूपसे औषध-सेवन करके रोगसे मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार नाट्यका प्रयोजन केवल मनोरञ्जन करना मात्र नही है। अपितु जिन कर्तव्य और अकर्तव्य अथवा धर्म और अधर्म विषयक शिक्षाओंको साधारण मानव वेद-शास्त्र आदिके वचनोंसे ग्रहण करना नहीं चाहता है अथवा ग्रहण करनेमें असमर्थ रहता है नाट्यमें राम रावण आदिके चरित्रको और उनके परिणामोको देख कर रामादिके समान आचरण करना चाहिए रावणादिके समान आचरण नही करना चाहिए इन शिक्षाओंको अज्ञात रूपसे अनायास ही ग्रहण कर लेता है और उनसे उसके जीवनमें सुधार हो जाता है। इस प्रकार नाट्य 'गुड़-प्रच्छन्न औषधके समान' अज्ञात रूपसे शिक्षा प्रदान करने वाला होता है यह बात क्रीडनीयक शब्दमें अज्ञातार्थमें 'क-प्रत्यय' द्वारा सूचित की गई है।

प्राचीन ब्रह्माण्डविभाग—

इस अनुच्छेदमें इलावृतादि निवासी पुरुषोकी चर्चा की गई है। और यह कहा गया है कि 'इलावृत' निवासी व्यक्ति एकान्त सुखी होते हैं इसलिए उनको क्रीडा या क्रीडनीयककी आवश्यकता अनुभव नहीं होती है। इस प्रसङ्गमें पृष्ठ ६६-६७ पर जम्बूद्वीपका नामोल्लेख किया था। ये दोनो शब्द प्राचीन कालके भूगोल-शास्त्रसे सम्बन्ध रखते हैं। प्राचीन भूगोल शास्त्रियोंने सारे ब्रह्माण्डको सात भागोंमें विभक्त किया था जिनको वे 'सप्तलोक' कहते थे। इस विभाजन में भूमण्डलके मध्यमें एक अत्यन्त विशाल एव समुन्नत पर्वतकी स्थिति मानी गई है। इस पर्वत को उन्होंने सुमेरु-पर्वतका नाम दिया है। लोकोंके विभाजनमें इस सुमेरु-पर्वतका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। समुद्रतल और उसके भी नीचे जहाँ तक सृष्टिकी स्थिति है वहाँसे लेकर भूमण्डलवर्ती इस सुमेरु-पर्वतके सर्वोच्च शिखरपर्यन्त भू-लोककी सीमा मानी जाती है। सुमेरु-पर्वतके सर्वोच्च शिखरसे ऊपर ध्रुवतारा तक अन्तरिक्षलोककी सीमा है। यह दूसरा लोक है। इसके ऊपर पाच लोक और हैं उन सबको मिलाकर 'स्वर्लोक' इस एक सामान्य नामसे कहा जाता है। इस प्रकार १ भूलोक, २ भुवर्लोक या अन्तरिक्ष लोक और ३ स्वर्लोक इन तीन लोकों या भुवनो के रूपमें जो ब्रह्माण्डका सक्षिप्त विभाजन किया गया है वह 'त्रिभुवन' नामसे विख्यात है। और स्वर्लोकके मध्य आनेवाले पाँचो लोकोंकी गणना अलग-अलग करनेपर जो ब्रह्माण्डका सात भागों में विभाजन हो जाता है उसको 'सप्तलोक' नामसे कहा जाता है।

स्वर्लोकके अन्तर्गत पाँच लोक इस प्रकारसे स्थित है कि भूलोक और अन्तरिक्ष लोकके बाद जब स्वर्लोककी सीमा प्रारम्भ होती है तो उनमें सबसे पहिले महेन्द्रलोक आता है। इसे स्वर्लोकोंमें सबसे पहिले होनेसे मुख्य रूपसे स्वर्लोक कहा जाता है। उसके बाद चौथा प्राजापत्य लोक आता है उसको महर्लोक नामसे कहा जाता है। उसके ऊपर जनलोक तपोलोक और सत्यलोक नामसे तीन ब्रह्मलोक आते हैं। इन सबको मिलाकर सात लोक हो जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्डका सूक्ष्मतम विभाग तीन भुवनो रूपमें, और उसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत विभाग सात लोकोंके रूपमें किया गया है। इसी सप्तलोकके विभागको वैदिक भाषामें भू:, भुवः, स्वः, महः, जन:, तप:, तथा सत्य लोकके रूपमें कहा गया है। और प्रतिदिन भगवान्की इस विशाल सृष्टिका स्मरण करानेकेलिए सन्ध्याके मन्त्रोंमें प्राणायाम-मन्त्रके रूपमें—

'ओं भू , ओ भुवः, ओ स्व., ओ मह , ओ जनः, ओ तप , ओ सत्यम् ।'

इस मन्त्रको रखा गया है । इन तीन भुवन या सप्तलोकोके रूपमें ब्रह्माण्डका जो विभाजन किया गया है । इसे प्राचीन भूगोल-शास्त्रका भूमिका भाग अथवा विषय-प्रवेश रूप प्रथम परिच्छेद कहा जा सकता है । इन तीनो भुवनो और सात लोको रूप ब्रह्माण्डके विभाजनको निम्नाङ्कित श्लोकमें बडे सुन्दर रूपसे सग्रह कर दिया गया है—

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोक प्राजापत्यस्ततो महान् ।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो, दिवि तारा , भुवि प्रजाः ।।

अर्थात् ब्रह्माण्डमें सबसे ऊपर जन , तप , तथा सत्य लोक नामके तीन ब्राह्म लोक है । इनके बाद प्राजापत्य लोक है जिसको महर्लोक कहा जाता है । उसके बाद द्युलोक है जिसमें तारोकी स्थिति है । इसको अन्तरिक्षलोक अथवा भुवर्लोक भी कहा जाता है । उसके नीचे भूलोक है जिसमें अन्य प्रजा रहती है ।

योग दर्शनके व्यासभाष्यमें विभूतिपादके 'भुवनज्ञान सूर्ये सयमात्' इस ३-२६ वें सूत्रकी व्याख्या करते हुए ब्रह्माण्डके इस विभागको निम्न प्रकार दिखलाया है—

तत्प्रस्तार. सप्तलोकाः । तत्रावीचे प्रभृति मेरुपृष्ठ यावदित्येप भूर्लोक । मेरुपृष्ठादारभ्य आध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः । तत्पर स्वर्लोक पञ्चविध । माहेन्द्रस्तृतीयो लोक । चतुर्थ प्राजापत्यो महर्लोक । त्रिविधो ब्राह्म तद्यथा—जनलोकस्तपोलोक सत्यलोक इति ।

इस ब्रह्माण्ड विभाजनके बाद प्राचीन भूगोलशास्त्रका मुख्य विपय जिसमें भूलोकके विभाजनकी विवेचना की गई है प्रारम्भ होता है । उसके अनुसार इस भूलोकको १४ विभागोमें विभक्त किया गया है । इनमें भूमण्डल सबसे मुख्य और सबसे ऊपरका भाग है । शेप तेरह लोक इस भूमिके नीचे स्थित है । इनमें सबसे अन्तिम सीमाको 'आवीचि' कहा जाता है । आवीचिसे प्रारम्भ होने वाले छः लोक 'महानरक' इस सामान्य नामसे कहे जाते हैं । उनके अलग-अलग नाम १ घन २ सलिल, ३ अनिल, ४ अनल, ५ आकाश और ६ तम कहे गए हैं । इनके दूसरे नाम क्रमश महाकाल, अम्बरीप, रौरव, महारौरव, तामिस्र और अन्धतामिस्र भी कहे जाते हैं ।

इन छ नरकलोकोके बाद सात पाताललोक आते हैं । इनको १ महातल, २ रसातल, ३ अतल, ४ सुतल, ५ वितल, ६ तलातल और ७ पाताल नामसे कहा जाता है । ये १४ लोक मुख्य रूपसे भूलोकके भाग है । इन चौदहोको मिला कर 'भूलोक' कहलाता है ।

सस्कृत साहित्यमें कही तीन लोक, कही सप्तलोक, और कही चोदह लोकोका वर्णन पाया जाता है । उससे कभी-कभी पाठक व्यामोहमें पड जाता है । पर इस विभाजन प्रक्रियाके भेदको यदि हृदयङ्गम कर लिया जाय तो इस प्रकारके स्थलोमें व्यामोहका अवसर न आवेगा । इसी दृष्टिसे हमने यहाँ इस विभाजनका उल्लेख कर दिया है । जहा तीन लोक या त्रिभुवन आदिका उल्लेख आता है वहा इस समस्त ब्रह्माण्डको भू, भुव , स्व अर्थात् भूलोक अन्तरिक्षलोक और ऊपर के पाँच स्वर्लोकोको एक साथ मिला कर स्वर्लोक इस एक नाम द्वारा ग्रहण करके त्रिलोक या त्रिभुवनके रूपमे ब्रह्माण्डका विभाजन किया गया है यह समझना चाहिए । जहाँ सात लोकोका उल्लेख किया जाता वहाँ स्वर्लोकके अवान्तर पाचो लोकोकी अलग-अलग गणना करके और उनके साथ भूलोक तथा अन्तरिक्षलोकको मिला कर सप्तलोक माने जाते हैं यह समझना चाहिए । और जहाँ 'चतुर्दश भुवनानि' या १४ लोकोका वर्णन आता है वहाँ भूलोकसे सम्बद्ध चोदह भागोका ग्रहण किया जाता है । इस बात को ध्यानमें जमा लेनेसे लोकोकी भिन्न भिन्न सख्याको देख कर व्यामोहका अवसर उपस्थित नही होगा ।

भुमण्डलका प्राचीन विभाजन—

यहाँ प्रकृत ग्रन्थमें 'जम्बूद्वीप' और 'इलावृत' प्रदेशका उल्लेख किया गया है उसका सम्बन्ध पूर्वोक्त चतुर्दश भुवनात्मक भूलोकसे नही अपितु केवल भूमण्डल अर्थात् इस पृथिवी मण्डलसे है। प्राचीन भूगोलशास्त्रियोने इस भूमण्डलको सात भागोमें विभक्त किया है। जिनको सात महाद्वीप कहा जाता है। 'सप्तद्वीपा वसुमती' यह वाक्य भूमण्डलके इन्ही सात विभागोको सूचित करता है। आधुनिक भूगोल-शास्त्रियोने सात द्वीपोके स्थानपर पाच महाद्वीपोमें भूमण्डलका विभाजन किया है। यदि अमरीकाके उत्तरी और दक्षिणी दोनो भागोको अलग मान लिया जाय और छोटे-छोटे द्वीपोका एक वर्गमें समावेश कर लिया जाय तो आजकी 'पञ्चद्वीपा' और प्राचीनकालकी 'सप्तद्वीपा' वसुमती दोनोका सामञ्जस्य ठीक हो जाता है।

इन सात द्वीपोंमेंसे एकका नाम 'जम्बूद्वीप' है। इसी जम्बूद्वीपमें हमारा भारतवर्ष देश है। भारत देश इस जम्बूद्वीपका दक्षिणी भाग है। यहाँके लोगोका रग इस भागके अन्य देशोकी अपेक्षा काला होता है। परन्तु यह भारत देश इस भूखण्डका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देश है इसलिए, और इसके निवासियोके जम्बूफल-सदृश श्याम वर्णके आधारपर इस द्वीपका नाम 'जम्बूद्वीप' रखा गया है।

इस जम्बूद्वीपको आजके भूगोलशास्त्रमें एशिया द्वीपके नामसे पुकारा जाता है। एशिया-महाद्वीपकी भूतलकी रचनाको देखनेसे विदित होता है कि इसका बीचका भाग जिसमें हिमालय पर्वत श्रेणी और पामीरका पठार स्थित है एशिया या जम्बूद्वीपके धरातलका सबसे ऊचा भाग है। पामीरके पठारको 'दुनियाकी छत' भी कहा जाता है। पामीरके पठारके चारों ओर पर्वतश्रेणिया दिखलाई देती हैं। प्राचीन भूगोलशास्त्रमें जम्बूद्वीपके मध्यभागमें सुमेरु-पर्वतकी स्थिति मानी गई है। इसलिए इस नवीन 'पामीर' शब्दका 'सुमेरु' शब्दके साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है। इसके उत्तर पूर्वकी ओर जो थ्यानशान, अल्ताई और याब्लोनाई तथा स्तानोवोई पर्वतोंकी तीन श्रेणिया पाई जाती है इनके समीपके प्रदेश प्राचीन भूगोलकी परिभाषामें क्रमशः रमणक, हिरण्य और उत्तरकुरु नामसे कहलाते थे। 'उत्तर-कुरु' आजका साइबेरियाका प्रदेश प्रतीत होता है। अल्ताई-पर्वतके समीपका मगोलिया आदिका प्रदेश अपने निवासियो के पीतवर्णके कारण 'हिरण्यदेश' के नामसे प्राचीन कालमें कहा जाता था। थ्यानशान-पर्वतका समीपवर्ती सिक्यांग तथा एशियाई रूसका प्रदेश 'रमणक' नामसे कहा गया है। योग दर्शन के व्यासभाष्य [३-२६] में 'तस्य' अर्थात् उस सुमेरु पर्वतके 'उदीचिनास्त्रय. पर्वता' उत्तर ओर तीन पर्वत बतलाए हैं, और 'तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि रमणक हिरण्यं उत्तराः कुरव' बतलाए हैं। ये पर्वत और उनके समीपवर्ती प्रदेश, वर्तमान अल्ताई आदि पर्वत और मगोलिया आदि देश ही प्रतीत होते हैं।

उस सुमेरु-पर्वतके दक्षिणकी ओर निषध, हेमकूट, हिमशैल नामक तीन पर्वतो और उनके समीपके हरिवर्ष, किम्पुरुष तथा भारतवर्ष देशोका उल्लेख किया गया है। उनके एक ओर 'भद्राश्व' और दूसरी ओर 'केतुमाल' देश है। इनके बीचमें 'इलावृत्त' देश स्थित है। 'सुमेरो' प्राचीना भद्राश्वा. माल्यवत्सीमान, प्रतीचीना केतुमाला गन्धमादनसीमान, मध्ये वर्षमिलावृत्' । इस प्रकार वर्तमान पामीरका मध्यभाग या उसके आस-पासका प्रदेश ही पूर्वकालमें कदाचित् 'इलावृत्त' नामसे कहा जाता होगा। वृत्तिकारने यहा जो 'इलावृत-प्रदेश' का उल्लेख किया है वह भौगोलिक दृष्टिसे नहीं अपितु स्वर्गका भाग मानकर किया है।

कथ ज्ञायते सुखितो दु खितो लोक इति । यत ईर्ष्याक्रोधादिभि सम्मूढोऽधिवासितहृदय । आदिग्रहणादनुरागतृष्णादिभि । तत्र क्रमेण कारणमाह । कामवशगतत्वादीर्ष्यादयो, राज्यलोभादिना क्रोधादय । किमित्यधिकौ कामलोभौ ? यत सुखित-दु खितत्वस्य कारण कामादीना हेतु ग्राम्यधर्मप्रवृत्तत्वम् । ग्राम्योऽश्रुतशास्त्रार्थजनाकीर्णदेशोचितो धर्म स्वधर्माननुपालनलक्षणस्तद्विषये यतोऽसौ लोक प्रवृत्त ।

नन्वेव सति, [1]अधर्मबाहुल्यात् सुखमेषा कुत इत्याह-देवै श्रीमद्विजयाविमुक्तादि रुद्रावतारै, तथा राजस-तामसहृदय-जन[2]कल्प्यमान-सपर्याकै-र्दानवादिभिराक्रान्ते जम्बूद्वीपे [3]गन्धर्वादिभिश्चाक्रान्ते स्ववशीक्रियमाणे ।

लोकके सुखित-दु खितत्वका उपपादन—

अभिदव०—[प्रश्न—] यह कैसे मालूम कि लोक सुखित-दु·खित था ? [उत्तर—] क्योकि वह ईर्ष्या और क्रोध आदिसे सम्मूढ था अर्थात् उसके हृदयमे ईर्ष्या क्रोधादि भरे हुए थे। उन [ईर्ष्या क्रोधादि] का कारण क्रमसे [९ वीं कारिकाके द्वितीय चरणमे] कहते हैं [काम और लोभके वशीभूत होनेके कारण लोक ईर्ष्या क्रोधादिसे सम्मूढ था । कामके वशीभूत होनेसे ईर्ष्या आदि और राज्यके लोभादिसे क्रोधादि उत्पन्न होते है। [इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ईर्ष्या और क्रोधके कारण रूपमे ही जब काम तथा लोभका ग्रहण हो जाता है तब] काम और क्रोधको अलग [अधिक] क्यो कहा गया है ? [इसका उत्तर 'ग्राम्य धर्म प्रवृत्ते' पदसे दिया गया है] क्योकि काम आदिका हेतु ग्राम्यधर्ममे प्रवृत्तत्व, सुखित-दु खितत्वका कारण होता है। ग्राम्य अर्थात् शास्त्रके विषयको न जानने वाले लोगोसे व्याप्त देशके योग्य जो अपने कर्तव्यका पालन न करने रूप धर्म [अर्थात् स्वभाव] उसमे क्योकि यह लोक प्रवृत्त था [इसलिए काम और लोभका अलगसे ग्रहण किया गया है] ।

अभिनव०—अच्छा ऐसा होनेपर [अर्थात् काम आदिमे अत्यासक्त होनेपर] तो अधर्मकी प्रधानता होनेके कारण उनको सुख कैसे [प्राप्त] हो सकता है ? [अर्थात् सुख प्राप्त नहीं हो सकता है] । इस [शङ्काके निवारण] केलिए [इस बातको] कहते हैं कि—देवोसे अर्थात् विजया विमुक्तादि रुद्रके अवतारोकेद्वारा [ये अवतार तो प्रसिद्ध नही हैं] तथा राजस एव तामस हृदय वाले लोगोकेद्वारा जिनकी पूजा की जाती है इस प्रकारके दानवो आदिकेद्वारा जम्बूद्वीपके आक्रान्त होनेपर और गन्धर्वादिकेद्वारा भी आक्रान्त अर्थात् अपने वशीभूत किए जानेके कारण [धर्ममे प्रवृत्ति होती थी] ।

पूर्वसस्करणोमें इस अनुच्छेदके अन्तमें 'देवादिभिश्चाक्रान्ते' इस प्रकारका पाठ छपा था । परन्तु देवोका उल्लेख पहले ही आ चुका है अत वह पुनरुक्तिमात्र हो जानेसे अशुद्ध है । मूल श्लोकमें दानवोके बाद गन्धर्वोका नाम लिया गया है । अत एव व्याख्यामे भी दानवोके बाद 'गन्धर्वादिभिश्चाक्रान्ते' पाठ होना चाहिए था । इसलिए सशोधित रूपमें हमने इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

---

१. म स्वधर्मबाहुल्यात् सा. स्वधर्मबाहुल्यात् । २ म हृदयकल्प्यमान । ३ म देवादिभिश्चाक्रान्ते ।

नन्वेव मत्स्वपि शुद्ध-व्यामिश्रधर्मसाधनेषु कथं धर्म, तेषा तत्राप्रवर्तमानत्वात्। सत्यम्। किन्तु लोकपाले लोकपालांशसविभागसमुत्पादितै नरपतिभि प्रतिष्ठिते स्वधर्मसाधन प्रति नियोजिते लोके।

दृश्य श्रव्य चेति-द्रष्टु श्रोतु चार्हम्[1]। न तु दुर्भगपुरुषप्रायम्।

लोगोंमे धर्म प्रवृत्तिका उपपादन—

अभिनव०—[प्रश्न—] अच्छा इस प्रकार [देव गन्धर्व तथा दानवोसे जम्बूद्वीपके आक्रान्त होनेके कारण] शुद्ध तथा [व्यामिश्र] अशुद्ध धर्मके साधनोके विद्यमान होनेपर भी धर्म कैसे हो सकता है? उन लोगोके [स्वभावत·] उस [धर्म-कार्य] मे प्रवृत्त न होनेके कारण [उनको धर्म नहीं हो सकता है। यह शङ्का है। उत्तर आगे है]।

व्यामिश्रधर्म—

इस अनुच्छेदमें 'व्यामिश्रधर्म' का उल्लेख किया गया है। इससे मीमासकोके वैदिक कर्म-काण्डसे जन्य धर्मका ग्रहण होता है। यज्ञादिमें होने वाली हिंसा आदिके पापसे सङ्कीर्ण होनेके कारण उसको 'व्यामिश्र' धर्म कहा गया है। यद्यपि मीमांसकोंके अनुसार यज्ञादिमें की गई हिंसा अधर्मजनक नही होती है। परन्तु श्री पञ्चशिखाचार्यने 'स्वल्प· सङ्कर: सपरिहार सप्रत्यवमर्ष.' लिखकर और दूसरे सांख्याचार्य ईश्वरकृष्णने भी अपनी सांख्य कारिकामें 'स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्त' लिख कर कर्मकाण्डको अविशुद्धियुक्त कहा है। इस सांख्य सिद्धान्तके आधारपर ही ग्रन्थकारने यहाँ 'व्यामिश्रधर्म' का उल्लेख किया है।

अभिनव०—[उत्तर—आपका कथन] ठीक है। परन्तु लोकपालो अर्थात् लोक-पालोके अंशोसे उत्पन्न राजाओके द्वारा प्रतिष्ठित अर्थात् अपने धर्मके पालनमें लोगोंके नियोजित होनेपर [अर्थात् राजाओके द्वारा जनताको अपने कर्तव्य पालनकी प्रेरणा दिए जानेके कारण उनकी प्रवृत्ति धर्म कार्योंमे होती थी और उससे उनको धर्म एवं सुखकी प्राप्ति होती थी। ऐसे अवसरपर आत्रेय आदि मुनियोने ब्रह्माजीसे प्रार्थना की कि हम इस प्रकारके लोगोके लिए दृश्य एवं श्रव्य क्रीडनीयक चाहते हैं]।

अभिनव०—दृश्य और श्रव्य [का अभिप्राय यह है कि जो] देखने योग्य तथा सुनने योग्य हो। [अर्थात् जिनके विकृत रूपके कारण उनको देखनेकी इच्छा न हो अथवा जिनकी कर्कश-ध्वनिके कारण उनकी बात सुननेकी इच्छा न हो इस प्रकारके] निकृष्ट पुरुषोंसे युक्त न हो।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्व-सस्करणोमें अशुद्ध छपा था। 'द्रष्टु श्रोतु चार्हम्' के बाद उनमें 'न धर्मसाधन शक्यं च'। इतना अधिक पाठ अस्थानमें छप गया था। उस पाठकी यहाँ कोई सङ्गति नहीं लगती है। 'द्रष्टु श्रोतु चार्हम्' का ही अर्थ अगले 'न तु दुर्भगपुरुषप्रायम्' इस वाक्यने किया गया है। इसलिए उसके बाद इसी वाक्यको स्वाभाविक रूपसे आना चाहिए। उसके बीचमें आया हुआ 'न धर्मसाधन शक्य च' यह वाक्य यहाँ अप्रासंगिक होनेके कारण व्यर्थ और अस्थान-पाठ मात्र है। उसका उचित स्थान अगले अनुच्छेदके अन्तमें है। वहीं उसकी सङ्गति लगती है। अतः हमने उसको यहाँसे हटाकर वहाँपर ही दिया है।

---

१. अत परं 'न धर्म साधन शक्यम् च' इति अस्थान-पाठ।

'लोके' इत्येकवचनेन सर्वसाधारणतयैव यद् भोग्यम्'। तच्च स्पृश्यादिकं न भवति। दृश्य-श्रव्ययोस्तु बहुतरसाधारण्योपपत्तिः। असाधारणे चेर्ष्यादय एव प्रवर्तन्ते, न धर्मसाधनं शक्यं च।

क्रीडनीयककी दृश्य-श्रव्यताका उपपादन—

इस प्रसङ्गमें इन्द्रादि देवताओंने ब्रह्माजीसे दृश्य अर्थात् आँखोंसे देखने योग्य और श्रव्य अर्थात् कानोंसे सुनने योग्य क्रीडनीयक अर्थात् मनोविनोदके साधनकी प्रार्थना की है। स्पृश्य अर्थात् छूने योग्य आदि अन्य प्रकारके क्रीडनीयककी प्रार्थना नहीं की है। इसका कारण यह है कि दृश्य और श्रव्य वस्तु तो ऐसी होती है जिसका उपयोग अनेक व्यक्ति एक साथ बैठकर सकें। किन्तु 'स्पृश्य' अर्थात् छूने योग्य आदि वस्तुएं एक साथ अधिक व्यक्तियोंके उपभोगके योग्य नहीं होती हैं। ऐसी वस्तुओंसे कुछ ही व्यक्ति लाभ उठा सकते हैं। सब लोग एक साथ लाभ नहीं उठा सकते हैं। इस लिए दृश्य-श्रव्य क्रीडनीयकके रूपमें ही यहां ब्रह्माजीने नाट्य रूप क्रीडनीयक उत्पन्न किया है। इसी बातको अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अभिनव०—[कारिकामें आए हुए] 'लोके' इस एकवचन [के प्रयोग] से [भरतमुनिने यह सूचित किया है कि] जो सर्वसाधारणतया ही उपभोगके योग्य हो [अर्थात् सब लोग एक-साथ मिलकर जिसका आनन्द ले सकें इस प्रकारका क्रीडनीयक होना चाहिए]। और वह [जिसका सब लोग मिल कर समान रूपसे आनन्द ले सकें] स्पर्श करने योग्य [अथवा चखने योग्य] आदि नहीं हो सकता है। [क्योंकि स्पृश्य आदि वस्तुका उपभोग तो एक कालमें एक ही या कम व्यक्ति ही कर सकते हैं]। दृश्य और श्रव्य तो [उनकी अपेक्षा] बहुतोंकेलिए साधारण [रूपसे एक कालमें ही आनन्दप्रद] हो सकते हैं। [क्रीडनीयकके] असाधारण [अर्थात् केवल एक व्यक्तिके उपभोग-योग्य] होनेपर तो [उसको न पा सकने वाले अन्य व्यक्तियोंके मनमें] ईर्ष्या आदिकी ही उत्पत्ति होगी। और [उससे] धर्मकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

पाठसमीक्षा—गत अनुच्छेदमें आए हुए 'न धर्मसाधनं शक्यं च' को हमने वहां अस्थान-पाठ बतलाया था। वह पाठ वस्तुतः इस अनुच्छेदके अन्तमें आना चाहिए। यहीं उसकी सङ्गति लगती है। अतः हमने उसको वहांसे हटाकर यहां छापा है। और भिन्न प्रकारके टाइपमें दिया है। यहां उस पाठकी स्थिति माननेपर न केवल उस वाक्यकी सार्थकता ही हो जाती है। अपितु इस अनुच्छेदके अन्तिम वाक्यकी पूर्णता भी हो जाती है। असाधारण क्रीडनीयकसे ईर्ष्या क्रोध आदि ही उत्पन्न हो सकते हैं धर्मकी सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिए आत्रेय आदि मुनियोंने बहुत-से लोग एक साथ बैठ कर जिसका आनन्द ले सकें इस प्रकारके 'दृश्य' तथा 'श्रव्य' क्रीडनीयककी प्रार्थना की है। अतः 'न धर्मसाधनं शक्यं च' यह पाठ पूर्व अनुच्छेदमें नहीं अपितु इस अनुच्छेदके अन्तमें जहां कि हमने छापा है वहीं होना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदके आरम्भमें 'यद्योग्य' पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है। वह भी अशुद्ध है 'यद्योग्य' पाठकी यहां ठीक सङ्गति नहीं लगती है। 'यद् भोग्यम्' की सङ्गति ठीक लगती है। अतः हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

---

१ यद्योग्यम्। २ 'न धर्म साधनं शक्यं च' यह पाठ हमने यहां स्थानान्तरित किया है। अतः काले टाइपमें दिया है।

एतदुक्त भवति-कृतयुगे सत्त्वप्रधाने स्वधर्ममात्रनिष्ठो लोको न सुख-दु खे प्रति हेयोपादेयधिया प्रयस्यति। त्रेताया तु राजसत्वाद् दु ख जिहासति सुख च प्रेप्सति। रजसश्चलत्वात्। 'तदामी शास्त्रीयेषु राजनियन्त्रणया प्रवर्त्यते। तत्र च तादृगुपायो निरूप्यो येन स्वयमेषा भवति प्रवृत्ति । तच्च नाटचमेवेति।

चकारेणेदमाह-तादृशा केनचिदुपायेन 'सम्बन्ध, तत् कुरुते येन भिन्नेन्द्रियग्राह्ये अपि दृश्य-श्रव्ये एकानुसन्धानविषयत्व न विजहीत इति सामान्याभिनयकालप्राणत्व' प्रयोगस्य सूचितम्।

त्रेतायुगमे नाटचकी आवश्यकताका उपपादन—

अभिनव०—इसका अभिप्राय यह है कि—सत्त्वप्रधान सतयुगमे लोग केवल अपने धर्मका पालन करनेमे निरत रहते हैं इस लिए सुख और दु खके प्रति हेय या उपादेय बुद्धिसे प्रयत्न नहीं करते हैं। [अर्थात् वे केवल सुखकी प्राप्ति और दु.खके परिहारकी दृष्टिसे कोई काम नहीं करते हैं। अपितु अपने कर्तव्य-पालनकी दृष्टि से ही सारे कार्य करते हैं]। त्रेतायुगमे तो रजोगुणका प्राधान्य होनेसे [उस युगके लोग केवल कर्तव्य-भावनाकी दृष्टिसे ही कार्य नहीं करते हैं अपितु] दु.खका परित्याग करना और सुखको प्राप्त करना चाहते हैं। [इसी दृष्टिसे अर्थात् सकाम-भावसे सारे कार्य करते हैं]। इस लिए रजोगुणके चञ्चल होनेसे [शास्त्रविहित कार्योंमे सामान्यतः उनकी स्वय प्रवृत्ति नहीं होती है अपितु] राजाके नियन्त्रणसे ही प्रवृत्त होते हैं। इस लिए इस विषयमे इस प्रकारका [कोई] उपाय बतलावें जिससे [राजनियन्त्रणके बिना ही शास्त्रीय व्यवहारमें] इनकी स्वयं प्रवृत्ति होने लगे। और वह उपाय नाट्य ही हो सकता है। [यह प्रार्थना करने वाले देवताओंका अभिप्राय है]।

अभिनव०—['दृश्यं श्रव्य च' में आए हुए] चकारका यह अभिप्राय है कि—इस प्रकारके किसी अनिर्वचनीय [नाट्य रूप धर्म प्रवर्तक] उपायके साथ [मनोविनोद के साधनका] सम्बन्ध ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है जिससे [नेत्र और श्रोत्र रूप] अलग-अलग इन्द्रियोंसे गृहीत होने वाले दृश्य और श्रव्य [भाग] भी एक-साथ होने वाली प्रतीतिके विषय बन जाते हैं। [अर्थात् नाट्यमे दृश्य एवं श्रव्य दोनो भागोंकी एक-साथ प्रतीतिमे कोई बाधा नहीं होती है। यह नाट्यकी अलौकिक शक्तिका ही प्रभाव है]। इससे सामान्य रूपसे होने वाले अभिनयके काल तक ही [प्रयोग अर्थात्] नाट्यका जीवन है यह बात सूचित की है। [दृश्य और श्रव्यकी युगपत् प्रतीति और उनका रसास्वाद अभिनय-काल तक ही रहता है। बादको नहीं रहना है यह अभिप्राय है]।

---

१. तदमी। २ सम्बन्धस्तु कुल। ३ म क तालप्राणत्वं। ख कालप्रमाणत्वं।

दृश्यमिति हृद्य, श्रव्यमिति व्युत्पत्तिप्रदमिति प्रीतिव्युत्पत्तिदमित्यर्थ ।

[1]ननु इन्द्रादीना क एतावता स्वार्थः ?

आह-[2]लोकपालप्रतिष्ठिते जम्बूद्वीपे गता ये लोका ते हि स्वधर्मावस्थिता इज्यादिना नाकमाप्याययन्ति । अत एव 'इच्छाम' इति सर्वेषामैकमत्यमाह । अतोऽन्योन्योपकारवृत्त्या च दैवमानुषसर्गो [3]निरूपितो विन्ध्यवासिप्रभृतिभि ।

अभिनव०—[कारिका मे आए हुए] 'दृश्य' इस [पद] से मनोहर [हृद्य पदका अर्थ हुआ] और 'श्रव्य' इस [पद] से शिक्षाप्रद [इस अर्थका ग्रहण होता है]। इस लिए [नाट्य रूप क्रीडनीयक] आनन्द-दायक और शिक्षाप्रद [दोनो प्रकारका होता है] यह अभिप्राय [निकलता] है।

अभिनव०—[प्रश्न—] इन्द्र आदि [देवताओ] का इसमे क्या स्वार्थ है [कि जिससे प्रेरित होकर उन्होने ब्रह्माजीसे क्रीडनीयककेलिए यह प्रार्थना की है] ?

अभिनव०—[उत्तर—] कहते हैं कि—लोकपालो [अर्थात् उनके अशावतार रूप राजाओ] केद्वारा नियन्त्रित [प्रतिष्ठित] जम्बूद्वीपमे जो लोग रहने वाले हैं वे अपने धर्मका पालन करते हुए यज्ञ आदिके द्वारा स्वर्गलोक [के निवासियो अर्थात् देवताओ] को तृप्त करते हैं। इसी लिए 'हम सब चाहते है' इस [बहुवचन] के [प्रयोग] द्वारा [इस विषयमे] सब देवताओ के ऐकमत्य [सहमति] को सूचित किया है। और इसी लिए विन्ध्यवासी [सांख्य शास्त्रके प्रसिद्ध आचार्य] आदिने देवताओ और मनुष्योकी सृष्टिको एक-दूसरेके उपकारक रूपमे प्रतिपादन किया है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें प्रथम-सस्करणमें 'लोकपालप्रतिष्ठिता यतो जम्बूद्वीपगता लोका' इस प्रकारका पाठ छपा था। वह पाठ ठीक था। उसमें कोई अशुद्धि तो नही थी, और सङ्गति भी ठीक लग जाती थी। परन्तु द्वितीय सस्करणमे उसको परिवर्तन करके उससे अच्छा 'लोकपालप्रतिष्ठिते जम्बूद्वीपे गता ये लोका' इस प्रकार पाठ दिया गया है। यह पाठ कारिकाके 'लोकपालप्रतिष्ठिते' 'जम्बूद्वीपे' आदि पदोकी विभक्तिके अनुसार होनेसे अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। अत हमने भी इसी पाठको मूलमें स्थान दे दिया है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके आरम्भके पाठमे भी बडौदा वाले दोनो सस्करणोके पाठमें कुछ अन्तर पाया जाता है। प्रथम सस्करणमें 'इत्यनेन त्विन्द्रादीना एतावता क स्वार्थ इत्याह' इस प्रकारका पाठ छपा था। वह अशुद्ध था। उसमें 'इत्यनेन' इस भागकी सङ्गति नही लगती थी। द्वितीय सस्करणमे उसको बदल कर 'अनेन त्विन्द्रादीना' पाठ दिया गया है। पर उससे स्थितिमें कोई अन्तर नही पडता है। पूर्व पाठके समान यह पाठ भी अशुद्ध है। 'अनेन' और 'इत्यनेन' दोनो पद समानार्थक हैं। 'एतावता' पदके साथ दोनोकी पुनरुक्ति है। इस लिए दोनो ही समान रूपमे दोष-ग्रस्त है। उनके स्थानपर 'ननु' से प्रश्न 'इत्याह' से उत्तर होनेसे 'नन्विन्द्रादीना क एतावता स्वार्थ इत्याह' यह पाठ उचित प्रतीत होता है। अत हमने सशोधित रूपमे इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

---

१ म अनेन त्विन्द्रादीना क एतावता स्वार्थ । आह ।

२ म लोकपालप्रतिष्ठिता यतो जम्बूद्वीपे गता लोका ।

३ म भ सर्गावित्यपि निरूपितौ ।

अन्ये तु स्वप्रयोजनमेव क्रीडा महेन्द्रादीनामित्याहु । त्रेतायुगे प्रवृत्ते, एवम्भूते च लोके इत्यनेनेदमुक्त भवति यत् स्वर्गेऽपि हि तदा-तदा मानुषगतराजसधर्माभिसम्बन्धचित्रितयागादियोगरजसीकृतहृदयत्वाद् देवा अपि क्रीडनकमभिलेषुरिति ।९-११ ।

इस अनुच्छेदमें देव और मनुष्य सर्ग एक दूसरेका उपकार करते हैं इसका वर्णन विन्ध्यवासी प्रभृतिने किया है यह बात कही गई है । कुछ लोगोके मतमें विन्ध्यवासी ईश्वर कृष्ण का नाम है । साख्य कारिका उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है । उसमें—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुष्यश्चैकविध समासतो भौतिक, सर्ग. ॥५३॥
ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलत सर्ग ।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त. ॥५४॥

इत्यादि रूपमें दैवसर्ग और मानुषसर्गका वर्णन तो किया गया है परन्तु उनके अन्योन्योपकारकी कोई चर्चा नही की गई है। इस विषयकी चर्चा गीताके निम्न श्लोकमें अवश्य पाई जाती है। जिसका भाव यह है कि मनुष्य यज्ञकेद्वारा देवताओको सन्तुष्ट करते हैं और देवता वृष्टि आदिकेद्वारा मनुष्योका कल्याण करते हैं इस भावका प्रतिपादन करनेवाला गीतामें निम्न श्लोक पाया जाता है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्पर भावयन्त श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ [गीता ३-११]

विन्ध्यवासी अर्थात् ईश्वरकृष्णकी साख्यकारिका में दैव और मानुष सर्गका वर्णन तो आया है परन्तु इन प्रकार अन्योन्योपकार-प्रतिपादक कोई श्लोक नही आया है।

विन्ध्यवासी कौन हैं—

इस प्रसङ्गमें ग्रन्थकारने जिन 'विन्ध्यवासी' का उल्लेख किया है वे साख्यके कोई प्रसिद्ध आचार्य हैं यह बात तो निश्चित है। किन्तु उनके व्यक्तित्व और काल आदिके विषयमें विद्वानोमें मतभेद पाया जाता है। कुछ लोग जिनमें प्रसिद्ध जापानी विद्वान् 'ताकाकुस' प्रमुख है साख्यकारिकाके निर्माता ईश्वरकृष्णको ही 'विन्ध्यवासी' मानते हैं। दूसरे लोग उन्हें ईश्वरकृष्णसे भिन्न व्यक्ति मानते हैं। इनमें 'तत्त्वसग्रह' ग्रन्थकेनिर्माता प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित मुख्य है। शान्तरक्षितके मतमें विन्ध्यवासीका मुख्य नाम रुद्रिल था। विन्ध्याचलके वनोमें रहने के कारण ही वे विन्ध्यवासी कहलाते थे। उनके गुरुका नाम वार्षगण्य था। 'तत्त्व सग्रह' में विन्ध्यवासी के परिणामवादकी आलोचनामें एक बडा सुन्दर व्यङ्ग्य श्लोक दिया गया है। वह कदाचित् वसुबन्धुकी परमार्थसप्ततिसे उद्धृत किया गया हो ऐसा प्रतीत होता है।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो यह कहते हैं कि यहाँ क्रीडा [अर्थात् क्रीडनीयककी प्राप्ति] इन्द्र आदिने अपनेलिए ही चाही है। [मनुष्योकेलिए यह प्रार्थना नहीं की गई है]। 'त्रेतायुगका आरम्भ होनेपर और लोगोके इस प्रकारके हो जानेपर' [देवताओने अपनेलिए क्रीडनीयककी प्रार्थना की] इसका यह अभिप्राय है कि—स्वर्गमे भी समय-समयपर मनुष्योमें रहने वाले राजस और तामस धर्मोके सम्बन्धसे चित्रित यागादिकेद्वारा उसके रजोगुण-युक्त हो जानेके कारण देवताओने भी क्रीडनीयककी कामना की थी।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें हमने 'इत्यनेनेदमुक्त भवति' इसके आगे केवल 'यत्' पद बढ़ाया है। उसके बिना अर्थसङ्गतिमें तनिक कठिनता होती है ॥९-११॥

एव शास्त्राधिकृतो जनो नाट्येन सुख विनीयत इति प्रयोजन-प्रयोजनमुक्त्वा प्रयोजनान्तरमप्याह 'न वेदव्यवहार' इत्यादिना—

भरत०—न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु ।
तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् ॥१२॥

कृतयुगे सत्त्वोत्कर्षवलादेव सर्व स्वधर्ममनुपालयति । 'अन्यत्र तु राजसत्वात् शूद्रप्रकारा करणादिजातीया सर्वेऽखर्वगर्वाक्रान्ता वर्णत्रयानुवृत्ति न विदधते । शास्त्र भवद्भ्य एवमादिशतीति च ते वचनमात्रेण नाद्रियन्ते । न च ते वेदशास्त्रोपदेशयोग्या' । अत एवमाह—'न सश्राव्या इति । ³सम्यगिति स्थाने, श्रुत्या भवतामेतदुपदिष्ट इति न श्राव्या.' ।

नाट्य सार्ववर्णिक मनोरञ्जन है—

अभिनव०—इस प्रकार शास्त्रोके अधिकारी लोगो [अर्थात् ब्राह्मणादि] को भी नाट्यके द्वारा [वेदादि शास्त्रोकी अपेक्षा] सरलता-पूर्वक [कर्तव्याकर्तव्यकी] शिक्षा मिल सकती है इस, प्रयोजन [अर्थात् नाट्यशास्त्रकी रचनामे अपनी प्रवृत्तिके प्रयोजन] के प्रयोजन [अर्थात् मनोविनोदके साथ शिक्षाप्रदान करने] को कह कर उसका अन्य [तृतीय] प्रयोजन भी 'न वेदव्यवहारोऽयम्' इत्यादि [अगले श्लोक] केद्वारा दिखलाते हैं—

भरत०—[विधि-निषेधात्मक] इस वेदके व्यवहारको [उसको समझनेमे असमर्थ होनेके कारण] शूद्र [कहलाने वाली] जातियोंको नहीं सुनाना चाहिए इस लिए आप [शूद्रो सहित] सब वर्णो [के लोगों] केलिए उपयोगी पाचवें वेदकी रचना करनेकी कृपा करें । १२ ।

अभिनव०—सतयुगमे सत्त्व [गुण] की प्रधानताके कारण ही सब लोग स्वय अपने धर्मका पालन करते हैं । अन्य युगोमे तो रजोगुणकी प्रधानता होनेके कारण [सावित्री-पतित क्षत्रियसे सवर्णा स्त्रीमे उत्पादित] करण [अर्थात् वर्णसङ्कर जाति विशेष] आदि शूद्र जातिके सब ही लोग पूर्ण अभिमानसे भरे हुए तीनो वर्णोंका अनुगमन [अर्थात् उनकी सेवा रूप अपने कर्तव्यका पालन] नहीं करते हैं । और शास्त्रने आपके लिए यह [अर्थात् त्रैवर्णिकोकी सेवाका] ही उपदेश दिया है, इसको वे [स्वय पढे बिना] केवल कहने मात्रसे नहीं मानते है । और न वे वेदके उपदेश [को समझने] के योग्य है । इस लिए यह कहा है कि— उनको वेदव्यवहार 'नही सुनाना चाहिए' । ['न सश्राव्या' का अर्थ कहते है कि] श्रुतिने आपको यह उपदेश दिया है यह वात उनको नहीं सुनानी चाहिए यह सम्यक् अर्थात् उचित ही है । [क्योकि वे उसको समझनेकी क्षमता नहीं रखते है] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-सस्करणोमें अशुद्ध छपा था । 'न सश्राव्या' के स्थानपर उसमें 'नासश्राव्या' इस प्रकारका पाठ छपा था । परन्तु इससे तो अर्थ एकदम उल्टा हो जाता है । इसलिए यह पाठ अशुद्ध है । हमने उसके स्थानपर 'न सश्राव्या' पाठ प्रस्तुत किया है ।

---

१ घ. अद्यत्वे तु ।　　२. अस्मदीय पाठ ।　　३. सम्यगिह ।　　० नासश्राव्या ।

सार्ववर्णिकमिति-अधिकृतानामनधिकृतानामपि सुकुमाराणा व्युत्पत्तिदायीत्यर्थ. ।

'सर्वे वर्णा प्रयोजनं 'विनेयत्वेन यस्य' इत्यनेन पूर्वोक्तस्य, अधुनोक्तस्य च समस्तस्योपसहार ।

अन्ये तु पौनरुक्त्य परिहर्तुमाहु —सर्वेषा वर्णाना सरससुकुमारेण नयेन स्वकर्तव्यनिरूपण यत्र काव्ये तस्मिन् भव, तदाश्रितम् । येन सर्वो जन.सरससुकुमारानुरज्जदाशय, तदुपभोगनान्तरीयकतयैव कार्याकार्यज्ञानमप्युपयुक्ते क्षीरमध्यावस्थितौपधोपयोगवत् । तेन 'अनधिकृतानामपि सुकुमाराणा व्युत्पत्तिदायि नाटचम्' । 'श्रुतशास्त्राणामपि सवादादविचलकार्याकार्यविवेकसिद्धिरिति ॥ १२ ॥

पाठसमीक्षा —इस पाठके विषयमें एक परिवर्तन हमने और भी किया है । वह यह है कि पूर्व सस्करणोंमें यह पाठ इस अनुच्छेदके अन्त में दिया गया था । परन्तु हमने उसे 'अत एवमाह' के वाद रखा है । वहाँ पर 'न सश्राव्या:' व्याख्येय पदके रूपमें आया है । उसके वाद 'सम्यगिति स्थाने श्रुत्या भवतामेतदुपदिष्टमिति न श्राव्या:' यह उसकी व्याख्या है । इस व्याख्याके पूर्व व्याख्येय पदके रूपमें 'न सश्राव्या.' इसका दिया जाना आवश्यक है । अत हमने उसको यथा-स्थान समाविष्ट करके ही सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है ।

अभिनव०—'सार्ववर्णिक' इससे [वेद पढनेके] अधिकारी [द्विजाति] तथा अनधिकारी [शूद्र] दोनो प्रकारके [सुकुमारो] मन्दमतियो केलिए शिक्षाप्रद [हो] यह अभिप्राय है । सव वर्ण शिक्षणीय रूपमे जिसके प्रयोजन हं [वह सार्ववर्णिक हुआ] । इससे पहिले कहे हुए [द्विजातियोंके शिक्षण] और अब कहे हुए [शूद्रादिके शिक्षण] सबका उपसंहार किया गया है । [अर्थात् शास्त्रोके अधिकारी और अनधिकारी सवको ही नाट्यकेद्वारा शिक्षा प्राप्त होती है यह वात पहिले भी कही जा चुकी है और यहाँ भी उपसहार रूपमे कही गई है] ।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो [इस] पुनरुक्तिका परिहार करनेके लिए ['सार्ववर्णिकम्' पदकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि—] सरस एव सुकुमार मार्गसे जिस काव्य [नाटक] मे सव वर्णोंके अपने-अपने कर्तव्यका निरूपण किया जाय, उसमे होने वाला, उसके आश्रित [अर्थात् उसके आधारपर जिसकी रचना हुई है वह नाट्यवेद सार्ववर्णिक हुआ] । इसके द्वारा सरस सुकुमार और अनुरक्त हृदयसे युक्त सब लोग उस [नाट्य-रस] के उपभोगके साथ-साथ ही दूधमें पड़ी हुई औषधके उपयोगके समान कर्तव्याकर्तव्यके ज्ञानको भी प्राप्त कर लेते हैं । इस प्रकार [वेद शास्त्रादिके] अनधिकारियोंको भी शिक्षा देने वाला [यह] नाट्य है । और उसकेद्वारा शास्त्रोंके जानने वालोको भी [अपने] शास्त्रीय ज्ञानकी सम्पुष्टि हो जानेसे उनका कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान सुदृढ़ हो जाता है ॥१२॥

---

१. म० विना यत्नेन प्रदर्शति । अनेन । २ म० अधिकृतानामनधिकृतानामपि ।
३. म० नाटच श्रुतं । ४. द० प्र० अश्रुतशास्त्राणामपि ।

भरत०—एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च ।
'सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित्'[2] ॥ १३ ॥

एवमस्त्विति । तानिति देवान् परामृशति । देवराजमिति चेन्द्र परामृशति । 'तानुक्त्वा' तान् विसृज्य । देवराज विसृज्येति च प्राधान्यादुपादानम्[3] । योगमिति येन सर्ववेदाना युगपदवभासो भवति । तत्त्वविदिति समस्तलोकवेदज्ञ इत्यर्थ ॥ १३ ॥

प्रक्षिप्त भरत०—[नेमे वेदा यतः श्राव्या स्त्री-शूद्राद्यासु जातिषु ।
वेदमन्यत् ततः स्रक्ष्ये सर्वश्राव्य तु पञ्चमम्] ॥

नाटचवेदके रचनार्थ योगसाधन—

यहाँ तक सक्षिप्त रूपमें नाटचवेद क्यो उत्पन्न हुआ और किसके लिए उत्पन्न हुआ इन प्रथम दो प्रश्नोका उत्तर देनेके वाद अब अगले पाँच श्लोको [१३-१७ तक] में, 'कत्यङ्ग' इस नाट्यके कितने अङ्ग हैं इस तृतीय प्रश्न उत्तर देनेका प्रयत्न करेगे ।

भरत०—'ऐसा ही हो' [अर्थात् जैसा आप लोग चाहते हैं उसी प्रकार मैं सब वर्णों के उपयोगार्थ सार्ववर्णिक पञ्चमवेदकी रचनाका यत्न करूँगा] ऐसा उन [देवताओं] से कह कर [अर्थात् उनको कुछ कालके लिए विदा करके] तथा देवराज [इन्द्र] को भी विदा करके तत्त्वको जानने वाले [ब्रह्मा] ने [वेदोसे नाटचके विविध अङ्गोको प्राप्त करनेकेलिए] समाधि लगा कर [योगमास्थाय] चारो वेदोका स्मरण किया । १३ ।

अभिनव०—'एवमस्तु' ऐसा ही हो [यह श्लोकका प्रतीक दिया गया है] 'तान्' इस पदसे देवताओं ग्रहण होता है । और 'देवराज' इस पदसे इन्द्रका ग्रहण होता है । 'तान् उक्त्वा' उनको कह कर [का अर्थ] उनको विदा कर के [यह होता है] । [देवताओंको विदा करनेके साथ ही इन्द्रकी विदाई भी यद्यपि स्वय ही आ जाती है फिर भी उनकी] प्रधानताके कारण 'देवराजको विदा करके' यह अलगसे ग्रहण किया गया है । [उससे इन्द्रके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया गया है] । समाधि लगा कर [वेदोको स्मरण किया] यह [योगका आश्रय] इसलिए [लिया गया है] जिससे सब वेदोका एक-साथ भान हो सके । [श्लोकमे आए हुए] 'तत्त्ववित्' इस [पद] से समस्त लोक और वेदको जानने वाले यह अर्थ निकलता है ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोककी वृत्ति बहुत छोटी-सी है । परन्तु उसका पाठ जिस रूपमे पूर्व-सस्करणोमें छपा है वह पाठककेलिए बडा दुरूह और कष्टदायक प्रतीत होता है । इसका कारण उसमें बीच-बीचके अपेक्षित पदोकी अनुपस्थिति है । 'एवमस्त्विति तानिति । देवराजमिति ।' इस प्रकारका पाठ पूर्व सस्करणोमें छपा है । उससे अर्थ की सङ्गति लगाना कठिन हो जाता है । इसमेंसे 'एवमस्त्विति' यह तो श्लोकका प्रतीक भाग है । इसलिए वह ठीक है । पर 'तानिति' के वाद 'देवान् परामृशति' और देवराजमिति' के वाद 'चेन्द्र परामृशति' यह पाठ अपेक्षित हैं । इसी प्रकार 'देवराज विसृज्येति' के वाद च' पद भी होना ही चाहिए उसके विना अर्थ-सङ्गति नहीं लगती है । उसका समावेश कर देने पर अर्थ हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है । अत एव हमने यथा-स्थान उन पदोका समावेश करके ही पाठको प्रस्तुत किया है । परन्तु अपना बढाया हुआ पाठ होनेके कारण उसको काले टाइपमें मुद्रित किया है ।१३।

---

१ ड. सस्मारेद तदा ब्रह्मा । २ ट. त. म योगवित् । ३. प्राधान्यादुक्तम् । इन्द्रादीन् विसृज्येत्यर्थ ।

तत. कि चकार इत्याह श्लोकत्रयेण 'धर्म्यम्' इत्यादिना—

भरत०—[1]धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च [2]सोपदेश्यं ससंग्रहम् ।
भविष्यतश्च[3]लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्[4] ॥ १४ ॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्प[5]प्रवर्तकम्[6] ।
नाटचाख्य[7]पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥ १५ ॥
[8]एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्[9] ।
नाटचवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥ १६ ॥

एवमिति 'धर्म्यम्' इत्यादि युगलोक्तमर्थ[10]सकल्प्य । चतुर्वेदस्मरणेन हेतुना । 'तत' इति चतुर्भ्यो नाटचवेदं चक्रे । हेतौ शता ।

भरतमुनिका सङ्कल्प—

अभिनव०—उसके बाद [भरतमुनिने] क्या किया इस बातको 'धर्म्यम्' इत्यादि [अगले १४-१६ तकके] तीन श्लोकोके द्वारा कहते हैं—

भरत०—धर्म [अर्थात् कर्तव्याकर्तव्यका उपदेश करने] मे साधु [अर्थात् धर्म आदि का भली प्रकार उपदेश देने वाले । धर्म शब्दसे 'तत्र साधु.' अष्टाध्यायी ४-४-९८ सूत्रसे 'यत्' प्रत्यय होकर 'धर्म्यम्' पद बना है । इसी प्रकार मनोहर होनेके कारण सब लोगोंकेद्वारा अर्थनीय] चाहने योग्य, [अपनी इस मनोहरताकेलिए 'यशस्य' अर्थात्] सर्वत्र प्रसिद्ध, उपदेश्य [अर्थात् चतुर्वर्गके उपायो] से युक्त और आगे आने वाले लोगोंको [किए जाने वाले] समस्त कर्मो [के शुभाशुभ फलो] को शीघ्र ही दिखलाने वाले—

भरत०—समस्त शास्त्रोंके [प्रतिपाद्य धर्मादि रूप] अर्थोंसे परिपूर्ण, [नाटचमे सब कलाओका उपयोग होनेके कारण] सब प्रकारकी कलाओंके प्रवर्तक, एव [दशरूपकके पूर्वकल्प-परम्परागत] इतिहाससे युक्त नाटचवेद नामक पाँचवें वेदको मैं बनाऊंगा—

भरत०—इस प्रकारका सङ्कल्प करके और सब वेदोको स्मरण करके [भगवान् अर्थात्] ब्रह्माने चारो वेदोंसे जिसके अङ्गोंकी उत्पत्ति हुई है इस प्रकारके नाटचवेदको उन [चारो वेदो] के आधारपर बनाया । १४-१६ ।

अभिनव०—इस प्रकारका अर्थात् 'धर्म्यम्' इत्यादि [१४ वें तथा १५ वें] दो श्लोकोमें कही हुई बातका सङ्कल्प करके । चारो वेदोका स्मरण करनेके कारण । उनसे अर्थात् चारो वेदोंसे [अङ्गोको लेकर ब्रह्माने पाँचवें वेद रूप] नाट्यवेदकी रचना की । [यह बात] हेतु [अर्थ] मे [प्रयुक्त] शतृ-प्रत्ययसे [अर्थात् शतृ-प्रत्ययान्त 'अनुस्मरन्' पदसे सूचित होती है] ।

---

१. ड धर्मकामार्थ सयुक्तम् ।　२. ड म. त सोपदेशम् ।
३ न कालस्य । ठ. लोकोऽस्य ।　४ प्र दर्शनम् । म. कर्मप्रदर्शकम् ।
५. न शील । ग शिष्य ।　६. म. प्रदर्शकम् । प्र. समन्वितम् । त प्रवेशकम् ।
७. नाटयसञ्ज्ञमिमं वेदम् ।　८. न त व प्रोक्त्वा तु भगवानेवं वेदान् सर्वान् । प स्मृत्वा तु भगवानेवं । ग सङ्कल्प्य भगवानेवं । ड ततः स भगवान् ब्रह्मा वेदान् सर्वाननुस्मरन् ।
९. ज. म त. सर्वान् वेदान् ।　१०. युगलकोक्तम् ।

धर्म्यमिति धर्मे साधूपदेशाय। एवमर्थेऽपि।

अन्ये तु-धर्मार्थाभ्यामनपेतम्। यश प्रयोजनमस्येति।

अत्र व्याख्यानद्वये पुरुषार्थान्तरासग्रहः[1] स्यात्। नाट्योत्पत्तिगर्भाधानकल्पे चास्मिन् सङ्कल्पे यत् त्यक्त तत् त्यक्तमेव। यशसश्च धर्मफलत्वात् पृथगुपादान किमर्थम्। [2]सोपदेश्यमित्यादेश्च पौनरुक्त्यम्।

जैसा कि इस प्रकरणके प्रारम्भमें अर्थात् १४ वी कारिकाकी अवतरणिकामें कहा गया था वृत्तिकारने १४-१६ तक तीन श्लोकोकी व्याख्या एक-साथ मिला कर की है। इन तीनो श्लोकोमें ब्रह्माके नाट्यवेदकी रचना-विषयक सङ्कल्पका निर्देश किया गया है। पहिले दो श्लोकोमें सङ्कल्पका स्वरूप है। और तीसरे श्लोकमें सङ्कल्प करके नाट्य-वेदकी रचनाकी चर्चा की गई है। इसलिए वृत्तिकार अभिनवगुप्तने सबसे पहिले तीसरे श्लोकके भावका उल्लेख गत अनुच्छेदमें किया था। अब वे १४-१६ तक तीनो श्लोकोकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं।

धर्म्मं अर्थ्यं पदोंकी दो पूर्वव्याख्याए—

अभिनव०—'धर्म्यम्' अर्थात् धर्मके विषयमे उपदेश देनेमे समर्थ [साधु, 'धर्म्य' कहलाता है।] इसी प्रकार अर्थके विषयमे भी [उपदेश देनेमे साधु-समर्थ-'अर्थ्य' कहलाता है। अर्थात् 'धर्म' एव 'अर्थ' शब्दो से 'तत्र साधु.' ४-४-९८ इस सूत्रसे 'यत्' प्रत्यय होकर इन शब्दो की सिद्धि होती है यह एक व्यांख्याकार का मत है]।

दूसरे [व्याख्याकार] तो [इन पदोकी सिद्धिमे 'तत्र साधु' सूत्रसे यत्-प्रत्यय न मान कर 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' ४-४-९२ सूत्रसे यत्-प्रत्यय मानकर उनका अर्थ जो] धर्म और अर्थसे अनपेत [अर्थात् रहित न हो —युक्त हो— वह] 'धर्म्य' और 'अर्थ्य' [कहलाता] है। और यश जिसका प्रयोजन है [वह 'यशस्य' है यह अर्थ करते हैं]।

उन दोनो पूर्व व्याख्याओका खण्डन—

इन अनुच्छेदोमें वृत्तिकारने पूर्ववर्ती किन्ही दो टीकाकारोद्वारा की गई 'धर्म्यम्' 'अर्थ्यम् और 'यशस्यम्' इन तीन पदोकी व्याख्या प्रस्तुत की है। किन्तु वे व्याख्याए उनको रुचिकर नही हैं। इसलिए अगले अनुच्छेदमें वे उन दोनोका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—इन दोनो व्याख्याओमे [धर्म और अर्थसे भिन्न काम तथा मोक्ष रूप] अन्य पुरुषार्थोका समावेश नहीं होता है। और नाट्योत्पत्तिके गर्भाधान-सदृश इस सङ्कल्पमे जो [अङ्ग बननेसे] रह गया सो रह ही गया [समझो। फिर कभी उसका समावेश नही हो सकता है। इसलिए काम मोक्षका समावेश न होना इन व्याख्याओका पहिला दोष है। दूसरा दोष यह है कि] यशके धर्मका फल होनेसे उसका अलग-से ग्रहण किसलिए किया गया है ? [अर्थात् व्यर्थ है। और तीसरा दोष यह है कि— धर्मके उपदेशमे साधु इस व्याख्यामे ही उपदेशका समावेश हो जानेसे] 'सोपदेश' इत्यादि [पदो] की पुनरुक्ति हो जाती है। [अत एव तीन दोषोसे ग्रस्त होनेसे ये दोनो व्याख्याए ठीक नही है]।

---

१ म पुरुषार्थान्तरसग्रह। भ. अपरपुरुषार्थासग्रह। २ सोपदेशम्।

तस्मादयमत्रार्थ —धर्मशब्देन चत्वारोऽपि पुरुषार्था । तेषु साधु साधकम् । ननु किं साक्षात् ? नेत्याह-सोपदेश्यम् । सह उपदिश्यमानैरुपायै-र्यद्वर्तते । चतुर्वर्गोपाय [1]प्रदर्शकमित्यर्थ. ।

ननु वेदादयोऽप्येवम् । नैतत् । [2]सम्यग् ग्रहण सग्रह । यत परं निर्विशङ्क-प्रतीत्यर्थ प्रमाणान्तर नाभ्यर्थ्यते । तच्च साक्षात्काररूपमेव । यदाहु.—'सर्वा च प्रमा प्रत्यक्षपरा' इति । तेन सहेति ससग्रहम् ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें प्रथम-सस्करणमें 'पुरुषार्थान्तरसग्रह' यह पाठ छपा था । परन्तु वह अशुद्ध था । यहाँ कहना तो यह है कि इन व्याख्याओमें धर्म और अर्थका ही ग्रहण हो सकता है काम और मोक्ष रूप अन्य पुरुषार्थोंका सग्रह नही होता है । परन्तु प्रथम सस्करणमें मुद्रित पाठसे 'अन्य पुरुषार्थोंका सग्रह हो जाता है' यह विपरीत अर्थ निकलता है । अत वह पाठ अशुद्ध है । हमने उसको सशोधित करके 'पुरुषार्थान्तरासग्रह. पाठ दिया है । द्वितीय सस्करणमें इसके स्थानपर 'अपरपुरुषार्थासग्रह' पाठ दिया गया है ।

सिद्धान्तव्याख्यामे 'धर्म्यं' पदका अर्थ—

अभिनव०—इसलिए इसका यह अर्थ है कि—धर्म शब्दसे चारों पुरुषार्थ [गृहीत होते हैं] । उनमें साधु अर्थात् उनका साधक [धर्म्यं हुआ । अर्थात् धर्मपदको चारो पुरुषार्थोंका उपलक्षण मानना चाहिए । इसपर शङ्का होती है कि—] क्या साक्षात् ? [रूपसे चारो पुरुषार्थोंका साधक अभिप्रेत है । इसका उत्तर करते हैं कि—] नहीं, इसीलिए [कारिकामे] 'सोपदेश्यम्' कहा है । जो उपदिश्यमान उपायो [अर्थात् चतुर्वर्गके साधनो] केसाथ विद्यमान है । अर्थात् चतुर्वर्गके उपायोको बतलाने वाला है ।

सिद्धान्तव्याख्यामे 'ससग्रहम्' पदका उपयोग—

अभिनव०—अच्छा तो वेद आदि भी तो इसी प्रकारके हैं । [अर्थात् वेद शास्त्र आदिसे भी तो चतुर्वर्गके साधनोका ज्ञान होता है । उनसे इस नाट्यमे कोई विशेषता तो नहीं हुई । इसका उत्तर देते हैं कि—] यह बात ठीक नहीं है । [इसी बातके बोधनकेलिए कारिकामें 'ससग्रहम् पद रखा गया है । उसका अर्थ] भली प्रकारसे ग्रहण 'संग्रह' [कहलाता] है । अर्थात् जिसके आगे निश्चित प्रतीतिकेलिए अन्य किसी प्रमाणकी आवश्यकता न हो । और वह साक्षात्कारात्मक ज्ञान ही होता है । जैसा कि [न्यायदर्शनके 'वात्स्यायन-भाष्य' में] कहा है कि—'सब ही प्रमाकी परिनमाप्ति प्रत्यक्ष मे होती है' । उस [साक्षात्कारात्मक ज्ञान] के साथ, यह 'ससंग्रह' [शब्दका अर्थ] है ।

प्रमा या यथार्थ ज्ञान दो प्रकारके माने गए हैं । एक अपरोक्ष या साक्षात्कारात्मक और दूसरा परोक्ष । प्रत्यक्ष प्रमाणसे जो ज्ञान होता है वह 'अपरोक्ष' और, शब्द अनुमान आदि अन्य प्रमाणोंसे होनेवाला ज्ञान 'परोक्ष' ज्ञान कहलाता है । परोक्ष ज्ञान हो जानेपर भी मनुष्यकी आकांक्षा तृप्त नहीं होती है । वह अर्थको स्वयं प्रत्यक्ष करना चाहता है । प्रत्यक्ष हो जानेपर जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है । इसलिए समस्त ज्ञानोंमें प्रत्यक्ष-ज्ञानको सर्वश्रेष्ठ ज्ञान कहा है । इस बातका विवेचन न्यायदर्शनके 'वात्स्यायनभाष्य' में इस प्रकार किया गया है—

---

१. प्रवर्तकम् ।　　२. संग्रह सम्यग् ग्रह. । ग्रहणं प्रमाणं तेन युक्तम् ।

एवमपि प्रत्यक्षेण [1]सदाचारयज्ञादिदर्शनात् कोऽस्य भेद ?

आह—सर्वेषा कर्मणा क्रियमाणाना अनु—पश्चादचिरेणैव कालेन दर्शकम् । पञ्चषादिभिरेव दिवसे शुभाशुभकर्म-तत्फलसम्बन्धसाक्षात्कारो यत्रेत्यर्थ ।

---

[2]'सा चेय प्रमिति प्रत्यक्षपरा । जिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशात् प्रतिपद्यमानो लिङ्गदर्शनेनापि बुभुत्सते । लिङ्गदर्शनानुमित च प्रत्यक्षतो दिदृक्षते । प्रत्यक्षत उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्तते । पूर्वोक्तमुदाहरण अग्निरिति' ।

अर्थात् सब प्रकारकी प्रमितिका पर्यवसान प्रत्यक्षमें होता है । क्योकि आप्तोपदेश अर्थात् शब्द प्रमाणसे गृहीत अग्नि आदि अर्थको मनुष्य अनुमानसे भी जाननेकी इच्छा करता है । अनुमानकेद्वारा ज्ञात अर्थको भी प्रत्यक्षसे देखना चाहता है । अर्थका प्रत्यक्ष हो जानेके बाद जिज्ञासा समाप्त हो जाती है । पहिले कहे हुए अग्निको ही इसका उदाहरण समझना चाहिए ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'सर्वा च प्रमा प्रत्यक्षपरा' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोंमे मुद्रित हुआ है । अर्थकी दृष्टिसे वह पाठ ठीक ही है । परन्तु ग्रन्थकारने उसे प्रमाण रूपसे वात्स्यायन-भाष्यसे उद्धृत किया है । वहाँ यह पक्ति इस रूपमें नही अपितु 'सा चेय प्रमिति प्रत्यक्षपरा' इस रूपमें पाई जाती है । उसी रूपमें उद्धृत की जाती तो ठीक था । परन्तु हमने यहाँ उस पूर्वपाठमें कोई परिवर्तन नही किया है । क्योकि अर्थकी दृष्टिसे वह अशुद्ध नही है ।

सिद्धान्तव्याख्यामे 'सर्वकर्मानुदर्शकम्' पदका उपयोग—

इस अनुच्छेदमें वृत्तिकारने वेदादिसे नाट्यवेदकी यह विशेषता बतलाई है कि वेद आदिसे परोक्ष ज्ञान होता है । नाट्यसे प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है । इसपर यह शङ्का होती है कि प्रत्यक्ष रूपमें सदाचार यज्ञादिको देख कर भी धर्मका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । फिर नाट्यकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर अगले अनुच्छेदमे यह देगे कि प्रत्यक्ष रूपसे दिखलाई देने वाले यज्ञादिका फल उस समय प्रत्यक्ष नही होता है अपितु प्राय जन्मान्तरमें या कालान्तरमें मिलता है । इसलिए उस कर्म तथा उसके फलका कारण-कार्यभाव सम्बन्ध गृहीत नही होता है । नाटकमें थोडे समयके भीतर ही उन कर्मों और उनके फलोका सम्बन्ध गृहीत हो जाता है । इसलिए यह अधिक श्रद्धोत्पादक एव शिक्षादायक होता है ।

अभिनव०—[प्रश्न]—इस प्रकार भी प्रत्यक्ष रूपसे सदाचार-भूत यज्ञादिके देखनेसे इस [नाट्य] का क्या भेद रहता है ? [यह प्रश्न है] ।

अभिनव०—[उत्तर—उसी भेदको श्लोकमे 'सर्वकर्मानुदर्शकम्' पदसे दिखलाया गया है । इस अन्तरको] कहते हैं कि—किए जानेवाले समस्त कर्मोंके बाद, शीघ्र ही उनके फलको दिखलानेवाले [नाट्य] को । [अर्थात्] पाच छ आदि दिनोमे ही शुभाशुभ कर्म और उनके फलके सम्बन्धका साक्षात्कार जिसमे हो जाता है । [इस प्रकारका नाट्य है । यज्ञादिके प्रत्यक्ष देखनेसे यह बात नहीं होती है] ।

इस अनुच्छेदमे वृत्तिकारने प्रत्यक्ष रूपसे दीखने वाले यज्ञादि कर्मोंकी अपेक्षा नाट्यमें दीखने वाले यज्ञादि या अन्य कर्मोंकी यह विशेषता बतलाई है कि लौकिक यज्ञादिका फल तुरन्त नही दीखता है इसलिए उनसे निर्दिष्ट फल प्राप्त होता भी है या नही यह विश्वास देखने वालेको नही होता है । नाटकका अभिनय पाच छ घटोमें ही समाप्त हो जाता है । इसलिए उसमें किए

---

१. सदाचारादि । २ न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य १-१-३ ।

कस्य इत्याह—यो य कश्चिदस्मात् क्षणादूर्ध्वं भविष्यति लोकस्तस्य। उपदेश्यस्य इत्यर्थ.।

'अनुकार्याभिप्रायेणात्र 'भविष्यत' इति कैश्चिद् व्याख्यातम्। न च शब्देन भूतवर्तमानग्रहणम्। इत्यधरोत्तरीभूतम्। वृत्तराजर्षिवंशकीर्तनादे-र्हि प्रधानतया स्वकण्ठेनाभिधान युक्त, न तु भविष्यत। इत्यास्तामेतत्।

तस्माद् व्युत्पाद्याभिप्रायेणैव लोकस्येति व्याख्येयम्।

जाने वाले कर्मोंका फल तुरन्त देखनेको मिल जाता है इसलिए प्रत्यक्ष देखे यज्ञादिकी अपेक्षा वह अधिक शिक्षाप्रद एव विश्वासोत्पादक होता है। इसमें पाच छ दिनोंमें फलका प्रत्यक्ष हो जाता है यह जो कहा है वह नाटय-रचनाकी प्रक्रियाकी दृष्टिसे कहा है। रामादिके जीवनव्यापी वृत्तको नाटकमें इस प्रकार दिखलाया जाता है कि वह सारा वृत्तान्त पाच छ दिनका-सा प्रतीत होता है।

'भविष्यत लोकस्य' पद सामाजिकपरक है—

इस अनुच्छेदमें नाटयको 'सर्वकर्मानुदर्शक' कहा है। वह किसको कर्म और उनके फलके सम्बन्धको दिखलावेगा इसको अगले अनुच्छेद में कहते हैं—

अभिनव०—किसको [कर्म और उनके फलके सम्बन्धको दिखलावेगा] यह बतलाते हैं कि—जो कोई लोक इस क्षण [अर्थात् नाट्य-रचना] के बाद होंगे उनको अर्थात् उपदेश्य [सामाजिक] को दिखलावेगा।

इस पदकी अनुकार्यपरक व्याख्याका खण्डन—

पूर्ववर्ती किसी टीकाकारने 'भविष्यतश्च लोकस्य' की व्याख्या 'अनुकार्य' राजा आदिके रूपमें की है। अर्थात् आगे होने वाले जिन राजादिके चरित्रोंके अभिनय किए जावेंगे उनके कर्मों और उनके फलके सम्बन्धको दिखलावेगा यह उनका अभिप्राय है। परन्तु वृत्तिकार 'उपदेश्य' अर्थात् सामाजिकको कर्म और फलके सम्बन्धका प्रत्यक्ष करावेगा इस प्रकारका अर्थ करते हैं। और यही ठीक भी है। इसी बातको वे अगले अनुच्छेदमें इस प्रकार लिखते हैं कि—

अभिनव०—किन्हीं [पूर्ववर्ती टीकाकारों] ने 'भविष्यत.' आगे होनेवाले इस [षष्ठ्यन्त पद] की व्याख्या अनुकार्यके अभिप्रायसे की है। [किन्तु वह ठीक नहीं है क्योंकि] भूत और वर्तमान [अनुकार्यों अर्थात् रामादि] का [तो यहां] शब्दसे ग्रहण नहीं किया गया है [केवल भविष्य अनुकार्योंकी चर्चा कर दी गई है।] इससे तो यह सब उलट-पुलट होगया है। [क्योंकि] भूतकालके राजर्षियोंके वंशादिका कीर्तन प्रधान होनेसे शब्दकेद्वारा कहा जाना चाहिए था, न कि आगे होने वालोंका। इसलिए [अनुकार्यके अभिप्रायसे की गई यह व्याख्या ठीक नहीं है] उसे जाने दो।

अभिनव०—इसलिए होने वाले लोकको दिखलावेगा इस प्रकार 'लोकस्य' [को कर्म षष्ठी मान कर उसकी] उपदेश्य [सामाजिक] परक व्याख्या ही करनी चाहिए।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'कैश्चित्' पद हमने बढ़ाया है। बड़ोदावाले दोनों संस्करणोंमें यह मुद्रित नहीं हुआ है। पर उसके बिना अर्थकी सङ्गति ठीक तरहसे नहीं लगती है। इसलिए उसका होना आवश्यक है ऐसा मानकर हमने उसका समावेश कर दिया है।

---

१. अनुकार्याभिप्रायेनात्र।

एवमपि तत्रैव केन लोक प्रवर्त्येत इत्याह—'अर्थ्यम्' । हृद्यतया सर्वजनानामपि नानाधिकारत्वेनाभिलषणीयमित्यर्थ । ननु प्रथममज्ञातपरमार्थे कथमभिलषणम् ? आह-'यशस्यम्' । सर्वत्र हृद्यतया प्रथितम् । १४ ।

न केवल प्रधानपुरुषार्थोपायदर्शक यावत् सर्वेषा शास्त्राणा कलाप्रधानाना येऽर्था गीतनृत्तवाद्यादयस्तै सम्पन्न युक्तम् । तथा सर्वाणि शिल्पानि चित्र-पुस्तादीनि प्रवर्तयति [1]स्वोपयोगित्वेन आक्षिपति इति । एवमेकेन यत्नेन समस्तवस्तुसिद्धि-र्यतो भवति तन्नाट्यमित्युक्त भवति ।

अर्थ्यम् और यशस्यम् पदोंकी सिद्धान्त व्याख्या—

इस समय १४वें श्लोककी व्याख्या चल रही है । इस व्याख्याका आरम्भ अन्य टीकाकारो द्वारा की गई व्याख्याके खण्डनसे हुआ है । अन्य टीकाकारोने श्लोकके 'धर्म्यम्', 'अर्थ्यम्' तथा 'यशस्यम्' पदोकी जो व्याख्या की थी उसका खण्डन करके वृत्तिकारने 'तस्मादयमत्रार्थ' से अपनी व्याख्या प्रारम्भ की है । इसमें यहाँ तक श्लोकके 'अर्थ्यम्' तथा 'यशस्यम्' इन दो पदोको छोड कर शेष सब पदोकी सपदकृत्य व्याख्या हो गई है । अब उसी शैलीसे वृत्तिकार अगले अनुच्छेदमें 'अर्थ्यम्' तथा 'यशस्यम्' पदोकी व्याख्या करते हुए उनका पदकृत्य अर्थात् विशेष प्रयोजन या उपयोगिता दिखलाते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—यह सब होनेपर भी लोक उसीमे [अर्थात् नाट्यमे] किस कारणसे प्रवृत्त होता है ? इस [शङ्काकी निवृत्ति] केलिए कहते हैं—क्योकि [वह] 'अर्थ्य' है । अर्थात् मनोहर होनेके कारण [शास्त्रोके अधिकारी विद्वान् ब्राह्मण आदि तथा शास्त्रोके अनधिकारी अशिक्षित शूद्र आदि] भिन्न-भिन्न प्रकारके सभी लोगोके लिए [नाट्य] अभिलषणीय है । [इसीलिए सब लोगो की उसमे प्रवृत्ति होती है । इस पर यह शङ्का होती है कि नाट्य वस्तुत मनोहर होता है यह बात तो उसके देखने के बाद विदित होती है ।] किन्तु पहिले [उसकी वास्तविकता] जाने बिना, अभिलषणीय कैसे हो सकता है ? [इस शङ्काका उत्तर देनेकेलिए] कहते हैं कि—'यशस्य' अर्थात् अपनी इस मनोहरताकेलिए [नाट्य] सर्वत्र प्रसिद्ध है । [उसकी इस प्रसिद्धिके कारण जिन लोगोने उसको कभी नहीं देखा है उनकी भी उसको देखनेकी इच्छा होती है । नाट्य उनकेलिए भी अभिलषणीय होता है] । १४ ।

यहाँ तक १४वें श्लोककी व्याख्या करके अब १५वें श्लोककी व्याख्या आरम्भ करते हैं—

सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नम्—

अभिनव०—[नाट्य] न केवल मुख्य पुरुषार्थ [अर्थात् मुख्य रूपसे चारो पुरुषार्थो] के उपायोका ही प्रदर्शक है अपितु कलाप्रधान सभी शास्त्रोके जो प्रतिपाद्य अर्थ गीत, नृत्त, वाद्यादि हैं उनसे भी सम्पन्न अर्थात् युक्त है । और 'चित्रकला' तथा [पुतली खिलौने गुडिया आदि बनानेकी] 'पुस्त-कला' आदिका [भी] प्रवर्तक है । अर्थात् अपने उपयोगमे आनेके कारण उनका भी आक्षेप करा लेता है । इस प्रकार एक ही यत्नसे समस्त वस्तुओकी सिद्धि जिसके द्वारा होती है वह नाट्य है ।

---

१ सोपयोगत्वेन । स्वोपयोगत्वेन ।

तच्च 'सेतिहासम्' । 'इतिहासो दशरूपकं सप्रभेदम्[1] । इतिरेवमर्थे प्रत्यक्षनिर्देशं द्योतयति । [2]ह-शब्दो निश्चयार्थः, इह आगमपरः । आसन आस । एवम्प्रकारा प्रत्यक्ष-परिदृश्यमाना [3]आगमिका अर्था. कर्मफलसम्बन्धस्वभावा यत्रासते, तेन इतिहासेन सह इति सेतिहासम्[4] ।

इस अनुच्छेदमें 'सर्वशिल्पप्रवर्तकम्' पदकी व्याख्या करते हुए वृत्तिकारने चित्र-पुस्तादिका ग्रहण शिल्प पदसे किया है । इनमेंसे चित्र पदका अर्थ तो प्रसिद्ध है परन्तु 'पुस्त' पदका अर्थ अत्यन्त अप्रसिद्ध है । अमरकोशमें 'पुस्तं लेप्यादिकर्मणि' लिखकर लेप्यादि कार्यको 'पुस्त' नामसे कहा है । इसकी व्याख्या करते हुए उसके टीकाकारने लिखा है कि—

'लेप्यं मृदा पुत्तलिकाकरणम् । आदिना काष्ठपुत्तलिकादि कर्म गृह्यते । तत्र पुस्तमित्येकम् । यदुक्तम्—

> मृदा वा दारुणा वापि वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा ।
> लोहरत्नैः कृते वापि पुस्तमित्यभिधीयते ॥

अर्थात् मिट्टी, लकडी, कपडा, चमडा, लोहा अथवा रत्न आदिसे निर्मित पुतली आदि खिलौनोको 'पुस्त' कहा जाता है ।

सेतिहासम् पदकी व्याख्या—

अभिनव०—और वह [नाट्यवेद] इतिहाससे युक्त [होगा] । यहां इतिहास [पद] भेदोपभेद सहित दशरूपक [का वोधक] है । ['इति ह आस' इन तीन भागोको मिला कर 'इतिहास' पद वनता है । इस तीनो अवयवोका अर्थ इस प्रकार है कि इनमें से] 'इति' [पद] 'इस प्रकारके' इस अर्थमें है और प्रत्यक्ष निर्देशको सूचित करता है । 'ह' पद 'निश्चयार्थक' है, और यहां [परम निश्चय रूप] आगम-परक है । 'आस' [पद] 'होने' अर्थका वोधक है । [इस प्रकार इन तीनो पदोके योगसे वने हुए 'इतिहास' पदका सम्मिलित सम्पूर्ण अर्थ यह हुआ कि नाटकोमें] प्रत्यक्ष रूपमे दिखलाई देने वाले इस प्रकारके कर्म और उनके फलोंके सम्वन्ध [को प्रकाशित करने] के स्वभाव वाले, वेद-प्रतिपादित [अर्थोंके समान परम प्रामाणिक] अर्थ जिसमे होते हैं [वह दशरूपक यहां 'इतिहास' पदसे कहा जाता है] । उससे युक्त ['नाट्यवेदकी रचना मैं करूंगा' यह वात 'नाट्यवेदं सेतिहासं करोम्यहम्' इससे कही गई है ।]

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्व संस्करणोंमें अत्यन्त अशुद्ध रूपमें मुद्रित हुआ था । इसकी पहिली पंक्तिमें 'इतिहासोपदेशकरूपं सप्रभेदम्' इस प्रकारका पाठ छपा था । परन्तु उसकी ठीक सङ्गति नही लगती है । 'इतिहास' उपदेशकरूप हो सकता है पर उसके साथ 'सप्रभेद' की कोई सङ्गति नही है । 'इतिहास' शब्दसे भेदोपभेद सहित दस प्रकारके रूपकोका ग्रहण करना चाहिए यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । इस अर्थकी दृष्टिसे यहां 'इतिहासो दशरूपकं सप्रभेदम्' यह पाठ होना चाहिए । इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—इसी प्रकार इसी अनुच्छेदमें 'ह इह-शब्द आगम' यह पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है पर वह भी अशुद्ध है । उसकी भी सङ्गति नहीं लगती है । 'ह' शब्द 'निश्चय' के अर्थमें प्रयुक्त

---

१ भ ३ इतिहासोपदेशकरूपं सप्रभेदम् ।   २. भ. ह इह शब्द आगम ।
३. आगतिकार्था. भ आगमितार्था. ।   ४ सेनेतिहासेन सहेतिपाठे सम्यगोऽपाठः ।

'इतिहासम्' इति पाठे तु मत्वर्थीयोऽकार.[1]।

इतिर्ज्ञान, तस्य हासो हर्षपूर्वको विकासो यत इति केचित्। [2]तल्लक्षणं च 'इत्थं किल आस'। स चात्र रूपकभेदानां भण्यते[3]।

होता है। उसे यहाँ परम निश्चय रूप आगमके अर्थमें लिया गया है, यह वृत्तिकारका अभिप्राय प्रतीत होता है। इसके बोधनकेलिए 'ह-शब्दो निश्चयार्थ, इह आगमपर.' यह पाठ उचित प्रतीत होता है। अतः हमने उन्ही पाठोको प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—['सेतिहासम्' के स्थानपर] 'इतिहासम्' ऐसा पाठ माननेपर तो मत्वर्थमे अकार-प्रत्यय है [यह समझना चाहिए]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पूर्वसस्करणोमें 'सहेतिपाठे मत्वर्थीयोऽकार' इस प्रकारका पाठ मुद्रित हुआ था। वह अशुद्ध था। उसके स्थान पर 'इतिहास इति पाठे' ऐसा पाठ होना चाहिए था। 'नाटचाख्य पञ्चम वेद सेतिहास करोम्यहम्' मूल श्लोकके इस पाठके स्थानपर वृत्तिकारको इस श्लोकका दूसरा पाठ भी कही मिला है। उसमें 'सेतिहासम्' के स्थानपर केवल 'इतिहास' पाठ रखा गया है। वृत्तिकार उस पाठान्तरकी भी सङ्गति अगले अनुच्छेदमे लगाते हैं। उनके मतमें 'इतिहासम्' पद भी यहाँ 'सेतिहास' के अर्थमें ही लिया जा सकता है। इस सङ्गतिके लिए वे 'इतिहास' शब्दसे मत्वर्थीय अकार मान कर उस शब्दकी सिद्धि करनेका मार्ग अपनाते हैं। धनवान् आदि शब्द मतुप्-प्रत्ययके योगसे बनते हैं। धन जिसके पास है या धनसे युक्त व्यक्ति धनवान् कहलाता है। 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' ५-२-९४ इस सूत्रसे मतुप्-प्रत्यय होता है। इसी मतुप्-प्रत्ययके अर्थमें कुछ अन्य प्रत्ययोका भी विधान किया गया है। उनको ही 'मत्वर्थीय-प्रत्यय' कहा जाता है। इनमें 'अर्श आदिभ्योऽच्' ५-२-१२७ सूत्रसे अर्श आदि शब्दोसे मत्वर्थमें अच्-प्रत्ययका विधान किया गया है। 'अर्श आदि' गणके आकृतिगण होनेसे इस सूत्रकेद्वारा 'इतिहास' शब्दसे भी मत्वर्थीय अच्-प्रत्यय, फिर यचि भम् १-४-१८ सूत्रसे 'भ-सज्ञा' और 'यस्येति च' ६-४ १४८ सूत्रसे इतिहास शब्दके अन्तिम अकारका लोप करके हलन्त हुए सकारको अच्-प्रत्ययके अवशिष्ट अकारके साथ मिला देनेपर 'इतिहास' यह मत्वर्थीय पद बन जाता है। और उसका अर्थ 'सेतिहास' के समान ही 'इतिहास-युक्त' हो जाता है। छन्दमें भी कोई दोष नही आता है। इसलिए वृत्तिकारने मत्वर्थीय अकार मान कर 'इतिहास' पाठकी सङ्गति लगाई है। और उसको 'सेतिहास' का समानार्थक ही माना है। अत यहा 'सहेति पाठे मत्वर्थीयोऽकार' के स्थानपर 'इतिहासमिति पाठे मत्वर्थीयोऽकार' यह पाठ होना चाहिए। इसलिए सशोधित रूपमें हमने इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—'इति' [पद] ज्ञान-परक है, उसका हास अर्थात् हर्ष-पूर्वक विकास जिसमे होता है [वह 'इतिहास' कहलाता है। यह इतिहास पदका अवयवार्थ है] यह किन्ही [व्याख्याकारो] का मत है। [उन्हींके मतानुसार] 'इस प्रकारसे निश्चय-पूर्वक पहिले हुआ था' यह उसका [इतिहासका] लक्षण है। और यहा वह [इतिहास] रूपकके भेदोका कहा जायगा। [अर्थात् 'इतिहास' शब्दसे 'यहा रूपकके भेदोका ग्रहण करना चाहिए]।

---

१ सहेति पाठे मत्वर्थीयोऽकार। २ अ इतिहासश्च तल्लक्षणमित्थ किलासनेत्रय-रूपकभेदाना भण्यते। ब किलासन यत्र। ३. म दृश्यते।

'नाट्य-शब्देन च दशरूपक, तदुपयोगवदेव[2] 'चतुर्हस्तादिलक्षरणं शास्त्रम्। तत्सहितस्यैव करणीयत्वेन सङ्कल्प। अन्यथा बुद्धया कलितस्यापि नाटयस्य कथमन्यत्र सक्रमरणम्। तेन च विना कथ प्रयोग.।

पाठसमीक्षा—'इतिहासश्च तल्लक्षरणमित्य किलासनत्रयरूपकभेदानां भण्यते' इस पूर्व-मुद्रित पाठका कोई सुसङ्गत अर्थ नही निकलता है। उसके स्थानपर 'तल्लक्षरण 'इत्य किल आस'। स चात्र रूपकभेदाना भण्यते' इस प्रकारका पाठ माननेपर अर्थकी सङ्गति लग जाती है। इसलिए हमने पूर्व-पाठके निकटतम इस सशोधित पाठको ही प्रस्तुत किया है।

रचनाके सङ्कल्पमें शिक्षरण भी सन्निहित है—

अभिनव०—[मूल श्लोकके 'नाट्याख्यं' पदमे आए हुए] नाट्य-शब्दसे दशरूपक और उनके [अभिनयके] शिक्षरणसे युक्त [चार हाथ] चतुर्भुज रूप आदि [के शिक्षक] शास्त्रका ग्रहरण होता है। [क्योकि] उस [शिक्षरण] के सहित ही [नाट्यवेद] की रचना करनेका [यह] सङ्कल्प [किया जा रहा] है। अन्यथा नाट्यको बुद्धिसे समझ लेने पर भी उसको दूसरे तक कैसे पहुँचाया जा सकेगा। और उस [शिक्षाद्वारा दूसरोको सिखलाने] के विना उसका प्रयोग [अभिनय] कैसे हो सकेगा ?

अर्थात् यहाँ ब्रह्माजी नाटयवेदकी रचना करनेका जो सङ्कल्प कर रहे हैं उसके साथ उसकी शिक्षाकी व्यवस्थाका भी सङ्कल्प कर रहे हैं। अन्यथा यदि उसकी शिक्षाकी व्यवस्था न की जाय तो उसका प्रयोग या अभिनय होना सम्भव नही है। यहाँ वृत्तिमें जो 'उपयोग' शब्द आया है वह शिक्षरणका वाचक है। 'आख्यातोपयोगे' १-४-२९ इस पाणिनीय-सूत्रमें भी 'उपयोग' शब्दका यही अर्थ किया गया है। महाभाष्यकारने 'उपयोगो नियमपूर्वक विद्यास्वीकार' लिख कर नियम पूर्वक विद्याके अध्ययनको ही उपयोग शब्दका वाच्यार्थ माना है। उसी अर्थमें यहाँ वृत्तिकार ने उपयोग-शब्दका प्रयोग किया है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-सस्करणोमें बहुत अशुद्ध मुद्रित हुआ है। 'उपदेशशब्देन दशरूपक' अर्थात् उपदेश-शब्दसे दशरूपकका ग्रहरण होता है इस प्रकारका जो पाठ पूर्व-सस्करणोमें छपा है वह नितान्त अशुद्ध है। 'उपदेश' शब्द १४वी कारिकामें आया था। उस कारिकाकी व्याख्या पहिले हो चुकी है। अब यह १५वी कारिकाकी व्याख्या चल रही है। इसमें 'उपदेश' शब्द कहीं नहीं आया है। इसलिए इसकी व्याख्यामें यहाँ दिया हुआ 'उपदेशशब्देन' पाठ अशुद्ध और असङ्गत है। इस कारिका में 'नाटय' शब्द आया है। उसकी व्याख्या करना शेष है। उसीकी व्याख्या यहाँ की जा रही है। इसलिए यहाँ 'उपदेशशब्देन' के स्थानपर 'नाटयशब्देन' यह पाठ होना चाहिए। इसी प्रकार 'द्विहस्तादिलक्षरणनाटयवेदशास्त्र' इस पाठके स्थानपर 'चतुर्हस्तादिलक्षरण शास्त्रम्' यह पाठ उपयुक्त है। दो हाथ तो स्वाभाविक हैं, उनके अभिनयके शिक्षणकी आवश्यकता नही है। चतुर्भुज रूपका अभिनय करनेकेलिए शिक्षणकी आवश्यकता होती है। इस लिए नाटय शब्दसे दशरूपकोंके साथ चतुर्भुज रूपके अभिनयकी शिक्षा देने वाले शास्त्रका भी ग्रहण होता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इस दृष्टिसे यहाँ 'द्विहस्तादिलक्षरण' के स्थान पर 'चतुर्हस्तादिलक्षरण शास्त्रम्' यह पाठ ही उपयुक्त प्रतीत होता है। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इन्ही पाठोको प्रस्तुत किया है।

---

१. उपदेशशब्देन। २ भ तदुपयोगावेव यदेश। ३. द्विहस्तादिलक्षरणनाटयवेदशास्त्र।

कुत्राङ्गे कस्य वेदस्योपयोग इति दर्शयति 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदादिति'-

भरत०—जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामभ्यो[1] गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् [2]रसानाथर्वणादपि ॥ १७ ॥

इह 'पठ व्यक्तायां वाचि' इत्युक्तम् । व्यक्तत्वं विवक्षाविशिष्टस्वार्थार्पणक्षमत्वम् । तच्च काक्वध्याय-वक्ष्यमाणस्वरालङ्कारादिसामग्रीयोजनेन भवतीति तयोपस्कृतं पाठ्य-मुच्यते । तच्च प्राधान्यात् प्रथममुपात्तम् ।

पाठसमीक्षा—इसके अतिरिक्त द्वितीय संस्करणके पाठमें 'चत्वारो वेदा' के बाद 'चतुर्भ्यो वेदेभ्य' यह पाठ स्पष्ट रूपसे भ्रम-स्थानमें मुद्रित है। उसको हटा कर यदि 'चत्वारो वेदा अङ्गानां सम्भवा यस्य' इस रूपमें पाठ करदिया जाय तो उससे स्पष्ट रूपसे इस पदका दूसरे प्रकारका विग्रह निकल आता है। और यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार यहां दो प्रकारकी व्याख्या करना चाहते हैं। इस प्रकार हमने जो संशोधन प्रस्तुत किया है उससे ग्रन्थकारके मनमें स्थित जो दो प्रकारकी व्याख्याकी भावना है यह साकार हो जाती है। द्वितीय संस्करणमें जो संशोधित पाठ दिया गया है उसमें इस दो प्रकारकी व्याख्या वाली ग्रन्थकारकी मुख्य-भावनाकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। इस लिए वह पाठ ठीक नहीं है। 'सम्भव' पदकी द्विविध व्याख्या ही इस प्रकरणका प्राणभूत तत्त्व है। जिस पाठमें उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती है वह ग्रन्थकारके अभिप्रायको व्यक्त नहीं करता है इसलिए वह सर्वथा उपेक्षणीय है ॥१४-१६॥

किस वेदसे किस अङ्गका ग्रहण हुआ—

अभिनव०—[नाट्यके] किस अङ्ग [की उत्पत्ति] में किस वेदका उपयोग [हुआ] है इस बातको 'जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्' इत्यादि [अगले श्लोक] केद्वारा दिखलाते हैं—

भरत०—ऋग्वेदसे [नाट्यके प्रथम अङ्ग] पाठ्य [अर्थात् संवाद या गद्य-भाग] को [ब्रह्माने नाट्यवेद की रचना करते समय] लिया। सामवेदसे [उसके गीत रूप होनेके कारण नाट्यके द्वितीय भाग] गीतका ग्रहण किया। यजुर्वेदसे [नाट्यके तृतीय अङ्ग] अभिनयको और [नाट्यके चतुर्थ अङ्ग] रसोंको अथर्ववेदसे लिया। १७।

ऋग्वेदसे पाठ्यका ग्रहण—

अभिनव०—यहां ['पाठ्य' शब्दका मूलभूत] 'पठ' धातु व्यक्त वाणीके अर्थमें [आता] है यह बात [धातुपाठमें] कही गई है। [वाणी अर्थात् वाक्योंका] व्यक्तत्व [अर्थात् स्पष्टता] उनके अपने विवक्षा-विशिष्ट [अर्थात् जिस अर्थको उस शब्दकेद्वारा वक्ता कहना चाहता है उस] अर्थको बोधन करनेकी क्षमताको कहते हैं। और वह [विवक्षितार्थको बोधित करनेकी क्षमता] 'काक्वध्याय' [अर्थात् काक्व-ध्याय नामसे प्रसिद्ध इस नाट्यशास्त्रके १७ वें अध्याय] में कहे जाने वाले स्वर अलङ्कार आदि समग्रीके समन्वयसे होती है। इसलिए उस [स्वर-अलङ्कार आदि रूप सामग्रीकी योजना] से युक्त [संवाद] को [ही] 'पाठ्य' कहा जाता है। [नाट्यमें] उसकी प्रधानता होनेके कारण ही सबसे पहिले उसका ग्रहण किया गया है।

---

१ न सामतो। २ व नृत्तानाथर्वणादपि।

तथा हि वक्ष्यति—

वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषा तनूः स्मृता ।
अङ्ग-नेपथ्य-सत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ॥ [ना० १४-२]

इति । अत एवाभिनयान्तर्भूतत्वेऽपि पृथगुपात्तम् ।

तद् ऋग्वेदाद् गृहीतम् । तस्य त्रैस्वर्यप्रधानस्य [1]स्तोत्रशस्त्रद्वारेण यागोपकारित्वात् । पाठ्यमपि च त्रैस्वर्योपेतम् । ऐकस्वर्ये [2]काक्वभावाच्छ्रुत्यादौ गीतरूपापत्तेरिति हि वक्ष्याम । [ना० शा० १७] ।

अभिनव०—जैसा कि [पाठ्य-भागकी प्रधानताके प्रतिपादन करनेकेलिए नाट्यशास्त्रके १४वें अध्यायके द्वितीय श्लोकमें] कहेंगे—

अभिनव०—[नाट्यका प्रयोग करनेके समय नटोंको] वाणीके [शुद्ध और स्पष्ट प्रयोग करनेके] विषयमें विशेष रूपसे यत्न करना चाहिए क्योंकि इसीको नाट्य का 'शरीर' कहा जाता है। [नाट्यके अन्य अङ्ग जैसे] आङ्गिक अभिनय, [नेपथ्य अर्थात् वेष-भूषा द्वारा प्रकाशित होने वाला] आहार्य-अभिनय, तथा सात्त्विक [अर्थात् मानसिक] अभिनय वाणीके अर्थको ही व्यक्त करते हैं।

अभिनव०—यह । इसीलिए [चार प्रकारके] अभिनयोंके अन्तर्गत होनेपर भी [वाचिक अभिनयकी] प्रधानताके कारण उसे [यजुर्वेदसे लिए गए अभिनयोंसे] अलग [रूपसे] कहा है। [१ आङ्गिक, २ वाचिक, ३ मानसिक तथा वेष-भूषादि रूप ४ आहार्य ये चार प्रकारके अभिनय माने गए हैं]।

अभिनव०—उस [नाट्यके सर्वप्रधान भाग पाठ्य] को ऋग्वेदसे ग्रहण किया। [उदात्त अनुदात्त और स्वरित रूप] तीनों स्वरोंसे युक्त [त्रैश्वर्यप्रधानस्य] उस [ऋग्वेद] के स्त्रोत्र-शस्त्र द्वारा यागमें उपकारक होनेसे [उससे त्रैस्वर्ययुक्त पाठ्यभागको लिया गया]। पाठ्य [नाट्यका गद्य भाग] भी तीनों स्वरोंसे युक्त होता है। [पाठ्य भागमें यदि तीनों स्वर न होकर] केवल एक स्वर होनेपर कण्ठध्वनिका भेद न होने के कारण [गद्य-रूप पाठ्य भाग भी] गीत-रूप-सा हो जायगा यह बात आगे कहेंगे।

काकु-शब्दका अर्थ 'भिन्न प्रकारकी कण्ठध्वनि' या बोलनेकी शैली होता है। 'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते'। ऋग्वेदके मन्त्रोंके पाठमें सामान्य रूपसे तीनों स्वरोंका प्रयोग होता है। यज्ञ-कर्म आदि विशेष अपवाद रूप स्थलोंमें उस त्रैस्वर्यको बाध कर 'एकश्रुति' का विधान भी किया गया है। जैसे अष्टाध्यायीमें 'एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ १-२-३३ सूत्रसे त्रैस्वर्यका अपवाद रूप 'एकश्रुति' का विधान प्रारम्भ होता है। उसीमें 'यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु, [१-२-३४] उच्चैस्तरां वा वषट्कारः १-२-३५, विभाषा छन्दसि [१-२-३६] आदि तक १-२-३३-३६ सूत्रोंमें विशेष रूपसे 'एकश्रुति' का विधान किया गया है। पर वह सब अपवाद रूप ही है। सामान्यतः

---

१ स्तोत्रशब्दद्वारेण । स्तोत्रशस्त्रद्वारेण ।

२. काक्वभावाभ्यां । न चैकस्वभावाच्च स्वरादौ । म. स्वर्यैकस्वाभावाभ्यां च स्वस्त्यादौ । स्वर्यादौ, स्वरत्यादौ, स्वरित्यादौ ।

पाठ्यगतस्वरप्रसङ्गात् तदनन्तर सामभ्यो गीत जग्राह इत्युक्तम् । उपरञ्जकत्वेन हि पश्चात् तस्याभिधान न्याय्यमिति केचित् । 'गीत प्राणा प्रयोगस्य' इति वक्ष्यमाणत्वात् ।

तदायत्तत्वाद्रसचर्वणाया समुचितमस्यात्रैवाभिधानमित्यस्मदुपाध्याया । [1]चकारेण एतत्तुल्यकक्ष्यतामाह ।

ऋग्वेदमें त्रैस्वर्य ही पाया जाता है। इसी आधारपर यहा ऋग्वेदको 'त्रैस्वर्यप्रधान' कहा गया है। 'ऋग् अर्चनी, अर्च्यते देव-विशेष क्रियाविशेषो वानया सा ऋक्' इस लक्षणके अनुसार ऋग्वेदके मन्त्रोका प्रयोग देवविशेष अथवा क्रियाविशेषकी स्तुतिमें ही किया जाता है। इसलिए यहाँ वृत्तिकारने उसको 'स्तोत्र' द्वारा यागका उपकारक बतलाया है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'काक्वभावाभ्या च स्व स्वादो गीतरूपतापत्तेरिति हि वक्ष्याम' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोमें मुद्रित हुआ था। परन्तु उसका कोई अर्थ ठीक तरहसे नही लगता है। इसलिए वह पाठ अशुद्ध है। उसके स्थान पर 'काक्वभावाच्छ्रुत्यादो गीतरूपापत्ते.' इस प्रकारका पाठ मानना उचित है। इसका यह अभिप्राय है कि सामान्यत ऋग्वेदकी ऋचाए गद्यात्मक हैं गीत रूप नही। गद्यात्मक होनेसे उसमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीनो प्रकारके वैदिक स्वरोका प्रयोग होता है। त्रैस्वर्य माननेपर तो भिन्न-भिन्न प्रकारकी 'काकु' बन जाती है। यदि त्रैस्वर्यके स्थानपर एक स्वर माना जाय तो 'काकु' या भिन्न कण्ठध्वनि नहीं बनेगी और मन्त्रोंका उच्चारण सामवेदके समान गीत रूप हो जावेगा। इस लिए त्रैस्वर्य-प्रधान ऋग्वेदसे लिया हुआ पाठ्य भी त्रैस्वर्य-युक्त ही है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इस अर्थकी दृष्टिसे यहा 'काक्वभावाभ्या च स्वस्वादो' के स्थानपर 'काक्वभावाच्छ्रुत्यादो' यही निकटतम शुद्ध पाठ प्रतीत होताहै। अत हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

सामवेदसे गीतका ग्रहण—

अभिनव०—पाठ्य-विषयक स्वरके प्रसङ्गसे उस [पाठ्य] के बाद सामवेदसे गीतको ग्रहण किया यह कहा गया है। किन्हीं [व्याख्याकारो] का यह कहना है कि [पाठ्यका] उपरञ्जक होनेसे उस [गीत] का पाठ्यके बादको कथन करना उचित है। क्योकि 'गीत नाट्यका प्राण है' यह आगे कहा जाने वाला है।

अभिनव०—हमारे गुरु [श्रीभट्टतोत] का तो यह मत है कि रसका आस्वादन उस [गीत] केद्वारा ही होता है इसलिए इसका यहापर कथन ही उचित है। चकारसे [पाठ्य तथा गीत] इन दोनोकी तुल्यकक्ष्यता [समान महत्त्व] को सूचित किया गया है।

इस कारिकाके प्रथम चरणमें नाट्यके पाठ्य भागको ऋग्वेदसे ग्रहण किया गया इसको दिखलानेके बाद द्वितीय चरणमें सामवेदसे उसके गीत भागके ग्रहण करनेका उल्लेख किया गया है। इस क्रमसे पाठ्य और गीतके ग्रहण करनेका उपपादन भिन्न-भिन्न टीकाकारोने भिन्न-भिन्न तीन प्रकारोसे किया है। पहिला मत यह है कि पाठ्यके प्रसङ्गमें जो स्वरकी चर्चा आई है इसी प्रसङ्गसे पाठ्यके बाद गीतका उल्लेख हुआ है। दूसरा मत यह है कि गीत पाठ्यका उपरञ्जक है अतः पाठ्यके बाद गीतकी चर्चा की है। और तीसरा मत यह है कि गीत रसचर्वणामें सहायक होता है। अत पाठ्यके बाद गीतका उल्लेख किया है। यह अन्तिम मत ग्रन्थकारके गुरु भट्टतोतका मत है।

---

१ म चकारेणैकतुल्यकक्ष्यतामाह ।

एवकारेण गीतमात्र ततो गृहीतं "गीतिषु सामाख्या"[1] इति न्यायात्। तदाधारध्रुवापदयोजनं ऋग्वेदादेवेति दर्शयति। तत एव ध्रुवाध्याये[2] प्रथमं पठिष्यति 'या ऋचः पाणिका.'[3] इत्यादि[4]। घनावनद्धरूप-सामगानक्रियाप्राणभूतकल्प-साम्यात्मकतालसामान्यस्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम्। ततसुषिरात्मकं चाप्यातोद्यं स्वरप्राधान्य-वचनादत्रैव सगृहीतम्।

अभिनव०—एवकारसे [यह सूचित किया गया है कि] केवल गीतमात्रका ग्रहण उस [सामवेद] से किया गया है। क्योंकि 'गीतको ही साम कहा जाता है' इस युक्ति से [सामवेदसे केवल गीत-भागको ही लिया गया है]। उस [गीत] के आधारभूत ध्रुवा [अर्थात् वर्ण-विन्यास] और पद-योजना [आदि] को ऋग्वेदसे ही लिया गया है, इस बातको [एवकार-द्वारा] दिखलाया है। इसी कारणसे 'ध्रुवाध्याय' [अर्थात् इस नामसे प्रसिद्ध, नाट्यशास्त्रके ३२ वें अध्याय] के प्रारम्भमे [द्वितीय श्लोकमे] 'जो ताली [पाणिका] आदि ऋग्वेदसे ली गई हैं' यह कहेगे। 'घन' [अर्थात् झाझ मजीरा आदि ठोस वाद्य] और 'अवनद्ध' [अर्थात् ढोल मृदङ्ग आदि मढ़े हुए वाद्य] रूप सामगानकी प्रक्रियाके प्राण भूत उपकरणोके ताल-मेल रूपमे माने गए ताल-सामान्यका समावेश भी इसीमे [अर्थात् ऋग्वेदसे ली गई सामग्रीमे] हो जाता है। और 'तत' [अर्थात् वीणा सितार आदि जैसे तारोसे युक्त वाद्य] तथा सुषिर [बासुरी आदि जैसे सुषिर-छिद्रयुक्त] वाद्योका भी [ऋग्वेदकी] स्वर-प्रधानताका कथन होनेसे इसीमे [अर्थात् ऋग्वेदसे ली गई सामग्रीमे ही] समावेश हो जाता है।

इस अनुच्छेदमें गीतके आधार रूपमें 'ध्रुवा' और 'पदयोजना' का वर्णन आया है। 'ध्रुवा' का अर्थ हमने वर्ण-विन्यास किया है। नाट्यशास्त्रके 'ध्रुवाध्याय' नामक ३२ वें अध्याय में ध्रुवाओंका निरूपण निम्न प्रकार किया गया है—

वाक्यवर्णा ह्यलङ्कारा यतय पाणयो लया।
ध्रुवमन्योन्यसम्बद्धा यस्मात् तस्मात् ध्रुवाः स्मृताः ॥३२-८॥

अर्थात् वाक्यके वर्णोका विन्यास, अलङ्कार, यति, ताली, लय आदि निश्चित रूपसे एक दूसरेके साथ सम्बद्ध होनेसे 'ध्रुवा' नामसे कहे जाते हैं। इस श्लोकमें 'पाणय' तथा 'या ऋच. पाणिका' इत्यादिमें 'पाणिका' शब्दसे तालीका ग्रहण होता है। गीतके इन सब अङ्गोका ग्रहण ऋग्वेदसे ही किया गया है। साम तो केवल गीतका नाम है इसलिए उससे तो केवल गीत ही लिया गया है। उसके अन्य सहायक सब ही उपकरणोको ऋग्वेदसे ही लिया गया है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

---

१. मीमांसा दर्शन २, १, ३६।

२ 'ध्रुवाध्याये' के बाद पूर्व संस्करणोंमे निम्नस्थ अस्थानपाठ मुद्रित हुआ है—
'वचनादत्रैव संगृहीतम्। घनावनद्धरूपिसामगानक्रियाप्राणभूतकल्पसाम्यात्मकतालसामान्य-स्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम्। आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणा प्रदर्शनगमनादिरूप'

३. ना० शा० ३२, २।

४ 'इत्यादि' के बाद फिर पूर्व संस्करणोंमे निम्नस्थ अस्थान-पाठ मुद्रित हुआ है—
'ततसुषिरात्मकं चाप्यातोद्य स्वरप्राधान्यात्।'

चतुर्विध वाद्य—

सामसे लिए हुए गीत-भागके सहायक उपकरणोमें घन, अवनद्ध, तत और सुषिर चार प्रकारके आतोद्यो अर्थात् वाद्योका भी उल्लेख किया गया है। नाट्यशास्त्रके २८वे अध्यायमें इन चार प्रकारके आतोद्योका परिचय निम्न प्रकार दिया है—

घन चैवावनद्ध च तत सुषिरमेव च।
चतुर्विध तु विज्ञेय आतोद्य लक्षणान्वितम्॥
तत तन्त्रीगत ज्ञेय आनद्ध तु पौष्करम्।
घन तालस्तु विज्ञेयः सुषिरो वश एव च॥ [ना० २८।१-२]

अर्थात् १ घन, २ अवनद्ध, ३ तत और ४ सुषिर चार प्रकारके लक्षणोसे युक्त उत्तम वाद्य होते हैं। इनमे तन्त्री वीणा सितार आदि जिनमें तार फैले होते हैं उनको 'तत' वाद्योके वर्गमें समझना चाहिए। चर्मसे मढे हुए ढोल मृदङ्ग आदि वाद्योको 'अवनद्ध' वाद्योके वर्गमें लिया जाता है। झाझ मञ्जीरा घण्टा-घडियाल आदि ठोस वाद्य 'घन' वाद्योकी श्रेणीमें आते हैं। और बासुरी आदि छिद्रयुक्त वाद्य 'सुषिर' वाद्य कहलाते हैं। इनका ग्रहण सामवेदसे नही ऋग्वेदसे ही किया गया है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

१. अस्त-व्यस्त-पाठका उदाहरण—

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका ही क्या इस कारिकाके तीन चरणोकी अभिनवभारती का पाठ पूर्ववर्ती दोनो सस्करणोमे बड़ा अशुद्ध छपा है। वृत्तिकारने श्लोकके चारो चरणोंकी व्याख्या अलग-अलग की है परन्तु पूर्व-सस्करणोमें उस व्याख्याको अत्यन्त अस्त-व्यस्त रूपमें इस ढगसे छापा है कि उसको अलग-अलग करना क्या समझना भी बड़ा कठिन है। बडोदा वाले दोनो सस्करणोमें इस स्थलका पाठ निम्न प्रकारसे छपा है—

तत एव ध्रुवाध्याये वचनादत्रैव सगृहीतम्। घनावनद्धरूपिसामगानक्रियाप्राणभूत कल्पसाम्यात्मकतालसामान्यस्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम्। आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणा प्रदक्षिणगमनादि-क्रम एव प्रथम पठिष्यति 'या ऋच पाणिका' इत्यादि। तत-सुषिरात्मक चाप्यातोद्य स्वरप्राधान्यात्।

परन्तु पूर्व-सस्करणोमें मुद्रित इस पाठके आधारपर इसका कोई भी अर्थ समझमें नही आ सकता है। यह पाठ अस्त-व्यस्त हो जानेसे एक-दम अज्ञेय बन गया है। 'तत एव ध्रुवाध्याये वचनादत्रैव सगृहीतम्'। इस वाक्यका कोई अर्थ नही निकलता है। इसमेसे 'ध्रुवाध्याये' इस भागका सम्बन्ध वास्तवमें आगे वाक्यके मध्यमें आए हुए' "प्रथम पठिष्यति 'या ऋच पाणिका.' इत्यादि" इस वाक्यके साथ है। परन्तु पूर्व-सस्करणोमें इन दोनों सम्बद्ध भागोके बीच में 'वचनादत्रैव सगृहीतम्। घनावनद्धरूपिसामगानक्रियाप्राणभूतकल्पसाम्यात्मकतालसामान्यस्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम्। आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणा प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव' 'इतना लम्बा पाठ प्रमादवश यो ही छाप दिया गया है। जो एक-दम अस्थान-मुद्रित पाठ है। इसके कारण न तो पहिले वाक्यका ही अर्थ समझमें आता है और न इस लम्बे अ-स्थान-पाठका अर्थ ही समझमें आता है। इसमें भी 'आध्वर्यवकर्म-प्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणा प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव' इतने भागका तो इस द्वितीय चरणकी व्याख्या के साथ कोई सम्बन्ध भी नही है। क्योकि उसमें स्पष्ट रूपसे यजुर्वेदकी चर्चा है। और उसका सम्बन्ध तृतीय चरणकी व्याख्यासे है। द्वितीय चरणकी व्याख्यासे नहीं। इसलिए इतने भागको तो यहाँसे बिल्कुल ही हटाना आवश्यक है। और शेष वाक्यका विन्यास भी प्रकारान्तरसे सशोधित करनेपर ही उसका कुछ अर्थ निकल सकता है। अन्यथा नही।

आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणा प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव', लोहितोष्णीषादेर्नेपथ्यस्य, तेषु-तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्टम्भात्मनः सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयाना ग्रहणम्[2] । वाचिकस्त्वभिनयः पूर्वमेवोक्तः ।

यजुर्वेदसे अभिनयका ग्रहण —

यहाँ तक 'सामभ्यो गीतमेव च' कारिकाके इस द्वितीय चरणकी व्याख्या हुई । आगे 'यजुर्वेदादभिनयान्' इस तृतीय चरणकी व्याख्या करते हैं ।

अभिनव०—अध्वर्यु [यज्ञमे कार्य करने वाले यजुर्वेदके ज्ञाता ऋत्विग् विशेष] का कर्म जिसमे प्रधान रूपसे आया है इस प्रकारके यजुर्वेदमे [प्रयाज अनुयाज आदिमे होने वाले] प्रदक्षिणा-गमन आदि क्रम [के प्रसङ्ग] मे ही अङ्ग-कर्मोका [अर्थात् आङ्गिक अभिनयका, और 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इस वाक्यके अनुसार जब लाल- पगडी पहिन कर ऋत्विक् लोग यज्ञमें प्रदक्षिणा आदि करते हैं उसी समय] लाल-पगड़ी आदिसे वेषका [अर्थात् वेष-भूषा रूप आहार्य-अभिनयका], और उन-उन विशेष कर्मोमे विशेष प्रयत्न [करने] वाले पुरुषोके द्वारा [सम्पाद्यमान अर्थात्] प्रदर्शित किए जाने वाले धैर्य आदिसे [सत्त्व अर्थात्] मानसिक व्यापार [रूप तीसरे प्रकारके सात्त्विक अभिनय] का [ग्रहण] सम्भव होनेसे उस [यजुर्वेद] से [तीनो प्रकारके] अभिनयोका ग्रहण किया गया है । [इस प्रकार प्रकार प्रदक्षिणादि द्वारा आङ्गिक, लोहितोष्णीषादि द्वारा आहार्य, और उपष्टम्भादि द्वारा सात्त्विक तीन प्रकारका अभिनय यहा आगया है और चौथे प्रकारका] वाचिक अभिनय तो पहिले ही ['वाचि यत्नस्तु' आदिमे ऋग्वेदसे लिया हुआ] दिखलाया जा चुका है ।

पाठसमीक्षा—गत अनुच्छेदके समान इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-संस्करणोमें बड़े अस्त-व्यस्त रूपमें मुद्रित हुआ है । उन संस्करणोमें इस स्थलका पाठ निम्न प्रकारसे मुद्रित हुआ है—

आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणा प्रदक्षिणगमनादिक्रमक्रम एव प्रथम पठिष्यति 'या ऋच पाणिका' इत्यादि । ततसुषिरात्मक चाप्यातोद्य स्वरप्राधान्यात् । आथर्वणवेदे तु शान्तिकमारणादिकर्मसु प्राप्तुदर्वपुणाद्यनुभावाना तेषु तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानो-पष्टम्भात्मन सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानामग्रहणम् । वाचिकस्त्वभिनय पूर्वमेवोक्त. ।

इसमे 'प्रथम पठिष्यति या ऋच पाणिका इत्यादि । ततसुषिरात्मकं चाप्यातोद्य स्वर-प्राधान्यात्' इतना पाठ तो द्वितीय चरणकी अभिनवभारतीका इस तृतीय चरणकी व्याख्यामें सम्मिलित हो गया था । और इसके आगे 'आथर्वणवेदे तु शान्तिकमारणादिकमसु नटस्येव तस्यर्त्विज प्राप्तुदर्वपुणाद्यनुभावाना प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना' इतना पाठ अगले चौथे चरणकी व्याख्याका यहाँ जोड़ दिया गया था । इन दोनो भागोको यहाँसे निकाल देने पर जो शेष पाठ बचता है वह इस तृतीय चरणकी अभिनवभारतीका शुद्ध पाठ है ।

---

१. प्रथम पठिष्यति 'या ऋच पाणिका' इत्यादि, ततसुषिरात्मक चाप्यातोद्यं स्वरप्रधान्यात् । आथर्वणवेदे तु शान्तिकमारणादिकर्मसु नटस्येव तस्यर्त्विजः प्राप्तुदर्वपुणाद्यनुभावानां प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना । २. ततोऽभिनयानामग्रहणम् ।

आथर्वणवेदे तु—शान्तिकमारणादिकर्मसु नटस्येव तस्यर्त्विज 'प्रशमवेपथ्वाद्यनुभावाना प्रजा-शत्रुप्रभृतीनां अवधान-ग्रहणादिना[2] 'प्रधानविभावाना, धृतिप्रमोदादिव्यभिचारिणा च परमार्थसता समाहरण प्रधानमिति विभावादिरूपसामग्र्या 'रसात्मकचर्वणासम्भव', इति ततस्तद्ग्रहणमुक्तमिति ।

अथर्ववेदसे रसोंका ग्रहण—

यहा तक 'यजुर्वेदादभिनयान्' इस तृतीय चरणकी व्याख्या समाप्त हुई । अब 'रसानाथवर्णादपि' इस चतुर्थ चरणकी व्याख्या आरम्भ करते हैं—

अभिनव—अथर्ववेदमे तो— [उसमे प्रतिपादित] शान्ति तथा मारण आदि कर्मो-मे [नाटकके] नटके समान उस [अथर्ववेद] के ऋत्विक् [होता] के प्रशम और कम्प [अर्थात् शान्तिक कर्मोके समय उदय होने वाले प्रशम तथा मारणके कर्मोके समय उदय होने वाले वेपथुः कम्प] आदि अनुभावोका, [इसी प्रकार शान्तिक कर्मोमे] प्रजाके शुभचिन्तन [रूप अवधान] और शत्रुके [मारणार्थ] ग्रहण आदिके द्वारा [प्रजा और शत्रु रूप मुख्य आलम्बन] विभावोका, एव वास्तवमे होने वाले धृति प्रमोद आदि व्यभिचारी भावोका मुख्य रूपसे संयोग हो जाता है इसलिए ['विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस भरत-सूत्रमे प्रतिपादित विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव तीनोका अथर्ववेदोक्त कर्मोमे एकत्र समाहरण—सयोग हो जानेसे] विभावादि रूप सामग्रीसे रसात्मक आस्वादकी उत्पत्ति हो सकती है इसलिए उस [अथर्ववेद] से उन [रसो] का ग्रहण बतलाया गया है ।

पाठसमीक्षा—गत अनुच्छेदोके समान इस अनुच्छेदका, पाठ भी पूर्व-सस्करणोमें अत्यन्त अस्त-व्यस्त एव अशुद्ध रूपमें मुद्रित हुआ है । बडोदा वाले दोनो सस्करणोमें इस स्थलका पाठ निम्न प्रकारसे छपा है—

'आथर्वणवेदे तु-शान्तिकमारणादिकर्मसु नटस्येव तस्यर्त्विज प्राप्दुदवंपुणाद्यनुभावाना प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना लोहितोष्णीपादे-र्नेपथ्यस्य तेषु तेपु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्न-पुरुषसम्पद्यमानोपष्टम्भात्मन, सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानामग्रहणम् । वाचिकस्त्वभिनयः पूर्वमेवोक्त । प्राधान्यविभावाना धृतिप्रमोदादिव्यभिकारिणा च परमार्थसता समाहरणं प्रधानमिति विभावादिसामग्रीरूपरसात्मकचर्वणासम्भव इति ततस्तद्ग्रहणमुक्तमिति' ।

यहा चतुर्थ चरणकी व्याख्याके बीचमें 'लोहितोष्णीपादेर्नेपथ्यस्य तेपु-तेपु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्टम्भात्मन सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानामग्रहणम् । वाचिकस्त्वभिनय पूर्वमेवोक्त.' इतना पाठ अप्रासङ्गिक रूपसे आगया है । इस पाठका सम्बन्ध इस चतुर्थ चरणकी व्याख्यासे नही अपितु तृतीय चरणकी व्याख्यासे है । इसलिए हमने उसको यहासे निकाल कर तृतीय चरणकी अभिनवभारतीमें पिछले अनुच्छेदमें समाविष्ट कर दिया है ।

---

१ प्राप्दुदवं पुणाद्यमुभावाना ।

२ प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना लोहितोष्णीपादेर्नेपथ्यस्य तेषु तेपु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्टम्भात्मन सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानामग्रहणम् । वाचिकस्त्वभिनय पूर्वमेवोक्त ।

३ प्राधान्यविभावाना । ४. विभावादिसामग्रीरूपरसात्मकचर्वणासम्भव ।

इसके अतिरिक्त शेष जो पाठ इस चतुर्थ चरणकी व्याख्यासे सम्बद्ध बचता है उसमें भी चार स्थानों पर अशुद्ध पाठ मुद्रित हुआ है।' १—'प्राप्दुदवेंपुणाद्यनुभावाना' इस पाठका कोई अर्थ नहीं निकलता है। इसके स्थान पर हमने 'प्रशमवेपथ्वाद्यनुभावाना' यह निकटतम संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है। २—'प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना' के स्थानपर 'प्रजाशत्रुप्रभृतीनामवधानग्रहणादिना' पाठ होना चाहिए। ३—'प्राधान्यविभावाना' के स्थानपर 'प्रधानविभावाना' तथा 'विभावादिसामग्री-रूपरसात्मकचर्वणासम्भव' के स्थानपर 'विभावादिरूपसामग्र्या रसात्मकचर्वणासम्भव.' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए था। अत एव हमने संशोधित रूपमें इन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है।

पाठसंशोधनका स्पष्टीकरण—

इस कारिकाके द्वितीय तृतीय और चतुर्थ चरणकी अभिनवभारतीका जो पाठ हमने अपने इस संस्करणमें मूल रूपमें प्रस्तुत किया है वह हमारा संशोधित पाठ है। बडोदा वाले पूर्ववर्ती संस्करणोंमें इस स्थलका पाठ अन्य क्रमसे मुद्रित किया गया था। परन्तु वह नितान्त अशुद्ध और असङ्गत था इसलिए हमको उसे नए सिरेसे क्रमबद्ध और व्यवस्थित करना पडा है। इन दोनो पाठोंके तारतम्यको हृदयङ्गम करनेकेलिए पूर्व संस्करणोंमें मुद्रित पाठको एक बार अविकल रूपमें यहाँ देना आवश्यक है इस लिए हम उसे नीचे उद्धृत कर रहे हैं—

"एत्रकारेण गीतमात्र ततो गृहीत 'गीतिषु सामाख्या' [जै० २-१-३६] इति न्यायात्। तदाधारध्रुवापदयोजनमृग्वेदादेवेति दर्शयति। तत एव ध्रुवाध्याये वचनादत्रैव संगृहीतम्। घनावनद्धरूपिसामगानक्रियाप्राणभूतकल्पसाम्यात्मकतालसामान्यस्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम्। आध्वर्यव-कर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणां प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव प्रथमम्। पठिष्यति 'या ऋच पाणिका.' इत्यादि। ततसुपिरात्मक चाप्यातोद्य स्वरप्राधान्यात्। आथर्वणवेदे तु शान्तिकमारणादिकर्मसु नठस्येव तस्यर्त्विज प्राप्दुदवेंपुणाद्यनुभावाना प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना लोहितोष्णीषा-देर्नेपथ्यस्य च तेषु तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्टम्भात्मनः सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानामग्रहणम्। वाचिकस्त्वभिनयः पूर्वमेवोक्तः। प्राधान्यविभावानां धृतिप्रमोदादिव्यभि-चारिणां च परमार्थसता समाहरण प्रधानमिति विभावादिसामग्रीरूपरसात्मकचर्वणासम्भव इति ततस्तद्ग्रहणमुक्तम्।"

बडोदा वाले पूर्ववर्ती दोनो संस्करणोंमें मूल पाठ इसी क्रमसे दिया गया है। परन्तु यह क्रम ठीक नहीं है। उसमें कहीं द्वितीय चरणकी व्याख्याके बीचमें तृतीय चरणकी वृत्तिका भाग छप गया है और कहीं उसीके बीचमें चतुर्थ चरणकी वृत्तिका भाग आ गया है। इसी प्रकार तृतीय और चतुर्थ चरणकी व्याख्याके बीचमें भी अन्य चरणोंकी व्याख्यासे सम्बद्ध भागका समावेश हो गया है। इस प्रकार पाठका सङ्कर हो जानेसे सारा ही पाठ अशुद्ध और असङ्गत बन गया है। उनका कुछ भी अर्थ समझमें नहीं आता है। हमने उसमें बीच-बीचमें अस्थानमें आए हुए पाठोंको हटा कर पाद टिप्पणीमें दे दिया है और शुद्ध क्रमबद्ध पाठको संशोधित कर ऊपर मूल पाठके रूपमें मुद्रित किया है। जिससे सारी पंक्तियोंका अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। और उनकी सङ्गति लगानेमें कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती है।

इस क्रमनिर्धारणका मार्ग—

इस अस्त-व्यस्त पाठको क्रमबद्ध करने और उसको अधिक स्पष्ट रूपसे समझानेके लिए हम एक दूसरे मार्गका अवलम्बन करते हैं। पहिले हम इस सारे विवाद ग्रस्त पाठको बडोदा-वाले संस्करणोंमें जिस क्रमसे छापा गया है उसी क्रमसे, किन्तु ९ खण्डोंमें विभक्त करके नीचे

दे रहे हैं। इसमें पाठका क्रमतो बडोदा वाले सस्करणोके समान ही है। केवल खण्डोमे उसका विभाजन हमने अपने ढगसे कर दिया है। इस विभाजनसे उसके क्रमको ठीक तरहसे समझनेमें सहायता मिलेगी इसलिए हम उसे ९ खण्डोमे विभाजित करके नीचे दे रहे हैं। इन ९ खण्डोमें कारिका के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ तीनो चरणोकी व्याख्या दी गई है। इसलिए अन्तमें हमें इन खण्डोको तीन अनुच्छेदोमें क्रमवद्ध करना होगा। जिससे प्रत्येक अनुच्छेदमे क्रमवद्ध रूपसे एक-एक चरणकी व्याख्या आजावेगी। उसके अनुसार इनका क्रम निम्न प्रकारसे बनेगा—

द्वितीय चरणकी व्याख्या—१+५+३+६+२ खण्ड

तृतीय चरणकी व्याख्या—४+८ खण्ड

चतुर्थ चरणकी व्याख्या—७+९ खण्ड

१. एवकारेण गीतमात्र ततो गृहीत 'गीतिषु सामाख्या' इति न्यायात्। तदाधार-ध्रुवापदयोजनमृग्वेदादेवेति दर्शयति। तत एव ध्रुवाध्याये

२ वचनादत्रैव सगृहीतम्।

३ घनावनद्धरूपिसामगानक्रियाप्राणभूतकालसाम्यात्मकतालसामान्यस्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम्।

४ आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणा प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव

५ प्रथम पठिष्यति 'या ऋच. पाणिकाः' इत्यादि।

६ ततसुपिरात्मक चाप्यातोद्य स्वरप्राधान्यात्।

७. आथर्वणवेदे तु शान्तिकमारणादिकर्मसु नटस्येव तस्यर्त्विजः प्राड्दुदवैपुण्याद्यनुभावाना प्रजाशत्रुप्रभृतिनावधानग्रहणादिना।

८ लोहितोष्णीषादेर्नेपथ्यस्य तेषु तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्ट-म्भात्मन सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानामग्रहणम्। वाचिकस्त्वभिनय पूर्वमेवोक्तः।

९ प्राधान्यविभावाना धृतिप्रमोदादिव्यभिचारिणा च परमार्थसता समाहरण प्रधान-मिति विभावादिसामग्रीरूपरसात्मकचर्वणासम्भव। ततस्तद्ग्रहणमुक्तमिति।

द्वितीय चरणकी वृत्तिका अनुसन्धान—

यह सब एक-साथ मिला हुआ पाठ पूर्व सस्करणोमें छपा हुआ है। इसमे द्वितीय तृतीय और चतुर्थ तीनो चरणोकी अभिनवभारतीका पाठ अस्त-व्यस्त रूपसे ऐसा रिल-मिल गया है कि उसका कुछ भी अर्थ समझमे नही आता है। इसी क्रमसे मिला कर इस पाठको आप पढ जाइए। उससे आप कोई भी अर्थ नही समझ सकेंगे। क्योकि ये वाक्य जिस क्रमसे छापे गए हैं वह उनका उचित क्रम नही है। इनके अर्थको समझनेके लिए उनको नए ढगसे क्रम वद्ध करना होगा। इनमे पहिले खण्डके वाद पाचवा खण्ड, उसके वाद तीसरा, और उसके वाद छठा, फिर दूसरा खण्ड मिला कर १+५+३+६+२ खण्डोका एक अनुच्छेद बनेगा जिसका सम्बन्ध द्वितीय चरणकी व्याख्यासे है। हमारे सशोधित क्रमके अनुसार यह अनुच्छेद निम्न प्रकार होना चाहिए—

'एवकारेण गीतमात्र ततो गृहीत, 'गीतिषु 'सामाख्या' इति न्यायात्। तदाधारध्रुवापद-योजनमृग्वेदादेवेति दर्शयति। तत एव ध्रुवाध्याये प्रथम पठिष्यति या ऋच पाणिका' इत्यादि। घनावनद्धरूपिसामगानक्रियाप्राणभूतकालसाम्यात्मकतालसामान्यस्वीकृतमत्रैव प्रविष्टम्। ततसुपि-रात्मक चाप्यातोद्य स्वरप्राधान्यवचनादत्रैव सगृहीतम्।'

इस प्रकार १+५+३+६+२ संख्या वाले खण्डोंको मिला कर यह अनुच्छेद बनता है जिसमें द्वितीय चरणकी व्याख्या पूरी होती है। इनमेंसे प्रथम खण्डमें ग्रन्थकारने कारिकामें आए हुए 'एव' पदका यह प्रयोजन दिखलाया है कि सामवेदसे केवल गीतमात्रका ग्रहण किया गया है। क्योंकि 'गीतिषु सामाख्या' इस सिद्धान्तके अनुसार केवल गीतमात्रको ही 'साम' कहा जाता है। इसलिए केवल गीत भागका ग्रहण सामवेदसे किया गया है। उसके अन्य सहकारियो अर्थात् वर्णविन्यास, पदयोजना और वाद्य आदिका ग्रहण ऋग्वेदसे ही किया गया है। इसी बात के समर्थनकेलिए आगे ग्रन्थकारने 'ध्रुवाध्याय' नाममे प्रसिद्ध नाट्यशास्त्रके ३२ वें अध्यायका प्रारम्भिक दूसरा श्लोक 'या ऋचः पाणिका' इत्यादि उद्धृत किया है। उस उद्धृत किए गए श्लोक का अर्थ यह है कि गानके उपयोगी 'पाणिका' अर्थात् ताली आदिका ग्रहण 'ऋच' अर्थात ऋग्वेदसे किया गया है। इस अर्थको लेकर ही ग्रन्थकारने उसको यहा उद्धृत किया है। इसलिए प्रथम खण्डके 'तत एव ध्रुवाध्याये' इस अन्तिम भागके बाद 'प्रथम पठिष्यति या ऋच पाणिका इत्यादि' यह पाचवा खण्ड आना चाहिए। उसके बाद तीसरा और फिर छठा खण्ड आना चाहिए। क्योंकि इन दोनो वाक्योंमें गीतके सहकारी चार प्रकारके वाद्योका उल्लेख करके उनका भी ग्रहण ऋग्वेदसे किया गया है यह बात कही है। वाद्योका चार प्रकारका विभाग किया गया है। झाझ मजीरा आदि ठोस वाद्य 'घन' नामसे कहे जाते हैं। ढोल मृदङ्ग आदि मढे हुए वाद्य 'अवनद्ध'-वाद्योकी श्रेणीमें गिने जाते हैं। वीणा-सितार आदि वाद्य जिन पर तार फैले होते हैं 'तत'-वर्गके वाद्य माने जाते हैं। और बासुरी आदि छिद्रयुक्त वाद्य 'सुषिर' कहलाते हैं। इन चारो प्रकारके वाद्योंका भी अन्तर्भाव इसी ऋग्वेदसे ग्रहण होने वाली सामग्रीमें हो गया है। यह तीसरे और छठे खण्डोंका अभिप्राय है।

दूसरा खण्ड छठे खण्डके साथ जुडना है। वह भी इसी अनुच्छेदका अङ्ग है। पर उसमें 'स्वरप्राधान्यवचनात्' यह समस्त पदका प्रयोग होना चाहिए। पूर्व-सस्करणोमें मुद्रित पाठमें ६+२ खण्डोको मिलानेपर 'स्वरप्राधान्यात् वचनात्' इस प्रकारका व्यस्त प्रयोग पडता है। वह नही होना चाहिए। अत इस अनुच्छेदका अन्तिम वाक्य 'ततसुषिरात्मक चाप्यातोद्य स्वरप्राधान्यवचनादत्रैव संगृहीतम्' इस रूपमें बनेगा। इस प्रकार पहिलेके बाद पाचवा उसके बाद तीसरा और फिर उसके बाद छठा और अन्तमें दूसरा खण्ड मिल कर सुसङ्गत अर्थको उपस्थित करते हैं। इसलिए उनका इसी क्रमसे सन्निवेश होना चाहिए। जिस क्रमसे वे पूर्व सस्करणोमें छपे हैं उनसे कोई भी अर्थ नही निकल सकता है। हमारे सशोधित क्रमसे मुद्रित होने पर वे मूल कारिकाके द्वितीय चरणकी सुसम्बद्ध और सुसङ्गत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। अत यही उनका वास्तविक क्रम है।

तृतीय चरणकी वृत्तिका अनुसन्धान—

इसके बाद कारिकाके 'यजुर्वेदादभिनयान्' इस तृतीय चरणकी व्याख्या आनी चाहिए यह व्याख्या 'आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणां प्रदक्षिणगमनादिरूप एव' इस चौथे खण्डसे प्रारम्भ होती है। परन्तु उसकी समाप्ति अष्टम खण्डमें होती है। यजुर्वेदसे अभिनयोंका ग्रहण किया गया है। ये अभिनय आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक अर्थात् मानसिक और आहार्य अर्थात् वेष-भूषा या नेपथ्य विषयक चार प्रकारके होते हैं। इन चारोंका ग्रहण यजुर्वेदसे किया गया है इस बातका उपपादन ग्रन्थकारने यहा किया है। पर वह चौथे और आठवें दो खण्डोंको मिला कर पूरा होता है। चतुर्थ खण्डमें 'अङ्गकर्मणां' अर्थात् आङ्गिक अभिनयका ग्रहण यज्ञोंमें भी आने वाली प्रदक्षिणा आदिके द्वारा होता है केवल इतनी बात आ पाई है। शेष तीन अभिनयोंका वर्णन अष्टम खण्डमें आया है। उसमें 'लोहितोष्णीषादि' पदसे नेपथ्य अर्थात् आहार्य-अभिनयका

और 'सत्त्वस्य' पदसे सात्त्विक अभिनयका और 'वाचिकस्त्वभिनय.' इस शब्दसे वाचिक अभिनयका प्रदर्शन किया गया है। इस प्रकार चतुर्थ और अष्टम खण्डोको मिला कर यजुर्वेदसे ग्रहण किए गए अभिनयोंकी व्याख्या पूर्ण होती है। इस लिए चतुर्थ खण्डके बाद अष्टम खण्ड आना चाहिए।

इसमें भी अष्टम वाक्यके भीतर 'ततोऽभिनयानामग्रहणम्। इस प्रकारका पाठ पूर्वसस्करणोमें छपा है। पर उससे तो अर्थ बिल्कुल उल्टा हो जाता है। ग्रन्थकार तो यह कहना चाहते हैं कि 'इस लिए उससे अर्थात् यजुर्वेदसे अभिनयोका ग्रहण किया गया है।' पर पूर्व-पाठ तो उल्टा अर्थ बोधित करता है। इसलिए उसके स्थानपर 'ततोऽभिनयाना ग्रहणम्' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार सशोधित तृतीय चरणकी व्याख्याका पाठ निम्न प्रकार होगा—

आध्वर्यवकर्मप्रधाने तु यजुर्वेदेऽङ्गकर्मणा प्रदक्षिणगमनादिक्रम एव, लोहितोष्णीपादेर्नेपथ्यस्य, तेषु तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्नपुरुषसम्पाद्यमानोपष्टम्भात्मन सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयाना ग्रहणम्। वाचिकस्त्वभिनय पूर्वमेवोक्त'।

इस प्रकार चतुर्थ और अष्टम खण्डो को मिलाकर यह तृतीय चरणकी सुङ्गत व्याख्या बनती है। इस लिए इस स्थलका पाठ इसी क्रम-से मुद्रित होना चाहिए था। बीचमें आए हुए ५, ६, ७ खडोका इस तृतीय चरणकी व्याख्यासे कोई सम्बन्ध नहीं है। वे इस तीनो खण्ड बीचमें आकर पाठको असङ्गत और अज्ञेय बना देते हैं।

चतुर्थ चरणकी वृत्तिका अनुसन्धान—

इन वाक्योके क्रम निर्धारणके बाद अब जो ७ तथा ९ सख्याके खण्ड शेष रहते हैं ये दोनो खण्ड मिल कर 'रसानाथर्वणादपि' इस चतुर्थ चरणकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। अतः उन दोनोको एक साथ मिला कर मुद्रित करना चाहिए। 'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस भरतसूत्रके अनुसार अथर्ववेदसे रसकी उत्पत्ति दिखलानेके लिए ग्रन्थकारने इन दोनो वाक्योंमें विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदिका ग्रहण दिखलाया है। इनमें पहिले अर्थात् सातवें खण्डमें 'प्राष्टुदवैपुणाद्यनुभावाना' पदमें अनुभावो का प्रदर्शन किया गया है। परन्तु यह पाठ अशुद्ध है। 'प्राष्टुदवैपुणादि' कोई अनुभाव नहीं होते हैं। उनके स्थान पर 'प्रशम-वेपथ्वाद्यनुभावाना' पाठ होना चाहिए। अथर्ववेदमें प्रतिपादित शान्तिकर्म और मारण अर्थात् आभिचारिक कर्मोसे क्रमश' प्रशम तथा वेपथु आदि अनुभावोका ग्रहण यहा दिखलाया गया है। इस खण्डके 'प्रजाशत्रुप्रभृतीनामवधानग्रहणादिना' इस अन्तिम भागके साथ नवम-खण्डके 'प्रधानविभावाना' पदको मिला कर पढ़नेसे विभावोका ग्रहण बन जाता है। अथर्ववेदके शान्तिकर्म प्रजाके हितकेलिए, और मारणकर्म या आभिचारिक-कर्म शत्रुके वध आदिकेलिए किए जाते हैं। प्रजा और शत्रु उनमें क्रमश प्रधान आलम्बन विभाव होते हैं। इस लिए विभावोंका ग्रहण अथर्ववेदसे हो सकता है। उसके बाद धृति, प्रमोद, आदि व्यभिचारिभावोकी चर्चा की गई है। इस प्रकार अथर्ववेदमें विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारी भावोका सयोग बन जानेसे अथर्ववेदसे रसका ग्रहण किया गया है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इस प्रकार चतुर्थ चरणकी 'अभिनवभारती' का पाठ निम्न प्रकार होगा—

'आथर्वणवेदे तु शान्तिक-मारणादिकर्मसु नटस्येव तत्रर्त्विज प्रशमवेपथ्वाद्यनुभावानां, प्रजा-शत्रुप्रभृतीना अवधान-ग्रहणादिना प्रधानविभावाना, धृतिप्रमोदादिव्यभिचारिणा च परमार्थसता समाहरणमिति विभावादिसामग्र्या रसात्मकचर्वणासम्भव। ततस्तद्ग्रहणमुक्तमिति।

इस प्रकार इस स्थलका पाठ अस्त-व्यस्त रूपमें छाप देनेसे सारा ग्रन्थ ही असङ्गत और अज्ञेय बन गया था। उसके क्रमको ठीक तरहसे क्रमबद्ध करके मुद्रित कर देनेपर ग्रन्थका अभिप्राय एक-दम स्पष्ट और सुसङ्गत बन जाता है।

न तटस्था एवैते। अत एव रस्यन्ते तत्रैव च रस्यन्त इति हि वक्ष्यामः।

तदेव 'पाठ्यादिरूपोपक्रमं गीतातोद्यप्राण-अभिनयवर्गपरिपुष्यद्रसचर्वणात्मकं परप्रीतिमयमेव नाट्यम्। ततस्तद्व्युत्पत्तिरिति नाट्यमेव वेद इति क्रमेण प्रदर्शितम्।

तेनाक्रम्ययोजनात्मक-नियोगात्मक-शासनप्राण-शास्त्रवैलक्षण्येन स्वयमुपारूढ-ज्ञानाभिधानवत[2] प्राणवेदरूपता 'नाट्यस्यैवेति सिद्धम् ॥१७॥

रसकी सामाजिकनिष्ठ स्थिति—

नाट्यमें रसकी स्थिति किसमें रहती है इस विषयको लेकर प्राचीन आचार्योंमें पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। भट्टलोल्लट आदि मुख्य रूपसे अनुकार्यमें ही रसकी उत्पत्ति मानते थे। किन्तु अनुकार्यके रूपका अनुकरण करनेके कारण नटमें भी उसकी प्रतीति होती है यह भी मानते थे। शंकुकके मतमें नटकी चेष्टाओंसे उसमें रसका अनुमान होता है। अभिनवगुप्तका मत इन दोनोंसे भिन्न है। उनके मतमें न अनुकार्य रसका आश्रय होता है और न नट। रसका एकमात्र आश्रय सामाजिक होता है। उसीको रसकी अनुभूति होती है। अभिनवगुप्त, भट्टलोल्लट आदिके रस-विषयक सिद्धान्तो की विवेचना आगे छठे अध्यायमें विस्तारके साथ करेंगे। यहाँ संक्षेपमें सामाजिक ही वस्तुत. रसका आस्वादनकर्ता होता है, उसीमें रसकी उत्पत्ति होती है अपने इस सिद्धान्तको ये निम्न प्रकार उपस्थित करते हैं—

अभिनव०—ये [विभावादि अथवा रस] तटस्थ रूपसे [अर्थात् सामाजिकसे भिन्न कहीं अन्यत्र स्थित रूपमे] प्रतीत नहीं होते हैं। इसी लिए [सामाजिकके द्वारा] आस्वाद किए जाते हैं [अर्थात् सामाजिकके द्वारा उनका अनुभव किया जाता है] और उसमें ही [अर्थात् नटमें अथवा अनुकार्य रामादिमें नहीं, अपितु सामाजिकमे ही] आस्वाद योग्य होते हैं इस कारणसे 'रस्यन्ते इति रसाः' ['जिनका आस्वादन किया जाय वे रस कहलाते हैं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार] आस्वाद्यमान होनेसे [शृङ्गार, हास्य करुण आदि] रस कहलाते हैं यह बात हम आगे [रसाध्याय नामक नाट्यशास्त्रके छठे अध्यायमे] कहेंगे।

अभिनव०—इस प्रकार पाठ्यादि रूपसे आरम्भ होनेवाले, गीत तथा वाद्य-प्रधान अभिनय-वर्गके द्वारा परिपुष्ट होनेवाले, रसकी चर्वणारूप और अत्यन्त आह्लादात्मक ही नाट्य होता है। और उस [नाट्य] के द्वारा उन [सामाजिकों] को [कर्तव्य-अकर्तव्यका] ज्ञान होता है इसलिए [वेदके समान शिक्षाप्रद होनेसे] नाट्य ही [मुख्यरूपसे] वेद है यह बात [इस कारिकामे] क्रमसे दिखलाई गई है।

अभिनव०—इसलिए बलात् कार्य कराने वाले, राजाज्ञा-रूप और शासन-प्रधान शास्त्र [वेदादि] से भिन्न प्रकारसे [कान्ताके समान अत्यन्त सरस रूपसे] स्वयं [अनायास रूपसे] प्राप्त होनेवाले [कर्तव्य-अकर्तव्यके] ज्ञानका निरूपण करने वाले [ज्ञाना-भिधानवतः] नाट्यको ही मुख्य रूपसे वेद कहा जा सकता है यह बात [इस कारिकासे] सिद्ध हुई।

---

१. भ म नाट्यादिरूपरूपोपक्रमं। २ भ. ज्ञाननिधानं विदं। ३. म. नाट्यमेवरसचर्वेति सिद्धम्।

एतदुपसंहरति 'वेदोपवेदै' इत्यादि—

भरत०—'वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना[1]।
एवं भगवता सृष्टो [2]ब्रह्मणा सर्ववेदिना ॥१८॥

वेदा व्याख्याता । वेदार्थानामुपकारकोऽर्थो वेद्यते येन स उपवेदात्मा । तद्यथा [4]ऋग्वेदस्य मन्त्रार्थवादादि-व्याख्यानोपनीतप्रजारक्षणप्रदर्शक आयुर्वेद । यतो महात्मा तत सर्ववेदी । सर्वविरत्वाच्च तथाविधसृष्टिशक्त ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें पूर्व-सस्करणोमें मुद्रण सम्बन्धी दो अशुद्धियाँ हो गई हैं । इसकी दूसरी पक्तिमें पूर्व-सस्करणोमें 'नाटघादिरूपकोपक्रम' यह पाठ छपा है । परन्तु वह अशुद्ध पाठ है । वृत्तिकार यहाँ इस कारिकाकी व्याख्याका उपसहार कर रहे हैं । कारिकामें पाठ्य गीत, अभिनय तथा रस इन चारो अङ्गोको भिन्न-भिन्न वेदोसे लेनेकी चर्चा की गई है । वृत्तिकार ने भी अपने इस उपसहार वाक्यमें उन सबका निर्देश किया है । इसलिए 'नाटयादिरूपकोपक्रम' के स्थानपर यहाँ 'पाठ्यादिरूपोपक्रम' यह पाठ होना चाहिए । इसी प्रकार आगे पूर्व-सस्करणो में 'स्वयमुपारूढज्ञानाभिधानविद, यह पाठ छपा है । परन्तु वह भी अशुद्ध है । यह पद आगे आए हुए 'नाटयस्य' पदका विशेषण है । इसलिए उसमें 'विद, के स्थानपर 'वत, प्रयोग होना चाहिए । हमने सशोधित रूपमें इन्ही पाठोको प्रस्तुत किया है ।

इस अत्यन्त सरल और सीधी-सी कारिकाकी वृत्ति मुद्रण दोपके कारण बडी दुर्ज्ञेय बन गई थी । उस अस्त-व्यस्त पाठको अत्यन्त प्रयत्न पूर्वक व्यवस्थित कर उसे वोधगम्य बनाया गया है ॥१७॥

अभिनव०—इसी [वात]का 'वेदोपवेदै' इत्यादि [अगली कारिका] द्वारा उपसंहार करते हैं—

भरत०—इस प्रकार सब-कुछ जाननेवाले महान आत्मा ब्रह्माने वेदो तथा उपवेदोसे सम्बद्ध [अर्थात् वेदों तथा उपवेदोंसे जिसके अङ्गोंका ग्रहण किया गया है इस प्रकारके] नाटचवेद की रचना की ।१८।

अभिनव०—वेदोकी व्याख्या की जा चुकी है [अर्थात् किस वेदसे नाट्यके किस अङ्गका ग्रहण किया गया है इसके प्रतिपादनके प्रसङ्गमें चारो वेदोके नामोका उल्लेख पिछली १७ वीं कारिका मे किया जा चुका है] । वेदोके अर्थ [समझने] मे सहायक अर्थोका ज्ञान जिसके द्वारा होता है वह 'उपवेद' कहलाता है । जैसे कि मन्त्र अर्थवाद आदिरूप व्याख्यानकेद्वारा विदित होनेवाले प्रजाके [स्वास्थ्यके] रक्षणके उपायोका प्रदर्शन करने वाला 'आयुर्वेद' ऋग्वेदका उपवेद है । क्योकि [ब्रह्माजी] महात्मा हैं इसलिए [वे] सब-कुछ जानने वाले हैं [यह वात 'महात्मना' इस विशेषण पदके द्वारा सूचित की है] । और 'सर्ववित्' सब-कुछ जानने वाले होनेसे उस प्रकार [के सब वर्णोंके उपयोगी नाट्यवेद] की रचना करनेमे समर्थ है ।

---

१ म वेदोपवेदसम्वन्धो । ठ वेदोपवेद । २ न सम्पन्नो ब्रह्मणा ललितात्मकम् । त नाटघवेदो महर्षय । ३ ठ म ब्रह्मणा ललितात्मकम् । ४ म ऋग्वेदाय्य-मन्त्रार्थवादादिव्याख्यानोपनयनप्रजारक्षणप्रदर्शक ।

एवमित्युपसंहरन् प्रश्नत्रयं कृतोत्तरमिति दर्शयति । प्रयोजनस्य, अधिकारिणां, अङ्गाना, अङ्गाङ्गिभावस्य च निर्णीतत्वात् ॥१८॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद चार मुख्य वेद हैं। उनमेंसे प्रत्येकका एक-एक उपवेद भी माना जाता है। 'चरण व्यूह' के अनुसार इन उपवेदोका क्रम इस प्रकार है—१ ऋग्वेदका उपवेद 'आयुर्वेद' है। २ यजुर्वेदका उपवेद 'धनुर्वेद', ३ सामवेदका उपवेद 'गन्धर्ववेद' और ४ अथर्ववेदका उपवेद 'अर्थवेद' कहलाता है। 'चरण यूह' ने यद्यपि 'आयुर्वेद' को ऋग्वेदका उपवेद बतलाया है किन्तु सुश्रुत आदि आयुर्वेदके ग्रन्थोमें उसे ऋग्वेदका नही अपितु अथर्ववेदका उपवेद माना गया है। ऋग्वेदमें आयुर्वेदका विषय उतना नहीं मिलता है जितना अथर्ववेदमें पाया जाता है। आयुर्वेदके १ शल्य चिकित्सा, २ शालाक्य चिकित्सा अर्थात् आँख, नाक, कान आदि गलेसे ऊपरके अङ्गोकी चिकित्सा, ३ काय चिकित्सा, ४ भूतविद्या, ५ कौमारभृत्य, ६ अगदतन्त्र, ७ रसायन तन्त्र और ८ वाजीकरणतन्त्र इस प्रकार आठ मुख्य अङ्ग माने गए हैं। अथर्ववेदमें इन सभी विषयोका वर्णन पाया जाता है। इसलिए आयुर्वेदके आचार्य 'सुश्रुत' आदि आयुर्वेदको अथर्ववेदका ही उपवेद मानते हैं। यहाँ अभिनवगुप्तने 'चरणव्यूह' के आधारपर उसे ऋग्वेदका उपवेद बतलाया है। पर उसमें चिकित्सा सम्बन्धी विषय साक्षात् स्पष्ट रूपसे नही मिलता है, अपितु विशेष व्याख्याओंद्वारा निकालना होता है। इसीलिए आयुर्वेदको ऋग्वेदका उपवेद बतलाते हुए अभिनवगुप्तको यहाँ 'मन्त्रार्थवादादिव्याख्यानोपनीतप्रजारक्षणप्रदर्शकः' यह विशेषण उसके साथ जोडना पडा है। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि प्रजारक्षण अर्थात् लोगोंके स्वास्थ्यरक्षाके उपायोका वर्णन ऋग्वेदमें साक्षात् नही मिलता है किन्तु अर्थवाद आदि व्याख्यान-प्रकारोंकेद्वारा प्राप्त हो सकता है। मीमासा-दर्शनमें १ विधि, २ मन्त्र, ३ नामधेय, ४ निषेध और ५ अर्थवाद रूपमें वेदके पाँच भाग किए गए हैं। उसीके आधारपर यहाँ 'मन्त्रार्थवादादि व्याख्यानोपनीत' यह पद लिखा गया है।

अभिनव०—'एवं' इस [पद] से उपसंहार करते हुए [यहाँ तक] तीन प्रश्नो का उत्तर होगया है यह बात दिखलाई है। क्योकि [पहिली तथा बारहवीं कारिकाकी वृत्तिमें] प्रयोजन, [८-११ कारिकाओकी वृत्तिमे] अधिकारी, और [१७ वीं कारिका में] अङ्गो तथा अङ्गाङ्गिभावका निरूपण हो गया है।

नाट्यवेदकी रचनाका उपसंहार—

इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने यह लिखा है कि यहा तक तीन प्रश्नोंके उत्तर हो गए हैं। इस बातको समझनेके लिए पिछले प्रकरणोकी ओर फिरसे ध्यान देने की आवश्यकता है। विगत १७ वीं कारिकामें विभिन्न वेदोंसे नाट्यके विविध अङ्गोंको ग्रहण करके ब्रह्माने नाट्यवेदका निर्माण किया इस बातको लिख कर ग्रन्थकार अर्थात् भरतमुनिने ऊपर पूछे गए पाँच प्रश्नोमेंसे 'कत्यङ्ग' रूप तीसरे प्रश्नका समाधान करनेका यत्न किया है। इसके पूर्व पहिली तथा १२वीं कारिकाओंकी वृत्तिमें अपनी प्रवृत्ति तथा नाट्य-निर्माणके प्रयोजनका प्रतिपादन कर चुके हैं। और ८-११ तक चार कारिकाओमें नाट्यके अधिकारियोंका निरूपण किया जा चुका है। इस प्रकार यहाँ तक पाँच प्रश्नोंमेंसे १ प्रयोजन, २ अधिकारी और ३ अङ्गविषयक तीनका अपनेमें उत्तर दिया जा चुका है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ॥१८॥

एव पितामहसदृशेन सर्वदा नाट्यवेदशरीर-रूपकनिर्माणे कविना भाव्यमिति प्रदर्श्य तत्र विभवयुक्तो विधेयनटजनश्च राजा प्रयोजयिता, भरतमुनिसदृशश्च सम्पन्न-परिवार सर्ववित् प्रयोक्ता, 'प्रयोजक-महोत्सवप्राय प्रयोगकाल, क्रीडाप्रस्तावव्याजो-पदेश्या.[2] विगतरागद्वेषा, मध्यस्थवृत्तयो निर्मलहृदयमुकुरे सति तन्मयीभव-नयोग्यतोपेता आहितरसास्वादा सामाजिका, इत्येतत् पुराकल्पमुखेन दर्शयत्यध्यायान्त-ग्रन्थेन[3] 'उत्पाद्य नाट्यवेद तु' इत्यादिना—

भरत०—उत्पाद्य नाट्यवेदं तु [4]ब्रह्मोवाच सुरेश्वरम् ।
इतिहासो मया [5]सृष्ट स सुरेषु [6]नियुज्यताम् ॥१६॥

राजैव प्रयोजयितु शक्त इति तु-शब्द । इतिहासो दशरूपकम् ॥ १६ ॥

राजा आदि ही नाट्यका प्रयोजक हो—

अभिनव०—इस प्रकार नाट्यवेदके शरीरभूत रूपकके निर्माण करनेमे कविको सदैव पितामहके समान [नाट्य सम्बन्धी समस्त विषयोका पूर्ण ज्ञाता तथा प्रजा-जनो अर्थात् समाजिकोका शुभचिन्तक] होना चाहिए यह बात [यहा तक] दिखला कर [अब अगली कारिकामे] १ उसमे समृद्धिशाली और नट-मण्डलको अधिकारमे रखने वाला राजा [नाटकका नटोके द्वारा] प्रयोग कराने वाला [होना चहिए श्लोक १-१६] २ भरतमुनिके समान विशाल परिवार वाला और [नाट्यके अभिनय-विषयक] सब बातोको जानने वाला [नट उस नाटकका] प्रयोग [अभिनय] करने वाला [होना चाहिए श्लोक १-२४] ३ प्रयोग कराने वाले [राजा आदि] के [यहाँ होने वाला कोई] महोत्सव जैसा समय [नाटकके अभिनयकेलिए निश्चित किया जाना चाहिए श्लोक १-५४]। ४ क्रीडाके प्रस्ताव [अर्थात् मनोरञ्जक नाटक] के द्वारा शिक्षा देने योग्य, राग-द्वेषसे रहित [अत एव] मध्यस्थ वृत्ति वाले, हृदयदर्पणके निर्मल होनेपर [अर्थात् दर्पणके समान स्वच्छ हृदयवाले] एव [नाटकके देखते समय] तन्मय हो सकनेकी योग्यतासे युक्त [अर्थात् सहृदय] और जिनको रसका आस्वाद हो सके इस प्रकारके सामाजिक होने चाहिए इन सब [बातो] को पूर्वकालके इतिहासको दिखलाते हुए 'उत्पाद्य नाट्यवेद' इत्यादि [से आरम्भ करके] अध्यायके अन्त तकके ग्रन्थसे दिखलाते है—

भरत०— [इस प्रकार] नाट्यवेदकी उत्पत्ति करनेके बाद ब्रह्माजीने देवताओंके राजा [इन्द्र] से कहा कि मैने [आप लोगोकी प्रार्थनाके अनुसार 'इतिहास' अर्थात्] दशरूपककी रचना कर दी है अब आप देवताओंकेद्वारा उसका प्रयोग [अर्थात् अभिनय] करावे ।१६।

अभिनव०—राजा ही [वैभवसम्पन्न होनेके कारण नाटकका] प्रयोग करानेमे समर्थ हो सकता है इस [बातके बोधित कराने] केलिए [कारिकामे] तु-शब्द [दिया गया] है। इतिहास-शब्दसे दशरूपक [अर्थात् नाटक] का ग्रहण होता है।

---

१ ग प्रयोजनमहोत्सवसदृश । २ उपदेश्या । ३. अध्यापनग्रन्थेन । ४ ज ब्रह्मावोचत् सुरेश्वरम् । ट त प्राह दारु पितामह । ५ ठ दृष्ट । ६ त निवेश्यताम् ।

भरत०—कुशला ये विदग्धाश्च प्रगल्भाश्च [1]जितश्रमाः ।
तेष्वयं नाट्यसंज्ञो[2] हि वेदः संक्राम्यतां त्वया ॥ २० ॥

अभिनव०—कुशला ग्रहणधारणयोग्या । विदग्धा ऊहापोहसमर्था. । प्रगल्भा। परिषद्यभीरव. । जितश्रमा [3]योग्या-समुचितदेहा, अखिन्नकायाश्च ॥ २० ॥

[प्रक्षिप्त भरत०—तच्छ्रुत्वा [4]भगवान् शक्रो ब्रह्मणा यदुदाहृतम्[5] ।
[6]प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम् ॥ २१ ॥]

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'क्रीडाप्रस्तावव्याजोपदेशकाः' यह पाठ बड़ौदा वाले दोनों संस्करणोंमें पाया जाता है। परन्तु वह अशुद्ध है। उसमें 'उपदेशका.' के स्थानपर 'उपदेश्या.' पाठ होना चाहिए। यह पद 'सामाजिकाः' के विशेषण रूपमें प्रयुक्त हुआ है। नाट्यमें सामाजिक 'उपदेशक' नही 'उपदेश्य' होता है। अत. यहां 'क्रीडाप्रस्तावव्याजोपदेश्याः' यही पाठ होना उचित है। दूसरी जगह 'दर्शयत्यध्यापनग्रन्थेन' इसके स्थानपर 'अध्यायान्तग्रन्थेन' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। अत. हमने यथोचित रूपमें इन्ही पाठोंको प्रस्तुत किया है ॥१९॥

नटोंकी योग्यता—

भरत०—[जो देवता इस दशरूपकको ग्रहण तथा धारण करनेमे] कुशल [अर्थात् समर्थ], बुद्धिमान् [अर्थात् ऊहापोह करनेमे समर्थ], एवं प्रगल्भ [अर्थात् अभिनय करते समय सभामे न घबड़ाने वाले] और ['जितश्रम' अर्थात्] न थकने वाले हों उनको इस नाट्य नामक वेदकी शिक्षा देनेकी आप व्यवस्था करो [यह ब्रह्माजीने इन्द्रसे कहा] ।२०।

अभिनव०—[श्लोकमें आए हुए] 'कुशल' पदसे ग्रहण तथा धारण करनेके योग्य [अर्थात् सिखलानेपर जो शीघ्र इस विद्याको ग्रहण कर सकें और उस विद्याको दीर्घकाल तक स्मरण रख सकें इस प्रकारके व्यक्तियोंका ग्रहण करना चाहिए]। और 'विदग्ध' पदसे ऊहापोह करनेमे समर्थका ग्रहण होता है। [अर्थात् जो इस विद्याको पूर्ण रूपसे ग्रहण करनेकेलिए संदिग्ध स्थलोंपर उसके स्पष्टीकरणकेलिए आवश्यक तर्क-वितर्क कर सकें इस प्रकारके व्यक्ति 'विदग्ध' कहलाते हैं]। 'प्रगल्भ' पदसे सभामे न घबड़ाने वालोंका ग्रहण होता है। और 'जितश्रम' पदसे अभ्यासके योग्य [दृढ] देहवाले और न थकने वाले [व्यक्तियो] का ग्रहण होता है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'जितश्रमाः' पदकी व्याख्या रूपमें 'जितश्रमा योग्या. समुचितदेहा' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित हुआ है। उसकी अर्थ-सङ्गति तो लग सकती है फिर भी वह ठीक नही जान पड़ता है। उसमें यदि समस्त पद मानकर 'योग्या-समुचितदेहा' यह पाठ रखा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। 'योग्या' पदका अर्थ अभ्यास है। जिनके शरीर नाट्यका अभ्यास और अभिनय करनेमें समर्थ अर्थात् न थकने वाले हों वे 'जितश्रम' कहलाते हैं यह उसका अर्थ होगा। अतः हमने इसी पाठ को प्रस्तुत किया है ।२०।

[प्रक्षिप्त भरत०—ब्रह्माजीने जो कुछ कहा था उसको सुन कर [उसके उत्तर रूपमें] हाथ जोड़ कर और [सिर झुका कर] नमस्कार करते हुए इन्द्र भगवान् ब्रह्माजीसे बोले कि—।२१।]

१. प जितक्लमाः ।　२ न म नाट्यमभ्यस्तु ।　३. योग्या समुचितदेहा. ।
४. ब्रह्मनम् ।　५. न. म. त समुदाहृतम् ।　६ न. म. विनयात् प्राञ्जलिः ।

भरत०—ग्रहणे धारणे ज्ञाने[1] प्रयोगे चास्य सत्तम।
[2]अशक्ता भगवन् देवा अयोग्या नाट्यकर्मणि[3] ॥ २२ ॥

ग्रहण इति पूर्वं गुरुमुखाद् ग्रहणम्। तस्याविस्मरणं धारणम्। ज्ञानमूहापोहविचारः। प्रयोगः [4]परिषदि प्रकटीकरणम्। चकारेण च तदुपयोगिगुणनिका व्यायामाभ्यासादि। देवा सुखभूयिष्ठत्वात् स्वाम्यादेशात् कथमपि यदि प्रवर्तेरन् तत्पूर्णपर्यवसानं[5] तु दुर्लभमेवतैरित्यर्थः ॥ २२ ॥

पाठसमीक्षा—इस २१ वी कारिकापर अभिनवगुप्तकी कोई वृत्ति नही पाई जाती है। इससे यह प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्तकी दृष्टिमें यह नाट्यशास्त्रका श्लोक नही है। अर्थात् बादका बढाया हुआ प्रक्षिप्त-पाठ है। यद्यपि अर्थको पूर्ण रूपसे स्पष्ट करनेकी दृष्टिमे यहा इस श्लोककी आवश्यकता अनुभव होती है। इसके पहिले वाले श्लोकोमें ब्रह्माजी इन्द्रसे और अगले श्लोकमें इन्द्र ब्रह्मासे कह रहे हैं। इन दोनोके वचनोंके बीचका यह श्लोक उन दोनोके पौर्वापर्य और सम्बन्धको बतलाता है। फिर भी इसपर अभिनवभारती न होनेसे यहा उसको प्रक्षिप्त मानना ही उचित है। अत हमने उसको कोष्ठमें और भिन्न टाइपमें दिया है। पर पूर्व-संस्करणोके साथ संख्या क्रममें समानता बनाए रखनेकेलिए उस परसे संख्या नही हटाई है ॥ २१ ॥

देवता नाट्य प्रयोगके योग्य नहीं है—

भरत०—हे प्रभो [सत्तम] देवता लोग इस [नाट्यविद्या] को ग्रहण करने [अर्थात् समझ सकने] धारण करने [अर्थात् स्मरण रखने] उसके ज्ञान [अर्थात् उसके विषयमे ऊहापोह कर सकने] तथा उसका प्रयोग [अर्थात् अभिनय] कर सकनेमे असमर्थ हैं। [अत] हे भगवन् वे नाट्य-कार्यके अयोग्य हैं ॥ २२ ॥

अभिनव०—[कारिकामे आए हुए] 'ग्रहण' इस [पद] से पहिले गुरु-मुख से [नाट्यविद्याका] पढना [अर्थ अभिप्रेत है]। उस [सीखी हुई नाट्यविद्या] को न भूलना [अर्थात् याद रखना] 'धारण' [कहलाता] है। [उसके विषयमे] तर्क-वितर्क द्वारा विचार 'ज्ञान' [कहलाता] है। परिषद्मे [अर्थात् रङ्गशालामे सामाजिकोके बीचमे] उसको प्रदर्शित करना [उसका अभिनय करना] 'प्रयोग' [कहलाता] है। [श्लोकमे आए हुए] चकार [अर्थात् च-पद] से उस [अभिनय या प्रयोग] के उपयोगी बार-बार आवृत्ति [गुणानिका], श्रम, व्यायाम और अभ्यास आदि [का ग्रहण करना चाहिए। देवता लोग नाट्य कार्यके अयोग्य और उसका अभिनय करनेमे असमर्थ है इसका कारण अगली पक्तिमे दिखलाते हैं] देवता लोग सुख-प्रधान [अर्थात् परिश्रम न कर सकनेवाले आराम-तलब] होनेके कारण [स्वय अपनी रुचिसे तो उस कार्यमे प्रवृत्त हो ही नहीं सकते हैं किन्तु] यदि स्वामीके [अर्थात् इन्द्रके, अर्थात् मेरे] आदेशसे जैसे-तैसे प्रवृत्त भी हो भी तो उनके द्वारा उसकी पूर्ण समाप्ति होना तो कठिन ही है यह अभिप्राय है ॥ २२ ॥

---

१ व चैव। २ व न न शक्ता भगवन् देवा न योग्या। ३ प नाट्यकर्मसु।
४ व पर्षदि। ५ म भ तत्पूर्णपर्यवसानत्व। दुर्लभमेतै।

दनाद् रस- 'त्यम्'
लाभो त्रता' इति
—
वाले जो
('गुह्यतत्व' के उपयोगी मानसिक
में तथा स्वेद, मुखसे ारणको
सूचित परम-
ष्टा' होनेसे समें समर्थ है,
प है। 'इसे' इसने

भवा। ग. शान्तिगता।
ह्यन्ते। ८ सम्यादिनसामर्थ्यम्।
म.
५. म रसाहाय। ६. म. इत्यादि। ... इस इति।

भरत०—'श्रुत्वा तु शक्रवचनं मामाहाम्बुजसम्भवः।
त्वं 'पुत्रशतसंयुक्तः प्रयोक्तास्य भवानघ ॥ २४ ॥

श्रुत्वा त्विति—मा त्विति तु-शब्देन ऋषिभ्योऽप्यन्येभ्योऽस्य विशेषमाह। 'ब्रह्मैव माम् आह' इत्यादरातिशय । पुत्रशतयोगात् अन्योन्यप्रवर्तितबहुतरपरिवारयोग । 'अनघ' इत्यध्येषणाया सोत्साहपरिषदा कृतसम्मानस्य सम्यक् प्रयोगनिष्पत्तिरिति सूचितम् ॥२४॥

इस श्लोकमें जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है वह कुछ विचित्र और अटपटा सा सिद्धान्त प्रतीत होता है। ऋषि-मुनि लोग स्वभावत विषय-विमुख, नाचने-गाने आदि नाट्योपयोगिनी विद्याओसे अपरिचित और सरल स्वभावके होते हैं। नाट्य, अभिनय आदिसे उनका सामान्यत कोई सम्बन्ध नही होता है। पर यहा उनको ही अभिनयके योग्य मान कर नटोंका कार्य उनको सौंपा गया है। और हर समय रास-रङ्गमें मग्न रहने वाले देवताओको नाट्यके अयोग्य ठहराया गया है। उससे भी अधिक आश्चर्यकी बात यह है कि आगे चल कर इन ऋषियोके साथ अभिनय करनेके लिए अप्सराओका सम्बन्ध जोडा गया है। देवताओंको यदि अभिनयकेलिए नियत किया जाता तो उनके साथ तो अप्सराओका सहयोग और सम्बन्ध कुछ ठीक था किन्तु वल्कल-जटा-धारी ऋषियोको नटोके कार्यमें नियुक्त करना और फिर उनके साथ अप्सराओको जोडना यह कुछ ठीक नही जचता है। वह तो कुछ वैसी ही बात होगई जिसकी कि निन्दा स्वय भरतमुनिने पूर्व उद्धृत किए हुए—

चेक्रीडितप्रभृतिभि-विकृतैश्च शब्दै—
युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगा.।
यज्ञक्रिया रुरुचर्मधरैर्घृताक्तै—
र्वेश्या द्विजैरिव कमण्डलुदण्डहस्तै ॥

इत्यादि श्लोकमें की है। दण्ड-कमण्डलुधारी ब्राह्मणोकेसाथ वेश्याओके सम्बन्धकी तरह ऋषियो केसाथ अप्सराओ और नाट्यका सम्बन्ध भी हास्यास्पद-सा ही है ॥ २३ ॥

भरतमुनिको अभिनयका आदेश—

भरत०—इन्द्रके वचनको सुन कर ब्रह्माजी मुझ [भरतमुनि] से बोले कि हे महात्मन् [अनघ शुद्धात्मन्] सौ पुत्रो [के विशाल परिवार] से युक्त तुम इस [ब्रह्माजी द्वारा प्रस्तुत किए गए दशरूपक] का प्रयोग [अभिनय] करो। २४।

अभिनव०—'श्रुत्वा तु' [यह कारिकाका प्रतीक भाग है]। 'मा तु' मे तु-शब्द से अन्य ऋषिजनोसे भी इन [भरतमुनि] की विशेषताको सूचित किया गया है। 'ब्रह्माजीने ही मुझसे स्वय कहा' इससे आदरातिशय सूचित किया है। सौ पुत्रोके सम्बन्धसे परस्पर प्रवर्तित विशाल परिवारका सम्बन्ध सूचित किया है। [अधीष्ट सत्कारपूर्वको व्यापार। अष्टाध्यायी ३—३—१६१। अर्थात् सत्कारपूर्वककी गई प्रेरणा को 'अधीष्ट' या अध्येषणा कहते हैं] 'अनघ' इस [पदसे] सत्कारपूर्वक की गई प्रेरणा से यह सूचित किया है कि उत्साह-युक्त परिषद्के द्वारा सम्मान प्राप्त होनेसे [नटोकेद्वारा] अभिनयका सम्पादन अत्यन्त सुन्दर रूपमे किया जा सकता है ॥२४॥

---

१. ठ श्रुत्वेमम्। न शक्रस्य वचन श्रुत्वा। २ ख पुत्रशतसम्पन्न ।

भरत०—आज्ञापितो विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात् ।
'पुत्रानध्यापयामास प्रयोगं चापि तत्त्वतः[1] ॥ २५ ॥

आज्ञापित इत्यनुल्लङ्घनीयवचनतास्योक्ता । पितामहादित्यनाचार्योऽपि[3] तत्त्वशङ्कां व्युदस्यति । प्रयुज्यत इति प्रयोगो दशरूपकम् । प्रयुज्यते निर्वर्त्यतेऽनेनेति प्रयोगो नाट्यलक्षण शास्त्रम् । तदह पुत्रान् पाठयाञ्चकार । प्रयुक्तिश्च प्रयोग. । तमध्यवसायपर्यन्तमह पुत्रानध्यापयामास । तथाह चकार यथा प्रयुक्ति ते पुत्रा सम्यक् प्राप्तवन्त इत्यर्थ । च-अपिशब्दाभ्या सूचिते द्वे-द्वे आवृत्तो । मुनिसमुचितकर्तव्यान्तरव्यासङ्गोऽपि लिटा[4] सूचित. । 'तत्त्वत ' इति नाट्याचार्यस्य सम्यगाप्तत्व गम्यते ॥२५॥

नाट्यवेदका शिक्षण—

भरत०—[पितामहकी इस प्रकारकी] आज्ञा पाकर पितामहसे [स्वय] नाट्यवेदको पढ़ कर मैंने अपने पुत्रोंको उसे तथा उसके प्रयोगको भी सूक्ष्मरूपसे पढाया ॥ २५ ॥

अभिनव०—'आज्ञापित ' इस पदसे इन [ब्रह्माजी] के वचनकी अनुल्लङ्घनीयता सूचित की है। 'पितामह' इस पदसे [ब्रह्माजीके नाट्यकलाके] आचार्य न होनेपर भी [नाट्यका ज्ञान वे ठीक करा सकते हैं और] तत्त्व-विषयक शङ्काका निराकरण कर सकते है [यह सूचित किया है]। जिसका अभिनय किया जाय वह 'प्रयोग' है इस व्युत्पत्तिसे दशरूपकको प्रयोग कहते हैं। जिसके द्वारा [अभिनयकी कलाका ज्ञान] सम्पादन किया जाय वह 'प्रयोग' है इस [दूसरी व्युत्पत्ति] के अनुसार नाट्यशास्त्रको 'प्रयोग' कहा जा सकता है। उसको भी मैंने पुत्रोको पढाया। और अभिनय [प्रयुक्ति] को भी 'प्रयोग' कहा जा सकता है। उसको भी साक्षात्कार-पर्यन्त मैने पुत्रोको पढाया। अर्थात् मैंने ऐसा यत्न किया जिससे पुत्रोंने अभिनयको भली प्रकारसे समझ लिया। 'च' और अपि शब्दोंके द्वारा दो-दो आवृत्तियां सूचित कीं। लिट्-लकार [के अध्यापयामास प्रयोग] से मुनिजनोंके योग्य [सन्ध्या-वन्दनादि] अन्य कर्तव्योंसे [शिक्षण] में होनेवाला व्यवधान भी सूचित किया है। और 'तत्त्वत ' इस पदसे नाट्याचार्यकी पूर्ण प्रामाणिकता सूचित की है।

इस वृत्ति भागमें ग्रन्थकारने 'प्रयोग' शब्दकी तीन प्रकारकी व्युत्पत्ति की है। 'प्रयुज्यते इति प्रयोग ' इस व्युत्पत्तिके द्वारा दश प्रकारके रूपक प्रयोग कहलाते हैं। 'प्रयुज्यते निर्वर्त्यते इति प्रयोग.' इस व्युत्पत्तिमे 'प्रयोग' शब्दका अर्थ नाट्यशास्त्र किया है। और 'प्रयुक्तिश्च प्रयोग ' इस व्युत्पत्तिमे 'प्रयोग' शब्दसे अभिनयका ग्रहण किया है। इन तीनोंकी ही शिक्षा भरतमुनिने अपने पुत्रोको दी। च तथा अपि पदोंने उस शिक्षणकी दो-दो बार आवृत्ति भी सूचित की है ॥२५॥

---

१ न सुतानध्यापयामास प्रयोगे चापि सत्तम । ठ त पुत्रानाध्याप्य योग्यान् ।

२ प म पुस्तकयोरपोऽङ्कित श्लोकद्वयमधिकं दृश्यते—

नान्येऽन्ये धारणे योग्या प्रयोगे चापि सत्तम । इत्युक्तोऽन्य प्रयोगस्य मुद पन्नमनाद्रित ॥
मातो विभोर्विदित्वाह नाट्यवेद पितामहात् । सुतानध्यापयामास प्रयोगार्थो तदानघ ॥

३. ब. ग अनचार्योऽपितत्वाशङ्का । ४. म न निष्णात् ।

भरत०--शाण्डिल्यं चैव[1] वात्स्यं[2] च कोहलं [3]दत्तिल [4]तथा ।
[5]जटिलाम्बष्टकौ चैव [6]तण्डुमग्निशिखं[7] तथा ॥२६॥
सैन्धवं [8]सपुलोमानं [9]शाड्वलिं [10]विपुलं तथा ।
[11]कपिञ्जलिं [12]वादिरं च यमधूम्रायणौ तथा ॥२७॥
[13]जम्बुध्वजं [14]काकजङ्घं [15]स्वर्णकं तापसं तथा ।
[16]कैदारिं शालिकर्णं च दीर्घगात्रं च शालिकम् ॥२८॥
[17]कौत्सं [18]ताण्डायनिं चैव [19]पिङ्गलं [20]चित्रकं तथा ।
[21]बन्धुलं [22]भल्लकं चैव मुष्ठिकं सैन्धवायनम् ॥२९॥
[23]तैतिलं भार्गव चैव शुचि बहुलमेव च ।
[24]अबुधं बुधसेनं च [25]पाण्डुकर्णं [26]सुकेरलम् ॥३०॥

भरत मुनिके सौ पुत्रोंके नाम—

भरतमुनिने अपने जिन सौ पुत्रोंको नाट्यवेद पढाया उनके नाम आगे गिनाते हैं—

भरत०—१ शाण्डिल्य, २ वात्स्य, ३ कोहल, ४ दत्तिल, ५ जटिल तथा ६ अम्बष्ट, ७ तण्डु तथा ८ अग्निशिखको [नाट्यवेद पढ़ाया] ।२६।

भरत०—९ सैन्धव, १० पुलोमा, ११ शाड्वलि, १२ विपुल, १३ कपिञ्जलि, १४ वादरि तथा १५ यम और १६ धूम्रायणको [नाट्यवेद पढाया] ।२७।

भरत०—१७ जम्बुध्वज, १८ काकजङ्घ, १९ स्वर्णक, २० तापस, २१ कैदारि, २२ शालिकर्ण, २३ दीर्घगात्र तथा २४ शालिकको [नाट्यवेद पढ़ाया] ।२८।

भरत०—२५ कौत्स, २६ ताण्डायनि, २७ पिङ्गल, २८ चित्रक, २९ बन्धुल, ३० भल्लक, ३१ मुष्ठिक तथा ३२ सैन्धवायनको [नाट्यवेद पढ़ाया] ।२९।

भरत०—३३ तैत्तिलि, ३४ भार्गव, ३५ शुचि, ३६ बहुल, ३७ अबुध, ३८ बुधसेन, ३९ पाण्डुकर्ण तथा ४० सुकेरलको [नाट्यवेदकी शिक्षा दी] ।३०।

---

१. ठ म चापि । ड. जीवम् । २ न वात्यम् ३ य धूर्तिलम् । ४ ड म मुनिम् । ५. ठ म जटुला । प. बहिला । ६. अ म. त ताण्ड्य । ठ ताण्डुम् । ७ प म मुखम् ।

८ ज पुसलो । त पुलोमान सैन्धवञ्च । ९. ज. शाश्वलिम् । प वालिकम् । न म पाटिलम् । १० न म विवुधम् । ११ न त यम धूम्रायण चैव कपिञ्जलमथापि च । अ. त कापिञ्जलम् । १२ ठ म बादरिम् । ड थावरम् ।

१३ प म जम्बू । न याध्कलम् । थ जम्बूकम् । ख जङ्घ च । १४ ख कोकमुस्त च । त काकमद्गुम । १५ ज स्वर्णकृतापसौ । ख. पूर्णक्र तापस तथा । १६ त — पुस्तके पवितद्वय नास्ति । ठ म केदारम् । ज केदारिम् ।

१७ ज कोतसम् । १८ ज ताण्यासिनम् । प ताण्डायनिं । १९ ज पिण्ड । २०. ठ छत्रकम् । न छत्रमेय च । २१ त अन्धुकम् । न नुजलम् । ख वल्लकम् । ख भालुकम् । २२ प थाप्कलम् । त वालुकम् ।

२३ ख तिन्तिलम् । २४ ज अम्बुधम । २५ ज पारकर्णकम् । प पाण्डुर्कर्णम । २६. ज म सकेरलम । त सतोरलम ।

भरत०—[1]ऋजुकं मण्डकं चैव [2]शम्वरं [3]वञ्जुलं तथा ।
मागधं [4]सरलं चैव[5] कर्तारं [6]चोग्रमेव च ॥३१॥
[7]तुषारं [8]पार्षदं चैव गौतमं [9]वादरायणम् ।
[10]विशालं शवलं चैव सुनाभं मेषमेव च ॥३२॥
[11]कालियं भ्रमरं चैव तथा पीठमुखं मुनिम् ।
[12]नखकुट्टाश्मकुट्टौ च षट्पदं [13]सोत्तमं तथा ॥३३॥
[14]पादुकोपानहौ चैव [15]श्रुतिं चाषस्वरं तथा ।
अग्निकुण्डाज्यकुण्डौ [16]च [17]वितण्ड्यं ताण्ड्यमेव च ॥३४॥
[18]कर्तराक्षं हिरण्याक्षं [19]कुशलं दुस्सहं तथा ।
[20]लाजं भयानकं चैव वीभत्सं सविचक्षणम् ॥३५॥

भरत०—४१ ऋजुक, ४२ मण्डक, ४३ शम्वर, ४४ वञ्जुल, ४५ मागध, ४६ सरल, ४७ कर्ता और ४८ उग्रको [नाट्यवेदकी शिक्षा दी] ।३१।

भरत०—४९ तुषार, ५० पार्षद, ५१ गौतम, ५२ वादरायण, ५३ विशाल, ५४ शवल, ५५ सुनाभ तथा ५६ मेषको [नाट्यवेदकी शिक्षा दी] ।३२।

भरत०—५७ कालिय, ५८ भ्रमर, ५९ पीठमुख, ६० मुनि, ६१ नखकुट्ट, ६२ अश्मकुट्ट, ६३ षट्पद और ६४ उत्तमको [मैंने नाट्यविद्याकी शिक्षा दी] ।३३।

भरत०—६५ पादुक, ६६ उपानह, ६७ श्रुति, ६८ चापस्वर, ६९ अग्निकुण्ड, ७० आज्य-कुण्ड, ७१ वितण्ड्य और ७२ ताण्ड्यको [नाट्यवेद पढ़ाया] ।३४।

भरत०—७३ कर्तराक्ष, ७४ हिरण्याक्ष, ७५ कुशल, ७६ दुस्सह, ७७ लाज, ७८ भयानक, ७९ बीभत्स तथा ८० विचक्षणको [नाट्यवेद पढ़ाया] ।३५।

भरतमुनिने ब्रह्माजीकी आज्ञासे और लोक-कल्याणकी कामनासे अपने जिन सौ पुत्रोंको नाट्यवेदकी शिक्षा प्रदान की थी उनके नाम गिनानेका प्रकरण चल रहा है । इसमें पिछले पृष्ठपर दिए हुए पाच श्लोकोंमें ४० पुत्रोंके नाम गिनाए गए थे । वही प्रकरण इस पृष्ठपर भी चल रहा है । पूर्व पृष्ठके समान इस पृष्ठपर भी भरतमुनिके मूल पाच ही श्लोक दिए गए हैं । और उनमें भी ४० पुत्रोंके नामोंका समावेश हुआ है । इस प्रकार इन दोनों पृष्ठोंमें मिलाकर ८० नाम हुए ।

१, ज मिश्रकम । ट त. ऋजुं कमण्डलुम् । २ त शावरम् । प. शाम्वकम् । ३ ज वञ्चुलम् । ४ प सुरलम् । फ सारणम् । त सुकलम् । ५. न चंक । त चंच फालरम् । ६. न. चात्रिमेव च ।

७. ठ म तुषादम् । ८. म पार्वतम् । त. पर्वतम् । भ पाशलम् । ९ न यादरायणिम् । १०. स उदारि वरुण चंव वर्णिण हंसमेव च ।

११. ज त कालेयम् । १२. ठ म. तरुकुट्टा । १३. ब. त चोत्तमम् । म. सत्तमम् ।

१४ त पानहोपा । ब पादुकौपानहौ । १५ ज सश्रुतं षट्स्वरम् । न श्रुति च स्वरमेव च । १६ स अश्मकुण्डौ च । १७ ज. वितण्डयं तण्डय।

१८. न. त. केकराक्षम् । १९. म. नकुल दुष्सहं तथा । २०. न. आलम् । प. त. [illegible] । म.—पुस्तके इदमर्धं नास्ति । २१ क सुविचक्षणम् ।

भरत०—[1]पुण्ड्राक्षं पुण्ड्रनासं चाप्यसितं [2]सितमेव च ।
विद्युज्जिह्वं महाजिह्वं [3]शालङ्कायनमेव च ॥३६॥
[4]श्यामायनं माठरं च लोहिताङ्गं तथैव च ।
संवर्तकं [5]पञ्चशिखं त्रिशिखं [6]शिखमेव च ॥३७॥
शङ्खवर्णमुखं [7]षण्डं शंकुकर्णमथापि च ।
शक्रनेमिं गभस्तिं चाप्यंशुमालिं शठं तथा ॥३८॥
विद्युतं शतजङ्घं च [8]रौद्रं वीरमथापि च ।
पितामहाज्ञयास्माभिर्लोकस्य च गुणेच्छया[9] ॥३९॥
प्रयोजितं पुत्रशतं [10]यथाभूमिविभागशः ।
[11]यो यस्मिन् कर्मणि यथा योग्यस्तस्मिन् स योजितः ॥४०॥

भरत०—८१ पुण्ड्राक्ष, ८२ पुण्ड्रनास, ८३ असित, ८४ सित, ८५ विद्युज्जिह्व, ८६ महाजिह्व और ८७ शालङ्कायनको [नाट्यवेद सिखाया] ।३६।

भरत०—८८ श्यामायन, ८९ माठर, ९० लोहिताङ्ग, ९१ सवर्तक, ९२ पञ्चशिख, ९३ त्रिशिख और ९४ शिखको [नाट्यवेदकी शिक्षा दी] ।३७।

भरत०—९५ शङ्खवर्णमुख, ९६ षण्ड, ९७ शकुकर्ण, ९८ शक्रनेमि, ९९ गभस्ति, १०० अशुमाली तथा १०१ शठको [नाट्यवेदका अध्यापन किया] ।३८।

भरत०—१०२ विद्युत, १०३ शतजङ्घ, १०४ रौद्र और १०५ वीरको पितामहकी आज्ञासे और लोक-कल्याणकेलिए [मैंने पढ़ाया । सौके स्थानपर १०५ नाम दिए हैं ।] ।३९।

भरत०—सौ पुत्रोको कार्य-विभागके अनुसार नियुक्त किया । और जो जिस कार्य मे जिस ढगसे योग्य [हो सकता] था उसको उसी [कार्य] मे [मैंने उचित रीतिसे] लगा दिया ।४०।

---

१ ठ पुण्ड्राक्ष पूर्णनास च । अत्र त—पुस्तके—
किरीटिनञ्च माषञ्च तथा धन्विनमेव च ।
शिलापट्ट स्वर्णगुञ्ज शिलाशिनमथापि च ॥३६॥
अग्निवेश शिव चैव ध्यान जप्य सुमङ्गलम् ।
जंशिषव्य कुण्डिन च तथा कलशमेव च ॥३७॥
विद्धाक्ष घूर्णनासञ्चाप्यसित सितमेव च ।
इत्यधिक दृश्यते । २ प असितासितमेव च । ३ ख साल ।
४ प त्यामायनम् । ५ ठ पञ्चसखम् । ६ ज शिखिमेव च । ठ शिखरमेव च ।
७ ज सण्डम् । इद पक्तिद्वय त-पुस्तके नास्ति ।
८ प म रौद्रवीर । ९ अय श्लोक त—पुस्तके नास्ति ।
१०. न एवमादि शत पूर्ण । समग्र भूमिभागश । ड त एवमाद्य पुत्रशत समग्र भूमिभागश । ख साग्र भूमिभागश । ११ त यस्मिन् कर्मणि यो योग्यस्तस्मिन् स विनियोजित । भ. योग्योऽसौ तत्र योजित ।

पुत्रान् नामभिर्दर्शयति शाण्डिल्यमित्यादिना। अत्र 'प्रसिद्धत्वं नटानामादर-कारणमिति तावन्मुख्य नामग्रहणे प्रयोजनम्। आनुषङ्गिक त्वन्यदपि। तद्यथा विदूषक-तापसादिनाम्ना [1]तथाकर्मिणां निर्वचनलब्धार्थयुक्त्या भूमिकाविशेषोपयोग इति।

अन्यस्त्वाह—शतमेवेह पठित [3]वचनाभिनेयानां स्थाय्युत्पादितरसनवक[4]-तद्गतव्यभिचारित्रयस्त्रिंशत्-सात्त्विकाष्टकानुरूपाणां पञ्चाशतोऽर्थाना न्याय्यान्याय्य-भेदेन नायक-प्रतिनायकविषयतया प्राधान्याभिप्रायेणेति।

तत्र तु कैशिक्यपि[5] प्रयुक्ता स्यादित्युत्तरग्रन्थावकाशाभाव [6]इत्यलमाभिरसहृदया-भिनिवेशव्याख्याभि।

अभिनवगुप्तके मतसे नाम गिनानेका प्रयोजन—

अभिनव०—शाण्डिल्य इत्यादिसे [२६–४०वें श्लोकतक भरतमुनिके सौ] पुत्रोके नाम दिखलाते हैं। उसमें प्रसिद्ध होनेसे नटोका आदर करना नाम गिनानेका मुख्य प्रयोजन है। और गौण प्रयोजन तो और भी हो सकते हैं। जैसे कि—विदूषक और तापस आदि [के उपयोगी] नामोके निर्वचनसे प्राप्त अर्थके अनुसार उस प्रकारके कार्य करने वालोका भूमिका विशेषमे उपयोग [नामग्रहणका गौण प्रयोजन भी हो सकता है]।

पूर्व व्याख्याकारद्वारा निर्धारित प्रयोजन—

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो यह कहते हैं कि—सौ [नामो] को ही यहा इस अभिप्रायसे पढा गया है कि कहीं भी अभिनेय अर्थ, स्थायी भावोंसे उत्पादित नौ रस, उनसे सम्बद्ध ३३ व्यभिचारी भाव और आठ सात्त्विक [भाव] इन सबको मिला कर ९+३३+८=५०अर्थोंके, उचित और अनुचित रूपसे क्रमश: नायकगत और प्रतिनायकगत [दो प्रकारके हो जानेसे कुल ५०×२=१०० अभिनेय अर्थों] की मुख्यताके अभिप्रायसे [अर्थात् मुख्य रूपसे सौ ही अभिनेय अर्थ हो सकते हैं इसलिए सौ ही अभिनेताओंके नाम गिनाए हैं]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद में पूर्व-संस्करणो में 'कचनाभिनेयाना' और 'स्थाय्युत्पादन रसनवक'—पाठ छपे हैं। इनके स्थानपर 'वचनाभिनेयाना' और 'स्थाय्युत्पादितरसनवक' ये पाठ अधिक उपयुक्त हैं। अत हमने उन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है।

पूर्व व्याख्याकारका खण्डन—

अभिनवगुप्त इस व्याख्यासे सहमत नहीं है इसलिए अगले अनुच्छेदमें वे उसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि—

अभिनव०—उन [सौ अभिनेय अर्थों] मे तो कैशिकीका भी समावेश हो जाता है, तब कैशिकी-विषयक अगले ग्रन्थका कोई अवसर नहीं रहना है। इसलिए असहृदयता-द्योतक [मनमे न जमने वाली] ये खींच-तानकी व्याख्याएं ठीक नहीं हैं।

---

१. प्रसिद्धत्वात्। २ तनाकर्मीना। ३ म वचना, कञ्चना।
४. भ स्थाय्युत्पादनरसनवक। न. इत्नव। ५ भ. कैशिकयेवा। ६ न. इत्यलमसहृदय।

यस्मिन्निति उत्तमप्रकृतिविचेष्टितादौ। 'यथेति कश्चित् तदीयहृदयहर्षप्रदर्शनप्रकारेण योग्यो, अन्यस्तदीयशोकप्रकटीकरणेनेति ॥ ३६-४० ॥

अथ सकलप्रयोगप्राणभूतकैशिक्युपयुज्यमानोपकरणान्तर²सम्भरणायोपक्रमं दर्शयति 'भारती' इत्यादि—

भरत०—भारतीं सात्त्वतीं चैव वृत्तिमारभटीं तथा।
समाश्रितः प्रयोगस्तु प्रयुक्तो वै मया द्विजाः ॥४१॥

इसका यह अभिप्राय है कि पूर्व व्याख्याकारके अनुसार ९ रस, ३३ व्याभिचारिभाव तथा ८ सात्त्विकभाव मिला कर =५० अभिनेय तत्त्व बनते हैं। इनके नायकगत तथा प्रतिनायकगय अर्थात् न्याय्य अन्याय्य भेदसे दो-दो प्रकार होकर अभिनेय अर्थ कुल सौ प्रकारके हो जाते हैं। उनके अभिनयकेलिए १०० ही अभिनेताओकी आवश्यकता होती है। इसलिए यहा सौ पुत्रोकेही नाम गिनाए गए हैं। यह व्याख्या भरतके किसी पूर्ववर्ती टीकाकारने की है। परन्तु अभिनवगुप्तकी दृष्टिमें यह व्याख्या उचित नही है क्योकि इन १०० अभिनेय अर्थोंमें शृङ्गाररस भी आ जाता है। इसलिए शृङ्गाररसके अभिनयके योग्य जिस कैशिकी-वृत्तिका वर्णन आगे ४२ वें श्लोकमें 'कैशिकीमपि योजय' कह कर किया जाना है उस कैशिकी वृत्तिका भी अन्तर्भाव इन सौ अभिनेय अर्थोंमें ही हो जाता है। इन सबका अभिनय इन सौ पुत्रोको ही करना है अत एव कैशिकी वृत्तिका अभिनय भी इन पुत्रोके द्वारा ही हो जाता है। इस दशामें आगे ४५ वें श्लोकमें कैशिकी वृत्तिका प्रयोग पुरुषो द्वारा असम्भव वतला कर उसके लिए जो स्त्रियोकी माग की गई है और उसकी पूर्तिकेलिए व्रह्माजीने जो अप्सराओकी सृष्टि की है वह सब अनुपपन्न हो जाता है। इसलिए पूर्व व्याख्याकार द्वारा प्रस्तुत यह व्याख्या ठीक नही है।

अभिनव०—['यो यस्मिन् कर्मणि यथा योग्य' इत्यादि ४० वें श्लोकमे आए हुए 'यस्मिन्'] 'जिसमे' इस [पद] से उत्तम-प्रकृतिकी चेष्टा आदिमे [जो योग्य था उसको उस कार्यमे नियुक्त किया यह अभिप्राय है]। 'यथा' इस [पद] से कोई अपने हृदयके हर्ष प्रकाशनकेद्वारा, और कोई अपने शोक प्रकाशनकेद्वारा [अभिनयके योग्य होता है उसको उसी प्रकारके अभिनयकेलिए नियत किया गया यह अभिप्राय है] ॥४०॥

अभिनव०—समस्त प्रयोगोकी प्राणभूत कैशिकी वृत्तिमे उपयुक्त होने वाले [स्त्री-रूप] अन्य उपकरणोकी प्राप्तिकेलिए 'भारतीं' इत्यादि [अगली ४० से ४५ तक कारिकाओ] से उपक्रम करते हैं—

भरत०—[अपने सौ पुत्रोको शिक्षा देनेके वाद] मैंने भारती सात्त्वती और आरभटी [इन तीन वृत्तियो] का आश्रय लेकर नाट्यका अभिनय किया। ४१।

साहित्यशास्त्रमें 'वृत्ति' शब्दका प्रयोग अनेक अर्थोंमें हुआ है। अभिधादि शब्द शक्तियाँ भी 'वृत्ति' कहलाती है। 'उद्भट' ने वर्णसङ्घटना रूपमें परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या तीन वृत्तिया मानी हैं। ये वृत्तिया प्राय अनुप्रासात्मक होती है। इसलिए 'वर्तन्ते अनुप्रासभेदा यासु इति वृत्तय'

---

१ म यथेति। तदीव। २ म भ सहरणाय, सहाराय।

वृत्तिमिति—धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टये साध्ये वागङ्गसत्त्वचेष्टासामान्यम् । तच्च संक्षिप्तेनावान्तरभेदेन चतुर्धा । यद्यत् किल कर्मारभ्यते तत्र वाङ्-मन-कायव्यापार-स्तावदस्ति । तत्र कस्यचिल्लालित्यवैचित्र्यक्रमस्यानुप्रवेशो यत उत्तमप्रकृतीनां सौष्ठवमय एव सर्वो व्यापार । तदेव तद् वृत्तिचतुष्टयम् ।

भारती वाग्वृत्ति । [1]मनोव्यापाररूपा सात्त्विकी सात्त्वती । सदिति प्रख्यारूप संवेदनम् । तद् यत्रास्ति तत् सत्त्वं मन । तस्येयमिति । [2]इयृति इति अरा. भटा-सोत्साहा अनलसाः । तेषामियं आरभटी [3]कायवृत्ति ।

इस विग्रहके अनुसार उनको 'वृत्ति' कहा जाता है । परन्तु नाट्यशास्त्रमें 'वृत्ति' शब्दका प्रयोग इन दोनोसे भिन्न तीसरे अर्थमें होता है । यहा वृत्ति शब्दका प्रयोग व्यवहार अर्थमें होता है । 'व्यापार पुमर्थसाधको वृत्तिः' । यह व्यापार वाचिक, मानसिक और शारीरिक तीन प्रकार होता है । यहा वाचिक व्यापारको 'भारती' वृत्ति, मानसिक व्यापारको 'सात्त्वती' वृत्ति और कायिक व्यापारको 'आरभटी' वृत्ति कहा जाता है । इन तीनों प्रकारके व्यापारोंमें विशेष प्रकारके सौन्दर्यका आधान करने वाला एक और भी व्यापार माना है उसे 'कैशिकी' वृत्ति कहा जाता है । इस प्रकार नाट्य-शास्त्रमें चार वृत्तिया मानी गई हैं और इनको 'वृत्तयो नाट्यमातरः' नाट्यकी माता कहा गया है । इन्हीं वृत्तियोंके नाट्यमें उपयोगकी चर्चा इस कारिकामें की गई है । नाट्यशास्त्रमें इन वृत्तियोंके ऊपर एक पूरा अध्याय [२०] है । उसमें इन सबके लक्षणादि किए गए हैं ।

अभिनव०—'वृत्ति' [यह पद व्यापारका वाचक है । उस] से यह अभिप्राय है कि—धर्म आदि रूप चारो पुरुषार्थोंकी सिद्धिमें वाचिक, शारीरिक तथा मानसिक [तीन प्रकारका] सामान्य व्यापार [अपेक्षित] होता है । और वह [व्यापार] संक्षिप्त अवा-न्तर भेदोंसे चार प्रकारका हो जाता है । क्योंकि जो-जो भी कार्य आरम्भ किया जाता है उसमें, वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक व्यापार सामान्य रूपसे [तावत्] होता है । [जो क्रमश 'भारती', 'सात्त्वती' तथा 'आरभटी' 'वृत्ति' नामसे कहा जाता है] उसमें [भी] जिससे किसी अपूर्व लालित्य एव आकर्षण [वैचित्र्य] का समावेश हो जाता है [वह चौथा व्यापार 'कैशिकी-वृत्ति' कहलाता है] । जिसके कारण उत्तम स्वभावयुक्त [अभिनेताओं] का सारा व्यापार सौन्दर्य-युक्त हो जाता है । वे ही वे [भारती आदि नामसे प्रसिद्ध] चार वृत्तियां [कहलाती] हैं ।

अभिनव०—[उनमेंसे] 'भारती' [वृत्ति] वाणीका व्यापार है । सत्त्व [अर्थात् मन] से सम्बद्ध [अर्थात्] मनो-व्यापार रूप 'सात्त्वती' [वृत्ति] है । [क्योंकि] 'सत्' यह [प्रख्या] वृत्ति रूप ज्ञानका नाम है । वह जिसमें होता है उस मनको 'सत्त्व' कहते हैं । उसकी [अर्थात् उससे सम्बद्ध] होनेसे यह [सात्त्वती या सात्त्विकी वृत्ति कही जाती] है । जो [इयृति इति-अरा इस व्युत्पत्तिके अनुसार ऋ-गतौ धातुसे अराः शब्द बनता है । उसका अर्थ] गतिशील हैं वे 'अर' [कहलाते] हैं । उत्साह-युक्त और आलस्य रहित वीर [भट 'अर' कहलाते] हैं । उन [गतिशील अरों वीरों] से सम्बद्ध यह आरभटी [वृत्ति] शारीरिक व्यापार-रूप है ।

१ भ चतुर्धा च शुद्धम् ।　　२. म. इयर्तीत्यार । इयर्ति ।　　३. म. कायव वृत्ति ।

केशा किञ्चिदप्यर्थक्रियाजातमकुर्वन्तो देहशोभोपयोगिन । तद्वत् सौन्दर्योपयोगी व्यापार कैशिकी वृत्ति । इति तावन्मुख्य क्रम । अन्यस्य तु यस्तद्व्यपदेश स तत्प्रधानत्वादनेकरसपानकरीत्या[1] मधुरव्यपदेशवत् । एतच्चाग्रे[2] वितनिष्याम ।

एव यत्किञ्चिल्लालित्य तत्सर्व कैशिकीविजृम्भितम् । सा च तै प्रयोजयितुमशक्येति तु-शब्देनोक्तम् । तेन दशरूप सर्वं वैचित्र्यशून्य तान् प्रति योजितम् । अत एव तादृशे प्रयोगेऽवज्ञा वै-शब्देन द्योतयति । प्रयुक्त इति तेषामभ्यासभूमौ योजित इत्यर्थ ॥४१॥

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें पूर्व-सस्करणोमें 'इर्यति इति अरा,' यह पाठ छपा है। परन्तु वह अशुद्ध है। उसके स्थान पर 'इयृति इति अरा' यह पाठ होना चाहिए। 'इर्यति' यह जुहोत्यादिगणकी 'ऋ सृ गतौ' धातुका लट्-लकार प्रथम पुरुष एक वचनका प्रयोग है। लट्-लकारमें इर्यति, इयृत इयृति इस प्रकार इसके रूप चलते हैं। इर्यति यह एकवचनका रूप है। परन्तु 'अरा' 'भटाः' आदि सब बहुवचनके प्रयोग हैं। अत यहाँ बहुवचनका रूप अपेक्षित है। बहुवचनमें 'इर्यति' नही, 'इयृति' रूप बनता है। अत. यहाँ 'इयृति' पाठ होना चाहिए। इसलिए हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—केश [सिरके बाल] किसी कार्यका सम्पादन न करके केवल शरीरकी शोभाके काममे आते हैं। उनके समान [नाट्यमे केवल] सौन्दर्यमे उपयोगी व्यापार कैशिकी-वृत्ति [कहलाता] है। यह [भारती आदि वृत्तियोका] मुख्य स्वरूप है। [नाट्य आदि] अन्य [अर्थात् नाट्य-सम्बन्धी विशेष व्यापारो] मे जो कैशिकी आदि का व्यवहार है वह अनेक रसोसे युक्त ठण्डाई आदि [रूप पानक] मे मधुर-व्यवहारके समान उसकी प्रधानताके कारण [गौरण रूपसे] ही होता है। इस बातको आगे विस्तार-पूर्वक प्रतिपादित करेंगे।

अभिनव०—इस प्रकार [नाट्यमे] जो कुछ सौन्दर्य है वह सब कैशिकी-वृत्ति का ही परिणाम है। उन [पुरुष रूप भरतपुत्रो] के द्वारा उसका प्रयोग करना असम्भव है यह तु-शब्दसे कहा है। इसलिए [उस समय तक केवल पुरुष रूप भरतमुनिके पुत्रोकेद्वारा] उनके प्रति योजित [अर्थात् प्रस्तुत] किया गया [अर्थात् जिसके अभिनयकी तैयारीमे उन भरत पुत्रोको लगाया गया वह] सारा नाट्य [स्त्री-पात्रोसे रहित होनेके कारण] सौन्दर्य-विहीन था। इसी लिए [स्त्री-रहित होनेके कारण सौन्दर्य-हीन] उस प्रकारके अभिनयमे [भरतमुनिने स्वय अपने] अनादर-भावको [कारिकामे आए हुए] 'वै'-शब्दसे सूचित किया है। ['प्रयोगस्तु प्रयुक्त ' प्रयोगको] 'प्रयुक्त किया' यहाँ [कारिकामे आए हुए] 'प्रयुक्त' पदका आशय उन [पुत्रो] की अभ्यास-भूमिमे [प्रयोग अर्थात् नाटचको] प्रयुक्त किया यह है।

---

१ तत्प्रधानत्वादनेकरसप्रधान पानकरीत्या कैशिकीत्यादि मधुरकपदेशवत् ।

२. म भ प्रागेव । प्राग्रे ।

[प्रक्षिप्त०—परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया ।]

भरत०—अथाह मां सुरगुरुः कैशिकीमपि योजय ।
यच्च तस्याः क्षमं द्रव्यं तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥४२॥

क्षममिति प्रयोगसमर्थम् । सादरविचित[1] प्रयुङ्क्ते । अत एवाह 'द्रव्य' सुन्दरम् । यत. सौन्दर्यप्राणैव सा ॥ ४२ ॥

भरत०—इसपर [अर्थात् मैं स्त्री-पात्रोंके न होनेसे कैशिकी-वृत्ति-रहित नाटकके अभिनयका अभ्यास करवा रहा हूं यह जान कर] ब्रह्माने मुझसे कहा कि हे द्विजवर [आप इस अभिनयमें] कैशिकी वृत्तिका भी समावेश करें। और जो उसके योग्य 'द्रव्य' हो उसे मांग लें ॥–१॥

अभिनव०—'क्षमं' अर्थात् [कैशिकी वृत्तिके] अभिनयमें समर्थ [यह कारिका में आए हुए 'क्षमं' पदका अभिप्राय है] । [नाट्याचार्य] आदर-पूर्वक चुने हुए [अभिनेताओं] को [चुन-चुनकर] प्रयुक्त करता है इस लिए ब्रह्माने 'द्रव्य' यह कहा है। [इसका अभिप्राय चुनी हुई] 'सुन्दर' वस्तु है। क्योंकि वह [कैशिकीवृत्ति] सौन्दर्य-प्राण ही है [अर्थात् सौन्दर्य ही कैशिकीवृत्तिका जीवन है। इसलिए ब्रह्माने उसके अभिनयार्थ 'द्रव्य' शब्दसे सुन्दरतम बढ़िया वस्तु मांगनेके लिए कहा है] ॥

प्रक्षिप्त पाठ—पूर्व-संस्करणोंमें इस श्लोकके पहिले 'परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया' यह एक पंक्ति और छपी है। उसे इस श्लोकका पूर्वार्द्ध माना गया है। उसको मिलाकर यह श्लोक इस प्रकार दिया गया है—

परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया ।
अथाह मां सुरगुरुः कैशिकीमपि योजय ॥४२॥

हमारी सम्मतिमें यह पाठ अशुद्ध है। पूर्वार्द्ध वाला भाग प्रक्षिप्त है। उसको यहांसे हटा देना चाहिए। इसके कई कारण हैं। पहिला कारण यह है कि 'परिगृह्य ब्रह्मा विज्ञापितो मया' का कोई अर्थ नहीं लगता है। क्या लेकर और क्या कहा यह कुछ भी समझमें नहीं आता है। और न उसकी अगली पंक्तिसे कोई सङ्गति लगती है।

दूसरी बात यह है कि इस भागकी सत्ता माननेपर आगे बहुत दूर तकके श्लोक स्वयमें अपूर्ण हो जाते हैं। अर्थात् एक श्लोकका उत्तरार्द्ध अगले श्लोकके पूर्वार्द्ध भागके साथ मिल ही अर्थको देता है। वैसे प्रत्येक श्लोक अपनेमें अपूर्ण और असङ्गत रहता है। उदाहरणार्थ अगले ही श्लोकोंको ले लिया जाय। इस श्लोकार्धको निकाल कर—

अथाह मां सुरगुरुः कैशिकीमपि योजय ।
यच्च तस्याः क्षमं द्रव्यं तद् ब्रूहि द्विजसत्तम् ॥४२॥

इस रूपमें हमने इस श्लोकको दिया है। उसके अर्थकेलिए अन्य किसीकी आवश्यकता नहीं होती है। इसलिए यह पाठ अपने पूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार और अगला श्लोक—

एवं तेनास्म्यभिहितः प्रत्युक्तश्च यथा प्रभु ।
दीयतां भगवन् द्रव्यं कैशिक्याः सम्प्रयोजकम् ॥४३॥

इस रूपसे ठीक बन जाता है। यदि 'परिगृह्य प्रणम्याथ' आदि श्लोकार्धको लगा जाय तो यह सब पाठ गड़बड़ हो जाता है। यह गड़बड़ बड़ोदा वाले प्रथम संस्करणमें प्रायः अध्यायके

---

१ ब. II सादरविचित्रम् ।

अन्ततक चलती रहती है। द्वितीय संस्करणमें श्लोकोकी अपूर्णता सम्बन्धी यह अव्यवस्था ६१वें श्लोकमें आकर समाप्त हो जाती है। इसका कारण यह है कि वहाँपर 'आव्यत्व प्रेक्षणीयस्य ददौ देवी सरस्वती' यह श्लोकार्ध फिर प्रक्षिप्त आ गया है। प्रथम संस्करणमें उसको सख्या-क्रममें सम्मिलित नही किया गया है और कोष्ठमें दिया गया है। किन्तु द्वितीय संस्करणमें उसे कोष्ठसे हटा कर सख्या-क्रममें सम्मिलित कर लिया गया है। अतः दो श्लोकार्धोंको मिला देनेसे श्लोकोकी स्वयमें अपूर्णता वाला दोष तो वहासे समाप्त हो जाता है।

प्रकृत स्थलमें इस श्लोकार्धके आ जानेसे एक दो श्लोकोकी नही अपितु बहुत दूर तकके श्लोकोकी इस प्रकारकी अपूर्णता हो जाती है। यदि इस भागको हटा दिया जाय तो वे सारे श्लोक स्वयमें पूर्ण हो जाते हैं। प्रत्येक श्लोकका अर्थ उसमें ही पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार इस श्लोकका यह प्रक्षिप्त भाग बहुतसे श्लोकोंके रचना-सौन्दर्य एव अर्थ-सौष्ठवका विघातक हो रहा है। उदाहरणार्थ पूर्व संस्करणोमें मुद्रित पाठके अनुसार ५५ वा श्लोक इस प्रकार दिया गया है—

अत्रेदानीमय वेदो नाट्यसज्ञ प्रयुज्यताम्।
ततस्तस्मिन् ध्वजमहे निहतासुरदानवे ॥५५॥

यह श्लोक बडा अटपटा-सा लगता है। उसका ठीक अर्थ नहीं बनता है। यदि प्रकृत पूर्वार्द्ध भागको निकाल दिया जाय तो इस श्लोकका पाठ निम्न प्रकार हो जाता है—

अथ ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्तते।
अत्रेदानीमय वेदो नाट्यसज्ञ. प्रयुज्यताम् ॥५५॥

अब यह श्लोक एक सुसम्बद्ध एव पूर्ण अर्थको प्रकाशित करता है और उसकी रचना भी सुन्दर मालूम होती है। इसका प्रभाव न केवल इस श्लोकपर पडता है अपितु अगले श्लोकोंमें भी इसी प्रकारका रचना-सौन्दर्य एव अर्थ-सौष्ठव बन जाता है। अतः 'परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया' इस भागको प्रक्षिप्त मान कर निकाल ही देना चाहिए।

इस विषयमें तीसरी युक्ति यह है कि इस पाठको मान कर जो श्लोक पूर्वसंस्करणोंमे दिया गया है उसपर अभिनव भारतीमें कोई वृत्ति नही मिलती है। और उसको हटा देने पर जो श्लोक बनता है उसपर अभिनवभारतीमें एक पक्तिकी वृत्ति मिलती है। इसलिए भी इस भाग की प्रक्षिप्तता सिद्ध होती है। पूर्व-संस्करणोके अनुसार ४२ वें श्लोकका पाठ निम्न प्रकार है—

परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया।
यथाह मा सुरगुरु कैशिकीमपि योजय ॥ ४२ ॥

इसपर अभिनवगुप्तकी कोई वृत्ति नहीं मिलती है। हमारे सशोधनके अनुसार इसके पूर्वार्द्ध भागको निकाल देनेके बाद श्लोक और उसकी वृत्तिका स्वरूप निम्नप्रकार बनता है—

'अथाह मा सुरगुरुः कैशिकीमपि योजय।
यच्च तस्या क्षम द्रव्य तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥ ४२ ॥

क्षममिति प्रयोगसमर्थम्। सादरविचित प्रयुड्क्ते। अत एवाह 'द्रव्य' सुन्दरम्। यत सौन्दर्यप्राणैव सा।'

इस विषयमें चौथी और सबसे मुख्य युक्ति यह है कि अभिनवगुप्त किसी कारिकाकी वृत्ति लिखते समय प्राय उसके आदि प्रतीकभागको उद्धृत करते हैं। वे प्रतीकभाग इस श्लोकार्ध को निकाल देनेपर ही ठीक बनते हैं। यदि इस श्लोकार्धको रखा जाय तो वे सब गड-बड हो जाते हैं। उदाहरणार्थ अगले श्लोकोको ही ले लिया जाय। अगले ४४-४५ वे श्लोकोकी इकट्ठी अवतरणिकामें अभिनवगुप्त लिखते हैं—

भरत०—एवं [1]तेनास्म्यभिहितः प्रत्युक्तश्च मया प्रभुः ।
[2]दीयतां भगवन् द्रव्यं कैशिक्याः सम्प्रयोजकम् ॥४३॥

एवमिति बुद्धिकौशलं मदीयं ज्ञातु तेनाहमेतत् पृष्ट । चकारेण प्रत्युत्पन्न-प्रतिभानत्व दर्शयति । अनेन झटिति कविहृदयग्रहणयोग्यत्वं नाट्याचार्यगुण इति सूचयति ॥४३॥

अनेनाभिप्रायेण कैशिकीसाक्षात्कार वर्णयति 'नृत्ताङ्गहार इत्यादिना युगलकेन ।

इस अवतरणिकाके बाद स्वभावतः 'नृत्ताङ्गहारसम्पन्ना' इत्यादि श्लोक माना चाहिए । हमने जो पाठ रखा है उसके अनुसार इस अवतरणिकाके बाद यही श्लोक आता है । परन्तु यदि 'परिगृह्य प्रणम्याथ' आदि श्लोकार्धको रखते हैं तो यह प्रतीक ठीक नही बनता है । तब नवीन ४३ वें श्लोकका प्रारम्भ 'दीयता भगवन्' से होता है । उस दशा में 'नृत्ताङ्गहार इत्यादिना युगलकेन' यह और अभिनवभारतीका प्रतीक असङ्गत हो जाता है ।

इसी प्रकार ५१-५२ दो श्लोकोंकी सम्मिलित अवतरणिकामें अभिनवगुप्तने लिखा है—

"नृत्त-गीत-आतोद्य-अभिनयाना साम्यसिद्धयर्थमेकीभावेन सम्मेलनं कृत्वा प्रयोग कार्यं इति दर्शयति श्लोकद्वयेन 'एव नाट्यमित्यादिना'—

इस अवतरणिकाके बाद स्वभावत —

'एव नाट्यमिदं सम्यग् बुद्ध्वा सर्व. सुतै' सह ।'

यह श्लोक माना चाहिए । हमारे पाठके अनुसार यह श्लोक ही आता है । परन्तु पूर्व-संस्करणोंके पाठके अनुसार अगला ५१वाँ श्लोक 'नारदाद्याश्च गन्धर्वाः' से प्रारम्भ होता है । यह ठीक नहीं है । इस असङ्गतिका कारण यही है कि उनमें 'परिगृह्य' आदि श्लोकार्धको यथार्थ पाठमें मान कर श्लोक सख्या डाली है । इस श्लोकार्धके रहनेसे आगेभी अनेक श्लोकोंमें इस प्रकारकी असङ्गति उपस्थित होती है । इसलिए वास्तवमें यह ठीक पाठ नहीं है । प्रक्षिप्त पाठ है । उसे निकाल ही देना चाहिए ।

यद्यपि नाट्यशास्त्रकी सभी प्रतियोंमें यह पाठ पाया जाता है । फिरभी ऊपर दी हुई युक्तियोंसे यह हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रक्षिप्त पाठ है । उसके कारण सारा प्रकरण असङ्गत हो रहा है । इसलिए हमने प्रक्षिप्त मान कर कोष्ठमें कर दिया है । और संख्या क्रममें भी उसकी गणना नहीं की है । अतः यहासे आगे हमारे सन्ख्या क्रममें आधे श्लोकका अन्तर पड जायगा । बड़ोदा वाले द्वितीय सस्करण में ६१ वें श्लोकमें 'आच्यत्व' इत्यादि इसी प्रकारका एक श्लोकार्ध और आवेगा ॥४२॥

भरत०—उन्होंने [अर्थात् ब्रह्माने] इस प्रकार कहा और मैंने उनसे निवेदन किया कि हे भगवन् [तो फिर] कैशिकीका भली प्रकार प्रयोग करने वाला [स्त्रीरूप] 'द्रव्य' दीजिए ॥४३॥

अभिनव०—'एवं' इससे [अभिप्राय यह है कि] मेरी बुद्धिकी निपुणताको जानने केलिए उन्होंने मुझसे यह पूछा था । चकारसे [भरतमुनिने] अपना प्रत्यु-त्पन्नमतित्व प्रदर्शित किया है । इससे कविके हृदय [के गूढ अभिप्राय] को शीघ्रतासे समझ लेनेकी योग्यता भी नाट्याचार्यका गुण है यह बात सूचित की है ॥४३॥

---

१. प म तेनास्म्यभिहित । २. म क्रियताम् ।

न चात्यन्तापरिदृष्टे वस्तुनि उपकरणमुन्नेतु शक्यम् । ब्रह्मणा तूपदेशसमये वचनमात्रेणोक्त एतन्मध्ये हृदयहारि वैचित्र्य योजनीयमिति । अनेनाभिप्रायेण कैशिकी-साक्षात्करण वर्णयति 'नृत्ताङ्गहार' इत्यादिना युगलकेन–

भरत०–[1]नृत्ताङ्गहारसम्पन्ना [2]रसभावक्रियात्मिका ।
[3]दृष्टा मया भगवतो [4]नीलकण्ठस्य नृत्यतः ।। ४४ ।।
कैशिकी श्लक्ष्णनेपथ्या[5] शृङ्गाररससम्भवा ।
अशक्या पुरुषैः सा तु प्रयोक्तु स्त्रीजनादृते ।। ४५ ।।

नर्तन नृत्तम्, गात्राणामङ्गोपाङ्गाना विलासेन क्षेपो, न तु केनचित् कर्तव्यांशेन । लोकोऽप्येवविधे विषये एवमेवाह– 'नृत्यतीव गच्छति' इत्यादि । तत्र येऽङ्गहारा अङ्गाना हरणानि[9] अत्रुटितरूपतया समुचितस्थान-प्राप्तय, ताभि[10] सम्पन्ना ।

अभिनव०—जिस वस्तुको बिल्कुल कभी न देखा हो उसके साधनोकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है । [अत. कैशिकीके अभिनय-योग्य 'द्रव्य' की मांग करनेके पूर्व उसका साक्षात्कार आवश्यक है] । ब्रह्माजीने तो उपदेशके समय केवल वाणी मात्रसे कहा था कि इस [अभिनय] के भीतर हृदयको हरण करने वाले सौन्दर्यका समावेश होना चाहिए । [कैशिकीका अभिनय तो नहीं दिखलाया था तब उसके साधन कैसे समझ सकते हैं] इस अभिप्रायसे कैशिकीके साक्षात्कार करनेका वर्णन 'नृत्ताङ्गहार' इत्यादि दो श्लोकोमे करते हैं—

भरत०—नृत्य और अङ्गहार [अर्थात् नृत्यके समय सुन्दर रूपसे अङ्गोके सञ्चालन] से युक्त, रस एव भावयुक्त क्रियामयी, सुन्दर वेषसे युक्त एव शृङ्गाररससे उत्पन्न होने वाली कैशिकी [वृत्ति] को मैंने भगवान् शिवके नृत्यके समय देखा है । किन्तु स्त्रीजनोके विना पुरुषोके द्वारा उसका अभिनय नहीं कराया जा सकता है । ४३-४४ ।

अभिनव०—नृत्त अर्थात् नाचना । [नृत्तशब्दके मूलभूत 'नृती गात्रविक्षेपे' धातुसे सम्बद्ध अर्थको दिखलाते हैं] गात्रो [अर्थात्] अङ्ग-उपाङ्गोका सुकुमारताके साथ, न कि किसी कार्यके करनेके अङ्ग रूपमे, जो इधर-उधर चलाना [वह गात्र-विक्षेप हुआ उसीको 'नृत्य' कहते हैं] । लोकमे भी इस प्रकार [विना किसी कामके सुन्दरताके साथ हाथ-पैर आदि अङ्गोके चलाने] के विषयमे 'नाचता हुआ-सा चलता है' यह कहा जाता है । उस [गात्रविक्षेप रूप नृत्त] मे जो अङ्गोका हरण अर्थात् टूटे विना समुचित स्थानोपर प्राप्ति [उसको 'अङ्गहार' कहते हैं] । उनसे युक्त ['नृत्ताङ्गहारसम्पन्ना' कैशिकी वृत्ति होती है] ।

---

१ ठ म त मृदङ्गहारसम्पन्ना । अ म नृत्ताङ्गहारसयुक्ता । २ ख. ललिताभिनयात्मिका ।
३ दृष्टोमया । ४. न नीलवर्णस्य । य त नृत्यत शङ्करस्य तु ।
५ न नैपथ्या । ६ ड त न शक्या । ७ न म साधु । ८ ठ भ स्त्रीजनैर्विना ।
९ हरणानीति । १० भ म प्राप्तास्तै । ब II प्राप्ति तै ।

'शङ्करस्यैव भगवत परिपूर्णानन्दनिर्भरीभूतदेहोच्छल'दान्तरनिर्वारसुन्दराकारस्य । अत एव 'नृत्यत' इति, 'कर्तव्यान्तरवैकल्याद् आनन्दनृत्तमात्रस्थितस्य, प्रयोज्यत्वेन मया दृष्टा' ।

ननु सा नाट्योपयोगिनी कथम् ? आह—सैव यदि श्लक्ष्णेन श्लिष्यता, उचितेन नेपथ्येन सहिता भवति । यद्वक्ष्यति –शृङ्गार उज्ज्वलवेषात्मक' [ना० शा० ६-५०] इति । तन्नाट्योक्तशृङ्गाररस सम्भवति नान्यथा । नेपथ्यग्रहणं सुकुमारस्य आङ्गिकादेरप्युपलक्षणम् । तेन शृङ्गाराभिव्यक्तिहेतौ सुकुमारे चतुर्विधेऽप्यभिनये योजिते मधुरमन्थरवलनावर्तनभ्रूक्षेपकटाक्षादिना विना शृङ्गाररसास्वादस्य नामापि न भवति ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद में 'अङ्गानां हरणानि अत्रुटितरूपतया समुचितस्थानप्राप्तास्तै' सम्पन्ना' इस प्रकारका पाठ प्रथम-सस्करणमें छपा है । परन्तु यह पाठ अशुद्ध है । इसमें 'हरणानि' इस पदकी व्याख्या 'अत्रुटितरूपतया समुचितस्थानप्राप्ता' इस पदकेद्वारा की गयी है । हृ-धातुने भावमें ल्युट्-प्रत्यय करके 'हरण' शब्द बना है । उसकी व्याख्या भावार्थमें क्तिन्-प्रत्यय करके बने हुए 'प्राप्ति' शब्दसे ही की जा सकती है । भूतार्थमें किये हुए क्त-प्रत्ययसे बने 'प्राप्ताः' पदसे नहीं । इसलिए 'समुचितस्थानप्राप्ताः' के स्थानपर 'समुचितस्थानप्राप्तय' पाठ उचित प्रतीत होता है । उसीके सम्बन्धसे 'तै' के स्थानपर 'ताभि.' पाठ होना चाहिए । इसी दृष्टिसे हमने 'अङ्गाना हरणानि अत्रुटितरूपतया समुचितस्थानप्राप्तय, ताभि. सम्पन्ना.' इस प्रकारका पाठ सशोधित रूपमें प्रस्तुत किया है ।

अभिनव०—भगवान् शङ्करके ही [नाचते समय मैंने कैशिकी वृत्ति देखी थी । अर्थात् पुरुष रूपमे शङ्करके नृत्यको छोड़ कर अन्यत्र कहीं उसका दर्शन सम्भव नहीं है] परिपूर्ण आनन्दसे भरे हुए शरीरसे उछलते हुए हृदयके कारण [अर्थात् पुरुष होते हुए भी अतिशय आनन्दातिरेकके कारण कैशिकी वृत्तिके उपयोगी] अत्यन्त सुन्दर आकार वाले [शिवके नाचते समय ही उसका दर्शन हो सकता है] । इसी लिए 'नृत्यत' [यह कहा है] इस [पद] से अन्य कोई कार्य न होनेसे आनन्द मग्न नृत्यमात्रमें लगे हुए [शिवजी] के द्वारा प्रयुक्तकी जाती हुई [कैशिकी वृत्ति] मैंने देखी [यह अभिप्राय है] ।

अभिनव०—अच्छा वह [कैशिकीवृत्ति] नाट्यमें उपयोगिनी कैसे होती है ? [इसका उत्तर] कहते हैं कि—यदि वही सुन्दर अर्थात् फबने वाले [श्लिष्यता] उचित वेषसे युक्त होती है । जैसा कि आगे कहेंगे कि—'शृङ्गार उज्ज्वल वेषात्मक है' । तब नाट्यमें कहे हुए शृङ्गाररसकी उत्पत्ति हो सकती है अन्यथा नहीं । नेपथ्यपदका ग्रहण सुकुमार आङ्गिक आदि [व्यापार] का भी उपलक्षण है । इसलिए शृङ्गाररसकी अभिव्यक्तिमें चारों प्रकारके सुकुमार अभिनयकी योजना करने पर भी सुन्दरता-पूर्वक धीरे-धीरे बलखाने, मटकने, भौंहें चलाने और कटाक्षके बिना शृङ्गाररसका आस्वादन नामको भी नहीं हो सकता है ।

---

१. म भ शङ्करस्यैव ।　　२. ब देहोच्छल ।　　३ [illegible]न्तर ।

किमत्रैव सोपयोगेत्याह—'रसभावक्रियात्मिका' इति । रसाना भावो भावना कवि-नट-सामाजिकहृदयव्याप्ति, तस्या या क्रिया –इतिकर्तव्यता– सैवात्मा स्वभावो यस्या ।

एतदुक्त भवति –रौद्रादिरसाभिव्यक्तावपि कर्तव्याया योऽभिनय उपादीयते सोऽप्यनुप्रासवलनावर्तनाद्यात्मकसुन्दरवैचित्र्यस्यामिश्रणाया दु श्लिष्टोऽश्लिष्ट एव वा, न रसाभिव्यक्तिहेतुर्भवतीति सर्वत्रैव कैशिकी प्राणा । यद्वक्ष्यति– "अस्य शाखा च नृत्त च वस्तून्यभिनयस्य' इति । शृङ्गाररसस्य तु नामग्रहणमपि न तया विना शक्यम् ।

कैशिकीवृत्ति सभी रसोका प्राण है—

अभिनव०—क्या वह [कैशिकवृत्ति] इसी [शृङ्गाररसकी उत्पत्ति] मे ही उपयोगिनी है ? [अन्यत्र नहीं] । इस [शङ्काके होने] पर कहते हैं कि—'रसभावक्रियात्मिका' रसोका जो भाव, अर्थात् भावना, अर्थात् कवि नट तथा सामाजिकोके हृदयमें व्याप्ति, उसकी जो क्रिया अर्थात् करनेका प्रकार—इतिकर्तव्यता—[कर्तव्यतायाः इति· प्रकार इतिकर्तव्यता रसोत्पादनकी शैली] वही जिस [कैशिकी] का स्वभाव है ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—रौद्रादि रसोकी अभिव्यक्ति करनेके लिए जो अभिनय किया जाता है वह भी यदि अनुप्रास [रूप शब्द-सौन्दर्य तथा शरीरके विशेष प्रकारसे रसके अनुकूल] मोडने, घुमाने आदि सुन्दर वैचित्र्यका मिश्रण न होनेसे ठीक तरहसे न फबने वाला, अथवा कम फबने वाला [दु श्लिष्ट या अश्लिष्ट] हो तो वह रसकी उत्पत्तिका हेतु नहीं हो सकता है । इसलिए [न केवल शृङ्गाररसमे अपितु] सभी रसोका प्राण कैशिकी-वृत्ति ही है । जैसा कि आगे कहेगे कि—'इस [रस] की शाखाए नृत्त और अभिनयकी अन्य वस्तुए' [कैशिकीसे प्रभावित होती हैं] । और शृङ्गाररसका तो उसके बिना नाम भी नहीं लिया जा सकता है ।

पाठसमीक्षा—यहाँ ग्रन्थकारने 'सर्वत्रैव कैशिकी प्राणा' सभी रसोमे सौन्दर्याधायक-तत्त्व कैशिकी वृत्ति ही है इस सिद्धान्तके समर्थनकेलिए 'यद्वक्ष्यति'—लिखकर उसके आगे 'अस्य शाखा च नृत्य च वस्तून्यभिनयस्य इति' इस प्रकारका प्रमाण उद्धृत किया है । प्रमाण रूपसे प्रस्तुत किया हुआ वचन नाट्यशास्त्रके आठवें अध्यायसे लिया गया है । परन्तु अर्थकी दृष्टिसे उसकी यहाँ कोई सङ्गति नही लग रही है । यह श्लोक आठवे अध्यायका १५वा श्लोक है । परन्तु उस श्लोक में या उस अध्यायमें कैशिकी वृत्तिकी कही चर्चा ही नही है । इस अध्यायका नाम 'उत्तमाङ्गाभि-नयाध्याय' है । इसमें मुख्य रूपसे उत्तमाङ्ग अर्थात् शिरोभागके अन्तर्गत होने वाले शिर, नेत्र, भ्रू, नासा ओष्ठ तथा कपोल सम्बन्धी अभिनयोका विवेचन किया गया है । इसी प्रसङ्गमें शाखा, नृत्त तथा अकुर नामसे इस अभिनयके तीन भेद किए हैं । इनका वर्णन करते हुए भरतमुनिने निम्न दो श्लोक लिखे हैं—

अस्य शाखा च नृत्त च तथैवाङ्कुर एव च ।
वस्तून्यभिनयस्येह विज्ञेयानि प्रयोक्तृभि ॥१५॥
आङ्गिकस्तु भवेच्छाखा ह्यकुर सूचना भवेत् ।
अङ्गहारविनिष्पन्न नृत्त तु करणाश्रयम् ॥१६॥

१ ना० शा० ८-१५ ।

स्त्रीजनादृत इति,—अय भाव —यावन्निजहृदयरसविलसद्विकस्वरनिर्वारचमत्कारपवित्रता न जाता भगवत इव, तावच्छिक्षाशतैरपि वैचित्र्यमनाहार्यम्। मुनीना च निसर्गविपयविमुखचित्तवृत्तीना को निर्वृतिचमत्कार। योऽपि वा 'समाविज नोऽपि देहपर्यन्तता न भजति। प्रत्युत ततः पलायमान.[2]। अतः स्त्रीणा तादृगस्ति वैचित्र्यं यत् तत्सम्पर्कसम्भवदार्द्रभावास्तु कदाचिच्छक्नुयुरपि।

इनमें अभिनयके शाखा, नृत्त और अकुर तीन अङ्ग माने गए हैं। उनमेंसे अङ्गों वाले भागका नाम शाखा, उससे भावकी जो सूचना प्राप्त होती है उसका नाम अकुर, तथा अङ्गहार का नाम नृत्त है, यह बात कही गई है। इसमें कैशिकी वृत्तिकी कही कोई चर्चा नहीं है। अत कैशिकीकी सर्वप्राणताकी पुष्टिमें इस श्लोकके उद्धृत किए जानेकी कोई सङ्गति नहीं है। यहाँ सम्भव है ग्रन्थकार कोई अन्य श्लोक उद्धृत करना चाहते हो परन्तु लिपिकारकी असावधानताके वह श्लोक उद्धृत हो गया हो। फिर यह उद्धरण भी ठीक ढगसे प्रस्तुत नहीं किया गया है। जैसा कि पिछले १२४ पृष्ठ पर अन्तमें छपे श्लोकोंके देखने से विदित होता है 'अस्य शाखा च नृत्त च वस्तून्यभिनयस्य' इस उद्धरणमें आधा भाग मूल श्लोकके पूर्वार्द्धका और आधा भाग मूल श्लोकके उत्तरार्द्धका जोड दिया गया है। इस लिए भी यह उद्धरण असङ्गत प्रतीत होता है।

अभिनव०—'स्त्रीजनोंके विना' इसका यह अभिप्राय है कि—जब तक भगवान् [शिव] के समान अपने हृदयमे रससे उत्पन्न सौन्दर्य एवं उद्दाम आनन्दसे पवित्रता उत्पन्न नहीं हो जाती है तब तक सैकड़ो बार सिखलाने पर भी [अभिनयमे अपेक्षित स्वाभाविक] सौन्दर्य नहीं आ सकता है। और [जिनको अभिनयमें नियुक्त किया गया है उन] स्वभावत विपयोसे विमुख वृत्ति वाले मुनियोंको तो [शृङ्गाररसके अभिनय केलिए अपेक्षित तन्मयीभावके विना] सुखका चमत्कार हो ही कैसे सकता है। और जो समाधिज [आनन्दका अनुभव होता है वह भी [केवल मानस सुख होता है] देह-पर्यन्त नहीं पहुंचता है। अपितु उससे दूर भागता है। इस लिए स्त्रियोमें तो उस प्रकारकी सामर्थ्य है कि उनके सम्पर्कसे उत्पन्न होने वाली सुकुमारताके कारण कभी वे [विपय-विमुख मुनिगण भी शारीरिक सुखको प्राप्त करनेमें] समर्थ भी हो सकते हैं।

इनका यह आशय है कि इन्द्रके द्वारा देवताओंसे अभिनय करानेका निषेध कर देनेपर उनके परामर्शसे ब्रह्माजीने मुनियोंके द्वारा अभिनय करानेका आदेश भरतमुनिको दिया है। ये मुनिगण तो स्वभावत. विपयोंसे विमुख रहते हैं। इसलिए शृङ्गार आदिके अभिनयकेलिए अपेक्षित तन्मयीभाव उनमें सम्भव नहीं है। हा स्त्रियोंके सम्पर्कसे उनमें भी यह बात आ सकती है। इसलिए शृङ्गार-प्रधान कैशिकीके अभिनयकेलिए स्त्रियोंकी आवश्यकता है।

पूर्व व्याख्याकारका खण्डन—

स्त्रियोंके बिना केवल पुरुषोंके द्वारा कैशिकीका अभिनय नहीं हो सकता है। इसलिए कुछ प्राचीन व्याख्याकार इस कारिकामें 'दृष्टा मया' के स्थानपर 'दृष्टोमया' पाठ मानते हैं। और 'उमया सह नृत्यतो दृष्टा' ऐसा पदच्छेद करके उसके आधार मानते समय कैशिकी वृत्ति देने ... पर ... करते हैं। इनके मतकी आलोचना करते हुए वृत्तिकार आगे लिखते हैं कि—

---

१. सतमाधिज। २. स ततश्चलायमान।

ये त्वाहु 'न भगवत कैशिकीप्रयोगसामर्थ्यं तेन 'दृष्टोमया' इति पाठे उमया सह भगवतो नृत्यतो, भगवन्तमप्यनादृत्य भगवत्या प्रयुज्यमाना मया दृष्टा' इति । त उक्तरीत्या पराकृता ।

तथा—

विचित्रैरङ्गहारैस्तु देवो लीलासमन्वितै ।

बबन्ध 'यत् शिखापाश कैशिकी तत्र निर्मिता ॥ [ना शा २०-१३]

इति भगवतो विष्णो कैशिकीनिर्माणमनुचित स्यादित्यल वहुना । 'जन' शब्देन रागिताशङ्का परिहरति ॥ ४४-४५ ॥

अभिनव०—जो [व्याख्याकार] यह कहते है कि—[पुरुष होनेके कारण] भगवान् [शिव] मे कैशिकीके प्रयोगकी सामर्थ्य नहीं है इसलिए ['दृष्टा मया' के स्थानपर] 'दृष्टोमया' इस प्रकारका पाठ [कारिकामे] माननेपर उमा अर्थात् पार्वतीके साथ शिवजीके नाचते समय, शिवजी की भी उपेक्षा करके भगवती पार्वतीके द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली [कैशिकी वृत्ति] मैने देखी । [इस प्रकारकी व्याख्या जो टीकाकार करते है] उनका उक्त रीतिसे खण्डन हो जाता है । [उक्त रीतिका आशय यह है कि अभिनेताके हृदयमे समुत्पन्न रसके प्रभावसे पवित्रताका उदय हो जानेपर पुरुषके अभिनयमे भी रसाभिव्यक्तिके अनुरूप सौन्दर्य आ सकता है । शिवजीके अभिनयमे उस प्रकारकी पवित्रता विद्यमान रहती है इसलिए उनके द्वारा कैशिकीका भी अभिनय हो सकता है । अत 'दृष्टा मया' के स्थानपर 'दृष्टोमया' इस पाठकी कल्पना अनुचित है] ।

अभिनव०—और [यदि पुरुष होनेके कारण शिवजीके द्वारा कैशिकीवृतिका प्रयोग असम्भव माना जाय तो]—

अभिनव०—सुकुमारतासे भरे हुए सुन्दर अङ्गोका सञ्चालन करते हुए विष्णु भगवान्‌ने जो अपने सुन्दर केशोको बाँधा उससे कैशिकी वृत्तिकी उत्पत्ति हुई ।

अभिनव०—इस प्रकार [ऊपरके श्लोकमे] कहा गया विष्णुकेद्वारा कैशिकीका निर्माण भी अनुचित हो जायगा । [इसलिए स्त्रियोके बिना कैशिकी वृत्तिका अभिनय नही हो सकता है यह बात सामान्य लोगोके विषयमे ही कही गई समझनी चाहिए । शिव और विष्णु तो देवता होनेके कारण पुरुष होते हुए भी उसका अभिनय कर सकते है । अत 'दृष्टा मया' के स्थानपर 'दृष्टोमया' पाठ माननेकी आवश्यकता नही है] । इसलिए [इसके खण्डनकेलिए] अधिक लिखने की आवश्यकता नही है । ['स्त्रीजनादृते' मे आए हुए सर्वसाधारणताके सूचक] 'जन'-शब्दसे [उनके प्रति अभिनेताओके] अनुरागी होनेकी शङ्काका निराकरण किया है ।

---

१ य ।

भरत०—ततोऽसृजन्महातेजा मनसाप्सरसो विभुः ।
नाट्यालङ्कारचतुराः[1] प्रादान्मह्यं[2] प्रयोगतः[3] ॥ ४६ ॥

ततोऽसृजदिति । मनसेति यथारुचि विनिर्मिता इत्यर्थ । नाट्यस्य योऽलङ्कारो वैचित्र्यहेतु कैशिकी, तत्र चतुरा । अन्ये तु—नाट्यालङ्कारा. सामान्याभिनये [अ० २२] वक्ष्यमाणा स्वभावजा 'लीला विलास.' इत्याद्या दश, 'शोभा कान्ति.' इत्याद्याश्च सप्त यत्नजा इति । अनेन मुनिकन्यानामत्रायोग्यत्व तावदुक्तम् ॥ ४६ ॥

पाठसमीक्षा—ऊपरके श्लोकमें 'ववन्ध यः शिखापाश' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणो में मुद्रित हुआ था । उसके स्थानपर 'ववन्ध यत् शिखापाश' यह पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । अत हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है । ॥ ४४-४५ ॥

कैशिकीके अभिनयार्थ अप्सराओंकी सृष्टि—

यहा तकके विवेचनद्वारा ग्रन्थकारने यह दिखलाया है कि यद्यपि कैशिकीवृत्तिके निर्माता विष्णु और उसके आदि अभिनेता शिव दोनों पुरुष हैं परन्तु फिर भी अन्य साधारण पुरुष कैशिकी वृत्तिका भली प्रकार अभिनय नही कर सकते हैं । और मुनिकन्याए स्त्री होने पर भी उसका ठीक अभिनय नही कर सकती है । इसलिए कैशिकी वृत्तिके अभिनयके निमित्त अत्यन्त रूपवती स्त्रियों अथवा अप्सराओंकी आवश्यकता है । इसी दृष्टिसे आगे अप्सराओंकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं—

भरत०—तब महातेजस्वी और सर्वव्यापक [एव सर्वशक्तिमान्] ब्रह्माजीने मनसे नाट्यके अलङ्कार [कैशिकी वृत्ति अथवा अन्य नाट्यालङ्कारों] मे चतुर अप्सराओंकी रचना की और उनको [रच कर] मुझको प्रदान किया ॥४६॥

अभिनव०—'ततोऽसृजत्' यह [व्याख्येय श्लोकका प्रतीकभाग है] 'मनसे बनाया' इस [पद] से अपनी रुचिके अनुसार [जैसा चाहा वैसा] बनाया यह अभिप्राय है । ['नाट्यालङ्कार चतुरा ' के दो अर्थ हो सकते हैं] नाट्यका जो अलङ्कार, [अर्थात्] सौन्दर्यका हेतु, कैशिकीवृत्ति उसमे चतुर । दूसरे [व्याख्याकार] तो नाट्यालङ्कार [शब्दसे] सामान्याभिनय [अर्थात् नाट्यशास्त्रके २२वें अध्याय] मे कहे जाने वाले लीला-विलास आदि दस स्वाभाविक, तथा शोभा, कान्ति आदि सात प्रयत्न-सम्पादित [इन १७ नाट्यालङ्कारों] को लेते है । इस ['नाट्यालङ्कारचतुरा.' पद] से इस विषयमे मुनिकन्याओंकी अयोग्यताको सूचित किया है ॥४६॥

चौबीस अप्सराओंके नाम—

ब्रह्मा जीने कैशिकीवृत्तिके अभिनय करने योग्य जिन अप्सराओंकी मानसी सृष्टि करके भरतमुनिको समर्पित किया उन २४ अप्सराओंके नाम अगली ४७-४९ तक तीन कारिकाओंमें इस प्रकार गिनाते हैं—

---

१. प नाट्यालङ्कारचतुरा । २ न भ स प्रादान् मुख्यम्मतः । प प्रयोगतो मुख्यतः ।
३ सप्तायत्नजा ।

भरत०—[1]मञ्जुकेशीं सुकेशीं च मिश्रकेशीं सुलोचनाम्[2] ।
[3]सौदामिनीं देवदत्तां देवसेनां मनोरमाम्[4] ॥ ४७ ॥
[5]सुदतीं सुन्दरीं चैव बिदग्धां विपुलां[6] तथा ।
[7]सुमालां [8]सन्ततिं चैव सुनन्दां सुमुखीं तथा[9] ॥ ४८ ॥
मागधीमर्जुनीं चैव सरलां केरलां धृतिम्[10] ।
नन्दां सुपुष्कलां चैव कलमां[11] चैव मे ददौ[12] ॥ ४९ ॥

तासा नामग्रहणे पूर्ववत् प्रयोजन निरूप्यम् । 'मे ददौ' इति नाट्याचार्यपरवशत्व उपकरणसम्भारस्य दर्शयति । 'ददौ' इति ताश्च मया यथोचित शिक्षादानेन प्रतिगृहीता इति सूचयन् कैशिकीमप्यह योजितवानिति दर्शयति ॥ ४७-४९ ॥

भरत०—१ मञ्जुकेशी, २ सुकेशी, ३ मिश्रकेशी, ४ सुलोचना, ५ सौदामिनी, ६ देवदत्ता, ७ देवसेना और ८ मनोरमा [को मुझे प्रधान किया] ।

भरत०—९ सुदती, १० सुन्दरी, ११ विदग्धा, १२ विपुला, १० सुमाला, १० सन्तति, १५ सुनन्दा और १६ सुमुखी [को मुझे प्रदान किया] ।

भरत०—१७ मागधी, १८ अर्जुनी, १९ सरला, २० केरला, २१ धृति, २२ नन्दा, २३ सुपुष्कला और २४ कलमा [नामकी इन २४ अप्सराओंको ब्रह्माजीने] मुझे प्रदान किया ।

इसके पूर्व जहा भरतमुनिके सौ पुत्रोके नाम गिनाए गए थे वहा पर वृत्तिकारने उन नामोंके ग्रहण करनेका मुख्य प्रयोजन तो उनकी प्रसिद्धिके कारण उनके प्रति आदर सूचन करना बतलाया था । गौण-प्रयोजन यह भी बतलाया था कि उन नामोके निर्वचनसे जो अर्थ निकलता है उस-उस प्रकारके कार्योमें उनका विनियोग भी सूचित होता है । ये ही दोनो प्रयोजन यहा इन अप्सराओके नामोके गिनाए जानेके भी समझने चाहिए । इसी बातको वृत्तिकार अगली पक्तिमें लिखते हैं कि—

अभिनव०—उन [अप्सराओ] के नाम गिनानेका प्रयोजन पूर्ववत् [अर्थात् सौ पुत्रोके नाम गिनानेके समान] समझ लेना चाहिए । [कारिकामे आए हुए] 'मे ददौ' इस [भाग] से नाट्यकी सारी सामग्री [पूर्णतया] नाटचाचार्यके अधीन होनी चाहिए यह बात सूचित की है । और 'ददौ' इस [पदसे विशेष रूप] से 'मैंने उनको यथोचित शिक्षा प्रदान करके स्वीकार किया' इस बातको सूचित करते हुए मैंने कैशिकीवृत्तिका भी प्रयोग कराया यह दिखलाया है ॥४७-४९॥

---

१ म त इदमर्धं 'मागधीमार्जुनीं' इत्यत पर दृश्यते । २ त पादचूला तथैव च । ३ ज सौदामनीम् । ४ न त म तथैव च । ख मनोवतीम् ।
५ न त म सुरभिम् । ६ ड. भ त विबुधाम । ७ ड. सुमनाम् । ८ ड लासिनीम् ।
९ न म रतिम् ।
१० म सतीम् । त केकरा तथा । ११ कलमाञ्चैव निर्ममे । न त म कपिला सुमना तथा ।
१२ न त इत 'सुनन्दा सुमुखोञ्चैव काहल्याद्यादच मे ददौ' इत्यर्धमधिक दृश्यते ।

एव वृत्तिचतुष्टयसम्पूर्णं नाट्य 'गुणनिकायामभ्यस्तमिति प्रदर्श्य गीतातोद्याभ्यां उपरञ्जकाभ्या योग दर्शयति स्वातिरित्यादि–

भरत०—[2]स्वातिर्भाण्डे नियुक्तोऽस्य सह शिष्यैः स्वयम्भुवा।
नारदाद्याश्च गन्धर्वा गानयोगे नियोजिताः ॥५०॥

'स्वाति' ऋषिविशेषः, येन जलधरसमयनिपतत्सलिलधारावैचित्र्याभिहन्यमान-पुष्करदलविलसितरचितविचित्रवर्णानुहरणयोजनया 'यथास्व वृत्तिनियमेन पुष्करवाद्य-निर्माण कृतमित्यर्थ। 'सह शिष्यै' इति त्रिपुष्करवाद्यस्यापूरक-पणवमृदङ्गझल्लर्या-द्युपयोगेन पक्षातोद्यपरिग्रह उक्त।

नाट्यकेसाथ गीत वाद्यका सम्बन्ध—

अभिनव०—इस प्रकार चारो वृत्तियोसे युक्त नाट्यकी [गुणनिका] आवृत्ति करते समय अभ्यास कराया इस बातको दिखला कर अब उपरञ्जक गीत तथा वाद्योंके साथ भी उसके सम्बन्धको 'स्वाति' इत्यादि [कारिका] से दिखलाते हैं—

भरत०—ब्रह्माजीने शिष्योंके सहित [वाद्योंके विशेषज्ञ एवं निर्माता] स्वातिमुनिको [भाण्डो अर्थात] वाद्यो [कि प्रयोग] मे नियुक्त किया और नारद आदि गन्धर्वोंको गान-कार्यकेलिए नियत किया। ५०।

पाठसमीक्षा—पूर्व-सम्करणोमें इस श्लोकके पूर्वार्द्धका पाठ 'स्वातिर्भाण्डनियुक्तन्तु सह शिष्यै स्वयम्भुवा' इस प्रकारका छपा था। परन्तु वह अशुद्ध है। उससे अर्थकी ठीक सङ्गति नही लगती है। 'स्वातिर्भाण्डनियुक्तन्तु' इसके स्थानपर 'स्वातिर्भाण्डे नियुक्तोऽस्य' इस प्रकारका प्रथम चरणका पाठ होना चाहिए। इसके बाद ब्रह्माजीने स्वाति नामके वाद्य-विशेषज्ञ मुनिको शिष्य वर्गके सहित भाण्डो अर्थात् वाद्योपर नियुक्त किया। यह इसका अर्थ होता है। अत एव हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—[श्लोकमे आया हुआ] 'स्वाति' ऋषि-विशेष [का नाम] है जिसने वर्षाके समय गिरती हुई जलधाराओंकेद्वारा विविध प्रकारसे ताडित कमलपत्रो के परिवर्तनोसे उत्पन्न विभिन्न प्रकारकी ध्वनियोका अनुसरण और योजना करके उचित रूपसे ध्वनियोको नियमित करनेकेद्वारा [मृदङ्ग आदि] पुष्कर-वाद्योकी रचना की है। 'शिष्योंके साथ' इस [कथन] से पुष्कर-वाद्यके पूरक पणव मृदङ्ग झल्लरी आदिके उपयोग [के सूचन] से सहकारी-वाद्यों [पक्षातोद्य] का ग्रहण भी सूचित किया है। [पुष्कर-वाद्य पूर्वोक्त चार प्रकारके वाद्योमेंसे अवनद्ध-वाद्योकी श्रेणीमें आते हैं। कोई नया वाद्यभेद नहीं है]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'स्वाति ऋषिविशेष' इतना पाठ पूर्व सम्स्करणोंमें कदाचित् कीटदष्ट हो जानेके कारण नहीं छपा था। परन्तु उसका होना आवश्यक है। उसके बिना ग्रंथ अर्थकी सङ्गति ठीक तरह से नहीं लगती है। अतः हमने उस लुप्त पाठकी पूर्ति कर दी है। यो अपना परिवर्तित पाठ होनेके कारण उसे भिन्न प्रकारके टाइपमें प्रस्तुत किया है।

---

१ म गुणनिकायायाम। २. म भ स्वातिर्भाण्डनियुक्तन्तु। ३. म स्वय वृत्तिनियमें।
४. त्रिपुष्करस्य पाकस्य।

भाण्डस्यात्र पूर्वमुपादान[1] येन तस्यैव परिक्रमणादौ सति वृत्ति[2]। न तत्प्रधानमेतत्। सोपकरणा कैशिकी चात्र मध्ये विनियोजितेत्युक्तम्। 'गानयोग' इति गानशब्देन गान्धर्वस्यात्र उपयोगमाह[3]। योग-शब्देन[4] च ततसुषिरपरिग्रह। 'नियुक्तो' 'नियोजिता', [5]इत्येताभ्या वादक-गायकदीना[6] नाट्याचार्यायत्तता दर्शयति ॥५०॥

अभिनव०—यहा भाण्ड [वाद्य] का [गानकी अपेक्षा] पहिले ग्रहण इस लिए किया गया है क्योकि परिक्रमण [परिक्रमा या विशेष प्रकारकी गति] आदिके अवसर पर उसीका [मुख्य रूपसे] व्यवहार [वृत्ति] होता है। यह [भाण्डका पूर्वग्रहण] उसकी प्रधानताका सूचक नहीं है। [वाद्य गान आदि रूप समस्त] उपकरणोसे युक्त कैशिकीका भी इसके बीचमे प्रयोग किया गया है यह बात भी सूचित की है। 'गान-योग' इसमे [आए हुए] 'गान' शब्दसे इस [अभिनय] में सङ्गीत [गान्धर्व] के उपयोगको सूचित किया है। और 'योग' शब्दसे तत [वीणा आदि] और सुषिर [बांसुरी आदि वाद्यो] का भी ग्रहण सूचित किया है। [कारिकामे आए हुए] 'नियुक्त' और 'नियोजिता' इन दोनो शब्दोसे वादक तथा गायक आदिको सर्वथा नाट्याचार्यके अधीन रहना चाहिए यह बात सूचित की है।

पाठसमीक्षा—पूर्व-सस्करणोमें इस अनुच्छेदका पाठ बहुत अशुद्ध रूपमें और अस्त-व्यस्त-सा मुद्रित हुआ है। 'भाण्डस्यात्र पूर्वमुपादान वृत्तिर्येन तस्यैव परिक्रमणादौ सति सोपयोगात्कैशिकी चात्र मध्ये विनियोजितेत्युक्तम्। न तत्प्रधानमेतत्।' यह पूर्व-सस्करणोका पाठ है। परन्तु इसकी ठीक सङ्गति नही लगती है। इसका कारण उसके क्रमका अस्त-व्यस्त हो जाना ही है। हमने उस क्रमको व्यवस्थित करके 'भाण्डस्यात्र पूर्वमुपादान येन तस्यैव परिक्रमणादौ सति वृत्ति। न तत्प्रधानमेतत्। सोपकरणा कैशिकी चात्र मध्ये विनियोजितेत्युक्तम्।' इस प्रकारका पाठ कर दिया है। इससे इसकी सङ्गति ठीक लग जाती है। इसमें क्रमके परिवर्तनके अतिरिक्त 'सोपयोगात् कैशिकी' के स्थानपर 'सोपकरणा कैशिकी' यह पाठ भी अर्थसङ्गतिकी दृष्टिसे किया है। 'सोपयोगात्' पदकी यहां कोई सङ्गति नही लगती है।

पाठसमीक्षा—आगे 'गानयोग इति। गानशब्देन ततसुषिर—परिग्रह। गानशब्देन गान्धर्वस्यात्रानुपयोगमाह।' इस प्रकारका पाठ पूर्व सस्करणोमें छपा है। वह भी अशुद्ध है। इसमे तीन अशुद्धिया हैं। 'गानशब्देन गान्धर्वस्यात्रानुपयोगमाह' यह वाक्य अभीष्ट अर्थसे विलकुल उल्टे अर्थको सूचित करता है। (१) 'गान' शब्दमे नाट्यमें गान्धर्व अर्थात् सङ्गीतकी उपयोगिता प्रतिपादित की गई है। इसलिए 'अनुपयोगमाह' नही अपितु उपयोगमाह' पाठ होना चाहिए। (२) इसके पूर्व 'गानशब्देन ततसुषिरपरिग्रह' यह वाक्य छपा है। उसके बाद फिर 'गानशब्देन गान्धर्वस्यात्रानुपयोगमाह' इत्यादि वाक्य छपा है। इस प्रकार पूर्व-सस्करणोके पाठके अनुसार यहा गान' शब्दका दो वार वार ग्रहण किया गया है। जो ठीक नही प्रतीत होता है। उसमें इनमेंसे पहिले स्थान पर 'गानशब्देन' यही पाठ रहना चाहिए। और दूसरे स्थानपर 'गानशब्देन' इसके स्थानपर योगशब्देन' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए। इसका भाव यह है कि कारिकामें आए हुए 'गानयोगत' इस पदके 'गान'-शब्दसे

---

१ वृत्तिर्येन तस्यैव परिक्रमणादौ सति। २ सोपयोगात्। कैशिकी चात्र मध्ये विनियोजितेत्युक्तम् न (तेन) तत्प्रधानमेतत्। ३ अनुपयोगमाह। ४ गानशब्देन।
५ नियुक्ता नियोजित इत्यनेन। ६ गायनादीना।

'नृत्त-गीत-आतोद्य-अभिनयाना साम्यसिद्धयर्थमेकीभावेन [2]सम्मेलन कृत्वा प्रयोग कार्य इति दर्शयति श्लोकद्वयेन' 'एव नाट्यम्' इत्यादिना—

भरत०—एवं नाटचमिदं सम्यग् [3]बुद्ध्वा सर्वैः सुतैः सह ।
स्वातिनारदसंयुक्तो वेद-वेदाङ्गकारणम् ॥५१॥
उपस्थितोऽहं ब्रह्माणं [4]प्रयोगार्थं कृताञ्जलिः ।
नाटचस्य ग्रहणं प्राप्तं ब्रूहि किं करवाण्यहम् ॥५२॥

भरतमुनिने नाटचमें गान्धर्व अर्थात् सङ्गीतका और 'योग' शब्दसे तत-सुषिर आदि वाद्योंका ग्रहण सूचित किया है। इस प्रकार 'गान' शब्दसे सङ्गीतका और 'योग' शब्दसे वाद्योंका ग्रहण अभिप्रेत होनेसे दोनो शब्दोंकी सार्थकता हो जाती है। पिछले संस्करणोंमें मुद्रित पाठके अनुसार इस प्रकारकी सङ्गति नही लग पाती है। उसमें 'गान' शब्दका दो बार प्रयोग होनेसे पुनरुक्ति हो जाती है। दूसरी ओर 'योग' शब्दका कोई प्रयोजन नही दीखता है। इन त्रुटियोंके कारण पूर्व संस्करणोंका पाठ अशुद्ध है। उसको ठीक सुसङ्गत बनानेकेलिए हमने उसमें एक जगह 'गानशब्देन' और एक जगह 'योगशब्देन' यह पाठ माना है। इसमें तीसरी अशुद्धि वाक्य विन्यासके क्रमकी अशुद्धि है। कारिका के 'गानयोगत' इस पदमें पहिले 'गान' शब्दका और बादको 'योग' शब्दका प्रयोग किया गया है। इस दृष्टिसे व्याख्यामें भी पहिले 'गान' शब्दका और बादको योग शब्दका प्रयोग होना चाहिए था। किन्तु पूर्वसंस्करणोंके पाठमें यह क्रम नही बनता है। अत वाक्य विन्यासमें क्रम परिवर्तन भी आवश्यक है। इस प्रकार एक जगह 'गान' शब्दके स्थानपर 'योग' पदका परिवर्तन और फिर वाक्य-विन्यासमें संशोधनकर 'गानशब्देन गान्धर्वस्यात्र उपयोगमाह। योग शब्देन च तत-सुषिर परिग्रह.'। इस प्रकारका सशोधित पाठ हमने प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इसके बाद 'नियुक्तो नियोजित इत्यनेन' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है। यह भी अशुद्ध प्रतीत होता है। मूल श्लोकमें 'नियुक्त' तथा 'नियोजिता' दोनों शब्द आए हैं। और व्याख्यामें भी ये मूलके प्रतीक रूपमें ही उद्धृत हुए हैं। अत यहा 'नियोजित' के स्थानपर 'नियोजिता' और 'इत्यनेन' इस एकवचनके स्थान पर 'इत्येताभ्या' यह द्विवचनका प्रयोग होना चाहिए। इसी दृष्टिसे हमने इन सब पाठोंको सशोधित रूपमें ही यहा प्रस्तुत किया है ॥ ५० ॥

अभिनव०—नृत्त गीत वाद्य तथा अभिनय [चारो] के ताल-मेल [साम्य] की सिद्धिकेलिए एक-साथ मिला कर प्रयोग करना चाहिए इस बातको 'एवं नाट्यम्' इत्यादि दो श्लोकोंसे दिखलाते हैं—

भरत०—इस प्रकार [कैशिकी सहित चारो वृत्तियों और वाद्य सङ्गीत आदि समस्त अपेक्षित उपकरणोंसे युक्त] इस नाटच [की तैय्यारी] को पूर्ण [सम्यक्] समझ कर [अभिनय करने वाले] सब पुत्रों [उनमे अप्सराओंको भी सम्मिलित समझना चाहिए] और स्वाति तथा नारदके साथ [मैं नाटचके मूलभूत] वेद और वेदाङ्गोंके बनाने वाले—[ब्रह्माजीके पास] ।५१।

भरत०—अभिनय [दिखनेके निमन्त्रण] केलिए हाथ जोड कर मैं [भरतमुनि] ब्रह्माजीके समीप उपस्थित हुआ और [उनसे निवेदन किया कि] नाट्यकी शिक्षा पूर्ण हो गई है अब कहिए मैं क्या करू ।५२।

---

१. अप गीता। २. सम्मेलन प्रकृत्य। ३ म म बुद्ध्वा सर्वविशाखान्तर्गं. सह।
४. त ग म. योगेन प्रयोगार्थो।

एव [1]मेलनिकाया नाट्यमिद [2]एकबुद्धिग्राह्य सम्यक् सम्पन्नमिति बुद्ध्वा ज्ञात्वा पुत्रै [3]स्वातिनारदाभ्या च सह ब्रह्माणमुपस्थित । उपनिमन्त्रणार्थ ब्रह्मणोऽग्रे स्थित इत्यर्थ । उपनिमन्त्रण दर्शयति नाट्यस्येति । ग्रहणमिति गृहीत, शिक्षित तावन्नाट्यमित्यर्थ । ग्रहण [4]चावलोकन, तत्प्राप्तम् । प्रेक्षणयोग्य जातमित्यर्थ ॥५१-५२॥

भरत०—एतत्तु वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच पितामहः ।
महानयं [5]प्रयोगस्य समयः [6]प्रत्युपस्थितः ॥५३॥

एतत् तु इति-तु-शब्द एवकारार्थे, श्रुत्वैव । अत एव 'प्रत्युपस्थित' अयत्नादेव आभिमुख्येन उपस्थितो दैवसङ्घटित इत्यर्थ ॥ ५३ ॥

भरत०—अयं ध्वजमह श्रीमान् [7]महेन्द्रस्य प्रवर्तते ।
[8]अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः [9]प्रयुज्यताम् ॥५४॥

ध्वजस्येन्द्रार्थस्य महन पूजन यत्र स ध्वजमह ॥ ५४ ॥

अभिनव०—इस प्रकार [नृत्त गीत वाद्य तथा अभिनय चारोका उचित रूप से] सम्मेलन हो जानेपर [इन चारोको मिला कर यह एक नाट्य है इस प्रकार] नाट्य एक बुद्धिका विषय वन कर भली प्रकारसे तैयार हो गया है ऐसा समझ कर पुत्रो तथा स्वाति एव नारदकेसाथ मै ब्रह्माजीके समीप गया । अर्थात् निमन्त्रण देने केलिए ब्रह्माजीके सामने खडा हुआ । उसी निमन्त्रणको 'नाट्यस्य' इत्यादिसे दिखलाते हैं । 'ग्रहण' इससे 'गृहीत' अर्थात् नाट्यको सीख लिया यह अभिप्राय है । और 'ग्रहण' [का दूसरा अर्थ] 'अवलोकन' भी है । वह प्राप्त हुआ । अर्थात् नाट्य देखने योग्य होगया है यह आशय है ॥५१-५२॥

नाट्यका प्रयोगकाल—

भरत०—इस वातको सुनते ही पितामह [ब्रह्माजी] बोले कि प्रयोगकेलिए यह बडा सुन्दर अवसर भी [दैववशात् अपने आप] उपस्थित हो गया है ॥ ५३ ॥

अभिनव०—'एतत्तु' इसमे तु-शब्द एवकार [अर्थात्] 'ही' अर्थमे [प्रयुक्त हुआ] है । [इस कारण] सुनते ही [ब्रह्माजी बोले यह इसका अर्थ है] । इसीलिए 'प्रत्युपस्थित' अर्थात् बिना प्रयत्नके ही सामने आ गया है अर्थात् भगवानने उपस्थित कर दिया है यह ['प्रत्युपस्थित' शब्दका] अभिप्राय है ॥ ५३ ॥

भरत०—यह महेन्द्र [के विजय] का [प्रदर्शक] ध्वज-पूजन [ध्वजारोहणका महोत्सव] होने जा रहा है । अव इसमे इस नाट्यवेद [के आधारपर वनाए गए नाटक] का प्रयोग [अभिनय] करो ॥५४॥

अभिनव०—ध्वजका अर्थात् इन्द्रके [सम्मान या विजयोत्सवके मनानेके] लिए [स्थापित] ध्वजका 'महन' अर्थात् पूजन जिस [उत्सव] मे होता है वह 'ध्वजमह' [का उत्सव हुआ । उसमे नाट्यका प्रयोग करा] ॥ ५४ ॥

---

१ मेलनिकया । २ इत्येक । ३ म स्वात्याद्याभ्याम । ४ व तदवलोकनम । ५. प प्रयोगश्च स मया समुपस्थित । ६ व समुपस्थित । ७ शचीभर्तु । ८ ड पुत्रेदानीम् । ९. ड भ प्रयोज्यताम ।

"निहतासुरदानवे' इत्यादिना विशेषणद्वारेण ध्वजमहस्य सम्भवं दर्शयति—

भरत०—[1]ततस्तस्मिन् ध्वजमहे निहतासुरदानवे ।
प्रहृष्टामरसङ्कीर्णे महेन्द्रविजयोत्सवे ॥५५॥

तत्र प्रयोगे क्रम दर्शयति 'पूर्वं कृता मया नान्दी' इति—

भरत०—[3]पूर्वं कृता मया नान्दी ह्याशीर्वचनसंयुता ।
अष्टाङ्गपदसंयुक्ता विचित्रा [4]वेदनिर्मिता ॥ ५६ ॥

नान्द्याख्यं मुख्य मङ्गलं सकलपूर्वरङ्गाङ्गोपलक्षणमिति केचित् । पूर्वरङ्गाङ्गाना [5]मध्यान्नान्दी केवलापि प्रयोज्येति एवम्परमेतदित्यन्ये ।

अभिनव०—'निहतासुरदानवे' आदि विशेषणोंसे ध्वजोत्सवकी उत्पत्ति दिखलाते हैं—

भरत० – तब असुरो तथा दानवोंके विनष्ट या पराजित हो जानेपर प्रफुल्लित देवताओंसे भरे हुए इन्द्रके उस विजयोत्सवमे ध्वज-पूजनके अवसरपर [मैंने नाट्यका प्रयोग किया] ॥ ५५ ॥

पाठसमीक्षा—पूर्ववर्ती दोनो संस्करणो में 'ध्वजमहस्यविशेषणद्वारेण सम्भव दर्शयति निहतासुरदानवे इत्यादिना' इस प्रकारका पाठ छपा है । इस पाठको देखते ही मनपर यह प्रभाव पडता है कि 'निहतासुरदानवे' यह अगले श्लोकका प्रतीक-भाग है । पर वास्तवमें ऐसी बात नहीं है । अगला श्लोक 'ततस्तस्मिन् ध्वजमहे' से प्रारम्भ होता है । 'निहतासुरदानवे' उसका प्रथम नही, द्वितीय चरण है । अत वह प्रतीक रूपमें उद्धृत नही हो सकता है । ग्रन्थकारनेभी उसे वस्तुत श्लोकके प्रतीक रूपमें उद्धृत नही किया है । अपितु ध्वजमहकी उत्पत्तिकी सूचना देने वाले विशेषण-पदके रूपमें प्रस्तुत किया है । इस बातको ध्यानमें लानेपर इस पाठक्रममें थोडा-सा परिवर्तन आवश्यक प्रतीत होता है । अतः हमने सशोधित रूपमें ही मूल-पाठको प्रस्तुत किया है ।

नाट्यप्रयोगका क्रम—

अभिनव०—उस [नाट्य] मे प्रयोगके क्रमको 'पूर्व कृता मया नान्दी' आदि [अगले श्लोक] से दिखलाते हैं—

भरत०—सबसे पहले मैंने आशीर्वाद-वचनोंसे युक्त आठ अङ्गभूत पदों वाली वेद [के आधारपर] निर्मित एवं [विचित्र] अनेक प्रकारकी 'नान्दी' का प्रयोग किया । ५६ ।

अभिनव०—'नान्दी' नामक यह [पूर्वरङ्गका] मुख्य मङ्गल [नाट्यशास्त्रके पाँचवें अध्यायमें कहे जाने वाले] पूर्वरङ्गके समस्त अङ्गोंका उपलक्षण है [अर्थात् पूर्वरङ्गके सभी अङ्गोंका भरतमुनिने अनुष्ठान किया यह अभिप्राय है] ऐसा कुछ [व्याख्याकार] मानते हैं । दूसरे [व्याख्याकार] यह कहते हैं कि पूर्वरङ्गके अङ्गोंमेंसे [अन्य सबको छोड कर] केवल 'नान्दी' का भी प्रयोग किया जा सकता है यह इस [केवल नान्दीके कथन] का अभिप्राय है ।

---

१ ध्वजमहस्य विशेषणद्वारेण सम्भवं दर्शयति निहतासुरदानवे इत्यादिना ।
२. भ. म. ततस्तद्ध्वजमहे । ३. ग. ध. नान्दी कृता मया पूर्वमाशीर्वचनसंयुता । त. पूर्वं कृत्वा ।
४. ड. म. देवसम्मता । प. देवसम्मिता । फ. वेदसम्मिता । ब. देवनिर्मिता । न. देवतामुनि सम्मता । त. देवतामुनिसंश्रया । ५. भ. भ. मध्या नान्दी ।

अस्मदुपाध्यायास्तु—यावद् दैत्यैस्तत्र विघ्नाद्याचारण न कृत तावत् पूर्वरङ्गस्य विधिपूर्वकस्य कोऽवकाश । स हि विघ्नरक्षाकरणेन [1]मण्डपभागनिवेशितदेवतापरितोषहेतु प्राधान्येन, नान्तरीयकतया च [2]दैत्यापरितोषकारणम् । विघ्नास्तु यदा जातास्तत प्रभृति पूर्वरङ्ग । तथा चतुर्थाध्याये वक्ष्यते 'पूर्वरङ्गे कृते मया भगवते शिवभट्टारकाय दर्शित' इति [ना०शा० ४-१०] । यथा-तथा तु य [3]कुतुपविन्यासादि स न पूर्वरङ्गशब्दवाच्य । तस्मादिह नान्दीमात्रस्य प्रयोग ।

अभिनव०—हमारे उपाध्याय [श्री भट्टतोत] का तो यह कहना है कि—जब तक दैत्योने उस [नाट्य-प्रयोग] में विघ्नादि उपस्थित नहीं किया तब तक विधिपूर्वक 'पूर्वरङ्ग' करनेका अवसर ही कहाँ है ? क्योकि वह [पूर्वरङ्ग] विघ्नोके निवारण करनेकेद्वारा मुख्य रूपसे मण्डपमें स्थापित देवताओके परितोषका कारण होता है और [दैत्योद्वारा उपस्थित किए गए विघ्नोके निराकरणके कारण दैत्योके असन्तोषके बिना देवताओका परितोष सम्भव नहीं है इस लिए देवताओके सन्तोषके साथ दैत्योके असन्तोषके] अविनाभूत होनेके कारण गौण रूपसे दैत्योके अपरितोषका कारण भी होता है । [इसलिए] जब [दैत्योकेद्वारा] विघ्न उत्पन्न हुए तबसे लेकर पूर्वरङ्गका विधान प्रारम्भ हुआ । इसी लिए चतुर्थ अध्यायमे [शब्दश नहीं भाव रूपमे] कहेगे कि—'पूर्वरङ्गके करनेके बाद' मैने शङ्कर-भगवान्को [प्रयोग] दिखलाया । [पूर्व रङ्गके समस्त अङ्गोका अनुष्ठान किए बिना] जैसे-तैसे किए गए 'कुतुपविन्यास' आदिको पूर्वरङ्ग-शब्दसे नहीं कहा जा सकता है । इसलिए यहाँ [समस्त पूर्वरङ्ग का नहीं अपितु] केवल नान्दीमात्रका प्रयोग किया गया है [यह अभिप्राय है] ।

कुतुप शब्दका अर्थ—

इस अनुच्छेदमें ग्रन्यकारने 'कुतुप' शब्दका प्रयोग किया है । यह शब्द साधारणत लोकमें प्रसिद्ध नही है । किन्तु नाटयशास्त्रमें उसका अनेक स्थानोपर प्रयोग किया गया है । उसे हम नाटयशास्त्रका पारिभाषिक शब्द कह सकते हैं । नाटयशास्त्रमें उसका प्रयोग गायक वादक आदिके समूहकेलिए किया जाता है । अभिनवभारतीकारने द्वितीय अध्यायके ८१वे श्लोककी व्याख्यामें 'कुतुप' शब्दका अर्थ करते हुए लिखा है—

कुतुप संफेटक-गायक-वादकसमूह । कु नाटयभूमिस्ता तपति उज्ज्वलयति इति कृत्वा । कुत शब्द पातीत्यन्ये ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि कु-शब्दका अर्थ नाटयभूमि है उसको तप्त अर्थात उज्ज्वल करने वाला, उसकी शोभा-वृद्धि करनेवाला होनेसे गायक-वादक आदिके समुदायको 'कुतुप' नामसे कहा जाता है । दूसरे व्याख्याकार 'कुतुप' शब्दकी व्युत्पत्ति यह करने हैं कि 'कुत' का अर्थ शब्द है उसकी रक्षा करने वाला होनेसे गायक-वादक आदिके समुदायको 'कुतुप' कहते हैं । यह मतभेद केवल 'कुतुप' शब्दकी व्युत्पत्तिके विषयमें ही है । किन्तु उसका अर्थ दोनो ही पक्षोमें गायक-वादक आदिका समुदाय ही है ।

---

१ म भ मण्टपभाग । २ म भ दैत्यपरितोषकारणम् । ३ म अय कुतुपविन्यासादि नन पूर्वरङ्गशब्दस्य । भ अय कुतुपविन्यासदिम न पूर्वरङ्गशब्दस्य ।

पञ्चम अध्यायकी १७वीं कारिकामें 'कुतुप-विन्यास' की विशेष विवेचना करते हुए अभिनवगुप्तने इन गायक वादक आदिके बैठनेके स्थानका निर्देश इस प्रकार किया है—

तत्कथमित्याह कुतुपस्य त्विति । नेपथ्यगृहद्वारयोर्मध्ये पूर्वाभिमुखो मार्दङ्गिकः । तस्य पाणिको वामत । रङ्गपीठस्य दक्षिणत उत्तराभिमुखो गायन' । अस्याग्रे उत्तरतो दक्षिणाभिमुखस्थिता गायिकय । अस्य वामे वैणिक' । अन्यत्र वंशधारकौ । इत्येव कुत पाति कु'-तपति इति शब्दविशेष-पालकस्य नाट्यभूमिकोज्ज्वलताधायिनश्च वर्गस्य यो विचित्रो न्यास स विप्रकीर्णानामेकत्र दोरनात्मा प्रत्याहार ।

इस स्थलपर भी अभिनवगुप्तने 'कुतुप' शब्दकी 'कुतं पाति' और 'कु तपति' ये दोनो प्रकारकी पूर्वोक्त व्युत्पत्तियां दिखलाई है । और गायक वादक आदिके रङ्गशीर्षपर बैठनेके स्थान आदिका निर्देश किया है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नाट्यशास्त्रमें यह 'कुतुप' शब्द गायक-वादक आदिके समुदायका ही वाचक होता है ।

पाठसमीक्षा—इन दो अनुच्छेदोमें पूर्वसंस्करणोके पाठमें कुछ साधारण-सी अशुद्धियां रह गई हैं और एक मुख्य अशुद्धि हो गई है । सबसे पहिले प्रथम संस्करणमें 'पूर्वरङ्गाङ्गना मध्या' पाठ छपा था उसके स्थान पर 'पूर्वरङ्गाङ्गाना मध्यात्' पाठ होना चाहिए । दूसरे स्थानपर 'मण्टपभागनिवेशित' इस प्रकारका पाठ छपा था । वहां 'मण्टप' की जगह 'मण्डप' पाठ होना चाहिए । तीसरी जगह 'यथा तथा तु य कुतुपविन्यासादिम न पूर्वरङ्गशब्दवाच्य ' इस प्रकारका पाठ छपा था । उसमें दि 'म' के स्थानपर 'दि , स' होना चाहिए ।

पाठसमीक्षा—ये इस अनुच्छेदकी सामान्य अशुद्धियां हैं । परन्तु एक अशुद्धि विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है । 'स हि विघ्नरक्षाकरणेन मण्डपभागनिवेशितदेवतापरितोषहेतु प्राधान्येन, नान्तरीयकतया च दैत्यपरितोषकारणम्' इस प्रकारका पाठ प्रथम और द्वितीय दोनों ही पूर्व-संस्करणोंमें छपा है । उसमें 'दैत्यपरितोषकारणम्' के स्थानपर 'दैत्यापरितोषकारणम्' यह पाठ होना चाहिए । क्योंकि नाट्यमें विघ्नोंको उपस्थित करने वाले दैत्य हैं । जब पूर्वरङ्गके अनुष्ठानसे उनकी विघ्न डालनेकी योजना विफल हो जाती है तो उससे जहां देवताओंको सन्तोष होना स्वाभाविक है वहां दैत्योंको उससे असन्तोष होना भी अनिवार्य है । इसलिए यहां विघ्नोंका नाश दैत्योंके परितोषका नहीं अपितु अपरितोषका ही कारण हो सकता है । अत 'दैत्यपरितोषकारणम्' के स्थानपर 'दैत्यापरितोषकारणम्' यही पाठ उचित है । इस कारण हमने संशोधित रूपमें ये पाठ ही यहां प्रस्तुत किए हैं ।

पूर्वरङ्गके अङ्ग—

पूर्वरङ्गके अङ्गोंमेंसे केवल 'नान्दी' के प्रयोगकी बात यहां कही गई है । उनके अङ्गोंका विस्तार पूर्वक वर्णन पञ्चम अध्यायके प्रारम्भमें इस प्रकार किया गया है—

यस्माद रङ्गे प्रयोगोऽय पूर्वमेव प्रयुज्यते ।
तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमा ॥७॥
अस्याङ्गानि तु कार्याणि यथावदनुपूर्वश ।
तन्त्रीभाण्डसमायोगैः पाठ्ययोगकृतैस्तथा ॥८॥
प्रत्याहारोऽवतरण तथा ह्यारम्भ एव च ।
आश्रावणा वक्त्रपाणिस्तथा च परिघट्टना ॥९॥
संघोटना तत. कार्या मार्गासारितमेव च ।
ज्येष्ठ-मध्य कनिष्ठानि तथैवासारितानि च ॥१०॥

अस्मदुपाध्यायास्तु—यावद् दैत्यैस्तत्र विघ्नाद्याचारण न कृत तावत् पूर्वरङ्गस्य विधिपूर्वकस्य कोऽवकाश । स हि विघ्नरक्षाकरणेन 'मण्डपभागनिवेशितदेवतापरितोषहेतु प्राधान्येन, नान्तरीयकतया च 'दैत्यापरितोषकारणम् । विघ्नास्तु यदा जातास्तत प्रभृति पूर्वरङ्ग । तथा चतुर्थाध्याये वक्ष्यते 'पूर्वरङ्गे कृते मया भगवते शिवभट्टारकाय दर्शित' इति [ना०शा० ४-१०] । यथा-तथा तु य 'कुतुपविन्यासादि स न पूर्वरङ्गशब्दवाच्य । तस्मादिह नान्दीमात्रस्य प्रयोग ।

अभिनव०—हमारे उपाध्याय [श्री भट्टतोत] का तो यह कहना है कि—जब तक दैत्योने उस [नाट्य-प्रयोग] में विघ्नादि उपस्थित नहीं किया तब तक विधिपूर्वक 'पूर्वरङ्ग' करनेका अवसर ही कहाँ है ? क्योकि वह [पूर्वरङ्ग] विघ्नोके निवारण करनेकेद्वारा मुख्य रूपसे मण्डपमें स्थापित देवताओके परितोषका कारण होता है और [दैत्योद्वारा उपस्थित किए गए विघ्नोके निराकरणके कारण दैत्योके असन्तोषके बिना देवताओका परितोष सम्भव नहीं है इस लिए देवताओके सन्तोषके साथ दैत्योके असन्तोषके] अविनाभूत होनेके कारण गौण रूपसे दैत्योके अपरितोषका कारण भी होता है । [इसलिए] जब [दैत्योकेद्वारा] विघ्न उत्पन्न हुए तबसे लेकर पूर्वरङ्गका विधान प्रारम्भ हुआ । इसी लिए चतुर्थ अध्यायमे [शब्दश नहीं भाव रूपमे] कहेगे कि—'पूर्वरङ्गके करनेके बाद' मैने शङ्कर-भगवान्को [प्रयोग] दिखलाया । [पूर्व रङ्गके समस्त अङ्गोका अनुष्ठान किए बिना] जैसे-तैसे किए गए 'कुतुपविन्यास' आदिको पूर्वरङ्ग-शब्दसे नहीं कहा जा सकता है । इसलिए यहां [समस्त पूर्वरङ्ग का नहीं अपितु] केवल नान्दीमात्रका प्रयोग किया गया है [यह अभिप्राय है] ।

कुतुप शब्दका अर्थ—

इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने 'कुतुप' शब्दका प्रयोग किया है । यह शब्द साधारणत लोकमें प्रसिद्ध नही है । किन्तु नाटयशास्त्रमें उसका अनेक स्थानोपर प्रयोग किया गया है । उसे हम नाटयशास्त्रका पारिभाषिक शब्द कह सकते हैं । नाटयशास्त्रमें उसका प्रयोग गायक वादक आदिके समूहकेलिए किया जाता है । अभिनवभारतीकारने द्वितीय अध्यायके ८१वे श्लोककी व्याख्यामें 'कुतुप' शब्दका अर्थ करते हुए लिखा है—

कुतुप सफेटक-गायक-वादकसमूह । कु नाटयभूमिस्ता तपति उज्ज्वलयति इति कृत्वा । कुत शब्द पातीत्यन्ये ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि कु-शब्दका अर्थ नाटयभूमि है उसको तप्त अर्थात् उज्ज्वल करने वाला, उसकी शोभा-वृद्धि करनेवाला होनेसे गायक वादक आदिके समुदायको 'कुतुप' नामसे कहा जाता है । दूसरे व्याख्याकार 'कुतुप' शब्दकी व्युत्पत्ति यह करते हैं कि 'कुत' का अर्थ शब्द है उसकी रक्षा करने वाला होनेसे गायक-वादक आदिके समुदायको 'कुतुप' कहते हैं । यह मतभेद केवल 'कुतुप' शब्दकी व्युत्पत्तिके विषयमें ही है । किन्तु उसका अर्थ दोनो ही पक्षोमें गायक-वादक आदिका समुदाय ही है ।

---

१ म भ मण्टपभाग । २ म भ दैत्यपरितोषकारणम् । ३ म श्रय कुतुपविन्यामादि नन् पूर्वरङ्गशब्दस्य । भ श्रय कुतुपविन्यासदिम न पूर्वरङ्गशब्दस्य ।

अष्टौ यान्यङ्गभूतानि पदानि, वाक्य प्रति महावाक्यं वा, तानि सुप्-तिङन्तानि, अवान्तरवाक्यानि वा, इत्युभयथा। अत एव 'विचित्रा' इत्युक्तम्।

तेन—

जितमुडुपतिना नम सुरेभ्यो द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु।
अवतु च पृथिवी समृद्धसस्यां प्रतिपच्चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्र ॥

इत्येषापि भारतीयत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता नान्द्युपपन्ना भवति।

अर्थात् सूत्रधार मध्यम स्वरका आश्रय लेकर द्वादश पदोंसे अथवा आठ पदोंसे युक्त नान्दीको पढ़े। इसमें नान्दीके दो रूप बतलाए हैं। एक द्वादश पदों वाली नान्दी और दूसरी आठ पदो वाली नान्दी। किन्तु इसमें 'पद' शब्द भी अनेकार्थक शब्द है। उसमे एक तो 'सुप्तिङन्तं पदम्' इस अष्टाध्यायीके १-४ १४ सूत्रके अनुसार सुबन्त 'राम.' आदि अथवा तिङन्त 'गच्छति' आदि रूप पदोंका ग्रहण हो सकता है। और दूसरे, श्लोकके एक चरण रूप पद अथवा अवान्तर-वाक्यका भी ग्रहण हो सकता है। इसलिए कहीं आठ या बारह सुबन्त तिङन्त पदो वाली नान्दी पाई जाती है और कहीं आठ या बारह अवान्तर वाक्यो या श्लोकके आठ या बारह चरणों वाली भी नान्दी पाई जाती है।

अभिनव०—वाक्यके प्रति अथवा महावाक्यके प्रति जो आठ अङ्गभूत पद अर्थात् [वाक्यके प्रति अङ्गभूत] सुबन्त तिङन्त रूप अथवा [महावाक्यके अङ्ग रूप] अवान्तर-वाक्य रूप [पदोंसे युक्त दोनो प्रकारकी नान्दी हो सकती है]। इसी लिए 'विचित्रा' [अनेक प्रकारकी] यह कहा है।

अभिनव०—इस लिए—

अभिनव०—चन्द्रमा [उडुपति] की विजय हो, देवताओंको नमस्कार हो, श्रेष्ठ ब्राह्मण-गण [के समस्त शुभकार्य] निर्विघ्न हों। और द्वितीया [प्रतिपदा] के चन्द्रमाके समान [वन्दनीय] स्वरूप वाले उत्तम राजा धन-धान्यसे परिपूर्ण पृथ्वी की रक्षा करें।

अभिनव०—भरत विरचित [ग्रन्थ-सम्बन्धिनी नान्दी] के रूपमें प्रसिद्ध और [भरतपुत्र] कोहल द्वारा प्रदर्शित यह [१२ सुबन्त तिङन्त रूप पदों वाली] नान्दी भी ['विचित्रा' विशेषणके अनुसार] युक्ति-सङ्गत हो जाती है।

पाठसमीक्षा—यों तो "जितमुडुपतिना" इत्यादि श्लोक थोड़ेसे पाठान्तरसे 'रत्नावली' नाटिकाके नान्दी-प्रसङ्गमें भी पाया है। उसमें "अवतु च पृथिवीं समृद्धसस्या" के स्थानपर 'भवतु च पृथिवी समृद्धसस्या' और 'प्रतिपच्चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्र' के स्थानपर 'प्रतपतु चन्द्रवपुर्नरेन्द्र-चन्द्र' केवल इतना पाठान्तर पाया जाता है—शेष श्लोक दोनों जगह एकसा है। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि यह श्लोक यहाँ ग्रन्थकारने 'रत्नावली नाटिका' से ही उद्धृत किया है। इसीलिये पूर्ववर्ती दोनों सस्करणोंमें इसे 'रत्नावली नाटिका' के श्लोकके रूपमें ही निर्दिष्ट किया गया है। परन्तु यह बात ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुसार कुछ ठीक नहीं बैठ रही है। ग्रन्थकारने यहाँ स्पष्टरूपसे ही इस श्लोकको 'भारतीयत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता' नान्दीके रूपमें उद्धृत किया है। 'कोहल' भरतके पुत्र और उनके समकालीन नाट्याचार्य हैं। उन्होंने इसे 'भारतीयत्वेन प्रसिद्धा' अर्थात् भरतकृत नान्दीके रूपमें प्रदर्शित किया है। भरत और कोहलका समय लगभग इससे पहले

किमर्थासावित्याह—'वेदनिर्मिता'। तत्र 'आशिषमाशास्ते' इति हि श्रुति 'सर्वकर्मस्वाशी पूर्वकत्वमाह यत्, ततो नान्दीप्रयोगो, न तु पूर्वरङ्गाङ्गत्वेन।

एतानि तु वहिर्गीतान्यन्तर्यवनिकागतै।
प्रयोक्तृभि प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि च ॥११॥

तत सर्वैस्तु कुतुपं सयुक्तानीह कारयेत्।
विघटय्य वै यवनिका नृत्तपाठ्यकृतानि तु ॥ १२ ॥

गीताना भद्रकादीना योग्यमेक तु गीतकम्।
वर्धमानमथापीह ताण्डव यत्र युज्यते ॥ १३ ॥

ततश्चोत्थापन कार्य परिवर्तनमेव च।
नान्दी शुष्कावकृष्टा च रङ्गद्वार तथैव च ॥ १४ ॥

चारी चैव तत कार्या महाचारी तथैव च।
त्रिक प्ररोचना चापि पूर्वरङ्गे भवन्ति हि ॥ १५ ॥

एतान्यङ्गानि कार्याणि पूर्वरङ्गविधौ द्विजा।
एतेषा लक्षणमह व्याख्यास्याम्यनुपूर्वश ॥ १६ ॥

नान्दी प्रयोगका प्रयोजन—

अभिनव०—[विघ्नाभावके कारण नान्दीका अवसर न होने पर भी] वह [नान्दी] किसलिए की है यह बतलानेके लिए 'वेदनिर्मिता' कहा है। क्योंकि वहाँ [अर्थात् वेदमे] 'मङ्गल-कामना करनी चाहिए' प्रकारकी श्रुति [वेद-वाक्य] जो सब कार्योंमे मङ्गल-पूर्वकत्वको सूचित करती है [अर्थात् सब शुभ कार्योंके आरम्भमे मङ्गलाचरण करना चाहिए यह बात क्योंकि वेदमे कही गई है] इसलिए यहाँ ['पूर्वं कृता मया नान्दी' इत्यादि स्थलमे] 'नान्दी' का प्रयोग किया गया है। पूर्वरङ्ग के अङ्ग रूपमे नहीं [की गई है। क्योंकि विघ्नोंकी अभी उपस्थिति न होनेसे विघ्न निवारक 'पूर्वरङ्ग' का अभी कोई अवसर नहीं है]।

इस अनुच्छेदमें भी ग्रन्थकार अपने उपाध्याय भट्टतोतके मतका ही उल्लेख कर रहे हैं। पहिले अनुच्छेदमें यह कहा था कि जब तक दैत्योंके द्वारा विघ्न उपस्थित नहीं किए गए तब तक 'नान्दी' के विधिवत् प्रयोगका अवसर ही नही है। उसीकी सङ्गति दिखलाते हुए इस अनुच्छेदमें यह प्रश्न उठाया है कि जब अभी विघ्न उपस्थित न होनेसे यहा नान्दी प्रयोगकी आवश्यकता ही नहीं थी तब 'नान्दी' की ही क्यो गई। इसका उत्तर 'वेदनिर्मिता' पदसे दिया है। क्योंकि वेदमें समस्त कार्योंके आरम्भमें मङ्गलाचारण करनेका विधान है अत मङ्गलाचरणके रूपमें यह नान्दी की गई है। पूर्वरङ्गके अङ्ग रूपमें नही। यह इस अनुच्छेदका अभिप्राय है।

नान्दीके अनेक रूप—

आगे पञ्चमाध्यायमें भरतमुनिने नान्दीका विधान करते हुए लिखा है कि—

सूत्रधार पठेत् तत्र मध्यम स्वरमाश्रित।
नान्दी पदैर्द्वादशभिरष्टभिर्वाप्यलङ्कृताम् ॥ ५-१०४ ॥

अष्टौ यान्यङ्गभूतानि पदानि, वाक्य प्रति महावाक्यं वा, तानि सुप्-तिङन्तानि, अवान्तरवाक्यानि वा, इत्युभयथा। अत एव 'विचित्रा' इत्युक्तम्।

तेन—

जितमुडुपतिना नमः सुरेभ्यो द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु।
अवतु च पृथिवी समृद्धसस्यां प्रतिपच्चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्र.॥

इत्येषापि भारतीयत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता नान्द्युपपन्ना भवति।

अर्थात् सूत्रधार मध्यम स्वरका आश्रय लेकर द्वादश पदोंसे अथवा आठ पदोंसे युक्त नान्दीको पढ़े। इसमें नान्दीके दो रूप बतलाए हैं। एक द्वादश पदों वाली नान्दी और दूसरी आठ पदों वाली नान्दी। किन्तु इसमें 'पद' शब्द भी अनेकार्थक शब्द है। उसमें एक तो 'सुप्तिङन्तं पदम्' इस अष्टाध्यायीके १-४ १४ सूत्रके अनुसार सुबन्त 'राम' आदि अथवा तिङन्त 'गच्छति' आदि रूप पदोंका ग्रहण हो सकता है। और दूसरे, श्लोकके एक चरण रूप पद अथवा अवान्तर-वाक्यका भी ग्रहण हो सकता है। इसलिए कहीं आठ या बारह सुबन्त तिङन्त पदों वाली नान्दी पाई जाती है और कहीं आठ या बारह अवान्तर वाक्यों या श्लोकके आठ या बारह चरणों वाली भी नान्दी पाई जाती है।

अभिनव०—वाक्यके प्रति अथवा महावाक्यके प्रति जो आठ अङ्गभूत पद अर्थात् [वाक्यके प्रति अङ्गभूत] सुबन्त तिङन्त रूप अथवा [महावाक्यके अङ्ग रूप] अवान्तर-वाक्य रूप [पदोंसे युक्त दोनों प्रकारकी नान्दी हो सकती है]। इसी लिए 'विचित्रा' [अनेक प्रकारकी] यह कहा है।

अभिनव०—इस लिए—

अभिनव०—चन्द्रमा [उडुपति] की विजय हो, देवताओंको नमस्कार हो, श्रेष्ठ ब्राह्मण-गण [के समस्त शुभकार्य] निर्विघ्न हों। और द्वितीया [प्रतिपदा] के चन्द्रमाके समान [वन्दनीय] स्वरूप वाले उत्तम राजा धन-धान्यसे परिपूर्ण पृथ्वी की रक्षा करें।

अभिनव०—भरत विरचित [ग्रन्थ-सम्बन्धिनी नान्दी] के रूपमें प्रसिद्ध और [भरतपुत्र] कोहल द्वारा प्रदर्शित यह [१२ सुबन्त तिङन्त रूप पदों वाली] नान्दी भी ['विचित्रा' विशेषणके अनुसार] युक्ति-सङ्गत हो जाती है।

पाठसमीक्षा—यों तो "जितमुडुपतिना" इत्यादि श्लोक थोड़ेसे पाठान्तरसे 'रत्नावली' नाटिकाके नान्दी-प्रसङ्गमें भी आया है। उसमें "अवतु च पृथिवीं समृद्धसस्या" के स्थानपर 'भवतु च पृथिवी समृद्धसस्या' और 'प्रतिपच्चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्र' के स्थानपर 'प्रभवतु चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्र.' केवल इतना पाठान्तर पाया जाता है—शेष श्लोक दोनों जगह समान है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि यह श्लोक यहाँ ग्रन्थकारने 'रत्नावली नाटिका' में से उद्धृत किया है। इसीलिए पूर्ववर्ती दोनों संस्करणोंमें इसे 'रत्नावली नाटिका' के श्लोकके रूपमें ही निर्दिष्ट किया गया है। परन्तु यह बात ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुसार शुद्ध ठीक नहीं बैठ रही है। ग्रन्थकारने यहाँ स्पष्टरूपसे ही इस श्लोकको 'भारतीयत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता' नान्दीके रूपमें उद्धृत किया है। 'कोहल' भरतके पुत्र और उनके समकालीन नाट्याचार्य हैं। उन्होंने इसे 'भारतीयत्वेन प्रसिद्धा' अर्थात् भरतकृत नान्दीके रूपमें प्रदर्शित किया है। भरत और कोहलका समय [illegible]

किमर्थासावित्याह—'वेदनिर्मिता'। तत्र 'आशिषमाशास्ते' इति हि श्रुति 'सर्वकर्मस्वाशी पूर्वकत्वमाह यत्, ततो नान्दीप्रयोगो, न तु पूर्वरङ्गाङ्गत्वेन।

एतानि तु वहिर्गीतान्यन्तर्यवनिकागतै ।
प्रयोक्तृभि प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि च ॥११॥

तत सर्वैस्तु कुतुपै सयुक्तानीह कारयेत्।
विघटय्य वै यवनिका नृत्तपाठ्यकृतानि तु ॥ १२ ॥

गीताना भद्रकादीना योग्यमेक तु गीतकम्।
वर्धमानमथापीह ताण्डव यत्र युज्यते ॥ १३ ॥

ततश्चोत्थापन कार्यं परिवर्तनमेव च।
नान्दी शुष्कावकृष्टा च रङ्गद्वार तथैव च ॥ १४ ॥

चारी चैव तत कार्या महाचारी तथैव च।
त्रिक प्ररोचना चापि पूर्वरङ्गे भवन्ति हि ॥ १५ ॥

एतान्यङ्गानि कार्याणि पूर्वरङ्गविधौ द्विजा ।
एतेषा लक्षणमह व्याख्यास्याम्यनुपूर्वश ॥ १६ ॥

नान्दी प्रयोगका प्रयोजन—

अभिनव०—[विघ्नाभावके कारण नान्दीका अवसर न होने पर भी] वह [नान्दी] किसलिए की है यह बतलानेके लिए 'वेदनिर्मिता' कहा है। क्योकि वहाँ [अर्थात् वेदमे] 'मङ्गल-कामना करनी चाहिए' प्रकारकी श्रुति [वेद-वाक्य] जो सब कार्योमे मङ्गल-पूर्वकत्वको सूचित करती है [अर्थात् सब शुभ कार्योके आरम्भमे मङ्गलाचरण करना चाहिए यह बात क्योकि वेदमे कही गई है] इसलिए यहाँ ['पूर्वं कृता मया नान्दी' इत्यादि स्थलमे] 'नान्दी' का प्रयोग किया गया है। पूर्वरङ्ग के अङ्ग रूपमे नहीं [की गई है। क्योकि विघ्नोकी अभी उपस्थिति न होनेसे विघ्न निवारक 'पूर्वरङ्ग' का अभी कोई अवसर नहीं है]।

इस अनुच्छेदमें भी ग्रन्थकार अपने उपाध्याय भट्टतौतके मतका ही उल्लेख कर रहे हैं। पहिले अनुच्छेदमें यह कहा था कि जब तक दैत्योकेद्वारा विघ्न उपस्थित नही किए गए तब तक 'नान्दी' के विधिवत् प्रयोगका अवसर ही नही है। उसीकी सङ्गति दिखलाते हुए इस अनुच्छेदमें यह प्रश्न उठाया है कि जब अभी विघ्न उपस्थित न होनेसे यहा नान्दी प्रयोगकी आवश्यकता ही नहीं थी तब 'नान्दी' की ही क्यो गई। इसका उत्तर 'वेदनिर्मिता' पदसे दिया है। क्योकि वेदमें समस्त कार्योके आरम्भमें मङ्गलाचारण करनेका विधान है अत मङ्गलाचरणके रूपमें यह नान्दी की गई है। पूर्वरङ्गके अङ्ग रूपमें नही। यह इस अनुच्छेदका अभिप्राय है।

नान्दीके अनेक रूप—

आगे पञ्चमाध्यायमें भरतमुनिने नान्दीका विधान करते हुए लिखा है कि—

सूत्रधार पठेत् तत्र मध्यम स्वरमाश्रित ।
नान्दी पदै-र्द्वादशभिरष्टभिर्वाप्यलङ्कृताम् ॥ ५-१०४ ॥

अष्टौ यान्यङ्गभूतानि पदानि, वाक्यं प्रति महावाक्यं वा, तानि सुप्-तिङन्तानि, अवान्तरवाक्यानि वा, इत्युभयथा। अत एव 'विचित्रा' इत्युक्तम्।

तेन—

जितमुडुपतिना नम सुरेभ्यो द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु।
अवतु च पृथिवी समृद्धसस्यां प्रतिपच्चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्र ॥

इत्येपापि भारतीयत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता नान्द्युपपन्ना भवति।

अर्थात् सूत्रधार मध्यम स्वरका आश्रय लेकर द्वादश पदोंमे अथवा आठ पदोंमे युक्त नान्दीको पढे। इसमें नान्दीके दो रूप बतलाए हैं। एक द्वादश पदो वाली नान्दी और दूसरी आठ पदों वाली नान्दी। किन्तु इसमें 'पद' शब्द भी अनेकार्थक शब्द है। उनमें एक तो 'सुप्तिङन्त पदम्' इस अष्टाध्यायीके १-४ १४ सूत्रके अनुसार सुवन्त 'राम' आदि अथवा तिङन्त 'गच्छति' आदि रूप पदोंका ग्रहण हो सकता है। और दूसरे, श्लोकके एक चरण रूप पद अथवा अवान्तर-वाक्यका भी ग्रहण हो सकता है। इसलिए कही आठ या बारह सुवन्त तिङन्त पदों वाली नान्दी पाई जाती है और कही आठ या बारह अवान्तर वाक्यों या श्लोकके आठ या बारह चरणो वाली भी नान्दी पाई जाती है।

अभिनव०—वाक्यके प्रति अथवा महावाक्यके प्रति जो आठ अङ्गभूत पद अर्थात् [वाक्यके प्रति अङ्गभूत] सुवन्त तिङन्त रूप अथवा [महावाक्यके अङ्ग रूप] अवान्तर-वाक्य रूप [पदोंसे युक्त दोनो प्रकारकी नान्दी हो सकती है]। इसी लिए 'विचित्रा' [अनेक प्रकारकी] यह कहा है।

अभिनव०—इस लिए—

अभिनव०—चन्द्रमा [उडुपति] की विजय हो, देवताओंको नमस्कार हो, श्रेष्ठ ब्राह्मण-गण [के समस्त शुभकार्य] निर्विघ्न हो। और द्वितीया [प्रतिपदा] के चन्द्रमाके समान [वन्दनीय] स्वरूप वाले उत्तम राजा धन-धान्यसे परिपूर्ण पृथ्वी की रक्षा करें।

अभिनव०—भरत विरचित [ग्रन्थ-सम्बन्धिनी नान्दी] के रूपमें प्रसिद्ध और [भरतपुत्र] कोहल द्वारा प्रदर्शित यह [१२ सुवन्त तिङन्त रूप पदों वाली] नान्दी भी ['विचित्रा' विशेषणके अनुसार] युक्ति-सङ्गत हो जाती है।

पाठसमीक्षा—यों तो "जितमुडुपतिना" इत्यादि श्लोक थोड़ेसे पाठान्तरसे 'रत्नावली' नाटिकाके नान्दी-प्रसङ्गमें भी पाया है। उसमें "अवतु च पृथिवी समृद्धसस्या" के स्थानपर 'भवतु च पृथिवी समृद्धसस्या' और 'प्रतिपच्चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्र' के स्थानपर 'प्रभवतु चन्द्रवपुर्नरेन्द्र-चन्द्र' केवल इतना पाठान्तर पाया जाता है—शेष श्लोक दोनों जगह एकसा है। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि यह श्लोक यहां ग्रन्थकारने 'रत्नावली नाटिका' से ही उद्धृत किया है। इसीलिये पूर्ववर्ती दोनो संस्करणोंमें इसे 'रत्नावली नाटिका' के श्लोकके रूपमें ही निर्दिष्ट किया गया है। परन्तु यह बात ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुसार कुछ ठीक नहीं जंच रही है। ग्रन्थकारने यहां स्पष्टरूपसे ही इस श्लोकको 'भारतीयत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता' नान्दीके रूपमें उद्धृत किया है। 'कोहल' भरतके पुत्र और उनके समकालीन नाट्याचार्य हैं। उन्होंने इसे 'भारतीयत्वेन प्रसिद्धा' अर्थात् भरतकृत नान्दीके रूपमें प्रदर्शित किया है। भरत और कोहलका समय स्पष्ट हर्षवर्धनसे

'अन्यत्र तु पक्षे—

नान्दो पदान्तरेष्वेषु 'ह्येवमस्त्विति नित्यश ।
'वन्देता 'सम्यगुक्ताभि-र्वाग्भिस्तौ पारिपार्श्विकौ ॥ [५-१०९]
इति श्लोकेऽन्तरशब्दोऽवान्तरवाक्यविच्छेदवाची द्रष्टव्य ।

रत्नावलीकार श्री हर्षसे एक सहस्र वर्ष पूर्व पडता है। यदि यह 'रत्नावली' का ही श्लोक होता तो एक सहस्रवर्ष पूर्वं कोहल द्वारा उसे कैसे प्रदर्शित किया जा सकता था ? इसलिये यह श्लोक जैसा कि 'भारतीयत्वेनप्रसिद्धा' पदसे सूचित होता है भरतमुनिके विरचित किसी ग्रन्थका श्लोक जान पडता है। यह हो सकता है कि रत्नावलीकारने उस भरत विरचित प्रसिद्ध श्लोकको कहीसे लेकर अपने ग्रन्थमें दे दिया है।

पाठसमीक्षा—इस विषयमें दूसरी युक्ति यह है कि 'रत्नावली' में नान्दीपाठके रूपमें चार श्लोक दिये गये हैं। उनमें यह अन्तिम श्लोक है । यदि 'रत्नावली' की नान्दी ही यहाँ उद्धृत की जाती तो उसके चारो श्लोकोको, या फिर प्रथम श्लोकको उद्धृत करना उचित था। पहले तीन श्लोकोको छोडकर इस चौथे श्लोकके उद्धृत करनेकी कोई सङ्गति नही लग सकती है। तीसरी बात यह है कि 'रत्नावली' के चार श्लोकोंको मिलाकर सोलह आवान्तर वाक्यो वाली षोडशपदा नान्दी बनती है। पर यहाँ इसे भट्टतौतके मतमें केवल चार आवन्तर वाक्य पदो वाली और दूसरे पक्षमें [बारह] सुबन्त तिडन्त पदो वाली नान्दी के रूपमें प्रदर्शित किया गया है। इसलिये भी यह नान्दी 'रत्नावली' की नान्दी नहीं है। बल्कि 'भारतीत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता' यह चतुष्पदा या द्वादशपदा नान्दी कही औरसे ही उद्धृत की गई है। अत पूर्व सस्करणोमें जो इसे रत्नावलीके श्लोकके रूपमें निर्दिष्ट किया गया है वह उचित प्रतीत नही होता है।

अभिनव०—और दूसरे [अर्थात् 'पद' शब्दसे सुबन्त तिडन्त पदोका ग्रहण न करने वाले] पक्षमे तो—

अभिनव०—नान्दीके इन अवान्तर पदोमे सुन्दर रूपसे उच्चारण किए हुए शब्दोके द्वारा वे दोनो पारिपार्श्विक [नट] 'सदा इस प्रकार [लोक-कल्याण आदि] होता रहे' इस प्रकारकी प्रार्थना करें।

अभिनव०—इस [नान्दीका विधान करने वाले] श्लोकमे [आए हुए] 'अन्तर'-शब्दको अवान्तर खण्ड-वाक्योका बोधक समझना चाहिए।

पाठसमीक्षा—पूर्ववर्ती बड़ोदा वाले दोनो सस्करणोमें अगले 'नान्दीपदान्तरेषु' आदि श्लोकके पहिले 'अत्र तु पक्षे' यह पाठ छापा गया है। किन्तु यह पाठ ठीक नही है। ग्रन्थकार यहा मूल कारिकामें आए हुए नान्दीके 'अष्टाङ्गपदसयुक्ता' इस विशेषणकी व्याख्या कर रहे हैं। इस विशेषणमे प्रयुक्त 'पद' शब्दसे दो अर्थ लिए जा सकते हैं। एक सुबन्त तिडन्त-रूप पद और दूसरा अवान्तर वाक्य-रूप पद। उनमेंसे प्रथम पक्षमें 'जितमुडुपतिना' इत्यादि श्लोकमें नान्दीका लक्षण समन्वित करनेकेलिए पद शब्दसे सुबन्त तिङन्त-रूप पदोका ग्रहण किया गया है। यह बात हम अभी देख चुके हैं। अब आगे ग्रन्थकार दूसरा पक्ष दिखलाना चाहते हैं जिसमें 'पद' शब्दसे अवान्तर वाक्यका ग्रहण करना है। परन्तु इस अर्थके बोधनकेलिए यहाँ 'अत्र तु पक्षे' यह वाक्याश

---

१ अत्र तु पक्षे। २ ह्येवमार्येति। न० शा० ५-१०९। ३ म भ देवताम। ४ म सम्यगुप्ताभि। ५ म पारिपार्श्वकौ

विवेचकास्त्वाहु —अङ्गग्रहणादवान्तरवाक्यान्येव तावदुपात्तानि'। तत्र चाष्ट-द्वादशसंख्या 'चतुरस्र-त्र्यस्राकारानुसारि-रङ्गद्वयाभिप्रायेण।

बिल्कुल असमर्थ है। यदि 'अत्र तु पक्षे' यह पाठ रखाजाय तो इस श्लोकमें आठ या बारह अवान्तर वाक्योंवाली नान्दी माननी होगी। परन्तु इसमें न आठ अवान्तर वाक्य बनते हैं न बारह। अत. यह पाठ ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुरूप नहीं है। एक पक्ष पहले दिया जा चुका है उसके बाद अब दूसरा पक्ष दिया जा रहा है। ऐसी दशामें पक्षान्तरका उपन्यास 'अत्र तु पक्षे' से नहीं किया जा सकता है। पक्षान्तरको उपस्थित करनेकेलिए तो यहाँ निकटतम पाठ 'अन्यत्र तु पक्षे' ही हो सकता है। 'अन्यत्र तु पक्षे' का अर्थ 'दूसरे पक्षमें तो' यह होगा। और इस अर्थकी 'इति श्लोके अन्तरशब्दोऽवान्तरवाक्यविच्छेदवाची द्रष्टव्य.' इस अर्थके साथ सुन्दर रूपसे सङ्गति लग जाती है। यही अर्थ यहा ग्रन्थकारको अभिप्रेत है। इसलिए यहांपर 'अत्र तु पक्षे' के स्थानपर 'अन्यत्र तु पक्षे' यह पाठ होना चाहिए। इस युक्तिक्रमके आधारपर हमने यहां संशोधित रूपमें 'अन्यत्र तु पक्षे' यही पाठ प्रस्तुत किया है।

भट्टतोतसदृश विवेचकोंका मत—

यहा तक ग्रन्थकारने यह बात दिखलाई थी कि 'अष्टाङ्गपदसंयुक्ता' आदि नान्दी-विधायक श्लोकोंमें आए हुए 'पद' शब्दसे सुबन्त तिङन्त रूप पदोंका भी ग्रहण हो सकता है और अवान्तर वाक्य रूप पदोंका भी। अब 'विवेचकास्त्वाहु.' से वे आगे इस विषयमें दूसरा मत प्रस्तुत करते हैं। उसके अनुसार 'पद' शब्दसे केवल अवान्तर वाक्योंका ही ग्रहण किया जा सकता है। अर्थात् इस मतमें सुबन्त तिङन्त रूप पदोंका ग्रहण नहीं किया जा सकता है। यह मत किसका है यह बात यहाँ यद्यपि स्पष्ट रूपसे तो नहीं लिखी है किन्तु 'विवेचका' पदसे ध्वनित होता है कि यह मत ग्रन्थकारके गुरु श्री भट्टतोतका ही मत होना चाहिए। पहिले मतमें जहाँ पद शब्दसे सुबन्त तिङन्त पदोंका भी ग्रहण किया जाता है 'जितमुडुपतिना' आदि श्लोकमें ठीक बारह सुबन्त तिङन्त पद होनेसे द्वादशपदा नान्दी कही जा सकती है। किन्तु इस मतमें जहाँ कि पद शब्दसे केवल अवान्तर वाक्यका ही ग्रहण होता है वहाँ इस श्लोकमें आगे चतुष्पदा नान्दी मानी गई है।

अभिनव०—[हमारे उपाध्याय-सदृश] विवेचकोंका तो यह कहना है कि [मूल कारिकामें] अङ्ग [पद] के ग्रहणसे अवान्तर वाक्योंको ही लिया जाता है। और उनमें आठ या बारह संख्या चौकोर या तिकोने [रङ्गमण्डपके] आकारके अनुसार [पूर्वोक्त दो प्रकारके रङ्ग-मण्डपके अभिप्रायसे] रक्खी गई है। [अर्थात् चौकोर रङ्ग-मण्डपमें द्वादश पदों वाली तथा त्रिभुजाकार रङ्गमण्डपमें आठ पदों वाली नान्दी का प्रयोग करना चाहिए]।

पाठमीमांसा—इस अनुच्छेदमें प्रथम संस्करणमें 'अवान्तरवाक्यान्येतावतोपात्तानि' इस प्रकारका पाठ छापा था। परन्तु यह ठीक नहीं था। इसलिए हमने 'अवान्तरवाक्यान्येतावतो-पात्तानि' के स्थानपर 'अवान्तरवाक्यान्येव तावदुपात्तानि' यह पाठ संशोधित रूपमें रखा है। इसमें 'अङ्गग्रहणात्' के साथ 'एतावता' पदका कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता है। उल्टी पुनरुक्ति-सी हो जाती है। अत एव उसका हटा देना ही उचित प्रतीत होता है। द्वितीय संस्करणमें भी 'एतावता' पदको हटा 'तावदुपात्तानि' यही पाठ रखा गया है।

---

१. अवान्तरवाक्यान्येतावतोपात्तानि। २. चतुरस्रत्र्यस्राकारानुसारिरङ्गद्वयाभिप्रायेण।

'अन्यत्र तु पक्षे—

नान्दी पदान्तरेष्वेषु 'ह्येवमस्त्विति नित्यश ।
'वन्देता 'सम्यगुक्ताभि-र्वाग्भिस्तौ पारिपार्श्विकौ ॥ [५-१०९]
इति श्लोकेऽन्तरशब्दोऽवान्तरवाक्यविच्छेदवाची द्रष्टव्य ।

रत्नावलीकार श्री हर्षसे एक सहस्र वर्ष पूर्व पडता है। यदि यह 'रत्नावली' का ही श्लोक होता तो एक सहस्रवर्ष पूर्व कोहल द्वारा उसे कैसे प्रदर्शित किया जा सकता था ? इसलिये यह श्लोक जैसा कि 'भारतीयत्वेनप्रसिद्धा' पदसे सूचित होता है भरतमुनिके विरचित किसी ग्रन्थका श्लोक जान पडता है। यह हो सकता है कि रत्नावलीकारने उस भरत विरचित प्रसिद्ध श्लोकको कहीसे लेकर अपने ग्रन्थमें दे दिया है।

पाठसमीक्षा—इस विषयमें दूसरी युक्ति यह है कि 'रत्नावली' में नान्दीपाठके रूपमें चार श्लोक दिये गये हैं। उनमें यह अन्तिम श्लोक है । यदि 'रत्नावली' की नान्दी ही यहाँ उद्धृत की जाती तो उसके चारो श्लोकोको, या फिर प्रथम श्लोकको उद्धृत करना उचित था। पहले तीन श्लोकोको छोडकर इस चौथे श्लोकके उद्धृत करनेकी कोई सङ्गति नही लग सकती है। तीसरी बात यह है कि 'रत्नावली' के चार श्लोकोंको मिलाकर सोलह आवान्तर वाक्यो वाली षोडशपदा नान्दी बनती है। पर यहाँ इसे भट्टतौतके मतमें केवल चार आवन्तर वाक्य पदो वाली और दूसरे पक्षमें [बारह] सुबन्त तिङन्त पदो वाली नान्दी के रूपमें प्रदर्शित किया गया है। इसलिये भी यह नान्दी 'रत्नावली' की नान्दी नहीं है। बल्कि 'भारतीत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता' यह चतुष्पदा या द्वादशपदा नान्दी कहीं औरसे ही उद्धृत की गई है। अत पूर्व सस्करणोमें जो इसे रत्नावलीके श्लोकके रूपमें निर्दिष्ट किया गया है वह उचित प्रतीत नही होता है।

अभिनव०—और दूसरे [अर्थात् 'पद' शब्दसे सुबन्त तिङन्त पदोका ग्रहण न करने वाले] पक्षमे तो—

अभिनव०—नान्दीके इन अवान्तर पदोमे सुन्दर रूपसे उच्चारण किए हुए शब्दोके द्वारा वे दोनो पारिपार्श्विक [नट] 'सदा इस प्रकार [लोक-कल्याण आदि] होता रहे' इस प्रकारकी प्रार्थना करें।

अभिनव०—इस [नान्दीका विधान करने वाले] श्लोकमे [आए हुए] 'अन्तर'-शब्दको अवान्तर खण्ड-वाक्योका बोधक समझना चाहिए।

पाठसमीक्षा—पूर्ववर्ती बडोदा वाले दोनो सस्करणोमें अगले 'नान्दीपदान्तरेषु' आदि श्लोकके पहिले अत्र तु पक्षे' यह पाठ छापा गया है। किन्तु यह पाठ ठीक नही है। ग्रन्थकार यहा मूल कारिकामें आए हुए नान्दीके 'अष्टाङ्गपदसयुक्ता' इस विशेषणकी व्याख्या कर रहे हैं। इस विशेषणमे प्रयुक्त 'पद' शब्दसे दो अर्थ लिए जा सकते हैं। एक सुबन्त तिङन्त-रूप पद और दूसरा अवान्तर वाक्य-रूप पद। उनमेंसे प्रथम पक्षमे 'जितमुडुपतिना' इत्यादि श्लोकमें नान्दीका लक्षण समन्वित करनेकेलिए पद शब्दसे सुबन्त तिङन्त-रूप पदोका ग्रहण किया गया है। यह बात हम अभी देख चुके हैं। अब आगे ग्रन्थकार दूसरा पक्ष दिखलाना चाहते हैं जिसमें 'पद' शब्दसे अवान्तर वाक्यका ग्रहण करना है। परन्तु इस अर्थके बोधनकेलिए यहाँ 'अत्र तु पक्षे' यह वाक्यांश

---

१ अत्र तु पक्षे। २ ह्येवमार्येति। न० शा० ५-१०९। ३ म भ देवताम।
४ म सम्यगुप्ताभि। ५ म पारिपार्श्वकौ

विवेचकास्त्वाहु—अङ्गग्रहणादवान्तरवाक्यान्येव तावदुपात्तानि[1]। तत्र चाष्ट-द्वादशसंख्या [2]चतुरस्र-त्र्यस्राकारानुसारि-रङ्गद्वयाभिप्रायेण।

बिलकुल असमर्थ है। यदि 'अत्र तु पक्षे' यह पाठ रखा जाय तो इस श्लोकमें आठ या बारह अवान्तर वाक्योंवाली नान्दी माननी होगी। परन्तु इसमें न आठ अवान्तर वाक्य बनते हैं न बारह। अत यह पाठ ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुरूप नहीं है। एक पक्ष पहले दिया जा चुका है उसके बाद अब दूसरा पक्ष दिया जा रहा है। ऐसी दशामें पक्षान्तरका उपन्यास 'अत्र तु पक्षे' से नही किया जा सकता है। पक्षान्तरको उपस्थित करनेकेलिए तो यहाँ निकटतम पाठ 'अन्यत्र तु पक्षे' ही हो सकता है। 'अन्यत्र तु पक्षे' का अर्थ 'दूसरे पक्षमें तो' यह होगा। और इस अर्थकी 'इति श्लोके अन्तरशब्दोऽवान्तरवाक्यविच्छेदवाची द्रष्टव्यः' इस अर्थके साथ सुन्दर रूपसे सङ्गति लग जाती है। यही अर्थ यहां ग्रन्थकारको अभिप्रेत है। इसलिए यहापर 'अत्र तु पक्षे' के स्थानपर 'अन्यत्र तु पक्षे' यह पाठ होना चाहिए। इस युक्तिक्रमके आधारपर हमने यहां संशोधित रूपमें 'अन्यत्र तु पक्षे' यही पाठ प्रस्तुत किया है।

भट्टतोतसदृश विवेचकोंका मत—

यहां तक ग्रन्थकारने यह बात दिखलाई थी कि 'अष्टाङ्गपदसंयुक्ता' आदि नान्दी-विधायक श्लोकोंमें आए हुए 'पद' शब्दसे सुबन्त तिङन्त रूप पदोंका भी ग्रहण हो सकता है और अवान्तर वाक्य रूप पदोंका भी। अब 'विवेचकास्त्वाहु' से वे आगे इस विषयमें दूसरा मत प्रस्तुत करते हैं। उसके अनुसार 'पद' शब्दसे केवल अवान्तर वाक्योंका ही ग्रहण किया जा सकता है। अर्थात् इस मतमें सुबन्त तिङन्त रूप पदोंका ग्रहण नहीं किया जा सकता है। यह मत किसका है यह बात यहाँ यद्यपि स्पष्ट रूपसे तो नहीं लिखी है किन्तु 'विवेचका.' पदसे ध्वनित होता है कि यह मत ग्रन्थकारके गुरु श्री भट्टतोतका ही मत होना चाहिए। पहिले मतमें जहाँ पद शब्दसे सुबन्त तिङन्त पदोंका भी ग्रहण किया जाता है 'जितमुडुपतिना' आदि श्लोकमें ठीक बारह सुबन्त तिङन्त पद होनेसे द्वादशपदा नान्दी कही जा सकती है। किन्तु इस मतमें जहाँ कि पद शब्दसे केवल अवान्तर वाक्यका ही ग्रहण होता है वहां इस श्लोकमें आगे चतुष्पदा नान्दी मानी गई है।

अभिनव०—[हमारे उपाध्याय-सदृश] विवेचकोंका तो यह कहना है कि [मूल कारिकामें] अङ्ग [पद] के ग्रहणसे अवान्तर वाक्योंको ही लिया जाता है। और उनमें आठ या बारह संख्या चौकोर या तिकोने [रङ्गमण्डपके] आकारके अनुसार [पूर्वोक्त दो प्रकारके रङ्ग-मण्डपके अभिप्रायसे] रक्खी गई है। [अर्थात् चौकोर रङ्ग-मण्डपमें द्वादश पदों वाली तथा त्रिभुजाकार रङ्गमण्डपमें आठ पदों वाली नान्दी का प्रयोग करना चाहिए]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें प्रथम संस्करणमें 'अवान्तरवाक्यान्येतावतोपात्तानि' इस प्रकारका पाठ छापा था। परन्तु यह ठीक नहीं था। इसलिए हमने 'अवान्तरवाक्यान्येतावतो-पात्तानि' के स्थानपर 'अवान्तरवाक्यान्येव तावदुपात्तानि' यह पाठ संशोधित रूपमें रखा है। इसमें 'अङ्गग्रहणात्' के बाद 'एतावता' पदका कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता है। उल्टी पुनरुक्ति-सी हो जाती है। अत एव उसका हटा देना ही उचित प्रतीत होता है। द्वितीय संस्करणमें भी 'एतावता' पदको हटा 'तावदुपात्तानि' यही पाठ रखा गया है।

---

1 अवान्तरवाक्यान्येतावतोपात्तानि। 2 चतुरस्रत्र्यस्राकारानुसारिरङ्गद्वयाभिप्रायेण।

तत्र—

नान्दी पदै-र्द्वादशभिरष्टभि-र्वाप्यलङ्कृताम् [ना०शा० ५-१०४]

इत्यत्र 'अपि' शब्दाच्चतुष्पदत्व षोडशपदत्व चतुरस्रगत लभ्यते । त्र्यस्रगत च त्रिपदत्व षट्पदत्व च । इत्येव [1]'अल्पेनापि तद्भेदेन तिस्रस्तिस्रो नान्द्य । तत [2]परमपि [3]भूयस्य । तेन 'जितमुडुपतिना' इति चतुष्पदेयम् । षोडशपदा तु- 'जयति भुवनकारणम्' इत्यादि ॥ ५६ ॥

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमें दूसरी 'जगह चतुरस्रत्र्यश्रकालानुसारि पूर्वरङ्गद्वयाभिप्रायेण' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोमें छपा है। परन्तु वह भी ठीक नही है । उसके स्थानपर हमने चतुरस्र-त्र्यस्राकारानुसारि-रङ्गद्वयाभिप्रायेण 'यह पाठ रखा है। इसमें 'कालानुसारी' के स्थानपर 'आकारानुसारि' और 'पूर्वरङ्गद्वय' के स्थानपर केवल 'रङ्गद्वय' पद हमने रखा है । इसका कारण यह है कि द्वितीय अध्यायमें चतुरस्र तथा त्र्यस्र चौकोने और तिकोने दो प्रकारके रङ्गमण्डपोका वर्णन पाया जाता है । ये दोनों मण्डपोके आकार हैं। अत 'कालानुसारी' के स्थानपर 'आकारानुसारि' पाठ ही अधिक सङ्गत है । और 'पूर्वरङ्ग' के स्थानपर 'रङ्ग' पाठ ही होना चाहिए । क्योकि चतुरस्र तथा त्र्यस्र रङ्ग-मण्डप ही होते हैं पूर्वरङ्ग नही । अत एव ये दोनो पाठ-सशोधन भी आवश्यक ही है । उनके विना वाक्यकी सङ्गति लगना असम्भव है ।

अभिनव०—उस [अवान्तर वाक्योको पद मानने वाले पक्ष] मे—

अभिनव०—'आठ पदोसे अथवा बारह पदोसे अलंकृत नान्दीको'—

अभिनव०—इस [श्लोक] मे 'अपि' शब्दसे [अष्टपदा तथा द्वादशपदाके अतिरिक्त] चतुष्कोण [मण्डप]मे चतुष्पदा और षोडशपदा [नान्दी] भी प्राप्त होती है । [इसी प्रकार] तिकोने [मण्डप] मे [द्वादशपदाके अतिरिक्त] तीन पदो तथा छ पदो वाली [नान्दी] का भी ग्रहण होता है । इस प्रकार थोडे-थोडेसे भेदसे [चतुरस्र चौकोर रङ्गमण्डपमे चार, आठ तथा सोलह पदो वाली तीन प्रकारकी, तथा तिकोने मण्डपमे तीन, छ तथा बारह पदो वाली] तीन-तीन प्रकारकी नान्दी होती है । उससे आगे भी बहुत तरहकी हो सकती है । इस लिए 'जितमुडुपतिना' यह चतुष्पदा [नान्दी] है । और 'जयति भुवनकारणम्' इत्यादि १६ पदो [नान्दी] वाली है ।

आकारानसारिणी नान्दी व्यवस्थाका औचित्य—

ऊपर जो अष्टपदा और द्वादशपदा नान्दीका उल्लेख किया गया है इसके विषयमें सामान्यत विद्वानोका यही विचार है कि इसमें पद शब्दसे सुबन्त तिङन्त रूप पदोका अथवा अवान्तर वाक्य रूप पदोका दोनोका ही ग्रहण किया जा सकता है। और यह कविकी या नाटककारकी इच्छापर निर्भर है कि वह कौनसे अर्थको ले। रत्नावली नाटिकाके कर्ताने 'पद' शब्दसे अवान्तर वाक्य रूप पदोको ग्रहण कर अपनी नाटिकामें चार श्लोको द्वारा सोलह अवान्तर-वाक्य रूप पदोमे युक्त नान्दीका प्रयोग किया है। वेणीसहारके निर्माता भट्टनारायणने अपने नाटकके आरम्भ मे १ निषिद्धैरप्येभिर्लुलितमकरन्दो, २ कालिन्द्या पुलिनेषु केलिकुपिता' और ३ 'दृष्ट सप्रेम देव्या' इत्यादि तीन बडे-बडे श्लोक लिख कर बारह अवान्तर वाक्यों वाली द्वादशपदा नान्दीका

---

१ म भ अल्पमपि । २ म भ परमभि ३ भूयस्त्वात् ।

प्रयोग किया है। महाकवि भवभूतिने अपने उत्तर रामचरितमें छोटा सा अनुष्टुप् श्लोक लिख कर बारह सुबन्त तिङन्त पदों वाली द्वादशपदा नान्दीको पूर्ण कर दिया है। इसी प्रकार अष्टपदा नान्दीके विषयमें भी भिन्न-भिन्न कवियोंने भिन्न-भिन्न पक्षोंको अपनाया है। कालिदासने अपने शकुन्तला नाटकमें या 'सृष्टिः स्रष्टुराद्या' आदि एक ही श्लोकमें आठ अवान्तर वाक्य बनाकर अष्टपदा नान्दीका प्रयोग किया है। किन्तु मुद्राराक्षसके निर्माता विशाखदत्त ने १ 'धन्या केयं' और २ 'पादस्याविर्भवन्ती' इत्यादि दो बड़े-बड़े श्लोक लिख कर अष्टपदा नान्दीकी पूर्ति की है। इस प्रकार सामान्य रूपसे कवियोंने अपनी इच्छाके अनुसार अष्टपदा या द्वादशपदा नान्दीको और उसके दोनों प्रकारके अर्थोंको अपनाया है।

किन्तु अभिनवगुप्तने अपने गुरु श्री भट्टतोतके मतके आधारपर नान्दीके अष्टपदा और द्वादशपदोंकी व्यवस्था रङ्गमण्डपके आकारके अनुसार की है। भट्टतोतका मत यह है कि अष्टपदा नान्दीका प्रयोग चतुरस्र-मण्डपमें और द्वादशपदा नान्दीका प्रयोग मुख्य रूपसे त्र्यस्र-मण्डपमें करना चाहिए। यही नहीं अपितु 'नान्दीं पदैर्द्वादशभिरष्टभिर्वाप्यलङ्कृताम्' इत्यादि, नान्दी-विधायक श्लोकमें आए हुए 'अपि' शब्दके बलसे उन्होंने चतुरस्र-मण्डपमें अष्टपदाके अतिरिक्त चतुष्पदा तथा षोडश-पदा नान्दी भी मानी है। इसी प्रकार त्र्यस्र-मण्डपमें द्वादशपदाके अतिरिक्त त्रिपदा और षट्पदा नान्दीको भी स्वीकार किया है। किन्तु इतनी विस्तृत विवेचना करते हुए भी वे इसमें विकृष्ट-मण्डपको बिल्कुल ही भूल गए हैं। विकृष्ट-मण्डपमें किस प्रकारकी नान्दी करनी चाहिए इसकी कोई चर्चा उन्होंने नहीं की है। इसलिए मण्डपाकारानुसारिणी यह नान्दी-व्यवस्था कुछ अपूर्ण प्रतीत होती है।

जितमुडुपतिनामें चतुष्पदा नान्दी—

भट्टतोत-सदृश विवेचकोंके मतमें पद शब्दसे सुबन्त तिङन्त पदोंका ग्रहण न करके केवल अवान्तर वाक्योंका ही ग्रहण किया जाता है उस दशामें 'जितमुडुपतिना' आदि श्लोकमें १ जितमुडु-पतिना, २ नमः सुरेभ्यो, ३ द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु ये तीन पूर्वार्द्धके और उत्तरार्द्धका एक इस प्रकार चार अवान्तर वाक्य मान कर इसे चतुष्पदा नान्दी कहा गया है। पहिले मतमें इस श्लोक में ठीक बारह सुबन्त तिङन्त पद होनेसे इसे द्वादशपदा नान्दी माना गया है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें हमने दो स्थानों पर पाठ-संशोधन किया है। पूर्व-संस्करणोंमें 'अल्पमपि तद्भेदेन निवसन्त्विनो नान्द्य' इस प्रकारका पाठ छपा था। उसमें 'अल्पमपि' के स्थानपर 'अल्पेनापि' पाठ सङ्गत प्रतीत होता है। 'अल्पमपि तद्भेदेन' पाठकी कोई सङ्गति नहीं लगती है। इसी प्रकार पूर्व-संस्करणोंमें 'अतः परमपि नृपस्त्यात्' यह पाठ मुद्रित हुआ है। किन्तु वह असङ्गत प्रतीत होता है। उसके स्थानपर 'ततः परमपि नृपस्यः' पाठ शुद्ध प्रतीत होता है। अतः हमने संशोधित रूपमें इन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है ॥५६॥

'तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा' की दो व्याख्याएं और उनका खण्डन—

पिछली ५६ वीं कारिका में ग्रन्थकारने नाटकके प्रारम्भमें की जाने वाली नान्दीका वर्णन किया था। उसके बाद अब ५७ वें श्लोकमें वे अगली बात 'तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा' इन शब्दोंमें कह रहे हैं। इन शब्दोंका स्पष्ट अर्थ यह है कि उसके बाद अर्थात् नान्दी-पाठके बाद मैंने अनुकृति अर्थात् अभिनयका आरम्भ किया। किन्तु टीकाकारोंने अपनी [illegible] धुनमें इस वाक्यकी बुरी तरह खींचातानी कर डाली है। अभिनवगुप्तने अपनेसे पूर्ववर्ती दो टीकाकारोंके व्याख्यानोंका उल्लेख किया है। इनमेंसे पहिले टीकाकारका मत यह है कि 'अनुकृतिर्बद्धा' का अर्थ 'अभिनयका आरम्भ किया' यह नहीं है अपितु 'अभिनयका अभ्यास प्रारम्भ किया,' यह है। इस [illegible]

अब तकका लिखा-पढा सब कुछ भुला दिया। अभ्यासकी बात तो इसके पहिले ही लिखी जा चुकी है। अत यहा अभ्यासका आरम्भ करनेकी कोई सङ्गति नही है। इसलिए अभिनवगुप्तने आगे उनके मतका खण्डन कर दिया है।

दूसरे व्याख्याकारने 'अनुकृति' शब्दका अर्थ 'प्रस्तावना' माना है और इस वाक्यका अर्थ 'प्रस्तावना तावत् प्रयुक्तेत्यर्थ' प्रस्तावना प्रारम्भ की यह किया है। परन्तु इनकी व्याख्या पहिली व्याख्यासे भी अधिक असङ्गत है। अनुकृति शब्दका वाच्यार्थ प्रस्तावना नही है। अनुकृति शब्द प्रस्तावनाके अर्थमें रूढ भी नही है। और अनुकृति शब्दसे प्रस्तावना अर्थ ग्रहण करनेमें कोई प्रयोजन भी नही है। इसलिए लक्षणा वृत्तिसे भी अनुकृति शब्दका प्रस्तावना अर्थ नही किया जा सकता है। तव अनुकृति शब्दसे प्रस्तावना अर्थका ग्रहण करना इन व्याख्याकार महोदयकी अपनी कल्पनामात्र है। उसकी न यहा कोई आवश्यकता है और न वह भरतमुनिको अभिप्रेत है। यदि भरतमुनिको प्रस्तावना प्रारम्भ की यही बात कहनी थी तो वे स्पष्ट रूपसे प्रस्तावना शब्दका प्रयोग करके उस बातको कह सकते थे। उनके पास शब्दोया प्रतिभाका दारिद्र्य नहीं था कि वे प्रस्तावना शब्दका प्रयोग करके श्लोक न वना सकते। उन्हे यहा वस्तुतः प्रस्तावना प्रारम्भ की यह अर्थ अभिप्रेत ही नही है। इसलिए उन्होंने उस प्रकारकी वाक्य रचना नही की है।

'उसके वाद मैंने अनुकृति अर्थात् अभिनयका प्रारम्भ किया' यह सीधा-सा अर्थ है। प्रस्तावना तो नाटकका अङ्ग ही है। नाटकका प्रारम्भ प्रस्तावनासे ही होता है इस लिए जब नाटकके प्रारम्भ करनेकी वात कही गई है तो उससे प्रस्तावनाका प्रारम्भ तो स्वय ही आगया। उसको अलग-से कहनेकी आवश्यकता ही नही है। नान्दीको तो अलगसे कहने की आवश्यकता है किन्तु प्रस्तावनाको अलगसे कहनेकी कोई आवश्यकता है। नान्दीको अलगसे कहनेकी आवश्यकता दो दृष्टियोसे है। एकतो इसलिए कि नान्दी मङ्गलरूप या भगवान्के नामके स्मरणके समान है। इसलिए उसका अपना विशेष महत्त्व है। दूसरे कुछ लोग नान्दीको नाटकका भाग नही मानते हैं किन्तु नाटकसे अलग और नाटकके आरम्भमें अवश्य करणीय मानते हैं। कालिदास आदि अन्य सव नाटककार तो नान्दीको नाटकका भाग मानते हैं इसीलिए उन्होने अपने नाटकोके आरम्भमें सबसे पहिले नान्दीपाठ वाले श्लोकोको ही लिखा है। उनके वाद 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' लिख कर सूत्रधारका प्रवेश करवाया है। किन्तु 'भास' एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन्होंने इस पद्धतिका अवलम्वन नही किया है। उनके नाटकोमें सबसे पहिला वाक्य 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' यह पाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि वे नान्दीको नाटकका अङ्ग नही मानते हैं। किन्तु नाटकके आरम्भ करनेके पूर्व उसका अलगसे पाठ करना चाहिए यह उनका अभिप्राय है। इसी दृष्टिसे वे अपने नाटकोका प्रारम्भ 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' इस वाक्यके साथ करते हैं।

इस प्रकार इन दोनो दृष्टियोसे नान्दीका प्रयोग किए जानेकी वात अलगसे कहना उचित ही है। इसी लिए भरतमुनिने उसका अलगसे कथन किया है। किन्तु प्रस्तावनाको अलगसे कहनेकी कोई आवश्यकता नही है। अत एव भरतमुनिने उसको अलगसे नही कहा है। नान्दीके वाद सीधे ही 'तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा' लिख कर अभिनय प्रारम्भ करनेकी बात कह दी है। इसलिए प्राचीन दो टीकाकारोने जो इस वाक्यकी व्याख्याए की है वे सर्वथा असङ्गत है।

नान्दीके वाद किस रूपकभेदका अभिनय किया गया—

नान्दीके वाद रूपकके किस भेदका अभिनय प्रारम्भ किया गया इस बातका परिचय भी इस कारिकामें पाया जाता है। मुख्यरूपमे नाटक, प्रकरण, प्रहसन आदि रूपकके दस भेद माने जाते

भरत०—तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः ।
सम्फेटविद्रवकृता च्छेद्यभेद्याहवात्मिका ॥ ५७ ॥

तदन्त इति नान्यन्ते, परिसमाप्तौ । अनुकृतिरिति नाट्यम् । तत्र च 'बद्धेति [ग]ुणनिका योजिता, न तु प्रयोग' । इत्येतच्चासत् । पूर्वोत्तरव्याघातात् । पूर्वं ह्युक्तम्–'एव नाट्यमिदम्' इत्यादि—'नान्दी कृता' इत्यन्तम् । वक्ष्यते च-'ब्रह्मादय प्रयोगपरि-[त]ोपिता' इति । तस्माद् बद्धेति प्रस्ताविता, न तु निष्पादिता । प्रस्तावना तावत् प्रयुक्तेत्यर्थ ।

---

[१]। इनमें समवकार और डिम आदि रूपकभेद भी आते हैं। यहा भरतमुनिने 'च्छेद्यभेद्याहवात्मिका' [ज]िस 'अनुकृति' का वर्णन किया है वह डिम, समवकार या ईहामृग आदि भेदोंमेंसे कोई हो सकती है। नाटक, प्रकरण आदि भेदोंमेंसे नही हो सकती है। इसलिए डिम, समवकार, ईहामृग आदिमेंसे ही किसी एकका आरम्भ किया गया यह बात निकलती है। इसके आधारपर कुछ टीकाकारोंने यहा यह शङ्का उठाई है कि डिम आदिमें तो कैशिकी वृत्तिके प्रयोगका कोई अवसर नहीं है तब उनके प्रयोगकेलिए अप्सराओंकी रचना आदिका जो वर्णन पहिले किया गया है वह सब व्यर्थ हो जाता है। इस शङ्काका समाधान अभिनवगुप्तने दो प्रकारसे किया है। एक तो यह कि भरतपुत्रोंने रूपकके सभी भेदोंका अभ्यास किया है किन्तु सबका प्रयोग तो एक साथ नही हो सकता है। इसलिए पहिले डिम समवकार आदि युद्धप्रधान अभिनय दिखलानेके बाद कैशिकी प्रधान अभिनयभी आगे दिखलावेंगे। उसकेलिए कैशिकीकी सामग्री आदिका वर्णन उपयुक्त हो जाता है। दूसरा समाधान यह किया है कि युद्धादि प्रधान डिम आदिमें भी तो सौन्दर्याधानकी आवश्यकता है। और सौन्दर्यका सारा क्षेत्र कैशिकीका अधिकार-क्षेत्र है। इसलिए डिम आदिमें भी कैशिकीका स्थान रहता है। इन्ही सब बातोंका विवेचन ग्रन्थकारने इस कारिकामें निम्न प्रकार किया है—

भरत०—उस [नान्दी] के समाप्त होनेपर, जिस प्रकार देवताओंने दैत्योंपर विजय प्राप्त की उस [सम्फेटो रोषभाषण] गर्जन-तर्जन, भाग दौड [विद्रव], और मार-काट [च्छेद्य-भेद्य] रूप युद्धात्मक अभिनयका प्रारम्भ किया। ५७।

अभिनव०—उसके अन्तमे अर्थात् नान्दीके अन्त अर्थात् समाप्तिके बाद। अनुकृति अर्थात् अभिनय [नाट्य]। इस [व्याख्या] में [किसी प्राचीन टीकाकारने जो यह व्याख्या की है कि—]'बद्धा' इसका अभिप्राय अभ्यास आरम्भ किया है यह है न कि अभिनयका आरम्भ किया। [उन टीकाकारोंका] यह कहना अगले-पिछले [वर्णन] के विपरीत होनेके कारण असङ्गत है। पहिले [५१वीं कारिका] 'एवं नाट्य' से लेकर 'नान्दी कृता' [५६वीं कारिका] यहां तक [अभिनयकी भूमिकाका वर्णन] कहा जा चुका है। [इसके आगे अभ्यास नहीं, अभिनय ही प्रारम्भ होना चाहिए]। और आगे [५६ वीं कारिकामे] 'अभिनयसे सन्तुष्ट हुए ब्रह्मा आदि' [देवताओंने अनेक प्रकारके उपहार दिए] यह कहेंगे। इसलिए ['अनुकृतिर्बद्धा' का अर्थ अभ्यास आरम्भ किया यह नहीं हो सकता है अपितु] अभिनय आरम्भ किया, पूर्ण नहीं कर दिया [यह अर्थ है]। अर्थात् प्रस्तावना सबसे पहिले प्रारम्भ की यह अर्थ है।

अब तकका लिखा-पढा सब कुछ भुला दिया। अभ्यासकी बात तो इसके पहिले ही लिखी जा चुकी है। अत यहा अभ्यासका आरम्भ करनेकी कोई सङ्गति नही है। इसलिए अभिनवगुप्तने आगे उनके मतका खण्डन कर दिया है।

दूसरे व्याख्याकारने 'अनुकृति' शब्दका अर्थ 'प्रस्तावना' माना है और इस वाक्यका अर्थ 'प्रस्तावना तावत् प्रयुक्तेत्यर्थ' प्रस्तावना प्रारम्भ की यह किया है। परन्तु इनकी व्याख्या पहिली व्याख्यासे भी अधिक असङ्गत है। अनुकृति शब्दका वाच्यार्थ प्रस्तावना नहीं है। अनुकृति शब्द प्रस्तावनाके अर्थमें रूढ भी नही है। और अनुकृति शब्दसे प्रस्तावना अर्थ ग्रहण करनेमें कोई प्रयोजन भी नही है। इसलिए लक्षणा वृत्तिसे भी अनुकृति शब्दका प्रस्तावना अर्थ नही किया जा सकता है। तब अनुकृति शब्दसे प्रस्तावना अर्थका ग्रहण करना इन व्याख्याकार महोदयकी अपनी कल्पनामात्र है। उसकी न यहा कोई आवश्यकता है और न वह भरतमुनिको अभिप्रेत है। यदि भरतमुनिको प्रस्तावना प्रारम्भ की यही बात कहनी थी तो वे स्पष्ट रूपसे प्रस्तावना शब्दका प्रयोग करके उस बातको कह सकते थे। उनके पास शब्दोया प्रतिभाका दारिद्र्य नहीं था कि वे प्रस्तावना शब्दका प्रयोग करके श्लोक न बना सकते। उन्हे यहा वस्तुत. प्रस्तावना प्रारम्भ की यह अर्थ अभिप्रेत ही नही है। इसलिए उन्होने उस प्रकारकी वाक्य रचना नही की है।

'उसके बाद मैंने अनुकृति अर्थात् अभिनयका प्रारम्भ किया' यह सीधा-सा अर्थ है। प्रस्तावना तो नाटकका अङ्ग ही है। नाटकका प्रारम्भ प्रस्तावनासे ही होता है इस लिए जब नाटकके प्रारम्भ करनेकी बात कही गई है तो उससे प्रस्तावनाका प्रारम्भ तो स्वय ही आगया। उसको अलग-से कहनेकी आवश्यकता ही नही है। नान्दीको तो अलगसे कहने की आवश्यकता है किन्तु प्रस्तावनाको अलगसे कहनेकी कोई आवश्यकता है। नान्दीको अलगसे कहनेकी आवश्यकता दो दृष्टियोसे है। एकतो इसलिए कि नान्दी मङ्गलरूप या भगवान्के नामके स्मरणके समान है। इसलिए उसका अपना विशेष महत्त्व है। दूसरे कुछ लोग नान्दीको नाटकका भाग नही मानते हैं किन्तु नाटकसे अलग और नाटकके आरम्भमें अवश्य करणीय मानते हैं। कालिदास आदि अन्य सब नाटककार तो नान्दीको नाटकका भाग मानते हैं इसीलिए उन्होने अपने नाटकोके आरम्भमें सबसे पहिले नान्दीपाठ वाले श्लोकोको ही लिखा है। उनके बाद 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' लिख कर सूत्रधारका प्रवेश करवाया है। किन्तु 'भास' एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन्होंने इस पद्धतिका अवलम्बन नही किया है। उनके नाटकोमें सबसे पहिला वाक्य 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' यह पाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि वे नान्दीको नाटकका अङ्ग नही मानते हैं। किन्तु नाटकके आरम्भ करनेके पूर्व उसका अलगसे पाठ करना चाहिए यह उनका अभिप्राय है। इसी दृष्टिसे वे अपने नाटकोका प्रारम्भ 'नान्द्यन्ते सूत्रधार.' इस वाक्यके साथ करते हैं।

इस प्रकार इन दोनो दृष्टियोसे नान्दीका प्रयोग किए जानेकी बात अलगसे कहना उचित ही है। इसी लिए भरतमुनिने उसका अलगसे कथन किया है। किन्तु प्रस्तावनाको अलगसे कहनेकी कोई आवश्यकता नही है। अत एव भरतमुनिने उसको अलगसे नही कहा है। नान्दीके बाद सीधे ही 'तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा' लिख कर अभिनय प्रारम्भ करनेकी बात कह दी है। इसलिए प्राचीन दो टीकाकारोने जो इस वाक्यकी व्याख्याए की है वे सर्वथा असङ्गत है।

नान्दीके बाद किस रूपकभेदका अभिनय किया गया—

नान्दीके बाद रूपकके किस भेदका अभिनय प्रारम्भ किया गया इस बातका परिचय भी इस कारिकामें पाया जाता है। मुख्यरूपसे नाटक, प्रकरण, प्रहसन आदि रूपकके दस भेद माने जाते

भरत०—तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः ।
सम्फेटविद्रवकृता च्छेद्यभेद्याहवात्मिका ॥ ५७ ॥

तदन्त इति नान्द्यन्ते, परिसमाप्तौ । अनुकृतिरिति नाट्यम् । तत्र च 'बद्धेति गुणनिका योजिता, न तु प्रयोग.' । इत्येतच्चासत् । पूर्वोत्तरव्याघातात् । पूर्व ह्युक्तम्—'एव नाट्यमिदम्' इत्यादि—'नान्दी कृता' इत्यन्तम् । वक्ष्यते च-'ब्रह्मादय प्रयोगपरितोषिता' इति । तस्माद् बद्धेति प्रस्ताविता, न तु निष्पादिता । प्रस्तावना तावत् प्रयुक्तेत्यर्थ ।

हैं । इनमें समवकार और डिम आदि रूपकभेद भी आते हैं । यहा भरतमुनिने 'च्छेद्यभेद्याहवात्मिका' जिस 'अनुकृति' का वर्णन किया है वह डिम, समवकार या ईहामृग आदि भेदोंमेंसे कोई हो सकती है। नाटक, प्रकरण आदि भेदोंमेंसे नहीं हो सकती है। इसलिए डिम, समवकार, ईहामृग आदिमेंसे ही किसी एकका आरम्भ किया गया यह बात निकलती है। इसके आधारपर कुछ टीकाकारोंने यहा यह शङ्का उठाई है कि डिम आदिमें तो कैशिकी वृत्तिके प्रयोगका कोई अवसर नही है तब उसके प्रयोगकेलिए अप्सराओंकी रचना आदिका जो वर्णन पहिले किया गया है वह सब व्यर्थ हो जाता है। इस शङ्काका समाधान अभिनवगुप्तने दो प्रकारसे किया है। एक तो यह कि भरतपुत्रोंने रूपकके सभी भेदोंका अभ्यास किया है किन्तु सबका प्रयोग तो एक साथ नही हो सकता है। इसलिए पहिले डिम समवकार आदि युद्धप्रधान अभिनय दिखलानेके बाद कैशिकी प्रधान अभिनयभी आगे दिखलावेंगे। उसकेलिए कैशिकीकी सामग्री आदिका वर्णन उपयुक्त हो जाता है। दूसरा समाधान यह किया है कि युद्धादि प्रधान डिम आदिमें भी तो सौन्दर्याधानकी आवश्यकता है। और सौन्दर्यका सारा क्षेत्र कैशिकीका अधिकार-क्षेत्र है। इसलिए डिम आदिमें भी कैशिकीका स्थान रहता है। इन्ही सब बातोंका विवेचन ग्रन्थकारने इस कारिकामें निम्न प्रकार किया है—

भरत०—उस [नान्दी] के समाप्त होनेपर, जिस प्रकार देवताओंने दैत्योंपर विजय प्राप्त की उस [सम्फेटो रोषवाक्य] गर्जन-तर्जन, भाग दौड़ [विद्रव], और मार-काट [च्छेद्य-भेद्य] रूप युद्धात्मक अभिनयका प्रारम्भ किया । ५७ ।

अभिनव०—उसके अन्तमे अर्थात् नान्दीके अन्त अर्थात् समाप्तिके बाद । अनुकृति अर्थात् अभिनय [नाट्य] । इस [व्याख्या] में [किसी प्राचीन टीकाकारने जो यह व्याख्या की है कि—]'बद्धा' इसका अभिप्राय अभ्यास आरम्भ किया है यह है न कि अभिनयका आरम्भ किया। [उन टीकाकारोंका] यह कहना अगले-पिछले [वर्णन] के विपरीत होनेके कारण असङ्गत है। पहिले [५१वीं कारिका] 'एव नाट्य' से लेकर 'नान्दी कृता' [५६वीं कारिका] यहाँ तक [अभिनयकी भूमिकाका वर्णन] कहा जा चुका है। [इसके आगे अभ्यास नहीं, अभिनय ही प्रारम्भ होना चाहिए] । और आगे [५६ वीं कारिकामें] 'अभिनयसे सन्तुष्ट हुए ब्रह्मा आदि' [देवताओंने अनेक प्रकारके उपहार दिए] यह कहेंगे। इसलिए ['अनुकृतिर्बद्धा' का अर्थ अभ्यास आरम्भ किया यह नहीं हो सकता है अपितु] अभिनय आरम्भ किया, पूर्ण नहीं कर दिया [यह अर्थ है] । अर्थात् प्रस्तावना सबसे पहिले प्रारम्भ की यह अर्थ है ।

अब तकका लिखा-पढा सब कुछ भुला दिया। अभ्यासकी बात तो इसके पहिले ही लिखी जा चुकी है। अत यहा अभ्यासका आरम्भ करनेकी कोई सङ्गति नही है। इसलिए अभिनवगुप्तने आगे उनके मतका खण्डन कर दिया है।

दूसरे व्याख्याकारने 'अनुकृति' शब्दका अर्थ 'प्रस्तावना' माना है और इस वाक्यका अर्थ 'प्रस्तावना तावत् प्रयुक्तेत्यर्थ' प्रस्तावना प्रारम्भ की यह किया है। परन्तु इनकी व्याख्या पहिली व्याख्यासे भी अधिक असङ्गत है। अनुकृति शब्दका वाच्यार्थ प्रस्तावना नही है। अनुकृति शब्द प्रस्तावनाके अर्थमें रूढ भी नही है। और अनुकृति शब्दसे प्रस्तावना अर्थ ग्रहण करनेमें कोई प्रयोजन भी नही है। इसलिए लक्षणा वृत्तिसे भी अनुकृति शब्दका प्रस्तावना अर्थ नही किया जा सकता है। तब अनुकृति शब्दसे प्रस्तावना अर्थका ग्रहण करना इन व्याख्याकार महोदयकी अपनी कल्पनामात्र है। उसकी न यहा कोई आवश्यकता है और न वह भरतमुनिको अभिप्रेत है। यदि भरतमुनिको प्रस्तावना प्रारम्भ की यही बात कहनी थी तो वे स्पष्ट रूपसे प्रस्तावना शब्दका प्रयोग करके उस बातको कह सकते थे। उनके पास शब्दोंया प्रतिभाका दारिद्र्य नहीं था कि वे प्रस्तावना शब्दका प्रयोग करके श्लोक न बना सकते। उन्हे यहा वस्तुत. प्रस्तावना प्रारम्भ की यह अर्थ अभिप्रेत ही नही है। इसलिए उन्होंने उस प्रकारकी वाक्य रचना नही की है।

'उसके बाद मैने अनुकृति अर्थात् अभिनयका प्रारम्भ किया' यह सीधा-सा अर्थ है। प्रस्तावना तो नाटकका अङ्ग ही है। नाटकका प्रारम्भ प्रस्तावनासे ही होता है इस लिए जब नाटकके प्रारम्भ करनेकी बात कही गई है तो उससे प्रस्तावनाका प्रारम्भ तो स्वय ही आगया। उसको अलग-से कहनेकी आवश्यकता ही नही है। नान्दीको तो अलगसे कहने की आवश्यकता है किन्तु प्रस्तावनाको अलगसे कहनेकी कोई आवश्यकता है। नान्दीको अलगसे कहनेकी आवश्यकता दो दृष्टियोसे है। एकतो इसलिए कि नान्दी मङ्गलरूप या भगवान्के नामके स्मरणके समान है। इसलिए उसका अपना विशेष महत्त्व है। दूसरे कुछ लोग नान्दीको नाटकका भाग नही मानते हैं किन्तु नाटकसे अलग और नाटकके प्रारम्भमें अवश्य करणीय मानते हैं। कालिदास आदि अन्य सब नाटककार तो नान्दीको नाटकका भाग मानते हैं इसीलिए उन्होंने अपने नाटकोके आरम्भमें सबसे पहिले नान्दीपाठ वाले श्लोकोको ही लिखा है। उनके बाद 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' लिख कर सूत्रधारका प्रवेश करवाया है। किन्तु 'भास' एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन्होने इस पद्धतिका अवलम्बन नही किया है। उनके नाटकोमें सबसे पहिला वाक्य 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' यह पाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि वे नान्दीको नाटकका अङ्ग नही मानते हैं। किन्तु नाटकके आरम्भ करनेके पूर्व उसका अलगसे पाठ करना चाहिए यह उनका अभिप्राय है। इसी दृष्टिसे वे अपने नाटकोका प्रारम्भ 'नान्द्यन्ते सूत्रधार.' इस वाक्यके साथ करते हैं।

इस प्रकार इन दोनो दृष्टियोसे नान्दीका प्रयोग किए जानेकी बात अलगसे कहना उचित ही है। इसी लिए भरतमुनिने उसका अलगसे कथन किया है। किन्तु प्रस्तावनाको अलगसे कहनेकी कोई आवश्यकता नही है। अत एव भरतमुनिने उसको अलगसे नही कहा है। नान्दीके बाद सीधे ही 'तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा' लिख कर अभिनय प्रारम्भ करनेकी बात कह दी है। इसलिए प्राचीन दो टीकाकारोने जो इस वाक्यकी व्याख्याए की हैं वे सर्वथा असङ्गत है।

नान्दीके बाद किस रूपकभेदका अभिनय किया गया—

नान्दीके बाद रूपकके किस भेदका अभिनय प्रारम्भ किया गया इस बातका परिचय भी इस कारिकामें पाया जाता है। मुख्यरूपसे नाटक, प्रकरण, प्रहसन आदि रूपकके दस भेद माने जाते

'प्रभुप्ररितोपाय प्रभुचरित कदाचिन्नाट्ये वर्णनीयमिति 'यथा दैत्या सुरैर्जिता' इत्येतस्माल्लभ्यते इति केचिदाहु ।

नाटकादिमे वर्तमान चरित्रोंका अभिनय उचित नहीं है—

इस कारिकामें 'यथा दैत्या सुरैर्जिता' लिख कर भरतमुनिने यह बतलाया है कि सबसे पहिला जो अभिनय इन्द्र आदि देवताओंके सामने प्रस्तुत किया गया था वह देवासुर-संग्राम का अभिनय था। उसमें दैत्योंके ऊपर देवताओंकी विजय प्राप्तिका दृश्य दिखलाया गया था। इस आधारपर अभिनवगुप्तसे पूर्ववर्ती किन्ही टीकाकारोंने यह सिद्धान्त निकाला था कि अपने स्वामीको प्रसन्न करनेकेलिए कभी-कभी स्वामीके चरित्रका अभिनय भी दिखलाना चाहिए। इसीलिए देवताओंकी विजयका अभिनय यहां दिखलाया गया है। किन्तु अभिनवगुप्त इनसे सहमत नहीं है। इसलिए उन्होंने इसका यहां खण्डन किया है। इसकेलिए उन्होंने तीन युक्तियां दी हैं।

१—उनकी पहिली युक्ति यह है कि वर्तमान चरित्रोंका अभिनय नाटकके लक्षणके विरुद्ध है। नाटक आदिमें कुछकी रचना इतिहास-प्रसिद्ध चरित्रोंके आधारपर होती है, और कुछ की कवि-कल्पित चरित्रोंके आधारपर। वर्तमान चरित्र इन दोनोंमेंसे किसी भी श्रेणीमें नहीं आते हैं। इस लिए वर्तमान चरित्रोंका अभिनय उचित नहीं है।

२—उनकी दूसरी युक्ति यह है कि नाटक आदिके मुख्य उद्देश्य प्रीति और व्युत्पत्ति दो हैं। वर्तमान चरित्रोंके अभिनयसे ये दोनों बातें ही सिद्ध नही होती हैं। क्योंकि वर्तमान चरित्रों के प्रति प्रेक्षकोंके मनमें राग-द्वेष आदि रहनेसे अभिनय देखते समय उनका ठीक तन्मयीभाव नहीं हो सकता है। इनके कारण उनको न प्रीति अर्थात् आनन्द प्राप्त होता है और न व्युत्पत्ति अर्थात् शिक्षा प्राप्त हो सकती है। इस लिए वर्तमान चरित्रोंका अभिनय उचित नहीं है।

३—उनकी तीसरी युक्ति यह है कि वर्तमान चरित्रके अभिनयमें यदि उनके धर्मादि का फल तुरन्त दिखलाई दे जाता है तो अभिनय व्यर्थ है। सामान्यत धर्मादि कर्मोंका फल तुरन्त न मिल कर कालान्तरमें मिलता है। नाटकादिमें उस दूरवर्ती फलका कर्मके साथ सम्बन्ध स्पष्ट समझमें आ जाता है। वैसे वह सम्बन्ध ठीक समझमें नहीं आता है। इसीलिए अभिनयका प्रयोग शिक्षाप्रद होता है। वह कर्म और फलका सम्बन्ध यदि वर्तमान चरित्रमें तुरन्त ही दिखलाई दे जाय तो उसको दिखलानेकेलिए किए जाने वाले प्रयोगकी कोई आवश्यकता नहीं रहती है। और यदि उस धर्म और फलका सम्बन्ध तुरन्त दिखलाई नहीं देता है, आगे इसका फल मिलेगा यह बात बनी रहती है तो भी वह शिक्षाप्रद नहीं हो सकता है। क्योंकि आगेकी बात कौन जानता है कि इस कर्मका इसको क्या और कब फल मिलेगा। अतीत और कल्पित दोनों प्रकारके चरित्रोंमें कर्म और उसके फलका सम्बन्ध प्रत्यक्ष, दिखलाया जा सकता है। इसलिए इतिहास प्रसिद्ध अथवा कवि-कल्पित दो ही प्रकार के चरित्रोंको नाटकादिका आधार माना गया है। अत वर्तमान चरित्रोंके अभिनय दिखलानेका सिद्धान्त उचित नहीं है।

यहां जो देवासुर-संग्रामका अभिनय दिखलानेकी चर्चा की गई है वह भी वर्तमान देवादिके चरित्रसे सम्बन्ध नहीं रखती है अपितु कल्प-कल्पान्तरवर्ती सनातन देवासुर-संग्रामसे सम्बद्ध है। यह अभिनवगुप्तका भाव है। इसीको उन्होंने अगली पंक्तियोंमें निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है।

अभिनय०—अपने स्वामी [राजा आदि] को प्रसन्न करनेकेलिए नाटकमें कभी स्वामीके चरित्रको भी वर्णन करना [दिखलाना] चाहिए यह बात 'यथा दैत्या सुरैर्जिता.' इससे निकलती है। ऐसा किन्हीं [पूर्ववर्ती टीकाकारों] का यह कहना है।

---

१. सा इति ।

अन्ये तु—अनुकृतिरिति नाट्यानुकाररूपा प्रस्तावनेत्याहु । 'कृता तदन्तेऽनुकृति' इति च पठन्ति । एतदुपजीवनेनैव चिरन्तना कवयो 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' इति इति पुस्तके लिखन्ति स्म ।

किं प्रस्तावितमित्याह— 'यथा दैत्या' इति । डिम-समवकार-ईहामृगादीना-मन्यतम प्रयोग प्रास्तावीत्यर्थ । यद्यपि भरतपुत्रैर्दशरूपकमभ्यस्त, तथापि न युगपत्सर्व प्रयोक्तु 'पार्यत इत्येवमुक्तम् । तेन यत् केचिदचूचुदन्— 'समवकारे क कैशिकीयोजनावसर' इति पूर्वग्रन्थो असङ्गत इति । तन्निरवकाशमेव । समवकारा-दावपि च सौन्दर्यात्मक वैचित्र्य कैशिकीविजृम्भ एवेत्युक्तम् ।

रोषग्रथितवाक्यस्तु' 'सम्फेट' । शङ्काभयत्रासकृतो 'विद्रव' । च्छेदमर्हतीति च्छेद्यम्, शस्त्राहव । भेदमर्हतीति भेद्यम् । 'मल्लयुद्धात्मक नियुद्धम् ।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो 'अनुकृति' इस [पद] का अर्थ नाट्य की अनुकरण रूप प्रस्तावना करते हैं। और [तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा इस पाठके स्थान पर] 'कृता तदन्तेऽनुकृति' उस [नान्दी] के बाद ['अनुकृति' अर्थात्] प्रस्तावना की इस प्रकारका पाठ मानते हैं। इस [व्याख्या तथा पाठान्तर] के आधारपर ही [भास आदि] प्राचीन नाटककार [कवि] 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' यह [वाक्य अपने नाटकोके आरम्भमे] पुस्तकोमे लिखते थे। [भासके नाटकोमे नान्दी-पाठ नही पाया जाता है। उनका प्रारम्भ 'नान्द्यन्ते-सूत्रधार' इस वाक्यसे होता है]।

अभिनव०—क्या प्रारम्भ किया यह कहते हैं—जैसे दैत्योको [देवताओने जीता]। अर्थात् 'डिम', 'समवकार' या ईहामृग आदिमेसे किसी एकका [प्रदर्शन] प्रारम्भ किया। यद्यपि भरत-पुत्रोने रूपकके दशो भेदो [दशरूपक] का अभ्यास किया था परन्तु सबका प्रयोग एक-साथ तो नहीं किया जा सकता था इसलिए [उनमेसे किसी एकका प्रारम्भ किया] यह कहा गया है। इसलिए किन्हीं [व्याख्याकारो] ने जो यह शङ्का की है कि [भयङ्कर युद्धादिसे परिपूर्ण] 'समवकार' [आदि जैसे रूपक भेदो] मे कैशिकीके प्रयोगका अवसर ही कहाँ है, अत [कैशिकी वृत्तिके प्रयोगके लिए सामग्री आदिकी प्राप्तिका प्रतिपादन करने वाला] पूर्व-ग्रन्थ असङ्गत है'। उस [शङ्का] का कोई अवसर नहीं आता है। और [इसके अतिरिक्त इस शङ्काका दूसरा समाधान यह भी है कि] 'समवकार' आदिमे भी जो सौन्दर्यात्मक आकर्षण [वैचित्र्य] पाया जाता है वह [भी] कैशिकी वृत्तिका ही प्रभाव है।

अभिनव०—जिसमे क्रोध पूर्ण वाक्य-रचना हो वह 'सम्फेट' [कहलाता] है। शङ्का, भय या त्रासके कारण होने वाला [पलायनादि रूप व्यापार] 'विद्रव' कहलाता है। जिससेमे छेदन होता हैं उस प्रकारका शस्त्र-युद्ध 'च्छेद्य' [कहलाता] है। जिसमे [अङ्गोका] तोड-मोड होता है उस प्रकारका मल्ल युद्ध 'भेद्य' [कहलाता] हे।

---

१. शक्यते ।　　२ II रोषायितवाक्यस्तु ।　　३. मल्लयुद्धात्मकनियुद्धम् ।

'प्रभुप्रसितोपाय प्रभुचरितं कदाचिन्नाट्ये वर्णनीयमिति 'यथा दैत्या सुरैर्जिता.' इत्येतस्माल्लभ्यते इति केचिदाहु ।

नाटकादिमे वर्तमान चरित्रोंका अभिनय उचित नहीं है—

इस कारिकामें 'यथा दैत्या सुरैर्जिता' लिख कर भरतमुनिने यह बतलाया है कि सबसे पहिला जो अभिनय इन्द्र आदि देवताओंके सामने प्रस्तुत किया गया था वह देवासुर-संग्राम का अभिनय था। उसमें दैत्योंके ऊपर देवताओंकी विजय प्राप्तिका दृश्य दिखलाया गया था। इस आधारपर अभिनवगुप्तसे पूर्ववर्ती किन्ही टीकाकारोंने यह सिद्धान्त निकाला था कि अपने स्वामीको प्रसन्न करनेकेलिए कभी-कभी स्वामीके चरित्रका अभिनय भी दिखलाना चाहिए। इसीलिए देवताओंकी विजयका अभिनय यहाँ दिखलाया गया है। किन्तु अभिनवगुप्त इससे सहमत नहीं है। इसलिए उन्होंने इसका यहाँ खण्डन किया है। इसकेलिए उन्होंने तीन युक्तियाँ दी हैं।

१—उनकी पहिली युक्ति यह है कि वर्तमान चरित्रोंका अभिनय नाटकके लक्षणके विरुद्ध है। नाटक आदिमें कुछकी रचना इतिहास-प्रसिद्ध चरित्रोंके आधारपर होती है, और कुछ की कवि-कल्पित चरित्रोंके आधारपर। वर्तमान चरित्र इन दोनोंमेंसे किसी भी श्रेणीमें नहीं आते हैं। इस लिए वर्तमान चरित्रोंका अभिनय उचित नहीं है।

२—उनकी दूसरी युक्ति यह है कि नाटक आदिके मुख्य उद्देश्य प्रीति और व्युत्पत्ति दो हैं। वर्तमान चरित्रोंके अभिनयसे ये दोनो बातें ही सिद्ध नहीं होती हैं। क्योंकि वर्तमान चरित्रों के प्रति प्रेक्षकोंके मनमें राग-द्वेष आदि रहनेसे अभिनय देखते समय उनका ठीक तन्मयीभाव नहीं हो सकता है। इसके कारण उनको न प्रीति अर्थात् आनन्द प्राप्त होता है और न व्युत्पत्ति अर्थात् शिक्षा प्राप्त हो सकती है। इस लिए वर्तमान चरित्रोंका अभिनय उचित नहीं है।

३—उनकी तीसरी युक्ति यह है कि वर्तमान चरित्रके अभिनयमें यदि उनके धर्मादि का फल तुरन्त दिखलाई दे जाता है तो अभिनय व्यर्थ है। सामान्यत धर्मादि कर्मोंका फल तुरन्त न मिल कर कालान्तरमें मिलता है। नाटकादिमें उस दूरवर्ती फलका कर्मके साथ सम्बन्ध स्पष्ट समझमें आ जाता है। वैसे वह सम्बन्ध ठीक समझमें नहीं आता है। इसीलिए अभिनयका प्रयोग शिक्षाप्रद होता है। वह कर्म और फलका सम्बन्ध यदि वर्तमान चरित्रमें तुरन्त ही दिखलाई दे जाय तो उसको दिखलानेकेलिए किए जाने वाले प्रयोगकी कोई आवश्यकता नहीं रहती है। और यदि उस धर्म और फलका सम्बन्ध तुरन्त दिखलाई नहीं देता है, आगे इसका फल मिलेगा यह बात बनी रहती है तो भी यह शिक्षाप्रद नहीं हो सकता है। क्योंकि आगेकी बात कौन जानता है कि इन कर्मोंका इसको क्या और कब फल मिलेगा। अतीत और कल्पित दोनों प्रकारके चरित्रोंमें कर्म और उसके फलका सम्बन्ध प्रत्यक्ष, दिखलाया जा सकता है। इसलिए इतिहास प्रसिद्ध अथवा कवि-कल्पित दो ही प्रकार के चरित्रोंको नाटकादिका आधार माना गया है। अत वर्तमान चरित्रोंके अभिनय दिखलानेका सिद्धान्त उचित नहीं है।

यहाँ जो देवासुर-संग्रामका अभिनय दिखलानेकी चर्चा की गई है वह भी वर्तमान देवादिके चरित्रसे सम्बन्ध नहीं रखती है अपितु मन्व-मन्वान्तरवर्ती सनातन देवासुर-संग्रामसे सम्बद्ध है। यह अभिनवगुप्तका भाव है। इसीको उन्होंने अपनी पंक्तियोंमें निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—अपने स्वामी [राजा आदि] को प्रसन्न करनेकेलिए नाटकमें कभी स्वामीके चरित्रको भी वर्णन करना [दिखलाना] चाहिए यह बात 'यथा दैत्या. सुरैर्जिता.' इससे निकलती है। ऐसा किन्हीं [पूर्ववर्ती टीकाकारों] का यह कहना है।

---

१. तत इति।

तदसत् । दशरूपकलक्षण-युक्तिविरोधात् । तत्र हि किञ्चित् प्रसिद्धचरित, किञ्चिदुत्पाद्यचरितमिति वक्ष्यते ।

न च वर्तमानचरितानुकारो युक्तो, विनेयाना तत्र राग-द्वेष-मध्यस्थतादिना तन्मयीभावाभावे प्रीतेरभावेन व्युत्पत्तेरप्यभावात् ।

वर्तमानचरिते च धर्मादिकर्मफलसम्बन्धस्य प्रत्यक्षत्वे प्रयोगवैयर्थ्यम् । 'अप्र-त्यक्षत्वे 'भविष्यति प्रमाणाभावात्' इति न्यायेन 'व्युत्पत्तेरसम्भवान्नाधिकम् । एतच्च दशरूपकाध्याये वितनिष्याम इत्यास्ता तावत् ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि दशरूपक या नाटकके विभिन्न भेदोकी रचना या तो इतिहासमें प्रसिद्ध आख्यान-वस्तुके आधारपर होती है या फिर केवल कविकी कल्पनासे प्रसूत नूतन आख्यान-वस्तुके आधारपर होती है। वर्तमान कालके अपने राजा आदिके चरित्रका अभिनय इनमेंसे किसी श्रेणीमें नही आता है। क्योकि वह वर्तमान होनेके कारण न तो इतिहास-प्रसिद्ध माना जा सकता है और न उसको केवल कविकल्पित ही कहा जा सकता है। इसलिए दशरूपकके लक्षणोके अनुसार वर्तमानकालके राजादिके चरित्रका अभिनय नही किया जा सकता है। अत पूर्व-व्याख्याकारोका वह कथन असङ्गत है।

अभिनव०— [परन्तु उनका] यह [कथन] दशरूपकके लक्षण रूप युक्तिके विपरीत होनेसे असङ्गत है। क्योकि वहाँ [दशरूपकके लक्षणमे] कोई [नाटक] प्रसिद्ध चरित [अर्थात् इतिहासमे प्रसिद्ध किसी आख्यान-वस्तुके आधारपर बने हुए] होते है, और कुछ [कवि द्वारा] कल्पित चरित्र वाले [अर्थात् केवल कवि-कल्पित आख्यान-वस्तुके आधार पर बने हुए] होते है। यह बात [आगे] दशरूपकाध्याय [अठारहवें अध्याय] मे कहेगे ।

अभिनव०—वर्तमान [राजादि] के चरित्रका अभिनय इसलिए भी उचित नहीं है कि उनके विषयमे [जिनकी शिक्षाकेलिए नाटककी रचना हुई उन] सामा-जिकोका राग-द्वेष-माध्यस्थ्य आदि होनेके कारण तन्मयता सम्भव न होनेसे आनन्दके अभावमे [उससे व्युत्पत्ति अर्थात्] शिक्षा प्राप्ति भी नहीं हो सकती है।

अभिनव०—और वर्तमान चरित्र [के अभिनय] मे धर्म आदि कर्मोका फल प्रत्यक्ष होनेपर तो अभिनय व्यर्थ हो जाता है। [क्योकि उस फलको दिखला कर शिक्षा देनेकेलिए ही अभिनयका प्रयोग किया जाता है। वह फल पहिले ही प्रत्यक्ष है तो अभिनय व्यर्थ हो जाता है] और प्रत्यक्ष न होनेपर [भी जो फल प्रत्यक्ष नही है वह] 'आगे होगा इस विषयमे कोई प्रमाण नहीं हो सकता है' इस युक्तिसे [भी कर्तव्याकर्तव्यकी] शिक्षा असम्भव होनेके कारण [इस पक्षमे भी पूर्व प्रदर्शित पक्षकी अपेक्षा] कोई विशेषता नहीं होती है। [अर्थात् इस दशामे भी प्रयोग व्यर्थ ही हो जाता है। इसलिए वर्तमान चरित्रका अभिनय मानना अनुचित है]।

---

१. म भ प्रत्यक्षत्वे। २ म भ व्युत्पत्ते सम्भवान्नाधिर । व्युत्पत्ते सम्भवान्नाधिरा। व्युत्पत्ते सम्भवान्नाधिका।

देवाना [1]स्वद्य-प्रसिद्धवर्णनीयासम्भवात् पूर्वकल्पमन्वन्तरादिगतदेवासुरचरित-कीर्तनम् । अनादित्वात् ससारस्य, श्रुतिस्मृत्यनुमतदेवासुरकीर्तनवदिति । तत्र [2]वर्तनो-पवर्णन तज्जातीयानाम् । अथ [3]चरित्रभ्रमविप्रलब्धास्त्वसुराश्चुक्षुभुरिति वक्ष्याम । न च स्वचरितवर्णनाद् देवाना परितोष इह, यत आह—'प्रयोगपरितोषिता' इति ॥५७॥

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें हमने एक जगह पाठ-सशोधन किया है । पूर्व सस्करणोमें 'व्युत्पत्ते सम्भवान्नाधिक' इस प्रकारका पाठ छपा था उसके स्थानपर 'व्युत्पत्तेरसम्भवान्नाधिकम्' यह पाठ हमने किया है । पहिला पाठ माननेपर तो विवक्षित अर्थसे बिल्कुल उलटा अर्थ हो जाता है । इसलिए वह पाठ ठीक नही है । द्वितीय सस्करणका सशोधन और भी अधिक भद्दा हो गया है ।

अभिनव०—देवताओके विषयमे तो आजके प्रसिद्ध [वर्तमान] चरित्रका वर्णन सम्भव न होनेसे पूर्व-कल्प या पूर्वमन्वन्तर-गत देवासुर आदिके चरित्रका कीर्तन किया गया है । ससारके अनादि होनेसे, श्रुति स्मृति आदिमे अनुमत देवासुर कीर्तनके समान [पूर्वकल्पके देवादि चरितोका कीर्तन किया जा सकता है] । उस [देवासुर संग्रामके वर्णन] मे [वर्तमान देवताओ के] समाजातीय [पूर्वकल्पके देवासुरादि] के व्यवहारका वर्णन था, किन्तु [वर्तमान चरित्रका वर्णन न होनेपर भी] असुर लोग अपने चरित्रके धोखेमे पड़ कर नाराज हो गए यह बात आगे [१८वें अध्याय मे] कहेंगे । और न यहाँ देवताओको अपने चरित्रका वर्णन देख कर प्रसन्नता हुई है । क्योकि [कारिकामे] अभिनयसे प्रसन्न हुए [देवताओने विविध उपहार दिए] यह कहा है ।

इस अनुच्छेदके लिखनेका अभिप्राय भी वर्तमान चरित्रका अभिनय माननेवालोंके मत का खण्डन करना ही है । वे लोग अपने मतके समर्थनमें यह युक्ति देते हैं कि आगे मूल नाट्यशास्त्र में इसी अध्यायके ६१ वें श्लोकमें जो देवासुर-सग्रामके अभिनय तथा उसको देखकर दैत्योंके क्षोभका वर्णन आया है यह तो वर्तमानकालीन देवता और दैत्योंके चरित्रका ही अभिनय था । इसीलिए उसमें अपने चरित्रका उपहास या अपनी पराजय आदिको देखकर असुर लोग विक्षुब्ध हो गए थे । इससे प्रतीत होता है कि भरतमुनिके मतमें वर्तमान चरित्रका भी अभिनय किया जा सकता है । पूर्व-पक्षकी इसी युक्तिका खण्डन करनेकेलिए वृत्तिकारने यह अनुच्छेद लिखा है । इसका आशय यह है कि यहाँ भी वर्तमान देवताओं और असुरोंके चरित्रका अभिनय नही किया गया था अपितु पूर्व-कल्प या पूर्वमन्वन्तरके देवताओं और असुरोंके चरित्रका अभिनय ही किया गया था । असुर लोग अपने समानजातीय पूर्व-कल्प या पूर्व-मन्वन्तरके असुरोंकी पराजय आदिको भ्रमवश अपनी पराजय आदि समझ कर ही क्षुब्ध हो गए थे । इसलिए उस युक्तिके आधारपर वर्तमान चरित्रके अभिनय का समर्थन नही किया जा सकता है

पाठसमीक्षा—पूर्व-सस्करणमें पृ० १४४के 'सत्त्वभूयिष्ठमनिपुणम्' के बाद 'तत्र इति । असुरास्तोषाय' इत्यादि क्रमसे पाठ मुद्रित हुआ है । परन्तु यह पाठ अशुद्ध है । उसमें 'तत्र इति' इतना भाग अस्थानमें मुद्रित है । यह भाग आगेकी 'ततो ब्रह्मादयो देवा.' इत्यादि कारिकाका प्रतीक भाग है । उसे इस कारिकाकी व्याख्या समाप्त होजानेके बाद देना चाहिए । इस समय वर्तमान चरितका अभिनय करना उचित है या नहीं इसका विचार चल रहा है । इस विषयका सम्बन्ध पहली कारिकासे नहीं अपितु इसी कारिकासे है । क्योंकि देवताओंकी विजयकी चर्चा इसी कारिकामें की गई

---

१ भ. पाठ । २. वर्तमानोपवर्णनम । ३ तज्जातीयव्यवहारासुराश्चुक्षुभिरे ।

तदसत् । दशरूपकलक्षण-युक्तिविरोधात् । तत्र हि किञ्चित् प्रसिद्धचरित, किञ्चिदुत्पाद्यचरितमिति वक्ष्यते ।

न च वर्तमानचरितानुकारो युक्तो, विनेयाना तत्र राग-द्वेप-मध्यस्थतादिना तन्मयीभावाभावे प्रीतेरभावेन व्युत्पत्तेरप्यभावात् ।

वर्तमानचरिते च धर्मादिकर्मफलसम्बन्धस्य प्रत्यक्षत्वे प्रयोगवैयर्थ्यम् । 'अप्रत्यक्षत्वे 'भविष्यति प्रमाणाभावात्' इति न्यायेन 'व्युत्पत्तेरसम्भवान्नाधिकम् । एतच्च दशरूपकाध्याये वितनिष्याम इत्यास्ता तावत् ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि दशरूपक या नाटकके विभिन्न भेदोकी रचना या तो इतिहासमें प्रसिद्ध आख्यान-वस्तुके आधारपर होती है या फिर केवल कविकी कल्पनासे प्रसूत नूतन आख्यान-वस्तुके आधारपर होती है। वर्तमान कालके अपने राजा आदिके चरित्रका अभिनय इनमेंसे किसी श्रेणीमें नही आता है। क्योकि वह वर्तमान होनेके कारण न तो इतिहास-प्रसिद्ध माना जा सकता है और न उसको केवल कविकल्पित ही कहा जा सकता है। इसलिए दशरूपकके लक्षणोके अनुसार वर्तमानकालके राजादिके चरित्रका अभिनय नही किया जा सकता है। अत पूर्व-व्याख्याकारोका वह कथन असङ्गत है।

अभिनव०— [परन्तु उनका] यह [कथन] दशरूपकके लक्षण रूप युक्तिके विपरीत होनेसे असङ्गत है। क्योकि वहाँ [दशरूपकके लक्षणमे] कोई [नाटक] प्रसिद्ध चरित [अर्थात् इतिहासमे प्रसिद्ध किसी आख्यान-वस्तुके आधारपर बने हुए] होते हैं, और कुछ [कवि द्वारा] कल्पित चरित्र वाले [अर्थात् केवल कवि-कल्पित आख्यान-वस्तुके आधार पर बने हुए] होते है। यह बात [आगे] दशरूपकाध्याय [अठारहवें अध्याय] मे कहेगे।

अभिनव०—वर्तमान [राजादि] के चरित्रका अभिनय इसलिए भी उचित नहीं है कि उनके विषयमे [जिनकी शिक्षाकेलिए नाटककी रचना हुई उन] सामाजिकोका राग-द्वेष-माध्यस्थ्य आदि होनेके कारण तन्मयता सम्भव न होनेसे आनन्दके अभावमे [उससे व्युत्पत्ति अर्थात्] शिक्षा प्राप्ति भी नही हो सकती है।

अभिनव०—और वर्तमान चरित्र [के अभिनय] मे धर्म आदि कर्मोका फल प्रत्यक्ष होनेपर तो अभिनय व्यर्थ हो जाता है। [क्योकि उस फलको दिखला कर शिक्षा देनेकेलिए ही अभिनयका प्रयोग किया जाता है। वह फल पहिले ही प्रत्यक्ष है तो अभिनय व्यर्थ हो जाता है] और प्रत्यक्ष न होनेपर [भी जो फल प्रत्यक्ष नहीं है वह] 'आगे होगा इस विषयमे कोई प्रमाण नही हो सकता है' इस युक्तिसे [भी कर्तव्याकर्तव्यकी] शिक्षा असम्भव होनेके कारण [इस पक्षमे भी पूर्व प्रदर्शित पक्षकी अपेक्षा] कोई विशेषता नही होती है। [अर्थात् इस दशामे भी प्रयोग व्यर्थ ही हो जाता है। इसलिए वर्तमान चरित्रका अभिनय मानना अनुचित है]।

---

१ म भ प्रत्यक्षत्वे। २ म भ व्युत्पत्ते सम्भवान्नाधिक। व्युत्पत्ते सम्भवान्नाधिका। व्युत्पत्ते सम्भवान्नायिका।

'ध्वजमिति', यस्य विघ्नशान्त्यै पूजार्थमुपयोगो भावी। 'कुटिलकमिति' वक्रदण्डो विदूषकोपयोगी अह्मायुधात्मा। [1]दण्ड-कोपकामत्वे विभीषापादकत्वादित्यर्थः। भृङ्गार पारिपार्श्विकोपयोगी ॥५९॥

भरत०—[2]सूर्यश्छत्रं [3]शिवस्सिद्धिं वायुर्व्यजनमेव च।
विष्णुः सिंहासनं चैव कुवेरो मुकुटं तथा ॥ ६० ॥

छत्रमत्र [4]वितानम्। जलदाना सूर्योद्भवत्वात् [5]तत्प्रतिमम्। यदाहु—"[6]ऋतौ मेघाः प्रवर्षन्ति महान्तः सूर्यसम्भवा.'। भगवदायत्ता दैवी मानुषी च सिद्धिरिति मध्ये तदुपादानम्, सर्वव्यापकत्व देव्या सिद्धे प्रतिपादयितुम्। व्यजन घर्मापनुत्तये। सिंहासनादि राजभूमिकायामुपयोगि ॥ ६० ॥

अभिनव०—[इन्द्रने अपना] ध्वज [दिया]। जिसका [आगे वर्णन किए जाने वाले 'ध्वजमह' उत्सवके अवसरपर] विघ्नोंके निवारणार्थ पूजामे उपयोग होने वाला है। 'कुटिलकं' इस [पद] से विदूषकके काममे आने वाले अह्मायुध [रूप टेढे डण्डेका ग्रहण करना चाहिए। अभिनय करते समय विदूषकके मनमे किसीके प्रति] दण्ड [अथवा] कोपकी इच्छा होनेपर भयको उत्पन्न करने वाला होनेसे भी [टेढा डण्डा दिया गया] यह अभिप्राय है। भृङ्गार [पद] से पारिपार्श्विकके काममें आने वाला [कमण्डलु गृहीत होता है]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'दण्डोपकामन्त्वेन भीषणत्वापात्यादपीत्यर्थ.' इस प्रकारका पाठ प्रथम-संस्करणमें मुद्रित हुआ था। द्वितीय संस्करणमें उसका संशोधन करके दण्ड। 'मरणामर्त्वेन भीषणत्वापात्यादपीत्यर्थ.' पाठ छापा गया है। परन्तु वे दोनो ही पाठ अशुद्ध हैं क्योंकि उनका न कोई अर्थ लगता है और न कोई सङ्गति बैठती है। ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि ब्रह्माने टेढा डण्डा विदूषकके उपयोगके लिए दिया था। विदूषक यदि किसीको दण्ड देना चाहे या किसीपर कोप प्रकट करना चाहे तो इस कुटिलकके द्वारा उसको भयभीत कर सकता है। किन्तु पूर्व संस्करणोंमें मुद्रित पाठसे यह अर्थ नहीं निकलता है। इस अर्थको व्यक्त करनेकेलिए 'दण्ड-कोपकामत्वे विभीषापादकत्वादपीत्यर्थं'। यही पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥५९॥

भरत०—सूर्यने छत्र [अर्थात् वितान या चंदोवा प्रदान किया] शिवने सिद्धि, वायुने पंखा, विष्णुने सिंहासन तथा कुबेरने मुकुट प्रदान किया। ६०।

अभिनव०—छत्र [पदसे यहां वितान] चंदोवा [अभिप्रेत] है। मेघोंके सूर्यसे उत्पन्न होनेके कारण उनके समान आकार वाले [वितानको सूर्यने दिया यह कहा गया है]। जैसा कि कहा भी है—'वर्षा ऋतुमें सूर्यसे उत्पन्न बड़े-बड़े मेघ बरसते हैं'। देवताओं और मानवोंकी सिद्धि भगवान् [शिव] के अधीन है इसलिए भगवानकी सिद्धि

---

१. म भ दण्डोपकामन्त्वेन भीषणत्वापात्यादपीत्यर्थं। दण्ड। मरणामर्त्वेन।
२. म सूर्यश्छत्रम्। ३. स शिवो ज्ञानम्। ग घ शिवः सिद्धिम्। ४ भ म वितान.।
५. म तत्प्रतीम। ६ म भ. ऋतवे वर्षान्ते महतो मेघसम्भवान्। मेघसम्भवान्।

भरत०—ततो ब्रह्मादयो देवा प्रयोगपरितोषिता ।
'प्रददुर्मत्सुतेभ्यस्तु सर्वोपकरणानि वै[2] ॥ ५८ ॥

तत इति ॥५८॥

भरत०—प्रीतस्तु प्रथमं शक्रो दत्तवान् स्वं ध्वजं[3] शुभम् ।
ब्रह्मा [4]कुटिलकं चैव भृङ्गारं वरुणः शुभम्[5] ॥ ५९ ॥

है। उसीके आधारपर वर्तमान चरित्रके अभिनयके औचित्य-अनौचित्यका प्रश्न उठा है। अत उसका सम्बन्ध इसी कारिकासे है। यह विषय यहा पृ० १४७ के 'प्रयोगपरितोपिता इति' तक गया है। उसके बाद इस कारिकाकी व्याख्या समाप्त हो जाती है। अत 'तत इति' इस अगली कारिकाके प्रतीक भागको उसके बाद देना चाहिए था। पृ० १४५ पर अ-स्थानमें ही उसको दे दिया गया है।

इस अशुद्धिका कारण यह प्रतीत होता है कि पृ० १४७ पर जो 'प्रयोगप्ररितोषिता' पाठ दिया गया है उसको अगली कारिकाकी व्याख्यासे सम्बद्ध समझ लिया गया है। इसलिए पृ० १४५ पर 'तत इति' प्रतीक देकर उस कारिकाकी व्याख्याका आरम्भ मान लिया गया है। किन्तु वह उचित नही है। जैसाकि हम अभी कह चुके हैं वर्तमान चरित्रोके अभिनयके विचारका विषय पूर्णत. इसी कारिकासे सम्बद्ध है। अगली कारिकासे उसका कोई भी सम्बन्ध नही है। अतः यह सब इसी कारिकाका भाग है। इसकी समाप्तिमें 'यत आह प्रयोगपरितोषिता इति' यह जो पाठ दिया गया है वह भी इसी कारिकाकी व्याख्यासे सम्बन्ध रखता है। अगली कारिकासे उसका सम्बन्ध नही है। 'प्रयोगपरितोषिता' यह शब्द अगली कारिकाका अवश्य है किन्तु उसे यहा अभिनवगुप्तने अपनी बातके समर्थनकेलिए प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है। अत वह इस कारिकाकी व्याख्यासे ही सम्बद्ध है। भूलसे उसको अगली कारिकाकी व्याख्याका भाग समझ लिया गया है। इसी कारण 'तत इति' का भी अ स्थानमें मुद्रण हो गया है। इसलिए हमने उसको यहासे हटा कर इस कारिकाकी व्याख्या समाप्त हो जानेके बाद अगली कारिकाकी व्याख्यामें मुद्रित किया है। वही उसका उचित स्थान है ॥५७॥

देवताओ द्वारा नटोको उपहार प्रदान—

इस प्रकार भरतमुनिके पुत्रो द्वारा अभिनयके प्रस्तुत किये जानेपर उनके अभिनय-कौशलसे प्रसन्न होकर देवताओने उनको विविध प्रकारके उपहार प्रदान किए यह बात अगली कारिकामे कही गई है। इस कारिकाका अर्थ बहुत स्पष्ट है। अत अभिनवगुप्तने उसके उपर अधिक व्याख्या नही लिखी है। केवल उसका प्रतीक उद्धृत करके वे आगे बढ गए हैं।

भरत०—तब [मेरे पुत्रो द्वारा किए गए अभिनय] प्रयोगसे प्रसन्न हुए ब्रह्मा आदि देवताओंने मेरे पुत्रोको [नाट्यके उपयोगी] समस्त उपकरण [उपहार रूपमे] प्रदान किए।५८।

अभिनव०—उसके बाद इससे [उपहार प्रदान करनेका कथन किया है] ॥५८॥

किसने क्या उपहार दिया—

भरत०—सबसे पहिले प्रसन्न हुए इन्द्रने अपना शुभ ध्वज [मेरे पुत्रोको] प्रदान किया। [उसके बाद] ब्रह्माने [अपना] टेढ़ा डण्डा [कुटिलक] और वरुणने [अपना] कमण्डलु [भृङ्गार] प्रदान किया। ५९।

१ घ ब त प्रददुर्हृष्टमनस। ठ म ब प्रययु। थ प्रददुर्हृष्टा। २ ङ ब त म न। ३. न य स्वध्वज शुभम। त. ध्वजमुत्तमम। ४ ङ म कमण्डलुम। ५ ङ ब त भ तथा।

'ध्वजमिति', यस्य विघ्नशान्त्यै पूजार्थमुपयोगो भावी। 'कुटिलकमिति' वक्रदण्डो विदूषकोपयोगी ब्रह्मायुधात्मा। 'दण्ड-कोपकामत्वे विभीषापादकत्वादित्यर्थ। भृङ्गार पारिपार्श्विकोपयोगी ॥५६॥

भरत०—[2]सूर्यश्छत्रं [3]शिवस्सिद्धि वायुर्व्यजनमेव च।
विष्णुः सिंहासनं चैव कुबेरो मुकुटं तथा ॥ ६० ॥

छत्रमत्र [4]वितानम्। जलदाता सूर्योद्भवत्वात् [5]तत्प्रतिमम्। यदाहु—'[6]ऋतौ मेघाः प्रवर्षन्ति महान्तः सूर्यसम्भवाः'। भगवदायत्ता दैवी मानुषी च सिद्धिरिति मध्ये तदुपादानम्, सर्वव्यापकत्व देव्या सिद्धे. प्रतिपादयितुम्। व्यजन घर्मापनुत्तये। सिंहासनादि राजभूमिकायामुपयोगि ॥ ६० ॥

अभिनव०—[इन्द्रने अपना] ध्वज [दिया]। जिसका [आगे वर्णन किए जाने वाले 'ध्वजमह' उत्सवके अवसरपर] विघ्नोंके निवारणार्थ पूजामें उपयोग होने वाला है। 'कुटिलक' इस [पद] से विदूषकके काममे आने वाले ब्रह्मायुध [रूप टेढ़े डण्डेका ग्रहण करना चाहिए। अभिनय करते समय विदूषकके मनमे किसीके प्रति] दण्ड [अथवा] कोपकी इच्छा होनेपर भयको उत्पन्न करने वाला होनेसे भी [टेढा डण्डा दिया गया] यह अभिप्राय है। भृङ्गार [पद] से पारिपार्श्विकके काममें आने वाला [कमण्डलु गृहीत होता है]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'दण्डोपकामत्वेन भीषणत्वापात्यादपीत्यर्थ' इस प्रकारका पाठ प्रथम-संस्करणमें मुद्रित हुआ था। द्वितीय संस्करणमें उसका संशोधन करके 'दण्ड.। 'प्रकामत्वेन भीषणत्वावात्यादपीत्यर्थः' पाठ छापा गया है। परन्तु वे दोनों ही पाठ अशुद्ध हैं क्योंकि उनका न कोई अर्थ लगता है और न कोई सङ्गति बैठती है। ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि ब्रह्माने टेढा डण्डा विदूषकके उपयोगके लिए दिया था। विदूषक यदि किसीको दण्ड देना चाहे या किसीपर कोप प्रकट करना चाहे तो इस कुटिलकके द्वारा उसको भयभीत कर सकता है। किन्तु पूर्व संस्करणोंमें मुद्रित पाठसे यह अर्थ नहीं निकलता है। इस अर्थको व्यक्त करनेके लिए 'दण्ड-कोपकामत्वे विभीषापादकत्वादपीत्यर्थ'। यही पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥५६॥

भरत०—सूर्यने छत्र [अर्थात् वितान या चदोवा प्रदान किया] शिवने सिद्धि, वायुने पंखा, विष्णुने सिंहासन तथा कुबेरने मुकुट प्रदान किया। ६०।

अभिनव०—छत्र [पदसे यहाँ वितान] चदोवा [अभिप्रेत] है। मेघोंके सूर्यसे उत्पन्न होनेके कारण उनके समान आकार वाले [वितानको सूर्यने दिया यह कहा गया है]। जैसा कि कहा भी है—'वर्षा ऋतुमें सूर्यसे उत्पन्न बड़े-बड़े मेघ बरसते हैं'। देवताओं और मानवोंकी सिद्धि भगवान् [शिव] के अधीन है इसलिए भगवान्की सिद्धि

---

१. म न दण्डोपकामत्वेन भीषणत्वावात्यादपीत्यर्थ। दण्ड। प्रकामत्वेन।
२. म सूर्यश्छत्रम। ३. स शिवो आसन। ग घ शिवा सिद्धिम्। ४. भ म वितान।
५. म तत्प्रतिम। ६. म न ऋतवे वर्षन्ते महतो मेघसम्भवान्। मेघसम्भवान्।

भरत०—ततो ब्रह्मादयो देवा प्रयोगपरितोषिता ।
'प्रददुर्मत्सुतेभ्यस्तु सर्वोपकरणानि वै[2] ॥ ५८ ॥

तत इति ॥५८॥

भरत०—प्रीतस्तु प्रथमं शक्रो दत्तवान् स्वं ध्वजं[3] शुभम् ।
ब्रह्मा [4]कुटिलकं चैव भृङ्गारं वरुणः शुभम्[5] ॥ ५९ ॥

है। उसीके आधारपर वर्तमान चरित्रके अभिनयके औचित्य-अनौचित्यका प्रश्न उठा है। अत उसका सम्बन्ध इसी कारिकासे है। यह विषय यहा पृ० १४७ के 'प्रयोगपरितोषिता इति' तक गया है। उसके वाद इस कारिकाकी व्याख्या समाप्त हो जाती है। अत 'तत इति' इस अगली कारिकाके प्रतीक भागको उसके वाद देना चाहिए था। पृ० १४५ पर अ-स्थानमें ही उसको दे दिया गया है।

इस अशुद्धिका कारण यह प्रतीत होता है कि पृ० १४७ पर जो 'प्रयोगप्ररितोषिता' पाठ दिया गया है उसको अगली कारिकाकी व्याख्यासे सम्बद्ध समझ लिया गया है। इसलिए पृ० १४५ पर 'तत इति' प्रतीक देकर उस कारिकाकी व्याख्याका आरम्भ मान लिया गया है। किन्तु वह उचित नही है। जैसाकि हम अभी कह चुके हैं वर्तमान चरित्रोके अभिनयके विचारका विषय पूर्णत. इसी कारिकासे सम्बद्ध है। अगली कारिकासे उसका कोई भी सम्बन्ध नही है। अत यह सब इसी कारिकाका भाग है। इसकी समाप्तिमें 'यत आह प्रयोगपरितोषिता इति' यह जो पाठ दिया गया है वह भी इसी कारिकाकी व्याख्यासे सम्बन्ध रखता है। अगली कारिकासे उसका सम्बन्ध नही है। 'प्रयोगपरितोपिता' यह शब्द अगली कारिकाका अवश्य है किन्तु उसे यहा अभिनवगुप्तने अपनी बातके समर्थनकेलिए प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है। अत वह इस कारिकाकी व्याख्यासे ही सम्बद्ध है। भूलसे उसको अगली कारिकाकी व्याख्याका भाग समझ लिया गया है। इसी कारण 'तत इति' का भी अ स्थानमें मुद्रण हो गया है। इसलिए हमने उसको यहासे हटा कर इस कारिकाकी व्याख्या समाप्त हो जानेके बाद अगली कारिकाकी व्याख्यामे मुद्रित किया है। वही उसका उचित स्थान है ॥५७॥

देवताओ द्वारा नटोको उपहार प्रदान—

इस प्रकार भरतमुनिके पुत्रो द्वारा अभिनयके प्रस्तुत किये जानेपर उनके अभिनय-कौशलसे प्रसन्न होकर देवताओने उनको विविध प्रकारके उपहार प्रदान किए यह बात अगली कारिकामें कही गई है। इस कारिकाका अर्थ बहुत स्पष्ट है। अत अभिनवगुप्तने उसके उपर अधिक व्याख्या नही लिखी है। केवल उसका प्रतीक उद्धृत करके वे आगे बढ गए हैं।

भरत०—तब [मेरे पुत्रो द्वारा किए गए अभिनय] प्रयोगसे प्रसन्न हुए ब्रह्मा आदि देवताओंने मेरे पुत्रोको [नाट्यके उपयोगी] समस्त उपकरण [उपहार रूपमे] प्रदान किए।५८।

अभिनव०—उसके बाद इससे [उपहार प्रदान करनेका कथन किया है] ॥५८॥

किसने क्या उपहार दिया—

भरत०—सवसे पहिले प्रसन्न हुए इन्द्रने अपना शुभ ध्वज [मेरे पुत्रोको] प्रदान किया। [उसके वाद] ब्रह्माने [अपना] टेढ़ा डण्डा [कुटिलक] और वरुणने [अपना] कमण्डलु [भृङ्गार] प्रदान किया। ५९।

१ घ व त प्रददुर्हृष्टमनस। ठ म व प्रययु। थ प्रददुर्हृष्टा। २ ड व त म न।
३. न य स्वध्वज शुभम। त. ध्वजमुत्तमम। ४ ड म कमण्डलुम। ५ ड य त भ तथा।

'ध्वजमिति', यस्य विघ्नशान्त्यै पूजार्थमुपयोगो भावी। 'कुटिलकमिति' वक्रदण्डो विदूषकोपयोगी ब्रह्मायुधात्मा। 'दण्ड-कोपकामत्वे विभीषापादकत्वादित्यर्थ। भृङ्गार पारिपार्श्विकोपयोगी ॥५९॥

भरत०—²सूर्यश्छत्रं ³शिवस्सिद्धिं वायुर्व्यंजनमेव च।
विष्णुः सिंहासनं चैव कुबेरो मुकुटं तथा ॥ ६० ॥

छत्रमत्र 'वितानम्। जलदाना सूर्योद्भवत्वात् ⁵तत्प्रतिमम्। यदाहु – '⁶ऋतौ मेघाः प्रवर्षन्ति महान्तः सूर्यसम्भवाः'। भगवदायत्ता दैवी मानुषी च सिद्धिरिति मध्ये तदुपादानम्, सर्वव्यापकत्व देव्या सिद्धे. प्रतिपादयितुम्। व्यजन घर्मापनुत्तये। सिंहासनादि राजभूमिकायामुपयागि ॥ ६० ॥

अभिनव०—[इन्द्रने अपना] ध्वज [दिया]। जिसका [आगे वर्णन किए जाने वाले 'ध्वजमह' उत्सवके अवसरपर] विघ्नोंके निवारणार्थ पूजामे उपयोग होने वाला है। 'कुटिलक' इस [पद] से विदूषकके काममे आने वाले ब्रह्मायुध [रूप टेढे डण्डेका ग्रहण करना चाहिए। अभिनय करते समय विदूषकके मनमे किसीके प्रति] दण्ड [अथवा] कोपकी इच्छा होनेपर भयको उत्पन्न करने वाला होनेसे भी [टेढा डण्डा दिया गया] यह अभिप्राय है। भृङ्गार [पद] से पारिपार्श्विकके काममे आने वाला [कमण्डलु गृहीत होता है]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमे 'दण्डोपकामत्वेन भीषणत्वापात्यादपीत्यर्थं' इस प्रकारका पाठ प्रथम-संस्करणमें मुद्रित हुआ था। द्वितीय संस्करणमें उसका संशोधन करके दण्ड.। 'प्रकामत्वेन भीषणत्वावात्यादपीत्यर्थं.' पाठ छापा गया है। परन्तु ये दोनो ही पाठ अशुद्ध हैं क्योंकि उनका न कोई अर्थ लगता है और न कोई सङ्गति बैठती है। ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि ब्रह्माने टेढा डण्डा विदूषकके उपयोगके लिए दिया था। विदूषक यदि किसीको दण्ड देना चाहे या किसीपर कोप प्रकट करना चाहे तो इस कुटिलकसेद्वारा उसको भयभीत कर सकता है। किन्तु पूर्व संस्करणोंमें मुद्रित पाठसे यह अर्थ नहीं निकलता है। इस अर्थको व्यक्त करनेके लिए 'दण्ड-कोपकामत्वे विभीषापादकत्वादपीत्यर्थः'। यही पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥५९॥

भरत०—सूर्यने छत्र [अर्थात् वितान या चंदोवा प्रदान किया] शिवने सिद्धि, वायुने पंखा, विष्णुने सिंहासन तथा कुबेरने मुकुट प्रदान किया। ६०।

अभिनव०—छत्र [पदमे यहाँ वितान] चंदोवा [अभिप्रेत] है। मेघोंके सूर्यसे उत्पन्न होनेके कारण उनके समान आकार वाले [वितानको सूर्यने दिया यह कहा गया है]। जैसा कि कहा भी है—'वर्षा ऋतुमें सूर्यसे उत्पन्न बडे-बडे मेघ बरसते हैं'। देवताओं और मानवोंकी सिद्धि भगवान् [शिव] के अधीन है इसलिए भगवती सिद्धि

---

१. म भ दण्डोपकामत्वेन भीषणत्वापात्यादपीत्यर्थं। दण्ड०। प्रकामत्वेन।
२. म सूर्यश्छत्रम्। ३. ब शिवो मानस। ग घ शिवा सिद्धिम्। ४ भ म व्यजनं।
५ म तत्प्रतीमः। ६. म भ ऋतवे वर्षन्ति महान्तो मेघसम्भवान्। मेघसम्भवान्।

[प्रक्षिप्त—'श्राव्यत्वं प्रेक्षणीयस्य ददौ देवी सरस्वती] ।

के सर्वव्यापकत्वको दिखलानेकेलिए बीचमे सिद्धिका ग्रहण किया गया है। [वायुका दिया हुआ] पखा गर्मीको दूर करनेके लिए [उपयोगी होनेसे दिया गया] है। और सिंहासन आदि राजाके अभिनयमे उपयोगी हैं [इस लिए दिए गए हैं]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-सस्करणोमें बहुत अशुद्ध छपा है। उसमें हमने तीन स्थानोपर सशोधन किया है। एक जगह 'वितानः' के स्थानपर 'वितानम्' किया है। यह कोई विशेष अशुद्धि नही है। 'अस्त्री वितानमुल्लोच' आदि अमरकोशके अनुसार 'वितान' शब्द पुल्लिङ्गमें भी हो सकता है। परन्तु जब यहा नपु सकलिङ्ग 'छत्र' के पर्याय रूपमें उसको दिया गया है तब उसको नपु सकलिङ्गमें प्रयुक्त करना अधिक उचित प्रतीत होता है। 'वितानो यज्ञ उल्लोचे विस्तारे पु न्नपु सकम्' इम मेदिनीकोशके अनुसार नित्य पुल्लिङ्ग 'वितान' शब्द यज्ञका वाचक होता है। यहा यज्ञ अर्थमें उसका प्रयोग नही है इसलिए, और विशेष रूपसे नपु सकलिङ्ग 'छत्रम्' के पर्याय रूपमें प्रयुक्त होनेसे 'वितानम्' पाठ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। दूसरी जगह 'प्रतीम' पाठ प्रथम सस्करणमें छपा था। उसमें दीर्घ ईकारकी मात्राके स्थानपर ह्रस्व इकारकी मात्रा होनी चाहिए थी। 'प्रतिम' का अर्थ सदृश होता है। वितान 'तत्प्रतिम' अर्थात् मेघोके सदृश है यह उसका अभिप्राय है। नपु सकलिङ्ग 'छत्रम्' के पर्यायवाची नपु सकलिङ्ग 'वितानम्' के साथ उसका सम्बन्ध होनेसे 'तत्प्रतिमम्' यह पाठ ही उचित है।

पाठसमीक्षा—ये दोनो साधारणसे पाठान्तर है। अगला पाठ-सशोधन मुख्य सशोधन है। पूर्ववर्ती दोनो सस्करणोमें 'ऋतवे वर्षोऽन्ते महतो मेघसम्भवान्' यह पाठ छपा है। परन्तु उससे न कोई अर्थ बनता है और न कोई सङ्गति ही लगती है। इसलिए वह पाठ निश्चित रूपसे अशुद्ध है। इसके पूर्व-वाक्यमें ग्रन्थकारने यह लिखा था कि वितान मेघोके सदृश होता है। और मेघ सूर्यसे उत्पन्न होते हैं इसलिए सूर्यने छत्र या वितान प्रदान किया, यह बात 'कही गई है'। सूर्यकी गर्मीसे पानी वाष्परूप धारण कर मेघ बन जाता है। इसी लिए मेघोको सूर्यसे उत्पन्न कहा जाता है। सूर्यसे मेघोंकी उत्पत्तिका समर्थन करनेकेलिए ही यहा ग्रन्थकारने प्रकृत वचनको उद्धृत किया है। परन्तु पूर्व-सस्करणोमें इसका जो पाठ छपा है उससे यह बात किसी प्रकार नही निकलती है। उसमें 'ऋतवे वर्षोऽन्ते' आदि किसी पदका न अर्थ बनता है और न सङ्गति लगती है। इसमें 'ऋतवे' के स्थानपर 'ऋतौ' 'वर्षोऽन्ते' के स्थानपर 'प्रवर्षन्ति' पाठ होना चाहिए। कर्तृपद मेघका आक्षेप करना होगा। 'मेघसम्भवान्' के स्थानपर 'सूर्यसम्भवा' मेघका विशेषण होना चाहिए। उसके अनुरोधसे 'महत' के स्थानपर 'महान्त' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार सब मिल कर यह पाठ—'ऋतौ मेघा. प्रवर्षन्ति महान्त सूर्यसम्भवा' इस प्रकार का बनता है। उसी पाठसे यहा ग्रन्थकार का विवक्षित अर्थ निकल सकता है अन्यथा नही। इसलिए हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है। ग्रन्थकी सङ्गति लगानेकेलिए इसके सिवाय और कोई मार्ग नही है ॥६०॥

इसके बाद 'श्राव्यत्व प्रेक्षणीयस्य ददौ देवी सरस्वती' इस प्रकारका आधे श्लोकका पाठ पूर्व-सस्करणोमें और छपा हुआ है। प्रथम सस्करणमें उसको वहा कोष्ठमें दिया गया था जिससे प्रतीत होता है कि वह प्रक्षिप्त पाठ है। परन्तु द्वितीय सस्करणमें कोष्ठको हटाकर उसे मूलमे सम्मिलित कर दिया गया है। यह उचित नही है। उससे श्लोकोका क्रम फिर बिगड जायगा। इसलिए हमने उसको यहा प्रक्षिप्त मानकर कोष्ठमें ही कर दिया है।

प्रक्षिप्त०—[और देवी सरस्वतीने नाट्यको श्राव्यता या श्रव्यता प्रदान की]।

---

१ म त एतयो पुस्तकयोरिदमर्धमधिक पठ्यते।

भरत०—शेषा ये देवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
तस्मिन्[1] सदस्यभिप्रेतान् नानाजातिगुणाश्रयान्[2] ॥ ६२ ॥
अंशांशै-र्भाषितं[3] भावान् रसान् रूपं बल[4] क्रियाम् ।
[5]दत्तवन्तः प्रहृष्टास्ते मत्सुतेभ्यो दिवौकसः ॥ ६३ ॥

यक्षादयो ये तत्त्वज्ञा नाट्यस्य। 'भाषित' इति तत्तद्भूमिकोपयोगिवाचिके शिक्षा। 'भावान्' इति विभावादिषु। तथा हि रक्तमांसादीनि भय-जुगुप्साविभावरूपाणि यक्षरक्षसां हर्षोत्साहविभावतां यान्तीति तदुपदेशादेव तज्ज्ञेयम्। 'रसान्' इति स्वोचितस्थायिभावसम्बध्यमानतत्तद्रसोपयोगिनोऽनुभाव-व्यभिचारिवर्गस्य शिक्षा दर्शिता। 'रूप' इति मुखरागस्य। 'बलम्' इत्याङ्गिकस्य। प्रतिभूमिकं परितुष्टेनान्ततोऽत्र शिष्टापि काचिद्देया इति क्रिया ग्रहणम्। सामाजिकेभ्यश्च '[6]धन-वितान-आतोद्याहरणोद्यमाजिहीर्षता[7] तत्परितोषाय यतितव्यमित्येतदनेन दर्शितम् ॥ ६१-६२ ॥

भरत०—और उस सभासे शेष जो देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा नाग जातियोंके लोग [उपस्थित] थे उन्होंने नाना प्रकारके और अनेक गुणोंसे युक्त अभीष्ट भाषण भाव, रस, रूप, बल तथा क्रिया आदिको थोड़ा-थोड़ा करके [अंशांशैः] प्रदान किया। [इस प्रकार] प्रसन्न हुए देवताओंने मेरे पुत्रों [नटों] को [यह सब] प्रदान किया।६२-६३।

अभिनव०—यक्ष आदि जो नाट्यके रहस्यको जानने वाले थे [उन्होंने आगे कही जाने वाली भाषित, भाव, रस, रूप, बल तथा क्रिया आदि सामग्री दी]। 'भाषित' इससे उस-उस विशेष भूमिका [के अभिनय] में उपयोगी वाचिक [अभिनय] की शिक्षा [प्रदान की यह भाव है]। 'भावान्' इस [पद] से विभावादिके विषय में [शिक्षा सूचित की है]। क्योंकि जो रक्त मांस आदि भय तथा जुगुप्सा आदिके विभावरूप हैं वे ही यक्ष, राक्षस आदिकेलिए हर्ष एवं उत्साहके विभाव रूप बन जाते हैं इसलिए उन [यक्ष-राक्षसादि] के उपदेशसे ही उनका [ठीक-ठीक] ज्ञान हो सकता है। 'रसान्' इस [पद] से अपने योग्य स्थायिभावोंसे सम्बद्ध [उन-उन] रसोंके उपयोगी अनुभाव तथा व्यभिचारिवर्गकी शिक्षा प्रदर्शित की है। 'रूपम्' [पद] से मुखराग [मुखके परिवर्तनों] की [शिक्षा प्रदर्शित की है]। 'बलम्' इस [पद] से शारीरिक शक्तिकी [शिक्षा प्रदर्शित की है]। इस प्रकार अलग-अलग भूमिकाओं [भिन्न-भिन्न प्रकारके अभिनयों] में प्रसन्न हुए [देवतादि] को अन्तमें भी कुछ और [अन्तिम पुरस्कार] देना चाहिए इसके लिए अन्तमें 'क्रिया' का ग्रहण किया गया है। [अर्थात् अन्तमें अभिनयको सुन्दर रूपमें प्रस्तुत करनेका 'कौशल' प्रदान किया]। और

---

१ प घ सदस्यतिप्रीता। २ प घ गुणाश्रयाः। ३. न त द भाषितान्।
४ ट. वनि क्रियाम्। म भावान् रूपमङ्ग क्रिया बलम्। प क्रियाक्रमम्। घ त यत्न क्रियाम्।
५ म प ट. प्रददुर्मत्सुतेभ्यस्तु मित्र घामरत्नं षट्। ६ धनवितानमित्याहरणोद्यमो(?)दाद-जिहीर्षता। धनवितानमित्याहरणोद्यमाजिहीर्षता। ७ माजिहीर्षता घ।

सामाजिकोसे धन, वितान और वाद्य आदि संग्रह करने योग्य वस्तुओका संग्रह करने की इच्छा रखने वाले [नट-वर्ग] को उन [सामाजिको] के प्रसन्न करनेका भी यत्न करना चाहिए यह बात भी इस [सब वर्णन] से प्रदर्शित की है।

पाठसमीक्षा—इन मूल श्लोकोमेंसे दूसरे श्लोकका पाठ दूषित प्रतीत होता है। प्रथम सस्करणमें दूसरे श्लोकके अन्तमें 'क्रियावलम्' इस प्रकारका पाठ छपा था। परन्तु जैसा कि आगे इस श्लोक की वृत्तिमे प्रतीत होगा वृत्तिकारने 'क्रियाबलम्' को एक शब्द न मान कर 'रूप' के बाद केवल 'बल' की व्याख्या की है। इसलिए यहा 'क्रियाबलम्' एक पद नही अपितु 'क्रिया' और 'बलम्' दोनो अलग-अलग पद मानने चाहिए। उनमें भी वृत्तिकारने स्पष्ट रूपसे पहिले 'बल' पदकी व्याख्या की है। इसलिए वृत्तिकारके अनुसार इनके क्रममें भी परिवर्तन अपेक्षित है 'क्रियावल' के स्थानपर 'बल क्रियाम्' यह पाठ वृत्तिकार अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुकूल होनेसे अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। द्वितीय सस्करणमें 'क्रियावल' 'पाठका सशोधन करके 'बल तथा' पाठ दिया गया है। परन्तु वह वह भी अशुद्ध है। उसमें 'क्रियाम्' पदको सर्वथा निकाल दिया गया है। यह अभिनवगुप्तके अभिप्राय विपरीत होनेसे अनुचित है। अतः हमने सशोधित रूपमें 'रूप बल क्रियाम्' इस पाठको प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इन श्लोकोकी अभिनवभारतीका पाठ भी पूर्वसस्करणोमें अशुद्ध छपा है। हमने उसमें तीन स्थानोपर सशोधन किया है। प्रथम सस्करणमें 'विभावता' यान्ति के स्थानपर 'भिभावतां यान्ति' पाठ छप गया था वह अशुद्ध था। द्वितीय सस्करणमें उसे ठीक कर दिया है। दूसरी जगह 'इति क्रियाग्रहणम्' इतना पाठ कदाचित् कीटदष्ट होनेसे पूर्वसस्करणोमें छूट गया प्रतीत होता है। द्वितीय सस्करणमें भी इसकी पूर्ति नही की गई है। परन्तु उसके बिना रखे शेष पाठ की कोई सङ्गति नही लगती है। इसलिए हमने सम्भावित लुप्त पाठकी पूर्ति करके ही सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमें तीसरे स्थानपर 'धनविज्ञानमित्याहरणीयातोद्या (द्याद्या) जिहीर्षता च' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोमें छपा था। परन्तु उसकी भी कोई सङ्गति नही लगती है। देवताओ द्वारा दिए गए विविध उपहारोका यह जो वर्णन भरतमुनिने किया है उससे ग्रन्थकार अभिनवगुप्त यह कहना चाहते हैं कि नटपतिको सामाजिकोसे नाट्यकी व्यवस्थाकेलिए धन, चादनी और बाजे आदि सामग्री मागनेकी आवश्यकता पडती है। इसलिए उन सामाजिको भी प्रसन्न करनेका यत्न उसे करना चाहिए यह बात इस वर्णनकेद्वारा दिखलाई गई है। परन्तु पूर्व-सस्करणो में जो पाठ छपा है उससे यह बात नही निकल पाती है। उसमें मुख्य रूपसे 'वितान' के स्थानपर छपा 'विज्ञान' पद बाधक हो रहा है। हमने उसको ठीक करके 'धन-वितान-आतोद्या-द्याहरणीयमाजिहीर्षता च' इस प्रकारका सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है॥ ६२-६३॥

दैत्योका विद्रोह—

भरत मुनिके पुत्रोने देवताओके सामने सबसे प्रथम जिस नाट्यका अभिनय प्रारम्भ किया उसके प्रयोगसे जहा एक ओर देवताओको प्रसन्नता हुई और उन्होने प्रसन्न होकर भरत पुत्रोको विविध प्रकारके उपहार प्रदान किए। वहा दूसरी ओर दैत्य लोग उसकी प्रस्तावना देख कर ही क्षुब्ध हो उठे। क्योकि उसमे देवताओके सामने दैत्योके पराजयका चित्रण किया गया था। अभिनवगुप्तके मतानुसार वह वर्तमान कालके देव और दानवोके चरित्रका अभिनय भले ही न हो, पर फिर भी पूर्वकल्पके सजातीय दैत्योका पराजय भी उनकेलिए अपमान जनक था। इसलिए वे इस अभिनयकी प्रस्तावनामात्रसे क्षुब्ध हो उठे और उन्होने उसमें विघ्न डालकर

अथ विघ्नोपशमनाय जर्जरपूजा कार्येति दर्शयितुमितिहासेनोपक्रमते 'एवं प्रयोगे' इति—

भरत०—एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने[१]।
'अभवन् क्षुभिताः सर्वे दैत्या ये तत्र सङ्गताः'[२] ॥ ६४ ॥

दैत्यानां विनाशनं यत्र प्रयोज्यतया ॥ ६४ ॥

भरत०—विरूपाक्षपुरोगांश्च[४] 'विघ्नान् प्रोत्साह्य तेऽब्रुवन्[५]।
'[६]न क्षमिष्यामहे नाट्यमेतदागम्यतामिति ॥ ६५ ॥

आगम्यतामित्यवधार्यताम्। यदि वा सम्भूयास्यताम् ॥ ६५ ॥

उसको नष्ट कर देनेका सङ्कल्प कर लिया। असली देवासुर संग्रामका अभिनय तो दैत्योंके इस विद्रोहके कारण कुछ समयकेलिए रुक गया किन्तु इस विद्रोहके रूपमें एक नया देवासुर संग्राम प्रारम्भ हो गया। दैत्योंके इसी विद्रोह और उसके शमनकी चर्चा भरतमुनि अगले श्लोकोंमें निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—इसके बाद विघ्नोंके शमन करनेके लिए 'जर्जर' की पूजा करनी चाहिए इस बातको दिखलानेकेलिए 'एवं प्रयोगे' इत्यादि [कारिकाओं] से इतिहास प्रारम्भ करते हैं—

भरत०—इस प्रकार दैत्य और दानवोंके विनाशका [प्रदर्शन करने वाले] अभिनय [प्रयोग] प्रारम्भ होनेपर जो दैत्य वहां एकत्रित थे सब क्रुद्ध हो गए। ६४ ॥

अभिनव०—दैत्योंका विनाश जिसमें प्रयोज्य [अभिनेय] है।

भरत०—और विरूपाक्ष इत्यादि [अर्थात् जिनके कारण अभिनय करने वाले नटोंकी सूरत-शकल बिगड़ जाये और इन्द्रियां ठीक काम न दें इस प्रकारके] विघ्नोंको उत्साहित कर वे कहने लगे कि हम [अपनेलिए अपमानजनक इस] नाट्यको सहन नहीं करेंगे इसलिए आओ [इसमें विघ्न उपस्थित करें या इसको नष्ट कर दें]। ६५।

अभिनव०—[इस कारिकामें] 'आगम्यता' का अर्थ ['अवधार्यताम्'] निश्चय कर लो यह समझना चाहिए। अथवा ['आगम्यतां' का अर्थ विघ्न डालनेकेलिए] मिल कर बैठो [या प्रयत्न करो यह करना चाहिए]।

पाठसमीक्षा—इन कारिकाओंका पाठ कुछ विचित्र-सा है। इसमें 'विरूपाक्ष' पदका प्रयोग किसी विघ्न विशेषके नाम रूपमें किया गया प्रतीत होता है। परन्तु 'विरूपाक्ष' शब्द वस्तुतः शिवका नाम है। 'विरूपाक्षाय [illegible]' आदिमें शिवकेलिए ही इस शब्दका प्रयोग हुआ है। अमरकोशमें भी 'वामदेवो महादेवो विरूपाक्षस्त्रिलोचनः' आदि रूपमें शिवके नामोंमें ही 'विरूपाक्ष' शब्दका पाठ किया गया है। इस 'शिव' अर्थमें यहां कोई सङ्गति नहीं लगती है। इसलिए हमने यहां 'विरूपाक्ष' शब्दका रूढ़ अर्थ न लेकर यौगिक अर्थ लिया है। जिससे नटोंकी सूरत-शकल बिगड़ जाये और [illegible]

---

१. न दैत्यदानवनाशने। प दैत्यादीनां विनाशनम्। २ ट [illegible] क्षुभिता दै- तत्रागन् समागताः। म यथानुग[illegible]। ३ न म दर्शिताः।
४ न त पुरोगाश्च। ५ म. विघ्नानुत्पादयन्ति ते। न द विघ्नानुत्पादयन्ति ते।
६ द. ते क्षमिष्यामहे। न नेच्छमिष्यामहे।

सामाजिकोसे धन, वितान और वाद्य आदि सग्रह करने योग्य वस्तुओका संग्रह करने की इच्छा रखने वाले [नट-वर्ग] को उन [सामाजिको] के प्रसन्न करनेका भी यत्न करना चाहिए यह बात भी इस [सब वर्णन] से प्रदर्शित की है।

पाठसमीक्षा—इन मूल श्लोकोमेंसे दूसरे श्लोकका पाठ दूषित प्रतीत होता है। प्रथम सस्करणमें दूसरे श्लोकके अन्तमें 'क्रियाबलम्' इस प्रकारका पाठ छपा था। परन्तु जैसा कि आगे इस श्लोक की वृत्तिसे प्रतीत होगा वृत्तिकारने 'क्रियाबलम्' को एक शब्द न मान कर 'रूप' के बाद केवल 'बल' की व्याख्या की है। इसलिए यहा 'क्रियाबलम्' एक पद नही अपितु 'क्रिया' और 'बलम्' दोनो अलग-अलग पद मानने चाहिए। उनमें भी वृत्तिकारने स्पष्ट रूपसे पहिले 'बल' पदकी व्याख्या की है। इसलिए वृत्तिकारके अनुसार इनके क्रममें भी परिवर्तन अपेक्षित है 'क्रियाबल' के स्थानपर 'बल क्रियाम्' यह पाठ वृत्तिकार अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुकूल होनेसे अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। द्वितीय सस्करणमें 'क्रियाबल' 'पाठका सशोधन करके 'बल तथा' पाठ दिया गया है। परन्तु वह वह भी अशुद्ध है। उसमें 'क्रियाम्' पदको सर्वथा निकाल दिया गया है। यह अभिनवगुप्तके अभिप्राय विपरीत होनेसे अनुचित है। अतः हमने सशोधित रूपमें 'रूप बल क्रियाम्' इस पाठको प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इन श्लोकोकी अभिनवभारतीका पाठ भी पूर्वसस्करणोमें अशुद्ध छपा है। हमने उसमें तीन स्थानोपर सशोधन किया है। प्रथम सस्करणमें 'विभावता' यान्ति के स्थानपर 'भिभावर्ता यान्ति' पाठ छप गया था वह अशुद्ध था। द्वितीय सस्करणमें उसे ठीक कर दिया है। दूसरी जगह 'इति क्रियाग्रहणम्' इतना पाठ कदाचित् कीटदष्ट होनेसे पूर्वसस्करणोमें छूट गया प्रतीत होता है। द्वितीय सस्करणमें भी इसकी पूर्ति नही की गई है। परन्तु उसके बिना रखे शेष पाठ की कोई सङ्गति नही लगती है। इसलिए हमने सम्भावित लुप्त पाठकी पूर्ति करके ही सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमें तीसरे स्थानपर 'धनविज्ञानमित्याहरणीयातोद्या (द्याद्या) जिहीर्षता च' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोमें छपा था। परन्तु उसकी भी कोई सङ्गति नही लगती है। देवताओ द्वारा दिए गए विविध उपहारोका यह जो वर्णन भरतमुनिने किया है उससे ग्रन्थकार अभिनवगुप्त यह कहना चाहते हैं कि नटपतिको सामाजिकोसे नाट्यकी व्यवस्थाकेलिए धन, चादनी और बाजे आदि सामग्री मागनेकी आवश्यकता पडती है। इसलिए उन सामाजिको भी प्रसन्न करनेका यत्न उसे करना चाहिए यह बात इस वर्णनकेद्वारा दिखलाई गई है। परन्तु पूर्व-सस्करणो में जो पाठ छपा है उससे यह बात नही निकल पाती है। उसमें मुख्य रूपसे 'वितान' के स्थानपर छपा 'विज्ञान' पद बाधक हो रहा है। हमने उसको ठीक करके 'धन-वितान-आतोद्या-द्याहरणीयमाजिहीर्षता च' इस प्रकारका सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है॥ ६२-६३॥

दैत्योका विद्रोह—

भरत मुनिके पुत्रोने देवताओके सामने सबसे प्रथम जिस नाट्यका अभिनय प्रारम्भ किया उसके प्रयोगसे जहाँ एक ओर देवताओको प्रसन्नता हुई और उन्होने प्रसन्न होकर भरत पुत्रोको विविध प्रकारके उपहार प्रदान किए। वहा दूसरी ओर दैत्य लोग उसकी प्रस्तावना देख कर ही क्षुब्ध हो उठे। क्योकि उसमें देवताओके सामने दैत्योके पराजयका चित्रण किया गया था। अभिनवगुप्तके मतानुसार वह वर्तमान कालके देव और दानवोके चरित्रका अभिनय भले ही न हो, पर फिर भी पूर्वकल्पके सजातीय दैत्योका पराजय भी उनकेलिए अपमान जनक था। इसलिए वे इस अभिनयकी प्रस्तावनामात्रसे क्षुब्ध हो उठे और उन्होने उसमें विघ्न डालकर

भरत०—अथापश्यत् सदो विघ्नैः समन्तात् परिवारितम् ।
[1]सहेतरैः सूत्रधारं नष्टसंज्ञं जडीकृतम् ॥ ६८ ॥

'सद' इति यत्र प्रयोग क्रियते । सीदन्त्यस्मिन्निति ॥६८॥

भरत०—[2]उत्थाय त्वरितं शक्रः गृहीत्वा ध्वजमुत्तमम् ।
[3]सर्वरत्नोज्ज्वलतनुः किञ्चिदुद्वृत्तलोचनः[4] ॥६९॥
रङ्गपीठगतान् विघ्नानसुरांश्चैव देवराट् ।
जर्जरीकृतदेहांस्तानकरोज्जर्जरेण सः ॥ ७० ॥

जीर्यत्यतिशयेनेति पचाद्यचि यङ्लुकि रूपम् । अतिशयेन जीर्णाच्छिन्नो देहो येषान्ते । तथा जर्जरेणेति यङलुगन्ताण्णिचि पुन पचाद्यचि रूपम् । एव राज्ञा निद्धि-विघातका दण्डद्या इति दर्शितम् ॥६९-७०॥

भरत०—इसके बाद उन्होंने सभाभवनको चारों ओर विघ्नोंसे घिरा हुआ और अन्य साथियोंके साथ सूत्रधारको जड़ोंके समान चेतनाहीन सा पड़ा हुआ देखा ।६८।

अभिनव०—सभा [सदः] अर्थात् जिसमें अभिनय किया जाता है । जिसमे बैठते हैं वह [भवन यहां 'सदः' पदसे गृहीत होता है] ॥ ६८ ॥

'जर्जर' से विघ्नोंकी दण्डव्यवस्था—

भरत०—तब समस्त रत्नोंसे दीप्यमान देह वाले और तनिक टेढ़ी दृष्टि वाले इन्द्रने उठकर और अपने उत्तम ध्वजको हाथमें लेकर—।६९।

भरत०—रङ्गपीठपर उपस्थित सारे विघ्नों तथा असुरोंको देवराज [इन्द्र] ने जर्जर [नामक अपने उस ध्वजदण्ड] से [मार मार कर उनको] जर्जर-देह कर दिया ।७०।

अभिनव०—जो अत्यन्त जीर्ण हो जाय [वह जर्जर-देह है । जॄ-वयोहानौ धातुसे 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' ३-१-१३४ सूत्रसे पचादिगणमें] अच्-प्रत्यय करके यङ लुगन्तमें [जर्जर] यह रूप बनता है । जिनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया हैं वे [जर्जरीकृतदेह हुए] । [इस श्लोकमें जर्जर-शब्दका दो बार प्रयोग हुआ है । उनमें 'जर्जरीकृतदेहान्' मे जो 'जर्जर' शब्द आया है उसकी सिद्धि अभी दिखला चुके हैं । दूसरी जगह ध्वजके लिए जो 'जर्जर' शब्दका प्रयोग किया गया है उसकी निष्पत्ति आगे कहते हैं] और 'जर्जरेण' इसमे यङलुगन्त [जॄ-धातु] से णिच्-प्रत्यय होनेपर फिर उससे ['नन्दिग्रहि' इत्यादि ३-१-१३४ सूत्रके अनुसार पचाद्यच्से] अच्-प्रत्यय करके [जर्जर] यह रूप बनता है । इस प्रकार राजाको [नाट्यकी] सिद्धिमें विघ्न डालने वालोंको दण्ड देना चाहिए यह बात [इस उपाख्यान द्वारा] दिखलाई है ।

---

१. ठ तदेतरं । द तथेतरं. । ग सहेतरं सूत्रधारं नष्टसंज्ञं जडीकृतम् ।
२. ग ठ म प्रयोत्थाय ध्रुत कोपाद् दिव्य रूपात् सं ध्वजम् । ठ. परिपाल्य ... म ध्वजम् । ग दिव्यं रूपात् म ध्वजम् । ३ ठ म सर्वरत्नोज्ज्वल म तु । द सर्वरत्नोज्ज्वल ... ।
४. ठ. म कोपादुद्वृत्तलोचन । ग क्रोधः प्रोद्घूर्णलोचन ।

भरत०—ततस्तैरसुरैः सार्धं विघ्ना मायामुपाश्रिताः ।
वाचश्चेष्टां स्मृतिं चैव स्तम्भयन्ति स्म नृत्यताम् ॥ ६६ ॥

[1]मायामदृश्यत्वम् । चेष्टेत्याङ्गिकी । यद्यपि स्मृतिस्तम्भनेन सर्वं स्तम्भित भवति तथापि तत्तदभिनेयप्राधान्येन तदेव स्तम्भितमित्युक्तम् ॥ ६६ ॥

भरत०—[2]तथा विध्वसनं दृष्ट्वा [3]सूत्रधारस्य देवराट् ।
कस्मात् प्रयोगवैषम्यमित्युक्त्वा ध्यानमाविशत् ॥ ६७ ॥

सूत्रधारस्येति सपरिवारस्येति, प्रस्तावनाप्रयोगमध्य एवाय विघ्न इति यावत् । ध्यान इति यत्र माया न प्रभवति ॥ ६७ ॥

इन्द्रिया ठीक काम न दे इस प्रकारके विघ्न 'विरूपाक्ष' आदि विघ्न हो सकते हैं । 'आगम्यता' का प्रयोग भी अटपटा सा है । उसका अर्थ वृत्तिकारने 'अवधार्यताम्' या 'सम्भूयास्यताम्' किया है । इन दोनोमेंसे कोई भी 'आगम्यताम्' का सीधा अर्थ नही है । 'अवधार्यताम्' अर्थकी दृष्टिसे 'आगम्यता' के स्थानपर 'अवगम्यता' पाठ चाहिए । पर छन्दमें उसके समन्वयकेलिए विशेष यत्न करना होगा । और 'आगम्यता' पदसे 'सम्भूयास्यताम्' पद अर्थ भी सरलतासे नही निकल सकता है । इसलिए यह प्रयोग भी अटपटा-सा ही प्रतीत होता है ॥ ६५ ॥

भरत०—तब उन असुरोंके साथ मायाका अवलम्बन करके [अर्थात् अदृश्यरूप होकर] विघ्न, अभिनय करने वालोके [नृत्यताम्] शब्दो, व्यापारों और स्मृतिको कार्याक्षम करने लगे ।६६।

अभिनव०—'माया' को अर्थात् अदृश्यत्वको [धारण करके] । 'चेष्टा' को अर्थात् शारीरिक व्यापारको [स्तब्ध अर्थात् कार्याक्षम करने लगे] । यद्यपि स्मृतिके कार्याक्षम कर देनेसे ही सब कुछ कार्यमे असमर्थ हो जाता है फिर भी उस-उसके अभिनयकी प्रधानताके कारण उस-उसके कार्याक्षमत्व का कथन किया है ॥ ६६ ॥

भरत०—सूत्रधार [नाटकके व्यवस्थापक] की इस बुरी दशा [विध्वसन] को देखकर अभिनयमे यह गडबड क्यो हो रही है यह कह कर देवराज [इन्द्र] ध्यानमे मग्न हो गए ।६७।

अभिनव०—सूत्रधारके [विध्वसनको देख कर] इस का अभिप्राय [अकेले सूत्रधारका नहीं अपितु 'सपरिवारस्य' अर्थात्] अपने साथियो सहित [सूत्रधार] के [विध्वसनको देख कर यह है] । इसलिए यह विघ्न प्रस्तावनाके प्रयोगके बीचमे ही हुआ यह अभिप्राय है । [क्योकि सूत्रधारकी स्थिति प्रस्तावनामे ही रहती है । प्रस्तावनाके बाद सूत्रधार नहीं रहता है] । 'ध्यानमाविशत्' ध्यान-मग्न होगए इसका अभिप्राय यह है कि जहां मायाका प्रभाव नहीं हो सकता है । [उस प्रकारकी स्थिति मे बैठ कर इन्द्रने अभिनयकी गडबडके कारण खोजनेका यत्न प्रारम्भ किया] ।

इस कारिकामे जो यह कहा है कि 'सूत्रधारके इस प्रकारके विध्वसनको देख कर' इसका अभिप्राय वृत्तिकारने यह निकाला है कि ये विघ्न प्रस्तावनाके बीचमें ही उपस्थित हुए । मुख्य नाटकमें नही । इसका आधार यह है कि सूत्रधार केवल प्रस्तावना कालमें ही सूत्रधारके रूपमें काम करता है । मुख्य पात्रोके प्रवेशके बाद उसका काम समाप्त हो जाता है ॥ ६७ ॥

---

१ मायामिति अदृश्यत्वमित्यर्थ । २ क व त एवम् । ३ ठ म तनस्तेपा स ।

भरत०—अथापश्यत् सदो विघ्नैः समन्तात् परिवारितम् ।
[1]सहेतरैः सूत्रधारं नष्टसंज्ञं जडीकृतम् ॥ ६८ ॥

'सद' इति यत्र प्रयोग क्रियते । सीदन्त्यस्मिन्निति ॥६८॥

भरत०—[2]उत्थाय त्वरितं शक्रः गृहीत्वा ध्वजमुत्तमम् ।
[3]सर्वरत्नोज्ज्वलतनुः किञ्चिदुद्वृत्तलोचनः[4] ॥६९॥
रङ्गपीठगतान् विघ्नानसुरांश्चैव देवराट् ।
जर्जरीकृतदेहांस्तानकरोज्जर्जरेण सः ॥ ७० ॥

जीर्यत्यतिशयेनेति पचाद्यचि यङ्लुकि रूपम् । अतिशयेन जीर्णीकृतो देहो येषान्ते । तथा जर्जरेणेति यङलुगन्तािण्णचि पुन पचाद्यचि रूपम् । एवं राज्ञा सिद्धि-विघातका दण्ड्या इति दर्शितम् ॥६९-७०॥

भरत०—इसके बाद उन्होंने सभाभवनको चारों ओर विघ्नोंसे घिरा हुआ और अन्य साथियोंके साथ सूत्रधारको जड़ोंके समान चेतनाहीन सा पड़ा हुआ देखा ।६८।

अभिनव०—सभा [सदः] अर्थात् जिसमें अभिनय किया जाता है । जिसमें बैठते हैं वह [भवन यहाँ 'सद.' पदसे गृहीत होता है] ॥ ६८ ॥

'जर्जर' से विघ्नोंको दण्डव्यवस्था—

भरत०—तब समस्त रत्नोंसे दीप्यमान देह वाले और तनिक टेढ़ी दृष्टि वाले इन्द्रने उठकर और अपने उत्तम ध्वजको हाथमें लेकर—।६९।

भरत०—रङ्गपीठपर उपस्थित सारे विघ्नों तथा असुरोंको देवराज [इन्द्र] ने जर्जर [नामक अपने उस ध्वजदण्ड] से [मार मार कर उनको] जर्जर-देह कर दिया ।७०।

अभिनव०—जो अत्यन्त जीर्ण हो जाय [वह जर्जर-देह है । जॄ-वयोहानौ धातुसे 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' ३-१-१३४ सूत्रसे पचादिगणमें] अच्-प्रत्यय करके यङ लुगन्तमें [जर्जर] यह रूप बनता है । जिनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया है वे [जर्जरीकृतदेह हुए] । [इस श्लोकमें जर्जर-शब्दका दो बार प्रयोग हुआ है । उनमें 'जर्जरीकृतदेहान्' में जो 'जर्जर' शब्द आया है उसकी सिद्धि अभी दिखला चुके हैं । दूसरी जगह ध्वजके लिए जो 'जर्जर' शब्दका प्रयोग किया गया है उसकी निष्पत्ति आगे कहते हैं] और 'जर्जरेण' इसमें यङलुगन्त [जॄ-धातु] में णिच्-प्रत्यय होनेपर फिर उससे ['नन्दिग्रहि' इत्यादि ३-१-१३४ सूत्रके अनुसार पचाद्यच्में] अच्-प्रत्यय करके [जर्जर] यह रूप बनता है । इस प्रकार राजाको [नाट्यकी] सिद्धिमें विघ्न डालने वालोंको दण्ड देना चाहिए यह बात [इस उपाख्यान द्वारा] दिखलाई है ।

---

१. ढ तदेतरं । ड सवेतरं । त सहेतरं सूत्रधारं नष्टसंज्ञं जडीकृतम् ।
२. ग त थ सर्वोत्थाय रुत कोपाद् दिव्यं जग्राह सं ध्वजम् । ढ कोपात्त्वाद् स ध्वजम् । त दिव्यं जग्राह स ध्वजम् । ३. ढ म सर्वरत्नोज्ज्वल ग तु । ड सर्वरत्नोज्ज्वलतनुः ।
४. ढ. म कोपादुद्वृत्तलोचन । त शक्रः प्रोद्वृत्तलोचनः ।

[प्रक्षिप्त०—निहतेषु च सर्वेषु विघ्नेषु[1] सह दानवैः ।
[2]सम्प्रहृष्य ततो वाक्यमाहुः सर्वे दिवौकसः ॥७१॥
अहो प्रहरणं दिव्यमिदमासादितं त्वया ।
[3]जर्जरीकृतसर्वाङ्गा येनैते दानवाः कृताः ॥७२॥
यस्मादनेन ते विघ्नाः सासुरा जर्जरीकृताः ।
तस्माज्जर्जर [4]एवेति [5]नामतोऽस्य भविष्यति ॥७३॥
शेषा ये चैव [6]हिंसार्थमुपयास्यन्ति[7] हिंसकाः ।
[8]दृष्ट्वैव जर्जरं तेऽपि गमिष्यन्त्येवमेव तु ॥७४॥
[9]एवमेवास्त्विति ततः शक्रः प्रोवाच तान् सुरान् ।
[10]रक्षाभूतश्च सर्वेषां भविष्यत्येष जर्जरः ॥७५॥]

भरत०—दानवोंके साथ समस्त [उपस्थित] विघ्नोंका नाश हो जानेपर सारे देवता लोग प्रसन्न होकर [इन्द्रसे] कहने लगे कि ॥७१॥

भरत०—बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आपको यह दिव्य शस्त्र मिल गया जिसके द्वारा इन सब दानवों को [मार मार कर] आपने जर्जर कर दिया ॥७२॥

भरत०—क्योंकि आपने इसीके द्वारा असुरोंके सहित उन विघ्नोंको [मार मार कर] जर्जर कर दिया इसलिए आगे यह 'जर्जर' नामसे ही प्रसिद्ध होगा ॥७३॥

भरत०—बचे-खुचे जो हिंसक लोग आगे कभी विघ्न डालनेकेलिए आवेंगे वे भी इस 'जर्जर' को देख कर इसी प्रकार [भयके मारे] भाग जावेंगे ॥७४॥

भरत०—तब इन्द्र उन देवताओंसे बोले कि 'ऐसा ही' हो [अर्थात् यह भविष्यमें भी विघ्नोंका नाशक होगा] । और यह जर्जर सबकी रक्षा करने वाला भी होगा ॥७५॥

प्रक्षिप्त श्लोक—यहां ७१ से ७५ तक पांच श्लोक एक साथ ऐसे आगए हैं जिनपर अभिनवगुप्तने वृत्ति नहीं लिखी है। इसलिए ये पांचों श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। यों अर्थकी दृष्टिसे विचार करें तो भी यहां इन श्लोकों की ऐसी कोई उपयोगिता नहीं दिखलाई देती है कि इनके न रहने से अर्थ में कोई कठिनाई होती हो। इसके विपरीत जो बात इन श्लोकों में कही गई है वह स्वयं सार हीन-सी बात है। उससे प्रकृत प्रकरणका कोई उपकार नहीं हो रहा है। बल्कि उससे प्रकृत प्रसङ्गके क्रममें कुछ बाधा ही उपस्थित हो रही है। इसलिए इनके पढ़ते ही यह स्पष्ट होजाता है कि ये पांचों श्लोक प्रक्षिप्त हैं। अभिनवगुप्तके सामने ये श्लोक नहीं थे। इसीलिए उन्होंने इन पर कोई वृत्ति नहीं लिखी है। अतः अभिनवभारतीके न होने से हमने इनको प्रक्षिप्त मान कर दूसरे प्रकारके टाइपमें और कोष्ठमें कर दिया है। पूर्व संस्करणोंके साथ संख्याका सामञ्जस्य बनाए रखनेकेलिए इनके आगेसे संख्या नहीं हटाई है।

१ न. गतेषु तेषु विघ्नेषु सर्वेषु । २ न. म. प्रणम्यैनं तदा वाक्यमिदमूचुः । त. सम्प्रहृस्य । व. सम्प्रसह्य ।
३ ठ. म. नाट्यविध्वंसिनः सर्वे येनैते जर्जरीकृताः । न. जर्जरीकृत-देहास्तु दानवा येन ते कृताः ।
४ ड. इत्येव । ५ न. ख्याति लोके गमिष्यति ।
६ न. व. त. विघ्नार्थम् । ७ ग. त. व. उपस्थास्यन्ति विघ्नकाः । न. विघ्ननाम ।
८ न. दृष्ट्वैनं ।
९ न. एवं भविष्यतीत्येव । १० न. रक्षाभूतः स दैवतः ।

यदि वा मूलत एव तत्परिरक्षार्थं मण्डप कार्यं । ये च दण्डस्याविषया वातातप-[१]वर्षादय, तत्कृतो हि सिद्धिविघातो मण्डपे सति न भवति । एतेनैवाभिप्रायेण पुराकल्पमाह—'प्रयोगे' इत्यादि—

भरत०—प्रयोगे प्रस्तुते ह्येवं स्फीते शक्रमहे पुनः[२] ।
[३]त्रासं सञ्जनयन्ति स्म विघ्नाः [४]शेषास्तु नृत्यताम् ॥७६॥

'शेषा' इति जर्जरीकृतशरीरशेषा अपीत्यर्थ. । यद्वक्ष्यति—'निर्विघ्ना भगवन् विघ्ना' इति । तथास्मिन् जर्जरीकरणकाले एते चासन्निहिता अभूवन् ।त्रासमिति सर्वथा तु न शक्ता नाशयितुमिति । जर्जरप्रभावो [५]गमिष्यत्येवमिति य उक्तवान् सोऽज्ञ. ॥७६॥

स्थायी नाट्यमण्डप—

इस प्रकार प्रथम बार खुले मैदानमें अस्थायी व्यवस्था करके जो अभिनय करनेका यत्न किया गया उसमें अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित हुए । जिनका निवारण करनेकेलिए स्वयं देवराज इन्द्रको प्रयत्न करना पड़ा । इसलिए बादमें स्थायी और सुरक्षित नाट्य-मण्डपकी आवश्यकता अनुभव हुई । उसीके निर्माणकी भूमिका अगले श्लोकोंमें दिखलाते हैं ।

अभिनव०—अथवा प्रारम्भ से ही उन [विघ्नों] से रक्षा करनेकेलिए [स्थायी] मण्डपकी रचना करनी चाहिए । और जो आंधी-पानी धूप आदि [रूप विघ्न] दण्डके विषय नहीं हो सकते हैं उनके द्वारा होने वाली बाधाएं भी मण्डपके होनेपर उपस्थित नहीं होती हैं । [इसलिए प्रारम्भसे ही पक्के नाट्य-मण्डपकी रचना कर लेनी चाहिए] इसी अभिप्रायसे 'प्रयोगे' इत्यादि [अगले श्लोक] से [नाट्य-मण्डपकी रचना का] इतिहास कहते हैं—

भरत०—इस प्रकार इन्द्रोत्सवके अवसरपर समारोह पूर्वक फिर अभिनयका प्रारम्भ होनेपर शेष विघ्न अभिनय करने वालोंको भयभीत करने लगे ।७६।

अभिनव०—[कारिकामें आए हुए] 'शेषाः' इस [पद] से जर्जरीकृत शरीरमात्र जिनका शेष रह गया है वे [अर्थात् पहिली बार मार खा कर भी जो यथा-कथञ्चित् जीवित बच गए थे] वे भी [अभिनय करने वालोंको डरानेको आगए] । जैसा कि आगे कहेंगे—'हे भगवान् [इतनी मार खानेपर भी] विघ्न [अभिनयमें बाधा डालनेकेलिए] कृतसङ्कल्प हैं ।' और ['शेषाः' का दूसरा अर्थ यह भी है कि] उन जर्जरीकरणके समय ये लोग उपस्थित नहीं थे । [इसलिए बच गए थे । वे अब आकर] 'भय उत्पन्न करने लगे' इसका अर्थ यह है कि [अभिनयको] सर्वथा नष्ट करनेमें समर्थ नहीं थे । इस प्रकारसे [अर्थात् विघ्नोंके पुनः बाधा डालनेकेलिए उपस्थित हो जानेपर तो] 'जर्जर' का प्रभाव नष्ट हो जायगा ऐसा जिन [टीकाकार] ने कहा है वह [विषयको] समझना नहीं है ।

१. वर्षादयस्त । २. न नरा । ३. पुनः । म इत्यर्धं नास्ति । ३. न त्रासं सञ्जनयन्ति स्म ।
४. न निर्विघ्नमभानयाः । ३. म मनुष्यबुद्ध्य । ४. म. भ. गमिष्यत्येवेति य उक्तः सोऽज्ञः ।
५. 'गमिष्यत्येवमेव' इति य उक्तः सोऽज्ञः । ६. दवारा हेत्वाः ।

पाठसमीक्षा—यह कारिका यो तो बिल्कुल सीधी-सादी-सी है किन्तु पूर्व-सस्करणोमें उसकी अभिनवभारतीका पाठ जिस रूपमें उपलब्ध होता है उसने इसके अर्थको कुछ दुरूह-सा बना दिया है। इसमें 'शेषा.' पद महत्वपूर्ण है। उसकी दो प्रकारकी व्याख्या वृत्तिकारने की है। पहिली व्याख्याके अनुसार 'शेषा इति जर्जरीकृतशरीरशेषा अपीत्यर्थ' अर्थात् जिनके जर्जरीकृत शरीरमात्र शेष रह गए हैं ऐसे असुर भी दुबारा प्रयोगके आरम्भ होनेपर प्रयोगको नष्ट कर देनेका भय दिखलाने लगे, यह श्लोकका अर्थ होता है। इसके ऊपर यह शङ्का हो सकती है कि जब एक बार पिट कर भी 'जर्जरीकृतशरीरशेषा अपि' असुरोने दुबारा विघ्न उपस्थित करनेका साहस किया तब तो फिर जर्जरका प्रभाव ही समाप्त हो गया समझना चाहिए। इस प्रकारकी शङ्का किसी पूर्ववर्ती टीकाकारने उठाई भी है। किन्तु वृत्तिकार अभिनवगुप्तने उसको 'अज्ञ' कह कर उसके मतका खण्डन कर दिया है। इस 'अज्ञ' कहनेका अभिप्राय यह है कि यहाँ 'शेषा.' पदका दूसरा अर्थ यह भी लेना चाहिए कि 'तथा चास्मिन् जर्जरीकरणकाले एते चासन्निहिता अभूवन्' उस जर्जरीकरणके कालमें अर्थात् पिटाईके समय ये उपस्थित नहीं थे। अर्थात् जो लोग उस समय पिटाईके चक्करमें नही आए थे वे ही दुबारा उपद्रव करनेको आए थे। जो भुक्तभोग थे उन्होने दुबारा आनेका साहस नही किया। इस अर्थको माननेमे जर्जर प्रभावके समाप्त हो जानेकी जो शङ्का उठाई गई थी उसका समाधान हो जाता है।

पाठसमीक्षा—किन्तु उस दशामें इसी अर्थको मुख्य अर्थ मानना चाहिए था। और इसीको पहिले देना चाहिए था। 'जर्जरीकृतशरीरशेषा अपीत्यर्थ' यह अर्थ करना ही नही चाहिए था। उस अर्थके करने पर तो जर्जरका प्रभाव समाप्त हो जानेकी शङ्काका होना स्वाभाविक ही है। पर वृत्तिकारने उसी अर्थको मुख्य अर्थ मान कर उसी अर्थको पहिले प्रस्तुत किया है। और उसमें कुछ बल भी है। बल इसलिए कि आगे ७८वें श्लोकमें भरतमुनि फिर कह रहे हैं कि हे भगवन् ये दैत्य तो इस नाट्यका नाश करनेपर तुले हुए हैं'। यो एक बारकी मार खा कर मानने वाले नही हैं। इसलिए मण्डपकी रक्षाका कोई स्थायी प्रबन्ध कीजिए। इस प्रार्थनासे यह व्यक्त होता है कि दैत्य मार खाकर बाज नही आए। इस व्यङ्ग्यार्थकी दृष्टिसे 'जर्जरीकृत शरीरशेषा अपीत्यर्थः' इस अर्थमें अधिक सुन्दरता प्रतीत होती है। इसलिए वृत्तिकारने पहिले उसी अर्थको प्रस्तुत किया है। किन्तु उससे जर्जर प्रभावके समाप्त हो जानेकी जो शङ्का उठाई गई है उसका समाधान करनेके लिए ही उन्होने इसका दूसरा अर्थ प्रस्तुत किया है। इस दूसरे अर्थको न समझनेके कारण ही पूर्व टीकाकारको 'अज्ञ' कह कर उसका उपहास किया है। इस ढगसे ये दोनो व्याख्याए भली प्रकारसे सङ्गत हो जाती है। किन्तु अभिनवभारतीकी इस स्थलकी वाक्य-रचना इस अर्थको इतने सुन्दर रूपमें व्यक्त नही कर पा रही है। उसमें कुछ त्रुटि रह जाती है।

पाठसमीक्षा—इसके अतिरिक्त इस स्थलपर प्रथम सस्करणमें 'जर्जरप्रभावो गमिष्यन्त्येवमेव इति य उक्त सोऽज्ञ' इस प्रकारका पाठ छपा था। किन्तु वह बडा गडबड पाठ था। उसका कोई अर्थ नही लगता था। द्वितीय-सस्करणमें उसको सशोधित रूपमें दिया गया है। पर वह पाठ और भी अधिक खराब हो गया है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि यहाँ असुरोंके दुबारा विघ्न डालनेकेलिए उपस्थित हो जानेसे कुछ लोगोके मनमें यह शङ्का उत्पन्न हो गई थी कि इस प्रकार तो जर्जरका प्रभाव ही समाप्त हो जायगा। इस शङ्काके निवारणकेलिए ही वृत्तिकारने 'शेषा' पदका दूसरा अर्थ यह किया है कि जो 'असुर उस जर्जरीकरणके समय उपस्थित नहीं थे और मार खानेसे बच गए थे वे ही दुबारा विघ्न डालनेको आए थे'। इस दशामें जर्जरप्रभावो गमिष्यत्येवमिति' यह पाठ वहाँ अवश्य होना चाहिए। किन्तु द्वितीय सस्करणमें 'जर्जरप्रभाव'

[प्रक्षिप्त०—दृष्ट्वा तेषां व्यवसितं [1]दैत्यानां विप्रकारजम्[2] ।
उपस्थितोऽहं ब्रह्माणं [3]सुतैः सर्वैः समन्वितः ॥७७॥

को पूर्ववाक्यके साथ जोड़ दिया गया है । 'आत्ममिति सर्वथा तु न शक्ता नाशयितुमिति जर्जरप्रभाव.' इस प्रकारका संशोधित पाठ द्वितीय संस्करणमें दिया गया है । किन्तु उस दशामें न तो जर्जरप्रभावके नाश होनेकी शङ्का बनती है । न उसके समाधानकेलिए 'शेषा' पदका दूसरा अर्थ दिखलानेकी आवश्यकता रहती है । और न उस प्रकारकी शङ्का उठाने वाले पूर्व टीकाकारको 'सोऽज्ञ.' कह कर मूर्ख बतलानेका ही कोई प्रयोजन रहता है । यह सब बातें वृत्तिकारने की हैं । अत यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां 'जर्जरप्रभाव' को पूर्ववाक्यमें नहीं जोड़ा जा सकता है । उसे उत्तरवाक्यके साथ जोड़ कर शङ्काको मूर्तरूप देना ही होगा । अत द्वितीय संस्करणका पाठ संशोधन निश्चित रूपसे ग्रन्थकारके अभिप्रायके विपरीत और सर्वथा हेय है ।

पाठसमीक्षा—इसी स्थलके पाठमें और भी अशुद्धियां पूर्वसंस्करणोंमें पाई जाती हैं । प्रथम-संस्करणमें 'जर्जरप्रभावो गमिष्यन्त्येवमेव इति' इस प्रकारका पाठ छपा था । इसमें 'गमिष्यति' के स्थानपर 'गमिष्यन्ति' और 'एव' के स्थानपर 'एवमेव' छप गया था । ये दोनों अशुद्धियां ठीक करके 'गमिष्यन्त्येवमेव इति' के स्थानपर 'गमिष्यत्येवमिति' यह पाठ होना चाहिए । तभी शङ्काका स्वरूप ठीक बनता है । इसलिए हमने इसी रूपमें पाठ प्रस्तुत किया है । पाण्डुलिपिके लेखकके मनमें इस पाठको अङ्कित करते समय ७४ कारिकाके मूलमें आया हुआ 'गमिष्यन्त्येवमेव तु' यह वाक्यांश घूम रहा था । उसका यहां सम्बन्ध न होनेपर भी लिपिकारके अवचेतन मनने उसको यहां लिख देनेको प्रेरित किया जान पड़ता है । इसलिए यह भूल हुई है ।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदके अन्तमें पूर्ववर्ती दोनों संस्करणोंमें 'य उक्त. सोऽज्ञ' इस प्रकारका पाठ पाया जाता है । यह नितान्त अशुद्ध पाठ है । उसका कोई अर्थ नहीं बनता है । द्वितीयसंस्करणमें 'सोऽज्ञ.' के स्थानपर 'ते वक्तारोऽज्ञा' यह पाठान्तर भी सुझाया गया है । किन्तु उससे भी समस्या हल नहीं होती है । मूल अशुद्धि 'सोऽज्ञ.' की नहीं है जिसे 'ते वक्तारोऽज्ञा.' के द्वारा सुधारनेका यत्न किया गया है । मूल अशुद्धि 'य उक्त' की है । 'उक्त.' पदमें कर्ममें क्त-प्रत्यय है । उस दशामें कर्ताके अनभिहित होनेसे उसमें तृतीया विभक्ति हो कर 'येनोक्तम्' प्रयोग होना चाहिए था । या फिर 'य.' को कर्ता रखना है तो कर्तामें क्तवतु-प्रत्यय करके 'य उक्तवान्' यह प्रयोग होना चाहिए । 'सोऽज्ञ' इस अगले वाक्यकी रचनाको ध्यानमें रखते हुए यहां 'य उक्तवान्' यही प्रयोग उचित है । इसलिए हमने यही पाठ माना है । इस प्रकार इस अनुच्छेदके छोटेसे पाठके सम्बन्धमें पूर्व-संस्करणोंमें अनेक अत्यन्त भद्दी अशुद्धियां हो गई थीं जिनके कारण यह सर्वथा अज्ञेय बन गया था । हमने इन सबका संशोधन कर उचित पाठ ही मूलमें प्रस्तुत किए हैं 'जर्जरप्रभावो गमिष्यत्येवमिति य उक्तवान् सोऽज्ञ' यह संशोधन उनमें सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है । अत. हमने यही संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है । इससे इस स्थलका सारा पाठ सुसङ्गत और सुबोध बन जाता है ।

प्रक्षिप्त०—[अभिनयमें जो असुरोंके पराजयका प्रदर्शन किया था उस] तिरस्कारसे उत्पन्न अपने विषयमें उनके [विघ्न डालनेके] दृढ़-निश्चयको देखकर अपने सारे पुत्रोंके साथ मैं ब्रह्माजी की सेवामें उपस्थित हुआ । [और बोला कि]— ॥७७॥

इस श्लोक पर भी अभिनवगुप्तकी वृत्ति नहीं मिलती है । इसलिए हमने उसे प्रक्षिप्त माना है । ७७ ।

१. म. दृष्ट्वा । मत्त्र्यं ।　　२. म. ब. विप्रकारकम् ।　　३. ब. सुरैः ।

भरत०—[1]निश्चिता भगवन् विघ्ना नाट्यस्यास्य विनाशने ।
[2]अस्य रक्षाविधिं सम्यगाज्ञापय सुरेश्वर[3] ॥७८॥

भरत०—[4]ततश्च विश्वकर्माणं [5]ब्रह्मोवाच प्रयत्नतः ।
कुरु लक्षणसम्पन्नं नाट्यवेश्म महामते ॥७९॥
ततोऽचिरेण कालेन विश्वकर्मा महच्छुभम् ।
सर्वलक्षणसम्पन्नं [6]कृत्वा नाट्यगृहं तु सभ ॥८०॥

ततो विश्वकर्मेति वास्तुविद्यातत्त्वविदो नाट्यमण्डपे स्थपतित्व सूचयति ॥८०॥

भरत०—[7]प्रोक्तवान् द्रुहिणं गत्वा सभायान्तु कृताञ्जलिः ।
सज्जं नाट्यगृह देव तदवेक्षितुमर्हसि ॥८१॥
ततः सह महेन्द्रेण सुरैः सर्वैश्च [8]सेतरैः ।
[9]आगतस्त्वरितो द्रष्टुं द्रुहिणो नाट्यमण्डपम् ॥८२॥

द्रुहिण इति ब्रह्मा । इतरे विद्याधरगन्धर्वाद्या ॥८१-८२॥

भरत०—हे भगवन् ! विघ्नगण इस नाट्यको विगाडनेपर तुले हुए हैं। इसलिए हे देवराज भली प्रकारसे इसकी रक्षाकी व्यवस्था करनेकी कृपा करें ॥७८॥

इस श्लोकका उल्लेख 'अभिनवभारती' में ७६वें श्लोककी व्याख्यामें पृ० १५७ पर 'निश्चिता भगवन् विघ्ना' प्रतीकमे किया है । अत यह प्रक्षिप्त नही है ।

भरत०—तव [मेरी प्रार्थनाको सुनकर] ब्रह्माजी विश्वकर्मासे बोले कि हे महामते आप सर्वगुण-सम्पन्न नाट्य-गृहकी रचना करवाइए तव [ब्रह्माकी आज्ञा पाकर] उन्होंने बहुत शीघ्र सर्वगुण-सम्पन्न विशाल एव सुन्दर नाट्य-गृहकी रचना करवा कर— ॥७९-८०॥

अभिनव०—'विश्वकर्मा' इस [पद] से नाट्य-मण्डप [की रचना] मे वास्तु विद्याके विशेषज्ञ शिल्पी [इजीनियर] होने चाहिए यह बात सूचित की है ॥ ८० ॥

७९-८० 'विश्वकर्मा' पद और ८१-८२ 'द्रुहिण' पद 'दोनो श्लोकोमे आया है । अत इनपर दी गई टिप्पणियोका सम्बन्ध कथञ्चित् दोनो श्लोकोसे मान लिया है ।

भरत०—[विश्वकर्माने] ब्रह्माजीके पास जाकर हाथ जोड कर [विनय-पूर्वक] सभामे कहा कि हे देव सुसज्जित नाट्य-भवन तैयार है आप उसको देखनेकी कृपा करें ॥८१॥

भरत०—तव इन्द्रको साथ लेकर और अन्य सब देवताओके साथ ब्रह्माजी तुरन्त ही नाट्य-मण्डपको देखनेके लिए पधारे ॥८२॥

अभिनव०— 'द्रुहिण' [का अर्थ] ब्रह्मा है। और [सेतरैः] 'इतरे' [पद] से विद्याधर गन्धर्व आदि [का ग्रहण होता है] ॥ ८१-८२ ॥

---

१ य व निसृता । २ घ म त अतो । ३ न पितामह ।
४ ठ म तन स । त व ततस्तु । ५ न त व आह ब्रह्मा । न ब्रह्मावोचत् ।
६ ग नाट्यवेद चकार स । ७ ठ भ कृत्वा यथोक्तमेव तु गृह पद्मोद्भवाज्ञया । इत्यधिक दृश्यते । न ततोऽब्रवीद्विश्वकर्मा ब्रह्माण प्रयताञ्जलि ।
८ ठ सत्तमे न त सर्वे सहेतरैः । ९ स म त व अगच्छत् ।

भरत०—दृष्ट्वा नाट्यगृहं ब्रह्मा प्राह सर्वान् सुरांस्तत ।
अंशभागै-र्भवद्भिस्तु रक्ष्योऽयं नाट्यमण्डपः ॥८३॥

अंशैर्यानि [1]भजनानि अधिष्ठानानि तै मण्डपस्यांगेषु । व भवता ये तृतीय-चतुर्थादयो भागास्तै. ॥ ८३ ॥

अंशविभागमेवाह—

भरत०—रक्षणे [2]मण्डपस्याथ [3]विनियुक्तस्तु चन्द्रमाः ।
[4]लोकपालास्तथा दिक्षु विदिक्ष्वपि च मारुताः ॥ ८४ ॥

रक्षण इति । अनेन चैतत्तुल्या एव मण्डपरक्षका [5]केचिन्नियोज्या इति दर्श्यते । मण्डपस्य सर्वस्याधिष्ठाता हि सौम्यप्रकृति [6]सामप्रधानो योज्य इति दर्शयति 'चन्द्रमा' इति । [7]विदिक्ष्वपि चेति न केवल पश्चिमोत्तररूपे स्वकोणे यावदन्यास्वपि विदिक्षु । चकाराद् दिक्ष्वपि । मारुता इति -ते हि घर्मदोषापवारकत्वादत्यन्तोपकारिण. । अनेन गवाक्षकरण मूच्यत इत्येके ॥ ८४ ॥

नाट्यमण्डपकी रक्षण-व्यवस्था—

भरत०—तब ब्रह्माजीने नाट्यगृहको देख कर सारे देवताओंसे कहा कि थोड़ा-थोड़ा बाट कर आप सब लोग इस नाट्य मण्डपकी रक्षा करें । ८३ ।

अभिनव०—अंशोंसे [अर्थात् थोड़ा-थोड़ा करके] जो भजन अर्थात् स्थिति, उससे मण्डपके भिन्न-भिन्न भागोंमे [रक्षा करें] । आपके जो तृतीय चतुर्थ आदि [रक्षणीय] भाग हो उनसे [अर्थात् अपने-अपने हिस्सेमें आए भागोंकी रक्षा करें] ॥८३॥

अभिनव०—[उस] अंशोंके विभाजनको ही [आगे] कहते हैं—

भरत०—तब [सामान्य रूपसे सम्पूर्ण] मण्डपकी रक्षाके लिए चन्द्रमाको नियुक्त किया । और [चारो मुख्य] दिशाओंमे लोकपालोंको [नियुक्त किया] । तथा [ईशान, आग्नेय, नैर्ऋत्य एव वायव्य रूप] उपदिशाओंमे वायुओंको [रक्षाकेलिए नियुक्त किया] । ८४ ।

अभिनव०—'रक्षणे' इस [पद] से यह बात दिखलाई है कि [भविष्यमें भी राजा आदिको] मण्डपकी रक्षाकेलिए इसी प्रकारके [गुणों वाले] किन्ही लोगोंको नियुक्त करना चाहिए । सारे मण्डपका मुख्याधिष्ठाता सौम्य स्वभावका और शान्त प्रकृतिका होना चाहिए यह बात 'चन्द्रमा' इस पदसे सूचित की है । 'उपदिशाओंमे भी' इससे न केवल पश्चिम तथा उत्तरके बीचके [वायुके] अपने [अर्थात् वायव्य] कोणमे ही अपितु [ईशान, नैर्ऋत्य तथा आग्नेय आदि] अन्य उपदिशाओंमे भी [रक्षाके लिए मारुतको नियुक्त किया] । और चकारसे [मुख्य चारो] दिशाओंमे भी [उनको नियुक्त किया] । क्योंकि ये [मारुत] गर्मीके दोषके निवारक होनेसे अत्यन्त उपयोगी हैं । कुछ [व्याख्याकारों] का कहना है कि इससे खिड़किया बनानेको सूचित किया है ।

---

१ म. भाजनानि । २. प ब. मण्डपस्यान्य । ३ ड. प नियुक्तो मण्डपेऽस्य ।
४. न. यथा दिश सोमरामा ८. प म दर्यादिस्त्रीकरायाल । ५ ग्रहा कर्तव्य ।
६ भ सोम प्रधानो । सोमप्रधाना । ७ म भ कदिच विदिक्ष्वपि ।

भरत०—नेपथ्यभूमौ मित्रस्तु निक्षिप्तो वरुणोऽम्बरे ।
[1]वेदिकारक्षणे वह्नि-[2]र्भाण्डे [3]सर्वे दिवौकसः ॥८५॥

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी अभिनवभारतीमें हमे तीन स्थानोपर पाठ सशोधन की आवश्यकता पडी है। सबसे पहिले 'मण्डपस्य सर्वस्याधिष्ठाता सौम्यप्रकृति सोमप्रधानो योज्य इति दर्शयति चन्द्रमा इति इस प्रकारका पाठ प्रथम सस्करणमे छपा था। इसमें 'सोमप्रधानो' यह पाठ अशुद्ध था। इसके स्थानपर 'सामप्रधानो' पाठ होना चाहिए था। द्वितीय-सस्करणमें इस 'सोमप्रधानो' के स्थानपर 'सोम प्रधानो' पाठ दिया गया है। परन्तु वह भी अशुद्ध है। उसकी भी सङ्गति ठीक नही बनती है। अत इन दोनोके बजाय 'सामप्रधानो' पाठ ही अधिक सङ्गत और उपयुक्त पाठ है। अत हमने सशोधित रूपमें उसीको प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—दूसरे स्थानपर 'अपि च। विदिक्ष्विति' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणो में छपा है किन्तु वह भी अशुद्ध है। मूलकारिकामें 'विदिक्ष्वपि च मारुता'। इस प्रकारका चतुर्थ चरण आया है। इसकी व्याख्या इस स्थलपर की जा रही है। उसीका प्रतीकभाग यहा उद्धृत किया गया है। किन्तु क्रम बदल दिया गया है। इस प्रतीकभागको ठीक ढगसे उद्धृत करनेपर 'विदिक्ष्वपि चेति न केवल पश्चिमोत्तररूपे स्वकोणे यावदन्यास्वपि विदिक्ष्विति' यह पाठ इस स्थल का बनता है। उसीसे अर्थकी सङ्गति ठीक बनती है। अत 'अपि च। विदिक्ष्विति।' के स्थानपर हमने 'विदिक्ष्वपि चेति' यह पाठ दिया है।

'चकाराद् दिक्ष्वपि' इस प्रकारका जो पाठ यहा छपा है। इसका अर्थ यह होता है कि कि चकारसे इस बातको सूचित किया गया है कि दिशाओमें भी मारुतोको नियुक्त किया गया। दिशाओकी रक्षाके लिए तो इससे पहिलेही चरणमें लोकपालास्तथा दिक्षु' लिख कर लोकपालोकी नियुक्ति की जा चुकी है। अत वहा मारुतोकी नियुक्ति अपेक्षित नही है। अत 'चकाराद् दिक्ष्वपि' यह पाठ आपतत अशुद्ध प्रतीत हो सकता है। परन्तु हमारी सम्मतिमे यह पाठ अशुद्ध नही है। हा उसकी सङ्गति लगानेकेलिए हमे कुछ विशेष प्रयास करना होगा। 'विदिक्ष्वपि च मारुता' इससे यह कहा गया है कि उपदिशाओकी रक्षामे मारुतोको नियत किया गया। इन उपदिशाओमें मारुतोकी अपनी एक विशेष उपदिशा नियत है जिसको वायव्यदिशा वायव्यकोण कहा जाता है। यहा सामान्य रूपसे सभी उपदिशाओमें मारुताकी नियुक्ति की जो बात कही गई है उससे विशेष रूपसे उनकी अपनी दिशामे भी नियुक्ति सूचित होती है। किन्तु मूल कारिकामें आए हुए 'विदिक्ष्वपि च मारुता' का यहा कुछ विशेष अभिप्राय है। इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए ही 'चकाराद्दिक्ष्वपि' यह वाक्य लिखा गया है। जैसा कि अभी इस कारिकाकी व्याख्या के अन्तमें लिखा था, मारुतोका सबसे बडा गुण उनका श्रमदोष-निवारकत्व है। नाट्यभवनमे इतने लोगो के एक साथ इकट्ठे होनेपर मण्डपमे गर्मीका होजाना स्वाभाविक है। उसके निवारणकेलिए मण्डपके प्रत्येक भागमे वायुका पहुचना आवश्यक है। इसी लिए दिशाओमें लोकपालोके नियत किए जानेके बाद भी मारुतोकी नियुक्ति की गई यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इसी अभिप्रायमें यहा 'चकाराद् दिक्ष्वपि' लिख देनेकी प्रेरणा की है। अत यह अशुद्ध पाठ नही है।

भरत०—नेपथ्यभूमिमे [रक्षाके लिए] सूर्यको [नियुक्त किया तथा] आकाशमे वरुणको रखा। रङ्गवेदीके रक्षणमे अग्निको तथा वाद्योकी रक्षामे सारे मेघो [दिवौकस मेघ] को [नियुक्त किया] ।८५।

१ भ वेदिका पावक पातु । २ भ भाण्ड सर्वे दिवौकस । ३ सर्वदिवौकस ।

आदित्ये मित्र-शब्द पुंल्लिङ्ग इति। तेन [1]'यद्वार्तिककार आह— 'तदुपलक्षितो नर्तको[2] हि लज्जापरिहारहेतो नपुंसको नेपथ्यगृहे नियोक्तव्य' इति, तदपरामृष्टाभिधानम्। मित्र इति तेजस्विता आहार्योपयोगिनी[3] रत्नादेरुक्ता। 'वेदिका' रङ्गवेदिका। तत्र तीक्ष्णोऽधिष्ठाता इत्यर्थ। 'भाण्ड' इति त्रिपुष्करे सोपकरणे। 'दिवौकसो' मेघा। मन्द्रगम्भीरशब्दसिद्धये इति। एव सर्वत्र [4]सदृशलक्षणा अवान्तरप्रयोजनं उत्प्रेक्ष्यम्। [5]सर्वथा तदलाभे नियमादृष्टमेव ॥८५॥

अभिनव०—आदित्यका वाचक 'मित्र' शब्द पुल्लिङ्ग है। इसलिए जो वार्तिककारने यह कहा है कि—'लज्जाको बचानेकेलिए [अर्थात् नेपथ्य-गृहमें स्त्रियो आदि को लज्जा न मालूम पडे इसकेलिए] उस ['मित्र'-शब्द] से उपलक्षित नपुंसक नटको नेपथ्य-गृहमे रखना चाहिए' यह [कथन] अविचार-पूर्ण कथन है। [क्योंकि यदि यहा सुहृद्-वाचक 'मित्र' प्रयोग किया गया होता तब तो नपुंसकको नियुक्तिकी बात मानी जा सकती थी। किन्तु यहा तो आदित्यवाचक नित्य पुल्लिङ्ग 'मित्र' शब्दका प्रयोग किया गया है। उससे नपुंसकको नियुक्तिकी कल्पना ठीक नहीं है]। 'मित्र' इस [पद] से [सदृश-लक्षणा द्वारा] वेषभूषामे उपयोगिनी रत्नादिकी उज्ज्वलता सूचित की है। 'वेदिका' से रङ्गवेदिका [का ग्रहण होता है]। उसका अधिष्ठाता [वह्निके समान] तीव्र-प्रकृतिका होना चाहिए। यह [वह्निकी नियुक्तिका] अभिप्राय है। 'भाण्ड' से उपकरण-सहित त्रिपुष्कर-वाद्य लेना चाहिए। 'दिवौकस' [का अर्थ] मेघ [है]। [वाद्योकी] मन्द एव गम्भीर शब्दकी सिद्धिकेलिए [मेघोको नियुक्त किया गया] यह अभिप्राय है। इस प्रकार सब जगह सदृशमे लक्षणा अवान्तर प्रयोजन है। और उस [सदृश] का सर्वथा अभाव होनेपर तो नियमादृष्ट ही प्रयोजन है।

इस कारिका और उसके पूर्व तथा पश्चात्की कारिकाओंमें भरतमुनिने नाट्य-मण्डपके विभिन्न भागोंकी रक्षाकेलिए विभिन्न देवताओंकी नियुक्तिकी व्यवस्था की है। [illegible] समय एक बार तो ब्रह्माजीने नाट्यमण्डपके रक्षणकी यह व्यवस्था कर दी है। किन्तु यह सार्वकालिक व्यवस्था तो नहीं है। आगे भी राजा आदि को नाट्य-मण्डप की रक्षाकी व्यवस्था करनी होगी। उस समय इन देवताओंकी नियुक्ति सम्भव न हो सकेगी। इसलिए इस व्यवस्थाको सदृश-लक्षणा-परक माना है। सदृश लक्षणाका अभिप्राय यह है कि भविष्यमें जब राजा आदि मण्डपकी रक्षा-व्यवस्था करें तब जिन देवताओंको यहाँ जिन भागोंकी रक्षाकेलिए नियुक्त किया गया है उनके समान योग्यता या उग्रतादि गुणों वाले व्यक्तियोंको ही उन-उन स्थानकी रक्षाकेलिए नियुक्त करें। क्योंकि उस-उस स्थानकी रक्षाकेलिए उसी प्रकृतिके व्यक्तियोंका उपयोग हो सकता है। भिन्न प्रकृतिके व्यक्ति उन स्थानोंकी उचित व्यवस्था नहीं कर सकेंगे।

---

१. म भ. यद्वार्तिक- कारो। ब [illegible] यद्वार्तिककारोक्त। २. ब भ नर्तको हि। नर्तकोऽपि।
३. ब आहार्योपयोगी। भ आहार्योपयोगिन्यः। ४. ब दृश्यन्ति सदृशोपलक्षणान्तर्गं प्रयोजन- [illegible]। ५. म भ. सर्वत्र तदभावे।

रक्षणव्यवस्थाका दूसरा प्रयोजन—

इस प्रकार सदृश-लक्षणा द्वारा विशिष्ट गुणो वाले व्यक्तियोंकी नियुक्ति इस व्यवस्थासे सूचित की है। इस सदृश-लक्षणाके अतिरिक्त 'नियमादृष्ट' को भी ग्रन्थकारने रक्षणव्यवस्थाका दूसरा प्रयोजन बतलाया है। 'सर्वथा तदलाभे नियमादृष्टमेव' जहाँ सदृश-लक्षणासम्भव ही न हो वहाँ नियमादृष्टको ही इस रक्षण-व्यवस्थाका प्रयोजन मानना चाहिए। यह ग्रन्थकारका मत है। इस 'नियमादृष्ट' पदको तनिक समझनेकी आवश्यकता है। यह पद मीमासा-दर्शनका पारिभाषिक शब्द है। वहाँ १ सामान्य विधि, २ नियमविधि और ३ परिसख्याविधि ये विधिके तीन भेद माने गए हैं। इनका लक्षण मीमासा-ग्रन्थोमें निम्न प्रकार किया गया है—

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियम. पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसख्येति गीयते॥

अर्थात् जो कर्म सर्वथा अप्राप्त हो उसका विधान करने वाला विधि, सामान्यत विधि नामसे कहा जाता है। जैसे 'स्वर्गकाम यजेत' यह सामान्य विधि है। क्योंकि किसी भी अन्य प्रमाणसे प्राप्त न हो सकनेसे अत्यन्त अप्राप्त यागका इसमें विधान किया गया है। अत यह सामान्य विधि है।

जहाँ एक पक्षमें प्राप्ति हो और एक पक्षमें प्राप्ति न हो वहा अप्राप्त पक्षमें कार्यका विधान करने वाला विधि 'नियमविधि' कहा जाता है। जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' यह नियमविधिका उदाहरण है। यज्ञमें आहुति देनेके लिए 'पुरोडाश' नामक द्रव्य तैयार किया जाता है। यह 'पुरोडाश' चावलोसे तैयार होता है। उसकेलिए पहिले व्रीहीन प्रोक्षति' इस विधिके अनुसार धानोको जलसे सिक्त किया जाता है। फिर उसके बाद व्रीहीनवहन्ति' इस विधिके अनुसार उनको कूट कर चावल निकाला जाता है। इसी प्रसङ्गमें व्रीहीनवहन्ति' यह वाक्य आया है। अवघात अर्थात् कूटनेका प्रयोजन धानोका वितुषीकरण अर्थात् उनके छिलकेको अलग कर देना है। यह वितुषीकरण कूटनेके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे नख विदलनद्वारा भी हो सकता है। अर्थात् जैसे खरबूजेके बीजोको नाखूनोसे छीला जाता है इसी प्रकार धानको भी नखविदलनद्वारा तुषरहित किया जा सकता है। इसलिए धानोके वितुषीकरणके'लए अनेक साधनोका आश्रय लिया जा सकता है। उस दशामें जब नखविदलनद्वारा वितुषीकरण किया जायगा तब अवघातकी प्राप्ति नही रहेगी। इसीका नाम पाक्षिक प्राप्ति है। पाक्षिक प्राप्तिके होनेपर जब अवघातकी प्राप्ति न हो उस समय उसकी प्राप्ति कराने वाला विधि 'नियमविधि' कहलाता है। यहाँ व्रीहीनवहन्ति' यह नियमविधि' है। अर्थात् यदि कोई अवघातको छोड कर नखविदलनद्वारा व्रीहियो अर्थात् धानोका वितुषीकरण करने लगेगा तो तुरन्त यह 'नियमविधि' उपस्थित होकर उस समय अप्राप्त अवघातका विधान करेगा। अर्थात् अवघातद्वारा ही वितुषीकरण करना चाहिए यह नियम लागू हो जायगा। उसका अभिप्राय यह होगा कि अवघातद्वारा वितुषीकरण करनेमे ही उससे प्राप्त होने वाला अदृष्ट या पुण्य उत्पन्न होगा। अन्यथा नही। इसका नाम 'नियमादृष्ट' है।

इसी प्रकार प्रस्तुत मण्डप-रक्षणके प्रसङ्गमे भी जहा सदृश लक्षणा सम्भव न हो वहाँ नियमादृष्टका ही इस व्यवस्थाका प्रयोजन मानना होगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सामान्यत जहा जिस प्रकृतिके देवताको मण्डपके जिस भागकी रक्षाके लिए नियुक्त किया गया है। उसी प्रकृतिके मनुष्योको अभिनयमें उन-उन स्थानोकी रक्षाकेलिए नियत करना चाहिए। यह इस नियुक्तिका अभिप्राय है। किन्तु यदि वहाँ सदृश-लक्षणा सम्भव न हो सके तो उस स्थानपर

भरत०—वर्णाश्चत्वार [1]एवात्र स्तम्भेषु विनियोजिता. ।
आदित्याश्चैव रुद्राश्च [2]स्थिताः स्तम्भान्तरेष्वथ ॥८६॥

वर्णा इति तदधिष्ठातारो देवताविशेषा । स्तम्भान्तरेष्विति [3]वर्णस्तम्भचतुष्कादतिरिक्तेषु नैतेषु स्तम्भेष्वित्यर्थ ॥८६॥

नियमादृष्टको ही प्रयोजन समझना चाहिए । अर्थात् उस-उस देवता विशेषके नियुक्त करनेसे ही उस-उस स्थलका अपेक्षित अदृष्ट या पुण्य उत्पन्न हो सकता है। इसलिए उन-उन स्थानोंपर उन-उन विशेष देवताओंकी नियुक्ति की गई है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी बड़ोदावाले पूर्व-सस्करणोंमें अशुद्ध छपा है। इसमें ग्रन्थकारने वार्तिककारके मतका खण्डन किया है । किन्तु वार्तिककारके मतको जिस वाक्य द्वारा प्रस्तुत किया गया है उसका पाठ बड़ौदा वाले सस्करणोंमें अशुद्ध छपा है । 'तेन यद्वार्तिककारी तदुपलक्षितो नर्तकी हि लज्जापरिहारहेतो. नपु सको नेपथ्यगृहे इति' । इस पाठमें 'वार्तिककारी' और 'नर्तकी' इन दोनो पदोंका पाठ अशुद्ध है । यहाँ पर 'वार्तिककारी' के स्थानपर 'वार्तिककारीय' और 'नर्तकी हि' के स्थान पर 'नर्तकीभि' ये पाठान्तर भी द्वितीय सस्करण प्रस्तुत किए गए हैं । परन्तु वे भी ठीक नही बन रहे हैं । 'वार्तिककारीय' की कुछ सङ्गति लगा भी ली जाय तो भी 'नर्तकीभि' पाठकी सङ्गति नही लगती है । वस्तुत 'यद्वार्तिककारी' के स्थानपर 'यद्वार्तिककार आह' और 'नर्तकी हि' के स्थानपर 'नर्तको हि' पाठ होना चाहिए । इसके अतिरिक्त 'नेपथ्यगृहे' शब्दके बाद 'नियोक्तव्य.' इतना पाठ और होना चाहिए । इतना सशोधन कर देनेसे यह पाठ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है । अत. हमने सशोधित रूपमें ही पाठ प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमें साधारण-सी दो अशुद्धियाँ और भी पूर्व-सस्करणोंमें पाई जाती हैं । 'मित्र इति हि तेजस्विता आहार्योपयोगी रत्नादेरस्ता' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोंमें छपा है । यहाँ 'आहार्योपयोगी' के स्थानपर 'आहार्योपयोगिनी' पाठ होना चाहिए । क्योंकि यह स्त्रीलिङ्ग 'तेजस्विता' पदका विशेषण है। अथवा यदि 'आहार्योपयोगी पदको तेजस्विता का विशेषण न मान कर रत्नादिके साथ उसका सम्बन्ध किया जाय तो 'आहार्योपयोगिरत्नादे' पाठ होना चाहिए था । इसी प्रकार 'सहजनक्षत्रान्तरप्रयोजनम्' के स्थानपर 'सहजनक्षत्रान्तर-प्रयोजनम्' पाठ अधिक उपयुक्त है । अत हमने सशोधित रूप इन्ही पाठोंको प्रस्तुत किया है ॥८५॥

भरत०—इसके बाद चारों वर्णों [के अधिष्ठातृ-देवताओं] को स्तम्भों [की रक्षा] में नियुक्त किया और अन्य स्तम्भोंमे आदित्य तथा रुद्रोंको लगाया ॥८६॥

अभिनव०—'वर्णा' इससे उनके अधिष्ठाता देवताओंका ग्रहण होता है । अन्य स्तम्भोंमे इसका अभिप्राय चारों वर्णोंके स्तम्भोंके अतिरिक्त अन्य स्तम्भोंसे है । इनमे [अर्थात् चारो वर्णोंके] स्तम्भोंमे [आदित्यादि] नहीं [नियुक्त किए गए] । यह अभिप्राय है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'वर्णस्तम्भचतुष्कादतिरिक्तेषु' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोंमें छपा था । परन्तु वह अशुद्ध था । उसके स्थानपर 'वर्णस्तम्भचतुष्कादतिरिक्तेषु' पाठ होना चाहिए । अत. हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥८६॥

---

१ प. ब एवात्र । २. प. ब स स्थिता । न गता । ३ ब. वर्णस्तम्भचतुष्कादतिरिक्तेषु न । नान्येषु ।

भरत०—[1]धारणीष्वथ भूतानि शालास्वप्सरसस्तथा ।
[2]सर्ववेश्मसु यक्षिण्यो महीपृष्ठे महोदधिः ॥८७॥

'धारणीष्विति स्तम्भद्वयमध्याश्मनि । शालास्विति द्वितीयभूमिसन्निवेशादिति भाव । सर्ववेश्मस्विति गवाक्षनेपथ्यगृहादावित्यर्थ ॥ ८७ ॥

भरत०—धन्नियो [अर्थात् दो स्तम्भोके ऊपर रखे हुए पत्थरो] पर भूत स्थित हुए और [शालाओ अर्थात् दूसरी मजिलपर बने हुए] ऊपरके अट्टोमे अप्सराए [रक्षार्थ] स्थित हुई । [शेष] सारे स्थानोमे यक्षिणिया स्थित हुई तथा भूमिके फर्शपर समुद्र [रक्षाकेलिए नियुक्त हुआ] ॥८७॥

अभिनव०—'धारणियोपर' अर्थात् दो खम्भोके बीचमे रख गए पत्थरो [सरदलो] पर । 'शालाओमे' [उनके] दूसरी मजिलमे स्थित होनेसे [व्योम-विहारिणी अप्सराओको नियुक्त किया गया] । 'सब घरोमे' इसका खिडकियो नेपथ्यगृह इत्यादिमे यह आशय है ।

पाठसमीक्षा—इस ८७वी कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ भी पूर्व-सस्करणोमें बडा ग्रस्त-व्यस्त-सा छपा है । कारिकाके 'धारणीषु' 'शालासु' तथा 'सर्ववेश्मसु' इन तीनो पदोकी व्याख्या इस अनुच्छेदमे की गई है । 'धारणी' का अर्थ सरदल होता है । दो खम्भोके ऊपर बीचके भागको पाटने के लिए जो पत्थर आदि डाला जाता है उसको 'धारणी' या सरदल' कहा जाता है । यहाँ ग्रन्थकारने उसकी व्याख्या 'स्तम्भद्वयमध्याश्मनि' की है । जिसका अर्थ दो खम्भोके बीचका पत्थर होता है । किन्तु इसका जो पाठ पूर्व सस्करणोमे छपा है वह एक दम अशुद्ध है । 'शालास्विति स्तम्भद्वयमष्टवेश्मनि' यह पाठ पूर्व सस्करणोमें छपा है किन्तु इसका तो कोई अर्थ समझमें नही आता है । इसमे दो पद आए है और वे दोनो ही अशुद्ध है । पहिली बात तो यह है कि यह 'शालासु पदकी नही अपितु धारणीषु' पदकी व्याख्या दी जा रही है । कारिकामें सबसे पहिले 'धारणीषु' पद आया है इसलिए सबसे पहिले 'धारणीषु' पद की ही व्याख्या देना उचित है । और दी भी उसीकी व्याख्या है । किन्तु लिपिकारने प्रमादवश धारणीष्विति' के स्थानपर 'शालास्विति' लिख दिया है । यह पहिली अशुद्धि है । फिर इस 'धारणीष्विति' की व्याख्या 'स्तम्भद्वयमध्याश्मनि' होनी चाहिए थी । किन्तु उसके स्थानपर 'शालास्विति स्तम्भद्वयमष्टवेश्मनि' पाठ दिया गया है । इस पाठका कोई भी अर्थ नही निकलता है । इसको सशोधन करके 'धारणीष्विति स्तम्भद्वयमध्याश्मनि' पाठ कर देनेसे सब कुछ हस्तामलकवत स्पष्ट हो जाता है । अत हमने यही पाठ प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—मूल कारिकामें धारणियोके बाद शालाओमें अप्सराओकी नियुक्तिकी चर्चा की गई है । शालाओमें अप्सराओकी नियुक्तिका ग्रन्थकारने यह कारण माना है कि शालाए द्वितीय भूमि या दूसरी मजिलपर स्थित होती है । उन गगनचुम्बिनी अट्टालिकाओ या शालाओ की रक्षाकेलिए व्योम-विहारिणी अप्सराओकी नियुक्ति ही सबसे अधिक उपयुक्त हो सकती है । इसलिए शालाओकी रक्षार्थ अप्सराओको नियत किया गया है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । किन्तु इस स्थलकी अभिनवभारतीका जो कुछ पाठ पूर्व सस्करणोमें मुद्रित हुआ है उससे इस आशयका प्राप्त होना बडा कठिन है । उसमे इस अर्थकी झलक तो दिखलाई देती है किन्तु सन्देह स्पष्ट रूपसे यह बात प नही बनता है । इसका [illegible]

---

१ ग. धारणीषु स्थिता भूता । २ न. न. सर्वेषु वेश्मसु । न. न. सर्वेर्वेश्मगृहेषु [illegible] । सर्वं स्वसु । ३ व. शालास्विति । स्तम्भद्वयमष्टवेश्मनि गवाक्षनेपथ्यगृहादि द्वितीयभूमि सन्निवेशादिति ।

भरत०—द्वारशालानियुक्तौ तु कृतान्तः काल एव च ।
स्थापितौ [1]द्वारपात्रेषु [2]नागमुख्यौ महाबलौ ॥८८॥

नागमुख्याविति अनन्तगुलिकौ । [3]द्वारपात्रं कवाटात्मकम् । द्वारबहुत्वाच्च बहुवचनम् ॥८८॥

दोष ही है। व्याख्यामें 'द्वितीयभूमिसन्निवेशात्' पद आया है। यही पद शालाओंमें अप्सराओंकी नियुक्तिका कारण बतला रहा है। शालाओंकी रक्षाकेलिए अप्सराओंकी नियुक्ति इसलिए की गई क्योंकि ये शालाएं द्वितीय भूमि, दूसरी मंजिलपर बनती हैं। इस कारणको समझ लेनेपर स्पष्ट हो जाता है कि यह 'शालासु' पदकी व्याख्या रूपमें लिखा गया है। किन्तु पूर्व संस्करणोंमें 'शालासु' प्रतीकभाग यहां नहीं दिया गया है इसलिए इसका कुछ अर्थ समझमें नहीं आता है। उसके स्पष्टीकरणके लिए 'शालासु' प्रतीकका यहांपर होना आवश्यक है। अतः हमने 'शालास्विति द्वितीयभूमिसन्निवेशादिति भाव.' यह संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा —कारिकाका तृतीय चरण 'सर्ववेश्मसु यक्षिण्य' यह दिया गया है। इसकी व्याख्या भी यहां की गई है किन्तु उसका पाठ भी गड़बड़ है। पूर्व संस्करणोंमें मुद्रित पाठमेंसे ऊपरके दो पदोंके व्याख्याभागको निकाल देनेके बाद इस कारिकाकी व्याख्यामें केवल 'गवाक्षनेपथ्यगृह' इतना पाठ शेष रह जाता है। किन्तु इस पाठसे कोई अर्थ नहीं निकलता है। और न यह वाक्य पूर्ण होता है। पढ़ने वालेको इतना आभास अवश्य मिल सकता है कि इसमें गवाक्ष नेपथ्यगृह आदिकी रक्षाका सम्बन्ध यदाचित् यक्षिणियोंकी नियुक्तिसे है। और बात है भी यही। किन्तु जितना पाठ हमारे सामने आता है उससे न तो पूर्ण वाक्य बनता है और न यह अर्थ निकलता है। वाक्य और अर्थ दोनोंको पूरा करनेके लिए इसके पहिले 'सर्ववेश्मसु' इस प्रतीकभागका होना और इसके अन्तमें विभक्तिका होना आवश्यक है। बिना विभक्तिके तो 'गवाक्षनेपथ्यगृह' इतने पदका कोई अर्थ नहीं हो सकता है। इसलिए यहांपर वाक्योंको पूरा करनेपर 'सर्ववेश्मस्विति गवाक्षनेपथ्यगृहादिष्वित्यर्थः.' इस प्रकारका पाठ बनता है। और इससे अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार इस कारिकाकी केवल एक पंक्तिकी व्याख्या है किन्तु पाठ-दोषके कारण वह अत्यन्त दुर्ज्ञेय बन गई है।

'शालास्विति । स्तम्भद्वयमपृवेश्मनि गवाक्षनेपथ्यगृहद्वितीयभूमिसन्निवेशादिति'।

यह पूर्व-संस्करणोंमें मुद्रित पाठ है। जिसका कोई अर्थ नहीं बनता है। इसके स्थानपर हमारा संशोधित पाठ ऊपर दिया हुआ है। जिससे सारा विषय हस्तामलकवत स्पष्ट हो जाता है। अतः हमने संशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥८७॥

भरत०—द्वारशाला [ड्योढ़ी] में यमराज तथा कालको नियुक्त किया तथा द्वारपात्र [अर्थात् किवाड़ोंकी रक्षा] में महाबली [शेषनाग तथा गुलिक नामक] नागराज नियुक्त किए ॥८८॥

अभिनव०—दो प्रधान नागोंसे अभिप्राय 'शेषनाग' तथा 'गुलिक' से है। द्वारपात्र किवाड़ रूप है। अनेक द्वारोंके होनेसे [द्वारपात्रेषु यह] बहुवचन [का प्रयोग किया गया] है।

'द्वारशाला' और 'द्वार' दोनों पर्याय वाचक भी हो सकते हैं। पर यहां इनका प्रयोग भिन्न अर्थोंमें किया गया है। 'द्वार'का अर्थ मकान है। 'द्वारशाला' का दरवाजा ॥८८॥

---

१ न. ट द्वारपालै मु ट प भ द्वारपालौ मु। द्वारपत्रेषु। २. ट भ नागमुख्यौ। ३ द्वारपत्र।

भरत०—देहल्यां यमदण्डस्तु[1] शूलं तस्योपरि स्थितम्[2] ।
द्वारपालौ स्थितौ चोभौ [3]नियतिर्मृत्युरेव च ॥८६॥

देहल्यामिति द्वाराधस्तनकाष्ठे । [4]तस्य इत्येतेन प्रक्रान्तद्वारमेव परामृष्टम् । तेनोर्ध्वकाष्ठे [5]उत्तराङ्गशब्दवाच्ये शूलमिति त्रिशूलमित्यर्थः ॥८६॥

भरत०—पार्श्वे च रङ्गपीठस्य महेन्द्रः स्थितवान् स्वयम् ।
स्थापिता मत्तवारण्यां विद्युद् दैत्यनिषूदनी ॥६०॥

पार्श्वे स्वयमिति राजादेस्तत्स्थानमित्युक्तम् । चकारात् स्वदिशि अंशेनावस्थानमनुस्मृतम् । विद्युदिति वज्रायुधरूपा ॥६०॥

भरत०—स्तम्भेषु मत्तवारण्याः स्थापिताः [6]परिपालने ।
[7]भूत-यक्ष-पिशाचाश्च गुह्यकाश्च महाबलाः ॥६१॥

भरत०—[द्वारकी] देहलीपर यमदण्डको और उस [द्वार] के ऊपर त्रिशूलको स्थापित किया । नियति [अर्थात् भाग्य] एव मृत्यु दोनोको द्वारपाल बनाया ॥८६॥

अभिनव०—देहलीपर इसका अर्थ दरवाजेकी नीचे की लकडीपर है । 'तस्य' इससे प्रक्रान्त द्वारका ही ग्रहण होता है । इसलिए [द्वारके] उत्तराङ्ग कहलाने वाली ऊपरकी लकडीपर शूल अर्थात् त्रिशूल रख गया यह अभिप्राय है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-सस्करणोमें दो जगह अशुद्ध छपा था । पहिली जगह 'तस्येति शूलमित्येतेन' इस प्रकारका पाठ था । इसमें 'शूलमिति' इतना पाठ यहा अस्थानमे आ गया है उसे अगली पक्तिमें 'त्रिशूल' के पहिले होना चाहिए था । 'तस्य' पदसे प्रक्रान्त द्वारका ग्रहण होता है । अत यहा 'तस्य इत्येतेन प्रक्रान्तद्वारमेव परामृष्टम्' पाठ हमने दिया है । और 'शूलमिति' को अगली पक्तिमे 'त्रिशूल' से पहिले रखकर 'शूलमिति त्रिशूलमित्यर्थ' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए । अत सशोधित पाठ हमने इसी रूपमें दिया है । 'उत्सङ्गशब्दवाच्ये' के स्थानपर 'उत्तराङ्गशब्दवाच्ये' पाठ होना चाहिए अत हमने वही पाठ दिया है ॥८६॥

भरत०—और रङ्गपीठकी बगलमे स्वय महेन्द्र बैठे तथा मत्तवारणी [बरामदा] मे दैत्योका नाश करने वाली बिजलीको स्थापित किया ।६०।

अभिनव०—[रङ्गपीठके] बगलमे स्वय [इन्द्र बैठे] इस [कथन] से वह [रङ्गपीठका पार्श्व-भाग] राजा आदि [के बैठने] का स्थान है यह बात सूचित की है । ['पार्श्वे च रङ्गपीठस्य' इस चरणमें जो चकार आया है उस] चकारसे [महेन्द्र का] अपनी दिशा [पूर्व] मे भी अश रूपमे अवस्थान [उपस्थिति] सूचित किया । विद्युत [इस पदका अर्थ] वज्रायुधरूप है ॥ ६० ॥

भरत०—मत्तवारणी [बरामदा] के [चारो] खम्भोपर उनकी रक्षाकेलिए भूत, यक्ष पिशाच तथा गुह्यक [इन चारो] महाबलियोको नियत किया ।६१।

---

१ न यमदण्डश्च । २ ट म चोपरि सुस्थितम् । ३ ग य निऋतिर्मृत्युरेव च । ४ ष तस्येति शूलमित्येतेन प्रक्रान्तद्वारमेव परामृष्टम् । ५. ष तेनोर्ध्वकाष्ठे उत्सङ्गशब्दवाच्ये त्रिशूलमित्यर्थ । ६ म द परिरक्षणे । ७ म भूता यक्षा ।

स्तम्भेष्वपि चतुर्षु यथाक्रम [1]भूतादय. । ते च नाट्यतत्त्वविदोऽत एव विघ्नै. सह [2]न मिलिता इति द्रष्टव्यम् । एतेन सिद्धिविघातकाः भेदाख्येनाप्युपायेन दुर्बलीकर्तव्या इति सूचितम् ॥६१॥

[प्रक्षिप्त०—जर्जरे [3]तु विनिक्षिप्त वज्र दैत्यनिबर्हणम् ।
[4]तत्पर्वसु विनिक्षिप्ता सुरेन्द्रा ह्यमितौजस. ॥ ६२ ॥
[5]शिर पर्वस्थितो ब्रह्मा द्वितीये शङ्करस्तथा ।
तृतीये च स्थितो [6]विष्णुश्चतुर्थे स्कन्द एव च ॥ ६३ ॥
पञ्चमे च महानागा शेष-वासुकि-तक्षका. ।
एव विघ्नविनाशाय स्थापिता जर्जरे सुरा [7] ॥ ६४ ॥]

अभिनव०—[मत्तवारणीके चार स्तम्भ होते हैं यह बात आगे लिखेंगे उन] चारों ही स्तम्भोंपर क्रमानुसार भूत आदि [नियत किए गए। अर्थात् एक स्तम्भपर भूत, दूसरेपर यक्ष, तीसरेपर पिशाच तथा चौथेपर गुह्यकोंको नियत किया गया]। वे [भूत आदि जो इनकी रक्षापर नियत किए थे] नाट्यके तत्त्वको समझने वाले थे इसलिए विघ्नोंके साथ नहीं मिल सकते थे यह समझना चाहिए। इससे यह बात भी सूचित की है कि सिद्धिमें बाधा उपस्थित करने वालोंको भेद नामक उपायसे भी दुर्बल कर देना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें दो जगह अशुद्ध पाठ अधिक छप गया था। पहिलो 'भूतादय' के स्थानपर 'तद् भूतादय.' पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा गया था। यहाँ 'तद्' पद अनावश्यक है। इसी प्रकार अगली पंक्तिमें 'विघ्नै सह येनयेन मिलिता.' यह पाठ छपा था। इसमें 'येनयेन' पद अनावश्यक थे। हमने उनको अनावश्यक मान कर अलग कर दिया है। और 'येनयेन' के स्थानपर केवल 'न' पाठ, 'मिलिताः' के पहिले होना चाहिए। उसको समाविष्ट करके संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है। द्वितीय संस्करणमें 'ये (ते) नयेन' पाठ रखा गया है। किन्तु उसकी भी कोई सङ्गति नहीं लगती है। अत. हमने 'विघ्नै सह न मिलिता' पाठ रखा है ॥ ६१ ॥

प्रक्षिप्त—जर्जर [पहिले कहे हुए इन्द्र-ध्वज] पर [रक्षाके लिए] दैत्योंका नाश करने वाला वज्र नियत किया। और उसकी गाठोंपर अमित पराक्रम वाले देवोंको [निम्नाङ्कित प्रकार से] नियत किया। ६२।

प्रक्षिप्त—सबसे ऊपरकी गांठपर ब्रह्माजी स्थित हुए। और दूसरी गांठपर शङ्कर स्थित हुए। तीसरे पर्व [बांसकी गांठ] पर विष्णुजी तथा चौथेपर कुमार कार्तिकेय स्थित हुए। ६३।

प्रक्षिप्त—पांचवें पर्व [ध्वज दण्डकी गांठ] पर शेष वासुकि तथा तक्षक [नामके] महानाग स्थित हुए। इस प्रकार विघ्नोंके नाश करनेके लिए जर्जर [के विभिन्न भागों] पर देवताओं को नियत किया गया। ६४।

---

1. ब. तद् भूतादय. । 2. ब. येनयेन ।
3. ड. म. पर्व निक्षिप्तम् । 4. न. सप्तमो भागो । म. तत्पर्वसु च निक्षिप्ताः ।
5. म. शिरो रक्षन् स्थितो ब्रह्मा हरः पर्वण्यनन्तरे । ब. शिर पार्श्वे ।
6. भ. म. तृतीये भगवान् विष्णुः । 7. ब. जर्जरेश्वरा. ।

रङ्गपीठस्य मध्ये तु स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठित ।
इष्ट्यर्थं रङ्गमध्येऽत क्रियते पुष्पमोक्षणम् ॥ ९५ ॥

प्रतिष्ठित इति सदैव सन्निहितो वास्तुमध्ये इत्यर्थ । कवेश्च सन्निधान सूचितम् ॥ ९५ ॥

भरत०—पातालवासिनो ये च यक्ष-गुह्यकपन्नगा ।
अधस्ताद् रङ्गपीठस्य रक्षणे ते नियोजिताः ॥ ९६ ॥

अधस्तादिति—येन सुरङ्गाखननादि विघ्नकारणं निवार्यत इत्यर्थ ॥ ९६ ॥

प्रधानपात्राणि पृथग् रक्षणीयानीत्याह—'नायकमित्यादि' ।

भरत०—नायक रक्षतीन्द्रस्त नायिकां तु सरस्वती ।
विदूषकमथोङ्कारः शेषास्तु प्रकृतीर्हरः ॥९७॥

हास्यशृङ्गारागन्त्वाद् विदूषकमित्युक्तम् । अत एव दशरूपकप्रयोगसूचनमेतत् । समवकारे हि विदूषकाभावात् । हर इति बहुमूर्तिप्रमथत्वात्' ॥९७॥

भरत०—और रङ्गपीठके बीचमे [भी] स्वय ब्रह्माजी स्थित हुए। इसीलिए पूजाके लिए रङ्गपीठके मध्यभागमे पुष्प चढाए जाते हैं। ९५।

अभिनव०—प्रतिष्ठित हुए इससे [यह अर्थ है कि ब्रह्माजी] भवनके मध्यमे सदैव उपस्थित रहते हैं। [इससे नाट्यभवनमे] कविकी उपस्थिति [होनी चाहिए यह बात भी] सूचित की है ॥९५॥

भरत०—और जो पातालमे रहने वाले यक्ष, गुह्यक तथा नाग लोग है वे नीचेकी ओरसे रङ्गपीठकी रक्षाकेलिए नियत किए गए। ९६।

अभिनव०—'अधस्तात्' इसका, जिससे सुरङ्ग खोदने आदि रूप विघ्न-कारणो को बचाया जा सके, यह भाव है ॥९६॥

अभिनव०—प्रधान पात्रोकी अलगसे [विशेष रूपसे] रक्षा [की व्यवस्था] होनी चाहिए इसलिए [उनकी जो विशेष व्यवस्था की गई उसको आगे] 'नायकम्' इत्यादि [श्लोक] मे कहते है।

भरत०—इन्द्र नायककी रक्षा करते हैं और सरस्वती नायिकाकी। विदूषककी ओङ्कार तथा शेष लोगोकी शिवजी रक्षा करते है। ९७।

अभिनव०—हास्य तथा शृङ्गार [दोनो] मे सहायक होनेके कारण विदूषक [की रक्षा करते है] यह कहा है। इसलिए यह दशरूपकके प्रयोगको सूचित करता है। क्योंकि समवकार [आदि] मे विदूषक नहीं होता है। [शेष सब लोगोकी रक्षा] शिव जी [करते है] यह [शिवजीकी पृथिव्यादि रूप पूर्वोक्त आठ] अनेक मूर्तिया तथा गण [शिवजी के अनेक सेवक प्रमथगण] होनेसे कहा गया है [बहुत रूप तथा बहुतसे गण होनेके कारण वे अन्य सबकी रक्षा कर सकते हैं यह अभिप्राय है]।

१ स द्वाऽऽऽध्द। २ ब दृष्ट्यर्थ। ३ वस्ता। ३ य तु। ४ बहुमूर्तिप्रथमत्वात्।

भरत०—यान्येतानि नियुक्तानि दैवतानीह रक्षणे।
'एतान्येवाधिदेवानि भविष्यन्तीत्युवाच सः ॥९८॥

देवता एव दैवतम् ॥९८॥

अथ 'नाट्यघाततत्त्व-निरूपणार्थमुपक्रमते 'एतस्मिन्निति'—

भरत०—एतस्मिन्नन्तरे देवैः सर्वैरुक्तः पितामहः।
साम्ना तावदिमे विघ्नाः स्थाप्यन्तां वचसा त्वया ॥९९॥

'नायकस्य सामाङ्गीकरोति दुर्जन इति पूर्वं रक्षाकरणम् ॥९९॥

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें पूर्वसंस्करणोंमें 'बहुभूतिप्रथमत्वात्' पाठ छपा था। परन्तु उसमें 'प्रथम' पदकी ठीक सङ्गति नहीं लगती है। वहाँ 'प्रमथ' के स्थानपर 'प्रथम' छप गया था। इसलिए हमने उसको ठीक करके 'प्रमथ' कर दिया है। 'प्रमथ' का अर्थ शिव जीके गण या सेवक होता है। उनके द्वारा वे शेष सबकी रक्षा करनेमें समर्थ हो सकते हैं ॥९७॥

भरत०— उन [ब्रह्माजी] ने यह भी कहा कि जिन देवताओंको यहाँ रक्षामें नियुक्त किया गया है वे ही [उस-उस भागके] अधिष्ठातृ-देवता भी होंगे। ९८।

अभिनव०—देवता ही 'दैवत' हैं [अर्थात् देवता शब्दसे स्वार्थमें अण्-प्रत्यय करके 'दैवत' शब्दका प्रयोग यहां किया गया है] ॥ ९८ ॥

अभिनव०—[दैत्यगण नाट्यका विनाश करनेपर क्यों उतारू हैं, इस] नाट्य के विनाशके रहस्यका निरूपण करनेकेलिए 'एतस्मिन्' इत्यादि [श्लोक] से प्रारम्भ करते हैं।

भरत०—इसी बीचमें सब देवताओंने [मिल कर] ब्रह्माजीसे प्रार्थना की कि पहिले आप शान्तिसे केवल वचन द्वारा इन विघ्नोंको रोकनेका यत्न करें।९९।

अभिनव०—[क्योंकि] नायकके सामको दुर्जन नहीं मानता है इस लिए [शान्तिकी चर्चा करनेके] पहिले रक्षाका विधान [कर अपने पक्षको दृढ बना लिया गया] है।

पाठसमीक्षा—इस श्लोककी अवतरणिकामें 'नाट्यतत्त्वघातनिरूपणार्थमुपक्रमते' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था। परन्तु वह ठीक प्रतीत नहीं होता है। उसमें 'तत्त्व' तथा 'घात' इन दो शब्दोंका क्रम बदल गया है। 'नाट्यतत्त्वघात' के स्थानपर 'नाट्यघाततत्त्व' होना चाहिए। अर्थात् दैत्य लोग नाट्यके विनाश पर क्यों उतारू हैं इसके तत्त्व या रहस्यके निरूपणके लिए आगेका प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। यह पाठ अधिक सङ्गत है। द्वितीय संस्करणमें 'अथ नाट्य-तत्त्वघाते (विनाशे) च [illegible]' इस प्रकारका संशोधित पाठ दिया गया है। किन्तु उसमें तो पाठकी स्थितिको और भी अधिक बिगाड़ दिया है। प्रथम संस्करणके पाठका अर्थ तो लग जाता था, पर इस द्वितीय संस्करणके पाठका तो कुछ अर्थ ही नहीं लगता है। अतः उसके स्थानपर संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इसी प्रकार इस श्लोककी व्याख्यामें 'नायकस्य सामाङ्गीकरोति दुर्जन' इस प्रकारका पाठ पूर्व संस्करणोंमें छपा है। परन्तु इसमें भी 'नायकस्य' के स्थानपर '[illegible]' पाठ अधिक सङ्गत प्रतीत होता है क्योंकि [illegible] कोई नहीं सूझता है। [illegible]

१. ग घ. एतान्यधिदैवानि [illegible]। २. ग नाट्यतत्त्वघातनिरू[illegible]। ३. ग [illegible]।

सामादिप्रयोगे तावच्छब्दसूचित क्रम स्फुटयति 'पूर्वं साम' इत्यादि—

भरत०—पूर्वं साम प्रयोक्तव्यं द्वितीयं दानमेव च।
तयोरुपरि भेदस्तु ततो दण्ड प्रयुज्यते ॥१००॥

[1]तयोरुक्तद्वयोरिति। तत इति सर्वोपायप्रतिहताविति यावत्।

अभिप्राय है। अशक्त तो सदा शातिका ही अवलम्बन करता है उसकी बात यदि दुर्जन मान ले तो वह अन्याय ही क्यो करे। अत 'अशक्तस्य सामाङ्गीकरोति' यह पाठ अशुद्ध है। इसलिए हमने यहा भी उसके स्थानपर 'नाशक्तस्य' यह सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है ॥९९॥

साम दान आदिके प्रयोगका क्रम—

अभिनव०—[पूर्व श्लोकमे आए हुए] 'तावत्' शब्दसे सूचित [साम आदिके प्रयोगके] क्रमको 'पूर्व साम' इत्यादि [श्लोक] से कहते है—

भरत०—सबसे पहिले सामका प्रयोग करना चाहिए। उसके बाद [दूसरे नम्बरपर] दानका प्रयोग होना चाहिए। उन दोनोके बाद भेदका और सबसे अन्तमे दण्डका प्रयोग किया जाना चाहिए ।१००।

अभिनव०—'तयो' उन दोनोके बाद अर्थात् पहले कहे हुए [साम तथा दान दोनो] के बाद। 'तत' 'उसके बाद' अर्थात् सब उपायोके व्यर्थ हो जानेपर [दण्डका प्रयोग करना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ पूर्व-सस्करणोमें बडा अशुद्ध छपा था। उसका कोई अर्थ समझमें नही आता है। उसका मुख्य दोष उसके वाक्य विन्यासके क्रमका अस्त-व्यस्त हो जाना है। उसका प्रभाव अगले दो श्लोकोकी व्याख्यापर भी पडता है। क्योकि उस पाठके अनुसार इस श्लोककी व्याख्यामें अगले दो श्लोकोकी अवतरणिकाए मिलाकर अस्थानमें अनुचित रूपसे छाप दी गई हैं। पूर्व-सस्करणोमें छपा हुआ पाठ इस प्रकार है—

'इत्युक्तद्वय (सर्वेरुक्त) इति। कविरवधेयवचनो भवतीति दर्शयति। सामादिप्रयोगे तावच्छब्दसूचित क्रम स्फुटयति [सूचयति] पूर्वं सामेत्यादि। तत इति। सर्वोपायप्रतिहताविति यावत्। तत्र ज्ञाताभिप्राय प्रतिसमाधातु सुशक इत्यभिप्रायेणाह 'देवानाम्' इति।

यह तीन पक्तियोका पाठ है। किन्तु पूर्व-सस्करणोमें वह इतने अधिक अशुद्ध एव अस्त-व्यस्त रूपमें मुद्रित किया गया है कि उसका अर्थ समझना बडा कठिन हो रहा है। इसमें भी 'सर्वेरुक्त इति' यह पाठ प्रथम-सस्करणमें नही था। द्वितीय सस्करणमें उसको कोष्ठके भीतर बढाकर छापा गया है। पर उसकी सङ्गति दो कारणोसे नही लगती है। एक तो यह कि इस प्रकारके लेखका अर्थ यह होता है कि कारिकाके अमुक पदसे अमुक बात सूचित की गई है। यहाँ 'सर्वेरुक्त' इस पदसे क्या बात सूचित की गई है इसका कोई उल्लेख नही मिलता है। अत एव केवल 'सर्वेरुक्त' इस पदकी कोई सङ्गति लगना सम्भव ही नही है। दूसरी बात यह है कि यह 'सर्वेरुक्त' पद 'एतस्मिन्नन्तरे' इत्यादि ९९ वी कारिकामें आया है। उस कारिकाकी व्याख्या 'इत्युक्तद्वय' इसके पहिले ही समाप्त हो चुकी है। इसलिए भी उसके बाद अ-स्थानमें मुद्रित इस

---

१ ग व त प्रशस्यते।

२ इत्युक्तद्वय (सर्वेरुक्त) इति कविरनुविधेयवचनो भवतीति दर्शयति। सामादिप्रयोगे तावच्छब्द-सूचित क्रम स्फुटयति पूर्वं सामेत्यादि। तत इति सर्वोपायप्रतिहताविति यावत्।

पदकी कोई सङ्गति नहीं लग सकती है। यदि उसको यहांसे हटा कर 'इत्युक्तद्वय' के पहिले रख दिया जाय तो उसकी स्थानभ्रष्टता तो दूर हो जायगी क्यों कि वह ९९ वीं कारिकाकी व्याख्याके साथ पहुँच जायगा। किन्तु फिर भी इस पदसे कवि क्या सूचित करना चाहता है इसका कोई उल्लेख न होनेसे वहां भी उसकी कोई सङ्गति नहीं लग सकती है। द्वितीय संस्करणमें जो इस पाठको बढ़ा कर छाप दिया गया है, उससे पाठकी स्थितिमें किसी प्रकारका सुधार होनेके बजाय बिगाड़ ही हुआ है इसलिए हमने उसको अपने पाठमें बिल्कुल स्थान नहीं दिया है।

पाठसमीक्षा—इसको निकाल देनेके बाद जो पाठ बचता है उसको हम पांच खण्डोंमें विभक्त कर नीचे दे रहे हैं। इनमें पाठका क्रम तो ज्यों-का त्यों बना हुआ है केवल उसको पांच खण्डों में विभक्त कर दिया गया है। इस विभाजनसे उसकी स्थितिको समझनेमें सहायता मिलेगी इसलिए हम उसको विभक्त करके इस प्रकार दे रहे हैं—

१. इत्युक्तद्वय इति।

२. कविरवधेयवचनो भवतीति दर्शयति—

३. सामादिप्रयोगे तावच्छब्दसूचितं क्रमं स्फुटयति 'पूर्वं साम' इत्यादि।

४. तत इति सर्वोपायप्रतिहताविति यावत्।

५ तत्र ज्ञाताभिप्रायं प्रतिसमाधातुं सुराक इत्यभिप्रायेणाह 'देवानाम्' इत्यादि—

इन पांच खण्डोंमेंसे १, २, तथा ४ इन तीन खण्डोंका सम्बन्ध तो इस 'पूर्वं साम प्रयोक्तव्यम्' इत्यादि १०० वीं कारिकाकी व्याख्यामें है। किन्तु शेष दूसरे तथा पांचवें खण्डोंका इस कारिकाकी व्याख्यासे कोई सम्बन्ध नहीं है। जिन तीन खण्डोंका इस कारिकाकी व्याख्यासे सम्बन्ध है उनको भी ठीक क्रमसे यहां नहीं दिया गया है। क्रमभेदसे छापा गया है। इनमेंसे सबसे पहिला स्थान तृतीय खण्डका है। इसके पूर्व ९९ वीं कारिकामें देवताओंने ब्रह्मासे प्रार्थना की थी कि 'साम्ना तावदिमे विघ्नाः स्थाप्यन्तां वचसा त्वया'। इसमें 'तावत्' शब्दसे सामादिके प्रयोगके क्रमकी ओर संकेत किया गया था। उसी क्रमको इस १०० वीं कारिकामें 'पूर्वं साम प्रयोक्तव्यम्' आदि पदोंके द्वारा स्पष्ट किया गया है। इसी बातको अभिनवभारतीकारने इस कारिकाकी अवतरणिका करते हुए—

'सामादिप्रयोगे तावच्छब्दसूचितं क्रमं स्फुटयति 'पूर्वं साम' इत्यादि—

इस रूपमें लिखा है। इस बातपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह खण्ड १००वीं कारिकाकी अवतरणिकाके रूपमें लिखा गया है। इसलिए इस व्याख्या भागमें उसका स्थान सबसे पहिले होना चाहिए। परन्तु पूर्व-संस्करणोंमें उसको बीचमें तीसरे स्थानपर छापा गया है। वहां उसका उचित स्थान नहीं है। अतः हमने उसको वहां से हटा कर कारिकाके ऊपर अवतरणिका-रूपमें मुद्रित किया है। वही उसका उचित स्थान है।

पाठसमीक्षा—इस अवतरणिकाके बाद कारिकाकी व्याख्या प्रारम्भ होती है। इस व्याख्यामें भी ग्रन्थकारने केवल 'तयो' और 'तत.' इन दो पदोंकी ही व्याख्या की है। शेष भागके स्पष्ट होनेसे उसकी व्याख्या नहीं की है। यह व्याख्या प्रथम तथा चतुर्थ खण्डोंमें लिखी हुई मिलती है। इनमेंसे प्रथम खण्डमें 'तयो' पदकी तथा चतुर्थ खण्डमें तत पदकी व्याख्या की गई है। 'तयोरुपरि भेदस्तु' इसमें 'तयो' पद आया है। उसका अर्थ यह है कि पहिले कहे हुए साम तथा दानके असफल हो जानेके बाद भेदनीतिका अवलम्बन करना चाहिए। इसी बातको ग्रन्थकारने 'इत्युक्तद्वयोरसफलयो.' पदोंसे सूचित किया है। किन्तु इसका जो पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा है उसमें इसके सिर और पैर दोनों गायब हैं। केवल बीचका भाग 'इत्युक्तद्वय' बचा हुआ है [illegible] संस्करणोंमें मुद्रित

किया गया है। इसलिए वहां इसका कोई अर्थ समझमें नहीं आता है। इसके प्रारम्भमें 'तयो' पद जिसकी कि यह व्याख्या है अवश्य होना चाहिए। और 'तदुक्तम्' के सामने 'तम' पदके साथ किसी विभक्तिका प्रयोग नहीं किया गया है। बिना विभक्तिके शब्दका प्रयोग तो सर्वथा अनुचित है। वहांपर 'तयो' के स्थानपर 'तम' छाप दिया गया है। इस प्रकार सिर और पैर दोनोंको काट कर इस पाठकी दुर्गति बना डाली गई थी। बिना सिर पैरके उसकी पहिचान कौन सकता है। इसीलिए उसका अर्थ समझमें नहीं आता है। इन भागोंको जोड देने पर अर्थ स्पष्ट हो जाता है। हमने अङ्गोंको जोड कर इस पाठको पूरा कर दिया है।

पाठसमीक्षा—इसके बाद कारिकाके 'तत' पदकी व्याख्या का प्रारम्भ आता है। क्योंकि वृत्तिकारने कारिकाके 'तयो' पदके बाद 'तत' पदकी ही व्याख्या की है। किन्तु पूर्व संस्करणोंके पाठमें इसके बीचमें अन्य अनावश्यक पाठोंको छाप कर उसको बहुत दूर ले जाकर छापा गया है। हमने उसको वहांसे हटा कर इसके बाद ही ठीक स्थानपर छापा है। इस प्रकार 'सामादिप्रयोगे तावच्छब्दसूचित क्रम स्फुटयति पूर्व साम इत्यादि'—इस प्रतीक भागके बाद 'तयोरित्युक्तद्वयो । तत इति सर्वोपायप्रतिहताविति यावत्' इतनी इस कारिकाकी व्याख्या है। हमने इसी क्रमसे उसको मुद्रित किया है।

पाठसमीक्षा—इस व्याख्याके अतिरिक्त पूर्व सस्करणोंके मुद्रित पाठमें अभी दूसरा तथा पाँचवां ये दो खण्ड और शेष रह जाते हैं। इन दोनों खण्डोंका इस कारिकाकी व्याख्यामें कोई सम्बन्ध नहीं है। वे वस्तुत अगली दो कारिकाओंके अवतरणिका-भाग हैं। पूर्व सस्करणोंमें उनको अ-स्थानमें ही यहां छाप दिया गया है।

पाठसमीक्षा—इन दोनोंमेंसे अन्तिम अर्थात् पांचवा खण्ड अगली १०१वी कारिकाकी अवतरणिका रूपमें लिखा गया है यह बात उस वाक्यकी रचनाको पढते ही विदित हो जाती है। असुरोंने ब्रह्माके ऊपर बडा आक्षेप किया है। जिससे उनका ब्रह्माके प्रति असन्तोष व्यक्त होता है। परन्तु ब्रह्मा इस असन्तोषका कारण विस्तार पूर्वक सुनना चाहते हैं ताकि उसको सुन कर उसका निराकरण किया जा सके। इसी दृष्टिसे ब्रह्माने अगली कारिकामें असुरोंसे यह प्रश्न किया है कि 'कस्माद् भवन्तो नाट्यस्य विनाशाय समुत्थिता' भरतमुनि तथा ब्रह्माके मनके इसी अभिप्रायको लेकर अभिनवभारतीकारने इस कारिकाकी अवतरणिका करते हुए लिखा है कि—

'ज्ञानाभिप्राय समाधातु सुशक इत्यभिप्रायेणाह देवानामिति'—

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह खण्ड १०१वी कारिकाका अवतरणिका-भाग है। उसका १००वी कारिकाकी व्याख्यासे कोई सम्बन्ध नहीं है। अत हमने उसे अगली कारिकाकी अवतरणिकाके रूपमें ही मुद्रित किया है।

पाठसमीक्षा—अब इस पाठका दूसरा खण्ड कविरवधेयवचनो भवतीति दर्शयति'—और शेष रह जाता है। उसका भी इस कारिकाकी व्याख्यासे कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसा कि उस वाक्यकी रचनासे स्पष्ट प्रतीत होता है यह भी किसी कारिकाका अवतरणिका भाग है। १०१वी कारिकामें ब्रह्माने असुरोंसे प्रश्न किया था कि आप लोग नाट्यके विनाशपर क्यों उतारू हो रहे हैं? इस प्रश्नका उत्तर अगली कारिकामें दिया जा रहा है। दैत्योंने ब्रह्माकी प्रार्थनापर ध्यान देकर तुरन्त उसका उत्तर दिया है। इसका ग्रन्थकार यह आशय निकाल रहे हैं ब्रह्माके समान ही कविकी बातपर भी विशेष रूपसे ध्यान देना चाहिए। इसी आशयसे ग्रन्थकारने यह अवतरणिका लिखी है। जिस कारिकाकी यह अवतरणिका लिखी जा रही है उसका प्रतीकभाग इसके अन्तमें अवश्य होना चाहिए था। किन्तु पूर्व सस्करणोंमें जो पाठ मुद्रित हुआ है उसमें यह प्रतीकभाग

नव ज्ञाताभिप्राय. प्रतिसमाधानं सुगम इत्याभिप्रायेणाह देवानामिति—

भरत०—देवानां वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा विघ्नानुवाच ह ।
'कस्माद् भवन्तो नाट्यस्य विनाशाय समुत्थिताः ॥ १०१ ॥

कविरवधेयवचनो भवतीति दर्शयति ब्रह्मणो वचनमिति—

भरत०—ब्रह्मणो वचनं श्रुत्वा विरूपाक्षोऽब्रवीद्वचः ।
दैत्यैर्विघ्नगणैः सार्धं सामपूर्वमिदं ततः ॥ १०२ ॥

योऽयं भगवता सृष्टो नाट्यवेदः सुरेच्छया ।
प्रत्यादेशोऽयमस्माकं सुरार्थं भवता कृतः ॥ १०३ ॥

सुरार्थमित्यस्यैव दार्ढ्यायोक्तं 'सुरेच्छया' इति । प्रत्यादेश इति तिरस्कार इत्यर्थः । भवतेति यस्यानुचितमेतदित्यर्थः ॥ १०३ ॥

नहीं दिया गया है । इसलिए उसका अर्थ समझमें नहीं आता है । एक तो प्रतीकभागके न होने के कारण ही इसके अर्थको समझना कठिन था फिर उसको अन्स्थानमें और छाप दिया गया था 'प्रथमपरो गण्डस्योपरि स्फोट' इसीलिए यह नीम-चढ़ी गिलोय बन गया था । यह भाग वास्तवमें १०२ कारिका अवतरणिकाभाग है । इसलिए उसके प्रतीकभागको उसके अन्तमें जोड़ कर उसका पाठ १०२ कारिकाके पूर्व निम्न प्रकार दिया जाना चाहिए—

'कविरवधेयवचनो भवतीति दर्शयति' ब्रह्मणो वचनम्' इति—

अतः हमने इसी रूपमें पाठ प्रस्तुत किया है ॥१००॥

अभिनव०—[वक्ताका] अभिप्राय जान लेने पर उसका समाधान सरलतासे हो सकता है इस अभिप्रायसे 'देवानाम्' इत्यादि [अगले श्लोक] कहते हैं—

भरत०—देवताओंकी बात सुनकर ब्रह्माजी [साम पूर्वक] विघ्नोंसे बोले कि आप लोग किस कारणसे इस नाट्यके विनाशकेलिए उद्यत हो गए हैं ॥ १०१ ॥

अभिनव०—कविकी बात ध्यान देने योग्य होती है यह बात 'ब्रह्मणो वचनम्' इत्यादि से [सादृश्य-लक्षणा द्वारा सूचित करते हुए] कहते हैं—

भरत०—ब्रह्माजीकी बातको सुनकर [विघ्नराज] विरूपाक्ष दैत्यों तथा विघ्नगणोंके साथ शान्ति-पूर्वक यह कहने लगे कि ॥ १०२ ॥

भरत०—आपने देवताओंकी इच्छासे [उनको प्रसन्न करनेकेलिए] जो यह नाट्यवेद बनाया है यह हमारे लिए तिरस्कार-जनक है और आपने केवल] देवताओं [को प्रसन्न करने] के लिए [ही] इसकी रचना की है ॥ १०३ ॥

अभिनव०—'देवताओंकेलिए' [नाट्यवेद बनाया है] इसी बातको पुष्ट करनेके लिए [कारिकामें] 'सुरेच्छया' यह [पद] कहा है । प्रत्यादेश इस [पद] का अर्थ तिरस्कार करना है । 'आपने' [ब्रह्माजीने केवल देवताओंको प्रसन्न करनेकेलिए हम दैत्योंके अपमान-जनक नाट्यवेदको बनाया] इसका भाव यह कि तिन [ब्रह्माजी] के लिए ऐसा करना अनुचित था ॥ १०३ ॥

---

१ प. ब वचम् । २ घ. न. ड. विनाशार्थमुपस्थिता । ३ म. दिदम । ४ म. यत । ५ ड. म. सम्पत्र । ६ ड. म. दशितः । ७ म. प्रदर्शितः । ८ ड. म. देवार्थे ।

भरत०—तन्नैतदेव कर्तव्यं त्वया लोकपितामह ।
यथा देवास्तथा दैत्यास्त्वत्तः सर्वे विनिर्गताः ।। १०४ ।।

अनौचित्यमेव लोकपितामह इत्यामन्त्रणेनाह । तदेव पितामहत्वं दर्शयति यथेति । 'आस्तां वा देवा दैत्याश्चेति आह 'सर्वे' इति ।।१०४।।

भरत०—'विघ्नानां वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
अलं वो मन्युना दैत्या 'विषादं त्यजतानघाः ।। १०५ ।।

वचनमिति सुपरिहरमेतत् । नात्र भूयान् प्रयास इत्येकवचनेन दर्शयति । अत एव सिद्धवदुपक्रमते 'अलं वः' इति । मिथ्याज्ञानगृहीतसर्पत्रासवद्यो भ्रान्तिमात्रकृत इत्यर्थः ।

'दैत्यानामशुभकारिता लोकप्रसिद्धा स्यात् देवानां च तद्विपर्यय इति नाट्यस्य न तात्पर्यं, येन भवता मन्युः ।। १०५ ।।

भरत०—हे लोकपितामह आपको इस प्रकार [किसी एकके साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार] नहीं करना चहिए था । [जससे हमारा अपमान हो] क्योंकि जैसे देवता वैसे ही दैत्य, सभी लोग आपसे [ही] उत्पन्न हुए हैं । १०४ ।

अभिनव०—[पिछले श्लोकमें निर्दिष्ट] अनौचित्यको ही 'लोकपितामह' इस सम्बोधनसे कहा है । उसी पितामहत्वको 'यथा' इत्यादिसे दिखलाया है । अथवा देव और दैत्योंकी बात छोड़ो, [देव और दैत्य ही क्या सब ही आपसे उत्पन्न हुए हैं] यह बात 'सर्वे' इत्यादिसे कही है ।। १०४ ।।

ब्रह्माजी द्वारा आरोपका निराकरण—

भरत०—विघ्नोंकी बातको सुनकर ब्रह्माजी बोले कि हे दैत्यो आप लोग नाराज न हों और हे भले लोगो [अनघा, इस अभिनयको देख कर आपको जो दुःख या खेद हुआ है उस] विषादको छोड़ दें [भूल जावें] ।। १०५ ।।

अभिनव०—'वचन' इस [पद] से [यह सूचित किया है कि आपने हमारे ऊपर जो दोषारोपण किया है] इसका सरलतासे समाधान किया जा सकता है । इसमें अधिक प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है यह बात एकवचन [के प्रयोग] से दिखलाई है । इसीलिए [उस परिहारको] सिद्ध-सा मानकर [ब्रह्मा जी आगे] कहते हैं कि 'आपलोग' नाराज न हों' इत्यादि । [अर्थात् आप जो देवताओंकेप्रति पक्षपातका आक्षेप कर रहे हैं वह] मिथ्याज्ञानसे गृहीत [रस्सीमें] सर्पसे उत्पन्न भयके समान केवल भ्रान्तिके कारण है [वस्तुतः ठीक नहीं है] यह इसका अभिप्राय है ।

अभिनव०—दैत्योंकी दुष्टता [अशुभकारिता] और देवताओंकी सज्जनता ['तद्विपर्यय']-लोकमें प्रसिद्ध की जाय यह नाट्यका तात्पर्य नहीं है । जिसको समझकर आप नाराज हो रहे हैं ।। १०५ ।।

---

१ ब [आत्मनो] भ या । म भ आस्ताम् । २ ड ब त विरूपाक्षवचः । ३ घ त ब विवादस्त्यज्यतामयम् । ४ दैत्या अशुभकारिणः सन्तु पराजिता भवन्तु । देवता पुनरन्यथेति न नाट्यस्य तात्पर्यम् । ५ ब कुस गन्ध विभाग चेध चोष्टित चोषितमस्त इत्यधिकः पाठः ।

किन्तर्हीत्याह—

भरत०—भवतां देवतानां च[1] शुभाशुभविकल्पकः[2]।
कर्मभावान्वयापेक्षी[3] नाट्यवेदो मया कृतः॥ १०६॥

शुभकारिणः शुभं फलमशुभकारिणोऽशुभं फलमित्येतावदेवास्माकं प्रतिसाक्षात्कारकल्पे नाट्ये प्रदर्शनीयम्। न तत्र देवेषु दैत्येषु वा कश्चिद् भरः[4]। अत एव भवतामपि धर्मादौ यः सदुपायः सोऽपि [5]शुभविपाकत्वेनैव दर्शितः। [6]अत एव शुभग्रहणमेकतरपक्षपातशैथिल्यदर्शनाय दैत्यसम्बन्धार्थं प्रथममुपात्तम्।

इस श्लोकमें ब्रह्मा जीने दैत्योंसे कहा है कि आप लोग नाराज न हों और आपके मनमें इस नाट्यके देखनेसे जो दुःख हो रहा है उसको अपने मनसे निकाल दें। क्योंकि आप जिस भ्रममें पड़ कर नाराज और दुःखी हो रहे हैं वह ठीक नहीं है। आप समझते हैं कि हमने केवल देवताओंको प्रसन्न करने और आपको नीचा दिखलानेकेलिए नाट्यकी रचना की है। यह आपका भ्रम है। इसी बातको हेतु पूर्वक अगले श्लोकमें कहते हैं।

अभिनव०—फिर क्या बात है यह कहते हैं।

भरत०—आपके और देवताओंके [अर्थात् दोनोंके] शुभ तथा अशुभको कर्म, भाव, एवं देश वंश आदिके अनुसार प्रकाशित करने वाले [अर्थात् प्रकाशित करनेकेलिए] मैंने इस नाट्यवेद की रचना की है॥ १०६॥

पाठसमीक्षा—मूल श्लोक में 'भवता देवतानां तु' इस प्रकार का पाठ प्रथम संस्करणमें छपा था। उसमें भी 'तु' के स्थानपर 'च' पाठ अधिक उपयोगी है अतः हमने संशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है। द्वितीय संस्करणमें भी 'तु' के स्थानपर 'च' पाठ ही दिया गया है।

अगले अनुच्छेदमें नाट्यको 'प्रति-साक्षात्कारकल्प' कहा गया है। इसका आशय यह है कि नाट्य लोकका प्रतिबिम्ब रूप है। जैसे बिम्बभूत मुखादिका दर्पणमें प्रतिबिम्ब होता है। इसी प्रकार लोकमें साक्षात् किए जाने वाले अर्थका नाट्यमें 'प्रतिसाक्षात्कार' होता है। इसीलिए नाट्यको 'प्रतिसाक्षात्कारकल्प' कहा है।

अभिनव०—प्रति-साक्षात्कारकल्प नाट्यमें हमको केवल यही दिखलाना है कि शुभ कर्म करने वालेको शुभ फल मिलता है और अशुभ कर्म करने वालेको अशुभ फल मिलता है। उसमें देवताओं या दैत्योंपर कोई विशेष बल नहीं है। इसलिए आप लोगों [अर्थात् दैत्यों] का भी धर्मादि-विषयक जो कोई उत्तम कर्म है उसका भी उत्तम परिणाम ही [नाट्यमें] दिखलाया गया है। [और देवताओंके भी अशुभ कर्म का अशुभ परिणाम दिखलाया जाता है]। इसलिए किसी एक पक्षमें पक्षपातका अभाव सूचित करनेके लिए और [विशेषरूपसे] दैत्योंके साथ सम्बन्ध दिखानेकेलिए 'शुभ' [पद] का पहिले ग्रहण किया गया है। [अर्थात् दैत्योंके भी शुभ कर्मोंका शुभ फल ही नाट्यमें दिखलाया गया है]।

---

१. द तु। २. ब० विकल्पकम्। च विकल्पके। ३. ट म. चापेक्षी। ४. म भ. स. हर.। ५. शुभ विपाकत्वेन दर्शित। ६. [illegible]।

शुभमशुभं च धर्माधर्मरूपं सुखदुःखफलत्वेन विभेदेन कलयति अध्यवसाययति नाट्यवेदः। कीदृक्—कर्मभावान्वयापेक्षीति। तद्यथा कर्म धर्मो दानं स्नानमित्यादि, अधर्मो हिंसा स्तेयमित्यादि। भाव आशयः। स्त्रीप्रसङ्गोदिता स्वार्थतापरार्थताद्यभिसन्धिरित्यादि। अन्वयोऽभिजनः आर्यावर्तादि-ब्राह्मण्यादिश्चेति। तानपेक्षते सहकारितया।

एतदुक्तं भवति—अस्मिन् देशेऽस्मिन् काले ईदृशेन कर्मणा यः शुभमशुभं चार्जयति स एवंविधफलभागी भवतीति न तावदिहोपदिश्यते। 'विकल्पक' इति द्वौ णिचौ ॥ १०५ ॥

अभिनव०—[आगे 'शुभाशुभविकल्पक' पदका अर्थ करते है कि] शुभ तथा अशुभ [कर्म] धर्माधर्म रूप है, उनको नाट्यवेद सुखफलक तथा दुःख-फलक-रूपमे अलग-अलग निश्चय कराता है। किस प्रकारका [नाट्यवेद निश्चय कराता है यह कहते है] कर्म, भाव तथा अन्वय [अर्थात् देश या वश] की सहायतासे युक्त। कर्म अर्थात् धर्म रूप दान स्नान आदि, और अधर्म-रूप हिसा चोरी आदि। भाव अर्थात् आशय। अर्थात् स्त्री प्रसङ्गमे कही हुई स्वार्थपरता या परार्थता आदि रूप अभिप्राय। अन्वय अर्थात् अभिजन [उत्पन्न होनेका स्थान] आर्यावर्तादि [देश रूप] अथवा ब्राह्मण आदि [जाति रूप। दोनो 'अभिजन' शब्दसे गृहीत होते है]। इन [कर्म भाव तथा अन्वय तीनो] की सहकारी रूपमे अपेक्षा रखता है। [अर्थात् इन तीनोकी सहायतासे ही शुभ कर्मोका शुभ फल तथा अशुभ कर्मोका अशुभ फल नाट्यमे प्रदर्शित किया जाता है]।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि—'अमुक देशमे और अमुक कालमे इस प्रकार के [शुभ या अशुभ] कर्मसे जो धर्म या अधर्मका उपार्जन करता है वह इस प्रकारका फल पाता है' इस बातका यहा [धर्मशास्त्रके समान] उपदेश नही दिया जाता है। [अपितु कर्मादिके अनुसार लोकमे प्राप्त होनेवाले उन के फलोका प्रति-साक्षात्कार कराया जाता है]। 'विकल्पक' इस [पद] मे दो बार णिच्-प्रत्यय हुआ है।

इसका अभिप्राय यह है कि 'शुभाशुभविकल्पक' में जो 'विकल्पक' पद आया है वह 'कृपू सामर्थ्ये' धातुसे दो बार णिच्-प्रत्यय करके बना है। णिच्-प्रत्यय प्रेरणा अर्थमें या हेतुमत् अर्थमें होता है। कर्म स्वय सुख-दुःख फलको देता है। पुरुष उनके फलको जाननेमें कारण होता है। अतः कर्मोको 'सुख-दुखफलत्वेन कल्पयति'। यह एक णिच-प्रत्ययका भाव हुआ। और नाटक उस मनुष्यको कर्मोका फलके साथ सम्बन्ध स्थिर करानेमे सहायक या हेतु होता है। इस प्रकार नाट्यमे दोहरी हेतुमत्ता आती है। इसलिए यहा 'द्वौ णिचौ' कहा गया है। कल्प-धातुसे पहिला णिच् होकर कल्पि धातु बना। उससे दुबारा णिच् होनेपर सामान्यतः वृद्धि होकर 'कल्पाययति' प्रयोग बनना चाहिए था। परन्तु 'ण्यल्लोपावियङ्-यण्-गुण वृद्धि-दीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेन' इस वार्तिकके द्वारा दूसरे णि-का लोप हो जानेसे दो बार णिच् होनेपर भी 'विशेषेण कल्पयति' यही रूप बनता है ॥ १०६ ॥

ननु चैवमप्यस्मत्पृष्ठे[1] 'किमेतद्योजितमित्याह—'नैकान्तत' इति—

भरत०—नैकान्ततोऽत्र भवता देवानां [2]चानुभावनम् ।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ॥ १०७ ॥

अय भाव —न युष्मत्पृष्ठे केनचिदेतद्योजितम् । देवासुरस्य वहि-र्यथानुरूप्यमवस्थानम् । अत्रेति नाट्यवेदे । न देवासुराणा एकान्तेनानुभावनम् । नैव तेऽनुभाव्यन्ते केनचित्प्रकारेण ।

तथाहि–तेषु न तत्त्वेन धी, न सादृश्येन [3]अयममुकवत्, न भ्रान्तत्वेन रूप्यस्मृतिपूर्वकशुक्तिरूप्यवत्, नारोपेण सम्यग्ज्ञानबाधान्तरमिथ्याज्ञानवत्,[4] न तदध्यवसायेन गौर्वाहीकवत्, नोत्प्रेक्ष्यमाणत्वेन चन्द्रमुखवत्, न तत्प्रतिकृतित्वेन चित्रपुस्तवत्, न तदनुकारेण गुरुशिष्यव्याख्याहेवाक्वत्, न तात्कालिकनिर्माणेन इन्द्रजालवत्, न युक्तिविरचिततदाभासतया हस्तलाघवादिमायावत् ।

अभिनव०—[इस पर दैत्यलोग कहते हैं कि आपकी यह बात हम मान भी लें कि आपने हमारे अपमानकेलिए नाट्यकी रचना नहीं की है] फिर भी हमारे [चरित्र के] ऊपर आपने इसकी रचना क्यों की है ? इसको कहते हैं 'नैकान्त' इत्यादि—

भरत०—इनमें केवल आपका और देवोंका ही [चरित्र] प्रदर्शन नहीं कराया गया है अपितु नाट्यमें [वस्तुतः] इस समस्त विश्व के भावोंका प्रदर्शन कराया गया है । १०७ ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय है कि—आपकी पीठपर किसीने इसकी आयोजना नहीं की है । क्योंकि नाट्यके बाहर देव और असुर यथापूर्व अपने स्वरूप में रहते हैं । यहां अर्थात् इस नाट्यवेदमें । केवल देवों और असुरोंका ही प्रदर्शन [अनुभावन] नहीं कराया जाता है । क्योंकि किसी प्रकारसे भी उनका प्रदर्शन नहीं किया जा सकता है ।

अभिनव०—क्योंकि [नाटकमें] उनका १ अपने निज-स्वरूपसे [तत्त्वेन] ज्ञान नहीं होता है । २ और न यह [नट] अमुक [रामादि] के समान है इस प्रकार सादृश्यात्मक ज्ञान ३ न [शुक्तिके चाकचिक्यादिको देखनेसे] रजतके स्मरण पूर्वक शुक्तिमें रजत-बुद्धिके समान भ्रान्त रूपसे ४ न सत्यज्ञानसे बाधित होनेके बाद मिथ्याज्ञान रूप आरोपसे, ५ न 'गौर्वाहीकः' [वाहीक देशका निवासी बैलके समान मूर्ख है] के समान अध्यवसायसे, ६ न मुखमें चन्द्रकी उत्प्रेक्षाके समान उत्प्रेक्ष्यमाण रूपसे, ७ न चित्र या खिलौना आदिके समान उस [रामादि] की प्रतिकृति रूपसे, ८ न गुरु-शिष्य-व्याख्यानके स्वभावके समान उनके अनुकरण रूपसे, ९ न इन्द्रजालके समान तात्कालिक निर्माणसे, और न १० हाथकी सफाईसे नकल बना लेनेसे हाथकी सफाई की मायाके समान [नटोंमें रामादिकी बुद्धि होती है] ।

---

१. ब सर्वस्मिन् [illegible] । २. [illegible] । ३. ब. वादि । ज. ब भात । न [illegible] ।
४. ब [illegible] । ५. [illegible] ।

इस अनुच्छेदका आशय यह है कि नाटकमें अनुकार्य रामादि अथवा देव दानवादिका जो अभिनय किया जाता है उसमें अभिनय करने वाले नट होते हैं। राम आदि या देव-दानव आदि अभिनय करने नही आते हैं। उन अभिनय करने वाले नटोमे ही रामादि अथवा देव-दानव आदि अनुकार्योंकी प्रतीति होती है। परन्तु यह प्रतीति १ न सत्य है, २ न मिथ्या है, ३ न सादृश्य-मूलक है, ४ न आरोप-मूलक ५ न आध्यास-मूलक, आदि किसी रूपमें है। उन सबसे विलक्षण प्रकारकी यह प्रतीति होती है। इसलिए देव-दानव या रामादि किसी भी अनुकार्यका किसी भी लौकिक रूपमें अनुभव नाट्यमें नही किया जाता है। अपितु जो कुछ वहाँ प्रतीत होता है वह सब अलौकिक है। और देखने वाले प्रत्येक व्यक्तिको उसमें तादात्म्यका अनुभव होता है। इसलिए नाट्यमें किसी देव-असुर आदि विशेषका 'अनुभावन' या प्रदर्शन, किसी रूपमे भी सम्भव नही है।

आरोप और अध्यवसायका भेद—

यहा ग्रन्थकारने नाट्यमें प्रतीत होनेवाले रामादिकी प्रतीतिको १० प्रकारकी लौकिक प्रतीतिसे विलक्षण बतलाया है। इनमेंसे 'आरोप' तथा अध्यवसायात्मक' दो ज्ञानोका भेद समझना आवश्यक है। आरोपित-प्रतीतिको गौण-प्रतीति भी कहते हैं। जहा दो वस्तुओंके भेदको जानते हुए भी एक वस्तुमें उससे भिन्न दूसरी वस्तुका व्यवहार या प्रतीति होती है उसको गौण या आरोपित-व्यवहार या आरोपित-प्रतीति कहा जाता है। जैसे सिंह और माणवक अर्थात् बालकके भेदका ज्ञान होते हुए भी बालकके शौर्य-क्रौर्य आदि गुणोको देखकर सिंहो माणवक यह व्यवहार होता है। इस व्यवहारको आरोपित या गौण व्यवहार कहा जाता है। यदि वस्तुओंके इस प्रकारके भेदज्ञानके बिना अन्यकेलिए अन्य शब्दका प्रयोग आदि किया जाता है तो वह मिथ्याव्यवहार कहलाता है। इसी बातको यहा ग्रन्थकारने 'सम्यग्ज्ञानबाधानन्तरमिथ्याज्ञान-रूप' कहा है। सिंह तथा माणवकके भेदग्रह रूप सम्यग्ज्ञानसे बाधित होनके बाद भी माणवकमे सिंह-बुद्धि रूप व्यवहार होता है। इसको आरोपित-व्यवहार कहते हैं। श्री शङ्कराचार्यने अपने वेदान्तभाष्यमें 'तत्तु समन्वयात्' १-१-४ सूत्रके भाष्यमें इसी बातको इस प्रकार लिखा है—

१ प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धे यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेद यथा केसरादि-मानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्या सिंहशब्दप्रत्ययभाङ् मुख्योऽन्य प्रसिद्ध, ततश्चान्य. पुरुप प्रायिकै क्रौर्यशौर्यादिभि सिंहगुणै सम्पन्न सिद्ध, तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययो गौणौ भवतो नाप्रसिद्धवस्तु-भेदस्य।

इसीसे सम्बद्ध दूसरा 'अध्यवसाय' शब्द है। 'विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽ-ध्यवसाय' यह 'अध्यवसाय' का लक्षण किया जाता है। जहा विषय अर्थात् उपमेयको हटाकर विषयी उपमानरूपसे ही उसका निर्देश किया जाय उसको 'अध्यवसाय' कहते हैं। जैसे किसी अत्यन्त मूर्ख या सीधे व्यक्तिको लोग 'गौ' कहते हैं। यहा विषय या उपमेय रूप पुरुषको हटा कर गौके साथ उसके तादात्म्य या अभेदका व्यवहार होता है। या पूर्वोक्त उदाहरणमें ही उपमेय माणवकको निगीर्ण करके उसकेलिए केवल 'सिंह' शब्दका प्रयोग किया जाय तो वह भी 'अध्यवसाय' का उदाहरण बन सकता है। नाट्यमें जो रामादिकी प्रतीति होती है वह इन सबसे विलक्षण अलौकिक प्रतीति है। नाट्यमें साधारणीकरण-व्यापार द्वारा लौकिक रामत्व-सीतात्वादिका परिहार होकर अलौकिक रामादिका भान होता है। इसलिए देव-दानव आदिका लौकिक रूपमे अनुभावन नही हो सकता है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

सर्वेष्वेतेषु पक्षेषु असाधारणतया द्रष्टुरौदासीन्ये रसास्वादायोगात् । कवेश्च नियतवर्णनीयनिश्चितत्वे काव्यस्यैवासम्पत्तेरनौचित्यावर्जनयोगात् । मुख्यदृष्टौ 'प्रयोक्तृदृष्टौ वा लौकिकमिथुनदर्शीव सांसारिकहर्षक्रोधादितापत्तेः'। उभयदर्शनाकुलतया 'रससम्पत्त्यभावाच्च ।

इसी बातके समर्थन करनेकेलिए अगले अनुच्छेदमें ग्रन्थकार चार युक्तियां उपस्थित करते हैं। उनमेंसे पहिली युक्तिका आशय यह है कि ऊपरके अनुच्छेदमें जो लौकिक प्रतीतिके दस प्रकार दिखलाए हैं वे सब प्रत्यक्षसे सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए उन सबमें व्यक्तिके विशेष या असाधारण रूपका ही ग्रहण होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण सदा विशेषावधारणप्रधान ही होता है। योगदर्शनके व्यास-भाष्यमें भी प्रत्यक्ष-प्रमाणको विशेषावधारण-प्रधान वृत्ति बतलाया है—

'इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम् ।

योगदर्शनके व्यासभाष्यमें यह प्रत्यक्षका लक्षण किया गया है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष रूपसे अर्थात् इन्द्रिय एवं अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान विशेषावधारणप्रधान ही होता है। ग्रन्थकारका कहना है कि असाधारण या विशेष अर्थके अवलोकनसे द्रष्टाको रसानुभूति नहीं हो सकती है। इसके विपरीत वह रसानुभूतिमें बाधक ही होता है। जैसे किन्हीं व्यक्तियोंको लौकिक रूपसे प्रणय-व्यापारमें प्रवृत्त देखकर लौकिक हर्ष या क्रोधादि ही होते हैं। अलौकिक काव्यानन्द की प्राप्ति नहीं होती है। रसानुभूति या काव्यानन्दकी प्राप्तिके लिए विभावादिका साधारणीकरण आवश्यक है यह साधारणीकरण एक अलौकिक व्यापार है। इसके होनेके बाद सीता-राम आदि विभावोंका लौकिक स्वरूप समाप्त हो जाता है। अतः नाट्यमें देवों या असुरोंके लौकिक स्वरूपका अनुभावन सम्भव नहीं है। इसी बातको ग्रन्थकार यों कहते हैं कि—

अभिनव०—इन सभी पक्षोंमें [अर्थात् ऊपर जो दस प्रकारकी लौकिक प्रतीति दिखलाई है उनमेंसे,किसी भी प्रकारको माननेपर प्रतीतिकी] असाधारणता [विशेषावधारण प्रधानता] होनेसे उसके विषयमें द्रष्टाका औदासीन्य होनेके कारण रसास्वाद नहीं बन सकता है। और कविकेलिए भी नियत व्यक्ति-विशेषके वर्णनीय होनेपर [किसी व्यक्तिविशेषके प्रेम-व्यापार आदिके वर्णनमें] अनौचित्यका परित्याग सम्भव न होनेसे काव्य ही नहीं बन सकता है। चाहे मुख्य [अर्थात् वास्तविक अनुकार्य रामादि] का दर्शन हो अथवा नट [प्रयोक्ता] का, दोनों अवस्थाओंमें लौकिक प्रेमियों के [प्रणय-व्यापारके] देखनेपर होने वाले सांसारिक हर्ष-क्रोधादि ही उत्पन्न होंगे [अलौकिक काव्यानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती है]। और उन दोनों [अर्थात् मुख्य अनुकार्य रामादि, अथवा प्रयोक्ता नटादिके प्रणयादि-व्यापार] के देखनेमें व्यस्त हो जाने से रसकी अनुभूति नहीं हो सकती है।

साधारणीकरणके विषयमें चार युक्तियां—

भरतमुनिने इस कारिकामें यह कहा है कि नाट्यमें देवों या असुरोंका ही 'अनुकरण' नहीं कराया गया है किन्तु 'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्' अर्थात् तीनों लोकोंके

---

१. मुख्यदृष्टौ प्रयोक्तृदृष्टौ वा [illegible] रससम्पत्त्यभावात् । [illegible] । मुख्यदृष्टौ ।
२. [illegible] क्रोधादितापत्ते । [illegible] । ३. [illegible] सम्पत्त्यभावात् ।

भावानुकीर्तन' का नाम ही नाट्य है। इसी बातको विस्तार पूर्वक समझानेका यत्न वृत्तिकार अभिनवगुप्तने यहाँ किया है। इस अनुच्छेदमें उन्होने यह दिखलाया है कि नाट्यमें किसी विशेष व्यक्तिके—फिर चाहे वह देव हो या असुर—चरित्रका अनुभावन नही कराया जा सकता है। जिन राम सीता आदिको हम नाट्यमे देखते हैं वे विशेषरूप सीता-राम आदि नही हैं, किन्तु उनके साधारणीकृत रूप हैं। नाटक देखने वालोको नाटक देखते समय उनमें यथार्थ रामादि रूप बुद्धि नही रहती है। अपितु साधारणीकरण-नामक अलौकिक-व्यापारद्वारा उनका विशेष स्वरूप समाप्त होकर साधारणीकृत स्वरूप उपस्थित होता है। जिसके कारण देखने वाला प्रमाता अपने को उनसे अभिन्न समझने लगता है। विभाव आदिके साथ उसका तादात्म्य स्थापित हो जाता है। तभी उसको रसकी अनुभूति होती है। यदि साधारणीकरण व्यापार द्वारा तादात्म्यकी स्थापना न हो तो सामाजिकको रसानुभूति नही हो सकती है। इस बातको सिद्ध करनेकेलिए वृत्तिकारने चार युक्तियाँ उपस्थित की है। जिनमें से तीन इस अनुच्छेदमें प्रस्तुत की है जो निम्न प्रकार हैं—

१—वृत्तिकारकी पहिली युक्ति यह है कि यदि इन सीता राम आदिको असाधारण या विशेष रूप माना जाय, अर्थात् साधारणीकरण व्यापार द्वारा द्रष्टाके साथ उनका तादात्म्य स्थापित न हो तो द्रष्टा उनके विषयमें बिल्कुल उदासीन रहेगा। इस लिए उसको रसास्वाद नही हो सकता है।

२—दूसरी युक्ति यह है कि न केवल द्रष्टाको उससे रसकी अनुभूतिमें ही बाधा पडेगी अपितु कविकेलिए काव्यका निर्माण ही असम्भव हो जायगा। क्योकि किसी विशेष व्यक्तिके प्रणय-व्यापार आदि रहस्योका चित्रण करना अनौचित्यकी श्रेणीमें गिना जाता है।

३—तीसरी युक्ति यह है कि यदि काव्य-नाटकमें साधारणीकरण न माना जाय तो फिर चाहे मुख्य रामादिके व्यापारोका दर्शन हो या नटके व्यापारोका वह सब लौकिक दर्शनमात्र होगा। इस अवस्थामें उस व्यापारको देखकर किसीको लज्जा, किसीको क्रोध, किसीको ईर्ष्या आदि उत्पन्न होगी। रसकी अनुभूति नही, क्योकि वह विना तादात्म्यके नही हो सकती है।

४—चौथी युक्ति जिसे वे अगले अनुच्छेदमें उपस्थित कर रहे हैं यह है कि इस प्रकारके विशेष सीता-राम आदिकी प्रतीति नाटकमें हो ही नही सकती है क्योकि विशेष पदार्थ वर्तमान होने पर ही अपने कार्यको कर सकते हैं। सीता-राम आदि तो आज वर्तमान है नही। इसलिए उनकी विशेष रूपमें उपस्थिति हो ही नही सकती है। केवल साधारणीकृत रूपमें ही उनकी प्रतीति होती है। और उस रूपमे उनको देखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इसलिए नाटक देखते समय प्रत्येक द्रष्टा उसमें अपने स्वरूपका तादात्म्य करके ही रसास्वादन करता है। इसीलिए भरतमुनिने नाट्यको 'त्रैलोक्यका भावानुकीर्तन' कहा है।' त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्तनम्' का यही भाव है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद 'मुख्यदृष्टो प्रयोक्तृदृष्टो तद्धि सम्पत्त्यभावात्' इतना पाठ पूर्वसस्करणोमें 'क्रोधायितापत्ते' के वाद अस्थानमें और अशुद्ध रूपमें छापा गया था। इसमें से 'मुख्यदृष्टो प्रयोक्तृदृष्टो' यह पाठ 'क्रोधायितापत्ते के पूर्व होना चाहिए और उसके साथ 'वा' का प्रयोग भी होना चाहिए था। यहा वह अ-स्थानमें छप गया था उसे हमने ठीक स्थानपर लगा दिया है। और 'तद्धि सम्पत्त्यभावात्' यह पाठ अशुद्ध छप गया था। उसके स्थानपर 'रसमम्पत्त्यभावाच्च' पाठ होना चाहिए था। 'तद्धि' की यहा कोई सङ्गति नही है। इसलिए हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

किन्तर्हि ? एतदाह—त्रैलोक्यस्येति ।

एतदुक्तं भवति—'एतादृशा वै रामादयो न कदाचन प्रमाणपथमवतार्यन्ते'। यदागमेन वर्ण्यन्ते तदा तद्विशेषबुद्धिर्यद्यपि रामायणप्रायादेकस्मान्महावाक्यादुल्लसति, तथापि वर्तमानतयैव विशेषाणां सम्भाव्यमानार्थक्रियासामर्थ्यात्मकस्वालक्षण्यपर्यवसानम्'। न च तेषां वर्तमानता 'इत्यपगता तावद्विशेषबुद्धिः'।

पिछले अनुच्छेदमें यह बात कही थी कि नाट्यमें देवासुर आदियो उसमें गिनाए हुए लौकिक प्रतीतिके दस रूपोंमेंसे किसी भी रूपमें प्रतीति नहीं बन सकती है। इसलिए 'नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्' इस नाट्यमें देवताओंका अथवा आप लोगों अर्थात् असुरोंका किसी रूपमें 'अनुभावन' या प्रदर्शन नहीं कराया गया है। यह बात इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें ब्रह्माजीने असुरोंसे कही है। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि तो फिर इसमें किसका प्रदर्शन कराया गया है। इसका उत्तर श्लोकके उत्तरार्द्ध भागमें दिया गया है। इसीकी विस्तार पूर्वक व्याख्या करनेकेलिए अगला प्रकरण लिखा गया है। यह प्रकरण अभिनवभारतीके सबसे मुख्य एवं क्लिष्ट प्रकरणोंमेंसे है। इसलिए उसे ध्यान पूर्वक समझ लेनेकी आवश्यकता है।

अभिनव०—तो फिर [नाट्यमें] क्या [दिखलाया गया] है ? इसको 'त्रैलोक्यस्य' इत्यादि [श्लोकके उत्तरार्द्ध भाग] केद्वारा दिखलाते हैं।

सामान्यरूपसे साहित्य शास्त्रियोंने काव्य नाटक आदिमें ही 'साधारणीकरण' व्यापार का प्रतिपादन किया है किन्तु यहाँ वृत्तिकार अभिनवगुप्तने इतिहास तथा कला आदि साहित्यके सभी क्षेत्रोंमें साधारणीकरण-व्यापारकी उपयोगिता एवं आवश्यकताका उपपादन किया है। निम्न अनुच्छेद द्वारा इतिहासमें साधारणीकरणका प्रदर्शन करते हैं—

इतिहासमें भी साधारणीकरण—

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—इस प्रकारके [असाधारण या विशेष अनुकार्य] राम आदि [नाट्यमें] कभी दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। जब शब्द प्रमाणके द्वारा उनका वर्णन किया जाता है उस समय यद्यपि रामायण आदि सदृश एक महावाक्यके द्वारा [रामादिकी व्यक्ति-विशेषके रूपमें] विशेष बुद्धि उत्पन्न होती है, परन्तु विशेष पदार्थ वर्तमान रूपमें ही सम्भावित अर्थक्रियाकी सामर्थ्य रूप 'स्वलक्षणता' को प्राप्त करते हैं। और उन [रामादि] की [इस समय] वर्तमानता नहीं है इसलिए उनमें विशेष बुद्धि समाप्त हो जाती है।

इस अनुच्छेदकी रचना दार्शनिक पद्धतिपर हुई है। इसलिए [illegible] इस अनुच्छेदका भाव समझमें नहीं आ सकता है। [illegible] बात तो यह है कि ग्रन्थकार [illegible] कहना चाहते हैं कि लोकमें हम जिस प्रकार विशेष व्यक्तियोंको देखते हैं [illegible] इतिहास, [illegible], नाटक आदि किसी भी मार्गमें हम उनको उस असाधारण रूपमें नहीं देखते हैं। [illegible] सर्वत्र उनका साधारणीकरण हो जाता है। जैसे रामायण आदि इतिहास ग्रन्थोंमें [illegible] आदि का [illegible] है। [illegible] जो रामादि विशेष-व्यक्तियोंका ही [illegible] किया गया है परन्तु [illegible] उनकी विशिष्टताका [illegible] साधारणरूपता [illegible] है। इस बात को [illegible] बौद्ध दर्शनकी [illegible] पद्धतिसे [illegible] किया है।

---

1. [illegible] (बि)। 2. [illegible]। 3. [illegible]। 4. [illegible]।

यहाँ हम जिसको व्यक्ति-विशेष कह रहे हैं उसके लिए बौद्ध दर्शनमें 'स्वलक्षण' शब्दका प्रयोग किया जाता है। संसारमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब 'स्वलक्षण' रूप है और जो स्वलक्षण' रूप नहीं है वे पदार्थ नहीं है। स्वलक्षणात्मक पदार्थ ही उनके मतमें 'सत्' पदार्थ हो सकता है। बौद्धदर्शन क्षणभङ्गवादी-दर्शन है। उसके मतमें 'सर्वं क्षणिकम्' सब कुछ क्षणिक है। केवल एक वर्तमान क्षणमें ही वस्तुकी सत्ता रहती है। दो-चार क्षण रहनेवाला भी कोई स्थिर पदार्थ नहीं है। प्रत्येक पदार्थ केवल एक क्षण वर्तमान रहता है। उसी समय वह 'स्वलक्षण' कहलाता है। वही उसका सत्ताकाल है।

सत्ताका लक्षण बौद्ध-दर्शनमे 'अर्थक्रियाकारित्व सत्त्वम्' इस प्रकार किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जो पदार्थ किसी प्रकारकी 'अर्थक्रिया' करता है अर्थात् जिससे किसी प्रकारका काम लिया जा सकता है वही पदार्थ 'सत्' है। और जो किसी प्रकारकी 'अर्थक्रिया' नहीं करता है वह 'सत्' नहीं है। वह 'स्वलक्षण' भी नहीं है। घट इसलिए 'सत्' या 'स्वलक्षण' है कि वह जलाहरण-रूप अर्थक्रिया करता है। ख-पुष्प और वन्ध्यापुत्र 'सत्' या 'स्वलक्षण' नहीं है क्योंकि उनके द्वारा किसी प्रकारकी 'अर्थक्रिया' नहीं होती है।

यह 'अर्थक्रियाकारित्व'-रूप 'सत्त्व' वर्तमान अर्थमें ही रहता है अतीत या अनागत अर्थमे 'अर्थक्रियाकारित्व' नहीं रहता है। इसलिए वर्तमान अर्थ ही 'सत्' होता है वही 'स्वलक्षण' कहलाता है और वही विशेष या असाधारण अर्थ कहलाता है। रामायण आदि इतिहासके पढ़नेसे जो रामादिका ज्ञान होता है वह यो तो व्यक्ति विशेषका ज्ञान है परन्तु उनके वर्तमान न होनेसे उनमें 'अर्थक्रियाकारित्व' रूप 'स्वालक्षण्य' नहीं बनता है। इसलिए उनको विशेष नहीं कहा जा सकता है। 'इत्यपगता तावद्विशेषबुद्धि'। उनमें विशेष-बुद्धि नहीं होती है। यह बात ग्रन्थकारने इस अनुच्छेदमे कही है। तद्विशेषबुद्धि-र्यद्यपि रामायणप्रायादेकस्मान्महावाक्यादुल्लसति' यद्यपि रामायणादिमे विशेषबुद्धि उत्पन्न होती है 'तथापि वर्तमानतयैव विशेषाणां सम्भाव्यमानार्थक्रिया-सामर्थ्यतमकस्वालक्षण्यपर्यवसानम्' तो भी विशेष अर्थ वर्तमान रूपमें ही अर्थक्रियासामर्थ्य-रूप स्वालक्षण्यसे युक्त हो सकते हैं। और रामादि वर्तमान नहीं हैं इसलिए उनमें विशेषबुद्धि नहीं बनती है। यह इन पंक्तियोका भाव है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें तीन स्थानो पर पूर्व-संस्करणोमें सामान्यसी अशुद्धियाँ हो गई थी हमने उनको ठीक करके यहाँ पाठ दिया है। 'एतादृश तैं' के स्थानपर 'एतादृशा वैं', २ 'सालक्षण्यपर्यवसानात्' के स्थानपर 'स्वालक्षण्यपर्यवसानम्' तथा 'इत्युपगता' के स्थानपर 'इत्यपगता' पाठ होना चाहिए था। हमने संशोधित रूपमें इन्ही पाठोको प्रस्तुत किया है।

कथाओंका साधारणीकरण—

पिछले अनुच्छेदमे इतिहासके साधारणीकरणका प्रतिपादन किया था। अगले अनुच्छेद द्वारा कथाओंमें होने वाले साधारणीकरणका प्रतिपादन करेंगे। किन्तु इस साधारणीकरणको वे नाटकके समान आह्लादप्रद नहीं मानते हैं। कथा शब्दसे वे यहाँ 'कादम्बरी' तथा 'पञ्चतन्त्र' आदि कथप्रधान ग्रन्थोका ही ग्रहण होता है। ग्रन्थकारकी दृष्टिमें 'पञ्चतन्त्र' आदि कथा ग्रन्थोका मुख्य उद्देश्य शिक्षा प्रदान करना है। इसलिए उनके कथा भागमें साधारणीकरण होनेपर भी उनमें नाटकके समान रसास्वादन नहीं होता है। इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें लिख रहे हैं।

पाठसमीक्षा—अगले अनुच्छेदके आरम्भमें 'काव्येष्वपि' यह पाठ पूर्व-संस्करणोमें छपा है। वह अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'कथास्वपि' पाठ होना चाहिए इसका कारण यह है कि ग्रन्थकार यह कह रहे हैं कि साहित्यके इतिहास कथा काव्य नाटक आदि किसी भी विभागमें

'कथास्वपि 'हृदय एव तावत् साधारणीभावो विभावादीनां जात'। तथापि कथामात्रे साधारणीभाव सम्भवति यद्यपि, तथापि 'एव ये कुर्वन्ति तेषामेतद् भवति' इति वाक्यवद् रञ्जनातिशयाभावान्न चित्तवृत्ते-निमग्नता भवति।

काव्ये तु गुणालङ्कारमनोहरशब्दार्थशरीरे लोकोत्तररसप्राणके हृदयसंवाद-वशात् 'निमग्नाकारा तावद् भवति चित्तवृत्तिः। किन्तु सर्वस्य प्रत्यक्षसाक्षात्कारकल्पा तत्र न धीरुदेति।

असाधारण व्यक्तिका ज्ञान नहीं होता है। उनमेंसे इतिहासमें विशेष बुद्धि नहीं होती है यह बात पिछले अनुच्छेदमें दिखला चुके हैं। काव्य तथा नाट्यकी चर्चा आगे करेंगे। इस अनुच्छेदमें कथा की चर्चा कर रहे हैं इसलिए यहाँ 'काव्येष्वपि' के स्थानपर 'कथास्वपि' पाठ होना चाहिए। उसके अतिरिक्त 'हृदयमेव' के स्थानपर 'हृदय एव' पाठ होना चाहिए। तीसरे स्थानपर 'चित्त-वृत्तेर्निर्मग्नता भवति' यह पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था वह भी अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'न चित्तवृत्तेनिमग्नता भवति' यह पाठ होना चाहिए। हमने संशोधित रूपमें इन्हीं पाठोंको प्रस्तुत किया है।

कथाका चमत्कार नाट्य-सदृश नहीं—

अभिनव०—कथाओंमें भी मनके भीतर ही विभावादिका साधारणी-भाव हो जाता है। [परन्तु उनसे नाटक-जैसी काव्यानन्दकी अनुभूति नहीं हो सकती है क्योंकि] वहां यद्यपि कथामात्रमें साधारणी-भाव हो जाता है फिर भी 'जो ऐसा करता है उसको इस प्रकारका फल मिलता है' इस [शास्त्रीय] वाक्यके समान [उन कथाग्रन्थोंमें भी नाटकके तुल्य] चमत्कारातिशय न होने के कारण चित्तवृत्तिकी निमग्नता [अर्थात् तन्मयता] नहीं होती है [इसलिए कथाओंमें भी नाटक जैसा आनन्द नहीं मिलता है]।

काव्यमें साधारणीकरण—

इस प्रकार इतिहास तथा कथाओंमें विशेषबुद्धि न रह कर विभावादिका साधारणी-करण हो जाता है यह बात कहनेके बाद अगले अनुच्छेदमें ग्रन्थकार यह दिखलाते हैं कि काव्यमें भी विशेष बुद्धि नहीं रहती है। विभावादिका साधारणीकरण ही हो जाता है। किन्तु काव्योंका यह साधारणीकरण भी नाट्यके समान आनन्ददायक नहीं होता है। इसका कारण उसकी परोक्षरूपता है। इसी बातको अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अभिनव०—गुण तथा अलङ्कारोंसे मनोहर शब्द तथा अर्थ रूप शरीर वाले और लोकोत्तर रस ही जिसका प्राण है इस प्रकारके [श्रव्य] काव्यमें भी हृदयके तन्मयीभावके कारण यद्यपि चित्तवृत्तिकी निमग्नता तो हो जाती है किन्तु उसमें सब को प्रत्यक्ष जैसी साक्षात्कारात्मक प्रतीति नहीं हो पाती है [अतः नाटक जैसा रसा-स्वाद यहां भी नहीं हो पाता है]।

---

१. काव्येष्वपि।　२. हृदयमेव।　३. जाता।
४. निर्मग्नता।　५. रसप्राणिते।　६. निमग्नाकारिता।

नाट्ये तु—'पारमार्थिक किञ्चदद्य मे कृत्य भविष्यति' इत्येवम्भूताभिसन्धि-सस्काराभावात् सर्वपरिषत्साधारणप्रमोदसारापर्यन्तसरसत्वेन[1] आदरणीयलोकोत्तर-दर्शनश्रवणयोगी भविष्यामि इत्यभिसन्धिसस्कारात्, उचितगीतातोद्य-[2]चर्वणाविस्मृत-सासारिकभावतया विमलमुकुरकल्पीभूतनिजहृदय 'सूत्रधाराद्यभिनया[3]वलोकनोद्भिन्न-प्रमोदशोकादितन्मयाभाव , पाठ्याकर्णन—पात्रान्तरप्रवेशवशात् समुत्पन्ने देशकालविशेषा-वेशानालिङ्गिनि सम्यङ-मिथ्या-सशय-सम्भावनादिज्ञानविज्ञेयत्वपरामर्शानास्पदे राम-रावणादिविषयाध्यवसाये, तत्सस्कारानुवृत्तिकारणभूत-तत्सहचरहृद्यवस्तुरूपगीतातोद्य-प्रमदानुभवसस्कारसूचितमनुगततदुक्तरूपरामाध्यवसायसस्कार[4] एव [5]भवन् सचमत्कार-तदीयचरितमध्यप्रविष्ट-[6]स्वात्मरूपमति स्वात्मद्वारेण विश्व तथा पश्यन्[7], प्रत्येक

नाटयके साधारणीकरणकी विशेषता—

पिछले तीन अनुच्छेदोमे ग्रन्थकारने यह दिखलाया था कि केवल काव्य या नाटकमे ही नही अपितु कथा इतिहास आदि साहित्यके सभी क्षेत्रोमें किसी न किसी रूपमें साधारणीकरण-व्यापारकी आवश्यकता पडती है। किन्तु इतिहास, कथा, तथा काव्यमे साधारणीकरण-व्यापारके होनेपर भी उनसे नाटक जैसा आनन्द प्राप्त नही होता है। इसका कारण उन सबकी परोक्ष-रूपता है। नाटकके साधारणीकरणमे अन्य सबकी अपेक्षा यह विशेषता है कि इसमे साधारणीकरणके साथ साक्षात्कार-रूपताका भी समावेश हो जाता है। इसलिए इतिहास कथा तथा काव्य आदि अन्य सब अङ्गोकी अपेक्षा नाटकमें अधिक रसास्वाद होता है। इसीको आगे लिखते हैं—

अभिनव०—नाटकोमे तो—[नाटक देखते समय] 'आज मुझको कुछ वास्तविक लाभ होगा' इस प्रकारके अभिप्राय तथा सस्कारके न होनेसे, सारी परिषत्केलिए समान आनन्दप्रद एव अन्त तक सरस होनेसे आदरणीय लोकोत्तर [नाट्य-वस्तु] को देखने-सुननेका अवसर मिलेगा इस अभिप्राय तथा सस्कारसे उसके योग्य गीत-आतोद्य, आदिकी चर्वणा आदिके द्वारा सासारिक-भाव [लौकिकता] को भूल कर, स्वच्छ दर्पणके समान निर्मल-हृदय बन कर, सूत्रधारादिके अभिनयको देखकर उत्पन्न होने वाले हर्ष-शोकादिमे तन्मय होकर, पाठ्यके सुनने तथा अन्य पात्रोके प्रवेशके कारण देशकालादि विशेषके परामर्शसे रहित और सम्यक्, मिथ्या, सशय सम्भावनादि ज्ञानसे विज्ञेयत्वके सम्बन्धसे रहित [साधारणीकृत अत एव अलौकिक], राम-रावणादि विषयक ज्ञानके होनेपर, और उस प्रकारके सस्कारके निरन्तर बने रहनेके कारणभूत उसके साथी सुन्दर गीत-आतोद्य प्रमदा-आदिके अनुभव-जन्य-सस्कारसे सूचित, उसके साथ चलने वाले, उक्त रूप रामके ज्ञान एव सस्कारसे युक्त होकर, चमत्कारयुक्त उन [रामादि], के चरितमे अपने स्वरूपको प्रविष्ट कर [अर्थात् रामदिके साथ तादात्म्यको प्राप्त होकर] अपने द्वारा सारे ससारको भी उसी प्रकार [अर्थात् रामादिकी भूमिकाके उपयुक्तके समान] देखते हुए प्रत्येक सामाजिक

---

१ विरसनासमादरणीय। २ म वर्णन। ३ सूच्याद्यभिनय। ४ भ रूपपरमाध्य। ५ भवत्पञ्चर्वदिवसं। ६ स्वात्व। ७ पश्यत्।

सामाजिको देशकालविशेषणापरामर्शेन, एवं कारिणामिदं इति 'लीडात्मकविधिसमर्पितं सविजातीयमेव संविद्विशेषरञ्जकप्राणवल्लभाप्रतिम-रसास्वादसहचर-रम्यगीतातोद्यादि-संस्कार[1]-वशेन हृदयाभ्यन्तरनिखात तत [2]एवोत्पुञ्छशतैरपि म्लानिमात्रमप्यभजमानं भजन्, तत्तच्छुभाशुभप्रेप्साजिहासामसृणस्यूतवृत्तित्वादेव शुभमाचरत्यशुभं समुज्झति। इदानीमुपायसंवेदनालाभात्।

तदिदमनुकीर्तनमनुव्यवसायविशेषो वा नाट्यापरपर्यायो नानुकार इति भ्रमितव्यम्। अनेन भाण्डेन राजपुत्रस्यान्यस्य [4]वानुकृतमित्यादि-बुद्धेरभावात्। तद्धि विकारणमिति प्रसिद्धं हास्यमात्रफलं मध्यस्थानाम्। यदभिप्रायेण मुनिर्वक्ष्यति—

देश-कालादि विशेषणोंके सम्बन्धके विना ही आस्वादात्मक विधिसे समर्पित इस प्रकार [का आचरण] करने वालोंको यह [फल प्राप्त] होता है इस प्रकारके ज्ञानको [प्राप्त करके] उस विशेष ज्ञानके उपरञ्जक कान्तासम्मिततया रसास्वादनके साथ-साथ गीत-वाद्यादिके, संस्कारकी सामर्थ्यसे हृदयके भीतर गड जाने वाले, और निकालनेके सैकड़ो प्रयत्न करनेपर भी तनिक भी मलिनताको न प्राप्त होने वाले [ज्ञान] को प्राप्त करके उस-उस शुभकी प्राप्ति तथा अशुभसे बचनेकी प्रवृत्ति सदा होनेके कारण ही इस समय [अर्थात् नाटकको देखते समय उन शुभोंके प्राप्त करने और अशुभोंके परिहार करनेके] उपायोंका ज्ञान प्राप्त हो जानेसे शुभका आचरण करता और अशुभका परित्याग करता है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें दूसरे संस्करणोंमें 'आपर्यन्त विरसत्वेन' पाठ छपा था। उसके स्थानपर हमने 'आपर्यन्त सरसत्वेन' पाठ रखा है। नाटक अन्तपर्यन्त 'विरसत्वेन' आदरणीय नहीं होता है अपितु 'सरसत्वेन' ही आदरणीय होता है। द्वितीय संस्करणमें इसके स्थानपर 'निरसतासमादरणीय' पाठ दिया गया है। पर वह भी ठीक नहीं है। अतः 'सरसत्वेन' पाठ ही होना चाहिए था। दूसरी जगह 'पुत्रपानाद्यभिनय' के स्थानपर प्रथम संस्करणमें 'पुत्राद्यभिनय' द्वितीय संस्करणमें उसके स्थानपर 'पुत्रपाद्यभिनय' पाठ दिया गया है। यह भी अशुद्ध ही है।

नाट्य अनुकरण रूप नहीं है—

अभिनव०—यह अनुव्यवसाय-विशेष रूप 'अनुकीर्तन' जिसको कि नाट्य-नामसे भी कहा जाता है, अनुकरण-रूप है ऐसा समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इस [नाट्यको देखनेपर] इस भाण्ड [नकल करने वाले भांड] ने राजपुत्रकी या अन्य किसीकी नकल की है। इस प्रकारकी बुद्धि [नाट्यको देखनेपर] नहीं होती है। [नकल नाटकसे भिन्न होती है। उसके करने वाले 'नट' नहीं 'भाण्ड' भांड कहलाते हैं। उनके देखनेपर यह भांड राजपुत्रकी नकल कर रहा है इस प्रकार की बुद्धि होती है]। और वह मध्यस्थोंके लिए केवल हास्य-जनक विकृति [नकल] नामसे प्रसिद्ध है उसको लक्ष्यमें रख कर [भरत] मुनि आगे [७-१६ मे] कहेंगे कि—

---

१ निदानेन।   २ स्वानुभवत्वेन।   ३ म म एवानुभवन्तो।
४ राजपुत्रस्य स्यावदयानुकृतेत्यादि। सानुकृतेत्यादि।

नाट्ये तु—'पारमार्थिक किञ्चदद्य मे कृत्य भविष्यति' इत्येवम्भूताभिसन्धि-सस्काराभावात् सर्वपरिषत्साधारणप्रमोदसारापर्यन्तसरसत्वेन'[1] आदरणीयलोकोत्तर-दर्शनश्रवणयोगी भविष्यामि इत्यभिसन्धिसस्कारात्, उचितगीतातोद्य-[2]चर्वणाविस्मृत-सासारिकभावतया विमलमुकुरकल्पीभूतनिजहृदय [3]'सूत्रधाराद्यभिनयावलोकनोद्भिन्न-प्रमोदशोकादितन्मयाभाव, पाठ्याकर्णन—पात्रान्तरप्रवेशवशात् समुत्पन्ने देशकालविशेषा-वेशानालिङ्गिनि सम्यङ-मिथ्या-सशय-सम्भावनादिज्ञानविज्ञेयत्वपरामर्शानास्पदे राम-रावणादिविषयाध्यवसाये, तत्सस्कारानुवृत्तिकारणभूत-तत्सहचरहृद्यवस्तुरूपगीतातोद्य-प्रमदानुभवसस्कारसूचितसमनुगततदुक्तरूपरामाध्यवसायसस्कार'[4] एव [5]'भवन् सचमत्कार-तदीयचरितमध्यप्रविष्ट-[6]'स्वात्मरूपमति स्वात्मद्वारेण विश्व तथा पश्यन्[7], प्रत्येक

नाटयके साधारणीकरणकी विशेषता—

पिछले तीन अनुच्छेदोमें ग्रन्थकारने यह दिखलाया था कि केवल काव्य या नाटकमें ही नही अपितु कथा इतिहास आदि साहित्यके सभी क्षेत्रोमे किसी न किसी रूपमें साधारणीकरण-व्यापारकी आवश्यकता पडती है। किन्तु इतिहास, कथा, तथा काव्यमे साधारणीकरण-व्यापारके होनेपर भी उनसे नाटक जैसा आनन्द प्राप्त नही होता है। इसका कारण उन सबकी परोक्ष-रूपता है। नाटकके साधारणीकरणमे अन्य सबकी अपेक्षा यह विशेषता है कि इसमे साधारणीकरणके साथ साक्षात्कार-रूपताका भी समावेश हो जाता है। इसलिए इतिहास कथा तथा काव्य आदि अन्य सब अङ्गोकी अपेक्षा नाटकमे अधिक रसास्वाद होता है। इसीको आगे लिखते हैं—

अभिनव०—नाटकोमे तो—[नाटक देखते समय] 'आज मुझको कुछ वास्तविक लाभ होगा' इस प्रकारके अभिप्राय तथा सस्कारके न होनेसे, सारी परिषत्केलिए समान आनन्दप्रद एव अन्त तक सरस होनेसे आदरणीय लोकोत्तर [नाट्य-वस्तु] को देखने-सुननेका अवसर मिलेगा इस अभिप्राय तथा सस्कारसे उसके योग्य गीत-आतोद्य, आदिकी चर्वणा आदिके द्वारा सासारिक-भाव [लौकिकता] को भूल कर, स्वच्छ दर्पणके समान निर्मल-हृदय बन कर, सूत्रधारादिके अभिनयको देखकर उत्पन्न होने वाले हर्ष-शोकादिमे तन्मय होकर, पाठ्यके सुनने तथा अन्य पात्रोके प्रवेशके कारण देशकालादि विशेषके परामर्शसे रहित और सम्यक्, मिथ्या, सशय सम्भावनादि ज्ञानसे विज्ञेयत्वके सम्बन्धसे रहित [साधारणीकृत अत एव अलौकिक], राम-रावणादि विषयक ज्ञानके होनेपर, और उस प्रकारके सस्कारके निरन्तर बने रहनेके कारणभूत उसके साथी सुन्दर गीत-आतोद्य प्रमदा-आदिके अनुभव-जन्य-सस्कारसे सूचित, उसके साथ चलने वाले, उक्त रूप रामके ज्ञान एव सस्कारसे युक्त होकर, चमत्कारयुक्त उन [रामादि], के चरितमे अपने स्वरूपको प्रविष्ट कर [अर्थात् रामादिके साथ तादात्म्यको प्राप्त होकर] अपने द्वारा सारे ससारको भी उसी प्रकार [अर्थात् रामादिकी भूमिकाके उपयुक्तके समान] देखते हुए प्रत्येक सामाजिक

१ विरसनासमादरणीय। २ स वर्णन। ३ सूच्याद्यभिनय। ४ भ रूपपरमाध्य।
५ भवत्पञ्चर्दिवसं। ६ स्वातव। ७ पश्यत्।

न चान्यद्वस्त्वस्ति यच्छोकेन सदृशं स्यात्। अनुभावांस्तु करोति। किन्तु [1]सजातीयानेव न तु तत्सदृशान्। साधारणरूपस्य क केन सादृश्यं सर्वलोकवर्तिनः।

सदृशत्वन्तु [2]विशेषात्मना यौगपद्ये नोपपद्यते। कदाचित् क्रमेण नियत एवानुकृतः स्यात्। न त्वनियतानुकारोऽपि[4]। सामान्यात्मकत्वे कोऽनुकारार्थः। तस्मादनियतानुकारो[3] नाट्यमित्यपि न भ्रमितव्यम्। अस्मदुपाध्यायकृते काव्यकौतुकेऽप्ययमेवाभिप्रायो मन्तव्यः।

[5]तेनानुव्यवसायविशेषविषयीकार्यं नाट्यम्।

अभिनव०—और अन्य कोई ऐसी वस्तु भी नहीं है जो शोकके सदृश हो। [इसलिए सदृशकरण रूप अनुकरण सम्भव ही नहीं है। अतः नट न प्रमदादि विभावो का अनुकरण करता है और न चित्तवृत्तियोका] केवल [उन चित्तवृत्तियोके अनुरूप] अनुभावो [अर्थात् चित्तवृत्तिजन्य कार्यों] को करता है। किन्तु उन्हे भी सजातीय रूपसे करता है, सदृश-रूपसे नहीं। क्योंकि सारे संसारमे साधारण रूपसे वर्तमान अर्थका किसके साथ क्या सादृश्य हो सकता है। [अर्थात् साधारणीभूत] अर्थका किसीके साथ कोई सादृश्य नही हो सकता है।

अभिनव०—क्योंकि [साधारणीकृत पदार्थोंका नहीं अपितु] विशेषरूपसे और समकालीन पदार्थोंका [समान दर्शन रूप] 'सदृशत्व' बनता है। कभी [गौणरूप से] नियत [पदार्थ] ही क्रमसे [अर्थात् भिन्न-कालमें होने पर भी] अनुकृत हो सकता है। किन्तु अनियत [साधारणीकृत अर्थ] का अनुकार नहीं हो सकता है। क्योंकि साधारणीकृत अर्थ [जो सबको समान रूपसे प्रतीत होता है उन] मे अनुकरण का प्रयोजन ही क्या रहता है। इसलिए अनियत [साधारणीकृत अर्थ] का अनुकरण रूप नाट्य है यह भ्रम भी नहीं करना चाहिए [अर्थात् ऐसा भी नहीं समझना चाहिए]। हमारे [अभिनवगुप्तके] उपाध्याय [भट्टतोत] के [बनाए हुए] 'काव्यकौतुक' [ग्रन्थ] मे भी यही अभिप्राय [प्रतिपादित] समझना चाहिए।

अभिनव०—इसलिए नाट्य अनुव्यवसाय-विशेषका विषयभूत होता है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'न त्वनियतानुकारोऽपि' इतने पाठको हमने स्थानान्तरित किया है। पूर्व-संस्करणोंमें यह पाठ 'मन्तव्य' के बाद छपा था। परन्तु वहाँ उसकी सङ्गति नहीं लगती थी। यहाँ ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि वैसे तो सामान्यरूपसे नियत या अनियत किसीका भी समान दर्शन रूप सादृश्य या अनुकरण नहीं बन सकता है। पर यदि कदाचित् मान लें तो नियत पदार्थोंका तो सामान्यरूपसे अनुकरण बन भी सकता है। पर अनियतका अनुकरण तो कभी नहीं बन सकता है। इस अर्थकी दृष्टिसे यहाँ हमने इस वाक्यको स्थानान्तरित किया है यही इसका उचित स्थान है। पूर्व-संस्करणोंमें यह अन्य स्थानपर मुद्रित किया गया था। वह अशुद्ध था। इसीसे उसका संशोधन कर उसको उचित स्थानपर पहुँचा दिया है।

---

१. सजातीयानेव न तु तत्सदृशान्। २. न विशेषात्मना। ३. तस्मादनियतानुकारो नाट्यम्।
४. न 'त्वनियतानुकारोऽपि' इति पाठोऽधिकः। ५. तेनानुव्यवसाय।

'परचेष्टानुकरणाद्धास समुपजायते' । इति ना० ७-१० ।

'तत्पक्ष्याणान्तु तदेव 'द्वेषासूयानिवृत्त्यादिफलम् । तद्धृदग्यैव हि देत्याना हृदयक्षोभ । एवम्भूता वयमुपहासभाजनमिति । 'उपहासभीरवश्च निवर्तन्ते ततो न तूपदेशेन ।

'नन्वेतावता नियतानुकारो मा भूत, अनुकारेण तु किमपराद्धम् ?

न किञ्चिदसम्भवादृते । अनुकार इति हि सदृशकरणम् । तत् कस्य ? न तावद्रामादे, तस्याननुकार्यत्वात् । एतेन प्रमदादिविभावानामनुकरण पराकृतम् ।

न च चित्तवृत्तीना शोक-क्रोधादिरूपाणाम् । न हि नटो रामसदृश स्वात्मन शोक करोति । सर्वथैव तस्य तत्राभावात् । भावे वाऽननुकार्यत्वात् ।

दूसरोकी चेष्टाओकी नक़ल करने से हास उत्पन्न होता है ।

अभिनव०—[वह उपहास] उस पक्षके लोगोमे द्वेष, असूया [गुणेषु दोषाविष्करणमसूया] और [उसके] निवृत्ति आदिको उत्पन्न करने वाला होता है । [यहा हमारी नकल कर उपहास किया जा रहा है] ऐसा समझ कर ही दैत्यो के हृदयमे क्षोभ उत्पन्न हुआ है । उपहास बनाए जानेसे ही उससे विरक्त होगए न कि किसीके कहनेसे ।

विभावोका अनुकरण अनुपपन्न है—

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा इस [आपके कथन] से [नाट्यको किसी] नियत [विशेष-व्यक्ति आदि] का अनुकरण न माने तो भी [सामान्य रूपसे] अनुकरण माननेमे क्या हानि है ?

अभिनव०—[उत्तर] सिवाय असम्भव होनेके और कुछ हानि नहीं है । [इसी कथनकी पुष्टिकेलिए आगे युक्तिया देते हैं कि—] 'अनुकार' इस [शब्द] से [यह प्रतीत होता है कि वह] सदृश-क्रिया रूप है । सो वह [सदृश क्रिया रूप अनुकरण] किसका होगा ? क्योकि राम आदिका तो [सदृश क्रिया-रूप अनुकरण] उनके अनुकार्य [क्रिया-रूप] न होनेसे हो नहीं सकता । [क्योकि वे क्रिया-रूप न होने से 'अनुकार्य' नहीं हो सकते हैं] । इसी [युक्ति] से प्रमदा आदि विभावोका अनुकरण [उनके क्रियात्मक न होनेके कारण समाप्त] खण्डित हो जाता है ।

अनुभावोका अनुकरण भी असम्भव है—

अभिनव०—और न शोक क्रोध आदि चित्तवृत्तियोका [अनुकरण सम्भव है क्योकि] नट अपने शोकको रामके शोकके सदृश नही करता है । उस [अर्थात् नट] मे उस [अर्थात् शोक] का सर्वथा अभाव होनेसे । [अर्थात् वास्तवमे तो नटमे शोक रहता ही नहीं है फिर वह अपने शोकको रामके शोकके सदृश कैसे बना सकता है] । अथवा यदि रहता है तो फिर [वह तो वास्तविक है अत] अनुकरण-रूप न होनेसे । [उसका अनुकरण नहीं करता है । इस प्रकार न तो प्रमदा आदि विभावोका अनुकरण उनके क्रियारूप न होनेके कारण सम्भव है और न शोक-क्रोध आदि रूप चित्तवृत्तियो या अनुभावोका सदृशकरण रूप अनुकारण सम्भव है] ।

---

१ तत्पक्षीयाणा । २ द्वेषासूयानुवृत्त्यादिफलम् । ३ उपहास्यता । ४ एव तावता ।

इसके बाद वृत्तिकारने 'अनुकरण-पक्ष' का निराकरण करनेकेलिए उसके 'नियतानुकार' तथा 'अनियतानुकार' दो अवान्तर पक्ष बनाए हैं। और उन दोनोंका खण्डन कर यह सिद्ध किया है कि नाट्य न तो 'नियतानुकार-रूप' हो सकता है और न 'अनियतानुकार-रूप' ही हो सकता है। अतः वह किसी भी रूपमें 'अनुकरणात्मक' नहीं है।

'नियतानुकार' का अर्थ किसी विशेष व्यक्तिका 'अनुकरण' है। इस पक्षके खण्डनमें अभिनवगुप्तकी मुख्य युक्ति यह है कि सीता-रामादि किसी विशेष व्यक्तिका नियतानुकरण सम्भव ही नहीं है। क्योंकि अनुकरण शब्दका अर्थ है 'सदृश-क्रिया' राम आदि विभाव यदि क्रिया रूप होते तब तो उनका सदृश-क्रिया रूप 'अनुकरण' हो सकता था। किन्तु वे तो क्रिया रूप नहीं द्रव्य रूप हैं अतः उनका 'सदृश-क्रिया' रूप अनुकरण भी नहीं किया जा सकता है। इस उदाहरणसे विभावरूपके अनुकरणका खण्डन किया गया है। अर्थात् न केवल राम आदि अपितु किसी भी प्रमदा आदि अन्य व्यक्तिका भी अनुकरण नहीं किया जा सकता है। अर्थात् नाटकमें जिनका प्रतिपादन विभाव शब्दसे किया जाता है उनमेंसे किसीका भी अनुकरण नहीं किया जा सकता है।

अनुभावोंका अनुकरण भी असम्भव है—

इस प्रकार अभिनवगुप्तने विभावोंके अनुकरणको असम्भव सिद्ध करके फिर उनके अनुभावोंका अनुकरण भी असम्भव सिद्ध किया है। रसोत्पत्तिके कार्यभूत जो हर्ष-शोक आदि होते हैं उनको 'अनुभाव' कहते हैं। अभिनवगुप्तके मतानुसार इन हर्ष शोक आदि अनुभावोंका भी अनुकरण सम्भव नहीं है। नट सीता-राम आदिके भीतर रहने वाले हर्ष-शोक आदिका अनुकरण या सदृश-करण नहीं कर सकता है। अर्थात् वह अपने भीतर होने वाले हर्ष-शोक आदिको सीता-रामके हर्ष-शोक आदिके समान बनावे यह भी वह नहीं कर सकता है। इसके वृत्तिकारने दो कारण दिए हैं। एक तो यह कि वास्तवमें तो नटमें हर्ष-शोक होते ही नहीं हैं फिर वह अपने भीतर सर्वथा अविद्यमान हर्ष-शोकको, रामके हर्ष-शोकके समान कैसे बना सकता है? और दूसरा कारण यह है कि यदि नटके भीतर वास्तविक हर्ष-शोककी स्थिति मानी जाय तो वे हर्ष शोक तो वास्तविक हो गए फिर उनको अनुकरण-रूप कैसे कहा जाय? इस प्रकार अभिनवगुप्तने हर्ष-शोकादिके भी सदृश-करण-रूप अर्थात् अनुकरण-रूप होनेकी असम्भाव्यताका उपपादन किया है।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि फिर हमको नाट्यमें नटोंद्वारा प्रदर्शित किए जाने वाले हर्ष शोक आदिकी प्रतीति क्यों होती है? इसका उत्तर वृत्तिकारने यह दिया है कि नट रामके 'सदृश' हर्ष-शोकादिको नहीं करता है किन्तु उनके 'सजातीय' हर्ष शोकादिको करता है। अब यहां 'सजातीय' और 'सदृश' शब्दोंके अर्थभेदका प्रश्न उपस्थित हो जाता है। 'सजातीय' और 'सदृश' में क्या भेद है इस बातको ग्रन्थकारको स्पष्ट करके लिखना चाहिए था किन्तु उन्होंने उसको लिखा नहीं है। इसलिए साधारण व्यक्तिको उनकी यह बात कुछ समझमें नहीं आती है कि नट रामके 'सजातीय' हर्ष शोकादिको करता है उनके 'सदृश' हर्ष शोकादिको नहीं करता है। जैसे भरतके 'अनुभावन' तथा 'अनुकीर्तन' शब्दोंका अर्थ स्पष्ट न होनेसे उन दोनों शब्दोंके अन्तरको समझना कठिन हो गया था इसी प्रकार यहां 'सजातीय' और 'सदृश' शब्दोंके अर्थके स्पष्ट न किए जानेसे उनके इस अन्तरका समझना कठिन हो रहा है। इसलिए यहां इन दोनों शब्दोंके अर्थभेदको स्पष्ट करके दिखलानेकी आवश्यकता है। अतः हम यहां उसका स्पष्टीकरण करनेका यत्न कर रहे हैं।

'अनुभावन' और 'अनुकीर्तन' शब्दोका अर्थ—

इस कारिकामें भरतमुनिने नाट्यके स्वरूपका निर्धारण करनेका यत्न किया है। उसमे 'अनुभावन' तथा 'अनुकीर्तन' रूप दो पक्ष प्रस्तुत किए हैं। इनमे अनुभावन-पक्षका खण्डन करके नाट्यको 'अनुकीर्तन' रूप ठहराया है। परन्तु इनके भेदको समझना बडा कठिन है। अभिनवगुप्तने इन शब्दोका प्रयोग तो कर दिया है परन्तु उनका अर्थ स्पष्ट करने का यत्न नही किया है। यह विषय स्वय ही बडा जटिल है, फिर उसमें भी यदि ऐसे अस्पष्ट जटिल शब्दोका प्रयोग किया जाय तब तो विषय का समझना असम्भव-प्राय-सा ही हो जाता है। इसीलिए अभिनवभारतीका यह प्रसङ्ग बडा कठिन हो गया है। स्वय मूल कारिका की पक्ति तो क्लिष्ट थी ही, पर उसकी टीका और भी क्लिष्ट बन गई है। फिर भी हम इसको ठीक तरहसे समझानेकेलिए 'अनुभावन' तथा 'अनुकीर्तन' शब्दोके अर्थभेदको स्पष्ट करनेका यत्न करते हैं। हमारी सम्मतिमें यहा ग्रन्थकारने 'अनुभावन' शब्दका प्रयोग 'पदार्थके प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले विशेष स्वरूपका ग्रहण' इस अर्थमे किया है। और 'अनुकीर्तन' शब्दका प्रयोग नाटकके साधारणीकरण रूप अलौकिक व्यापार द्वारा सीता-रामादिके विशेष स्वरूपको हटा कर उनके साधारणीकृत रूपका ग्रहण' इस अर्थमें किया है। 'अनुभावन' शब्दका सम्बन्ध 'अनुभव' शब्दसे है। अनुभव या प्रत्यक्ष, वर्तमान वस्तुका ही होता है। सीता-राम आदि वर्तमान नहीं है अत नाट्यमें उनका 'अनुभावन' नही हो सकता है। 'अनुकीर्तन 'अर्थात् शब्द द्वारा कथन' हो सकता है। और शब्द द्वारा होने वाला ज्ञान 'सामान्यावधारण-प्रधान' होता है। भरतमुनिके मतमें नाट्यमें सीता-रामादिके विशेष रूपका ग्रहण नही होता है अपितु साधारणीकृत रूपका ही ग्रहण होता है। इसलिए नाट्य 'अनुभावन-रूप' न होकर अनुकीर्तन-रूप' है। इसी लिए प्रत्येक नाट्यमें प्रत्येक सामाजिक साधारणीकरण-व्यापार द्वारा स्वय राम आदिकेसाथ तादात्म्य स्थापित करके ही नाट्यके रसका अनुभव करता है। इसीको वृत्तिकारने 'नाट्य भावानुकीर्तनम्' लिखकर स्पष्ट किया है। यह भरतमुनिका अभिप्राय है।

तीसरा अनुकरणपक्ष—

भरतमुनिने मूल कारिकामें केवल 'अनुभावन' तथा 'अनुकीर्तन' रूप दो पक्ष प्रस्तुत किए हैं। किन्तु वृत्तिकारने यहा तीसरे 'अनुकरण-पक्ष' की भी चर्चा की है। इसका आधार पूर्ववर्ती व्याख्याकारोका लेख है। भरतके कुछ पूर्ववर्ती टीकाकारोने भरतमुनिके 'अनुकीतन' शब्दको अनुकरण-परक मान कर नाट्यको 'अनुकरण-रूप' सिद्ध करनेका यत्न किया है। किन्तु अभिनवगुप्त इससे सहमत नही हैं। इसलिए उन्होने यहाँ इस 'अनुकरण-पक्ष' का विस्तार-पूर्वक खण्डन किया है। उनका कहना है कि 'अनुकीर्तन' को 'अनुकरण' रूप समझनेकी भूल नही करनी चाहिए। इस विषयमें उन्होने जो युक्तियां दी हैं उनका साराश निम्न प्रकार दिया जा सकता है—

१—अनुकरणका अर्थ 'नकल' है। 'नकल' या स्वाग भी अभिनयका एक प्रकार होता है परन्तु वह अत्यन्त निम्न श्रेणीकी वस्तु है। वे केवल किसीका उपहास करनेकेलिए भरे जाते हैं। स्वाग भरना या नकल भरना जहाँ एक ओर किसी अनुकार्य व्यक्तिका अनुकरण कर उसका उपहास बना कर देखने वालोमें निम्न श्रेणीके हास्यको उत्पन्न करता है वहाँ जिसका स्वाग भरा जाता है उसके मनमें क्रोध द्वेष आदि भावोको उत्पन्न करता है। नाट्यमें यह बात नही होती है। नाट्य न तो किसीका स्वाग भर कर उसका उपहास बनाता है और न उसके अपमानका कारण बनता है। इसलिए वह अनुकार्य या उसके मित्रोमें क्रोध आदिको उत्पन्न नही करता है। और न प्रेक्षकोमें निम्न श्रेणीके हास्यको ही उत्पन्न करता है। अपितु वह प्रेक्षकोके लिए अलौकिक आनन्दको प्रदान करता है। यह नाट्यका 'अनुकरण' या नकल, स्वाग आदिसे मुख्य भेद है।

'तथाहि-आहार्यविशेषादिना निवृत्ते' तद्देशकालचैत्रमैत्रादिनटविशेषप्रत्यक्षे', विशेष-लेशोपक्रमेण च विना 'प्रत्यक्षाप्रवृत्तेरायाते 'प्रत्यक्षाभिमाने, 'प्रसिद्धतदर्थतया आदरणीय-चरितवाचकस्य रामादिशब्दस्यात्रोपयोगात् असम्भावनामात्रनिराकरणेन अनुव्यवसायस्य प्रत्यक्षकल्पना, हृद्यगीताद्यनुस्यूततया चमत्कारस्थानत्वाद् हृदयानुप्रवेशयोग्यत्व, अभिनय-चतुष्टयेन स्वरूपप्रच्छादन, प्रस्तावनादिना नटज्ञानजसंस्कारसाचिव्य च°।

अभिनव०—जैसे कि—[आहार्य विशेष अर्थात्] विशेष प्रकारकी वेष-भूषा आदिके द्वारा [सामने अभिनय करने वाले नटोंके विषयमें] उस देश, उस काल और चैत्र-मैत्र आदि विशेष [व्यक्तित्व] के निवृत्त हो जानेपर, और ['विशेषावधारण-प्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्' के अनुसार] विशेषके सम्पर्कके विना प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति न होनेसे [सामने दीखनेवाले नटादिके ज्ञानको प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है। अतः उसमे] प्रत्यक्षाभिमानके प्राप्त होनेपर, इस [नट] के विषयमें आदरणीय चरित [अर्थात् श्री रामचन्द्र जी] के वाचक राम आदि शब्दके प्रयोगसे असम्भावनामात्रके निराकरण हो जानेसे [साधारणीकृत रूपमे दिखलाई देनेवाले रामादिके ज्ञान-रूप] 'अनुव्यवसाय' मे प्रत्यक्षकल्पना [उत्पन्न होती है], और मनोहर गीतादिके साथ सम्बद्ध होनेके कारण चमत्कार-जनक होनेसे हृदयके भीतर घुस जानेकी योग्यता, [आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य] चारो प्रकारके अभिनयसे [नटके] स्वरूपका प्रच्छादन, और प्रस्तावनादिसे नटज्ञानजन्य-संस्कारसहकृतत्व, [उपस्थित होता है]।

इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकार नाट्यानुभूतिकी प्रक्रियाका निरूपण कर रहे हैं। इस प्रक्रियाको उन्होंने प्रायः छह श्रेणियोंमें विभक्त किया है। जिनको संक्षेपमें निम्न प्रकार दिया जा सकता है—

१. आहार्य वेष-भूषा आदिके द्वारा चैत्र-मैत्रादि रूप नटमें—देश-काल और उनके व्यक्तित्वके प्रत्यक्षकी निवृत्ति।

२. योगदर्शनके 'विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्' इस प्रत्यक्ष-लक्षणके अनुसार विना विशेषके सम्पर्कके प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति असम्भव होनेसे उस नटपर राम-आदिके प्रत्यक्षाभिमानकी उत्पत्ति।

३. प्रसिद्धार्थक आदरणीय-चरित-वाचक राम आदि शब्दके प्रयोगके द्वारा उस नटमें रामत्वकी असम्भावनाकी निवृत्तिके कारण उस अनुव्यवसायात्मक ज्ञानमें प्रत्यक्ष-कल्पनाकी उत्पत्ति।

४. प्रस्तावना आदिसे नटज्ञान सहकृत चतुर्विध अभिनयके द्वारा उसमें स्वरूपका आच्छादन।

ये चार बातें नटमें होती हैं। और आगेकी दो बातें सामाजिकमें होती हैं।

५. (क) पूर्वोक्तानि [illegible] लौकिक प्रत्यक्ष अनुमानादिके संस्कारोंके सहारे, (ख) सहृदयताके संस्कारोंसे सहकृत हृदयमें तन्मयताकी [illegible] उत्पत्ति।

---

१. [illegible] तथा च। २. नि वृत्ते। ३. नटविशेषप्रत्यक्षाभिमाने। ४. प्रत्यक्षप्रवृत्तेः।
५. 'प्रत्यक्षाभिमाने' इति नास्ति। ६. रामादिशब्दस्यात्रोपयोगात् प्रसिद्धतदर्थतया आदरणीयचरित-वाचकस्य [illegible] असम्भावनामात्रनिराकरणेनानुव्यवसायेन प्रत्यक्षकल्पनारूपे। ७. 'च' नास्ति।

साजात्य और सादृश्यका भेद—

'सजातीय' शब्द जातिसे सम्बन्ध रखता है। जातिको न्याय-सिद्धान्तमें नित्य और अनेक पदार्थोंमें समवेत धर्म माना गया है। 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं जातिः' यह जातिका लक्षण किया गया है। जो नित्य होकर अनेकमें समवेत हो उसको 'जाति' कहते हैं यह उस लक्षण का अभिप्राय हुआ। जैसे सारी गौओंके भीतर रहने वाली 'गोत्व' जाति या सारे मनुष्योंमें रहने वाली 'मनुष्यत्व' जाति, नित्य और अनेक-समवेत होनेसे 'जाति' पदसे वाच्य होती है। इसी जातिके लिए न्याय तथा वैशेषिक दोनों दर्शनोंमें 'सामान्य' शब्दका प्रयोग भी होता है। यह 'गोत्व' जाति सब गो-व्यक्तियोंमें रहती है इसलिए सब गो-व्यक्ति 'सजातीय' माने जाते हैं। जाति या सामान्य नित्य धर्म है इसलिए भिन्न-कालीन गो-व्यक्तियोंमें भी 'साजात्य' रह सकता है। इसलिए रामको जो हर्ष-शोकादि पूर्वकालमें हुए थे उनमें भी हर्षत्व शोकत्व आदि जाति रहती थी और इस समय नट जिन कृत्रिम हर्ष-शोकादिको प्रकट कर रहा है उनमें भी हर्षत्व शोकत्वादि जाति रहती है। इसलिए रामके और नटके दोनों हर्षशोक 'सजातीय' हैं। इसीलिए अभिनवगुप्तने कहा कि 'सजातीयानेव अनुभावान् करोति'।

यह सजातीय शब्दका अर्थ हुआ। अब दूसरा 'सदृश' शब्द है। इस शब्दका सम्बन्ध 'दर्शन' से है। समान-दर्शन दो विद्यमान पदार्थोंका और विशेष पदार्थोंका ही हो सकता है। न तो विद्यमान और अविद्यमान पदार्थोंका 'समान-दर्शन' हो सकता है और न उन पदार्थोंका जो विशेष रूप नहीं है अर्थात् साधारणीकृत पदार्थ है उनका समान-दर्शन रूप सादृश्य हो सकता है। सीता-रामादिके हर्ष शोक आज विद्यमान नहीं हैं इसलिए उनका समान-दर्शन रूप 'सादृश्य' नहीं बनता है। और इस समय सीता-रामादिके जिस हर्ष-शोकका अभिनय किया जा रहा है वह 'विशेषात्मक' भी नहीं किन्तु साधारणीकृत रूपमें ही है इसलिए भी उसमें समान-दर्शन रूप सादृश्य नहीं बन सकता है। 'भूयोऽवयवसामान्ययोगो हि जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यम्' यह 'सादृश्य' का लक्षण है। इस लक्षणके अनुसार सजातीय पदार्थोंमें भी 'सादृश्य' नहीं होता है। ऐसे स्थलोंपर यदि 'सदृश' शब्दका प्रयोग होता है तो उसे गौण प्रयोग ही कहा जा सकता है।

इसका साराश यह हुआ कि साजात्य' भिन्न कालीन व्यक्तियोंमें भी हो सकता है और समान-कालीन व्यक्तियोंमें भी हो सकता है। किन्तु 'सादृश्य' केवल समकालीन और वह भी केवल वर्तमान व्यक्तियोंमें ही हो सकता है। भिन्न-कालीन व्यक्तियोंमें और 'सादृश्य' नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त सादृश्य विशेषात्मक पदार्थों या व्यक्तिविशेषोंमें ही होता साधारणीकृत अर्थोंमें नहीं। इसीलिए अभिनवगुप्तने आगे लिखा है कि 'साधारणरूपस्य क केन सादृश्यार्थ ।

इस प्रकार अभिनवगुप्तने पूर्व-टीकाकारोंके अनुकरण पक्षका विस्तार पूर्वक खण्डन करके 'अनुकीर्तन-पक्ष' का ही समर्थन किया है। और 'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानु-कीर्तनम्' इस कारिका भागकी व्याख्या बड़ी विद्वत्ताके साथ प्रस्तुत की है। किन्तु इसमें 'अनुभावन' तथा 'अनुकीर्तन' शब्दोंके सूक्ष्म अन्तरका तथा 'सजातीय' एव 'सदृश' शब्दोंके सूक्ष्म अर्थभेदका प्रदर्शन न होनेसे यह सब व्याख्या पढ़ने वालोंकेलिए अत्यन्त दुरूह हो गई है। हमने यहाँ उन शब्दोंके अर्थभेदको यथासम्भव स्पष्ट करनेका यत्न किया है।

तेन रञ्जकसामग्रीमध्यानुप्रविष्टेन प्रच्छादितस्वभावेन 'प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन प्राक्प्रवृत्तलौकिकप्रत्यक्षानुमानादिजनित-संस्कारसहाये', सहृदयसंस्कारसचिवे' हृदय-संवाद-तन्मयी-भवनसहकारिणि' सामाजिके' योऽनुव्यवसायो जन्यते सुखदुःखाद्याकार-तत्तच्चित्त-वृत्तिरूपित-निजसंविदानन्दप्रकाशमयो, अत एव विचित्रो, रसन-आस्वादन-चमत्कार-चर्वणा-निर्वेश-भोगाद्यपरपर्याय, तत्र यदवभासते वस्तु,[7] तन्नाट्यम् ।

स्थानान्तरणकी व्यवस्था भी की गई है। किन्तु गद्यात्मक-रचनामें इस प्रकारके बन्धन नहीं हैं। इसलिए यहां अन्वय-प्रक्रियाका इस प्रकारका उपयोग उचित नहीं कहा जा सकता है। यहां प्रत्येक पदका उसके उचित स्थानपर विन्यास ही आवश्यक है। उसके यथास्थान विन्यासके बिना अर्थ समझमें नहीं आता है। अतः हमने यहां संशोधित रूपमें ही पाठ प्रस्तुत किया है।

४. चतुर्थ स्थानपर 'प्रत्यक्षकल्पनाट्ये' इस प्रकारका पाठ पूर्व संस्करणोंमें छपा है। लिपिकारने यहां 'प्रत्यक्षकल्प-नाट्ये' ऐसा अर्थ समझकर यह पाठ लिख दिया है। परन्तु वस्तुतः यह अर्थ यहां विवक्षित नहीं है। यहां केवल 'प्रत्यक्षकल्पना' पाठ होना चाहिए। उसका आगे आनेवाले 'स्वरूपप्रच्छादन', संस्कारसाचिव्य' आदि प्रथमान्त पदोंके साथ सम्बन्ध है। अतः यहां भी 'प्रत्यक्षकल्पना' यह प्रथमान्त पाठ ही होना चाहिए। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—इस प्रकार मनोहर सामग्रीके बीचमें समाविष्ट, अपने स्वरूपको प्रच्छादित किए हुए, दिखलाई देने वाले प्रयोक्ताकेद्वारा, पहिले उपस्थित लौकिक प्रत्यक्ष एवं अनुमानादिके संस्कारोंकी सहायतासे युक्त, सहृदयताके संस्कारसे युक्त, तथा हृदयकी अनुरूपताके कारण तन्मयीभाव-विशिष्ट सामाजिकमें जो अनुव्यवसाय उत्पन्न होता है उसमें जो अर्थ भासता है वह नाट्य है।

पाठमीमांसा—पूर्व संस्करणोंमें इस अनुच्छेदका पाठ निम्न प्रकार छपा है—

तेन रञ्जकसामग्रीमध्यानुप्रविष्टेन प्रच्छादितस्वरूपभावेन प्राक्प्रवृत्तलौकिकप्रत्यक्षानुमानादि-जनितसंस्कारसहायेन, सहृदयसंस्कारसचिवेन, हृदयसंवादतन्मयीभावनासहकारिणा प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन योऽनुव्यवसायो जन्यते सुखदुःखाद्याकारतत्तच्चित्तवृत्तिरूपितनिजसंविदानन्दप्रकाशमय, अत एव विचित्रो रसनास्वादनचमत्कारचर्वणानिर्वेशभोगाद्यपरपर्याय, तत्र यदवभासते वस्तु तन्नाट्यम्।

यह पाठ कुछ विचारणीय प्रतीत होता है। इसमें 'प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन योऽनुव्यवसायो जन्यते' प्रयोक्ता अर्थात् नटके द्वारा जो अनुव्यवसाय उत्पन्न किया जाता है, उसका स्वरूप 'सुखदुःखाद्याकारतत्तच्चित्तवृत्तिरूपितनिजसंविदानन्दप्रकाशमय अत एव विचित्रो रसनास्वादन-चमत्कारचर्वणानिर्वेशभोगाद्यपरपर्याय' इन शब्दोंमें विशेषण-पदोंद्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसका भाव यह है कि नटकेद्वारा जो अनुव्यवसाय उत्पन्न किया जाता है वह रसन, आस्वादन, चमत्कार, चर्वणा, निर्वेश, भोग आदि शब्दोंसे कहा जाता है। सामान्यतः ...

---

1. 'प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन' इति पाठोऽत्र नास्ति।   २. सहायेन।
३. सहृदयसंस्कारसचिवेन। सहृदयसंस्कारसचिवेन।   ४. भावना।
५. भासमान स्वरूपभिन्न प्रयोक्त्रा। ६. 'सामाजिके' इत्यस्मदीयः पाठः। ७. वस्तु।

(स) सामाजिकमे रहनेवाली इन सब विशेषताओं की सहायतासे, इश्यमान प्रयोक्ताके द्वारा सामाजिकके भीतर सुख-दुःखात्मक चित्तवृत्तिसे सम्पृक्त 'स्वप्रकाशानन्दमय', 'अनुव्यवसाय' अर्थात् रसानुभूति की उत्पत्ति।

६. रसन, आस्वादन, चर्वण, आदि पदोसे वाच्य इस स्वप्रकाश आनन्दमय रसानुभूतिमें जो वस्तु भासित होती है वह 'नाट्य' है।

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ नटगत चार विशेषताओं और सामाजिकगत दो विशेषताओंको छह श्रेणियोमें विभक्त कर नाट्यके स्वरूप या नाट्य-रसानुभूति की प्रक्रियाका प्रदर्शन किया है।

पाठसमीक्षा—यह विषय स्वय ही कठिन है। उसके ऊपर पूर्व-सस्करणोमें अस्तव्यस्त और अत्यन्त अशुद्ध रूपसे मुद्रित पाठने इसको और भी दुर्ज्ञेय बना दिया है। इसमें मुख्य रूपसे चार स्थानोका पाठ अर्थको समझनेमें बाधा उत्पन्न कर रहा है। इनमेंसे प्रथम और चतुर्थ स्थानपर पाठ अशुद्ध छपा है। दूसरे स्थानपर कुछ पाठ लुप्त हो गया है। और तीसरे स्थानपर पाठका विपर्यय हो गया है। इन चारो दोषोको समझनेकेलिए निम्न पक्तियोपर ध्यान देना चाहिए—

१ 'आहार्यविशेषादिना निवृत्ते तद्देश-काल-चैत्रमैत्रादिनटविशेषप्रत्यक्षाभिमाने'। इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोमें छपा था। किन्तु वह अशुद्ध प्रतीत होता है। इस वाक्यांशमें 'प्रत्यक्षाभिमाने' शब्दकी सङ्गति नही लगती है। नटविशेषका प्रथम ज्ञान जिसकी कि आहार्य वेष-भूषा आदिके द्वारा निवृत्ति होती है 'प्रत्यक्षाभिमान' रूप नही अपितु 'प्रत्यक्ष' रूप है। उसके निवृत्त होनेके बाद उसमें जो रामादिकी प्रतीति उत्पन्न होगी वह 'प्रत्यक्षाभिमान' होगी। इसलिए यहाँ 'निवृत्ते प्रत्यक्षाभिमाने' के स्थानपर 'निवृत्ते प्रत्यक्षे' पाठ होना चाहिए।

२ इसके आगे 'विशेषलेशोपक्रमेण च विना प्रत्यक्षाप्रवृत्तेरायाते' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोमे छपा है। परन्तु उससे 'किसके अर्थ पर' यह ज्ञान नही होता है। उसमें कुछ पाठ छूट गया है। अत यह लुप्त-पाठका उदाहरण है। इसमें 'आयाते' के बाद 'प्रत्यक्षाभिमाने' पाठ होना चाहिए। नटमें चैत्र मैत्रादि रूप प्रत्यक्षकी निवृत्ति होनेके बाद राम आदिका 'प्रत्यक्षाभिमान' उत्पन्न होता है। इसलिए 'आयाते' के बाद 'प्रत्यक्षाभिमाने' यह पाठ अवश्य होना चाहिए। इसके बिना, भाव और वाक्य दोनो अपूर्ण रह जाते हैं। इसलिए यहा 'प्रत्यक्षाभिमाने' इस लुप्त-पाठकी पूर्ति आवश्यक है।

३ इसके आगे 'रामशब्दस्यात्रोपयोगात् प्रसिद्धतदर्थतयादरणीयचरितवाचकस्यासम्भावनामात्रनिराकरणेन अनुव्यवसायस्य प्रत्यक्षकल्पनाट्य' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोमें छपा है। इसमें 'रामशब्दस्यात्रोपयोगात्' यह पाठ अ-स्थानमें मुद्रित है। उसे वहासे हटाकर 'आदरणीयचरितवाचकस्य' के बाद करना होगा। यही उसका उचित स्थान है। अर्थसङ्गतिकी दृष्टिसे 'प्रसिद्धतदर्थतया आदरणीयचरितवाचकस्य रामशब्दस्यात्रोपयोगात् असम्भावनामात्रनिराकरणेन अनुव्यवसायस्य प्रत्यक्षकल्पना' इस प्रकारका पाठ ही उचित प्रतीत होता है। यद्यपि यहाँ किसी नए शब्दके प्रवेशकी आवश्यकता नही पडी है केवल 'राम-शब्दस्यात्रोपयोगात्' इस भागको स्थानान्तरित किया गया है। किन्तु इसके ठीक स्थानपर न रहनेसे अर्थज्ञानमें बाधा उपस्थित होती है। अत यह स्थान-परिवर्तन आवश्यक ही है।

अन्वयकी प्रक्रियासे भी यह स्थानान्तरण यद्यपि हो सकता है किन्तु अन्वयकी प्रक्रिया मुख्य रूपसे पद्यात्मक रचनामें ही उपयुक्त होती है। क्योकि पद्य-रचनामें ह्रस्व-दीर्घ या गणोके प्रयोगकी व्यवस्थामें बद्ध होनेके कारण पद्य-निर्माताको उपयुक्त स्थानको छोड कर अन्य स्थानपर भी पदोके प्रयोगके लिए विवश होना पडता है। इसलिए उसमें अन्वय-प्रक्रिया द्वारा पदोके

तच्च ज्ञानाकारमात्रम्, आरोपितस्वरूपं, सामान्यात्मकं, तत्कालनिर्मितरूपं ¹अन्यद्वा किञ्चिद्वस्तु, नात्राप्रस्तुतलेखनेन आत्मनो दर्शनान्तरकथापरिचयप्रकटनफलेन प्रकृतवस्तुनिरूपणविघ्नमाचरन्तः सहृदयान् खेदयामः।

'सामाजिके' पदका प्रयुक्त न किया जाना है। वैसे सामाजिक पदके प्रयोगकी यहां अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। इन सप्तम्यन्त विशेषण पदोंकेद्वारा ही उनकी उपस्थिति हो सकती है। ऐसा मान कर ही कदाचित् ग्रन्थकारने 'सामाजिके' इस विशेष्य पदका यहां प्रयोग नहीं किया था। पर उस पदका प्रयोग न होनेसे ये सप्तम्यन्त पद किसके विशेषण हैं यह बात लिपिकारके ध्यानमें नहीं आई। 'दृश्यमानेन प्रयोक्त्रा' यह तृतीयान्त 'प्रयोक्त्रा' विशेष्य पद यहां उपस्थित था इसलिए लिपिकारने इसी 'प्रयोक्त्रा' पदके साथ उनका सम्बन्ध जोड़ लिया। 'प्रयोक्त्रा' के विशेषण होनेपर उन्हें तृतीयान्त ही होना चाहिए, सप्तम्यन्त नहीं। इसलिए लिपिकारने सप्तम्यन्त पदोंको तृतीयान्त पदोंके रूपमें परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार 'सामाजिके' इस विशेष्य पदका प्रयुक्त न होना ही इस अनर्थका कारण बना है।

विभक्तियोंके परिवर्तनके साथ एक परिवर्तन और भी लिपिकारको करना पड़ा है। अनुच्छेदके प्रारम्भमें 'रञ्जकमासमग्रीमध्यानु प्रविष्टेन' 'प्रच्छादितस्वभावेन' 'दृश्यमानेन' ये तीन विशेषण प्रयोक्ताके हैं। उनके बाद ही प्रयोक्त्रा' इस रूपमें विशेष्य-पदका भी प्रयोग होना चाहिए था। किन्तु जब लिपिकारने अगले सामाजिकके विशेषणोंको भी प्रयोक्ताका विशेषण समझ लिया तब विशेष्य पदको वहां से हटा कर अन्तिम विशेषणके बाद 'हृदयसंवादतन्मयीभावनाग्रहणशालिना प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन' इस रूपमें विशेष्य पदका प्रयोग कर दिया है।

यह सब पाठ भ्रान्त-पाठ है। उसको संशोधित किए जानेकी आवश्यकता है। इस सारी भूलका मूल कारण 'सामाजिके' इस विशेष्य पदका प्रयुक्त न किया जाना है। अत एव हमने अपने संशोधित पाठमें 'सामाजिके' इस विशेष्य पदका प्रयोग कर दिया है। और सामाजिकके विशेषण पदोंको सप्तम्यन्त करके ही संशोधित पाठ ऊपर प्रस्तुत किया है। यही पाठ अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुकूल है। पूर्व संस्करणोंमें मुद्रित पाठ न तो अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुकूल ही बनता है और न उसकी सङ्गति ही लगती है। अत वह त्याज्य ही है।

इस प्रकार वृत्तिकारने बड़े सरलतासे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि नाट्य न तो 'अनुभावन-रूप' अर्थात् देव-दैत्यादि विशेष व्यक्तियोंका प्रत्यक्ष रूप है, और न 'अनुकरणरूप' है। अपितु वह केवल 'अनुकीर्तनरूप' है। अर्थात् साधारणीकरण व्यापारके द्वारा होने वाले अनुव्यवसायात्मक ज्ञानका विषय होता है।

अभिनव०—और यह [अनुव्यवसायमें भासने वाली वस्तु] केवल १ ज्ञानकार रूप है, अथवा २ आरोपितस्वरूप है, अथवा ३ सामान्यात्मक है या ४ तत्काल उत्पन्न होने वाली है अथवा ५ अन्य किसी प्रकार की है इन प्रसङ्गमें दूसरे दर्शनोंके विषयमें अपने ज्ञानको प्रकट करनेके वाले अप्रस्तुत [विषयको] लेख द्वारा प्रस्तुत विषयके निरूपणमें विघ्न डाल कर हम सहृदयोंको खिन्न [परेशान] नहीं करना चाहते हैं।

यहां ग्रन्थकारने बड़ी चतुराईसे काम लिया है। एक ओर तो उन्होंने इस सन्दर्भमें विविध दार्शनिक सिद्धान्तोंकी चर्चा भी प्रस्तुत कर दी है। उसके साथ ही इन दर्शनोंके प्रश्नको तुच्छ करते हुए भी दार्शनिक-सिद्धान्तोंकी चर्चा न करनेकी इच्छा भी प्रकाशित कर दी है।

१. अन्यथा।

प्रयुक्त होते हैं। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि यहा ग्रन्थकार नाटकमें होने वाली रसानुभूतिको ही 'अनुव्यवसाय' पदसे निर्दिष्ट कर रहे हैं। यह भी स्पष्ट है कि इस रसानुभूतिकी उत्पत्ति 'दृश्यमानेन प्रयोक्त्रा' दृश्यमान प्रयोक्ता अर्थात् नटकेद्वारा होती है। उस प्रयोक्ताके दो विशेषण यहा दिए गए हैं 'रञ्जकसामग्रीमध्यानुप्रविष्टेन' और 'प्रच्छादितस्वस्वभावेन' अर्थात् गीत-वाद्य आदि रञ्जक सामग्रीके भीतर प्रविष्ट और अपने स्वरूपको आच्छादित कर रामादिके रूपमें प्रतीत होने वाले प्रयोक्ता नटके द्वारा 'स्वप्रकाशानन्दमय' रसन, आस्वादन, चमत्करण आदि शब्दोसे व्यपदिष्ट रसकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है। इतनी बात यहाँ स्पष्ट हो गई। पर वह उत्पत्ति कहाँ होती है, उस रसानुभूतिका आधार या आश्रय कौन होता है, इसका कोई उल्लेख अभी नही आया।

अभिनवगुप्तके मतमें रसानुभूतिकाका आश्रय सामाजिक है। नट या अनुकार्य नही। सामाजिकमें भी रसानुभूतिकेलिए कुछ योग्यता आवश्यक होती है। उन योग्यताओके अभावमें सामाजिकको भी रसानुभूति नहीं हो सकती है। उन योग्यताओका उल्लेख यहा तीन विशेषणोके द्वारा किया गया है।

१ 'प्राक्प्रवृत्तलौकिक-प्रत्यक्षानुमानादिजनितसस्कारसहाये' इस पदसे प्रथम विशेषता का उल्लेख किया गया है। काव्यप्रकाशकार मम्मटने रससूत्रकी व्याख्याके प्रसङ्गमें अभिनवगुप्त के रस-विषयक मतको प्रस्तुत करते हुए सामाजिककी इस योग्यताको 'लोके प्रमदादिभि. स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववता' इन पदोके द्वारा प्रदर्शित किया है।

२ सामाजिककी योग्यताके सूचक 'सहृदय-सस्कारसचिवे' और 'हृदयसवादतन्मयीभवन सहकारिणि' ये दो विशेषण और दिए गए हैं। इन विशेषणपदोके देखते ही यह प्रतीत हो जाता है कि ये दोनो पद सामाजिककी योग्यता अथवा विशेषताके सूचक पद हैं। काव्यप्रकाशकारने 'तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकल-सहृदयसवादभाजा' इन विशेषणोके द्वारा सामाजिककी इन्ही विशेषताओको सूचित किया है। इसलिए इस बातमें कोई भी सन्देहका स्थान नही है कि यहा ये दोनो पद भी सामाजिककी योग्यताके ही सूचक हैं।

परन्तु इन पदोका पाठ पूर्व सस्करणोमें छपा है वह कुछ दूसरी ही प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। उसमें इन तीनो पदोको—

प्राक्प्रवृत्तलौकिकप्रत्यक्षानुमानादिजनिसस्कारसहायेन,
सहृदयसस्कारसचिवेन, हृदयसवादतन्मयीभावनासहकारिणा।

इस प्रकार तृतीयान्त विशेषण पदोके रूपमें छापा गया है। वह अशुद्ध है। ये सब तृतीयान्त पद न होकर सप्तम्यन्त पद होने चाहिए। जैसा कि ऊपरके लेखसे स्पष्ट है ये तीनो पद रसानुभूतिके आश्रय या आधारभूत सामाजिकके स्वरूपको उपस्थित कर रहे हैं। सामाजिक रसानुभूतिका आधार या आश्रय होता है। इसलिए उसके स्वरूपको प्रस्तुत करने वाले इन विशेषण पदोमें सप्तमी विभक्तिका ही प्रयोग होना चाहिए तृतीया विभक्तिका नही। तृतीया विभक्तिके रूपमे प्रयुक्त होने पर वे सामाजिकके विशेषण न हो कर 'दृश्यमानेन प्रयोक्त्रा' दृश्यमान प्रयोक्ताके विशेषण हो जाते हैं। किन्तु वास्तवमें प्रयोक्ताकी विशेषताओको उनमें प्रस्तुत नही किया गया है। इसलिए उसके साथ इन पदोकी कोई भी सङ्गति नही है।

ग्रन्थकारने मूलत इन पदोको सप्तम्यन्त पदके रूपमें ही लिखा था किन्तु लिपिकारकी अनभिज्ञतासे वे सप्तम्यन्तके बजाय तृतीयान्त पद बना दिए गए हैं। इस भ्रान्तिका कारण यहा

किया था। शून्यवादी 'माध्यमिक' उनसे भी एक क़दम आगे बढ़ गया है। उसने बाह्यार्थोंके साथ 'विज्ञान' को भी समाप्त कर दिया है। उनके मतमें न बाह्य अर्थ है, और न 'विज्ञान'। दोनोंके स्थान पर एकमात्र 'शून्य' ही एक तत्त्व है। 'शून्य तत्त्व भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य' यह उसका सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार वह 'शून्य' तत्त्व ही सारी प्रतीतियोंमें नानारूपमें भासता है। इसलिए क्या यथार्थज्ञानमें, क्या भ्रम-स्थलमें, और क्या नाटयमें, सर्वत्र यही शून्यतत्त्व समान रूपसे भासता है। इसीका नाम 'शून्यवाद' है। और इसीको 'असत्-ख्याति सिद्धान्त' नामके द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ ग्रन्थकारने इस सिद्धान्तका अलगसे उल्लेख नहीं किया है। बौद्धोंके केवल 'विज्ञानवाद' या 'आत्मख्याति' सिद्धान्तका ही उल्लेख किया है।

अख्यातिवाद—

तीसरा 'अख्याति-सिद्धान्त' प्रभाकर मीमांसकका है। प्रभाकरके मतमें सारे ज्ञान यथार्थ-ज्ञान ही हैं, कोई भी ज्ञान भ्रम-रूप नहीं होता है। अपने इस सिद्धान्तके उपपादनके लिए उसने 'अख्यातिवाद' का आश्रय लिया है। उसका आशय यह है कि शुक्तिमें जहाँ रजतकी प्रतीति होती है उसको लोग भ्रम-ज्ञान कहते हैं। परन्तु प्रभाकरके मतमें शुक्ति-रजत-स्थलमें दो अलग-अलग ज्ञान उत्पन्न होते हैं। एक शुक्तिविषयक ज्ञान है जो 'इदं रजतम्' इस प्रतीतिमें 'इदं' पदसे सूचित होता है। यह ज्ञान इन्द्रिय तथा शुक्ति रूप अर्थ दोनोंके सन्निकर्षसे उत्पन्न होता है। इस लिए प्रत्यक्षात्मक और यथार्थ ज्ञान है। भ्रम रूप नहीं। दूसरा 'रजतम्' ज्ञान है। यह शुक्तिके रजत-सदृश भागविषयके द्वारा संस्कारोद्बोधसे उत्पन्न होनेके कारण स्मरणात्मक है। यह भी भ्रम-रूप नहीं अपितु यथार्थ ही है। इस प्रकार 'इदं रजतम्' यह ज्ञान न 'इदं' अंशमें भ्रम है और न 'रजतम्' में ही भ्रम है। दोनों ही अंशोंमें यथार्थ-ज्ञान है। तब शुक्तिको देख कर, रजत समझ कर मनुष्य उसको उठानेमें क्यों प्रवृत्त होता है इसका समाधान प्रभाकर यह करते हैं कि इन दोनों ज्ञानोंके भेदका ग्रहण न होनेके कारण इस प्रकारका व्यवहार होता है। यदि उस समय यह मालूम हो जाय कि मैं 'इदं' अर्थात् शुक्तिको प्रत्यक्षसे देख रहा हूँ, और 'रजतम्' का स्मरण कर रहा हूँ तो मनुष्य उस शुक्तिको उठानेके लिए प्रवृत्त न होगा। इसलिए मनुष्यकी यह प्रवृत्ति भेदाग्रह-मूलक है। इसीका नाम 'अख्यातिवाद' है। 'ख्याति' का अर्थ है ज्ञान। 'अख्याति' का अर्थ हुआ ज्ञानका न होना। अर्थात् प्रत्यक्षात्मक 'इदं' तथा स्मरणात्मक 'रजतम्' इन दोनों ज्ञानोंके भेदका ग्रहण न होना ही यहाँ 'अख्याति' पदसे गृहीत होता है। 'अख्यातिवाद' में प्रत्यक्षात्मक और स्मरणात्मक दोनों ज्ञानोंका सामान्यरूपसे मिश्रित मिला हुआ ग्रहण होता है, अलग-अलग नहीं इसीलिए ग्रन्थकारने यहाँ इस मतका संकेत 'ज्ञानान्तरम्' पदसे किया है।

अन्यथाख्यातिवाद—

'ख्यातिपञ्चक' में चौथा सिद्धान्त नैयायिकोंका है जो 'अन्यथाख्यातिवाद' के नामसे प्रसिद्ध है। 'अन्यथा-ख्याति' का अर्थ यह है कि भ्रम-स्थलमें शुक्तिको देखकर जो रजतकी प्रतीति होती है वह बाजारमें पहले देखे हुए दूकान रजतकी आरोपित प्रतीति होती है। इसी सिद्धान्तकी ओर संकेत करते हुए ग्रन्थकारने यहाँ 'आरोपितरजतम्' पदका प्रयोग किया है।

अनिर्वचनीयख्यातिवाद—

'ख्यातिपञ्चक' में पाँचवाँ, अद्वैतवादी वेदान्तियोंका सिद्धान्त है, जो 'अनिर्वचनीय-ख्याति' के नामसे प्रसिद्ध होता है। इस सिद्धान्तका आशय यह है कि शुक्ति-रजत स्थलमें एक अनिर्वचनीय रजतकी उत्पत्ति होती है। उसकी स्थिति तभी तक रहती है जबतक कि उसकी प्रतीति होती है। इसी कारण शुक्ति रजतमें प्रतीत होने वाले रजतको 'प्रातिभासिक' रजत

ख्यातिपञ्चक—

इन पंक्तियोमे ग्रन्थकारने जिन पाच दार्शनिक-सिद्धान्तोकी ओर सङ्केत किया है उन सबको मिलाकर ख्याति-पञ्चक' नामसे कहा जाता है। भ्रमस्थलमें होने वाली प्रतीतिके विवेचन और विश्लेषणके प्रसङ्गमें इस ख्याति -पञ्चक' का वर्णन दर्शनग्रन्थोमे किया गया है। हम नाट्य या भ्रम आदिके स्थलमें जिस वस्तुको देखते हैं उसका वास्तविक स्वरूप क्या है इस विषयमें विविध दर्शनोमें पाच प्रकारके मत पाए जाते हैं। इन्हीको 'ख्याति-पञ्चक' या 'पञ्च-ख्याति' नामसे कहा जाता है। 'ख्याति' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' है। 'ख्याति-पञ्चक' का अर्थ यह है कि इस प्रकारके स्थलोमें विभिन्न दार्शनिकोकी दृष्टिसे पाच प्रकारकी वस्तुओका ज्ञान होता है।

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्याति ख्यातिरन्यथा।
तथानिर्वचनीयख्यातिरित्येतत् ख्यातिपञ्चकम् ॥

इस श्लोकमें इन पाच ख्यातियोका उल्लेख किया गया है। इनमें पहिली 'आत्मख्याति' विज्ञानवादी बौद्धोके मतको व्यक्त करती है। दूसरी 'असत्-ख्याति' शून्यवादी बौद्धोके मतमें मानी जाती है। तीसरा 'अख्यातिवाद' मीमासकोके प्राभाकर-सम्प्रदायका सिद्धान्त है। चौथा 'अन्यथा-ख्याति-सिद्धान्त नैयायिकोका है। और पाँचवा 'अनिर्वचनीय-ख्याति-सिद्धान्त' अद्वैतवादी वेदान्तियोका है। इन सिद्धान्तोका प्रतिपादन भ्रम-स्थलकी प्रतीति-का विवेचन करनेके प्रसङ्गमें उन-उन दर्शनोमें किया गया है।

आत्मख्यातिवाद—

बौद्धोके चार मुख्य दार्शनिक सम्प्रदाय है जो १ माध्यमिक, २ योगाचार ३ सौत्रान्तिक, और ४ वैभाषिक नामसे प्रसिद्ध है। इनमेंसे सौत्रान्तिक' तथा 'वैभाषिक' ये दोनो सम्प्रदाय तो घट-पटादि रूप बाह्य अर्थोका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। परन्तु 'योगाचार' और 'माध्यमिक' बाह्य वस्तुओके अस्तित्वको स्वीकार नही करते हैं। इनमें से 'योगाचार' सम्प्रदाय 'विज्ञानवादी' सम्प्रदाय है। उसका कहना है कि ये जो घट-पटादि बाह्य अर्थ हमको दिखलाई देते हैं इनका वास्तवमें बाहर कोई अस्तित्व नही है। ये सब केवल ज्ञानस्वरूप' ही है। जैसे स्वप्नमें कोई वास्तविक बाह्य पदार्थ नही होता है केवल ज्ञान-कल्पित पदार्थ ही होते हैं उसी प्रकार जाग्रतकालमें भी घटादि पदार्थ वस्तुत विद्यमान नही है केवल ज्ञान ही इन नाना पदार्थोके रूपमें भासता है। वे 'विज्ञान' को ही आत्माके स्थानपर भी मानते हैं। अर्थात् उनके मतमें दृष्टा आत्मा भी 'विज्ञानरूप' ही है। 'विज्ञान' के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नही है। इसीका नाम 'विज्ञानवाद' है। अन्य लोगोकी दृष्टिमें चाहे भ्रमात्मक प्रतीति हो या यथार्थ प्रतीति हो पर विज्ञानवादी 'योगाचार' सम्प्रदायके मतमें सर्वत्र केवल 'विज्ञान' ही नाना रूपोंमें भासता है। घट-पट आदि कोई बाह्यार्थ कभी भी ज्ञानका विषय नही होता है। इसी 'विज्ञानवाद' को 'आत्म-ख्याति' नामसे भी कहते हैं। 'आत्मा' शब्दका अर्थ यहाँ विज्ञान लेना चाहिए। इस सिद्धान्तमें घटादिकी प्रतीति-स्थलमें भी विज्ञान ही घटादिरूपसे भासता है। और शुक्तिमें रजत, या रज्जुमें सर्पकी भ्रान्त प्रतीतिके समय भी वही 'विज्ञान' उन-उन रूपोमें भासता है। इसी प्रकार अभिनयकालमें रामादिके रूपमें भी वही 'विज्ञान' भासता है। यह बौद्धोके विज्ञानवादी 'योगाचार' सम्प्रदायका सिद्धान्त है। इसीकी ओर सङ्केत करते हुए यहाँ ग्रन्थकारने 'तच्च ज्ञानाकारमात्र' यह प्रथम पक्ष दिखलाया है।

असत्ख्यातिवाद --

बौद्धोका दूसरा शून्यवादी सम्प्रदाय 'माध्यमिक'-सम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध है। विज्ञान-वादी 'योगाचार' सम्प्रदायने बाह्यार्थोका खण्डन करके केवल 'विज्ञान' की सत्ता सिद्ध करनेका यत्न

यतश्चेदं नानुकरणं ततो यत्कैश्चिच्चोदितं 'न च गीतवाद्ययुक्त. सर्वावस्थासु कश्चिदनुकार्य इति' तदनवकाशम्। न ह्यनुकार्यत्वेन गीतादय इत्युक्तम्।

परिहारोऽपि च य उक्त— 'आसन-गमन-स्नान-स्वाप-प्रतिबोध-भोजनाद्यासु गीतवाद्यं लोके चेष्टासु अतिप्रथितमित्यादि' तदप्यनुपपन्नम्। नहि गमनादौ तद् ध्रुवा-तालादिरूपेण गीतादि लोकेऽस्ति मङ्गलमात्रत्वादृते। गायन-वादनादिष्वपि चानुकार-बुद्ध्यापत्तेरित्यलम् ॥१०७॥

पूर्व व्याख्याकारोंका खण्डन—

पूर्व व्याख्याकारोंने नाट्यको 'अनुकरण' रूप मान कर यह शङ्का उठाई थी कि लोकमें तो सब जगह नृत्य गीत वाद्यादिका प्रयोग नहीं होता है फिर उसके अनुकरणात्मक नाट्यमें इनका इतना अधिक प्रयोग क्यों होता है ? इस शङ्काको उठाकर उन्होंने स्वयं ही यह समाधान भी किया था कि लोकमें भी स्नान भोजन आदिके पूर्व वाद्य आदिका प्रयोग देखा जाता है। अतः नाट्यमें भी उनका अनुकरण अनुचित नहीं है। परन्तु अभिनवगुप्तका कहना यह है कि जब नाट्यकी अनुकरण-रूपताका ही खण्डन हो गया है तब यह शङ्का और समाधान सब व्यर्थ है। इसी बातको ये अगले अनुच्छेदमें निम्न प्रकार लिखते हैं—

अभिनव०—और क्योंकि यह [सिद्ध हो चुका है कि नाटक] अनुकरणरूप नहीं है इसलिए [नाटकको अनुकरणरूप मान कर] किन्होंने जो यह दोष दिया है कि—'कोई भी अनुकार्य [रामादि] सारी अवस्थाओंमें [अर्थात् प्रत्येक समय] गीत-वाद्य आदिसे युक्त नहीं होता है [जैसा कि नाटकमें पाया जाता है। इसलिए नाटक अनुकरणरूप कैसे बनेगा] ?' उस [दोष या शङ्का] का कोई अवसर नहीं है [अर्थात् उस प्रकारका दोष देना उचित नहीं है]। क्योंकि [नाट्यमें] गीत-वाद्य आदि अनुकार्य रूपसे [प्रयुक्त] नहीं होता है [अर्थात् लौकिक गीत-वाद्य आदिका अनुकरण नाट्यमें नहीं किया जाता है] यह कहा जा चुका है।

अभिनव०—और [उन्हीं टीकाकारने इस दोषका] जो यह समाधान किया है कि—'बैठने, चलने, स्नान, सोने, जगने और भोजन आदि व्यापारोंके समयपर लोकमें गीत-वाद्य आदिका अत्यन्त प्रचार पाया जाता है [इसलिए अनुकार्य रामादि प्रायः सभी अवस्थाओंमें गीत-वाद्य आदि युक्त पाए जाते हैं। और उसका अनुकरण ही नाट्यमें भी होता है]।' यह [समाधान] भी युक्ति-सङ्गत नहीं है। क्योंकि गमन आदि कालमें उसके मङ्गलमात्र होनेके अतिरिक्त ध्रुवा-ताल आदिसे युक्त गीत आदिका लोकमें प्रयोग नहीं होता है। [उसके अर्थात् स्नानादिके समय, मङ्गलमात्र होनेसे केवल सामान्य रूपसे गीत-वाद्य-आदिका प्रयोग होता है। मङ्गलनिपातके समान विधिवत् ध्रुवा ताल, आदिसे युक्त गीत-वाद्य आदिका प्रयोग नहीं होता है। यदि उस समय भी वैसा ही प्रयोग होता है यह माना जाय तो नाट्यमें होनेवाले उन] गायन-वादन आदिमें भी अनुकरण-बुद्धि होने लगेगी [जो कि मानी नहीं जाती है।]

१. तदनवकाशम्—न च गीतवाद्ययुक्त. सर्वावस्थासु कश्चिदनुकार्य इति ।

तस्मादनुव्यवसायात्मकं अनुकीर्तनं रूपितविकल्पसंवेदनं नाट्यम् । तद्वेदनवेद्यत्वात् । न त्वनुकरणरूपम् । यदि त्वेवं मुख्यलौकिककरणानुसारितया अनुकरणमित्युच्यते तन्न कश्चिद्दोषः । स्थिते वस्तुतो भेदे शब्दप्रवृत्तेरविवादास्पदत्वात् । एतच्च यथावसरं वितनिष्यामः, इत्यास्तां तावत् ।

भी कहते हैं। जितनी देर पदार्थ दिखलाई देता है उतनी ही देर उसकी सत्ता है यह इस सिद्धान्त का भाव है। इसी लिए इस सिद्धान्तको 'दृष्टि-सृष्टि-वाद' भी कहते हैं।

वेदान्ती लोग अपने इस सिद्धान्तके समर्थनमें 'न तत्र रथा न रथयोगा अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' इस उपनिषद्वाक्यको उद्धृत करते हैं। इस वाक्यमें स्वप्नका वर्णन करते हुए कहा है कि उस स्वप्नावस्थामें न रथ होता है न रथ युक्त मार्ग होते हैं परन्तु स्वप्न देखने वाला व्यक्ति स्वयं ही उन सबकी सृष्टि कर लेता है। यहाँ जो 'सृजते' पदका प्रयोग किया गया है उससे वेदान्ती यह अभिप्राय निकालते हैं कि स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा उन सब वस्तुओंकी 'रचना' करता है। अर्थात् उन स्वप्नदृष्ट वस्तुओंकी उसी समय 'उत्पत्ति' होती है। इसी लिए उस 'तात्कालिक' रजतको 'प्रातिभासिक' रजत भी कहते हैं। यह प्रातिभासिक रजत 'सत्त्वेन या असत्त्वेन निर्वक्तुं अशक्य' होनेके कारण 'अनिर्वचनीय' रजत कहलाता है। उस प्रातिभासिक तत्कालोत्पन्न रजतको हम 'सत्' नहीं कह सकते हैं क्योंकि आगे चल कर 'नेदं रजतम्' यह रजत नहीं है, सीप है इस प्रकारकी प्रतीतिसे उसका बाध होता है। इसलिए वह 'सत्' नहीं कहा जा सकता है। परन्तु उस समय उससे व्यवहार होता है इसलिए उसको 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार 'सत्त्वेन' या 'असत्त्वेन' निर्वचन करनेके योग्य न होने से वह 'अनिर्वचीय' कहलाता है। इसीसे इस ख्यातिका नाम 'अनिर्वचनीय-ख्याति' रखा गया है। इसी सिद्धान्तकी ओर सङ्केत करनेके लिए यहां ग्रन्थकारने 'तत्कालनिर्मितम्' पदका प्रयोग किया है। इस प्रकार यहाँ पञ्च-ख्यातियोंके सिद्धान्तकी ओर ग्रन्थकारने संकेत किया है।

इस प्रकार इस कारिकाकी व्याख्यामें अभिनवगुप्तने नाट्यके 'अनुभावन' रूप तथा 'अनुकरण' रूप होनेका विस्तार पूर्वक खण्डन कर, भरतमुनिके अनुसार उसके 'अनुकीर्तन' रूप होनेकी स्थापना की है। अत एव कारिकाकी व्याख्या समाप्त करते हुए वे 'अनुकीर्तन' पक्षसे ही उसका उपसंहार करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—इसलिए अनुव्यवसायात्मक अनुकीर्तन-रूप, और विकल्प-प्रतीतिसे रहित [निर्विकल्प-प्रतीति रूप] नाट्य है। क्योंकि उसी प्रकारकी [अनुव्यवसायात्मक निर्विकल्प] प्रतीतिके द्वारा उसका ग्रहण होता है। यदि ऐसा होनेपर भी [अर्थात् प्रबल प्रमाणोंसे नाट्यकी अनुकरण-रूपताका खण्डन होजानेपर भी] मुख्य [अर्थात्] लौकिक करणके अनुसार होनेके कारण उसको [गौणरूपसे] 'अनुकरण' कहा जाता है तो उसमें कोई हानि नहीं है। क्योंकि वास्तवमें [अनुकरण नकल या स्वांग आदिसे नाटकका] भेद सिद्ध हो जानेपर शब्दके प्रयोगमें विवादकी बात नहीं रहती है। इस बातको हम आगे उचित अवसरपर विस्तार-पूर्वक कहेंगे। इसलिए [अधिक न लिखकर] यहां इतना ही छोड देते हैं।

---

१ कीर्तनं।

यतश्चेदं नानुकरणं ततो यत्कैश्चिच्चोदितं 'न च गीतवाद्ययुक्तः सर्वावस्थासु कश्चिदनुकार्य इति' तदनवकाशम्। न ह्यनुकार्यत्वेन गीतादय इत्युक्तम्।

परिहारोऽपि न य उक्त— 'आसन-गमन-स्नान-स्वाप-प्रतिबोध-भोजनाद्यासु गीतवाद्यं लोके चेष्टासु अतिप्रथितमित्यादि' तदप्यनुपपन्नम्। नहि गमनादौ तद् ध्रुवा-तालादिरूपेण गीतादि लोकेऽस्ति मङ्गलमात्रत्वादृते। गायन-वादनादिष्वपि चानुकार-बुद्ध्यापत्तेरित्यलम् ॥१०७॥

पूर्व व्याख्याकारोंका खण्डन—

पूर्व व्याख्याकारोंने नाट्यको 'अनुकरण' रूप मान कर यह शङ्का उठाई थी कि लोकमें तो सब जगह नृत्य गीत वाद्यादिका प्रयोग नहीं होता है फिर उसके अनुकरणात्मक नाट्यमें इनका इतना अधिक प्रयोग क्यों होता है? इस शङ्काको उठाकर उन्होंने स्वयं ही यह समाधान भी किया था कि लोकमें भी स्नान भोजन आदिके पूर्व वाद्य आदिका प्रयोग देखा जाता है। अतः नाट्यमें भी उनका अनुकरण अनुचित नहीं है। परन्तु अभिनवगुप्तका कहना यह है कि जब नाट्यकी अनुकरण-रूपताका ही खण्डन हो गया है तब यह शङ्का और समाधान सब व्यर्थ है। इसी बात को वे अगले अनुच्छेदमें निम्न प्रकार लिखते हैं—

अभिनव०—और क्योंकि यह [सिद्ध हो चुका है कि नाटक] अनुकरणरूप नहीं है इसलिए [नाटकको अनुकरणरूप मान कर] किन्हींने जो यह दोष दिया है कि—'कोई भी अनुकार्य [रामादि] सारी अवस्थाओंमें [अर्थात् प्रत्येक समय] गीत-वाद्य आदिसे युक्त नहीं होता है [जैसा कि नाटकमें पाया जाता है। इसलिए नाटक अनुकरणरूप कैसे बनेगा] ?' उस [दोष या शङ्का] का कोई अवसर नहीं है [अर्थात् उस प्रकारका दोष देना उचित नहीं है]। क्योंकि [नाट्यमें] गीत-वाद्य आदि अनुकार्य रूपसे [प्रयुक्त] नहीं होता है [अर्थात् लौकिक गीत-वाद्य आदिका अनुकरण नाट्यमें नहीं किया जाता है] यह कहा जा चुका है।

अभिनव०—और [उन्हीं टीकाकारने इस दोषका] जो यह समाधान किया है कि—'बैठने, चलने, स्नान, सोने, जगने और भोजन आदि व्यापारोंके समयपर लोकमें गीत-वाद्य आदिका अत्यन्त प्रचार पाया जाता है [इसलिए अनुकार्य रामादि प्रायः सभी अवस्थाओंमें गीत-वाद्य आदि युक्त पाए जाते हैं। और उनका अनुकरण ही नाट्यमें भी होता है]।' वह [समाधान] भी युक्ति-सङ्गत नहीं है। क्योंकि गमन आदि कालमें उनके मङ्गलमात्र होनेके अतिरिक्त ध्रुवा-ताल आदिसे युक्त गीत आदिका लोकमें प्रयोग नहीं होता है। [उसमें अर्थात् स्नानादिके समय, मङ्गलमात्र होनेसे केवल सामान्य रूपसे गीत-वाद्य-आदिका प्रयोग होता है। नाट्यप्रयोगके समान विधिवत् ध्रुवा, ताल, आदिसे युक्त गीत-वाद्य आदिका प्रयोग नहीं होता है। यदि उस समय भी ऐसा ही प्रयोग होता है यह माना जाय तो नाट्यमें होनेवाले इन] गायन-वादन आदिमें भी अनुकरण-बुद्धि होने लगेगी [जो कि मानी नहीं जाती है।]

१. मूलपाठस्तु—न च गीतवाद्ययुक्तः सर्वावस्थासु कश्चिदनुकार्य इति।

इसका अभिप्राय यह है कि—यदि स्नान-भोजन आदिके समय होने वाले वाद्यादिके प्रयोगको भी विधिवत् होने वाले गानादि-कालीन प्रयोगके समान ध्रुवा-ताल आदिसे युक्त ही माना जाय और उसीका अनुकरण नाट्यमे माना जाय तो फिर जहाँ नाट्यको अनुकरण-रूप माननेका भ्रम कुछ लोगोको होता है इसी प्रकार नाट्यमें प्रयुक्त गीत-वाद्य आदिको भी अनुकरण रूप कहा जाने लगेगा। किन्तु जो लोग नाट्यको अनुकरण रूप मानते हैं वे भी उसके गीत-वाद्य भागको अनुकरण रूप नही मानते हैं। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-सस्करणोमें अशुद्ध रूपमें मुद्रित हुआ है। 'यतश्चेद नानुकरण ततो यत् कैश्चिच्चोदित तदनवकाशम्। न च गीतवाद्ययुक्त सर्वावस्थासु कश्चिदनुकार्य इति, न त्वनुकार्यत्वेन गीतादय इत्युक्तम्।' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोमे मुद्रित किया गया है। इसमें 'तदनवकाशम्' यह पद अ-स्थानमें मुद्रित हुआ है। इसका उचित स्थान 'इति' के बाद है। इसका कारण यह है कि 'तदनवकाशम्' यह पद स्पष्ट रूपमे किसी पूर्वपक्षका खण्डन करनेकेलिए लिखा गया है। इसलिए जिस पूर्वपक्षका खण्डन इसके द्वारा किया जा रहा है वह पूर्वपक्ष इसके पहिले प्रस्तुत किया जाना चाहिए। यहाँ 'न च गीतवाद्ययुक्तः सर्वावस्थासु कश्चिदनुकार्य इति' इन शब्दोमें वह पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया है जिसका 'तदनवकाशम्' के द्वारा खण्डन करना है। इसलिए इसका स्थान पूर्वपक्षके बाद ही होना चाहिए। पूर्व-सस्करणोमें 'तदनवकाशम्' को पूर्वपक्षके पहिले छाप दिया गया है। वह अशुद्ध है। ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि—जब यह सिद्ध हो चुका कि नाट्य अनुकरण रूप नही है तब उसको अनुकरण रूप मान कर पूर्व टीकाकारोमेसे किन्हीने जो यह आशङ्का उठाई है कि 'लोकमे तो कोई अनुकार्य सब अवस्थाओमें गीत-वाद्य आदिसे युक्त नही पाया जाता है' तब उसके अनुकरणात्मक नाट्यमें गीत-वाद्यादिका इतना अधिक प्रयोग क्यो होता है। इस शङ्काका निवारण स्वय हो जाता है। इसी बातको ग्रन्थकारने "यतश्चेद नानुकरण ततो यत् कैश्चिच्चोदित—'न च गीतवाद्ययुक्त सर्वावस्थासु कश्चिदनुकार्य' इति तदनवकाशम्" इस रूपमें लिखा था। किन्तु किसी प्रतिलिपिकारने इस 'तदनवकाश' पदको यहाँसे हटा कर 'चोदित' के बाद लिख दिया है। प्रतिलिपिकारको 'यच्चोदितम् तदनवकाशम्'। इन शब्दोका परस्पर सम्बन्ध प्रतीत हुआ इसलिए उन्होने इस प्रकारका पाठ अङ्कित कर दिया। किन्तु पूर्वपक्ष क्या है, और उत्तरपक्ष क्या है, कहाँ शङ्का समाप्त होती है और कहाँसे उत्तर प्रारम्भ होता है इस बातको वे नही समझ सके हैं। इसलिए यह सब गडबड हुई है। शङ्का और समाधान दोनोकी स्थितिको ध्यानमें रखनेपर हमने जो पाठ प्रस्तुत किया है वही ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुकूल और शुद्ध पाठ है ॥१०७॥

नाट्यके अन्य उपयोग—

इस प्रकार ग्रन्थकारने इस पिछली १०७वी कारिकामें बडे सरम्भके साथ 'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्तनम्' इस सिद्धान्तका समर्थन किया है। इस सिद्धान्तके अनुसार नाट्य न तो किसी विशेष व्यक्तिके चरित्रादिका 'अनुभावन' अर्थात् प्रत्यक्ष कराने वाला है, और न उसका 'अनुकरण' रूप है। अपितु वह साधारणीकरण व्यापार द्वारा साधारणीकृत रूपसे सारे ससारके भावोका 'अनुकीर्तन' रूप है। इसपर यह जिज्ञासा उपन्न होती है कि जब नाट्य सारे ससारके भावोका 'अनुकीर्तन' करने वाला है तब सारे ससारके भावोका एक ही जगह अर्थात् एक ही नाट्य या उसके भी एक ही अङ्कमें ससारके सारे भावोका 'अनुकीर्तन' मिलना चाहिए। इस जिज्ञासाके समाधानकेलिए भरतमुनिने अगली आठ कारिकाए लिखी हैं। उनका साराश यह है

ननु त्रैलोक्यस्य ये भावास्तेषां यदनुकीर्तनं नाट्यं तदेकस्मिन्नेव रूपके एकत्रैव चाङ्कादौ[1] सर्वमेव दृश्येत। इत्याशङ्कानिराकरणपूर्वकं पूर्वप्रयोजनेन सप्रयोजनत्वमुपसंहरति 'क्वचिद्धर्मं' इत्यादिना 'लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति' इत्यन्तेन श्लोकाष्टकेन—

भरत०—क्वचिद्धर्मं क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छ्रम[2]।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित् काम क्वचिद्वधः ॥१०८॥
धर्मो धर्मप्रवृत्तानां[3] काम[4] कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया ॥१०९॥
क्लीबानां धाष्टर्यजननं[5] उत्साह[6] शूरमानिनाम्।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं[7] विदुषामपि ॥११०॥
ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च।
अर्थोपजीविनामर्थो धृति[8]रुद्विग्नचेतसाम् ॥१११॥

कि रूपकके दसों भेदोंको मिलाकर सम्मिलित रूपसे नाट्य कहा जाता है। इसमें संसारके सारे भावोंका दर्शन हो जाता है। अथवा रूपकके अलग-अलग भेदोंको नाट्य कहा जाय तो उनमें भी संसारके सारे भावोंका समावेश मिल सकता है। यहाँ तक कि एक ही नाटकमें भिन्न-भिन्न स्थानों पर विभिन्न भावोंका समावेश पाया जाता है। इसी बातको आगे दिखलाते हैं—

अभिनव०—[प्रश्न] यदि सारे संसारके जो भाव हैं उनका 'अनुकीर्तन' रूप ही नाट्य है तो एक ही रूपकमें अथवा एक ही अङ्क आदिमें सब-कुछ एक-साथ ही दीखना चाहिए। इस आशङ्काका निराकरण करते हुए 'क्वचिद्धर्मः' यहाँसे लेकर 'लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति' तक आठ श्लोकोंमें पूर्व प्रयोजनोंके साथ [नाट्यके अन्य प्रयोजन भी दिखला कर उसकी] सप्रयोजनताका उपसंहार करते हैं—

भरत०—कहीं धर्म, कहीं क्रीडा, कहीं अर्थ और कहीं शम, कहीं हास्य, कहीं युद्ध, कहीं काम और कहीं वध [का दृश्य दिखलाया जाता है]।१०८।

भरत०—धर्मपरायणोंके लिए धर्मका, कामपरायणोंके लिये काम, दुष्टोंके लिये दण्ड-व्यवस्था और विनीतोंके लिये दम-क्रिया [का वर्णन नाट्यमें पाया जाता है]।१०९।

भरत०—नपुंसकोंमें धृष्टताको उत्पन्न करने वाला और अपनेको शूर समझने वालोंमें उत्साहका जनक, अविद्वानोंके लिए ज्ञानप्रद और विद्वानोंको भी विद्वत्ता देने वाला [यह नाट्य है]।११०।

भरत०—धनिकोंके लिए विलास जनक, दुःख-पीड़ितोंके लिये धैर्य देने वाला, अर्थोपजीवियोंके लिए अर्थ [धनका प्रदान करनेवाला] और घबराए हुये चित्त वालोंके लिए धैर्य देने वाला [यह नाट्य है]।१११।

---

१. ड म चाङ्कादौ। २. ड दर्शितक्रम। ३. ड त कामोपसेवनुशासनम्।
४. ग ब धर्मार्थो दमनक्रिया। ५. ड म धाष्टर्यजननम्। ६. ग च धैर्यजनम्।
७. ड. म धैर्यम्। ८. ड. म धृतिः।

भरत०—[1]नानाभावोपसम्पन्न नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरण नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥११२॥
[2]उत्तमाधममध्याना नराणां कर्मसश्रयम् ।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत् ॥११३॥
[3]दुःखार्ताना [4]श्रमार्तानां शोकार्ताना तपस्विनाम् ।
[5]विश्रान्तिजननं [6]काले नाट्यमेतद् भविष्यति[7] ॥११४॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥११५॥

एतच्च कैश्चिद् भिन्नवाक्यतया प्रतिश्लोक व्याख्यातम् । तच्च पौनरुक्त्य-अध्याहार-परस्परासङ्गत्यादिदोषोपहत स्यादित्युपेक्ष्यमेव ।

भरत०—नाना प्रकारके भावोसे युक्त और नाना प्रकारकी अवस्थाओं वाला लोक-व्यवहारका अनुकरण करने वाला यह नाट्य मैंने बनाया है ।११२।

भरत०—उत्तम अधम तथा मध्यम मनुष्योके कर्मके आधारपर उनको हितका उपदेश करनेवाला तथा धैर्य, मनोरञ्जन [क्रीडा], एव सुखादिको देनेवाला [यह नाट्य मैंने बनाया है] ।११३।

भरत०—यह नाट्य दु ख-पीडितोकेलिए, थके हुए, शोक-सन्तप्त और दीन-दु खियों [तपस्विनाम्] केलिये [उनके दु ख आदिके] समयपर विश्रान्ति देने वाला होगा ।११४।

भरत०—और यह नाट्य धर्मका जनक, यशको प्रदान करने वाला, आयुको बढाने वाला, कल्याणकारी, बुद्धिका बढाने वाला तथा ससारको उपदेश देने वाला होगा ।११५।

अभिनव०—किन्ही [टीकाकारो] ने इन [श्लोको] को अलग-अलग वाक्य मान कर प्रत्येक श्लोककी अलग-अलग व्याख्या की है। परन्तु उसमे पुनरुक्ति, अध्याहार और परस्पर असङ्गति आदि दोषोके आजानेसे वह [व्याख्या] उपेक्षणीय है ।

---

१ दु खिताना प्रमत्ताश शोकार्ताना तपस्विनाम् । हितोपदेशजनन नानावस्थान्तरात्मकम् ॥
नानाशीला प्रकृतय शीलान्नाट्य विनिर्मितम् । तस्माल्लोकप्रमाण हि कर्तव्य नाट्यवक्तृभि ॥
देवतानामृषीणा च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् ।
कृतानुकरण लोके नाट्यमित्यभिधीयते ॥
महेच्छा ये विदग्धाश्च यौवनैश्वर्यशालिन ।
तेषामय नाट्यविधि प्रयोज्यस्त्वर्थसिद्धये ॥
प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्ट स्वभावत ।
मङ्गल्यमिति कृत्वा च नाट्यमेतत्प्रयोज्यते ॥
प्रसवालापविवाहहर्षेष्वभ्युदयेषु च ।
प्रस्थानसमये राज्ञा नाट्यमेतत्प्रयोज्यते ॥ इति 'न' पुस्तकेऽधिक दृश्यते ।

२ न अधमोत्तममध्यानाम् । ३ एतद्रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियास्वथ । सर्वोपदेशजनन नाट्य लोके भविष्यति ॥ ४ च व समर्थानाम् । ५ विश्रामजननम् । ६. ठ य लोके ।
७. च न नाट्यमेतन्मयाकृतम् ।

तस्मादियमत्र योजना—नानाप्रकारैर्भावैः स्थायि-व्यभिचारि-विभावादिभि उपसम्पन्नं सर्वतो व्याप्तम्। तेषां च भावादीनां देश-काल-प्रवृत्ति-अवस्थान्तर-भिन्न-स्वभावत्वात् तदपि नानावस्थात्मकम्। अत एवाह—'उत्तमाधमेति'। एवम्भूतमेतद् भविष्यति। काले विश्रान्तिजननं हितोपदेशजननं च भविष्यतीति सम्बन्धः।

के के नानाप्रकारा भावा इत्याह—'क्वचिद्धर्मः' इत्यादि। यथायोगं धर्मादयः शब्दास्तदुचितस्थायि-व्यभिचार्यादिसूचकाः। तेन 'धर्मोऽर्थः' इत्युत्साहादि, 'क्रीडा' इति विस्मयादि, 'शम' इति निर्वेदादि, 'हास्यम्' इति हासादि, 'युद्धम्' इति क्रोधादि, 'काम' इति रत्यादि, 'वध' इति भय-जुगुप्सा-शोकादि। अमीभिश्च समुचितव्यभिचार्यनुभावविभावाः[3] स्वीकृताः।

पाठसमीक्षा—इन श्लोकोंके बीचमें पूर्व-संस्करणोंमें ११२वें श्लोकके पहिले ६ श्लोक, तथा ११४वें श्लोकके पहिले एक, पुन मिलाकर सात श्लोक अधिक और छपे हैं। परन्तु ये सब प्रक्षिप्त हैं। इन श्लोकोंको बीचमें माननेसे 'क्वचिद्धर्मः' से लेकर 'लोकोपदेशजननं' इत्यादि श्लोक तक श्लोकोंकी संख्या पन्द्रह हो जाती है। जब कि अभिनवगुप्तने यह संख्या आठ लिखी है। अभिनव-भारतीमें इनकी व्याख्या भी नहीं की है। इसलिए ये सब श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

अभिनव०—इसलिए यहां [अर्थात् इन आठो श्लोकोंमेंसे पहिले ११२, ११३ तथा ११४ वें के उत्तरार्धको मिलाकर उनके अर्थकी] योजना इस प्रकार [होती] है—नाना प्रकारके भावोंसे अर्थात् स्थायिभाव, व्यभिचारिभाव तथा विभावसे उपसम्पन्न अर्थात् पूर्ण रूपसे व्याप्त। और उन भावादिकोंके भी देश, काल, प्रवृत्ति, अवस्थान्तर, तथा भिन्न स्वभावोंके कारण वह [नाट्य] भी नाना-अवस्थात्मक होता है। इसलिए [११३वें श्लोकमें] उत्तम, अधम, मध्यम [आदि रूपसे भेद] कहा गया है। [११४वें श्लोकका उत्तरार्ध] यह [नाट्य] इस प्रकारका [जैसा कि इन श्लोकोंमें बतलाया गया है] होगा। समयपर विश्रान्ति प्रदान करने वाला और हितका उपदेश देने वाला होगा। यह [उन-उन श्लोकोंमें आये हुए पदोंके साथ] सम्बन्ध है। [अर्थात् पहिले ११२, ११३ और ११४वें श्लोकके उत्तरार्धको मिला कर अर्थ योजना करनेके बाद १०८वें श्लोकसे निम्न प्रकार व्याख्याका आरम्भ करना चाहिए]—

अभिनव०—वे नाना प्रकारके भाव कौन-कौनसे हैं इस बात बातको 'क्वचिद्धर्मः' इत्यादिसे दिखलाते हैं। [यहां आए हुए] धर्म आदि शब्द औचित्यानुसार अपनेसे सम्बन्ध रखने वाले स्थायिभाव, व्यभिचारिभाव [तथा विभाव] आदिके सूचक हैं। इस लिए 'धर्म', 'अर्थ' ये [शब्द] 'उत्साह' आदि [स्थायिभावके सूचक हैं], 'क्रीडा' से 'विस्मय' आदि, 'शम' से 'निर्वेद' आदि, 'हास्य' से 'हास' आदि, 'युद्ध' से 'क्रोधादि' आदि, 'काम' से रति' आदि, 'वध' से भय, जुगुप्सा, शोक आदि [स्थायिभाव सूचित होते हैं]। और उनके द्वारा उनके अनुरूप व्यभिचारिभाव अनुभाव तथा विभाव स्वीकृत होते हैं।

---

१. शौर्यादि। २. शोकभयजुगुप्सादि। ३. समुचितव्यभिचार्यनुभावाः स्वीकृताः।

'क्वचित्' इति शब्देन दशरूपकान्यतममुच्यते । 'एतदुक्त भवति—किञ्चिद्धर्म-प्रधान रूपक यथा नाटक[1] प्रकरण वा । किञ्चित् क्रीडाप्रधान तथाप्रसिद्धाना यथा भाण । अर्थप्रधानत्व प्रकरणादौ । एव दशरूपकलक्षणानुसारेण सर्वमनुसरणीयम् ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'युद्धमिति रौद्रादि' इस प्रकारका पाठ पूर्व सस्करणोमें छपा था हमने उसके स्थानपर 'युद्धमिति क्रोधादि' पाठ दिया है । इसका कारण यह है कि यहा ग्रन्थकार ने 'धर्म' और 'अर्थ' शब्दोसे उत्साहादि स्थायिभावोंका, 'क्रीडा' पदसे विस्मय रूप स्थायिभावका, 'शम' पद निर्वेदादि स्थायिभावका, और 'हास्य' पदसे हास-स्थायिभावका ग्रहण किया है तब 'युद्ध' पदसे स्वभावतः रौद्ररसके स्थायिभाव क्रोधका ग्रहण होना चाहिए, रौद्ररसका नही । इसलिए हमने 'युद्धमिति रौद्रादि' यह पाठ दिया है । 'वध' की व्याख्यामें 'क्रोध-भय-जुगुप्सा-शोकादि' इस प्रकारका पाठ छपा था । उसमेंसे 'क्रोध' का ग्रहण 'युद्ध' पदसे ही हो चुका है । अत 'वध' पदमे भय, जुगुप्सा और शोक रूप जो स्थायिभाव शेष रह गए थे उनका ही ग्रहण करना चाहिए ।

धर्मादिके प्राधान्यसे दशरूपकोका भेद—

अभिनव०—'क्वचित्' इस शब्दसे दशरूपकोमेसे किसी एकका ग्रहण करना चाहिए । इसका यह अभिप्राय है कि—कोई [रूपक] धर्म प्रधान होता है जैसे नाटक या प्रकरण । कोई क्रीडा-प्रधान होता है जैसे उसकेलिए प्रसिद्ध [रूपक भेदो] मे भाण । अर्थ प्रधानता तो प्रकरण आदिमे [ही पाई जाती] है । इस प्रकार दशरूपको के लक्षणोके अनुसार यह सब समझ लेना चाहिए ।

पाठसमीक्षा—तीन पक्तियोके इस छोटेसे अनुच्छेदमें तीन अशुद्धिया है । एक अ-स्थान-पाठकी दूसरी अस्त-व्यस्त पाठकी और तीसरी लुप्त-पाठकी । मूलकारिकाओमें 'क्वचिद्धर्म' आदि पाठ आया है । उसमे 'क्वचित्' पदसे रूपकके दस भेदोमेसे किसी एकका ग्रहण करना चाहिए यह बात इस अनुच्छेदके आरम्भमें कही गई है । इसी बातका उदाहरण-सहित प्रतिपादन आगे 'एतदुक्त भवति'—से किया है । इसमें दशरूपकके कोई भेद धर्म-प्रधान होते हैं जैसे नाटक अथवा प्रकरण, और कोई भेद क्रीडाप्रधान होते हैं जैसे भाण आदि, यह बात ग्रन्थकार कहना चाहते हैं । परन्तु पूर्व-सस्करणोमें जिस रूपमें इस स्थलका पाठ छापा गया है वह भ्रममें डाल देने वाला है । पूर्व-सस्करणोका पाठ निम्न प्रकार है—

क्वचिदिति शब्देन दशरूपकान्यतममुच्यते । तथा नाटकाद्यनेकरूपकगतो विशेपस्तथैक नाटकादि विशेपे । को विभाग । एतदुक्त भवति—किचिद्धर्मप्रधान रूपक यथा नाटकम् । प्रकरण वा क्रीडा-प्रधानम् । तथा प्रसिद्धाना यथा भाणः । अर्थप्रधानत्व प्रकरणादौ । एव दशरूपकलक्षणा-नुसारेण सर्वमनुसरणीयम् ।

पाठ समीक्षा—पूर्व-सस्करणोमें इस प्रकार मुद्रित पाठमें इस अनुच्छेदका दूसरा वाक्य अस्थान पठित है । 'यथा नाटकाद्यनेकरूपकगतो विशेषस्तथैकनाटकादिविशेपेको विभाग' इस वाक्यका सम्बन्ध इस अनुच्छेदसे न होकर अगले अनुच्छेदसे है । इस अनुच्छेदमे तो ग्रन्थकारने यह दिखला रहे हैं कि कोई रूपकभेद धर्मप्रधान, कोई अर्थप्रधान और कोई क्रीडाप्रधान होते हैं । अगले अनुच्छेदमें वे यह दिखलावेंगे कि रूपके नाटकादि एक ही भेदमें किसी नाटकमें धर्मकी प्रधानता और

---

१ त (य) था नाटकाद्यनेकरूपकगतो विशेषस्तथैक ना (कना) टकादिविशेषे । को विभाग ।
२ प्रकरण वा क्रीडाप्रधानम् । तथा प्रसिद्धानां यथा भाण ।

किसी नाटकमें काम अथवा अर्थकी प्रधानता भी हो सकती है। जैसे 'ललितराम' नाटकमें धर्मकी प्रधानता है। 'स्वप्नवासवदत्ता' नाटकमें क्रीडाकी प्रधानता है। ये दोनों ही नाटक हैं। इसलिए रूपकके नाटकादि रूप एक भेदके भीतर भी धर्मप्राधान्य और क्रीडाप्राधान्य हो सकता है। यह अगले अनुच्छेदका भाव है और यही भाव 'यथा नाटकाद्यनेकरूपकगतो विशेषस्तथैव नाटकादि-विशेषगो विभाग.' इस पंक्तिका भी है। अतः इस पंक्तिको अगले अनुच्छेदके प्रारम्भमें रखना चाहिए। पूर्व-संस्करणोंमें जहाँ इसको छापा गया है वहाँ उसका स्थान नहीं है।

पाठसमीक्षा—इस अन्य-स्थान पठित वाक्यको बीचसे निकाल देनेके बाद 'तदुक्तं भवति' से जो पाठ प्रारम्भ होता है वह अस्त-व्यस्त पाठका उदाहरण है। इसमें पहिला वाक्य तो ठीक है। उसमें नाटक धर्मप्रधान रूपक होता है यह बात कही गई है। किन्तु इसके बाद अगला वाक्य 'प्रकरणं वा क्रीडाप्रधानम्' जो दिया गया है। उसका पाठ अशुद्ध है। इसमें 'क्रीडाप्रधान' का सम्बन्ध प्रकरणके साथ दिखलाया गया है किन्तु यह ठीक नहीं है। प्रकरणमें 'विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्' विप्र, अमात्य अथवा वणिक्मेंसे कोई एक नायक होता है और धर्म अथवा अर्थमेंसे कोई एक प्रधान होता है। इसलिए क्रीडाका जो उसके साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है वह उचित नहीं है। यों तो देखनेमें यह अशुद्धि विराम—चिह्नके लगाने मात्रकी अशुद्धि प्रतीत होती है। किन्तु वास्तवमें यह समझकी ही मौलिक भूल है। प्रतिलिपिके करनेवालेने प्रकरणको क्रीडाप्रधान समझ कर ही कदाचित् यहाँ विराम चिह्नका अनुचित प्रयोग किया है। वास्तवमें यहाँ 'प्रकरणं वा' इतना पाठ पूर्व-वाक्यमें और 'क्रीडाप्रधान' शब्द उत्तर-वाक्यमें जाना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि 'किञ्चिद्धर्मप्रधानं रूपकं यथा नाटकं प्रकरणं वा'। इस प्रकारका पहिला वाक्य और 'क्रीडाप्रधानं तथा प्रतिद्वानां यथा भाणः' इस प्रकारका दूसरे वाक्यका पाठ होना चाहिए। इस पाठके अनुसार धर्म प्रधान रूपकके दो उदाहरण हुए। एक नाटक और दूसरा प्रकरण।

पाठसमीक्षा—यहाँ थोड़ा सा यह सन्देह हो सकता है कि अगले वाक्यमें 'अर्थप्रधानाश्च प्रकरणादयो' में प्रकरणको अर्थप्रधान रूपक बतलाया है तब यहाँ धर्म-प्रधानमें उसकी गणना कैसे होगी? इसका समाधान यह है कि प्रकरण कभी धर्म-प्रधान भी हो सकता है और कभी अर्थप्रधान भी हो सकता है। यह बात उसके लक्षणसे भी स्पष्ट प्रतीत होती है। प्रकरणके नायक विप्र, अमात्य अथवा वणिक् हो सकते हैं। जब विप्र नायक होगा तब वह प्राय धर्म प्रधान होगा। वणिक्के नायक होनेपर वह निश्चित रूपसे अर्थ-प्रधान होगा। इसलिए उसे दोनों प्रकारके रूपकोंके उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु पूर्व-संस्करणोंके पाठके अनुसार उसे क्रीडाप्रधान मानना होगा जो कि सर्वथा अनुपयुक्त है। इस लिए पूर्वसंस्करणोंका पाठ अशुद्ध है।

पाठसमीक्षा—यही नहीं, इस पाठ के माननेसे अगला वाक्य भी अशुद्ध हो जाता है। उसके अनुसार अगला वाक्य 'तथा प्रतिद्वानां यथा भाणः' यह रह जाता है। इसमें भाणको किसका उदाहरण माना है यह बात स्पष्ट नहीं होती है। अतः 'क्रीडाप्रधान' का सम्बन्ध 'प्रकरण' के साथ न जोड़ कर इस भाणके साथ जोड़ना उचित होगा। इसलिए दूसरे वाक्यका पाठ 'क्रीडाप्रधानं तथा-प्रतिद्वानां यथा भाणः' यह होना चाहिए। इसमें 'तथा-प्रतिद्वानां' का पद कुछ क्लिष्ट-सा और अनावश्यक-सा प्रतीत होता है। यदि यह न होता तो 'क्रीडाप्रधानं यथा भाणः' यह पाठ बिल्कुल सुबोध होता। 'तथा प्रतिद्वानां' पदके कारण उसमें क्लिष्टता आ गई है। किन्तु क्रीडाप्रधान और भी रूपकभेद हो सकते हैं उन अनेक क्रीडाप्रधान रूपकोंमेंसे भाण सबसे मुख्य उदाहरण है यह इस 'तथाप्रतिद्वानां' पदका अभिप्राय है इसलिए उसको उपस्थित किया गया है।

यथा नाटकाद्येनकरूपकगतो विशेषस्तथैकनाटकादिविशेषगो विभागः। 'यथा क्वचिन्नाटके धर्म प्रधानम्। यथा छलितरामे रामस्याश्वमेधयाग। क्वचित् क्रीडा यथा स्वप्नवासवदत्तायाम्। एवमन्यत्राप्यनुसरणीयम्।

'तथैकत्रापि नाटके क्वचिदशे' धर्मो यथाभिज्ञानशाकुन्तले 'अपि नाम कुलपते रियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा स्यात्'। एव 'प्रतिनाटक एकदेशेषु सुलक्षा एव क्रीडादय इति ग्रन्थविस्तरभीरुभिरस्माभिर्न **परिदर्शिताः** ७।

ननु अवस्था-देश-काल-प्रकृतिविशेषसमुचितभावानुकीर्तनमात्रमेव कर्तव्यम् कि **राम-रावणेत्यादिसमाश्रयेण,** इत्याशङ्क्याह–धर्म इति।

पाठसमीक्षा—हमने यह लिखा था कि इस अनुच्छेदके पाठमें तीन अशुद्धिया हैं ए अ-स्थानपाठकी, दूसरी अस्त-व्यस्तपाठकी, और तीसरी लुप्तपाठकी। इनमेंसे यहा तक अ-स्थान-पा वाली और अस्तव्यस्तपाठ वाली दो अशुद्धियोंकी समीक्षा की जा चुकी है। अब आगे लुप्तपाठ वाल तीसरी अशुद्धिकी ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। पहिले वाक्यमें 'किञ्चिद्धर्मप्रधान यथा नाट प्रकरण वा' कहा गया था। इसी प्रकार दूसरे वाक्यका प्रारम्भ भी 'किञ्चित्' पदसे होना चाहिए पूर्व-सस्करणोमें उसके आगे 'किञ्चित्' पद नही दिया गया है। परन्तु प्रक्रमके अनुरोधसे उसक होना आवश्यक है इसलिए हमने उसका समावेश करके 'किञ्चित् क्रीडाप्रधान तथाप्रसिद्धाना यथ भाण'। यह पाठ दिया है। अगले 'अर्थप्रधानत्व प्रकरणादौ' इस वाक्यकी रचना और तरहकी इसलिए उसके पूर्व 'किञ्चित्' पदके प्रयोगकी आवश्यकता नही है।

अभिनव०—जिस प्रकार नाटक आदि अनेक रूपकोमे विशेषता पाई जाती है इसी प्रकार एक नाटकादिमे भी विभाग हो सकता है। जैसे किसी नाटकमे धर्मकी प्रधानत होती है। जैसे 'छलितराम' मे रामका अश्वमेध-याग [धर्म प्रधान] है। किसीमे क्रीड [प्रधान होती है] जैसे 'स्वप्नवासवदत्ता' मे। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए

अभिनव०— और एक नाटकमे भी किसी अशमे धर्म [की प्रधानता होती है] जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' [के द्वितीय अङ्क] मे 'शायद यह [शकुन्तला] कुलपति [ब्राह्मण कण्व] की असवर्ण क्षेत्र [क्षत्रिया स्त्री] से उत्पन्न [कन्या हो अत. मेरे विवाह-योग्य] हो। इस प्रकार प्रत्येक नाटकमें किसी स्थानपर क्रीडा आदि स्पष्ट देखे जा सकते हैं। इसलिए ग्रन्थविस्तारके भयसे हमने नहीं दिखलाए हैं।

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा तो अवस्था देश, काल, प्रकृति विशेषके योग [स्थायी] भावोंका ही निरूपण करना चाहिए, राम-रावण इत्यादि [विभावो] का आश्रय क्यों लेते हैं। इस प्रकारकी आशङ्काको करके, [उसके समाधानकेलिए १०८ वीं कारिकामे] कहते हैं, 'धर्म' आदि।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद में पहिले सस्करणोमें 'कि रामाय रावणेत्यादि' पाठ छप था। वह अशुद्ध था। उसके स्थान पर 'राम-रावणेत्यादि' समस्त पद होना चाहिए था।

३ तया। ४ तथा तत्रापि। भ तथापि। ५. म. क्वचिदङ्के। ७ परिवर्तिता। परिवर्णिता'
१. कि रामाय (दि) रावणेत्यादि सयाश्रयेण०।

चो हेती। यस्माल्लोकवृत्तानुसारेण करण प्रयोगरूप नाट्य मया कृतमेतदि-त्येतस्मात् कारणात् धर्मप्रवृत्ताना रामयुधिष्ठिरादीना सम्बन्धित्वेन धर्म उक्त । निग्रह इति वध.। विनीताना जितेन्द्रियाणा सम्बन्धित्वेन दमस्य शमस्य, क्रिया योजना। विनयो हीन्द्रियजय.।

एव क्लीबानामुपहास्याना धाष्टर्यं जननमिति विभावेन हासोऽप्युक्त । धाष्टर्या-ज्जन्म यस्य हास्यवस्तुन । वक्ष्यति–'विकृतपरवेषालङ्कारधाष्टर्यादिभि.' [अ० ६] इत्यादि। विबोध इति ण्यन्तस्य रूपम्। अबुद्धत्वेन प्रसिद्धाना सम्बन्धित्वेन बोधन उपायोपदेशेन व्युत्पादकत्वम्। विदुषा भीष्मादीना उपाय-व्युत्पादकत्वेन[1] वैदुष्यम्। अनेन स्मृति-मतिप्रभृतीना निरूपणम्।

विलास इति क्रीडा। स्थैर्यमिति व्यवसायात्मकमुत्साहरूपमेव। च शब्द एवकारार्थे। दु खादितत्वेन य प्रसिद्धस्तस्यैव सम्बन्धित्वेनेत्यर्थ.। धृति-धैर्यम्।

धर्मादिका सम्बन्ध अनुकार्यसे है प्रेक्षकसे नहीं—

[११० वीं कारिकामे 'अबुधाना विबोधश्च' में आया हुआ] 'चकार' हेत्वर्थक है। क्योकि लोक-व्यवहारके अनुसार करण अर्थात् प्रयोग रूप यह नाट्यको मैंने बनाया है इस कारणसे धर्ममे प्रवृत्त राम युधिष्ठिर आदिसे सम्बन्धित रूपमे धर्मका निरूपण किया है। 'निग्रह' का अर्थ 'वध' है। विनीतों अर्थात् जितेन्द्रियोंके सम्बन्धी रूपमे 'दम' अर्थात् 'शम' की क्रिया अर्थात् योजना [की गई] है। क्योकि इन्द्रियजय का नाम ही विनय है।

[कारिका ११०] इसी प्रकार नपुंसकों अर्थात् उपहासके योग्योंको धृष्टतासे उत्पन्न होने वाला [धाष्टर्याज्जनन यस्येति धाष्टर्यजननं यह विग्रह है।] इनमें [क्लीब रूप] विभावसे 'हास' यहा कहा है। धृष्टतासे जिस 'हास्य' की उत्पत्ति होती है [यह 'धाष्टर्यजनन' का अर्थ है]। जैसा कि आगे कहेंगे–'दूसरोके विकृत वेश अलङ्कार और चेष्टा तथा धृष्टता आदिसे [हास उत्पन्न होता है]। 'विबोध' यह णिजन्त का रूप है। जो मूर्खके रूपसे प्रसिद्ध हैं, उनसे सम्बन्धित बोधन अर्थात् उपायोंके उपदेश द्वारा [उनको] सुशिक्षित करने वाला [नाट्य है]। विद्वानों अर्थात् भीष्म आदिसे सम्बद्ध, उपायोको सिखलाने-रूप वैदुष्य [का जनक नाट्य है]। इससे स्मृति मति आदि [व्यभिचारिभावों] का निरूपण किया गया है।

[कारिका १११] 'विलास' का अर्थ क्रीडा [मनोरञ्जन] है। 'स्थैर्य' अर्थात् निश्चयात्मक उत्साह-रूप ही [स्थैर्य लेना चाहिए]। ['स्थैर्यं दु खार्दितस्य च' में प्रयुक्त] चकार एवकार अर्थात् 'ही' के अर्थमे [प्रयुक्त हुआ] है। [इसका भाव यह है कि] जो दु ख-पीडित रूपमें दिखलाई देता [प्रसिद्ध] है उन्होंसे सम्बद्ध [उत्साहको प्रदान करता है यह आशय है]। धृति [का अर्थ] धैर्य है।

1 व्युत्पादकत्वेन।

एतदुक्त भवति-लोकवृत्तानुसारेण यत इय नाट्यक्रीडा[1], लोके च धर्मादयोऽनाश्रया[2] न सवेदनयोग्या, तेन धर्मादिविषये यो यथा प्रसिद्धो रामादि स शब्दमात्रोपयोगित्वेन मुख्यया प्रणालिकया गृहीत ।

एवम्भूत यन्नाट्य, तत्, प्रेक्षकाणा दु खेन व्याध्यादिकृतेन, श्रमेण अध्वक्लेशादिजेन, शोकेन बन्धुमरणादिकृतेन, आर्ताना पीडिताना, तथा तपस्विना अनवरतकृच्छ्रचान्द्रायणाद्याचरणकलितदौर्बल्यातिशयपरिखिन्नहृदयाना विश्रान्तिजनन दु खप्रसरणविघातक, प्रतिहतदु खाना 'चाह्लादधृत्यादिकारण[3] यथायोगम् । तद्यथा शोकार्तस्य धृति, व्याध्यार्तस्य क्रीडा, श्रमार्तस्य सुखम् । आदिग्रहणेन तपस्विनो मति-विवोधादय[4] इति मन्तव्यम् ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'भीष्मादीना उपायव्युत्पाद्यत्वेन' इस प्रकारका पाठ पूर्वसस्करणोमें छपा था । उसमें 'व्युत्पाद्यत्वेन' पाठ अशुद्ध है । उसके स्थानपर 'व्युत्पादकत्वेन' पाठ होना चाहिए । अत हमने यही पाठ रखा है ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—क्योकि यह नाट्यक्रीडा लोकव्यवहारके अनुसार होती है और लोकमे बिना आश्रयके धर्मादिका अनुभव नही हो ही सकता है, इसलिए धर्मादिके विषयमे जो राम आदि जिस रूपमे प्रसिद्ध है उन्हींको यहा [१०६वीं कारिकामें धर्मप्रवृत्तानां आदि सामान्य] शब्दमात्रके उपयोगके द्वारा [अर्थात् राम आदि विशेष व्यक्तिका नाम न लेकर 'धर्मप्रवृत्ताना' आदि सामान्य शब्दसे] मुख्य वृत्तिसे ग्रहण किया गया है ।

अभिनव०—इस प्रकारका जो नाट्य है वह देखने वालोको दु ख अर्थात् रोग आदिसे उत्पन्न क्लेशसे, श्रम अर्थात् मार्ग चलने आदिकी थकानसे, शोक अर्थात् सम्बन्धियोकी मृत्यु आदिसे उत्पन्न दु खसे, आर्त अर्थात् पीडितो और तपस्वियो अर्थात् निरन्तर कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि [व्रतो] के करनेसे अत्यन्त दुर्वल और अत्यन्त खिन्न हृदयवालोकेलिए, विश्रान्तिको देनेवाला, अर्थात् [दुखितोके] दु खकी वृद्धिका नाशक, और दुःखसे मुक्त हुओकेलिए यथा-योग्य रूपसे आह्लाद, धृति आदिका कारण [नाट्य है] । जैसे कि-शोक-सन्तप्तकेलिए धैर्य [प्रदान करने वाला], रोगपीडितके लिए मनोरञ्जक [क्रीडा], और श्रमसे थके हुएकेलिए सुख प्रदान करने वाला [नाट्य होता है] । आदि [पदके] ग्रहणसे तपस्वियोकेलिए मति विवोध आदि [का देनेवाला] यह अर्थ लेना चाहिए । [अर्थात् नाट्यके द्वारा ससारके दोषोका अनुभव करके तपस्वियोको ज्ञान आदिकी प्राप्ति भी होती है] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके अन्तिम भाग में हमने एक नए 'क्रीडा' पदका समावेश किया है । क्योकि वृत्तिकारने कारिकामें आए हुए 'धृति-क्रीडा सुखादिकृत्' का सम्बन्ध 'दु खार्त' आदिके साथ दिखलाया है । जिनमें शोकार्तकेलिए धृति, तथा श्रमार्तकेलिए सुखका कथन स्पष्ट किया है । 'इसलिए व्याध्यार्त' के वाद क्रीडा पदका समावेश आवश्यक है ।

१. नाट्यक्रिया । २ नानाश्रया । ३ चाह्लादात्मथधृत्याविकारयम् । ४. म. वोध इति ।

न चैतावदेव, यावत् कालान्तरेऽपि सुखपरिपाक उपदेशं जनयतीति । एवं दुःखितानां तत्प्रशम-सुखवितरण-'कालान्तरसुखलाभाः प्रयोजनम्'। ये पुनरदुःखिताः सुख-भूयिष्ठप्रवृत्तय एव राजपुत्राद्यास्तेषां लोकवृत्ते धर्माद्युपायवर्गे च उपदेशकारि एतन्नाट्यम् । लोक-शब्देन लोकवृत्तम् ।

ननु किं गुरुवदुपदेशं करोति ? नेत्याह, किन्तु 'बुद्धिं विवर्धयति । स्वप्रतिभामेव तादृशीं वितरतीत्यर्थः । न च सा दुष्टा प्रतिभेत्याह 'हितम्' हितप्रतिभाजनकत्वात् । अत्र हेतुमाह यतो धर्मादनपेतम् । यश -शब्देन लोकप्रसिद्धिहेतुभूतमद्भुतकार्यं वस्तूच्यते । यथा रामस्य सप्तताल-व्यधनादि । तदुपदेशे साधु । आयुर्वृद्धिहेतव आचारा आयुः । तेषु साधु । एवं दुःखितानामदुःखितानां चेदमुपादेयमित्युक्तम् ।

अभिनव०—केवल इतना ही नहीं है कि [वर्तमान कालमें दुःखार्तादिकेलिए विश्रान्तिदायक हो] अपितु कालान्तरमे जिससे सुख प्राप्त होसके इस प्रकारका उपदेश करता है। इसी भांति दुखितोकेलिए उनके दुःखका नाश, सुखका वितरण, और कालान्तरमे सुखकी प्राप्ति [नाट्यके] प्रयोजन हैं। और जो दुःखी नहीं है अपितु अत्यन्त सुखी है उन राजपुत्रादिकेलिए लोक-व्यवहार और धर्मादिके उपायवर्गका उपदेश देनेवाला यह नाट्य है। लोक-शब्दसे लोक-व्यवहार [का ग्रहण होता है]।

अभिनव०—[प्रश्न] तो क्या [नाट्य] गुरुके समान उपदेश करता है ? [उत्तर] नहीं यह बात नहीं है किन्तु 'बुद्धिको बढ़ाता है'। अर्थात् अपनी प्रतिभाको ही उस प्रकारकी बना देता है। और वह प्रतिभा दुष्ट-प्रतिभा नहीं होती है इसके [सूचित करनेके] लिए 'हित' कहा है। हितकारिणी प्रतिभाका जनक होनेसे [नाट्य को हित कहा गया है]। इस विषयमे हेतु देते हैं- क्योंकि धर्मसे युक्त [अनपेत] है। [यह 'धर्म्यम्' पदका अर्थ किया है 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इस सूत्रसे 'अनपेत' अर्थमे धर्म-शब्दसे 'यत्-प्रत्यय' होकर 'धर्म्य' पद बनता है इसलिए उसका यह अर्थ किया है]। यश शब्दसे लोकप्रसिद्धिके हेतुभूत आश्चर्य-जनक कार्य [वस्तु] को कहा गया है। जैसे रामचन्द्र के द्वारा सप्ततालोंका वेधना आदि। उनमें साधु [अर्थात् उनका प्रदान करने वाला यशस्य हुआ। इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'यशस्य' तथा 'आयुष्य' आदि पदोमें 'तत्र साधुः' इस सूत्रसे यत्-प्रत्यय होकर इन शब्दोकी सिद्धि होती है। और ये दोनों शब्द लक्षणावृत्ति द्वारा अपने कारणोंको कहते हैं। क्योंकि यश-शब्दसे वृत्तिकारने लोक-प्रसिद्धिके हेतुभूत आश्चर्यजनक कार्योंका ग्रहण किया है। इसी प्रकार] आयुकी वृद्धिके हेतुभूत आचरण यहां 'आयु' [शब्दसे गृहीत होते] हैं। उनमे साधु [होनेसे नाट्य 'आयुष्य' कहलाता है]। इस प्रकार [यह नाट्य] दुःखियों और सुखियों दोनोंके लिए उपादेय है, यह बात कही गई है।

---

१. म भ कालान्तरे विपरीतं। (नदि) परिपाकयं सुखमुपदेशम्। २. ल सुखविभाग।
३. म चेतादुःखिता।

दु:ख च शारीर मानस वा। शारीरमपि दैवकृतम् स्वयंकृतञ्च। स्वयकृतमपि दृष्ट[1]फलोद्देशेनान्येन चेति। एतावानेव दु खितवर्ग इति दु खार्ताना इत्यादि भेदोपादानस्य फलम्।

केचित्तु 'धर्मो धर्मप्रवृत्तानाम्' इत्यादि सामाजिकविपयत्वेन व्याचक्षते' हृदय-सवादयोग्यतातात्पर्येण। अन्ये त्वकारप्रश्लेपादिव्याख्याप्रकारेण 'अधमप्रवत्तानाम्' इत्यादि विपरीतत्वेन व्याचक्षते। उपदेश्यत्वाभिप्रायेण। उभयमपि चेतद 'धर्म्यम्' 'यशस्यम्' इत्यादे पुनरुक्तम् ॥ १०८-११५ ॥

पाठसमीक्षा—गत पृष्ठपरके प्रथम अनुच्छेदमे दो स्थानपर साधारण पाठ-परिवर्तनोकी आवश्यकता पडी है। पहिले स्थानपर परिपाक सुख उपदेश जनयति' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोमे छपा था। उसके स्थानपर 'सुखपरिपाकमुपदेश जनयति' पाठ होना उचित है। इसलिए हमने सशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार दूसरे स्थान पर 'लोकवृत्ते धर्माद्युपायवर्गे' के बाद 'च' छपनेसे रह गया था। हमने उनको ठीक करके छाप दिया है। उसके बिना वाक्य-रचना अट पटी-सी प्रतीत होती है।

दु ख [भी] शारीरिक अथवा मानसिक [भेदसे दो प्रकारका] होता है। शारीर दु ख भी [मुख्यतः] दैवकृत और स्वयकृत [दो प्रकारका होता है]। स्वयकृत [दु ख] भी [किसी विशेष] फल [की प्राप्ति] के उद्देश्यसे, अथवा अन्य किसी कारणसे [मिलाकर दो प्रकारका होता है। जैसे किसी विशेष फलकी प्राप्तिकेलिए कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रतोका अनुष्ठान कर मनुष्य स्वय अपने लिए कष्ट उत्पन्न करता है। यह फलोद्देशेन स्वयकृत दु ख हुआ। कभी न चाहते हुए भी अपने मिथ्या आहार-विहार द्वारा मनुष्य अपनेलिए रोगादि उत्पन्न कर लेता है। यह दूसरे प्रकारका स्वयंकृत दु ख हुआ। दु खार्त, श्रमार्त और शोकार्त] इतना ही दु खितवर्ग है इसका दिखलाना ही 'दु खार्ताना' इत्यादि भेदोके ग्रहण करनेका फल है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमे 'दैवकृत' के बाद 'स्वयकृतञ्च' पाठ और होना चाहिए। उसके बिना अर्थकी सङ्गति ठीक नही बैठती है।

धर्मादिकी सामाजिकपरक व्याख्याका खण्डन—

अभिनव०—कोई [टीकाकार] 'धर्मो धर्मप्रवृत्ताना' इत्यादिकी सामाजिकपरक व्याख्या करते है, क्योकि उनकी ही हृदयसवादकी योग्यता है इस अभिप्रायसे [वे सामाजिक परक व्याख्या करते हैं]। दूसरे [व्याख्याकार] अकारका प्रश्लेष आदि माननेके व्याख्या-प्रकारसे 'अधर्मप्रवृत्ताना इत्यादि विपरीत रूपसे व्याख्या करते हैं। उपदेश्यत्वके अभिप्रायसे। ये दोनो ही [व्याख्याए] 'धर्म्य' और 'यशस्य' की पुन-रुक्तिमात्र है। [इसलिए न सामाजिकके अभिप्रायसे इनकी व्याख्या करनी चाहिए और न उपदेश्य मान कर 'अधर्मप्रवृत्ताना' इत्यादि व्याख्या करनी चाहिए। अपितु 'धर्म प्रवृत्ताना रामादीना सम्बन्धित्वेन' यह जैसी व्याख्या हमने अनुकार्यके अभिप्रायसे की है उसी प्रकारकी व्याख्या करनी चाहिए]।

---

१ दृष्टफलोद्देशेन।

न चानेन प्रधानमात्र एवोपदेशः कृतः पुरुषार्थोपायमात्रे वा। तदुपायो-पेयादिष्वपीति दर्शयति, न 'तत्' इति—

भरत०—न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥ ११६ ॥

अस्मिन्निति—सप्तद्वीपगतभावानुकीर्तनरूपे नाट्ये दृश्यमाने यन्न दृश्यते—न हृदयगोचरमेति तादृग् ज्ञानादिकं नास्तीति भावः। ज्ञानमित्युपादेयमात्मज्ञानादि।

इसका अभिप्राय यह है कि 'धर्मो धर्मप्रवृत्तानाम्' इत्यादि श्लोकोंकी व्याख्याके विषय में अभिनवगुप्त प्राचीन टीकाकारोंसे कई बातोंमें मतभेद रखते हैं। पहिली बात तो यह है कि पूर्ववर्ती टीकाकारोंने इन आठ श्लोकोंमें इकट्ठा एक-वाक्य मान कर व्याख्या नहीं की है। अपितु प्रत्येक श्लोकको अलग-अलग मान कर व्याख्या की है। अभिनवगुप्त अभी पीछे इस सिद्धान्तका खण्डन कर आए हैं। उनके मतमें इन आठों श्लोकोंकी व्याख्या एक-साथ मिला कर ही करनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि पूर्ववर्ती टीकाकारोंने 'धर्मप्रवृत्तानां' की व्याख्या सामाजिकोंके अभिप्रायसे की है। इसका भाव यह है कि धर्ममें प्रवृत्त सामाजिकोंके लिए नाट्यसे धर्मकी प्राप्ति हो जाती है। कामोत्सुक सामाजिकोंको नाट्यमें ही कामकी सामग्री मिल जाती है। यह 'सामाजिकाभिप्रायेण की' व्याख्या का भाव है। अभिनवगुप्त इससे सहमत नहीं हैं। कुछ दूसरे व्याख्या-कारोंने 'धर्मो धर्मप्रवृत्तानां' में अकारका प्रश्लेष मान कर 'धर्मोऽधर्मप्रवृत्तानां' अर्थात् अधर्माचरणमें लगे हुए लोगोंके सुधारके लिए उनको धर्मका उपदेश दिया है। इस प्रकार की व्याख्या की है। इसको 'उपदेश्यत्वाभिप्रायेण' व्याख्या कहा गया है।

अभिनवगुप्त इन दोनों पूर्ववर्ती व्याख्याकारोंसे सहमत नहीं हैं। उनका कहना यह है कि ये दोनों व्याख्याएं माननेपर कारिकामें आए हुए 'धर्म' तथा 'अधर्म' पदोंकी व्यर्थ पुनरुक्ति होगी। इसलिए 'धर्मो धर्मप्रवृत्तानां' इत्यादिकी सामाजिकपरक अथवा उपदेश्यत्वाभिप्रायेण व्याख्या करना उचित नहीं है। अपितु [illegible] राम-युधिष्ठिरादिके साथ इसका सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। धर्ममें प्रवृत्त राम और युधिष्ठिर आदिके धर्मका प्रदर्शन नाट्यमें कराया जाता है यह इसका अभिप्राय है ॥ १०८-११५ ॥

नाट्य सब विद्याओंका आश्रय है—

अभिनव०—और इस [नाट्य] ने केवल प्रधानभूत [धर्मादि] का ही अथवा पुरुषार्थके उपायमात्रका ही उपदेश नहीं दिया है, बल्कि उन उपायों द्वारा प्राप्त होने वाले फलों का भी, इस बातको 'न तज्ज्ञान' इत्यादि से दिखलाते हैं।

भरत०—न ऐसा कोई ज्ञान है न ऐसा कोई शिल्प है, न ऐसी विद्या या ऐसी कोई कला है, और न ऐसा कोई योग या ऐसा कोई कर्म है जो इस नाट्यमें दिखलाई न देता हो ॥ ११६ ॥

अभिनव०—इसमें अर्थात् सातों द्वीपों [सारे संसार] के भावोंको [नायकानुकरण व्यापारके द्वारा] प्रदर्शित करानेवाले इस नाट्यके देखनेपर जो न दिखलाई दे अर्थात् हृदयगोचर न हो इस प्रकारका ज्ञानादि नहीं है यह अभिप्राय है। 'ज्ञान' पदसे उपादेय आत्मज्ञान आदि [का ग्रहण करना चाहिए]।

---

१ सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च।
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ॥ इति च पुस्तकेऽधिकम्।

यथा वेणीसंहारे—'आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ । इत्यादि ।

शिल्पमिति माला-चित्र-पुस्तादियोजनम् । यथा—

'वेष्टितै-ग्रन्थितगुम्फसहतै, आततैश्च कुसुमैः सपल्लवैः । इत्यादौ ।

विद्या दण्डनीत्यादि । यथा—

'शम-व्यायामाभ्या प्रतिविहिततन्त्रस्य नृपते' । इत्यादौ ।

कला गीतवाद्यादिका । यथा—

'[3]व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना' इत्यादौ ।

यहाँ केवल श्लोकका प्रथम चरण उद्धृत किया है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोत्सेकाद्विघटिततमोग्रन्थय. सत्त्वनिष्ठा· ।
य वीक्षन्ते कमपि तमसा ज्योतिषा वा परस्तात्
त मोहान्ध कथमयममु वेत्तु देव पुराणम् ॥

जैसे वेणीसंहार [नाटकके प्रथम अंकके २३वें श्लोक] मे—

आत्मामे रमण करनेवाले और निर्विकल्पक-समाधिमे लीन होकर [ज्ञानके प्रकाशसे जिनकी तमो-ग्रन्थि नष्ट होगई है इस प्रकारके योगी लोग अन्धकार और प्रकाश दोनोसे परे जिन श्रीकृष्ण भगवान् का साक्षात्कार बडी कठिनाईसे कर पाते हैं, मोहसे अन्धा यह दुर्योधन उन अनादि देवको कैसे देख सकता है] ।

अभिनव०—शिल्पसे माला, चित्र अथवा खिलौने [पुस्त] आदिकी रचना [योजना] का ग्रहण होता है । जैसे—

अभिनव०—[मालादि बना कर] लपेटे हुए, गूथे हुए, गुलदस्ता [गुम्फ] के रूपमे सजाए हुए और फैले हुए [अर्थात् खुले हुए] पत्तोके सहित पुष्पोसे ।

पाठसमीक्षा—पूर्व-सस्करणमें इस उदाहरणका पाठ अशुद्ध-रूपमें छपा था । उसमें 'वेष्टितै' के स्थानपर केवल 'वेष्टित' पद दिया गया था । अर्थात् 'वेष्टितै.' का तृतीयान्त पदके रूपमें प्रयोग न करके समासके रूपमें प्रयोग किया था । परन्तु उस दशामें छन्दोभङ्ग हो जाता है । अत. हमने सशोधित पाठ 'वेष्टितै.' पाठ दिया है । इससे उस छन्दो-दोष का निवारण हो जाता है ।

अभिनव०—विद्यासे दण्डनीति आदि [का ग्रहण होता है] जैसे—

अभिनव०—साम और दण्डनीतिसे राज्यका प्रबन्ध करनेवाले राजा के ।

अभिनव०—कलासे गीत-वाद्य आदि [ग्रहण होता है] जैसे—

अभिनव०—'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना' इत्यादि [नागानन्द १-१४] में ।

यहां केवल श्लोकका थोडा-सा भाग उद्धृत किया गया पूरा श्लोक इस प्रकार है—

व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना
विस्पष्टो द्रुत-मध्य-लम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाय लय ।
गोपुच्छप्रमुखा· क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता—
स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधय सम्यक् त्रयो दर्शिता ॥

---

१ वेष्टितग्रथितगुम्फसहतैं । २. बालरामायण १-२४ । ३ नागानन्द १-१४ ।

योगो योजनं तेषामेव ज्ञानादीनां कलान्तानां स्वभेदैरन्योन्यप्रभेदैश्च[1]। यथा–

मेघाशङ्किशिखण्डिताण्डवविधावाचार्यकं कल्पयन्
निर्ह्रादो मुरजस्य मूर्च्छतितरां वेणुस्वनापूरितः[2]।
वीणायाः कलयन् लयेन गमकानुग्राहिणीं मूर्च्छनां
कर्षत्येष च [3]कालकुट्टितलया रम्यश्रुतिं पाडव ॥

इत्यादौ। अत्र ह्यातोद्यनिचयगीतयोजना कृता।

अन्योन्यं यथा—

[4]आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुकोमलच्छायम्।

इत्यादौ। अत्र हि शृङ्गारस्य वैद्यकविषया योजना।

यह श्लोक नागानन्द नाटकके प्रथमाङ्कमें लिया गया है। उस नाटककी नायिका मलयवती मन्दिरमें बैठी वीणा बजा कर देवीकी प्रार्थना कर रही है। नायक और विदूषक उस गानको सुन कर मुग्ध हो जाते हैं। उसीकी प्रशंसा करते हुए नायकका यह वचन है। व्यञ्जनधातु शब्द सङ्गीतशास्त्रका पारिभाषिक शब्द है। वीणाकी स्वराभिव्यक्तिके दस प्रकार माने गए हैं। उन्हींको दस प्रकारका व्यञ्जन-धातु कहा जाता है। मलयवती की वीणा-ध्वनि में यह दसों प्रकारके व्यञ्जन-धातु स्पष्टरूपसे प्रतीत हो रहे हैं। द्रुत-मध्य-तथा विलम्बित तीन रूपोंमें विभक्त यह लय भी विस्पष्ट हो रहा है। गोपुच्छ आदि नामकी तीनों प्रकारकी यतियाँ भी क्रमशः प्रकाशित हो रही हैं। और बाजोंके साथ चलने वाली तीनों प्रकारकी वाद्य-विधि का सुन्दरताके साथ प्रदर्शन किया गया है। यह इस श्लोकका भाव है। इसमें गीत तथा वादन-कला का वर्णन किया गया है। अतः यह कलाका उदाहरण दिया है।

अभिनव०—योगका अर्थ मिलाना है। अर्थात् ज्ञानसे लेकर कला-पर्यन्त उनका ही अपने भेदोंके साथ और एक-दूसरेके साथ मिश्रण। जैसे—

अभिनव०—[मुरज-वाद्यकी ध्वनिको] मेघ [की ध्वनि] समझनेवाले मोरोंके नाचनेमें आचार्यताको प्राप्त [अर्थात् जिसकी ध्वनिको सुनकर मोर मेघ ध्वनि समझ कर नाचने लगते हैं इस प्रकार का] बांसुरीकी ध्वनिसे मिश्रित, मुरजवाद्यका स्वर, अत्यन्त प्रबल रूपसे विस्तीर्ण हो रहा है। और वीणाके लयके साथ गमकको सुन्दर बनानेवाले उतार-चढ़ाव [मूर्च्छना] को धारण करता हुआ पाडवके अनुसार विनिश्चित लयसे युक्त रम्य श्रुतिको खींच रहा है।

अभिनव०—इत्यादिमें। यहाँ [अर्थात् इस उदाहरणमें सङ्गीतके अङ्गों अर्थात्] वाद्य समूह तथा गीत [के अङ्गोंकी परस्पर मिश्रण रूप] योजना की गई है। [अर्थात् यह स्वप्रभेदोंकी योजनाका उदाहरण है]।

अभिनव०—एक-दूसरे से [भेदोंके मिश्रण रूप योजनाका उदाहरण] जैसे—

---

१ प्रभेदोऽन्यभेदैः। २ [illegible]। ३ [illegible]।
४. रत्न। ५ [illegible] ५-८।

यथा वेणीसहारे—'आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ । इत्यादि ।

शिल्पमिति माला-चित्र-पुस्तादियोजनम् । यथा—

'वेष्टितै-ग्रन्थितगुम्फसहतै, आततैश्च कुसुमै सपल्लवै । इत्यादौ ।

विद्या दण्डनीत्यादि । यथा—

'[2]शम-व्यायामाभ्या प्रतिविहिततन्त्रस्य नृपते' । इत्यादौ ।

कला गीतवाद्यादिका । यथा—

'[3]व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना' इत्यादौ ।

यहां केवल श्लोकका प्रथम चरण उद्धृत किया है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोत्सेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठा ।
य वीक्षन्ते कमपि तमसा ज्योतिषा वा परस्तात्
त मोहान्ध कथमयममु वेत्तु देव पुराणम् ॥

जैसे वेणीसहार [नाटकके प्रथम अंकके २३वें श्लोक] मे—

आत्मामें रमण करनेवाले और निर्विकल्पक-समाधिमें लीन होकर [ज्ञानके प्रकाशसे जिनकी तमो-ग्रन्थि नष्ट होगई है इस प्रकारके योगी लोग अन्धकार और प्रकाश दोनोसे परे जिन श्रीकृष्ण भगवान् का साक्षात्कार बडी कठिनाईसे कर पाते हैं, मोहसे अन्धा यह दुर्योधन उन अनादि देवको कैसे देख सकता है] ।

अभिनव०—शिल्पसे माला, चित्र अथवा खिलौने [पुस्त] आदिकी रचना [योजना] का ग्रहण होता है । जैसे—

अभिनव०—[मालादि बना कर] लपेटे हुए, गूथे हुए, गुलदस्ता [गुम्फ] के रूपमे सजाए हुए और फैले हुए [अर्थात् खुले हुए] पत्तोके सहित पुष्पोंसे ।

पाठसमीक्षा—पूर्व-सस्करणमें इस उदाहरणका पाठ अशुद्ध-रूपमें छपा था । उसमें 'वेष्टितै' के स्थानपर केवल 'वेष्टित' पद दिया गया था । अर्थात् 'वेष्टितै.' का तृतीयान्त पदके रूपमें प्रयोग न करके समासके रूपमें प्रयोग किया था । परन्तु उस दशामें छन्दोभङ्ग हो जाता है । अत. हमने सशोधित पाठ 'वेष्टितै.' पाठ दिया है । इससे उस छन्दो-दोष का निवारण हो जाता है ।

अभिनव०—विद्यासे दण्डनीति आदि [का ग्रहण होता है] जैसे—

अभिनव०—साम और दण्डनीतिसे राज्यका प्रबन्ध करनेवाले राजा के ।

अभिनव०—कलासे गीत-वाद्य आदि [ग्रहण होता है] जैसे—

अभिनव०—'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना' इत्यादि [नागानन्द १-१४] मे ।

यहां केवल श्लोकका थोडा-सा भाग उद्धृत किया गया पूरा श्लोक इस प्रकार है—

व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना
विस्पष्टो द्रुत-मध्य-लम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाय लय ।
गोपुच्छप्रमुखा क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता—
स्त्वातौघानुगताश्च वाद्यविधय सम्यक् त्रयो दर्शिता ॥

---

१ वेष्टितग्रथितगुम्फसहतै । २. बालरामायण १-२४ । ३ नागानन्द १-१४ ।

योगो योजनं तेषामेव ज्ञानादीनां कलान्तानां स्वभेदैरन्योन्यप्रभेदैश्च[1]। यथा—

[2]मेघानद्धिशिखण्डिताण्डवविधावाचार्यकं कल्पयन्
निर्ह्रादो मुरजस्य मूर्च्छिततरां वेणुस्वनापूरितः ।
वीणायाः कलयन् लयेन गमकानुग्राहिणी मूर्च्छना
कर्षत्येष च [3]कालकुट्टिनलया रम्यश्रुतिं पाडव ॥

इत्यादौ । अत्र ह्यातोद्यनिचयगीतयोजना कृता ।

अन्योन्यं यथा—

[4]आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुकोमलच्छायम् ।

इत्यादौ । अत्र हि शृङ्गारस्य वैद्यकविषया योजना ।

यह श्लोक नागानन्द नाटकके प्रथमाङ्कसे लिया गया है । उस नाटककी नायिका मलयवती मन्दिरमें बैठी वीणा बजा कर देवीकी प्रार्थना कर रही है । नायक और विदूषक उस गानको सुन कर मुग्ध हो जाते हैं । उसीकी प्रशंसा करते हुए नायकका यह वचन है । व्यञ्जनधातु शब्द सङ्गीतशास्त्रका पारिभाषिक शब्द है । वीणाकी स्वराभिव्यक्तिके दस प्रकार माने गए हैं । उन्हींको दस प्रकारका व्यञ्जन-धातु कहा जाता है । मलयवती की वीणा-ध्वनि में यह दसों प्रकारके व्यञ्जन-धातु स्पष्टरूपसे प्रतीत हो रहे हैं । द्रुत-मध्य-तथा विलम्बित तीन लयोंमें विभक्त यह लय भी स्पष्ट हो रहा है । गोपुच्छ आदि तालकी तीनों प्रकारकी यतियाँ भी क्रमशः प्रकाशित हो रही हैं । और बाजोंके साथ चलने वाली तीनों प्रकारकी वाद्य-विधि का सुन्दरताके साथ प्रदर्शन किया गया है । यह इस श्लोकका भाव है । इसमें गीत तथा वादन-कला का वर्णन किया गया है । अतः यह कलाका उदाहरण दिया है

अभिनव०—योगका अर्थ मिलाना है । अर्थात् ज्ञानसे लेकर कला-पर्यन्त उनका ही अपने भेदोंके साथ और एक-दूसरेके साथ मिश्रण । जैसे—

अभिनव०—[मुरज-वाद्यकी ध्वनिको] मेघ [की ध्वनि] समझनेवाले मोरोंके नाचनेमें आचार्यताको प्राप्त [अर्थात् जिसकी ध्वनिको सुनकर मोर मेघ ध्वनि समझ कर नाचने लगते हैं इस प्रकार का] बांसुरीकी ध्वनिसे मिश्रित, मुरजवाद्यका स्वर, अत्यन्त प्रबल रूपसे विस्तीर्ण हो रहा है । और वीणाके लयके साथ गमकको सुन्दर बनानेवाले उतार-चढ़ाव [मूर्च्छना] को धारण करता हुआ कालके अनुसार विभिन्न लयसे युक्त रम्य श्रुतिको खींच रहा है ।

अभिनव०—इत्यादिमें । यहाँ [अर्थात् इस उदाहरणमें सङ्गीतके अङ्गों अर्थात्] वाद्य समूह तथा गीत [के अङ्गोंकी परस्पर मिश्रण रूप] योजना की गई है । [अर्थात् यह स्वप्रभेदोंकी योजनाका उदाहरण है] ।

अभिनव०—एक-दूसरे के [भेदोंके मिश्रण रूप योजनाका उदाहरण] जैसे—

---

१ अन्योन्यभेदैः । २ हेलाप्रनाटिकाङ्कः(?) । ३ [illegible] ।
४ हत । ५ शिवस्तोत्रगीत ५-८ ।

कर्मेति युद्धनियुद्धादि-व्यापार यथा—

आलीढस्थितटङ्कितस्य निमिता दृष्टित्रयी तन्वत
पुङ्खाग्रक्रमसर्पणेनेविशिखप्रान्तादथोच्चैस्तमाम् ।
चक्रीभूतशरासनस्य[1] नमनाल्लक्ष्यादमी विच्युता—
श्चित्र चित्रमिराघवस्य[2] युगपत् सर्वे सुरेन्द्रद्विष ॥

इति ॥ ११६ ॥

अभिनव०—मलिन पयोधरोके अग्रभागसे युक्त तथा लवली पत्रके समान पाण्डु वर्णकी कान्तिवाला ।

इत्यादिमे । इसमे शृङ्गारकी वैद्यक विद्याके साथ योजना की गई है ।

यह श्लोकका पूर्वार्द्ध-भाग विक्रमोर्वशीय नाटकके ५-८ से लिया गया है। उसमें 'पयोधर' शब्द श्लिष्ट है । वह मेघ और स्तन दोनोका बोधक है । मेघ कृष्ण-वर्ण होनेसे आविल अर्थात् मलिन होते हैं और स्तन अगर आदि औषधियोके लेपके कारण मलिन हैं । इसमें वर्षाकाल का वर्णन है । और उसके साथ श्लेषसे वियोगिनीका भी वर्णन है । वियोगिनीका स्तन लवली दलके समान पाण्डुवर्ण तथा कोमल कान्ति वाला होता है और वर्षाकाल लवली दलोके कारण पाण्डुवर्ण और सुन्दर छाया वाला होता है । इमी अभिप्रायसे ये दो विशेषण दिए गए हैं ।

कर्म [पद] से युद्धके दाव-पेंच [युद्ध-नियुद्ध] आदि व्यापार [गृहीत होता है] । जैसे—

इस श्लोकमें 'इराधवका' अर्थ इन्द्र है । इरा अर्थात् विद्युत या वज्र उसका धव अर्थात् स्वामी इन्द्र । 'आलीढ' लक्ष्यवेधके-समयके आसनविशेषका नाम है । लक्ष्यवेध करते समय एक घुटनेको जमीन पर टेक कर और दूसरेको खडा करके जो आसन लगाया जाता है उसको 'आलीढ' कहते हैं । लक्ष्यवेधके समय पहिले पूरी आख खुली होती है, फिर कुछ सिकोडी जाती है और फिर और भी अधिक सकुचित की जाती है । इस प्रकार दृष्टत्रयीका उपयोग किया जाता है । टङ्कितका अर्थ पत्थरमें खोद कर बनाई हुई मूर्ति आदि होता है । लक्ष्यवेध करने वाला भी मूर्तिके समान अचल या टकित सा हो जाता है । यह श्लोकके प्रथम चरणमें आए हुए 'आलीढ' 'टङ्कित' तथा 'दृष्टित्रयी' पदोकी व्याख्या हुई । श्लोकमें कवि यह कह रहा है कि इन्द्रने जब असुरोको मारनेके लिए बाण चलाया तो असुरगण निशाना बचानेकेलिए जमीनपर लेट कर बच गए । इस प्रकार इन्द्रके सारे प्रयत्नको उन्होने आश्चर्य जनक ढगसे बेकार कर दिया ।

अभिनव०—आलीढ [अर्थात् लक्ष्यवेधकालीन आसन-विशेष] से स्थित, [टङ्कित अर्थात् खुदी हुई] मूर्तिके समान अचल, एव तीन प्रकारकी [लक्ष्यवेधोपयोगिनी] और [निमिता अर्थात्] एकाग्र दृष्टिका प्रयोग करने वाले, बाणके एक सिरेसे [अर्थात् अगले भागसे लेकर] पुङ्खाग्र [अर्थात् पिछले सिरे] तक सरकते हुए, फिर ऊपर [लक्ष्यकी ओर] जाती हुई [दृष्टि वाले], जिसका धनुष [कान तक खिचजानेके कारण] गोल होगया है, इस प्रकारके इन्द्रके निशानेसे एक-साथ झुक [जमीनपर लेट] जानेसे सारे असुर बच गए यह बडे आश्चर्यकी बात है ।

---

१ न मनाक्लक्ष्यादमी । २ उमाधवस्या ।

एवं सप्रयोजनत्वमभिधाय प्रकृतमेव पुराकल्पमनुबध्नाति तन्नात्रेति–

भरत०—तन्नात्र मन्युः कर्तव्यो भवद्भिरमरान् प्रति ।
सप्तद्वीपानुकरणं [1]नाट्यमेतद् भविष्यति ॥ ११७ ॥

तदिति । तस्मादत्र नाट्येऽमरान् प्रति न मन्युः कार्यः । तेऽपि न तत्र केचित् । एतदेवाह सप्तद्वीपानुकरणमयो हि 'क्रिया रङ्गे' दृश्यते । न च सागरद्वीपादीनां कश्चित् तत्र सम्भव' इति भावः ॥११७॥

अभिनव०—इसमें । [इन्द्र तथा असुरोंके युद्ध सम्बन्धी दांव-पेचोंका वर्णन है । इसलिए युद्ध-नियुद्ध रूप कर्मका उदाहरण दिया है] ॥ ११६ ॥

असुरोंका क्षोभ अनुचित है—

अभिनव०—इस प्रकार [पिछले ६ श्लोकोंमें नाट्यकी] सप्रयोजनताको कह कर [देवासुर-संग्रामके अभिनयको देखकर असुरोंमें क्षोभ उत्पन्न होनेकी जो कथा पहिले चल रही थी उस] प्रकृत कथा [इतिहास पुराकल्प] को ही 'तन्नात्र' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं–

भरत०—इसलिए आप लोगोंको [अर्थात् असुरोंको] देवताओंके प्रति द्वेष [या क्रोध] नहीं करना चाहिए। [क्योंकि इस नाट्यमें उनका कोई महत्व या उत्कर्ष आदि नहीं दिखलाया गया है अपितु] सातों द्वीपों [अर्थात् सारे संसार] के भावोंका अनुकीर्तन [साधारणीकरण] रूप यह नाट्य होगा ॥११७॥

अभिनव०-'तदिति' यह श्लोकका प्रतीक भाग है । इसलिए यहां, इस नाट्यमें [अर्थात् इस नाट्यको देखकर] आप लोगों [अर्थात् असुरों] को देवताओंके प्रति ईर्ष्या [मन्यु] नहीं करनी चाहिए । क्योंकि उनमें उनका भी कोई मूल्य नहीं है । इसीको सूचित करनेकेलिए 'सप्त द्वीपानुकरणं' इत्यादिसे] कहा है । क्योंकि रङ्गभूमिमें सातों द्वीपोंकी [अनुकरणमयी] साधारणीकृत क्रिया दिखलाई जाती है । और सागर-द्वीप आदिका वहां [रङ्गभूमिमें विद्यमान होना] कभी सम्भव नहीं है यह अभिप्राय है। [अर्थात् रङ्गमञ्चपर दिखलाए जाने वाले आकृतियां इत्यादि जैसे कल्पित अवास्तविक होते हैं उसी प्रकार देवता-दैत्यादि भी वास्तविक नहीं हैं । इनको वास्तविक समझ कर क्षुब्ध नहीं होना चाहिए] ।

पाठसमीक्षा—[illegible] ॥११७॥

---

१. [illegible] भविष्यति । [illegible]

'ननु किमर्थमेषा नामानि गृहीतानीत्याशङ्क्याह 'देवाना' इत्यादि—

भरत०—देवानामसुराणां[2] च [3]राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् ।
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं [4]वृत्तान्तदर्शकम् ॥११८॥

एतेषामेवाधिकारिपुरुषत्वात्[1] । निराधारस्य वृत्तस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् । एतच्चोक्त पूर्वमेवम् । अत एव यत्र निर्व्याजसहजौदार्यधर्मादिविपये वलि-प्रल्हादप्रभृते प्रसिद्धिस्तत्र सोऽप्युदीरित आश्रयत्वेन । तदाहासुराणामिति । न च भवद्वैरिण एवात्र वर्णिता अपितु ब्रह्मर्षयोऽपि । अनेन 'प्रत्यादेशोऽयमस्माक' 'सुरार्थ' इत्याशङ्काद्वयमपि परिहृतम् ॥११८॥

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके बाद प्रथम-सस्करणमें 'येनानुकरण नाट्यमेतत्तद्यन्मया कृतम्' । इत्यदि आधा श्लोक और छपा था परन्तु यह श्लोकार्ध भाग यहा प्रक्षिप्त है । होना नही चाहिए । हमने २४वें श्लोकमें दिखलाया था कि वहाँ एक श्लोकार्ध भागके बढ जाने से आगेके सारे श्लोकोकी अर्थसङ्गति बिगड जाती है । इसलिए हमने उस भागको मूलसे निकाल दिया था । यही स्थिति इस श्लोकार्ध की है । इसके कारण अगले श्लोकोकी सङ्गति बिगड जाती है । अभिनव-भारतीकारने भी पिछले श्लोकके बाद अगले श्लोककी प्रतीक रूपमें देवानामित्यादि ही उद्धृत किया है । 'येनानुकरण' की चर्चा नही की है । इसलिए हमने उसको यहाँ मूल पाठसे निकाल दिया है ।

नाट्यका व्यापक क्षेत्र—

अभिनव०—[जब देवताओ और असुरोका इससे सम्बन्ध नही है तब फिर] इनके नाम क्यो लिए गए है इस प्रकारकी शङ्का [असुरोकी ओरसे की जा सकती है ऐसा] मान कर [उसके समाधानकेलिए] 'देवानाम्' इत्यादि [अगला श्लोक] कहते हैं—

भरत०—यह नाट्य देवताओंके, असुरोंके, राजाओं और [साधारण] गृहस्थियोंके एव ब्रह्मर्षियोंके वृत्तान्तका प्रदर्शक है यह समझना चाहिए । ११८ ।

अभिनव०—इनके ही [अर्थात् देवता, असुर, राजा, साधारण गृहस्थ, और ब्रह्मर्षि आदि नाट्यमे पात्रोके रूपमे प्रस्तुत किए जानेकेलिए] अधिकारी व्यक्ति होनेसे । क्योकि [किन्ही विशेष व्यक्तियोका आश्रय लिए बिना] निराधार रूपसे इतिहास [या कथा आदि] का प्रदर्शित करना सम्भव नहीं है । इस बातको हम पहिले ही कह चुके हैं । इस लिए जहा निश्छल स्वाभाविक उदारता और धर्मादिके विषयमे क्रमश जिन वलि और प्रह्लाद आदिकी प्रसिद्धि है उनका भी [उस धर्मादिके] आश्रयरूपसे कथन कियाही गया है । [अत असुरोकी प्रशसा भी नाट्यमे पाई जाती है] । इसीलिए [श्लोकमे] 'असुराणा' कहा है । और केवल आपके वैरियो [देवताओ] का ही इसमे प्रदर्शन नहीं किया गया है अपितु ब्रह्मर्षियोका भी वर्णन किया गया है । इसलिए १ यह हमारा [असुरोका] अपमान करने वाला है और २ देवताओको प्रसन्न करनेकेलिए बनाया है इन दोनो शङ्काओका खण्डन हो जाता है ॥ ११८ ॥

---

१ इत पूर्वं येनानुकरण नाट्यमेतत् तद्यन्मया कृतम' इति पद्यार्धं क्वचिद् दृश्यते ।
२ छ य देवतानामृषीणा च । ३ छ त व, राज्ये लोकस्य चैव हि । ४. त वृत्तानुदर्शकम् ।

एतत्तात्पर्येणोपसंहरति योऽयमिति—

भरत०—योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥११९॥

अयमिति प्रत्यक्षकल्पानुव्यवसायविषयो लोकप्रसिद्धसत्यासत्यादिविलक्षणत्वात् यच्छब्दवाच्यो, लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानश्चर्वणीयोऽर्थो नाट्यम् । न च सुख-दुःखरूपेण विचित्रेण समनुगतो न तु तदेकात्मा ।

तथाहि—रति-हास-उत्साह-विस्मयानां सुखस्वभावत्वम् ।

तत्र तु चिरकालव्यापिसुखानुसन्धिरूपत्वेन विषयोन्मुख्यप्राणतया तद्विषयानुरागबाहुल्येन अपायभीरुत्वाद् दुःखांशानुवेधो रते ।

हासस्य सानुसन्धानस्य विद्युत्सदृशस्तात्कालिकोऽल्पदुःखानुवेध सुखानुगतः[1] ।

नाट्यरसोंकी सुखदुःखरूपता—

अभिनव०—इसी अभिप्राय से 'योऽयं' इस [अगले श्लोक] से उपसंहार करते हैं—

भरत०—संसारका सुख-दुःखसे युक्त जो स्वभाव है, आङ्गिकादि [चतुर्विध] अभिनयोंके साथ मिल जानेपर वही नाट्य कहलाता है ॥११९।

अभिनव०—'अयं' इस [पद] से प्रत्यक्ष-सदृश अनुव्यवसायका विषय [भूत लोक स्वभाव] लोकप्रसिद्ध सत्यत्व तथा असत्यत्वसे विलक्षण [होनेसे अनिर्वाच्यता-सूचक 'यत्' शब्दसे [यः इस पदसे] कहा गया, साधारणीकरण-व्यापार द्वारा सारे संसारका [स्वभाव] अपने [स्वभावके] रूपमें प्रतीत होने वाला [बनकर] आस्वाद्य होने वाला अर्थ ही नाट्य कहलाता है। और वह सुख-दुःख रूप [दोनों] से युक्त होनेके कारण विचित्र [नाना प्रकारका] होता है [उनमेंसे] किसी एक रूप [अर्थात् केवल सुखात्मक या केवल दुःखात्मक] नहीं है।

अभिनव०—जैसे कि, [आठ प्रकारके नाट्य रसोंमेंसे] रति, हास, उत्साह तथा विस्मय [जिनके स्थायिभाव हैं इस प्रकारके शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत रस ये चार मुख्यतः] सुख-रूप होते हैं। [परन्तु उनके साथ दुःखका भी सम्बन्ध रहता है। इसका प्रदर्शन अगली पंक्तिमें करते हैं]।

अभिनव०—उनमें चिरकाल तक बने रहने वाले सुखकी कामनासे और विषय भोगकी प्रमुखता होनेसे उसके लिए उत्कट इच्छा होती है [अतः सुखात्मक होता है] किन्तु उसके नाशके भयसे रतिके साथ दुःखका अंशतः सम्पर्क हो जाता है [अर्थात् शृङ्गार रस सुख-दुःख उभयात्मक है]।

अभिनव०—[अनुसन्धान अर्थात्] विचार करनेसे [स्वतः सुखात्मक] हासमें भी [उसकी समाप्ति हो जानेसे] सुखके साथ बिजलीकी चमकके सदृश तात्कालिक दुःखका अल्पांश सम्बन्ध हो जाता है। [इसलिए वह भी उभयात्मक है]।

1. सुखानुवेध । 2. [illegible]

उत्साहस्य तात्कालिक-दु खायास-निमज्जनरूप-अनुसन्धिना[1] भाविबहुजनोपकारि-चिरतरकालभाविसुखसमाचिकीर्षात्मना[2] सुखरूपता ।

विस्मयस्य निरनुसन्धानतडित्तुल्यसुखरूपता ।

क्रोध-भय-शोक-जुगुप्साना तु दु खस्वरूपता ।

तत्र चिरकालदु खानुसन्धिप्राणो [3]विषयगतात्यन्तिकनाशभावना-[4]तदाकाक्षा-प्राणतया सुख दुखानुवेधवान् क्रोध ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोकको व्याख्याके प्रथम अनुच्छेदमें 'स च सुखरूपेण विचित्रेण समनुगत ' इस प्रकारका पाठ प्रथम सस्करणमे छपा था। परन्तु वह अशुद्ध था। उसमें 'सुख' के बाद 'दुःख' पद छूट गया था। सुख-दु ख उभय-रूप होनेपर ही 'विचित्र' यह विशेषण बनता है। अतः 'सुखदु खरूपेण विचित्रेण' यही पाठ हमने प्रस्तुत किया है। द्वितीय सस्करणमें भी यही सशोधित पाठ दिया गया है।

अभिनव०—तात्कालिक दु ख और श्रमको उठाकर बहुत लोगोका उपकार करनेवाले, और आगे चिरकाल तक रहने वाले सुखकी प्राप्तिके अभिप्रायसे उत्साहमे [दु ख-मिश्रित] सुखरूपता होती है।

अभिनव०—और विस्मयमे [निरनुसन्धान अर्थात् बिना विचारके] आपातत विद्युत्सदृश क्षणिक दु खानुविद्ध सुखरूपता रहती है।

दु खप्रधान चार रस—

इसके पूर्व रति हास, उत्साह एव विस्मय स्थायिभाव वाले शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत इन चार रसोकी सुखप्रधानताका निरूपण कर चुके हैं। अब आगे क्रोध, भय, शोक तथा जुगुप्सा रूप स्थायिभाव वाले रौद्र, भयानक, करुण तथा बीभत्स इन चार रसोकी दु खप्रधानता का प्रतिपादन करते हैं।

अभिनव०—क्रोध, भय, शोक तथा जुगुप्सा [जिनके स्थायिभाव हैं वे रौद्र, भयानक, करुण तथा बीभत्स चार रस] दु ख रूप [दु खप्रधान] होते है।

आगे इनके स्वरूपका निरूपण करते हुए उसकी दु खप्रधानताका प्रतिपादन करते हैं।

क्रोधकी दु खप्रधानता—

अभिनव०—[किसी अनिष्ट वस्तुके सम्पर्कसे] चिरकाल तक दु खकी [अनुसन्धि अर्थात्] प्राप्ति [ही जिसका प्राण है अर्थात् उससे] उत्पन्न होनेसे [उस अनिष्ट] वस्तुके विषयमे [उसके] आत्यन्तिक-नाशकी भावना, और [इष्ट वस्तुकी अप्राप्तिसे उत्पन्न क्रोधके स्थलमे क्रोधकी पृष्ठभूमिमे] उस [इष्ट वस्तु] की प्राप्तिकी] आकाक्षा प्रबल होनेसे क्रोध, सुख-दु ख दोनोके सम्पर्कसे युक्त [किन्तु दु ख प्रधान] होता है।

इसमें सबसे पहिले क्रोधकी दु खप्रधानता और सुखानुविद्धताका प्रतिपादन करनेकेलिए मनोवैज्ञानिक आधारपर उसके स्वरूपका निरूपण किया गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे यदि देखा जाय

---

१ दु खायासरूपनिमज्जनानुसन्धाना यदि (नापि)। २ सुख सञ्चिकीर्षात्मना।
३ विषयगतामन्तिकानाम्। ४ भावनाकाक्षा।

तो क्रोधके प्रायः दो कारण होते हैं। कभी तो किसी अनिष्ट वस्तुके निरन्तर सम्पर्कमें होनेसे क्रोधकी उत्पत्ति होती है और कभी किसी इष्ट वस्तुकी प्राप्तिकेलिए चिरकाल तक प्रयत्न करने पर भी उसके प्राप्त न होनेसे क्रोधकी उत्पत्ति होती है। चिरकाल तक अनिष्ट वस्तुके सम्पर्कसे दुःखका अनुभव होनेपर क्रोधमें उस वस्तुके आत्यन्त नष्ट कर देनेकी भावना उत्पन्न होती है। यही भावना क्रोधका प्राणभूत है। इसलिए क्रोधको दुःखात्मक कहा गया है। इसके विपरीत जहाँ इष्ट वस्तुकी अप्राप्तिके कारण क्रोध उत्पन्न होता है वहाँ मनमें उस वस्तुकी प्राप्तिकी आकांक्षा क्रोधकी पृष्ठभूमिमें अवश्य रहती है। इसलिए क्रोधमें सुखका अनुवेध माना गया है। इसी लिए अभिनवगुप्तने 'सुखदुःखानुवेधवान् क्रोधः' लिख कर क्रोधमें सुख-दुःख दोनोंका सम्मिश्रण माना है। परन्तु उसमें प्रधानता दुःखकी ही रहती है।

पाठसमीक्षा—क्रोध-निरूपण-विषयक इस अनुच्छेदका पाठ जिस रूपमें प्रथम-संस्करणमें छपा है वह बड़ा अस्पष्ट और अशुद्ध जान पड़ता है। 'विषयगतासन्निकाना भावनाकांक्षाप्राणतया' इस प्रकारका पाठ वहाँ दिया गया है। परन्तु इससे कोई अर्थ समझमें नहीं आता है। 'विषयगता-सन्निकाना' इसकी कोई सङ्गति नहीं लगती है। द्वितीय संस्करणमें उसके बाद कोष्ठमें 'आत्यन्तिक-नाश' पाठ सुझाया गया है। वह अधिक अच्छा प्रतीत होता है। उसकी सङ्गति लग जाती है। जिस वस्तुसे चिरकाल तक दुःखका अनुभव होता है। उसके कारण उत्पन्न होने वाले क्रोधमें उस अनिष्ट वस्तुके आत्यन्तिक-नाशकी भावना होना स्वाभाविक ही है। यह बात 'विषयगतात्यन्तिक-नाशभावना' इस पाठसे तो निकल सकती है पर 'विषयगतासन्निकाना' इस पाठसे नहीं निकल सकती है। इसलिए हमने यहाँ 'विषयगतात्यन्तिकनाशभावना' यह पाठ ही उचित माना है।

पाठसमीक्षा—परन्तु केवल इतने अंशमें पाठके संशोधनसे भी काम नहीं चलता है। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिके कारण जहाँ क्रोध उत्पन्न होता है वहाँ इष्ट वस्तुकी अप्राप्ति भी क्रोधका कारण होती है। अनिष्ट वस्तुके सम्पर्कसे जन्य क्रोधमें उसके आत्यन्तिकनाशकी भावना रहती है तो इष्ट वस्तुकी अप्राप्तिसे जन्य क्रोधमें उसकी प्राप्तिकी आकांक्षा भी रहती है। इसी आकांक्षाको ग्रन्थकारने अगले 'आकांक्षा' पदसे सूचित किया है। परन्तु पूर्व-संस्करणोंके पाठमें 'भावनाकांक्षाप्राणतया' यह जो पाठ दिया गया है उससे अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। उसमें बीचमें 'तत्' शब्द यदि और जोड़ दिया जाय तो पूर्ण अर्थ स्पष्ट हो जाता है। वह किसी कारणसे छूट गया जान पड़ता है। इसलिए हमने उसको यथा-स्थान सन्निविष्ट करके 'विषयगतात्यन्तिकनाशभावना-तदाकांक्षाप्राणतया' इस प्रकारका पाठ प्रस्तुत किया है।

भयकी दुःखप्रधानता—

क्रोधको 'चिरकालानुबन्धानुसन्धिप्राण' कहा था, भयको 'निरनुसन्धि-तात्कालिकदुःखरूप' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी वस्तु या व्यक्तिसे चिरकाल तक या बार-बार दुःख प्राप्त होनेपर उसके प्रति क्रोध उत्पन्न होता है। परन्तु भयकी उत्पत्तिके लिए पूर्व-कालिक दुःखानुभूतिकी नहीं, किन्तु तात्कालिक दुःखकी सम्भावनामात्र अपेक्षित होती है। इसलिए जहाँ क्रोधको 'चिरकालानुबन्धानुसन्धिप्राण' कहा है वहाँ भयको 'निरनुसन्धि-तात्कालिकदुःखरूप' कहा गया है। दूसरी बात यह है कि क्रोधमें, क्रोधके कारणके [illegible] आकांक्षा प्रधान होती है। किन्तु भयमें, भयके कारणसे बचकर [illegible] आकांक्षा प्रधान होती है। भय और क्रोधके इस भेदको ग्रन्थकारने क्रोधके निरूपणमें 'विषयगतात्यन्तिकनाशभावना' कहकर और भयमें [illegible] शब्दोंसे व्यक्त किया है। [illegible] के भीतर ही भयके सब [illegible] समाविष्ट हो गया है। भय-कारणसे [illegible]

निरनुसन्धितात्कालिकदु खप्राणतया तदपगमाकाक्षोत्प्रेक्षितसुखानुसम्भिन्न भयम् ।

द्वैकालिकस्त्वभीष्टविषयनाशज प्राक्तनसुखस्मरणानुविद्ध सर्वथैव दु खरूप शोक ।

'उत्पाद्यमानदुःखानुसन्धानजीवितविषयात् पलायनपरायणरूपा निषिध्यमान-शङ्कित सुखानुविद्धा जुगुप्सा ।

सास लेता है। इसलिए तात्कालिक दु खको प्रधानता होते हुए भी उत्प्रेक्षित सुखके सम्पर्कके कारण भयको सुखसम्भिन्न बतलाया गया है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक ढगसे भय और क्रोधके स्वरूपका निरूपण करते समय ग्रन्थकारने बडे सुन्दर रूपमे उन दोनोके भेदको प्रदर्शित कर दिया है। क्रोधका स्वरूप पहिले दिखलाया जा चुका है। भयका स्वरूप अगली पक्तिमें दिखलाते हैं—

अभिनव०—वास्तविक रूपमे दु खकी प्राप्तिके बिना [अर्थात् वास्तविक अनिष्ट प्राप्तिके पूर्व ही] तात्कालिक दु ख की सम्भावनामात्रसे उत्पन्न होनेके कारण ['निरनुसन्धितात्कालिकदु खप्राणतया' प्रधान रूपसे दु.खात्मक, किन्तु साथ ही] उससे बच निकलनेकी आकाक्षासे [अर्थात् आकाक्षाके कारण] उत्प्रेक्षित सुखसे मिश्रित [अत एव सुख-दुःखात्मक उभयरूप] 'भय' [की मनोवृत्ति होती] है।

शोककी दु.खप्रधानता—

इस प्रकार क्रोध तथा भय इन दोनोकी दु खप्रधानता एव उभयरूपताका प्रतिपादन करके अब तीसरे दु.खप्रधान दु.खप्रधानताका निरूपण करते हैं। अभीष्ट विषयके नाशसे शोककी उत्पत्ति होती है। और उस शोकके आवेगमें मनुष्य उस अभीष्ट विषयके सम्पर्क के कारण प्राप्त होने वाले सुखोको ही विविध रूपमें स्मरण कर दु खी होता है। अभीष्ट विषयका नाश तो दु खात्मक होता ही है परन्तु उसके साथ पूर्वानुभूत सुखकी जो स्मृति होती है वह भी दु खात्मक ही होती है। इसलिए इसमें दोहरी दु.खरूपता आ जाती है। इसलिए अभिनवगुप्तने उसे 'द्वैकालिक' अर्थात् 'दोहरा दु खरूप' होनेसे सर्वथा दु खरूप ही माना है। कोध और भयमें दु खकी प्रधानता होते हुए भी उत्तरकालिक सुखकी सम्भावनासे दु खके साथ सुखका सम्मिश्रण माना गया है। किन्तु शोकमे अभीष्ट विषयका सर्वथा नाश हो चुकनेसे औत्तरकालिक सुखकी सम्भावना भी नही रहती है और पूर्वकालिक सुखकी स्मृति भी दु खरूप होती है अत शोकमें दोहरी दु ख रूपता आ जाती है। इसलिए वह सर्वथा दु खरूप ही होता है इस बातको ग्रन्थकार अगली पक्तिमें लिखते हैं—

अभिनव०—अभीष्ट विषयके नाशसे उत्पन्न और पूर्वकालके सुखस्मरणसे अनुविद्ध [होनेसे द्वैकालिक अर्थात्] दोहरा [दु.खरूप होनेके कारण] सर्वथा ही दु:ख रूप [मनोवृत्तिका नाम] 'शोक' होता है।

जुगुप्साकी दु खप्रधानता—

अभिनव०—उत्पाद्यमान दु खका अनुसधान ही जिसका जीवित प्राण है इस प्रकारकी और घृणाके जनक अरुचिकर विषयोसे विमुख कराने वाली [पलायनपरायणरूपा तथा निवृत्ति रूप] होनेसे शङ्कित अर्थात् कल्पित सुखसे गौण रूपसे अनुविद्ध [मनोवृत्ति] 'जुगुप्सा' [कहलाती] है।

---

१ समस्तम (त) त्पूर्व दु ख सञ्चय स्मरणप्रणित. (तो०) सम्भावित ।

क्रोध, भय और शोकके समान जुगुप्सा या घृणा भी दुःखप्रधान मनोवृत्ति है। इसलिए रौद्र, भयानक तथा करुणरसोंके समान जुगुप्सा-स्थायिभाव वाले बीभत्सरसको भी दुःखप्रधानरस माना गया है। किसी अरुचिकर अप्रिय विषयके स्थूल रूपसे अथवा सूक्ष्म मानसिक रूपसे उपस्थित होने वाले दुःखसे अपनेको बचानेके लिए मनुष्यको अपनी इन्द्रियों या मनके व्यापारको उस ओर से हटानेकी प्रेरणा देने वाली जो मनोवृत्ति है उसको घृणा या 'जुगुप्सा' कहते हैं। घृणा क्रोधसे भिन्न है। क्रोधमें मनुष्य क्रोध उत्पन्न कराने वाले कारणके नाशका यत्न करता है पर घृणामें मनुष्य केवल अपनेको घृणाके विषयसे बचानेका यत्न करता है। क्रोध प्रवृत्ति रूप होता है घृणा निवृत्ति रूप। क्रोधमें मनुष्य क्रोधके कारणकी ओर उसके नाश करनेके लिए अग्रसर होता है। घृणामें मनुष्य घृणाके कारणसे दूर भागता है। इसलिए घृणाको 'विषयात् स्वात्मापसारण-रूपा' कहा गया है। पलायनात्मक मनोवृत्तिमें दुःखकी प्रधानता आवश्यक है। 'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्'। 'अनुकूलवेदनीयं सुखम्'। ये सुख और दुःखके लक्षण किए गए हैं। प्रतिकूल पदार्थसे ही पलायन होता है अनुकूलसे नहीं। इसलिए पलायनात्मिका या निवृत्तिप्रधाना जुगुप्साका जीवन-दायक तत्त्व 'उत्पाद्यमान दुःख' है। इसलिए अभिनवगुप्तने उसे 'उत्पाद्यमानदुःखानुसन्धान-जीविता' कहा है। उत्पाद्यमान दुःखकी सम्भावनासे ही मनुष्य अरुचिकर विषयसे विमुख होता है। इसलिए उत्पाद्यमान दुःखका अनुसन्धान या सम्भावना ही घृणा या जुगुप्साकी जननी या जीवित स्वरूप है। निवृत्तिरूपा जुगुप्साके द्वारा मनुष्य अपनेको उद्वेग-जनक अरुचिकर विषयोंसे बचाकर एक प्रकारके सन्तोष या सुखका अनुभव करता है। परन्तु यह सुख, वास्तविक सुख नहीं अपितु सङ्कुचित या कल्पित सुखमात्र है। सुख भावरूप पदार्थ है। निवृत्ति अभाव रूप। इसलिए निवृत्ति सुखरूप नहीं है। केवल सङ्कुचित सुख या कल्पित सुख कहा जा सकता है। इसलिए ग्रन्थकारने जुगुप्साको 'निर्विद्यमानसङ्कुचितसुखानुविद्धा' कहा है। निर्विद्यमान अर्थात् निवृत्तिप्रधान होनेसे 'जुगुप्सा' सङ्कुचित सुखानुविद्धा होती है यह उनका अभिप्राय है। इस सुखानुविद्ध दुःखप्रधान 'जुगुप्सा' का निरूपण ग्रन्थकारने ऊपरके अनुच्छेदमें किया है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्व संस्करणोंमें 'उत्पाद्यमानसुखानुसन्धानजीविता-विषयात्स्वात्मापसारणरूपा ... निर्विद्यमानसङ्कुचितसुखानुविद्धा जुगुप्सा' इस रूपमें छपा है। परन्तु यह पाठ अशुद्ध है। पहिली बात तो यह है कि ग्रन्थकार जुगुप्साको दुःख प्रधान और सुखानुविद्ध मनोवृत्ति मानते हैं। इसलिए पाठमें एक जगह दुःख पदका प्रयोग अवश्य होना चाहिए। पूर्व-संस्करणोंके पाठमें 'उत्पाद्यमानसुखानुसन्धान' और 'सङ्कुचितसुखानुविद्धा' दोनों जगह सुख शब्दका प्रयोग किया गया है। यह उचित नहीं है। पहिली जगह 'सुख' के स्थान पर 'दुःख' शब्दका प्रयोग होना चाहिए। उसके बिना ग्रन्थकारका अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो सकता है। इसलिए हमने 'सुख'के स्थानपर यह 'दुःख' पदका प्रयोग करके ही समुचित पाठ दिया है।

पाठसमीक्षा—दूसरी बात यह है कि पूर्व पाठमें 'जीवितविषयात्' इस प्रकार 'जीवित' पदको 'विषयात्' के साथ जोड़ कर समस्त पदके रूपमें छापा गया है। यह भी ठीक नहीं है। 'जीवित' पदका सम्बन्ध उत्तरपदके साथ नहीं अपितु पूर्वपदके साथ है। 'उत्पाद्यमानदुःखानुसन्धान-जीविता' यह जुगुप्साके स्वरूपका प्रतिपादन करने वाला ... 'स्वरूप-लक्षण' है। इसको अलग होना चाहिए। 'विषयात् स्वात्मापसारणरूपा' यह उसका दूसरा विशेषण या 'स्वरूप लक्षण' है, उसको अलग होना चाहिए। इसलिए हमने इन दोनों विशेषणोंको अलग अलग करके ... रूपमें पाठ प्रस्तुत किया है। इन दोनोंमें प्रथम पदके द्वारा जुगुप्साका 'स्वरूप-लक्षण' और दूसरे पद द्वारा 'तटस्थ-लक्षण' दिखलाया गया है। इन दोनोंको अलग-अलग देना ही आवश्यक है।

समस्तपूर्वदु ख-सञ्चयस्मरणप्राणित सम्भावितदुपरमबहुलसुखमयो निर्वेद ।

निर्वेदकी सर्वथा सुखरूपता—

ऊपर अभिनवगुप्तने रति, उत्साह, हास्य और विस्मय इन चार स्थायिभावोको सुख-प्रधान और दु खानुविद्ध माना है। क्रोध, भय और शोक और जुगुप्साको दु खप्रधान और अशतः सुखानुविद्ध माना है। इनमें भी शोकको सर्वथा दु खरूप ही बतलाया है। इस प्रकार आठ स्थायिभावोके उभयात्मक स्वरूपका निरूपण अब तक कर चुके हैं। अब निर्वेदका निरूपण आगे करते हैं। निर्वेद शान्तरसका स्थायिभाव है। अभिनवगुप्त शान्तरसको सबसे प्रधान और नितान्त सुख-स्वरूप रस मानते हैं। इसी दृष्टिसे वे आगे निर्वेदका लक्षण करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—[पूर्वानुभूत] समस्त दु.ख-सञ्चयके स्मरणसे उत्पन्न [अनुप्राणित] और [निर्वेद या वैराग्य द्वारा] उसके सम्भावित नाशके कारण अत्यन्त सुखमय [मनोवृत्तिका नाम] 'निर्वेद' है।

न्यायदर्शनमे 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग' दु खसे अत्यन्त विमुक्तिको ही अपवर्ग या मोक्ष कहा गया है। उसकी प्राप्ति 'निर्वेद' और तज्जन्य तत्त्वज्ञानसे होती है। इसलिए यहा दु ख-सञ्चयकी स्मृतिसे उत्पन्न होनेपर भी दु खसे अत्यन्त निवृत्ति कराने वाले निर्वेदको अत्यन्त सुखमय कहा गया है।

रसोकी सुख-दु खरूपता—

यहा अभिनवगुप्तने यह जो सब विवेचन किया है उसमे दो तीन बडी महत्त्व-पूर्ण एव विचारणीय बाते कही हैं। उनमें से पहिली बात तो यह है कि नाटय-रसोको उन्होने केवल सुखात्मक न मान कर सुख-दु ख उभयात्मक माना है। इसी आधारपर उन्होने शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत इन चार रसोको सुखप्रधान, तथा रौद्र, भयानक, करुण एवं वीभत्स इन चार रसोको दु खप्रधान रस माना है। सुखात्मक रसोमें गौण-रूपसे दु खका, और दु खात्मक रसोमे गौण-रूपसे सुखका सम्बन्ध भी रहता है। यह उनका सिद्धान्त है। परन्तु उत्तरवर्ती कुछ आचार्य रसोको केवल सुखात्मक मानते हैं। उनके मतमे रसनुभूतिमे दु खका लेशमात्र भी सम्पर्क नही होता है। इसीलिए रसास्वादको ब्रह्मास्वादसहोदर' कहा गया है।

अभिनवगुप्तके मतमे करुण रसकी दु खरूपता—

इस विवेचनमें अभिनवगुप्तने जो दूसरी महत्त्वपूर्ण ब'त कही वह है करुणरसकी अत्यन्त दु खरूपता। यो तो उन्होने रौद्र, भयानक, वीभत्स आदि जो दु खप्रधान रस माने हैं उनमें करुणका भी समावेश किया है। परन्तु करुणरसकी दु खरूपता उन सबसे अधिक और सबसे भिन्न प्रकारकी मानी है। उसके विवेचनमें उन्होने जो 'त्रैकालिक' तथा 'सर्वथैव दु खरूप शोक' ये शब्द लिखे हैं उनसे करुणरसकी नितान्त दु खरूपता प्रतीत होती है।

धनिक सुखात्मतावादी मत—

इसके विपरीत उत्तरवर्ती आचार्योने करुणरसकी नितान्त सुखरूपताका प्रतिपादन किया है। दपरूपकके टीकाकार धनिकने इस विपयका विवेचन करते हुए लिखा है कि—

ननु च युक्त शृङ्गारवीर-हास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदादानन्दोद्भव इति। करुणादौ तु दु खात्मकत्वे कथमिवासौ प्रादुष्यात्? तथा हि तत्र करुणात्मक-काव्य श्रवणात् दु खा-विर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति। न चैतदान-दात्मकत्वे सति युज्यते।

१ दशरूपक वाराणसी सस्करण पृ० २४६।

यह पूर्व पक्ष दिया है। इसका भाव यह है कि आनन्द-प्रधान शृङ्गारादि रसोंमें काव्यार्थके परिशीलनसे आनन्दकी अभिव्यक्ति होती है यह तो ठीक हो सकता है। किन्तु करुणमें तो दुःखात्मक होनेसे उससे आनन्दकी अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है? करुण रसके काव्योंके सुनने पर सहृदयोंके हृदयमें भी दुःखका परिज्ञान तथा उसके कारण अश्रुपातादि देखे जाते हैं। करुण रसके आनन्दात्मक होनेपर तो यह बात नहीं बन सकती है। इसलिए करुणरस आनन्दात्मक नहीं अपितु दुःखात्मक रस ही है। यह पूर्व पक्ष उठाकर इसका समाधान करनेके लिए अभिनवने अगला अनुच्छेद इस प्रकार लिखा है कि—

'सत्यमेतत्। किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्। अन्यश्च लौकिकात् करुणात् काव्यकरुणः। तथा ह्युत्तरोत्तरं रसिकानां प्रवृत्तिः। यदि च लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात् तदा न कश्चिदत्र प्रवर्तेत। ततः करुणैकरसानां रामायणादीनां महाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत्। अश्रुपातादयश्च इतिवृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते। तस्मात् रसान्तरवत् करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव।[1]

इसका अभिप्राय यह है कि काव्यके करुण रसका आनन्द सम्भोग-कालीन प्रहरणके आनन्दके समान दुःख-मिश्रित होनेपर भी नितान्त आनन्दमय ही है। और काव्यका करुणरस लौकिक करुणसे भिन्न प्रकारका होता है। इसीलिए उसमें सहृदय लोगोंकी विशेष रूपसे प्रवृत्ति होती है। यदि काव्यका करुण रस भी लौकिक करुणके समान दुःखात्मक ही हो तो उस काव्यके करुणरसके आस्वादनमें कोई भी प्रवृत्त नहीं होगा और करुणरस-प्रधान रामायणादि महाकाव्योंका सर्वथा लोप ही हो जायगा। इसलिए काव्यके करुणरसको लौकिक करुणके समान दुःखप्रधान नहीं मानना चाहिए। रही अश्रुपातादिकी बात सो वे तो इतिवृत्तको सुनकर लौकिक वैक्लव्यके समान काव्यमें भी वैक्लव्य उत्पन्न होनेसे निकलते हैं, उसमें कोई दोष नहीं है। इसलिए काव्यका करुणरस आनन्दात्मक ही है। यह अभिनवका अभिप्राय है।

विश्वनाथका सुखात्मकतावादी मत—

इसी आधारपर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने भी करुणरसकी आनन्दरूपताका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

'करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात् तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता॥[2]

अर्थात् करुण आदि रसोंमें भी परम सुखकी प्राप्ति होती है इस विषयमें केवल सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है। और यदि उनमें दुःखका अनुभव हो तो कोई भी उनकी ओर प्रवृत्त नहीं होगा तथा रामायण आदि महाकाव्य दुःखके कारण बन जावेंगे। यह सब बातें उचित नहीं है। इसलिए सहृदयोंके अनुभवके आधारपर करुणरसको आनन्दात्मक रस ही मानना चाहिए।

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि यदि करुणरसको सुखरूप माना जाय तो यह मानना होगा कि सीताके वनवासादिका दुःखद वर्णन भी सुखकी उत्पत्ति करता है, यह कैसे हो सकता है।

१. हिन्दी अभिनवभारती पृ० ३९६।　　२. साहित्यदर्पण ३, का० ४।

और सुखमें अश्रुपातादि क्यो देखे जाते हैं। इनका उत्तर करनेके लिए विश्वनाथने अगली कारिकाए और लिखी हैं—

[1]हेतुत्वं हर्षशोकादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्।
शोकहर्षादयो लोके जायन्ता नाम लौकिकाः॥
अलौकिकविभावत्व गतेभ्यो काव्यसंश्रयात्।
सुख सञ्जायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः॥

अर्थात् लोकमें सीता-वनवासादिको दुःखका कारण माना जाता है इसलिए उनसे लौकिक दुःख भले ही उत्पन्न हो। परन्तु काव्यमें तो वे लौकिक कारण न रह कर अलौकिक विभाव-पद वाच्य हो जाते है इसलिए उनसे सुखकी उत्पत्ति माननेमें क्या हानि है? अर्थात् कोई हानि नही है। करुणरसमें जो अश्रुपातादि होता है उसके विषयमें विश्वनाथने लिखा है—

[2]अश्रुपातादयस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मता।

अर्थात् इतिवृत्तको देखकर चित्तमे द्रवीभाव रूप वैकल्य उत्पन्न हो जानेके कारण अश्रुपातादि होने लगते हैं। चित्तका उस प्रकारका द्रवीभाव आनन्दातिरेकमें भी हो जाता है इसलिए अत्यधिक आनन्द होनेपर भी अश्रुपातादि होने लगता है। अत एव अश्रुपातादिके आधार पर करुणरसको दुःखात्मक नही मानना चाहिए।

इस प्रकार उत्तरवर्ती धनिक विश्वनाथादि अनेक आचार्योंने वडे सरम्भकेसाथ करुणरसकी सुखरूपताका प्रतिपादन किया है। परन्तु अभिनवगुप्तने वडे असन्दिग्ध रूपसे 'सर्वथैव दुःखरूपः शोक' लिख कर करुणरसकी दुःखरूपताका प्रतिपादन किया है। रसोके विकास की दृष्टिसे यह अन्तर वहुत महत्वपूर्ण अन्तरहै।

रामचन्द्र गुणचन्द्रका विभज्यवादी तीसरा मत—

रसोके स्वरूपके विषयमें ऊपर हमने दो प्रकारके मत दिए हैं इनमेंसे धनिक तथा विश्वनाथ आदि कुछ आचार्य सभी रसोको एकान्त सुखरूप मानते हैं। अभिनवगुप्त शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत चार रसोको सुखप्रधान, तथा रौद्र, भयानक, करुण एव वीभत्स चार रसोको दुःखप्रधान रस मानते हैं। इनमेंसे भी करुणरसको वे प्राय सर्वथा दुःखरूप ही मानते है। इन सबमें जो रस सुखप्रधान हैं उनके साथ दुःखका और जो रस दुःखप्रधान हैं उनके साथ सुखका भी आंशिक समावेश रहता है। इसलिए ये सभी रस अभिनवगुप्तके मतमे उभयात्मक रस हैं। केवल शान्तरसको वे एकान्त सुखात्मक रस मानते हैं। अन्य सभी रस उनके मतमें उभयात्मक रस हैं।

किन्तु नाटयदर्पणके रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्रका मत इन दोनो मतोसे भिन्न 'मुरारेस्तृतीय पन्था.' है। उसे हम विभज्यवादी' मत कह सकते हैं। वे कुछ रसोंको केवल सुखात्मक और कुछ रसोको केवल दुःखात्मक रस मानते हैं। अभिनवगुप्तके समान सबको उभयात्मक नही मानते हैं। इसलिए हम उनको 'विभज्यवादी' कह सकते हैं। नाटयदर्पणके तृतीय विवेकमें १०९वी कारिका की व्याख्यामें इस विषयका प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है कि—

'तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृङ्गार-हास्य-वीर-अद्भुत-शान्ता पञ्च सुखात्मानः। अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मान करुण-रौद्र-वीभत्स-भयानकाश्चत्वारो दुःखात्मान.।'

---

१ साहित्य दर्पण ३, का० ६-७।   २ साहित्य दर्पण ३, का० ८।

अर्थात् इष्ट विभावादिसे उत्पन्न होनेके कारण शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत तथा शान्त ये पाँच रस नितान्त सुखात्मक होते हैं। इसी प्रकार अनिष्ट विभावादिसे उत्पन्न होनेके कारण करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक ये चार रस नितान्त दुःखात्मक होते हैं।

इस प्रकार रसोंका दो अलग-अलग वर्गोंमें विभाग कर देनेके कारण इनके मतको 'विकल्पवादी' मत कहा जा सकता है। जो लोग सभी रसोंको नितान्त सुखात्मक मानते हैं उनके मतका खण्डन करते हुए ये आगे लिखते हैं कि—

"यत् पुनः सर्वरसानां सुखात्मकत्वमुच्यते तत् प्रतीतिबाधितम्। आस्तां नाम मुख्यविभावोपचितः, काव्याभिनयोपनीतविभावोपचितोऽपि भयानको बीभत्सः करुणो रौद्रो वा रसास्वादवताम् अनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति। अत एव भयानकादिभिरुद्विजते समाजः। न नाम सुखास्वादादुद्वेगो घटते।'

अर्थात् जो लोग सब रसोंको नितान्त सुखात्मक मानते हैं उनका यह मत प्रतीतिसे बाधित हो जाता है। मुख्य सिंह व्याघ्रादि विभावोंसे उत्पन्न भयानक आदिकी बात तो जाने दीजिए वे तो निश्चित रूपसे क्लेशदायक दुःखात्मक होते ही हैं, किन्तु काव्यके अभिनयमें प्राप्त विभावोंसे उत्पन्न भी भयानक बीभत्स करुण या रौद्र रस, उन रसोंके आस्वादन करने वालोंमें किसी अनिर्वचनीय क्लेश-दशाको उत्पन्न कर देते हैं। इसीलिए भयानक आदि रसोंसे [देखने वाला] समाज घबड़ाता है। यदि वे भयानक आदि रस सुखात्मक होते तो उनसे उद्वेग नहीं होना चाहिए था क्योंकि सुखके आस्वादनसे उद्वेग नहीं होता है। इसलिए भयानक आदि रस दुःखात्मक ही हैं सुखात्मक नहीं।

इन भयानक आदि रसोंके अभिनयमें जो चमत्कार प्रतीत होता है वह केवल कवि और नटके कौशलके कारण ही प्रतीत होता है इस बातका प्रतिपादन करते हुए ये आगे फिर लिखते हैं कि—

"यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथावस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कविनटशक्तिकौशलेन। विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणापि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीर्यमानिनः। अनेनैव च सर्वाङ्गाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। एतदास्वादलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्तन्ते। कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुखदुःखात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति। पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते, इति'।

"अपि च सीताया हरणं द्रौपद्याः कचाम्बराकर्षणं, हरिश्चन्द्रस्य चाण्डालदास्यं, रोहिताश्वस्य मरणं, लक्ष्मणस्य शक्तिभेदनं, मालत्या व्यापादनारम्भणमित्यादि अभिनीयमानं पश्यतां सहृदयानां को नाम सुखास्वादः। तत्रानुकार्यगतः करुणस्तावत् दुःखात्मक एव। यदि चानुकार्यगतो दुःखात्मकः स्यात्, न सम्यगनुकरणं स्यात् विपरीततया प्रकाशनात्, इति'।

इसका अभिप्राय यह है कि जो इन भयानक आदि दुःखात्मक रसोंमें भी चमत्कार, अनुभव होता है वह रसास्वादके समाप्त होनेपर वास्तविक वस्तुके प्रदर्शक कवि तथा नटकी शक्तिके कौशलके कारण प्रतीत होता है। जैसे शौर्याभिमानी लोग शिर काट डालने वाले शत्रुके प्रहार-कौशलको देखकर भी विस्मित होते हैं।

१-२ नाट्यदर्पण बड़ौदा संस्करण पृ० ११६।

इसी प्रकार इन भयानक आदि रसोके विभाव अनुभाव आदिके दर्शनसे भी विस्मय आदि उत्पन्न हो सकते हैं। और सब अङ्गोको आह्लादित कर देने वाले कवि तथा नटकी शक्तिसे उत्पन्न इसी चमत्कारसे धोखेमें पड कर करुण आदि दु खात्मक रसोको भी सहृदय लोग सुखात्मक मानने लगते हैं। कवि लोग तो सुख-दु खात्मक ससारके अनुरूप रामादिके चरितको सुख-दु खात्मक रूपमें ही प्रस्तुत करते हैं। केवल सुखात्मक रूपमें नही। इसलिए काव्य नाटकमें करुण आदि रसोको दुःखात्मक ही मानना चाहिए'।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि—'दु खात्मक करुण आदि रसोमें सहृदयोको सुखानुभूति क्यो होती है और उसमें उनकी प्रवृत्ति किस कारण होती है ? इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकारने लिखा है कि— 'जैसे ठण्डाई आदिके पीते समय दु खदायी मिर्चका तीक्ष्णरसास्वाद भी पानकके माधुर्यमें विशेषता उत्पन्न कर देता है इसी प्रकार दु खात्मक करुणादि रसोमें आनन्दका अनुभव होता है। परन्तु वे वास्तवमें सुखरूप नही हैं। क्योकि सीताके हरण, द्रौपदीके केशादिके खींचे जाने, हरिश्चन्द्रके चाण्डालके दास बनने, रोहिताश्वके मरण, लक्ष्मणके शक्ति-भेदन और मालतीके व्यापादनके आरम्भ आदिको देख कर सहृदयोको वास्तविक सुख कैसे हो सकता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि अनुकार्य रामादिमें करुण आदि, वास्तविक दु खके कारण ही थे। यदि अभिनयमें वे सुखात्मक माने जाय तो वह अभिनय यथार्थ अभिनय नही होगा इसलिए करुण आदिको सुखात्मक मानना उचित नही है। वे सर्वथा दु खात्मक ही है यह नाटच-दर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्रका अभिमत सिद्धान्त है।

इस प्रकार रसोके स्वरूपके विषयमे तीन प्रकारके सिद्धान्त पाए जाते हैं—

१ अभिनवगुप्तका—प्राय सब रसोकी उभयरूपताका सिद्धान्त।

२ धनिक विश्वनाथ आदिका—समस्त रसोकी नितान्त सुखरूपताका सिद्धान्त।

३ रामचन्द्र गुणचन्द्रका—पाँच रसोकी सुखरूपता और चार रसोकी दुख रूपताका विभज्यवादी सिद्धान्त।

शान्तरसकी स्थिति—

अभिनवगुप्तके इस विवेचनमें इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तीसरा सिद्धान्त शान्तरस की स्थिति विषयक सिद्धान्त है। अभिनवगुप्तने यहाँ 'समस्त पूर्वदु खसञ्चयस्मरणप्राणित सम्भावितदुपरमबहुलसुखमयो निर्वेद' लिख कर अन्य रसोके समान नाटचमें शान्तरसकी भी स्थितिका प्रतिपादन किया है। इसके पूर्व भी वे शान्त रसकी स्थितिका प्रतिपादन कर चुके हैं। और आगे छठे अध्यायमें तो अत्यन्त विस्तारके साथ वे शान्तरसकी विवेचना करेंगे। इससे प्रतीत होता है कि वे शान्तरस को न केवल नाटचरस अपितु रसराज, सर्वोत्तम रस माननेके पक्षपाती हैं। किन्तु जैसे करुणरसकी दु खरूपताके उनके सिद्धान्तको उत्तरवर्ती आचार्योंने स्वीकार नही किया इसी प्रकार उनके शान्तरस विषयक सिद्धान्तके सम्बन्धमें भी उत्तरवर्ती आचार्योका उनके साथ मतभेद रहा है। दशरूपककार धनञ्जय तथा उनके टीकाकार धनिक दोनोने नाटचमें शान्तरस के माननेका एक दम बहिष्कार कर दिया है। धनञ्जयने अपने दशरूपक मे लिखा है—

'शममपि केचित् प्राहु पुष्टिर्नाटयेषु नैतस्य ॥
निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मता ॥

१ दशरूपक ४,३५-३६।

एवं व्यभिचारिप्रभृतिष्वपि वाच्यम् ।

'संवित्स्वभावाः सुखादय इति दर्शनेन तत्स्वभावाः, अन्यत्र तु तद्वेदनविषयत्वमेव तेषां मन्तव्यम् ।

अर्थात् रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, विस्मय, भय और शोक ये आठ स्थायिभाव होते हैं। [अभिनवगुप्तादि] कोई 'शम' को भी स्थायिभाव मानते हैं किन्तु नाट्यमें उसकी पुष्टि नहीं हो सकती है। और स्थायिभावका जो लक्षण किया गया है वह भी निर्वेदमें नहीं घटता है इसलिए वह स्थायिभाव न होकर व्यभिचारिभाव है। उसका रस रूपमें आस्वादन नहीं हो सकता है। अत एव नौ नहीं किन्तु केवल आठ ही स्थायिभाव हैं।

इस प्रकार धनञ्जयने 'शम' के स्थायिभावत्वका खण्डन करनेका यत्न किया है उनके टीकाकारने तो और भी अधिक विस्तारके साथ उसका खण्डन किया है। परन्तु अभिनवगुप्त स्पष्ट रूपसे नाट्यमें उसकी सत्ताको मानते हैं। क्योंकि इतिहासमें यह मतभेद भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसलिए हमने यहाँ उसका सङ्केत कर दिया है। इसकी विशेष विवेचना छठे अध्यायमें होगी।

पिछले प्रकरणमें ग्रन्थकारने यह दिखलाया था कि रत्यादि स्थायिभाव केवल सुखरूप अथवा केवल दुःखरूप नहीं होते हैं अपितु सुख दुःख उभयात्मक होते हैं। उनमेंसे सुखमें सुखकी प्रधानताके साथ दुःखका अनुवेध रहता है और दुःखमें दुःखकी प्रधानताके साथ सुखका सम्पर्क रहता है। इसके अतिरिक्त आगे यह भी कहेंगे कि वे लिङ्ग या सङ्केतादि रूप नहीं हैं। अर्थात् अनुमान या शब्द आदिसे उनका बोध नहीं होता है अपितु प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही गृहीत होते हैं। अगली पंक्तिमें ग्रन्थकार यह कह रहे हैं कि यह नियम केवल स्थायिभावोंके विषयमें ही नहीं है अपितु व्यभिचारिभाव आदिके विषयमें भी यही नियम लागू होता है। अर्थात् उनका भी सुखप्रधान एवं दुःखप्रधान रूपमें द्विविध विभाग करना चाहिए। और उनको भी लिङ्ग या सङ्केत अर्थात् अनुमान या शब्द प्रमाणका विषय न मानकर प्रत्यक्ष-वेद्य ही मानना चाहिए।

अभिनव०—इसी प्रकार व्यभिचारिभाव आदिमें भी [सुख-प्रधान एवं दुःख-प्रधान रूपसे द्विविध विभाग] करना चाहिए।

पीछे पृष्ठ १६८ पर हम विज्ञानवादी बौद्धोंके योगाचार-सम्प्रदायके सिद्धान्तकी चर्चा कर चुके हैं। विज्ञानवादियोंके अनुसार बाह्य घट-पटादि पदार्थोंका ज्ञानसे भिन्न कोई अस्तित्व नहीं है। वे केवल ज्ञानके आकारमात्र हैं। जैसे स्वप्नमें पदार्थोंका अस्तित्व न होते हुए भी केवल ज्ञान ही नाना आकारोंमें भासता और समस्त व्यवहारका निर्वाह करता है इसी प्रकार जाग्रत् दशामें भी विज्ञान ही नानारूपमें भासता है। इसके विपरीत नैयायिक आदि अन्य दार्शनिक ज्ञानसे भिन्न पदार्थोंका स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हैं। और उनको ज्ञानका विषय मानते हैं। इन्हीं दोनों सिद्धान्तोंको ग्रन्थकार अगली पंक्तिमें दिखलाते हैं—

अभिनव०—सुखादि [समस्त बाह्य पदार्थ] विज्ञानरूप ही हैं इस दर्शन [अर्थात् बौद्ध सिद्धान्त] के अनुसार [रत्यादि स्थायिभाव भी] उसी प्रकारके [अर्थात् विज्ञान रूप] हैं। और अन्य [नैयायिक आदिके] मतोंमें तो उन [सुखादि] को उस [ज्ञान] का विषय ही समझना चाहिए।

---

१. संवित्स्वभावाः सुखादय इति च दर्शने न तत्स्वभावाः । अन्येषाम् (अन्यत्र तु) तद्वेदन-विषयत्वमेव तेषां मन्तव्यम् ।

पाठसमीक्षा—यह अनुच्छेद केवल एक पक्तिका है किन्तु इसका पाठ पूर्व-सस्करणोमें बडा अशुद्ध छपा है। प्रथम-सस्करणमें पाठ निम्न प्रकार दिया गया था—'सवित्स्वभावा: सुखादय' इति च दर्शने न तत्स्वभावात् अन्ये त्वत्र तद्वेदनरूपत्वमेव तेपा मन्तव्यम्।' द्वितीय-सस्करणमें इसको सशोधित कर निम्न प्रकार पाठ रखा गया है—'सवित्स्वभावा' सुखादय इति च दर्शने न तत्स्वभावत्वम्। अन्येस्त्वत्र तद्वेदनरूपत्वमेव तेपा मन्तव्यम्।' किन्तु ये दोनो ही पाठ अशुद्ध हैं। ग्रन्थकार यहा कह रहे हैं कि रसोके विपयमें जिनकी सुख-दु खरूपताका प्रतिपादन किया गया है वे रत्यादि विज्ञानवादियोके मतमें केवल विज्ञानस्वरूप हैं नैयायिक आदि अन्य दार्शनिकोके मतमें उनको विज्ञानस्वरूप न मान कर ज्ञानका विपय माना जाता है। बौद्ध-दर्शन विज्ञानवादी दर्शन है। वह समस्त विषयोको ज्ञान-स्वरूप ही मानता है। ज्ञानसे भिन्न ज्ञानका विपय उनको नही मानता है। किन्तु अन्य नैयायिक आदि दार्शनिक घटादिको ज्ञान-स्वरूप न मानकर ज्ञानका विषय मानते हैं। इसी दो प्रकारके सिद्धान्तकी चर्चा ग्रन्थकार यहा रत्यादिके विपयमें कर रहे हैं। परन्तु पूर्व सस्करणोके पाठसे यह अर्थ प्राप्त नही होता है।

पाठसमीक्षा—इस स्थलका जो पाठ पूर्व-सस्करणोमे मुद्रित हुआ है उससे यह अभिप्राय ठीक तरह से प्रतीत नही होता है। वल्कि उससे उलटा अर्थ निकलता है। 'इति च दर्शने न तत्स्वभावात्' यह प्रथम-सस्करणका पाठ और 'इति च दर्शने न तत्स्वभावत्वम्' यह द्वितीय-सस्करणका पाठ दोनो ही विवक्षित अर्थसे एक दम विपरीत अर्थको बोधित करते हैं। इसका कारण 'दर्शने' के स्थानपर 'दर्शनेन' पाठ बनाकर फिर उसके 'दर्शनेन' पदके टुकडे कर डालना है। मूलरूपमें 'दर्शने' यह शुद्ध पाठ था। किन्तु प्रतिलिपिकारोकी कृपासे पहिले दर्शने' का 'दर्शनेन' और फिर 'दर्शने न' पाठ बन गया। इसके कारण वाक्यका अर्थ भी विधिरूपसे निपेधरूपमें परिणत हो गया। और वह अर्थका अनर्थ हो गया। फिर प्रथम-सस्करणमें 'तत्स्वभावात्' पाठ दिया था। द्वितीय-सस्करणमे उसका सशोधन करके 'तत्स्वभावत्वम्' पाठ दिया गया है। किन्तु ये दोनो पाठ भी अशुद्ध हैं। उन दोनोके स्थानपर 'तत्स्वभावा' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार सब मिला कर इस वाक्याशका 'सवित्स्वभावा सुखादय इति दर्शने तत्स्वभावा' यह शुद्ध पाठ होना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इस वाक्यके उत्तरार्द्ध भागका पाठ भी पूर्ववर्ती दोनो सस्करणोमें अत्यन्त अशुद्ध रूपमें छपा है। प्रथम-सस्करणमें—'अन्ये त्वत्र तदेदनरूपत्व तेषा मन्तव्यम्'। इस प्रकारका पाठ छपा था। दूसरे सस्करणमें उसका सशोधन करके—'अन्यैस्त्वत्र तद्वेदरूपत्व तेपा मन्तव्यम्'। इस प्रकारका पाठ छापा गया है। परन्तु वे दोनो ही पाठ अशुद्ध हैं। प्रथम सस्करणमें जो 'अन्येत्वत्र मन्तव्यम्' पाठ छपा था उसमें इन दोनो पदोकी सङ्गति ठीक नही लगती थी इसलिए द्वितीय-सस्करणमे 'अन्ये त्वत्र' के स्थानपर 'अन्यैस्त्वतत्र मन्तव्यम्' यह सशोधित पाठ प्रस्तुत किया गया है। इसमे 'अन्ये त्वत्र' की 'मन्तव्यम्' के साथ सङ्गति लगनेमें जो बाधा थी वह तो 'अन्यैस्त्वत्र मन्तव्यम्' पाठ कर देनेसे दूर हो जाती है। किन्तु वास्तवमें इन दोनोमेसे कोई भी पाठ ग्रन्थकारके अभिप्रायके अनुकूल पाठ नही है। ग्रन्थकारका अभिप्रेत पाठ यहा 'अन्यत्र तु ••• मन्तव्यम्' है। जो लोग सुखादिको सवित्स्वभाव मानते हैं उनके मतमें तो रत्यादि भी 'तत्स्वभाव' अर्थात् सवित्स्वभाव या ज्ञानरूप है और 'अन्यत्र तु' अर्थात् अन्य मतोमें वे सवित्स्वरूप न होकर सवित्के विपय, ज्ञानके विपय हैं। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इस अभिप्रायकी दृष्टिसे 'अन्यत्र तु' यही पाठ ग्रन्थकारका अभिमत पाठ हो सकता है। अत पूर्ववर्ती दोनो सस्करणोका पाठ अशुद्ध है।

एवं लौकिका ये सुखदुःखात्मानो भावाः, तत्सदृशः, तत्संस्कारानुविद्धो नाट्यलक्षणोऽर्थः समुदायरूपः। तस्यैव [1]भागोऽभिनयः।

[2]एवमयं रत्यादिस्थाय्यनुकरणभूतो नाट्यलक्षणोऽर्थः कथं प्रतीतिगोचरो भवतीत्याह अङ्गादीति। [3]अङ्गादिषु येऽभिनया आङ्गिकादयः।

पाठसमीक्षा—यहाँ नहीं इसी व्याख्यानमें इससे भी अधिक महत्त्व अशुद्धि 'तद्वेदनस्वरूपत्वमेव' पद में है। यहाँ ग्रन्थकारने दो मत दिखलाए हैं। एक मतमें तो घटादि अर्थ 'तद्विम्बनात्मा.' अर्थात् ज्ञानस्वरूप होते हैं। और दूसरे मतमें घटादि, ज्ञानरूप न होकर ज्ञानके विषय माने जाते हैं। इनमेंसे पहिला मत पहिले व्याख्यान द्वारा दिखलाया जा चुका है। दूसरा मत इस व्याख्यान द्वारा दिखलाया जा रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस व्याख्यानमें ग्रन्थकार सुखादिके ज्ञानस्वरूपत्वपक्षको न दिखलाकर 'ज्ञानविषयत्व' वाले पक्षको दिखला रहे हैं। ऐसी दशामें पूर्व संस्करणोंमें जो 'तद्वेदनस्वरूपत्वमेव' यह पाठ छपा है वह अशुद्ध है, यह बात स्वाभावतः स्पष्ट हो जाती है। उसके स्थानपर 'तद्वेदनविषयत्वमेव' पाठ होना चाहिए।

अभिनव०—इस प्रकार जो लौकिक सुखदुःख रूप भाव हैं उनके सदृश, उनके संस्कारोंसे अनुप्राणित समुदाय रूप अर्थ नाट्य [कहलाता] है। और अभिनय उसी का भाग है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें अशुद्ध छपा था। उसमें 'तस्यैव भागानुगमय' इस प्रकारका पाठ दिया गया था। परन्तु उसकी कोई सङ्गति नहीं लगती है। अतः 'भागानुगमय' यह पाठ असङ्गत है। ग्रन्थकारने पहिले वाक्यमें नाट्यको समुदाय रूप अर्थ कहा था। इस वाक्यमें यह कह रहे हैं कि उसी समुदाय रूप नाट्यका भाग 'अभिनय' कहलाता है। इस अभिप्रायको ध्यान में रखनेपर उसका निर्दोषरूप शुद्ध पाठ 'तस्यैव भागोऽभिनयः.' हो सकता है। उसकी सङ्गति भी लग जाती है। इसलिए हमने 'तस्यैव भागानुगमय' के स्थानपर 'तस्यैव भागोऽभिनयः.' यही पाठ संशोधित रूपमें प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—इस प्रकार रत्यादिके स्थायी अनुकरण भूत यह नाट्यरूप अर्थ किस तरह प्रतीतिका विषय बनता है इसको [कारिकाके उत्तरार्द्ध भाग] 'अङ्गाद्यभिनयोपेत' से कहते हैं। अङ्गादिमें जो अभिनय अर्थात् आङ्गिक आदि [चार प्रकारके जो अभिनय कहे गए हैं उनसे उपेत अर्थात् युक्त होकर नाट्य प्रतीति-गोचर होता है। यह बात ग्रन्थकार कहना चाहते हैं। परन्तु वाक्य-रचना कुछ अस्पष्ट हो गई है। 'अङ्गाद्यभिनय' पदका तो अर्थ यहाँ कर दिया है पर उसी समस्त-पद के एक भाग 'उपेत' का यहाँ सम्बन्ध नहीं दिखलाया है। उसका सम्बन्ध आगे-पाठ पंक्तियों के बाद पृ० २३४ पर 'तेनोपेत' लिख कर दिखलाया है। बीचमें वे अभिनयके स्वरूप तथा उसके नामकी व्याख्या विवेचन करने लगे हैं। इसलिए पाठकों असङ्गति हुई प्रतीत होती है। अगली पंक्तिमें वे अभिनयके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं]।

1. तस्यैव भागानुगमय। 2. एवं मयं। रत्यादि-स्थाय्यनुकरण .... भूतो (नाट्य ....)। 3. येऽभिनयाः।

न च ते लिङ्गसङ्केतादिरूपा, अपितु प्रत्यक्षसाक्षात्कारकल्पलौकिकसम्यङ्-मिथ्याज्ञानादि⁴—विलक्षणास्वादपर्यायप्रतीत्युपयोगिनो अत एवाभिमुख्यनयनहेतुत्वादन्य-लोकशास्त्राप्रसिद्धेन⁵ 'अभिनय'-शब्देन व्यपदेश्या ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व सस्करणोमें बहुत अशुद्ध छपा है। अनुच्छेद के आरम्भमें ही 'एव मया' यह अशुद्ध पाठ छपा है। द्वितीय सकरणमें उसके स्थान पर 'एव दया' पाठ दिया है। पर वह भी अशुद्ध है। 'कथ प्रतीतिगोचरी भवतीत्याह' इस अगले विधेयाश या मुख्य वाक्याशके साथ 'एव मया' की कोई सङ्गति नही लगती है। उनके स्थानपर 'एवमय' पाठ होना चाहिए। इस पाठके होने पर 'एवमय कथ प्रतीतिगोचरी भवति' इस वाक्यकी ठीक सङ्गति लग जाती है। अत हमने सशोधित रूपमे इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—पूर्व-सस्करणोमें मुद्रित पाठके अनुसार इस अनुच्छेदमें 'मिथ्याज्ञानादि' के बाद 'रूपस्तस्यैव भावाः शृङ्गारादयो रत्यादि' इतना पाठ बीचमें एक-दम असङ्गत-सा आ जाता है। और वह मुख्य वाक्यकी रचनाको गडबड कर देता है। मुख्य वाक्यमें ग्रन्थकार अभिनयोका स्वरूप बतला रहे हैं कि वे प्रत्यक्षकल्प और लौकिक सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान आदिसे विलक्षण आस्वा-दात्मक प्रतीतिमें उपयोगी होते हैं। इस अर्थका प्रतिपादन करने वाले' प्रत्यक्षकल्पलौकिकसम्यङ्-मिथ्याज्ञानादि-विलक्षणास्वादपर्यायप्रतीत्युपयोगिन ' इस वाक्यके बीचमें 'रूपतस्यैव भावा शृङ्गारा-दयो रत्यादि' इतना अधिक-पाठ पूर्व-सस्करणोमें छाप दिया गया है वह ठीक नही है। उसके कारण अर्थसङ्गतिमें बाधा पडती है। अत हमने उसको निकाल दिया है।

अङ्गाद्यभिनयकी दूसरी व्याख्या—

अभिनव०—और वे लिङ्ग [अर्थात् अनुमान-ज्ञान या] सङ्केतग्रह [पर आश्रित शाब्द-ज्ञान] आदि रूप नहीं है [क्योकि अनुमान या शब्द आदि प्रमाणोसे जो ज्ञान होता है वह परोक्षरूप होता है, प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं होता है], अपितु [आङ्गिकादि अभिनय] प्रत्यक्ष-सदृश एव लौकिक सम्यग् प्रतीति, मिथ्या-प्रतीति, आदिसे विलक्षण 'आस्वाद' नामसे कही जाने वाली प्रतीतिमे उपयोगी होते है। इसी लिए सम्मुख प्रदर्शित [आभिमुख्य-नयन] करनेके साधन होनेके कारण अन्य अर्थात् लोक तथा शास्त्रादिमें अप्रसिद्ध [किन्तु अन्वर्थक] 'अभिनय' शब्दसे कहे जाते हैं। [उनसे 'उपेत' अर्थात् युक्त यह पृ० २३४ पर इसका सम्बन्ध होगा]।

कारिकामे आए हुए 'अङ्गाद्यभिनयोपेत' शब्दकी व्याख्याके प्रसङ्गमे अङ्गाद्यभिनय शब्दकी एक व्याख्या कर चुकनेके बाद अगले पृष्ठपर दी जाने वाली उसकी दूसरी व्याख्यामें अङ्ग शब्दसे 'शाखा-नृत्त गीतानि' इन तीनका ग्रहण किया है। इनमें से नृत्त और गीतका अर्थ तो प्रसिद्ध है अत उनके समझनेमे कोई कठिनाई नही होती है। किन्तु 'शाखा' शब्द जिस अर्थमे लोकमें प्रसिद्ध है उस अर्थमें उसका प्रयोग नही किया गया है अत वह अर्थकी प्रतीतिमें एक प्रकार की बाधा-सी उपस्थित कर देता है। इस कारण इस शब्दके अर्थको विशेष रूपसे स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है। 'शाखा' शब्द यहाँ नाट्यशास्त्रके एक परिभाषिक शब्दके रूपमे प्रयुक्त हुआ है। इसी अध्यायकी ४४-४५वी कारिकाकी अभिनवभारतीमें पृ० १२४ पर 'अस्य शाखा च नृत्त च' आदि ना०शा० ८-१५ श्लोकार्धको उद्धृत किया गया था। उसमें शाखा शब्दका प्रयोग किया गया था। उस

४· सम्यङ् मिथ्याज्ञानादिरूप । तस्यैव भावा· शृङ्गारादयो रत्यदिविलक्षण ५ शास्त्रप्रसिद्धेन ।

तथा अङ्गानि शाखानृत्तगीतानि आदयः प्रधानानि येषां ते अङ्गादयः ।

'अथवा अङ्गानि हेतुरूपा विभावा अनुभावा व्यभिचारिणो भावाश्च आदयो येषां ते अङ्गादयः । त एव रसाभिमुख्यनयनहेतवो अभिनयाः । यद्वक्ष्यते—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इति ।

अभिनवभारती पाठसमीक्षामें हम लिख आए हैं कि यहाँ शाखा शब्दसे आङ्गिक अभिनयका ग्रहण किया गया है । जैसाकि नाट्यशास्त्रके इसी आठवें अध्यायमें शाखाका लक्षण करते हुए लिखा है कि— 'आङ्गिकस्तु भवेच्छाखा' । 'अतः' यहाँ भी शाखा शब्द आङ्गिक अभिनयका बोधक है यह समझना चाहिए । इस अर्थको लेकर इस वाक्यका अनुवाद निम्न प्रकार होगा—

अभिनव०—और अङ्ग अर्थात् शाखा [आङ्गिक अभिनय], नृत्त तथा गीत ये जिनमें आदि अर्थात् प्रधान हैं वे अङ्गादि [अभिनय] हुए ।

अङ्गाद्यभिनयकी तीसरी व्याख्या—

इस प्रकरणमें ग्रन्थकार 'अङ्गाद्यभिनयोपेत' की व्याख्या कर रहे हैं । उसमें 'अङ्गाद्यभिनय' इस भागकी दो प्रकारकी व्याख्या तो ऊपर दिखला चुके हैं । अब उसकी तीसरी व्याख्या आगे दिखलाते हैं । इसमें 'अङ्ग' शब्दसे उन्होंने नाट्य या रसके हेतुभूत विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंका ग्रहण किया है । और 'रसाभिमुख्यनयन' का हेतु होनेसे उनको 'अभिनय' कहा है ।

अभिनव०—अथवा 'अङ्ग' पदसे ['रस-प्रतीति' के] हेतुभूत विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंका ग्रहण होता है । वे जिनमें [आदि अर्थात्] प्रधान हैं वे 'अङ्गादि' हुए । और [विभाव आदि] ही रसके आभिमुख्य-नयन [आस्वाद-योग्य बनाने] के हेतु होनेसे 'अभिनय' [कहलाते] हैं ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें भी पूर्व-संस्करणोंमें गड़बड़ पाई जाती है । पूर्ववर्ती दोनों संस्करणोंमें 'व्यभिचारिणो भावाश्चो हेतुरूपा विभावा अभिनयानुभावाश्च एते रसाभिमुख्यनयनहेतवो' यह पाठ इस रूपमें छपा है । परन्तु वह अस्त-व्यस्त होनेसे सर्वथा अशुद्ध है उससे कोई अर्थ समझमें नहीं आता है । यहाँ ग्रन्थकार 'अङ्गादि' की तीसरी व्याख्या कर रहे हैं । उसमें 'अङ्गादि' पदसे वे नाट्य अथवा रसके हेतुभूत विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंका ग्रहण करना चाहते हैं । इसमें 'विभाव', 'अनुभाव' 'व्यभिचारिणो भावाः' ये सब पद आए तो हैं किन्तु उनका क्रम गड़बड़ हो गया है । हमने उस क्रमको ठीक कर दिया है और उसके साथ-साथ वाक्यके आदि और अन्तमें जो शब्द छूट गए थे उनकी प्रकरणके अनुसार पूर्ति करके वाक्यको रचना संशोधित रूपमें, 'अथवा अङ्गानि हेतुरूपा विभावा अनुभावा व्यभिचारिणो भावाश्च आदयो येषां ते अङ्गादयः । त एव रसाभिमुख्यनयनहेतवो अभिनयाः' यह पाठ प्रस्तुत किया है । इस संशोधनमें हमने वाक्यके आदिमें 'अथवा अङ्गानि' और वाक्यके अन्तमें 'अभिनयाः' यह पद बढ़ाया है । 'स एते' के स्थानपर 'त एव' पाठ किया है और शेष क्रमको ठीक किया है । इस प्रकार संशोधित पाठ ठीक बन जाता है ।

जैसा कि आगे [छठे अध्यायमें] कहेंगे—

अभिनव०—विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भावोंके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है ।

१. एतान्यङ्गानि व्यभिचारिणो भावाश्चो हेतुरूपा विभावा अभिनयानुभावाः ।

तैरुपेत । उप समीप इत, संविद्दर्पणमभिसक्रान्त । [1]एवम्भूतोऽर्थो नाट्यम्, नटनीय नर्तनीय नर्तनम् । तथा गमनीय यत्नेन, स्वरूपतो हृदयेऽनुप्रवेशनीयम् । तथा च नटानां पारम्पर्यात्मक वृत्त नाट्यं, धर्माम्नायरूप च । तच्च सुखदु खाभ्या फलाभ्या सम्यगन्वितम् । तेषा पश्चाद्भावित्वात् [2]हेयोपादेयव्युत्पत्तिफलम् । एतच्च वितत्याग्रे [3]भावस्वरूपे निरूपयिष्याम ॥११९॥

यहाँ तक ग्रन्थकारने 'अङ्गाद्यभिनय' पदकी व्याख्या की। अब 'उपेत' पदके साथ उसका समास दिखलाकर 'अङ्गाद्यभिनयोपेत' की व्याख्या पूर्ण करते हैं—

अभिनव०—उन [अङ्गादिके अभिनयो] से युक्त [यह 'अङ्गाद्यभिनयोपेत' का अर्थ हुआ। आगे 'उपेत' शब्दका अवयवार्थ दिखलाते हैं]— 'उप' अर्थात् समीप 'इत' अर्थात् पहुचा हुआ। अर्थात् ज्ञान रूप दर्पणमे प्रतिबिम्बित। इस प्रकारका अर्थ नाट्य [कहलाता] है। [आगे नाट्य पदका यौगिक अर्थ दिखलाते है। कि—]नाट्य अर्थात् नटनीय, अर्थात् नर्तनीय अर्थात् 'नर्तन' [नाट्य कहलाता] है। और वह यत्न पूर्वक प्राप्तव्य तथा स्वरूपत हृदयमे प्रवेश करने योग्य होता है। इस प्रकार नटोका परम्परागत कार्य [वृत्त] नाट्य है। और वह उनका धर्म-प्रतिपादक वेद-तुल्य है। वह [नाट्य] फलरूप सुख-दु ख दोनो फलोसे भली प्रकार सम्बद्ध है। और उन [सुख-दुख की अनुभूतियो] के बाद [होनेके कारण या] होने वाले हेय तथा उपादेय का ज्ञान कराना भी उसका फल है। इसको भाव-स्वरूपके निरूपणके प्रसङ्गमे आगे [सप्तमाध्यायमे] विस्तार-पूर्वक लिखेंगे।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्ववर्ती दोनो सस्करणोमें निम्न प्रकार छपा है—

'एवभूतोऽर्थो नाट्य नटनीय नर्तनीय नर्तनम् । तथा गमनीय यत्नेन स्वरूपतो हृदयेऽनुप्रवेष्टव्यम् । तथा नाटकाना [नटाना] पारम्पर्यात्मक वृत्त नाट्य धर्माम्नायरूप च' ।

यह पाठ बडा अस्पष्ट-सा प्रतीत होता है। उसका अर्थ ठीक तरहसे समझनेमे कठिनाई होती है। इतनी बात तो इसमें स्पष्ट है कि यहाँ ग्रन्थकार नाट्य शब्दकी व्युत्पत्ति या उसका अवयवार्थ दिखला रहे हैं। नटनीय या नर्तनीय अर्थ नाट्य है यह गन्थकारका अभिप्राय है। उसीके स्पष्टीकरणमें 'नर्तन' पदको भी जोडा जा सकता है। उसका अर्थ होगा कि नर्तन रूप नाट्य है। किन्तु इसके आगेकी पक्ति 'तथा गमनीय यत्नेन स्वरूपतो हृदयेनानुप्रवेष्टव्यम्' इस पक्तिका कुछ अर्थ नही लगता है। 'हृदयेनानुप्रवेष्टव्यम्' यह भाग तो बिल्कुल अशुद्ध प्रतीत होता है। यदि पूर्ववर्ती अनीयर-प्रत्ययान्त 'नटनीय नर्तनीय गमनीय' आदि शब्दोके साथ इसको जोडा जाय तो 'हृदयेऽनुप्रवेशनीयम्' यह अनीयर-प्रत्ययान्त पाठ कुछ लग सकता है। गन्थकारका अभिप्राय तो यह प्रतीत होता है कि नटनीय नर्तनीय या नर्तन रूप अर्थ नाट्य है और उसका स्वरूप यत्न पूर्वक हृदयमें अङ्कित करने योग्य होता है। परन्तु इस वाक्यकी रचना बडी अटपटी-सी हुई है जिससे अर्थ समझनेमें बडी कठिनाई होती है। अत हमने सशोधित रूपमे 'हृदयेनानुप्रवेष्टव्यम्' के स्थानपर 'हृदयेऽनुप्रवेशनीयम्' पाठ प्रस्तुत किया है ॥११९॥

---

१ एवभूतोऽर्थो नाट्य नटनीय नर्तनीय नर्तनम्, तथा गमनीय यत्नेन स्वरूपतो हृदयेनानुप्रवेष्टव्यम् । तथा च नाटकाना पारम्पर्यात्मक वृत्त नाट्य धर्माम्नायरूपञ्च ।

२ तेन हेयोपादेयव्युत्पत्ति फलम् । ३ भावस्वरूपम् ।

[प्रक्षिप्त भरत०—वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥
श्रुतिस्मृतिसदाचार परिशेषार्थकल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥]

एवं सान्त्वेनापसारितेषु विघ्नेषु 'दिव्यनिदेशनानानोपपत्त्वात् पूर्वनियुक्तदेवताशाना' तत्र-तत्र सन्निधानाद् यजनमवश्यं कार्यमिति प्रदर्शयितुं उक्तमेवेतिहासमनुसन्दधन् निरूपयति 'एतस्मिन्निति' ।

भरत०—एतस्मिन्नन्तरे देवान् सर्वानाह पितामहः ।
'क्रियतामद्य विधिवद्यजनं नाट्यमण्डपे ॥१२०॥

अन्तरे इति समये ॥ १२० ॥

विधिवदिति व्याचष्टे बलिप्रदानैरित्यादि—

भरत०—बलिप्रदानैर्होमैश्च मन्त्रौषधिसमन्वितैः ।
भोज्यैर्भक्ष्यैश्च पानैश्च बलिः समुपकल्प्यताम् ॥१२१॥

प्रक्षिप्त—इसके बाद दो श्लोक और पाए जाते हैं। परन्तु ये दोनों श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। अभिनवगुप्तने पिछले श्लोक की वृत्तिके बाद 'एतस्मिन्नन्तरे' इस अगले श्लोक की ही अवतरणिका दी है। इन दोनों श्लोकोंकी चर्चा नहीं की है। इसलिए हमने उनको कोष्ठमें और भिन्न टाइपमें दिया है। द्वितीय संस्करणमें भी उनको प्रक्षिप्त मान कर कोष्ठमें दिया गया है और उनपर क्रम संख्या नहीं डाली है। अभिनवगुप्तके अनुसार अगले श्लोककी व्याख्या देते हैं।

अभिनव०—इस प्रकार शान्ति-पूर्वक विघ्नोंका निवारण कर देनेपर [भी] दिव्य आदेशोंके अन्यथा [अपरिवर्तनीय] होनेके कारण पूर्वनियुक्त देवताओंके उस-उस स्थानपर उपस्थित हो जानेके कारण यज्ञ [देव-पूजन] अवश्य करना चाहिए इस बातको दिखलानेकेलिए पूर्वोक्त इतिहासका अनुसरण करते हुए ही [भरतमुनि] 'एतस्मिन्' इत्यादि [अगला श्लोक] कहते हैं।

भरत०—इस बीचमें पितामह ने सब देवताओंको आदेश दिया कि आज लोग नाट्य-मण्डपमें विधिवत् यज्ञ करें ।१२०।

अभिनव०—'अन्तरे' [का अर्थ] समयमें [अर्थात् इस बीच में] है ॥ १२० ॥

अभिनव०—[पिछली कारिकामें जो विधिवत् यजन करने की बात कही थी उसके] 'विधिवत्' इस [अंश] की 'बलिप्रदानैः' इत्यादि से व्याख्या करते हैं—

भरत०—[नाना प्रकारके फलों तथा चावल आदिके [illegible] देवोंको] उपहार [बलि], और मन्त्रों तथा औषधियोंसे युक्त तिल आदिके होम द्वारा तथा भोज्य [illegible] आदि पकाकर [illegible] भोज्य] भक्ष्य [मिठाई आदि [illegible] भोज्य] तथा पेय [शर्बत आदि] के द्वारा पूजन [बलि] करना चाहिए।

---

१. दिव्य निदेशानाम् । २. [illegible] । ३. [illegible] । [illegible] विधिवत् । ४. [illegible] । ५. [illegible] ।

वल्यन्ते आप्याय्यन्ते देवता अनेनेति बलि । विचित्रवर्ण-तण्डुलादिरचनाविशेष, प्रदान 'तिलादयश्च । अग्नौ हूयन्ते इति होमा । उभयत्र विशेषण मन्त्रौषधीति । मन्त्रा वक्ष्यमाणा, ओषधयो वचा-वला-अजमोदप्रभृतय, प्रशस्तानि धान्यानि च । खरविशद शष्कुलीमोदकादि भक्ष्यं भोज्यमुच्यते[4] । अन्यद् भक्षणीय तु भक्ष्य, पायस-कृसरादि । पानानि क्षीरेक्षुद्राक्षारसादीनि । बलि पूर्वोक्तो रचनाविशेष । एतैर्विच्छित्तियोजितैर्वि-विधतया कल्प्यताम् । शोभाप्रधान हि नाट्ये सर्वम् ॥ १२१ ॥

अभिनव०—जिसके द्वारा देवता लोग तृप्त होते हैं वह बलि [कहलाता] है। नाना प्रकारके रंग और चावल आदिके द्वार की गई रचना-विशेष [सजावट यहा बलि शब्दसे ग्रहण करनी चाहिए] । 'प्रदान' अर्थात् तिल आदि । जिनकी अग्निमे आहुति दी जाती है वे 'होम' [शब्द से यहा अभिप्रेत] हैं। 'मन्त्रौषधिसमन्वितै' यह दोनो जगह [अर्थात् 'बलिप्रदानै' तथा 'होमै' दोनोका] विशेषण है । ['मन्त्रौषधिसमन्वितै' मे] मन्त्र आगे कहे जावेगे । औषधिसे वचा, वला, अजमोदा आदि [औषधिया] तथा उत्तम धान्य [का ग्रहण होता] है। सखरे पवित्र लड्डू-कचौड़ी आदि खाने योग्य पदार्थ भोज्य' [कहलाते] हैं और अन्य खाने वाले [कच्चे निखरे] पदार्थ खीर, खिचडी आदि तो 'भक्ष्य' [पदसे गृहीत होते] है। दूध, गन्ना अगूर आदिके रस 'पान' [पदसे अभिप्रेत] हैं। ['बलि समुपकल्प्यता' मे दुबारा प्रयुक्त हुए] 'बलि' [पद] से पूर्वोक्त रचना विशेषका ही ग्रहण करना चहिए। इनको नाना प्रकारसे सुन्दरताके साथ सजा कर नाना प्रकारसे शोभा विशेषको करना चहिए। क्योकि नाट्यमे सब-कुछ ही शोभा-प्रधान होना चाहिए [इसलिए 'बलि' अयत् सजावटपर इतना बल दिया है। यहाँ अभिनवगुप्तने 'बलि' का अर्थ 'सजावट' किया है यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। अन्यथा साधारणत अन्य लोग 'बलि' शब्दसे पशु आदि के बलिदान करनेका अर्थ लेते हैं] ॥ १२१ ॥

देवताओ द्वारा पूजन करानेका फल—

सामान्यत देवताओकी पूजा तो अन्य लोग करते हैं किन्तु यहा देवताओके द्वारा रङ्ग-पूजन करवाया गया है। यह बात कुछ अटपटी-सी प्रतीत होती है। इसलिए भरतमुनिने उसके दो कारण अगली कारिकामें दिखलाए हैं। पहिला कारण तो यह है कि यदि आप लोग पूजा करोगे तो मर्त्यलोकमें आपका भी पूजन होगा। क्योकि श्रेष्ठ पुरुषोंके आचारका अन्य लोग अनुकरण करते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह है कि पूजन या भगवान्के स्मरणके विना कोई कार्य आरम्भ नही करना चाहिए। उससे लौकिक तथा पारलौकिक दोनो प्रकारकी हानि आगे दिखलायेंगे।

---

१ प म जप्यैर्भक्ष्यैश्च । २ ड म. भोज्यैश्च । प होमैश्च ।
३ दान तिला । ४. भोज्य भक्ष्यमुच्यते ।

ननु देवानां पूजाकरणे किं फलमित्याह—'मर्त्यलोकगता' इत्यादि—

भरत०—'मर्त्यलोकगताः सर्वे शुभां पूजामवाप्स्यथ ।
अपूजयित्वा रङ्गं तु नैव प्रेक्षां प्रवर्तयेत्' ॥१२२॥

'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' इति न्यायादिति भावः । प्रवर्तयेदिति देवानुष्ठिताचारानुवर्तित्वात् लोकस्य' इति शेषः ॥१२२॥

ननु यदि लोकः सदाचारं नानुवर्तेत ततः किमित्याह 'अपूजयित्वेति'—

भरत०—'अपूजयित्वा रङ्गं तु यः प्रेक्षां कल्पयिष्यति ।
तस्य तन्निष्फलं ज्ञानं तिर्यग्योनिं च यास्यति' ॥१२३॥

निष्फलमिति । तस्येति नाट्याचार्यस्य । पारलौकिकमपि प्रत्यवायमाह 'तिर्यग्योनिञ्च' इति ॥१२३॥

अभिनव—देवताओंका पूजाके करनेका [यहां 'देवानां' यह कर्तामें षष्ठी विभक्ति है देव कर्तृक-पूजाका अर्थात् देवता पूजा करें इसका] क्या फल है] इस [शङ्काके समाधान] के लिए 'मर्त्यलोकगताः' इत्यादि [अगला श्लोक] कहते हैं—

भरत०—[यदि आप देवता लोग इस समय यह करेंगे तो] मर्त्यलोकमें जाकर सब लोग [भी] सुन्दर पूजाको प्राप्त करेंगे। [आप देवताओंके द्वारा पूजन करानेका मुख्य उद्देश्य आपका लाभ ही है। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह भी है कि] रङ्गकी बिना पूजा किए हुए कभी नाट्यका प्रारम्भ नहीं करना चाहिए।१२२।

अभिनव०—जो-जो कार्य बड़े लोग करते हैं [वही कार्य अन्य लोग भी करते हैं] इस युक्तिसे [यदि आप लोग पूजा करेंगे तो आपकी भी लोकमें पूजा होगी] यह अभिप्राय है। क्योंकि लोक देवताओंके किए हुए आचारका अनुकरण करता है यह शेष है [अर्थात् देवताओंके आचारका अनुकरण करके ही लोक, देवताओंकी पूजा करेगा। अतः आप पूजा करोगे तभी आपको पूजा प्राप्त होगी] ॥ १२२ ॥

अभिनव०—अच्छा यदि [हम देवता लोग तो रङ्ग पूजन करलें किन्तु] लोक [देवताओं द्वारा स्थापित रङ्ग-पूजाके इस] सदाचारका अनुकरण न करे तो क्या होगा इसकेलिए 'अपूजयित्वा' इत्यादि [श्लोक] कहते हैं—

भरत०—रङ्गकी पूजा किए बिना जो [नाट्याचार्य] अभिनयका प्रारम्भ करेगा उसका यह सारा [नाट्यका] ज्ञान व्यर्थ हो जायगा और [मरनेके बाद भी] वह तिर्यग्योनि [पशु-पक्षी आदिकी योनि] में जन्म लेगा।१२३।

अभिनव०—'निष्फल' इससे [इस लोकमें होने वाले अनर्थको कहा है]। उसका अर्थात् नाट्याचार्यका। [शास्त्रीय रङ्ग-पूजन न करनेसे] केवल इसी जन्ममें हानि नहीं होगी अपितु परलोकमें भी हानि होगी। [इसी] पारलौकिक अनर्थ [प्रत्यवाय विघ्न] को 'तिर्यग्योनि' इत्यादिसे कहा है ॥ १२३ ॥

---

१. म. द. मर्त्यलोकगताः सर्वे देव! शुभां पूजामवाप्स्यथ। २. द. म. प्रेक्षां प्रकल्पयेत्। ३. लोके। ४. ममानुष्ठानम्। ५. निष्फलं तस्य तत् ज्ञानम्। ६. द. तिर्यग्योनिं। यतिर्योनिं।

भरत०—यज्ञेन [1]सम्मितं ह्येतद् रङ्गदैवतपूजनम्[2]।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः ॥१२४॥
नर्तकोऽर्थपतिर्वापि यः पूजां न करिष्यति।
[3]न कारयिष्यत्यन्यैर्वा [4]प्राप्नोत्यपचयं तु स ॥१२५॥

ननु यद्यपूजने प्रत्यवायस्तर्हि पूजने किं तन्निवृत्तिमात्र फलम्? नेत्याह 'यथा विधीति'—

भरत०—यथाविधि [5]यथादृष्टं यस्तु पूजां करिष्यति।
स लप्स्यते शुभानर्थान् स्वर्गलोकं च [6]यास्यति ॥१२६॥

यथा देवैर्विहिता। कथमेतज्ज्ञायत इत्यत आह यथादृष्टमिति। शास्त्रदृष्टोऽसौ विधिरित्यर्थ। अर्थान् शुभान् इत्यैहलौकिकधनमानप्रसिद्धिलाभ उक्त ॥१२६॥

भरत०—यह रङ्ग देवताओका पूजन यज्ञ के समान [पवित्र तथा फलदायक] है। इसलिए नाट्यका प्रयोग करने [कराने वाले नाट्याचार्य तथा अर्थपति राजा आदि] को सब प्रकार के प्रयत्नो द्वारा सम्पादन करना चाहिए।१२४।

प्रक्षिप्त०—जो नाट्याचार्य [नर्तक] अथवा राजा आदि [अर्थपति] इस पूजाको न करेगा अथवा अन्योके द्वारा न करावेगा वह [अपचय अर्थात् विनाश अथवा] हानिको प्राप्त करेगा।१२५।

यद्यपि यहा १२४ तथा १२५ कारिकाओ पर कोई वृत्ति नही लिखी गई है। किन्तु पाचवी कारिका व्याख्यामें पृष्ठ ५६ पर 'नर्तकोऽर्थ पतिर्वापि' का उल्लेख ग्रन्थकार कर चुके हैं इसलिए इन कारिकाओको प्रक्षिप्त नही माना जा सकता है।

अभिनव०—अच्छा यदि पूजा न करनेसे विघ्न [या अनर्थ] होता है तो क्या उसकी निवृत्तिमात्र ही [पूजाका] फल है [इस शङ्काका उत्तर देते है कि] नही [अपितु रङ्गपूजनसे उसे ऐहिक धन-मान आदि और पारलौकिक स्वर्गादि फलकी प्राप्ति होती है] इसी लिए 'यथाविधि' इत्यादि [अगला श्लोक] कहा है—

भरत०—जो शास्त्र-दृष्ट शैलीसे विधिवत् पूजाको करेगा वह [नाट्याचार्य लोकमे धन मान प्रसिद्धि आदि] शुभ अर्थोंको प्राप्त करेगा और [मरनेके बाद] स्वर्गलोकको जावेगा।

अभिनव०—['यथाविधि'] अर्थात् जैसे देवोने की थी [उस प्रकार जो पूजा करेगा वह लोकमे धन-मान प्रसिद्धि आदिको प्राप्त करेगा और मरनेके बाद स्वर्ग जावेगा]। [प्रश्न] यह कैसे मालूम हो कि [देवताओने कैसे पूजा की थी] इस [प्रश्नके उत्तर] केलिए 'यथादृष्ट' यह कहा है। अर्थात् वह विधि शास्त्रोमे पाया जाता है। शुभ अर्थोंसे लौकिक धन मान और प्रसिद्धिकी प्राप्ति कही गई है ॥१२६॥

---

१ च न सम्मतम्। २. ब म रङ्गपूजनम्। ३ ड म कारयिष्यति वा नैव। ४. ठ प्राप्स्यत्यापदमेव स। ड व प्राप्स्यत्यपचय तु स। ५. ड यथाशास्त्रम्। ६ गमिष्यति।

एव मर्त्यान् प्रत्यभिधाय प्रकृतमेव पुराकल्पमनुसन्धत्ते एवमुक्त्वेति—

भरत०—'एवमुक्त्वा तु भगवान् द्रुहिणः सर्वदेवतैः ।
रङ्गपूजां कुरुष्वेति मामेवं समचोदयत ॥१२७॥

नाट्याचार्यस्यैव देवयजनेऽधिकार, तस्यैव फललाभ. । कवे, प्रेक्षाप्रवर्तयितुश्च तत्प्रयोक्तृत्वमित्यनेनोक्तम् । रज्यतेऽनेनेति रङ्गो नाट्यम् । तदाधारत्वान्मण्डप, तदधिष्ठातृत्वाच्च देवता अपीति । मण्डपाध्यायस्य द्वितीयस्योपोद्घातं करोतीति ²विशेष. ॥१२७॥

अभिनव०—इस प्रकार [यथाविधि यथादृष्टं यस्तु पूजां करिष्यति इत्यादि] मनुष्योंके प्रति कह कर पूर्व-प्रसङ्गागत कथानकको ही 'एवमुक्त्वा' इत्यादि [अगले श्लोक] मे अनुसरण करते हैं—

भरत०—भगवान् ब्रह्माजीने इस प्रकार [मनुष्य नाट्याचार्योंके प्रति पूर्व श्लोकमे प्रतिपादित रङ्ग पूजनके लाभ तथा उसके न करनेकी हानिको] कह कर 'सारे देवताओंके साथ तुम रङ्गकी पूजा करो' इस प्रकारकी प्रेरणा मुझको दी ।१२७।

अभिनव०—देव-पूजनमे नाट्याचार्यका ही अधिकार है और उसको ही उसका फल मिलता है। कवि और नाट्यका प्रवर्तक [राजा आदि] केवल उसके [अर्थात् नाट्याचार्यके] प्रवर्तक होते हैं यह बात ['रङ्गपूजा कुरुष्वेति मामेव समचोदयत्'] इससे कही है। [रङ्ग-पूजामे आए हुए रङ्ग शब्दसे तीन अर्थोंका ग्रहण होता है। यह कहते हैं] १ जिससे सामाजिक आनन्द लाभ करे वह रङ्ग 'नाट्य' है [अर्थात् रङ्गशब्दकी इस व्युत्पत्तिके अनुसार मुख्यरूपसे 'नाट्य' रङ्ग कहलाता है]। उसका आधारभूत होनेसे मण्डप [भी 'रङ्ग' कहलाता है] और उस [मण्डप] के अधिष्ठाता होनेसे देवता भी [लक्षणाके द्वारा रङ्ग-शब्दसे गृहीत हो सकते हैं]। [इस प्रकार रङ्ग-पूजा द्वारा मण्डपकी पूजाका विधान करके भरतमुनिने यहां प्रथमाध्यायके अन्तमे ही] 'मण्डपाध्याय' नामक द्वितीय अध्यायकी अवतरणिका कर दी है। यह [बात] विशेष [रूपसे ध्यान देने योग्य] है ॥ १२७ ॥

यह १२७वीं कारिका प्रथमाध्याय की अन्तिम कारिका है। इसमें ब्रह्माजी [illegible] नाट्यके प्रयोक्ता भरतमुनिको यह आदेश दिया है कि नाट्यका आरम्भ करनेसे पूर्व सब देवताओं एवं सब अधिदेवताओंके साथ मिलकर तुम सदैव रङ्ग-पूजा अवश्य करो। क्योंकि रङ्ग-पूजनके बिना किया हुआ नाट्यप्रयोग नाट्याचार्यका अहित करता है। और रङ्ग-पूजा करनेसे उसको सफलता एवं शुभ फलोंकी प्राप्ति होती है। इसी दृष्टिसे [illegible] रङ्ग-पूजाकी आज्ञा दी है।

यह रङ्ग-पूजा कैसे किया जाय इसका विस्तृत विवरण [illegible] अध्यायमें किया गया है। प्रथमाध्यायकी इस अन्तिम कारिकामें निर्दिष्ट रङ्ग-पूजाका [illegible] विधिका अनुसरण करनेपर ही पूर्ण हो सकता है। इसलिए इसे द्वितीय अध्यायकी अवतर-

---

१. ड. म. एवमभिहितमेव प्राह। २. विशेषम्।

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे 'नाट्योत्पत्तिर्नाम प्रथमोऽध्याय ।

त्रिणेत्रपादाब्ज-'सदास्तवोल्लसत्—
प्रसादभाक् स्फुटमिह नाट्यशासने ।
प्रवर्तितेय हृदये महाधिया
प्रकाशतामभिनवगुप्त-भारती ॥

इति श्रीमहामाहेश्वर-अभिनवगुप्ताचार्य-विरचिताया अभिनवभारत्या
भारतीय नाट्यशास्त्रविवृतौ नाट्योत्पत्ति प्रथमोऽध्याय ।

िणका कहा जा सकता है । इसीलिए इसकी व्याख्यामे अभिनवगुप्तने 'मण्डपाध्यायस्य द्वितीयस्य-उपोद्घात करोति' यह लिखा है ।

भरतमुनि-प्रणीत नाट्यशास्त्रमे नाट्योत्पत्ति नामक प्रथमाध्याय समाप्त हुआ ।

अभिनव०—[त्रिणेत्र युक्त] श्री शिवजी महराजके चरण-कमलोकी अनवरत स्तुतिसे उत्पन्न उनकी कृपाको प्राप्त करने वाली, इस नाट्यशास्त्रके ऊपर लिखी हुई [अभिनवगुप्तकी भारती अर्थात्] 'अभिनवभारती' नामक यह विशद-व्याख्या विद्वज्जनो [महाधिया] के हृदयमे सदा प्रकाशमान रहे [अर्थात् विद्वज्जन उसको सदैव आदरबुद्धिसे ग्रहण करते रहे] ।

इस श्लोकके प्रथम तथा तृतीय चरणमे बारह-बारह अक्षर हैं और द्वितीय एव चतुर्थ चरणो में तेरह-तेरह अक्षर हैं । प्रथम और तृतीय चरणोके अक्षर ।S। SS। ।S। S।S इस रूपमें जगण-तगण-जगण-रगण इस क्रम-में स्थित है । इसलिए 'जतौ तु वशस्थमुदीरित जरौ' इस लक्षणके अनुसार इन दोनो चरणोमे वशस्थ' वृत्त है । द्वितीय तथा चतुथ चरणोके तेरह-तेरह अक्षर ।S। S।। ।।S ।S। S जगण-भगण-सगण-जगण गुरु इस क्रमसे स्थित है । इसलिए 'रुचिरा जभौ स्जौ ग् चतुर्नवकौ' इस लक्षणके अनुसार उसमें 'रुचिरा' वृत्त है । इस प्रकार इस श्लोकके दो चरण १२ अक्षरो वाले 'वशस्थ' वृत्तमें तथा दो चरण तेरह अक्षर वाले 'रुचिरा' वृत्तमें लिखे गए हैं। इसलिए दो छन्दोका सङ्कर होनेके कारण यह 'उपजाति' के अन्तर्गत हो सकता है ।

प्रथम-सस्करणमें इस अध्यायके श्लोकोकी कुल सख्या १३२ दी गई थी । द्वितीय सस्करणमें वह सख्या १२७ रह गई है । अर्थात् ५ श्लोक इसमें कम हो गए हैं । कौन-कौन से श्लोक कहाँ-कहाँ कम किए गए हैं इस सबका कारण-सहित निर्देश यथा-स्थान कर दिया गया है । उसको देखने से दोनो सस्करणो में पाए जाने वाले श्लोक सख्या के अन्तरका समाधान हो जायगा ।

महामाहेश्वर श्री अभिनवगुप्ताचार्य द्वारा विरचित
नाट्यशास्त्रकी 'अभिनवभारती' नामक टीकामे
'नाट्योत्पति' नामक प्रथमाध्याय समाप्त हुआ ।

इति श्रीमदाचार्य-विश्वेश्वर-सिद्धान्तशिरोमणिविरचिते 'अभिवभारती-सञ्जीवनभाष्ये'
प्रथमोऽध्याय समाप्तः ।

---

१ न म नाट्यशास्त्रोत्पत्तिर्नाम । ३ समाश्रयोस्वसत् । सदासयोल्लसत् ।

द्वितीयोऽध्यायः

संसारनाट्यजनन-धातृबीजलतानुषाम्[1]।
जलमूर्तिं शिवां पत्युः रस्ना पर्युपास्महे ॥

पूर्वेऽध्याये 'यथातत्त्व' इति वचनवशात् भरतमुनिर्यजनादेः पाठ्यादिवदन्तरङ्गतां पश्यन् 'परमार्थनिर्णयं कुर्यात्[2] का तु कथा मण्डपलक्षणस्य स्यात्। अत एव 'मुनिः 'नाट्यं रङ्गश्च संग्रहः' इति रङ्गं सर्वपश्चाद् वक्ष्यति। तस्मात् कदाचिदेतद्विस्मरेदिति शङ्कमाना मुनयः पप्रच्छुरिति।

अथ अभिनवभारती-सञ्जीवनभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः।

अध्यायारम्भका मङ्गलाचरण—

जैसाकि पहिले लिखा जा चुका है परम-माहेश्वर अभिनवगुप्तने अपने इस ग्रन्थमें प्रत्येक अध्यायके प्रारम्भमें शिवकी विभिन्न मूर्तियोंकी वन्दना करनेकी योजना बनाई है। उसीके अनुसार प्रथमाध्यायके प्रारम्भमें शिवकी अग्नि रूप प्रथम मूर्तिकी वन्दना की थी। अब इस द्वितीयाध्यायके प्रारम्भमें जलको शिवकी द्वितीय मूर्ति मान कर उसकी वन्दना करते हैं—

अभिनव०—संसार रूप नाट्यकी उत्पत्ति और स्थितिके [क्रमशः] बीज तथा लताको [अर्थात् उत्पत्तिके बीजको, और स्थितिकी लताको] धारण करनेवाली [पत्युः अर्थात्] भगवान् शिवकी [रस्यां] रसमयी और [शिवां] मङ्गलमयी जलमूर्तिकी हम उपासना करते हैं।

अध्यायसङ्गति—

इस प्रकार मङ्गलाचरणके बाद 'मण्डपविधान' नामक इस द्वितीय अध्यायकी पिछले प्रथमाध्यायके साथ सङ्गति दिखलाते हुए ग्रन्थकार इस अध्यायका प्रारम्भ निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—पिछले अध्यायमें [पाँचवें श्लोकमें कहे हुए] 'यथातत्त्व' इस वचनके कारण भरतमुनि [कदाचित्] पाठ्यादि [नाट्याङ्गों] के समान पूजनकी अन्तरङ्गता का विचार कर उन्हींका यथार्थ-निर्णय [अर्थात् विस्तार पूर्वक प्रतिपादन] करनेमें लग जावें [नाट्यमण्डपकी रचनाका प्रतिपादन करनेका ध्यान उन्हें न रहे। उस दशामें] मण्डप-रचनाकी कथा ही समाप्त हो जावेगी। इसी लिए [नाट्यशास्त्रके छठे अध्यायके दशम श्लोकमें रस भाव आदि नाट्यके सब अङ्गों को गिनानेके बाद] 'नाट्य और रङ्ग [अर्थात् नाट्यमण्डप] यह [नाट्याङ्गोंका] संग्रह है' इसमें सबके पीछे रङ्ग [नाट्यमण्डप] को कहेंगे। इस लिए न जाने कब [कदाचित्] इसका प्रसङ्ग छोड़ें ऐसी शङ्का करके मुनियोंने [पहले ही उनसे विषय में] पूछा।

---

१ पुस्तके ... ना० शा० १-५। २. परमार्थनिर्णयं कुर्यात् ... । ([illegible]) ... । ४ ... ना० शा० ६-१०।
५ ... ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्व-सस्करणोमें बहुत अशुद्ध छपा है। यद्यपि प्रथम और द्वितीय सस्करणोके इस स्थलके पाठोमें कुछ अन्तर पाया जाता है परन्तु फिर भी वे दोनो ही पाठ अशुद्ध हैं। प्रथम सस्करणमें 'भरतमुनिर्यजनादे पाठ्यादिवदन्तरङ्गता पश्यन्परमार्थ-निर्णयेन कुर्यात्कातुकथा मण्डपलक्षण स्यात्' इस प्रकारका पाठ छपा था। वह अशुद्ध था। उसकी कोई सङ्गति नही लगती है यह देख कर द्वितीय सस्करणके सम्पादक महोदय उसमें सशोधन करके 'भरतमुनिर्यजनादेः पाठ्यादिवदन्तरङ्गता पश्यति परमार्थनिर्णयेन। द्वितीये तु कथ मण्डपलक्षण स्यात्।' इस प्रकारका पाठ छापा है। परन्तु हमारी दृष्टिमें यह पाठ भी ठीक नही है। द्वितीय अध्यायके प्रारम्भमें मुनियोने भरतमुनिसे नाट्यमण्डपके लक्षण आदिके विषयमें प्रश्न किए हैं। उनकी सङ्गति और उपयोगिता दिखलानेके लिए ग्रन्थकारने यह अनुच्छेद लिखा है। उनका कहना यह है कि यदि मुनि-गण नाट्य-मण्डपके लक्षण आदिके विषयमें इस समय प्रश्न न उठाते तो यह विषय इस समय तो यो ही पडा रह जाता। पर बादको भी उसको निरूपणका अवसर न जाने कब हाथ आता। क्योंकि नाट्यके पाठ्यादि अङ्गोके समान पूजनकी भी अन्तरङ्गताको देखते हुए भरतमुनि इस समय नाट्यमण्डपकी रचनाके स्थानपर पहिले उसी पूजनके विस्तार पूवक निरूपणमें लग जाते और नाट्यमण्डपकी रचनाका प्रश्न पीछे पड जाता। मुनिगणोंके प्रश्न कर देनेसे यह स्थिति बदल गई है। भरतमुनिने उनके प्रश्नके अनुसार यजनसे भी पहिले नाट्य-मण्डप की रचनाके विषयका प्रतिपादन यहाँ द्वितीय अध्यायमें कर दिया है। यह आशय इन पक्तियो के लिखनेका है। परन्तु जिस रूपमें उनका पाठ प्रथम सस्करणमें छपा है उससे यह भाव ठीक तरहसे नही निकलता है। 'भरतमुनिर्यजनादे पाठ्यादिवदन्तरङ्गता पश्यन्' इतने भागका तो अर्थ लग जाता है किन्तु उसके आगे 'परमार्थनिर्णयेन कुर्यात्कातुकथा मण्डप लक्षण स्यात्' इतनी पक्तिका अर्थ ठीक तरहसे समझमे नही आता है। यह पाठ अशुद्ध रूपमें छपा है। इसीलिए उसकी सङ्गति नही लगती है। यदि उसको 'परमार्थनिर्णय कुर्यात् का तु कथा मण्डपलक्षणस्य स्यात्' इस रूपमें लिख दिया जाय तो सारा अर्थ स्पष्ट हो जाता है। 'भरतमुनि-र्यजनादे पाठ्यादिवदन्त-रङ्गता पश्यन् परमार्थनिर्णय कुर्यात्, का तु कथा मण्डपलक्षणस्य स्यात्' इस पाठके होनेपर पक्तिका अर्थ समझनेमें कोई कठिनाई नही होती है। इसलिए हमारी सम्मतिमे इस स्थलका शुद्ध पाठ यही है।

द्वितीय सस्करणमें यहाँ सशोधित रूपमें जो 'भरतमुनिर्यजनादे पाठ्यादिवदन्तरङ्गता पश्यति परमार्थनिर्णयेन द्वितीये तु कथ मण्डपलक्षण स्यात्' यह पाठ दिया गया है। अर्थकी दृष्टिसे यह पाठ भी ठीक बन जाता है। किन्तु यह पाठ पूर्व उपलब्ध पाठसे कुछ अधिक दूर पहुच गया है। 'का तु कथा मण्डपलक्षण स्यात्' इसमें केवल 'लक्षण' के स्थान पर 'लक्षणस्य' पाठ कर देने पर अर्थकी सङ्गति ठीक लग जाती है। तब उसको सर्वथा बदल कर 'द्वितीये तु कथ मण्डपलक्षण स्यात्' यह पाठ करना उचित प्रतीत नही होता है, क्योकि पाठमें विवेकाश्रित सशोधन पद्धतिसे सशोधन करते समय न्यूनतम परिवर्तन करके निकटतम पाठ प्रस्तुत करना उचित होता है। इस दृष्टिसे द्वितीय सस्करणका सशोधन उचित प्रतीत नही होता है। हमने जो पाठ प्रस्तुत किया है उसमें द्वितीय सस्करण वाले पाठकी अपेक्षा न्यूनतर और निकटतम सशोधन किया गया है। अर्थ की दृष्टिसे भी हमारा पाठ द्वितीय सस्करणके पाठकी अपेक्षा कही अधिक सुन्दर है अत हमने उसीको उचित मान कर सशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है।

पर आत्मानं परिकल्प्य मुनिराह—भरतस्य वच इति—

भरत०—'भरतस्य वचः श्रुत्वा 'पप्रच्छु-र्मुनयस्ततः'।
भगवन् श्रोतुमिच्छामो यजनं रङ्गसंश्रयम्' ॥१॥

ब्रह्मेव कविः, शक्र इव प्रयोजयिता, भरत इव नाट्याचार्यः, कोहलादय इव नटाः, अप्सरस इव सुकुमारोपकरणं, स्वातिरिवावनद्धवित्, नारदवद् गीतज्ञः, सुरक्षितो मण्डपः, इन्द्रोत्सवसदृशः प्रयोगकालः, 'प्रशान्तरागद्वेषाः सामाजिकाः, देवतापूजनपूर्वकः प्रयोगः, इत्येव सङ्ग्रहेण पूर्वाध्यायनिरूपितमर्थमवधार्येत्यर्थः। यजनमिति 'रङ्गपूजा कुरुष्व' इति पूर्वेऽध्याये निरूपितमिति सङ्गतिः ॥ १ ॥

रङ्गपूजाविषयक प्रश्न—

द्वितीय अध्यायके इस प्रथम श्लोकका प्रारम्भ 'भरतस्य वचः श्रुत्वा' इस वाक्यसे होता है। नाट्यशास्त्रके रचयिता स्वयं भरतमुनि हैं। उनके ग्रन्थमें स्वयं उनकी ही ओरसे लिखा गया 'भरतस्य वचः श्रुत्वा' यह वचन सङ्गत प्रतीत नहीं होता है। इसलिए अभिनवगुप्तने उसकी यह सङ्गति लगाई है कि यहां भरत मुनिने स्वयं ही अपनेको पर अर्थात् अपनेसे भिन्न कल्पना करके यह वचन लिखा है। इसी भावसे इस श्लोककी अवतरणिका करते हुए ग्रन्थकार उसकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं।

अभिनव०—भरतमुनि अपनेको अपनेसे भिन्न मान कर [परं परिकल्प्य] 'भरतस्य वचः' इत्यादि [अगला श्लोक] कहते हैं—

भरत०—भरतमुनिकी बातोंको सुन कर [प्रश्नकर्ता] मुनिगण फिर बोले कि हे भगवन् [अब हम] नाट्य-मण्डप। [रङ्ग] के लिए जाने वाले देव-पूजन [के विषयमें] को सुनना चाहते हैं ॥१॥

अभिनव०—[प्रथम अध्यायमें जो कुछ कहा गया है उसका यह आशय है कि] ब्रह्माके समान कवि [होना चाहिए], इन्द्रके समान [राजा आदि] प्रयोगका कराने वाला, भरतके समान नाट्याचार्य, कोहल आदिके समान नट, अप्सराओंके समान सुकुमार [उत्तम] साधन, स्वाति मुनिके समान वाद्यवित्, नारदके समान सङ्गीतज्ञ, [पूर्णतया] सुरक्षित नाट्य-मण्डप, इन्द्रोत्सवके सदृश [उत्तम] प्रयोगका काल, राग-द्वेषसे रहित सामाजिक [प्रेक्षक] और देवताओंके पूजन [यजादि] के बाद प्रयोगका आरम्भ, होना चाहिए। इस प्रकार संक्षेपमें प्रथमाध्यायमें कहे गए विषयको भली प्रकारसे समझ कर मुनिगण फिर बोले यह तात्पर्य है। [कारिकामें आये हुए] 'यजनं' इस [पद] से यह अभिप्राय है कि पिछले अध्याय [के अन्तिम श्लोक] में 'रङ्गपूजां कुरुष्व' इस [वचन] से जिसका निरूपण किया जा चुका है [उस देव-यजन या रङ्गपूजनके विषयमें अब हम सुनना चाहते हैं] ॥१॥

१. इ. श्रुत्वा तु वचो भरतस्य पप्रच्छुर्मुनयस्ततः। श्रोतुमिच्छामो भगवन् यजनं नाट्यमण्डपे ॥ इत्यधिकं दृश्यते। ३. न प्राङ्गणम्। म. भ. ब. प्राङ्गणम्।
२. ठ. म. ततः। ४. प. नाट्यमण्डपे। ५. म. नाट्यमण्डपमाश्रितम्।
६. म. प्रशान्तरागद्वेषाश्चैते। ७. ना० शा० १-१२७।

देवविषये मण्डपस्य क्रिया [1]विनैव निष्पत्तिरिति प्रथम क्रिया-प्रश्नस्तेषा विस्मृतोऽपि झटिति स्मृति गत [2]इत्यभिप्रायेण दर्शयति—

भरत०—अथ वा [3]याः क्रियास्तत्र लक्षण यच्च पूजनम् ।
[4]भविष्यद्भि-र्नरैः कार्यं कथं [5]तन्नाट्यवेश्मनि ।।२।।

पाठसमीक्षा—बडौदा वाले प्रथम सस्करणमे मूल श्लोकमें 'प्रत्यूचु' पाठ छपा था। वह ठीक नही था। अभिनवगुप्तने वृत्तिमें 'मुनय पप्रच्छु' लिखा है। इससे विदित होता है कि 'प्रत्यूचु' के स्थानपर 'पप्रच्छु' पाठ उनको अभिमत है। इसीलिए द्वितीय सस्करणमें उसको बदल कर 'पप्रच्छु' पाठ दिया गया है। हमने भी उसी पाठको यहा दिया है।

रङ्गमण्डपके निर्माण-प्रश्नकी स्मृति—

अभिनव०—देवताओके विषयमे [अर्थात् देवसम्बन्धी] मण्डपकी, क्रिया के विना ही [मानस सङ्कल्पमात्रसे ही] सिद्धि [निष्पत्ति. रचना] हो सकती है इसलिए पहिले [क्रिया-प्रश्न अर्थात्] मण्डपकी रचनाका प्रश्न भूल जानेपर भी [मण्डपकी पूजाका प्रश्न पूछते ही] तुरन्त याद आ गया इस अभिप्रायसे आगे [श्लोकमे रचना-विषयक प्रश्नको भी] दिखलाते हैं—

पाठसमीक्षा—बडौदा वाले दोनो सस्करणोमें 'देवविषये मण्डपस्य क्रिया विना न निष्पत्ति' इस प्रकारका पाठ छपा है। परन्तु वह अशुद्ध प्रतीत होता है। इस अध्यायके प्रथम श्लोक में 'भगवन् श्रोतुमिच्छामो यजन रङ्गसश्रयम्' के द्वारा मुनियो में सबसे पहिले रङ्ग-पूजन विषयक प्रश्न पूछा है। वास्तवमें तो रङ्ग-पूजनके पहिले रङ्ग-निर्माण विषयक प्रश्न पूछना चाहिए था। परन्तु मुनियोने भूलसे पहिले पूजन विषयक प्रश्न पूछ लिया है। इसका अभिनव-गुप्त यह कारण दिखलाते हैं कि आगे पाचवें श्लोकमे 'दिव्याना मानसी सृष्टिर्गृहेषूपवनेषु च' लिख कर भरत मुनि यह प्रतिपादन करेंगे कि देवताओके रङ्गमण्डप आदिकी सिद्ध तो बाह्य प्रयत्न के विना सङ्कल्प मात्रसे ही हो जाती है, उसकी रचनाका प्रश्न ही नही उठता है। इस कारण रचना विषयक प्रश्न पूछनेका ध्यान नही रहा था। किन्तु पूजन विषयक प्रश्न पूछते ही रचना—विषयक प्रश्नकी स्मृति हो आई है इस लिए 'अथवा' इत्यादि दूसरे श्लोकमें पूजन-विषयक पहिले प्रश्नको दबा कर रचना विषयक प्रश्न पूछा गया है यह अभिनवगुप्तका अभिप्राय है। इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए 'क्रिया विना न निष्पत्ति' के स्थानपर 'क्रिया विनैव निष्पत्ति' यह पाठ होना चाहिए। बडौदा वाले सस्करणोमें छपा हुआ क्रिया विना न निष्पत्ति' यह पाठ तो विवक्षित अर्थसे एक-दम विपरीत अर्थको व्यक्त करता है। अत एव वह पाठ अशुद्ध है। उसके स्थानपर हमने जो 'क्रिया विनैव निष्पत्ति' पाठ रखा है वही ग्रन्थकारके अभिप्रायको व्यक्त करने वाला यथार्थ पाठ है।

भरत०—अथवा [रङ्ग-पूजनके प्रश्नको अभी छोडिए, उसके पहिले] उसकी जो [क्रिया. क्रियाए अर्थात्] रचना-पद्धतिया, जो [लक्षण अर्थात् सन्निवेश] आकार एव परिमाण आदि है उनको [पहिले बतलाइए] और [फिर] आगे आने वाले लोगोको नाट्यशालामे पूजन [आदि] कैसे करना चाहिए [इस सबको विस्तार पूर्वक बतलानेकी कृपा करें]। २।

---

१ विना न। २ म इतो हि प्रायेण दर्श्यते। ३ त या क्रिया। इत्य हि प्रायेण दृश्यते।
४. भविष्यद्भि कथ कार्यं पुरुषैर्नाट्यपयोक्तृभि.। ५. च. वै।

अथवेति पूर्वप्रश्नोपमर्दनाय[1]। अत एव पूजनमिति पुनर्वचनम्। 'क्रिया' इति-कर्तव्यता[2]। लक्षणं सन्निवेश-परिमाणादि। अतीतेषूपदेशो व्यर्थ इति भविष्यद्भिरित्युक्तम्। देवानां मनसा सम्पत्ते-र्नरैरिति।

ननु लक्षणं किं कार्यम ? लक्ष्यत इति लक्षणं, सन्निवेश इत्यदोषः। अथवा भाविभिर्यत् कार्यं नाट्यवेश्म तत्र यत् क्रियालक्षणं पूजनं तत् कथमिति सम्बन्धः ॥२॥

पूर्वोक्ते प्रश्नपञ्चके निर्णयं कृत्वैव प्रश्नान्तरं निर्णेयमित्याशङ्कमाना मुनयः पुनराहु 'इहादि.' इति—

भरत०—'इहादि-नाट्ययोगस्य[3] नाट्यमण्डप एव हि[4]।
तस्मात् तस्यैव तावत् त्वं लक्षणं वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

अभिनव०— 'अथवा' यह [पद] पूर्व प्रश्न [अर्थात् पूजा विषयक पहिले पूछे हुए प्रश्न] का निराकरण करनेकेलिए है। [अर्थात् पूजन-विषयक प्रश्न भूलसे पहिले पूछ दिया गया है। वास्तवमें पहिले मण्डप-रचनाका प्रश्न पूछना उचित है उसके बाद पूजन-विषयक प्रश्न आ सकता है]। इसी लिए 'पूजनं' यह दुबारा कहा गया है। [कारिकामें आए हुए] 'क्रिया' इस [शब्द] से [कर्तव्यताया इति, प्रकारः, 'इति-कर्तव्यता' कर्तव्यताके प्रकार अर्थात्] रचना-शैली [का ग्रहण होता है]। 'लक्षण' [पद सन्निवेश अर्थात्] आकार-परिमाण आदि [का बोधक है]। भूतकालके लोगोंको उपदेश देना व्यर्थ है इस लिए 'भविष्यद्भि.' यह कहा है। और देवताओंके [सब कार्य] मनसे [सङ्कल्प-मात्र से] ही सिद्ध हो जानेगे 'नरैः' यह कहा है।

अभिनव०—[प्रश्न—यहां असाधारण धर्म या अनतिव्याप्त्यव्याप्तिदोष धर्मके कथन रूप] 'लक्षण' करनेकी क्या आवश्यकता है ? [उत्तर—यहां लक्षण शब्दसे लक्षण अर्थात् असाधारण धर्मका कथन अभिप्रेत नहीं है अपितु] जो लक्षित होता है [दिखलाई देता है] वह सन्निवेश आकार आदि 'लक्षण' पदसे अभिप्रेत है इसलिए [लक्षण-विषयक प्रश्नमें] कोई दोष नहीं है। अथवा आगे होने वाले लोग जिस नाट्यशालाकी रचना करें उसमें जो 'क्रिया' रूप पूजन है वह कैसे करना चाहिए इस प्रकार [श्लोक के पदोंका] सम्बन्ध करना चाहिए ॥२॥

नाट्य गृहकी रचना विषयक प्रश्न—

अभिनव०—[सामान्य रूपसे भरतमुनि] पहिले पूछे हुए पांचों प्रश्नोंका उत्तर देनेके बाद ही इस [नए प्रश्न] का उत्तर देंगे इस सम्भावनासे [इस रचना-विषयक प्रश्नका पहिले उत्तर पानेकेलिए] मुनि-लोग 'इहादि' आदि [श्लोक] फिर बोले—

भरत०—इस नाट्यप्रयोगका आश्रित स्थान नाट्यमण्डप ही है। इसलिए आपको सबसे पहिले उसका लक्षण [आकार-परिमाण आदि] ही बतलाना उचित है ॥ ३ ॥

---

1. ख पूर्वप्रश्नार्थोपमर्दाय। 2. ख क्रियाः कर्तव्यता।
3. ख इहार्थे। 4. ग. नाट्यवेश्म। 5. ड म न. कोऽस्मिन्नाट्यप्रयोगः।

नाट्यस्य योग 'उत्पत्ति । 'तावत्' इत्यनेन पूर्वप्रश्नितस्यात्याग उक्त । एवकारो लक्षण-शब्दानन्तरम् । इतिकर्तव्यतायास्तदङ्गत्वात्, यजनस्य च तन्निष्पत्यनन्तरत्वात् ॥३॥

भरत०—तेषां तु वचन श्रुत्वा मुनीनां भरतोऽब्रवीत् ।
लक्षणं पूजनं चैव श्रूयतां नाट्यवेश्मनः[2] ॥ ४ ॥

तेषामिति । अन्यथा तु न ब्रूयादेव उक्ताद्धेतो । अनेन श्लोकेन लक्षण-पूजनज्ञान देवानामप्युपयोगि, सङ्कल्पितस्यापि निर्माणस्य ज्ञानापेक्षित्वादित्युक्तम् । अत एवात्र क्रियेति नोक्तम् ॥ ४ ॥

अभिनव०—नाट्यका 'योग' अर्थात् उत्पत्ति । 'तावत्' अर्थात् सबसे पहिले इससे, पहिले पूछे हुए प्रश्नोको छोड़ा नहीं गया है यह सूचित किया है । 'एव' पदको लक्षण-शब्दके बाद समझना चाहिए । रचना-शैली [इतिकर्तव्यता] उस [लक्षण आकार-परिमाण आदि] का ही अङ्ग है और यजनका [सम्पादन] उस [मण्डप] के बन जानेके बाद होता है [इसलिए सबसे पहिले लक्षण पर बल दिया है] ॥ ३ ॥

भरत०—उन मुनियोंकी बातको सुन कर भरत-मुनि बोले कि [अच्छा सबसे पहिले] आप लोग नाट्य-गृहके लक्षण [आकार-परिमाणादि] तथा पूजनको ही सुने । ४ ।

अभिनव०—उनके [बचनको सुन कर भरतमुनि बोले] इस पदसे [यह सूचित होता है कि] अन्यथा [अर्थात् यदि मुनि-लोग रचना-विषयक प्रश्नपर बल न देते तो भरतमुनि] उसको पूर्वोक्त हेतुके कारण [अर्थात् पहिले पूछे हुए प्रश्नोके कारण अथवा पूजनकी अन्तरङ्गताके कारण इस समय] नहीं ही कहते । इस श्लोकसे [यह भी कहा है क्योकि] सङ्कल्पसे सिद्ध होने वाले देवताओके [मण्डपादि वस्तु] के निर्माणके लिए भी लक्षण [अर्थात् आकार-परिमाणादि] और पूजनके ज्ञानकी आवश्यकता है । इसीलिए [केवल लक्षण पूजन को कहा है] क्रियाको [अर्थात् रचना-शैली को] यहां नहीं कहा है ॥४॥

रचना शैलीका ज्ञान मनुष्योंकेलिए ही है—

द्वितीय श्लोकमे क्रिया, लक्षण तथा पूजन इन तीनके विषयमें प्रश्न किया था । चौथे श्लोकमें 'लक्षण पूजन चैव श्रूयता नाट्यवेश्मनः' लिख कर उनमेंसे लक्षण तथा पूजन दोका ही उत्तर देनेका निर्देश किया है । क्रियाको छोड दिया है । वृत्तिकारने उसका यह आशय निकाला था कि लक्षण और पूजनका ज्ञान देवताओंकेलिए भी उपयोगी है । क्रिया' अर्थात् रचना-शैली आदिके ज्ञानकी देवताओको आवश्यकता नही होती है 'क्योकि देवताओकी सृष्टि तो केवल सङ्कल्पमात्रसे हो जाती है । इस लिए केवल लक्षण और पूजनका वर्णन करनेका निर्देश यहा किया है । यह बात कारिकासे पहिले वृत्तिकारने स्वतन्त्र रूपसे लिख दी थी । अब उसी बातको क्रियाको ही क्यो नही कहा है । इस प्रकारका प्रश्न उठा कर आगे मूल श्लोकसे उसका समाधान दिखलाते हुए कहते हैं ।

---

१ उपपत्ति. । २ च नाट्यवेश्मनि ।

ननु किं क्रियैव नोच्यत इत्याह दिव्यानामिति—

भरत०—¹दिव्यानां मानसी सृष्टि-र्गृहेषूपवनेषु च ।
²नराणां यत्नतः कार्या लक्षणाभिहिता क्रिया ॥ ५ ॥

श्रूयतामित्यनुवर्तते । नराणां कार्या क्रिया इतिकर्तव्यता च श्रूयताम् । चकारान्लक्षण-

---

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा तो केवल क्रिया ही क्यों छोड़ दी है [नहीं कही है] इसके [उत्तरके] लिए 'दिव्याना' इत्यादि [श्लोक] कहते हैं—

पाठसमीक्षा—इस अवतरणिका-भागका पाठ बड़ोदा वाले दोनों संस्करणोंमें अशुद्ध तथा अनिश्चित रूपमें छपा है । 'किं क्रियै (या नै)' वोच्यते इस प्रकारका पाठ इन दोनों संस्करणोंमें पाया जाता है । इनके अतिरिक्त पाद-टिप्पणीमें 'क्रियादेवोच्यते' इस प्रकारका पाठान्तर भी दिया गया है । किन्तु ये सभी पाठ अशुद्ध हैं । इस अध्यायके द्वितीय श्लोकमें 'अथवा वा. क्रिया-स्थान लक्षणं यच्च पूजनम्' इस पंक्तिके द्वारा मुनियोंने भरतमुनिसे नाट्यगृहकी १ क्रिया, इतिकर्तव्यता अर्थात् रचना-शैली, २ लक्षण अर्थात् आकार-परिमाणादि और ३ पूजन विधि इन तीनोंके विषयमें प्रश्न किया था । परन्तु इनका उत्तर देनेका उपक्रम करते समय चतुर्थ श्लोकमें भरतमुनिने 'लक्षणं पूजनं चैव श्रूयतां नाट्यवेश्मनः' इस पंक्तिमें केवल लक्षण तथा पूजन दो बातोंका ही विवेचन करनेका निर्देश किया है । 'क्रिया' अर्थात् रचना-विषयक प्रश्नको बिल्कुल छोड़ दिया है । इस लिए यहां स्वाभाविक रूपसे यह प्रश्न उठता है कि भरतमुनिने क्रियाको क्यों छोड़ दिया है । इस प्रश्नका उत्तर वृत्तिकार अभिनवगुप्तने तो द्वितीय कारिकाकी अवतरणिकामें ही अपनेसे दे दिया था । किन्तु कारिकाकार भरतमुनिने अपनी पांचवीं कारिका इसी प्रश्नका उत्तर देनेके लिए लिखी है । उनके मतमें क्रिया प्रश्नको छोड़ देनेका कारण यह है कि देवताओंको रङ्गमण्डपके आकार-परिमाणादि रूप लक्षण तथा पूजन-विधिके ज्ञानकी तो आवश्यकता होती है किन्तु रचना-विधिके ज्ञानकी उनको आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि उनकी अभीष्ट वस्तुओंकी तो केवल संकल्पमात्रसे ही रचना हो जाती है । इस कारण देवताओंके लिए अनुपयुक्त होनेसे क्रिया या रचना-विधि-विषयक निरूपणको छोड़ दिया गया है यह भरतमुनिका अभिप्राय है । इस अभिप्रायको ध्यानमें रखनेपर इस कारिकाकी अवतरणिकामें पूर्व-संस्करणोंमें जो 'किं क्रियैवोच्यते' पाठ छपा है वह अशुद्ध और ग्रन्थकारके अभिप्रायसे एकदम विपरीत होनेसे त्याज्य है । उसके स्थानपर 'किं क्रियैव नोच्यते इत्याह दिव्यानामिति' यही पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है । अतः हमने मूलमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

भरत०—देवताओंकी घरों तथा उपवन आदिके विषयमें मानसी सृष्टि होती है [इसलिए देवताओंके प्रसङ्गमें 'इतिकर्तव्यता' रचना-शैलीका वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है यह अभिप्राय है] । मनुष्योंको शास्त्रमें कही हुई ['लक्षणाभिहिता' शब्दका लक्षण पद 'शास्त्र' है] क्रिया यत्न-पूर्वक करनी होती है । ५ ।

अभिनव०—'श्रूयताम्' इस [पद] की [पिछली कारिकासे] अनुवृत्ति आती है । [मनुष्योंके प्रसङ्गमें] मनुष्योंके द्वारा यत्न-पूर्वक की जाने वाली 'क्रिया' अर्थात्

१. किं क्रियैवोच्यते । ख. क्रियादेवोच्यते । ३. च देवानाम् ।
२. ख. पुस्तके 'यथा भावाभिनिर्वृत्तं सर्वं भवति मानुषम्' इति अनुष्टुप् अधिकं दृश्यते ।

पूजने । शास्त्रेणोक्ता नराणामेव कस्मादित्याह दिव्यानामिति । सृज्यमानत्वेन कर्मणोऽपि [1]विषयत्वम् । यत्र जन्मक्रमनियतप्ररोहकुसुमफलानि बहुविचित्रतरुलतास्थलीसरोवराक्रीड-मयानि उपवनान्यपि मानसानि तत्र गृहे का [2]असम्भावना इति ॥ ५ ॥

इतिकर्तव्यताको भी सुनो । 'चकार' से लक्षण तथा पूजन [का भी ग्रहण हो जाता है उनको भी सुनो । लक्षणाभिहिता अर्थात्] शास्त्रमे कही हुई [क्रिया अर्थात् इतिकर्तव्यता अर्थात् रचना-प्रकार] मनुष्योकेलिए क्यो है [देवताओकेलिए क्यों नहीं है] इस [शङ्काके समाधान] केलिए 'दिव्याना' इत्यादि [श्लोकार्ध] कहा है । [देवताओकी सृष्टि तो केवल सङ्कल्पमात्रसे हो जाती है उनको बनानेकी आवश्यकता नहीं होती है अत उनकेलिए रचना-प्रकार जाननेकी आवश्यकता नहीं है । केवल मनुष्योंको ही उसके ज्ञानकी आवश्यकता है यह अभिप्राय है । 'गृहेषूपवनेषु च' मे जो विषयत्व सूचक सप्तमी विभक्तिका प्रयोग हुआ है उसका समाधान करते हैं कि] सृज्यमान होनेसे कर्म विभक्तिके योग्य [गृहेषु वनेषु पदो] मे भी विषयत्व [अर्थात् सप्तमी विभक्ति होती] है । [देवताओके सम्दन्धमे] जहां जन्म क्रमसे नियत [अर्थात् जिनके जन्मका क्रम नियत है इस प्रकार के, क्रमसे उत्पन्न] अंकुर, फूल और फल तथा नाना प्रकारके वृक्ष लता भूमि सरोवर तथा क्रीडास्थानोसे युक्त उपवन भी [मानस अर्थात्] सङ्कल्पजन्य है वहां [अर्थात् देवताओमे] गृहो [अर्थात् नाट्यगृहो] के विषयमे क्या असम्भावना हो सकती है [अर्थात् वे तो सङ्कल्प-जन्य होते ही हैं] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी बडोदा वाले सस्करणोमें अशुद्ध छपा है । प्रथम सस्करणमे 'कर्मणोऽपि विषयत्वविहीनता' पाठ छपा था । वह ग्रन्थकारके अभिप्रायके एक-दम विपरीत है । मूल श्लोकमें जो 'गृहेपूपवनेपु च' यह सप्तमी विभक्तिका प्रयोग आया है 'इसमें गृह और उपवन सृज्यमान होनेसे कर्म है । उनमें कर्तृकर्मणो कृति २-३-६५ से षष्ठी विभक्ति भी हो सकती है । किन्तु यहाँ वैषयिक आधार मान कर सप्तमी विभक्ति प्रयुक्त की गई है । इस लिए यह विषय-सप्तमी है । इस बातको दिखलानेके लिए ग्रन्थकारने 'सृज्यमानत्वेन कर्मणोऽपि विषयत्वम्' यह पक्ति लिखी है । इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए यहाँ 'विषयत्वम्' यही पाठ होना चाहिए । प्रथम-सस्करणमें छपा हुआ 'विषयत्वविहीनता' तथा द्वितीय सस्करणमे छपा हुआ 'विषयत्ववि (त्वमेव) 'ये दोनो पाठ अशुद्ध है । अत हमसे सशोधित रूपमें 'विषयत्वम्' यही पाठ यहाँ प्रस्तुत किया है ।

इस कारिकाकी वृत्तिमें ग्रन्थकारने 'जन्मक्रमनियत-प्ररोह कुसुम-फलानि' यह जो पक्ति लिखी है इसके लिखते समय कदाचित् कालिदासका निम्नाङ्कित श्लोक उनको स्मरण हो आया था—

उदेति पूर्वं कुसुम तत फल घनोदय प्राक् तदनन्तर पय ।
निमित्त-नैमित्तिकयोरय क्रम तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पद ॥

इससे प्रभावित होकर ही कदाचित् अभिनवगुप्तने यह पक्ति लिखी है ॥ ५ ॥

---

१ ब I विषयत्व विहीनता । ब II विषयत्ववि [त्वमेव] । २ ब सम्भावना ।

भरत०—श्रूयतां तद्यथा [1]यत्र कर्तव्यो नाट्यमण्डपः ।
तस्य [2]वास्तु च पूजा च [3]यथा योज्या प्रयत्नतः ॥६॥

श्रूयतामिति—यदिति यत्नो नराणां यत्नेन कार्य इति। यत्रेति देशकालौ। वास्त्विति गृहभूमिगतं परिमाणमिह मन्तव्यम् ॥६॥

'लक्षणोक्ता' इत्युक्तं, तत्र किं तल्लक्षणमित्याह इह प्रेक्षागृहमिति—

भरत०—इह [4]प्रेक्षागृहं दृष्ट्वा [5]धीमता विश्वकर्मणा ।
त्रिविधः सन्निवेशश्च शास्त्रतः [6]परिकल्पित ॥७॥

भरत०—इसलिए जहाँ और जिस प्रकार से नाट्य-मण्डपकी रचना करनी चाहिए उसको तथा उसकी वास्तु कला [अर्थात् परिमाणादि] और यथा-योग्य पूजादि किस प्रकार करनी चाहिए इन सबको सावधान होकर सुनो ॥६॥

अभिनव०—सुनो [श्रूयताम् यह कारिकाका प्रतीक है]। 'इसलिए' अर्थात् क्योंकि मनुष्योंको यत्न-पूर्वक रचना [नाट्यमण्डपकी] करनी होती है। 'जहाँ' इस [पद] से देश और कालका ग्रहण होता है। 'वास्तु' इस [शब्द] से यहाँ नाट्यगृहकी भूमि-का परिमाण आदि समझना चाहिए ॥६॥

शास्त्रके आधारपर प्रेक्षागृहकी कल्पना—

पिछली पाँचवीं कारिकामें 'तस्मात् यत्नेन कार्या लक्षणान्विता क्रिया' मनुष्योंको नाट्य मण्डपकी शास्त्रोक्त रचना-पद्धतिका अनुसरण यत्न-पूर्वक करना होता है' यह कहा था। इसमें 'लक्षणोक्त क्रिया' का निर्देश किया गया है। लक्षण शब्दकी 'लक्ष्यते इति लक्षणम्' जो दिखलाई देता है वह 'लक्षण' है इस प्रकारकी व्युत्पत्ति करके शास्त्र लक्षणके आकार प्रतिबिंब आदिके लिए भी वृत्तिकारने 'लक्षण' शब्दका प्रयोग माना है। पर यह अर्थ तो 'लक्षणोक्त' शब्दमें सङ्गत नहीं होता है। उसमें तो 'लक्षण' शब्दका 'शास्त्र' अर्थ ही सङ्गत होगा है। 'लक्षणोक्ता क्रिया' अर्थात् शास्त्रोक्त क्रियाका जो उल्लेख पहिले किया गया है उसमें शास्त्र ही कौन प्रमाण है इस बातको स्पष्ट करनेके लिए अगली कारिका लिखी गई है। इसी दृष्टिसे विवृतिकार उस की अवतरणिका करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—'लक्षणोक्त' [क्रिया करनी होती है] यह [पाँचवीं कारिकामें पहिले] कहा गया था। उस [के समर्थन] में वह कौन-सा लक्षण [शास्त्र] है इस [के प्रतिपादन] के लिए 'इह प्रेक्षागृह' इत्यादि [अगली कारिका] कहते हैं—

भरत०—इस [नाट्य-मण्डपके] विषयमें प्रेक्षागृह [की रचना आदि] को [ठीक तरह अर्थात्] विचार करके बुद्धि-सम्पन्न विश्वकर्माने उसके तीन प्रकारके आकार [निर्धारित] और [उन तीनों प्रकारके] सन्निवेशोंकी शास्त्रके अनुसार कल्पना की ॥७॥

---

१. ड म. तत्र। २. ड म वेश्मपूजा च। ३. म यथा योज्या च वास्तुषु।
४. म कार्तव्यलक्षणम्। ५. ड म प्रेक्षागृहाणां। ६. म प्रेक्षागृह दृष्ट्वा।
६. च, ड धीमता। ७. ड परिकीर्तितः।

इह नाट्यमण्डपे । सन्निवेश आकार चशब्दात् [1]परिमाणमपि । विश्वकर्मणा परिकल्पित । किं स्वबुद्ध्या ? न, अपितु [2]दृष्ट्वा' प्रेक्षागृह विचार्य । शक्तश्चासौ विचार इत्याह धीमतेति । [3]विचारेऽपि कथं ज्ञायत इत्याह 'शास्त्रत' । शास्त्र कृतम् । तदप्यपरशास्त्रमूलमिति प्रवाहानादित्वमुक्तम् ॥७॥

अभिनव०—इसमे अर्थात् नाट्य-मण्डपके विषयमे । सन्निवेश अर्थात् आकार और च-शब्दसे [तीन प्रकारका] परिमाण भी । विश्वकर्माने 'परिकल्पित' अर्थात् निश्चित किया । क्या अपनी बुद्धिसे यो ही कल्पना कर ली ? [यह शङ्का होती है । इसका उत्तर देते हैं कि—] नहीं अपितु 'दृष्ट्वा' 'देखकर' अर्थात् प्रेक्षागृहका विचार करके । वह [विश्वकर्मा] इसके विचार करनेमे समर्थ है इसके बोधनकेलिए 'धीमता' यह [विशेषण दिया] है । अच्छा विचार करने पर भी यह कैसे विदित होता है [कि प्रेक्षागृहका तीन ही प्रकारका आकार-परिमाण आदि होता है] इस [शङ्काके निवारण] केलिए 'शास्त्रत.' यह कहा है । [अर्थात् शास्त्र इस विषयका प्रतिपादन करता है । उससे ही इसका ज्ञान होता है । और वह] शास्त्र [नित्य नहीं अपितु कृतक] अनित्य है । [किन्तु] उसमें भी दूसरा शास्त्र प्रमाण है । [इसलिए शास्त्रका अप्रामाण्य नहीं समझना चाहिए] । इस प्रकार शास्त्रकी प्रवाहसे अनादिता सूचित की है ।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी व्याख्यामें 'सन्निवेश च शब्दात् प्रमाणमेतत्' इस प्रकार का पाठ पूर्व-सस्करणोमें छपा था । उसमें 'एतत्' यह पाठ ठीक नही है उसके स्थानपर 'अपि' पाठ होना चाहिए । 'एतत्' पाठ की तो यहाँ कोई सङ्गति नही लगती है । 'अपि'-पाठ माननेसे वाक्यकी आकाक्षा पूर्ण हो जाती है और सङ्गति भी ठीक लग जाती है । इसके अतिरिक्त 'सन्निवेश' वह इतना पद भी ठीक नही प्रतीत होता है । या तो उसके आगे 'आकार.' शब्द दिया जाय । उस दशामें 'सन्निवेश आकार, च-शब्दात् परिमाणमपि' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए । या फिर 'सन्निवेशश्चेति च-शब्दात् परिमाणमपि' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए । इन दोनोंमेंसे भी पहिला अर्थात् 'सन्निवेश आकार, च-शब्दात् परिमाणमपि' यह पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । इसलिए हमने सशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदके पाठमें हमें दो स्थानोपर और भी सशोधन करनेकी आवश्यकता पडी है । इनमेंसे एक सशोधन लुप्त-पाठ-सम्बन्धी है और द्वितीय सशोधन अ-स्थान-पाठ-विषयक सशोधन है । 'किं स्व-बुद्ध्या ? न' अपितु शास्त्रत. प्रेक्षागृह विचार्य' इस प्रकारका पाठ बडौदा वाले दोनो सस्करणोमें पाया जाता है । परन्तु वह अशुद्ध है । उसमें जहाँ 'शास्त्रत.' शब्द दिया गया है उसके स्थानपर 'दृष्ट्वा' पदका प्रयोग होना चाहिए । यो तो 'शास्त्रत प्रेक्षाग्रह विचार्य' इसकी अर्थ सङ्गति ठीक लग सकती है । किन्तु इस व्याख्याको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वृत्ति-ग्रन्थमें 'प्रेक्षागृह विचार्य' यह व्याख्या मूल कारिकाके 'प्रेक्षागृह दृष्ट्वा' इन शब्दोकी ही की जा रही है । इनमें 'प्रेक्षागृह' पद तो व्याख्यामें ज्यो का त्यो आ गया है । मूलके 'दृष्ट्वा' का अर्थ 'विचार्य' किया गया है । इस दृष्टिसे यहाँ 'शास्त्रत' स्थानपर 'दृष्ट्वा' पाठ होना चाहिए ।

---

१ व प्रमाणमेतत् । म प्रमाणहेतुकर्मतत् । २ शास्त्रत ।
३ 'विचारेऽपि' इति अस्यवीय पाठ ।

कोऽसौ त्रिविध इत्याह विकृष्टश्चेति—

भरत०—विकृष्टश्चतुरश्रश्च त्र्यश्रश्चैव तु मण्डपः ।
तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं [1]मध्यं तथावरम् ॥८॥

विभागेन कृष्टो दीर्घो न तु चतसृषु दिक्षु साम्येन । [2]तिस्रोऽश्रयस्त्र्यश्री । तदस्मिन्निति मत्वर्थीयोऽच् ।

पाठमीमांसा—इसी अनुच्छेदकी अगली पंक्तिका पाठ भी पूर्व संस्करणोंमें अशुद्ध छपा है। 'शाश्वत इत्याह । शास्त्र कृतं तदभ्यासात्म्यमूलमिति प्रवाहानादित्वमुक्तम्' इस प्रकारका पाठ बड़ौदा वाले संस्करणोंमें छपा है। किन्तु उसमें 'शाश्वत इत्याह शास्त्र कृत' इस भागकी कोई सङ्गति नहीं लगती है। इसका कारण यह है कि यहाँ कुछ पाठ लुप्त हो गया है। वृत्तिकार अभिनवगुप्त यहाँ मूल कारिकाके 'शास्त्रत.' पदका पद-कृत्य दिखलाना चाहते हैं। इसके पूर्व 'दृष्ट्वा' पदका अर्थ वे 'विचार्य' कर चुके हैं। विश्वकर्माने विचार-पूर्वक नाट्यगृहके तीन प्रकारके आकार-परिमाण आदिका निश्चय किया है यह बात 'प्रेक्षागृह दृष्ट्वा' इन मूल पदोंके द्वारा कही गई है। किन्तु विचार करनेपर भी प्रेक्षागृह का आकार परिमाण आदि तीन ही प्रकारका होना चाहिए यह बात निश्चय पूर्वक कैसे ज्ञात होती है यह शङ्का किसीके मनमें उठे तो उसके समाधानकेलिए कारिकामें 'शास्त्रत' पद रखा गया है। अर्थात् इसका निर्णय शास्त्रसे होता है। अर्थात् शास्त्रके अनुशीलनसे उसीके आधारपर प्रेक्षागृहके तीन प्रकारके आकार-परिमाण आदिका निर्धारण किया जाता है यह ग्रन्थकार अभिनवगुप्तका अभिप्राय है। किन्तु इस स्थल का जो पाठ पूर्व संस्करणोंमें मुद्रित हुआ है उससे यह अर्थ ठीक समझमें नहीं निकलता है। उसमें कुछ पाठ लुप्त हो गया है उसीके कारण यहाँ अर्थकी सङ्गति नहीं लग रही है। यदि लुप्त पाठकी पूर्ति की जा सके तो उसका अर्थ स्पष्ट हो सकता है। ग्रन्थकार के पूर्वोक्त अभिप्रायको ध्यानमें रख कर यहाँ 'विचारेऽपि कथं' इतना पाठ लुप्त प्रतीत होता है। उसको मिला कर इस स्थलका पाठ 'विचारेऽपि कथं शाश्वत इत्याह 'शास्त्रतः' । शास्त्र कृतम् । तदभ्यासात्म्यमूलमिति प्रवाहानादित्वमुक्तम् ।' इस प्रकारका पाठ यहाँ होना चाहिए। इस लिए हमने मूलमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥७॥

तीन प्रकारके प्रेक्षागृह—

अभिनव०—वह तीन प्रकारका [सन्निवेश या आकार] कौन-सा है यह बात 'विकृष्ट.' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—[विकृष्ट अर्थात्] आयताकार, [चतुरश्र अर्थात्] वर्गाकार और [त्र्यश्र अर्थात्] त्रिभुजाकार [तीन प्रकारका] मण्डप [प्रेक्षागृहोंका आकार] होता है। उन [तीनों प्रकारके मण्डपों अर्थात् प्रेक्षागृहों] के ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर तीन प्रकारके परिमाण होते हैं ॥८॥

अभिनव०— विकृष्ट विभागेन कृष्ट अर्थात् दीर्घ लम्बाई चौड़ाई दोनों दिशाओंमें विभागेन अलग-अलग खींचा गया [अर्थात् जिसकी लम्बाई चौड़ाई की अपेक्षा अधिक] हो। चारों ओर बराबर [लम्बाई] न हो। [इस प्रकारके अधिक लम्बाई और कम चौड़ाई वाले अनुपातके क्षेत्र या आकारको आयताकार क्षेत्र कहा जाता है।

---

१. म मध्यं तथा वरम् । ड मध्यमवरम् । च मध्यममवरम् ।
२. म तिस्रोऽश्रा यस्य इति ।

एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनीति केचित् । अन्ये तु प्रत्येक त्रित्वमिति नवैतेऽत्र भेदा इत्याहु । एतदेव युक्तम् । तथा चाह तेषा 'त्रीणि प्रमाणानीति' । हस्तदण्डाश्रय ज्येष्ठादित्व, न तु सन्निवेशाश्रयमिति यावत् ॥८॥

भरत०—प्रमाणमेषाँ [1]निर्दिष्टं हस्त-दण्डसमाश्रयम् ।
[2]शत चाष्टौ चतुःषष्टि-र्हस्ता द्वात्रिंशदेव च[3] ॥ ९ ॥

'शत [4]चाष्टौ चतुषष्टि-र्द्वात्रिशच्चेति निश्चयात्' इति केचित् पठन्ति । तेषा [5]चापि हस्तदण्डसमाश्रयत्व [6]वाच्यम् भवति । एतच्च सर्व सम्भावनामात्रेणोच्यते [7]नानुवादकतया, न त्वियन्तो भेदा उपयोगिन । एव चाष्टादश भेदास्तावच्छास्त्रे दृष्टा ।

उसे कारिकामे 'विकृष्ट' पदसे कहा गया है । इसके विपरीत जिसकी चारो ओरकी भुजाए समान लम्बाई की हो उसको वर्गाकार-क्षेत्र कहा जाता है उसीको कारिकामे 'चतुरस्र' पद से कहा है । तीन अश्री अर्थात् कोण 'त्र्यश्री' शब्दका अर्थ है वे जिसमे हो वह [त्र्यश्र या त्र्यस्र त्रिकोण क्षेत्र कहलाता है] इस अर्थमे मत्वर्थीय अच्-प्रत्यय [और ईकारका लोप होकर 'त्र्यश्र' पद बनता] है ।

अभिनव०—ये [विकृष्टादि] ही ज्येष्ठ आदि तीन है यह किन्ही का मत है । दूसरे लोग इनमे से प्रत्येकको तीन-तीन प्रकारका मानते हैं । इस प्रकार नौ भेद होते हैं । यही मत उचित भी है । इसीलिए 'उनके तीन प्रमाण' यह [बहुवचन] कहा है । इसका अभिप्राय यह है कि हस्त और दण्ड परिमाणोके अनुसार [मण्डपो का] ज्येष्ठ [मध्यम कनिष्ठ] आदि भाव होता है [विकृष्ट, चतुरश्र आदि] आकारके आधारपर नही ॥८॥

ज्येष्ठ आदि प्रेक्षाग्रहोका परिणाम—

भरत०—इन [विकृष्ट आदि तीनो प्रकारके मण्डपो] का परिमाण हाथ तथा दण्ड [ये दोनो मापकी इकाइया है । एक दण्ड चार हाथके बाराबर होता है] के आधारपर निश्चित किया गया है । एक सौ आठ अथवा चौंसठ अथवा बत्तीस हाथ इन [की एक भुजा] का परिमाण होता है ।९।

अभिनव०—कोई लोग [इस श्लोकके उत्तरार्द्ध भागको] 'शतं चाष्टौ चतुःषष्टि-र्द्वात्रिशच्चेति निश्चयात्' इस प्रकार पढते है । उन [दूसरा पाठ मानने वालो] को भी हस्त-दण्डसमाश्रयत्वको कहना ही पडेगा । यह सब [भेदोकी सख्या आदि] सम्भावना मात्रसे कहा जा रहा है । अनुवाद रूपमे नही अर्थात् इतने सब भेद उपयोगी नही है । इस प्रकार शास्त्रमे [नाट्य-मण्डपके] १८ भेद पाए जाते है । [अर्थात् विकृष्ट आदि तीन, फिर उन तीनोकी १०८ हाथ, ६४ तथा ३२ हाथकी लम्बाईकी दृष्टिसे तीन-तीन भेद होकर ३×३=९ भेद हुए । ये नौ भेद हाथ और दण्ड के भेदसे दो-दो प्रकारके होकर ९×२=१८ भेद बन जाते हैं] ।

---

१ तेणामिति प्रमाण । २ न व विज्ञेयम । ३ न व शत साष्टम् ।
४ न म द्वात्रिशच्चेति निश्चयात् । निश्चित । ङ छ द्वात्रिंशदिति निश्चय ।
५. म साष्ट शतम् । ६ चास्ति । ७ वाचक । ८. म अनुवादकतया ।

ते 'चाद्यत्वे यद्यप्यनुपयोगिनस्तथापि च सम्प्रदायाविच्छेदार्थं निर्दिष्टाः। केषाञ्चित् कदाचिदुपयोगो भविष्यतीति। यथोक्तम्—'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्' इति ॥८॥

उद 'त्विहोपयोगीनि दर्शयति—अष्टाधिकं शतमित्यादि—

भरत०—अष्टाधिकं शतं ज्येष्ठं चतुःषष्टिस्तु मध्यमम्।
फनीयस्तु तथा वेश्म हस्ता द्वात्रिंशदिष्यते ॥ १० ॥

'इष्यते' 'इत्यद्यत्वेऽपि उत्साशय. ॥१०॥

अभिनव०—वे यद्यपि आज-कल काम मे नहीं आते हैं फिर भी सम्प्रदायकी रक्षाकेलिए कहे गए हैं। कदाचित् कभी किन्हींका उपयोग होजाय इस दृष्टिसे। जैसा कि [महाभाष्यकारने] कहा है 'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्' [अर्थात् अप्रयुक्त शब्दोंका उपदेश दीर्घसत्रके समान किया गया है]।

'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्' का अभिप्राय यह है। बारह वर्षमें पूर्ण होने वाले यज्ञोंको 'सत्र' नामसे कहा जाता है। परन्तु ऐसे यज्ञोंका भी ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें वर्णन मिलता है जो सौ वर्ष या सहस्र वर्षोंमें पूर्ण होते हैं। उन्हींकेलिए यहाँ 'दीर्घसत्र' शब्दका प्रयोग हुआ है। व्यावहारिक दृष्टिसे आजसे दो हज़ार वर्ष पूर्व महाभाष्यकार पतञ्जलिके युगमें भी इस प्रकारके बड़े यज्ञोंका कोई उपयोग नहीं था। क्योंकि इतने लम्बे [illegible] समय भी कोई नहीं करता था। फिर भी उनका वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थोंमें मिलता था। उसके दो ही प्रयोजन हो सकते हैं एक तो यह कि इस प्रकारके 'दीर्घसत्र' यदि कभी होते थे इसका ज्ञान लोगोंको बना रहे और उनका सम्प्रदाय अथवा परम्परा बिल्कुल समाप्त न हो जावे। उनके प्रतिपादनका दूसरा प्रयोजन यह था कि शायद आगे कभी कोई इस प्रकारके यज्ञोंका करने वाला निकल आवे। इस 'दीर्घसत्र' के उदाहरण द्वारा महाभाष्यकारने व्याकरण-शास्त्रमें अप्रयुक्त शब्दोंकी सिद्धि प्रक्रियाके प्रतिपादनकेलिए आदेशका समर्थन किया है। उनका भाव यह है कि जो शब्द आज प्रयुक्त नहीं होते हैं उनका भी प्रयोग किसी समयमें होता था इसकेलिए, या सम्भव है कि आगे फिर कभी उनका प्रयोग होने लगे इस दृष्टिसे 'दीर्घसत्रों' के समान उनका प्रतिपादन किया जाता है। इसी उदाहरणको यहाँ अभिनवगुप्तने नाट्य मण्डपके भेदोंके विषयमें लागू किया है। जो मण्डप आज उपयोगी नहीं हैं वे भी कभी उपयोगी रहे थे या आगे कभी उनका उपयोग हो सकता है इसलिए उनकी परम्पराकी रक्षाकेलिए उनका निर्देश यहाँ किया गया यह उनका भाव है।

मण्डपोंका उपयोगी परिमाण—

अभिनव०—ये [आगे कहे जाने वाले मण्डपोंके भेद] जो आजकल उपयोगी हैं इस बातको 'अष्टाधिकं शतं' इत्यादि [अगले श्लोक] से दिखलाते हैं—

भरत०—एक सौ आठ [हाथ की एक भुजा] का ज्येष्ठ, चौंसठ [हाथ] का मध्यम और बत्तीस हाथ का [नाट्यमण्डप] कनिष्ठ समझा जाता है। १०।

अभिनव०—'इष्यते' इस [पद] से आज भी समझा जाता है यह अभिप्राय है ॥ १० ॥

---

१. म. भ. इदानीमुपयोगिनो [illegible]। २. [illegible]। ३. [illegible] इत्यादयोऽपि। ४. [illegible]।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी वृत्तिमें 'इष्यत इति अन्यत्वेऽपीत्याशयः' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोमें छपा था। परन्तु वह अशुद्ध है। उसमें 'अन्यत्वेऽपि' के स्थानपर 'अद्यत्वेऽपि' पाठ होना चाहिए। अन्यत्वेऽपि' इस पाठ की यहा कोई सङ्गति नही लगती है। 'अद्यत्वेऽपि' पाठकी सङ्गति ठीक लग जाती है। इसलिए हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

प्रेक्षागृहोंके भेदोपभेद—

द्वितीय अध्यायके ८, ९ तथा १० इन तीन श्लोकोमें प्रेक्षागृहके भेदोका वर्णन किया गया है। ये भेद एक आकार और दूसरे परिमाण इन दो आधारोपर किए गए हैं। आकारकी दृष्टिसे विकृष्ट अर्थात् आयताकार, चतुरस्र अर्थात् वर्गाकार और त्र्यस्र अर्थात् त्रिभुजाकार इन तीन प्रकारके प्रेक्षागृहों या नाटच-मण्डपोकी रचना हो सकती है। परिमाणकी दृष्टिसे १०८ हाथ लम्बा, ६४ हाथ लम्बा और ३२ हाथ लम्बा ये तीन प्रकारके मण्डप माने गए हैं। इस प्रकार विकृष्ट आदि तीनो आकार वाले प्रेक्षागृहोके परिमाणकी दृष्टिसे १०८, ६४, ३२ हाथकी लम्बाईवाले तीन-तीन भेद होकर नौ भेद बन जाते हैं। मण्डपोकी लम्बाई या परिमाणकी माप 'हाथ' और 'दण्ड' दो आधारो या दो साधनोके द्वारा की जा सकती है। इसलिए पूर्वोक्त नौ प्रकारके मण्डपोमें से प्रत्येकके हस्ताश्रित और दण्डाश्रित दो-दो भेद होकर प्रेक्षागृह या नाटच-मण्डपके कुल अठारह भेद हो जाते हैं। इन्ही अठारह भेदोकी गणना ८, ९ तथा १० इन तीन श्लोकोमें दिखलाई गई है। इसी वातको 'एव चाष्टादश भेदास्तावच्छास्त्रे दृष्टा' लिखकर अभिनवगुप्तने भी सम्पुष्ट किया है।

प्रेक्षागृहोकी ज्येष्ठता आदिका आधार—

इन्ही पूर्वोक्त तीन श्लोकोमें उपयोगिताकी दृष्टिसे प्रेक्षागृहोके ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर तीन प्रकारके भेद किए गए हैं। इस ज्येष्ठता आदिके निर्णयके भी दो आधार बन सकते हैं एक आकार और दूसरा परिमाण। आकारके आधारपर यदि ज्येष्ठता आदिका निर्णय किया जाय तो विकृष्टको ज्येष्ठ, चतुरस्रको मध्यम, तथा त्र्यस्रको अवर श्रेणीका प्रेक्षागृह कहा जावेगा। और यदि परिमाणके आधारपर इनका विभाजन किया जाय तो १०८ हाथ वाला मण्डप ज्येष्ठ, ६४ हाथ वाला मध्यम और ३२ हाथ वाला अवर श्रेणीका मण्डप कहा जावेगा। अभिनवगुप्तके पूर्ववर्ती कुछ टीकाकार आकारके आधारपर ही ज्येष्ठता आदिका निर्णय करते थे। परन्तु अभिनवगुप्त आकारके आधारपर नही अपितु परिमाणके आधारपर ज्येष्ठता कनिष्ठताका निर्णय करते हैं। जो लोग आकारके आधारपर ही ज्येष्ठता आदि मानते हैं उनके मतमें प्रेक्षागृहोके केवल तीन ही भेद होते हैं। उनको विकृष्ट चतुरस्र और त्र्यस्र नामसे भी कहा जा सकता है और उन्हीको ज्येष्ठ मध्यम तथा अवर रूपसे भी कहा जा सकता है। किन्तु जो आकारके वजाय परिमाणके आधारपर ज्येष्ठता आदिका निर्णय मानते हैं उनके मतमें विकृष्ट आदि प्रत्येक आकार वाले प्रेक्षागृहके तीन-तीन भेद होकर नौ भेद, और उनमेंसे प्रत्येकके हस्ताश्रित तथा दण्डाश्रित दो-दो भेद होकर कुल अठारह प्रकारके प्रेक्षागृहोके भेद बन जाते हैं। अभिनवगुप्तने ज्येष्ठत्वादिके निर्णायक इन दोनो आधारोका निर्देश 'एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनिति केचित्। अन्ये तु प्रत्येक त्रित्वमिति नवैतेऽत्र भेदा इत्याहु' लिखकर किया है। स्वय अभिनवगुप्त परिमाणके आधारपर ही ज्येष्ठत्वादिको मानते हैं इस वातको उन्होने 'हस्तदण्डाश्रय ज्येष्ठादित्व, न तु सन्निवेशाश्रयमिति यावत्' लिखकर असन्दिग्ध रूपसे निर्दिष्ट कर दिया है।

हस्त परिमाणसे नौ प्रकारके मण्डप—

पूर्वोक्त विवरणके अनुसार विकृष्ट आदि आकाराश्रित तीनों भेदोंके हाथोंके परिमाणके आधारपर तीन-तीन भेद होकर प्रेक्षागृहोंके नौ भेद बन जाते हैं। इनमेंसे प्रत्येक आकारके परिमाणाश्रित तीनों भेद क्रमशः ज्येष्ठ मध्यम तथा अवर कहलाते हैं। अगले श्लोकोंमें यह बतलाया जावेगा कि इनमेंसे ज्येष्ठ मण्डप देवताओंकेलिए मध्यम मण्डप राजाओंकेलिए और अवर मण्डप अन्य साधारण-जनोंकेलिए उपयोगी होता है। इन ८-११ तकके चार श्लोकोंके आधारपर हस्ताश्रित इन नौ प्रकारके मण्डपोंका विवरण निम्न रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है—

आकार	प्रकार	परिमाण		उपयोग
श्लोक ८ में वर्णित	श्लोक ८ में वर्णित	श्लोक ९-१० में वर्णित		श्लोक ११ में वर्णित
१ विकृष्ट	१ ज्येष्ठ	१०८ × ६४ हाथ		देवार्थं
विकृष्ट	२ मध्यम	६४ × ३२ हाथ		नृपार्थं
विकृष्ट	३ अवर	३२ × १६ हाथ		लोकार्थं
२ चतुरस्र	४ ज्येष्ठ	१०८ × १०८ हाथ		देवार्थं
चतुरस्र	५ मध्यम	६४ × ६४ हाथ		नृपार्थं
चतुरस्र	६ अवर	३२ × ३२ हाथ		लोकार्थं
३ त्र्यस्र	७ ज्येष्ठ	१०८ हाथ	समत्रिबाहु	देवार्थं
त्र्यस्र	८ मध्यम	६४ हाथ	समत्रिबाहु	नृपार्थं
त्र्यस्र	९ अवर	३२ हाथ	समत्रिबाहु	लोकार्थं

इस विवरणमें एक असङ्गति—

यह जो नौ प्रकारके प्रेक्षागृहोंके परिमाणका विवरण पूर्वोक्त चार श्लोकोंके आधारपर प्रस्तुत किया गया है यह स्थूल दृष्टिसे देखनेपर ठीक है। किन्तु सूक्ष्म-दृष्टिसे जब हम इसपर विचार करते हैं तो उसमें एक असङ्गति-सी प्रतीत होती है। यह असङ्गति मुख्यतः [illegible]' [२-२१] इस मध्यम-मण्डपके विधानसे स्पष्ट उपस्थित होती है। आगे चल कर इसी अध्यायमें श्लोक नं० ८६ से लेकर १०१ तक चतुरस्र मण्डपके निर्माणका वर्णन किया गया है। उसमें '[illegible] द्वात्रिंशदेव तु' लिख कर [illegible] चतुरस्र मण्डपका परिमाण चारों ओर ३२ हाथका बताया है। ऊपर दिए हुए चित्रमें ३२ × ३२ के परिमाणका चतुरस्र मण्डप [illegible] है यह चतुरस्र [illegible] अवर मण्डप है। इसके पूर्व १७ वें श्लोकसे लेकर ८५ वें श्लोक तक विकृष्ट मण्डपके निर्माणका विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। [illegible] परिमाण ६४×३२ हाथका बतलाया गया है। ऊपर दिए हुए चित्रमें ६४ × ३२ [illegible] विकृष्ट मण्डप [illegible] मध्यम मण्डप बनता है। और मध्यम-मण्डपके विधानसे [illegible] अनुकूल बैठता है। इसी प्रकार चतुरस्र [illegible] भी मध्यम [illegible] विधान [illegible] किन्तु [illegible] क्योंकि चतुरस्र ३२ × ३२ हाथका चतुरस्र मण्डप [illegible] बनता है मध्यम नहीं। यह एक असङ्गति इस विवरणमें प्रतीत होती है।

इस असङ्गतिका समाधान—

आधुनिक विद्वानोमें डाक्टर मनकद और प्रो० सुव्वारावने इस असङ्गतिका समाधान करनेका यत्न किया है। डा० मनकद ने कलकत्तासे प्रकाशित होने वाले 'इडयन हिस्टारिकल क्वार्टरली' पत्रिकाके सन १९३२ के द्वितीय अङ्कमें 'हिन्दू थियेटर' शीर्षकसे एक लेख लिखा था। उसमें इस विषयपर विचार करते हुए उन्होने इस असङ्गतिका यह समाधान दिखलाया था कि ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर तीन प्रकारके परिमाण हैं। जो क्रमश १०८ हाथ ६४ हाथ और ३२ हाथ से प्रारम्भ होते हैं। और विकृष्ट आदि जो तीन प्रकारके मण्डप माने गए हैं उनमेंसे विकृष्ट मण्डप ज्येष्ठ मण्डप है अतः वह १०८ हाथसे प्रारम्भ होता है। १०८×६४ हाथ विकृष्ट-मण्डपका सबसे बडा ज्येष्ठ आकार है। ६४×३२ विकृष्ट-मण्डपका मध्यम परिमाण है। इसी प्रकार जब हम चतुरस्र-मण्डपोके विषयमें विचार करते हैं तो चतुरस्र मण्डप मध्यम श्रेणीका मण्डप ठहरता है। मध्यम-मण्डप ६४ हाथसे प्रारम्भ होता है। अत ६४×६४ हाथका मण्डप चतुरस्र श्रेणीका सबसे बडा ज्येष्ठ मण्डप बना। और ३२×३२ हाथका चतुरस्र मण्डप चतुरस्र श्रेणीका मध्यम मण्डप बना। इस प्रकार नाटचशास्त्रमें जो ३२×३२ हाथके चतुरस्र मण्डपका विवरण दिया गया है वह चतुरस्र वर्गके मध्यम मण्डपका ही विवरण है। यह डा० मनकदके समाधानका साराश है।

दूसरा समाधान—

इस असङ्गतिके विषयमें दूसरा समाधान प्रो० सुव्वारावने प्रस्तुत किया है। प्रो० सुव्वाराव बडोदा विश्वविद्यालयके फैकल्टी आफ टैक्नालोजी एण्ड इजीनियरिंग के डीन है। बडोदासे प्रकाशित नाटचशास्त्रके द्वितीय सस्करणके अन्तमें उन्होने नाटचशास्त्रके द्वितीय अध्यायके आधारपर नाटच-मण्डपका विवरण प्रस्तुत करते हुए एक लेख दिया है। उसमें उन्होने भी इस स्थितिको स्वीकार किया है कि विकृष्ट आकारका मण्डप ज्येष्ठ, चतुरस्र आकारका मण्डप मध्यम और त्र्यस्र आकारका मण्डप अवर मण्डप कहलाता है। और उनका आरम्भ क्रमश १०८ हाथ ६४ हाथ तथा ३२ हाथसे होता है। यह दृष्टिकोण डा० मनकद वाले दृष्टिकोणसे मिलता-जुलता है और उसके अनुसार ३२×३२ हाथका चतुरस्र मण्डप उस श्रेणीका मध्यम मण्डप ही ठहरता है।

पर इस समाधानके अतिरिक्त उन्होने एक बात और भी लिखी है और वह यह है कि ऊपर जो नौ प्रकारके मण्डपोकी सूची दी गई है वे सब मण्डप काममें नही आते हैं। उनमेंसे केवल तीन ही मण्डप कामके योग्य निकलते हैं। और उन तीन मण्डपोमेसे चतुरस्र वर्गका केवल ३२×३२ हाथका ही मण्डप कामके योग्य निकलता है इसलिए भरतमुनिने उसीका विवरण दिया है। चतुरस्र-वर्गके शेष दो मण्डप उनकी दृष्टिमे अव्यावहारिक हैं। इसका कारण यह है कि १०८×१०८ हाथ वाला चतुरस्र मण्डप यदि बनाया जाय तो वह विकृष्ट आकारके सबसे बडे १०८×६४ हाथ वाले ज्येष्ठ मण्डपसे भी दुगना हो जाता है। विकृष्ट आकार ज्येष्ठ आकार है, चतुरस्र आकार मध्यम आकार है। इसलिए मध्यम श्रेणीके चतुरस्र मण्डपोमे १०८×१०८ हाथ वाला सबसे बडा मण्डप अव्यावहारिक है। इसी प्रकार ६४×६४ हाथका चतुरस्र मण्डप भी ६४×३२ हाथ वाले विकृष्ट मध्यम मण्डपकी अपेक्षा दुगना हो जाता है। इसलिए वह भी अव्यावहारिक है। ऐसी दशामें चतुरस्र वर्गमें केवल ३२×३२ हाथ वाला एक ही मण्डप शेष रह जाता है उसीका वर्णन भरतमुनिने किया है। और वह जैसाकि पहिले कहा जा चुका है चतुरस्र मण्डप मध्यम

मण्डप होता है। मध्यम मण्डपका प्रारम्भ ६४ हाथसे होता है इसलिए ६४×६४ हाथ चतुरस्र-वर्गका ज्येष्ठ, और ३२×३२ हाथ चतुरस्र वर्गका मध्यम परिमाण है। इसलिए भरतमुनिने जो ३२×३२ हाथ के चतुरस्र मण्डपका विवरण दिया है वह चतुरस्र मध्यम मण्डपका ही विवरण है यह प्रो० सुब्बारावके विवेचनका आशय है।

इन दोनों पक्षोंकी त्रुटि—

परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो ये दोनों ही पक्ष त्रुटिपूर्ण और अभिनवगुप्तके सिद्धान्तके विपरीत हैं। सबसे पहिली त्रुटि तो जो इन दोनों ही पक्षोंमें पाई जाती है वह है कि ये दोनों ही पक्ष ज्येष्ठत्व आदिकी व्यवस्था आकारके आधारपर मान कर चल रहे हैं। विकृष्ट आकारका मण्डप ज्येष्ठ है, चतुरस्र आकारका मण्डप मध्यम है और त्र्यस्र आकारका मण्डप अवर है यह सिद्धान्त इन दोनों ही पक्षोंने स्वीकार किया हुआ है। पर यह सिद्धान्त अभिनवगुप्तके सिद्धान्तके विपरीत है। अभिनवगुप्त अभी लिख चुके हैं कि 'हस्तसंख्यात एव ज्येष्ठादित्वं न तु सन्निवेशादिति यावत्।' इस पङ्क्तिके रहते विकृष्ट चतुरस्र त्र्यस्र आदि सन्निवेश या आकारके आधारपर ज्येष्ठत्व आदिकी कल्पना नहीं की जा सकती है। इसलिए डा० मनकड और प्रो० सुब्बारावके पूर्वोक्त सिद्धान्तोंका जो मूल आधार है वही समाप्त हो जाता है। तब 'छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा' की प्रसिद्ध लोकोक्तिके अनुसार उनकी कल्पनाका सारा भवन ही विध्वस्त हो जाता है।

डा० मनकड और प्रो० सुब्बाराव इन दोनों विद्वानोंने जो आकारके आधारपर विकृष्टको ज्येष्ठ, चतुरस्रको मध्यम तथा त्र्यस्रको अवर मण्डप माना है उसका आधार उन्होंने नाट्यशास्त्रके निम्न श्लोकको जो कि इस द्वितीय अध्यायके ११वें श्लोकके बाद पाया है दिखलाया या बताया है—

कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं चतुरस्रं तु मध्यमम् ।
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाट्यवेदप्रयोक्तृभिः ॥

इस श्लोकमें आकारके आधारपर ज्येष्ठता आदिका वर्णन किया गया है किन्तु यह श्लोक प्रक्षिप्त है। अभिनवगुप्तने इसके ऊपर अपनी व्याख्या नहीं लिखी है। इसके विपरीत उन्होंने आकाराश्रित ज्येष्ठता आदि माननेके सिद्धान्तका खण्डन भी किया है। पूर्व-सम्पादकोंने भी इस श्लोकको ११वें श्लोकके बाद कोष्ठमें बन्द करके दिखाया गया है जिससे उसका प्रक्षिप्त होना सूचित होता है। और यदि दुर्जनतोष न्यायसे इसको ठीक भी मान लिया जाय तो फिर भी प्रो० सुब्बारावके नौ भेद भी न रह केवल तीन ही भेद रह जाते हैं। क्योंकि विकृष्ट मण्डपका ही दूसरा नाम ज्येष्ठ मण्डप होगा। इसी प्रकार मध्यम मण्डप चतुरस्रका और अवर मण्डप त्र्यस्रका नामान्तरमात्र होगा। इसलिए यह ठीक नहीं है।

इन दोनों पक्षोंकी दूसरी त्रुटि यह है कि वे दोनों यह मान कर चल रहे हैं कि ज्येष्ठ मण्डपका प्रारम्भ १०८ हाथ से, मध्यम मण्डपका प्रारम्भ ६४ हाथसे और अवर मण्डपका प्रारम्भ ३२ हाथसे होता है। अर्थात् इन व्याख्याकारोंने पूर्वोक्त आठवें श्लोकमें जो परिमाण दिया गया है वह सर्व ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर मण्डपोंका परिमाण नहीं है किन्तु केवल उनके प्रारम्भका यह परिमाण है। यह सिद्धान्त अयुक्त है। क्योंकि यह भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनोंके मतोंके विपरीत है। यदि इस सिद्धान्तको मान लिया जाय तो १०८ हाथसे प्रारम्भ [illegible] मण्डपोंके ६४×६४, ३२×३२ तथा १६×१६ के तीन परिमाण बनते। किन्तु भरतमुनि ने तो ३२ हाथसे कमका कोई परिमाण बताया ही नहीं है। [illegible] ३२ हाथ [illegible] होने चाहिए। तब १६×१६ हाथका [illegible] मण्डप [illegible] है [illegible] अयुक्त है उनके विपरीत होनेसे [illegible] है।

डा० मनकद और प्रो० सुब्बारावके इस सिद्धान्तके अनुसार त्र्यस्र मण्डप अवर है इसलिए उसका प्रारम्भ ३२ हाथसे होगा और उसके अगले दो भेद १६ हाथ तथा ८ हाथ के बनेंगे। ये दोनो भेद भी ३२ हाथसे कम होने के कारण भरतमुनिके लेखके विपरीत और असङ्गत है। अत इन दोनों महानुभावोने जो १०८ हाथ, ६४ हाथ और ३२ हाथको ज्येष्ठ आदि परिमाण वाले विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र मण्डपोके परिमाणोकी प्रारम्भिक सीमा माना है वह अनुचित है। वास्तवमें भरतमुनिके मतानुसार ये परिमाण ज्येष्ठता आदिके स्वरूपाधायक परिमाण हैं। विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र तीनो आकारोके मण्डपोमें ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर तीन-तीन भेद होते हैं। इस प्रकार नौ तरहके मण्डप बनते हैं। उनमेसे सभी वर्गोंमें ज्येष्ठकी एक भुजाका परिमाण १०८ हाथ, मध्यमकी एक भुजाका परिमाण ६४ हाथ और अवरकी एक भुजाका परिमाण ३२ हाथ अवश्य होता है। इसलिए भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त दोनोके मतानुसार नौ प्रकारके मण्डपोके परिमाण आदिकी व्यवस्था उसी प्रकार समझनी चाहिए जिस प्रकार पूर्व प्रस्तुत सूचीमें दी गई है।

यह समस्या क्यो आई—

डा० मनकदने और प्रो० सुब्बारावने पूर्वोक्त नौ प्रकारके मण्डपोके विवरणमे असङ्गति की आशङ्का उठा कर उसका जो यह समाधान प्रस्तुत किया है उसके मूल कारणकी यदि मीमासा की जाय तो उनका यह सारा विवेचन केवल एक भ्रान्त धारणाके ऊपर आधारित प्रतीत होता है। भरतमुनिने जो विकृष्ट आदि तीन आकारके प्रेक्षागृहोका वर्णन किया है उनकी रचनाका भी कुछ विस्तारके साथ वर्णन इस अध्यायमें पाया जाता है। १७वें श्लोकसे लेकर ८५वे श्लोक तक विकृष्ट का, ८६ से लेकर १०१ तक चतुरस्र का और १०२ से लेकर १०५ श्लोक तक त्र्यस्र मण्डपका रचना-प्रकार विशेष रूपसे दिखलाया गया है। वैसे इन तीनो आकारके मण्डपोके ज्येष्ठ, मध्यम और अवर रूप तीन-तीन भेद होते हैं किन्तु यहां उनके केवल एक-एक प्रकारका ही रचनाप्रकार दिखलाया गया है। विकृष्ट मण्डपमें ६४×३२ हाथ वाले मण्डपका रचना-प्रकार दिखलाया गया है। यह विकृष्ट श्रेणीका मध्यम मण्डप है 'प्रेक्षागृहाणा सर्वेपा तस्मान्मध्यममिष्यते' [ना० शा० २-२१] इस श्लोकके अनुसार मध्यम मण्डप सबसे अच्छा समझा जाता है इसीलिए विकृष्ट प्रकारके मध्यम मण्डपकी रचनाविधिका विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। इसी प्रकार चतुरस्र मण्डपके भी एक भेदकी रचनाविधिका विस्तार-पूर्वक वर्णन ८६ से लेकर १०१ श्लोक तक किया गया है। भरतमुनिने इसका परिमाण ३२×३२ हाथका दिया है। विकृष्ट मण्डपके समान चतुरस्र श्रेणीमें भी मध्यम मण्डपको उत्तम मान कर उसका ही विशेष रूपसे वर्णन यहाँ किया गया है यह इन दोनो विद्वानोकी धारणा है। पूर्वोक्त सूचीके अनुसार ३२×३२ हाथका मण्डप चतुरस्र श्रेणीका मध्यम नही अवर मण्डप होता है। किन्तु मध्यम मण्डपकी प्रशसाके आधारपर यह ३२×३२ हाथ वाला चतुरस्र मण्डप भी मध्यम मण्डप ही होना चाहिए इस धारणाके वशीभूत होकर इन दोनो विद्वानोने इस ३२×३२ हाथ वाले भेदको मध्यम मण्डप बनानेकी धुनमें यह सारी क्लिष्ट कल्पना की है। यही इस समस्याके उत्पन्न होनेका मूल कारण है। परन्तु अपनी इस क्लिष्ट-कल्पना द्वारा उन्होने इस समस्याका जो हल निकालनेका यत्न किया है वह ठीक नही बन पडा है यह बात हम अभी पिछले अनुच्छेदोमें दिखला चुके हैं।

समस्याका वास्तविक समाधान—

यह समस्या इसलिए उत्पन्न हुई थी कि डा० मनकद और प्रो० सुब्बाराव ३२×३२ हाथ वाले चतुरस्र मण्डपको इस वर्गका मध्यम मण्डप मान कर चल रहे हैं। पर वास्तव में वह

चतुरस्र वर्गका मध्यम नहीं अवर-मण्डप है। यदि इस बातको समझ लिया जाय तो यह जो कुछ शङ्का-समाधान और विवेचन इन दोनों विद्वानोंने किया है वह सब व्यर्थ हो जाता है। उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती है।

स्पष्ट रूपसे जब ३२×३२ हाथ वाला मण्डप चतुरस्र वर्गका अवर-मण्डप है तो फिर ये दोनों विद्वान् उसको मध्यम-मण्डप सिद्ध करनेका यत्न क्यों कर रहे हैं यह शङ्का उपस्थित हो सकती है। पर इसका कारण समझना कठिन नहीं है। इन दोनों विद्वानोंके सामने इसके दो कारण हैं। उनमें मुख्य कारण तो यह है कि सभी प्रकारके मण्डपोंमें मध्यम मण्डपकी प्रशंसा की गई है इसलिए यहाँ जिस चतुरस्र मण्डपका भरतमुनि इतने विस्तारके साथ वर्णन कर रहे हैं, वह प्रशंसित मध्यम मण्डप ही होना चाहिए। उनकी इस धारणाकी पुष्टि दूसरे इस कारणसे भी होती है कि विकृष्ट आकार वाले मण्डप में ६४×३२ हाथ वाले जिस मण्डपका यहाँ विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है वह उस वर्गका मध्यम मण्डप ही है। इसीके उदाहरणसे चतुरस्र वर्गका यह ३२×३२ हाथ वाला मण्डप भी मध्यम मण्डप ही होना चाहिए। और यदि यह मध्यम मण्डप नहीं है तो फिर जो मध्यम मण्डप हो उसका ही वर्णन यहाँ होना चाहिए था। उसको छोड़ कर अवर मण्डपका वर्णन क्यों किया गया है इसका कोई कारण उनकी समझमें नहीं आता। इसीसे उन्होंने क्लिष्ट-कल्पना द्वारा इसको ही मध्यम मण्डप सिद्ध करनेका यत्न किया है।

किन्तु उनका यह सारा यत्न अनुचित और अनुपयुक्त है। यह मध्यम-मण्डप नहीं अवर मण्डप ही है। मध्यम मण्डपको छोड़ कर इस अवर मण्डप का वर्णन क्यों किया गया है इसका कारण है। विकृष्ट मण्डपका विशेष वर्णन करते हुए भरतमुनिने ६४×३२ हाथके मध्यम मण्डप का ही वर्णन किया है। वहाँ यह परिमाण दिखलाया है उसके साथ ही श्लोकमें उन्होंने इससे बड़े आकारके मण्डपके बनानेका स्पष्ट रूपसे निषेध किया है। वे श्लोक निम्न प्रकार हैं—

चतुःषष्टिकरान् कुर्याद् दीर्घत्वेन तु मण्डपम्।
द्वात्रिंशतं च विस्तारान्मर्त्यानां यो भवेदिह ॥१७॥
अत ऊर्ध्वं न कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः।
यस्मादव्यक्तभावं हि तत्र नाट्यं व्रजेदिति ॥१८॥

इस निर्देशके अनुसार ६४×३२ हाथसे बड़े मण्डपका निर्माण नहीं किया जाना चाहिए। यही कारण है जिससे चतुरस्र-मध्यम आकारको छोड़ कर अवर परिमाण वाले मण्डप का विस्तार पूर्वक वर्णन करनेकी आवश्यकता पड़ी। जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है चतुरस्र आकारके मध्यम मण्डपका परिमाण ६४×६४ हाथ होना चाहिए। परन्तु यदि इस परिमाण का मण्डप बनाया जाय तो उसका परिमाण ६४×३२ हाथ वाले विकृष्ट मध्यम मण्डपसे अधिक—से दुगना हो जायगा। और वह भरतमुनिके 'अत ऊर्ध्वं न कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः' इस निषेध का स्पष्ट उल्लङ्घन होगा। इसलिए भरतमुनिने यहाँ मध्यम परिमाण वाले चतुरस्र मण्डपको छोड़ कर अवर परिमाण वाले चतुरस्र मण्डपके ही बनानेका विधान किया है। यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अब केवल एक बात रह जाती है। और वह है अभिनवगुप्तसे पहिले व्याख्याकारों के द्वारा की गई मध्यम मण्डपकी कल्पना। तो वह इस अवर मण्डपके विषयमें [illegible] नहीं होती है। क्योंकि यह उनके विचारमें मध्यम ही होती है। ६४×३२ हाथ वाले मध्यम मण्डपकी कल्पना इसलिए की गई है कि इससे बड़े मण्डपमें नाट्य अव्यक्त [illegible] है। इसलिए इससे बड़ा [illegible] मध्यम परिमाण [illegible]

उस प्रशसा-परक श्लोकका अभिप्राय है। वही अभिप्राय यहाँ इस अवर मण्डपके विधानका समर्थक बन रहा है। ३२×३२ हाथ से बडा ६४×६४ हाथका मण्डप यदि बनाया जायगा तो उसका क्षेत्र फल पूर्व निर्धारित परिमाणसे चतुर्गणा हो जानेके कारण नाटयको विगाड देनेका ही कारण हो जायगा। इसलिए वह वर्जनीय है। इसी कारण भरतमुनिने ६४×६४ हाथ वाले चतुरस्र मध्यम मण्डपको छोड कर ३२×३२ हाथ वाले चतुरस्र मण्डपका विधान किया है। वह चतुरस्र वर्गका अवर मण्डप है, मध्यम मण्डप नही। उसे मध्यम मण्डप सिद्ध करने या समझनेका प्रयत्न सर्वथा अनुचित है।

इस प्रकार सारी स्थिति पर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि डा० मनकद और प्रो० सुब्बारावने इस विषयमें जो कुछ लिखा है वह भ्रान्त धारणाके ऊपर आश्रित होनेसे असङ्गत और अनुपादेय है। और उनका सारा विवेचन भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त दोनोके अभिप्रायके विपरीत होनेके कारण सर्वथा हेय है।

प्रो० सुब्बारावकी एक और भूल—

ऊपर नाट्य मण्डपोके १८ भेद दिखलाए गए हैं। इनमेंसे ९ भेद हस्ताश्रित और ९ भेद दण्डाश्रित भेद होते हैं। 'प्रमाणभेषा निर्दिष्ट हस्तदण्डसमाश्रयम्' [श्लोक २-९] में हस्ताश्रित और दण्डाश्रित दो प्रकारके परिमाणोका उल्लेख किया गया है। चार हाथका एक दण्ड होता है। प्रो० सुब्बाराव ने हस्त और दण्डको अलग-अलग परिमाण न मानकर 'हस्तदण्ड' शब्दसे 'हाथ भर का दण्ड' यह अर्थ ग्रहण किया है। इस अर्थके लिए उन्होने डा० पी० के० आचार्यकी 'डिक्शनरी आफ हिन्दू आर्किटेक्चर' को प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है। उसमें 'हस्तदण्ड' शब्दका अर्थ 'एक हाथ या अठारह इचका मापदण्ड या पैमाना किया है। इसीके आधारपर प्रो० सुब्बारावने प्रेक्षागृहोके पूर्वोक्त अठारह भेदोमेसे नौ भेदोको निकालकर केवल नौ ही भेद माने हैं। और अभिनवगुप्तको भी अप्रमाण ठहराते हुए प्रेक्षागृहोके नौ ही सम्भावित भेद माने हैं। परन्तु उनका यह सिद्धान्त अशुद्ध और असङ्गत है। अभिनवगुप्तने स्पष्ट रूपसे 'एव चाष्टादश भेदास्तावच्छास्त्रे दृष्टाः 'लिखा है। और भरतमुनिने भी' चतुर्हस्तो भवेद् दण्ड ' लिख कर हस्त और दण्डको अलग अलग माना है।

डा० पी० के० आचार्यकी भूल—

प्रो० सुब्बारावके लेखके देखनेसे प्रतीत होता है कि उनकी इस भूलका उत्तरदायित्व मुख्य रूपसे उनपर न होकर डा० पी० के० आचार्यकी डिक्शनरीपर है। उस डिक्शनरीके आधारपर ही उन्होने 'हस्तदण्ड' शब्दका अर्थ एक हाथ या अठारह इचका मापदण्ड किया है। इसलिए इस भ्रान्त धारणाको उत्पन्न करनेका उत्तरदायित्व डा० आचार्यपर आता है। नाट्यशास्त्रके इस द्वितीय अध्यायमे १३ से लेकर सोलहवें श्लोक तक चार श्लोकोमें अणुसे लेकर दण्ड तकके परिमाणो का बडे स्पष्ट और असन्दिग्ध रूपमें वर्णन किया गया है। उसीमें 'चतुर्हस्तो भवेद् दण्ड.' चार हाथका एक दण्ड होता है यह लिखा है। इतने स्पष्ट लेखके रहते हुए भी डा० आचायने 'हस्तदण्ड' शब्दका ऐसा अर्थ कर दिया यह आश्चर्यकी बात है।

इस भूलका कारण—

भरतमुनिके हस्त और दण्डके विषयमे इतने स्पष्ट लेखके होते हुए भी डा० आचार्य और प्रो० सुब्बारावने जो यह भूल कर दी है उसका बाहर तो कुछ कारण दिखलाई नही देता है पर उनके अन्तर्मनके भीतर एक ऐसी ग्रन्थि बन गई है जिसने भरतमुनिके 'चतुर्हस्तो भवेद् दण्ड ' जैसे

भरत०—'देवानान्तु भवेज्ज्येष्ठं नृपाणां मध्यमं भवेत् ।
शेषाणां प्रकृतीनान्तु कनीयः संविधीयते ॥ ११ ॥

स्पष्ट लेखके रहते हुए भी इस प्रकारका अर्थ समझ लेनेके लिए बाध्य कर दिया है । १०८ हाथ ज्येष्ठ मण्डपका परिमाण बतलाया गया है । पर वह देवताओंके लिए है । मनुष्योंके लिए तो ६४ × ३२ हाथ का मण्डप ही सबसे बड़ा मण्डप माना गया है जब ६४ × ३२ हाथसे अधिक परिमाणका मण्डप मनुष्योंके लिए अनुपयुक्त है तब ६४ × ३२ दण्डके परिमाणके वाला मण्डप जिसकी प्रत्येक भुजा पूर्व मण्डपकी भुजाओं से चौगुनी और क्षेत्रफल १६ गुना बड़ा हो जायगा असम्भव ही है । इस लिए दण्ड-समाश्रित मण्डपकी बात उनके मनमें बैठ नहीं सकी । हमारे मनमें भी नहीं बैठती है । अतएव उन्होंने 'हस्तदण्ड' को एक शब्द मान कर एक हाथ लम्बा या यथारूढ़ इसका माप दण्ड [पैमाना] उसका अर्थ किया है । यही इस सूत्रका आशय है ।

दण्ड-परिमाणकी सङ्गति लगानेका प्रकार—

इस 'हस्तदण्ड-समाश्रित' मण्डपकी सङ्गति लगानेके लिए प्रो० सुब्बाराव और डा० आचार्यने जो मार्ग निकाला है वह भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनोंके लेखोंके विपरीत होनेसे अमान्य है । पर यह समस्या तो है ही, इसलिए उसका समाधान भी निकालना ही होगा । किन्तु यह समाधान भरतमुनि और अभिनवगुप्तके लेखके विपरीत न जाय इस बातका ध्यान रखना होगा । इस दृष्टि से इसके दो समाधान हो सकते हैं । एक समाधान अभिनवगुप्तके 'अनन्तरं दीर्घमण्डप' इस लेखके आधारपर यह निकलता है कि यद्यपि दण्ड समाश्रित मण्डप सर्वदा अनाचरित हैं फिर भी सहस्र संवत्सर पर्यन्त चलने वाले दीर्घसत्रोंके विधानके अनुसार ही दण्ड-समाश्रित मण्डपों का भी विधान किया गया है । इस लिए इसमें कोई अनौचित्य नहीं है । दूसरा यह समाधान भी उपयुक्त होगा कि हस्त और दण्ड दो भिन्न-भिन्न परिमाणके उसी प्रकार के पैमाने हैं जिस प्रकार आजके प्रचलित फुट और गजके पैमाने हैं । तीन फुटका एक गज होता है । चार हाथका एक दण्ड होता है । आजकल एक ही लम्बाईको गज फुट और फुट दोनों रूपोंमें व्यवहारमें लाते हैं । यह दीवार १०० गज लम्बी है या ३०० फुट लम्बी है दोनों ही व्यवहार होते हैं । इसी प्रकार एक ही परिमाणको ६४ हाथ या १६ दण्ड दोनों रूपमें कहा जा सकता है । यह समाधानका दूसरा मार्ग है । इसमें १०८ हाथको दण्डके रूपमें बदल कर २७ दण्ड कहा जायगा । इसी प्रकार ६४ हाथको १६ दण्ड और ३२ हाथको ८ दण्ड कहा जायगा । इसके अनन्तर [illegible] पर दी हुई सूचीमें [illegible] परिमाणके साथ [illegible] परिमाणका उल्लेख भी किया जा सकता है । इस व्याख्यासे मण्डपोंके [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं रहती है और भरत या अभिनव- गुप्तके लेखका विरोध भी नहीं होता है । इसलिए यही समाधान अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है ।

ज्येष्ठ आदि मण्डपोंकी व्यवस्था—

भरत० —देवताओंका [अर्थात् जिसमें [illegible] [illegible] [illegible]] ज्येष्ठ राजाओंका [या अभिनय [illegible] [illegible] [illegible]] मध्यम तथा शेष लौकिक [[illegible] [illegible] [illegible]] कनिष्ठ होना चाहिए । ११ ।

१. म ब देवानां भवेज्ज्येष्ठं । ड म. देवानां [illegible] ।

देवानामिति—यत्र देवासुरप्राया एव नायक-प्रतिनायकास्तत्र 'डिमादौ आरभटी-प्रधाने विततरङ्गपीठोपयोगात्, भाण्डवाद्यप्रधानत्वाच्च परिक्रमणादेरुच्चतर-'दीर्घतरदीर्घ-तालपरिग्रहादियोगाच्च 'अन्यत्र व्यक्तभावस्यासम्भवात् अष्टोत्तरशतहस्तो मण्डप इत्यर्थ ।

यस्तु व्याचष्टे प्रेक्षका अत्र देवादयो विवक्षिता न तु प्रयोज्या, तेषा नियत-सख्याकत्वादिति । तस्यास्मदभिप्रायो न 'बुद्धिपथमागत, सन्नपि दशरूपकादौ । स चानन्तरमेव दर्शयिष्यते ॥११॥

अभिनव०—देवताओका अर्थात् जहां देव और असुर सदृश ही नायक तथा प्रतिनायक हो उस 'आरभटीवृत्ति-प्रधान' 'डिम' आदिमे लम्बे-चौडे रङ्गमञ्चकी आवश्यकता होनेसे, भाण्ड-युक्त [मृदङ्ग आदि मढे हुए] वाद्योकी अधिकता होने से, और परिक्रमण आदि [अर्थात् उछल-कूद चलने-फिरने अथवा डगो आदि] मे अधिक ऊचे एवं अधिक लम्बे [स्थानकी आवश्यकता होने] तथा लम्बे ताल आदिका ग्रहण होनेसे [ज्येष्ठ मण्डपकी आवश्यकता होती है] अन्यत्र [अर्थात् मध्यम अथवा कनिष्ठ मण्डपोमे उनके अभिनयका] व्यक्तभाव सम्भव न होनेके कारण एक सौ आठ हाथका [ज्येष्ठ] मण्डप होना ही चाहिए यह अभिप्राय है ।

पाठसमीक्षा—इस कारिका की वृत्तिका पाठ पूर्व-सस्करणोमें दो स्थानोपर अशुद्ध छपा था जिसके कारण सारा वृत्तिभाग ही दुर्ज्ञेय-सा बन गया था । पहिले स्थान पर—'दीर्घतर-तालपरिग्रहादियोगाच्च भक्तभावस्यासम्भवात्' इस प्रकारका पाठ दिया गया था । इसमें 'भक्तभावस्य' की कोई सङ्गति नही लगती है । उसके स्थानपर व्यक्तभावस्य' और उसके पूर्व 'अन्यत्र' पदका प्रयोग करके 'अन्यत्र व्यक्तभावस्यासम्भवात्' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए । उससे अर्थकी सङ्गति ठीक लग जाती है । 'अन्यत्र' अर्थात् ज्येष्ठ मण्डपको छोडकर मध्यम अथवा कनिष्ठ परिमाण वाले मण्डपमें आरभटी-प्रधान 'डिम' आदिका स्पष्ट रूपसे अभिनय नही हो सकता है । अत एव उसके लिए १०८ हाथ वाला ज्येष्ठ मण्डप ही होना चाहिए । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । किन्तु पूर्व-सस्करणोमें मुद्रित पाठसे उसकी प्रतीति नही होती है । अत यह पाठ अशुद्ध है । हमने जो सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है वही ग्रन्थकारका अभिमत पाठ है ।

पूर्व व्याख्याकारोंका खण्डन—

इस कारिकाके 'देवाना' आदि पदोसे अभिनवगुप्तने यह अर्थ लिया है कि जिसमें देव आदि जैसे नायक-प्रतिनायक हो उसके लिए ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए । परन्तु दूसरे व्याख्या-कारोने उससे यह अर्थ लिया है कि जिसमें देवता प्रेक्षक हों वहां ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए । उनका खण्डन करते हुए वे लिखते हैं कि—

अभिनव०—जो [टीकाकार] यह व्याख्या करते हैं कि यहां प्रेक्षक रूपसे देव आदि अभिप्रेत हैं, प्रयोज्यरूपसे नहीं । उन [प्रयोज्यो] के परिमित होनेसे । वे दश-रूपकादिके विषयमे होनेपर भी हमारे अभिप्रायको नहीं समझ पाए हैं । उसको हम अगले ही श्लोकमे दिखलाते हैं ।

---

१ म तत्रहि धीरादावारभटी प्रधाने । २ म भ उच्चतादीप्तताकारापरिग्रहादि । ३ म भ योमाच्चाभक्तभावस्थासम्भवात् । भक्तभावस्य । ४ भ. स्मृतिपथमागत. ।

[प्रक्षिप्त०—प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं मतम् ।
तत्र पाठ्यं च गेयं च सुखश्रव्यतरं भवेत् ॥
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधि स्मृत. ।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः ॥
कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं चतुरस्रं तु मध्यमम् ।
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाट्यवेदप्रयोक्तृभिः ॥]

इसका अभिप्राय यह है कि ये तीनों प्रकारके मण्डप मनुष्योंके ही लिए हैं। मनुष्य ही उन सबमें दर्शक या प्रेक्षकके रूपमें बैठते हैं। देवता आदि बैठने के लिए नहीं आते हैं। इसलिए देवताओंको प्रेक्षक मान कर जो व्याख्या की गई है। वह ठीक नहीं है। हमने जो व्याख्या की है वही व्याख्या होनी चाहिए। पर उसको प्रतिपक्षी व्याख्याकारने समझा नहीं। हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि देवता जिसमें अभिनय करने वाले हों वही ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए। क्योंकि यह व्याख्या भी पूर्व व्याख्याके समान असङ्गत हो जावेगी। देवता न यहाँ प्रेक्षक बन कर आते हैं और न अभिनेता। इसलिए हमारा यह अभिप्राय नहीं है। हमारा अभिप्राय यहाँ प्रसिद्ध दशरूपकों तक सीमित है। इन दश प्रकारके रूपकोंमें 'डिम' सरीखे रूपक ऐसे हैं जिन में देव असुर जैसे नायक प्रतिनायक होते हैं। युद्ध उल्कापात आदि जैसे भयङ्कर दृश्य उनमें दिखलाए जाते हैं। उनका अभिनय छोटे स्थानमें ठीक तरहसे नहीं हो सकता है। अतः उनके लिए बड़े ज्येष्ठ मण्डप की आवश्यकता है यह हमारा अर्थात् अभिनवगुप्तका अभिप्राय है। इसी अभिप्रायको वे इसी अध्यायमें आगे १६ वें श्लोककी व्याख्यामें अधिक स्पष्ट करके दिखलावेंगे।

पाठमीमांसा—पूर्व-संस्करणोंमें यहाँ पर 'न स्तुतिसम्भागत सन्ति दशरूपकाणां' का पाठ छपा था। इसमें 'स्तुतिसम' के स्थानपर 'बुद्धिस्थ' पाठ होना चाहिए। यह अधिक अच्छा है। अन्यथा यह कह रहे हैं कि हमारा अभिप्राय उन लोगोंने समझा नहीं। इसके लिए 'न बुद्धिस्थ-मागतं' यही पाठ होना चाहिए। इस वाक्यकी रचना भी पूर्व संस्करणोंमें भिन्न रूपमें की गई थी उससे अर्थ ठीक समझमें नहीं आता था। अतः एव उस रूपमें संशोधन करके तथा 'स्तुति' के स्थानपर 'बुद्धि' पदका प्रयोग कर हमने संशोधित पाठ प्रस्तुत किया है ॥ ११ ॥

प्रक्षिप्त तीन श्लोक—

ग्यारहवीं कारिकाके बाद तीन श्लोक कोष्ठके अन्तर्गत छापे दिए गए हैं। इनके ऊपर संख्या भी नहीं दी गई है। नाट्यशास्त्रकी लगभग ४० हस्तलिखितियोंमें से केवल तीन हस्तलिखितियोंमें ये श्लोक पाए जाते हैं। अभिनवगुप्तने इनके ऊपर कोई वृत्ति भी नहीं लिखी है। इसलिए ये तीनों श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। पूर्व-संस्करणोंमें इनको कोष्ठके अन्दर ही दिया गया है। इनमें से पहिला और तीसरा ये दो श्लोक इसी अध्याय में ८ वें श्लोकके बाद फिर आए हैं। किन्तु उस स्थानपर इन दो श्लोकोंका पाठ नाट्यशास्त्रकी केवल एक हस्तलिखित प्रति में ही मिलता है। अन्य किसीमें नहीं। वहाँ भी अभिनवगुप्तने इनपर वृत्ति नहीं लिखी है। इसलिए ये श्लोक दोनों ही स्थानोंपर प्रक्षिप्त माने गए हैं। इसी दृष्टिसे दोनों स्थानोंपर इनको भिन्न टाइपमें कोष्ठके अन्तर्गत दिया गया है और इन पर संख्या नहीं डाली गई है।

---

१ क ख ग. पुस्तकेषु कोष्ठगतानां श्लोकानां इदानीं।

देवानामिति—यत्र देवासुरप्राया एव नायक-प्रतिनायकास्तत्र 'डिमादौ आरभटी-प्रधाने विततरङ्गपीठोपयोगात्, भाण्डवाद्यप्रधानत्वाच्च परिक्रमणादेरुच्चतर-'दीर्घतरदीर्घ-तालपरिग्रहादियोगाच्च 'अन्यत्र व्यक्तभावस्यासम्भवात् अष्टोत्तरशतहस्तो मण्डप इत्यर्थ ।

यस्तु व्याचष्टे प्रेक्षका अत्र देवादयो विवक्षिता न तु प्रयोज्या, तेषा नियत-सख्याकत्वादिति । तस्यास्मदभिप्रायो न 'बुद्धिपथमागत, सन्नपि दशरूपकादौ । स चानन्तरमेव दर्शयिष्यते ॥११॥

अभिनव०—देवताओका अर्थात् जहां देव और असुर सदृश ही नायक तथा प्रतिनायक हो उस 'आरभटीवृत्ति-प्रधान' 'डिम' आदिमे लम्बे-चौडे रङ्गमञ्चकी आवश्यकता होनेसे, भाण्ड-युक्त [मृदङ्ग आदि मढे हुए] वाद्योकी अधिकता होने से, और परिक्रमण आदि [अर्थात् उछल-कूद चलने-फिरने अथवा डगो आदि] मे अधिक ऊचे एवं अधिक लम्बे [स्थानकी आवश्यकता होने] तथा लम्बे ताल आदिका ग्रहण होनेसे [ज्येष्ठ मण्डपकी आवश्यकता होती है] अन्यत्र [अर्थात् मध्यम अथवा कनिष्ठ मण्डपोमें उनके अभिनयका] व्यक्तभाव सम्भव न होनेके कारण एक सौ आठ हाथका [ज्येष्ठ] मण्डप होना ही चाहिए यह अभिप्राय है ।

पाठसमीक्षा—इस कारिका की वृत्तिका पाठ पूर्व-सस्करणोमें दो स्थानोपर अशुद्ध छपा था जिसके कारण सारा वृत्तिभाग ही दुर्ज्ञेय-सा बन गया था । पहिले स्थान पर—'दीर्घतर-तालपरिग्रहादियोगाच्च भक्तभावस्यासम्भवात्' इस प्रकारका पाठ दिया गया था । इसमें 'भक्तभावस्य' की कोई सङ्गति नही लगती है । उसके स्थानपर व्यक्तभावस्य' और उसके पूर्व 'अन्यत्र' पदका प्रयोग करके 'अन्यत्र व्यक्तभावस्यासम्भवात्' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए । उससे अर्थकी सङ्गति ठीक लग जाती है । 'अन्यत्र' अर्थात् ज्येष्ठ मण्डपको छोडकर मध्यम अथवा कनिष्ठ परिमाण वाले मण्डपमें आरभटी-प्रधान 'डिम' आदिका स्पष्ट रूपसे अभिनय नही हो सकता है । अत एव उसके लिए १०८ हाथ वाला ज्येष्ठ मण्डप ही होना चाहिए । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । किन्तु पूर्व-सस्करणोमें मुद्रित पाठसे उसकी प्रतीति नही होती है । अत यह पाठ अशुद्ध है । हमने जो सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है वही ग्रन्थकारका अभिमत पाठ है ।

पूर्व व्याख्याकारोंका खण्डन—

इस कारिकाके 'देवाना' आदि पदोसे अभिनवगुप्तने यह अर्थ लिया है कि जिसमें देव आदि जैसे नायक-प्रतिनायक हो उसके लिए ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए । परन्तु दूसरे व्याख्या-कारोने उससे यह अर्थ लिया है कि जिसमें देवता प्रेक्षक हो वहां ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए । उनका खण्डन करते हुए वे लिखते हैं कि—

अभिनव०—जो [टीकाकार] यह व्याख्या करते हैं कि यहां प्रेक्षक रूपसे देव आदि अभिप्रेत हैं, प्रयोज्यरूपसे नहीं । उन [प्रयोज्यो] के परिमित होनेसे । वे दश-रूपकादिके विषयमे होनेपर भी हमारे अभिप्रायको नहीं समझ पाए हैं । उसको हम अगले ही श्लोकमे दिखलाते हैं ।

---

१ म तत्रहि धीरादावारभटी प्रधाने ।   २ म भ. उच्चतादीप्तताकारापरिग्रहादि ।
३ म भ योमाच्चाभक्तभावस्यासम्भवात् । भक्तभावस्य ।   ४. भ. स्मृतिपथमागत ।

यत प्रभृति द्रव्यता प्रवर्तते सोऽणुः, न तु प्रसिद्धोऽणुपरिमाणः। द्व्यणुकत्रया-रब्धा त्र्यणव एव वा महत्त्वगुणाः। परमाणुद्वयारब्धे तु द्व्यणुकेऽणुपरिमाणमस्तु, कोऽत्र विरोधः। अलमवान्तरेण ॥१४॥

अभिनव०—जहांसे द्रव्यता प्रारब्ध होती है वह [त्र्यणुक ही यहां] 'अणु' [माना गया] है। प्रसिद्ध अणु-परिमाण [वाला परमाणु अथवा द्व्यणुक यहां अणु शब्दसे] अभिप्रेत नहीं है। अर्थात् तीन द्व्यणुकोंसे बने हुए अथवा [अन्योंके मतमें] तीन परमाणुओंसे बने हुए महत्-परिमाणोंसे युक्त [त्र्यणुक ही यहां 'अणु' पदसे अभिप्रेत है क्योंकि उनसे ही द्रव्यताका आरम्भ होता है। उनसे पहलेके परमाणु तथा द्व्यणुक दोनों तत्त्व द्रव्य नहीं होते हैं। इसलिए प्रसिद्ध अणु-परिमाण वाले परमाणु या द्व्यणुक यहां अणु शब्दसे अभिप्रेत नहीं है]। दो परमाणुओंसे बने हुए द्व्यणुकोंमें अणु परिमाण भले ही रहे उससे यहां कौन-सा विरोध आता है [अर्थात् जब हम यहां 'अणु' पदसे प्रसिद्ध अणु-परिमाण वाले परमाणु या द्व्यणुकका ग्रहण न करके जहांसे द्रव्यता प्रारम्भ होती है उन त्र्यणुकोंका ग्रहण करते हैं अर्थात् इस शब्दका प्रयोग पारिभाषिक अर्थमें करते हैं तो उसका प्रसिद्ध अर्थसे कोई विरोध नहीं होता है। जैसे व्याकरणशास्त्रमें 'नदी', 'गुण', 'वृद्धि' आदि शब्दोंका पारिभाषिक अर्थमें प्रयोग होनेसे प्रसिद्ध अर्थके साथ उनका विरोध नहीं होता है। इसी प्रकार यहां अणु-शब्द पारिभाषिक अर्थमें प्रयुक्त है अतः उसका प्रसिद्ध अर्थसे कोई विरोध नहीं है]। इसलिए अप्रासङ्गिक चर्चाकी अधिक आवश्यकता नहीं है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्वसंस्करणोंमें इस प्रकार छपा था। 'यत प्रभृति द्रव्यता प्रवर्तते सोऽणु। न तु प्रसिद्धोऽणुपरिमाण। त्र्यणुकद्व्यणुकारब्धा [illegible] त्र्यणव एव वा महत्त्वगुणा'। इस पाठमें कई अशुद्धियां है। जहांसे द्रव्यता प्रारम्भ होती है वह 'अणु' है यह अणु-शब्दका पारिभाषिक अर्थ यहां लिया गया है। यह द्रव्यता त्र्यणुकसे प्रारम्भ होती है। त्र्यणुकका परिमाण 'अणु' नहीं 'महत्' परिमाण है। परन्तु अणु शब्दका पारिभाषिक अर्थमें प्रयोग होनेके कारण महत्-परिमाणयुक्त त्र्यणुक भी यहां अणु-शब्दसे अभिप्रेत है। इसके पूर्ववर्ती परमाणु और द्व्यणुक जिनमें अणु-परिमाण रहता है वहां अणु-शब्दसे अभिप्रेत नहीं है। यह व्याख्याका अभिप्राय है। इस अभिप्रायको [illegible] 'न तु प्रसिद्धोऽणुपरिमाणः' यह होना चाहिए। पूर्वसंस्करणोंमें 'न तु प्रसिद्धोऽणुपरिमाण' छपा है। वह अशुद्ध है।

पाठसमीक्षा—इसके अतिरिक्त [illegible] पाठ भी पूर्वसंस्करणोंमें अशुद्ध है। [illegible] किया गया है। [illegible] 'द्व्यणुकत्रयारब्धा त्र्यणव एव वा महत्त्वगुणा' इस प्रकार पाठ पूर्वसंस्करणोंमें छपा है। यह पाठ ठीक नहीं है। [illegible]

१. न तु प्रसिद्धोऽणुपरिमाण। [illegible] द्व्यणुकत्रयारब्धा त्र्यणव एव वा।

भरत०—प्रमाणं यच्च निर्दिष्टं लक्षणं विश्वकर्मणा ।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तच्चैव हि निबोधत ।। १२ ।।

प्रमाण लक्षण यन्निर्दिष्टमिति जातावेकवचनम् ।।१२।।

कानि प्रमाणानीत्याह अणू रजश्चेत्यादिना—

भरत०—अणू रजश्च बालश्च लिक्षा यूका यवस्तथा ।
[1]अङ्गुलं च तथा हस्तो [2]दण्डश्चैव प्रकीर्तितः ।। १३ ।।

तेषा लक्षणान्याह अणवोऽष्टावित्यादि—

भरत०—अणवोऽष्टौ रजः प्रोक्तं तान्यष्टौ बाल उच्यते ।
बालास्त्वष्टौ भवेल्लिक्षा यूका लिक्षाष्टकं[3] भवेत ।। १४ ।।

प्रथम सस्करणमें इन तीनों श्लोकोंको कोष्ठमें तो दिया गया है। किन्तु उनपर १२, १३, १४ सख्याए डाल दी है। किन्तु द्वितीय सस्करणमें इन पर सख्याए निकाल दी है। अत दोनों सस्करणोंमें सख्या क्रममें ३ का अन्तर हो जाता है।

मापके प्रमाण—

अभी ऊपर दसवी कारिकामें यह कहा था कि ज्येष्ठ मण्डप एक सौ आठ हाथ मध्यम ६४ हाथ और कनिष्ठ मण्डप ३२ हाथ लम्बा होता है। इस मापके प्रसङ्गसे भरतमुनि आगे भापकी इकाइया या पैमाने दिखलावेंगे उसकी भूमिका इस कारिकामें बनाते हैं—

भरत०—विश्वकर्माने [इन विकृष्ट आदि तीनो प्रकारके नाट्य मण्डपोका] जो लक्षण [अर्थात् आकार] और प्रमाण निर्दिष्ट किया है उसको भी भली प्रकार [नि शेषेण बोधत निबोधत] समझ लो। १२।

अभिनव०—जो प्रमाण और लक्षण निर्दिष्ट किया है यहां 'प्रमाण' तथा 'लक्षण' [इन दोनो पदोमे] जातिमे एकवचन है।

इसका यह अभिप्राय है कि अगली कारिकामें जो १ अणू २ रज, ३ बाल ४ लिक्षा ५ यूका, ६ यव, ७ अङ्गुल, ८ हस्त और ९ दण्ड ये नौ प्रकारकी माप-साधन और तीनो प्रकारके मण्डपोके परिमाण आदि दिखलाए गए हैं उन सबका ग्रहण इनसे करना चाहिए ।। १२ ।।

अभिनव०—वे प्रमाण कौनसे हैं यह 'अणू रजश्च' इत्यादि [अगले श्लोक] से दिखलाते हैं—

भरत०—१ अणु, २ रज, ३ बाल, ४ लिक्षा ५ यूका, ६ यव, ७ अङ्गुल, ८ हस्त और ९ दण्ड [ये नौ प्रकार प्रमाण मापके लिए] कहे जाते हैं। १३।

परिमाणोंकी माप—

अभिनव०—उन के लक्षण 'अणवोऽष्टौ' इत्यादि [श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—आठ 'अणु' का एक 'रज' कहलाता है, और वे आठ [रज] मिल कर एक 'बाल' कहे जाते हैं। आठ 'बालों' की एक 'लिक्षा' होती है और आठ 'लिक्षा' का एक 'यूका' [परिमाण] होता है।१४।

---

१ ठ भ चैव हस्तश्च। २ ठ म दण्डश्च परिकीर्तित । छ अ तथा दण्डक एवच।
३ अ यूका त्वष्टगुणा भवेत्।

चतुर्हस्तो भवेद् दण्डो निर्दिष्टस्तु प्रमाणतः ।
अनेनैव 'प्रमाणेन वक्ष्याम्येषां विनिर्णयम् ॥ १६ ॥

अनेनैवेति 'देवानां तु भवेत्' इत्यनेन 'यदुक्तम् । 'तथा ज्येष्ठप्रमाणो मण्डपो डिमप्राये । वक्ष्यति—

निर्घातोल्कापातैरुपरागेणेन्दुसूर्ययोर्युक्तः ।
युद्ध-नियुद्धाधर्षणसम्फेटकृतश्च विज्ञेयः ॥
देवभुजगेन्द्रराक्षसयक्षपिशाचावकीर्णश्च ।
षोडशनायकबहुलः सात्त्वत्यारभटीवृत्तिसम्पन्नस्तु डिमः ॥ इति ।

तथा मध्यमप्रमाणो' नृपतिप्रायप्रयोज्ये नाटकादौ । वक्ष्यति—

'नृपतीनां यच्चरितं रसभावचेष्टितं बहुधा ॥
सुख-दुःखोत्पत्तिकृतं भवति हि तन्नाटकं नाम इति ॥ १८-१२ ॥

अनु०—चार हाथका एक 'दण्ड' [परिमाण] माना गया है । इसी [हस्त-दण्डसमाश्रित] परिमाणसे मैं इन [नाट्य-मण्डपों] का निर्णय करूंगा । १६ ।

अभिनव—'अनेन' [यह कारिका प्रतीक भाग है] इस [परिमाण] से ही [मण्डपोंका परिमाण कहूँगा] जैसा कि 'देवानां तु भवेत्' इत्यादिमें बतला चुके हैं । [कि देवता आदिके चरित्रका अभिनय जिसमें हो वह ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए] । जैसे कि ज्येष्ठ-प्रमाण वाला मण्डप [जिसमें देवताओं आदिके चरित्रका अभिनय होता है इस प्रकारके] 'डिम' जैसे [रूपकों] में [ही होना चाहिए] । जैसा कि ['डिम' का लक्षण आगे] कहेंगे—

अभिनव०—बिजली गिरने, उल्का-पतन, सूर्य तथा चन्द्रमाके ग्रहण, लड़ाई-झगड़े, बलात्कार, गाली-गलौज [सम्फेटो रोषभाषणम्] आदिसे युक्त, तथा देवता, नाग, राक्षस यक्ष तथा पिशाच आदिसे व्याप्त, सोलह प्रकारके नायकों वाला एवं सात्वती तथा आरभटी [वृत्तियों] से युक्त 'डिम' को समझना चाहिए । यह ['डिम' का लक्षण किया गया है] ।

इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त, देवता आदिके चरित्रका प्रदर्शन करानेवाले डिमका अभिनय होनेके परिमाण वाले 'ज्येष्ठ' प्रकार मण्डप-परिमाणका [illegible] है । यहाँ [डिमके] ज्येष्ठ प्रमाण वाला मण्डप ही होना चाहिए यह [illegible] अभिप्राय है ।

अभिनव०—और राजा आदि जैसे चरित्रों वाले नाटकादिके अभिनयमें मध्यम परिमाण [वाला मण्डप उपयुक्त होता है] । जैसा कि [नाटकका लक्षण] करेंगे—

अभिनव०—नाना प्रकारके रस तथा भावोंके व्यापारोंसे युक्त तथा सुख-दुःख-मय राजाओं आदिका जो चरित है वह नाटक कहलाता है ।

---

१ प [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] ।
४ [illegible] । ५ [illegible] । ६ [illegible] । [illegible]

भरत०—यूकास्त्वष्टां ¹यवो ज्ञेयो ²यवास्त्वष्टौ तथांगुलम् ।
³अंगुलानि तथा हस्तश्चतुर्विशतिरुच्यते ॥ १५ ॥

परन्तु दो परमाणुओ अथवा दो द्वयणुकोसे त्र्यणुककी उत्पत्ति मानने वाला कोई भी सम्प्रदाय नही है । इसलिए 'द्वयणुकद्वयपरमाणुद्वयारब्धा' यह पाठ अशुद्ध है । उसमें 'द्वय' के स्थानपर दोनो जगह 'त्रय' का प्रयोग करके 'द्वयणुकत्रय-परमाणुत्रयारब्धा' पाठ होना चाहिए । इसके बाद जो 'अणव' शब्द पूर्व सस्करणोंमें दिया गया था वह भी ठीक नही है । उसके स्थान पर 'त्र्यणव' पाठ होना चाहिए । इस प्रकार 'द्वयणुकत्रय-परमाणुत्रयारब्धा त्र्यणव एव वा महत्त्वयुक्ता' । यह इस वाक्यका पाठ होना चाहिए । पूर्व संस्करणोमे इस वाक्यका पाठ बिलकुल अशुद्ध रूपमें छपा था ।

तीन द्वयणुकोंसे त्र्यणुककी उत्पत्तिका कारण—

न्याय और वैशेषिक-दर्शनोमें सबसे सूक्ष्म तत्त्व 'परमाणु' माना गया है । दो परमाणुओंसे मिल कर एक 'द्वयणुक' और तीन द्वयणुकोको मिलाकर एक 'त्र्यणुक' बनता है । परमाणु एव द्वयणुक दोनोका परिमाण 'अणु-परिमाण' माना जाता है । परमाणुका अणु-परिमाण नित्य-अणु-परिमाण है । क्योकि परमाणु नित्य है । द्वयणुकका अणु-परिमाण जन्य अणु-परिमाण है । क्योकि द्वयणुक जन्य है । ये दोनो आंखोसे दिखलाई नही देते हैं । उनमें दृश्यता नही रहती है । दृश्यता त्र्यणुकमे प्रारम्भ होती है । त्र्यणुकका परिमाण महत्-परिमाण कहा जाता है ।

त्र्यणुकके कारणभूत द्वयणुककोका परिमाण 'अणु' है और कार्य रूप त्र्यणुकका परिमाण महत् है । त्र्यणुकमें इस महत्-परिमाणकी उत्पत्तिके उपपादनकेलिए ही उसकी उत्पत्ति दो द्वयणुकोसे न मान कर तीन द्वयणुकोसे माननी होती है । बात यह है कि कार्यके महत्-परिमाण की उत्पत्ति या तो कारणके महत्त्व अर्थात् महत्-परिमाणसे होती है और या कारणके बहुत्व अर्थात् बहुत्व सख्यासे । घट-पट आदिमें जो महत्-परिमाण पाया जाता उसकी उत्पत्ति कारण-महत्त्वसे होती है । घटादिके जो कारण कपालादि है उनमें महत्-परिमाण है इसलिए उनके कार्यभूत घटादिमें भी महत्-परिमाण आ जाता है । परन्तु त्र्यणुकके विषयमें यह लागू नही होता है । क्योकि त्र्यणुकके कारण जो द्वयणुक है उनमें महत्-नही, अणु-परिमाण रहता है । इसलिए त्र्यणुकका महत्-परिमाण कारणमहत्त्वसे उत्पन्न नही होता है । इसलिए वह कारण-बहुत्व-जन्य है । अर्थात् त्र्यणुकके कारण भूत द्वयणुको में बहुत्व सख्या रहती है इसलिए कार्यमें महत्-परिमाण उत्पन्न होता है । यह बहुत्व-सख्या दो द्वयणुकोंमें नही रह सकती है । कमसे कम तीन होनेपर ही बहुत्व सख्या बनती है । इसलिए त्र्यणुककी उत्पत्ति दो द्वयणुकोसे न होकर तीन द्वयणुकोंसे मानी जाती है । कुछ लोग तीन द्वयणुकोके बजाय तीन परमाणुओसे भी त्र्यणुक की उत्पत्ति मानते हैं । चाहे तीन परमाणुओसे मानें और चाहे तीन द्वयणुकोसे, हर हालतमें त्र्यणुकमें महत्-परिमाणकी उत्पत्तिकेलिए त्रित्व सख्याकी आवश्यकता है । दो सख्यासे काम नही चल सकता है । इसलिए पूर्व-सस्करणोंमें छपा हुआ 'द्वय' पाठ अशुद्ध ही है । उसके स्थानपर पाठ 'त्रय' ही होना चाहिए ।

भरत०— आठ 'यूका' [परिमाण-विशेष] का एक 'यव' [परिमाण विशेष] समझना चाहिए । और आठ यव का एक 'अगुल' होता है । इसी प्रकार चौबीस अगुलोंका एक 'हाथ' होता है । १५ ।

---

१ छ अ यव प्रोक्त ।　२ य अङ्गुल तु यवाष्टकम् ।　अ यवास्त्वष्टावथागुलम् ।
३ प अगुलानि चतुर्विशद्धस्त इत्यभिधीयते ।

चतुर्हस्तो भवेद् दण्डो निर्दिष्टस्तु प्रमाणतः ।
अनेनैव [1]प्रमाणेन वक्ष्याम्येषां विनिर्णयम् ॥ १६ ॥

अनेनैवेति 'देवानां तु भवेत्' इत्यनेन [2]यदुक्तम् । 'तद्यथा ज्येष्ठप्रमाणो मण्डपो डिमप्राये । यद्वक्ष्यति—

निर्घातोल्कापातैरुपरागेणेन्दुसूर्ययोर्युक्तः ।
युद्ध-नियुद्धाघर्षणसम्फेटकृतश्च विज्ञेयः ॥
देवभुजगेन्द्रराक्षसयक्षपिशाचावकीर्णश्च ।
षोडशनायकबहुलः सात्त्वत्यारभटीयुक्तस्तु डिमः ॥ इति ।

तथा मध्यमप्रमाणो[4] नृपतिप्रायप्रयोज्ये नाटकादौ । यद्वक्ष्यति—

[5]नृपतीनां यच्चरितं नानारसभावचेष्टितं बहुधा ॥
सुख-दुःखोत्पत्तिकृतं भवति हि तन्नाटकं नाम इति ॥ १८-१२ ॥

भरत०—चार हाथका एक 'दण्ड' [परिमाण] माना गया है । इसी [हस्त दण्डरूपमापित] परिमाणसे मैं इन [नाट्य-मण्डपों] का निर्णय करूंगा । १६ ।

अभिनव—'अनेन' [यह कारिका प्रतीक भाग है] इस [परिमाण] से ही [मण्डपोंका परिमाण कहूंगा] जैसा कि 'देवानां तु भवेत्' इत्यादिसे बतला चुके हैं । [कि देवता आदिके चरित्रका अभिनय जिसमें हो वह ज्येष्ठ मण्डप होना चाहिए] । जैसे कि ज्येष्ठ-प्रमाण वाला मण्डप [जिसमें देवताओं आदिके चरित्रका अभिनय होता है इस प्रकारके] 'डिम' जैसे [रूपकों] में [ही होना चाहिए] । जैसा कि ['डिम' का लक्षण आगे] कहेंगे—

अभिनव०—बिजली गिरने, उल्का-पतन, सूर्य तथा चन्द्रमाके ग्रहण, लड़ाई-झगड़े, बलात्कार, गाली-गलौज [सम्फेटो रोषभाषणम्] आदिसे युक्त, तथा देवता, नाग, राक्षस यक्ष तथा पिशाच आदिसे व्याप्त, सोलह प्रकारके नायकों वाला एवं सात्त्वती तथा आरभटी [वृत्तियों] से युक्त 'डिम' को समझना चाहिए । यह ['डिम' का लक्षण किया गया है] ।

इस प्रकारके नाटकोंमें युद्ध, देवता आदिके चरित्रका प्रदर्शन करने वाले [illegible] अभिनय होते [illegible] 'डिम' [illegible] । [illegible] लिए ज्येष्ठ प्रमाण वाला मण्डप ही होना चाहिए यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

अभिनव०—और राजा आदि जैसे चरित्रों वाले नाटकादिके अभिनयमें मध्यम परिमाण [वाला मण्डप उपयुक्त होना है] । जैसा कि [नाटकका लक्षण] करेंगे—

अभिनव०—नाना प्रकारके रस तथा भावोंसे व्यापारोंसे युक्त, तथा सुख-दुःख-मय राजाओं आदिका जो चरित्र है वह नाटक कहलाता है ।

---

१ द. डिमप्राये । २ ब. इसके 'मण्डपः' । ३. [illegible] । ४. म. ध. मध्यमप्रमाणम् । ५ [illegible] । ६ [illegible]]]. निर्घातोल्कापातैरुपरागेणेन्दु- सूर्ययोर्युक्तः । युद्ध नियुद्धाधर्षणसम्फेटकृतश्च विज्ञेयः । [illegible] ।

पाठसमीक्षा—इस स्थलका पाठ भी अत्यन्त अशुद्ध रूपमें पूर्व-सस्करणोमें छपा है। प्रथम वाक्यमें वाक्यके आरम्भमें ही 'मण्डप' शब्द दिया गया है जो बिल्कुल अनुचित स्थानपर है। उसका प्रयोग 'ज्येष्ठप्रमाणो मण्डपो डिमप्राये' इस रूपमें होना चाहिए था। इसी प्रकार दूसरी जगह 'मध्यमप्रमाण' के स्थानपर 'मध्यमप्रमाण' पाठ छप गया था। वैसे 'प्रमाण' शब्द नपु सक-लिङ्ग होनेसे 'प्रमाण' प्रयोग बनता है। परन्तु यहाँ वह पुल्लिङ्ग 'मण्डप' शब्दके विशेषण रूपमें प्रयुक्त हुआ है। अत 'मध्यमप्रमाण' यह पुलिङ्गका ही प्रयोग होना चाहिए।

पाठसमीक्षा—ये दोनो तो साधारण अशुद्धिया थी किन्तु अगली अशुद्धि बडी भयङ्कर अशुद्धि है। राजा आदि सरीखे महापुरुषोके चरित्रका चित्रण नाटक आदिमें किया जाता है। उनका अभिनय मध्यम प्रमाण वाले मण्डपमें होना चाहिए। इस बातके प्रतिपादनकेलिए नाटकोमें राजा आदिके चरित्रका चित्रण होता है इस बातको नाटकके लक्षण द्वारा पुष्ट करनेके निमित्त ग्रन्थकार आगे नाटकका लक्षण उद्धृत करना चाहते हैं। परन्तु बडौदा वाले दोनों सस्करणोमें यहापर नाटकके लक्षणके बजाय 'डिम' का लक्षण फिर दुबारा छाप दिया गया है। 'डिम' लक्षण अभी ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। उसका ही पहिला श्लोक नाटकके लक्षणके रूपमें यहाँ फिर मुद्रित कर दिया गया था। केवल 'नृपतीना यच्चरित' इतना-सा टुकडा नाटक-लक्षणका दिया है। नाटक-लक्षणके स्थानपर डिम-लक्षणको दुबारा उद्धृत कर देना भयङ्कर भूल है। हमने उसका सशोधन कर नाटक-लक्षणका 'नृपतीना यच्चरित' वाला पूरा श्लोक मूल पाठमें रखा है। पर वह नाटकका पूरा लक्षण नही है। नाट्यशास्त्र के १८ वें अध्यायमें नाटकका बहुत विस्तारके साथ विवेचन किया गया है। उसमे नाटकके लक्षणसे सम्बद्ध मुख्य भाग निम्न प्रकार है—

प्रख्यातवस्तुविषय　प्रख्यातोदात्तनायक　चैव।
राजर्षिवश्यचरित　तथैव　दिव्याश्रयोपेतम् ॥ १० ॥
नानाविभूतिभिर्यु त ऋद्धिविलासादिभिर्गु णैश्चैव।
अङ्कप्रवेशकाढ्य　भवति　हि　तन्नाटक　नाम ॥ ११ ॥
नृपतीना　यच्चरित　नानारसभावचेष्टित　बहुधा।
सुखदु खोत्पत्तिकृत　भवति　हि　तन्नाटक नाम ॥ १२ ॥

ना० शा० अ० १८। १०-१२।

पूर्व-सस्करणोमें नाटकके लक्षणके प्रदर्शक जो श्लोक दिए हैं वे ठीक नही हैं। इसके पहिले जो श्लोक 'डिम' के लक्षण रूपमें उद्धृत किया गया था उसी श्लोकको लेखककी असावधानीसे दूबारा नाटकके लक्षणके रूपमे फिर उतार दिया गया है। यह बडी भयङ्कर भूल है। पाण्डुलिपिके लेखकको यह पता नही चला कि वह नाटकके लक्षणके स्थानपर 'डिम' का लक्षण जिसे कि अभी लिख चुका है दुबारा फिर उतार रहा है। यह सब प्रामादिक पाठ है। इसके स्थानपर नाटकका लक्षण दिया जाना चाहिए था। नाट्य-शास्त्रके १८ वें अध्यायमें नाटकके लक्षणमें कई श्लोक दिए गए हैं। उनमेंसे 'नृपतीना चरित' वाला जो श्लोक यहां अभिप्रेत है। इस लिए हमने केवल उस श्लोकको मूल पाठमे ले लिया है। और पुराने पाठको निकाल दिया है।

इस प्रकारके नाटकके अभिनयकेलिए मुख्य रूपसे मध्यम आकारका मण्डप ही उपयुक्त होता है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

शेषास्तु प्रकृतयो भाण-प्रहसनादौ । 'यथा वक्ष्यति—

विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहार्यश्च' । [ना० १८-१०८]

तथा—

भगवत्तापसविप्रैरन्यैरपि हास्यवादसम्बद्धम्' । इत्यादि । [१८-१०३]

अभिनव–शेष [सर्वसाधारण या तापस विप्र आदि] प्रकृतियाँ भाण प्रहसन आदिमें [आती हैं] जैसा कि [आगे] कहेंगे–

अभिनव०—नाना अवस्थाओंसे युक्त और एक पात्र वाला 'भाण' होता है।

'भाण' का सम्पूर्ण लक्षण नाट्यशास्त्रके १८ वें अध्यायमें इस प्रकार दिया गया है—

भाणस्यापि तु लक्षणमतः परं सम्प्रवक्ष्यामि ॥ १०७ ॥
आत्मानुभूतशंसी परसंश्रयवर्णनाविशेषस्तु ।
विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहार्यश्च ॥ १०८ ॥
परवचनमात्मसंस्थं प्रतिवचनैरुत्तमोत्तमग्रथितैः ।
आकाशपुरुषकथितैरङ्गविकारैरभिनयेच्च ॥ १०९ ॥
धूर्तविटसम्प्रयोज्यो नानावस्थान्तरात्मकश्चैव ।
एकाङ्को बहुचेष्टः सततं कार्यो बुधैर्भाणः ॥ ११० ॥

अभिनवगुप्तने यहाँ उदाहरणमें केवल एक पंक्ति मात्र दिखलानेके लिए उद्धृत की है कि दिव्य पात्रों और राजा आदि महापुरुषोंके चरित्रोंको छोड़कर साधारणजनोंके चरित्रोंके आधारपर 'भाण' 'प्रहसन' आदिकी रचना की जाती है और इनका अभिनय सबके बाहर मण्डपमें होता है। 'प्रहसन' का लक्षण निम्न प्रकार है—

प्रहसनमपि विज्ञेयं द्विविधं शुद्धं तथा च सङ्कीर्णम् ।
वक्ष्यामि तयोर्युक्त्या पृथक् पृथग् लक्षणविशेषम् ॥ १०२ ॥
भगवत्तापसविप्रैरन्यैरपि हास्यवादसम्बद्धम् ।
कापुरुषसम्प्रयुक्तं परिहासाभाषणप्रायम् ॥ १०३ ॥
अविकृतभाषाचारं विशेषभावोपपन्नचरितपदम् ।
नियतगतिवस्तुविषयं शुद्धं ज्ञेयं प्रहसनं तु ॥ १०४ ॥
वेश्याचेटनपुंसकविटधूर्ता बन्धकी च यत्र स्युः ।
अनिभृतवेषपरिच्छदचेष्टितकरणं तु सङ्कीर्णम् ॥ १०५ ॥
लोकोपचारयुक्ता या वार्ता यश्च दम्भसंयोगः ।
स प्रहसने प्रयोज्यो धूर्तविवादसम्पन्नः ॥ १०६ ॥ [ना० १८]

'प्रहसन' के इसी लक्षणमेंसे उदाहरण रूप पंक्ति यहाँ उद्धृत की है—

अभिनव०—तथा–

अभिनव०—संन्यासी [भगवान्], तपस्वी, ब्राह्मण या अन्योंके हास्यवादसे युक्त [प्रहसन होता है]। इत्यादि।

---

१. न भ प्रभ। २. हार्यश्च। ३. न नास्त्यतो ... ४. न भ 'धूर्तविवाद' इति नास्ति।

पाठसमीक्षा—इस स्थलका पाठ भी अत्यन्त अशुद्ध रूपमें पूर्व-संस्करणोमें छपा है। प्रथम वाक्यमें वाक्यके आरम्भमें ही 'मण्डप' शब्द दिया गया है जो बिल्कुल अनुचित स्थानपर है। उसका प्रयोग 'ज्येष्ठप्रमाणो मण्डपो डिमप्राये' इस रूपमें होना चाहिए था। इसी प्रकार दूसरी जगह 'मध्यमप्रमाण.' के स्थानपर 'मध्यमप्रमाण' पाठ छप गया था। वैसे 'प्रमाण' शब्द नपुंसकलिङ्ग होनेसे 'प्रमाण' प्रयोग बनता है। परन्तु यहां वह पुल्लिङ्ग 'मण्डप' शब्दके विशेषण रूपमें प्रयुक्त हुआ है। अत. 'मध्यमप्रमाण' यह पुलिङ्गका ही प्रयोग होना चाहिए।

पाठसमीक्षा—ये दोनो तो साधारण अशुद्धिया थी किन्तु अगली अशुद्धि बडी भयङ्कर अशुद्धि है। राजा आदि सरीखे महापुरुषोके चरित्रका चित्रण नाटक आदिमें किया जाता है। उनका अभिनय मध्यम प्रमाण वाले मण्डपमें होना चाहिए। इस बातके प्रतिपादनकेलिए नाटकोमें राजा आदिके चरित्रका चित्रण होता है इस बातको नाटकके लक्षण द्वारा पुष्ट करनेके निमित्त ग्रन्थकार आगे नाटकका लक्षण उद्धृत करना चाहते हैं। परन्तु बडौदा वाले दोनों संस्करणोमें यहांपर नाटकके लक्षणके बजाय 'डिम' का लक्षण फिर दुबारा छाप दिया गया है। 'डिम' लक्षण अभी ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। उसका ही पहिला श्लोक नाटकके लक्षणके रूपमें यहां फिर मुद्रित कर दिया गया था। केवल 'नृपतीना यच्चरित' इतना-सा टुकडा नाटक-लक्षणका दिया है। नाटक-लक्षणके स्थानपर डिम-लक्षणको दुबारा उद्धृत कर देना भयङ्कर भूल है। हमने उसका सशोधन कर नाटक-लक्षणका 'नृपतीना यच्चरित' वाला पूरा श्लोक मूल पाठमें रखा है। पर वह नाटकका पूरा लक्षण नही है। नाटचशास्त्र के १८ वें अध्यायमें नाटकका बहुत विस्तारके साथ विवेचन किया गया है। उसमें नाटकके लक्षणसे सम्बद्ध मुख्य भाग निम्न प्रकार है—

प्रख्यातवस्तुविषय प्रख्यातोदात्तनायक चैव।
राजर्षिवश्यचरित तथैव दिव्याश्रयोपेतम्॥ १०॥
नानाविभूतिभिर्युत ऋद्धिविलासादिभिर्गुणैश्चैव।
अङ्कप्रवेशकाढ्य भवति हि तन्नाटक नाम॥ ११॥
नृपतीना यच्चरित नानारसभावचेष्टित बहुधा।
सुखदुःखोत्पत्तिकृत भवति हि तन्नाटक नाम॥ १२॥
ना० शा० अ० १८। १०-१२।

पूर्व-संस्करणोमें नाटकके लक्षणके प्रदर्शक जो श्लोक दिए हैं वे ठीक नही हैं। इसके पहिले जो श्लोक 'डिम' के लक्षण रूपमें उद्धृत किया गया था उसी श्लोकको लेखककी असावधानीसे दूबारा नाटकके लक्षणके रूपमें फिर उतार दिया गया है। यह बडी भयङ्कर भूल है। पाण्डुलिपिके लेखकको यह पता नही चला कि वह नाटकके लक्षणके स्थानपर 'डिम' का लक्षण जिसे कि अभी लिख चुका है दुबारा फिर उतार रहा है। यह सब प्रामादिक पाठ है। इसके स्थानपर नाटकका लक्षण दिया जाना चाहिए था। नाटच-शास्त्रके १८ वें अध्यायमें नाटकके लक्षणमें कई श्लोक दिए गए हैं। उनमेंसे 'नृपतीना चरित' वाला जो श्लोक यहां अभिप्रेत है। इस लिए हमने केवल उस श्लोकको मूल पाठमे ले लिया है। और पुराने पाठको निकाल दिया है।

इस प्रकारके नाटकके अभिनयकेलिए मुख्य रूपसे मध्यम आकारका मण्डप ही उपयुक्त होता है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

शेषास्तु प्रकृतयो भाण-प्रहसनादौ । 'यथा वक्ष्यति—

विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहार्यश्च' । [ना० १८-१०८]

तथा—

भगवत्तापसविप्रैरन्यैरपि हास्यवादसम्बद्धम्' । इत्यादि । [१८-१०३]

अभिनय-शेष [सर्वसाधारण या तापस विप्र आदि] प्रकृतियाँ भाण प्रहसन आदिमें [आती हैं] जैसा कि [आगे] कहेंगे—

अभिनव०—नाना अवस्थाओंसे युक्त और एक पात्र वाला 'भाण' होता है।

'भाण' का सम्पूर्ण लक्षण नाट्यशास्त्रके १८ वें अध्यायमें इस प्रकार दिया गया है—

भाणस्यापि तु लक्षणमतः परं सम्प्रवक्ष्यामि ॥ १०७ ॥
आत्मानुभूतशंसी परसंश्रयवर्णनाविशेषस्तु ।
विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहार्यश्च ॥ १०८ ॥
परवचनमात्मसंस्थं प्रतिवचनैरुत्तरोत्तरग्रथितैः ।
आकाशपुरुषकथितैरङ्गविकारैरभिनयेच्च ॥ १०९ ॥
धूर्त-विटसम्प्रयोज्यो नानावस्थान्तरात्मकश्चैव ।
एकाङ्को बहुचेष्टः सततं कार्यो बुधैर्भाणः ॥ ११० ॥

अभिनवगुप्तने यहाँ उसमेंसे केवल एक पंक्ति यह दिखलानेके लिए उद्धृत की है कि दिव्य पात्रों और राजा आदि महापुरुषोंके चरित्रोंको छोड़कर साधारण जनोंके चरित्रोंका आश्रय कर 'भाण' 'प्रहसन' आदिकी रचना की जाती है और उनका अभिनय सबसे छोटे स्तर [illegible] होता है। 'प्रहसन' का लक्षण निम्न प्रकार है—

प्रहसनमपि विज्ञेयं द्विविधं शुद्धं तथा च सङ्कीर्णम् ।
वक्ष्यामि तयोर्युक्त्या पृथक् पृथग् लक्षणविशेषम् ॥ १०२ ॥
भगवत्तापसविप्रैरन्यैरपि हास्यवादसम्बद्धम् ।
कापुरुषसम्प्रयुक्तं परिहासाभाषणप्रायम् ॥ १०३ ॥
अविकृतभाषाचारं विशेषभावोपपन्नचरितपदम् ।
नियतगतिवस्तुविषयं शुद्धं ज्ञेयं प्रहसनं तु ॥ १०४ ॥
वेश्या-चेट-नपुंसक-विट-धूर्ता बन्धकी च यत्र स्युः ।
अनिभृतवेषपरिच्छद-चेष्टितकरणैस्तु सङ्कीर्णम् ॥ १०५ ॥
लोकोपचारयुक्ता या वार्ता यश्च दम्भसंयोगः ।
स प्रहसने प्रयोज्यो धूर्तविटविवादसम्प्रयुक्तः ॥ १०६ ॥ [ना० १८]

'प्रहसन' के इसी लक्षणमेंसे उदाहरण एक पंक्ति यहाँ उद्धृत करते हैं—

अभिनव०—जैसा—

अभिनव०—सन्यासी [भगवान्], तपस्वी, ब्राह्मण या अन्योंके हास्यवादसे युक्त [प्रहसन होता है]। इत्यादि।

---

1. [illegible] । 2. [illegible] । 3. [illegible] । 4. [illegible] 'धूर्तविवाद' इति नास्ति ।

एवम्भूतप्रकृतिप्रधाने प्रयोगे कनीय प्रमाणो मण्डप इति। एषा मण्डपाना मध्ये यो विनिर्णयो नृपतिप्राय एव नाटकप्रयोगो मध्यमे मण्डपे, सर्वसाधारणः कनीयसि, डिमरूप एव च ज्येष्ठमण्डपे इति, त वक्ष्यामि इति।

अयमभिप्राय -ज्येष्ठमाने नाटकाटिप्रयोगसौकर्याभावात् मध्यम एव युक्त। स एव विनिर्णय। निर्णयो विविधोऽपि दिव्यनृपप्रकृत्यादिस्वभावो निश्चय आभिमुख्य अभिनयप्रयोगद्वारेण नीयते यत्रेति ॥१६॥

अभिनव०—इस प्रकारके [सामान्य एव स्वल्प] पात्रोके प्रयोगमे कनिष्ठ प्रमाण वाला मण्डप होना चाहिए। इन [मण्डपो] के विषयमे जो विशेष 'निर्णय' अर्थात् राजा आदि [के चरित्र] से युक्त प्रयोग ही मध्यम मण्डपमे, सर्वसाधारण [विप्र आदिके चरित्र वाले प्रयोग] कनिष्ठ मण्डपमे और डिम-सरीखे प्रयोग ही ज्येष्ठ-मण्डप होने चाहिए यह [जो विशिष्ट निर्णय है] उसको कहूगा।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय है कि—ज्येष्ठ प्रमाण वाले मण्डपमे नाटक आदिके प्रयोग मे सौकर्य न होनेके कारण [उन नाटकादिके प्रयोगकेलिए] मध्यम [परिमाण वाला मण्डप] ही उपयुक्त होता है। यही [विशिष्ट-निर्णय] 'विनिर्णय' है। विविध प्रकारका भी दिव्य तथा नृप आदिका स्वभाव जहाँ [जिस नाटकमे] प्रयोगके द्वारा निश्चय अर्थात् आभिमुख्य [साक्षात्कार] को प्राप्त कराया जाता है [उस नाटकादिका अभिनय मध्यम मण्डपमे ही होना चाहिए यही 'विनिर्णय' है]।

प्रथम-सस्करणमे इस स्थलका पाठ निम्न प्रकार से छपा था—

पाठसमीक्षा—'एषा मण्डपाना मध्ये यो विनिर्णय एव सर्वसाधारण मध्यमे मण्डपे कनीयसि च डिमरूप एव मण्डप त वक्ष्यामीति।'

द्वितीय सस्करणमें उसे मिश्र सुधार कर निम्न प्रकार पाठ दिया गया है—

'एषा मण्डपाना मध्ये यो विनिर्णय एव सर्वसाधारण मध्यमे मण्डपे नाटकभाणप्रयोगात् कनीयसि च डिमरूपे एव (च) मण्डप (प) त वक्ष्यामीति।' ये दोनो ही पाठ अशुद्ध हैं। इनका कोई स्पष्ट अर्थ समझमें नही आता है। 'सर्वसाधारण मध्यमे मण्डपे' यह बात भी ठीक नही है। सर्वसाधारण भाण प्रहसन आदि रूपक भेदोका अभिनय मध्यम-मण्डपमें नही अपितु कनिष्ठ मण्डपमें होना चाहिए। इसलिए इस 'सर्वसाधारण' पाठका सम्बन्ध अगले 'कनीयसि' पदके साथ है। इसलिए बीचमेसे 'मध्यमे मण्डपे' को हटा कर 'सर्वसाधारण.' के पहिले रखना पड़ेगा। मध्यम-मण्डप नृपतिप्राय चरित्रोकेलिए बतलाया गया है इसलिए उसके पूर्व 'नृपतिप्राय' पाठ और होना चाहिए। इसके बाद 'डिमरूप एव मण्डप' पाठ भी ठीक नही है। उसमें 'मण्डप' के स्थानपर 'ज्येष्ठ-मण्डपे' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार पाठसशोधन करनेपर इस वाक्यकी रचना यो होगी—

'एषा मण्डपाना मध्ये यो विनिर्णयो, नृपतिप्राय एव नाटकप्रयोगो मध्यमे मण्डपे' सर्वसाधारण कनीयसि, डिमरूप एव च ज्येष्ठमण्डपे इति, त वक्ष्यामीति'।

इस प्रकारका पाठ होनेपर ही अर्थकी सङ्गति लगती है अन्यथा नही। इसलिए हमने सशोधित रूपमें इस पाठको प्रस्तुत किया है पूर्व-सस्करणोके पाठ बिल्कुल अशुद्ध है ॥१६॥

तं दर्शयति 'चतुःषष्टिकरान्' इत्यादि—

भरत०—'चतुःषष्टिकरान् कुर्याद् दीर्घत्वेन तु मण्डपम्'।
'द्वात्रिंशतं च विस्तारात्, मर्त्यानां यो भवेदिह' ॥ १७ ॥

प्रयोक्तुः पुरस्तात् पृष्ठतश्च दीर्घत्वं, पार्श्वयोर्विस्तारः। मर्त्यानामित्यनेन [1]किमतोऽधिकप्रमाणमण्डपकरणात्। प्रयोगो नैव वेद्यत इत्याशयः ॥१७॥

विकृष्ट मध्यम मण्डपका परिमाण—

अभिनव०—उस [प्रमाण विषयक विनिर्णय] को 'चतुःषष्टिकरान्' इत्यादि [अगले श्लोक] से दिखलाते हैं—

भरत०—इन [मण्डपों] मेंसे जो मनुष्यों [के अर्थात् राजादिके परिवारके अभिनय करने] के लिए है उस [विकृष्ट मध्यम] मण्डपकी लम्बाई चौसठ हाथ और चौड़ाई बत्तीस हाथकी रखनी चाहिए। १७।

अभिनव—प्रयोग करने वालेके सामनेकी ओर और पीठकी ओर [मिला कर मण्डपकी लम्बाई] दीर्घत्व [समझना चाहिए] और [शेष] दोनों ओर [चौड़ाई] विस्तार [समझना चाहिए]। 'मर्त्यानां' इस [पद] से, व्यर्थमें [अधिक बड़ा] मण्डप बनानेसे क्या लाभ। क्योंकि [बड़े मण्डपमें किए जाने वाला] प्रयोग [अस्पष्ट हो जाने से ठीक तरह] समझमें नहीं आ सकता है। यह अभिप्राय है।

पाठसमीक्षा—बड़ोदा वाले दोनों संस्करणोंमें इस स्थलका पाठ बहुत अशुद्ध और अस्त-व्यस्त रूपमें छपा है। उसमें १७ १८ दोनों कारिकाओंके, और उनके साथ १६ वीं कारिकाकी व्याख्याके कुछ भागको एक दूसरेके भीतर मिला कर इस प्रकारसे अस्त-व्यस्त रूपमें छाप दिया गया है कि किसीका भी अर्थ ठीक तरहसे समझमें नहीं आता है। यों तो ये दोनों कारिकाएं बड़ी सीधी सादी और सरल हैं। उनकी व्याख्या भी बड़ी ही सरल है किन्तु उसका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें जिस प्रकारसे छापा गया है उसने इस स्थलको अभिनवभारतीको एक दम दुरूह बना दिया है। उसको ठीक तरहसे समझनेके लिए हमें [illegible] करना होगा। पहिले हम पाठको जिस रूपमें वह पूर्व संस्करणोंमें छपा हुआ है ठीक उसी रूपमें नीचे उद्धृत करते हैं। पूर्व संस्करणोंका पाठ निम्न प्रकार है—

'प्रयोक्तुः पुरस्तात् पृष्ठतश्च [illegible] [illegible] [illegible]

---

१ [illegible] २. [illegible] ३. [illegible] ४ [illegible] ५ [illegible] ६ [illegible] ७ [illegible]

इस पाठको पढनेसे इस अनुच्छेदका कोई भी अर्थ समझमे नही आता है। इसका कारण पाठको अस्त-व्यस्त रूपमें मुद्रित करना है। यदि क्रमको ठीक करके भिन्न प्रकारसे वाक्य विन्यास कर दिया जाय तो सारा अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

अपने कथनको स्पष्ट करनेकेलिए हम प्रकृत सारे पाठको छ वाक्यो या खण्डोमे विभक्त कर दुबारा फिर नीचे उद्धृत कर रहे हैं। इसमें पाठका आनुपूर्वी क्रम तो वही है जो वडोदा वाले सस्करणोमे दिया गया है। हमने केवल अलग-अलग खण्डोमें उसका विभाजन कर दिया है। पूर्व-सस्करणोके क्रमसे प्रकृत पाठ निम्न प्रकार छपा है—

१ प्रयोक्तु पुरस्तात् पृष्ठतश्च।

२ मण्डपेऽस्मिन् सति करणार्हो न भवतीत्यर्थं। कर्तृभिरिति किं तेषा वृथा प्रयासोत्पादनेनेति यावत्। तत्रेति अतोऽधिकप्रमाणेऽत्यन्त न्यूनप्रमाणे चेत्यर्थ। नाट्यमिति सकलावान्तरभेदे प्रभेद दर्शयितुम्। नाट्यतोऽभिव्यक्त [नाट्य यतोऽभिव्यक्त] भवतीति समुदायाभिप्रायेण मन्तव्यम्।

३ तदेव दर्शयति मण्डप इति।

४ दीर्घत्वम्। पार्श्वयो. विस्तार।

५ मर्त्यानामित्यनेन मण्डपकरणात् किमित्यकारण प्रयोगेणैव वेद्यते इत्याशय।

६ एतदेवाह अत ऊर्ध्वमिति। अत इति एवविधो यतो मध्यमोऽस्ति ततो हेतोरित्यर्थः। ऊर्ध्वमिति प्रमाणस्याधिक्य न्यूनतातिरेकाभ्यामिति मन्तव्यम्। कर्तव्य इति।

१७-१८ तथा १९वी कारिकाकी व्याख्याको एक दूसरेके भीतर मिला कर इस स्थलकी अभिनवभारतीका पाठ इस रूपमें पूर्व-सस्करणोमें छपा है। इसको बार-बार पढनेपर भी उसका अर्थ ठीक तरहसे समझमें नही आता है। उसको स्पष्ट रूपसे समझनेकेलिए हमें इन वाक्योका अपने क्रमसे पुनर्विन्यास करना होगा। इसमें सत्रहवी और अठारहवी कारिकाओकी पूर्ण व्याख्या एक-दूसरेके भीतर मिली हुई है। पहिले सत्रहवी कारिकाको लीजिए। सत्रहवी कारिकाके 'दीर्घत्वेन', 'विस्तारात्' और 'मर्त्यानाम्' इन तीन पदोकी व्याख्या इसमे की गई है। पर वह इकट्ठी नही, अलग-अलग करके यहाँ छपी हुई है। उसको एक जगह पूरा करनेकेलिए हमे प्रथम तथा चतुर्थ तथा पञ्चम खण्डोको इकट्ठा करना होगा।

तदनुसार 'प्रयोक्तु पुरस्तात् पृष्ठतश्च 'दीर्घत्वम्'। पार्श्वयो 'विस्तार.'।

यह सत्रहवी कारिकाके 'दीर्घत्वेन' तथा 'विस्तारात्' पदोकी व्याख्या बनती है। पूर्व सस्करणोमें इसके प्रथम और अन्तिम भागोको पाँच छ पक्तियोके व्यवधानसे छापा गया था इस कारण उसका कोई अर्थ समझमें नही आता था। अब दोनो भागोको मिलाकर पढनेसे इस भागका अर्थ तो बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। दीर्घत्वका अर्थ लम्बाई और विस्तार शब्दका अर्थ चौडाई है। नाट्य-मण्डपमें प्रयोग करने वाले नट जिस ओरको मुख करके अभिनय करते हैं उस दिशामे प्रयोक्ताके आगे पीछेको मिला कर नाट्य-मण्डपकी लम्बाई या दीर्घत्व माना जाता है। और प्रयोक्ताके दाए बाए दोनो ओरकी दिशाका भाग नाट्य-मण्डपका विस्तार या चौडाई मानी जाती है। यही व्याख्या यहाँ अभिनवगुप्तने प्रस्तुत की है। किन्तु पूर्व सस्करणोमे उसका 'प्रयोक्तु पुरस्तात् पृष्ठतश्च' इतना भाग तो प्रथम खण्डमे ठीक स्थान पर छापा गया था किन्तु शेष भाग 'दीर्घत्वम्। पार्श्वयो विस्तार' यह भाग पाँच-छ पक्तियोके बाद चतुर्थ खण्डमे छापनेसे उनका अर्थ समझमें नही आता था अब उन दोनोको मिला देनेसे इस भागका अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

पाठसमीक्षा—पांचवें मण्डप अर्थात् मणि मण्डपमें इसी कारिकाके 'मर्त्यानां' पदकी व्याख्या की गई है। किन्तु वह भी स्पष्ट नहीं हो रही है। इसका कारण उसके पाठका बहुत अंशमें त्रुटित होना है। उसमें एक जगह तो 'प्रयोगेत्येव [प्रयोगो नैव]' इस प्रकार दो पाठ देकर पाठकी सन्दिग्धता पूर्व-संस्करणके सम्पादक महोदयने ही सूचित कर दी है। पर उससे अतिरिक्त शेष पाठ भी बड़ा अस्पष्ट है। उसमें थोड़ा-सा बदल कर यदि 'मर्त्यानामित्यनेन पराक्रम्य मल्लकरणात् सिंग'। प्रयोगो नैव वेदके इत्याशय.' इस रूपमें रखा जाय तो कुछ अर्थ समझमें आ सकता है। इस दशामें उसका अर्थ यह होगा कि—'मर्त्यानाम्' इस पदसे यह मालूम है कि मनुष्योंके अतिरेके प्रतिरूपके निमित्त इसमें मल्ल मण्डप क्यों बनानेमें क्या लाभ। यह निश्चय है कि इसमें प्रयोग ठीक तरहसे देखनेमें नहीं आता। इस प्रकार अठारहवीं कारिका की अभिनवभारतीका संशोधित पाठ निम्न रूपमें होना चाहिए—

प्रयोगस्तु पुरस्तात् प्रकृतस्य दीर्घतरम्। पादवंशो-[illegible]। मर्त्यानामित्यनेन पराक्रम्य मल्लकरणात् सिंगिति। प्रयोगो नैव वेदक इत्याशय.।

हमने इसी रूपमें संशोधित पाठ मूलमें प्रस्तुत किया है।

अठारहवीं कारिकाके पाठका अनुसन्धान—

पाठसमीक्षा—इसके बाद अठारहवीं कारिकाकी व्याख्या आती है। पर वह भी विद्वान् सम्पादकोंसे पकड़ी नहीं, अस्त-व्यस्त रूपमें और त्रुटितरूपसे छापी गई है। ऊपर दिए हुए उदाहरणमें स्थित मूल पाठको लिया जाय तो उसको देखते ही यह ज्ञात हो जाता है कि अठारहवीं कारिकाकी व्याख्या यहींसे प्रारम्भ हो रही है। '[illegible] एव ज्वरंमिति' यह अठारहवीं कारिकाकी अवतरणिका है। 'एव ज्वरंश' यह उसीका प्रतीक भाग है। इसलिए यह स्पष्ट है कि अठारहवीं कारिकाकी अभिनवभारती यहींसे प्रारम्भ होती है। परन्तु पूर्व-संस्करणोंमें इसको गलत ढंगसे छापा गया है। इस मण्डपमें १८वीं कारिकाके 'एव' और 'ज्वर्यंग्' इन दो पदोंकी व्याख्या तो छूट गई है। उसके बाद 'कार्य्य' यह पद प्रतीक रूपमें उठा लिया है किन्तु उसकी व्याख्या नहीं की है। यह पाठभाग अधूरा रह गया है। इसकी पूर्तिके लिए शेष पाठ हमें दूसरी जगह ढूँढना होगा। और वह हमें आगेके [illegible] द्वितीय मण्डपमें मिलेगा। [illegible] चतुर्थ मण्डप और उसके बाद द्वितीय मण्डपको जोड़नेसे अठारहवीं कारिकाकी व्याख्या पूर्ण होती है। इन दोनों मण्डपोंकी इन संशोधित अंशोंको मिलानेसे अठारहवीं कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ निम्न प्रकार बनता है—

[illegible] 'एव ज्वरंम्' इति। 'एव' इति [illegible]। '[illegible]' इति [illegible]। '[illegible]' इति [illegible]। '[illegible]' इति [illegible]। '[illegible]' इति [illegible]। [illegible]।

पाठसमीक्षा—[illegible] अठारहवीं कारिकाकी अभिनवभारती [illegible]। [illegible] है कि [illegible] रूपमें [illegible] प्रतीक रूपमें [illegible]। [illegible] दूसरे [illegible] पूर्व-संस्करण में [illegible] है।

एतदेवाह अत ऊर्ध्व नेति—

भरत०—अत ऊर्ध्वं न कर्तव्यः कर्तृभि-र्नाट्यमण्डप ।
यस्मादव्यक्तं भाव हि तत्र नाट्यं व्रजेदिति ॥१८॥

'अत' इति एव विधो यतो मध्यमोऽस्ति ततो हेतोरित्यर्थ । 'ऊर्ध्वम्' इति प्रमाणस्याधिक्य न्यूनातिरेकाभ्यामिति मन्तव्यम् । 'न 'कर्तव्य' इति मण्डपेऽस्मिन् सति करणार्हो न

पाठसमीक्षा—दूसरी अशुद्धि यह है कि 'नाटयतोऽभिव्यक्त भवति' यह जो पाठ पूर्व-सस्करणोमें छापा गया है वह भी अशुद्ध है । पूर्व-सस्करणोके सम्पादक महोदयने भी 'नाट्य यतोऽभिव्यक्त भवति' इस प्रकारका दूसरा पाठ भी उसके साथ छाप कर इस पाठकी सन्दिग्धताको सूचित किया है । किन्तु जो दो प्रकारके पाठ पूर्व-सस्करणोमें दिए गए हैं वे दोनो ही अशुद्ध हैं । वे दोनो पाठ ग्रन्थकारके अभिप्रायको व्यक्त करनेमें न केवल असमर्थ हैं अपितु उसके अभिप्रायके विपरीत भावको व्यक्त कर भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनोके मतोके विरोधी बन गए हैं । 'यस्मादव्यक्तभाव हि तत्र नाटय व्रजेत्' यह नाटयशास्त्रकी १८वी कारिकाका भाग है । इसकी व्याख्या ही अभिनवगुप्त यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं । अधिक बडा मण्डप न बनानेका कारण दिखलाते हुए भरतमुनिने यह कहा है कि बडे मण्डपमें नाटय अव्यक्त-अस्पष्ट हो जावेगा इसलिए अधिक बडा मण्डप नही बनाना चाहिए । किन्तु इसकी व्याख्याका जो पाठ पूर्व-सस्करणोमें छपा है वह इससे बिल्कुल उलटे अर्थको प्रकट करता है । 'नाटयतोऽभिव्यक्त भवति' और 'नाटय यतोऽभिव्यक्त भवति' इन दोनो ही पाठोमें 'अव्यक्त' के स्थानपर 'अभिव्यक्त' पद दिया गया है जो अभिप्रायको एकदम उलट देता है । अत अशुद्ध है । उसके स्थानपर 'नाटयमव्यक्त भवति' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए ।

इस प्रकार प्रथम चतुर्थ और पञ्चम इन तीन खण्डोको मिला कर १७वी कारिका की, और पञ्चम तथा द्वितीय खण्डो को मिला कर १८वी कारिका की व्याख्या पूरी होती है । अभी बीचका तीसरा खण्ड और शेष है यह १९वी कारिकाका प्रतीक भाग है । उसको भी यहाँ अ-स्थानमें मुद्रित किया है ।

इस प्रकार १७, १८ और १९ इन तीन कारिकाओकी व्याख्याको मिलाकर अस्त-व्यस्त रूपमें जो पाठ पूर्व-सस्करणोमें मुद्रित हुआ है वह अशुद्ध और असगत है । हमने उसको सशोधित करके ही पाठ यहा प्रस्तुत किया है ।

बडे प्रेक्षागृहसे हानि—

अभिनव०—इसी बातको 'अत ऊर्ध्वं' इत्यादि [श्लोक] से दिखलाते है—

भरत०—[मण्डप] निर्माताओंको इससे अधिक [बडा या छोटा] मण्डप नहीं बनाना चाहिए क्योंकि वहा [अर्थात् अधिक बडे अथवा अधिक छोटे मण्डपोमे] नाटय अस्पष्ट बन जाएगा । १८ ।

अभिनव०—'अत.' का अभिप्राय यह है कि, क्योंकि इस प्रकारका मध्यम मण्डप है इस कारणसे [बडा या छोटा मण्डप नहीं बनाना चाहिए] 'ऊर्ध्वं' [पद] से प्रमाणका आधिक्य, न्यूनता और अधिकता दोनो दृष्टियोमे समझना चाहिए । 'न कर्त्तव्य.'

---

१ ठ म तस्मान्नाटय । ट तस्मिन्नाटय । २ ड व्रजेयत । छ म भवेदिति । ३ कर्तव्यः ।

भवतीत्यर्थः । 'कर्तुं मि' इति किं तेषां वृथा प्रयासोत्पादनेनेति यावत् । 'तत्र' इति अतोऽधिकप्रमाणे, अत्यन्त न्यूनप्रमाणे चेत्यर्थः । 'नाट्यम्' इति सकलावान्तरभेद-प्रभेद' दर्शयितुम् । 'नाट्यं तत्राव्यक्तं भवतीति समुदायाभिप्रायेण मन्तव्यम् ॥ १८ ॥

तदेव दर्शयति मण्डप इति—

भरत०—मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चरितस्वरम् ।
'अनिस्सरणधर्मत्वाद् 'विस्वरत्वं भृशं व्रजेत् ॥ १९ ॥

प्रकर्षं प्रकृष्टं, तदतिक्रान्तो विप्रकृष्टो 'ज्येष्ठप्रमाणस्तस्मिन्, अथ यः कनीयो मान तस्मिंश्च । तत्र ज्येष्ठे पाठ्यं यन्मुख्यं 'नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता' [अ० १४-२] इति दर्शयिष्यते, तद्विस्वरत्वं विशेषेणोपतापकत्वं निकटवर्तिनः प्रति व्रजेत् । अत्र हेतुः उच्चं कृत्वा चरितोऽतिरंहसेन सम्पादित स्वरः उदात्तादिविभागो यत्र । तथा दूरवर्तिनः सामाजिकान् प्रति विस्वरत्वं विगतशब्दत्वं अनाकर्णनीयत्वं व्रजेत । तत्र हेतुः, अनिस्सरणधर्मत्वात् । निस्सारे देशे सरणं द्वितीयशब्दारम्भः, न यस्य धर्मो नास्ति । नाद्यानन्त्य प्रसरणाभावादित्यर्थः ।

का अभिप्राय यह है कि इस मध्यम-मण्डपके विद्यमान होने पर [अन्य कोई मण्डप] बनाने योग्य नहीं है । 'कर्तुं मि' का आशय यह है कि उनको व्यर्थ कष्ट देनेसे क्या लाभ है । वहाँ [तत्र] इस [पद] से इससे अधिक परिमाण वाले अथवा अत्यन्त न्यून परिमाण वाले [मण्डप] मे [नाट्य अव्यक्त हो जाता है] यह अभिप्राय है । नाट्य यह पद [रूपकोंके] समस्त भेद-प्रभेदोंके दिखानेके लिए है । नाट्य उसमें अव्यक्त हो जाता है यह बात समुदायके अभिप्रायसे कही है । [अर्थात् अत्यन्त बड़े या छोटे मण्डपमें रूपकके सभी भेदोंका अभिनय अव्यक्त हो जाता है] ॥१८॥

अभिनव०—इसी बातको 'मण्डपे' इत्यादि [अगले श्लोक] मे कहते हैं—

भरत०—विप्रकृष्ट [अर्थात् अत्यन्त बड़े तथा अत्यन्त छोटे दोनों प्रकारके मण्डपों] मे ज्येष्ठ प्रमाण वाले बड़े मण्डपमें] अत्यन्त उच्च स्वरसे उच्चारण किया गया पाठ्यभाग [निकटवर्तियोंके लिए अत्यन्त उच्च होनेसे कष्ट दायक तथा दूरवर्तियोंके लिए सुनाई न देने वाला होनेसे कष्ट दायक अर्थात् दोनोंके लिए] विस्वर हो जाता है । [तथा अत्यन्त छोटे मण्डपमें वही पाठ्य] निस्सरण [अर्थात् फैलने] धर्म [अवकाश] के न होनेसे विस्वर हो जाता है । १९ ।

अभिनव०—[बड़ेपन या छोटेपनका] प्रकर्ष [अर्थात् अतिशय होना] प्रकृष्ट [शब्दसे गृहीत होता] है । उसको अतिक्रमण कर जाने वाला । [मण्डप] विप्रकृष्ट अर्थात् ज्येष्ठ-प्रमाण वाला उसमें और कनिष्ठ-प्रमाण वाला उसमें भी [पाठ्य विस्वर हो जाता है] इनमेंसे ज्येष्ठ [मण्डप] मे पाठ्य जिसको कि [१४वें अध्यायमें] 'ना

१. [illegible] । २. [illegible] । ३. [illegible] ।
३. [illegible] । ५. [illegible] ।
४. [illegible] । ५. [illegible] । ६. [illegible] ।
७. [illegible] । ८. [illegible] । ८. [illegible] ।

तथातिकनीयसि मण्डपे पाठ्यमुच्चरितस्वर सदनिस्सरणधर्मत्वात् 'अनुरण-नात्मकमधुरशब्दान्तरानारम्भात् विनष्ट स्वरो माधुर्यं[2] यस्य तादृशत्व व्रजेत् । अनुरणन हि स्वरस्य [3]रूपमिति गेयाधिकारे वक्ष्याम । अनन समानयोगक्षेमत्वात् [4]गीतातोद्यविस्वरत्वमपि लक्षित भवति । तथा चोपसहरिष्यति 'गेय च' इति । विस्वर-त्वमिति 'स्वृ-शब्दोपतापयो' इत्यस्य रूपम् ॥ १९ ॥

[पाठ्य] नाट्यका शरीर कहा जाता है' इस [श्लोक] के द्वारा मुख्य [अङ्ग] बतलाया जायगा वह विस्वरत्वको अर्थात् निकटवर्तियोके प्रति अत्यन्त उपतापकत्वको प्राप्त हो जाता है । इसमे हेतु दिखलाते हैं [उच्चरितस्वरम्] । उच्च करके अर्थात् अत्यन्त क्लेशसे जिसके स्वर अर्थात् काकु आदिके विभागका ज्ञान होता है । और दूरवर्तियोके लिए 'विस्वरत्व' अर्थात् विगतस्वरत्व अर्थात् [अत्यन्त धीमा हो जानेके कारण न सुनाई देने योग्य] अश्राव्यत्वको प्राप्त हो जाता है । उसका हेतु है 'अनिस्सरण-धर्मत्वात्' । समीपवर्ती देशमे जो द्वितीय शब्दकी उत्पत्ति वह निस्सरण धर्म [अर्थात् शब्दसे नई शब्द-धाराकी उत्पत्ति रूप धर्म] जिसमे न हो अर्थात् अत्यन्त दूर पहुच जानेसे शब्दका प्रसार न होने से [पाठ्य विस्वर हो जाता है] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें एक स्थानोपर विशेष पाठ-सशोधनकी आवश्यकता पडी है । अनुच्छेदके प्रारम्भमें कारिकामें आए हुए 'विप्रकृष्ट' शब्दकी व्याख्या की गई है । उसके साथ 'विप्रकृष्ट किन्नियोगमान तस्मिश्च' इस प्रकारका पाठ पूर्व सस्करणोमे छपा हुआ है । इसमे 'किन्नियोगमान' इस भागका कोई अर्थ नही निकलता है और न उसकी कोई सङ्गति लगती है । इस प्रसङ्गको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार यहाँ 'विप्रकृष्ट' शब्दसे ज्येष्ठ और कनिष्ठ दोनो प्रकारके मण्डपोका ग्रहण करना चाहते हैं । इसलिए 'विप्रकृष्ट' के बाद उसके अर्थके रूपमें पहिले 'ज्येष्ठप्रमाण' देना चाहिए । आगे 'तस्मिश्च' पाठ है इसलिए इसके बाद 'तस्मिन्' यह पाठ, और उसके बाद 'कनीयोमानः' पाठ होना चाहिए तब उसके बाद 'तस्मिश्च' पाठकी सङ्गति ठीक लग जाती है । इस प्रकार इस वाक्यका सशोधित पाठ 'प्रकर्ष प्रकृष्ट तदतिक्रान्तो विप्रकृष्टो ज्येष्ठप्रमाणस्तस्मिन्, अथ य कनियोमान तस्मिश्च' यह होना चाहिए । इसलिए हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है ।

अभिनव०—और अत्यन्त छोटे मण्डपमे [भी] उच्च स्वरसे बोला गया पाठ्य 'अनिस्सरणधर्म' वाला होनेसे अर्थात् अनुरणन रूप मधुर नए शब्द [अर्थात् मधुर गुञ्जन] का उत्पन्न करने वाला न होने के कारण जिसका स्वर अर्थात् माधुर्य विनष्ट होगया है इस प्रकारका होजाता है । अनुरणन [गुञ्जन] ही स्वरका रूप है यह गेयाधिकारमे [भरतमुनि स्वय ही] कहेगे । इसी [अर्थात् पाठ्य] के समान योग-क्षेम वाला होने से गीत और [आतोद्यो अर्थात्] वाद्योका विस्वरत्व भी लक्षित होता है । इसीलिए [भरतमुनि] 'गेय' च इस प्रकारका उपसहार करेंगे । 'विस्वरत्व' यह [शब्द] 'स्वृ-शब्दोपतापयो' इस [धातु] का रूप है । [इसीलिए विस्वरत्व का अर्थ 'विशेषेण उपतापकत्व' किया है] ।

---

१ भ अनुकरणात्मक । २ भ. मधुरो । ३ व पाठ्यसिद्धिरूपम् । ४ व अधिकातोद्यविस्वरत्व ।

प्रधानस्य पाठ्यस्य, प्रधानानुरञ्जनभूतस्य गीतातोद्यादेर्विनाशं प्रतिपाद्य अभिनय-वर्गस्यापि प्रतिपादयति यश्चापीति—

भरत०—'यश्चाप्यास्यगतो भावो नानादृष्टिसमन्वितः ।
'स वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां पराम्' ॥ २० ॥

आस्यगतो मुखगतो भावो योऽनुभावलक्षणो दृष्टि-बाष्प-स्वेद-वैवर्ण्यादि, तथा मुकुटप्रतिशीर्षकादि, तथाङ्गादाङ्गिकः । स वेश्मनः प्रकृष्टत्वादतिविस्तीर्णत्वादव्यक्ततां गच्छेत् । तथा प्रगतं दृष्टं दर्शनं दैर्घ्यं यस्य तस्य भावः, तत, परोक्षत्वादेतो परां द्वितीयामव्यक्ततामतिसामीप्यभूतां व्रजेत् । प्रगतमतिदूरत्वं कृत्वा योजना । एवमङ्ग-मण्डपाभिप्रायेणेदं व्याख्येयम् । अन्यथा 'तस्मात्प्रमाणमिष्यते' इत्युक्तमनुगतं न सिध्यति ॥२०॥

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें 'विस्तरस्य' शब्दकी व्याख्या करते हुए ग्रन्थकारने जो पंक्ति लिखी है उसका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें 'विस्तारस्य मधुरो यस्य' इस रूपमें छप गया था। परन्तु वह ठीक नहीं है। ग्रन्थकार 'विस्तर' पदका अर्थ दिखला रहे हैं। अतः यह 'विस्तरः स्वरो मधुरं यस्य' इस प्रकारका पाठ ठीक प्रतीत होता है।

पाठसमीक्षा—इसी अनुच्छेदमें 'प्रतिरागोद्यविस्तरस्य पठितं भवति' इस प्रकारका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें छपा था। उसमें 'प्रतिरागोद्य' शब्दका कुछ अर्थ नहीं बनता है। अतः यह अशुद्ध पाठ है। उसके स्थानपर 'गीतातोद्य' पाठ होना चाहिए। ग्रन्थकारने अगली २०वीं कारिकाकी जो अवतरणिका लिखी है उसमें भी 'गीतातोद्यादेर्विनाशं प्रतिपाद्य' लिखा है। इसके अनुसार भी उस स्थानपर 'गीतातोद्य' पाठ ही होना चाहिए। अतः हमने संशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है ॥ १९ ॥

अभिनव०—प्रधान भूत पाठ्य, और प्रधान [पाठ्य] के अनुरञ्जक गीत-वाद्य आदिके विनाशका प्रतिपादन करके, अभिनय-वर्ग [के विनाश] का भी प्रतिपादन 'यश्चापि' इत्यादि [अगले श्लोक] से करते हैं—

भरत०—नाना प्रकारकी दृष्टियों [अर्थात् मुखादि भाव-भङ्गियों] से युक्त जो [अभिनेताओंके] मुखका भाव है, नाट्यगृहके अति विस्तीर्ण [अथवा अधिक लम्बा] होनेसे [वह] अत्यन्त अस्पष्टताको प्राप्त हो जाता है।२०।

अभिनव०—'आस्यगत' अर्थात् मुखका भाव अर्थात् जो [विशेष प्रकारके] दृष्टि, आँसू, पसीना, विवर्णता आदि अनुभाव रूप, तथा मुकुट, पगड़ी आदि [आहार्य वेष-भूषा] रूप, और अङ्गोंसे आङ्गिक [अभिनय सूचित होता] है। वह भी नाट्यगृहके अत्यन्त विस्तीर्ण होनेसे अत्यन्त अस्पष्टताको प्राप्त हो जाता है तथा जिसका दृष्ट अर्थात् दर्शन अर्थात् दीर्घत्व प्रगत अर्थात् नष्ट हो गई है उसका भाव 'प्रदृष्टत्व'

१. ट. द. यश्चाप्यास्यगतो भावो भावदृष्टिसमन्वितः । [illegible] । द. ट., [illegible] भावदृष्टिसमन्वितः । [illegible] ।
२. [illegible] वेश्म । [illegible] । ३. [illegible] ।
४. [illegible] ।

तदाह प्रेक्षागृहाणामित्यादि—

भरत०—प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते ।
[1]यावत् [2]पाठ्यं च गेयं च तत्र श्रव्यतरं भवेत् ॥ २१ ॥

मध्ये भव मध्यमम्, तदिष्यते । यत सर्वेणा [3]रूपकाणां सम्बन्धि यत् पाठ्य प्रधान तनूरूप [4]प्राणोपरञ्जकरूप च गीत, चकारादातोद्य च श्रव्यतर भवति । द्वितीयचकारादभिनयान्तरमपि [5]दृश्यतर भवतीत्यर्थ ॥ २१ ॥

हुआ । उससे अर्थात् अत्यन्त छोटा होनेके कारण 'परा' अर्थात् दूसरे प्रकार की, अतिसामीप्यके कारण उत्पन्न होने वाली अव्यक्तताको प्राप्त होता है । पहिले अतिदूरत्वके कारण उत्पन्न होने वाली अव्यक्तता कही थी । इस प्रकार दोनो मण्डपोके अभिप्रायसे व्याख्या करनी चाहिए । अन्यथा 'इसलिए मध्यम मण्डप ठीक है' यह उपसंहार नहीं बनेगा । ॥ २० ॥

अभिनव०—उसी [मध्यम-मण्डपकी श्रेष्ठता] को 'प्रेक्षागृहाणा' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत० — इसलिए सारे प्रेक्षागृहोंमे मध्यम [प्रेक्षागृह सर्वोत्तम] इष्ट [माना जाता] है । क्योंकि उसमे जितना भी पाठ्य तथा गेय होता है वह सब अधिक स्पष्ट रूपसे सुनाई दे सकता है ।२१।

अभिनव०—मध्यमे होने वाला मध्यम [कहलाता] है । [मध्य शब्दसे 'मध्यान्म' सूत्रसे म-प्रत्यय होकर मध्यमशब्द बनता है] । वह पसन्द किया जाता है । क्योकि सारे रूपको मे जितना पाठ्य प्रधान शरीर रूप, और उसका प्राण या उपरञ्जक रूप गीत, तथा चकारसे वाद्य है वह सब अधिक स्पष्ट होता है । दूसरे चकार [के ग्रहण] से अन्य अभिनय भी अधिक स्पष्ट रूपसे दिखलाई देते हैं यह अभिप्राय है ।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी व्याख्याके पाठमें दो स्थानोपर साधारणसे सशोधनकी आवश्यकता पडी है । 'तनूरूपप्राणोपरञ्जकरूप' इस पुराने पाठमेंसे 'तनूरूप' अलग होना चाहिए। उसका सम्बन्ध 'पाठ्य' के साथ है । जैसा कि पहिले कह चुके हैं पाठ्य नाट्यका शरीर माना गया है । शेष 'प्राणोपरञ्जकरूप' यह भाग अलग होना चाहिए । यह 'गीत' का विशेषण है । तीसरे स्थानके पाठमें अधिक महत्वका सशोधन है । 'द्वितीयचकारादभिनयान्तरमपि श्रव्यतर भवतीत्यर्थ' इस प्रकारका पाठ प्रथम-सस्करणमें छपा था । परन्तु वह ठीक नही है । उसमें 'श्रव्यतर' के स्थानपर 'दृश्यतर' पाठ होना चाहिए । इसका कारण यह है कि पाठ्य गीत तथा वाद्य जितना नाटकका श्रव्य भाग है उसकी श्रव्यताका प्रतिपादन तो पहिली ही पक्तियोमें हो चुका है । अब कोई श्रव्यभाग शेष नही रहता है । जो अन्य अभिनय शेष रह जाते हैं वे श्रव्य नही अपितु 'दृश्य' है । इसलिए द्वितीय' चकारादभिनयान्तरमपि दृश्यतर भवति' यह पाठ ही होना चाहिए । यहाँ 'श्रव्यतर' पाठ ठीक नही है । द्वितीय सस्करणमें भी उसके स्थानपर 'दृश्यतर' पाठ दिया गया है । अत हमने सशोधित रूपमें उसी पाठको प्रस्तुत किया है ।।२१।।

---

१ त व यस्मात् । २. ड वाद्य च गेय च सुखश्रव्यतर भवेत् । श पुस्तके अय श्लोको नास्ति ।
३. म रूपाणाम् । ४. तनूरूपप्राणोपरञ्जकरूप च । भ प्राणभूतोप । म ततो'''रूप. प्राणभूतोप । ५ श्रव्यतरम् ।

[प्रक्षिप्त—प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः ।
विकृष्टः चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः ॥
कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं चतुरस्रं च मध्यमम् ।
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः ॥]

ननु यद्येवंभूतः प्रयोगक्रमस्तर्हि हस्तसमाश्रयेणैव विधिर्वक्तव्यः । सोऽपि यत्र परिपूर्णो नोपकारी तत्र [1]दण्डसमाश्रयेणानोद्यमानेन ।

२१वीं कारिकाके बाद फिर दो श्लोक प्रक्षिप्त आ गए हैं। इससे पूर्व ११वीं कारिका के बाद भी तीन श्लोक प्रक्षिप्त आए थे। उनमेंसे दो श्लोक बिल्कुल इसी प्रकारके थे। वे दुबारा यहाँ फिर उद्धृत कर दिए गए हैं। यहाँपर ये श्लोक केवल एक प्रतिमें ही पाए जाते हैं। इन पर अभिनवभारती नहीं है। प्रथम-संस्करणमें तो उनपर २५, २६ संख्या पड़ी है और कोष्ठमें भी नहीं दिया है। पर द्वितीय संस्करणमें इनको कोष्ठमें दिया गया है और उन पर संख्या भी नहीं डाली गई है। अतः ये प्रक्षिप्त हैं।

अगले श्लोककी पुनरुक्तिका परिहार—

इन दो श्लोकोंके समान 'देवानां मानसी सृष्टिः' इत्यादि अगला २२ श्लोक भी लगभग इसी रूपमें इससे पूर्व पांचवें श्लोकमें आ चुका है। यद्यपि अक्षरशः तो उसकी आवृत्ति यहाँ नहीं है किन्तु भावावृत्ति अवश्य है। इसलिए उसकी पुनरुक्तिका परिहार करनेके लिए अभिनवगुप्त उसकी व्याख्यासे पूर्व यह अवतरणिका लिख रहे हैं। उनका भाव यह है कि जहाँ पहिले बार यह श्लोक लिखा गया था वहाँ यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि देवताओंके लिए मण्डपकी स्थापना-विधिका उपदेश क्यों नहीं दिया गया है। केवल मनुष्योंके लिए ही उसका उपदेश क्यों दिया जा रहा है। इस प्रश्नका उत्तर वहाँ इस कारिका द्वारा यह दिया गया था कि देवताओंकी सारी सृष्टि उनके मनके अनुरूप मानसी हो सकती है इसलिए उनको मण्डपकी स्थापनाविधि बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। यहाँपर अब यह प्रश्न उठा है कि मनुष्योंके लिए जब हस्त-प्रमाणसे बना हुआ ज्येष्ठ मण्डप भी अनुपयुक्त हो जाता है तब दण्ड-प्रमाणसे मण्डपका विधान करनेकी क्या आवश्यकता है। इसका उत्तर देनेके लिए यहाँ देवताओं और मनुष्योंके भेदको दिखलाने वाली यह कारिका दुबारा लिखी गई है। इस प्रकार प्रयोजन-भेदसे एक ही बातको दुबारा कहा गया है। अतः उसे यहाँ पुनरुक्तिकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए। इसी बातको अगली पंक्तियोंमें लिखते हैं—

अभिनव०—अच्छा यदि इस प्रकारका प्रयोगका क्रम है [कि हस्त-प्रमाणसे बने ज्येष्ठ-मण्डपमें भी यह अनुपयुक्त हो जाता है] तो फिर हस्त-प्रमाणसे केवल ही विधान करना चाहिए [दण्ड-प्रमाणको बिल्कुल छोड़ देना चाहिए] और [देवता असुर आदिके चरित्रके अभिनयमें] जहाँ वहाँ पर [हस्त-प्रमाण] पूर्ण रूपसे उपकारी न हो वहाँ [भी चार हाथ वाले] दण्डका आश्रय न लेकर [बीता आदि] मापोंसे [दण्डके] प्रमाणसे नाट्य-मण्डपका विधान करना चाहिए। [अर्थात् यदि अधिक बड़े परिमाणके 'प्रमाण' पैमानेसे नापनेकी आवश्यकता पड़े तो 'चतुर्हस्तो भवेद् दण्डः' चार हाथ वाले दण्डके बजाय बीता आदि मापोंसे मापनेका विधान किया जा सकता है। चार हाथ वाले दण्डको मापका साधन बनाना बिल्कुल व्यर्थ है]।

---

1 दण्डसमाश्रयेण ।

अथ कदाचिद् दिव्यप्रकृति-प्रेक्षकाभिप्रायेण तदुच्यते तत्रापि क 'स्तोकान्तरन्तरत्वेन विशेष' इति न्यायेन केह सम्भावना इत्याशङ्का पराकर्तुं [2]श्लोको भावी। अत एव पूर्वश्लोकेन सह नात्र पौनरुक्त्य शङ्कितव्यम्। तस्यान्यथोपक्षेपात्।

[3]तञ्च श्लोकमाह 'देवाना' इत्यादि—

भरत०—देवानां मानसी सृष्टि-र्गृहेषूपवनेषु च।
[4]यत्नभावाद्विनिष्पन्नाः सर्वे भावा[5]हि मानुषा ॥ २२ ॥

अभिनव०—और यदि दिव्य प्रकृति [अर्थात् जिनका अभिनय किया जा रहा है उन देवता आदि] अथवा दिव्य प्रेक्षकोके अभिप्रायसे उसको कहा गया है [अर्थात् दण्ड-प्रमाणसे बड़े मण्डपका विधान किया गया है] तो उस [पक्ष] मे भी [हस्त प्रमाण और दण्ड प्रमाणसे नापनेमे] 'थोड़ा-सा भेद होनेसे कौन-सी विशेषता हो जाती है' [जिससे हस्त प्रमाण को छोड़ कर चौगुने बड़े दण्ड प्रमाणसे मंडप का विधान किया जाय। अर्थात् तनिक-सा भेद होनेसे कोई अन्तर नहीं पडता है इस कारण दंड-प्रमाणसे मडपका विधान व्यर्थ है] इस युक्तिसे [उस दड-समाश्रित मंडप विधानकी] यहा क्या [सम्भावना] आवश्यकता [या उपयोगिता] है ? इस आशङ्काके निवारण करनेके लिए [देवताओ और मनुष्योका भेद बतलाने वाला कोई] श्लोक होना चाहिए। [इस दृष्टिसे यहां 'देवाना मानसी सृष्टि' इत्यादि श्लोकसे देवताओकी विशेषताका प्रतिपादन किया है] इस लिए [इसी भावका जो इस अध्यायका पाचवा श्लोक पहिले दिया जा चुका है उस] पूर्व श्लोककेसाथ इसकी पुनरुक्तिकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योकि उसकी अवतारणा अन्य कारणसे की गई थी। [और इसकी अवतारणा अन्य प्रयोजनसे की गई है। इस प्रकार दोनोकी अवतारणा का प्रयोजन भिन्न-भिन्न होनेसे उनमे पुनरुक्ति नहीं समझी जा सकती है]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ कुछ वाक्य-रचनाके दोषके कारण और कुछ मुद्रणदोषके कारण जटिल-सा हो गया है। उसके समझनेमें कठिनाई होती है। 'तत्रापि क स्तोकान्तरत्वेनेति न्यायेन का इति सम्भावना' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोमें छपा है वह बडा अस्पष्ट-सा और अशुद्ध-सा प्रतीत होता है। उसकी ठीक सङ्गति नही लगती है। उसके बीचमें 'विशेष' पद कदाचित् कीटदष्ट होनेसे लुप्त हो गया है। उसको जोडनेसे कुछ तो अर्थ बनता है पर फिरभी पूर्ण रूपसे स्पष्ट नही होता है। उसके स्थान पर 'तेन केह सम्भावना' पाठ रखने पर कुछ अर्थ बन जाता है। इस प्रकार इस श्लोककी पुनरुक्तिका परिहार कर वृत्तिकार उसकी अवतारणा करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—उस 'देवाना' इत्यादि श्लोकको कहते हैं—

भरत०—देवताओकी गृहों तथा उपवनों [आदि] के विषयमे मानसी [अर्थात् सङ्कल्प मात्र से साध्य] सृष्टि है और मनुष्योके सारे पदार्थ प्रयत्नके द्वारा बनते हैं।२२।

---

१ क स्तोकान्तरत्वेनेति न्यायेन का इति [ह] सम्भावना। २ श्लोकोऽभावि। ३ तच्छ्लोक। ४ छ. म यत्र भावाद्विनिष्पन्ना। व यत्नभावा। ५ च म भावास्तु।

मनस्तदीयस्य सत्त्वबहुलत्वात् तत्कृत इन्द्रियविसर्जनलक्षणो व्यापारोऽनिरः-व्यापी। 'उपवनेषु' इति अविविक्तविततेषु। का कथा मण्डपादिषु। अत एव 'गृहेषु' इति बहुवचनमुपात्तम्। तेन तदपेक्षया ते मण्डपा उक्ता इत्यर्थः। न त्वेवं मानुषाणां राजसानां मनः ॥ २२ ॥

तदाह 'तस्माद्देवकृतैरिति—

भरत०—'तस्माद् देवकृतैर्भावैर्न विस्पर्धेत मानुषः।
मानुषस्य तु गेहस्य सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २३ ॥

अत एव तस्मान्मानुषस्यैव गेहस्य लक्षणं सम्यक् प्रवक्ष्यामि। तु-शब्द एवकारार्थः ॥ २३ ॥

अभिनव०—उन [देवताओं] के मनके सत्त्व-प्रधान होनेके कारण उनके द्वारा किया गया इन्द्रिय-विसर्जनरूप व्यापार [अर्थात् इन्द्रियोंके उपयोगके बिना ही मानस-सङ्कल्प जन्य सृष्टि] अत्यन्त व्यापक है [अर्थात् उनका सात्त्विक मन अपने सङ्कल्प मात्रसे किसी भी पदार्थकी रचना कर सकता है]। 'उपवनोंमें' अर्थात् [साधारण उपवनोंमें ही नहीं अपितु 'अविविक्त' अर्थात् अप्सराओं और नाना प्रकारकी भोग सामग्रीसे] भरे हुए और विस्तीर्ण उपवनोंमें [भी देवताओंकी सङ्कल्प-जन्य मानसी सृष्टि होती है तो फिर] मण्डप की तो क्या ही बात [अर्थात् वह तो उनके लिए कोई बड़ा कार्य ही नहीं है]। इसी लिए 'गृहेषु' यह बहुवचन ग्रहण किया गया है। अत एव उन [देवताओं] के अभिप्रायसे वे [दण्ड-समाश्रित प्रमाण वाले] मंडप कहे गए हैं। इन रजोगुण-प्रधान मनुष्योंके मन इस प्रकारके [अर्थात् मानसी सृष्टि करने में समर्थ] नहीं हैं। उनको प्रयत्न पूर्वक ही भवनोंका निर्माण करना होता है। अत एव उनके लिए केवल हस्त समाश्रित मानसे मण्डपोंका विधान किया है ॥२२॥

अभिनव०—'तस्माद्देवकृतैः' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते [अर्थात् देवताओंके पदार्थोंके साथ मनुष्यको स्पर्धा नहीं करनी चाहिए इस बातको] कहते हैं—

भरत०—इसीलिए देवताओंके बनाए [मण्डप-भवन आदि पदार्थों] के साथ मनुष्यको स्पर्धा नहीं करनी चाहिए। अब मैं मनुष्यके भवनोंके लक्षणका [अलग] विस्तार पूर्वक वर्णन [करूँगा] ॥२३॥

अभिनव०—क्योंकि ऐसा है [अर्थात् देवता अपने मंडप आदिको केवल सङ्कल्प मात्रसे बना सकते हैं किन्तु मनुष्योंको इसके लिए प्रयत्न करना होता है] इस लिए मैं मनुष्यके भवनोंके लक्षण-मंडपका ही लक्षण भली प्रकारसे कहूँगा। तु-शब्द यहाँ एवकारके अर्थमें है [अर्थात् केवल मनुष्योंके भवनोंके ही लक्षण ही हस्त-समाश्रित मानसे प्रमाण करूँगा। देवमण्डपोंका नहीं] ॥ २३ ॥

१ [illegible] २ [illegible] [illegible]। [illegible]। ३ देवकृतैः। ४ [illegible]।

सम्यगिति यदुक्त तदाह भूमेरित्यादि—

भरत०—[1]भूमेर्विभागं [2]पूर्वं तु परीक्षेत [3]प्रयोजक ।
ततो [4]वास्तु प्रमाणेन प्रारभेत [5]यदृच्छया ॥२४॥

विभागो [6]हेयोपादेयत्वेन । वास्त्वित्वति [7]गृहम् । 'प्रमाण च' इति [8]वक्ष्यमाणरूपत्वेन । प्रारभेत कर्तुमिति शेष ॥ २४ ॥

त विभागमाह समेत्यादि—

भरत०—समा स्थिरा च [9]कठिना[10] कृष्णा गौरी च या भवेत् ।
भूमिस्तत्रैव[11] कर्तव्य कर्तृभि-र्नाट्यमण्डपः ॥ २५ ॥

समा स्वभावान्नातिनिम्नोन्नतेत्यर्थ । स्थिरा अचलनस्वभावा । कठिना अनूषरा । कृष्णा गौरी चेति चो वार्थे । अन्ये तु व्यामिश्रितत्वमाहु । कर्तव्य इति करणार्ह ॥ २५ ॥

अभिनव०—भली प्रकार [कहूंगा] यह जो कहा था उसको 'भूमे' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—प्रयोजक [राजा आदि] पहिले भूमिके विभागको भली प्रकार देखे उसके बाद अपनी इच्छाके अनुसार [विकृष्ट आदि आकारके] वास्तु [अर्थात् गृह] की [निर्दिष्ट] प्रमाणके अनुसार रचना प्रारम्भ करावें ।२४।

अभिनव०—विभाग अर्थात् हेय-उपादेय रूपसे [भूमिके विभागको देखे]। वास्तु इससे गृह [अर्थात् मडप] का ग्रहण होता है । और 'प्रमाण च' इससे आगे वर्णित प्रमाणके अनुसार [यह अभिप्राय है]। 'प्रारभेत' [अर्थात् रचना कराना] प्रारम्भ करे यहाँ 'कतु' शेष रह गया है। [अर्थात् ऊपरसे जोड़ लेना चाहिए]।

पाठसमीक्षा—'वास्त्वित्वति ग्रहण' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोमें दिया गया था। परन्तु यहाँ 'ग्रहण' के स्थानपर 'गृहम्' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। क्योकि 'वास्तु' पद की व्याख्या 'ग्रहण' नही 'गृह' ही हो सकती है। अत हमने यही पाठ प्रस्तुत किया है ।।२४।।

अभिनव०—उस [भूमिके] विभागको 'समा' इत्यादिसे कहते है—

भरत०—जो भूमि समतल, मजबूत, ठोस, काली अथवा पीली [गौरी] हो उसी स्थान पर बनवाने वालोको नाट्य मण्डप बनवाना चाहिए ।।२५।।

अभिनव०—'समा' अर्थात् जो स्वभावसे अधिक ऊंची-नीची न हो। 'स्थिरा' हिलने वाली न हो। 'कठिना' [ऊषर] रेतीली न हो। 'कृष्णा गौरी च' यहा चकार 'वा' के अर्थमे है [अर्थात् काली या पीली हो] दूसरे [व्याख्याकार] तो [काली और पीली] मिश्रित हो यह कहते है। 'कर्त्तव्य' अर्थात् बनाना चाहिए ।।२५।।

---

१ प भूमिभाग परीक्षेत प्रथम नाट्यवेश्मन । २ ड अ प्रथमम् । ३ ठ म विचक्षण । ४ ठ अ म वास्तु प्रमाण च । ५. ठ शुभेच्छया । ६. म हेयोपादानत्वेन । ७ ग्रहणम् । ८ इत्युपलक्ष्यमाणरूपत्वेन । ९ तु । १० म प्रकठिना । त. ह्यकठिना । अ द्य. सुकठिना । ११. ठ. म भूमिस्तत्र तु ।

कथमित्याह प्रथममित्यादि—

भरत०—प्रथमं शोधनं कृत्वा लाङ्गलेन समुत्कृषेत्[1] ।
अस्थि-कील-कपालानि[2] तृणगुल्मांश्च शोधयेत् ॥ २६ ॥

शोधनमुपरिगताशुचिशर्कराद्यपसारणम् । ततो हलेनोद्धतगुल्मपाषाणादिकां कुर्यात् । एतदेवाहास्थीत्यादिना ॥ २६ ॥

एवं बाह्याभ्यन्तरतो भूमिशुद्धिं निरूप्यानन्तरकरणीयमाह शोधयित्वेति—

भरत०—शोधयित्वा वसुमतीं प्रमाणं निर्दिशेत् ततः ।
[3]पुष्यनक्षत्रयोगेन शुक्लसूत्रं [4]प्रसारयेत् ॥ २७ ॥

[5]कथं प्रमाणनिर्देश इत्याह पुष्येति । शुक्लसूत्रत्वं तावत् पिष्टरञ्जनादिना ॥२७॥

[प्रक्षिप्त—[6]त्रीण्युत्तराणि सौम्यं च विशाखापि च रेवती ।
हस्ततिष्यानुराधाश्च प्रशस्ता नाट्यकर्मणि ॥]

मण्डप निर्माणकी पूर्व पीठिका—

अभिनव०—कैसे [नाट्य-मण्डपको बनावे] यह 'प्रथमं' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—पहिले [भूमिको] साफ करके हलसे जोते । और हड्डी, कील कपालादि [अर्थात् खप्पड़ आदि] और घास फूस एवं झाड़ झंखाड़ आदिको उसमेंसे निकाल दे ॥२६॥

अभिनव०—शोधनसे तात्पर्य यह है कि ऊपरकी अशुद्ध मिट्टी तथा धूल [शर्करा] आदिको हटा दे । उसके बाद हलसे [जोत कर] झाड़ी पत्थर आदिको दूर कर दे । इसी बातको 'अस्थि कील-कपालादि' पदसे कहा है ॥ २६ ॥

अभिनव०—इस प्रकार बाहरी तथा भीतरी रूपसे भूमिकी शुद्धि करनेके उसके बाद क्या करना चाहिए यह बात 'शोधयित्वा' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—पूर्वोक्त [बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार] शोधन करके [पश्चात् भूमि] परिमाणका निश्चय करे । [उसके लिए] पुष्य नक्षत्रका योग होनेपर सफेद सूत [नापके निशान लगानेके, [illegible] करनेके लिए] डाले ॥२७॥

अभिनव०—[मंडपके] प्रमाणका निर्देश कैसे करे यह बात 'पुष्य' इत्यादि [उत्तरार्द्ध श्लोक] से कही है । शुक्लसूत्रत्व [अर्थात् यदि [illegible] रस्सी मूंज आदि का बना हो तो चूना या अन्य किसी भी] मिट्टी आदि से रंगने [से हो सकता है] ॥२७॥

प्रक्षिप्त श्लोक—'त्रीण्युत्तराणि' इत्यादि जो श्लोक ऊपर [illegible] दिया है यह प्रक्षिप्त श्लोक प्रतीत होता है । इसलिए उसे कोष्ठकमें दिया गया है । [illegible] कोष्ठकमें ही मुद्रित किया गया था । किन्तु उसमें २७वें श्लोक के [illegible] था । [illegible] २७वें श्लोकके बाद कर दिया है ।

---

१. [illegible] । २. [illegible] । ३. [illegible] । ४. [illegible] । ५. [illegible] । ६. [illegible] । ७. [illegible] ।

भरत०—कार्पासं[1] वाल्वजं वापि मौञ्जं बाल्कलमेव च ।
सूत्रं [2]बुधैस्तु कर्तव्यं [3]यस्य च्छेदो न विद्यते ।। २८ ।।

[4]चर्मकृत मानसूत्र न कार्यमिति तात्पर्यम् ।। २८ ।।

भरत०—अर्द्धच्छिन्ने भवेत् सूत्रे स्वामिनो मरणं ध्रुवम् ।
[5]त्रिभागच्छिन्नया रज्ज्वा [6]राष्ट्रकोपो विधीयते ।। २९ ।।

स्वामिन प्रेक्षापते ।। २९ ।।

भरत०—छिन्नायां चतुर्भागे प्रयोक्तुर्नाश उच्यते ।
[7]हस्तात् प्रभ्रष्टया वापि [8]कश्चित्त्वपचयो [9]भवेत् ।। ३० ।।

प्रयोक्तु-र्नाट्यचार्यस्य ।। ३० ।।

भरत०—तस्मान्नित्यं प्रयत्नेन [10]रज्जुग्रहणमिष्यते ।
कार्यं चैव [11]प्रयत्नेन मानं नाटचगृहस्य तु ।।३१।।

प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमिति अच्छेद्या [12]अनुभरणीया च रज्जु· ।

मानसूत्र किसका बनावें—

भरत०—कपासका या वाल्व [सन आदि या अन्य घास] का या मू ज या वल्कल [वृक्षकी छाल] का सूत्र [अर्थात् रस्सी] चतुर [कारीगरो] को बनानी चाहिए जो टूट न सके ।२८।

अभिनव०—इसका अभिप्राय यह है कि चमडेका मान-सूत्र [अर्थात् फीता] नहीं बनाना चाहिए ।। २८ ।।

भरत०—बीचमे [आधे परसे] सूत्र [रस्सी] के टूट जाने पर स्वामी [अर्थात् राजा आदि प्रेक्षापति] का निश्चित रूपसे मरण होता है। और तिहाई भागपर टूटनेसे राष्ट्रमे उपद्रव होता है ।२९।

अभिनव०—स्वामीका अर्थात् प्रेक्षापति [राजा आदि] का ।। २९ ।।

भरत०—चौथाई भागपर टूटनेसे प्रयोग करने वाले [नाटचाचार्य] का नाश होता है और हाथसे छूट जानेपर कोई हानि अवश्य होती है ।३०।

अभिनव०—प्रयोक्ता अर्थात् नाट्याचार्यका ।। ३० ।।

भरत०—इसलिए रस्सी [मान-सूत्र या फीता] को सदा प्रयत्न-पूर्वक पकडना चाहिए। और नाटच गृहकी नाप-तौल सावधानीके साथ करनी चाहिए ।।३१।।

अभिनव०—प्रयत्न-पूर्वक रस्सीको ग्रहण करना चाहिए इससे (१) मानसूत्र ऐसा मजबूत हो जो टूट न सके और (२) लपेट कर इकट्ठा किया जा सके [अनुभरणीय हो]।

---

१. ठ म वादर वापि वाल्कल मौञ्जमेव वा। न वाल्कल चापि वाल्वज मौञ्जमेव च। अ द्य शाणज वापि वाल्कल मौञ्जमेव च। २ प बुधेन। ३ ग व त छेदो यस्य। ४ भ चात् चर्मकृत मानसूत्र नाकार्यं। ५ ड त्रिभागे। ६ न राजकोपोऽभिधीयते। ज राष्ट्रक्षोभो। प राष्ट्रकोशश्च हीयते। ७ ठ हस्तात्। ज हस्तप्रकृष्टया चापि। ८ न कञ्चित्। ९ प तस्मात् पापचयो।
१० प रज्ज्वा ग्रहण। ११ न विशेषेण। १२ अच्छेद्यानुरागरपीया।

[1]'तादृशी च सावधानतया तथा धरणीया यथाऽवष्टम्भवियोगादि न स्यादित्युभयथा योज्यम्। नित्यमिति न केवलं प्रथमपरिग्रहे यावदन्यदापि स्तम्भविनिवेशाय भूभागमानग्रहणादावपीत्यर्थ.। प्रयत्नेन मानमित्यूनाधिकादिदोषवर्जनायाय यत्न इत्यपौनरुक्तम् ।३१।

भरत०—मुहूर्तेनानुकूलेन [2]तिथ्या सुकरणेन च ।
ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु[1] [3]ततः सूत्र प्रसारयेत ।।३२।।

मुहूर्तो ब्राह्मादि । तिथिर्भद्रादि[4]। करण विष्ट्यादिरहितम् ।।३२।।
[प्रक्षिप्त०—शान्तितोयं ततो दत्त्वा ततः सूत्रं प्रसारयेत्] ।

अभिनव०—उसको प्रयत्न-पूर्वक इस तरह सावधानीसे पकडना चाहिए कि हाथसे छूटने न पावे, इन दोनो प्रकारसे [प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमिष्यते इसकी] योजना करनी चाहिए। 'नित्यं इससे [यह आशय है कि] न केवल पहिली वारके पकड़नेमें ही [सावधान रहना चाहिए] अपितु अन्य समयमें भी। जैसे स्तम्भोके लगानेके लिए भूमिको नापने आदि [के कालो] मे भी [सावधान रहना चाहिए] यह अभिप्राय है। और [नाट्य-गृह की नाप-तोल] मान प्रयत्न-पूर्वक करना चाहिए यह [दूसरी वार प्रयत्न शब्दका प्रयोग] न्यूनाधिक आदि दोषोके दूर करनेकेलिए है इसलिए [इसी कारिकामे आए हुए दूसरे 'प्रयत्न' शब्दके साथ इसकी] पुनरुक्ति नहीं है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्व संस्करणोमें बहुत अशुद्ध छपा है। 'तादृशी च सावधानतयावष्टम्भवियोगाद्युभयथा तथा प्रयत्नतो योज्यम्' यह पाठ पूर्व-संस्करणोमें पाया जाता है उसकी कोई सङ्गति नहीं लगती है। प्रयत्नेन 'रज्जुग्रहण' यह वाक्यके प्रारम्भमें आया है और 'उभयथा योज्यम्' यह अन्तमें, इन दोनोंको मिलाकर मुख्य वाक्य बनता है। अर्थात् प्रयत्नेन रज्जुग्रहणसे दो बातें निकालनी चाहिए एक तो रज्जु अच्छेद्य हो और दूसरे उसको सावधानीसे पकड़ा जाय जिससे हाथसे छूटने न पावे। ये दो बातें 'प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमिष्यते' से सूचित होती है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। यह अर्थ पूर्व-पाठ से नहीं निकलता है। उसके स्थानपर 'तादृशी च सावधानतया तथा धरणीया यथावष्टम्भवियोगादि न स्यादित्युभयथा योज्यम्' इस प्रकारका पाठ होनेपर अर्थकी सङ्गति ठीक लगती है। अत. हमने उसी पाठको प्रस्तुत किया है ।।३१।।

मण्डपकी दागवेलका समय—

भरत०—अनुकूल मुहूर्त, अनुकूल तिथि तथा सुन्दर [दोष-रहित] करण [काल्का विभाग विशेष] मे ब्राह्मणोंको [भोजनादिके द्वारा] तृप्त करा कर सूत छोड़े [अर्थात् मण्डपकी दाग-बेल करवावे] ।।३२।।

अभिनव० मुहूर्तसे ब्राह्ममुहूर्त आदि [का ग्रहण करना चाहिए]। तिथिसे भद्रा आदि [शुभ तिथिका ग्रहण करना चाहिए]। करणसे विष्टि आदि [अशुभ करणोंसे] रहित [तिथ्यर्धभागरूप कालविशेषका ग्रहण करना चाहिए]।

---

१. तादृशी च सावधानतयावष्टम्भवियोगाद्युभयथा तथा प्रयत्नतो योज्यम् । न. तथा ।
२ ब प पुण्याहं वाचयेत् तत. । ३. ब. तिथिर्हृद्या (नन्दा) दि ।
४ ब, ब. पुस्तकयं श्लोकार्धो न दृश्यते ।

[illegible] में [illegible] पाया है। 'तिथ्यर्धभाग सर्वेषा [illegible] भाग करण कहलाता है। ये करण दो [illegible] करण। [illegible] करण चार हैं। उनके नाम [illegible] करण सात माने गए हैं। उनके नाम [illegible] ५ गर, ६ वणिक् और ७ विष्टि है।

[illegible] 'विष्टि' [illegible] भी है। परन्तु वह सुकरणोकी गणनामे नही [illegible] अभिनवगुप्तने 'करण विष्ट्यादि रहितम्' लिखा है।

[illegible]—पाठ [illegible] दृष्टिसे इस स्थलपर हमने कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण परिवर्तन [illegible] यहा मूल श्लोकोका पाठ इस प्रकार था—

मुहूर्तेनानुकूलेन तिथ्या सुकरणेन च ।
ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा ते पुण्याह वाचयेत् तत. ॥३२॥
शान्तितोय ततो दत्वा तत सूत्र प्रसारयेत ॥
चतु षष्टि करान् कृत्वा द्विधाभूतान् पुनस्तत ॥३३॥

हमने यहा ३२वे श्लोकके चतुर्थ चरण 'पुण्याह वाचयेत् तत.' को हटाकर उसके स्थान पर ३३वे श्लोकका द्वितीय चरण 'तत सूत्र प्रसारयेत्' । लगा दिया है। और ३२वें श्लोकके चतुर्थ चरणको ३३वे श्लोकके द्वितीय चरणके स्थानपर करके हमने पहिले निम्न प्रकार पाठ बनाया है—

ब्राह्मणास्तर्पयित्वा तु ततः सूत्रं प्रसारयेत् ।
'शान्तितोय ततो दत्वा पुण्याह वाचयेत् तत.'॥

इसके बाद 'शान्तितोय' आदि आधे श्लोकको मूल पाठसे बिलकुल निकाल दिया है।

इस परिवर्तनका कारण यह है कि अभिनवभारतीकारने ३२ श्लोकके मुहूर्त तिथि करण आदि पूर्वार्द्धमें आए हुए पदोकी व्याख्या की है। उत्तरार्द्धके पदोकी व्याख्या नही की है परन्तु अगले श्लोककी जो अवतरणिका और प्रतीक दिया है उससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारके सामने ३२ श्लोकका अन्तिम चरण 'तत सूत्र प्रसारयेत' और ३३वें श्लोकका आदि चरण 'चतु षष्टि करान् कृत्वा' यह भाग ही है। पुरानी सख्यासे ३२वी कारिकाकी व्याख्या समाप्त करनेके बाद अगली ३३वी कारिकाकी अवतरणिका करते हुए उन्होंने लिखा है कि—

सूत्रप्रसारणेन यत्कृत्य तदाह चतु षष्टिरित्यादि—

इससे यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारकी दृष्टिमें अगली कारिका 'चतु.षष्टि' आदिसे आरम्भ होती है और पहिली कारिका 'सूत्र प्रसारयेत्' में समाप्त होती है। यदि पूर्व-सस्करणोका पाठ माना जाय तो अगली ३३वी कारिका 'चतु षष्टि करान्' से नही अपितु 'शान्तितोय' से प्रारम्भ होगी। उस दशामें इस स्थलकी अभिनवभारती की ठीक सङ्गति नही बनेगी। इसके अतिरिक्त 'शान्तितोय' वाले पाठको बीचमें माननेसे अगले श्लोकोकाक्रम भी बिगड जाता है। भ-व चिह्नित पुस्तकोमें भी यह श्लोकार्ध नही पाया जाता है। और अभिनवगुप्तने भी उसपर टीका नही की है। बल्कि उसको निकालकर जो पाठ बनता है वही अभिनवगुप्तका अभिमत पाठ है। अत एव यह आधा श्लोक यहा प्रक्षिप्त है। इसलिए हमने उसको हटा दिया है। इससे अगले श्लोकोकी और अभिनवभारती दोनोकी सङ्गति ठीक लग जावेगी। परन्तु यहासे आगे हमारा और द्वितीय सस्करणोकी श्लोक सख्यामें आधे श्लोकका अन्तर हो जावेगा ॥३२॥

विकृष्ट आकारके मण्डपकी रूपरेखा और मानविधि—

अगले ३३-३४ दो श्लोकोमें विकृष्ट मण्डपकी रूप-रेखा दी गई है। ये दोनो श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण श्लोक हैं। उन्हे हम इस अध्यायका केन्द्र-विन्दु कह सकते हैं। इस अध्यायका

सूत्रप्रसारणेन यत् कृत्य तदाह चतुष्षटिरित्यादि—

भरत०—चतुष्षष्टिकरान् कृत्वा [1]द्विधा कुर्यात् पुनश्च तान् ।
पृष्ठतो यो भवेद् भागो [2]द्विधाभूतस्य तस्य तु ॥३३॥
[3]सममर्धंविभागेन [4]रङ्ग-शीर्षे [5]प्रकल्पयेत् ।
[6]पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत ॥३४॥

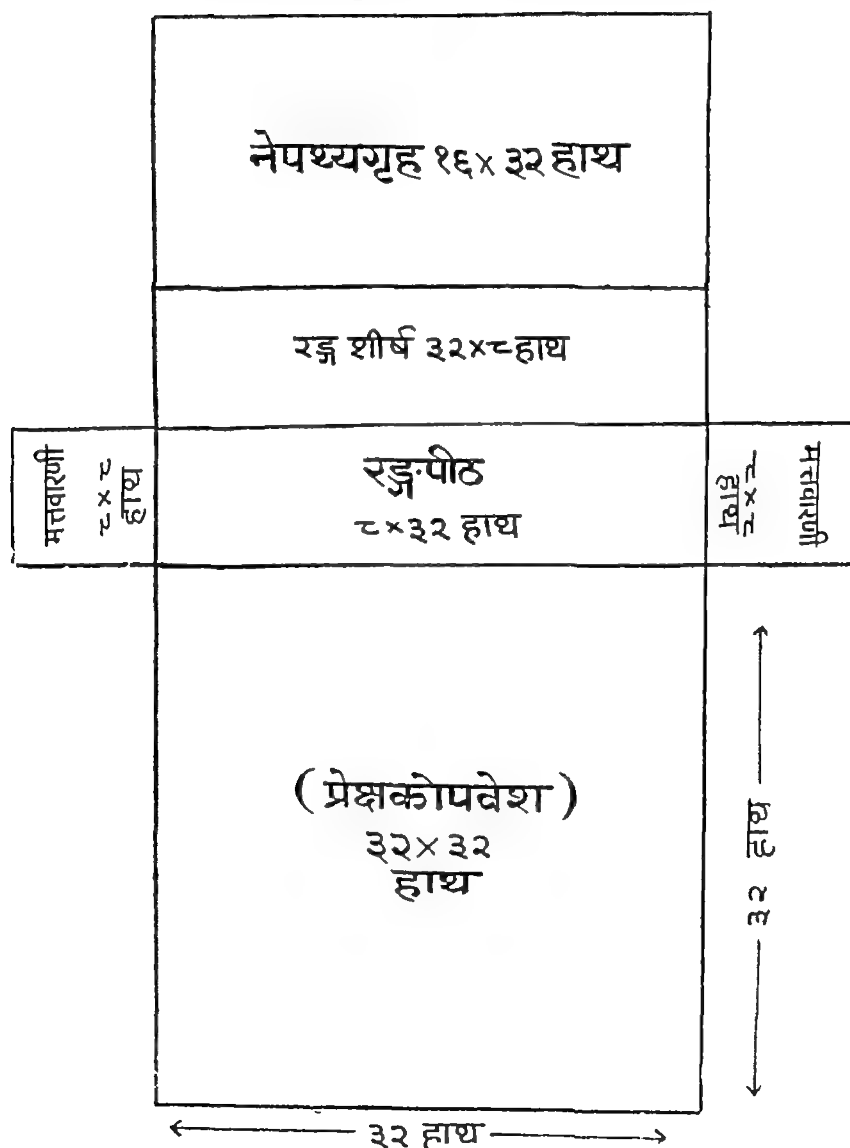
सारा प्रतिपाद्य विषय इन दो श्लोकोंके चारों ओर घूम रहा है। इस लिए इन दोनोके अर्थको भली प्रकारसे समझ लेना चाहिए। इनमें नाटच मण्डपके विभिन्न भागोकी स्थितिका निर्देश करते हुए उसकी आधार शिला रखी जा रही है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र तीनों प्रकारके मण्डपोंमें मध्यम परिमाण वाले मण्डप ही उत्तम होते हैं। इसलिए यहां भरतमुनि सबसे पहिले विकृष्ट आकारके ६४×३२ हाथ वाले मध्यम-परिमाणके नाटच-मण्डपकी रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे हैं। विकृष्ट अर्थात् आयताकार मध्यम परिमाण वाले नाटच-मण्डपकी लम्बाई [दैर्घ्य] ६४ हाथ और चौडाई [विस्तार] ३२ हाथ होता है। इसको चार भागोंमें विभक्त किया गया है। पहिले ६४×३२ को दो भागोंमें विभक्तकर उसके दो ३२×३२ हाथके दो भाग बनाए। इनमेंसे ३२×३२ का भागेका आधा भाग प्रेक्षकोंके बैठनेके लिए अलग रखा गया है। पिछले आधे भागको फिर दो टुकडोंमें बाटकर १६×३२ के दो भाग बनाए। इनमेंसे सबसे पीछेके १६×३२ हाथ वाले स्थानमें नेपथ्यगृह रखा गया है। और अगले १६×३२ हाथके स्थानको फिर दो सम-भागोंमें विभक्त कर उनमें ८×३२ हाथके दो भाग बनाए। प्रेक्षकोंके समीपवर्ती स्थानमें मुख्य रङ्गपीठ और उसके पीछे नेपथ्यगृह तथा मुख्य रङ्गपीठके बीच वाले ८×३२ हाथके स्थानमें रङ्गशीर्षके निर्माणकी व्यवस्था करके भरतमुनिने नाटच-मण्डपकी संक्षिप्त रूप-रेखा इन दो श्लोको में प्रस्तुत की है। इसी बात को आगे कहते हैं—

अभिनव—[पूर्व श्लोकके अन्तमें जो 'ततः सूत्रं प्रसारयेत्' यह कहा है उसमे कथित] सूत्र फैलाने [अर्थात् दागबेल लगाने] से जो कार्य करना है उसको 'चतुष्षष्टिकरान्' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०—[विकृष्ट अर्थात् आयताकारके मध्यम-परिमाण वाले नाटच-मण्डपकी रचनाके लिए] चौसठ हाथ [लम्बी तथा बत्तीस हाथ चौडी भूमि] को लेकर [उसकी ६४ हाथ वाली लम्बाई को] दो भागोंमे विभक्त करे [इस प्रकार बत्तीस हाथ लम्बे और बत्तीस हाथ चौडे अर्थात् वर्गाकारके दो बराबरके क्षेत्र बन जावेंगे। इनमेंसे अगले एक भागको प्रेक्षकोंके बैठनेकी व्यवस्थाके लिए छोड़ दे] और जो भाग पीछेकी ओर हो उसको फिर [१६×३२ हाथके] दो भागोंमे बाट कर।३३।

भरत०—[प्रेक्षकोंके बैठने वाले अगले स्थानके समीपका जो १६×३२ हाथका टुकडा है उसको फिर ८×३२ हाथके दो भागोंमे] आधा आधा बराबर बाट कर [प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानसे मिले हुए ८×३२ हाथके भागमे मुख्य अभिनय-स्थल] 'रङ्ग' [अर्थात् रङ्गपीठ] और [उसके पीछे ८×३२ हाथके स्थानमें] 'शीर्ष' [अर्थात् रङ्गशीर्ष] की रचना करे। और [रङ्गशीर्षके भी] पीछेकी ओरके [१६×३२ हाथके अन्तिम] भागमे नेपथ्यगृह बनवावे। ३४।

१ ब द्विधाभूतान् पुनस्तत। म. भूतान् पुन. पुन। २. त ठ म द्विधाभूतोऽन्यवेत्त म.। ३. न, त तस्याप्यर्धविभागेन। प. म. तस्यार्धेन विभागेन। ध. म तस्याप्यर्धं विभागे तु। ४. रङ्गशीर्षं। ५. प म प्रयोजयेत्। ६ ध. म पश्चिमे तु पुनर्भागे।


अभिनवगुप्तापो अनुसार
विकृष्ट-मण्डप ६४×३२ हाथ
(१) समचतुरस्त्र मत्तवारणी
नेपथ्यगृह १६× ३२ हाथ
रङ्ग शीर्ष ३२×८हाथ
मत्तवारणी
८×८ हाथ
रङ्गपीठ
८×३२ हाथ
८×८ हाथ
मत्तवारणी
(प्रेक्षकोपवेश)
३२×३२
हाथ
३२ हाथ
३२ हाथ

पाठसमीक्षा—इन श्लोकोंके पाठमें अनेक प्रकारके पाठान्तर पाए जाते हैं। उन पाठान्तरोंको हमने नीचे पाद-टिप्पणीमें दे दिया है। किन्तु एक विशेष पाठकी हम यहां विशेष रूपसे आलोचना करना चाहते हैं। क्योंकि उसके कारण बड़ा अनर्थ हुआ है। इनमेंसे ३४वें श्लोकके पूर्वार्द्धका पाठ सभी संस्करणोंमें 'सममर्धविभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्' इस रूपमें छपा है। हमारी सम्मतिमें 'रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्' इस एक वचनान्त पाठके स्थानपर यहां 'रङ्ग-शीर्षे प्रकल्पयेत्' यह द्विवचनान्त पाठ होना चाहिए। इसका उपपादन हम इस आधारपर करते हैं कि ६४ हाथ लम्बा और ३२ हाथ चौडा जो क्षेत्र मध्यम परिमाण वाले विकृष्ट या आयताकार नाट्य-मण्डपके निर्माण के लिए नियत किया जाता है उसे यहां चार भागोंमें विभक्त किया गया है। (१) सबसे पहिले 'द्विधा कुर्यात्' लिख कर भरतमुनिने ६४×३२ हाथके क्षेत्रकी लम्बाई दो भागोंमें बांटा है। जिससे ३२×३२ हाथके दो वर्गाकार क्षेत्र बन गए। यह प्रथम बार विभाग हुआ और उनसे बत्तीस-बत्तीस हाथ लम्बाईके दो क्षेत्र तैयार हुए। (२) उसके बाद उन दो भागोंमेंसे [पृष्ठतो यो भवेद् भागो] जो पिछला भाग है उसको फिर 'द्विधाभूतस्य तस्य तु' लिखकर भरतमुनिने दो विभागोंमें विभक्त कर दिया है। इस विभाजनसे ३२×३२ हाथ वाला पिछला टुकड़ा १६×३२ हाथोंके आकारके दो खण्डोंमें विभक्त हो गया। इन १६×३२ हाथो वाले दो टुकडोंमेंसे जो अगला भाग है उसको फिर (३) 'समर्धविभागेन' लिखकर भरतमुनिने दो बराबरके भागोंमें विभक्त कर दिया है। इस विभाजनसे ये दोनो टुकडे ८×३२ हाथके बन गए। (४) इनके पीछे १६×३२ हाथका एक टुकड़ा और बच रहा है। इस प्रकार चौसठ हाथ वाले भूमि-खण्डको बीचमें तीन बार या तीन रेखाओंसे विभक्त करनेपर उसके चार खण्ड बन जाते हैं। इनमेंसे पहिला या सबसे आगेका खण्ड ३२×३२ हाथका, उसके बादका दूसरा खण्ड ८×३२ हाथका, फिर तीसरा खण्ड भी ८×३२ हाथका और सबसे पीछेका अन्तिम खण्ड १६×३२ हाथका बनता है। सबसे आगेका ३२×३२ हाथ वाला भाग प्रेक्षकोंके बैठनेका स्थान है। उसके बादका ८×३२ हाथ वाला भाग अभिनयका मुख्य स्थान है। इस पर खड़े होकर पात्र-गण अपना-अपना अभिनय करते हैं। इस भागको 'रङ्गपीठ' कहते हैं। इसके पीछे फिर ८×३२ हाथका स्थान आता है। यह तीसरा खण्ड है। इसका नाम 'रङ्गशीर्ष' है। सामान्यत. वाद्य आदि उपकरण इस भागमें रखे जाते हैं और वादकोंके बैठनेका स्थान भी वहीं रहता है। अभिनयमें और अधिक स्थानकी आवश्यकता होने पर उसका उपयोग हो सकता है। इस दृष्टिसे ये 'रङ्गशीर्ष' और 'रङ्गपीठ' दोनों मिल कर अभिनयके दृश्य रूपको प्रस्तुत करनेके लिए अपेक्षित स्थानकी पूर्ति करते हैं। इन तीनों भागोंके बाद सबसे पीछे १६×३२ हाथका एक भाग और बचता है यह चौथा भाग नेपथ्य-गृहके लिए नियत किया गया है। इस नेपथ्यगृहमें पात्र अपनी वेष-भूषाके परिवर्तन आदिकी व्यवस्था करते हैं।

इस स्थान-विभाजनकी चर्चाका प्रकृत पाठ-संशोधनके साथ क्या सम्बन्ध है यह शङ्का किसीके मनमें उत्पन्न हो सकती है। उसका उत्तर यह है कि यह स्थान विभाजन ही इस पाठ संशोधनकी कुञ्जी है। मूल श्लोकोंमें सबसे आगे वाले ३२×३२ हाथके स्थानका कोई नाम आदि नहीं दिया है। परन्तु यह स्थान प्रेक्षकोंके बैठने का स्थान है यह बात यहां, और आगे आने वाले विवरणों से स्वयं स्पष्ट हो जाती है। सबसे पीछे वाले सोलह हाथके स्थानको भरतमुनिने 'पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत्' लिखकर नेपथ्यगृहके लिए नियत कर दिया है। अब बीचका १६×३२ हाथका स्थान रह जाता है। इसको जैसाकि हम कह चुके हैं भरतमुनिने 'समर्धविभागेन' लिख कर दो समान भागोंमें विभक्त किया है। इस प्रकार ८×३२ मापके दो खण्ड बन

जाते हैं। दो भागोमे विभाजनका अर्थ यही है कि इन दो भागोमें एक चीज तो बन नही सकती है। दो अलग-अलग चीजें बनेगी। वे दो चीजे है 'रङ्गपीठ' और 'रङ्गशीर्ष'। अगले ८ × ३२ हाथके स्थानमें 'रङ्गपीठ' और पिछले ८ × ३२ हाथके स्थानमें 'रङ्गशीर्ष' बनाया जाय यह भरतमुनिका अभिप्राय है। 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रस्य ग्रहणम्' इस सिद्धान्तके अनुसार यहाँ 'रङ्ग' पदसे 'रङ्गपीठ' का और 'शीर्ष' पदसे 'रङ्गशीर्ष' का ग्रहण होता है। उन दोनोके बोधनकी दृष्टिसे यहाँ द्विवचनान्त 'रङ्ग-शीर्षे' पदका प्रयोग होना चाहिए। 'रङ्गशीर्ष' यह एक वचनान्त प्रयोग यहाँ ग्रन्थकारके अभिप्रायको व्यक्त नही कर पाता है। यदि यहाँ 'रङ्गपीठ' और 'रङ्गशीर्ष' नामसे दो अलग-अलग भाग न बन कर केवल 'रङ्गशीर्ष' नामक नामक एक ही भाग बनाना था तो फिर भरतमुनिने 'सममर्धविभागेन' लिख कर इस १६ × ३२ हाथ वाले टुकडेको ८ × ३२ हाथो के दो भागोमें विभक्त क्यो किया है ? भरतमुनि द्वारा किया गया यह स्थान विभाजन यह सिद्ध करता है कि यहाँ 'रङ्गपीठ' तथा 'रङ्गशीर्ष' नामसे नाट्य-मण्डपके दो भागोकी रचना कराना भरतमुनिको अभिप्रेत है। उनके इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए 'रङ्ग-शीर्षे' यह द्विवचनान्त पद ही प्रयुक्त होना चाहिए। अत इस युक्तिक्रमसे हम इस परिणाम पर पहुचते हे कि 'रङ्गशीर्ष' यह एकवचनान्त पाठ अशुद्ध है। उसके स्थान पर 'रङ्ग-शीर्षे' यह द्विवचनान्त पाठ ही होना चाहिए। अत हम सशोधित रूपमें इसी पाठ को प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस पाठदोषका भ्रामक प्रभाव—

यह पाठदोष देखनेमें बडा छोटा-सा दोष जान पडता है। लिखनेकी दृष्टिसे उसमें केवल एकारकी एक मात्रा टूट कर या हट कर उसके स्थान पर बिन्दी मात्र रह गई है। व्याकरणकी दृष्टिसे द्विवचनके स्थानपर एकवचनका प्रयोग हो गया है। ये दोनो ही दोष बहुत साधारणसे दोष हैं। 'रङ्ग-शीर्षे' के स्थान पर 'रङ्गशीर्ष' लिख जाना या छप जाना बहुत साधारण-सी बात है। उसका कोई विशेष महत्त्व नही था। उसी प्रकार साधारण रीतिसे इसका सशोधन भी किया जा सकता था। किन्तु यहाँपर वह दोष एक भङ्कर भूल बन गया है। इसी लिए यह सशोधन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सशोधन या परिवर्तन बन गया है। इसका कारण यह है कि इसने बडे-बडे विद्वानोको भ्रममें डाल दिया है। आधुनिक विद्वानोमें डा० मनमोहन घोष नाट्यशास्त्रके विषयमें बडे प्रामाणिक विद्वान् माने जाते हैं। वे बहुत लम्बे समयसे नाट्यशास्त्रके विषयमें अनुसन्धान कार्य कर रहे हैं। उन्होने नाट्यशास्त्रका अग्रेजी भाषामें सुन्दर अनुवाद भी किया है। पर वे इस पाठदोषके कारण बडे भयङ्कर सैद्धान्तिक भ्रममे पड गए हैं। इस लिए हमें यहाँ इस पाठ सशोधनके विषयमें विशेष रूपसे चर्चा करनेकी आवश्यकता पडी है।

नाट्यमण्डपके विषयमे श्रीमनमोहन घोषका मत—

कलकत्तासे प्रकाशित होने वाले 'इडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली' पत्रिकाके सन् १६३२ के तृतीय अङ्कमें श्रीयुत डी० आर० मनकद महोदयने भरत नाट्यशास्त्र और अभिनवभारतीके आधारपर भारतीय नाट्य-मण्डपकी रचनाके विषयमें एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा था। इसी लेखकी आलोचनामें श्री मनमोहन घोषने सन् १६३३ के 'इडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली' खण्ड ६ पृष्ठ ५६१ पर एक लेख लिखा है। इस लेखमें घोष महोदयने दो विषयोपर मनकद महोदयसे अपना मतभेद प्रकट किया है। पहिली बात तो उन्होने यह सिद्ध की है कि नाट्य-मण्डपमे 'रङ्गपीठ' और 'रङ्गशीर्ष' दो अलग-अलग भाग नही हैं अपितु वे दोनो शब्द एक ही स्थानके वाचक पर्याय शब्द हैं। और दूसरी बात उन्होने यह लिखी है कि मूल लेखक श्री मनकदने नाट्यमण्डपका

जो चित्र बनाया है उनमें आधा भाग 'रङ्गपीठ', 'रङ्गशीर्ष' तथा 'नेपथ्यगृह' की रचनाके लिए दे दिया है और प्रेक्षकोंके बैठनेके लिए केवल आधा स्थान रखा है। घोष महोदयका कहना है कि यह बात उचित नहीं की गई है। उनके मतानुसार तीन चौथाई भाग प्रेक्षकोंके बैठनेके लिए होना चाहिए और केवल एक चौथाई भागमें 'नेपथ्यगृह' और 'रङ्गपीठ' की रचना होनी चाहिए। ये दो नई बातें श्रीघोष महोदयने अपने इस लेखमें प्रस्तुत की हैं। इनमें से पहिली बात अर्थात् 'रङ्गपीठ' और 'रङ्गशीर्ष' ये दोनों एक ही स्थानके बोधक पर्यायवाचक शब्द हैं, दो अलग-अलग स्थान नहीं हैं इस बातके सिद्ध करनेके लिए उन्होंने निम्नाङ्कित युक्तियाँ उपस्थित की हैं—

१. नाट्यशास्त्रके प्रथम अध्यायमें ब्रह्माने नाट्य-मण्डपके विभिन्न स्थानोंकी रक्षा की जो व्यवस्था की है उसमें 'रङ्गशीर्ष' का कोई उल्लेख नहीं किया गया है जब कि 'रङ्गपीठ' की चर्चा दो बार की गई है। 'रङ्गपीठ' की दो बार चर्चा निम्न श्लोकोंमें की गई है—

> पार्श्वे च रङ्गपीठस्य महेन्द्रः स्थितवान् स्वयम्।
> स्थापिता मत्तवारण्या विद्युद् दैत्यनिषूदनी ॥१-९०॥
> रङ्गपीठस्य मध्ये तु स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठितः।
> इष्टयर्थं रङ्गमध्ये तु क्रियते पुष्पमोक्षणम् ॥१-९५॥

२. द्वितीय अध्यायमें निम्नाङ्कित दो श्लोकोंमें नाट्य-मण्डपके विभिन्न भागोंका निर्देश किया गया है—

> चतु पट्टिकरान् कृत्वा द्विधा कुर्यात् पुनश्च तान्।
> पृष्ठतो यो भवेद् भागो द्विधाभूतस्य तस्य तु।
> सममर्धविभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्।
> पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत् ॥२-३२-३३॥

इन श्लोकोंमें केवल 'रङ्गशीर्ष' का उल्लेख किया गया है। 'रङ्गपीठ' का कोई उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि पहिले अध्यायमें जिसको 'रङ्गपीठ' नामसे कहा है उसी भागको यहाँ 'रङ्गशीर्ष' नामसे कहा गया है।

३. द्वितीय अध्यायके ७२, ७३ और ७५ श्लोकोंमें फिर केवल 'रंगशीर्ष' का उल्लेख निम्न प्रकार किया गया है—

> एवंविधः प्रकर्तव्य रंगशीर्षं प्रयत्नत.।
> कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च ॥२-७२॥
> शुद्धादर्शतलाकारं रङ्गशीर्षं प्रशस्यते।
> रत्नानि चात्र देयानि पूर्वे वज्रं विचक्षणैः ॥२-७३॥
> एवं रङ्गशिर. कृत्वा दारुकर्म प्रयोजयेत्।
> ऊहप्रत्यूहसंयुक्तं नानाशिल्पप्रयोजितम् ॥२-७५॥

इन श्लोकोंमें 'रङ्गपीठ' का कोई उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि प्रथम अध्याय में जिस स्थानको 'रङ्गपीठ' नाम से कहा गया है उसी स्थानको द्वितीय अध्यायके उपर्युक्त दोनों स्थलोंमें रङ्गशीर्ष नामसे निर्दिष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त 'रङ्गशीर्षं प्रशस्यते' के स्थानपर 'रङ्गपीठं प्रशस्यते' इस प्रकारका पाठान्तर भी किन्हीं संस्करणोंमें पाया जाता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि पुराने समयमें भी नाट्यशास्त्रका कोई पाठक रङ्गपीठ और

'रगशीर्ष' को एक ही स्थानका वाचक शब्द मानते थे। यह 'रगशीर्ष' का उल्लेख विकृष्ट मण्डपकी रचनाके प्रसगमे आया है।

४ त्र्यस्र रङ्गमण्डपकी रचनाका वर्णन द्वितीय अध्यायके १०२ तथा १०३ तथा १०४ श्लोकोमे निम्न प्रकार किया गया है—

त्र्यस्र त्रिकोण कर्तव्य नाटयवेश्म प्रयोक्तृभिः।
मध्ये त्रिकोणमेवास्य रङ्गपीठ तु कारयेत्॥
द्वार तेनैव कोणेन कर्तव्य तस्य वेश्मन.।
द्वितीय चैव कर्तव्य रङ्गपीठस्य पृष्ठत।
विधिर्यश्चतुरस्रस्य भित्तिस्तम्भसमाश्रय।
स सर्व प्रयोक्तव्यस्त्र्यश्रस्यापि प्रयोक्तृभिः॥२-१०२-१०४॥

इस त्र्यश्र रङ्गमण्डपकी रचनामें केवल रङ्गपीठका उल्लेख किया गया है। रङ्गशीर्ष का कोई उल्लेख नही है। इससे भी यह प्रतीत होता है कि रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष अलग अलग भाग नही हैं।

५ द्वितीय अध्यायके श्लोक सख्या ८८ से लेकर १०१ तक चतुरस्र-मण्डपकी रचना का उल्लेख किया गया है। इसमें भी चार स्थानोपर स्पष्ट रूपसे रङ्गपीठ शब्दका और एक स्थान पर रङ्गशीर्ष शब्दका प्रयोग निम्न प्रकार किया गया है—

तत्राभ्यन्तरत. कार्या रङ्गपीठोपरि स्थिता।
दश प्रयोक्तृभि स्तम्भा. शस्ता मण्डपधारणे॥२-९०॥

हस्तप्रमाणैरुत्सेधैं भूमिभागसमुत्थितै।
रङ्गपीठावलोक्य तु कुर्यादासनज विधिम्॥२-९१॥

नेपथ्यगृहक चैव तत कार्य प्रयत्नत.।
द्वार चैक भवेत् तत्र रङ्गपीठप्रवेशनम्॥२-९६॥

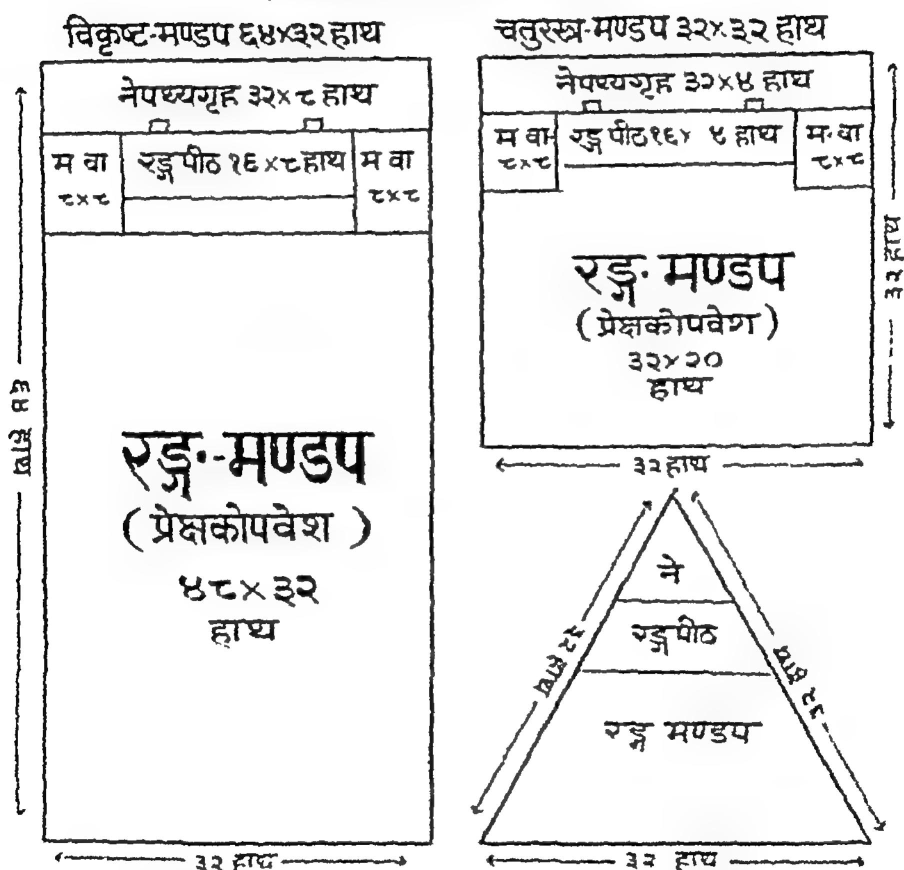
अष्टहस्त तु कर्तव्य रङ्गपीठ प्रमाणत।
चतुरस्र समतल वेदिकासमलकृतम्॥२-९८॥

समुन्नत सम चैव रगशीर्ष तु कारयेत्।
विकृष्टे तून्नत कार्य चतुरस्रे सम तथा॥२-१००॥

इस प्रकार चतुरस्रकी रचनामे चार जगह रगपीठका उल्लेख है केवल एक जगह रगशीर्षका प्रयोग है। उस स्थलपर भी पाठान्तरमे 'रगपीठ' पाठ भी पाया जाता है। इससे भी रङ्गपीठ तथा रङ्गशीर्ष शब्द एक ही स्थानके वाचक हैं यह बात सिद्ध होती है। चतुरस्र और त्र्यस्र मण्डपोमें मुख्य रूपसे रङ्गपीठ शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रथम अध्यायमें मण्डपकी जो रक्षा व्यवस्था की गई है उसमे भी रङ्गपीठ शब्दका ही प्रयोग किया गया है। केवल विकृष्ट मण्डप की रचना में रङ्गशीर्ष शब्दका प्रयोग किया गया है। उसे वहां रङ्गपीठ का पर्यायवाचक ही समझना चाहिए। इसलिए रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष ये दोनो वस्तुत अलग-अलग भाग नही है अपितु वे एक ही स्थानके नामान्तर-मात्र हैं यह श्री मनमोहन घोषका मत है।

डा० घोष द्वारा प्रस्तुत मण्डपचित्र—

अपने इस सिद्धान्तके अनुसार उन्होंने विकृष्ट चतुरस्र और त्र्यस्र मण्डपोंके जो चित्र बनाए हैं उनमें तीन चौथाई भाग प्रेक्षकोंके बैठनेकेलिए और केवल एक चौथाई भाग रङ्गपीठ तथा नेपथ्यगृहके लिए रखा है। उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए तीनों प्रकारके नाट्य-मण्डपोंके चित्र नीचे दिए जा रहे हैं—



श्री मनमोहन घोषकी इस विवेचनामें एक प्रश्न और उपस्थित हुआ है और वह है यवनिका या पर्देके स्थानका प्रश्न। यद्यपि दूसरे अध्यायमें जहाँ कि नाट्य-मण्डपकी रचनाका वर्णन किया गया है यवनिका का कोई उल्लेख नहीं पाया है, किन्तु नाट्यशास्त्रमें आगे चल कर कई स्थानोंपर उसका उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ—

ततः सर्वैस्तु कुतपैः संयुक्तानीह कारयेत्।
विघट्य वै यवनिकां नृत्तपाठ्यकृतानि तु ॥ना० ५-१२॥
ध्रुवायां सम्प्रवृत्तायां पटे चैवापकर्षिते।
कार्यः प्रवेशः पात्राणां नानार्थरससम्भवः ॥ना० ११-३॥

आदि स्थलोमें 'यवनिका' या 'पट' आदिका उल्लेख आता है। यह 'यवनिका' कहाँ प्रयुक्त होती है इस बातका विवेचन करते हुए अभिनवभारतीकारने स्पष्टरूपसे 'तत्र यवनिका रगपीठ-तच्छिरसोर्मध्ये।' [प्रथम संस्करण पृ० २१२] लिखकर रगपीठ और रगशीर्षके वीचमें यवनिकाका स्थान निर्धारित किया है। किन्तु श्री मनमोहन घोष रगपीठ तथा रगशीर्षको अलग-अलग नहीं मानते हैं इसलिए उन्होने अभिनवभारतीके इस स्पष्ट निर्देशको भी ठुकरा कर नेपथ्यगृह के द्वारोंपर पडे हुए पर्दोको ही 'यवनिका' मान लिया है। इस प्रकार श्री मनमोहनघोष महोदय ने अपने उक्त लेखमें तीन सिद्धान्त स्थापित किए हैं—

१ रगपीठ और रगशीर्ष अलग-अलग नही हैं। अपितु ये दोनो शब्द एक ही स्थानके वाचक पर्याय-शब्द हैं।

२. नाटय मण्डपका तीन चौथाई भाग प्रेक्षकोके वैठनेके लिए होना चाहिए और एक चौथाई भागमें रगपीठ और नेपथ्यगृह केवल दो भाग होने चाहिए।

३. नेपथ्यगृहके द्वारो पर पडे पर्दोके नाम ही 'यवनिका' 'पटी' आदि हैं।

डा० मनमोहन घोषके मतकी आलोचना—

दुर्भाग्यवश डा० मनमोहन घोषके ये तीनो ही सिद्धान्त नितान्त मिथ्या और भ्रममात्र हैं। उनके भ्रमका मूल कारण इन श्लोकोके अर्थको ठीक तरह से न समझ सकना है। जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं भरतमुनिने इन श्लोकोमें ६४×३२ हाथ के नाटचमण्डपके क्षेत्रको तीन वार विभक्त करके उसके चार भाग वनाए हैं। किसी क्षेत्रको विभाजित करनेकेलिए यदि उसमें एक रेखा खीची जाय तो उस क्षेत्रके दो विभाग हो जावेंगे। दो वार रेखाए खीचनेपर क्षेत्रके तीन भाग हो जावेंगे। और तीन विभाजक-रेखाए खीचनेपर क्षेत्र चार भागोमें विभक्त हो जावेगा। भरतमुनिने यहाँ १ 'द्विधा कुर्यात्' २ 'द्विधाभूतस्य तस्य तु' और ३ 'सममर्धविभागेन' तीन बार विभाजनका निर्देश करके इस क्षेत्रके चार भाग कर दिए हैं। पर घोष महोदयके अनुसार नाट्यमण्डपके चारके स्थानपर केवल तीन भाग ही रह जाते हैं। इसलिए उनका सिद्धान्त ठीक नही है। उन्होने श्लोकोमें रङ्गशीर्ष तथा नेपथ्यगृह इन दो भागोकी चर्चा देखी और तीसरे प्रेक्षकोके वैठनेके स्थानको समझ कर तीन ही विभाग मान लिए। यदि 'रगशीर्ष' इस एकवचनान्त पाठके स्थानपर 'रग-शीर्षे' यह द्विवचनान्त पाठ उनके सामने होता तो वे इस प्रकारके भ्रममे नही पड सकते थे। भरतमुनि-कृत यह चार प्रकारका स्थान-विभाजन उनकी समझमें आ जाता और उनके अलग-अलग नामोका परिज्ञान भी हो जाता। उनके ऊपर दिखलाए हुए तीनो भ्रान्त सिद्धान्तोका मूल आधार यही 'रगपीठ' और 'रगशीर्ष' को अलग न समझने की भूल है। शेष दोनो सिद्धान्त इसी मौलिक भ्रान्त-धारणाके फलितार्थ हैं। यदि इस मौलिक भूलका सशोधन हो जाय तो शेष दोनो भूलोका सशोधन स्वय ही हो जायगा। यदि रगपीठ और रगशीर्षकी अलग-अलग स्थिति मान ली जाती है तब अभिनवभारतीके स्पष्ट निर्देशकी उपेक्षा करके न तो नेपथ्यगृहके पर्दोको 'यवनिका' कहनेकी आवश्यकता रहती है और न इस बातके समझनेमें कोई कठिनाई रहती है कि 'यवनिकाका' स्थान 'रगपीठ' और 'रगशीर्ष' के बीचमें ही होना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सारे अनर्थका कारण यह पाठदोष ही है। इसलिए हमने इतने विस्तारके साथ इसकी विवेचना की है।

श्री मनकद द्वारा घोष महोदयकी प्रत्यालोचना—

श्री मनमोहन घोष महोदयने श्री डा० मनकदके लेखके विरोधमें जो लेख लिखा था उसकी प्रत्यालोचना श्री डा० मनकद महोदयने स्वयं भी 'इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली' के १९३३ के अङ्कमें पृ० ९७३-९७७ में की थी। यह पाठ-संशोधन तो उनके ध्यानमें नहीं आया परन्तु उन्होंने कुछ अन्य मूल श्लोकोंके आधारपर 'रंगशीर्ष' तथा 'रंगपीठ' की अलग-अलग स्थिति भरतमुनि को अभिप्रेत है इस बातको सिद्ध करनेका यत्न किया है। मुख्य रूपसे उन्होंने निम्न श्लोको द्वारा इस बातको सिद्ध करनेका यत्न किया है—

समुन्नतं समं चैव रंगशीर्षं तु कारयेत्।
विकृष्टे तून्नतं कार्यं चतुरस्रे समं तथा ॥ना० २-१००॥

इस श्लोकमें समुन्नत तथा सम दो प्रकारके रंगशीर्षोंकी चर्चा करते हुए विकृष्ट मण्डपमें समुन्नत तथा चतुरस्र-मण्डपमें सम रंगशीर्षके बनानेका विधान किया है। यहाँ किसकी अपेक्षा समुन्नत अर्थात् अधिक ऊंचा रंगशीर्ष बनाना चाहिए यह जिज्ञासा होती है उसकी निवृत्ति रंगपीठ के द्वारा होती है। अर्थात् विकृष्ट-मण्डपमें रंगपीठकी अपेक्षा रंगशीर्ष कुछ ऊंचा समुन्नत होना चाहिए और चतुरस्र मण्डपमें रंगपीठ तथा रंगशीर्ष दोनों सम अर्थात् एक ही ऊंचाईके होने चाहिए। यह भरतमुनिका अभिप्राय है। इस बातका निर्देश अभिनवभारतीकारने भी इस श्लोक की टीकामें किया है।

२. इसके बाद रंगशीर्ष तथा रंगपीठका भेद सिद्ध करनेके लिए उन्होंने निम्नाङ्कित दूसरा श्लोक भी उद्धृत किया है—

रंगपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा।
रंगशीर्षं तु कर्तव्यं दारुपट्क-समन्वितम् ॥२-६८॥

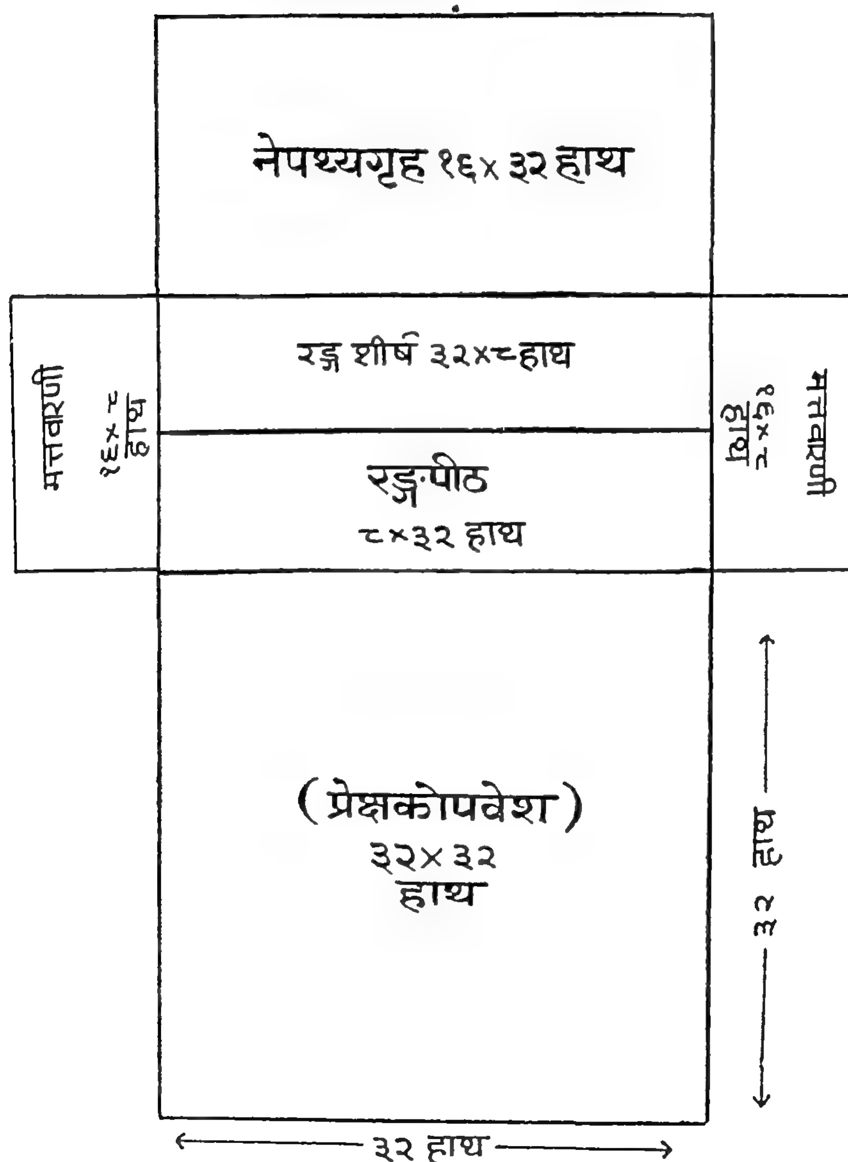
इस श्लोकमें स्पष्ट रूपसे रंगशीर्ष तथा रंगपीठ दोनोंका ही अलग-अलग उल्लेख किया गया है। इस आधारपर डा० मनकदने श्री मनमोहन घोषके सिद्धान्तका खण्डन करके अपने पक्षको पुष्ट करनेका यत्न किया है।

श्री डा० राघवन द्वारा घोष महोदयकी प्रत्यालोचना—

घोष महोदयके उपर्युक्त लेखकी प्रत्यालोचना रूपमें श्री डा० राघवन महोदयका भी उसी वर्ष १९३३ के उसी 'इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली' में पृ० ९९१ पर एक लेख प्रकाशित हुआ था। इसमें उन्होंने मुख्य रूपसे अभिनवभारतीके विविध उद्धरणोंके द्वारा रंगशीर्ष एवं रंगपीठकी अलग-अलग स्थिति सिद्ध करनेका यत्न किया है। अभिनवभारतीमें तो स्पष्ट रूपसे अनेक स्थलोंपर इन दोनोंकी भिन्नताका प्रतिपादन किया है। कुछ उद्धरण जो श्री राघवन महोदयने प्रस्तुत किए थे निम्न प्रकार हैं—

१. रंगपीठस्य यदुपरि शिरोऽभ्यधिकमित्यर्थः। तथा च रंगपीठापेक्षया रंगशिर उन्नतं वक्ष्यते। (पृ० ६६ प्रथम संस्करण)
२. समुन्नतमिति रंगपीठापेक्षया। (पृ० ७० प्रथम संस्करण)
३. तत्र रंगपीठ-रंगशिरसोर्व्यंकल्प्यमेदं निम्नयति प्रकृष्ट स्थिति (पृ० १०७)

इस प्रकार उस समय भी डा० मनमोहन घोषके मतकी पर्याप्त आलोचना हुई थी और सभी विद्वानोंने उनके मतका खण्डन किया था। किन्तु उनकी दूसरी भूल क्या है इसकी ओर किसीका ध्यान नहीं गया था। यह मूल तत्त्व इस स्थलका पाठदोष और उसके कारण इन श्लोकोंके अर्थका न समझना है।


अभिनवगुप्तके अनुसार
विकृष्ट-मण्डप ६४×३२ हाथ
(२) आयताकार मत्तवारणी –
नेपथ्यगृह १६× ३२ हाथ
रङ्ग शीर्ष ३२×८हाथ
मत्तवारणी
१६×८ हाथ
मत्तवारणी
१६×८ हाथ
रङ्गपीठ
८×३२ हाथ
(प्रेक्षकोपवेश)
३२×३२
हाथ
३२ हाथ
३२ हाथ

चतुष्पष्टिर्हस्तं दैर्घ्याद्, विस्ताराच्च द्वात्रिंशत्कर क्षेत्रं गृहीत्वा मध्ये सूत्र विस्तारेण दद्यात्। तत्र यत् प्रयोक्तु पृष्ठग भविष्यति तदेव पृष्ठम्। तस्य मध्ये 'पुनर्विस्तारेण सूत्र दद्यात्, तत षोडशहस्तौ द्वौ भागौ भवत.। तत्राग्रगत' भागमर्धेन विभज्य रङ्गपीठं मुख्यं, ततोऽष्टहस्तं रङ्गशिर, प्रविशतां पात्राणा चान्त स्थान, नाट्यमण्डपस्य ह्युत्तानवदवस्थितस्य 'शिर। तत्पृष्ठे तु दैर्घ्याद्धि षोडशहस्त नेपथ्यगृह भवति। विस्तारात्तु द्वात्रिंशत्करमेव तत्। नेथ्यादिकं च तत्र गृह्यते। तदाह—पश्चिमे चेति।

नाट्यमण्डपका सूत्रपात—

ऊपर कहे हुए इन दो मूल श्लोकोंमें विकृष्ट अर्थात् आयताकार वर्गके मध्यम परिमाण वाले नाट्य-मण्डपकी जो रूप-रेखा बतलाई गई है उसके अनुसार टीकाकार अभिनवगुप्त उसके चारों भागोका विभाजन कर सूत्रपातन या दागबेल करानेकी व्यवस्था करते हुए लिखतेहैं—

अभिनव०—चौंसठ हाथ लम्बा [दैर्घ्यात्] और बत्तीस हाथ चौड़ा [विस्तार] क्षेत्र लेकर [चौंसठ हाथवाली जो लम्बाई है] उसके बीचमें [बत्तीस हाथकी] चौडाई की ओर से [अर्थात् चौड़ाईके एक सिरेसे दूसरे सिरे तक] सूत छोड़े [अर्थात् दागबेल करे। इस प्रकार बत्तीस हाथ लम्बे और बत्तीस हाथ चौड़े दो भाग बन जाते हैं] उनमे से जो प्रयोग करने वालेकी पीठकी ओर होगा वही [भाग कारिकामें 'पृष्ठतो यो भवेद् भागो' मे] 'पृष्ठ' [शब्दसे कहा गया] है। उसके बीचमें फिर चौड़ाईमे [अर्थात् पहिले कही हुई बत्तीस हाथ वाली चौड़ाई के एक सिरे से दूसरे सिरे तक] सूत छोडे। इस प्रकार [उस ३२×३२ हाथ वाले पिछले भागके] सोलह हाथ [१६×३२ हाथ] के दो भाग बन जाते हैं। उनमे से अगले [१६×३२ हाथ वाले] भागको [फिर] आधा बाट कर [सामनेकी ओर ८×३२ हाथ वाले भागमे] मुख्य 'रङ्गपीठ' और उसके बाद [पीछेकी ओर वाले ८×३२ हायके क्षेत्रमे] आठ हाथ [गुणित बत्तीस ८×३२ हाथ] का 'रङ्गशीर्ष' अर्थात् [नेपथ्यगृहसे रङ्गपीठपर] आने वाले और [रङ्गपीठपर अभिनय करने वाले] पात्रोंके बीचका स्थान, और ऊपरको ओर सिर करके सोए हुए [मनुष्य] के समान स्थित नाट्यमण्डपका शिर [अर्थात् रङ्ग-शीर्ष] होगा। उस [अर्थात् रङ्गशीर्ष] के पीछे [पूर्व कहे हुए दैर्घ्य अर्थात्] लम्बाई मे १६ [वैसे १६×३२] हायका नेपथ्यगृह होता है। पर वह [पूर्व कहे हुए विस्तार अर्थात्] चौड़ाईमें तो बत्तीस हायका ही होता है। उसमे [नेपथ्य] वेष-भूषा आदिका ग्रहण [अर्थात् परिवर्तन आदि] किया जाता है। जैसा कि [मूल कारिकामें] 'पश्चिमे च' ['विभागेऽच नेपथ्यगृहमादिशेत्' इत्यादि] से कहा है [तदनुसार नाट्य-मण्डपके सबसे पिछले भागमे १६×३२ हायका नेपथ्यगृह होता है]।

---

१. विस्तारेण। २ पृष्ठगतम्। ३ रङ्गपीठं मुख्यं मदष्टहस्त शिर.।

तत्र रङ्गपीठ विस्तारत 'द्वात्रिंशद्धस्त दैर्घ्यतस्त्वष्टहस्तं'[2] इति केचित् । अन्ये त्वेतदेव विपर्यासयन्ति । सर्वथा तावद्रङ्गपीठस्यापि विकृष्टत्व विधेयमिति तात्पर्यम् । यद्वक्ष्यते—

'रङ्गो विकृष्टो भरतेन कार्य' [ना० १२-२०] इत्यादि ॥३३-३४॥

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ भी पूर्व-सस्करणोमें अत्यन्त अशुद्ध छपा है । मुख्य अशुद्धिया इसमें दो हैं । पहिली जगह 'अग्रगत भाग' के स्थानपर 'पृष्ठगत भाग' यह पाठ छाप दिया गया है । द्वितीय विभाजन द्वारा सोलह-सोलह हाथ वाले दो भागोके बन जानेके बाद उनमेंसे एक भागको बराबर दो भागोमें बाट कर रङ्गपीठ और रङ्गशीर्षकी रचनाकी व्यवस्था इस वाक्यमें की जा रही है । ये दोनो चीजें 'पृष्ठगत' भागमें नही किन्तु 'अग्रगत' भागमें बनती हैं । पृष्ठगत भाग तो नेपथ्यगृहकेलिए है । अत यहा 'पृष्ठगत' के स्थानपर 'अग्रगत' पाठ होना चाहिए ।

पाठसमीक्षा—दूसरी अशुद्धि यहा अस्थान-पाठकी है । 'रङ्गपीठ मुख्य ततोऽष्टहस्त' इतना पाठ वस्तुत 'विभज्य' और 'रङ्गशिर.' के बीचमें जहा हमने भिन्न टाइपमें छापा है, होना चाहिए था । किन्तु पूर्व-सस्करणोंमें उसे 'ह्य ुत्तानसुप्तवदवस्थितस्य' के बाद छाप दिया गया था । इस पाठके अस्थानमें छप जानेसे सारा अर्थ ही गडबडा गया है । इस पाठको अस्थानमें छप जानेके कारण ही श्री मनमोहन घोष तथा अन्य विद्वानोको यहा रङ्गशीर्ष तथा रङ्गपीठकी अलग स्थितिका ज्ञान न हो सका । यदि इस अस्थान-पाठको सशोधित करके यथा-स्थान दे दिया जाय जैसा कि हम दे रहे हैं तो सारा अर्थ स्पष्ट हो जाता है । और रगशीर्ष तथा रगपीठ दोनोकी स्थिति भी हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाती है ।

इस प्रसगमें 'दैर्घ्य' और 'विस्तार' शब्दोका प्रयोग क्रमश लम्बाई तथा चौडाईकेलिए किया गया है । लम्बाई सदा चौडाईसे अधिक होती है । इसलिए ६४×३२ हाथ वाले क्षेत्रमें जो लम्बाई थी वह तीसरे विभाजनमें १६×३२ के दो क्षेत्र बन जाने पर चौडाई बन जाती है । क्योंकि वह बत्तीस हाथ वाली पहिली चौडाईकी अपेक्षा कम हो जाती है । किन्तु मूल रूपमें जो भाग लम्बाई वाला था उसको अन्तमें कम हो जानेपर भी चौडाई न कह कर कुछ लोग लम्बाई ही कहते हैं । इस दृष्टिसे रगपीठकी लम्बाई और चौडाईके विषयमे दो मत हो गए हैं । कुछ लोग रगपीटको बत्तीस हाथ चौडा और आठ हाथ लम्बा कहते हैं और कोई इसीको उलट कर बत्तीस हाथ लम्बा और आठ हाथ चौडा कहते हैं । दोनो दशाओमे वह क्षेत्र आयताकार ही रहता है । वर्गाकार नही बनता है । इसी बातको ग्रन्थकार अगली पक्तियोमे लिखते हैं—

अभिनव०—कोई लोग यह कहते हैं कि रङ्गपीठ चौड़ाईमे बत्तीस हाथ और लम्बाईमे आठ हाथ होता है । दूसरे लोग इसीको उलट देते हैं [अर्थात् बत्तीस हाथ लम्बा और आठ हाथ चौडा होता है यह कहते हैं दोनो ही दशाओमे उसके आकारमे कोई अन्तर नहीं आता है] सभी दशाओमे रङ्गपीठको आयताकार ही बनाना चाहिए यह अभिप्राय है । जैसा [१२वें अध्यायमे भरतमुनि स्वय ही] कहेंगे कि—

[भरत अर्थात्] नाट्य-व्यवस्थापकको रङ्ग [अर्थात् रङ्गपीठ] सदा [विकृष्ठ अर्थात्] आयताकार ही बनाना चाहिए ।

इत्यादि ।

---

१ षोडर्श । २ अष्टहस्ता ।

[प्रक्षिप्त०—विभज्य विविधान भागान् यथावदनुपूर्वशः।]

एव मानविधिमभिधाय 'इष्टकास्थापनरूपे निवेशने विधिमाह—'शुभे नक्षत्रयोगे' इत्यादिना—

भरत०—शुभे नक्षत्रयोगे च मण्डपस्य निवेशनम्।
[1]शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गपणवादिभि ॥३५-३६॥
[3]सर्वातोद्यैः प्रणुदितैः स्थापनं कार्यमेव तु।
उत्सार्याणि त्वनिष्टानि [4]पाषण्डाश्रमिणस्तथा ॥३७॥

[प्रक्षिप्त०—काषायवसनाश्चैव विकलाश्चैव ये नराः]।

'सममर्घविभागेन' इत्यादि ३४वें श्लोकके बाद 'विभज्य विविधान् भागान्' इत्यादि आधा श्लोक पूर्व-संस्करणोंमें और पाया जाता है। हमारी सम्मतिमें यह श्लोकार्ध प्रक्षिप्त है। इसके तीन कारण हैं—१ इसपर अभिनवगुप्तकी विवृति नहीं है। २ अभिनवगुप्तने इसके पूर्व 'तदाह पश्चिमे चेति' से ३४वीं कारिकाके उत्तरार्द्धका प्रतीक-भाग दिया है। और इसके आगे 'शुभे नक्षत्र-योगे' से अगली कारिकाका प्रतीक भाग दिया है। अर्थात् 'पश्चिमे च विभागे' वाले भागकी व्याख्या के बाद अगली कारिका आ जाती है। बीचमें 'विभज्य विविधान् भागान्' आदि श्लोकार्ध प्रक्षिप्त रह जाता है। ३ तीसरी बात यह है कि यदि इस श्लोकार्धकी स्थिति मानी जाय तो फिर आगेके सब श्लोकोंका क्रम बिगड़ जाता है। अतः हमने इस श्लोकार्धको प्रक्षिप्त माना है।

इसके पहिले ३२वीं कारिकाके साथके 'पान्तितोय' इत्यादि श्लोकार्धको प्रक्षिप्त मानकर कोष्ठस्थ किया जा चुका है। दोनोंको मिलाकर एक श्लोक पूरा हो जाता है। अत. यहां पर हमारी और द्वितीय संस्करणकी श्लोक संख्यामें एक संख्याका अन्तर हो जाता है। परन्तु संख्याका क्रम दूसरे संस्करणके संख्याक्रमसे मिलता चले इसलिए हमने यहां ३५वें श्लोकपर ३५ तथा ३६ दो संख्याएं डाल दी हैं।

स्थापनविधि, आधारशिलाका विन्यास—

अभिनव०—इस प्रकार [३३-३४ दो श्लोकोंमें मण्डपको नापने आदि सम्बन्धी] मानविधिको कहकर आधार-शिला [नींवकी ईंट] रखने रूप स्थापन विधिको 'शुभे नक्षत्रयोगे' इत्यादि [अगले दो श्लोकों] से कहते हैं—

भरत०—शुभ नक्षत्रका योग [उपस्थित] होनेपर शङ्ख दुन्दुभि आदिके निर्घोष एवं मृदङ्ग पणव आदि [वाद्योंकी ध्वनियों] के साथ मण्डपकी आधारशिला रखे ॥३५-३६॥

भरत०—सब प्रकारके वाद्योंको बजाते हुए [मण्डपकी आधारशिलाकी] स्थापना करनी चाहिए और [उस समय] अनिष्ट [वस्तुएं] तथा [पाषण्डी धूर्त-जनों अथवा 'पाषण्डाश्रमिण' अर्थात्] सन्यासियोंको दूर भगा देना चाहिए ॥३७॥

इसके बाद फिर 'काषायवसनाश्चैव विकलाश्चैव ये नराः' यह आधा श्लोक पूर्व-संस्करणोंमें ऐसा पाया जाता है जिसके कारण अगले श्लोकोंका क्रम बिगड़ता है। और उसपर अभिनवभारती भी नहीं मिलती है। अत एव हमने इसको भी प्रक्षिप्त मानकर कोष्ठमें कर दिया

---

१. भ इष्टकास्थापने विधिमाह। २ ड प मार्गं दुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गपणवादिभिः।
३ ट म. सर्वतूर्यनिनादैश्च। न सर्वातोद्यनिनादैश्च। ज सर्वातोद्यनिनादैस्तु।
च. भेरीतूर्यनिनादैश्च गानवीणास्वनैस्तथा। ४ प पाषण्डाश्रमिणस्तथा।

भरत०—निशायां च बलिः कार्यो नानाभोजनसंयुत[1]।
गन्धपुष्पफलोपेतो दिशो दश समाश्रित ॥ ३८ ॥
पूर्वेण शुक्लान्नयुतो [2]रक्तान्नो दक्षिणेन च।
पश्चिमेन बलिः पीतो [3]नीलश्चैवोत्तरेण तु ॥ ३९ ॥

[4]दशसु तिर्यगूर्ध्वाधोरूपासु दिक्षु बलि कार्य इत्युक्त्वा, चतसृषु दिक्षु बलिविधि-रुक्त ॥ ३८-३९ ॥

है। इस प्रकार यहा हमारी और द्वितीय सस्करणकी श्लोक सख्यामें डेढ श्लोकका अन्तर हो गया है। प्रथम-सस्करण और द्वितीय सस्करणकी इस अध्यायकी श्लोक सख्यामें तीन श्लोकोका अन्तर १२वें श्लोक से चला आरहा है। अत यहा तक प्रथम सस्करणसे हमारी सख्यामें साढे चार श्लोको का अन्तर हो गया है।

नीव रखते समयका बलिविधि—

भरत०—[नीव रखनेके दिन] रात्रिके समय नाना प्रकारके भोजनो तथा सुगन्धित पुष्प फलादिसे युक्त [बलि अर्थात्] सजावट, [अभिनवगुप्त अभी प्रथम अध्यायमे 'बलिप्रदानै-र्होमैश्च' इत्यादि १२६ वे श्लोककी टीकामे 'बलि पूर्वोक्तरचनाविशेष' इस प्रकार बलि का अर्थ रचना-विशेष या सजावट कर चुके हैं]। दशो दिशाओमे करनी चाहिए ॥ ३८ ॥

भरत०—पूर्व दिशामे शुक्ल अन्नसे युक्त, दक्षिणमे रक्त अन्नसे युक्त, पश्चिममे पीत वर्णका और उत्तरमे नील वर्ण [के अन्नो से युक्त बलि अर्थात्] सजावट करनी चाहिए ॥ ३९ ॥

पाठसमीक्षा—इस ३९ वे श्लोकका पाठ नाटयशास्त्रके सभी सस्करणोमे अशुद्ध पाया जाता है। पूर्ववर्ती सभी सस्करणो-में इसका पाठ इस प्रकार मुद्रित हुआ है—

पूर्वेण शुक्लान्नयुतो नीलान्नो दक्षिणेन च।
पश्चिमेन बलि पीतो रक्तश्चैवोत्तरेण तु ॥

इसमें 'नील' पद और 'रक्त' पद अशुद्ध स्थानोपर पहुँच गए हैं। द्वितीय चरणमें जो 'नील' पद आया है वह चतुर्थ चरणमें होना चाहिए। और चतुर्थ चरणमें जो 'रक्त' पद आया है वह द्वितीय चरणमें होना चाहिए। इसका कारण यह है कि रक्तवर्णका सम्बन्ध दक्षिण दिशासे और नीलवर्णका सम्बन्ध उत्तरदिशासे माना जाता है। आगे इसी अध्यायमें ४८-५२ तक भरतमुनि स्वयं भी इस प्रकारका वर्णन करेंगे। इसलिए यहाँ भी रक्तवर्णका सम्बन्ध दक्षिण दिशाके साथ और नीलवर्णका सम्बन्ध उत्तर दिशाके साथ दिखलाना चाहिए। इस दृष्टिसे 'नीलान्नो दक्षिणेन च' के स्थान पर 'रक्तान्नो दक्षिणेन च' और 'रक्तश्चैवोत्तरेण तु' के स्थानपर 'नीलश्चैवोत्तरेण तु' इस प्रकारका पाठ होना चाहिए। अत हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

अभिनव०—इस प्रकार [३८ वें श्लोकमे] तिरछी [अर्थात् पूर्व पश्चिम आदि चार दिशाओ तथा ईशान आदि चार उपदिशाओ] तथा ऊपर नीचे [कुल मिलाकर] दशो दिशाओमे [बलि] सजावट करनी चाहिए यह कह कर [उसके बाद ३९वें श्लोकमे] चार दिशाओमे बलिविधिका वर्णन हो गया ॥३६-३७॥

---

१ न य त नानाभोजनसश्रय। अ सञ्चय।

२ च त व नीलश्चैव तु दक्षिण। ठ म निधानो दक्षिणेन च। नीलान्नो। छ म. नीलो याम्येन चैव हि। ३ रक्त। ४ म पुस्तकेक इद वाक्य न दृश्यते।

नान्यथेत्यभिप्रायेण व्यापक विधिमाह यादृशमित्यादिना—

भरत०—'यादृशं दिशि यस्यां तु दैवतं परिकल्पितम् ।
तादृशस्तत्र दातव्यो बलिर्मन्त्रपुरस्कृत ॥ ४० ॥

तेनाग्नेये रक्तवर्ण इत्याद्यूह्यम् । मन्त्रा [2]रङ्गपूजाविधौ वक्ष्यमाणा । ते च कर्मशंसोपयोगिनो [3]नेह युक्ता विधेया । मन्त्रेण स्मृत कर्म करोति इति हि स्मृति । अन्ये तु तद्देवताकै श्रुतिमन्त्रैरेव बलिकर्मेत्याहु. । तल्लिङ्गै रित्यन्ये ॥ ४० ॥

भरत०—स्थापने ब्राह्मणेभ्यश्च दातव्यं घृतपायसम् ।
मधुपर्कस्तथा राज्ञे कर्तृभ्यश्च गुडौदनम् ॥ ४१ ॥

चकारो भिन्नक्रम । न केवल मानोपक्रमे ब्राह्मणतर्पण यावत् स्थापनेऽपि इत्यर्थ ॥ ४१ ॥

अन्य प्रकारसे [अर्थात् जिस दिशामे जो विधान किया गया उससे भिन्न] नहीं करना चाहिए इसके लिए व्यापक रूपसे विधिको 'यादृशं' इत्यादिसे कहते हैं—

भरत०—जिस दिशामे जिस प्रकारके देवताकी कल्पना की गई है उस दिशामे उसी प्रकारकी, मन्त्रोंमे युक्त सजावट [बलि] करनी चाहिए ॥४०॥

अभिनव०—इसलिए आग्नेयकोणमे [उसके अधिष्ठातृ-देवता अग्निके रक्तवर्ण होनेके कारण] रक्तवर्ण [की सजावट-बलि] होनी चाहिए इत्यादि समझ लें। 'मन्त्र' रङ्ग-पूजाके विधानोमें कहे जाने वाले हैं। और वे [वैदिक मन्त्र] कर्मकी प्रशसामे उपयोगी हैं इसलिए यहां [सजावटके प्रसङ्गमे] उनका विधान युक्त नहीं है। मन्त्रोंसे स्मृत कर्मको [प्रतिपादन] करती है यह 'स्मृति' है। [अतः स्मार्त मन्त्रोंसे ही बलिविधि करना चाहिए। यह अभिनवगुप्तका मत है]। अन्य व्याख्याकार तो उस उस देवता वाले वेद-मन्त्रोसे ही बलि-कर्म करना चाहिए यह कहते हैं। तीसरे उस-उस देवताके लिङ्ग वाले मन्त्रोसे बलिकर्म मानते हैं ॥ ४० ॥

स्थापनाके अवसरपर विशेष भोजन—

नाट्य मण्डपके स्थापनविधिके अवसरपर भरतमुनि सब लोगोंके लिए विशेष भोजन की व्यवस्था करनेका विधान करते हैं—

भरत०—[नाट्य-मण्डपकी] स्थापना [अर्थात् आधारशिला रखे जाने] के अवसरपर ब्राह्मणोंको घृत-मिश्रित खीर [का विशेष भोजन] देना चाहिए। राजाको मधुपर्क [अर्थात् घृत एव मधु-मिश्रित दधि] तथा [कर्तृभ्य अर्थात् नाट्य-मण्डपके बनाने वाले] कारीगरोंको गुड-भात देना चाहिए । ४१ ।

अभिनव०—[इस कारिकामे 'ब्राह्मणेभ्यश्च' इस पदमे आया हुआ] 'चकार' भिन्नक्रम है [अर्थात् जहां वह पढ़ा गया है वहांपर उसका अन्वय नहीं होता है। उसका अन्वय अन्य स्थानपर होता है। इसका अभिप्राय यह है कि यह 'चकार' यद्यपि

---

१. ठ म यस्या यत्त्वाधिदैव तु दिशि सम्परिकीर्तितम् । य र यस्या यथाधिदैवन्तु दिशोन परिकीर्तित । २ म यरङ्गपूजाविधौ । भ न्यासपूजाविधौ । ३ नेम ।

[प्रक्षिप्त,—नक्षत्रेण तु कर्तव्य मूलेन स्थापनं बुधैः ।]

भरत०—मुहूर्तेनानुकूलेन[1] तिथ्या सुकरणेन च ।
एवं तु स्थापनं कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत् ।। ४२-४३ ।।

एव मानविधिं स्थापनविधि भित्तिविधि च कृत्वा स्तम्भविधि कार्य इति दर्शयति 'भित्तिकर्मणि' इति—

'ब्राह्मणेभ्यः' के बाद आया है किन्तु उसका अन्वय 'स्थापने' के बाद होता है। 'स्थापने च' इससे भरत मुनि यह सूचित करते है कि] न केवल माप करते समय [अर्थात् नाट्य मण्डपकी दागबेल करते समय] ही ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिए अपितु स्थापनविधि [अर्थात् आधारशिला रखनेके] के अवसरपर भी [ब्राह्मणोको भोजन आदिसे सत्कृत एवं तृप्त करना चाहिए] ।। ४१ ।।

४१ वे श्लोकके बाद फिर आधा श्लोक प्रक्षिप्त आ गया है। 'नक्षत्रेण तु कर्तव्य मूलेन स्थापन बुधैः' यह श्लोकार्ध स्थापनविधिके कालका निर्देश कर रहा है। स्थापनविधिका आरम्भ ३६ वें श्लोकसे हुआ है। यह श्लोकार्ध यदि वास्तविक होता तो उसका स्थान स्थापनविधिके आरम्भमें होना चाहिए था। यहाँ ४१ वें श्लोकपर तो स्थापनविधि समाप्त हो चुका है। इस स्थलपर इस श्लोकका पाठ सर्वथा अप्रासङ्गिक और अनुचित है। दूसरी बात यह है कि यह श्लोकार्ध यदि यहाँ बना रहता है पूर्व प्रसङ्गोके अनुसार अगले श्लोकोकी स्थितिको बिगाडता है। इस लिए यह श्लोकार्ध प्रक्षिप्त है। अभिनवगुप्त ने उस पर वृत्ति भी नही लिखी है। इस कारण हमने इस को प्रक्षिप्त मान कर कोष्ठके अन्तर्गत मुद्रित किया है। इस प्रकार हमारी और द्वितीय सस्करणकी श्लोक सख्यामें यहा तक एक और सख्याका अर्थात् कुल दो सख्याओका अन्तर हो गया है। परन्तु पहिलेके समान द्वितीय सस्करणके साथ सख्याक्रमकोमिलाए रखनेके लिए हम अगले ४२ वें श्लोक पर फिर ४२+४३ दो सख्याए डाल रहे हैं ।। ४१ ।।

भित्तिकर्म—

नाट्य-मण्डपकी आधारशिला या नीव रख चुकनेके बाद उसकी दीवारोकी चुनाईका कार्य आरम्भ होना है। इसके लिए भरतमुनिने 'भित्तिकर्म' शब्दका प्रयोग किया है। अगले श्लोक में वे भित्तिकर्मकी चर्चा करते हैं।

भरत०—अनुकूल मुहूर्त, अनुकूल तिथि और सुन्दर करण [कालका विशेष भाग] मे इस प्रकार [अर्थात् पूर्व प्रतिपादित शैलीसे नाट्य-मण्डपकी] स्थापना [अर्थात् नीव रखनेका कार्य] करके भित्तिकर्म [अर्थात् दीवारोकी चुनाईका कार्य] प्रारम्भ करे ।। ४२-४३ ।।

स्तम्भस्थापन—

इस प्रकार भित्तिकर्मका प्रतिपादन करनेके बाद भरतमुनि आगे स्तम्भ विधिका प्रतिपादन करते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि भित्तिकर्म वहाँ तक ही करना चाहिए जहांसे कि खम्भोका आरम्भ करना है। इसी बातको आगे कहते हैं—

अभिनव०—इस प्रकार १ मानविधि [उसके बाद] २ स्थापनविधि और [फिर] ३ भित्तिविधिको कर चुकनेके बाद स्तम्भविधि [अर्थात् खम्भोके खडे करने का कार्य] करना चाहिए यह बात 'भित्तिकर्मणि निर्वृत्ते' इत्यादिसे दिखलाते है—

---

१ म तिथ्यानुकरणेन च । ड म तिथ्यानुकरणेन च । २. म भ निर्वृत्ते ।

भरत०—भित्तिकर्मणि निर्वृत्ते स्तम्भानां स्थापनं ततः ।
तिथिनक्षत्रयोगेन शुभेन करणेन च ॥ ४४ ॥

स्थापनमुच्छ्रयणम् ॥ ४४ ॥

[प्रक्षिप्त—'स्तम्भानां स्थापनं कार्यं रोहिण्या श्रवणेन वा ।]

भरत०—आचार्येण सुयुक्तेन[1] त्रिरात्रोपोषितेन च ।
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं[2] प्राप्ते सूर्योदये शुभे ॥ ४५ ॥

भरत०—[मण्डपकी कुर्सी तक] भित्तिकर्मके पूर्ण हो जानेपर [उत्तम] तिथि तथा नक्षत्रका योग होनेपर और सुन्दर करण [काल-विशेष] में [मण्डपके] खम्भोंकी स्थापना करनी चाहिए । ४४ ।

अभिनव०—[स्तम्भोंका] स्थापन अर्थात् खड़ा करना ॥ ४४ ॥

यहा फिर आधा श्लोक प्रक्षिप्त आगया है । इसमें स्तम्भोंके स्थापनके काल या नक्षत्रका उल्लेख किया गया है । पर इसके पहिले वाले श्लोकमें ही इन कालका निर्देश किया जा चुका है इस लिए यह अनावश्यक दीखता है । अनावश्यक ही नहीं अपितु भरतमुनिकी भावनाके विपरीत जान पड़ता है । पिछली कारिकामें भरतमुनिने स्तम्भविधिके आरम्भ करनेका कोई निश्चित काल नही बतलाया है । कोई भी शुभ तिथि और नक्षत्र इस कार्यकेलिए उपयुक्त हो सकता है । किन्तु इस श्लोकार्धमें उसे निश्चित रूपसे रोहिणी या श्रवण नक्षत्रमें ही करना होगा । इस प्रकार यह श्लोकार्ध पूर्व श्लोककी भावनाके विपरीत होने भरतमुनिके भावको व्यक्त नहीं कर रहा है । अत एव प्रक्षिप्त प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त इनके बीचमें आ जानेपर अगले श्लोकों की व्यवस्था फिर बिगड़ जाती है । और अभिनवभारती भी इसपर नही है । इसलिए हमने उसको प्रक्षिप्त मान कर कोष्ठके भीतर मुद्रित किया है ।

इस प्रकार इस अध्यायमें अनेक स्थानोंपर प्रक्षिप्त श्लोक बादको बढ़ाए गए मिलते है । किन्तु वे सहजमें ही पकड़में आ जाते हैं । उसकी दो कसौटियां हैं । एक तो उनकी स्थिति से अगले श्लोकोंकी अर्थ-व्यवस्था गड़-बड़ हो जाती है । और दूसरे उनपर अभिनव-भारती नहीं मिलती है । इन दो कसौटियोंसे इस प्रकारके प्रक्षिप्त श्लोक सरलतासे पकड़में आ जाते हैं ।

कहीं-कहीं और भी ऐसे श्लोक मिलते हैं जिनपर अभिनवभारती नहीं है किन्तु उन्हें हमने प्रक्षिप्त नहीं माना है । ऐसे श्लोक वे हैं जिनमें एक ही बातका वर्णन कई श्लोकोंमें गया है । यहा एक दो श्लोकपर टीका है एकपर नही तो वहाँ उसको भी मूल श्लोक माना जा सकता है । जैसे अगला ही श्लोक इसका उदाहरण है । ४४ वें और ४५ वें श्लोकोंमें स्तम्भ स्थापनके विधिका वर्णन है । स्थापन शब्द इन दोनों श्लोकोंमें आता है । अभिनवगुप्तने इस 'स्थापन' शब्द की व्याख्या 'उच्छ्रयणम्' की है । यह व्याख्या दोनों श्लोकों पर लागू हो सकती है इसलिए हमने इनमेंसे किसीको प्रक्षिप्त नहीं माना है ।

भरत०—तीन रात्रि तक उपवास किए हुए और अत्यन्त एकाग्र-चित्त आचार्यके द्वारा शुभ दिवसमें सूर्योदयके समय स्तम्भोंकी स्थापनाका कार्य करना चाहिए । ४५ ।

---

१. ब. आचार्येण सुप्रयतेन कार्यं सूर्योदये शुभे ।
२. भ. चैव कार्यं सूर्योदये शुभं । म. चैव कार्यं सूर्योदये शुभे ।

भरत०—[1]प्रथमे ब्राह्मणस्तम्भे सर्पिस्सर्षपसस्कृतः[2] ।
सर्वशुक्लो विधिः कार्यो दद्यात् पायसमेव च ।। ४६ ।।
ततश्च क्षत्रियस्तम्भे वस्त्रमाल्यानुलेपनम् ।
सर्वं रक्तं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च गुडौदनम् ।। ४७ ।।
वैश्यस्तम्भे विधिः कार्यो दक्षिण-पश्चिमाश्रये[3] ।
सर्वं पीतं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च घृतौदनम्[4] ।। ४८ ।।
शूद्रस्तम्भे विधिः कार्यः पश्चिमोत्तरसंश्रये[5] ।
नीलप्रायं [6]प्रयत्नेन [7]कृसरं च द्विजाशनम् ।। ४९ ।।

प्रथम [8]ईशानकोणस्थः तस्य विशेषणै अनुवादलिङ्गविधिकल्प्य[9] । शुभ सर्वत्र

इस प्रकार इन दो श्लोकोमें स्तम्भविधिके काल आदिका निर्देश किया गया है। इसके वाद अगले चार श्लोकोमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र स्तम्भ नामोसे चारो उपदिशाओमें चार स्तम्भोकी स्थापनाका विधान किया गया है । उपदिशाओ मे पूर्व-उत्तरके बीचका कोण ईशान-कोण, पूर्व-दक्षिणके बीचका कोण आग्नेयकोण, दक्षिण-पश्चिमके बीचका कोण नैर्ऋत्यकोण और पश्चिम-उत्तरके बीचका कोण वायव्य कोण कहलाता है । इनमें क्रमश ब्राह्मण-स्तम्भ आदि चारो स्तम्भो, की स्थापनाका वर्णन करते हुए भरतमुनि आगे चार श्लोक लिखते हैं—

भरत०—[उत्तर-पूर्व दिशाके बीचके ईशान-कोणमे स्थित] प्रथम ब्राह्मण स्तम्भमे घृत तथा सर्षप [सरसो] से सस्कृत सम्पूर्ण शुक्ल पदार्थोसे सम्पन्न विधि करना चाहिए और [ब्राह्मणोंको खानेके लिए भो] खीर ही देनी चाहिए । ४६ ।

भरत०—उसके वाद [पूर्व दक्षिणके बीचके आग्नेय-कोण वाले] क्षत्रियस्तम्भमे वस्त्र, माल्य अनुलेपन आदि सब-कुछ लाल-रगका ही देना चाहिए और द्विजोको गुड-भात देना चाहिए ।४७।

भरत०—दक्षिण पश्चिमके बीचके [नैर्ऋत्य-कोण] दिग्भागमे [स्थित] वैश्यस्तम्भमे [वस्त्र माल्य आदि] सब कुछ पीले रगका देना चाहिए और द्विजोको घी भात देना चाहिए ।४८।

भरत०—पश्चिम तथा उत्तरके बीच [वायव्य कोण] मे स्थित शूद्र-स्तम्भमे प्रयत्न-पूर्वक [वस्त्र माल्य अनुलेपन आदि सबकुछ] नील-प्रधान होना चाहिए और द्विजोको खानेकेलिए खिचडी देनी चाहिए । ४९ ।

अभिनव०—पहिला [स्तम्भ उत्तर-पूर्वके बीचका] ईशान कोणमे स्थित [ब्राह्मण-स्तम्भ] है । [यह बात] उसके विशेषणोसे अनुवाद तथा लिङ्गविधिसे प्रतीत होती है । [अर्थात् उसमे जो सर्व शुक्लविधिका विधान किया गया है और उसका जो 'ब्राह्मण-स्तम्भ नाम है इस सबसे प्रतीत होता है कि यह ईशान-कोणमे स्थित स्तम्भ ही होना चाहिए] । खीर सब जगह अच्छी मङ्गल-जनक होती है इसलिए [यहा उसके

---

१. ख चन्दन च भवेद्र ब्राह्म क्षात्र खादिरमेवच । धावाख्य वैश्यवर्णं स्याच्छत्र सर्वद्रुमं स्पृतम् ।। इत्यधिक पाठ्यते । २ ग व सस्कृते । ३ म. भ दिग्भागे पश्चिमोत्तरे । ४ न व त घृताशनम् । ५ सम्यक् पूर्वोत्तराश्रये । ६ ठ म त प्रदातव्यम् । ७. प व. कृसरा च । च कृशरा । ८. म भ आग्नेय-कोण । ९ कल्प्यम् ।

पायसमिति । द्विजेभ्य इति प्रकरणात् । 'ततश्चेति तदन्त इत्यर्थः । सर्वस्य विध्यनुसारेणैव भोजन शुक्लादिवर्णमिति मन्तव्यम् ॥४६-४६॥

देनेका विधान किया गया] है। द्विजोंको [खीर दी जाय] यह बात प्रकरणसे निकलती है [क्योंकि आगे सब श्लोकोंमें द्विजोंके ही भोजनका वर्णन है]। सबको विधिके अनुसार ही शुक्ल आदि वर्णका भोजन देवे यह समझना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इन श्लोकोंमें मूल-श्लोकों तथा टीका दोनोंमें अशुद्ध पाठ पाया जाता है और वे अशुद्धियां उपदिशाओंसे सम्बन्ध रखने वाली हैं। इन चार श्लोकोंमें नाट्य-मण्डप के चारों कोनोंपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णोंके नामसे चार स्तम्भोंकी स्थापना का विधान किया गया है। मण्डपके चारों कोण ईशान, आग्नेय, नैर्ऋत्य और वायव्य इन चारों उपदिशाओं में पड़ते हैं। उत्तर-पूर्वके बीचके कोणका नाम ईशान-कोण है। पूर्व-दक्षिणके बीच का कोण आग्नेय-कोण कहलाता है। दक्षिण-पश्चिमके बीचका कोण नैर्ऋत्य-कोण और पश्चिम-उत्तरके बीचका कोण वायव्य-कोण कहलाता है। भरतमुनिने प्रथम और द्वितीय स्तम्भ अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय स्तम्भोंको किस कोणमें स्थापित किया जाय इसका कोई निर्देश नहीं किया है। किन्तु पूर्व संस्करणोंके पाठके अनुसार तीसरे वैश्य-स्तम्भ को 'दिग्भागे पश्चिमोत्तरे' अर्थात् पश्चिम और उत्तरके बीचके वायव्य-कोणमें तथा चौथे शूद्र-स्तम्भको 'पूर्वोत्तराश्रये' अर्थात् उत्तर-पूर्वके बीचके ईशान-कोणमें स्थापित करनेकी बात कही है। इससे यह बात अपने आप निकल आती है कि दूसरे क्षत्रिय-स्तम्भको दक्षिण-पश्चिमके बीचके नैर्ऋत्य-कोणमें और प्रथम ब्राह्मण-स्तम्भको पूर्व-दक्षिणके बीचके आग्नेय कोणमें स्थापित करना चाहिए। इसीलिए इसकी अभिनव-भारतीके प्रारम्भमें पूर्व संस्करणों में 'प्रथम त्वाग्नेय कोणे' लिखा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि ग्रन्थकारने यहाँ कोणोंकी गणना आग्नेयकोणसे आरम्भ की है। और वहींसे क्रमशः ब्राह्मणादि स्तम्भोंकी स्थापनाका प्रतिपादन किया है।

वैसे तो कोणोंकी गणनाका आरम्भ कहींसे भी किया जा सकता है। इसलिए आग्नेय-कोणसे भी हो सकता है। परन्तु जैसे दिशाओंकी गणना पूर्व दिशासे आरम्भ की जाती है अन्य किसी दिशासे उसका आरम्भ प्रायः नहीं किया जाता है। इसी प्रकार उपदिशाओं या कोणोंकी गणना पूर्व-उत्तरके बीचके ईशान-कोणसे प्रारम्भ करना उचित होता है। उस दशामें प्रथम ब्राह्मण-स्तम्भका स्थान आग्नेय-कोणके बजाय ईशान-कोणमें होना चाहिए। और यह स्थान मूल श्लोकों में पठित विशेषणों और पदार्थोंके सम्बन्धके आधारपर भी ठीक बैठता है। इन श्लोकोंमें भरतमुनि ने प्रथम ब्राह्मण-स्तम्भके साथ शुक्ल पदार्थोंका सम्बन्ध वर्णित किया है। ३६-४०वीं कारिकाओं के अनुसार यह शुक्ल पदार्थोंका सम्बन्ध प्रायः पूर्व दिशा और ईशान-कोणके साथ ही पाया जाता है। इसी प्रकार दूसरे क्षत्रिय स्तम्भके साथ रक्त-वर्णके पदार्थोंका सम्बन्ध दिखलाया गया है। वह दक्षिण दिशा या आग्नेयकोणके साथ ठीक बैठता है। इसलिए हमारी दृष्टिमें इन स्तम्भोंकी स्थापनाका आरम्भ ईशानकोणसे होना चाहिए था। शुक्ल पदार्थोंका सम्बन्ध आग्नेयकोणके साथ नहीं बनता है। अभिनवगुप्त भी ४०वीं कारिकाकी व्याख्यामें लिख चुके हैं कि 'तेन आग्नेये रक्तवर्णं स्थापयेत्'। इस दृष्टिसे, और अग्नेयकोणके अधिष्ठाता अग्निको रक्तवर्णका देवता माना गया है इसलिए भी रक्तवर्णसे सम्बद्ध क्षत्रिय-स्तम्भकी स्थापना आग्नेयकोणमें होनी चाहिए। और शुक्ल पदार्थोंसे सम्बद्ध ब्राह्मण-स्तम्भकी स्थापना ईशान [शिव] का शुक्लवर्णके अधिष्ठातृ-देवता होनेसे ईशानकोणमें उचित है आग्नेयकोणमें नहीं।

[प्रक्षिप्त०—पूर्वोक्तब्राह्मणस्तम्भे शुक्लमाल्यानुलेपने ।
निक्षिपेत् कनक मूले कर्णाभरणसश्रयम् ॥
ताम्रं चाध· प्रदातव्यं स्तम्भे क्षत्रियसज्ञके ।
वैश्यस्तम्भस्य मूले तु रजतं सम्प्रदापयेत ॥
शूद्रस्तम्भस्य मूले तु दद्यादायसमेव च ।
सर्वेष्वेव तु निक्षेप्यं स्तम्भमूलेषु काञ्चनम् ॥

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसी बात है अर्थात् यदि शुक्ल पदार्थोंसे सम्बद्ध होनेके कारण ब्राह्मण-स्तम्भकी स्थापना ईशानकोणमें उचित प्रतीत होती है तो फिर भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनोने उसे आग्नेय-कोणमें स्थापित करनेकी बात कैसे लिखी है। इसका उत्तर यह है कि यह सब अनर्थ कदाचित् पाठ-दोषके कारण हुआ हो। पाठके ठीक कर देनेसे वह दोष भी दूर हो सकता है। अभिनवभारतीके पाठमे तो केवल 'प्रथम आग्नेयकोण' के स्थान पर 'प्रथम ईशानकोण।' इतना परिवर्तन कर देनेसे सारा कार्य ठीक हो जाता है। यदि इतनी ही बात होती तो यह पाठ-सशोधन सरलतासे किया जा सकता था। किन्तु यहाँ तो वैश्य-स्तम्भके विषयमें 'दिग्भागे पश्चिमोत्तरे' और शूद्रस्तम्भके विषयके 'सम्यक् पूर्वोत्तराश्रये' यह भरतका पाठ आडे आ रहा है। यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। यदि हम औचित्यकी रक्षा करना चाहे तो हमें भरतमुनिके इस पाठको भी ठीक करना होगा। वैश्य-स्तम्भमें जहाँ 'दिग्भागे पश्चिमोत्तरे' पाठ पाया जाता है वहाँ पर 'दक्षिण-पश्चिमाश्रये' यह पाठ होना चाहिए। इसी प्रकार शूद्र-स्तम्भ वाले श्लोक में सम्यक् पूर्वोत्तराश्रये' के स्थानपर 'पश्चिमोत्तरसश्रये' यह पाठ होना चाहिए। इसलिए हमने सशोधित रूपमें ये ही पाठ प्रस्तुत किए हैं ॥४६-४९॥

पाच प्रक्षिप्त श्लोक —

इनके बाद पाच प्रक्षिप्त श्लोक पाए जाते हैं। ब्राह्मण-स्तम्भ तथा क्षत्रिय-स्तम्भ आदि स्तम्भोकी स्थापनासे सम्बद्ध ४६-४९ श्लोकोपर तो अभिनवभारती मिलती है। किन्तु इसके बाद स्तम्भके मूलमें काञ्चन आदि रखनेका वर्णन जिन श्लोकोमें किया गया है उन अगले पाँच श्लोकोपर अभिनवभारती नही मिलती है। इसके विपरीत स्तम्भोकी स्थापना विषयक श्लोकोकी व्याख्याके अन्तमें उन्होने 'सर्वस्य विध्यनुसारेणैव भोजन शुक्लादिवर्णमिति मन्तव्यम्।' यह जो पक्ति लिखी है उससे प्रतीत होता है कि 'कृसर च द्विजाशनम्' तकके पूर्वोक्त श्लोको तकका ही पाठ उनके सामने था। मूलमें कनक आदि रखनेका विधान करने वाले इन श्लोकोका पाठ उनके सामने नहीं था। अत हमने इन पाँच श्लोकोको प्रक्षिप्त माना है। किन्तु द्वितीय सस्करणके साथ सख्याका साम्य बनाए रखनेकेलिए अन्तिम श्लोकपर ५०-५४ तक इकट्ठी सख्या डाल दी है।

प्रक्षिप्त—पहिले कहे हुए [उत्तर-पूर्वके बीचके ईशान कोणमें स्थित] ब्राह्मण स्तम्भ में शुक्ल वर्णके माल्य तथा अनुलेपन [आदिका प्रयोग करे] और उसके मूलमे कर्णाभूषणके सोने को रखे।

प्रक्षिप्त—[पूर्व-दक्षिणके बीचके आग्नेय कोणमें स्थित] क्षत्रिय नामक स्तम्भमें नीचे [मूलमें] ताबा रखना चाहिए और [दक्षिण-पश्चिमके बीचके नैर्ऋत्य कोणमें स्थित] वैश्य-स्तम्भ की जड़मे चादी रखावे।

प्रक्षिप्त—[पश्चिम-उत्तरके बीचके वायव्य कोणमे स्थित] शूद्र स्तम्भके मूलमे लोहा देवे। और सभी स्तम्भोके मूलमें [उनके साथ कहे धातुओ के अतिरिक्त] सोना [भी] डालना चाहिए।

स्वस्तिपुण्याहघोषेण जयशब्देन चैव हि ।
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं पुष्पमालापुरस्कृतम् ॥
रत्नदानैः सगोदानै-र्वस्त्रदानैरनल्पकैः ।
ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु स्तम्भानुत्थापयेत् ततः ॥ ५०-५४ ॥

भरत०—अचलं 'चाप्यकम्प्यं च तथैवावलितं' पुनः ।
'स्तम्भस्योत्थापने सम्यग् दोषा ह्येते प्रकीर्तिताः ॥ ५५ ॥

अचलमिति स्थानान्तरानिवेशलक्षणमनेनोक्तम् । अविद्यमाना चलना यस्येति । अकम्पमिति तत्रैव स्थानशिथिलता येन न भवति । अवलितमिति वलयाकृत्यादिना परिवर्तन यस्य करणीय न भवति । दोषसूचकत्वाद् दोषकारित्वाच्च दोषा ॥ ५५ ॥

स्तम्भ-स्थापनके दोष और उनके फल—

प्रक्षिप्त—स्वस्ति वाचन और पुण्याहके घोषके एवं जय शब्दके घोषके साथ पुष्प मालाओंसे सजे हुए स्तम्भोंको खड़ा करना चाहिए ।

प्रक्षिप्त—गोदान सहित प्रचुर मात्रामें किए हुए रत्नोंके दानसे ब्राह्मणोंको प्रसन्न करके तब स्तम्भोंको खड़ा करे ।

स्तम्भ खड़ा करना—

भरत०—[उसके बाद स्तम्भोंको इस प्रकारसे खड़ा करे कि] वे स्थिर हों [इधर उधर सरकें नहीं], हिलें नहीं [अकम्प्य] और घूमे नहीं [अवलितम्] । क्योंकि स्तम्भोंके ठीक तरहसे खड़े करनेमें [प्राय] ये दोष कहे गए हैं [आजाते हैं] ।

अभिनव०—अचल इससे दूसरे स्थानको न सरकनेकी बात कही गई है । जिसमे चलना [गति] न हो [यह इस 'अचल शब्दका अर्थ है] । 'अकम्पं' इससे उसी स्थानपर [रहते हुए भी] ढीला न होना सूचित किया है । 'अवलित' इससे वलयकी तरह अर्थात् गोलाकारमें घूमना जिससे न हो । [यह सूचित किया है । भावी अनिष्टरूप] दोषके सूचक होनेसे और अनिष्टके जनक होनेसे इनको 'दोष' कहा जाता है । ५५ ।

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके मूल पाठमें प्रथमसंस्करणमें द्वितीय चरणके अन्तिम भागमें 'तथैवाचलितं' पाठ छाप दिया गया था । वह अशुद्ध था । उसके स्थानपर 'तथैवावलितं' पाठ होना चाहिए था । इसी प्रकार इसी भागकी टीकामें भी 'अचलितमिति' पाठ छपा था वह भी अशुद्ध था । इसके दो कारण हैं । एक तो यह कि 'अचल' पद श्लोकमें पहिले ही आ चुका है । यहाँ द्वितीय चरणमें भी फिर 'अचलित' पाठ रखनेसे पुनरुक्ति होगी । दूसरे इसी कारिकाके व्याख्यानमें इस पदकी व्याख्या 'वलयाकृत्यादिना परिवर्तनं यस्य करणीयं न भवति' यह की गई है । यह व्याख्या भी सूचित करती है कि यह 'अचलित' पदकी नहीं अपितु 'अवलित' पदकी व्याख्या है । इसलिए यहाँ 'अचलितं' नहीं 'अवलितं' पाठ ही होना चाहिए । अतः हमने मूल तथा टीका दोनों जगह 'अवलितं' पाठ ही रखा है । द्वितीय संस्करणमें भी यह संशोधन कर दिया गया है ॥५५॥

---

१. ब चाप्यकम्प्यञ्च । २ ब तथो चलितमेव तु । तथैवाचलितं पुनः ।
३ द, ब स्तम्भानुत्थापयेत् । ड न. स्तम्भमुत्थापयेत् ।

तान् दोषानाह अवृष्टिरित्यादि—

भरत०—'अवृष्टिरुक्ता चलने वलने मृत्युतो[1] भयम् ।
कम्पने परचक्रात्[3] तु भयं भवति[4] दारुणम् ॥ ५६ ॥
दोषैरेतैर्विहीनं तु स्तम्भमुत्थापयेच्छिवम्[5] ।
[6]पवित्रे ब्राह्मणस्तम्भे दातव्या दक्षिणा च गौः ॥ ५७ ॥

दातव्येति । द्विजायेति दातव्यबलाल्लभ्यते ॥ ५७ ॥

भरत०—शेषाणां [7]भोजनं कार्यं स्थापने[8] कर्तृसंश्रयम् ।
[9]मन्त्रपूतं च तद्देयं नाट्याचार्येण धीमता ॥ ५८ ॥
पुरोहितं नृपं चैव भोजयेन्मधुपायसैः[10] ।
कर्तृनपि तथा सर्वान् कृसरां लवणोत्तराम्[11] ॥ ५९ ॥

अभिनव०—[स्तम्भोके स्थापनमे सम्भावित जो तीन दोष कहे गए हैं] उन दोषोको 'अवृष्टि' इत्यादि [अगली कारिका] से कहते हैं—

भरत०—[खडा करते समय स्तम्भके चलन अर्थात् इधर-उधर] सरक जानेपर अवृष्टि [अर्थात् वर्षाके न होनेकी सम्भावना, और वलन अर्थात्] उसी स्थानपर घूम जानेसे मृत्युका भय और हिल जानेपर शत्रु पक्षसे दारुण भय होता है ॥ ५६ ॥

भरत०—इन [तीनो] दोषोसे रहित कल्याणकारी रूपसे स्तम्भोको खडा करे और पवित्र ब्राह्मण-स्तम्भके खडा करनेपर [ब्राह्मणको] दक्षिणा [के रूप] मे गायका दान करना चाहिए ॥५७॥

अभिनव०—'दातव्या' इससे दातव्य पदके प्रयोगके सामर्थ्यसे 'ब्राह्मणको' [देनी चाहिए] यह बात [स्वय] प्राप्त हो जाती है ॥ ५७ ॥

भरत०—शेष [क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र] स्तम्भोके स्थापन [के अवसर] पर [नाट्य-मण्डपके] निर्माताके द्वारा [अर्थात् निर्माताके व्ययपर सब लोगोको] भोजन कराया जाना चाहिए। और बुद्धिमान् नाट्याचार्य मन्त्रोसे पवित्र [किए हुए] उस भोजनको देनेकी व्यवस्था करे । ५८ ।

भरत०—[उस भोजनमे] पुरोहित और राजाको मधुमिश्रित खीर खिलावे और सब कारीगरो [कर्तृन्] को लवण प्रधान खिचडी खिलावे ॥ ५९ ॥

इन दोनो कारिकाओमेसे पहिलीमें 'कर्तृसंश्रयम्' पद आया है वहाँ कर्ता शब्दसे मण्डपके निर्माण कराने वालेका, और दूसरी कारिकामे आए हुए 'कर्तृन्' पदसे मण्डपके निर्माण करने वाले कारीगरोका ग्रहण किया गया है ।

इस प्रकार यहाँ तक स्तम्भविधिका सामान्य रूपसे निरूपण कर अब आगे उनको खडा करते समय उच्चारण किए जाने वाले मन्त्रको बतलाते हैं । किन्तु वह वास्तवमें कोई वेद-मन्त्र नही केवल एक सामान्य श्लोक है उसके पहिले ओङ्कार और अन्तमें 'स्तम्भाय नम' बोल कर उसको मन्त्र का रूप देनेका यत्न किया गया है । यह शैली मध्यकालमें बहुत अपनाई जाती रही है ।

---

१ छ व अदृष्टि । २ न मृतितो । ३ त परचक्रेभ्य । न कम्पिते परराष्ट्रेभ्य ।
४ ठ म वदति । ५ च्छुभम् । ६ त व म पवित्रम् । ७ ड व त स्थापने ।
८ ड व त भोजनम् । ९ ठ म मन्त्र पूर्वं च । १० ठ त पायसम् । म दय पायसम्
११ च म सरम् । त कृसरान् लवणोत्तरान् ।

भरत०—सर्वमेवं विधिं कृत्वा सर्वातोद्यै प्रवादितैः।
अभिमन्त्र्य यथान्यायं 'स्तम्भानुत्थापयेच्छुचिः॥ ६०॥

अभिमन्त्र्येति' समूहोचितो यो मन्त्रस्तमाह यथेति—

भरत०—यथाचलो गिरिर्मेरु-र्हिमवांश्च महाबलः'।
जयावहो नरेन्द्रस्य 'तथा त्वमचलो भव॥ ६१॥

प्रणव-नमस्कारमध्यवर्ती चाय पठितव्य' इति वास्तुविद्याविद। 'अचलो भव' इत्यपूर्वविधि तदनुवादेन 'जयावहो भव' इत्यस्य न पौनरुक्त्यम्॥ ६१॥

भरत०—स्तम्भद्वारं च भित्तिं च नेपथ्यगृहमेव च।
एवमुत्थापयेत् 'तज्ज्ञो विधिदृष्टेन कर्मणा॥ ६२॥

एवमिति, तेन भित्ती स्त्रीत्वेन गृहे नपुंसकत्वेनोह. कार्य॥ ६२॥

भरत०—इस प्रकार [भोजन तथा दक्षिणा सम्बन्धी] सारे विधिको करके और सारे वाद्योंके बजानेके साथ शुद्ध-पवित्र होकर तथा विधिवत् अभिमन्त्रित करके [स्तम्भको] उठावे॥६०॥

अभिनव०—'अभिमन्त्रित करके' इसमे [अभिमन्त्रित करनेके लिए] जो समूह मे पढ़ने योग्य मन्त्र है उसको 'यथा' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद 'समूहसूचित' पाठ प्रथम-सस्करणमें छपा था। उसके स्थान पर 'समूहोचितः' पाठ होना चाहिए। द्वितीय सस्करणमें उसके स्थानपर केवल 'सूचित' पाठ दिया गया है। परन्तु ये दोनो ही पाठ अशुद्ध हैं। मध्यकालीन धारणाके अनुसार वेदमन्त्र समूहोचित अर्थात् सबके सुनने योग्य नहीं होते हैं। अत उनके स्थान पर समूहमें सबके सामने पढे जाने योग्य इस मन्त्रको दिया गया है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इसलिए यहा 'समूहसूचित' नही 'समूहोचितः' यही पाठ होना चाहिए। अत हमने 'समूहोचित.' पाठ प्रस्तुत किया है।

भरत०—जिस प्रकार मेरु पर्वत और महान् हिमालय अचल है राजाके लिए जयका आवाहन करने वाले [हे स्तम्भ] उसी प्रकार तुमभी अचल हो॥ ६१॥

अभिनव०—'प्रणव' [ओङ्कार] तथा 'नम' के बीचमें इसको पढना चाहिए, यह शिल्पकला-विशारदोका मत है। [अर्थात् इसके आदिमे ओङ्कारका और अन्तमें स्तम्भाय नम.' का पाठ और करना चाहिए]। 'अचल हो' यह अपूर्व विधि है। उसका अनुवाद करके जयावहत्वका विधान है [वह गुणविधि है] अत पुनरुक्ति नहीं है।

भरत०—इस प्रकार शिल्पविद्याको जानने वाला [पारोगर] स्तम्भद्वार, भित्ति तथा नेपथ्यगृहको भी विधिविहित प्रकारसे बनावे। ६२।

अभिनव०—[इस प्रकार स्तम्भोंके समान भित्ति तथा नेपथ्यगृहके उठाने समय] भित्तिमे ['त्वमचला भव' इस प्रकार] स्त्रीलिङ्गका, और गृहमें ['त्वमचलं भव' इस] नपुंसक लिङ्गका 'ऊह' [अर्थात् परिवर्तन] कर लेना चाहिए॥ ६२॥

---

१. घ न स्तम्भमुत्थापयेत्। २ म न समूहसूचितो। ख सूचितो।
३. म. बल यथाबल। ४. म यथा त्वमचलो भव्। यथा। ५ म न पठित इति। ६ प्राज्ञ.।

भरत०—रङ्गपीठस्य [1]पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी ।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता रङ्गपीठप्रमाणतः ॥६३॥

पार्श्व इति विशेषानुपादानात्, 'तयोस्तुल्यम्' [२-६४] इति च द्विवचनाल्लिङ्गाद् भाविनोर्द्वयो पार्श्वयोरिति लभ्यते । स्तम्भाश्चत्वारो बहिर्मण्डपान्निष्कासन कृत्वा ध्रियन्ते मण्डपक्षेत्राद्बहि । तेन भित्तिच्छेदावधौ स्तम्भद्वय, ततोऽपि बहिर्भित्ते अष्टहस्तान्तरं । स्तम्भापेक्षयापि अष्टहस्तान्तर स्तम्भद्वयमित्येव अष्टहस्तविस्तारा समचतुरस्रा मत्तवारणी भवति । आयामस्तु प्रमाणमिति ये वदन्ति तेषा मते दैर्घ्यादिष्टहस्त विस्तारात् षोडशहस्त इत्येव विकृष्टता [2]मत्तवारण्या भवति ॥ ६३ ॥

भरत०—रङ्गपीठके दोनों ओर [दोनो बगलोमें] रङ्गपीठके मापकी और चार खम्भोंसे युक्त मत्तवारणियों [दो बरामदो] की रचना करनी चाहिए । ६३ ।

अभिनव०–[यद्यपि 'रङ्गपीठस्य पार्श्वे' यह एक वचनका प्रयोग है परन्तु दाहिने या बांये] किसी विशेष [पार्श्व] का ग्रहण न होनेसे तथा ['उत्सेधेन तयोस्तुल्यं' इत्यादि अगली ६४ वीं कारिकामे] उन दोनो [मत्तवारणियोके बराबर इस] में 'तयोः' इस द्विवचन रूप लिंगसे बननेवाले दोनो पार्श्वोंमें [अर्थात् रङ्गपीठके दोनों ओर मत्तवारणी बनाना चाहिए] यह सिद्ध होता है । ['चतुःस्तम्भसमायुक्ता' में जो मत्तवारणीके चार स्तम्भ कहे हैं वे] चारो स्तम्भ मण्डपसे बाहर निकाल कर बनाए जाते हैं। इस लिए [रङ्गपीठकी] दीवारकी समाप्तिपर [दीवारसे मिले हुए किन्तु मण्डपसे बाहरकी ओर] दो खम्भे [रङ्गपीठकी मापके अनुसार रङ्गपीठकी आठ हाथकी चौड़ाईके दोनो सिरोपर आठ हाथके अन्तरसे] और उससे भी परे भित्तिके बाहरकी ओर एक-दूसरेसे और [पूर्व लगाए हुए दोनो] स्तम्भोसे भी आठ हाथोके अन्तरपर दो और स्तम्भ बनेंगे । इस प्रकार आठ हाथोकी लम्बाई-चौडाईकी चौकोर वर्गाकार दोनो [मत्तवारणी] वरामदे होते है । जो लोग यह कहते हैं कि [मत्तवारणियो का भी] आयताकार परिमाण होना चाहिए उनके मतमे [विकृष्ट मडपमे रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष दोनोको मिलाकर] सोलह हाथ लम्बी और आठ हाथ चौड़ी इस प्रकार मत्तवारणियोकी विकृष्टता बनजाती है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके अन्तमें 'इत्येव विकृष्टता रङ्गपीठस्य भवति' इस प्रकार का पाठ पूर्व-सस्करणोमें छपा है । किन्तु वह अशुद्ध है । यहांपर मत्तवारणियोकी रचनाका प्रकरण चल रहा है । उसीके आकारके विषयमें दो मत दिए गए हैं । पहिले मतके अनुसार मत्तवारणी वर्गाकार होती हैं । उसकी लम्बाई और चौडाई दोनो ही आठ-आठ हाथकी होती हैं । यही अभिनवगुप्तका अपना मत है । किन्तु दूसरे लोग रगपीठके समान मत्तवारणियोको भी आयताकार बनाना चाहते हैं । उनके मतमे उसकी लम्बाई सोलह हाथ और चौडाई आठ हाथकी होगी । इस प्रकार मत्तवारणी विकृष्ट या आयताकार दोनो प्रकारकी बन जावेंगी । पहिले मतके अनुसार विकृष्ट मण्डपमें मत्तवारणियोकी रचना केवल रगपीठके किनारोंपर होगी । रगपीठकी चौडाई आठ

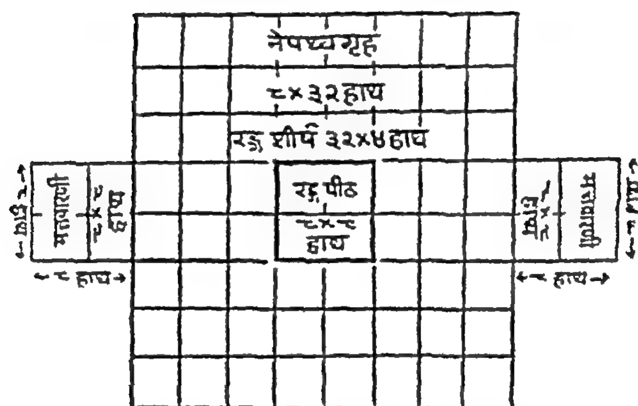
---

१ पश्चात्तु । २ रङ्गपीठस्य ।

हाथ है इसलिए मत्तवारणी ८×८ हाथकी वर्गाकार चतुरस्र आकारमें बनेगी। दूसरे मतमें जो उसकी लम्बाई सोलह हाथ और चौडाई आठ हाथकी मानते हैं वह मत्तवारणी रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष दोनोंके किनारोंपर बनेगी। विकृष्ट मण्डप रङ्गपीठमें और रङ्गशीर्ष दोनोंकी चौडाई आठ-आठ हाथ है जो मिलकर सोलह हाथ बन जाती है। इस प्रकार दोनों भागोंको मिला कर उनके किनारोंपर मत्तवारणी बनानेमें वे १६×८ हाथकी विकृष्ट अर्थात् आयताकार बन जावेंगी। चतुरस्र मण्डपमें रङ्गपीठ ८ हाथ और रङ्गशीर्ष ४ हाथका दोनों मिलकर १२ हाथ लम्बे होते हैं। इस लिए उसमें आयताकार मत्तवारणी १२×८ हाथ की ही हो सकती है। उसको १६×८ की

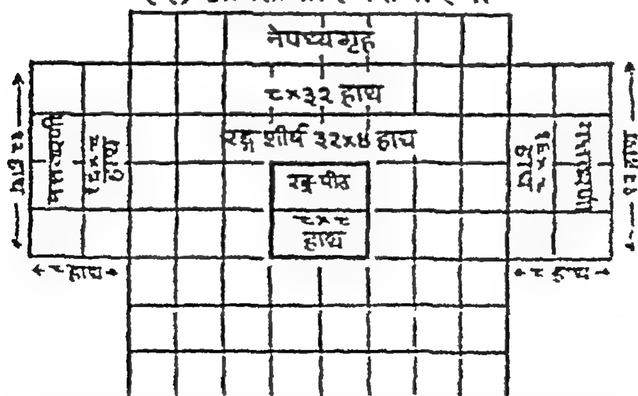
अभिनवगुप्तके अनुसार मत्तवारणी कीदो स्थितियां

(१) समचतुरस्र मत्तवारणी



'अष्टहस्तविस्तीरा समचतुरस्त्रामत्तवारणीभवति'

(२) आयताकार मत्तवारणी –



आयामस्तु प्रमाणमिति येवदन्ति तेषांमते दैर्घ्यादिष्ट-
हस्त विस्ताराच्छेऽशहस्ताइत्येवं विकृष्टतामत्तवारण्या

भवति

बनाने के लिए ४ हाथका क्षेत्र नेपथ्यगृहके सामनेसे लेना होगा। ऊपर हमने चतुरस्र मण्डपमें आयताकार मत्तवारणीका चित्र इसी आधारपर बनाया है। विकृष्ट मण्डपमें जो रङ्गपीठ और

रगशीर्ष दोनो आठ-आठ के ही होते हैं। इस लिए उसमें १६ × ८ हाथ की आयताकार मत्तवारणी रगपीठ तथा रगशीर्षके सामने ही बन जाती है। पीछे दिए हुए विकृष्ट मण्डपके चित्रमें उसको देखा जा सकता है। हर हालतमें यहां मत्तवारणीकी ही विकृष्टताका वर्णन किया जा रहा है। रगपीठकी विकृष्टताका यह वर्णन नही है इसलिए यहाँ 'रगपीठस्य' के स्थानपर 'मत्तवारण्या' पाठ ही होना चाहिए। अत हमने सशोधित रूपमे इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—अभिनवभारती-युक्त वडोदावाले दोनो सस्करणोमें तथा मूल नाटय-शास्त्रके अन्य सब सस्करणोमें भी इस ६३वी कारिका का पाठ निम्न रूपमें मुद्रित हुआ है।

रङ्गपीठस्य पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी।
चतु स्तम्भसमायुक्ता रगपीठप्रमाणत ॥

इस पाठमें 'पार्श्वे' 'कर्तव्या' 'मत्तवारणी' और 'चतु स्तम्भसमायुक्ता' ये सब ही शब्द एकवचनान्त प्रयुक्त हुए हैं। जिससे प्रतीत होता है कि रगपीठके एक ओर मत्तवारणीकी रचना होनी चाहिए। किन्तु अभिनवगुप्तने उसकी व्याख्यामें 'भाविनो द्वयो पार्श्वयो' अर्थात् दोनों किनारोपर मत्तवारणीका विधान माना है। इस दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो मूल श्लोक का पाठ कुछ ठीक नही जचता है। यद्यपि अभिनवगुप्तके सामने भी श्लोकका यही पाठ था और उन्होने उसके सशोधनका कोई सङ्केत नही किया है किन्तु इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए—

पार्श्वयो रगपीठस्य कर्तव्यौ मत्तवारणौ।
चतु स्तम्भसमायुक्तौ रगपीठप्रमाणत ॥

इस प्रकारका पाठ अधिक उचित होता। ऐसा अनुमान होता है कि प्रारम्भमें इसी प्रकारका पाठ रहा होगा। फिर किसी समय 'नामैव स्त्रीति पशलम्' इस सिद्धान्तके अनुसार 'मत्तवारणौ' को स्त्रीलिंग 'मत्तवारणी' बना दिया गया। जिसके परिणाम स्वरूप 'कर्तव्या मत्तवारणी' यह पाठ आ गया। हमारी दृष्टिमें यह पाठ उचित नही है किन्तु अभिनवगुप्तने उसीको माना है अतः हमने उसमें कोई परिवर्तन नही किया है। फिर भी इस विषयमें कुछ विशेष विवेचना हम आगे दे रहे हैं।

'मत्तवारणी' की समस्याएँ—

'मत्तवारणी' की समस्या नाटयशास्त्रकी सबसे अधिक जटिल और महत्त्वपूर्ण समस्या है। आधुनिककालके अनेक विशिष्ट विद्वानोने इसके विषयमें विचार कर तथ्य निर्णय करनेका यत्न किया है किन्तु वे किसी ठीक परिणामपर नही पहुँच सके हैं। 'मत्तवारणी' शब्दसे सम्बद्ध समस्याके भी कई भाग है। उसका ठीक शब्द या नाम क्या है? उसका ठीक अर्थ क्या है? उसका ठीक स्थान और आकार क्या है? और उसकी सख्या कितनी है? ये सभी प्रश्न इस समस्याके साथ जुड़े हुए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवान्तर प्रश्न है। मूल नाटय-शास्त्रमें और उसकी अभिनव-भारतीमें सर्वत्र 'मत्तवारणी' शब्द ही मुद्रित हुआ है इसलिए स्वभावत आधुनिककालके और प्राचीनकालके सभी विद्वानोने 'मत्तवारणी' शब्दका ही प्रयोग किया है। किन्तु यह शब्द सन्दिग्ध सा प्रतीत होता है। उसकी अपेक्षा 'मत्तवारण' शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। शब्दके व्यवहार विषयमें कोश या साहित्य दो ही मुख्य प्रमाण होते हैं उन दोनो हीकी दृष्टिसे 'मत्तवारणी' शब्द उपयुक्त नही है यह बात हम आगे दिखलावेंगे। तब 'मत्तवारणी' के विषयमे पहिली समयस्या तो यह है कि यहा 'मत्तवारणी' शब्दका प्रयोग किया जाना चाहिए अथवा 'मत्तवारण' शब्दका। यह पहिली समस्या शब्दसाधुत्वसे सम्बन्ध रखती है। दूसरी समस्या उसके अर्थसे सम्बन्ध रखती है। 'मत्तवारण' या 'मत्तवारणी' जो कोई भी शब्द उपयुक्त है उसका अर्थ क्या है? यह दूसरा

विचारणीय प्रश्न है। आधुनिक विद्वानोंमें इसके अर्थके विषयमें बड़ा मतभेद पाया जाता है। इस विषयमें हम डा० मनकद, प्रो० सुब्बाराव, प्रो० भानु० तथा श्रीमती कु० गोदावरी केतकरके मतोंका उल्लेख आगे करेंगे। इन चारोंने 'मत्तवारणी' शब्दकी भिन्न-भिन्न प्रकारसे व्याख्या की है। इसके बाद तीसरा प्रश्न नाट्यमण्डपमें उसके स्थान-निर्धारणके विषयमें है। नव्य विद्वानोंमें प्रो० सुब्बारावको छोड़ कर शेष सबने लगभग एक रूपमें ही 'मत्तवारणी' का स्थान निर्धारित किया है। किन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता है कि इस विषयमें उनका निर्णय प्रामाणिक है। वस्तुस्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है। इन सबने 'मत्तवारणी' का जो स्थान निर्धारित किया है वह अभिनवगुप्तके सिद्धान्तके एक दम विपरीत बैठता है। चौथी समस्या उसकी संख्यासे सम्बन्ध रखती है। 'मत्तवारणी' एक है या दो ? और पांचवां प्रश्न उसके आकारसे सम्बन्ध रखता है। इन सबका विवेचन नाट्यशास्त्र तथा अभिनवभारतीमें विस्तार-पूर्वक किया तो गया है किन्तु इन दोनों ग्रन्थोंके अशुद्ध पाठने इस समस्याको बड़ा जटिल बना दिया है।

इस सारी जटिलताका मूल कारण मूल नाट्यशास्त्रका प्राचीन संस्करणोंमें पाया जानेवाला 'रंगपीठस्य पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी' यह पाठ ही है। किसी प्रारम्भिक लिपिकारके प्रमादसे 'कर्तव्यौ मत्तवारणौ' के स्थानपर 'कर्तव्या मत्तवारणी' पाठ मूलमें आ गया। और उसने ही सारी समस्याएं पैदा कर दी है। यदि इस पाठको ठीक कर दिया जाय तो इस सम्बन्धकी सारी समस्याएं समाप्त हो जाती है। हम आगे इसके स्पष्टीकरणका प्रयत्न करते है।

मत्तवारणी शब्दका अर्थ—

इस प्रसङ्गमें मूल नाट्यशास्त्र और अभिनवभारतीमें जहांपर 'मत्तवारणी' शब्द प्रयुक्त हुआ है वहां उसके स्थानपर 'मत्तवारणौ' पाठ दिया जाता तो अधिक अच्छा होता। इस शब्दके कारण बड़ा भ्रम और अनर्थ हुआ है। इसलिए यह बड़ा महत्त्वपूर्ण शब्द है। हमें शब्दके प्रयोग और अर्थ दोनों दृष्टियोंसे उसके विषयमें विचार करना है। किन्तु इस दृष्टिसे यह शब्द जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही कठिन और दुर्ज्ञेय भी है। उसका अर्थ जाननेके लिए कोश-ग्रन्थोंके, पर्यालोचनकी आवश्यकता पड़ती है। बिना कोशकी सहायताके उसका अर्थ समझमें नहीं आ सकता है। वैसे 'मत्तवारणी' शब्द कोश ग्रन्थोंमें या साहित्यमें कहीं भी नहीं मिलता है। 'मत्तवारण' शब्द मिलता है। 'कोश' में इस शब्दका अर्थ बरामदा है। किन्तु इसका ज्ञान कोश-ग्रन्थोंके देखनेसे ही होता है। 'शब्दकल्पद्रुम' नामक बृहत्कोशमें 'मत्त वारयतीति मत्तवारणः' यह व्युत्पत्ति करके 'प्रासादवीथीनां वरण्ड' यह 'मत्तवारण' शब्दका अर्थ किया है। अन्य कोश ग्रन्थोंमें तथा साहित्य ग्रन्थोंमें भी 'मत्तवारणी' शब्द नहीं पाया जाता है किन्तु उसके स्थानपर 'मत्तवारण' शब्द पाया जाता है और उसका प्रयोग सर्वत्र 'वरण्डा' अर्थमें ही किया गया है। 'कुट्टनीमतम्' नामक ग्रन्थमें 'दिव्यवरा-धरभूमिरिव राजति मत्तवारणोपेता' इस रूपमें 'मत्तवारण' शब्दका प्रयोग पाया जाता है। उसके टीकाकारने भी 'प्रासादवीथीनां वरण्ड' यह 'मत्तवारण' शब्दका अर्थ किया है। महाकवि सुबन्धुकी 'वासवदत्ता' में भी 'मत्तवारणयोर्वरण्डकेण' इस रूपमें 'मत्तवारण' इस शब्दका ही प्रयोग मिलता है। इन सब स्थलोंपर 'मत्तवारण' शब्द ही मिलता है। 'मत्तवारणी' शब्द नाट्यशास्त्रको छोड़ कर और कहीं नहीं मिलता है। इसलिए ऐसा अनुमान होता है कि 'मत्तवारण' शब्दके स्थानपर 'नार्मेद स्त्रीति पेशलम्' इस सिद्धान्तके अनुसार ही कदाचित् 'मत्तवारणी' शब्दको प्रयुक्त कर दिया गया है।

यदि केवल सौन्दर्याधानके लिए ही यह परिवर्तन किया गया है तो जिन विद्वानोंने भी 'मत्तवारण' शब्दको स्त्रीलिङ्ग बना कर 'मत्तवारणी' इस रूपमें उसका प्रयोग किया है उनके

साहित्यक-दृष्टिसे उसमें माधुर्य भले ही उत्पन्नकर दिया हो किन्तु उसके साथ ही उसने अनेक बडी समस्याएँ पैदा कर दी हैं। नाट्यशास्त्रके 'मत्तवारणी' विषयक श्लोकका पाठ 'रङ्गपीठस्य पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी' इस रूपमें छपा है। इसमें 'पार्श्वे', 'कर्तव्या' और 'मत्तवारणी' सभी शब्द एक वचन है। इसलिए श्लोकसे स्वरसत यह अर्थ प्रतीत होता है रङ्गपीठके एक ओर ही 'मत्त-वारणी' की रचना की जानी चाहिए। किन्तु अभिनवगुप्तने रङ्गपीठके दोनो ओर मत्तवारणियोके या वरण्डोके बनानेका विधान दिया है। यदि वह स्त्रीलिंगका प्रयोग न होता तो 'पार्श्वयो रगपीठस्य कर्तव्यौ मत्तवारणौ' इस प्रकारका पाठान्तर मान कर दोनो ओर मत्तवारण या वरण्डा बनानेकी समस्या ठीक तरहसे हल हो जाती। न तो इस पाठान्तरके माननेमें कोई कठिनाई होती और न दोनो ओर वरण्डा बनानेकी बात समझनेमे कोई कठिनाई होती। वर्तमान स्थितिमे स्त्रीलिंग 'मत्तवारणी' शब्दके पाठके कारण रगपीठके दोनो ओर मत्तवारणी बनानी चाहिए इस बातको समझानेकेलिए अभिनवगुप्तको विशेष प्रयत्न करना पडा, फिर भी बात कुछ जचती-सी नही है। हो सकता है कि यहांपर मूल रूपसे पुल्लिग 'मत्तवारण' शब्दके ही द्विवचनान्त रूप 'मत्तवारणौ' का प्रयोग रहा हो जो किसी लिपिकारके प्रमादवश या अन्य किसी कारणसे स्त्रीलिंग 'मत्तवारणी' के रूपमें परिवर्तित हो गया हो। उसने ग्रन्थके समझनेमे और रगपीठके दोनो ओर वरण्डोके विधानकेलिए अनेक कठिनाइया उत्पन्न कर दी हैं। विशेषत. मत्तवारणियोके इस अपेक्षित द्वित्वका उपपादन करना एक समस्या बन गई है। इस समस्याका सबसे सुन्दर हल केवल यही है कि मत्तवारणी शब्द जब कि किसी कोशमें भी नही पाया जाता है तब इसको हटा कर कोश आदिमें उपलब्ध और साहित्यमे प्रयुक्त प्रचलित पुल्लिग 'मत्तवारण' शब्दको उसके स्थानपर प्रयुक्त किया जाय। उस दशामें 'मत्तवारण' सम्बन्धी दोनो श्लोकोमें द्विवचनका प्रयोग कर उनका पाठ 'पार्श्वयो रगपीठस्य कर्तव्यौ मत्तवारणौ' और 'अध्यर्ध हस्तोत्सेधेन कर्तव्यौ मत्तवारणौ' इस प्रकारका पाठ माननेसे प्रकृत स्थलकी सारी समस्या हल हो जाती है। किन्तु अभिनव-गुप्तने 'मत्तवारणी' पाठ ही माना है अत हमने अभीष्ट होनेपर भी सशोधन नही किया है।

मत्तवारणीकी स्थिति—

अभिनवगुप्तके लेखके अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि रगपीठके दोनो ओर मत्त-वारणियों या वरण्डोकी रचना होनी है। जब यह मालूम हो जाता है कि मत्तवारणका अर्थ वरण्डा है तो उसकी रचना कैसे होनी चाहिए यह बात भी बहुत सरलता ही से समझमें आ जाती है। वरण्डा सदा ही मुख्य भवनके बाहरकी ओर बनता है। मुख्य भवनके भीतरकी ओर नही। इसलिए नाट्य-मण्डपके साथ रगपीठके बराबरमें जो मत्तवारणी या वरण्डा बनेगा वह भी उसके बाहरकी ओर बनेगा भीतर की ओर नही। इसीलिए अभिनवगुप्तने बहुत स्पष्ट रूपसे मण्डपसे बाहरकी ओर इस मत्तवारणी या वरण्डेकी रचनाका प्रतिपादन किया है। किन्तु नव्य विद्वानोमेंसे किसीकी भी समझमें इसका अर्थ नही आया। इसलिए वे उसकी स्थिति भी नही समझ सके हैं। डा० घोष और डा० मनकद दोनोंने मुख्य मण्डपके भीतर ही मत्तवारणियोके लिए स्थान निकालनेका यत्न किया है। श्री मनमोहन घोष महोदयने विकृष्ट-मण्डप आदिके जो चित्र बनाए हैं उन्हे हम इसके पूर्व ही दे चुके हैं। उनको देखनेसे विदित होता है कि उन्होंने मत्तवारणियोको मुख्य-मण्टपके भीतर ही बना डाला है। यह अभिनवगुप्तके सिद्धान्तके विपरीत होनेसे भयङ्कर भूल है। इसका एक मात्र कारण इस शब्दके अर्थ का न समझना ही रहा है। यदि यहां पर कोशके सहारे उसका वरण्डा अर्थ विदित हो जाता तो उस दशामें उसकी स्थिति मुख्य भवनके बाहर होनी चाहिए यह बात भी सहज ही समझमें आ जाती और यह भयङ्कर

भूल न होती। इसी लिए शब्द-प्रयोगकी महिमाका वर्णन करते हुए महाभाष्यकारने लिखा है—

एकः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

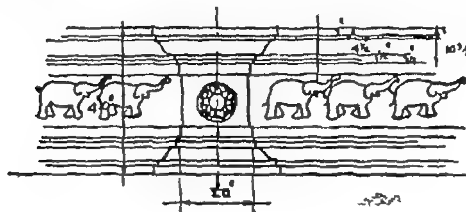
'स्वरत.' या 'वर्णत.' अशुद्ध रूपमें यदि एक भी शब्दका प्रयोग हो जाता है तो वह वाणी का वज्र बन जाता है और वह वाग्वज्र यजमानका ही नाश कर देता है। यहाँ 'स्वरतोऽपराध' का जो 'इन्द्रशत्रुः' यह उदाहरण भाष्यकारने दिया है उसमें स्वरापराधने यजमानकी हिंसा कैसे की यह बात सहजमें समझमें नहीं आपाती है। किन्तु वर्णापराध या मात्रापराध यजमान और पुरोहित दोनोका नाश कैसे कर देता है इसके समझनेके लिए 'मत्तवारणी' का यह उदाहरण बडा सुन्दर और स्पष्ट उदाहरण है। जहाँपर 'मत्तवारणी' लिखा जाना चाहिए था वहाँ 'ा' की मात्रा के स्थान पर 'ो' की मात्रा लग जानेसे 'मत्तवारणो' लिख दिया गया। इस एक मात्राके व्यतिक्रम ने ऐसा अनर्थ उत्पन्न किया और ऐसा तूफान खडा कर दिया कि जिसमें बडे-बडे विद्वानोंका विवेक जीर्ण-शीर्ण पत्तोंकी नाई हवामें उड गया। किसी कोश ग्रन्थमें 'मत्तवारणी' शब्द नहीं आया है इसलिए सामान्य रूपसे भी यह बात समझमें आ सकती थी कि यहाँ 'ो' की मात्रा भूलसे लग गई है उसको ठीक कर "ा' की मात्रा लगा कर 'मत्तवारणी' पाठ बना देना चाहिए। किन्तु इस 'मात्रापराध' का कुछ ऐसा जादू चला कि उसने इधर संशोधन करानेके बजाय दूसरी ओर उल्टा 'कर्तव्यौ' के स्थानपर 'कर्तव्या' और 'पार्श्वयोः' के स्थानपर 'पार्श्वे' पाठ करा दिया। शताब्दियो तक यह व्यतिक्रम चलता रहा और पकडमें नही आ सका। स्वयं अभिनवगुप्तको भी जिन्होने ग्रन्थके आरम्भमें ही 'उपादेयस्य सम्पाठ· तदन्यस्य प्रतीकनम्' के शब्दोंमें पाट-संशोधनकी प्रतिज्ञा की थी यह व्यतिक्रम धोखा दे गया। अगले ही श्लोकमें 'तयो' यह द्विवचन 'मत्तवारणी' केलिए ही प्रयुक्त हुआ है इसको देखते हुए भी 'तयो' के द्विवचनकी संगति लगानेके लिए विलष्ट-कल्पना द्वारा व्याख्या तो उन्होंने की किन्तु इस मात्रा संशोधनका ध्यान उनको नहीं आया। इस प्रकार इस 'मात्रापराध' ने न केवल उस 'मात्रापराध' करने वाले यजमानका ही हनन किया है अपितु स्वयं भरतमुनिके विस्पष्ट आशयका भी हनन कर दिया है। और उसका फल इस यजमान को भोगना पडा या नहीं यह तो नहीं कहा जा सकता है किन्तु उसके बाद शताब्दियों तक उसका प्रभाव रहा है। आज तक भी उस 'मात्रापराध' से भरतमुनिके पाठक ग्रस्त हो रहे हैं।

मत्तवारणीके विषयमे प्रो० सुब्बारावकी नई कल्पना—

प्रो० सुब्बारावके नामका उल्लेख हम पहिले कर चुके हैं। ये बडौदा विश्वविद्यालयके 'फैकल्टी आफ टैक्नालाजी एण्ड इंजीनियरिंग' के डीन हैं। नाट्यशास्त्रके बडौदासे प्रकाशित द्वितीय संस्करणके अन्तमें प्रेक्षागृहकी रचनाके विषयमें उनका एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें उन्होंने इस 'मत्तवारणी' के विषयमें एक सर्वथा नई कल्पना प्रस्तुत की है। और उस सारी कल्पनाका आधार 'पार्श्वे', 'कर्तव्या' और 'मत्तवारणी' इन तीनों शब्दोंमें प्रयुक्त एकवचन है। अभिनवगुप्त और अन्य सब विचारकोंने तो रंगपीठके दोनों ओर दो मत्तवारणियोंका प्रतिपादन किया है किन्तु प्रो० सुब्बारावने एक ही मत्तवारणीका प्रतिपादन किया है। उन्होंने 'मत्तानां वारणानां श्रेणि मत्तवारणी' यह मत्तवारणी शब्दका अर्थ किया है और रंगपीठके सामनेकी ओर परालम्बने हेतु हाथ उठे हुए सामनी दीवार पर जो प्लास्टर किया जाय उसमें मत्त हाथियोंके चित्र बनाए जाय। यह प्लास्टरमें बनी हुई मत्त हाथियोंकी पंक्ति ही मत्तवारणी है यह उनका मत है।

अपने इस अर्थकी सम्पुष्टिके लिए उन्होंने पहले पारन्तमें आए हुए 'चतुःस्तम्भसमायुक्ता' इस पदके पाठमें 'मौ' के स्थान पर 'म' करके 'चतुःस्तम्भसमायुक्ता' के बजाय 'चतुःस्तम्भ-समायुक्ता'

पाठ माना है। 'स्तम्ब' शब्दका अर्थ हाथियोके बाधनेका खम्भा या आलान है। इसी लिए हाथीके पर्यायवाची शब्दो 'स्तम्बेरम' शब्द भी आता है। 'स्तम्बेरमा मुखरशृंखलकर्षिणस्ते' इस कालिदास के श्लोकोमें 'स्तम्बेरमा' शब्द हाथियोके लिए ही प्रयुक्त हुआ है। प्रो० सुब्बारावका कहना है कि नाट्यशास्त्रके उक्त श्लोकमे 'स्तम्भ' के स्थानपर 'स्तम्ब' पाठ ही मानना चाहिए। इस प्रकार चार स्तम्बोंसे युक्त मत्तवारणोकी श्रेणी रगपीठके केवल एक भागमें अर्थात् सामनेकी ओर प्लास्टरमें अकित की जाएगी उसका नाम मत्तवारणी है। यह प्रो० सुब्बारावकी नई कल्पना है। इस कल्पनाके अनुसार उन्होने मत्तवारणीका चित्र भी उपस्थित किया है। उस चित्रको हम नीचे दे रहे हैं।



उसकी आलोचना—

प्रो० सुब्बारावकी यह कल्पना एकदम नई और अपूर्व कल्पना है। वे स्थापत्य-कलाके विशेषज्ञ हैं इसलिए स्थापत्य-कालकी दृष्टिसे उनकी यह कल्पना बडी सुन्दर और उपयोगिनी है। किन्तु हमें तो यह देखना है कि क्या वह भरतमुनिके अभिप्रायके अनुरूप है। और क्या अभिनवगुप्त उसका समर्थन कर रहे हैं। हम इस समय भरतके नाट्य-मण्डपपर विचार कर रहे हैं। यदि यह कल्पना भरतके अभिप्रायके अनुकूल बैठ जाती है तब तो वह उपादेय हो सकती है। यदि उनके अभिप्रायके साथ उसकी सगति नही लगती है तो फिर स्थापत्यकलाकी दृष्टिसे वह कितनी भी उत्तम क्यो न हो वह उपादेय नही हो सकती है। क्योकि वह भरतके अभिप्रायको व्यक्त नही करती है। इस कसौटीपर यदि हम प्रो० सुब्बारावकी इस कल्पनाको कसते हैं तो यह कल्पना एक-दम असगत प्रतीत होती है। भरतमुनिके प्रेक्षागृहमे इस प्रकारकी मत्तवारणीका कोई स्थान नही है।

प्रो० सुब्बारावने अपनी इस कल्पनाकी पुष्टिके लिए 'उत्सेधेन तयोस्तुल्य कर्तव्य रङ्गमण्डपम्' इस कारिकामे आए हुए 'तयो' पदकी विशेष व्याख्या की है। उनका कहना है कि 'तयो' पदसे यहा 'मत्तवारणी-रगमण्डपयो' अर्थात् मत्तवारणी और रङ्गमण्डप दोनोका ग्रहण करना चाहिए। परन्तु तनिकसे ही विचार से उनका यह अर्थ बिल्कुल असगत है यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'उत्सेधेन तयोस्तुल्य कर्तव्य रगमण्डपम्' इस स्थानपर 'तयो' पदका प्रयोग हुआ है। उसका अभिप्राय यह है कि 'अध्यर्धहस्तोत्सेधेन कर्तव्या 'मत्तवारणी' इस पूर्वकथित नियमके अनुसार रगपीठके दोनो ओर प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानसे डेढ़ हाथ ऊचे जो मत्तवारणी या वरण्डे बनाए जावें 'उत्सेधेन तयोस्तुल्य कर्तव्य रगमण्डपम्' उनके ही बराबरकी ऊंचाईका रगपीठ भी बनाना चाहिए। रगपीठ उन दोनोसे नीचा नही होना चाहिए। अन्यथा दोनो ओरसे आड हो जानेसे उसपर का दृश्य देखनेमें बाधा पड़ेगी। यह भरतमुनिके 'तयो' पदका अभिप्राय है।

इस अभिप्रायकी दृष्टिसे यदि प्रो० सुब्बारावजीकी व्याख्यापर विचार किया जाय तो उसकी कोई सङ्गति नही लगती है। वे 'तयो' का 'मत्तवारणीरङ्गमण्डपयो' यह अर्थ कर रहे हैं। तब 'उत्सेधेन तयोस्तुल्य कर्तव्य रङ्गमण्डपम्' इस श्लोकभागका यह अर्थ होगा कि मत्तवारणी और रङ्गमण्डपके बराबर ऊंचाईका रङ्गमण्डप बनाना चाहिए। इस अर्थकी क्या सङ्गति हुई? मत्तवारणी और रङ्गमण्डपके बराबर रङ्गमण्डपको बनाना चाहिए। यह अर्थ एक-दम असङ्गत है।

'तयो' की व्याख्यामें रङ्गमण्डपको नहीं लिया जा सकता है। रङ्गमण्डपसे भिन्न अन्य ही दो वस्तुओं का ग्रहण 'तयो' पदसे करना होगा। तभी 'तयोः उत्सेधेन तुल्य' की सङ्गति 'कर्तव्यं रङ्गमण्डपम्' के साथ लग सकती है। इसलिए 'तयो.' पदसे 'मत्तवारण्योः' दोनो मत्तवारणियों अर्थात् दोनो ओरके वरण्डोंका ही ग्रहण करना होगा। ऐसा अर्थ करनेपर 'उत्सेधेन तयोस्तुल्य कर्तव्य रङ्गमण्डपम्' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। दोनो ओरकी मत्तवारणियो अर्थात् वरण्डोके बराबर रङ्गपीठकी ऊंचाई रखनी चाहिए। यह भरतमुनिका अभिप्राय है। प्रो० सुब्बारावकी नई कल्पनाका भरतमुनिके इस अभिप्रायके साथ कोई सम्बन्ध नहीं बनता है। इसलिए उनकी कल्पना स्थापत्य-कलाकी दृष्टिसे सुन्दर होते हुए भी उपादेय नही हो सकती है।

मत्तवारणीकी वास्तविक स्थिति—

हम देख चुके हैं कि 'मत्तवारण' या 'मत्तवारणी' शब्दका अर्थ वरण्डा है। वरण्डेकी स्थिति सदा ही मुख्य-भवनसे लगी हुई किन्तु उसके बाहरकी ओर होती है। इसलिए रङ्गपीठके दोनो ओर बनाई जाने वाली जिन दो मत्तवारणियोका विधान यहाँ किया गया है उनकी स्थिति भी रङ्गपीठसे लगी हुई किन्तु उसके बाहरकी ओर होती है। यही उनकी वास्तविक स्थिति है। 'चतुःस्तम्भ समायुक्ता' की व्याख्या करते हुए 'स्तम्भाश्चत्वारो बहिर्मण्डपान्निष्क्रासन कृत्वा ध्रियन्ते' यह जो पंक्ति अभिनव गुप्तने पृ० ३१० पर लिखी है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यही सिद्धान्त अभिनवगुप्तको अभिमत है।

अभिनवगुप्तने 'कार्यः शैलगुहाकार द्विभूमिर्नाटयमण्डपः' (२-८०) इस श्लोकके 'द्विभूमि' पदकी व्याख्या के प्रसङ्गमें जो एक पक्ष यह दिखलाया है कि 'मत्तवारणी-बहिर्निर्गमनप्रमाणेन सर्वतो द्वितीयभित्तिनिवेशेन देवप्रासादाट्टालिकाप्रदक्षिणसदृशी द्वितीया भूमिरित्यन्ये' अर्थात् मत्त-वारणीका जो भाग मण्डपसे बाहर निकला है उसके बराबर बराबर चारों ओर दूसरी भित्ति या खम्भोको लग देनेसे चारो ओर बाहरको जो बरण्डा बन जाता है यह द्विभूमि है। इससे भी यही बात सिद्ध होती है कि अभिनवगुप्त के मतमें मण्डप क्षेत्रसे बाहर की ओर ही मत्तवारणीकी स्थिति होती है। इसलिए अन्य लोगो ने जो मण्डप क्षेत्रके भीतर अथवा श्री सुब्बारावजीने जिस रूपमें मत्तवारणीकी स्थिति दिखलाई है वह अभिनवगुप्तके सिद्धान्तसे सर्वथा विपरीत होनेके कारण अनुपादेय है।

प्रो० भानुका मत—

मत्तवारणीकी व्याख्याके विषयमें एक और भी मत है जो प्रो० सुब्बाराव आदिके मत से कहीं अधिक अच्छा और तर्क-संगत है। यह मत प्रो० भानु महोदयका है। प्रो० भानु महाराष्ट्र के एक माने हुए प्रमुख विद्वान् हैं। उन्होंने भरत नाट्यशास्त्रका मराठी भाषामें सुन्दर अनुवाद किया है। इस अनुवादमें उन्होंने मत्तवारणीकी व्याख्याके प्रसङ्गमें इस शब्दकी स्वतन्त्र व्याख्या प्रस्तुत की है। मत्तवारणी शब्दका सीधा-सादा-सा अर्थ यह है कि 'मत्तोंका वारण करने वाली' मत्तवारणी होती है। उन्होंने इसी अर्थको लिया है। और उसकी उपयोगिता भी दिखलाई है। उनका कहना यह है कि नाटक देखते समय किसी अत्यन्त भावपूर्ण दृश्यको देख कर कभी-कभी प्रेक्षकोंमें कुछ लोग उन्मत्त हो उठते हैं। वे उस भावावेशमें अभिनय करने वाले पात्रों के पास पहुँचना चाहते हैं। यदि ऐसे लोगोंको मञ्च पर पहुँच सकनेका अवसर मिल जाय तो सारा नाटक वहीं समाप्त हो जाय। इसलिए इन लोगोंको रोकनेकी दृष्टिसे रङ्गपीठके सामनेकी ओर छोटी-सी दीवार या कटहरा आदि बना देना आवश्यक है। इस रोकके कारण मञ्च पर जानेके लिए उतावले मत्त लोगोंका वारण हो जाता है इसलिए उस रोकको ही 'मत्तवारणी' कहते हैं।

भरत०—अध्यर्धहस्तोत्सेधेन[1] कर्तव्या मत्तवारणी ।
उत्सेधेन [2]तयोस्तुल्य कर्तव्य रङ्गपीठकम्[3] ॥६४॥

इस मतकी आलोचना—

जहाँ तक शब्दकी अन्वर्थता और मत्तवारणीकी उपयोगिताका सम्बन्ध है प्रो० भानुकी यह व्याख्या बडी सुन्दर और उपादेय प्रतीत होती है । परन्तु उनको स्वीकार करनेमें एक वडा दोष हैं । जिनके कारण उसको स्वीकार नही किया जा सकता है । वह दोप यह है कि यह व्याख्या अभिनवगुप्तके अभिप्रायके सर्वथा विपरीत है । जैसा कि ऊपरके लेखसे विदित हो चुका है अभिनवगुप्त रङ्गपीठके सामनेकी ओर नही अपितु उसके अगल-वगलमें दोनो ओर मत्तवारणियोके वनाने का विधान कर रहे हैं । भरतमुनिका भी यही अभिप्राय है । ऐसी दशामें रगपीठके सामनेकी ओर मत्तवारणीकी बनानेका कोई प्रश्न ही नही उठता है । फिर सामनेकी ओर रोक खडी कर देनेसे प्रेक्षकोके लिए असुविधा उत्पन्न हो जावेगी । नाट्यका बहुत-सा अभिनय उस रोक या मत्तवारणीके कारण स्पष्ट रूपसे देखनेमें बाधा पडेगी । अन्य लोगोकी दृष्टिमे भानु महोदयने जिस अन्वर्थताके बलपर इस प्रकारकी व्याख्या की है वह अन्वर्थता ही ठीक तरहसे नही बनती है । मत्तान् वारयतीति मत्तवारण ' इस प्रकार पुल्लिगमें 'मत्तवारण' पद बन जायगा । किन्तु स्त्रीलिगमें उसके स्थानपर 'कारिणी' 'हारिणी' के समान 'मत्तवारिणी' प्रयोग होना चाहिए । इसी लिए कु० गोदावरी केतकर आदिने यहा 'मत्तवारिणी' पाठ माना है । किन्तु यह तो कोई वडा दोप नही हैं । 'पिद् गौरादिभ्यश्च' इस पाणिनि सूत्रमें गौरादिगण पठित शब्दोसे स्त्रीलिंग में ङीष्-प्रत्ययका विधान किया गया है । और साथ ही गौरादिगणको आकृतिगण माना गया है । अर्थात् केवल गौरादिगणमें पठित शब्दोसे ही नही अपितु उनके सदृश अन्य शब्दोसे भी डी प् हो सकता है । इसी सूत्रके आधारपर मत्तवारण शब्दसे ङीप् प्रत्यय करके व्याकरणके द्वारा मत्तवारणी शब्दकी सिद्धि की जा सकती है । फिर भी भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनोको मत्तवारणीका यह अर्थ अभिप्रेत नही है जो प्रो० भानु महोदय नेलिया है । अतः प्रो० भानु महोदयकी यह व्याख्या ठीक नही है ।

भरत०—[रङ्गमण्डप अर्थात् सामाजिकोके बैठनेके स्थानसे] डेढ हाथकी ऊचाईकी 'मत्तवारणी' बनानी चाहिए और [रङ्गपीठके दोनो किनारोपर बनाई गई] उन दोनो [मत्तवारणियो] की वरावर ऊचाईका ही रङ्गपीठ बनाना चाहिए । ६५ ।

पाठसमीक्षा—इस ६४ वें श्लोकके पाठमें नाट्य-शास्त्रके समस्त संस्करणोमें श्लोकान्तमें 'कर्तव्य रङ्गमण्डपम्' इस प्रकार का पाठ छपा है । इसमे 'रङ्गमण्डपम्' पाठ अशुद्ध है । उसके स्थानपर 'रङ्गपीठकम्' पाठ होना चाहिए । श्लोकके पूर्वार्द्धमें रङ्गमण्डप अर्थात् सामाजिकोके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा मत्तवारणीके डेढ हाथ ऊचा रखनेका विधान किया गया है । उत्तरार्द्धमें 'उत्सेधेन तयोस्तुल्य कर्तव्य रङ्गमण्डपम्' लिख कर यदि रङ्गमण्डप अर्थात् प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानको ही फिर मत्तवारणियो के वरावर ऊचा कर दिया गया तो फिर यह सारा ही विधान व्यर्थ हो जाता है । इस लिए यहाँ 'रङ्गमण्डपम्' यह पाठ अशुद्ध है । उसके स्थानपर 'रङ्गपीठकम्' होना चाहिए । उसका अर्थ यह होगा कि मत्तवारणियो की जितनी ऊचाई हो उतनी ही ऊचाई रङ्गपीठकी करनी चाहिए । यही भरतमुनिका अभिप्राय है । इसकी पुष्टि इसी श्लोक की व्याख्यामें लिखी हुई अभिनव गुप्तकी 'तस्या एव यावानुत्सेधस्तावान् रङ्गपीठस्य' इस पक्तिसे भी होती है । इस लिए हमने सशोधित रूपमें 'रङ्गपीठकम्' पाठ ही प्रस्तुत किया है ।

---

१ न अध्यर्धहस्तोत्सेधा च ।　　२ च ब म तया तुल्यम्　　३ रङ्गमण्डपम् ।

'रङ्गमण्डपापेक्षया सार्धहस्तपरिमाण उच्छ्राय. कार्यो मत्तवारण्या । अन्येषा हस्तमानोऽत्र । तयोरिति द्विवचन ज्ञापकमेतच्चरितार्थमितीह नोपेक्षितव्यम्' । तस्या एव यावान् उत्सेधस्तावान् रङ्गपीठस्य । तेन अधनभूभागापेक्षया सार्धहस्तप्रमाणोन्नत रङ्गपीठमित्युक्त भवति । तेन मत्तवारण्यालोकेन नात्यर्थ रङ्गपीठस्य दुष्प्रेक्षता । एतच्च उत्सेधेन इत्येकवचनेन सूचित, अन्यथा उत्सेधाभ्यामित्युच्येत ॥ ६४ ॥

अभिनव०—रङ्ग-मण्डप अर्थात् प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा मत्त-वारणीको डेढ हाथ ऊंचा रखना चाहिए। अन्य आचार्योंके मतमें इसमे [अर्थात् मत्तवारणी तथा रङ्गपीठकी ऊंचाईके विषयमे डेढ़ हाथके बजाय केवल] एक हाथ का परिमाण माना गया है। [उत्सेधेन तयोस्तुल्यं इस पाठमे] 'तयो' यह द्विवचन [इस बातका] ज्ञापक है [कि मत्तवारणी रङ्गपीठके दोनो किनारोंपर बनाई जानी चाहिए] और यह [उस द्विवचनका फल पिछली ६४ वीं कारिकाकी व्याख्यामें] दिखलाया जा चुका है। इसलिए यहां उस [द्विवचन] की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। [अर्थात् यह द्विवचनका प्रयोग अत्यन्त सार्थक है]। उस [मत्तवारणी] की ही जितनी ऊंचाई है उतनी ही ऊंचाई रङ्गपीठकी भी रखनी चाहिए। इसलिए [रङ्ग-मण्डपके] निचले भू-भाग [अर्थात् प्रेक्षकोंके बैठने वाले स्थान] की अपेक्षा रङ्गपीठ डेढ़ हाथ ऊंचा होता है यह अभिप्राय प्रकट होता है। इसलिए मत्त-वारणीकी आड़से रङ्गपीठ की दुष्प्रेक्षता बिलकुल नही होती है [अर्थात् रङ्गपीठका सारा दृश्य अच्छी तरह दिखलाई देता है] यह बात 'उत्सेधेन' इस एकवचनसे सूचित की है। अन्यथा [उत्सेधेन इस एक वचनके स्थानपर द्विवचनान्त] 'उत्सेधन्या' यह कहते। ['तयोरुत्सेधाभ्या' न कह कर 'तयोरुत्सेधेन' जो कहा है उसने यह सूचित होता है कि मत्तवारणी और रङ्गपीठ दोनोकी एक सी ऊंचाई होनेके कारण मत्त-वारणीकी आड़ नहीं पड़ती है अतः रङ्गपीठपरका सब दृश्य बहुत अच्छी तरह दिखलाई देता है]।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका आरम्भ पूर्व संस्करणोंमें निम्न प्रकारसे होता है—'अन्येषा हस्तमानोऽत्र (मानमत्र) यथा रङ्गपीठापेक्षया च सार्धहस्तपरिमाण उच्छ्राय कार्यो मत्तवारण्या'। परन्तु यह पाठ अशुद्ध और अस्त-व्यस्त रूपमें मुद्रित हुआ है। 'अन्येषा हस्तमानोऽत्र' इस वाक्य द्वारा अन्यमत प्रस्तुत किया गया है। इससे पहिले अपना मत उपस्थित किया जाना चाहिए तब उसके बाद 'अन्येषा' के मतान्तरका प्रसंग प्राप्त होता है। उस पहिले मतको द्वितीय वाक्यके द्वारा प्रस्तुत किया गया है। दूसरे वाक्यमें मत्तवारणीकी ऊंचाई डेढ़ हाथ कही गई है। इस विषयमें अन्योक्त मत यह है कि यह ऊंचाई एक हाथ ही होनी चाहिए। इसी प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अन्येषा हस्तमानोऽत्र' इस वाक्यको अगले वाक्यके अन्तमें 'मत्तवारण्या' के बाद होना चाहिए। पूर्व संस्करणोंमें यहां इसको छाप दिया गया है यह उसका उचित स्थान नहीं है। अतः हमने इस क्रमको बदल कर ही संशोधित पाठ यहां प्रस्तुत किया है।

---

१ म न 'अन्येषां हस्त मानोऽत्र यथा रङ्गपीठापेक्षया २. म भ सार्धमिति इति।

पाठसमीक्षा—इसी भागमें 'रगपीठापेक्षया च सार्धहस्तपरिमाण उच्छ्राय. कार्यो मत्तवारण्याः' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणमें छापा है वह भी अशुद्ध है। उसमें 'पीठ' शब्द अशुद्ध छप गया है। 'रगपीठापेक्षया' के स्थानपर 'रगमण्डपापेक्षया' पाठ होना चाहिए। मत्तवारणी रगपीठकी अपेक्षा यदि ऊची होगी तब रगपीठपर प्रकाशकी कमी हो जानेसे उसपरका दृश्य ठीक दिखलाई नहीं देगा। इस लिए इसी अनुच्छेदकी अगली पक्तियोमें अभिनवगुप्तने 'रग' अर्थात् प्रेक्षकोके बैठनेवाले स्थानकी अपेक्षा रगपीठ तथा मत्तवारणी दोनोके ऊचे रखे जानेकी बात लिखी है। इस लिए यहा 'रगपीठापेक्षया' यह पाठ अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'रगमण्डपापेक्षया' यह पाठ होना चाहिए। उसमे 'रगमण्डप' शब्दसे प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानका ग्रहण होता है। अत हमने सशोधित रूपसे इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

रङ्गपीठ ऊचा बनाया जाय या नीचा—

नाटच-मण्डपकी रचनामें सबसे मुख्य-स्थान रङ्गपीठका है। वही नाटच-मण्डपमे उपस्थित प्रत्येक व्यक्तिकी दृष्टिका केन्द्र होता है। सारा अभिनय, जिसकेलिए कि नाटच-मण्डपकी रचना की गई है इस रगपीठके ऊपर ही अभिनीत होता है इस लिए नाटच-मण्डपकी रचनामें उसका स्थान सबसे मुख्य है। इसकी रचनाके दो प्रकार हो सकते हैं एक तो यह कि उसे सामाजिको या प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा ऊचा बनाया जाय। और दूसरा यह कि उसे प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा नीचा रखा जाय। श्री डा० मनमोहन घोषने अपने अग्रेजी अनुवादमें दूसरी शैलीको अपनाया है। अर्थात् प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा रगपीठको नीचा रखना उचित माना है। इसका करण 'अध्यर्धहस्तोत्सेधेन कर्तव्या मत्तवारणी। उत्सेधेन तयोस्तुल्य कर्तव्य रगमण्डपम्' ॥ इस श्लोकका पूर्व-सस्करणोमें छपा हुआ अशुद्ध पाठ ही है। इसमें 'रगमण्डपम' शब्द अशुद्ध है। उसके कारण ही यहां भ्रम उत्पन्न हो गया है। 'रग-मण्डप' शब्द मुख्यतः दो अर्थोमें प्रयुक्त हो सकता है। कभी वह सारे नाटचमण्डपका वाचक हो सकता है। कभी केवल सामाजिकोके बैठने के स्थानकेलिए उसका प्रयोग हो सकता है। किन्तु इन दोनो मेसे दूसरा अर्थात् प्रेक्षको के बैठनेके स्थान वाला अर्थ ही मुख्यार्थ है। इस श्लोकमें यदि 'रगमण्डपम्' का अर्थ सामाजिकोके बैठनेका स्थान लिया जाय तो उसका भाव यह हो जायगा कि प्रेक्षकोके बैठनेका स्थान ऊचा रहना चाहिए। इसका फलितार्थ यह होगा कि अभिनय करनेका स्थान रगपीठ नीचा रहेगा। किन्तु यह स्थिति भरत और अभिनवगुप्त के अभिप्रायके अनुरूप नही है। उनके मतमे अभिनय करनेका मुख्य स्थान अर्थात् रगपीठ जिसके भीतर रगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह भी समाविष्ट हैं प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा डेढ हाथ ऊचा होना चाहिए। डा० मनमोहन घोष और डा० मनकद आदि अन्य व्याख्याताओने पूर्व-सस्करणोमें मुद्रित पाठके आधारपर इस श्लोकका पहिला अर्थ ही लिया है। उनके अनुसार रगपीठकी अपेक्षा प्रेक्षकोके बैठने वाला स्थान अधिक ऊचा रहना चाहिए। किन्तु भरत और अभिनवगुप्तके मतमें यह अर्थ उचित नही है। उनके मतमें रगपीठको प्रेक्षक-भागसे ऊचा बनाना चाहिए। इसका मोट-सा एक कारण तो यह है कि रगपीठ और रगशीर्ष नामोमें आए हुए 'पीठ' तथा 'शीर्ष' ये दोनो शब्द उन्नत स्थानके ही सूचक हैं। रगपीठको 'पीठ' तभी कहा जा सकता है जबकि वह अपने पासके स्थानसे अर्थात् सामाजिकोके बैठनेके स्थानसे ऊचा हो। इसी प्रकार उससे भी कुछ अधिक ऊचा होनेपर ही रगशीर्षके लिए 'शीर्ष' शब्दका प्रयोग सगत होता है। इस प्रकार ये दोनो शब्द यह ध्वनित करते हैं प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा अभिनय किए जानेका स्थान अधिक ऊचा होना चाहिए। इसके अतिरिक्त रगपीठको नीचे रखनेपर प्रकाश आदिका अवरोध हो जाने से वह दुष्प्रेक्ष्य भी बन

जावेगा। और उसकी प्रधानता भी नष्ट हो जावेगी। इसलिए उसको ऊँचा रखने वाला पक्ष ही अधिक सगत है। भरतमुनि एव अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुकूल वही पक्ष ठीक बैठता है। अत एव डा० घोष और डा० मनकदका रङ्गपीठको नीचा रखने वाला मत ठीक नहीं है।

अभिनवगुप्तका मत—

यह सिद्धान्त हमने अभी सामान्य युक्तियोंके आधारपर स्थापित किया है। पर अभिनवगुप्तके लेखके आधारपर भी उसीकी पुष्टि होती है। इस स्थलपर रगपीठको ऊचा बनानेका प्रतिपादन करने वाला अभिनवगुप्तका निम्न लेख इसी कारिकाकी व्याख्यामें आया है—

रगमण्डपापेक्षया सार्धहस्तपरिमाण उच्छ्राय कार्यो मत्तवारण्या.। अन्येषा हस्तमानोऽत्र। तस्या एव यावानुत्सेधस्तावान् रगपीठस्य। तेन अध्यभूमागापेक्षया सार्धहस्तप्रमाणोन्नत रगपीठमित्युक्त भवति। तेन मत्तावारण्यालोकेन नात्यर्थं रङ्गपीठस्य दुष्प्रेक्षता।

ये शब्द स्पष्ट रूपसे रङ्गपीठके उन्नत होनेका समर्थन कर रहे हैं। 'तस्या.' [अर्थात् मत्तावारण्याः] 'यावानुत्सेध तावान् रगपीठस्य'। इस वाक्यका स्पष्ट अर्थ यह है कि जितनी ऊँची मत्तवारणी बनाई जावे उतना ही ऊचा रगपीठ बनाना चाहिए। इसीको अगली पक्तिमें और अधिक स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्तने लिखा है कि 'तेन अध्यभूमागापेक्षया सार्धहस्तप्रमाणोन्नत रगपीठमित्युक्त भवति' अर्थात् बीचके प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा रगपीठ डेढ़ हाथ ऊचा होता है। इसी बातका अगले वाक्यमें फिर समर्थन करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'तेन मत्तावारण्यालोकेन नात्यर्थं दुष्प्रेक्षता रगपीठस्य' इसका अभिप्राय यह है कि इसी लिए अर्थात् रगपीठ और मत्तवारणीकी ऊचाई एक-सी होनेसे रङ्गपीठकी दुष्प्रेक्ष्यता नहीं होती है। इसके विपरीत यदि रगपीठकी अपेक्षा मत्तवारणी अधिक ऊची रखी जाय और रगपीठको उसकी अपेक्षा नीचा बनाया जाय तो फिर मत्तवारणीकी आड़में आ जानेसे रगपीठ अत्यन्त दुष्प्रेक्ष्य हो जायगा। उसपर होने वाला अभिनय ठीक तरहसे नही दिखलाई देगा।

अभिनवगुप्तका यह लेख स्पष्ट रूपसे इस सिद्धान्तका समर्थन कर रहा है कि प्रेक्षकोंके बैठने वाले स्थानकी अपेक्षा रगपीठको जिसके भीतर रगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह भी समाविष्ट है अधिक ऊचा रखना ही उचित है। ऐसी दशामें इस स्थलके पहिले वाक्यमें 'रंगपीठापेक्षया' यह जो पाठ पूर्व सस्करणोंमें छपा है वह अशुद्ध पाठ है यह मानना आवश्यक है। क्योंकि अगली प्रबल युक्तियोंके साथ उसका विरोध हो रहा है। इसलिए वह निश्चित रूपसे अशुद्ध पाठ है। उसमें 'पीठ' शब्द प्रमादवश अशुद्ध हो गया है। 'रगपीठापेक्षया' के स्थानपर 'रगमण्डपापेक्षया' यह पाठ होना चाहिए। यहां 'रगमण्डप' शब्दका अर्थ प्रेक्षकोंके बैठनेका स्थान होगा। उस रगमण्डपकी अपेक्षासे अर्थात् प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानसे मत्तवारणीको डेढ़ हाथ ऊचा बनाना चाहिए। यह उसका अर्थ हो जाएगा।

भरतमुनिका मत

केवल अभिनवगुप्त ही नहीं अपितु स्वयं भरतमुनि भी स्पष्ट रूपसे रगपीठको ऊचा रखनेका ही निर्देश कर रहे हैं। अपने २-६८वें श्लोकमें उन्होंने '[illegible] भूमिका [illegible] प्रयत्नत' लिख कर रगपीठ बनानेके स्थानपर भूमिको ऊचा उठानेके लिए मानो मिट्टी भरनेकी व्यवस्था की है। इस प्रकारकी व्यवस्थासे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत मुनि स्वय रगपीठ जिसमें कि रगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह भी सम्मिलित है प्रेक्षकोंके बैठनेके स्थानसे ऊचा रखनेके पक्षमें ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भरतमुनि और अभिनवगुप्त दोनों ही रगपीठको ही उन्नत रखनेके समर्थक हैं। ऐसी दशामें डा० घोष तथा डा० मनकद आदिने जो सामाजिकोके बैठनेके स्थान की अपेक्षा रगपीठको नीचा करनेका सिद्धान्त स्थिर किया है वह सब असगत है। कारिकाके अशुद्ध पाठके कारण ही यह सब अनर्थ हुआ है।

रङ्गावतरण—

रगपीठको नीचा रखनेकी भ्रान्त धारणा केवल डा० घोष तथा डा० मनकद तक ही सीमित नही है अपितु पाश्चात्य-शैलीके सभी विद्वान् इस दोषमें ग्रस्त हो रहे हैं। और वे प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा ही नही अपितु नेपथ्यगृहकी अपेक्षा भी रगपीठको नीचा मानते हैं। केवल एक डा० वेबर ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होने नेपथ्यगृहकी अपेक्षा रगपीठको ऊचा माना है। शेष सभी विद्वान् उसको नेपथ्यगृहकी अपेक्षा भी नीचा मानते हैं। इसके समर्थनमें उनकी मुख्य दो युक्तिया हैं। एक तो वे नेपथ्य शब्दका निर्वचन 'नि-पत' धातुसे करते हैं। जिससे नीचेको उतरा जाय वह नेपथ्य है। यह उनकी दृष्टिसे नेपथ्य शब्दका अर्थ है। नेपथ्य-गृहसे रगपीठपर ही आया जाता है इसलिए नेपथ्यगृह रगपीठकी अपेक्षा ऊचा होना चाहिए यह उनका आशय है। अपने इस निर्वचन तथा युक्तिके समर्थनमें वे नाटकोमें प्रयुक्त होनेवाले 'रगावतरण' शब्दको भी उद्धृत करते हैं। 'रगावतरण' शब्दका वे यह अर्थ लेते हैं कि नेपथ्यगृहसे रगमें अर्थात् रगपीठ पर अवतरण उतरना होता है इसलिए रगपीठ नेपथ्यगृहकी अपेक्षा नीचा होना चाहिए। यह इन विद्वानोका कहना है।

किन्तु इनकी प्रस्तुत की हुई दोनो ही युक्तिया एक दम सारहीन हैं। सस्कृतके विद्वानो ने नेपथ्य शब्दका निर्वचन 'नि+पत' से नही किया है। अमरकोशके टीकाकार, प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजि दीक्षितके पुत्र, भानुजि दीक्षितने 'नेत्रस्य नेतुर्वा पथ्य नेपथ्यम्' यह नेपथ्य शब्दका निर्वचन किया है। इसमे नि+पतन या उतरनेकी भावना कही नही है। इसलिए इस आधारपर नेपथ्यगृहकी अपेक्षा रगपीठके नीचा बनाए जानेके सिद्धान्तका प्रतिपादन करना सर्वथा युक्तिविरुद्ध और असगत हो जाता है। अब रहा 'रगावतरण' शब्दका प्रयोग सो उसमें अवतरणकी भावना तो निकलती है। पर उससे उस पक्षकी जिसमें कि प्रेक्षकोके बैठनेके स्थान और नेपथ्यगृह आदि सबसे रगपीठको नीचा बनाने का सिद्धान्त माना गया है पुष्टि नही होती है। रगपीठको प्रेक्षकोकेके बैठनेके स्थानसे ऊचा रखनेवाले अभिनवगुप्तके मतमें भी 'रगावतरण' का वह अर्थ बन सकता है जो ये विद्वान् लेना चाहते हैं। अभिनवगुप्तके मतमें प्रेक्षकोके बैठने वाले स्थानकी अपेक्षा रगपीठ डेढ हाथ ऊचा होता है। और रगपीठकी भी अपेक्षा रगशीर्ष थोडा और ऊचा होता है। रगशीर्षके पीछे नेपथ्यगृह होता है। उस नेपथ्यगृह और रगपीठके बीचमें रगशीर्ष 'प्रविशता पात्राणा चान्त स्थानम्' आने वाले और मञ्चपर अभिनय करनेवाले पात्रोके बीचका स्थान 'रगशीर्ष' होता है। वह रगपीठकी अपेक्षा थोडा-सा उन्नत होता है। इसलिए रगशीर्ष परसे होकर प्रविष्ट होने वाला नया पात्र जब रगपीठ पर आता है तो उसको 'रगावतरण' शब्दसे कहा जा सकता है। इससे यह तो कहा जा सकता है कि नेपथ्यगृह और रगशीर्षकी अपेक्षा रगपीठ थोडा-सा नीचा होता है। इसके माननेमें कोई कठिनाई नही है। अभिनवगुप्त भी इस बातको मानते हैं। तभी उन्होने 'रगशीर्ष' को चित्त सोए हुए पुरुषके शिरके समान माना है। और स्वय भरतमुनिने भी 'विकृष्टे तून्नत कार्य चतुरस्रे सम तथा' श्लोक (२-१००) लिखकर विकृष्ट-मण्डपमें रगशीर्षको रगपीठकी अपेक्षा कुछ उन्नत बतलाया है। इस लिए नेपथ्यगृह भी रगपीठसे कुछ ऊचा हो सकता है। किन्तु इससे उस सिद्धान्तका समर्थन नही होता है जो प्रेक्षकोके बैठनेके स्थानकी अपेक्षा भी रगपीठको नीचा सिद्ध करनेके लिए पाश्चात्य शैलीके विद्वानों द्वारा अपनाया गया है ॥६४॥

भरत०—तस्यां माल्यं च धूपं च गन्धं वस्त्रं तथैव च ।
नानावर्णानि देयानि तथा भूतप्रियो वलिः ॥६५॥

माल्यधूपाद्यत्र निर्माणकाल एव देयम् । तदधिष्ठातॄणा भूतादीनामुग्रत्वेन यत्नोपचरणीयत्वात् ॥ ६५ ॥

[प्रक्षिप्त—'आयसं तत्र दातव्य स्तम्भाना कुशलैरधः ।
'भोजने कृशराश्चैव दातव्य' ब्राह्मणाशनम् ॥६६॥]

तदाह—एवं विधिपुरस्कारैरिति—

भरत०—एवं'विधिपुरस्कारैः कर्तव्या मत्तवारणी' ।
रङ्गपीठ ततः कार्य विधिदृष्टेन कर्मणा ॥६७॥

पुरस्कार-शब्देन देया वस्त्रादय । विधिर्वास्तुविद्याशास्त्रोक्त ॥ ६७ ॥

भरत०—उस [मत्तवारणीपर [निर्माणकाल मे] नाना वर्णकी मालाएँ धूप गन्ध वस्त्र आदि [ब्राह्मणों तथा कारीगरो आदिको] देने चाहिए। क्योंकि उस प्रकारका वलि [सजावटका सुन्दर द्रव्य] भूतो अर्थात् प्राणियो] को प्रिय होता है। ६४।

अभिनव०—मालाएं और धूप आदि निर्माणकालमे ही देना चाहिए। उसके अधिष्ठाताओंमें भूत आदिके उग्र स्वभाव वाले होनेसे यत्न-पूर्वक उनको सन्तुष्ट करना आवश्यक होनेसे [इन सब वस्तुओंका दान करना चाहिए] ॥ ६५ ॥

अभिनव०—इसी वातको 'विधिपुरस्कारैः' आदि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

प्रक्षिप्त श्लोक—

इस ६५ वें श्लोकके बाद 'आयस तत्र दातव्य' आदि एक श्लोक और पाया जाता है। इसपर अभिनवभारती नहीं है। इसके विपरीत ६५वी कारिकाकी वृत्तिके बाद 'एव विधिपुरस्कारै' से ६७ वीं कारिका के प्रतीकको ही अभिनवगुप्तने उद्धृत किया है। अत. बीचकी ६६वीं कारिका प्रक्षिप्त ही है। अत. हमने उसको कोष्ठके भीतर दिया है। उसका अर्थ निम्न प्रकार है—

प्रक्षिप्त०—उनमेंसे चतुरों [अर्थात् निपुण कारीगरो] को स्तम्भोंके मूलकी जड़ोंमें लोहा डालना चाहिए। और भोजनमें ब्राह्मणोंके खाने योग्य [प्रचुर घृतादिसे युक्त] खिचड़ी देनी चाहिए।६६।

अभिनव०—इसी बातको 'एवं विधिपुरस्कारै' इत्यादिसे कहते हैं—

भरत०—इस प्रकार [वास्तुविद्या शास्त्रमे प्रतिपादित] विधिके अनुसार [वस्त्रादि रूप विविध] पुरस्कारो [के दान] के साथ मत्तवारणीकी रचना करनी चाहिए। और उसके बाद विधि-विहित प्रकारसे रङ्गपीठका निर्माण करना चाहिए। ६७।

अभिनव०—पुरस्कार शब्दसे देय वस्त्रादि का ग्रहण होता है। विधिसे वास्तुविद्याके शास्त्रमे कहे हुए विधिका ग्रहण करना चाहिए।

पाठमीमांसा—इस अनुच्छेद में 'पुरस्कारशब्देन' से 'वास' 'देया वस्त्रादय' पाठ पूर्व-संस्करणोंमें नहीं पाया जाता है। पाण्डुलिपिमें लिपिकारके प्रमादसे यह सदा स्थान रहता है। परन्तु उसको जोड़े बिना कोई अर्थ नहीं बनता है। इसलिए हमने उसकी पूर्ति कर दी है ॥६७॥

---

१ न भाजन भाग्र। ट. म पायस भाग्र। २. ब. भोजन कृशरा। ३ ब त म. दा[illegible]। ४. तम्भो। ५. एव विधं.।

रङ्गपीठे कर्तव्ये रङ्गशिरस्तावदाह रङ्गशीर्षमिति—

भरत०—रङ्गशीर्षन्तु कर्तव्य षड्दारुकसमन्वितम्[१] ।
कार्यं द्वारद्वयं चात्र नेपथ्यगृहकस्य तु[२] ॥६८॥

नेपथ्यगृहमित्तिपुरोगौ[३] स्तम्भावष्टहस्तान्तरावन्योन्य निवेश्य तयोर्यन्मुख तदपेक्षया चतुर्हस्तान्तर स्तम्भद्वय, तेपामघस्तन काष्ठमुपरितन चेति पड् दारूणि । यत्र पड् दारूणि तत् षड्दारुकम् । सज्ञाया कन् । तत् तेन विचित्ररचनोपेतत्व लभ्यते । अत्र नेपथ्यगृहस्य द्वारद्वय कार्यम् । एक दक्षिणत, अपरमुत्तरत । तच्च द्वारद्वयमापादितकूर्पराभिनतया भवति । तत्पात्राणा विश्रान्त्यै, आगच्छता च गुप्त्यै रङ्गस्य शोभायै रङ्गशिर कार्यम् । अन्ये तु—

पार्श्वद्वयोर्ध्वाधरदारुमण्डित स्तम्भद्वयोपेतमिह त्रिद्वारकम् ।[४]

इति षड्दारुकमाहु ।

अभिनव०—रङ्गपीठकी रचनाके प्रसङ्गमे पहिले रङ्गशीर्षको [बनाना चाहिए । इस बातको] 'रङ्गशीर्ष' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—

भरत०–[शिल्प-शास्त्रोमे प्रतिपादित विधिके अनुसार रङ्गपीठकी रचना करनी चाहिए । उसमे भी सबसे पहले] छह [सुन्दर] काष्ठ-खण्डोसे युक्त रङ्गशीर्षकी रचना करनी चाहिए । और उसमे नेपथ्यगृहके दो द्वार बनाने चाहिए ।

अभिनव०—नेपथ्यगृहकी भित्तिके सामने एक दूसरेसे आठ हाथके अन्तरपर स्थित दो स्तम्भोको खडा करके उनके मुखादि [अर्थात् छोटे-छोटे दो द्वार बनाने] की अपेक्षासे [उन दोनो स्तम्भोके पास, पर विपरीत दिशामे] चार हाथके अन्तर पर और दो खम्भे तथा उनके ऊपर-नीचेकी दो लकडिया [सब मिल कर] छह काष्ठ-खण्ड होते हैं । जिसमे छह दारु अर्थात् काष्ठ-खण्ड हो वह 'षड्दारुक' [कहलाता] है । षड्दारु [शब्दसे] सज्ञा [अर्थमे] कन्-प्रत्यय [करके षड्दारुक शब्द बनता] हैं । इस [षडदारुकताके कथन] से [रङ्गशीर्षका] विचित्र रचनासे युक्त होना सूचित होता है इस [रङ्गशीर्ष] मे नेपथ्यगृहके [जाने-आनेके लिए] दो दरवाजे बनाने चाहिए । एक दक्षिणकी ओर और दूसरा उत्तरकी ओर । और वे दोनो दरवाजे ऊपरकी ओर कोहनीकी तरह [मुडे हुए आपादित कूर्परामिनतया] महरावदार होने चाहिए । इस प्रकार [अभिनय करते समय रिक्त] पात्रोके विश्राम करनेके लिए तथा [नेपथ्यगृहमेसे निकल कर] आने वाले पात्रोको [सहसा प्रेक्षकोकी दृष्टिसे] बचानेके लिए एव रङ्गपीठकी शोभाके लिए रङ्गशीर्षकी रचना करनी चाहिए ।

अभिनव०—अन्य [व्याख्याकार] तो [यह कहते है कि]—

अभिनव०—दोनो किनारोके [दो खम्भो], उनके ऊपर तथा नीचेकी [दो] लकडियो [और उनके बीचके] दो खम्भोसे सुशोभित तिदरी [षड्दारुक कहलाती है] ।

इसको [अर्थात् उसमे लगी हुई छ लकडियोको] 'षड्दारुक' कहते हैं ।

१ न मसवृतम् । २ अ च । ३ लग्नौ । ४ म भ अच्छपातम् । अच्छपातकथा ।

'अन्ये तु 'ऊह' स्तम्भशिरसो दूरनिर्गतं काष्ठम् । 'प्रत्यूहस्ततो विनिर्गता तुला । 'निर्यूहास्तुलान्तान्निसृता' फलकभित्तिमया. । 'सञ्जवनफलका निर्यूहान्नि. मृता आकाशे भित्तिव्याख्या । 'स्तम्भाश्रिता. सिंहादयो व्यालादयश्चानुवन्धा । 'कुहराणि पर्वतपुर-निकुञ्जगह्वररूपाणीति 'पड्दारुकम्' । सर्वत्र च पक्षे दक्षिणोत्तरगत द्वारद्वय पात्राणा प्रवृत्तिभेदकृतात् प्रदक्षिणा प्रदक्षिणप्रवेशत्वात् ॥६८॥

पाठसमीक्षा—इस श्लोकार्धके अन्तमें पूर्वसस्करणोमें 'पेतमिहाच्छपातम्' पाठ पाया जाता है। परन्तु उसकी यहाँ कोई सङ्गति नही लगती है। इस समय यह 'पड्दारुक' की व्याख्याका प्रसग चल रहा है। यह 'पड्दारुक' पदको दूसरी व्याख्या है। इसमें पूर्व,सस्करणोमें मुद्रित 'अच्छपातम्' पाठको कोई सगति नही लगती है। किन्तु जिस प्रकारकी रचनाका वर्णन किया गया है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह प्राचीन काल की 'तिदरी' का वर्णन है। यहाँ दोनो पार्श्व अर्थात् दोनो किनारोके खम्भो, उनके बीच दो खम्भो और उनके ऊपर-नीचेकी दो लकडियोको मिला कर जिस 'पड्दारुक' का वर्णन किया है वह तीन द्वार वाले बरामदेके रूपकी तिदरी बन जाती है। इसका उपयोग प्राचीन शैलोके भवनोमें बहुत होता है। रङ्गपीठके सायका रङ्गशीर्ष भी इस प्रकारकी तिदरी सा हो जाता था। और उसके सामनेका यह सारा भाग छह काष्ठ-खण्डोमे ही बनता था। इसलिए दूसरे लोगोने इस प्रकारकी बनी तिदरी में लगे छह कण्डोंको ही पड्दारुक मानकर 'पड्दारुक' की व्याख्या इस प्रकार की है।

'पड्दारुकम्' की तीसरी व्याख्या—

'पड्दारुक' की दो व्याख्याओ को देनेके बाद तीसरी व्याख्या आगे देते हैं। इनमें १ ऊह, २ प्रत्यूह, ३ निर्यूह, ४ सञ्जवन, ५ अनुवन्ध तथा ६ कुहर इनको पड्दारुक कहा गया है। उनके पारिभाषिक अर्थ निम्न प्रकार हैं।

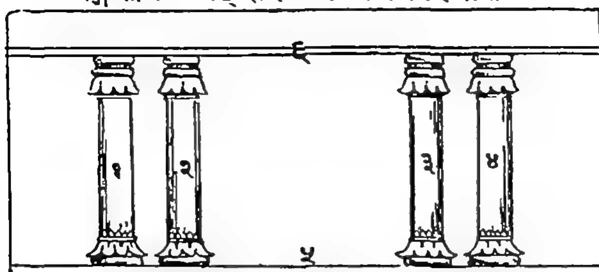
अभिनव०—अन्य [तीसरे व्याख्याकार] १ 'ऊह' अर्थात् स्तम्भके ऊपरके सिरेसे निकला हुआ काष्ठ। २ 'प्रत्यूह' अर्थात् उससे आगे निकली हुई तुला। ३ निर्यूह अर्थात् तुलाके किनारोसे निकले हुए तख्तोकी दीवार और ४ सञ्जवन अर्थात् भित्तिके समान आकाशमे निकले हुए तख्ते, ५ खम्भोपर बने हुए सिंह आदि और सांप या हाथी आदि अनुबन्ध ६ कुहर अर्थात् [उन तख्तोके ऊपर खुदे हुए] पर्वत नगरोकी कुञ्जें तथा गह्वर आदि रूप, ये 'पड्दारुक है यह कहते हैं। [इन तीन प्रकारकी व्याख्याओंसे 'पड्दारुक' पदकी कोई भी व्याख्या मानें] सभी पक्षोमे पात्रोकी प्रवृत्तिकी भिन्नताके कारण प्रदक्षिण और अप्रदक्षिण प्रवेश केलिए दक्षिण तथा उत्तर की ओर [रङ्गशीर्ष और पहले कहे हुए नेपथ्यगृहके बीचमे] दो दरवाजे बनाए जाने चाहिए।

---

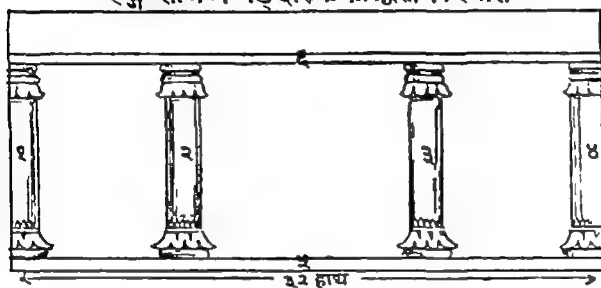
१ च II उर्थं। तूह स्तदूर निर्गतकाष्ठादप्रवत्यूहन्तनो (हतो)।
२ ऊह. स्तम्भशिरसो दूरनिर्गत काष्ठाद्।
३ प्रत्यूह स्ततो [ऊहात्] विनिर्गता तुला।
४. निर्यूहास्तुलान्तान्निः सृता फलकभित्तिमया।
५. सञ्जवनफलका सृता आकाशे भित्ति व्याख्या।
६ स्तम्भाश्रिता सिंहादयो व्यालादयश्च अनुबन्धा।
७. कुहराणि पर्वतपुर-निकुञ्ज-गह्वर-रूपाणि।

रङ्गशीर्षपर 'षडदारुक' की तीन स्थितियां

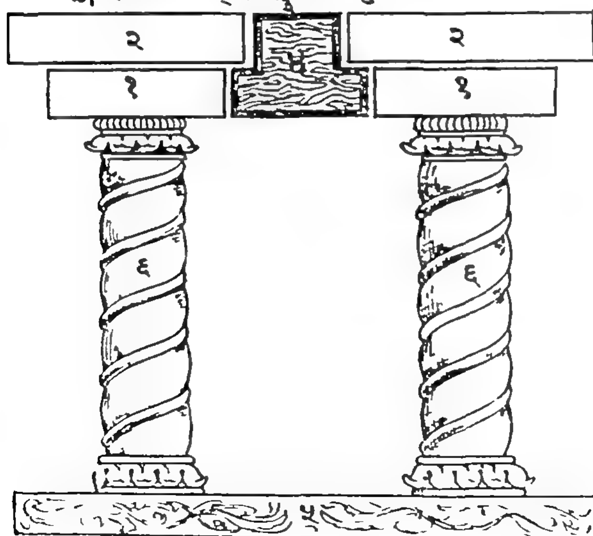
रङ्गशीर्षमे षड्दारुककी प्रथम स्थिति



रङ्गशीर्षमे षड्दारुककी द्वितीय स्थिति



रङ्गशीर्षमें षड्दारुककी तृतीय स्थिति



षड्दारुककी प्रथम व्याख्या—

यहाँ अभिनवगुप्तने मूल कारिकामें आए हुए 'षड्दारुक' पदकी तीन व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। इन तीन प्रकारकी व्याख्याओंके अनुसार 'षड्दारुक' की तीन स्थितियोंको प्रदर्शित करनेके लिए हमने ऊपर तीन चित्र दिए हैं। उनमेंसे प्रथम चित्र पहिली व्याख्याके अनुसार बनाया गया है। इसका भाव यह है कि नेपथ्यगृहकी भित्तिके सामने उससे लगे हुए, अथवा रङ्गपीठ और रङ्गशीर्षकी

सीमापर पहिले काष्ठके सुन्दर चार खम्भे खड़े किए जाय। ये चार काष्ठ हो जावेंगे। उनके ऊपर तथा नीचेके दोनों काष्ठोको मिला कर कुल छः काष्ठ हो जाते हैं। ये काष्ठ बहुत सुन्दर कारीगरी से युक्त होने चाहिए। इस प्रकार रङ्गशीर्ष 'षड्दारुसमन्वित' हो जावेगा। ये चार खम्भे जिस तरह से खड़े करने हैं उसपर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। पहिले दो खम्भे एक-दूसरे से आठ हाथ के अन्तरपर खड़े किए जावेंगे। रङ्गशीर्षके इस भागकी लम्बाई ३२ हाथ है। इसमें यदि एक दूसरे से आठ हाथकी दूरीपर दो खम्भे खड़े कि जावेंगे तो वे दोनो ओरकी अन्तिम दीवारसे १२-१२ हाथकी दूरी पर रहेगे। ३२ हाथ लम्बे स्थानमें दोनो ओरकी दीवरोंसे बारह-बारह हाथ की दूरीपर जो खम्भे खड़े किए जावेंगे उनकी एक दूसरेसे आठ हाथकी दूरी रहेगी। अब दोनो ओरकी दीवारोंसे बारह-बारह हाथकी दूरी पर जो खम्भे खड़े किए गए हैं उनके पास, अपने-अपने पास की दीवारोकी ओर चार-चार हाथकी दूरीपर दो खम्भे और खड़े किए जाय। ये दोनो खम्भे अपने समीपकी दीवारोंसे आठ-आठ हाथकी दूरीपर होंगे। इन चारो खम्भोके ऊपर और नीचेकी ओर सरदल और देहरीके रूपमें दो सुन्दर लकडी लगाई जावेंगी। चार खम्भे और उनके साथके सरदल तथा देहरी मिलाकर 'षड्दारुक' बन जाते हैं। इनको हमने प्रथम चित्रमें दिखलाया है। इस प्रकार रङ्गशीर्षमें दोनो किनारोपर और बीचमें कुल तीन द्वार तो आठ आठ हाथके भी और दो द्वार चार-चार हाथके बन जाते हैं। जो उसके सौन्दर्य को बढाने वाले होते हैं।

पड्दारुककी दूसरी व्याख्या—

'षड्दारुकम्' पदकी दूसरी व्याख्यामें भी पहिली व्याख्याके समान ही चार स्तम्भ लगाए गए हैं किन्तु उनकी स्थितिमें कुछ अन्तर है। उसमें दोनो पार्श्वों अर्थात् अगल-बगलकी दोनों भित्तियों के सहारे दो स्तम्भसदृश भाग रहेंगे। इन पार्श्वद्वयके बीचमें दो स्तम्भ बनेंगे। इन पार्श्वद्वय, स्तम्भद्वय और ऊपर नीचेके काष्ठोको मिला कर 'षड्दारुक' होते हैं। यह दूसरे व्याख्याकारोका मत है। इस व्याख्याके अनुसार पड्दारुकका द्वितीय चित्र हमने ऊपर दिया है। चित्रोंको देखने से प्रथम और द्वितीय व्याख्याके अन्तर्गत 'पड्दारुक' की स्थिति और उनका भेद स्पष्ट हो जाता है।

पड्दारुककी तृतीय व्याख्या—

'षड्दारुक' की तृतीय व्याख्या कुछ पारिभाषिक शब्दोंके ऊपर आश्रित होने से तनिक क्लिष्ट हो गई है। इसमें १ ऊह, २ प्रत्यूह ३ निर्यूह, ४ सञ्जवन, ५ अनुबन्ध और ६ कुहर इन छः को 'षड्दारुक' कहा है। ये छहों पारिभाषिक शब्द हैं इसलिए ग्रन्थकारको उनकी भी व्याख्या करनेकी आवश्यकता पड़ी है। इस व्याख्यामें दो खम्भोके बीचमें ऊह, प्रत्यूह आदि रूप षड्दारुककी स्थिति रहती है। इन सब भागोंको हमने सामने 'षड्दारुक' की तृतीय स्थिति वाले चित्रमें दिखलाया है। खम्भेके सिरके ऊपर सबसे बाहर निकला हुआ पहिला काष्ठ-खण्ड १ 'ऊह' कहलाता है। इसके ऊपर दूसरा काष्ठ-खण्ड होता है जो उससे भी अधिक बाहर निकला रहता है इसको २ 'प्रत्यूह' या 'तुला' कहते हैं। तीसरा तुलासे बाहर दो खम्भोके बीच लगे हुए भित्ति सहित तख्तोंके चौखटेके समान जो होता है वह ३ निर्यूह' कहलाता है। इस निर्यूह रूप चौखटेके भीतर भित्तिके सहश जो तख्ते लगाए जाते हैं उनको ४ 'सञ्जवनफलक' कहते हैं। इन चारके अतिरिक्त ५ 'अनुबन्ध' और ६ 'कुहर' ये दो भाग षड्दारुकके और शेष रह जाते हैं। इनमें 'अनुबन्ध' तो उसको कहते हैं जो खम्भोंके ऊपर सिंह सर्प आदिके चित्र उभर उकेरे हुए बने होते हैं। और ६ 'कुहर' उस प्रकारकी कारीगरीको कहते हैं जो खम्भोंके ऊपर भीतरकी ओर खुदाई करके खुदी होती है। यह छः प्रकारका जो दारुकर्म होता है उसीको यहाँ 'षड्दारुक' कहा गया है। ये सब कार्य प्रत्येक दो स्तम्भोके बीचमें हो सकते हैं।

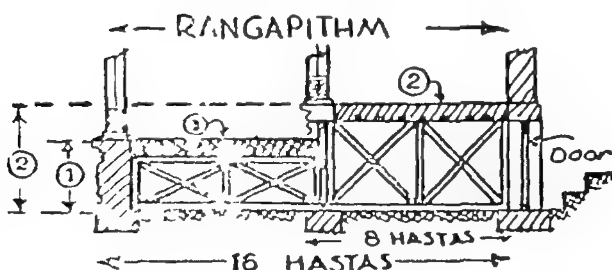
पाठसमीक्षा—यहाँ 'पड्दारुकम्' पदकी जो तीसरी व्याख्या दी गई है वह वास्तवमें तो आगे आने वाले ७४-७६ श्लोकोंकी व्याख्या है। इसलिए यह पाठ वहाँ होना चाहिए। यहाँ तो उसकी उपयोगिता गौणरूपसे ही मानी जा सकती है। वहाँका पाठ होते हुए भी यहाँ उसकी सङ्गति लग जाती है और उसके अन्तमें 'इति पड्दारुकम्' पद, प्रकृतमें उसकी उपयोगिताको सूचित करते हैं और 'सर्वत्र च पक्षे' यह जो उसके आगेका पाठ है उससे भी इसकी प्रकृतमें उपयोगिता प्रतीत होती है इसलिए हमने इस पाठ को यथा-स्थान रहने दिया है। अन्यथा यह पाठ वस्तुतः उन्ही ७४-७६ श्लोकोंकी व्याख्यामें जाना चाहिए था। अब भी उसको वहाँ दुबारा देना ही होगा क्योंकि उसके बिना वहाँ उन श्लोकोंका अर्थ नहीं बन सकता है। इसलिए हमने इस पाठको दोनों जगह स्थान दिया है ॥६८॥

प्रो० सुब्बारावके अनुसार पड्दारुक—

जैसी कि हम पहिले चर्चा कर चुके हैं प्रो० सुब्बारावने नाट्यशास्त्रके आधारपर प्रेक्षागृहका मानचित्र उपस्थित करनेका यत्न किया है। जिसमें उसके भिन्न-भिन्न भागोंको अपने विवेकके अनुसार नियत करनेका उन्होंने यत्न किया है। हम यह भी देख चुके हैं कि इस प्रयत्नमें उन्होंने मत्तवारणीका जो स्वरूप और स्थान निर्धारित किया है वे दोनों ही भरतमुनि तथा अभिनवगुप्तके लेखोंके अनुसार सङ्गत नहीं होते हैं। इसलिए उनको उपादेय नहीं माना जा सकता है। यही स्थिति उनकी पड्दारुकके विषयमें भी हुई है। रङ्गपीठके अगल-बगलमें मत्तवारणीके बनानेके स्थानपर उन्होंने लकडीका एक-एक चौखटा लगा दिया है। इस चौखटेके चारों ओरकी चारों लकडी और उनके कोनोंको मिलाती हुई दो लकटियाँ ये सब मिल कर छः काष्ठखण्ड हो जाते हैं। इनको ही श्री सुब्बाराव पड्दारुक नामसे कहते हैं। उन्होंने 'पड्दारुक' का जो चित्र दिया है वह निम्न प्रकार है।

श्री सुब्बाराव द्वारा प्रस्तुत

पड्दारुकका चित्र



SECTION ACROSS रंङ्गपीठ OF विकृष्ट

ऊपर हम अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित 'पड्दारुकम्' की तीन प्रकारकी व्याख्या और उनके अनुसार बने हुए चित्र देख चुके हैं। प्रो० सुब्बाराव द्वारा प्रस्तुत यह चौथा चित्र हम देख रहे हैं। इसकी यदि पूर्व चित्रोंके साथ तुलना की जाय तो नाट्य-मण्डपके सौन्दर्याधानमें इसकी उन तीनोंके सामने कोई भी स्थिति नहीं है। यह सुब्बाराव महोदयकी केवल अपनी अत्यन्त हीन कोटिकी कल्पना है। भरत या अभिनवगुप्तके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए उनके द्वारा प्रस्तुत यह चित्र अभिनवगुप्तकी दृष्टिसे प्रामाणिक नहीं है।

भरत०—पूरणे मृत्तिका चात्र कृष्णा देया प्रयत्नतः ।
[1]लाङ्गलेन समुत्कृष्य निर्लोष्ठतृण[2]शर्करम् ॥६९॥
लाङ्गले शुद्धवर्णौ[3]तु धुर्यौ योज्यौ प्रयत्नतः ।
कर्तारः [4]पुरुषाश्चात्र [5]येऽङ्गदोषविवर्जिताः ॥७०॥

शुद्धवर्णौ शुक्लौ । धुर्यौ दान्तौ ॥६९-७१॥

[प्रक्षिप्त—[6]अहीनाङ्गैश्च वोढव्या मृत्तिका पीवरैर्नरैः[7] ।
एवंविधं प्रकर्तव्यं रङ्गशीर्षं प्रयत्नतः ॥७१॥]

भरत०—कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च ।
शुद्धादर्शतलाकारं रंगशीर्षं प्रशस्यते ॥७२॥

कूर्मपृष्ठमिति समन्ततो निम्नं मध्ये च वर्तुलरूपं मन्दं, तादृगेव मध्ये दीर्घरूपं मत्स्यपृष्ठं, तदुभयं नात्र कार्यम् । शुद्धादर्शसमं दर्पणतुल्यं कार्यम् ॥७२॥

रङ्गपीठको ऊंचा करनेके लिए भरावकी व्यवस्था—

भरत०—[रङ्गपीठ, रङ्गशीर्ष, तथा नेपथ्यगृह जिस भागमें बनते हैं उस भागको शेष भूमिभागसे डेढ हाथ ऊंचा रखना चाहिए यह बात पहिले कही जा चुकी है। उसको ऊंचा उठाने के लिए डेढ हाथका मिट्टीका भराव करना होगा उस] भराव करनेकेलिए प्रयत्न करके हलसे जोत कर ईंट-पत्थर, घास-फूस और धूलिसे रहित काली मिट्टी डालनी चाहिए ॥६९॥

भरत०—[जिस हलसे उस भूमिको जोता जाय उस] हलमें सफेद रंगके बलवान दो बैल जोतने चाहिए और उसको चलाने वाले ऐसे पुरुष होने चाहिए जिनमें किसी प्रकारका अङ्ग-दोष न हो ।७०।

अभिनव०—'शुद्धवर्णौ' अर्थात् सफेद रंगके। 'धुर्यौ' अर्थात् अत्यन्त बलवान् [बैल हलमें जोतने चाहिए] ॥ ६९-७० ॥

प्रक्षिप्त—अङ्गहीनता-रहित और पुष्ट मनुष्योंको मिट्टी ढोनेका कार्य करना चाहिए। इस प्रकारका रङ्गशीर्ष प्रयत्न पूर्वक बनाना चाहिये ।७१।

रङ्गपीठका धरातल कैसा हो—

भरत०—[रङ्गशीर्षका धरातल या फर्श] कछुएकी पीठ-सा या मछलीकी पीठ सा नहीं बनाना चाहिये अपितु शुद्ध दर्पणके तलके समान एकसा-समतल रङ्गशीर्ष अच्छा समझा जाता है ।७२।

अभिनव०—कछुएकी पीठ-सा अर्थात् चारों ओरसे नीचा और बीचमें थोड़ा-सा [मन्द] भाग उठा हुआ [कूर्म-पृष्ठ कहलाता है] और उसी प्रकारका [अर्थात् चारों ओर नीचा और] बीचमें [दीर्घरूप] लम्बाभाग उठा हुआ मत्स्य-पृष्ठ होता है। वे दोनों प्रकारके तल इसमें नहीं बनाने चाहिए। शुद्ध दर्पणके समान समतल रखना चाहिए ॥ ७२ ॥

---

१. प लाङ्गले च । २. ठ शर्कराम् । म शर्करा । ३. ज य शुद्धवर्णौ ।
४. न पुरुषास्तत्र । ठ म पुरुषास्तत्र । ५. प. य. नाङ्गदोषविवर्जिता ।
६. ठ अहीनाङ्गैश्च । ७. पीवरैर्नरैः

भरत०——रत्नानि चात्र देयानि पूर्वे वज्रं विचक्षणैः ।
वैदूर्यं दक्षिणे पार्श्वे स्फटिकं पश्चिमे तथा ॥७३॥
प्रवालमुत्तरे चैव मध्ये तु कनकं भवेत ।
एवं रङ्गशिरः कृत्वा दारुकर्म प्रयोजयेत् ॥७४॥

रत्नानि तदायुध-तद्वर्णानुरूपत्वेन यथायोगम् । कृत्वेति पूर्वं विभज्य बुद्धया इति यावत् ॥७३-७४॥

'दारुकर्म' इत्युक्त विभजति 'ऊह-प्रत्यूह सयुक्त' इत्यादिना 'स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम्' इत्यन्तेन—

भरत०—ऊह-प्रत्यूहसंयुक्त नानाशिल्पप्रयोजितम् ।
नानासञ्जवनोपेतं बहुव्यालोपशोभितम् ॥ ७५ ॥
'सुसालभञ्जिकाभिश्च समन्तात् समलंकृतम् ।
निर्यूह-कुहरोपेतं नानाग्रथितवेदिकम् ॥ ७६ ॥

भरत०—श्रौर इस [के फर्श] मे रत्न लगाने चाहिए । पूर्वकी श्रोर हीरा, दक्षिण की श्रोर वैदूर्य, तथा पश्चिमकी श्रोर स्फटिक [चतुर कारीगरोको लगाना चाहिए] ।७३।

भरत०—उत्तरकी श्रोर [प्रवाल] मू गा, तथा बीचमे सोनेका प्रयोग करना चाहिए । इस प्रकार रङ्गशीर्षको बना कर उसमे लकडीका काम कराना चाहिए ।७४।

श्रभिनव०–[रङ्गशीर्षकी भिन्न-भिन्न दिशाश्रोमे जो रत्नोका निर्देश किया गया है वह] उसके [श्रर्थात् उस दिशाके श्रधिष्ठातृ-देवताके] श्रायुध श्रथवा उसके वर्णके श्रनुरूप होनेसे यथा-योग्य किया गया है । 'करके' इसका श्रभिप्राय यह है कि पहिले बुद्धिमे उसका विभाग सोच कर [तब दारुकर्म को प्रारम्भ करावे] ।

इस श्रनुच्छेदमें तदायुध-तद्वर्ण शब्दोका प्रयोग श्राया है । पूर्व दिशाका देवता इन्द्र है । श्रौर वज्र इन्द्रका श्रायुध है । इसलिए पूर्व दिशामें वज्रका विनियोग 'तदायुधत्वेन' ही किया गया है । शेष रत्नोका विधान श्रधिष्ठातृ-देवता के वर्णके श्राधारपर किया गया है ॥७३-७४॥

रङ्गशीर्षकी काष्ठकला—

श्रभिनव०–'दारुकर्म प्रयोत्रयेत्' यह [जो पिछली कारिकामे] कहा था उसका 'ऊहप्रत्यूहसयुक्त' से लेकर 'स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम्' तक [चार श्लोकोमे विभाग श्रर्थात्] विस्तार दिखलाते है—

भरत०—ऊह प्रत्यूह [इनकी व्याख्या टीकामे करेंगे] से युक्त, नाना [प्रकारकी कारीगरी [शिल्प] से समन्वित, भित्तिके समान प्रतीत होने वाले श्रनेक [चित्रकारी युक्त] तख्तो [सञ्जवनों] से विभूषित, श्रनेक सर्प [श्रादि के चित्रो] से श्रलकृत [दारुकर्म करावे] ।७५।

भरत०—सब श्रोरमे सुदर पुतलियो [सुसालभञ्जिकभि] से श्रलकृत निर्यूह [बाहर निकले हुए श्रर्थात् उभरे हुए चित्रों तथा] कुहर [श्रर्थात् काष्ठ फलको भीतर खुदे हुये चित्रों] से युक्त नाना प्रकारकी वेदिकाश्रो के चित्रोमे सुशोभित—।७६।

---

१ भवेयुश्चात्र विन्यस्ता विविधा सरलभञ्जिका तसालभञ्जिकाक्षि । श्रदालभञ्जिकार्यं ।

नानाविन्यासंसंयुक्तं चित्रजालगवाक्षकम् ।
सुपीठधारणीयुक्तं कपोताली-समाकुलम् ॥ ७७ ॥
नानाकुट्टिमविन्यस्तैः स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम् ।
एवं काष्ठविधिं कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत् ॥ ७८ ॥

अत्रोहप्रत्यूहौ अन्वय-व्यतिरेकौ तर्कोपयोगिनौ केचिदाहुः। अन्ये तु, ऊहः स्तम्भशिरसो दूरनिर्गतं काष्ठम्। प्रत्यूहस्ततो विनिर्गता तुला। निर्यूहास्तुलान्तान्निस्सृताः फलकभित्तिमयाः। सञ्जवनफलका. निर्यूहान्निः सृता आकाशे भित्तिव्याख्या.। स्तम्भाश्रिताः सिंहादयो व्यालादयश्चनुवन्धाः। कुहराणि पर्वतपुरनिकुञ्जगह्वररूपाणि। सालभञ्जिका काष्ठमय्यः कान्ता. प्रतिकृतय.। नानाकृतिभिर्ग्रथिता वेदिकाश्चतुरश्रिका यत्र। चित्राणि जालानि चतुरश्राष्टाश्रच्छिद्ररूपाणि, गवाक्षाणि वर्तुलच्छिद्रात्मकानि यत्र। पीठानि स्तम्भोपरि, तेषु धारिण्यस्तुला.। कपोताली विटङ्कपाली। कुट्टिमस्य नानात्वं रङ्गशिरो-रङ्गपीठ-मत्तवारणीद्वयभेदात्। सर्वत्रैव तथाविध दारुकम्। रक्तसित-नीलपीतादिभेदाद्वा।

भरत०—नाना प्रकारकी शैलियोंसे बनाये गये विचित्र प्रकारकी जालियों तथा झरोखों से सजे हुए, सुन्दर पीठ [अर्थात् खम्भोंके ऊपरका भाग] और [उन पीठों के भी ऊपरकी] धारणियों से युक्त, तथा [चित्रमयी] कवतरोंकी छतरी [या पंक्ति] से भरी हुई—।७७।

भरत०—नाना प्रकारके फर्शोंपर खड़े किए खम्भों [के चित्रों] से सुशोभित [रङ्गशीर्षपर] दारुकर्म अर्थात लकडीके कार्यको करावे]। और इस प्रकार दारुकर्म [अर्थात् लकडी के कार्यको सजावट आदि] करानेके बाद भित्ति कर्म [अर्थात् दीवालों की सजावट आदिका कार्य] करावे ।७८।

अभिनव०—यहां ऊह-प्रत्यूहका अर्थ कुछ लोग तर्कमें उपयोगी अन्वय-व्यतिरेक [ऊहापोह] करते हैं। अन्य लोग स्तम्भोंके ऊपरी सिरेसे वाहर निकले हुए काष्ठको 'ऊह' और उससे भी वाहर निकली हुई तुलाको 'प्रत्यूह' कहते हैं। खम्भोंके ऊपरकी [तुलाओंके किनारेसे] आगे निकले हुए भित्ति रूप तख्ने 'निर्यूह' [कहलाते] हैं। निर्यूहसे [भी आगे] आकाशमे भित्तिके सदृश निकले हुए तख्ते सञ्जवन [कहलाते] हैं। खम्भोपर वने हुए सिंह आदि और सर्प आदि अथवा हाथी आदि अनुवन्ध [पदसे अभिप्रेत] हैं। पर्वत नगरोंके कुञ्ज तथा गह्वर आदि रूप कुहर [कहलाते] हैं। सालभञ्जिका अर्थात् काष्ठकी वनी हुई सुन्दर मूर्तियां [पुतलियां]। नाना प्रकारके आकारोमें वनाई गई वेदिकाएं अर्थात् चबूतरे। विचित्र अर्थात् नानाप्रकारके चौकोर या अठकोने छिद्रों वाली जालियां, और गोल छिद्रों वाले झरोखे जिसमे हों। सुन्दर पीठ अर्थात् खम्भो के ऊपरकी ठेयी, उनके ऊपरकी धारणी अर्थात् तुलाएं। कपोताली अर्थात् कबूतरोंके बैठनेकी छतरी। [कुट्टिम अर्थात्] फर्शका नानाविधत्व रङ्गशीर्ष, रङ्गपीठ तथा दो मत्तवारणियोंके भेदसे होना है। सब जगह उसी [फर्शके] अनुसार लकड़ी लगानी चाहिए। अथवा लाल सफेद नील पीत आदि भेदसे [फर्शका] नानात्व समझना चाहिए।

पाठसमीक्षा—७५-७८ तककी चार कारिकाएं 'दारुकर्म' अर्थात् रङ्गशीर्षके ऊपरकी जानेवाली लडकीकी कारीगरीके विषयमें लिखी गई है। अत. उन चारोको मिला कर ही अभिनवगुप्तने उनकी व्याख्या लिखी है। परन्तु पूर्व-सस्करणोमें इस स्थलका पाठ वडे अस्त-व्यस्त ढगसे मुद्रित हुआ है उससे इन कारिकाओकी व्याख्या ठीक नही वनती है। पूर्व-सस्करणोमें मुद्रित पाठ इस प्रकार है—

'दारुकर्मेत्युक्त विभजति—ऊहप्रत्यूहसयुक्तामित्यादिना स्तम्भैश्चाप्युपशोभितमित्यन्तेन। अनेकसालभञ्जिका. काष्ठमभ्य कान्ता-प्रकृतय। नानाकृतिभिर्ग्रथिता वेदिकाश्चतुरश्रिका यत्र। चित्राणि जालानि चतुरश्राष्टाश्रच्छिद्ररूपाणि, गवाक्षाणि च वर्तुलच्छिद्रात्मकानि यत्र। पीठानि स्तभ्योपरि। तेषु धारिण्यस्तुला। कपोताली विटकपाली कुट्टिमस्य नानात्व रङ्गशिरोरङ्गपीठमत्तवारणीद्वयभेदात्। सर्वत्र तथाविधिदारुकम्। रक्तसितनीलपीतादि भेदाद्वा। अत्रोह प्रत्यूहावन्वयव्यतिरेकतर्कोपयोगिनो केचिदाहु।

इस पाठमे कारिकाओके प्रमुख ऊह, प्रत्यूह, निर्यूह, सञ्जवन, कुहर आदि शब्दोकी कोई व्याख्या नहीं दी गई है। व्याख्याका आरम्भ सालभञ्जिकाके अर्थसे किया गया है। ऊह प्रत्यूह आदि शब्दोकी व्याख्या यहा न देनेका कारण जैसा कि इस अनुच्छेदके पाठके विषयमें हम पहिले लिख चुके हैं यह हो सकता है कि इसका लगभग आधा भाग पहिले ६८वी कारिकामें आए हुए 'षड्दारुकम्' पदकी व्याख्याके रूपमें दिया जा चुका है। इसी कारण पूर्व-सस्करणोमें उस भागको यहाँ मुद्रित नही किया था। परन्तु यह उचित नही है। वे सब शब्द इन कारिकाओंके मुख्य शब्द हैं। यहा उनकी व्याख्या अवश्य होनी चाहिए। ६८वी कारिकामें तो केवल प्रसङ्गत, उनको उद्धृत किया गया था। वह मुख्य रूपसे यहाँका ही भाग है इसलिए यहाँ उस पाठको अवश्य देना चाहिए। अन्यथा इन कारिकाओका कोई अर्थ स्पष्ट नही हो सकेगा। अत हमने उस पाठको यहाँ भी दिया है।

पाठसमीक्षा—दूसरी वात यह है कि ७५वी कारिकामें आए हुए ऊह-प्रत्यूह शब्दोकी दो प्रकारकी व्याख्या की गई है। कुछ लोग ऊह-प्रत्यूह शब्दमे तर्कके उपयोगी अन्वय-व्यतिरेकका ग्रहण करते हैं और दूसरे लोग खम्भोके ऊपर निकले भागोका ग्रहण इन शब्दोमे करते हैं। इन दोनोका इकट्ठा निर्देश यहाँ सवसे पहिले ७५वी कारिकाकी व्याख्याके अवसरपर होना चाहिए था। परन्तु पूर्व-सस्करणोमें जिस रूपमे पाठ मुद्रित किया गया है उसमें इन दोनोमेंसे कोई भी भाग इस स्थानपर नही रखा गया है। 'अन्ये तु उह स्तम्भशिरसो दूरनिर्गत काष्ठ' आदि एक भाग ६८वी कारिकाकी व्याख्यामे डाल दिया गया है। और 'अत्रोहप्रत्यूहावन्वयव्यतिरेकतर्कोपयोगिनो केचिदाहुः' इस दूसरे अशको ७८वी कारिकाकी व्याख्यामें सवसे अन्तमें डाल दिया गया है। ये दोनो वाते ठीक नही हुई हैं। उन दोनो पाठोको व्याख्याके आरम्भमें साथ-साथ रखना उचित था। और 'अत्रोहप्रत्यूहावन्वयव्यतिरेकौ तर्कोपयोगिनो केचिदाहु' इस भागको पहले तथा 'अन्ये तु' आदिको वादमे रखना चाहिए था। अत हमने इसी क्रमसे पाठको प्रस्तुत किया है। जो लोग ऊह-प्रत्यूहका तर्कोपयोगी अन्वय-व्यतिरेक अर्थ करते हैं उनका आशय यह है कि दारुकर्म करते समय तर्कसे सब बातोके औचित्यका विचार करलें। यो तो इन भागोको जहा पूर्व सस्करण मे छापा गया है वहा भी उनकी सङ्गति लग जाती है। परन्तु यदि उन दोनो भागोको यहाँ नही रखा जाता है तो इन श्लोकोका अर्थ पूरा नही होता है। अत एव हमने उन दोनो पाठोको यहाँ उचित स्थानमें एक साथ रखा देकर ग्रथको सुसङ्गत करनेका यत्न किया है।

भरत०—स्तम्भं वा नागदन्तं वा वातायनमथापि वा।
[1]कोणं वा सप्रतिद्वारं द्वारविद्धं[2] न कारयेत् ॥ ७९ ॥

प्रतिद्वारमवान्तरद्वारम्। द्वारेण विद्धं परस्परसम्मुखीभूतमध्यं न कुर्यात्। नागदन्तं [3]स्तम्भोर्ध्वस्थं शंकुकं पुत्रिकाधारणार्थम्, गजमुखमिति केचित् ॥७९॥

पाठसमीक्षा—इनके अतिरिक्त पूर्व-संस्करणोंके पाठमें कुछ और भी छोटी छोटी त्रुटियां इस स्थल पर रह गई हैं। 'अथोहप्रत्यूहावन्वव्यतिरेकतर्कोपयोगिनौ' इस प्रकारका पाठ छपा था। उसमें 'अन्वयव्यतिरेकौ तर्कोपयोगिनौ' पाठ होना चाहिए। इसी प्रकार 'कान्ताप्रकृतय' के स्थान पर 'कान्ताः प्रतिकृतय' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

यहाँ भरतमुनिने प्रेक्षागृहके निर्माणमें 'षड्दारुक' की स्थापना या दारुकर्मके प्रयोगपर बड़ा बल दिया है। उनसे भी अधिक बल अभिनवगुप्तने इस कार्यपर दिया है। इनका कारण यह है कि काष्ठ-कर्मके बिना महत्त्वपूर्ण भवनोंके यथार्थ सौन्दर्यकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। बड़े-बड़े भवनोंमें केवल दरवाजे और खिड़कियोंके किवाड़ोंके लिए ही नहीं अपितु पक्की भित्तियोंके सहारे भी भीतरकी ओर काष्ठ-खण्डोंका प्रयोग किया जाता है। उनके प्रयोगसे भवनोंका सौन्दर्य बहुत अधिक बढ़ जाता है। आधुनिक संसद भवनमें, राष्ट्रपति भवन आदिमें भी दीवारोंके सहारे काष्ठके खम्भों और दीवारोंके रूपमें लगे हुए काष्ठके तख्तोंका बहुत प्रयोग किया जाता है। यह सब केवल भवनोंके सौन्दर्याधानके लिए ही किया जाता है। इसी प्रकार यहाँ भरतमुनिने प्रेक्षागृहोंके निर्माणमें सौन्दर्य लानेके लिए दारुकर्मका विधान किया है। और यह षड्दारुकका विन्यास भी उसी दृष्टिसे किया गया है। इस प्रकारकी दारुकर्म या षड्दारुककी व्यवस्थासे प्रेक्षागृहोंका सौन्दर्य निश्चित रूपसे ही द्विगुणित हो जाता होगा। प्लास्टर की हुई दीवारोंमें भी उतना सौन्दर्य नहीं आ सकता है जितना कि उनके साथ दारुकर्मका प्रयोग होने पर आ सकता है ॥७५-७८॥

काष्ठविधिका वर्णन समाप्त करते हुए पिछली कारिकाके अन्तमें ही 'भित्तिकर्म प्रयोजयेत्' लिखकर भरतमुनिने अगले भित्तिकर्मका निर्देश किया है। उसीको कहते हैं—

भरत०—[भित्तिकर्ममें यह ध्यान रखें कि—] स्तम्भ या खूंटी अथवा झरोखा या कोना अथवा अवान्तर द्वार किसीको द्वारके सामने [द्वारविद्ध] न बनाना चाहिए ॥७९॥

अभिनव०—प्रतिद्वार अर्थात् अवान्तर द्वारको द्वारविद्ध न करे अर्थात् दोनों द्वारोंका मध्य भाग एक दूसरेके सम्मुख न होना चाहिए। नागदन्तका अर्थ खम्भेके ऊपरकी खूंटी है। जो पुतली [चित्रादि] के लगानेके लिए लगाई जाती है। कोई उसको गजमुख कहते हैं।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि आजकल जो मकान बनाए जाते हैं उनमें खिड़कियां, या खिड़की और दरवाजे या वातायन सदा आमने-सामने रखे जाते हैं जिससे वायुका आवागमन आर-पार हो सके। परन्तु यहाँ नाट्य-भवनमें अधिक वायुके आवागमनसे कार्यमें बाधा उपस्थित होनेके कारण दरवाजेके सामने दरवाजा या खिड़कीके सामने खिड़की आदिके बनानेका निषेध किया गया है। इसी कारण अगली ८१वीं कारिकामें 'मन्दवातायनोपेत' विशेषण का प्रयोग किया गया है ॥७९॥

---

१. धारणीयस प्रति। २. ठ म. द्वारविद्धम्। ३. स्तम्भोर्ध्वनीयस्थानं [नोऽस्माद्गकम्।

भरत०—कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः ।
मन्दवातायनोपेतो [1]निर्वातो [2]धीरशब्दवान् ॥८०॥

द्वे भूमी रङ्गपीठस्याधस्तनोपरितनरूपेणेति केचित् । मत्तवारणीवहिर्निर्गमन-प्रमाणेन सर्वतो द्वितीयभित्तिनिवेशेन [3]देवप्रसादाट्टालिका-प्रदक्षिणसदृशी द्वितीया भूमि-रित्यन्ये । उपरि मण्डपान्तरनिवेशनादित्यपरे । अद्विभूमिरित्येके । उपाध्यायास्तु वीप्सागर्भं व्याचक्षते । द्वे-द्वे भूमी [4]निम्ना, उन्नता, ततोऽप्युन्नता इति [5]निम्नोन्नतक्रमेण यत्र । रङ्गपीठनिकटात् प्रभृति द्वारपर्यन्त यावद्रङ्गपीठोत्सेधतुल्योत्सेधा भवति । एव हि परस्परानाच्छादन सामाजिकानाम्, शैलगुहाकारत्व, स्थिरशब्दादित्व च भवति । मन्दत्व वातायनाना जालकादियोगात् कार्यम् ॥८०॥

नाट्यमण्डपकी रचनाका प्रकार—

भरत०—पर्वतकी गुफाके समान दो प्रकारकी [अर्थात् पहिले नीची और फिर क्रमश. ऊची होती हुई] भूमिसे युक्त [अथवा दो-मजिला, अथवा बैठनेकेलिए मुख्य-मण्डपके चारो ओर बन्द बरामदासे युक्त] हलकी हवा पहुँचानेवाले वातायनोसे समन्वित, [तेज] वायुसे रहित, तथा गम्भीर शब्द करनेवाला नाट्य-मण्डप बनाना चाहिए ॥८०॥

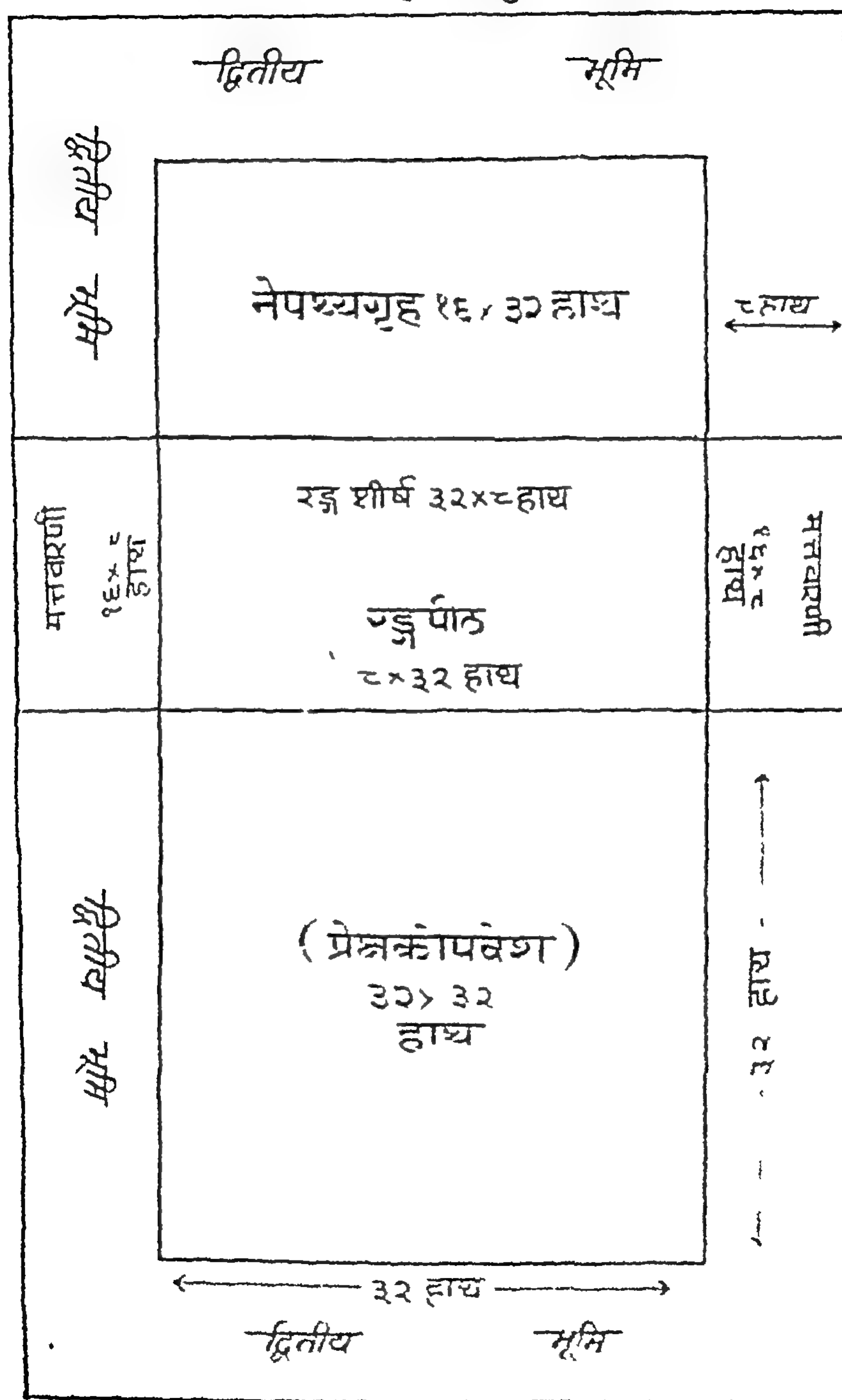
अभिनव०—[द्विभूमि शब्दका तीन प्रकारका अर्थ हो सकता है उसे क्रमशः कहते हैं] (१) दो भूमि अर्थात् रङ्गपीठके नीचे तथा ऊपरकी [भूमिसे युक्त] यह कोई [व्याख्याकार] कहते हैं। (२) मत्तवारणी जितनी मण्डपसे बाहर निकली हो उसीके बराबर दूसरी भित्ति बनाकर देवमन्दिरकी अट्टालिकाके चारो ओरकी परिक्रमा मार्गके समान दूसरी भूमि [से युक्त] यह अन्य लोग कहते है। (३) [मण्डपके] ऊपर दूसरी मजिलके बनानेसे [द्विभूमि नाट्य-मण्डप बनाना चाहिए] यह तीसरे [व्याख्याकारो] का मत है। कुछ [चौथे व्याख्याकार द्विभूमिके बजाय यहा] अद्विभूमि [एक-सी भूमिसे युक्त हो अथवा एक ही मजिलका हो] इस प्रकार कहते हैं [अर्थात् शैलगुहाकारो अद्विभूमि इस प्रकारका पदच्छेद करते हैं]। हमारे [अर्थात् अभिनव गुप्तके] उपाध्याय [अर्थात् गुरु भट्टतोत] तो [द्विभूमि पदकी] वीप्सा-गर्भ व्याख्या करते है। [वीप्सा-गर्भका अभिप्राय यह है कि वीप्सा अर्थमे द्वित्व हो जाता है इसलिए यहा] दो-दो प्रकारकी भूमि जिसमे हो अर्थात् क्रमसे नीची, फिर ऊची, फिर उससे भी ऊची, इस प्रकार रङ्गपीठके पाससे लगाकर द्वार तक रङ्गपीठके समान ऊचाई [अन्तमे] हो जाय। इस प्रकार बैठनेकी ऐसी व्यवस्था करनेसे (१) प्रेक्षकोको एक-दूसरीकी आड नही पडती है (२) पर्वत-गुफाके समान आकार भी बन जाता है और (३) स्थिर शब्द आदि भी बन जाता है। वातायनोकी मन्दता [उनमे] जाली आदिके [बनाने] के द्वारा करनी चाहिए ॥ ८० ॥

---

१ ठ म त निवातो। २ ठ म त धीर शब्दभाक्।
३ म भ देवप्रसादाद्दा [दट्टा] रिका। ४ म निम्नाते।
५ म भ निम्नमेण। ६ म, भ जालक्पान। जालकवात।

अभिनवगुप्तके अनुसार

द्विभूमियुक्त विकृष्ट मण्डप



श्री सुब्बाराव महोदय द्वारा प्रस्तुत नाटय-मण्डपके चित्र

विकृष्ट-मण्डप

चतुष्षष्टिकरान्कृत्वा
द्विधाभूतान् — पुनस्तान् पृष्ठतोभागमेवद्भागः
द्विधाभूतस्य तस्य तु
SOUTH
EAST 32H
WEST
भागः
विभाग
विभाग
प्रेक्षका गृह AUDITORIUM
रङ्गशीर्ष STAGE
नेपथ्यगृह GREEN ROOM
NORTH
समभर्द्धविभागेन
रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्
पश्चिमेच विभागे।
चनेपथ्य गृह मिष्यते
32H 16H 16H
32 H
64 H

चतुरस्र-मण्डप

32 HASTAS
16 HASTAS
WEST
EAST
NORTH
32 HASTAS

त्र्यस्र-मण्डप

कोण 2
मध्यकोण
32 हस्ताः
कोण 1
पार्श्वकोण
कोण 3
पार्श्वकोण

चतुरस्र-मण्डपका आभ्यन्तर दृश्य

कुर्यात् शैल गुहाकारः
रङ्ग
द्विभूमि
GROUND
षड्दारुक

भरत०—तस्मान्निवातः कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डप. ।
'गम्भीरस्वरता येन कुतुपस्य भविष्यति'॥ ८१ ॥

'कुतुप' सफेटक-गायकवादकसमूह'। कु-र्नाट्यभूमि, ता तपति उज्ज्वलयतीति कृत्वा। कुत शब्द पातीत्यन्ते। गम्भीरत्व तत्रैव शब्दस्य भ्रमणादन्योन्यप्रतिश्रुतिकार-समारम्भपूर्णत्वाच्च' ॥८१॥

भरत०—भित्तिकर्मविधिं कृत्वा भित्तिलेपं प्रदापयेत् ।
सुधाकर्म 'बहिस्तस्य विधातव्यं प्रयत्नतः ॥८२॥

भित्तिलेपो भग्नशङ्खवालुकाशुक्तिकालेप. ।

भरत०—'भित्तिष्वथ विलिप्तासु परिमृष्टासु सर्वतः' ।
समासु जातशोभासु चित्रकर्म प्रयोजयेत् ॥८३॥

निर्वात मण्डप—

भरत०—इसलिए कारिगरोंको [अथवा बनवाने वालोंको] नाट्य-मण्डप निवात [अर्थात् जिसमें अधिक वायुका प्रवेश न हो सके इस प्रकारका] बनाना चाहिए जिससे उसमें कतुपो [अर्थात् सम्भाषण करनेवालो तथा गायक-वादकों] के स्वरकी गम्भीरता बन सके। ८१।

अभिनव०—'कुतुप' का अर्थ सम्भाषण करने वालो तथा गायक एवं वादकोंका समूह है। [कुतुप-शब्दसे सम्भाषक गायक तथा वादकोंको ग्रहण क्यों होता है इसके स्पष्टीकरणके लिए 'कुतुप शब्दका अवयवार्थ दिखलाते हैं कि—] 'कु' अर्थात् नाट्य-भूमिको 'तपति' अर्थात् उज्ज्वल—शोभायमान—करता है [अर्थात् सम्भाषक गायक वादक आदिके द्वारा ही नाट्यभूमिकी शोभा होती है इसलिए वे सब मिलकर 'कुतुप' कहलाते हैं]। दूसरे व्याख्याकार [कुतप शब्दकी उत्पत्ति इस प्रकार करते हैं कि] 'कुत' अर्थात् शब्दकी 'पाति' रक्षा करता है। [इसलिए नाट्यमण्डप स्वय अथवा सभापक 'कुतुप' का समूह कहलाते हैं] यह [कुतुप शब्दका अर्थ है] कहते हैं। शब्दकी गम्भीरता उसी [नाट्य-मण्डप] के भीतर घूमनेके कारण, एक दूसरेकी प्रतिध्वनिको उत्पन्न करनेसे [मण्डपके] भर जानेके कारण [पूर्णत्वात्] होती है।

दीवारो पर प्लास्टर तथा सफेदी—

भरत०—भित्ति-रचनाकी विधिको समाप्त करके भित्तियोंपर भित्ति-लेप [अर्थात् प्लास्टर] करवावे। और उस [मण्डप] के बाहरकी ओर सफेदी सावधानीसे करावे ॥८२॥

अभिनव०—भित्तिलेप [अर्थात्] पिसे हुए शङ्ख बालू तथा शुक्तिका पलस्तर [करावे] ॥८२॥

भरत०—भित्तियोंपर पलस्तर हो जाने और उनकी घुटाई हो जानेके बाद उनके दम-दम चिकनी [समासु] और चमकदार [जातशोभासु] हो जाने पर उनपर चित्र रचना करवावे ॥८३॥

---

१. ज. न. गाम्भीर्यं सुस्वरत्व च। न सगम्भीर्यादवंस्वर्यम्। २. ठ म भवेदिह। ३ म भ पराप्त। ४ समारम्भसम्पूर्णा[illegible]। ५. ठ. विधिरतम्य। ८ म. तर्पदास्य पूर्णाद्वात्मन्। ६ ठ म. भित्तिष्वपि च लिप्तासु। न भित्तिकर्मसु लिप्तासु। ७. परिमृष्टासु सर्वतः

[1]चित्रकर्मणि चालेख्याः पुरुषाः स्त्रीजनास्तथा ।
[2]लताबन्धाश्च कर्तव्याश्चरितं चात्मभोगजम् ॥८४॥

लताबन्धा [3]द्रमिडाभिनयसन्निवेशा वा, मालत्यादिलतागता वातोद्यवेष्टनवैचित्र्यप्रकारा वा, वक्ष्यमाणपिण्डीबन्धप्रकारविशेषाश्च ॥८३-८४॥

एतदुपसहरति एव विकृष्टमिति—

भरत०—एवं विकृष्टं कर्तव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभि ।
[4]पुनरेव हि वक्ष्यामि चतुरश्रस्य लक्षणम् ॥ ८५ ॥

यद्यपि समचतुरश्रोऽत एव शक्य ऊहितु तथापि विस्पष्टार्थं वक्ष्यामीत्याशयेन पुन शब्देनोपक्रमते पुनरेवेति । ननु विकृष्टे स्तम्भविभागरङ्गयोजनादि नोक्त, तत् कथ

भरत०—और चित्र-रचनामे पुरुषों एव स्त्रियोके चित्र बनवावे और [कामशास्त्रमे वर्णित द्रमिड अभिनयकी रचना विशेष रूप] लताबन्ध, तथा अपने भोग-विलास [की रुचि] के अनुसार चरित्रोका चित्रण करवावे ॥८४॥

अभिनव०—लताबन्ध अर्थात् [कामशास्त्रोक्त] द्रमिड अभिनयके सन्निवेश, अथवा मालती आदिकी लताओके वायुसे हिलनेपर वृक्षोमे लिपटनेके प्रकार, अथवा आगे कहे जाने वाले [जाघो एव] पिडलियोके लपेटनेके प्रकार-विशेष [लताबन्ध कहलाते] है उनको भित्तियोपर चित्रित करवावे] ॥८४॥

२४वे श्लोकसे लेकर इस ८४वे श्लोक तक ६० श्लोकोमें ग्रन्थकारने विकृष्ट अर्थात् आयताकार नाट्य-मण्डपकी रचनाका बहुत विस्तारकेसाथ वर्णन किया है। इसमे पहिले रङ्ग-मण्डपकी बाह्य रूप-रेखा दी है। जिसमें प्रेक्षागृहकी ६४ हाथ लम्बाईका आधा भाग ३२ हाथ प्रेक्षकोंके बैठनेकेलिए छोड कर शेष आधेको नेपथ्यगृह रङ्गशीर्ष तथा रङ्गपीठ इन तीन भागोमें विभक्त किया है। फिर रगशीर्षके 'षड्दारुकत्व' का निरूपण किया उसके बाद मत्तवारणीके निर्माणकी चर्चा की है। फिर उसके दारुकर्म, भित्तिकर्म, चित्र-कर्म और द्विभूमिकत्व आदिका वर्णन किया है। अभी इसमे छतको रोकने के लिए जो खम्भे लगने हैं उनका वर्णन नही आया है। उसे आगे चतुरस्र-मण्डपके विधानमें कहेंगे। उनका सम्बन्ध यहा भी हो जावेगा। अगले श्लोकमें विकृष्ट मण्डपकी रचनाका उपसहार और चतुरस्र मण्डपकी अवतरणिका करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—'एव विकृष्ट' इत्यादि [अगले श्लोक] से इस [अर्थात् विकृष्ट आयताकार प्रेक्षागृहकी रचनाके विषय] का उपसहार करते है—

भरत०—प्रयोग करनेवालोंको विकृष्ट [अर्थात् आयताकार] नाट्य मण्डपकी रचना इस प्रकारसे [जो प्रकार कि ऊपर दिखलाया गया है] करनी चाहिए। अब आगे चतुरश्र [अर्थात् चौकोर वर्गाकार नाट्य-मण्डप] का लक्षण कहेंगे ॥८५॥

अभिनव०—यद्यपि इस [विकृष्ट-मण्डपकी रचना] से ही समचतुरस्र [अर्थात् वर्गाकार मण्डपकी रचना] का भी अनुमान किया जा सकता है फिर भी उसको स्पष्ट

---

१ च चित्रकर्माणि । २ त लतावद्धाश्च । ३ व द्रुमलतादिबन्ध सन्निवेशा या । ४ ठ म त अत परम् ।

प्रतिपत्तव्यमित्याशङ्कायां आवृत्यानेनैवोत्तरम्। चतुरश्रसम्बन्धि यल्लक्षणं तत्पुनर्यस्मा-द्वक्ष्यामो यदस्य[1] विकृष्टस्य सम्बन्धित्वेन, तस्मान्नापूर्णं विकृष्टलक्षणम्। तथा यदस्य लक्षणमुक्तं तच्चतुरश्रेऽपि सञ्चारणीयमिति पुन-शब्देन दर्शयति। तेन अतिदेश-अनागतापेक्षणाख्य दोषं तत्र परिहरति[2] ॥ ८५ ॥

चतुरश्रमाह—

भरत०—[3]समन्ततश्च कर्तव्यो हस्ता द्वात्रिंशदेव हि।
शुभभूमिविभागस्थो नाट्यज्ञैर्नाट्यमण्डप ॥ ८६ ॥

समन्तत इति सर्वेष्वन्तेषु चतसृष्वपि दिक्ष्वित्यर्थं ॥ ८६ ॥

करनेके लिए 'दुबारा कहूंगा' इस अभिप्रायसे 'पुनरेव' [हि वक्ष्यामि] इस 'पुनः' शब्दसे [चतुरस्र मण्डपके निर्णयका] प्रारम्भ करते हैं। [यहां यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि] विकृष्ट [की रचनाके प्रसंग] में [छतको रोकनेके लिए जिन खम्भोंके बनाने की आवश्यकता है उन] खम्भोंके विभागको और रंगयोजना [अर्थात् बैठनेकेलिए आसनादिकी व्यवस्था] को भी यहां नहीं कहा उनको कैसे समझा जायगा ? इस प्रकारकी शङ्का होनेपर इसी ['पुनरेव हि वक्ष्यामि'] की आवृति द्वारा [उसका] उत्तर भी कहा गया है। [इसका आशय यह है कि] चतुरस्र [मण्डप] सम्बन्धी जो लक्षण उसको फिर इस विकृष्ट [मंडप] के सम्बन्धी रूपमें कहेगे [अर्थात् चतुरस-मडपके विषयमें जो स्तम्भ-विभाग तथा आसन-व्यवस्था कही जायगी उसे विकृष्ट-मंडपमे भी लागू कर लेना चाहिए]। इसलिए विकृष्टका लक्षण अपूर्ण नहीं रहता है। और इस [विकृष्ट-मण्डप] का जो लक्षण है उसे चतुरस्रमे भी लागू करना चाहिए यह बात भी पुन शब्दसे दिखलाई है। इसके द्वारा चतुरस्रके लक्षणको विकृष्टमे तथा विकृष्टके लक्षणको चतुरस्रमें भी लागू कर लेना चाहिए इस बातके 'पुन.' शब्द द्वारा स्पष्ट रूपसे कह देनेके कारण] उसमें अतिदेश [अर्थात् अन्य-के धर्मका अन्यत्र सम्बन्ध करना] तथा अनागतापेक्षण [अर्थात् आगे आने वाले चतुरस्रके लक्षणने स्तम्भ-विभाग तथा आसन-व्यवस्थाके प्रथम कथित विकृष्टमण्डपमें ग्रहण करने] के दोषोंका उसमे [अर्थात् विकृष्ट-मण्डपके लक्षणमें] परिहार हो जाता है ॥८५॥

वर्गाकार चतुरस्र नाट्य-मण्डप—

अभिनव०—चौकोर [वर्गाकार मण्डप] को 'समन्तत' इत्यादि [अगले श्लोको] से कहते हैं—

भरत०—नाट्यके जाननेवालोंको पवित्र भूमि-खण्डमे [स्थित] चारों ओरसे ही बत्तीस हाथका [चतुरस्र वर्गाकार] नाट्य मण्डप बनाना चाहिए ॥८६॥

अभिनव०—'समन्ततः' सब ओर अर्थात् चारों ही दिशाओंमें [बत्तीस-बत्तीस हाथका वर्गाकार चौकोर नाट्य-मण्टप बनाना चाहिए] यह अभिप्राय है ॥ ८६ ॥

---

१. म. भ यदस्य। पदस्य। २ म भ तत्र पुरानि [योजयति]।
३. ठ. म त. समन्ततस्तु कर्तव्यो हस्तो।

[प्रक्षिप्त—यो विधि पूर्वमुक्तस्तु लक्षण 'मङ्गलानि च ।
विकृष्टे तान्यशेषाणि चतुरश्रेऽपि कारयेत् ॥ ८७ ॥]

भरत०—चतुरश्र सम कृत्वा सूत्रेण प्रविभज्य च ।
वाह्यत सर्वत कार्या भित्ति 'श्लिष्टेष्टका दृढा ॥ ८८ ॥

प्रविभज्य चेति पूर्ववदेवेत्यर्थ ॥ ८८ ॥

प्रक्षिप्त श्लोक—इस श्लोकके बाद मूल नाट्यशास्त्रमें 'यो विधि' इत्यादि एक श्लोक और पाया जाता है—परन्तु इसपर अभिनवगुप्तने कोई व्याख्या नही लिखी है। इसलिए यह श्लोक प्रक्षिप्त है ऐसा मान कर हमने उसको यहां कोष्ठमें दिया है। उसका अर्थ निम्न प्रकार है।

[प्रक्षिप्त०—जो विधान, लक्षण, और मगल आदि पहिले विकृष्ट [नाट्य मण्डपके प्रकरण] में कहे जा चुके हैं उन सबको [उसी प्रकार से] चतुरस्र [नाट्य-मण्डपके बनाते समय] में भी करवाए ॥८७॥

इसका अभिप्राय यह हुआ कि विकृष्ट-मण्डपकी रचनामे जो-जो बातें कही ला चुकी है उनको चतुरस्र-मण्डपकी रचना भी समझ लेना चाहिए। उनके यहाँ दोहराए जानेकी आवश्यकता नही है। जो बातें वहाँ छोड दी थी उनको यहाँ चतुरस्र मण्डपके प्रकरणमें लिखेंगे। वे छूटी हुई बातें मुख्यत दो हैं। एक स्तम्भविधि और दूसरी आसनविधि। स्तम्भविधिका अभिप्राय यह है कि नाट्य मण्डपकी छतको रोकनेकेलिए मण्डपके भीतर खम्भे खडे करनेकी व्यवस्था करनी होगी। खम्भे खडे करनेका सामान्य विधान और चारो कोनेपर खडे किए जाने वाले ब्राह्मण-स्तम्भ आदि चार स्तम्भोका वर्णन तो निकृष्ट-मण्डपकी रचनामें भी हो चुका है। किन्तु यहाँ छतके रोकनेकी दृष्टिसे मण्डपके भीतर कहाँ-कहाँपर और कितने खम्भे लगाने चाहिए इस बातका विस्तार पूर्वक वर्णन करेगे। इसका वर्णन पहिले नही किया गया है। इसी प्रकार 'आसन विधि' अर्थात् मण्डपके भीतर प्रेक्षकोके बैठनेकी व्यवस्था किस प्रकार की जाय इसका भी वर्णन पहिले नही हुआ है। उसे भी यहा कहेगे। ये दो बातें चतुरस्र मण्डप के प्रसङ्गमें विशेष रूपसे कहनी है। वे विकृष्ट मण्डपके प्रकरणमें नही कही गई है। इसलिए उनको विकृष्ट मण्डपमें भी उचित रूपसे जोड लेना चाहिए। जितनी प्रक्रिया विकृष्ट-मण्डपके प्रसङ्गमें लिखी जा चुकी है उसे यहाँ दुवारा नही लिखेंगे। विकृष्ट-मण्डपके अनुसार ही चतुरस्र-मण्डपमें उसको समझ लेना चाहिए।

भरत०—चतुरस्र [क्षेत्र] को वरावर करके और फीते [सूत्र] से [चारो ओर ३२×३२ हाथ वरावर-वरावर प्रविभज्य] नाप कर उसके वाहरकी ओर चारो ओर [विकृष्टके विधानके अनुसार] पक्की ईंटोकी मजवूत दीवार वनवा दे ॥८८॥

अभिनव०—'प्रविभजय च' अर्थात् पहिलेके समान [३२×३२ हाथ नाप कर पक्की दीवार वनवा दे] यह अभिप्राय है ॥ ८८ ॥

चतुरस्र मण्डपमे स्तम्भ व्यवस्था—

अव चतुरस्र मण्डपमे कहाँ-कहाँ और कितने खम्भे खडे करने चाहिए इस वातको आगे दिखलावेगे। खम्भोकी यह व्यवस्था भरतमुनिने तीन वारमे की है। पहिली वारमें दश खम्भोका विधान ९८वे श्लोकमे दिया है। उसके वाद छ स्तम्भोका विधान ९३वें श्लोकमें और आठ स्तम्भोका विधान ९६वे श्लोकमें दिया है। इस प्रकार १०+६+८=२४ चौवीस स्तम्भ

---

१ ठ मण्डपानि च। म मण्डपानि च। २ ठ म व चतुरस्रस्य तान्येव कारयेन्नाट्यवेश्मन।
३ ष श्लिष्टष्टकादय।

यदि वाह्यतो भित्तिरभ्यन्तरे किमित्याह तत्राभ्यन्तर इति—

भरत०—'तत्राभ्यन्तरतः कार्या रङ्गपीठोपरि स्थिता ।
दश प्रयोक्तृभिः स्तम्भा ²शस्ता मण्डपधारणे ॥ ८९ ॥

चतुरस्र मण्डपके भीतर लगते हैं। इसके पहिले मण्डपके वाहरी कोनोंपर ब्राह्मण, आदि स्तम्भोंके नामसे चार स्तम्भोका विधान विस्तार पूर्वक किया जा चुका है। उनको मिला कर इन स्तम्भों की सख्या २८ हो जाती है। इनमेंसे मडपके भीतर लगने वाले २४ स्तम्भोंको मण्डपके भीतर कहां-कहां और किस प्रकार लगाया जाय इसके विषयमें प्राचीन टीकाकारोंके अनेक मत पाए जाते हैं। इनमेंसे (१) शङ्कुक, (२) 'अन्य' भट्ट लोल्लटादि, (३) वार्तिककार और (४) 'उपाध्याय भट्टतोत इन चारके मतोका अभिनवगुप्तने यहां विशेष रूपसे उल्लेख किया है। उनमेंसे सबसे पहिले शङ्कुकके मतके अनुसार स्तम्भ व्यवस्थाका स्वरूप दिखलावेंगे। इसमें भी सबसे पहिले दश स्तम्भोंके स्थानका निर्धारण इस ८९ वें श्लोकमें करते हैं।

अभिनव०—यदि वाहरकी ओर दीवार [वनवा दी जाय] तो फिर भीतर क्या करे यह वात 'तत्राभ्यन्तरत' इत्यादि [अगले श्लोकसे] कहते हैं—

भरत०—उसमें भीतरकी ओर [मत्तवारणी सहित] रङ्गपीठ पर [अर्थात् रङ्गपीठके समीप] मण्डपको धारण करनेमे समर्थ दस खम्भे प्रयोक्ताओंको खड़े करने चाहिए ॥८९॥

शङ्कुकके मतानुसार चतुरस्र मण्डपका क्षेत्र विभाजन—

जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है भरत मुनिने नाट्यमण्डपके भीतर लगाए जाने वाले २४ स्तम्भोके १०, ६, ८ के तीन भागोंमें विभक्त कर तीन वारमें लगानेका विधान किया है। किस वारमें कौन-कौन स्तम्भ कहां और कैसे लगाने चाहिए इस बातको खूब खोल कर स्पष्ट रूपसे समझानेका सबसे अच्छा प्रयत्न भरतके व्याख्याकार 'शङ्कुक' ने किया है। इसीलिए अभिनव गुप्तने सबसे पहिले 'शङ्कुक' के मतानुसार ही स्तम्भ व्यवस्थाको यहां प्रस्तुत करनेका यत्न किया है। 'शङ्कुक' ने स्तम्भोके स्थानोको ठीक तरहसे समझानेके लिए रङ्गमण्डपके क्षेत्रको पहिले ६४ वर्गाकार समभागोमें विभक्त कर लिया है। ३२×३२ हाथके रङ्गमण्डपके सम्पूर्ण क्षेत्रको ६४ वर्गाकार समभागोमें विभक्त करनेके लिए उन्होने ३२×३२ हाथ वाले क्षेत्रको चारो ओरसे आठ-आठ भागोंमें वांट दिया है। इस प्रकार वांट देनेसे सारा क्षेत्र ४×४ हाथके आकार वाले ६४ वर्गाकार सम भागोंमें विभक्त हो जाता है।

इस क्षेत्र विभाजनके वाद 'शङ्कुक' ने स्तम्भोके स्थानोंकी चर्चा करनेके पहिले रङ्ग-मण्डपके भीतरी भागमें बनाए जाने वाले रङ्गपीठ, रङ्गशीर्ष और नेपथ्यगृहके स्थानका निर्धारण किया है। मत्तवारणी भी यद्यपि रङ्गमण्डपका एक प्रमुख भाग है किन्तु उसकी रचना रङ्गमण्डप के भीतरकी ओर नही अपितु उसके वाहरकी ओर होती है इसलिए 'शङ्कुक' ने रङ्गमण्डपके भीतरी भागमें बनाए जाने वाले रङ्गपीठ आदि प्रमुख भागोंके स्थान-निर्धारणके प्रसङ्गमें उसकी कोई चर्चा नहीं की है।

रङ्गमण्डपके मुख्य भागोंके स्थानका निर्धारण करते समय शंकुकने सबसे पहिले रङ्ग-पीठका स्थान निर्धारित करनेका यत्न किया है। वैसे तो रंगपीठ, रंगशीर्ष आदिके स्थानका

---

१. न. कृताभ्यन्तरतः कार्यं रङ्गपीठं यथाविधि । ठ. म. त. रङ्गपीठे यथाविधि ।
२. प. शस्ता मण्डपलक्षणे । न. शुभा मण्डपधारिणः । त. शस्या मण्डपरक्षणे ।

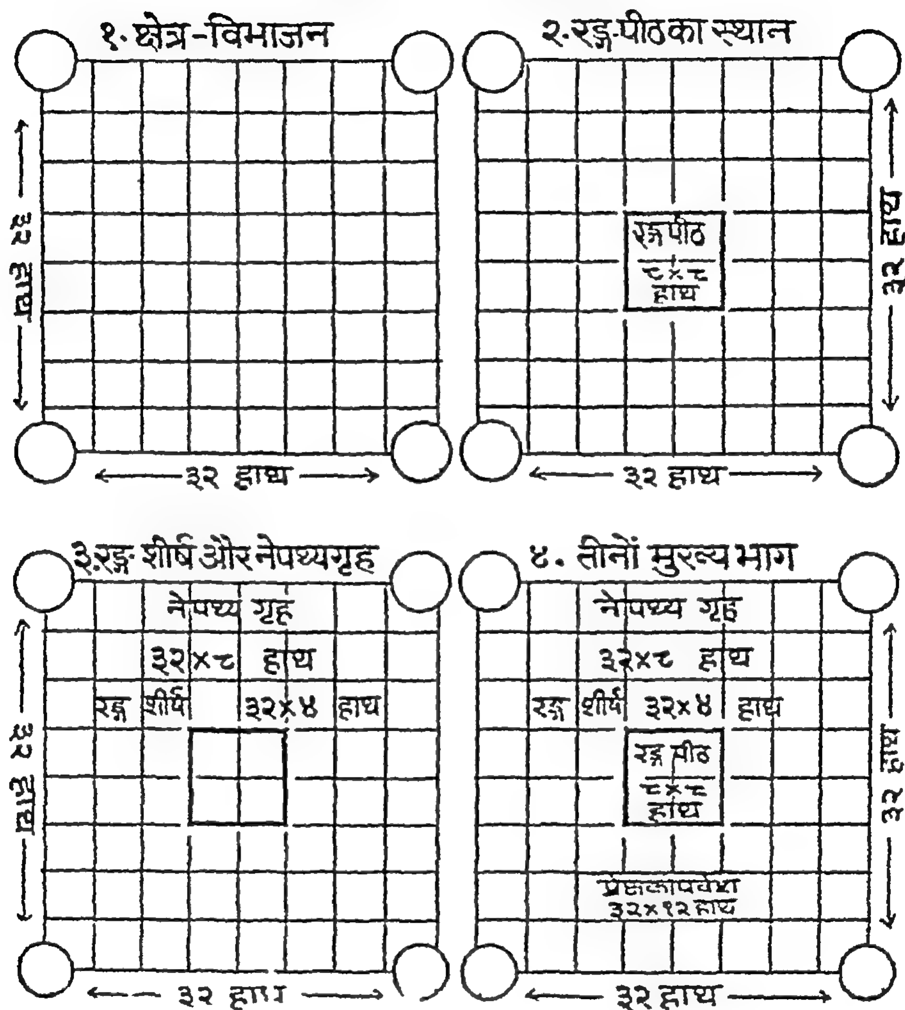
निर्धारण विकृष्ट-मण्डपके प्रसगमें भी किया जा चुका है। किन्तु उसका उपयोग चतुरस्र-मण्डपमें नही किया गया है। चतुरस्र-मण्डपके रगपीठकी रचना विकृष्ट-मण्डपसे बिल्कुल भिन्न प्रकारकी है। ६४×३२ हाथके आयताकार विकृष्ट मण्डपमें ३२×३२ हाथका आधा भाग प्रेक्षकोके वैठनेकेलिए छोड देनेके वाद पिछले आधे भागमें ८×३२ हाथका रगपीठ, ८×३२ हाथका रगशीर्ष और १६×३२ हाथका नेपथ्यगृह बनानेका विधान किया गया था। पर यहाँ चतुरस्र-मण्डपमें उस नीतिका अवलम्बन नही किया गया है। विकृष्ट मण्डपके रगपीठका आकार भी ८×३२ हाथ आयताकार था। परन्तु चतुरस्र-मण्डपके रगपीठका आकार वर्गाकार है, आयताकार नही। इसलिए 'शकुक' ने उपर्युक्त विधिसे ६४ सम भागोमें विभक्त किए हुए क्षेत्रके ठीक मध्यवर्ती भागमें चार कोष्ठोको लेकर ८×८ हाथका चतुरस्र-रगपीठ बनानेका विधान किया है। मध्यभागमें रगपीठके वनानेसे सामनेकी ओर प्रेक्षकोके वैठनेके लिए आधेसे कम भाग शेष रह जाता है। विकृष्ट मण्डपमें रगपीठके सामने आधा भाग प्रेक्षकोके वैठनेके लिए रखा गया था। उसी प्रकार यदि चतुरस्र मण्डपमें भी रगपीठके सामने आधा भाग प्रेक्षकोके वैठनेकेलिए रखा जाय तो रगपीठके सामनेकी ओर १६×३२ का क्षेत्र छोडना चाहिए। परन्तु ठीक मध्यमें ८×८ हाथका वर्गाकार रगपीठ वना देनेपर रगपीठके सामनेकी ओर केवल १२×३२ हाथका स्थान प्रेक्षकोके वैठने के लिए शेष रह जाता है। अर्थात् ३२×४=१२८ वर्ग हाथ जगह कम हो जाती है। इसके वदले मध्यभागमें वने हुए ८×८ हाथके वर्गाकार रगपीठके दोनो ओर १२×८—९६ वर्ग हाथ का स्थान रिक्त रह जाता है। दोनो ओरके इस छियानवे वर्ग हाथके क्षेत्रको जोड दे तो ९६+९६ =१९२ वर्ग हाथका क्षेत्र वच रहता है। इसका प्रेक्षकोके वैठनेकेलिए उपयोग करनेपर उस कमीकी पूर्ति हो जाती है।

रग-मण्डपके मध्यभागमें ८×८ हाथका रगपीठ बनानेपर जैसे सामनेकी ओर ३२×१२ हाथका क्षेत्र वचता है इसी प्रकार रगपीठके पीछेकी ओर भी ३२×१२ हाथका क्षेत्र वचता है। आगे वाला क्षेत्र प्रेक्षकोके वैठनेके काममें आता है। तो पिछले क्षेत्रमें रगशीर्ष तथा नेपथ्यगृहकी रचना होती है। पीछे वाले इस ३२×१२ हाथके क्षेत्रमेसे रगपीठके पास वाला जो ३२×४ हाथका क्षेत्र है उसको शकुकने रगशीर्षके निर्माणकेलिए, और उसके पीछे के ३२×८ हाथके अवशिष्ट सारे क्षेत्रको नेपथ्यगृहके निर्माणकेलिए निर्धारित किया है।

इस प्रकार चतुरस्र-मण्टपका ३२×३२ हाथका सारा क्षेत्र चार भागोमें विभक्त हो जाता है। वीचमें ८×८ हाथका रगपीठ है। उसके पीछे ३२×४ हाथका रगशीर्ष, और उसके भी पीछे ३२×८ हाथका नेपथ्यगृह वनता है। शेष भाग प्रेक्षकोके वैठनेके लिए रह जाता है।

शकुकके मतानुसार किए गए रगमण्डपके इस क्षेत्र विभाजनको प्रदर्शित करनेकेलिए हमने एक चित्र फलक प्रस्तुत किया है। इसके भीतर चार छोटे छोटे चित्र हैं। इनमेंसे पहिले चित्रमें सारे क्षेत्रको वर्गाकार ६४ भागोमे विभक्त करके दिखलाया गया है। दूसरे चित्रमें रग-मण्डपके ठीक मध्य भागमें ८×८ हाथके रगपीठके स्थानका निर्धारण किया गया है। तीसरे चित्र में ३२×४ के रगशीर्ष तथा ३२×८ हाथके नेपथ्यगृहका स्थान निर्धारित किया गया है। और चौथे चित्रमें प्रेक्षकोपवेश सहित सव भागोको इकट्ठा दिखलाया गया है। चित्रोके चारो कोनो पर जो ० गोलाकार चिन्ह वने है वे विकृष्ट मण्टपमें कहे हुए ब्राह्मण स्तम्भ आदि चारो स्तम्भोके स्थान हैं।

(१) चतुरस्र-मण्डपके विविध भागोंका स्थान-निर्धारण



शंकुक द्वारा किए गए क्षेत्र विभाजनको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें निम्न प्रकार दिखलाते हैं—

अष्टभिर्भागैः सर्वतः क्षेत्रं विभजेत्, येन चतुरङ्गफलकवच्चतुष्षष्टिकोष्ठं भवति । तत्र मध्यमकोष्ठचतुष्के रङ्गपीठं सर्वतोऽष्टहस्तं कुर्यात् । तस्य पश्चिमे भागे प्राक्-पश्चिमं द्वादशहस्तं, दक्षिणोत्तरतो द्वात्रिंशत्करं तत् क्षेत्रमवशिष्यते । अत्र यद् रङ्ग-पीठेन स्वीकृतं तद्धि हस्ताष्टकमेव । यदवशिष्टं क्षेत्रं तन्मध्याद्रङ्गपीठनिकटगतं प्राक्-पश्चिमतश्चतुर्हस्तं विस्तारेण द्वात्रिंशद्धस्तं क्षेत्रांशं विभज्य तावत्प्रमाणमेव पश्चिमभागे षड्दारुकसंस्थानं रङ्गशिरः कुर्यात् । ततोऽपि पश्चिमे 'यावदवशिष्टं तावदेव नेपथ्य-गृहम्' ।

एवं स्थिते रङ्गपीठं लक्षयित्वा दश स्तम्भाः षड्दारुकस्तम्भव्यतिरिक्ता देयाः । तत्र कोणचतुष्टये तावच्चत्वारः । तत्राग्नेयस्तम्भाच्चतुर्हस्तान्तरो दक्षिणदिश्येकः स्तम्भः । तथैव नैर्ऋतस्तम्भाद् द्वितीयः । एवमुदीच्यामपि स्तम्भद्वयम् । पूर्वभागे ऐशानाग्निगतात् स्तम्भद्वयात् चतुर्हस्तान्तरं स्तम्भद्वयमिति षट्, कोणगाश्चत्वार इति ये दश त एव ।

अभिनव—[चतुरस्र-मण्डपके ३२×३२ हाथ वाले] क्षेत्रको चारो ओरसे आठ आठ भागोमे बाट ले जिससे [शतरंज या] चौपड़के तख्तेके समान चौंसठ कोष्ठ वाला [क्षेत्र] बन जाता है। उसमे बीचके चार कोष्ठोमे चारो ओरसे आठ-आठ हाथ का [वर्गाकार ही] रंगपीठ बनावे। उसके पश्चिम [पीछे] की ओर पूर्व-पश्चिम बारह हाथका और उत्तर-दक्षिण बत्तीस हाथका वह क्षेत्र बच रहता है। इसमे रङ्गपीठके भीतर जो भाग आया है वह केवल आठ हाथका ही है। जो [१२×३२ हाथका] क्षेत्र [पीछेकी ओर] बचा है उसमेसे रङ्गपीठके समीपका पूर्व-पश्चिम चार हाथका और चौडाईमे [विस्तारेण उत्तर-दक्षिण] ३२ हाथके क्षेत्रको लेकर [रंगपीठसे] पश्चिमकी ओर उतने ही बडे [४×३२ हाथके] षड्दारुकवाले रंगशीर्षकी रचना करावे। और उससे भी पश्चिममे जितना भाग [८×३२ हाथ का] बचा है उस सबका [अर्थात् ८×३२ हाथका] नेपथ्यगृह बनावे।

शंकुकके मतानुसार प्रथम वारके दस स्तम्भोकी व्याख्या—

इस प्रकार रंगमण्डपमे उसके प्रमुख भागोका स्थान नियत कर चुकने के बाद शंकुकके मतसे भरतमुनि प्रतिपादित प्रथम दस स्तम्भोका स्थान नियत करनेका यत्न करते हैं।

अभिनव०—इस प्रकार [रङ्गपीठ, रङ्गशीर्ष तथा नेपथ्यगृहकी रचना] हो जानेपर रङ्गपीठको ध्यानमे रखकर [अर्थात् रङ्गपीठको केन्द्र मानकर उसके समीप] षड्दारुक-स्तम्भोसे भिन्न दस खम्भे [आगे कहे हुए प्रकारसे] लगाने चाहिए। उन [दस खम्भो] मेसे पहिले चार खम्भे [रङ्गपीठके] चार कोनोमे लगावे। फिर उन मेसे [पूर्व-दक्षिण कोणमे स्थित] आग्नेय स्तम्भसे चार हाथके अन्तरपर दक्षिणकी ओर एक [पाचवा] खम्भा रखे। इसी प्रकार [दक्षिण-पश्चिम-कोणमे स्थित] नैर्ऋत-स्तम्भसे [दक्षिणकी ओर चार हाथपर] दूसरा [छठा] खम्भा रखे। इसी

१ नास्ति। २ क्षेत्रासाद्विभाज्य ३ 'यावदवशिष्टं' नास्ति। ४ नेपथ्य ग्रहणम्।

भरत०—स्तम्भानां वाह्यतश्चापि [1]सोपानाकृति पीठकम् ।
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम् ॥९०॥
हस्तप्रमाणैरुत्सेधै-र्भूमिभागसमुत्थितैः ।
रङ्गपीठावलोक्यं तु [3]कुर्यादासनजं विधिम् ॥९१॥

वहि सामाजिकासनानि, सर्वेभ्यो वा वहि, अतिसामीप्ये दृष्टिविघातात् । अत एव आह रङ्गपीठावलोकने साधुभूतमिति । अनेन द्विभूमित्वमेवानुसहितम् ॥९०-९१॥

अन्तरे स्तम्भविधिमाह षडन्यानिति—

भरत०—[4]षडन्यानन्तरे चैव पुनः स्तम्भान् [5]यथादिशम् ।
विधिना [6]स्थापयेत् तज्ज्ञो दृढाम् मण्डपधारणे ॥९२॥

रङ्गपीठस्य दक्षिणतो निवेशितस्तम्भद्वयात् चतुर्हस्तान्तरौ अन्योन्यमष्टहस्तान्तरौ द्वौ, तत आग्नेयस्तम्भसम्मुखो योऽन्यस्तु पूर्व. स्तम्भ, ततश्चतुर्हस्तान्तर दक्षिण-

---

प्रकार उत्तरकी ओर भी [ईशानकोणके स्तम्भसे तथा वायव्य कोणके स्तम्भ से उत्तर की ओर चार-चार हाथ पर दो स्तम्भ लगाना चाहिए] । पूर्वकी ओर ईशान [पूर्व-उत्तरके वीचका कोण] तथा आग्नेय [पूर्व-दक्षिणके वीचका] कोणमे स्थित दोनो स्तम्भोसे चार हाथके अन्तरपर पूर्वकी ओर दो स्तम्भ [लगावे] । इस प्रकार छह ये, और चार [रङ्गपीठके चारो] कोनोके इस प्रकार मिला कर दश हो जाते हैं ॥८९॥

आसन व्यवस्था—

भरत०—और स्तम्भोंके वाहरकी ओर प्रेक्षकोंके वैठनेकेलिए ईंटों तथा लकडी आदिसे सीढियोंके सामान आकृतिमे पीठ वनावे । ९१ ।

भरत०—भूमि-भागसे एक हाथ ऊपर उठे हुए आसनोंका निर्माण करे जहांसे कि रंगपीठ भली प्रकार दिखलाई दे सके । ९१ ।

अभिनव०[इन दश स्तम्भोंके] वाहरकी ओर सामाजिकोंके आसन वनावे । अथवा [आगे कहेजाने वाले अन्य] सव स्तम्भो के वाहर आसन वनावे क्योंकिअत्यन्त समीप होनेसे देखनेमे वाधा होती है । इस लिए 'रङ्गपीठावलोक्य' 'जहासे रङ्गपीठ भली प्रकार दिखाई दे' यह कहा है । इससे द्विभूमिकत्वकी ही पुष्टि होती है ॥९०-९१॥

शङ्कुकके मतानुसार द्वितीयवारके छह स्तम्भोंकी व्याख्या—

अभिनव०—वीचके अन्य स्तम्भोको विधिको 'षडन्यान्' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते है—

भरत०—और फिर उस [स्तम्भविधि] को जानने वाला कारीगर उचित दिशाओंमे मण्डपको धारण करनेमे समर्थ छह अन्य मजवूत स्तम्भोंको लगावे । ९२ ।

अभिनव—रङ्गपीठके दक्षिणकी ओर लगाए गए दोनो स्तम्भोंसे चार-चार हाथके अन्तर पर और एक-दूसरेसे आठ हाथके अन्तर पर दो, और दक्षिण-पूर्वसे

---

१. द म वाह्यत स्थाप्यम । २. त. सोपानकृतपीठकम् । म. सोपानकृति पीठकम् ।
३. ठ म कुर्यादासनिक विधिम् । ४ ग षडन्यान् दद्यात् । ५ म यथादरम् ।
६. क धारयेत्तु तज्ज्ञो । ठ म स्थापयेत् प्राज्ञो गुरुः मण्डप ।

स्तम्भ कुर्यादिति पूर्वन्यस्ताना वक्षिणस्तम्भाना दक्षिणभित्तेश्चान्तराले स्तम्भत्रयम् । एवमुत्तरस्यामपि ॥९२॥

भरत०—अष्टौ स्तम्भान् पुनश्चैव तेषामुपरि कल्पयेत्[1] ।

विद्धास्यमष्टहस्तं च पीठं तेषु ततो न्यसेत्[2] ॥ ९३ ॥

तेषामुपरीत्यधिकानष्टौ दद्यात् । तत्र दक्षिणभित्तेरुदग्भागे चतुर्हस्तान्तर पूर्वस्थापितस्तम्भाद् भित्तेश्चैक स्तम्भ दद्यात् पूर्वम् । एवमुत्तरभित्तेर्दक्षिणभागे । तत पूर्वभित्तेश्चतुर्हस्तान्तरौ रङ्गभागद्वयानुसारेण द्वौ, ततोऽपि चतुर्हस्तान्तरौ द्वौ द्वौ इत्यष्टौ ।

विद्धमास्य मुख यस्य तत् । पद्मादिविरचितमुखस्तम्भेष्वष्टहस्त पीठ निक्षिपेत् । विद्धास्यस्योपरि हस्तप्रमाणधारिणीना तुलाना धारका स्तम्भाश्रया ।

आग्नेय स्तम्भके सामने जो दूसरा पूर्वका स्तम्भ है उससे चार हाथकी दूरीपर दक्षिणकी ओर दक्षिण-स्तम्भको लगावे । इस प्रकार पहिले स्थापित किए हुए दश स्तम्भोमेसे दक्षिणकी ओर स्तम्भो तथा दक्षिण-भित्तिके बीचमे तीन स्तम्भ हुए । इसी प्रकार उत्तरकी ओर भी [रङ्गपीठके उत्तरकी ओर लगे हुए दो स्तम्भोसे चार-चार हाथके अन्तरपर उत्तर दिशामे दो स्तम्भ तथा ईशानकोणमे स्थितके स्तम्भसे पूर्वकी ओर जो चार हाथपर स्तम्भ लगा था उससे चार हाथ उत्तरकी ओर तीसरा स्तम्भ लगावे । इस प्रकार ये छह स्तम्भ हो गए] ॥ ९२ ॥

शकुक मतसे अगले आठ स्तम्भोंकी व्यवस्था—

भरत०—उनके बाद फिर आठ स्तम्भ और भी लगावे उनके ऊपर आठ आठ हाथोंके शहतीर [पीठ] जिनके मुख एक दूसरे के भीतर घुसे हुए हों [विद्धास्य] रखे । ९३ ।

अभिनव०—उनके बाद आठ स्तम्भ और अधिक लगावे । [उनके स्थानका विवरण इस प्रकार होगा कि—] उनमेसे दक्षिण भित्तिके उत्तरकी ओर पहिले स्थापित किए हुए [छ स्तम्भोमेसे तृतीय] स्तम्भ तथा दक्षिण-भित्ति दोनोसे चार हाथके अन्तरपर एक स्तम्भ पूर्वकी ओर लगावे । इसी प्रकार उत्तरकी दीवारसे दक्षिणकी ओर [पूर्व लगे छटे स्तम्भ और उत्तर-भित्ति दोनोसे चार हाथकी दूरीपर दूसरा स्तम्भ लगावे] । उसके बाद पूर्वकी दीवार से चार हाथकी दूरीपर रगके दो भाग मान कर उनके आनुरूप्यसे दो, और फिर उनसे भी चार-चार हाथके अन्तर पर दो-दो स्तम्भ लगावे । इस प्रकार ये आठ [स्तम्भ] हो जाते हैं ।

जिनके मुख एक-दूसरेके भीतर घुसे हुए हैं इस प्रकारके आठ-आठ हाथके शहतीर पद्म आदि रूपमे बने हुए मुखोसे युक्त इन स्तम्भोके ऊपर रखे । और मुखोके जोडके ऊपर एक-एक हाथकी तुलाओ [अर्थात् तोडो] को रोकने वाले काष्ट खण्ड स्तम्भोके ऊपर रखे ।

---

१ ठ म धारयेत् । २ ठ म सस्थाप्य च पुन पीठमष्टहस्तप्रमाणत । ड विद्धास्य च पुन पीठमष्टौ हस्तप्रमाणत ।

इति चतुरश्रे स्तम्भविधि.। तमेव विकृष्टे त्रिकोणेषु च स्वबुद्ध्या योजयेदिति श्री शङ्कुकाद्या ।

यह चतुरस्र [मण्डप] में स्तम्भोका विधान हुआ। इसीको विकृष्ट तथा त्रिकोण मण्डपोमे भी अपनी बुद्धिके अनुसार समन्वय करके ठीक तरहसे लगावे यह श्री शंकुक आदि [प्राचीन टीकाकारो] का मत है।

शकुकमतसे प्रथम दशस्तम्भ—

अभिनव गुप्तने स्तम्भ व्यवस्थाके विषयमें सबसे पहिले जो यह शकुक का मत दिया है। उसको कुछ और खोलकर समझानेकी आवश्यकता है। भरतमुनिने सबसे पहिले दश स्तम्भोंके लगानेका विधान करते हुए लिखा है—

तत्राभ्यन्तरन्त. कार्या रङ्गपीठोपरि स्थिता:
दश प्रयोक्तृभि स्तम्भाः शक्ता मण्डपधारणे॥ २-६०॥

अर्थात् नाट्यमण्डपके भीतर और रङ्गपीठके ऊपर मण्डप [की छत] को धारण करनेमें समर्थ उत्तम दस स्तम्भ लगाने चाहिए। यहाँ भरत मुनिने रङ्गपीठ के ऊपर दस स्तम्भोंके लगानेकी बात लिखी है। परन्तु चतुरस्र मण्डपका रङ्गपीठ तो केवल आठ हाथ लम्बा और आठ हाथ चौडा है। उस पर तो दस स्तम्भ लगनेकी सम्भावना नहीं है। इसलिए व्याख्याकार [शकुक] ने 'रगपीठोपरिस्थिता' का अर्थ 'रगपीठ लक्षयित्वा' किया है अर्थात् 'रगपीठ' को ध्यानमें रखकर, 'रगपीठ' को केन्द्र मान कर उसके आस-पास दस स्तम्भोंकी स्थापना करनी चाहिए। यह इस भरत-वचनका अर्थ शकुकने लगाया है। उसके अनुसार उन्होंने रगपीठके आस-पास इन दस स्तम्भोंके लगानेकी व्यवस्था दिखलाते हुए लिखा है—

(४) तत्र कोण चतुष्टये तावच्चत्वारः।
(१) तत्राग्नेय स्तम्भाच्चतुर्हस्तान्तरो दक्षिण दिश्येक ।
(१) तथैव नैर्ऋतस्तम्भाद् द्वितीय ।
(२) एवमुदीच्यामपि स्तम्भद्वयम्।
(२) पूर्वभागे ऐशानाग्निगतान् स्तम्भद्वयाच्चतुर्हस्तान्तर स्तम्भद्वयमिति षट्। कोणगताश्चत्वार इति ये, दश त एव।

अर्थात् इन दस स्तम्भोंमेसे पहिले चार स्तम्भ रंगपीठके चारो कोनोंपर लगाने चाहिए।

उसके बाद रगपीठके दक्षिण-पूर्व दिशाओंके बीच में 'आग्नेय' कोणमें रगपीठ पर जो स्तम्भ लगाया है उससे दक्षिणकी ओर चार हाथकी दूरीपर एक [पाँचवा] स्तम्भ खडा करना चाहिए।

इसी प्रकार पश्चिम-दक्षिण दिशाओंके बीचके 'नैर्ऋत' कोणमें 'रंगपीठ' पर जो स्तम्भ लगाया था उसके भी दक्षिणकी ओर चार हाथ की दूरीपर एक [छठा] स्तम्भ लगाना चाहिए।

इसी प्रकार उत्तर दिशामें पश्चिम-उत्तरके बीचमें स्थित 'वायव्य' कोणमें रंगपीठके ऊपर जो स्तम्भ लगाया था उससे उत्तरकी ओर चार हाथकी दूरीपर एक [सातवा] तथा पूर्व-उत्तरके बीचके 'ईशान' कोणमें रगपीठपर लगाये हुए स्तम्भसे उत्तरकी ओर चार हाथके अन्तर

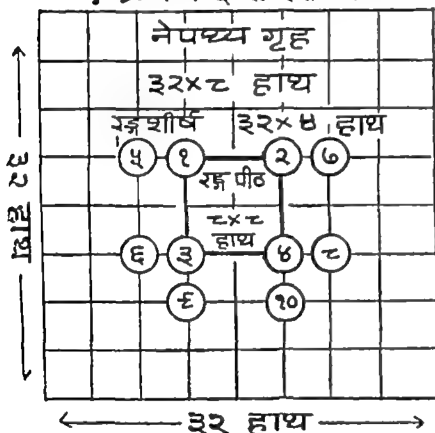
अगला [आठवां] स्तम्भ लगाना चाहिए ।

रंगपीठके पूर्व भागमें ईशानकोण तथा आग्नेयकोणमें जो दो स्तम्भ लगाए गए थे उन दोनोसे चार-चार हाथोके अन्तरपर पूर्वकी ओर शेष दो स्तम्भ और लगाने चाहिए। इस प्रकार रंगपीठके चारो कोनोपर चार, और उनसे चार-चार हाथोके अन्तरपर दो दक्षिणमें, दो उत्तरमें, और दो पूर्वमें ये छ स्तम्भ लगाने चाहिए। इस प्रकार दश स्तम्भोंकी यह सख्या पूर्ण हो जाती है।

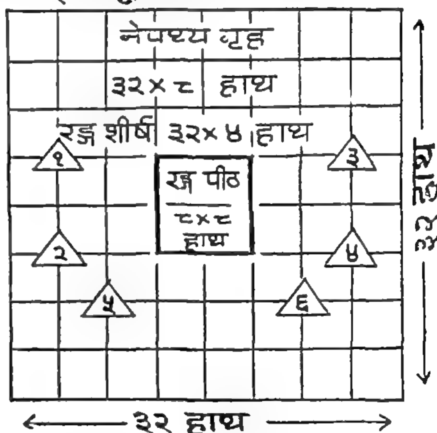
'शकुक' के मतानुसार स्तम्भ-व्यवस्था को प्रदर्शित करने वाला चित्र फलक भी हमने प्रस्तुत किया है। पूर्व चित्र-फलकके समान उसमें भी चार छोटे-छोटे अवान्तर चित्र है। उनमें से प्रथम चित्रमें इसी वर्णनके अनुसार हमने दश स्तम्भोका स्थान निर्धारण किया है जो नीचे दिए हुए चित्रमें देखा जा सकता है।

(२) शङ्कुकके मतानुसार चतुरस्र-मण्डपकी स्तम्भव्यवस्था

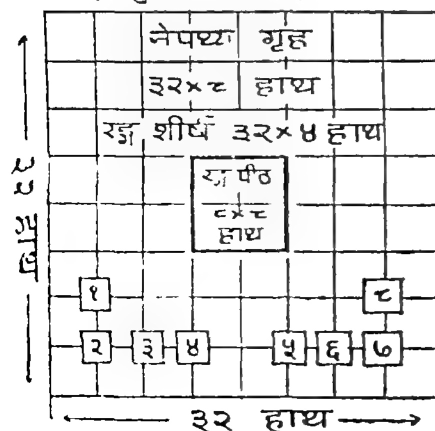
१-प्रथम दश स्तम्भ



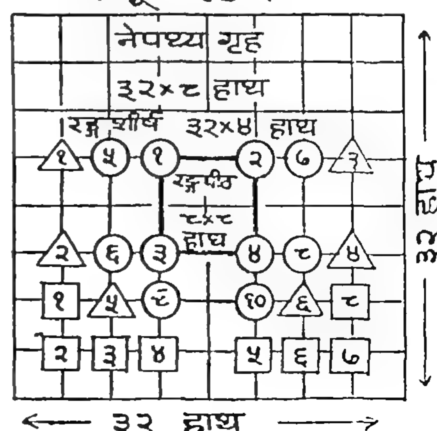
२- द्वितीय छः स्तम्भ



३-तृतीय आठ स्तम्भ



४-सम्पूर्ण २४ स्तम्भ



शङ्कुकमतमें दूसरे छः स्तम्भ—

यह पहिले दश स्तम्भोंकी व्यवस्था हुई। इनके बाद दूसरे छः स्तम्भोंका पर्याय आता है। भरतमुनिने इन छः स्तम्भोंका विधान करते हुए लिखा है—

षडन्यानन्तरे चैव पुनः स्तम्भान् यथादिशम्।
विधिना स्थापयेत् तज्ज्ञो दृढान् मण्डपधारणे ॥२-९२॥

अर्थात् उनके बाद स्तम्भ-विधिको जानने वाला निपुण शिल्पी मण्डप [की छत] को धारण करनेमें समर्थ और मजबूत छः स्तम्भोंको इनके भीतर लगावे।

भरतमुनिने इनके स्थानके विषयमें अधिक कुछ निर्देश नहीं दिया है। शङ्कुकने उनके स्थानका निर्धारण करनेका यत्न किया है। अभिनवगुप्तने उनका जो विवरण दिया है वह निम्न प्रकार है—

रङ्गपीठस्य दक्षिणतो निवेशितस्तम्भद्वयात् चतुर्हस्तान्तरौ द्वौ।

ततः आग्नेयस्तम्भसम्मुखो योऽन्यस्तु पूर्वः स्तम्भः ततश्चतुर्हस्तान्तरं दक्षिणस्तम्भं कुर्यात्। इति पूर्वन्यस्तानां दक्षिणस्तम्भानां दक्षिणभित्तेश्चान्तराले स्तम्भत्रयम्। एवमुत्तरस्यामपि।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि रङ्गपीठके दक्षिणकी ओर जो दो स्तम्भ पहिले लगाए जा चुके हैं उनसे चार-चार हाथकी दूरीपर दक्षिण दिशाकी ओर दो स्तम्भ लगाने चाहिए।

उसके बाद रङ्गपीठके दक्षिण-पूर्वके बीचके 'आग्नेय' कोणके सामने पूर्व दिशाकी ओर जो स्तम्भ पहिले लगाया गया था उससे दक्षिणकी ओर ही चार हाथकी दूरीपर इनमेंसे तीसरा स्तम्भ लगावे। इस प्रकार पहिले लगाए हुए स्तम्भों और दक्षिणी दीवारके बीचमें तीन नए स्तम्भ लग गए।

ठीक इसी प्रकारसे उत्तर भागमें पहिले लगाए हुए दोनों स्तम्भोंसे चार-चार हाथकी दूरीपर उत्तरकी ओर दो स्तम्भ लगावे। फिर ईशान कोणमें रङ्गपीठपर लगाये हुए स्तम्भसे पूर्वकी ओर जो स्तम्भ पहिले लगाया गया था उससे उत्तर की ओर चार हाथकी दूरीपर तीसरा स्तम्भ लगावे। पहिले लगाए हुए स्तम्भोंसे उत्तरकी ओर उन स्तम्भों तथा उत्तर-भित्तिके बीचमें भी ये तीन स्तम्भ हो गए। इस प्रकार तीन स्तम्भ दक्षिणकी ओर तथा तीन स्तम्भ उत्तरकी लगा देनेसे इन छः स्तम्भोंकी संख्या पूरी हो जाती है।

अभिनवगुप्तने 'शङ्कुक' के मतानुसार छः स्तम्भोंका जो यह विवरण दिया है ठीक इसीके अनुसार हमने अपने शङ्कुक मतानुसारिणी स्तम्भ-व्यवस्थाको प्रदर्शित करने वाले चित्र-फलकके द्वितीय चित्रमें इन छः स्तम्भोंको स्थान प्रदर्शित किया है। जिसे ऊपर दिए हुए इस चित्रमें देखा जा सकता है।

शङ्कुकमतमें तृतीय आठ स्तम्भ—

इन दस और छः स्तम्भोंके बाद भरतमुनिने तीसरी बारमें फिर आठ स्तम्भोंका विधान करते हुए लिखा—

अष्टौ स्तम्भान् पुनश्चैव तेषामुपरि कल्पयेत्।　　　　ना० शा० २-९३

अर्थात् इन १०+६ सोलह स्तम्भोंके बाद फिर आठ स्तम्भ और लगावे। भरतमुनिने इन स्तम्भोंके लगाए जानेके ठीक स्थानका कोई निर्देश नहीं किया है। शङ्कुकने उनके ठीक स्थानका निर्धारण किया है। शङ्कुकके मतसे अभिनवगुप्तने निम्न प्रकारसे दिखलाया है—

तत्र दक्षिणदिग्भित्तेरुदग्भागे चतुर्हस्तान्तर पूर्वस्थापितस्तम्भाद् भित्तेश्च, एक स्तम्भ दद्यात् पूर्वम् ।

एवमुत्तरभित्तेर्दक्षिणदिग्भागे ।

तत. पूर्वभित्तेश्चतुर्हस्तान्तरौ रगभागद्वयामुसारेण द्वौ द्वौ ।

ततोऽपि चतुर्हस्तान्तरौ द्वौ । इत्यष्टौ ।

इसका यह अभिप्राय है कि इन आठ स्तम्भोमेंसे पहिले दक्षिण भित्तिसे उत्तरकी ओर जो स्तम्भ पहिले लगा चुके हैं उसमे और भित्तिसे, दोनोसे, चार-चार हाथकी दूरीपर अर्थात् दोनोके बीचमें एक स्तम्भ लगावे ।

इसी प्रकार उत्तर दिशा वाली भित्तिसे दक्षिणकी ओर जो स्तम्भ पहिले लगाया जा चुका उससे और भित्तिसे दोनोसे चार-चार हाथके अन्तरपर अर्थात् दोनोके बीचमें एक स्तम्भ लगावे ।

उत्तर और दक्षिणकी दिशामें ये ही दो स्थान खाली थे । इन स्तम्भोंके लगने से वे दोनो स्थान भर गए । अब चित्रपर दृष्टि डालनेसे विदित होगा कि अब पूर्व भित्तिके पास वाली एक पक्ति ऐसी शेप रह जाती है जिसपर अभी तक कोई स्तम्भ नही लगा है । इसमें बीचमें द्वारका भाग छोड देनेपर द्वारके दोनो ओर तीन-तीन स्तम्भ लगानेका स्थान शेप है । शकुकने इन आठ स्तम्भोमेंसे बचे हुए शेप छ स्तम्भोको इन्ही स्थानोपर लगानेका विधान किया है । इसका प्रतिपादन उन्होने इस प्रकार किया है—

'उसके बाद पूर्व भित्तिसे चार-चार हाथकी दूरी पर [द्वारके दोनो ओर स्थित] रगके दोनो भागोमें दो-दो स्तम्भ लगावे ।

उसके बाद फिर उनसे भी चार-चार हाथके अन्तरपर [द्वारके दोनो ओर एक-एक मिलाकर] दो स्तम्भ लगावे । इस प्रकार ये आठ स्तम्भ पूरे हो जाते हैं ।

यह शकुककी तीसरी बारमें लगाये जाने वाले आठ स्तम्भोकी व्यवस्था है । शकुक की स्तम्भ-व्यवस्थाको प्रदर्शित करनेकेलिए जो चित्र-फलक हमने प्रस्तुत किया है उसमे तृतीय चित्रमें ठीक इसी लेखके अनुसार आठ स्तम्भोका स्थान दिखलाया गया है ।

इस प्रकार शकुकने बडे सरल और सुन्दर ढगसे इन १०+६+८ चौबीसो स्तम्भोके लगानेका स्थान निर्धारित कर दिया है । चित्र फलकके चतुर्थ चित्रमें उन सब स्तम्भोको एक साथ मिलाकर उनका स्थान दिखला दिया गया है ।

यह स्तम्भ विधि केवल चतुरस्र-मण्डपकी दिखलाई गई है । विकृष्ट और त्र्यस्र मण्डपो में भी आवश्यक सुधारोके साथ अपनी बुद्धिके अनुसार इसकी योजना कर लेनी चाहिए यह शकुकका मत है । इस बातको अभिनवगुप्तने निम्न पक्तिमें लिखा है—

'इति चतुरस्रे स्तम्भविधि । तमेव विकृष्टे
त्रिकोणेपु स्वबुद्धया योजयेदिति श्री शकुकाद्या ।

अन्य भट्टलोल्लटादिका मत—

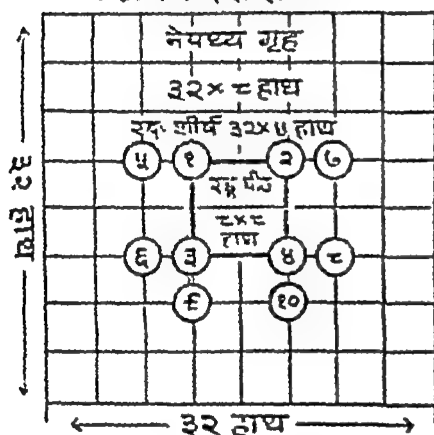
शकुकके मतसे स्तम्भ व्यवस्थाका विवेचन ऊपर किया जा चुका है । भरतमुनिके अन्य व्याख्याकारोने इससे कुछ भिन्न प्रकारसे इस स्तम्भ-व्यवस्थाका प्रतिपादन किया है । इनमेंसे भट्टलोल्लटादिकी व्यवस्था सबसे अधिक सरल एव शकुक मतके निकटतम व्याख्या पाई जाती है । उसका उल्लेख अभिनव गुप्तने एक पक्तिमें इस प्रकार किया है—

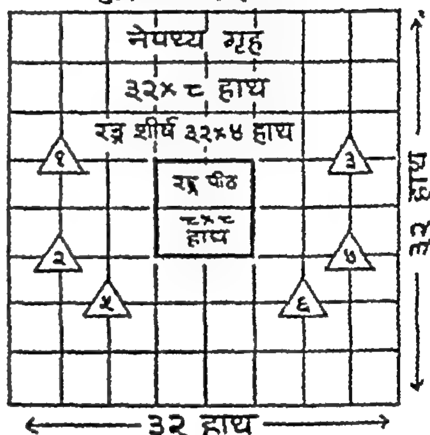
अन्ये तु 'अष्टौ स्तम्भान् पुनश्च' इति नेपथ्यगृहविपयानेतानाहु ।

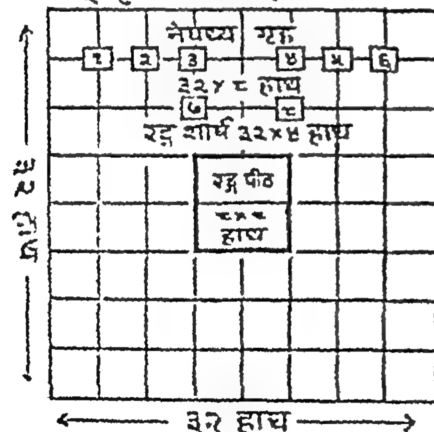
अर्थात् 'अष्टौ स्तम्भान् पुनश्च' इत्यादि श्लोकार्ध द्वारा भरतमुनिने जिन आठ स्तम्भोंके लगानेका विधान किया है उनको अन्य व्याख्याकार नेपथ्यगृहसे सम्बद्ध मानते हैं।

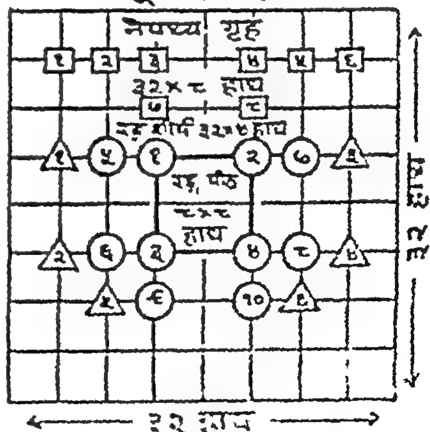
ये अन्य व्याख्याकार कौन है इस बातका अभिनवगुप्तने यद्यपि नामग्रहण-पूर्वक उल्लेख नहीं किया है फिर भी कुछ आभास इस आधारपर मिल सकता है कि भरतमुनिके रसमूत्र की व्याख्याके प्रसङ्गमें भट्टलोल्लट, भट्टनायक और शङ्कुक के मतोंका विशेष रूपसे उल्लेख किया

(३) [भट्टलोल्लटादि] अन्योंके मतानुसार चतुरस्र-मण्डपकी स्तम्भ-व्यवस्था









अन्ये तु—'अष्टौ स्तम्भान् पुनश्च' इति नेपथ्यगृहविषयानेतानाहु ।

गया है। जिससे यह प्रतीत होता है कि ये भरतके मुख्य व्याख्याकार है। इनमें से शङ्कुकके मतका उल्लेख अलगसे पहिले किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त भरतमुनिके दो और व्याख्याकारोका मत अभिनवगुप्तने 'वार्तिककृत्' तथा उपाध्याया.' पदों से नामग्रहण पूर्वक आगे दिया है। इसलिए यह परिणाम सहज ही निकाला जा सकता है कि यहाँ अभिनवगुप्तने 'अन्ये' पदसे जिस मतका उल्लेख किया है वह भट्टलोल्लट या भट्टनायकका ही मत होना चाहिए। इसलिए हमने उसे भट्टलोल्लटादिके मतके नामसे निर्दिष्ट किया है।

इस मतका जिस रूपमें यहाँ उल्लेख किया गया है उससे यह प्रतीत होता है कि इस मतका प्रतिपादन करने वालोका केवल अन्तिम आठ स्तम्भोके स्थानके विषयमें मतभेद है। शेष १० और ६ स्तम्भोके स्थानके विषयमें वे शङ्कुकके मतको ही स्वीकार करते हैं। इस दृष्टिसे हमने इन भट्टलोल्लटादिके मतानुसार स्तम्भ-व्यवस्थाका प्रदर्शक जो चित्र-फलक प्रस्तुत किया है उसमें १० तथा ६ स्तम्भोका स्थान उसी प्रकार दिखलाया है जिस प्रकार शङ्कुक-मतमें। केवल अन्तिम आठ स्तम्भोको इस लेखके अनुसार नेपथ्यगृहमें दिखलाया है। इस चित्र-फलकको पिछले पृष्ठपर दे दिया है। उसके तृतीय चित्रमें इन आठ स्तम्भोको स्पष्ट रूपसे नेपथ्यगृहमें देखा जा सकता है।

अभिनवगुप्त भट्टलोल्लट आदि अन्य व्याख्याकारोके अनुसार इस व्यवस्थाको 'अन्ये तु'—इत्यादिसे अगले अनुच्छेदमें दिखलाते हैं। इन अन्य व्याख्याकारोके मतमें भी सामान्यत पूर्वोक्त व्यवस्था ही अपनाई गई है। केवल थोडा-सा भेद यह किया गया है कि अन्तमें जिन आठ स्तम्भोका विधान किया गया है इनको ये व्याख्याकार रङ्गमण्डपके सबसे पिछले भागमें नेपथ्यगृहमें लगानेका विधान करते हैं। इसी बातको अगली पक्तिमें लिखा है—

अभिनव०—[भट्टलोल्लट आदि] अन्य [व्याख्याकार] तो 'फिर आठ स्तम्भों को' इत्यादि [९३ वी कारिकामे कहे हुए] इन [अन्तिम आठ स्तम्भो] को नेपथ्यगृह-विषयक मानते हैं।

इस अन्तरका प्रभाव—

अन्य व्याख्याकारोने जो इन आठ स्तम्भोकी स्थितिमे परिवर्तन किया है उसका प्रभाव प्रेक्षकोकेलिए सुविधाजनक होता है। शकुकादिकी प्रथम व्यवस्थामें इन आठ स्तम्भोको प्रेक्षकोपवेश वाले भागमें लगाया गया था। उस भागमे स्तम्भोकी अधिक सख्या हो जानेपर प्रेक्षकोके बैठनेके लिए स्थानकी भी कमी होती है और देखने वालोके लिए देखनेमें भी इन स्तम्भोसे बाधा होती है। इसलिए उस भागमें जितने ही कम स्तम्भ रखे जावें उतना ही अच्छा है। इसी दृष्टिसे भट्टलोल्लट आदि अन्य व्याख्याकारोने इन आठ स्तम्भोको यहाँसे हटा कर नेपथ्यगृहमे लगानेका विधान किया है।

चतुरस्र मण्डपमें लगाए जाने वाले चौबीस स्तम्भोके स्थानका निर्धारण करनेका यत्न पूर्ववर्ती अनेक टीकाकारो ने किया है। उन सबमें मतभेद पाया जाता है। इसलिए इस विषयका निरूपण कठिन हो गया है। इनमें से श्री शकुक तथा भट्टलोल्लट आदि दो आचार्योके मतोका, अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत विवरण यहाँ समाप्त हो जाता है। इन दोनो मतोमें स्तम्भोका जो स्थान निर्धारित होता है उसे हम दो चित्र-फलको द्वारा ऊपर दिखला चुके हैं। अब इसके आगे ग्रन्थकार इसी विषयमें वार्तिककारके मतका वर्णन करेंगे।

तीसरा वार्तिककारका मत—

ऊपर स्तम्भ-व्यवस्था-विषयक दो मतोंका उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त ग्रन्थकारने यहाँ तीसरे मतका भी उल्लेख किया है जिसको उन्होंने 'वार्तिककार' का मत बतलाया है। बड़ोदा वाले प्रथम संस्करणके पृष्ठ १७२ तथा १७४ पर अभिनवगुप्तने इसी वार्तिकका उल्लेख 'हर्षवार्तिकम्' नामसे किया है। हर्षवार्तिक की रचना मुख्यत. आर्या छन्दमें की गई थी। कहीं-कहीं उसमें गद्यांशका भी समावेश था। उसी ग्रन्थसे पाँच श्लोक उद्धृत कर ग्रन्थकारने यहाँ वार्तिककारके मतको प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—ग्रन्थकारने यहाँ वार्तिककारका मत दिखलानेकेलिए जिन श्लोकोंको उद्धृत किया है, उनका पाठ बड़ोदा वाले दोनों संस्करणोंमें अत्यन्त अस्त-व्यस्त एवं अशुद्ध रूपमें मुद्रित हुआ है। अत एव उन श्लोकोंकी व्याख्या आरम्भ करनेके पूर्व उन श्लोकोंके पाठका संशोधन कर लेना आवश्यक है। पूर्व-संस्करणोंमें उन श्लोकोंका पाठ निम्न प्रकारसे छपा है—

वार्तिककृत् तु—

अन्तर्नेपथ्यगृह स्तम्भौ द्वौ पीठकाश्च चत्वारः।
''' न्ये चत्वारो दर्शवमुक्ता भवन्त्येते॥
भित्ते. स्तम्भाना च स्यादन्तरमष्टहस्तमेवान्ते। इति।
दत्तोऽप्यवाताय. सोऽप्या नाना भवेदुक्त।
चत्वारः पीठगता पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ॥
षट् मान्तरास्तथान्ये कार्या इति शास्त्रतात्पर्यम्।
पीठगना पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ॥
तेषामष्टावन्येऽप्युपरि निवेश्या य उद्दिष्टा.।
तैरुत्क्षिप्तैरिह तत स्यादालोक. ममस्तरगस्य॥
सोपानाकृति पीठकमत्र विधेय समन्ततो रगे।
येनालोक ''' प्युपरि काष्ठानु॥ इति।

पाठसमीक्षा—इन श्लोकोंमें दस, फिर छः और फिर आठ तीनों वारमें लगने वाले स्तम्भोंकी व्यवस्था उसी प्रकार दिखलाई गई है जिस प्रकार शंकुकादि वाले प्रथम मतमें दिखलाई गई थी। अर्थात् यह मत बीचके 'अन्ये तु' वाले मतके समान नहीं है। 'अन्ये तु' वाले द्वितीय मतमें तो प्रथम वार दस और द्वितीय वारके छः स्तम्भोंकी व्यवस्था शंकुकादिके मतोंके समान मान ली गई थी। केवल अन्तिम वारके आठ स्तम्भोंके विषयमें उनका मतभेद था। पर वार्तिककार के इस मतमें सभी स्तम्भोंकी व्यवस्था शंकुकादिके मतसे भिन्न प्रकारसे की है। समानता केवल इतनी है कि जिस प्रकार शंकुकादि वाले प्रथम मतमें तीनों वारके स्तम्भोंकी व्यवस्था अलग-अलग दिखलाई गई थी इसी प्रकार वार्तिककारके मतमें भी तीनों वारके स्तम्भोंकी व्यवस्था अलग-अलग दिखलाई गई है। किन्तु इन श्लोकोंका जो अशुद्ध पाठ हमारे सामने उपस्थित है वह बड़ा निराशा-जनक है। उसमें कुछ अर्थ समझ सकना बड़ी टेढ़ी खीर है। उसका अर्थ समझनेके लिए हमें उनके क्रममें भी परिवर्तन करना होगा और उनके पाठका संशोधन भी करना होगा। इसलिए हम आगे इसी विषयमें विचार प्रारम्भ करते हैं।

---

१. यत्तोऽपये श्लोकके बाद आधा श्लोक प्रक्षिप्त था। ६३ श्लोक के बाद भी 'स्थाप्य पंच सम पीठ मध्ये स्तम्भमाणत' यह आधा श्लोक प्रक्षिप्त है। अत: द्वितीय संस्करण में संख्या क्रम को मिलाए रखने के लिए यहाँ से एक ही श्लोक पर ६३-६४ संख्या दान की है।

पाठसमीक्षा—सबसे पहिले श्लोकमें दस स्तम्भोके स्थानका निर्धारण किया गया है। भरतमुनिने भी पहिली बारमे दस स्तम्भोका विधान किया है। अत भरतमुनिके क्रमके अनुसार होनेमे इस श्लोकका स्थान तो ठीक ही है किन्तु इसका पाठ ठीक नही है। इसके पाठमे तीन स्थानोपर त्रुटियाँ पाई जाती हैं। श्लोकमे दस स्तम्भोके स्थानका निर्धारण इस प्रकारसे किया गया है कि दसमेसे दो स्तम्भ तो नेपथ्यगृहमें लगाए जावें और चार स्तम्भ पीठ अर्थात् रगपीठके ऊपर लगाए जावें। ये छ स्तम्भ हुए। इनमेंसे पीठपर लगाए जाने वाले चार स्तम्भोका विधान श्लोकके 'पीठकाश्च चत्वार' इस भागमें किया गया है। इसमें 'पीठकाश्च' पाठ अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'पीठगाश्च चत्वार' पाठ होना चाहिए। यह पहिली किन्तु बहुत सामान्य सी अशुद्धि है।

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके पूर्व-सस्करणोमें मुद्रित पाठमें दूसरी त्रुटि यह पाई जाती है कि उसके उत्तरार्द्धके आरम्भ में कुछ पाठ बिलकुल लुप्त हैं। इस स्थानकी पाठकी पूर्ति किए बिना इस श्लोकका कुछ भी अर्थ नही बनता है। इसलिए उसकी पूर्ति करना आवश्यक है। इस लुप्त पाठमें अवशिष्ट बचे हुए चार स्तम्भोके स्थानका निर्देश करना है। यह स्थान-निर्देश शकुकादिके पूर्वोक्त मतके आधारपर किया जा सकता है। उस अवस्थामे इन चारो स्तम्भोका स्थान रगपीठपर लगाए हुए चारो स्तम्भोसे परे उनके पार्श्वोमें अर्थात् दोनो ओर उनसे आठ-आठ हाथके अन्तरपर होगा। इस व्यवस्थाको मान लेनेपर यह बात सरलतासे समझमे आ सकती है कि यहाँ पर जो पाठ लुप्त हो गया है वह 'परितो' पद है। उसको जोड देनेपर 'परितोऽन्ये चत्वारो दर्शवमुक्ता भवन्त्येते' इस प्रकारका पाठ बन जाता है। और उससे श्लोकका अर्थ ठीक तरह से समझमें आ जाता है। 'परित' पदमें सार्वविभक्तिक तसिल-प्रत्यय है। 'उभयत' के समान उसका अर्थ दोनो ओर होता है। अर्थात् शेष चार स्तम्भ रगपीठपर पहिले लगाए हुए स्तम्भोके दोनो ओर लगाए जाते हैं। इन श्लोकोके पाठपर विचार करते समय हमे इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिए कि ये आर्या छन्दमे लिखे गए हैं। आर्या' मात्रिक छन्द है। उसके पूर्वार्द्धमें चार-चार मात्राओ वाले सात गण और अन्तमें एक गुरु वर्ण रहता है। उसके उत्तरार्द्धमे यह विशेषता होती है कि उसका षष्ठ गण चार मात्राओके बजाय केवल एक मात्रा वाला अर्थात् केवल एक लघु अक्षरका होता है। इस दृष्टिसे जब हम इस श्लोकके उत्तरार्द्धके आरम्भमे लुप्त पाठके विषयमें विचार करते है तो वहाँ चार मात्राओका एक गण लुप्त है। अर्थात् चार मात्राओ वाला एक शब्द यहाँ होना चाहिए यह बात तो छन्दकी दृष्टिसे आई। और अर्थकी दृष्टिसे जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यहाँ इस प्रकारका शब्द होना चाहिए जिससे यह अर्थ निकल सके कि शेष चार स्तम्भ रगपीठपर लगे हुए चारो स्तम्भोसे हटकर उनके दोनो ओर अगल-बगलमे होने चाहिए। इन सब बातो को ध्यानमें रखते हुए यहाँ सबसे अधिक उपयुक्त 'परितो' पाठ पडता है। अत हमने सशोधित रूपमें इसी पाठ को प्रस्तुत किया है।

आर्या छन्दके लक्षणको घटाते हुए इस श्लोक का पाठ निम्न प्रकार लिखा जायगा—

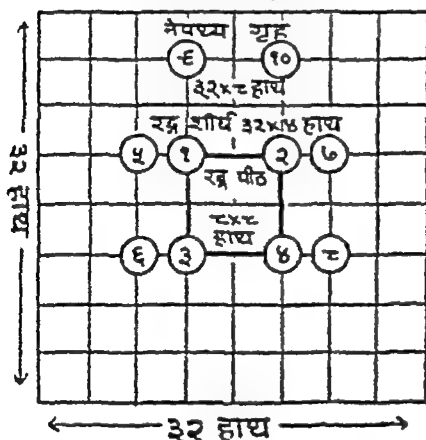
१	२	३	४	५	६	७	गु०
अन्त	र्नेप	थ्यगृह	स्तम्भौ	द्वौ-पी-	ठगाश्च	चत्वा-	र।
परितो	ऽन्येच-	त्वारो	दर्शव-	मुक्ता	भ-	वन्त्ये-	ते॥

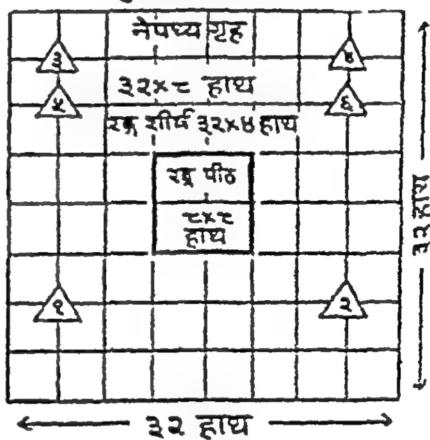
चार-चार मात्राओके गणोके हिसाबसे यह पाठ लिखा गया है। सबसे ऊपर की पक्तिमें गणोकी सख्या डाल दी है। श्लोकके पूर्वार्द्धमें सात गण और अन्तमे एक गुरु है। उत्तरार्द्धमें भी इसी प्रकार सात गण और अन्तमें एक गुरु है। अन्तर इतना है कि षष्ठ गणमें केवल 'भ' एक लघु

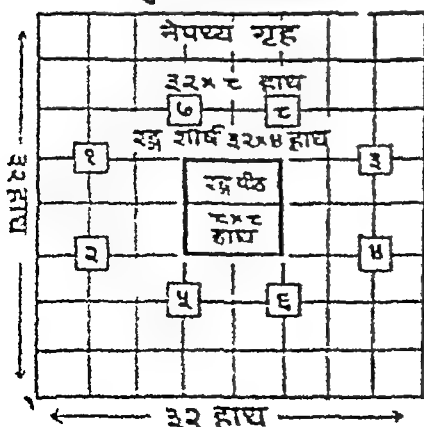
अक्षर है। आर्याके लक्षणके अनुसार पूर्वार्द्धमें विषम संख्या वाले गण जगण अर्थात् मध्यगुरु गण नहीं होने चाहिए। सो नहीं है। षष्ठ गण जगण अर्थात् मध्यगुरु ही होना चाहिए सो है। इस प्रकार अर्थ और छन्द दोनोंकी दृष्टिसे हमारा मशोधित पाठ ठीक बैठता है।

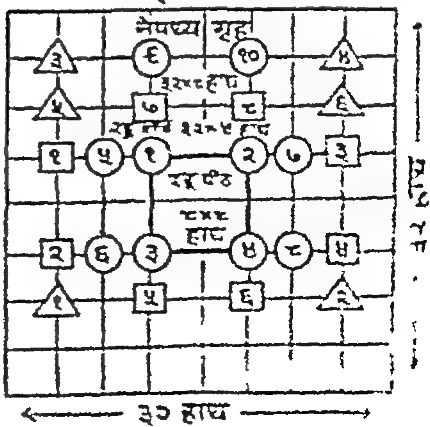
वार्तिककारके मतके अनुसार स्तम्भोंकी व्यवस्थाका प्रदर्शक चित्रफलक हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं। उसमें इस प्रथम बारकी दस स्तम्भोंकी व्यवस्थाको प्रथम चित्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है। इसमें और शकुकादि वाले प्रथम मतमें की गई इन दस स्तम्भोंकी व्यवस्थामें मुख्य अन्तर यह है कि प्रथम मतमें रंगपीठके सामनेकी ओर जिन दो स्तम्भोंको लगाया गया था उनको वार्तिककारने वहाँसे हटा कर पीछे नेपथ्यगृहमें लगा दिया है।

(४) वार्तिककारके मतानुसार चतुरस्र मण्डप की स्तम्भ-व्यवस्था









अगले श्लोकके क्रम तथा पाठका अनुसन्धान—

पाठसमीक्षा—इस प्रथम श्लोकके बाद पूर्व-संस्करणोंमे—

भित्ते स्तम्भाना च स्यादन्तरमष्टहस्तमेवान्ते ।
दत्तोऽथवाताथः सोऽथा नाना भवेदुक्त ॥

यह श्लोक मुद्रित किया गया है। किन्तु यह श्लोक स्थान-भ्रष्ट और अ-स्थानमें पठित है। इसका स्थान तीनो प्रकारके स्तम्भोकी व्यवस्थाके बाद होना चाहिए। इसका कारण यह है कि इस श्लोकमें भरतमुनि-निर्दिष्ट स्तम्भोमेंसे किसी विशेष वर्गके स्थानका निर्देश नही किया गया है किन्तु उनके विषयमें सामान्य बात कही गई है। इस समय तो भरतमुनि द्वारा तीन बारमें जिन स्तम्भोके लगानेका विधान किया गया है उनके स्थान-निर्धारणका विषय चल रहा है। पहिले वह पूरा हो ले तब उसके बाद सामान्य बातोके विचारका प्रश्न आवेगा। इस श्लोकके पूर्वार्द्धमे तो यह बात कही गई है कि स्तम्भोके लगाते समय इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि स्तम्भोका भित्तिसे और एक स्तम्भका दूसरे स्तम्भसे आठ हाथसे अधिक अन्तर न होना चाहिए। 'स्यादन्तर अष्टहस्त-मेवान्ते' अधिकसे अधिक आठ हाथका ही अन्तर होना चाहिए। यह सामान्य बात ही इस श्लोकमें कही गई है। उसका कथन सब स्तम्भोके स्थान-निर्धारण कर चुकनेके बाद करना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके उत्तरार्द्ध-भागका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें अत्यन्त अशुद्ध रूपमे मुद्रित हुआ है। 'दत्तोऽथवाताथ सोऽथा नाना भवेदुक्त' इस पाठका कोई अर्थ समझमें नही आता है। वार्तिककार अपने ढगसे भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित १०, ६, ८ = २४ स्तम्भोके स्थान का निर्धारण कर चुके हैं। परन्तु उनका कहना यह है कि यह हमारी की हुई स्तम्भ-व्यवस्था ही एकमात्र अन्तिम व्यवस्था नही है। उनका विन्यास अन्य प्रकारसे भी किया जा सकता है। किन्तु स्तम्भ-व्यवस्था करते समय इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि स्तम्भोसे भित्तियो या अन्य स्तम्भोका अन्तर आठ हाथसे अधिक न होने पावे। इस बातको ध्यानमे रखनेके बाद फिर रग-मण्डपकी रचना करने वाले 'स्थपति' अपनी सुविधानुसार अन्य प्रकारसे भी स्तम्भोको लगानेकी व्यवस्था कर सकते हैं। यह वार्तिककारका अभिप्राय है। जो इस उत्तरार्द्धके द्वारा प्रकट किया गया है। परन्तु पूर्व संस्करणोंमें जो पाठ छपा है उससे यह अभिप्राय नही निकलता है। इस अभिप्राय को ध्यानमे रख कर यदि इस उत्तरार्द्ध भागके पाठका सशोधन किया जाय तो 'दत्तोऽन्यथा क्रमस्तेषा वा कश्चिद् भवेदिह' यह इस स्थानका निकटतम एव उपयुक्ततम सशोधित पाठ हो सकता है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि पूर्वार्द्धके समान इस उत्तरार्द्ध भागका भी स्थान यहाँपर नहीं है। पहिले सारे स्तम्भोका स्थान-निर्धारण हो जानेके बाद ही इसकी चर्चा की जा सकती है। उसके पहिले नही। इसलिए यह निश्चित बात है कि पूर्व संस्करणोंमें यह श्लोक यहाँ अ स्थानमें ही मुद्रित है। सब स्तम्भोका स्थान निर्धारण हो जानेके बाद ही उसका स्थान आ सकता है। इसलिए हमने उसको यहाँसे हटा कर उसी स्थान पर मुद्रित किया है।

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके पाठमें एक बात और भी ध्यान देने योग्य है और वह यह है कि इसके पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दोनो भागोका क्रम भी परिवर्तित होना चाहिए। अर्थात् उत्तरार्द्ध-भाग जिसमे अन्य प्रकारसे भी स्तम्भ व्यवस्था की जा सकती है यह बात कही गई है वह पहिले, और भित्तियो तथा स्तम्भोके आठ हाथसे अधिक अन्तर न रखनेकी बात जिसमें कही गई है वह पूर्वार्द्ध-भाग बादको आना चाहिए। इस लिए 'दत्तो' इत्यादि भाग, हमारे सशोधित क्रममें तृतीय श्लोकका अन्तिम भाग तथा 'भित्ते' आदि चतुर्थ श्लोकका आदि भाग है।

पाठसमीक्षा—इस श्लोकके पूर्वार्द्ध भागका पाठ आर्या छन्दकी दृष्टिसे 'भित्ते स्तम्भाना च स्यादन्तरमष्टहस्तमेवान्ते' ठीक है। किन्तु उत्तरार्द्ध भागका पाठ अशुद्ध है। उसमें पर्याप्त संशोधन की आवश्यकता है। हमने जो संशोधित पाठ नीचे दिया है वही पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। गणोंकी व्यवस्था इसी पाठमें ठीक बनती है। आर्या छन्दके लक्षणका समन्वय करते हुए इस श्लोकके संशोधित पाठको इस प्रकार हो सकता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि इतने 'दत्तो' इत्यादि भाग हमारे संशोधित क्रममें तृतीय श्लोकका अन्तिम तथा 'भित्ते' इत्यादि चतुर्थ श्लोकका प्रारम्भिक भाग है।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ गु०
भित्तेः स्तम्भा ना च स्याद- न्तरम- ष्टहस्त- मेवा- न्ते।
दत्तोऽन्यथाक- मस्ते पा वा कश्चि द्रू- वेद श्र॥

द्वितीय श्लोकका पाठानुसन्धान—

पाठसमीक्षा—वार्तिककारके ग्रन्थमें उद्धृत किए गए श्लोकोंमें इन दो श्लोकोंके बाद अगले दो श्लोक निम्न प्रकार दिए गए हैं—

चत्वारः पीठगताः पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ।
षट् सान्तरास्तथान्ये कार्या इति शास्त्र [तात्पर्यम्]॥
** पीठगता पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ।
तेषामष्टावन्येऽप्युपरि निवेश्या य उद्दिष्टा॥

पाठसमीक्षा—पूर्ववर्ती श्लोकके समान इन दोनो श्लोकोंका भी पाठ तथा क्रम दोनो अशुद्ध हैं। इन श्लोकोंके पाठमें पहिली बात जिसकी ओर कि अनायास ही ध्यान आकृष्ट हो जाता है, यह है कि उनमें पहिली पंक्ति तथा तीसरी पंक्तिका पाठ बिल्कुल एकसा है। तीसरी पंक्तिके आरम्भमें 'चत्वार' पद छूट गया है। शेष पाठमें कोई अन्तर नहीं है। इसलिए यह स्पष्ट है कि इनमेंसे एक पंक्ति किसी लिपिकारके प्रमादसे ही दुबारा अङ्कित कर दी गई है। इसलिए उसको वहांसे निकाल देना अनिवार्य है। तीसरी पंक्तिको हटा देनेके बाद तीन पंक्तियां शेष रह जाती हैं। इनमेंसे पहिली पंक्तिमें 'चत्वार' और 'याविह द्वौ द्वौ' पदोंसे कुल मिला कर आठ स्तम्भोंकी चर्चा की गई है। उसके बाद दूसरी पंक्तिमें स्पष्ट रूपसे ही 'षट्' पदसे छ स्तम्भोंका उल्लेख किया गया है। और अन्तिम अर्थात् चौथी पंक्तिमें फिर 'अष्टावन्ये' पदसे फिर आठ स्तम्भोंकी चर्चा की गई है। इस स्थितिपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम तथा चतुर्थ दोनो पंक्तियां एक दूसरेसे सम्बद्ध पंक्तियां हैं। क्योंकि उन दोनोंका विषय आठ स्तम्भोंके स्थानका निर्धारण है। अत उन दोनोंको मिला कर एक पूरा श्लोक बन जाता है। उनके बीचमें आई हुई 'षट् सान्तरा' इत्यादि दूसरी पंक्तिको पूर्व संस्करणोंमें जो इन दोनों भागोंके बीचमें छाप दिया गया है। यह बिल्कुल असङ्गत है। इसलिए उस पंक्तिको हटा देनेके बाद अगले श्लोकका निम्न प्रकारका पाठ शेष रह जाता है—

चत्वार पीठगताः, पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ।
तेषामष्टावन्येऽप्युपरि निवेश्या य उद्दिष्टा॥

पाठसमीक्षा—इस प्रकार इस श्लोकमें आठ स्तम्भोंके स्थानका निर्धारण किया गया है यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है। किन्तु इसका पाठ शुद्ध नहीं है। जैसा कि इन श्लोकोंके देखनेसे प्रतीत होता है इस श्लोकमें रत्नपीठके ऊपर चार और उसके आगे पीछे दो दो इस प्रकार कुल मिला कर आठ स्तम्भोंका स्थान निर्धारित किया गया है। किन्तु इसके पूर्व प्रथम श्लोकमें जिन छह स्तम्भोंका स्थान-निर्धारण किया गया था उसमें ही 'पीठगताश्च चत्वारः' लिए गए क्रमशः

रङ्गपीठके ऊपर चार स्तम्भोका स्थान निर्धारण कर चुके हैं। अब दुबारा आठ स्तम्भोंसे चार स्तम्भ रगपीठ पर लगानेका कोई अवसर नही रहता है। इसलिए यहा 'चत्वार पीठगता' यह पाठ निश्चित रूपसे अशुद्ध है। उसे सशोधित करना ही होगा।

पाठसमीक्षा—जब यह स्तम्भ रङ्गपीठपर नही लग सकते हैं तब इनका स्थान कहाँपर होना चाहिए यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्नका समाधान करनेकेलिए हमे पिछले लगाए हुए दस स्तम्भोकी स्थिति और इस श्लोकमें बतलाई हुई अन्य चार स्तम्भोकी स्थितिको ध्यानसे देखना होगा। वार्तिककारके मतानुसार दी हुई स्तम्भ-व्यवस्थाके चित्रोमेंसे चित्र न० १ को देखनेसे प्रतीत होता है कि रगपीठके चारो कोनोपर चार स्तम्भ लगाए जा चुके हैं। उनके बाद रगपीठके दोनो ओर चार हाथकी दूरीपर दो दो तथा पीछेकी ओर नेपथ्यगृहमें रङ्गपीठ वाले स्तम्भोसे आठ-आठ हाथके अन्तरपर दो, कुल मिलाकर दस स्तम्भ और खडे किए जा चुके हैं। यह वर्तमान श्लोक, 'पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ' से रगपीठके आगे और पीछेकी ओर दो-दो स्तम्भोंके लगानेका विधान कर रहा है। चित्रके देखनेसे विदित होगा कि पीछेकी ओर रगपीठसे आठ हाथकी दूरीपर दो स्तम्भ लगाए जा चुके हैं। परन्तु अभी रगपीठसे चार हाथकी दूरीपर कोई स्तम्भ नही लगे हैं, वे स्थान खाली हैं। इसी प्रकार रङ्गपीठके आगे भी चार-चार हाथकी दूरी वाले दोनो स्थान खाली हैं। इसलिए आगे और पीछेकी ओर जिन स्तम्भोका स्थान-निर्धारण किया जा रहा है वे दोनो ओर रगपीठसे चार-चार हाथकी दूरीपर लगेंगे। यह बात स्पष्ट हो जाती है। तब शेष चार स्तम्भ भी रङ्गपीठके अगल-बगलमे दोनो ओर पहिले लगे स्तम्भोसे चार-चार हाथकी दूरीपर लगाए जाने चाहिए। यह बात स्वय सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार इन आठो स्तम्भोका स्थान निर्धारित हो जाता है। स्थानका निर्धारण हो जानेके बाद अब पाठका सशोधन कठिन नही रहता है। जिन चार स्तम्भोंको यहा 'चत्वार पीठगता' पीठपर लगानेका उल्लेख पाया जाता है वे पीठपर न लग कर पीठके दोनों ओर लगाए जाने हैं। इसलिए 'चत्वार पीठगता' के स्थानपर 'चत्वार पार्श्वाभ्या' पाठ उचित प्रतीत होता है। इसलिए इस श्लोक भागका पाठ इस प्रकार बनता है—

'चत्वार पार्श्वाभ्या पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ।

पाठसमीक्षा—श्लोकके उत्तरार्द्ध भागके पाठमें भी थोडी-सी अशुद्धि है। 'तेपामष्टावन्ये-ऽप्युपरि निवेश्या' इस प्रकारका जो पाठ पूर्व-सस्करणोमें छपा है उसके स्थानपर 'ते चाप्यष्टावन्ये ह्युपरि निवेश्या.' पाठ अधिक उपयुक्त है। इस पाठके माननेसे अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है। 'तेपा' पद उतना सङ्गत नही होता है। और खटकता-सा प्रतीत होता है। अत हमने उसको भी सशोधित करके ही सशोधित पाठ मूलमें प्रस्तुत किया है।

आर्या छन्द के लक्षणका समन्वय करते हुए इस श्लोकके सशोधित पाठको निम्न प्रकार लिखा जा सकता है—

१	२	३	४	५	६	७	८
चत्वा-	र पा-	र्श्वाभ्या-	पश्चा-	दग्रे च	यावि-	ह द्वौ	द्वौ।
ते चा-	प्यष्टा-	वन्ये	ह्युपरि नि	वेश्या	य	उद्दि-	ष्टा ॥

इस सशोधित पाठके अनुसार वार्तिककारके मतमें स्तम्भ व्यवस्थाको प्रदर्शित करनेवाले चित्रमें इन आठ स्तम्भोंके लगानेका स्थान चित्र सख्या ३ में वर्गाकार चिह्नो द्वारा प्रदर्शित किए गए हैं।

तृतीय श्लोकका पाठानुसन्धान—

दस स्तम्भो तथा आठ स्तम्भोंके स्थानका निर्धारण ऊपरके दो श्लोकोंमें किया जा चुका। अब छ स्तम्भोंके स्थानके निर्धारणका कार्य शेष रह जाता है। यह कार्य 'षट् सान्तरास्तथान्ये कार्या इति शास्त्रतात्पर्यम्' इस पंक्ति द्वारा किया गया है। किन्तु इसका पाठ अपूर्ण है। आर्या छन्दके लक्षणके अनुसार इसमें सप्तगणा गोपेता.' चार मात्रा वाले सात गण और अन्तमें एक गुरु होना चाहिए किन्तु वह संख्या पूरी नहीं होती है। उसमें तीन मात्राओंकी कमी रह जाती है। इसकी पूर्तिके लिए हमने 'इति' के बाद 'भवति' पद बढ़ाया है। इसके बढ़ानेसे आर्याके लक्षणके अनुसार षष्ठ गण मध्य गुरु जगण बन जाता है। इसलिए 'भवति' पदका, जोकि पूर्व संस्करणोंमें नहीं दिया गया था, समावेश करके ही हमने इसका पाठ प्रस्तुत किया है।

यह इस श्लोकके पूर्वार्द्ध की चर्चा हुई। अब इस श्लोकके उत्तरार्द्ध भागके पाठपर भी विचार करना आवश्यक है। यहां तक भरत मुनिने तीन बारमें जिन १०, ८ और ६ स्तम्भोंके लगानेका विधान किया था वार्तिककारने अपने मतके अनुसार उनके लगानेका क्रम दिखला दिया। किन्तु उनका यह भी विचार है कि एक मात्र हमारा दिखलाया हुआ क्रम ही अन्तिम क्रम नहीं है। स्तम्भोंके लगानेका कोई अन्य क्रम भी हो सकता है। अपने इस भावको उन्होंने 'दत्तोऽत्यव ताय' आदि श्लोकार्ध द्वारा व्यक्त किया है। वार्तिककारके अपने मतानुसार स्तम्भ व्यवस्थाके पूर्ण होनेके बाद स्वाभाविक क्रमसे उसी श्लोकार्धका स्थान आता है। अत. हमने इसके उत्तरार्द्ध भागके रूपमें उसी भागको प्रस्तुत किया है। किन्तु उसका पूर्व-संस्करणोंमें दिया हुआ 'दत्तोऽयथातय सोऽपा नाना भवेदुक्त' यह पाठ बिल्कुल अशुद्ध एवं असङ्गत है। हमने उसके स्थान पर दत्तोऽन्यथा क्रमस्तेषा वा कश्चिद् भवेदत्र' पाठ रखा है। इस प्रकार इन दो भागोंको मिला कर तृतीय श्लोकका पाठ निम्न प्रकार लिखा जा सकता है—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ गु०
षट् सा- न्तरास्त- थान्ये कार्या इति भव- ति शास्त्र- तात्प- र्यम्।
दत्तो ऽन्यथा क- मस्ते- षां वा कश्चि द्भ- वेद- त्र ॥

इस पंक्तिके अनुसार शेष छ स्तम्भोका कोई विशिष्ट स्थान निर्धारित नहीं किया गया है अपितु 'सान्तरा' वाक्यांश 'अवकाश या स्थानके अनुसार उनके लगानेका विधान किया गया है। ऊपर दो श्लोकोंमें स्थान निश्चित करके उन-उन स्थानोंपर १०+८ अठारह स्तम्भोंके खड़ा करनेका विधान किया गया था। उनके बाद जो कुछ स्थान बच रहे हैं उनमें उपयोगिताके अनुसार इन छ स्तम्भोको लगाया जाना चाहिए यह वार्तिककारका अभिप्राय प्रतीत होता है। इसी कारण उन्होने इस छ स्तम्भोंकी व्यवस्थाको आठ स्तम्भोंकी व्यवस्थाके बाद रखा है। वैसे भरतमुनिके क्रमसे देखा जाय तो छ स्तम्भोंकी व्यवस्था आठ स्तम्भोंकी व्यवस्थाके पहिले आनी चाहिए थी। किन्तु वार्तिककारने दस स्तम्भो और आठ स्तम्भोका तो स्थान निश्चित रूपसे निर्धारित कर दिया है और शेष बचे हुए स्थानोंमें उपयोगिताके अनुसार इन छ स्तम्भोंके लगानेका विधान किया है। इस लिए इसको आठ स्तम्भोंकी व्यवस्थाके बाद ही स्थान दिया है। 'वार्तिककार' के मतानुसार स्तम्भ व्यवस्थाको दिखलाने वाले चित्रमें इन छ स्तम्भोंका स्थान दूसरे चित्रमें त्रिभुजाकार चिह्नो द्वारा दिखलाया गया है।

चतुर्थ श्लोकका पाठानुसन्धान—

ऊपर हमने बड़ौदा वाले दोनों संस्करणोंमें मुद्रित पाठके अनुसार वार्तिककारके श्लोकों प्रस्तुत करने वाले साढ़े तीन श्लोक उद्धृत किए थे। इनमेंसे एक (? श्लोक) चर्चित हुए ... १८

गई थी। उसको निकाल देने पर पाँच श्लोक या दस पङ्क्तियां शेष रह जाती हैं। इनमें से तीन श्लोकों के द्वारा क्रमश १०, ८, ६ स्तम्भोंके स्थानका क्रम निर्धारित किया जा चुका है। अब शेष बचे हुए दो श्लोकोंमें इस स्तम्भ-व्यवस्थासे सम्बद्ध अन्य सामान्य बातें कही गई हैं। उनमें पहिले श्लोकमें दो बातें कही गई हैं। पहिली बात तो यह कही गई है कि किसी भी प्रकारसे स्तम्भ-व्यवस्था की जाय, इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी स्तम्भका भित्तियोंसे या दूसरे स्तम्भोंसे आठ हाथसे अधिक अन्तर न रहने पावे। यह जो आठ हाथसे अधिक अन्तर न रहनेकी बात कही गई है वह मण्डपकी छतके पटावकी दृष्टिसे कही गई है। भित्तियों और खम्भोंके ऊपर कड़ी आदि डाल कर ही तो छतका पटाव किया जायगा। आठ हाथका अन्तर रहने तक तो कड़ी आदि सरलतासे डाली जा सकती हैं। किन्तु बीचका फ़ूड इससे अधिक हो जानेपर उसमें कठिनाई होगी। इस लिए आठ हाथसे अधिक अन्तर न रखनेकी ओर विशेष रूपसे ध्यान दिलाया गया है। इससे कम चार हाथके अन्तर पर भी स्तम्भ रखे जा सकते हैं। किन्तु इससे अधिक अन्तर नहीं देना चाहिए यह वार्तिककारका अभिप्राय है।

इस श्लोकके उत्तरार्द्ध भागमें दूसरी बात जो कही गई है वह इस स्तम्भ-व्यवस्थाके प्रयोजनको सूचित करती है। स्तम्भोंके लगानेका एक मात्र प्रयोजन मण्डपके ऊपर छतके पटावकी व्यवस्था करना है। इसकेलिए वार्तिककारने यह श्लोकार्ध लिखा है। किन्तु इसका पाठ सर्वथा अशुद्ध है। 'तैरुत्क्षिप्तैरिह तत स्यादालोक समस्त रङ्गस्य' इसमें 'स्यादालोक समस्त रङ्गस्य' यह पाठ असङ्गत है। इसका सम्बन्ध इस श्लोकसे नहीं अपितु अगले श्लोकसे है। वस्तुतः इस श्लोकका अन्तिम चरण अगले श्लोकमें और अगले श्लोकका अन्तिम चरण इस श्लोकमें मिला दिया गया है। इस लिए यह गडबड हो गई है। श्लोकके पूर्वार्द्धमें भी तीन मात्राओं की कमी पड रही थी। उस सबको ठीक करनेके बाद आर्या छन्दके लक्षण घटानेकी दृष्टिसे इस श्लोकके पाठको निम्न प्रकार लिखा जा सकता है—

१	२	३	४	५	६	७	८
भित्ते.	स्तम्भा-	ना च	स्याद-	न्तरम-	ष्टहस्त-	मेवा-	न्ते।
तैरुत्-	क्षिप्तैः	स्यादिह	चाधा	रो ह्युप-	रि	काष्ठा-	सु॥

पञ्चम श्लोकका पाठानुसन्धान—

इस प्रकार पाच श्लोकोंमेंसे चार श्लोकोंका पाठानुसन्धान कर चुकनेके बाद अब एक अन्तिम श्लोक शेष रह जाता है। पूर्व-सस्करणोंमें उसका पाठ निम्न प्रकार दिया है—

सोपानाकृति पीठकमत्र विधेय समन्ततो रङ्गे।
येनालोक ह्युपरि काष्ठासु॥

इसमें श्लोकके उत्तरार्द्ध भागका पाठ एक तो वैसे ही वह अपूर्ण है। बीचमेंसे कुछ पाठ लुप्त हो गया है। पर जो कुछ शेष बचा है वह भी अशुद्ध और असङ्गत रूपमें मुद्रित किया गया है। इस श्लोकमें वार्तिककार रङ्ग मण्डपमें चारों ओर प्रेक्षकोंके बैठनेकेलिए 'सोपानाकृति' अर्थात् सीढ़ियोंकी तरह क्रमश ऊपर उठते हुए आसनोंकी रचना करनेका विधान कर रहे हैं। 'सोपानाकृति' आसनोंके निर्माण करनेका यह प्रयोजन है पीछे बैठने वाले लोगोंको आगे वालोंकी आड न पड़े। और उनको भी आगे का सब दृश्य ठीक दीखता रहे। इस दृष्टिसे इस श्लोकके उत्तरार्द्ध भागका

वार्तिककृत्तु—

अन्तर्नेपथ्यगृहं स्तम्भौ द्वौ पीठगाश्च चत्वारः ।
परितोऽन्ये चत्वारो दशैवमुक्ता भवन्त्येते ॥ १ ॥
चत्वारः पार्श्वान्यां पश्चादग्रे च याविह द्वौ द्वौ ।
ते चाप्यष्टावन्ये ह्युपरि निवेश्या य उद्दिष्टा ॥ २ ॥
षट् सान्तरास्तथान्ये कार्या इति भवति शास्त्रतात्पर्यम् ।
दत्तो ऽन्यथा क्रमस्तेषां वा कश्चिद् भवेदत्र ॥ ३ ॥

पाठ येनानाच्छादनया स्यादालोकः समस्तरङ्गस्य यह होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ पूर्व-संस्करणोंमें लुप्तपाठका जो स्थान छोड़ दिया है वहाँ पर 'अनाच्छादनया' पाठ होना चाहिए, और 'प्युपरि काष्ठासु' यह जो पाठ चतुर्थ चरणके रूपमें छापा गया है, वह अस्थान पाठ है। उसका उचित स्थान यहाँ नहीं अपितु इससे पूर्व वाले श्लोकके अन्तमें है। लिपिकारके प्रमादवश चतुर्थ श्लोक और पञ्चम श्लोकके अन्तिम चरणोंको परस्पर बदल दिया गया है। अर्थात् पञ्चम श्लोकका चतुर्थ चरण, चतुर्थ श्लोकके अन्तमें, और चतुर्थ श्लोकका अन्तिम चरण पञ्चम श्लोकके अन्तमें छाप दिया गया था। इस क्रमको ठीक करनेकी आवश्यकता है। उसको ठीक किए बिना दोनोंमेंसे किसी भी श्लोकका अर्थ समझमें नहीं आ सकता है। अतः हमने इस समस्त अस्त-व्यस्तता और अशुद्ध पाठका उद्धार एवं संशोधन कर वार्तिककारके सब्का सुसम्बद्ध संशोधित पाठ मूलमें प्रस्तुत करनेका यत्न किया है।

आर्या छन्दके लक्षण समन्वयकी दृष्टिसे इस श्लोकको निम्न प्रकार लिखा जा सकता है—

१	२	३	४	५	६	७	८
सोपा-	नाकृति	पीठक-	मत्तवि-	धेय	समन्त-	तो र-	गे ।
येना-	नाच्छा-	दनया	स्यादा-	लोक- स्तु		रङ्ग-	स्य ॥

वार्तिककारके इन पाँचों श्लोकोंका पाठ पूर्व-संस्करणोंमें बड़ा अशुद्ध और अस्त-व्यस्त रूपमें छपा था। हमने उसे यथा सम्भव शुद्ध एवं व्यवस्थित रूपमें प्रस्तुत करनेका यत्न किया है। पूर्व प्रदर्शित युक्तिक्रमके अनुसार जो संशोधित पाठ निर्धारित होता है उसे मूल पाठके रूपमें रख कर आगे इन पाँचों श्लोकों का अर्थ देते हैं।

अभिनव०—वार्तिककार तो [स्तम्भोंकी व्यवस्था निम्न प्रकार करते हैं]—

अभिनव०—[पहिले दस स्तम्भोंमेंसे] दो स्तम्भ नेपथ्यगृहके भीतर, चार स्तम्भ रङ्गपीठके ऊपर और शेष चार [रङ्गपीठके] दोनों ओर अगल-बगलमें [आठ-आठ हाथकी दूरीपर लगाने चाहिए]। इस प्रकार ये [प्रथम चार] कहे हुए दस [स्तम्भ] हो जाते हैं।१।

अभिनव०—[उसके बाद आठ स्तम्भोंमेंसे] चार रङ्गपीठके अगल-बगलमें [रंगपीठ तथा पूर्व स्तम्भोंके बीचमें चार हाथके अन्तरपर] और [रंगपीठके] आगे तथा पीछे दो-दो इस प्रकार [दूसरी बारमें कहे हुए] ये आठ [स्तम्भ] भी लगाने चाहिए ॥२॥

भित्ते. स्तम्भानां च स्यादन्तरमष्टहस्तमेवान्ते ।
तैरुत्क्षिप्तै स्यादिह चाधारो ह्युपरि काष्ठासु ॥ ४ ॥
सोपानाकृति पीठकमत्र विधेय समन्ततो रङ्ग ।
येनानाच्छादनया स्यादालोकस्तु रङ्गस्य ॥ ५ ॥

अन्येऽपि चैवविधा वहव प्रवादा ग्रन्थविस्तरभयान्न लिखिता ।

अभिनव०—और शेष [बचे हुए स्थानोमे] अवसरानुकूल [बचे हुए] छः [स्तम्भ] लगावे यह शास्त्रका तात्पर्य होता है। अथवा नाना प्रकारका अन्य कोई क्रम भी इनको दिया जा सकता है ॥३॥

अभिनव०—किन्तु प्रत्येक दशामे [यह ध्यान रखना चाहिए कि] भित्तिसे स्तम्भो का [तथा एक स्तम्भसे दूसरे स्तम्भके बीचका] अन्तर अधिक-अधिक आठ हाथका हो [इससे अधिक नही। कम-से-कम तो चार हाथ तक हो सकता है]। इस प्रकार उनके खडे किए जानेसे ऊपरकी ओर [छतके लिए ठीक] आधार मिल जाता है ॥४॥

अभिनव०—[इस स्तम्भ-व्यवस्थाके बाद] इस रगभूमिमे सब ओर [अर्थात् तीन ओर] प्रेक्षकोके बैठनेकेलिए सीढिओकी तरह [क्रमश ऊपर उठते हुए] आसनोकी रचना करे। जिससे [पीछे वालोके लिए] आड न होकर सब लोगोको रगपीठका भली प्रकारसे दर्शन हो सके ॥५॥

अभिनव०—इस प्रकारके अन्य भी मत [स्तम्भ-व्यवस्थाकेविषयमे] पाए जाते हैं। ग्रन्थके विस्तारके भयसे उनको नही लिखा है।

भट्टतोतके मतानुसार स्तम्भव्यवस्था—

इस प्रकार यहा तक अभिनवगुप्तने स्तम्भ-व्यवस्थाके विषयमे सबसे पहिले शङ्कुकादिके मतका उसके बाद 'अन्ये' पदसे भट्टलोल्लट या भट्टनायक आदि अन्य व्याख्याताओके मतका, उसके बाद वार्तिककारके मतका विशेष रूपसे उल्लेख किया है। उसके बाद इस विषयमें अन्य मतभी पाए जाते हैं इस वातका निर्देश 'अन्ये चैवविधाः प्रवादा' इस वाक्य द्वारा किया है। इस प्रकार चार व्याख्याकारोके मतोको देनेके बाद अब ग्रन्थकार 'इत्युपाध्याया' पदसे अपने गुरु श्री भट्टतोतके मतका निर्देश करने जा रहे हैं।

पाठसमीक्षा—किन्तु इस स्थलका पाठ बडा अस्त-व्यस्त और अशुद्ध रूपमें पूर्व सस्करणो मुद्रित हुआ है। सामान्य रूपसे उसका अर्थ समझ सकना बडा दुष्कर कार्य है। उसमें पाठकी अशुद्धिया भी हैं और पाठके पौर्वापर्यका व्यतिक्रम भी है। इसलिए जब तक इन दोषोका परिहार कर पाठको क्रमबद्ध और सशोधित न कर दिया जाय तब तक वह समझमें नही आ सकता है। इसलिए उसकी व्याख्या करनेके पूर्व हम उसको सशोधित तथ क्रमबद्ध करनेका यत्न करेगे। सबसे पहिले एक बार पूर्व सस्करणोमें वह पाठ जिस रूपमे मुद्रित हुआ है उसको यहा दे देना आवश्यक है। उसके बाद उसके विषयमें अन्य विचार हो सकेगा। बडोदा वाले दोनो सस्करणोमे इस स्थलका पाठ निम्न प्रकार छपा है—

'अथ चन्द्रमोदर [नाम सार] इत्युपाध्याया। इह प्रेक्षामण्डपस्य त्रिधा कल्पना कृता मधोभूमि., रङ्गपीठ रङ्ग इति। तेष चाय स्तम्भविन्यासावधिविच्छेद उक्त ।

तथाहि—अधोभूमौ स्तम्भानाह, 'तथाभ्यन्तरत.' इति। विस्तारे द्वादशहस्ताया मेव च चतु''' [हस्तान्तरा.] दातव्याः। द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्तान्तरावन्योन्यापेक्षया चाष्टहस्तान्तरौ। अन्योन्य तयोरन्तर तथा कार्यं येन द्वारविद्धता न भवति। इत्येव पञ्चसुनामु दश। एतत् स्तम्भदशक-व्यतिरिक्ताया भूपावागनविधिरित्याह—स्तम्भानां बाह्यतश्चापीत्यादि। पूर्ववद्व्याख्येयम्। अथ रङ्गपीठे स्तम्भन्यासमाह षडन्यानित्यादि। उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षितस्य या नेपथ्यगृहस्य वारुणकोण इत्युक्त भवति। रङ्गपीठस्य यत्पृष्ठ रङ्गशिरस्तत्र द्वितीयमिति रादयपेक्षयैकवचनम्। तेन द्वारद्वयमेव रङ्गशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय कर्तव्यम्। चकारादन्य [प्रवेशार्थम्]। जनप्रवेशनद्वारम्। त्रीणि वा कार्याणि मतान्तरे इति सगृहीत भवति। सर्वग्रहणादन्यूनाधिकत्वमत्र दर्शयन् विकृष्टे स्तम्भा-नामाधिक्य मनुजानीते।

स्यश्चरङ्गपीठे तु प्रतिरङ्गमध्य इति। रङ्गोऽत्र तच्छिर। तत पृष्टत र'' गेयादिवा-श्रित। कर्मप्रवचनीयो वर्जनद्योतक। रङ्गपीठ वर्जयित्वा तदभ्यन्तरमण्डपस्य। तत्र द्वात्रिंशद्धस्तेषु रङ्गपीठे प्रतियोगस्तम्भा इत्यष्टहस्तान्तरादचत्वारः। तदनन्तर स्तम्भ-द्वयमिति पठ्यतेऽष्टहस्तान्तर ततो द्वादशहस्तायाम यदवशिष्यते तत्र चतुर्हस्तायाम द्वात्रिंशद्धस्तविस्तार यद्रङ्गशिरस्तत्र द्वे तुले दातव्ये। प्रतितुल चाष्टहस्ता [न्तर स्तम्भचतुष्टय] वर्जयित्वेत्यिष्टो भवति। अत एव हि 'विद्वास्यमष्टहस्त चतुर्हस्तान्तरालेऽपि तिरश्चीन देयम्। येन तुलित चित्र भवति। एतदाहाष्टौ-स्तम्भानितित्यादि। पादमोमोपादित्रो वा सिरयमुपरीति। रङ्गपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यर्थ.। तथा च विकृष्टमण्डपे रङ्गपीठापेक्षया रङ्गशिर उन्नतं वक्ष्यते। तत्र नियमादष्टस्तम्भा न्यस्यन्ते। अपि तु दृढा न्यसनीया इति दर्शयति 'तत्र स्तम्भा' इति।

पाठसमीक्षा—यह पूर्व-सस्करणोमें मुद्रित, इस स्थलका पाठ है। अनेक बार ध्यान-पूर्वक पढ जानेपर भी इसका कुछ अर्थ समझमें नही आता है। उसको अनेक बार पढ कर यदि हम उसके विषयको समझना चाहे तो मोटे-मोट रूपमे उसमें सात विषयोंका प्रतिपादन दिखलाई देता है।

१. प्रथम अनुच्छेदमें 'इत्युपाध्यायाः' पद आया है। इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार यहां अपने उपाध्यायके मतका प्रतिपादन कर रहे हैं।

२ द्वितीय अनुच्छेद के प्रारम्भमें 'एतत् स्तम्भदशकव्यतिरिक्तायां भूमावागमनविधि-रित्याह' इससे प्रतीत होता है कि इसमें आगमनविधिका वर्णन किया गया है।

३. उसी अनुच्छेदमें षडन्यानित्यादि' से प्रतीत होता है कि इसमें यहांपर छ स्तम्भोंके लगानेका विधान किया गया है।

४. उसके बाद उसी अनुच्छेदमें 'द्वारद्वयम्'। 'जनप्रवेशनद्वारम्'। इत्यादि पदोंको देख कर यह प्रतीत होता है कि इसमें द्वारविधिका भी वर्णन किया गया है।

५. उसके बाद अगले तृतीय अनुच्छेदके प्रारम्भमें' स्यश्चरङ्गपीठ' शब्दके प्रयोगको देख कर यह प्रतीत होता है कि इसमें स्यश्च रङ्गपीठका भी वर्णन किया गया है।

६ उसके आगे फिर 'पठ्यतेऽष्टहस्तान्तर' पद आया है। इसको देख कर यह प्रतीत होता है कि यहां फिर छ स्तम्भोंके लगानेकी चर्चा की गई है।

७. उसके बाद प्रतितुल चाष्टहस्तान्तर स्तम्भचतुष्टय वर्जयित्वेत्यिष्टो भवति' इस पंक्तिको देख कर यह प्रतीत होता है कि यहांपर आठ स्तम्भोंके लगानेका वर्णन है।

पाठसमीक्षा—इस प्रकार इन पंक्तियोंमें अनेक विषयोंका वर्णन पाया जाता है। जिनमेंसे कुछका तो इस प्रकरणके साथ सम्बन्ध है किन्तु कुछ विषय ऐसे भी है जिनका प्रकृत प्रकरणसे कोई भी सम्बन्ध नही है। उदाहरणकेलिए द्वार-विधिसे सम्बद्ध पंक्तियोको निर्दिष्ट किया जा सकता है। यह स्तम्भ-व्यवस्थाका प्रकरण चल रहा है। द्वार-व्यवस्थाका नही। द्वार-व्यवस्थाका वर्णन आगे आवेगा। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि इन द्वार व्यवस्था-विषयक पंक्तियोको यहाँ असावधानताके कारण अ-स्थानमें मुद्रित कर दिया गया है। वे अर्थको समझनेमें गडबड पैदा कर रही है। इसके अतिरिक्त जिन पंक्तियोका वर्तमान प्रकरणसे सम्बन्ध है उनको भी इस पाठमें अस्त-व्यस्त रूपमें दिया है जिससे उनका अर्थ भी समझमें नही आता है। और तीसरा दोष यह है कि अनेक स्थानोंपर पाठ अत्यन्त अशुद्ध रूपमें छपा होनेके कारण एक-दम अज्ञेय बन गया है। इन सब बातोको ठीक तरहसे स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे हम आगे इस उद्धरणके पाठको १४ खण्डोमें विभक्त करके आगे दे रहे हैं। इस खण्ड-विभागके बाद हम यह दिखलानेका यत्न करेंगे कि इनमें से किन-किन खण्डोका परस्पर सम्बन्ध है। और किस क्रमसे उनका पाठ ग्रन्थकारको अभीष्ट हो सकता है।

१ अथ चन्द्रसोदर इत्युपाध्याया। इह प्रेक्षामण्डपस्य त्रिधा कल्पना कृता। अधोभूमि रङ्गपीठ रङ्ग इति। तेषु चाय स्तम्भविन्यासविधिविच्छेद उक्तः। तथाहि—अधोभूमौ स्तम्भानाह— तत्राभ्यन्तरत' इति। विस्तारे द्वादशहस्तायाममेव च चतु ''[हस्तान्तर] दातव्या। दौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्तान्तारौ, अन्योन्यापेक्षया चाष्टहस्तान्तरौ। अन्योऽन्य तयोरन्तर तथा कार्यं येन द्वारविद्धता न भवति। इत्येव पञ्चतुलासु दश। [दश स्तम्भ विधि श्लोक ९१]

२ एतत् स्तम्भव्यतिरिक्तायां भूमावासनविधिरित्याह—'स्तम्भाना वाह्यतश्चापि' इति। पूर्ववद्व्याख्येयम्। [आसन विधि, श्लोक ९१]

३ अथ रङ्गपीठे स्तम्भन्यासमाह—'षडन्यान्' इत्यादि। [षड् स्तम्भ विधि, श्लोक ९२]

४ उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षितस्य वा नेपथ्यगृहस्य वारुणकोण इत्युक्त भवति। [द्वारविधि]

५ रङ्गपीठस्य यत् पृष्ठ रङ्गशिरस्तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षयैकवचनम्। तेन द्वारद्वयमेव रगशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय कर्तव्यम्। चकारादन्य [प्रवेशार्थम्] जनप्रवेशद्वारम्। त्रीणि वा कार्याणि मतान्तरे इति सगृहीत भवति। [द्वारविधि श्लोक १०३]

६ सर्वग्रहणादन्यूनाधिकत्वमत्र दर्शयन् विकृष्टे स्तम्भानामाधिक्यमनुजानीते। [श्लोक १०४]

७. अथ रगपीठे तु प्रतिरगमध्ये इति।

८ रगोऽत्र तच्छिर। तत पृष्ठत। 'र'''गे यादिवाभित.।

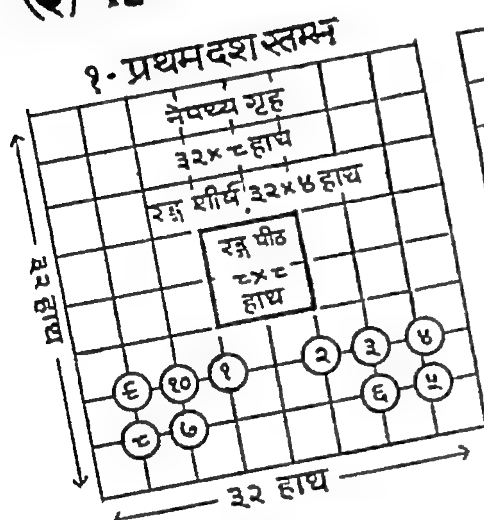
९ कर्मप्रवचनीयो वर्जनद्योतक। रगपीठ वर्जयित्वा तदभ्यन्तरमण्डपस्य।

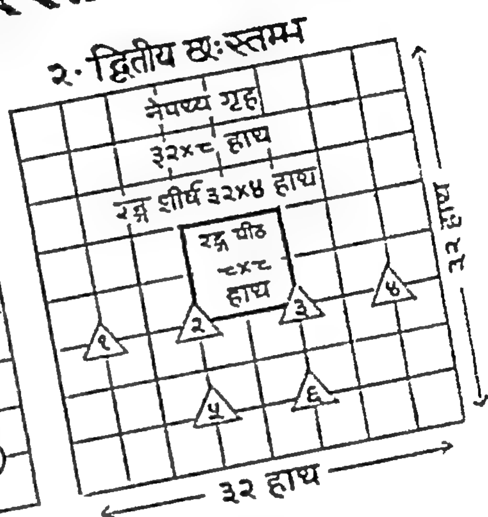
१० तत्र द्वात्रिंशद्धस्तेषु रगपीठे प्रतिकोणस्तम्भा इत्यष्टहस्तान्तराश्चत्वार। तदनन्तर स्तम्भद्वयमिति षडप्येतेऽष्टहस्तान्तरम्।

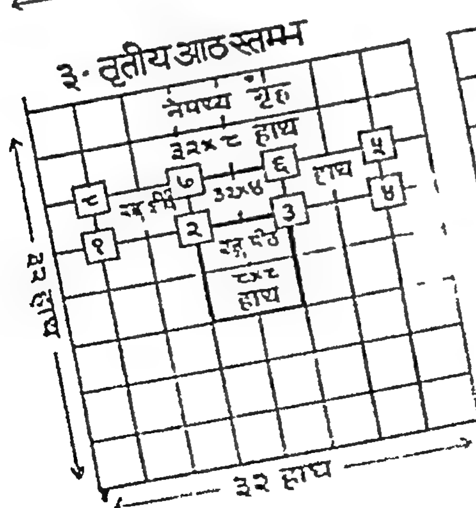
११ ततो द्वादशहस्तायाम यदवशिष्यते तत्र चतुर्हस्तायाम द्वात्रिंशद्धस्तविस्तार यद् रगशिर तत्र द्वे तुले दातव्ये। प्रतितुल चाष्टहस्तान्तर स्तम्भचतुष्टय वर्जयित्वा

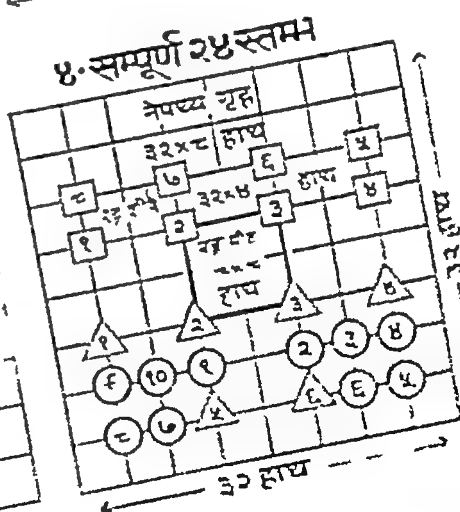
इत्यष्टौ भवन्ति । अत एव हि विद्धास्यमष्टहस्त चतुर्हस्तान्तरालेऽपि तिरश्चीन
देयम् । तेन तुलितं चित्रं भवति । एतदाह-अष्टौ स्तम्भभान् इत्यादि ।
१२ शादसौमीयादिको वा मिरयमुपरीति ।
१३. रंगपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यर्थः । तथा च विकृष्टमण्डपे रंगपीठापेक्षया रंगशिर
उन्नत वक्ष्यते । तत्र नियमादष्ट स्तम्भा न्यस्यन्ते ।
१४. अपि तु दृढा न्यसनीया इति दर्शयति तत्र स्तम्भा इति ।

(५) भट्टतोतके मतानुसार स्तम्भ-व्यवस्था









प्रथम श्लोक [९०] की व्याख्याका पाठानुसन्धान—

पाठसमीक्षा—इनमें से प्रथम खण्डमें दश स्तम्भोके लगानेका विधान किया गया है। यह भरतमुनिके ९० सख्या वाले श्लोककी व्याख्या रूपमे लिखा गया है। और ठीक स्थानपर मुद्रित है। किन्तु उसका पाठ बहुत अशुद्ध है। 'अथ चन्द्रसोदर इत्युपाध्याया' से इस खण्डका आरम्भ होता है परन्तु यह 'श्रीगणेश' ही गलत हो गया है। 'चन्द्रमोदर' पदकी यहां कोई सङ्गति नही लगती है। इसलिए वह अशुद्ध है। यह 'प्रथमग्रासे मक्षिकापात.' हुआ। 'अथ चन्द्र सोदर' के स्थानपर यहां 'अथ चात्र सार' यह पाठ होना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है स्तम्भ-व्यवस्था विषयक अनेक मतोको दिखलानेके बाद अभिनवगुप्त सक्षेपमें अपने गुरु भट्टतोतके मतको दिखलाना चाहते हैं। 'अथ चात्र मार' पदसे अभिनवगुप्तने उसीका उपक्रम किया है। अत यह 'अथ चन्द्रसोदर' के स्थान पर हमने 'अथ चात्र सार इत्युपाध्याया.' यह पाठ प्रस्तुत किया है।

अभिनवगुप्तने प्रथम बारमें लगाए जाने वाले दश स्तम्भोका स्थान 'अधोभूमि' अर्थात् प्रेक्षकोके बैठने वाले स्थानमे नियत किया है। मूल श्लोकके 'तत्राभ्यन्तरत' पदसे उन्होने भीतरी भाग अर्थात् प्रेक्षकोके बैठने वाले स्थानका ग्रहण किया है। और उसकेलिए 'अधोभूमि' शब्दका प्रयोग किया है। चतुरस्र मण्डपमे यह 'अधोभूमि' वाला क्षेत्र ३२ हाथ लम्बा और बारह हाथ चौडा निकलता है। इसी क्षेत्रमें प्रथम बारके दश स्तम्भ लगानेका विधान 'भट्टनोत' ने किया है। इसीका प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्तने 'अधोभूमौ स्तम्भानाह—'तत्राभ्यन्तरत इति'। लिखा है। भट्टतोत' के मतानुसार स्तम्भव्यवस्थाका प्रदर्शक जो चित्र फलक ऊपर दिया जा चुका है। इसके प्रथम चित्रमें अधोभूमिमें दश स्तम्भोके स्थान दिखलाए गए हैं। इनमे केवल दो स्तम्भो के बीचमे आठ हाथोका अन्तर है और शेष सब स्तम्भ एक दूसरेसे चार हाथके अन्तरपर लगे हुए हैं। अभिनवगुप्तने 'द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्तान्तरौ, अन्योन्यापेक्षया चाष्ट-हस्तान्तरौ' लिख कर दो स्तम्भोके विषयमें इसी प्रकारकी व्यवस्था की है। हमने १, २ सख्या वाले दो स्तम्भोके जो स्थान चित्रमें एक दूसरेसे आठ हाथके अन्तरपर नियत किए है वे अपनी-अपनी ओर वाली भित्तियोसे १२-१२ हाथकी दूरीपर भी हैं। उनका निर्धारण अभिनवगुप्तकी इसी पक्तिके आधारपर किया गया है। अब शेष आठ स्तम्भोके स्थानकी बात रहती है। उसके लिए यहां अभिनवगुप्तने 'विस्तारे द्वादशहस्तायाम एव चतुर्हस्तान्तरा दातव्या' यह पक्ति लिखी है। इस निर्देशके अनुमार १२ हाथ चौडी 'अधोभूमि' में चार-चार हाथके अन्तरपर आठ स्तम्भो के लगानेकी जो कुछ व्यवस्था हो सकती है उसके अनुसार हमने उनके स्थान भी प्रथम चित्रमे निर्धारित कर दिए हैं। इन दश स्तम्भोमें दो-दो स्तम्भोको मिलाकर उनके ऊपर एक-एक 'तुला' या 'सरदल' या 'शहतीर' डाली जायगी। इस बातको अभिनवगुप्तने इसी खण्डके अन्तमें 'इत्येव पञ्चतुलास दश' इस पक्तिसे निदिष्ट किया है।

पाठसमीक्षा—यह दश स्तम्भोके स्थान निर्धारणकी व्यवस्था तो ठीक बन गई परन्तु उसमें एक विशेष महत्त्वपूर्ण प्रश्न शेष रह जाता है। भरतमुनिने इन दश स्तम्भोके लगानेका निर्देश करते हुए 'तत्राभ्यान्तरत कार्या रङ्गपीठोपरिस्थिता। दश प्रयोक्तृभि स्तम्भा शक्ता मण्डपधारणे' यह श्लोक [स० ९०] लिखा है। इसमें इन दश स्तम्भोको 'रङ्गपीठोपरिस्थिता' अर्थात रङ्गपीठके ऊपर स्थित कहा है। किन्तु प्रकृत लेखके अनुसार 'भट्टतोत' ने उनका स्थान 'अधोभूमि' में निर्धारित किया है। यह भट्टतोतकी स्तम्भ व्यवस्थाका भरतमुनिकी स्तम्भ-व्यवस्था के साथ विरोध उपस्थित होता है। भट्टतोतके सामने भी यह समस्या आई थी। उन्होने

उसके समाधानकेलिए कुछ यत्न भी किया है। किन्तु पाठ दोषके कारण वह स्पष्ट रूपसे समझ में नहीं आता है। फिर भी जो कुछ पाठ उपस्थित है उससे ऐसा अनुमान होता है कि उन्होंने इस समस्याके समाधानके दो मार्ग निकाले हैं। पहिले मार्गके अनुसार वे 'उपरि' शब्दसे 'ऊपर' अर्थ न लेकर 'आगे' या 'सामने' अर्थका ग्रहण करना चाहते हैं। उस अवस्थामें 'रङ्गपीठोपरि स्थिता' का रङ्गपीठके सामने अर्थात् 'अधोभूमिमें स्थित' यह अर्थ सरलतासे ही हो जायगा। भट्टतोत की 'उपरि' शब्दकी यह व्याख्या बिल्कुल ठीक है। इसी व्याख्याको मान कर उन्होंने इन दश स्तम्भोंको अधोभूमि' में लगानेका विधान किया है।

पाठसमीक्षा—ऊपर दिए हुए युक्ति क्रमसे यह बात बिल्कुल निश्चित है कि भट्टतोत 'ऊपरि' शब्दसे 'आगे' या 'सामने' अर्थ ले रहे हैं। किन्तु इस भावको व्यक्त करने वाली जो पंक्ति उन्होंने लिखी थी उसका पाठ ऐसा भ्रष्ट और अस्त-व्यस्त हो गया है कि उसको पहिचान सकना भी कठिन है। ऊपर दिए हुए १६ खण्डोंमें चौथे खण्डके रूपमें जो पंक्ति दी गई है वही पंक्ति भट्टतोतके इस अभिप्रायको व्यक्त करने वाली पंक्ति है। 'उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षितस्य वा नेपथ्यगृहस्य वारुणकोणे इत्युक्तं भवति' यह, वह पंक्ति है जो भट्टतोत ने 'उपरि' शब्दकी व्याख्याके रूपमें लिखी थी। किन्तु पूर्व संस्करणोंके पाठके अनुसार एक तो वह स्थान भ्रष्ट हो गई है और दूसरे अशुद्ध रूपमें छपी है इसलिए न तो उसका ही कोई अर्थ लगता है और न प्रकृत विरोध-परिहार का कोई मार्ग दिखलाई देता है। स्थानकी दृष्टिसे उसका स्थान प्रथम खण्डके बाद होना चाहिए। तब यह बात समझमें आ सकती है कि इस पंक्तिके द्वारा ग्रन्थकार प्रकृत विरोधके परिहारका यत्न कर रहे हैं। पर फिर भी उसके अशुद्ध पाठके कारण विवक्षित अर्थ उससे सरलतासे नहीं निकल सकेगा। इसका मुख्य कारण इस पंक्ति में आया हुआ 'वारुणकोणे' पद है। यह एक दम अशुद्ध पाठ है। वारुणी दिशा पश्चिम दिशा कहलाती है। 'अधोभूमि' जिसमें कि भट्टतोत इन दश स्तम्भोंके लगाने की व्यवस्था कर रहे हैं रङ्गपीठके पश्चिमकी ओर नहीं, पूर्वकी ओर है। पूर्व वाला भाग ही रङ्गपीठके सामने वाला भाग है। उसी पूर्व भागको 'रङ्गपीठोपरि' रङ्गपीठके सामनेका भाग कहा जा सकता है। 'उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षिते पूर्वभागे' यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। किन्तु 'वारुणकोणे' ने इस भावको बिल्कुल नष्ट कर दिया है। इसलिए यह पाठ अशुद्ध है। उसके स्थान पर 'पूर्वभागे' पाठ ही होना चाहिए। पर समस्या इतनेसे भी हल नहीं होती है। रङ्गपीठ 'मुखोपलक्षितस्य' में षष्ठी विभक्ति भी खटपटी प्रतीत होती है। उसके स्थानपर सप्तमी विभक्ति होनी चाहिए। 'उपरि' का अर्थ 'रङ्गपीठ मुखोपलक्षिते पूर्वभागे' हो सकता है। इसी पंक्तिमें 'वा नेपथ्यगृहस्य' शब्द भी दिए हुए हैं। इन शब्दोंकी यहां कोई आवश्यकता तो नहीं दीखती है पर जब दिए हैं तो उनका अर्थ 'अथवा नेपथ्यगृह के पूर्वभाग में यह करना चाहिए। ऐसी दशामें इस पंक्तिका समुचित पाठ 'उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षिते, नेपथ्यगृहस्य वा पूर्वभागे' इस प्रकार दिया जा सकता है। इस प्रकार चतुर्थ खण्डको संशोधित करके प्रथम खण्डके अन्तमें उसको देना चाहिए। पूर्व संस्करणोंमें इसको जहां दिया गया है वहां उसका कोई अर्थ नहीं लगता है।

पाठसमीक्षा—भट्टतोतने 'अधोभूमि' में दश स्तम्भोंके लगानेकी व्यवस्था की है उसका भरतमुनिके 'रङ्गपीठोपरिस्थिता:' इस मूल वाक्यके साथ जो विरोध प्रतीत होता उसके परिहार करनेके दो मार्ग भट्टतोतने दिखलाए हैं। उनमेंसे पहला उल्लेख ऊपरकी पंक्तियोंमें कर दिया गया है। इस सारे प्रकरणको देखनेसे प्रतीत होता है कि इस विरोध—परिहारका एक मार्ग उन्होंने और भी दिखलाया है। किन्तु पाठदोषके कारण उसका समझ सकना भी कठिन है। वह मार्ग

ऊपर दिखलाए हुए १६ खण्डोमेंसे नवम खण्डमें 'कर्म प्रवचनीयो वर्जान द्योतक' रङ्गपीठ वर्जयित्वा तदभ्यन्तर मण्डपस्य' इस पक्तिके द्वारा दिखलाया गया है। इस पक्तिका भाव यह है कि यहा 'परि' प्रवचनीय वर्जन अर्थमे है। 'अप परी वर्जने इस पाणिनि सूत्रके अनुसार 'वर्जन' अर्थमें 'अप' तथा 'परि' की कर्मप्रवचनीय सज्ञा होती है। यहा 'परि' 'कर्मप्रवचनीय' के रूपमें प्रयुक्त हुआ है इसलिए उसका अर्थ वर्जन है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि 'रङ्गपीठोपरिस्थिता' का अर्थ 'रङ्गपीठ वर्जयित्वा' रगपीठको छोडकर भीतरकी ओर अर्थात् 'अधोभूमि' में दश स्तम्भ लगाने चाहिए। इस प्रकारकी व्याख्या द्वारा भरत मुनिके श्लोकके साथ प्रतीत होने वाले विरोधके परिहारका दूसरा मार्ग ग्रन्थकारने दिखलाया है। और वह बहुत ठीक मार्ग है। किन्तु इसमे थोडा सा अन्तर पडता है। वह अन्तर यह है कि भरतमुनिके श्लोकमें 'रगपीठोपरिस्थिता' पाठ पाया जाता है। उसका पदच्छेद रङ्गपीठ+उपरि स्थिताः होता है। उस पाठमें 'परि' नही 'उपरि' पदच्छेद ही निकलता है। यदि यहा 'परि' कर्मप्रवचीयका प्रयोग माना जाय तो 'कर्मप्रवचीययुक्ते द्वितीया' इस पाणिनि सूत्रके अनुसार 'रगपीठ' पदमें द्वितीया विभक्ति होकर 'रग पीठ परि स्थिताः' पाठ मानना होगा। इस पाठके माननेमें और कोई दोष नही आता है केवल पाठभेद होता है। इस प्रकार भट्टतोतने 'रगपीठोपरिस्थिता' तथा 'रगपीठ परि स्थिता' दो प्रकारके पाठ मानकर भरतमुनिके पाठके साथ दश स्तम्भोंके अधोभूमिमें लगानेकी व्यवस्थाके विरोधका परिहार दिखलाया है।

इस प्रकार ऊपर दिए हुए १४ खण्डोमेंसे १+ +६ तीन खण्डोको मिलकर भरत मुनि ने ९० सख्या वाले एक श्लोककी भट्टतोत कृत व्याख्या पूर्ण होती है। इसलिए इन तीनो खण्डोको एक साथ मिलाकर ही हमने सशोधित पाठ यहा प्रस्तुत किया है।

बीचमे आसन विधि—

प्रथम दश स्तम्भोके स्थान-निर्धारणके बाद ६१-६२ श्लोकोमे भरतमुनिने यह प्रतिपादन किया है कि इन स्तम्भोके बाहरकी ओर सीढियोकी तरह क्रमश ऊचे होते हुए आसनोकी रचना करे। यहा स्तम्भ-व्यवस्थाका प्रश्न मुख्य रूपसे चल रहा है इसलिए भट्टतोतने इस आसन विधिकी विशेप व्याख्या न करके केवल एक पक्तिमें उसका निर्देश कर दिया है। पूर्व प्रदर्शित १६ खण्डोमे 'एतत्स्तम्भव्यतिरिक्तायां भूमौ आसन विरिरित्याह—'स्तम्भाना वाह्यतश्चापि' इति। पूर्व वद्व्याख्येयम्'। यह द्वितीय खण्ड इस आसनविधिसे सम्बन्ध रखता है। इससे भट्टतोतको कोई विशेप बात नही कहनी थी इसलिए 'पूर्ववद्व्याख्येयम्' अर्थात् पूर्व व्याख्याकारोके समान ही इसकी व्याख्या कर लेना चाहिए इतना ही लिखकर इसे छोड दिया है।

छ स्मभोकी व्यवस्था विषयक पाठका अनुसन्धान—

दश स्तम्भो और उसके बाद बीचमें आसन विधिका वर्णन करनेके बाद, अगले श्लोक [स ६३] में भरतमुनिने दूसरी वार लगाए जाने वाले छ स्तम्भोको लगानेका विधान किया है। भट्टतोतने सारी स्तम्भ व्यवस्थाको तीन भागोमें बाटा है। 'इह प्रेक्षामण्डपस्य त्रिधा कल्पना कृता। अधोभूमि रगपीठ रङ्ग इति। तत्र चाय स्तम्भविन्यास विधि विच्छेद उक्त' यह भट्टतोत की व्याख्याका प्रारम्भिक भाग है। इसमें उन्होने प्रेक्षागृहको अधोभूमि, रगपीठ और रगशीर्ष तीन भागोमे विभक्त कर तीन वारमें विधान किए गए स्तम्भोके लगानेका विधान किया है। इस पक्तिसे भट्टतोतने यह भी सूचित किया है कि भरतमुनिने जो तीन वारमें अलग-अलग स्तम्भोके लगानेका विधान किया है उसका यही कारण है कि तीनो बारके कहे हुए स्तम्भ अलग-अलग भागोमे लगाए जाते हैं। और इनके लगानेका क्रम अधोभूमिसे आरम्भ होकर रगपीठपर होता हुआ रगशीर्ष पर समाप्त

होता है। अर्थात् पहिली वारमें कहे हुए दस स्तम्भ 'अग्रभूमि' में उसके बाद कहे हुए छ स्तम्भ रगपीठपर और सबसे अन्तमें कहे हुए आठ स्तम्भ रंगशीर्षपर लगाने चाहिए इस अभिप्रायसे भट्टतोतका अभिप्राय है।

पाठसमीक्षा—इसी अभिप्रायसे रंगपीठपर छ स्तम्भोके स्थानका निर्धारण करनेकेलिए भट्टतोतने 'अथ रगपीठे स्तम्भन्यासमाह 'षडन्यान् इत्यादि' यहासे व्याख्या प्रारम्भ की है। किन्तु इस स्थलका पाठ भी पूर्व पाठोंके समान अस्त-व्यस्त और अशुद्ध रूपमें पूर्व सस्करणोंमें मुद्रित हुआ है इसलिए वह ठीक समझमें नही आता है। यह पक्ति तो स्पष्ट है। उसमें रगपीठके ऊपर लगाए जाने वाले छ स्तम्भोंका वर्णन किया जा रहा है यह बात सहज ही समझ में आजाती है। किन्तु इसके आगे गाडी एक दम रुक जाती है। पूर्व सस्करणोमें मुद्रित पाठका ऊपर हमने जो १६ खण्डोमें विश्लेषण किया है उसमें यह पक्ति तृतीय खण्डके रूपमें दी गई है। पर अगला चौथा खण्ड इस प्रकरणसे बिल्कुल भी सम्बन्ध नही रखता है। उसका सम्बन्ध द्वार विधिसे है। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। छः स्तम्भोंकी व्यवस्थाका प्रतिपादन करने वाला यह वाक्य यहा अपूर्ण रह जाता है। इसका पूरक भाग दसवें खण्डमें मिलता है। 'तत्र द्वात्रिंशद्धस्तेषु रगपीठ प्रतिकोणस्तम्भा इत्यष्ट हस्तान्तराश्चत्वारः। तदनन्तर स्तम्भद्वयमिति षडप्येतेऽष्टहस्तान्तरम्' यह दशम खण्डका पाठ है। इसको पढते ही स्पष्ट हो जाता है कि यह पक्ति छ स्तम्भोकी व्यवस्थासे सम्बन्ध रखती है। पूर्व-सस्करणोंके पाठमें जिस स्थानपर इसको मुद्रित किया गया है वहा पर न अगले वाक्यके साथ इसका कोई सम्बन्ध जुडता है और न पिछले वाक्यके साथ कोई सम्बन्ध है। वहापर यह एक दम व्यर्थ पडी हुई है और अगले पिछले वाक्योका अर्थ समझनेमें भी बाधक बन रही है। इस दशम खण्डको तृतीय खण्डके साथ मिलाकर पढनेसे उन दोनोका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इसलिए उनके इस तरह अलग होजानेका कोई भी कारण क्यों न हो, यह निश्चित है कि ये दोनो खण्ड एक दूसरे सम्बद्ध है। साथ-साथ ही मुद्रित करना चाहिए। तभी उनका अर्थ समझमें आ सकता है। अन्यथा नही। इसलिए हमने इन दोनो खण्डोको मिलाकर मुद्रित किया है।

पाठसमीक्षा—पर अभी इतनेसे ही समस्या हल नही होती है। दशम खण्डका पाठ अस्थान पतित होनेके अतिरिक्त अशुद्ध भी है। पूर्व सस्करणोंमें मुद्रित 'तत्र द्वात्रिंशद्धस्तेषु रगपीठे प्रतिकोणस्तम्भा इत्यष्टहस्तान्तराश्चत्वार । इस पक्तिमें 'प्रतिकोण स्तम्भा' यह पाठ अशुद्ध है। चतुरस्र मण्डपकी लम्बाई बत्तीस हाथ है। इसमें 'अष्टहस्तान्तराश्चत्वार.' आठ-आठ हाथकी दूरीपर चार स्तम्भोके लगानेका विधान किया जा रहा है। ये चारो स्तम्भ रगपीठके चारो कोनोपर नही, अपितु रगपीठके सामने की ओर अग्रभूमि तथा रगपीठके कोनोपर लगाए जाने चाहिए। भट्टतोतके मतानुसार स्तम्भव्यवस्थाका जो चित्र हमने पीछे प्रस्तुत किया है उसमें द्वितीय चित्रमें इनका ठीक स्थान देखा जा सकता है। रगपीठके कोनोपर लगाने से ये चारो स्तम्भ 'अष्ट हस्तान्तरा' तो हो सकते है किन्तु भट्टतोतके मतमें यहा इनका स्थान अभिप्रेत नही है। इनमें से केवल दो स्तम्भ रगपीठके सामने वाले दो कोनोपर पडते है। रगपीठ के पिछले दोनो कोनोपर आगे कहे जाने वाले आठ स्तम्भोंमेंसे दो स्तम्भ लगाए जाएंगे। इसलिए यहां जो 'प्रतिकोण स्तम्भा.' इति पाठ दिया गया है वह ठीक नही है। इसके स्थान पर और कोई विकल्प पाठ भी ठीक नहीं बनता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये शब्द यहां अधिक आगए हैं। इनको हटाकर 'रगपीठ पूर्वकोणाद्वयो' स्तम्भनिहितो चत्वारो द्वात्रिंशद्धस्तान्तराश्चत्वार। तदनन्तर स्तम्भद्वयमग्रभूमाविति षडप्येतेऽष्टहस्तान्तरा.। 'यह निर्दोष पाठ बनता है। अत.

इस पृष्ठभूमिमें अब तक सशोधित पाठका रूप निम्न प्रकार बनता है—

अथ चात्र सार इत्युपाध्याया —इह प्रेक्षागृहस्य त्रिधा कल्पना कृता, अधोभूमि , रङ्गपीठ रङ्ग इति । तेषु चाय स्तम्भविन्यासविधिविच्छेद उक्त ।

तथाहि—अधोभूमौ स्तम्भानाह—'तत्राभ्यन्तरत ' इति । विस्तारे द्वादशहस्तायाम एव चतुर्हस्तान्तरा दातव्या । द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्तान्तरौ अन्योन्यापेक्षया चाष्टहस्तान्तरौ । अन्योऽन्य च तयोरन्तर तथा कार्यं येन द्वारविद्धता न भवति । इत्येव पञ्च तुलासु दश । 'उपरि' इति रङ्गपीठमुखोपलक्षिते, नेपथ्यगृहस्य वा पूर्वभागे इत्युक्त भवति । यद्वा 'रङ्गपीठ परिस्थिता ' इति पाठे कर्म प्रवचनीयो वर्जनद्योतकः । रङ्गपीठ वर्जयित्वा तदभ्यन्तर-मण्डप इत्यर्थ ।

१+४+९ खण्डोको मिलाकर यह भट्टतोतके मतानुसार ९० सख्या वाले श्लोक की व्याख्या हुई ।

एतत्स्तम्भ व्यतिरिक्ताया भूमावासनविधिरित्याह 'स्तम्भाना बाह्यतश्चापि' इति । पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

यह द्वितीय खण्ड में ९१-९२ श्लोकोकी व्याख्या हुई ।

अथ रगपीठे स्तम्भन्यासमाह—'षडन्यानित्यादि' । तत्र द्वात्रिशद्धस्तेषु रगपीठस्य पूर्व-कोणयोर्द्वौ, तत्सन्निहितौ चापरौ द्वाविति अष्टहस्तान्तराश्चत्वारः । तदन्तर स्तम्भद्वयमधो भूमाविति षडप्येतेऽष्टहस्तान्तरा ।

यह ३ और १० खण्डोको मिलाकर ९२ सख्या वाले श्लोककी व्याख्या हुई ।

रगपीठस्य यत् पृष्ठ रगशिर , तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षया एकवचनम् । तेन द्वारद्वय-मेव रगशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय कर्तव्यम् । चकारादन्यप्रवेशार्थ जनप्रवेशद्वारम् । त्रीणि वा कार्याणि यतान्तरे इति सगृहीत भवति । रगोऽत्र तच्छिर । तत पृष्ठत । रगमध्ये यदि वा-ऽभियतः। त्र्यस्रगपीठे तु प्रतिरगमध्ये इति ।

यह ५, ७, ८ खण्डोको मिला कर १०३ सख्या वाले श्लोककी व्याख्या हुई ।

सर्व ग्रहणादन्यूनाधिकत्वयत्र दर्शयन् विकृष्टे स्तम्भानामाधिक्यमनुजानीते ।

यह छठा खण्ड १०४ सख्या वाले श्लोककी व्याख्यासे सम्बद्ध हुआ । इस प्रकार यहा तक १ से लेकर १० खण्डो तकके पाठकी आलोचना हो चुकी ।

अगले [९३] श्लोककी व्याख्याका पाठानुसन्धान—

पूर्वोक्त १४ खण्डो में से अगले ११, १२, १३ खण्ड भरतमुनिके ९३ सख्या वाले श्लोक की व्याख्या रूपमें लिखे गए हैं । भट्टतोतके निर्दिष्ट क्रमके अनुसार अधोभूमि तथा रगपीठपर लगाए जाने वाले १० और ६ स्तम्भोके स्थानोका निर्धारण हो चुकनेके बाद अब रगशीर्षपर लगाए जाने वाले स्तम्भोके स्थान-निर्धारणका प्रश्न आता है । भरतमुनिने इस ९३ सख्या वाले श्लोकमें रगपीठपर आठ स्तम्भोके लगानेका विधान किया है इस प्रकारकी व्याख्या भट्टतोतने की है । यही व्याख्या आगे ११ से १३ तक तीन खण्डोमें दी गई है । वैसे तो इन तीनो खण्डोके अलग-अलग विभाजनकी आवश्यकता नही थी तीनोको एक साथ ही दिया जा सकता था । किन्तु बीचके बारहवें खण्डका पाठ कुछ गडबड है इसलिए उसको अलग करनेसे पाठ तीन खण्डोमें विभक्त

हो गया है। बारहवें खण्डका पाठ पूर्व संस्करणोंमें 'शादसोभीयादिको या सिरयमुपरीति' इस रूपमें छपा है। परन्तु इनका कोई अर्थ समझमें नहीं आता है। मूल श्लोकमें 'तेषामुपरि कल्पयेत' पाठ आया है। इनका अर्थ भट्टतोत यह करते हैं कि रंगपीठपर लगे हुए स्तम्भोंके ऊपर अर्थात् रंगशीर्षपर शेष आठ स्तम्भोंको लगावे। इसीकी चर्चा इस बारहवें खण्डमें की जा रही है। किन्तु पाठके अशुद्ध होनेके कारण यह तनिक भी समझमें नहीं आरही है। इस खण्डमें केवल एक 'उपरि' शब्द समझ में आता है उनसे यह अनुमान होता है कि इसमें मूल श्लोकके 'तेषामुपरि कल्पयेत' वाले भागकी व्याख्या की जा रही है। इससे अगले खण्डमें 'रंगपीठस्य यदुपरि शिरो रूपमित्यर्थः' पाठ आता है उससे यह विदित होता है मूल श्लोक के 'ऊपरि' पदकी व्याख्या 'रंगपीठस्य उपरि' यह की जारही है। मूल श्लोकमें 'तेषामुपरि' यह बहुवचनका पाठ है किन्तु उसकी व्याख्यामें 'रंगपीठस्य उपरि' यह एक वचनका पाठ है। इससे यह अनुमान होता है कि भट्टतोत यहाँ 'तेषामुपरि' इस बहुवचनान्त पाठके स्थानपर 'तस्योपरि' यह एकवचनान्त पाठ मान कर 'तस्योपरीति रंगपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यर्थं' इस प्रकारकी व्याख्या कर रहे हैं। इस अवस्थामें 'सिरयमुपरीति' इसके स्थान पर 'तस्योपरीति' यह पाठ सङ्गत प्रतीत होता है। अब जो शेष भाग 'शादसोभीयारिको वा' रह गया है इसमें 'वा' पदसे यह प्रतीत होता है कि यह एक वचनान्त 'तस्योपरि' वाली व्याख्या दूसरे पक्षमें प्रस्तुत की जा रही है। अर्थात् पहिले 'तेषां' इस बहुवचनको लेकर तेषां पूर्वनिर्दिष्टाना—उपरीत्यर्थं इस प्रकारकी एक व्याख्या पहिले प्रस्तुत की जा चुकी है। उस व्याख्यामें 'स्थानी' अर्थात् रंगपीठपर लगाए जाने वाले स्तम्भोंका ग्रहण किया था। दूसरी व्याख्यामें 'स्थानी' अर्थात् स्तम्भोंके बजाय 'स्थानवशात्' एकवचनान्त 'तस्य' यह पाठ मान कर यह दूसरी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय प्रतीत होता है। इस पृष्ठभूमिमें यदि हम इस स्थलके पाठका निकटतम संशोधित रूप देखना चाहें तो तेषां पूर्वनिर्दिष्टानामुपरीत्यर्थं.'। स्थान वशादसौ एकवचनान्तो वा 'तस्योपरीति'। यह पाठ बनेगा। इस पाठके माननेसे ही अर्थकी संगति लग सकती है। अन्यथा नहीं। इसलिए हमने संशोधित रूपमें इसी प्रकारका पाठ प्रस्तुत किया है। इन संशोधनोंके बाद आठ स्तम्भोंको लगानेका विधान करने वाले ६३ संख्या वाले श्लोककी भट्टतोतकृत व्याख्याका पाठ निम्न प्रकार बनता है—

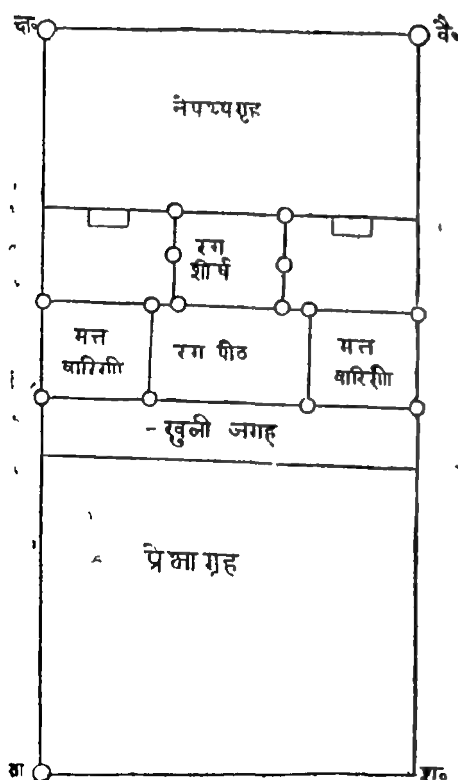
ततो द्वादशहस्तायाम अर्धवनिष्कुते तत्र चतुर्हस्तायामं द्वात्रिंशद्धस्तविस्तारं यत् रंगशिरः, तत्र द्वे तुले दातव्ये। प्रति तुला षाण्टहस्तान्तरं स्तम्भचतुष्टयमिति ते मिलित्वा अष्टौ भवन्ति। अत एव हि विष्कम्भमष्टहस्तं चतुर्हस्तान्तराले तिरश्चीन देयम्। तेन तुलित स्थिर भवति। एतदाह—'अष्टौ स्तम्भान्' इत्यादि। स्थानवशादेक वचनान्त वा 'तस्योपरि' इति। रंगपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यर्थः। तथा च विकृष्टमण्डपे रंगपीठापेक्षया रंगशिरः उन्नत भवति। तत्र नियमादष्ट स्तम्भा न्यस्यन्ते।

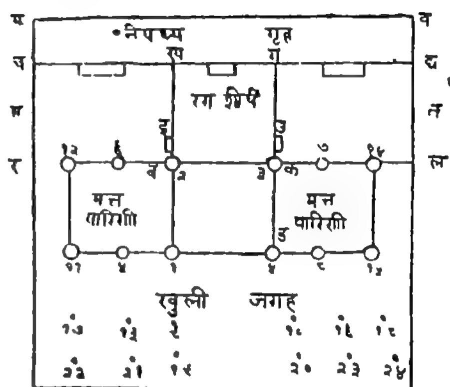
इसके पूर्व रंगपीठपर छ स्तम्भोंके लगानेका विधान किया था। अब रंगशीर्षपर आठ स्तम्भोंके लगानेका विधान किया जा रहा है। इस रङ्गशीर्षपर लगाए जानेवाले आठ स्तम्भोंके विषयमें भट्टतोतने 'तत्र नियमादष्टौ स्तम्भा न्यस्यन्ते' यह टिप्पणी विशेष रूपसे दी है। इससे भट्टतोत यह सूचित कर रहे हैं कि इसके पूर्व रङ्गपीठपर जिन छ स्तम्भोंका विधान किया था वे अब रङ्गपीठपर नहीं लग सके थे। रङ्गपीठके समीप अपोङ्गमिमें भी लगाने पड़े थे। उनको 'दर्शनसामीप्ये यतेमानानां' से स्थानसे 'रंगपीठसामीप्यात् रंगपीठपर' मानना पड़ा था। किन्तु ये आठ स्तम्भ 'नियमात्' अवश्य ही रङ्गशीर्षपर लगाने होंगे।

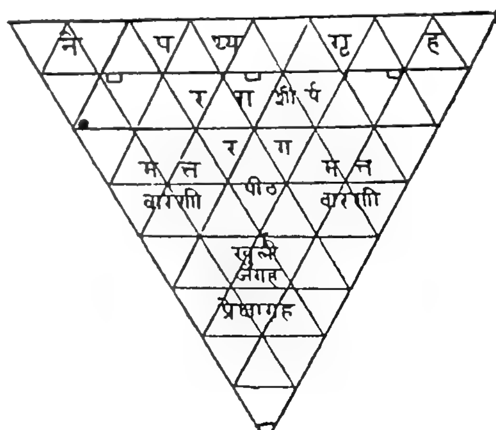
रङ्गशीर्षपर लगाए जानेवाले इन आठ स्तम्भोंके स्थानका निर्धारण भट्टतोत इस प्रकार करते हैं कि रङ्गपीठके पीछे बारह हाथ चौडा और बत्तीस हाथ लम्बा जो क्षेत्र बचता है उसमें चार हाथ चौडा बत्तीस हाथ लम्बा क्षेत्र रङ्गशीर्ष कहलाता है। इसके पूर्व तथा पश्चिम दोनों ओरकी सीमापर बत्तीस हाथकी लम्बाईमें आठ-आठ हाथके अन्तरपर चार-चार स्तम्भ लगावे।

कु. गोदावरी केतकर द्वारा प्रस्तुत

नाट्य-मण्डपके चित्र



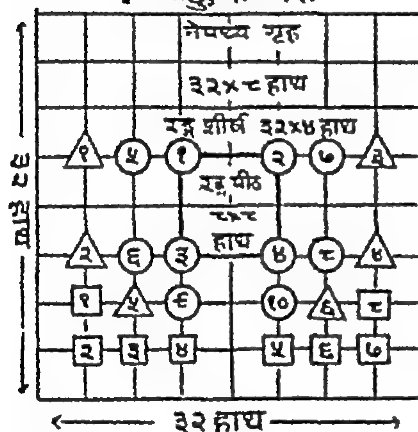


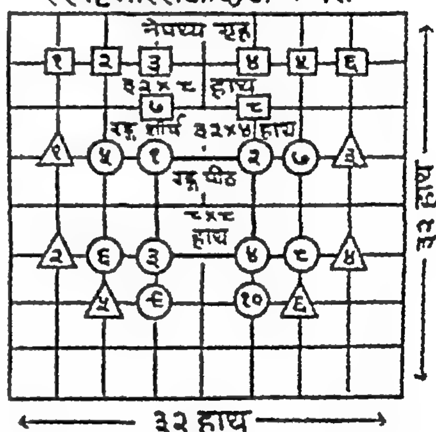


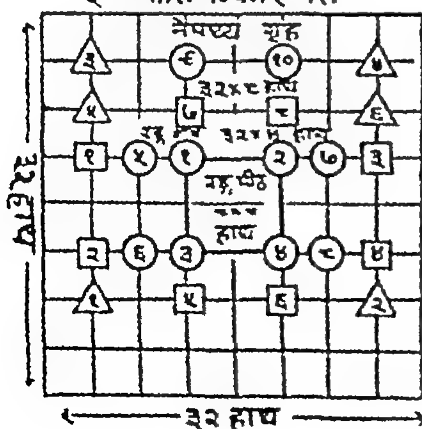
इस प्रकार रंगशीर्षपर कुल मिला कर आठ स्तम्भ हो जाते हैं। इन स्तम्भोंके ऊपर दोनों ओर पूरी बत्तीस हाथकी लम्बाईकी एक-एक तुला—सरदल, शहतीर डाले। इन दोनों लम्बी शहतीरोंके भीतर छेद करके चार हाथकी चौड़ाईवाले भागके शहतीर भी उनमें जोड़ दे। इस प्रकार यह शहतीरोंका जाल-सा बन जायगा। उसके ऊपर मजबूत छत बनाई जा सकेगी। 'तेन तुलित चित्रं भवति'। यह भट्टतोतके अनुसार अन्तिम आठ स्तम्भोंकी व्यवस्था हुई। भट्टतोतके मतानुसार प्रस्तुत किए गए चित्र फलकके तीसरे चित्रमें आठ स्तम्भोंका स्थान दिखलाया है।

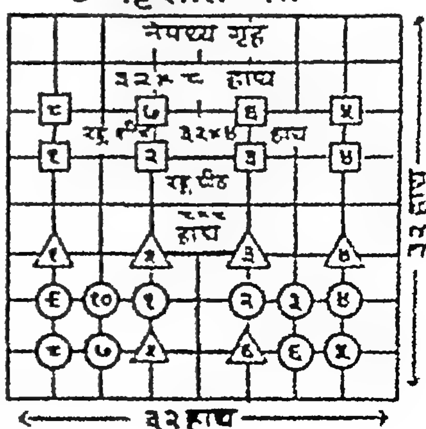
इस प्रकार भट्टतोतके मतानुसार स्तम्भव्यवस्थाको दिखलानेवाली अभिनवभारतीके पाठका परिष्कार होजानेके बाद अब हम इसी पाठको मूलरूपमें देकर उसका अनुवाद दे रहे हैं।

(६) उक्त चारों मतोंमें सम्पूर्ण स्तम्भोंका तुलनात्मक चित्र









अथ चात्र सार' इत्युपाध्यायाः—

इह प्रेक्षागृहस्य त्रिधा कल्पना कृता। अधोभूमि रङ्गपीठ रङ्गशिरः[२] इति। तेषु चाय स्तम्भविन्यासविधिविच्छेद उक्त। तथाहि—अधोभूमौ स्तम्भानाह—' तत्राभ्यन्तरत' इति। विस्तारे द्वात्रिंशद्धस्तायाम एव द्वौ द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया' अन्योन्यापेक्षया चापि चतुर्हस्तान्तरौ कार्यौ ततोऽष्टहस्तान्तरौ चान्यौ द्वौ द्वावित्यष्टौ। तेषां अन्तर च तथा कार्य येन द्वारविद्धता न भवतीति। द्वौ चावशिष्टौ स्तम्भौ रङ्गपीठस्य पूर्वभागस्थयोः स्तम्भयो. पार्श्वस्थौ अन्योऽन्यं अष्टहस्तान्तरौ कार्यावित्येवं पञ्चतुलासु दश'।

अभिनव०—इसका सार यह है [जो कि आगे किया जा रहा है] यह [हमारे] उपाध्याय [भट्टतोत] का [मत] है।

यहाँ प्रेक्षागृहका तीन प्रकारका विभाग [कल्पना] किया गया है। १ अधोभूमि [अर्थात् रङ्गभूमि जिसमे प्रेक्षकोके बैठनेकी व्यवस्था की जाती है], २ रङ्गपीठ तथा ३ [नेपथ्यगृह सहित] रङ्गशीर्ष। उन [तीनो भागो] मे ही यह भिन्न-भिन्न प्रकार का [विच्छेद] स्तम्भ विन्यासविधि कहा गया है। उसके अनुसार 'तत्राभ्यन्तरत' इत्यादि [इस श्लोक] से अधोभूमिमे [दश] स्तम्भो [के लगानेके विधि] को कहते हैं। [प्रेक्षागृहकी] ३२ हाथकी चौड़ाईमे ही [उत्तर तथा दक्षिण दोनो दिशाओकी] दोनो दीवारोसे, तथा एक-दूसरे से भी चार-चार हाथकी दूरीपर दो-दो स्तम्भ लगाने चाहिए। और [इस प्रकार दोनो ओरकी दीवारोके पास चार स्तम्भ हो गए] फिर [उन्हीं भित्तियोसे] आठ-आठ हाथकी दूरीपर दो-दो स्तम्भ और लगाने चाहिए [ये चार स्तम्भ और हो गए]। इस प्रकार [दो बारमे कुल मिला कर] आठ [स्तम्भ] हो गए। उनमे इस प्रकारका अन्तर रखना चाहिए कि कोई स्तम्भ दरवाजेके सामने न पडे। [द्वारविद्धता न भवति। दश स्तम्भोमेसे आठके पूर्वोक्त प्रकारसे लग जानेके बाद] शेष बचे हुए दो स्तम्भ रगपीठके पूर्वभागकी ओर लगे हुए दोनो स्तम्भोके बगलोमे परस्पर आठ-आठ हाथके अन्तरपर लगाने चाहिए। इस प्रकार पाँच तुलाओमे दश [स्तम्भ हो जाते हैं। यह चौथे प्रकारसे दश स्तम्भोकी व्यवस्था हुई]।

इम प्रकार भट्टतोतके अनुसार यह प्रथमवार कहे हुए दश स्तम्भोके लगानेकी व्याख्या हुई।

---

१ चन्द्रसोदर। २ रङ्ग। ३ विस्तारे द्वादशहस्तायाममेव च चतु (र्हस्तान्तरा) दातव्या। द्वौ स्तम्भौ भित्तिद्वयापेक्षया द्वादशहस्तान्तरावन्योन्यापेक्षया चाष्टहस्तान्तरौ। अन्योऽन्य च तयोरन्तर तथा कार्यं येन द्वारविद्धता न भवति। इत्येव पञ्चसु तुलासु दश।

'उपरि' रङ्गपीठमुखोपलक्षिते पूर्वभागे इत्युक्तं भवति । यद्वा 'रङ्गपीठं परिस्थिता' इति पाठे कर्मप्रवचनीयो वर्जनद्योतक । रङ्गपीठं वर्जयित्वा तदभ्यन्तर-मण्डपे इत्यर्थः ।

एतत्स्तम्भव्यतिरिक्तायां भूमौ आसनविधिरित्याह 'स्तम्भानां बाह्यतश्चापि' इति । पूर्ववद्व्याख्येयम् ।

अथ रङ्गपीठे स्तम्भन्यासमाह—'षडन्यान्' इत्यादि । तत्र द्वात्रिंशद्धस्तेषु रङ्गपीठस्य पूर्वकोणयोर्द्वौ, तत्सन्निहितौ चापरौ द्वौ । इति अष्टहस्तान्तराश्चत्वारः । तदनन्तरं स्तम्भद्वयं इति षडप्येतेऽष्टहस्तान्तरा ।

अभिनव०—['रङ्गपीठोपरिस्थिता' मे आए हुए 'उपरि' शब्दका 'सामने' या 'आगे' अर्थ लेकर कहते हैं कि—] रङ्गपीठके मुखसे पूर्वभागमे [सामनेकी ओर [अधोभूमिमे दश स्तम्भ लगावे] यह अभिप्राय है। अथवा ['रङ्गपीठोपरिस्थिताः' के स्थानपर] 'रङ्गपीठं परि स्थिता.' ऐसा पाठ माननेपर ['अपपरी वर्जने' सूत्र से 'परि' की कर्मप्रवचीय संज्ञा हो जानेसे 'परि' यह] कर्मप्रवचीय वर्जनका द्योतक है। [इसका यह अभिप्राय हुआ कि] रङ्गपीठको छोड़ कर उसके अगले भागमें [अर्थात् अधोभूमिमे पूर्वोक्त दश स्तम्भ लगावे] यह अभिप्राय है।

अभिनव०—इन [दश] स्तम्भोंमे बची हुई भूमिमें आसनोंकी रचना करनी चाहिए इस बातको 'स्तम्भानां बाह्यतश्चापि' इत्यादिसे कहा है। इसकी व्याख्या पूर्व [व्याख्याकारो] के समान [ही] कर लेनी चाहिए।

इस प्रकार यहाँ तक अधोभूमिमें प्रथम दश स्तम्भोंका स्थान निर्धारण हो जानेके बाद द्वितीय बारमें विधान किए हुए छह स्तम्भोंका स्थानका रङ्गपीठपर और उसके आस-पास होना चाहिए इस बातकी विवेचना भट्टतोतके मतानुसार अभिनवगुप्त आगे दिखलाते हैं।

अभिनव०—अब रङ्गपीठपर स्तम्भ लगानेको 'षडन्यान्' इत्यादि [अगले श्लोक] से कहते हैं—उनमें बत्तीस हाथकी लम्बाईमें रङ्गपीठके पूर्व दिशा याने दोनों कोनोपर दो [स्तम्भ], और उनके समीप [उत्तर दक्षिणमें आठ-आठ हाथके अन्तरपर] दो [स्तम्भ लगावे] इस प्रकार आठ-आठ हाथोंके अन्तरपर चार [स्तम्भ] हो गए। उसके बाद [रङ्गपीठके कोनोपर स्थित दोनो स्तम्भोंसे पूर्वकी ओर आठ-आठ हाथोंके अन्तरपर] दो स्तम्भ [अधोभूमिमे] लगावे। इस प्रकार ये छहों [स्तम्भ] आठ-आठ हाथके अन्तरपर हो जाते हैं।

---

१ अथ रङ्गपीठे स्तम्भन्यासमाह षडन्यानित्यादि । उपरि रङ्गपीठमुखोपलक्षिते वा नेपथ्य-गृहस्य प्राग्भागे इत्युक्तं भवति । रङ्गपीठस्य पश्चाद्भागे [illegible] नाट्य-वेश्मप्रवचनम् । तेन द्वात्रिंशदेव रङ्गशिरसि [illegible] । [illegible] भवति । [illegible] इति । [illegible] ।

ततो द्वादशहस्तायाम यदवशिष्यते तत्र चतुर्हस्तायाम द्वात्रिंशद्धस्तविस्तारं यद् रङ्गशिरस्तत्र द्वे तुले दातव्ये। प्रतितुल चाष्टहस्तान्तर स्तम्भचतुष्टयमिति वर्तयित्वाष्टौ भवन्ति। अत एव हि विद्धास्यमष्टहस्त, चतुर्हस्तान्तराले तिरश्चीन देयम्। तेन तुलित चित्र भवति। एतदाह—'अष्टौ स्तम्भान्' इत्यादि।

'स्थानवशादेकवचन वा 'तस्योपरि' इति। रङ्गपीठस्य यदुपरि शिरोरूपमित्यर्थ। तथा च विकृष्ट मण्डपे रङ्गपीठापेक्षया रङ्गशिर उन्नत वक्ष्यते तत्र नियमादष्ट स्तम्भा न्यस्यन्ते।

इस प्रकार दश तथा छह स्तम्भोके स्थानका निर्धारण हो जानेके बाद अब तीसरी बारमें विधान किए गए आठ स्तम्भोके स्थान निर्धारणका आरम्भ करते हैं। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, भट्टतोतने इन आठ स्तम्भोका स्थान 'रङ्गशीर्ष' पर निर्धारित किया है। उसको अभिनवगुप्त अगली पक्तियोमें इस प्रकार लिखते हैं—

अभिनव०—उस [रङ्गपीठ] के पीछे बारह हाथ चौडा [और बत्तीस हाथ लम्बा] जो भाग बचता है। उसमेसे [रगपीठके समीपमे] चार हाथ चौड़ा और बत्तीस हाथ लम्बा जो रंगशीर्ष है उसके ऊपर दो शहतीर डालने चाहिए। प्रत्येक शहतीरके नीचे आठ-आठ हाथके अन्तरपर चार स्तम्भ लगाने चाहिए। इस प्रकार [दोनो ओरकी तुलाओंके नीचेके स्तम्भोको] मिलाकर [कुल] आठ स्तम्भ [रंगशीर्षपर] हो जाते हैं। इनमे ही बीचकी चार हाथकी [चौड़ाई वाली] दूरी मे भी आठ-आठ हाथके अन्तरपर एकको दूसरेके [भीतर छिद्र करके उसके] मुखमे समाकर चौडाईमें भी [शहतीर] लगाने चाहिए। इससे [शहतीरोका] सन्तुलित चित्र बन जाता है। इसी बात को 'अष्टौ स्तम्भान्' इत्यादि से कहा है।

इस व्याख्यामें 'तेषामुपरि' पदमें 'तेषा' पद से 'स्थानी' अर्थात् रङ्गशीर्षपर लगने वाले स्तम्भोका ग्रहण किया गया है। पर वस्तुतः 'स्थानी' स्तम्भोके बजाय यदि स्थान अर्थात् रङ्गशीर्षका ग्रहण किया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। इस दृष्टिसे भट्टतोत 'तेषा' के स्थानपर एकवचनान्त 'तस्य' पाठ मान कर दूसरी व्याख्या देते हैं—

अभिनव०—अथवा स्थानके अभिप्रायसे 'तस्योपरि' यह एकवचन [का पाठ] है। [उस पक्षमे 'तस्य' अर्थात् 'रंगपीठस्य'] रंगपीठके ऊपर जो रगशीर्ष रूप भाग है उसपर [आठ स्तम्भ लगावे] यह अभिप्राय है। [यहां 'रगशीर्ष' को रगपीठके ऊपर कहा है] इसीलिए [विकृष्टे तून्नतं कार्यं चतुरश्रे सम तथा। इस श्लोक स० १०० मे] विकृष्ट मण्डपमे रगपीठकी अपेक्षा रगशीर्षको ऊचा बतलाया जायगा। उस [रगशीर्षपर] आठ स्तम्भ अवश्य [नियमसे] लगाए जाते हैं। [अर्थात् पहिले कहे हुए जो छह स्तम्भ रगपीठ पर लगाने चाहिए थे उनमे, तथा प्रथम बार कहे हुए दश स्तम्भोके स्थानमें कुछ परिवर्तन भी हो सकता है। किन्तु ये आठ स्तम्भ नियम-पूर्वक रगशीर्ष पर अवश्य ही लगाने चाहिए यह अभिप्राय है]।

---

१ शावसौभौपादिको वा।

[1]तेऽपि दृढा न्यसनीया इति दर्शयति तत्र स्तम्भा इति—

भरत०—तत्र स्तम्भाः प्रदातव्यास्तज्ज्ञैर्मण्डपधारणे ।
[2]धारणीधारणास्ते च [3]शालस्त्रीभिरलंकृता ॥९५॥

[4]अथावशिष्टेषु हस्तेषु विधिमाह नेपथ्यगृहमिति—

भरत०—नेपथ्यगृहकं चैव ततः कार्यं प्रयत्नत[5] ।
द्वारं चैकं भवेत् तत्र रङ्गपीठप्रवेशनम्[6] ॥९६॥

रङ्गपीठप्रवेशनमितिवचनेनेदमाह—कक्ष्याविभागेन तावद् द्वे द्वारे । तेन द्वारमिति जातावेकवचनम् । एकशब्दश्च राश्यभिप्रायेण । राशिकरणे च निमित्तं पात्रप्रवेशोपायनम् । तथा च कक्ष्याध्याये वक्ष्यति—

ये नेपथ्यगृहद्वारे मया पूर्वं प्रकीर्तिते ।
तयोर्भाण्डस्य विन्यासो मध्ये कार्यः प्रयोक्तृभि ॥१३-२॥

इस प्रकार यहां तक भट्टतौतके मतानुसार की जाने वाली स्तम्भ व्यवस्थाका वर्णन हुआ । इस व्यवस्थाके अनुसार हमने जो चित्र फलक प्रस्तुत किया है उसे पीछे दे चुके हैं इनमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय चित्रोंमें क्रमशः इनका स्थान दिखलाया है ॥९३-९४॥

अभिनव०—वे [सब स्तम्भ] भी मजबूत लगाने चाहिए यह [बात] 'तत्र स्तम्भाः' इत्यादि [अगली ९५वीं कारिका] से दिखलाते हैं—

भरत०—उस [स्तम्भविधि] को समझने वाले [कारीगरों] को मण्डप [की इनको धारणकेलिए] धारणियों [शहतीर कड़ी आदि] को धारण करने वाले [अत्यन्त दृढ़ एवं] पुतलियों [शालस्त्री आदि] से अलंकृत स्तम्भ लगाने चाहिए ॥९५॥

अभिनव०—इस [प्रयोभूमि, रङ्गपीठ और रङ्गशीर्षकी स्तम्भ-व्यवस्था] के बाद [प्रेक्षागृहके] बचे हुए [३२×८] हाथों [वाले भाग] के विषयमें 'नेपथ्यगृहं' इत्यादिसे विधि कहते हैं—

भरत०—उसके बाद [रङ्गशीर्षके पीछे बचे हुए आठ हाथ चौड़े तथा बत्तीस हाथ लम्बे स्थानमें] नेपथ्यगृहकी रचना प्रयत्न पूर्वक करनी चाहिए और उसमें रङ्गपीठमें प्रवेश कराने वाले एक प्रकारके [दो] द्वारोंको बनाना चाहिए ॥९६॥

अभिनव०—रङ्गपीठमें प्रवेश कराने वाले इन [एक वचनके प्रयोग] से यह कहा है कि [आगे १३वें अध्यायमें कहे जाने वाले] कक्ष्या-विभागमें दो द्वारोंका कथन करेंगे इसलिए यहां 'द्वारं' यह एकवचन जाति-परक है। और [द्वारं चैकमें] एक शब्द राशिके अभिप्रायसे है। राशिकरण [अर्थात् वर्गीकरण] का कारण पात्रप्रवेश-नोपायत्व है। इसीलिए कक्ष्याध्याय [नामक १३वें अध्याय] में कहेंगे कि—

अभिनव०—मैंने जो नेपथ्यगृहके दो द्वार पहिले कहे थे उनके बीचमें प्रयोग करने वालोंको भाण्डों [अर्थात् वाद्यों] को रखना चाहिए ॥१३-२॥

---

१. अपि तु । २. ठ धारणी धारितास्ते च । म धारणीधारणास्ते च । ३. शालस्त्रीभिरलं-कृता । त. मालस्त्री । ४ अथावशिष्टेषु । ५. ठ म प्रयोक्तृभि । ६ ठ. म प्रवेशने ।

भरत०—'नेपथ्याभिमुखं कार्यं द्वितीयं द्वारमेव तु ।
जनप्रवेशनं[1] चान्यदाभिमुख्येन कारयेत् ॥९७॥

तृतीय द्वार नेपथ्यगृहस्य येन भार्यामादाय नटपरिवार प्रविशति । अन्यत्तु जनप्रवेशनद्वारमाभिमुख्येन पूर्वस्या दिशि कुर्यात् । द्वारवृत्या सामाजिकजनप्रवेशार्थम् ।

ननु किमपेक्ष्यमाभिमुख्यम् ?

कक्ष्यापेक्षायैव पूर्वादिरित्युक्तम्[3] । यद्वक्ष्यति च—

यतो मुख भवेद् भाण्डद्वार नेपथ्यकस्य तु ।
सा मन्तव्या तु दिक् पूर्वा नाट्ययोगे विपश्चिता ॥१३-१०॥

इति । एव चतुर्द्वार नाट्यगृहम् । अन्ये त्वाद्यद्वारद्वय वाद्येन हेतुना, अपर द्वारद्वय नट-जनसामाजिकजनप्रवेशार्घं, अन्यद् द्वारद्वय पार्श्वस्थित कुर्यादालोकसिद्ध्यर्थमिति षड्द्वार नाट्यगृहमाचक्षते ॥९७॥

भरत०—और नेपथ्यगृहके सामनेकी ओर [अर्थात् पिछले भागमे बीचमे] नटोका प्रवेश करानेवाला [द्वितीय अर्थात्] अगला [तीसरा] द्वार बनवावे । और अगला [चौथा] द्वार रङ्ग-मण्डपके सामने बनवावे [यह प्रेक्षागृहका मुख्य द्वार होता है] ॥९६॥

अभिनव०—[नट जनोके प्रवेशके लिए] नेपथ्यगृहका तृतीय द्वार होता है जिससे भार्याको लेकर नट-परिवार प्रवेश करता है । अगला [चौथा] द्वार तो [प्रेक्षागृहके] सामने पूर्व दिशाकी ओर सामाजिक लोगोके प्रवेशकेलिए [मुख्य-द्वारके रूपमे] बनवाना चाहिए ।

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा आभिमुख्य [अर्थात् सामना या पूर्वदिशा] किसकी दृष्टिसे कहा गया है ?

अभिनव०—[उत्तर] कक्ष्या-विभागके अनुसार पूर्व आदि [दिशाओंकी व्यवस्था] माननी चाहिए । जैसा कि [कक्ष्याध्याय नामक १३वें अध्याय] कहेगे—

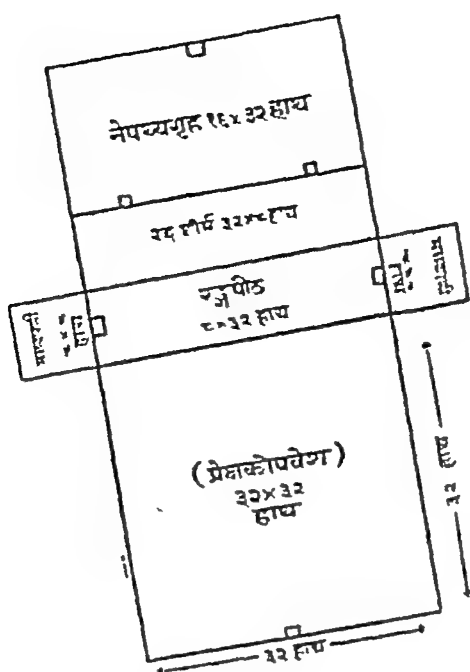
अभिनव०—जिस ओर नेपथ्यगृहका भाण्डद्वार [वाद्योके रखनेका द्वार] हो नाट्यके प्रसङ्गमे विद्वानोको उस दिशाको पूर्व दिशा समझना चाहिए ।

अभिनव०—इस प्रकार [नेपथ्यगृहमे दो वाद्योके द्वार, तीसरा नटोके प्रवेशका द्वार और चौथा प्रेक्षागृहका सामाजिकोके प्रवेशकेलिए, मुख्यद्वार सब मिल कर] नाट्यगृहके चार द्वार होते हे [यह एक मत है] ।

अन्य [व्याख्याकार] तो यह कहते हैं कि पहिले दो द्वार वाद्योकेलिए दूसरे दो द्वार नटजनो तथा सामाजिक जनोके प्रवेशकेलिए और अगल-बगलमे प्रकाशके आनेकेलिए अगले दो द्वार बनाने चाहिए । इस प्रकार नाट्यगृहके छह द्वार बतलाते हैं । [इन द्वारोकी स्थितिका प्रदर्शक चित्र हम आगे दे रहे हैं ।]

---

१ जनप्रवेशन चान्यदाभिमुख्येन कारयेत् । रङ्गस्याभिमुख कार्य द्वितीय द्वारमेव तु ॥
२ प्रवेशने चैवयादि मुख्येन । जनप्रवेशन च । ३. पूर्वादिभि ।



द्वारविधि—

चतुरस्र मण्डपकी रचनाका प्रकरण चल रहा है। इसमें अभिनवगुप्तने अनेक आचार्योंके मतोंका उल्लेख करते हुए स्तम्भविधिका वर्णन बहुत विस्तारके साथ किया है जो अभी समाप्त हुआ है। स्तम्भ विधिके बाद संक्षेपमें नेपथ्यगृहकी रचनाका उल्लेखकर अब द्वार विधिका विवेचन करते हैं। भरतमुनिने ९६ तथा ९७ दो श्लोकोंमें द्वारविधिका वर्णन किया है किन्तु उनके ये दोनों श्लोक अत्यन्त अस्पष्ट हैं। मूल श्लोकोंको देखें तो उनका अर्थ समझना कठिन है। अभिनवगुप्तने उनकी सङ्गति लगानेका विशेष यत्न किया है। भरतमुनिने ९६वें श्लोकके 'द्वार चैकं भवेत्तत्र रङ्गपीठ प्रवेशनम्' इस लेख द्वारा रङ्गपीठपर प्रवेश कराने वाले एक द्वारका उल्लेख किया है किन्तु यह लेख स्वयं भरत मुनिके तेरहवें अध्यायके द्वितीय श्लोकके जिसको कि अभिनवगुप्तने यहाँ उद्धृत भी किया है विपरीत है। उसमें 'द्वे नेपथ्य गृहद्वारे मया पूर्वं प्रकीर्तिते' से दो द्वारोंका उल्लेख किया गया है। किन्तु यहाँ एक ही द्वारका वर्णन है। इस विरोधका परिहार करनेके अभिनवगुप्तको बड़ा प्रयास करना पड़ा है। उन्होंने 'द्वार' इस एकवचनको 'जात्यभिप्राय[illegible]' लिखकर जातिमें एक वचन माना है। अर्थात् एक प्रकारके दो द्वार बनाना चाहिए यह अर्थ [illegible] है। पर यह समस्या यहीं पर समाप्त नहीं होती है। भरतमुनिने 'द्वार' इस एकवचनके साथ 'चैकं भवेत्तत्र' में अलगसे 'एक' शब्दका भी प्रयोग कर दिया है। 'द्वार' इस एकवचनको [illegible] परक मान लेनेके बाद भी 'एक' पद दो द्वारोंके माननेमें बाधक हो जाता है। इसलिए अभिनव[illegible] इसकी सङ्गति लगानेके लिए भी विशेष प्रयास करना पड़ा है। उन्होंने 'एक' शब्दकी [illegible] [illegible] न निर्दिष्ट [illegible] लिखकर 'एक' शब्दकी [illegible] इस प्रकार अभिनवगुप्तने बड़े प्रयत्न पूर्वक भरतमुनिके इन श्लोकोंके [illegible] के साथ होनेवाले विरोधका परिहार करनेका यत्न किया है। [illegible] प्रयोग क्यों किया है। [illegible]

इस श्लोकके पाठमें 'द्वार चैक भवेत्तत्र' के स्थान पर 'द्वारद्वय भवेत्तत्र' पाठ कर देनेसे अभीष्ट अर्थ बडी सरलतासे निकल आता और यह व्यर्थकी खीचा-तानी न करनी पडती। परन्तु अभिनवगुप्तने यही पाठ माना है इसलिए हमने उसमें सशोधन नही किया है। किन्तु भरतमुनिका यह पाठ हमें रुचिकर नही है। 'द्वारद्वय भवेत्तत्र रगपीठप्रवेशनम्' यह पाठ बडा सुन्दर और उपयुक्त पाठ है। यदि अभिनवगुप्तका लेख बाधक न होता तो हमें यही पाठ मान्य होता।

ये दोनो द्वार रगशीर्ष और नेपथ्यगृहके बीच वाली दीवारके मध्य बिन्दुसे दोनो ओर समान दूरीपर बनाए जाते थे। और जैसा कि १३वें अध्यायके द्वितीय श्लोकमें कहा गया है। 'तयोर्भाण्डस्य विन्यास.' इन दोनोंके बीचमें 'वाद्यो' को रखा जाता था। और गायक तथा वादक इन्हीके बीचमें बैठते थे तथा इन्हीके द्वारा पात्रगण नेपथ्यगृहसे रगशीर्ष और रगपीठ पर आते जाते थे।

इन द्वारोसे पात्रोंके प्रवेश और निर्गमनके कुछ विशेष नियम थे जिनका उल्लेख नाट्य-शास्त्रके तेरहवें अध्यायमें विस्तार पूर्वक किया गया है। इन नियमोके अनुसार आवन्ती तथा दाक्षिणात्या प्रवृत्तिके पात्र उत्तर-द्वारसे प्रवेश कर उत्तर-द्वारसे ही बाहर जाते थे। और पाञ्चाली तथा ओडमागधी प्रवृत्तिके पात्र दक्षिण द्वारसे प्रवेशकर दक्षिण द्वारसे ही बाहर जाते थे। १३वें अध्यायमें प्रवृत्तियोका बहुत विस्तारके साथ वर्णन करनेके बाद भरतमुनिने रगपीठपर प्रवेशके सम्बन्धमें निर्देश करते हुए लिखा है—

'द्विधा क्रिया भवत्यासा रङ्गपीठपरिक्रमे।
प्रदक्षिणाप्रवेशा च तथा चैवाप्रदक्षिणा ॥ ५२ ॥
आवन्ती दाक्षिणात्या च प्रदक्षिणा पीठक्रमे।
अपसव्यप्रवेशा तु पाञ्चाली चोड्रमागधी ॥ ५३ ॥
आवन्त्या दाक्षिणात्याया पार्श्वद्वारमथोत्तरम्।
पाञ्चल्या ओड्रमागध्या योग्य द्वार तु दक्षिणम् ॥ ५४ ॥'

इन श्लोकोसे यह बात भी स्पष्ट होती है कि नेपथ्यगृहसे रगपीठपर पात्रोके प्रवेशकेलिए दो ही द्वार होते हैं। एक द्वार नही। इसलिए 'द्वार चैक भवेत्तत्र रगपीठप्रवेशनम्' यह लेख ठीक नही है। 'द्वारद्वय भवेत्तत्र रगपीठप्रवेशनम्' यह पाठ अधिक युक्ति युक्त है। या फिर अभिनवगुप्तके लेखानुसार विशेष व्याख्या द्वारा इस प्रकारका अर्थ करना होगा जिससे यहा दो द्वारोकी स्थिति मानी जा सके।

भरतमुनिने आवन्ती और दाक्षिणात्या प्रवृत्तिके पात्रोके उत्तर-द्वारसे और पाञ्चाली तथा ओड्रमागधी प्रवृत्तिके पात्रोके दक्षिण द्वारसे प्रवेश करनेका जो नियम ऊपरके श्लोकोमें दिया है उसकी व्याख्यामें अभिनवगुप्तने लिखा है—

'दक्षिणोत्तरव्यतिरेकेण परिक्रमणस्थानस्याभावात् नैपट्याद् द्वे द्वे प्रवृत्ती एकीकृत्य प्रयोगाभिधानम्। तत्र दक्षिणात्य उत्तरेण द्वारेण प्रविश्य, पश्चिमाया दिशि परिक्रम्य, ततोऽपि दक्षिणस्या, तत. पूर्वस्या, तत उत्तरस्या परिक्रमेत्। परिक्रम्य च तस्यामेव विश्यात्मनिवेदन कुर्यात्। तदुक्त 'दक्षिणाभिमुख' इति। तत. उत्तरस्या पूर्वां, ततोऽपि दक्षिणा, ततः पश्चिमा प्राप्य उत्तर द्वारेणैव निष्क्रामेत्।

इसका अभिप्राय यह है कि रगपीठपर प्रवेशके द्वार दो ही हैं। उनके अतिरिक्त रगपीठ पर प्रवेशका और कोई मार्ग नही है। इसलिए समीपवर्ती देशो वाली दो-दो प्रवृत्तियोंको मिला

कर पात्रोंके प्रवेशका विधान किया गया है। दाक्षिणात्य और आवन्ती प्रवृत्तिका पात्र उत्तर द्वारसे प्रविष्ट होकर इस प्रकारसे घूमता हुआ दक्षिणमें जाकर खड़ा हो कि—उत्तर द्वारसे प्रवेश करके पहिले थोड़ा-सा पश्चिमको मुड़े, फिर दक्षिणको, फिर पूर्वको और फिर उत्तरको ओर चले। इस प्रकार सारे रंगपीठका चक्कर लगाकर फिर उत्तर द्वारके सामने ही आकर खड़ा होकर कार्य पूर्ण करे। फिर उसी प्रकार उत्तरसे-पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर होता हुआ सारा चक्कर लगाकर फिर उत्तर द्वारसे ही बाहर जावे। इसी प्रकारको व्यवस्था दक्षिण द्वारसे प्रवेश और निर्गमन करने वाले पाञ्चाली तथा ओड्रमागधी प्रवृत्ति वाले पात्रोंके विषयमेंभी समझनी चाहिए।

भारतीय रंगमञ्चपर जिस प्रकार विभिन्न प्रवृत्तिके पात्रोंके प्रवेशकेलिए विभिन्न द्वारों की व्यवस्था की गई है कुछ इसी प्रकारकी व्यवस्था यूनानी और चीनी नाटकोंमेंभी पाई जाती है। यूनानी रंगमञ्चपर समीपका पात्र दाहिनी ओरसे और दूरका पात्र बाई ओरसे आता है। पर इनमें भारतीय नियमसे यह भेद है कि भारतीय रंगमञ्चपर जो पात्र दक्षिण द्वारसे प्रवेश करता है वह चक्कर काटकर फिर उसी दक्षिण द्वारसे बाहर जाता है। इसके विपरीत यूनानी और चीनी रंगमञ्चोंपर दाहिनी ओरसे प्रविष्ट होने वाला पात्र बाई ओरसे बाहर जाता है और बाई ओरसे प्रविष्ट होने वाले पात्र दाहिनी ओरसे बाहर जाते हैं।

पूर्व पश्चिमके दो द्वार—

पाठसमीक्षा—ऊपर दो द्वारोंका वर्णन किया गया है वे नेपथ्यगृहसे रंगपीठपर पात्रोंके प्रवेश करनेके द्वार हैं। प्रेक्षागृहके बाहरसे उसके भीतर प्रविष्ट होनेकी दृष्टिसे उनका कोई उपयोग नहीं है। प्रेक्षागृहके बाहरसे उसके भीतर प्रविष्ट होनेकेलिए दो और द्वारोंकी आवश्यकता है। एक रंगपीठके सामनेकी ओर होना चाहिए जिससे सामाजिक लोग नाट्यमण्डपके भीतर प्रविष्ट हो सकें। यही नाट्य-मण्डपका मुख्य द्वार समझना चाहिए। दूसरा द्वार नट-जनोंके प्रवेशकेलिए प्रेक्षागृहके पिछले भागमें होना चाहिए जिससे नटोंका परिवार नेपथ्यगृहके भीतर प्रवेश कर सके। इन दोनों द्वारोंका उल्लेख भरतमुनिने इस ९७वें श्लोकमें किया है। किन्तु पूर्व श्लोकके समान इस श्लोकका पाठ भी पूर्वसंस्करणोंमें बड़ा अस्पष्ट है।

जनप्रवेशन चान्यदाभिमुख्येन कारयेत् ।
रंगस्याभिमुखं कार्यं द्वितीय द्वारमेव तु ॥ ९७ ॥

पाठसमीक्षा—यह इस श्लोकका पाठ है। इसमें दो द्वारोंका विधान है यह बात तो निकलती है परन्तु उसका अर्थ पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता है। इसमें 'चाभिमुख्येन कारयेत्' और 'रंगस्याभिमुखं कार्यं'। ये दोनों वाक्य अर्थको गड़बड़ कर रहे हैं। 'जनप्रवेशन चान्यदाभिमुख्येन कारयेत्' इस भागसे स्पष्ट रूपसे सामनेकी ओर सामाजिक जनोंके प्रवेशकेलिए बनाए जाने वाले मुख्य द्वारका उल्लेख किया गया है। तब जो श्लोकार्ध शेष रह जाता है वह नेपथ्यगृहमें नटोंके प्रवेशकेलिए बनाए जाने वाले नेपथ्यगृहके तृतीय द्वारका वर्णन कर रहा है यह स्वयं सिद्ध हो जाता है। किन्तु श्लोकका जो मुद्रित पाठ मिलता है उससे स्पष्टतः इस अर्थको प्रतीति नहीं होती है। इसके पूर्व नेपथ्यगृहसे सम्बद्ध दो द्वारोंका उल्लेख ९६वें श्लोकमें किया गया था। ९७वें श्लोकमें जिन दो द्वारोंका वर्णन किया गया है उनमेंसे एकका सम्बन्ध नेपथ्यगृहसे है। 'येन नार्यानाराश्च नटपरिवारः प्रविशति' लिखकर अभिनवगुप्तने जिस द्वारका उल्लेख किया है वह 'तृतीयं द्वारं नेपथ्यगृहस्य' नेपथ्यगृहका तृतीय द्वार है। और 'जनप्रवेशन कारयेत्' लिखकर भरतमुनिने 'जनप्रवेश' अर्थात् सामाजिकोंके प्रवेशके लिए जिस द्वारका उल्लेख किया है वह

चतुर्थ द्वार है। प्रथम और द्वितीय द्वार नेपथ्यगृहसे सम्बद्ध है। इसी प्रकार तृतीय द्वार भी नेपथ्यगृहसे सम्बद्ध है। इसलिए ९६वें श्लोकमे वर्णित नेपथ्यगृह वाले दो द्वारोके बाद उससे सम्बद्ध तृतीय द्वारका वर्णन होना चाहिए। और उसके बाद 'जनप्रवेशन' अर्थात् सामाजिक जनोके प्रवेशकेलिए नियत चतुर्थ द्वारका वर्णन होना चाहिए। इस दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो ९७ वें श्लोकके पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध भागोके क्रममें परिवर्तन करना होगा। इस श्लोकके पूर्वार्द्ध भागमें 'जनप्रवेशन' अर्थात् सामाजिकोके प्रवेश वाले चतुर्थ द्वारका वर्णन किया गया है इसलिए उसको बादमे और पूर्व-सस्करणोमें जो भाग उत्तरार्द्धके रूपमें छपा है उसको पहिले अर्थात् पूर्वार्द्धके रूपमें रखना चाहिए।

पाठसमीक्षा—इस क्रमपरिवर्तनके अतिरिक्त तृतीय द्वारका वर्णन करने वाले उत्तरार्द्ध भागके पाठमें कुछ और भी सशोधन करने होगे। तृतीय द्वारका प्रयोजन अभिनवगुप्तने यह बतलाया है कि उस द्वारसे नट परिवार नाट्य-मण्डपके भीतर प्रवेश करता है। इस दृष्टिसे इस तृतीय द्वारका स्थान नेपथ्यगृहके पीछेकी ओर अर्थात् नाट्य-मण्डपके पश्चिम भागमें होना चाहिए। ऐसी दशामें 'रगस्याभिमुख कार्यं' की सगति ठीक नहीं लगती है। नेपथ्यगृहके पश्चिमकी ओर जो द्वार बनाया जायगा उसको 'रगस्याभिमुख' रगके सामनेका द्वार साधारणतः नही कहा जा सकता है। नेपथ्यगृहके सामनेका भाग कहा जा सकता है। रगमण्डपके सामनेकी ओर तो मण्डपका मुख्य द्वार सामाजिक जनोके प्रवेशकेलिए बनना ही है। नटजनोका नेपथ्यगृहमें प्रवेश कराने वाला तृतीय द्वार नाट्य-मण्डपके पीछेकी ओर जहाँ बनता है उसे नेपथ्यगृहके सामने कहा जा सकता है। इसलिए यहाँ 'रगस्याभिमुख कार्यं' के स्थानपर 'नेपथ्याभिमुख कार्य' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसके आगे 'द्वितीय द्वारमेव तु' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणोमें छपा है। किन्तु वह भी ठीक प्रतीत नही होता है। यह द्वार द्वितीय द्वार नही अपितु तृतीय द्वार है। अत 'द्वितीय' द्वारमेव तु' के स्थानपर 'तृतीय' द्वारमेव तु' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार इन सब बातो को ध्यानमें रखनेपर इस श्लोकका पाठ निम्न प्रकार बनता है—

नेपथ्याभिमुख कार्यं तृतीय द्वारमेव तु।
जनप्रवेशन चान्यदाभिमुख्येन कारयेत्॥

ऐसा पाठ रखनेसे श्लोकका अर्थ पूर्ण तथा स्पष्ट हो जाता है। उस दशामें भी नेपथ्याभिमुख' शब्दकी विशेष व्याख्या करनी होगी। किन्तु 'रगस्याभिमुख कार्यं द्वितीय द्वारमेव तु' इस पाठकी तो कोई सगति ही नही लगती है। 'नेपथ्याभिमुख कार्यं तृतीय द्वारमेव तु' यह पाठ उसकी अपेक्षा कही अधिक सगत बैठता है अत हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—यह भरतके मूल श्लोकके पाठका सशोधन हुआ। किन्तु इस स्थलकी अभिनवभारतीके पाठमें भी कुछ त्रुटि है। पूर्व-सस्करणोमें इस प्रसगकी अभिनव भारतीका पाठ निम्न प्रकार छपा है—

जनप्रवेशन च तृतीय द्वार नेपथ्यगृहस्य येन भार्यामादाय नटपरिवार प्रविशति। अन्यत्तु द्वारमाभिख्येन पूर्वस्या दिशि कुर्यात्। द्वारवृत्या सामाजिकजनप्रवेशार्थम्।

इस पाठमे 'जनप्रवेशनच' पाठ अस्थानमें छप गया है। इसे 'अन्यत्तु' के बाद रखना चाहिए। उस दशामें 'अन्यन्तु जनप्रवेशन द्वारमाभिमुख्येन पूर्वस्या दिशि कुर्यात्' यह सुसगत पाठ बन जाता है। अत हमने सशोधित रूपये इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

अथ रङ्गपीठ-रङ्गशिरसोर्वक्तव्यशेष निरूपयति अष्टहस्तन्त्विति—

भरत०—अष्टहस्तं तु कर्तव्यं रंगपीठं प्रमाणतः ।
[1]चतुरश्रं समतलं वेदिकासमलंकृतम् ॥९८॥

[2]वेदिका शोभायुक्ता कार्या ॥९७॥

भरत०—पूर्वप्रमाणनिर्दिष्टा कर्तव्या मत्तवारणी ।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता वेदिकायास्तु पार्श्वतः ॥९९॥

पूर्वप्रमाणमध्यर्धहस्तोत्सेधत्वम् ॥९८॥

शेष दो द्वार—

यह चार द्वारोंकी विवेचना आई । अभी 'षड्द्वार' वाले पक्षके अनुसार दो और द्वारोंका प्रश्न शेष रह गया है । इन दो द्वारोके विषयमें अभिनवगुप्तने केवल इतना लिखा है कि अन्य द्वारद्वयं पार्श्वस्थित कुर्यादालोक सिद्धयर्थम्' । अर्थात् प्रकाशके आनेकेलिए दो और द्वार पार्श्वोंमें अर्थात् अगल-बगल में बनावे । इस आलोककी विशेष आवश्यकता रगपीठ पर ही होती है इसलिए रगपीठके अगल-बगलमें जहां मत्तवारणी बनी है वहींपर ये दोनों द्वार बनाने चाहिए । जैसा कि पहिले लिख आए हैं मत्तवारणी बरामदेको कहते हैं । मुख्य भवनसे बरामदेमें आनेकेलिए द्वार भी अवश्य होता है । इसलिए ये दोनो द्वार मत्तवारणीके स्थानपर ही होने चाहिए । उनसे रगपीठ पर आलोककी सिद्धि भी होगी और बरामदेमें जानेका रास्ताभी निकलेगा ।

अभिनव०—अब आगे रङ्गपीठ तथा रङ्गशीर्षके विषयमे जो कुछ कहनेको शेष रह गया है उसको 'अष्टहस्तं' इत्यादि [अगली कारिका] से निरूपण करते हैं—

भरत०—आठ हाथके चौकोर समतल और वेदिकासे अलङ्कृत रंगपीठका निर्माण प्रमाणके अनुसार करना चाहिए ॥९८॥

अभिनव०—[रङ्गपीठकी] वेदिका शोभायुक्त [सुन्दर] बनानी चाहिए ।

पाठसमीक्षा—पूर्व-संस्करणमें मूलके 'वेदिकासमलङ्कृत' की व्याख्याका पाठ 'वेदिके शोभायुक्ते कार्ये' इस प्रकार द्विवचनमें दिया गया था । परन्तु रंगपीठमें तो दो वेदिकाएं नहीं होती है वह तो समतल एक वेदिकायुक्त ही होता है । अतः द्विवचन परक पाठ ठीक नहीं प्रतीत होता है । हमने उसे एकवचन परक 'वेदिका शोभायुक्ता कार्या' इस प्रकार संशोधन करके ही प्रस्तुत किया है ॥९८॥

भरत०—वेदिका [अर्थात् रंगपीठ] के अगल-बगल [दोनों ओर] पूर्व निर्दिष्ट प्रमाणके अनुसार चार स्तम्भोंसे युक्त मत्तवारणीका निर्माण करना चाहिए ॥९९॥

अभिनव०—पूर्व निर्दिष्ट प्रमाणका अभिप्राय यह है कि डेढ़ हाथ ऊंची । [क्योंकि पहिले यह कहा जा चुका है कि सामाजिकोंके बैठने वाले भू-भागसे डेढ़ हाथ ऊंचाईपर रंगपीठ तथा मत्तवारणीका निर्माण करना चाहिए] ॥९९॥

---

१. ठ ध, चतुरस्रं । २. वेदिके शोभायुक्ते कार्ये ।

भरत—समुन्नतं समं चैव रंगशीर्षं तु कारयेत् ।
विकृष्टे तून्नतं कार्यं चतुरश्रे समं तथा ॥१००॥

समुन्नतमिति रगपीठापेक्षया । एतच्चेह प्रसगात् सूचयति[3] । यद् विकृष्टे तेनैव प्रकारेण स्तम्भत्रयी अभ्यधिका कर्तव्या । अन्तरमप्यत्रैव दर्शितम् ॥८६॥

अथ त्र्यश्रस्यातिदेशद्वारेण लक्षण कर्तुमुपक्रममाह एवमिति[4] ।

भरत०—एवमेतेन विधिना चतुरश्रं गृहं भवेत् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि त्र्यश्रगेहस्य लक्षणम् ॥१०१॥

भरत०—[रगपीठकी अपेक्षा] ऊचा और समतल [दो प्रकारका] रगशीर्ष बनाना चाहिए । विकृष्ट [अर्थात् आयताकार प्रेक्षागृह] मे [इन दोनोंमेसे] समुन्नत [अर्थात् रगपीठकी अपेक्षा ऊचा] और चतुरस्र [प्रेक्षागृहोमे दूसरा अर्थात्] समतल [रङ्गशीर्ष] बनाना चाहिए ॥१००॥

अभिनव०—समुन्नत अर्थात् रङ्गपीठकी अपेक्षा [ऊचा रङ्गशीर्ष विकृष्ट मण्डपमे बनाना चाहिए । और चतुरस्र मण्डपमे समतल रङ्गशीर्ष बनाना चाहिए] । इससे प्रसगत. यह बात भी सूचित की है कि विकृष्ट मण्डपमे इसी प्रकारसे तीनो वार के [अर्थात् १०, ८, ६] स्तम्भोकी सख्या भी अधिक [अर्थात् दुगनी] कर देनी चाहिए । इसीसे [अत्रैव, विकृष्ट तथा चतुरस्र दोनो प्रकारके प्रेक्षागृहोका] अन्तर भी दिखलाया है [सूचित किया है] ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके पाठमें एक स्थानपर पाठ-सशोधनकी आवश्यकता पडी है । पहिली जगह 'सूचयन्' यह पाठ पूर्व सस्करणोमें छपा था परन्तु वह सुसगत नही होता था । उसके स्थानपर 'सूचयति यद्' यह पाठ होना चाहिए । दूसरे स्थानपर 'विकृष्टे तेनैव प्रकारेण स्तम्भत्रय्यभ्यधिका कर्तव्या' इस प्रकारका पाठ पूर्व-सस्करणमें छपा था परन्तु वह भी स्पष्ट नही प्रतीत होता है । चतुरस्र मण्डप ३२ × ३२ हाथका कहा गया है और उसमें तीन वारमे १०, ६ तथा ८ कुल मिलाकर २४ स्तम्भोके लगानेका विधान किया गया है । विकृष्ट मण्डपका आकार ६४ × ३२ हाथका अर्थात् इस चतुरस्र-मण्डपसे दुगना वतलाया गया है । इसलिए उसमें स्तम्भोकी सख्या भी द्विगुण करनी होगी । उसके विना काम नही चल सकता है । पूर्व-सस्करणके 'स्तम्भत्रयी अभ्यधिका कर्तव्या' इस पाठसे वह अर्थ स्पष्ट रूपसे नही निकलता है । इसलिए 'अधिका' के स्थानपर 'द्विगुणा' पाठ अधिक अच्छा रहता । परन्तु हमने यहा उस पाठका सशोधन न करके अधिका' का अर्थ ही 'द्विगुणा कर दिया है ॥१००॥

त्र्यस्र मण्डप—

अभिनव०—इसके बाद [अन्यके धर्मका अन्यत्र सम्बन्ध निर्देश रूप] अतिदेश के द्वारा त्र्यस्र [अर्थात् त्रिकोणात्मक प्रेक्षागृह] का लक्षण करनेकेलिए 'एव' इत्यादि [अगले श्लोकसे] उपक्रम करते हैं—

भरत०—इस प्रकार इस [पूर्व-निर्दिष्ट] विधिसे चतुरस्र प्रेक्षागृहका निर्माण होता है । अव इसके वाद त्र्यस्र [त्रिकोणात्मक] प्रेक्षागृहका लक्षण कहेगे ॥१०१॥

---

१ ठ म रङ्गपीठ । २ ठ म प्युन्नत । ३. सूचयन् । ४ त्र्यश्रमिति ।

भरत०—त्र्यस्रं त्रिकोणं कर्तव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः ।
मध्ये त्रिकोणमेवास्य रङ्गपीठं तु कारयेत् ॥ १०२ ॥

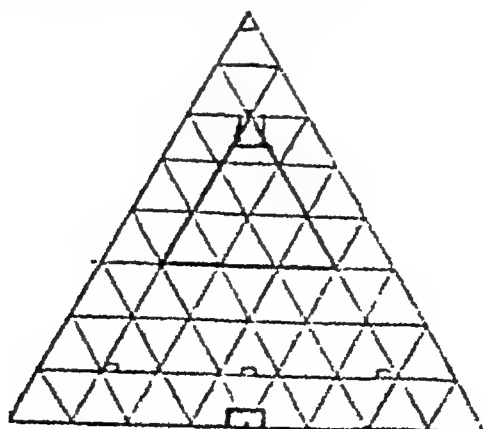
त्र्यश्रमिति लक्ष्य,[1] त्रिकोणमिति लक्षणम् । उभयानुग्रहाच्च विकृष्ट-चतुरश्र-मानद्वयमेव भवति । मध्ये च त्रिकोणमेव रङ्गपीठम् । तथैव [2]रङ्गशिरो नेपथ्य-गृह च ॥ १०१ ॥

त्र्यस्र प्रेक्षागृह का वर्णन—

भरत०—प्रयोग करने वालोंको [तीसरे प्रकारका] त्र्यस्र नाट्यगृह त्रिकोणात्मक बनाना चाहिए। और उसके बीचमे त्रिकोणात्मक ही रङ्गपीठ भी बनाना चाहिए। १०२।

अभिनव०—[इस कारिकामे त्र्यस्र और त्रिकोण दोनो पद आए हैं। इनमे से] 'त्र्यस्र' यह लक्ष्यपद [अर्थात् जिसका लक्षण करना है उसका सूचक] है और 'त्रिकोणं' यह लक्षण पद है [अत दोनोंके समानार्थक होनेपर भी पुनरुक्ति नहीं होती है]। [ऊपर कहे हुए विकृष्ट तथा चतुरस्र] दोनो [प्रकारके मडपो] का सम्बन्ध [अनुग्रह] होनेसे [यह त्रिकोणात्मक त्र्यस्र प्रेक्षागृह] विकृष्ट और चतुरस्र दोनो प्रकारके परिमाण वाले होते हैं। [अर्थात् त्रिकोणात्मक प्रेक्षागृहकी प्रत्येक भुजा विकृष्ट मडपके आकारके समान ६४ हाथकी भी हो सकती है और चतुरस्र-मण्डपके परिमाणके अनुसार ३२ हाथकी भी हो सकती है। अर्थात् त्र्यस्र-मण्डप दोनो आकारके बन सकते हैं]। उनके बीचमें रंगपीठ भी त्रिकोणात्मक ही बनाना चाहिए। इसी प्रकार रगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह भी [त्रिकोण होने चाहिए]।

त्रिकोणात्मक प्रेक्षागृहकी रचनाका एक चित्र नीचे दिया जा रहा है। इस विवरणके अनुसार इसमें रंगपीठ रगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह तीनो त्रिकोणात्मक होने चाहिए पर बन नहीं रहे हैं केवल रङ्गपीठ ही त्रिकोणात्मक बन सकता है। रगपीठके पीछे जिन द्वारोंके बनानेका विधान चतुरस्र-मण्डपमें किया गया है उनमेसे एक रगपीठका जो कोण रूप शीर्ष है उसमें दिखलाया है अथवा 'यदि याभित' के अनुसार उसके दोनो ओर बन सकते हैं।

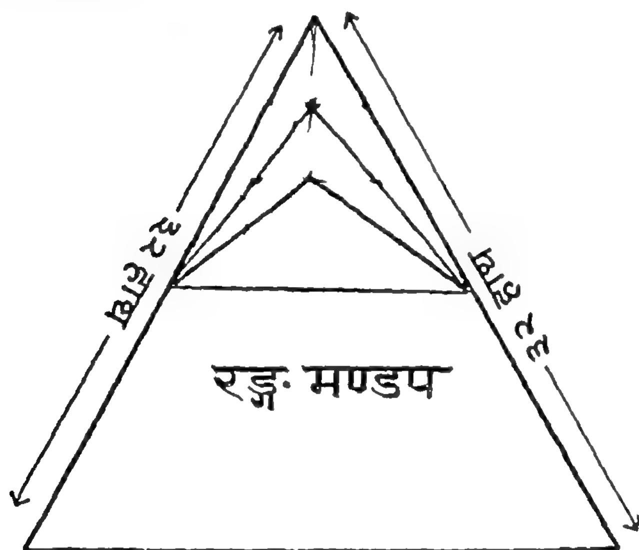


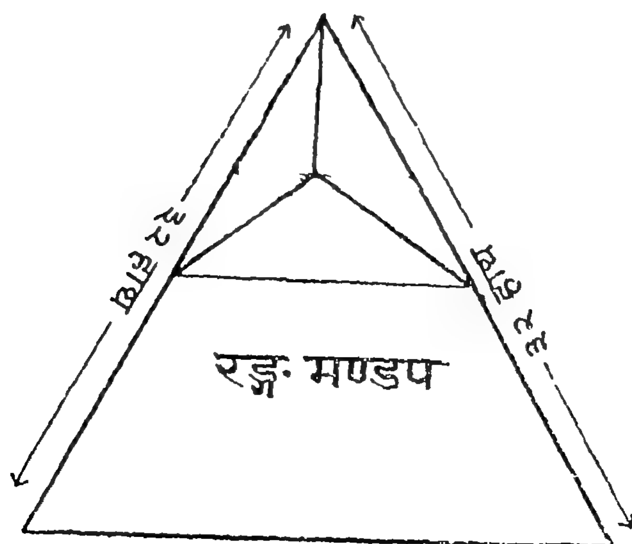
---

1. 'लक्ष्य' इति नास्ति। 2. रङ्गशिरः।

डा० मनमोहन घोषके मतानुसार त्रिविध नाट्य मण्डपोके चित्र हम पीछे पृ० २९३ पर दे चुके हैं। इनमें जो त्र्यस्र मण्डपका चित्र दिया गया है उसमें केवल नेपथ्यगृह त्रिकोणस्मक है। भरतमुनि त्र्यस्र मण्डपमें रगपीठको भी त्रिकोण बनानेका विधान कर रहे हैं। वह बात उस चित्र में नही आई है। इसलिए वह चित्र भरतमुनिके अभिप्रायके अनुसार नही है। कु० गोदावरी केतकर द्वारा प्रस्तुत नाट्य-मण्डपोके चित्र भी पृष्ठ ३७४ पर दिया जा चुका है। इनमें जो त्र्यस्र मण्डपका चित्र दिया गया है उसमें रगशीर्ष, रगपीठ, और नेपथ्यगृह तीनोमेंसे एक भी त्रिकोणात्मक नही दिखलाया गया है। और उसकी स्थिति भी उल्टी रखी है इसलिए यह चित्र भी भरतमुनि और अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुरूप नही बनता है।

इन सब चित्रोके अतिरिक्त त्र्यस्र मण्डपकी दो स्थितिका और हो सकती है। इनके चित्र हम आगे दे रहे हैं। इनमें रगपीठ रगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह तीनोको त्रिकोणात्मक दिखलाया गया है। सम्भव है इसमेंसे किसी प्रकारकी रचना अभिप्रेत हो।





भरत०—द्वारं ¹तेनैव कोणेन कर्तव्यं ²तस्य वेश्मनः ।
द्वितीयं चैव कर्तव्यं रङ्गपीठस्य पृष्ठतः ॥ १०३ ॥

तेनैव कोणेनेति ³ऐन्द्रीगतेन । द्वारं जनप्रवेशनम् । रङ्गपीठस्य यत् पृष्ठं रङ्गशिरः, तत्र द्वितीयमिति राश्यपेक्षयैकवचनम् । तेन द्वारद्वयमेव रङ्गशिरसि नेपथ्यगतपात्रप्रवेशाय । ⁴चकारान्नटप्रवेशार्थं नेपथ्यगृहद्वारं च । त्रीणि वा कार्याणि इति मतान्तरं संगृहीतं भवति ॥ १०३ ॥

पाठसमीक्षा—इस श्लोककी अभिनवभारतीमें हमने दो स्थानोपर पाठ-संशोधन किया है। पूर्व-संस्करणोंमें 'त्र्यश्रमिति । त्रिकोणमिति'। इस प्रकारका पाठ छपा था। उसकी संगति स्पष्ट नहीं लगती थी। दोनो पद पुनरुक्तसे प्रतीत होते थे। वृत्तिकार उनका यह भेद करते हैं कि 'त्र्यश्र' यह लक्ष्यपद है और 'त्रिकोण' यह लक्षण है। 'त्रिकोणमिति लक्षणम्' इस पाठके अनुरोधसे 'त्र्यश्रमिति लक्ष्य' पाठका होना उचित प्रतीत होता है। इसी प्रकार पूर्व संस्करणोंमें 'तथैव रंगशिरसो नेपथ्यगृह न' यह पाठ भी अशुद्ध छपा था। इसमें 'रंगशिरसो' इस षष्ठ्यन्त पदके स्थानपर 'रंगशिरो' यह प्रथमान्त पाठ होना चाहिए अतः हमने संशोधित रूपमें इन पाठोंको ही प्रस्तुत किया है ॥ १०२ ॥

भरत०—[और इस त्र्यस्र प्रेक्षागृहका] द्वार भी उसी कोण मे [अर्थात् उसी ओर जिस ओर कि विकृष्ट तथा चतुरस्र मण्डपोंमे बतलाया था, अर्थात् मुख्य द्वार पूर्व की ओर] बनाना चाहिए। [और पात्र-प्रवेश वाले द्वारके अतिरिक्त] दूसरे [प्रकारके अर्थात् वाद्य वाले पूर्वोक्त दोनों] द्वारकी रचना रङ्गपीठके पीछेकी ओर करनी चाहिए। १०३।

अभिनव०—उसी कोणमें [अर्थात् जिस कोणमें विकृष्ट तथा चतुरस्र मण्डपों मे द्वार बनाए गए थे] अर्थात् पूर्वकी ओर [ऐन्द्री दिशा—पूर्व दिशाकी ओर द्वार बनावे]। द्वारसे सामाजिकोंका प्रवेश कराने वाले ['जनप्रवेशनं'] द्वारका ग्रहण करना चाहिए। रङ्गपीठका जो पिछला भाग अर्थात् रङ्गशीर्ष, उसमें दूसरा द्वार [बनावे] यह राशि [अर्थात् एक ही वर्ग] की दृष्टिसे एकवचनका प्रयोग किया गया है। इसलिए नेपथ्यसे आने वाले पात्रोंके प्रवेशके लिए रङ्गशीर्ष [और नेपथ्यगृह के बीच] में दो द्वार ही बनाने चाहिए। [एक नहीं] और 'चकार' से नट लोगों के प्रवेशकेलिए नेपथ्यगृहके [पीछेकी ओर] द्वार बनाना चाहिए। अथवा ['षड्द्वारं नाट्यगृहम्' इस मतमे एक द्वार नेपथ्यगृहके पीछे और दो द्वार मत्तवारणियोंमें इस प्रकार मिलाकर] तीन द्वार ही बनाने चाहिए इस दूसरे मतका संग्रह [भी चकारसे] होता है।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाकी अभिनव भारतीका पाठ भी पूर्व संस्करणोंमें अत्यन्त अशुद्ध और अस्त-व्यस्त रूपमें मुद्रित हुआ है। हम पहिले पृष्ठपर लिख चुके हैं कि ९३ संख्या वाले श्लोक से ... के लिए पाठों में द्वार विषयक वर्णन पाया जाता है इसलिए इस ...

१. द्वारमेवेन। २. पन तु प्रकाशने। ३. माहेन्द्रीगतेन। 'तेन तस्मिन्नेव कोणे द्वारं कर्तव्यं' इत्यपि पाठ। ४. चकारादन्य प्रवेशार्थं ... च।

सम्बन्ध उस कारिकासे न होकर आगे द्वार विधिका वर्णन करने वाली १०३ सख्या वाली कारिका से है। इसलिए उस पाठको वहाँसे उठाकर यहाँ लाना पडा है। उस स्थानान्तरित पाठको हमने यहाँ भिन्न टाइपमें मुद्रित किया है। इसमें 'द्वितीये चैव कर्तव्य रङ्गपीठस्य पृष्ठत' इस उत्तरार्ध भागकी व्याख्या की गई है। यह बात मूल कारिकाके इस भाग तथा व्याख्याके 'रगपीठस्य यत्पृष्ठ रगशिरः, तत्र द्वितीयमिति राध्यपेक्षयैक वचनम्' इस भागके देखते ही प्रतीत हो जाती है। इस लिए हमने इस पाठको प्रकृत कारिकासे ही सम्बद्ध मान कर उसको यहाँ स्थानान्तरित किया है।

पाठसमीक्षा—इस कारिकाके 'द्वार तेनैव कोणेन कर्तव्य तस्य वेश्मन' इस पूर्वार्द्ध भागकी व्याख्या करने वाली एक पक्ति पूर्व-सस्करणो में यहाँ यथा स्थान छापी गई थी। किन्तु उसका पाठ पूर्व-सस्करणोंमें 'तेनैव कोणेनेति। वारुणीगतेन। द्वार जनप्रवेशनम्। येन तस्मिन्नेव कोणे द्वारे कर्तव्ये। इस प्रकार छपा था। किन्तु यह पाठ अशुद्ध है। 'द्वार तेनैव कोणेन कर्तव्य तस्य वेश्मनः' इस पक्तिके द्वारा भरतमुनिने 'त्रिकोण नाटच-मण्डपके मुख्य द्वारके बनानेका निर्देश किया है। जैसा कि चतुरस्र-मण्डप और विकृष्ट मण्डपके प्रकरणमें हम देख चुके हैं नाटचगृहोका मुख्य प्रवेश द्वार पूर्वकी ओर ही होता है। इसलिए त्र्यस्र मण्डपका 'जनप्रवेशद्वार' या मुख्य द्वार पूर्व दिशामे ही होना चाहिए। किन्तु पूर्व-सस्करणोमें 'तेनैव कोणेन' का अर्थ 'वारुणीगतेन' किया गया है। वारुणी दिशा पश्चिम दिशाका नाम है। उस दिशामें जनप्रवेशन द्वार का बनाना सगत नहीं है इसलिए 'वारुणीगतेन' पाठ अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'ऐन्द्रीगतेन' पाठ होना चाहिए।

पाठसमीक्षा—पूर्व-सस्करणोमें ९३ सख्यावाली कारिकाकी व्याख्याके साथ अ-स्थानमें मुद्रित जिस पाठको हमने यहाँ स्थानान्तरित किया है उसमेंभी कुछ अशुद्धि है। 'द्वितीये चैव कर्तव्य रगपीस्य पृष्ठत' इस उत्तरार्धभागकी व्याख्या करते हुए उसमें रगशीर्षमें दो द्वार बनानेका विधान किया गया है। इतनी बात तो ठीक है। पर इसके बाद इसी कारिका भागमें आए हुए चकारकी व्याख्या करते हुए 'चकारादन्यप्रवेशार्थ जनप्रवेशनद्वारं च। त्रीणि वा कार्याणि इति मतान्तर सगृहीत भवति'। यह पक्ति पाई जाती है। परन्तु इस पक्तिका पाठ अशुद्ध है। इसमें 'चकार' से 'जनप्रवेशनद्वार' का ग्रहण करना चाहिए यह बात इस पाठसे प्रतीत होती है। किन्तु 'जनप्रवेशद्वार' का विधान तो कारिकाके पूर्वार्द्ध भागमें ही किया जा चुका है। यहाँ उसका दुबारा वर्णन असगत है। अब तककी व्याख्याके अनुसार त्र्यस्र मण्डपके पूर्व दिशामें बनने वाले मुख्य द्वार या 'जनप्रवेशन द्वार' तथा रगशीर्षमें बनने वाले दोनो द्वारो अर्थात् कुल मिलाकर तीन द्वारोका वर्णन किया जा चुका है। अब 'चकार' से केवल बचे हुए द्वारोका ही ग्रहण हो सकता है। इसके पूर्व ३८० पृष्ठपर हम यह देख चुके हैं नाटच-मण्डपके द्वारोंके सम्बन्ध' चतुर्द्वार नाटचगृहम्' तथा 'पड्द्वार नाटचगृहम्' ये दो मत पाए जाते हैं। त्र्यस्र मण्डपके तीन द्वारोका वर्णन पहिले हो हो चुका है। इसलिए 'चतुर्द्वार' वाले पक्षमें एक, तथा 'पड्द्वार' वाले पक्षमें तीन द्वार बननेको शेष रह गए हैं। इन्ही अवशिष्ट द्वारोका ग्रहण यहाँ 'चकार' से होता है। यह बात ग्रन्थकार यहाँ लिख रहे हैं। और वह भी दोनो मतोका उल्लेख करते हुए लिख रहे हैं यह बात 'त्रीणि वा कार्याणि इति मतान्तर सगृहीत भवति' इस पक्ति स्पष्ट होजाता है। ऐसी दशामें यह निश्चय है कि 'चकार' से 'जनप्रवेशनद्वार' का ग्रहण सम्भव नही है। इसलिए पूर्व सस्करणोमे 'चकारादन्य प्रवेशार्थं जनप्रवेशन द्वार च' यह जो पाठ छपा है वह निश्चित रूपमें अशुद्ध है। यहाँ वास्तवमें नेपथ्यगृहमे नटोके प्रवेशके लिए बनाए जाने वाले पिछले द्वारका ग्रहण 'चकार' से होता है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इस अभिप्रायको व्यक्त करनेकेलिए 'चकारान्नटजनप्रवेशनार्थ नेपथ्यगृह-द्वार च' यह पाठ होना चाहिए। इसलिए हमने सशोधित रूपमें इसी पाठको प्रस्तुत किया है।

भरत०—'विधिर्यश्चतुरश्रस्य भित्तिस्तम्भसमाश्रयः'।
स तु सर्वः प्रयोक्तव्यः त्र्यश्रस्यापि प्रयोक्तृभिः ॥ १०४ ॥

सर्वग्रहणादन्यूनाधिकत्वमत्र दर्शयन् विकृष्टे स्तम्भानाभाविक्यमनुजानीते। त्र्यश्ररंगपीठे तु प्रतिरंगमध्य इति। रंगोऽत्र तच्छिर., ततः पृष्ठतः यदि वामित ॥१०४॥

'अग्रिमाध्यायसंगतिं सूचयति 'एवमेतेन' इति—

भरत०—एवमेतेन विधिना कार्या 'नाटचगृहा बुधैः।
'पुनरेषां प्रवक्ष्यामि 'पूजामेव यथाविधि ॥१०५॥

यह व्याख्या 'चतुर्द्वार' वाले पक्षके अनुसार हुई। यदि 'षड्द्वार नाट्यगृहम्' वाला पक्ष माना जाय तो नेपथ्यगृह वाले द्वारके अतिरिक्त मत्तवारणियोंमें बनने वाले दोनों द्वारोंका भी ग्रहण इस चकारसे होता है। इस अभिप्रायसे 'त्रीणि वा कार्याणि' इति मतान्तर संगृहीत भवति यह पंक्ति ग्रन्थकारने लिखी है।

भरत०—भित्तियों तथा स्तम्भोंके विषयमें जो विधि चतुरस्र-मण्डपमें बतलाया गया है, प्रयोक्ताओंको उन सबका प्रयोग त्र्यस्र मण्डपमें भी करना चाहिए। १०४।

अभिनव०—'सर्व' पदके ग्रहणसे यहाँ [अर्थात् त्र्यस्र मण्डपमें चतुरस्र मण्डप की अपेक्षासे] न्यूनता या अधिकता नहीं होनी चाहिए इस बातको दिखलाते हुए विकृष्टमें स्तम्भोंकी अधिकताको स्वीकार किया गया है। [त्र्यस्रमण्डपमें चतुरस्र मण्डपकी भित्ति तथा स्तम्भोंसे सम्बद्ध सम्पूर्ण विधिका अनुसरण करना चाहिए इसका अभिप्राय यह है कि विकृष्टमें उसका पूर्ण रूपसे पालन करनेकी आवश्यकता नहीं है। अतः उसमें स्तम्भोंकी अधिकताकी स्वीकृति ध्वनित होती है। यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है। यह बात आगे कहते हैं। चतुरस्र मण्डपमें रङ्गशीर्षके दोनों ओर दो द्वार बनानेका विधान किया था। त्र्यस्र मण्डपमें इतना संशोधन हो सकता है कि त्रिकोण 'प्रतिरङ्ग' अर्थात् रङ्गशीर्षके बीचमें एक द्वार रचा जाय। अथवा दोनों ओर भी हो सकते हैं]। त्र्यस्र रंगपीठमें तो प्रतिरंग अर्थात् रंगशीर्षके मध्यमें [एक द्वार बनाना चाहिए]। रङ्ग शब्दसे रंगशीर्षका ग्रहण करना चाहिए। उसके पीछे [एक द्वार बनाना चाहिए] अथवा उसके दोनों ओर [दो द्वार बनाने चाहिए]।

पाठसमीक्षा—इस श्लोककी अभिनवभारतीका पाठ भी पूर्व-संस्करणोंमें ९३वीं कारिका की व्याख्याके बीचमें छप गया था। हमने उसको यहाँपर यथास्थान दिया है ॥ १०४ ॥

अभिनव०—'एवमेतेन' आदि [अगले श्लोक] से अगले [तृतीय] अध्याय [में कहे हुए पूजन विधान] की संगति दिखलाते हैं—

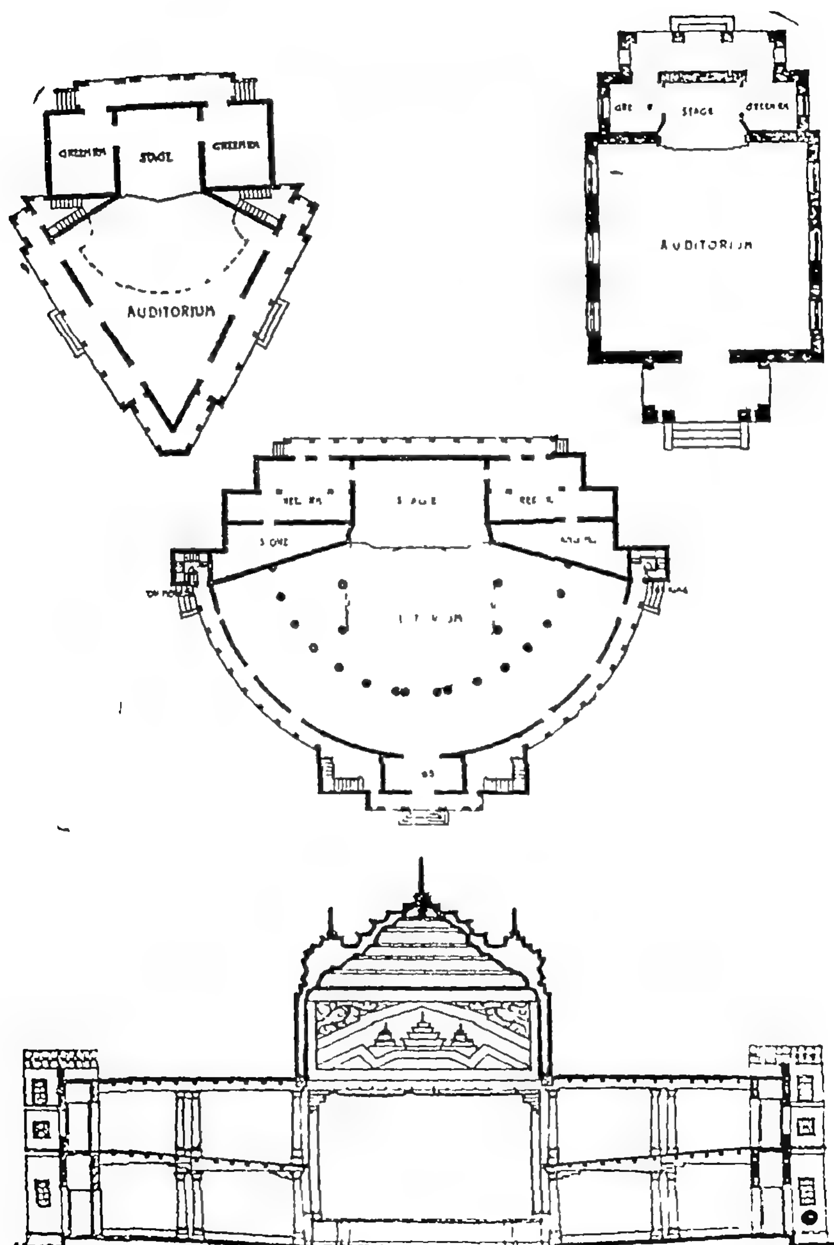
भरत०—इस प्रकार इस [पूर्वोक्त] विधिसे विद्वानोंको [अनेक प्रकारके] नाट्यगृहोंकी रचना करनी चाहिए। इसके बाद मैं शास्त्रके अनुसार इन [नाट्यगृहोंके अधिष्ठातृ देवताओं] के पूजनकी विधिका वर्णन [अगले अध्यायमें] करूँगा ।१०५।

---

१. म द्वितीय चतुरस्रस्य। २. विधिवत्स पुष्कलस्य। ३. ... म सर्गतिरूप।
३ सर्वाणि। ४. म कार्यं नाट्यगृहं बुधैः। ५. ब. म तस्य कार्या। ६. भ. ब. पूजामेषां।

डा. प्रसन्नकुमार आचार्य द्वारा प्रस्तुत

नाट्य-मण्डपके चित्र



ये चित्र अभिनव भारती अथवा भरत नाट्यशास्त्रके आधारपर नही बनाए गए हैं। परन्तु चित्रकारकी सुरुचिपूर्ण कल्पनाका परिचय अवश्य देते हैं।

एतेन विधिना बहवो नाट्यमण्डपा. 'पूर्वोक्ताष्टादशभेदकलनयेत्यर्थ । बुधैरित्यूहापोहविद्धि. । पुनरिति यद्यपि गदिना. सर्वे शुभदा. तथापि 'पूजां वक्ष्यामीति पुन. शब्दार्थ. । तच्च विधानेनोक्तम् । 'तदाह यथाविधीति । एषामिति मण्डपस्था देवता अनेन उपचारादुक्ता. ॥१०५॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे मण्डपविधानो नाम द्वितीयोऽध्याय. ।

'द्वितीये मण्डपाध्याये वृत्तिरेषा शुभा कृता ।
मयाभिनवगुप्तेन दृष्ट्या सन्तोऽनुगृह्यताम् ॥

इति महामाहेश्वराभिनवगुप्ताचार्य-विरचितायामभिनवभारत्या
भारतीय नाट्यशास्त्रविवृतौ मण्डपाध्यायो द्वितीय ।

अभिनव०—इस विधिसे बहुत-से मण्डप पूर्वोक्त अठारह भेदोंको समझ कर [आवश्यकतानुसार] नाना प्रकारके मण्डप बनाने चाहिए। यह अभिप्राय है। 'बुधैः' इसका अर्थ ऊहा-पोह करनेमें समर्थ है। यद्यपि [इसी अध्यायमे] सारे कल्याण-प्रद व्यापारोको पहिले ही कहा जा चुका है फिर भी पूजनके विधिको कहूंगा यह 'पुन.' शब्दका अभिप्राय है। और वह [पूजनका प्रकार शास्त्रीय] विधानके अनुसार कहा जायगा यह बात [कारिकामे आए हुए] 'यथाविधि' इस पदसे कही गई है।'एषां' इनके [पूजाविधिको कहूंगा] इससे उपचारसे मण्डपमे रहने वाले देवताओ [की पूजा] का निर्देश किया गया है। ॥ १०५ ॥

श्री भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्रमें मण्डपविधान नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

अभिनव०—[भरत नाट्यशास्त्रके] मण्डपाध्याय नामक द्वितीय अध्यायके ऊपर मुझ अभिनवगुप्तने यह सुन्दर [अभिनवभारती] वृत्ति लिखी है। हे विद्वज्जनो आप लोग उसको देखकर [मुझे] अनुगृहीत करें।

पाठसमीक्षा—अभिनवगुप्तने अपनी 'अभिनवभारती' में प्रत्येक अध्यायके प्रारम्भमें मंगलाचरण और अन्तमें समाप्ति सूचक श्लोक लिखे हैं। इस द्वितीयाध्यायकी समाप्तिमें उन्होंने समाप्ति सूचक श्लोक लिखा था, परन्तु उसका ठीक पाठ उपलब्ध नहीं होता है। प्रथम संस्करण में उसका केवल एक चरण 'दृष्ट्या सन्तोऽनुगृह्यताम्' इस रूपमें मुद्रित किया था। दूसरे संस्करणमें उसको भी निकाल दिया गया है। अन्तिम श्लोकमें अभिनवगुप्त प्रायः अध्यायके नाम और अपने नामका उल्लेख करते हुए ही अध्यायकी समाप्ति करते हैं। इसी आदर्श पर हमने अभिनवगुप्तके अभिप्रायके अनुरूप पाठकी पूर्ति करके यह स्वनिर्मित अन्तिम श्लोक यहां दे दिया है।

श्री महामाहेश्वर-अभिनवगुप्ताचार्य-विरचित अभिनवभारती
नामक नाट्यशास्त्रकी टीकामें 'मण्डपाध्याय' नामक
द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

इति श्रीमदाचार्य विश्वेश्वर-सिद्धान्तशिरोमणि-विरचिते 'अभिनवभारती-व्याख्याने'
द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः।

---

१ 'न मु' इत्यधिकम्। २ पूजामिति। तथापि वक्ष्यामीति। ३ मम हि। ४ [illegible]।

इति

अध्यायद्वयात्मक

प्रथमो भाग

।। समाप्त ।।

खण्ड: २

अथ

रसाध्यायो नाम

षष्ठोऽध्यायः

प्रारभ्यते

षष्ठोऽध्यायः

'आप्यायन्तीं जगत्कृत्स्नं प्रक्षरन्तीं रसामृतम् ।
चन्द्रमूर्तिं प्रभोर्वन्दे सरसां सुमनोहराम् ॥

अथ अभिनवभारती सञ्जीवनभाष्ये षष्ठोऽध्यायः

अध्यायसङ्गति—

'अभिनवभारती' के प्रथम तथा द्वितीय दो अध्यायोंकी व्याख्या इसके पूर्व की जा चुकी है। उसके बाद बीचके ३, ४, तथा ५ इन तीन अध्यायोंको छोड़कर अब षष्ठाध्यायकी व्याख्या आरम्भ कर रहे हैं। बीचमें तीन अध्यायोंको छोड़ देनेका कारण उनके साहित्यिक मूल्यकी न्यूनता है। इनमेंसे तीसरे अध्यायका नाम 'रङ्गदैवतपूजन' है। द्वितीय अध्यायमें रङ्गपीठके निर्माण और उसके विविध भागोंको रक्षाके लिए देवताओंकी नियुक्तिका वर्णन किया गया है। तीसरे अध्यायमें इन्हीं रङ्गके अधिष्ठातृ-देवताओंकी पूजाका विधान है। उस पूजन-विधिका कोई साहित्यिक-मूल्य नहीं है। इसलिए अभिनवगुप्तने भी उसको विशेष महत्व नहीं दिया है। उन्होंने इसके बहुत थोड़ेसे भागपर अपनी विवृति लिखी है वह भी संक्षिप्त टिप्पणीके रूपमें। तीसरे अध्यायमें १०२ श्लोक है। उनमेंसे अधिकांशपर अभिनवगुप्तने टीका नहीं लिखी है। इस अध्यायमें कुल मिला कर अभिनवभारतीकी तीस बत्तीस पंक्तियाँ मिलती हैं। इसलिए उसका विशेष साहित्यिक मूल्य न होनेसे हमने भी यहाँ उसकी व्याख्या प्रस्तुत नहीं की है।

उसके बाद चतुर्थ अध्यायका नाम 'ताण्डवलक्षण' है। इसमें नाट्यके समय किए जाने वाले नाना प्रकारके अङ्गहारों आदिका वर्णन है। उसका ताण्डव नृत्यकी दृष्टिसे तो उपयोग है किन्तु साहित्यिक मूल्य कुछ भी नहीं है। इसलिए हमने उसको भी छोड़ दिया है। पाँचवें अध्याय का नाम 'पूर्वरङ्गविधान' है। उसका भी साहित्यिक दृष्टिसे विशेष मूल्य नहीं है। इसलिए उसको भी छोड़ कर हमने यहाँ छठे अध्यायकी व्याख्या प्रारम्भ की है। इस छठे अध्यायका नाम 'रसाध्याय' है। साहित्य शास्त्रकी दृष्टिसे यह 'रसाध्याय' सबसे अधिक महत्वपूर्ण अध्याय है। इसलिए बीचके तीन अध्यायोंको छोड़कर इस अध्यायको प्रारम्भ किया गया है।

अध्यायारम्भका मङ्गलाचरण—

अभिनव०—[इस रसाध्यायके निरूपणके प्रारम्भमें] मैं समस्त जगत्को तृप्त करने वाली और रस रूप अमृतको प्रक्षरण करने वाली भगवान् [शिव] की सरस और अत्यन्त मनोहारिणी चन्द्रमूर्तिकी वन्दना करता हूं।

पाठसमीक्षा—इस अध्यायकी अभिनवभारतीका आरम्भ बड़े अव्यवस्थित रूपसे हुआ है जैसा कि हम अब तक देखते आए हैं बड़ौदासे प्रकाशित अभिनवभारतीके पूर्वभागके दोनों संस्करण अत्यन्त अशुद्ध हैं। इस अध्यायके प्रारम्भमें भी इस पाठकी यही दुर्दशा दिखाई देती है। इससे पहिली बात यह है कि इस अध्यायके प्रारम्भका मङ्गलाचरण इन दोनों संस्करणोंमें लुप्त है। उसके स्थानपर पाठभेदसूचक चिह्न लगे हुए हैं। जिससे यह प्रतीत होता है कि यहाँ मङ्गलाचरण

---

१. [illegible] श्लोक.।

भरत०—[1]पूर्वरङ्गविधिं श्रुत्वा पुनराहुर्महत्तमाः ।
[2]भरतं मुनयः सर्वे [3]प्रश्नान् पञ्चाभिधत्स्व न ॥१॥

पूर्वरङ्गविधिं श्रुत्वेति । पञ्च प्रश्नानिति—रसाना केन रसत्वमित्येक प्रश्न ।

का श्लोक लुप्त है । इस लोपका कारण क्या है इस पर कोई प्रकाश नही डाला गया है । इस लुप्त मङ्गल श्लोककी पूर्ति हमने अपने श्लोकके द्वारा कर दी है । हम पहिले लिख चुके हैं कि अभिनवगुप्तने प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें शिव की आठ मूर्तियोमेंसे किसी एक मूर्तिको नमस्कार करनेकी योजना बनाईहुई है । इस योजनाके अनुसार विगत पांच अध्यायोमें वे १ पृथिवी, २ जल, ३ तेज, ४ वायु और ५ आकाश रूप पञ्चभूतात्मक पांच मूर्तियोको नमस्कार कर चुके हैं । इनके वाद चन्द्र, सूर्य और आत्मा ये तीन मूर्तियां और शेष रह जाती हैं । इस छठे अध्यायका नाम 'रसाध्याय' है । शिवमें चन्द्रमूर्ति अमृतरससे परिपूर्ण और सबको आह्लादित करने वाली परम मनोहारिणी मूर्ति है । इसलिए इस रसाध्यायके आरम्भमें उस रसमयी, अमृतमयी, चन्द्रमूर्तिको नमस्कार करना ही सबसे अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । इस दृष्टिसे हमारा अनुमान है कि यहां अभिनवगुप्तने चन्द्रमूर्तिको ही नमस्कार किया होगा । अब दुर्भाग्यवश अभिनवगुप्तके अपने शब्द उपलब्ध नही हैं फिर भी उनके अभिप्रायके अनुसार चन्द्रमूर्तिको नमस्कार-परक एक श्लोक हमने यहां दे दिया है । उसके विना केवल बिन्दु लगा कर अध्यायका आरम्भ करना उचित प्रतीत नही होता है ।

इस अध्यायकी अवतरणिका—

भरत०—[विगत पञ्चमाध्यायमे निरूपित] पूर्वरङ्गके विधानको सुनकर फिर सारे महत्तम ऋषि-गण भरतमुनिसे बोले कि हमारे [प्रथमाध्यायमे ये पूछे हुए] पांच प्रश्नोका उत्तर [और अधिक स्पष्ट रूपसे] देनेकी कृपा करें ।१।

प्रथम अध्यायके आरम्भमें भी मुनिगणोने भरतमुनिसे पांच प्रश्न पूछे थे । उनका समाधान पिछले अध्यायोमें दिखलाया गया है । पांच अध्यायोके वाद अब मुनिगणोने भरतमुनि के सामने फिर पांच प्रश्न उपस्थित किए हैं । इन प्रश्नोका समाधान अगले अध्यायोमें करेंगे । यो तो ये नए प्रश्न हैं जो प्रथमाध्यायमें पूछे गए प्रश्नोसे बिलकुल अलग है । किन्तु अभिनवगुप्त उनको पूर्व-प्रश्नोका ही विस्तारमात्र मानते हैं । जैसा कि वे आगे लिखेंगे । पूर्व पांच प्रश्नोका समाधान कहां तक हुआ है इसका निरूपण अभिनवगुप्तने प्रथमाध्याकी छठी कारिकाकी व्याख्या करते समय किया था । उसमे उन्होने अन्य व्याख्याकारोके दो मतोको दिखलानेके वाद अपना यह मत दिखलाया था कि उन पांचो प्रश्नोका उत्तर किसी विशेष भागमें नही अपितु छ सहस्र श्लोकोके इस सारे नाटचशास्त्रके भीतर दिया गया है । इसी दृष्टिसे यहा पूछे जाने वाले इन नए प्रश्नोको भी अभिनवगुप्त पूर्व प्रश्नोका विस्तार मात्र मानते हैं ।

अभिनव०—[पञ्चम अध्यायमे वर्णित] पूर्वरङ्गके विधानको सुनकर [यह अध्यायसङ्गति दिखलाने वाला कारिकाका प्रतीक भाग है] । पाँच प्रश्नो [का समाधान कीजिए । इसमे मुनिगण जो पाँच प्रश्न पूछना चाहते हैं उन] को [आगे दिखलाते है । उनमेसे] रसोको 'रस' क्यो कहा जाता है यह एक [अर्थात् पहिला] प्रश्न है ।

१ पुस्तके अय श्लोको नास्ति । तत्स्थाने 'ऋषय ऊचु' इति पठ्यते ।
२, म भुनयो भरतम् । ३ पञ्च प्रश्नान् प्रवीहि न ।

भावाश्चैव कथं प्रोक्ता' किं वा ते भवयन्त्यपि इति द्वितीय. प्रश्नः। संग्रह-कारिका निरुक्तलक्षणजिज्ञासापरा अवशिष्टास्त्रयः प्रश्नाः।

यद्यपि पूर्वमपि पूर्वमपि प्रश्नपञ्चकमुपन्यस्य सामान्यतोऽङ्गादिस्वरूपं विवेचितं, तथापि नाट्यगत्वे सम्यङ् निर्जाते निर्णीति भवति, न वचनमात्रात्। अनेनैवाभिप्रायेण दशरूपकनिरूपणे प्रथमप्रश्नार्थो निगमयिष्यते—

['जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' इत्यादि प्रथमाध्यायकी १६वीं कारिकामें रसो को नाट्यके अङ्गोंमें गिनाया गया था इसलिए उनका निरूपण तो उचित है किन्तु भावोंको वहाँ अंगोमें नहीं गिनाया गया है तब] भावोको क्यो कहा, और वे भाव क्या करते हैं यह [भावविषयक] द्वितीय प्रश्न है। संग्रह, कारिका और निरुक्त [अर्थात् उद्देश लक्षण तथा परीक्षा] के लक्षणादि-परक शेष तीन प्रश्न हैं। [इस प्रकार मिल कर पांच प्रश्न हो जाते हैं]।

पाठसमीक्षा—पूर्व संस्करणोंके पाठमें यहासे अध्यायका आरम्भ ही हो रहा है किन्तु यहाका अभिनवभारतीका पाठ बड़ा गड़बड़ है। पूर्व-संस्करणोंमें इस प्रकार पाठ छपा है—

पूर्वरङ्गविधि श्रुत्वेति। पञ्च प्रश्नानिति। रसाना केन रसत्वमित्येक प्रश्न.।

....

अर्थात् पांच प्रश्नोंमेंसे एक प्रश्नका स्वरूप तो यहाँ दिया गया है और उसके बाद पाठलोप-सूचक बिन्दु लगा दिए गए हैं। इन बिन्दुओंके पूर्व जो 'इत्येक प्रश्न.' पाठ दिया है इससे प्रतीत होता है कि इसके आगे पूछे जाने वाले पांचों प्रश्नोंका उल्लेख यहां अभिनवगुप्त करना चाहते हैं। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि इस स्थलके लुप्तपाठमें अवशिष्ट चार प्रश्नोंका उल्लेख होना चाहिए। जो किसी कारणसे यहां उपलब्ध नहीं हो रहा है। भरतमुनिने अपनी अगली दो कारिकाओंमें इन प्रश्नोंको प्रस्तुत किया है। उन्हींमें अभिनवगुप्तने यहां 'रसाना केन रसत्वमित्येक' प्रश्नः' यह प्रथम प्रश्न बनाया है। इसका स्पष्ट रूपसे यह अर्थ होता है कि अवशिष्ट चार प्रश्न भी उन्हीं कारिकाओंके आधारपर यहां दिए जाने चाहिए। इसी दृष्टिसे हमने उन कारिकाओंमें पूछे गए शेष चार प्रश्नोंको यहां देकर इस लुप्त पाठकी पूर्ति कर दी है।

ये प्रश्न पूर्व प्रश्नोंके विस्तारमात्र हैं—

इस अध्यायके प्रारम्भमें कलश-कारिकामें जो 'प्रश्नान् पञ्चाभिधन्स्व न.' कहा गया है। उसका सम्बन्ध यहाँ आगे पूछे जाने वाले पांच प्रश्नोंसे प्रतीत होता है किन्तु अभिनवगुप्त उसे पहिलेके ही पांच प्रश्नोंसे सम्बद्ध मानते हैं। इसी बातका प्रतिपादन वे अगली पंक्तियोंमें निम्न प्रकारसे करते हैं—

अभिनव०—यद्यपि पहिले [प्रथमाध्यायमें] भी पांच प्रश्नोंको उपस्थित करके सामान्य रूपसे [नाट्यके] अंगादिका निरूपण किया था किन्तु नाट्यमें [उनका समन्वय] पाए जानेपर ही उसका भली प्रकार निर्णय [ज्ञान] हो सकता है, केवल कह देने मात्रसे नहीं [इसीलिए अभी पहिले पूछे गए प्रश्नोंका समाधान स्पष्ट न हो पानेके कारण ही मुनियोंने 'प्रश्नान् पञ्चाभिधत्स्व न.' कह कर अपने पूर्व प्रश्नोंके और अधिक स्पष्टीकरणकी यह प्रार्थना की है]। इस अभिप्रायसे [नाट्यशास्त्रके १६वें अध्यायमें] दश रूपकोंके निरूपणके प्रसंगमें [प्रथम अध्यायमें पूछे गए 'नाट्य-वेदः कथं उत्पन्नः' नाट्यवेदकी रचना क्यों हुई है इस] प्रथम प्रश्नका विवरण [निम्नांकित प्रकारसे] उपसंहार किया जायेगा कि—

''भविष्यति युगे प्रायो भविष्यति युगे प्रायो भविष्यन्त्यबुधा नरा '। इत्यादि। तथा—

'[2]बुद्धय कर्म शिल्पानि वैचक्षण्य कलासु च'। इत्यादि।

अभिनव०—आगे आने वाले युगमे प्रायः मूर्ख लोग अधिक होगे [उनको कर्तव्य अकर्तव्यकी शिक्षा देनेके लिए नाटकोकी रचना करनी चाहिए।

अभिनव०—इत्यादि। तथा—

अभिनव०—ज्ञान' कर्म शिल्प और कलाओमे निपुणता [यह सब बातें योग्य व्यक्तियोके न रहनेसे नष्ट हो जाती है। उनकी रक्षाकेलिए भी नाटकोकी रचना करना चाहिए]। इत्यादि।

अभिनवगुप्तने यहाँ १९ वें अध्यायसे दो श्लोकोके आधे आधे भाग यहाँ उद्धृत किए हैं। और उनके द्वारा उन्होने प्रथम प्रश्नके उपसहार किए जानेकी बात कही है। जैसाकि इन श्लोकार्ध भागोसे स्पष्ट प्रतीत होता है ये दोनो श्लोक नाटकका रचना कारणका प्रतिपादन कर रहे हैं। अर्थात् 'नाट्यवेद कथ ब्रह्मन्नुत्पन्न' इस प्रश्नके साथ उनका सम्बन्ध है। अत एव यहा की अभिनवभारती में जो 'प्रथम प्रश्नाथो निगमयिष्यते' लिखा है उससे प्रथमाध्यायमें पूछे गए प्रथम प्रश्नका ही ग्रहण करना चाहिए। यहाँ पूछे गए प्रथम प्रश्नसे उसका कोई सम्बन्ध नही है। यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदके आरम्भमें भी हमें पाठपूर्ति करनेकी आवश्यकता पडी है। जैसा कि हम पिछले पृष्ठ पर दिखला चुके हैं, अभिनवभारतीके पूर्ववर्ती दोनो सस्करणोमें 'रसाना केन रसत्वयित्येक प्रश्न'। इसके बाद पाठलोप सूचक बिन्दुओ की लम्बी पक्ति लगी हुई है। उसके बादका पाठ 'तथापि नाट्यगतत्वे' से आरम्भ होता है। बीचमें पाठलोप-सूचक बिन्दु गगे हुए हैं। इस बीचके लुप्त पाठके भीतर दो अश आते हैं। एकका सम्बन्ध पाँच प्रश्नोका स्वरूप दिखलाने वाले पूर्व अनुच्छेदके साथ है और दूसरेका अगले अनुच्छेदके साथ। पूर्व अनुच्छेदसे सम्बद्ध भागमें पाँच प्रश्नोके स्वरूपकी चर्चा होनी चाहिए इस दृष्टिसे हमने उसकी पूर्ति करके पहिले भागका पाठ प्रस्तुत किया है। इसके बाद अगले अनुच्छेदसे सम्बन्ध रखने वाले पाठकी पूर्ति हमने 'यद्यपि' से आरम्भकर 'विवेचित' तकके पाठ द्वारा की है।

पाठसमीक्षा—इस पाठपूर्तिका आधार यह है कि मुद्रित पूर्व-सस्करणोमें पाठ लोप-सूचक बिन्दुओके बाद जो पाठ उपलब्ध होता है उसका आरम्भ 'तथापि' पदसे होता है। 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध' इस नियमके अनुसार 'यत्' शब्दके बाद 'तत्' शब्दका प्रयोग आवश्यक है। इसी 'यद्यपि' और 'तथापि' शब्दोका प्रयोग भी सहनियत है। 'यद्यपि' शब्दके साथ 'तथापि' का अथवा 'तथापि' शब्दके साथ 'यद्यपि' शब्दका प्रयोग अपरिहार्य है। इस दृष्टिसे जब मुद्रित पाठका आरम्भ 'तथापि' शब्दसे हो रहा है तब यह निश्चित है कि बीचमें जिस वाक्यका पाठ लुप्त हो गया है उसका आरम्भ 'यद्यपि' शब्दसे हुआ होगा। इस आधार-पर हमने अपने कल्पित वाक्यको 'यद्यपि' पदसे प्रारम्भ किया है। यह तो वाक्यके प्रारम्भ करनेकी बात हुई। अब उस लुप्त वाक्यका विषय क्या होना चाहिए यह बात भी 'तथापि नाट्यगतने सम्यङ्ग निर्ज्ञाते निर्णीते भवति न वचन-मात्रात्' इस उपलब्ध पाठके द्वारा समझी जा सकती है। इस वाक्यसे यह प्रतीत होता है

---

१ ना० शा० १९-१५०। २ ना० शा० १९-१५१।

सिद्धयध्याये च द्वितीयप्रश्नार्थो निर्णेष्यते—
'तुष्यन्ति तरुणा कामे' इत्यादिना।

कि पहिले प्रश्नोंके समाधानका जो यत्न पहिले किया गया है वह पर्याप्त नहीं है। इससे लुप्त वाक्यका पाठ क्या होना चाहिए इसका अनुमान किया जा सकता है उसी आधारपर हमने 'यद्यपि पूर्वमपि प्रश्नपञ्चकमुत्पन्नस्य सामान्यतोऽङ्गादिस्वरूप विवेचित' इस लुप्त पाठकी कल्पना कर यहाँ पाठपूर्ति करनेका यत्न किया है।

यहाँ अभिनवगुप्तने नाटयशास्त्रके १६ वें अध्यायमे जिन दो श्लोकोंके आधे-आधे भाग उद्धृत किए हैं उनके पूरे पूरे श्लोकोंके उद्धृत करनेसे ही उनका अर्थ स्पष्ट हो सकेगा इसलिए हम आगे उन श्लोकोका पाठ उद्धृत करते हैं जो कि निम्न प्रकार है—

'भविष्यति युगे प्रायो भविष्यन्त्यबुधा नरा.।
ये चापि हि भविष्यन्ति ते यत्नश्रुतबुद्धय ॥ १५० ॥
बुद्धय. कर्म शिल्पानि वैचक्षण्यं कलासु च।
सर्वाण्येतानि नश्यन्ति यदा लोक प्रणश्यति ॥ १५१ ॥

इन दोनो श्लोकोंके एक-एक भागको अभिनवगुप्तने यहाँ उद्धृत किया है। परन्तु इन श्लोकोके भी अर्थको स्पष्ट रूपसे समझनेकेलिए इनके पहिले और पिछले एक-एक श्लोकको यहाँ उद्धृत कर देना उचित होगा। उन दोनोंके आगे-पीछेके दो श्लोकोका पाठ निम्न प्रकार है—

'लोकस्वभाव सप्रेक्ष्य नराणां च बलाबलम्।
सम्भोग चैव युक्ति च तत. कार्यं तु नाटकम् ॥ १४९ ॥
'तदेव लोकभाषाणा प्रसमीक्ष्य बलाबलम्।
मृदुशब्द सुखार्थं च कविः कुर्यात् तु नाटकम् ॥१५२॥

इन चारो श्लोकोंमें नाटकोंके निर्माणके प्रयोजन तथा प्रकारका वर्णन किया गया है इसलिए अभिनवगुप्तने 'नाट्यवेद कथ ब्रह्मन्नुत्पन्न.' इस प्रथम प्रश्नका उपसहार दिखानेकेलिए उनको उद्धृत किया है। प्रथमाध्यायमें अभिनवगुप्तने क्लिष्ट और यङ्-लुगन्त आदि प्रक्रियाओंके द्वारा विकृत शब्दोंके नाटकोंमें प्रयुक्त करनेका निषेध करते हुए 'चेक्रीडितप्रभृतिभि-र्विकृतैश्च शब्दैर्युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगा' आदि श्लोक उद्धृत किया था। उसी प्रकार यहाँ १५२ वें श्लोकमें 'मृदुशब्द सुखार्थं च कविः कुर्यात् तु नाटकम्' से जो मृदु शब्दो वाले और सुबोध अर्थ वाले नाटकको रचना करनेका विधान किया है उसके समर्थनकेलिए भरतमुनिने इसी प्रकरणमें निम्न श्लोक आगे दिया है—

'चेक्रीडिताद्यै. शब्दैस्तु काव्यबन्धा भवन्ति ये।
वेश्या इव न ते भान्ति कमण्डलुधरैर्द्विजै ॥ २७-१५३ ॥

इससे प्रतीत होता है कि यह उपमा भरतमुनिको बहुत प्रिय है।

अभिनव०—और सिद्धयध्याय [नामक २७वें अध्याय] मे [प्रथमाध्यायमे पूछे गए 'कस्य वा शृणु' इस] द्वितीय प्रश्नके अर्थका निर्णय—

अभिनव०—"नवयुवक [तरुण लोग] काम [प्रधान नाटको] में सन्तुष्ट [प्रसन्न] रहते हैं" इत्यादिसे किया जायगा।

---

१. ना० शा० अ० २७ श्लोक १४९, १५२

एवमन्यत्रापि तत्र-तत्रेति। एतच्च तद्-व्याख्यानाप्रसङ्ग एव दर्शयिष्याम। पूर्वप्रश्नितवस्तुतत्त्वनिर्णय एव क्रियतामिति तात्पर्यम् ॥१॥

प्रश्नान् पञ्चेति—

भरत०—ये रसा इति पठ्यन्ते नाट्ये नाट्यविचक्षणैः।
रसत्वं केन वै तेषामेतदाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

'ये रसा' इत्यादि यत् प्रश्नत्रय तत्राय भाव—इहाङ्गगणनाया 'जग्राह पाठ्यम्' [१-१७] इत्यादौ पाठ्यगीतयोस्तावत् सुप्रसिद्ध रूपम्। अभिनयानामपि—

महागीतेषु चैवार्थान् सम्यगेवाभिनेष्यसि। [४-१५]

यह श्लोक भी यहाँ पूरा उद्धृत नहीं हुआ है। पूरा श्लोक निम्न प्रकार है—

'तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धा समयान्विते।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षे चाथ विरागिण ॥ २७-५८ ॥

इस श्लोकमें कहा गया है कि तरुण पुरुप काममें, विरक्त पुरुप मोक्षमे, अर्थलिप्सु अर्थमें और पण्डित धर्ममें प्रसन्न रहते हैं। इसलिए उन-उन की रुचियोके अनुसार उन-उनकेलिए धर्म, अर्थ काम मोक्ष आदि प्रधान नाटकोकी रचना करनी चाहिए। इस प्रकार यह श्लोक 'कस्य वा कृते' इस प्रश्नका निर्णय करता है इसी दृष्टिसे अभिनवगुप्तने उसको उद्धृत किया है।

अभिनव०—इसी प्रकार अन्यत्र भी [समझ लेना चाहिए]। इस बातको उनके व्याख्यानके प्रसगमे ही हम कहेगे। इसलिए पहिले [प्रथमाध्यायमे पूछे गए] प्रश्नोके विषय [तत्त्व] का ही निर्णय करना चाहिए यह तात्पर्य है।

तब यहा नए प्रश्न क्यो दिए हैं?

इस प्रकार अभिनवगुप्तने षष्ठाध्यायकी प्रथम कारिकामे आए हुए 'प्रश्नान् पञ्चाभिधत्स्व न' इस प्रार्थनाका सम्बन्ध प्रथमाध्यायके आरम्भमे पूछे गए पाच प्रश्नोके स्पष्टीकरणके साथ ही लगाया है। यहाँ षष्ठाध्यायमें पूछे गए प्रश्नोके साथ नही। तब यहाँ यह शङ्का उपस्थित होती है कि यदि भरतमुनिको 'प्रश्नान् पञ्चाभिधत्स्व न' से प्रथमाध्यायमें कहे हुए प्रश्नोका ही स्पष्टीकरण कराना था तो फिर यहाँ छठे अध्यायमें पाँच प्रश्न क्यो उपस्थित किए हैं? इस शङ्काका समाधान अभिनवगुप्त अगली कारिकामें यह करते हैं कि भरतमुनिने यहाँ ये जो पांच प्रश्न उठाए हैं उनका प्रयोजन भी प्रथमाध्यायमें पूछे गए प्रश्नोका स्पष्टीकरण कराना ही है ॥ १ ॥

अभिनव०—पाच प्रश्नोको [स्पष्ट करें उनमेसे प्रथम यह है कि]—

भरत०—नाट्यके पण्डितगण नाट्यमे जिनको 'रस' इस नामसे पढते हैं उनको किस कारणसे 'रस' कहा जाता है इसको बतलानेकी कृपा करें। २।

अभिनव०—'ये रसा' इत्यादि जो दो प्रश्न है उनका [अर्थात् उनके पूछनेका] यह अभिप्राय है कि—[नाट्यके पाठ्य, गीत, अभिनय और रस रूप चार] अङ्गोकी गणनामे [जिनका वर्णन] 'जग्राह पाठ्य' इत्यादि [प्रथमाध्याय की १७ वीं कारिकामे किया गया है। उनमे] से पाठ्य और गीतका स्वरूप तो स्पष्ट ही है [अत एव उनके विपयमे पुन प्रश्न करनेकी आवश्यकता नहीं है] और अभिनयोका भी—

अभिनव०—'महागीतोमे अर्थोको भली प्रकार अभिनय करोगे'। और—

यदा प्राप्त्यर्थमर्थाना तज्ज्ञैरभिनय कृत । [४-२६१]

इत्यादिवलाच्च स्वरूपं हृदयङ्गमम्[1] ।

ये तु 'रसानाथर्वणात्' [१-१७] इति रसा उक्तास्ते तावत् प्रसिद्धा । षड्स्लादयो न प्रकृतौ न विकृतौ युक्ता. । ये त्वन्ये शृङ्गारादय केचन रसशब्देन सह प्रयुक्ता — 'शृङ्गाररससम्भव ' [४-२६६] इति, 'ततो रौद्ररस श्लोकम्' [५-१२२] इति, तत्रापि शृङ्गारादिषु कथ रसशब्दवाच्यत्वम् । रसनेन्द्रियग्राह्ये हि रसशब्द प्रसिद्ध ।

अभिनव०—जव [नाट्यमे प्रदर्शित] अर्थोंकी [प्राप्ति अर्थात्] साक्षात्कारात्मक प्रतीतिकेलिए [तज्ज्ञै] अभिनयके जानने वालोने अभिनय [का निर्माण] किया है ।

अभिनव०—इत्यादि वचनोंके वलसे [अभिनयोंका] स्वरूप भी हृदयङ्गम हो जाता है । [इसलिए अभिनयके विषयमे भी प्रश्न करनेका आवश्यकता नहीं है] ।

यहां अभिनवगुप्त यह दिखला रहे हैं कि जव इस अध्यायके प्रारम्भके प्रथम श्लोक में कथित 'प्रश्नान् पञ्चाभिधत्स्व न.' में प्रथमाध्यायमें कहे हुए पांच प्रश्नोंका ही ग्रहण करना अभीष्ट है तव यहांपर रस, भाव आदि विषयक प्रश्न क्यों उठाए गए हैं । इसका कारण उनकी दृष्टिमें पूर्व-प्रश्नोंका अधिक स्पष्टीकरण करानेकी इच्छा ही है । प्रथमाध्यायकी १७ वीं कारिकामें कहे गए चार अङ्गोंमेंसे पाठ्य, गीत और अभिनय इन तीन अङ्गोंका स्वरूप तो स्पष्ट हो जानेसे उनके विषयमें जिज्ञासा नहीं रहती है । रसका विषय स्पष्ट नहीं हुआ है इस लिए रसके विषयमें यहां प्रश्न किया गया है । अत. यह प्रश्न पूर्व-प्रश्नके स्पष्टीकरणकेलिए ही है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदमें 'मुख्य तावदभिनयो हृदयगतः' इस प्रकारका पाठ प्रथम-संस्करणमें छपा था किन्तु उसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता था । द्वितीय संस्करणमें उसका संशोधन करके 'स्वरूप नातीव हृदयङ्गमम्' इस प्रकारका पाठ दिया गया है किन्तु यह भी ठीक नहीं है । उसके स्थानपर स्वरूप हृदयङ्गमम्' पाठ होना चाहिए । ग्रन्थकार यहां यह बात कह रहे हैं कि नाट्यके पाठ्य और गीतके समान अभिनयका स्वरूप भी समझमें आ गया है इसलिए उन तीनों अङ्गोंके विषयमें यहां दुवारा प्रश्न न करके केवल रसके विषयमें विशेष रूपसे स्पष्टीकरण करानेकी दृष्टिसे फिर 'प्रश्नान् पञ्चाभिधत्स्व न ' कहा गया है । इस अर्थकी ओर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां 'स्वरूप हृदयङ्गमम्' यही पाठ होना चाहिए ।

अभिनव०—किन्तु 'अथर्ववेदसे रसोंको [लिया गया]' इस [कारिका भाग] से जिन रसोंको कहा गया है वे [मुख्य रूपसे रसपद वाच्य रसनेन्द्रियग्राह्य] षड्स्ल आदि छः रस न [नाटक की] प्रकृति [अर्थात् मुख्य नाटक] में उपयुक्त होते हैं और न विकृतिमे [अर्थात् नाटकके डिम समवकार आदि भेदोंमे उपयुक्त होते हैं]। और 'शृङ्गार, रसके होने पर' तथा 'रौद्र रसके श्लोकको' [अ० ५-१२२] इत्यादि [वचनों] मे जो शृङ्गारादि किन्हींका रस शब्द के साथ प्रयोग किया गया है वहां भी [यह शङ्का होती है कि] शृङ्गारादिमें रस पदवाच्यता कैसे होती है ? क्योंकि रसना इन्द्रियसे गृहीत होने वाले [गुण] केलिए ही 'रस' शब्दका प्रयोग होता है । [शृङ्गारादि तो रसना-ग्राह्य नहीं होते हैं तव इनकेलिए 'रस' शब्दका प्रयोग क्यों होता है ?]

---

१. मुख्यं तावदभिनयो हृदयङ्गत । स नातीव हृदयङ्गमम् ।

न चायमनादरस्थानभूतोऽर्थो येनाविचारित एवोपेक्ष्येत । 'खिन्नाना रसभावेषु', [५-१५६] इत्यादावादरातिशयप्रतीते । तेन प्राधान्यादङ्गाभिनयप्रश्नान्तर्भूतमप्येतत् पुन प्रश्नितमित्यर्थ । पुन प्रश्नाभिप्रायेणैव 'आख्यातुमर्हसि' इत्युपपन्नम् । पूर्वाख्यानेषु तु 'पुनरुक्तमभिधत्स्व' इत्युक्तत्वात् । वै-शब्दोऽक्षरमात्रायाम् । अत एव शब्दप्रादुर्भावे 'इति' शब्दो, 'रसा इति पठ्यन्ते' इति ॥२॥

अभिनव०—और यह [रसका] विषय अनादरका स्थान भी नहीं है कि उसको बिना विचारे ही छोड दिया जाय। क्योकि 'खिन्नाना रसभावेषु' [५-१५६] इत्यादि वचनसे [उस रसके विषयमे] अत्यन्त आदर प्रतीत होता है । [इसलिए उसके विषयमे यह जिज्ञासा होना सर्वथा स्वभाविक है] इसीलिए ['जग्राह पाठ्य' आदि १-१७ कारिकामे नाटकके] अगो और अभिनय विषयक प्रश्नोके भीतर आ चुकनेपर भी [रसकी] प्रधानताके कारण यहाँ फिर [उसके विषयमे प्रश्न] पूछा जा रहा है। पुन पूछे जानेके अभिप्रायसे ही 'एतदाख्यातुमर्हसि' 'इसको बतलानेकी कृपा करें' यह कथन सगत होता है । पहिले बतलाए हुए अर्थके विषयमे दुबारा पूछनेपर तो [यह बतलावें 'एतदाख्यातुमर्हसि' न कह कर] 'कही हुई बातको फिर समझानेकी कृपा करें' इस प्रकार कहा जाता है । [यहाँ उस प्रकारका प्रयोग न करके 'एतदाख्यातुमर्हसि' कहा गया है । इससे प्रतीत होता है कि रसके विषयमे पहिले नही कहा गया है । उसको कहनेकी कृपा करें । इस प्रकार यह रस विषयक प्रथम प्रश्न सर्वथा सगत है यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है । उसमे आए हुए दो शब्दोपर विशेष टिप्पणी करते है] 'वै' शब्द पादपूर्तिकेलिए [अक्षरमात्राया] आया है । इसलिए 'ये रसा इति पठ्यन्ते' मे 'इति' शब्द [पादपूर्ति के लिए नहीं अपितु 'शब्दप्रादुर्भाव' अर्थात् [रस इस] शब्दके स्वरूप बोधनकेलिए प्रयुक्त हुआ है ।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेदका पाठ पूर्वसस्करणोमें निम्न प्रकार छपा था—

तत्रापि शृङ्गारादिषु कथ रसशब्दवाच्यत्वम् । वैशब्दोऽक्षरमात्रायाम् । रसनेन्द्रियग्राह्ये हि रसशब्द प्रसिद्ध । न चायमनादरस्थानभूतोऽर्थो येनाविचारित एवोपेक्ष्यते । खिन्नाना रसभावेषु-इत्यादावादरातिशयप्रतीते । अत एव शब्दप्रादुर्भावे इति शब्दो 'रसा इति पठ्यन्ते' इति ।

पाठसमीक्षा—इस प्रसङ्गको पढनेसे पाठकको तुरन्त ही प्रतीत हो जाता है कि 'वैशब्दोऽक्षरमात्रायाम्' और 'अत एव शब्दप्रादुर्भावे इति शब्द' ये दोनो वाक्य स्थानभ्रष्ट हो रहे हैं। शेष वाक्योका एक प्रसङ्ग है । एक प्रवाह है । ये दोनो वाक्य उस प्रसग और उस प्रवाहमें अपना स्थान नही बना पा रहे हैं। एक सुसगत वाक्य-प्रवाहके बीच आकर वे अर्थबोधमे बाधक ही बन रहे हैं । इसलिए वहा उनका स्थान ठीक नही है। शेष वाक्योमें एक युक्तिक्रम चल रहा है। ये दोनो वाक्य उस युक्तिक्रमसे असम्बद्ध केवल पद-टिप्पणात्मक वाक्य है। अत उस युक्तिक्रमके समाप्त होनेके बाद ही इन वाक्योका स्थान हो सकता है। इसलिए हमने इन स्थानभ्रष्ट और पद-टिप्पणात्मक दोनो वाक्योको पूर्व स्थानसे हटा कर शेष वाक्योके युक्तिप्रवाहके समाप्त हो जानेके बाद स्थान दिया है ॥२॥

---

१ भ म अक्षरसाया अक्षरक्षमायाम् ।

रसोंको प्रथमाध्यायमें नाट्यके अङ्गोंमें दिखलाया गया है इसलिए यहां उनकी चर्चाको तो कथञ्चित् सङ्गत भी कहा जा सकता है, परन्तु भावोंकी तो पहिले कहीं कोई चर्चा नहीं हुई है। फिर उनका निरूपण यहां क्यों किया जा रहा है। यदि 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' आदि [१-१७] श्लोकमें कहे हुए पाठ्यादिको ही 'भाव' मान कर यहां भावोंकी चर्चा की जा रही हो तो 'भाव' शब्दकी व्युत्पत्ति तथा अर्थ क्या लिया जायगा। यह दूसरा प्रश्न यहां अर्थतः उपस्थित होता है। 'भाव' शब्दकी 'भवन्तीति भावाः' तथा 'भावयन्तीति भावाः' ये दो प्रकारकी व्युत्पत्तियां हो सकती हैं। इन दोनोंमेंसे यहां कौन-सी व्युत्पत्ति लेनी चाहिए यह अर्थाक्षिप्त तीसरा प्रश्न है। इनमेंसे अन्तिम अर्थात् 'भावयन्तीति भावाः' इस व्युत्पत्तिको माननेपर वे किनको भावित करते हैं 'किं वा ते भावयन्त्यपि' यह भाव विषयक चौथा प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रकार मुख्य रस विषयक एक, भाव विषयक चार प्रश्न मिलकर पांच प्रश्न हो जाते हैं। संग्रह कारिका आदि विषयक अगली एक प्रार्थना अलग है। प्रथम कारिकामें इन्हीं पांच प्रश्नोंका निर्देश करते हुए ग्रन्थकारने 'प्रश्नान् पञ्चाभिधत्स्व नः' यह लिखा है।

इन पांच मुख्य प्रश्नोंमें इस तृतीय श्लोकके उत्तरार्द्धमें 'संग्रह' 'कारिका' तथा 'निरुक्त' के स्वरूपके विषयमें जो प्रश्न पूछा गया है उसमें प्रयुक्त इन शब्दोंके अर्थ क्रमशः 'उद्देश,' 'लक्षण' तथा 'परीक्षा' हैं। न्याय दर्शनमें 'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्ति, उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति' लिख कर ग्रन्थकारने शास्त्रकी तीन प्रकार की प्रवृत्तिका वर्णन किया है। यह तीन प्रकार की प्रवृत्ति न केवल न्यायशास्त्रमें ही अपितु सभी शास्त्रोंमें पाई जाती है। 'उद्देश' का अर्थ नाममात्रसे वस्तुका कथन करना है। 'नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनं उद्देशः' यह 'उद्देश' का लक्षण है। जैसे न्यायदर्शनमें प्रमाणादि १६ पदार्थोंका प्रतिपादन किया गया है। न्यायके प्रथम सूत्रमें ही सोलहों पदार्थोंके नाम गिना दिए गए हैं। इसलिए वह प्रथम सूत्र 'उद्देशसूत्र' कहलाता है। सभी शास्त्रोंके प्रारम्भमें प्रतिपाद्य विषयोंका नाम मात्रसे कथन होता है। इसलिए 'उद्देश' की प्रक्रिया सभी शास्त्रोंमें अपनाई जाती है। उद्देशके बाद लक्षणका स्थान आता है। 'लक्षणं तु असाधारण-धर्मवचनम्' अर्थात् असाधारण धर्मके कथन करनेको 'लक्षण' कहते हैं। और 'लक्षितस्य लक्षण-मुपपद्यते न वा इति विचारः परीक्षा'। लक्षितका जो लक्षण किया गया है वह ठीक है या नहीं इस विचारका नाम परीक्षा है। उद्देश, लक्षण, परीक्षाके स्थानपर यहाँ नाट्यशास्त्रमें संग्रह, कारिका तथा निरुक्त शब्दोंका प्रयोग किया गया है। इनके द्वारा विषयका प्रतिपादन किया जाता है। इसलिए इन तीनोंके स्वरूप का परिज्ञान भी आवश्यक है इस दृष्टिसे इसके श्लोकमें इनके स्वरूपके विषयमें भी प्रश्न किया गया है।

१ संग्रह अर्थात् उद्देश, २ कारिका अर्थात् लक्षण, तथा ३ निरुक्त अर्थात् परीक्षा विषयक प्रश्न यहाँ क्यों उपस्थित किया गया है इसे दिखलानेके लिए ग्रन्थकारने 'तत्र,' यह पद श्लोकमें रखा है। यह पद विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। यद्यपि [illegible] प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुतः यहाँ [illegible] 'तत्र,' पद बताया गया है। 'तत्' अर्थात् पूर्वोक्त [illegible], 'तु' [illegible] अर्थात् इन उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा का संग्रह कारिका तथा निरुक्तके द्वारा ही होता है अतएव इसके स्वरूपके विषयमें भी यहाँ प्रश्न किया गया है।

श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

भरत०—'भावाश्चैव[1] 'कथं प्रोक्ताः[2] किं वा ते भावयन्त्यपि[3]।
संग्रहं[4] कारिकां चैव[5] निरुक्तं चैव तत्त्वतः ॥३॥

भावाश्चेति—च-शब्दस् तु-शब्दार्थे। भावास्त्वपठिता अपि कथ प्रोक्ता। अथ पाठ्यादय एव भावास्तत्किमेषा रूपम्। तेनादरविषयत्वात् रसे प्रश्नानन्तरम्। अभूतावृत्या विस्मयस्थानत्वाद् भावेषु प्रश्नचतुष्कम्।

तथाहि—रससहभावेन भावा केचन प्रोक्ता 'खिन्नानाम्' इत्यत्र। ते च केन प्रकारेणोक्ता। 'जग्राह' इत्यादौ हि तेषा नामापि न श्रुतम्। अथैतेष्वेव भावशब्द प्रवर्तित। तत्रापि 'भवन्तीति' व्युत्पत्ति·, 'भावयन्तीति' वा। किमेतत्? किमुत्पादयन्ति,

भरत०—[और अभिनयके अङ्गोंका प्रतिपादन करने वाली प्रथमाध्यायकी १७वीं कारिकामे भावोंका किसी भी रूपमे कथन न होने पर भी यहाँ] १ भाव क्यों कहे गए हैं। २ और वे किसको भावित [सस्कृत अथवा प्रतीत] करते है? [इन दोनो प्रश्नोका उत्तर देने की कृपा करें। और उनके साथ ही [उद्देश लक्षण तथा परीक्षा रूप] १ सग्रह, [उद्देश], २ कारिका [लक्षण], तथा ३ निरुक्त [परीक्षा] को भी [बतलानेकी कृपा करें] क्योंकि वह [भाव आदिका कथन] तो इन [उद्देश, लक्षण, परीक्षा] के द्वारा ही होता है। ३।

अभिनव०—'भावाश्च' यहाँ 'च' शब्द 'तु' शब्दके अर्थमे प्रयुक्त हुआ है। भाव तो [पहिले १-१७ में] पठित न होने पर भी [यहाँ] क्यो कहे गए हैं? [यह भाव विषयक मुख्य प्रश्न है]। और यदि ['जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' इत्यादि श्लोकमे कहे गए] पाठ्य आदि [अङ्ग] ही भाव [अभिप्रेत] हैं तो उनका क्या स्वरूप है? [यह दूसरा अवान्तर प्रश्न उपस्थित होता है]। इसलिए आदरका विषय होनेसे रसके विषयमे [प्रश्नान्तर अर्थात्] दुबारा प्रश्न किया गया है। [और वह ठीक है]। किन्तु पूर्व कथित न होनेसे [अभूतावृत्या, यहां भावोका निरूपण क्यो किया गया है इस बातके यहा] विस्मय-जनक होनेके कारण भावोके विषय मे [१ भावा कथ प्रोक्ता तथा 'कि वा ते भावयन्ति' ये दो प्रश्न तो यहां शब्दतः कथित हैं और भाव शब्दकी व्युत्पत्ति विषयक 'कि भवन्तीति भावा' अथवा 'भावयन्तीति भावा' ये दो प्रश्न अर्थत आक्षिप्त होते हैं। इन सबको मिलाकर] चार प्रश्न होते हैं।

अभिनव०—जैसे कि 'रसभावेषु खिन्नानाम्' यहा रसके साथ-साथ किन्हीं भावोका कथन किया गया है। वे यहा क्यो कहे गए हैं? 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' इत्यादि [श्लोक] मे [जहाँपर नाट्यके अगोका वर्णन हुआ है वहाँ] तो इन भावो का नाम भी नही आया है [इसलिए यहाँ उन भावोका कथन कैसे किया गया। यह भाव विषयक पहिला प्रश्न है]। और यदि ['जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' १-१७ इत्यादि श्लोकमे कहे हुए] इन्ही [पाठ्यादि] केलिए ही 'भाव' शब्दका प्रयोग किया गया है तो उसमे भी 'भवन्तीति भावा' यह [भाव शब्दकी] व्युत्पत्ति अभिप्रेत है अथवा

१ प व भावाश्चापि। २ न म हि ये प्रोक्ता। ३ त प भावयति हि।
४. अ व कारिकाश्चैव। ५ अ. चापि।

अथ व्याप्नुवन्ति ? द्वयो. किं कर्म स्यात् ? इति 'वा' शब्देन 'च'-शब्देन, 'अपि'-शब्देन 'एव' शब्देन च चत्वारो भावेषु प्रश्ना । एवं प्राधान्यात् प्रश्नपञ्चकान्तरम् । वस्तुत. पुन पञ्चप्रश्नी पूर्वोक्तैवेयं विस्फार्यते ।

[1]सग्रहादि चाभिधत्स्व ।

ननु तैरिह किं प्रयोजनम् । आह 'तत् तु अत.' [तत्त्वत] इति । 'तु'-शब्दो हेतौ । तदिति आख्यान परामृष्टम् । यतस्तदाख्यानं 'अत' एभ्य सग्रहादिभ्य' त्रिप्रकाररूपेभ्य. तदुपायेभ्य एव । तस्मात्तेऽभिधत्स्व ।३।

'भावयन्तीति भावा.' यह [व्युत्पत्ति अभिप्रेत है । दोनो ही व्युत्पत्तियोंमें पाठ्यादि केलिए 'भाव' शब्दका प्रयोग संगत नहीं होता है । इसलिए] यह क्या है ? [अर्थात् कुछ भी नहीं । दोनों ही व्युत्पत्तियां प्रकृतमे असंगत हैं । क्योंकि उक्त व्युत्पत्तियोंके अनुसार पाठ्यादि क्या [किसीको] उत्पन्न करते हैं, अथवा व्याप्त करते हैं ? [अर्थात् भवन्ति या भावयन्ति का अर्थ उत्पादयन्ति न करके व्याप्त करते हैं यह अर्थ करें तो भी उन दोनो उत्पादयन्ति अथवा व्याप्नुवन्ति इन दोनो पक्षोंमे] उन दोनों [क्रियाओंका] कर्म क्या होगा [अर्थात् वे 'भाव' किसको उत्पन्न या व्याप्त करेंगे । ये इस प्रकार प्रथम श्लोकमे आए हुए 'वा' शब्द 'अपि' शब्द 'च' शब्दसे और 'एव' शब्दसे अर्थ आक्षिप्त होकर भावोंके विषयमें चार प्रश्न हो जाते हैं । इस प्रकार [रस तथा भाव दोनोंके] प्राधान्यके कारण [प्रथमाध्यायमें पूछे गए अंग विषयक पांच प्रश्नोंके अन्तर्गत होनेपर भी यहा] ये पाच प्रश्न पूछे गए हैं । वास्तवमे तो [प्रथमाध्यायमे पूछे गए] पहिले ही पांच प्रश्नोंको यहां अधिक स्पष्ट करनेका यत्न किया गया है ।

अभिनव—[इन रस भावादि विषयक पांच प्रश्नोंके साथ ही] संग्रह [उद्देश, लक्षण परीक्षा रूप संग्रह, कारिका तथा निरुक्त] आदिको भी बतलानेकी कृपा करें ।

यह इस श्लोकके उत्तरार्द्धका भाव है । इसपर यह शङ्का हो सकती है कि रस भाव आदि विषयक प्रश्न तो ठीक है । परन्तु संग्रह आदिकी चर्चा यहां क्यों की गई है । इस शङ्काका समाधान श्लोकमें आए हुए 'तत्त्वत' पदके तत्+तु+अत.+ पदच्छेद करके दिखलाते हैं—

अभिनव०—[प्रश्न] उन [संग्रह, कारिका तथा निरुक्तके कथन करने] से यहां क्या लाभ है ? [इस प्रश्नका उत्तर] कहते हैं, 'तत्+तु+अत' । 'तु'-शब्द हेतुके अर्थमें है । 'तत्' इस पदसे [रस भावादिके आख्यान] कथनका निर्देश किया गया है । क्योंकि [रस भावादिका] वह कथन इन संग्रह आदि रूप तीन प्रकारके उत्तम उपायों द्वारा ही होता है इसलिए [उनको भी] हमें बताएं । [रस भावादिके कथनके उत्तम उपाय रूप होनेसे उनका कथन करना भी उपयोगी है । इस प्रकार रस आदिके समान ही उद्देश अथवा संग्रह लक्षण अर्थात् कारिका, और परीक्षा अथवा निरुक्त आदिमें प्राधान्य विवक्षित होनेके कारण उन उद्देश लक्षण परीक्षा रूप संग्रह, कारिका तथा निरुक्तका कथन करना उचित है] ॥३॥

---

१. सङ्ग्रहादि । २ उद्देश लक्षण परीक्षादिषु वक्ष्यामि इति ।

भरत०—'भावाश्चैव [1]कथं प्रोक्ताः किं वा ते भावयन्त्यपि' ।
संग्रहं[2] कारिकां चैव[3] निरुक्तं चैव तत्त्वतः ॥३॥

भावाश्चेति—च-शब्दस् तु-शब्दार्थे । भावास्त्वपठिता अपि कथ प्रोक्ता । अथ पाठ्यादय एव भावास्ततकिमेषा रूपम् । तेनादरविषयत्वात् रसे प्रश्नानन्तरम् । अभूतावृत्या विस्मयस्थानत्वाद् भावेषु प्रश्नचतुष्कम् ।

तथाहि—रससहभावेन भावा केचन प्रोक्ता 'खिन्नानाम्' इत्यत्र । ते च केन प्रकारेणोक्ता । 'जग्राह' इत्यादौ हि तेषा नामापि न श्रुतम् । अथैतेष्वेव भावशब्द प्रवर्तित । तत्रापि 'भवन्तीति' व्युत्पत्ति', 'भावयन्तीति' वा । किमेतत् ? किमुत्पादयन्ति,

---

भरत०—[और अभिनयके अङ्गोंका प्रतिपादन करने वाली प्रथमाध्यायकी १७वीं कारिकामे भावोंका किसी भी रूपमे कथन न होने पर भी यहाँ] १ भाव क्यों कहे गए हैं । २ और वे किसको भावित [सस्कृत अथवा प्रतीत] करते है ? [इन वोनो प्रश्नोंका उत्तर देने की कृपा करें । और उनके साथ ही [उद्देश लक्षण तथा परीक्षा रूप] १ सग्रह, [उद्देश], २ कारिका [लक्षण], तथा ३ निरुक्त [परीक्षा] को भी [बतलानेकी कृपा करें] क्योंकि वह [भाव आदिका कथन] तो इन [उद्देश, लक्षण, परीक्षा] के द्वारा ही होता है । ३ ।

अभिनव०—'भावाश्च' यहाँ 'च' शब्द 'तु' शब्दके अर्थमे प्रयुक्त हुआ है । भाव तो [पहिले १-१७ मे] पठित न होने पर भी [यहाँ] क्यो कहे गए हैं ? [यह भाव विषयक मुख्य प्रश्न है] । और यदि ['जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' इत्यादि श्लोकमे कहे गए] पाठ्य आदि [अङ्ग] ही भाव [अभिप्रेत] हैं तो उनका क्या स्वरूप है ? [यह दूसरा अवान्तर प्रश्न उपस्थित होता है] । इसलिए आदरका विषय होनेसे रसके विषयमे [प्रश्नान्तर अर्थात्] दुवारा प्रश्न किया गया है । [और वह ठीक है] । किन्तु पूर्व कथित न होनेसे [अभूतावृत्या, यहां भावोका निरूपण क्यो किया गया है इस बातके यहा] विस्मय-जनक होनेके कारण भावोके विषय मे [१ भावा कथ प्रोक्ता तथा 'किं वा ते भावयन्ति' ये दो प्रश्न तो यहा शब्दतः कथित है और भाव शब्दकी व्युत्पत्ति विषयक 'किं भवन्तीति भावा' अथवा 'भावयन्तीति भावा' ये दो प्रश्न अर्थतः आक्षिप्त होते हैं । इन सबको मिलाकर] चार प्रश्न होते हैं ।

अभिनव०—जैसे कि 'रसभावेषु खिन्नानाम्' यहा रसके साथ-साथ किन्हीं भावोका कथन किया गया है । वे यहा क्यो कहे गए है ? 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' इत्यादि [श्लोक] मे [जहाँपर नाट्यके अगोका वर्णन हुआ है वहाँ] तो इन भावो का नाम भी नहीं आया है [इसलिए यहाँ उन भावोका कथन कैसे किया गया । यह भाव विषयक पहिला प्रश्न है] । और यदि ['जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' १-१७ इत्यादि श्लोकमे कहे हुए] इन्ही [पाठ्यादि] केलिए ही 'भाव' शब्दका प्रयोग किया गया है तो उसमे भी 'भवन्तीति भावा.' यह [भाव शब्दकी] व्युत्पत्ति अभिप्रेत है अथवा

---

१ प व भावाश्चापि । २ न म हि ये प्रोक्ता । ३ त प भावयति हि ।
४. अ व कारिकाश्चैव । ५ अ. चापि ।

अथ व्याप्नुवन्ति ? द्वयो कि कर्म स्यात् ? इति 'वा' शब्देन 'च'-शब्देन, 'अपि'-शब्देन 'एव' शब्देन च चत्वारो भावेषु प्रश्ना.। एव प्राधान्यात् प्रश्नपञ्चकान्तरम्। वस्तुत पुन पञ्चप्रश्नी पूर्वोक्तैवेयं विस्फार्यते।

[1]सग्रहादि चाभिधत्स्व।

ननु तैरिह कि प्रयोजनम्। आह 'तत् तु अत' [तत्त्वत'] इति। 'तु'-शब्दो हेतौ। तदिति आख्यान परामृष्टम्। यतस्तदाख्यान 'अत' एभ्य सग्रहादिभ्य' त्रिप्रकाररूपेभ्य सदुपायेभ्य एव। तस्मात्तोऽभिधत्स्व।३।

'भावयन्तीति भावा.' यह [व्युत्पत्ति अभिप्रेत है। दोनो ही व्युत्पत्तियोंमें पाठ्यादि केलिए 'भाव' शब्दका प्रयोग संगत नहीं होता है। इसलिए] यह क्या है ? [अर्थात् कुछ भी नहीं। दोनो ही व्युत्पत्तियां प्रकृतमे असंगत हैं। क्योंकि उक्त व्युत्पत्तियोंके अनुसार पाठ्यादि क्या [किसीको] उत्पन्न करते हैं, अथवा व्याप्त करते हैं ? [अर्थात् भवन्ति या भावयन्ति का अर्थ उत्पादयन्ति न करके व्याप्त करते हैं यह अर्थ करें तो भी उन दोनो उत्पादयन्ति अथवा व्याप्नुवन्ति इन दोनों पक्षोमे] उन दोनों [क्रियाओंका] कर्म क्या होगा [अर्थात् वे 'भाव' किसको उत्पन्न या व्याप्त करेंगे। ये इस प्रकार प्रथम श्लोकमे आए हुए 'वा' शब्द 'अपि' शब्द 'च' शब्दने और 'एव' शब्दसे अर्थ आक्षिप्त होकर भावोके विषयमे चार प्रश्न हो जाते हैं। इस प्रकार [रस तथा भाव दोनोंके] प्राधान्यके कारण [प्रथमाध्यायमे पूछे गए अंग विषयक पाच प्रश्नोंके अन्तर्गत होनेपर भी यहा] ये पाच प्रश्न पूछे गए हैं। वास्तवमे तो [प्रथमाध्यायमे पूछे गए] पहिले ही पांच प्रश्नोको यहां अधिक स्पष्ट करनेका यत्न किया गया है।

अभिनव—[इन रस भावादि विषयक पाच प्रश्नोंके साथ ही] सग्रह [उद्देश, लक्षण परीक्षा रूप सग्रह, कारिका तथा निरुक्त] आदिको भी बतलानेकी कृपा करें।

यह इस श्लोकके उत्तरार्द्धका भाव है। इसपर यह शङ्का हो सकती है रस भाव आदि विषयक प्रश्न तो ठीक हैं। परन्तु सग्रह आदिकी चर्चा यहां क्यों की गई है। इस शङ्काका समाधान श्लोकमें आए हुए 'तत्त्वत' पदके तत्+तु+अत:+पदच्छेद करके दिखाते हैं—

अभिनव०—[प्रश्न] उन [सग्रह, कारिका तथा निरुक्तके कथन करने] से यहां क्या लाभ है ? [इस प्रश्नका उत्तर] कहते हैं, 'तत्+तु—अत'। 'तु'-शब्द हेतुके अर्थमें है। 'तत्' इस पदसे [रस भावादिके आख्यान] कथनका निर्देश किया गया है। क्योंकि [रस भावादिका] वह कथन इन संग्रह आदि रूप तीन प्रकारके उत्तम उपायों द्वारा ही होता है इसलिए [उनको भी] हमें बतायें। [रस भावादिके कथनके उत्तम उपाय रूप होनेसे उनका कथन करना भी उपयोगी है। इस प्रकार रस आदिके समान ही उद्देश अथवा संग्रह, लक्षण अर्थात् कारिका, और परीक्षा अथवा निरुक्त आदिमे प्राधान्य विवक्षित होनेके कारण उन उद्देश लक्षण परीक्षा रूप सग्रह, कारिका तथा निरुक्तका कथन करना उचित है] ॥३॥

---

१. सग्रहादिति। २ उद्देश लक्षण परीक्षादिषु [illegible] इति।

तीन कारिकाओंकी व्याख्याका साङ्कर्य —

पाठसमीक्षा—इस स्थलका पाठ पूर्व-सस्करणोमे बडे अस्त-व्यस्त रूपमे मुद्रित हुआ है उसमें तीसरी चौथी तथा पाचवी इन तीन कारिकाओकी व्याख्याके पाठको एक दूसरेके सा मिलाकर एक विचित्र खिचडी-सा मिश्रण कर दिया गया है कि उसका कुछ भी अर्थ समझमें न आता है। पूर्व-सस्करणोमें मुद्रित पाठ निम्न प्रकार है—

ननु तैरिह किं प्रयोजनम्। आह तत्त्वत इति। तु शब्दो हेतौ। तदित्याख्यान पर मृष्टम्। यतस्तदाख्यानमत एवाभ्य सग्रहादिभ्य उद्देशलक्षणपरीक्षादिपु प्राधान्यात् तदुपक्रममे सर्वमभिधेयम्। तदाह। निखिलेन सग्राह्यलक्षणीयनिर्वचनीयात्मनोपलक्षित सग्रहादित्रयमे वक्ष्यामिति त्रयप्रकाररूपेभ्य सदुपायेभ्य। तस्मान्नोऽभिधत्स्वेति। पुन. शब्दो भिन्नक्रम। भरतमुनि पुन रसभावा विकल्प्यन्ते निश्चीयन्तेऽनेन तादृग्वाक्यमुवाच। न तु तदीय वचनमुक्तमुत्तरदाने समाहृत्येति पुन शब्दार्थः। मुनेश्चाय भाव रसादिपु समुच्चयार्थश्च। तदभिधानेऽन्यन्न किंचि भिधेयमवशिष्यत इत्येवशब्द। यथाक्रममिति पूर्वसग्रह उद्देशप्रकारत्वादित्यादिक्रमेण स्वबुद्धि विष बहुमान गृह्णतामनीषामित्यभिप्रायेण भवद्भिर्युक्तमेतदुक्तमिति।

अर्थसगतिके लिए हम इस पाठको निम्न प्रकारसे ११ खण्डोमें विभक्त करके फिर लिखते हैं—

१. ननु तैरिह किं प्रयोजनम् १ आह- तत्त्वत.' इति। तु-शब्दो हेतौ। 'तत् इ आख्यान परामृष्टम्। यतस्तदाख्यान 'अत.' एव एभ्य सग्रहादिभ्य।

२ उद्देश-लक्षण-परीक्षादिपु प्राधान्यात् तदुपक्रममेव सर्वमभिधेयम्। तदाह— निखिले सग्राह्य लक्षणीय-निर्वचनीयात्मनोपलक्षित सग्रहादित्रयमेव वक्ष्यामि इति।

३ त्रय प्रकाररूपेभ्य. सदुपायेभ्य। तस्मान्नोऽभिधत्स्व।

४ पुन शब्दो भिन्नक्रम। भरतमुनि' पुन' रसभावा विकल्प्यन्ते निश्चीयन्तेऽने तादृग् वाक्यमुवाच।

५. न तु तदीयं वचनमुक्तमुत्तरदानेन समाहृत्येति पुनः शब्दार्थः।

६ मुनेश्चाय भाव.।

७ रसादिपु समुच्चयार्थश्च।

८ तदभिधानेऽन्यन्न किंचिदवशिष्यत इत्येव शब्द।

९ यथाक्रममिति पूर्वसग्रह उद्देशप्रकारत्वादित्यादिक्रमेण।

१० स्वबुद्धिविपय बहुमान गृह्णताममीष इत्यभिप्रायेण।

११ भवद्भिर्युक्तमेतदुक्तमिति।

इस प्रकार हमने पूर्व सस्करणोमें मुद्रित पाठको ग्यारह खण्डोमें विभक्त करके दुबार लिख दिया है। क्रममे कोई परिवर्तन नही किया गया है। केवल उसे ११ खण्डोमें विभक्त क दिया गया है। अब उन खण्डोके क्रमके विषयमें विचार करेंगे।

तृतीय कारिकाका पाठानुसन्धान—

इनमें प्रथम तथा तृतीय खण्डको एक साथ मिलानेपर वाक्यकी सगति ठीक लगत है। प्रथम खण्डमें तृतीय कारिकामें आए हुए तत्त्वत' पदकी व्याख्या की जा रही है। व्याख्याका ने इस 'तत्त्वत' पदको तत तु अत इन तीन भागोमें विभक्त कर उसकी व्याख्या की है। 'तत पदसे आख्यान अर्थात् आगे जिस विपयका प्रतिपादन करना है उसका ग्रहण किया है। 'तु'— शब्दको हेत्वर्थक माना है। और 'अत' पदमें पचम्यर्थमें तसिल-प्रत्यय करके 'एभ्य' के अर्थ

'अतः' पदका प्रयोग माना है। इस प्रकार 'तत् तु अतः' इन तीन पदोंको मिलाकर बने हुए इस 'तत्त्वत.' पदका यह अर्थ हुआ कि रस भाव आदि प्रतिपाद्य विषयको संग्रह कारिका और निरुक्त अर्थात् उद्देश लक्षण परीक्षा-पूर्वक कहनेकी कृपा करें क्योंकि 'वह' अर्थात् प्रश्न विषयक प्रतिपादन इन उद्देश लक्षण परीक्षाके द्वारा ही होता है। इसलिए उन संग्रहादि तीनोंके सहित ही कहनेकी कृपा करें। यह मुनियोंकी प्रार्थनाका भाव है। इस अभिप्रायको देखते हुए पूर्व मुद्रित पाठके प्रथम तथा तृतीय खण्डोंको मिला कर—

नन्वेतैरिह किं प्रयोजनम्? आह 'तत्त्वत' इति। तु शब्दो हेतौ। यदिदमाख्यानं परापृष्टम्। यतस्तदाख्यानं 'अतः' एव, एभ्य संग्रहादिभ्यः त्रिप्रकाररूपेभ्यः सदुपायेभ्य एव, तस्मात्तोऽभिधत्स्वेति।

इस प्रकारका पाठ ही उस अंशकी व्याख्याको ठीक सुसंगत रूपमें प्रस्तुत करता है। बीचमें द्वितीय खण्डका पाठ आकर इस संगतिको अस्त-व्यस्त कर देता है। इसलिए हमने उसको बीचमें से हटा कर और प्रथम तथा तृतीय खण्डोंको मिलाकर ही इस तृतीय कारिकाकी व्याख्या का पाठ प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इस क्रम-संशोधनके अतिरिक्त इस पाठमें दो संशोधन और भी करने पड़े हैं। पूर्व-संस्करणोंमें 'आभ्य' संग्रहादिभ्यः' पाठ छपा है। वह अशुद्ध है। उसमें 'आभ्य.' के स्थानपर 'एभ्यः' पाठ होना चाहिए। दूसरे स्थानपर 'एव' पदका प्रयोग 'सदुपायेभ्य.' के बाद होना चाहिए था जो प्रमादवश 'अत' के बाद छप गया था। 'अतः' पदकी व्याख्या 'अतः एभ्यः संग्रहादिभ्यः त्रिप्रकाररूपेभ्य. सदुपायेभ्यः एव' इस प्रकार होनी चाहिए। इसमें अन्तिम 'एव' पद पूर्व-संस्करणोंमें अस्थानमें छप गया है। उसके कारण व्याख्या निर्जीव सी होती है। अतः उसका स्थानान्तरण आवश्यक मानकर हमने उचित स्थानपर उसका समावेश कर दिया है। तीसरे स्थानपर 'त्रयप्रकाररूपेभ्य·' पाठ पूर्व-संस्करणोंमें दिया गया है। वह भी अशुद्ध है। उसके स्थानपर 'त्रिप्रकाररूपेभ्य' पाठ होना चाहिए। अतः हमने इन सब अपेक्षित संशोधनोंको करके ही मूलपाठ को प्रस्तुत किया है।

चतुर्थ कारिकाका पाठानुसन्धान—

पाठसमीक्षा—इस प्रकार प्रथम तथा तृतीय खण्डोंको मिला कर तृतीय कारिकाकी व्याख्या हुई। इसके बाद चतुर्थ कारिकाकी व्याख्या आनी चाहिए। किन्तु द्वितीय खण्डमें 'निखिलेन' पदकी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। यह 'निखिलेन' पद चौथी नहीं अपितु पांचवीं कारिकामें आया है। इसलिये यह स्पष्ट है कि यह खण्ड यहां अस्थान मुद्रित है। चौथी कारिका की व्याख्या चतुर्थ खण्डसे प्रारम्भ होती है। उसमें 'पुनः शब्दो विस्मये' लिख कर पुनः शब्दकी व्याख्या की गई है। यह 'पुन.' शब्द चतुर्थ कारिकामें ही आता है। अतः चतुर्थ खण्डसे चौथी कारिकाकी व्याख्या ही प्रारम्भ होती है। पर वह व्याख्या यहां पूर्ण नहीं हो रही है। उसके साथ दशम तथा एकादश दो खण्डोंको जोड़ना चाहिए। इन खण्डोंको इस [illegible] व्याख्या के साथ ही जोड़नेका कारण यह है कि इन दोनों खण्डोंका सम्बन्ध कहीं भी [illegible] नहीं [illegible] है। चौथी कारिकाकी व्याख्या तो इन दोनों खण्डोंके बिना भी पूर्ण [illegible] है। किन्तु इन दोनों खण्डोंकी संगति अन्यत्र कहीं भी नहीं बैठेगी। अतः इन दोनों [illegible] जोड़ कर—

पुनः शब्दो विस्मये। भरतमुनिः एव [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] पुनः [illegible]।

भरत०—तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः।
प्रत्युवाच पुनर्वाक्यं रसभावविकल्पनम् ॥४॥

इस रूपमें ४+६+११ तथा ५ इस क्रमसे चार खण्डोको मिलाकर चौथी कारिकाकी व्याख्या पूर्ण होती है। इसमें भी इस क्रम-निर्धारणके अतिरिक्त कुछ पाठ सशोधनोकी भी आवश्यकता होती है। पूर्व-सस्करणोमें 'न तु तदीय वचनमुक्तमत्तरदानेन समाहृत्येति पुन शब्दार्थ' इस प्रकारका पाठ छपा है। यह पाठ उपयुक्त प्रतीत नही होता है। इसमें 'न तु' पद खटकते हैं। भरतमुनिने मुनियोके वचनका आदर करके उत्तर देना आरम्भ किया यह भाव तो उचित प्रतीत होता है। किन्तु 'न तु' पदोके रहने पर अर्थ इससे बिल्कुल उल्टा हो जाता है। अत ये दोनो पद यहा अधिक छप गए हैं। वे अर्थ की सगतिमें बाधक होते हैं। उनको हटा देनेके बाद और 'मुनेश्चाय भाव भवद्भिर्युक्तमेतदुक्तमिति। तदीय वचनमुक्तमुत्तरदानेन समाहृत्येति पुन शब्दार्थः' यह पाठ सुसगत बन जाता है। अत. कारिकाकी अभिनवभारतीका हमने यही सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है।

पञ्चम कारिकाका पाठानुसन्धान—

इस प्रकार पूर्व-सस्करणोमे मुद्रित इस पाठ-सन्दर्भमेंसे प्रथम तथा तृतीय खण्ड तृतीय कारिकाकी व्याख्या तथा ४+६+११+५ ये चार खण्ड मिलकर चतुर्थ कारिकाकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। ग्यारह खण्डोमेंसे इन छ. खण्डोको हटा देनेके बाद जो ५+७+८+९+१० पाच खण्ड शेष रह जाते हैं वे मिलकर पचम कारिकाकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इन सबको क्रमश मिलाकर लिखनेसे पञ्चम कारिकाकी अभिनवभारतीका पाठ निम्न प्रकार बनता है—

उद्देश-लक्षण-परीक्षादिषु प्राधान्यात् तदुपक्रममेव सर्वमभिधेयम्। तदाह-निखिलेन, सग्राह्य-लक्षणीय-निर्वचनीयात्मनोपलक्षित सग्रहादित्रयमेव वक्ष्यामीति। रसादिषु समुच्चयार्थश्च'। तदभिधानेऽन्यन्न किंचिदवशिष्यत इत्येवशब्दः। यथाक्रममिति पूर्व सग्रह उद्देशप्रकारत्वादिक्रमेण। सबुद्धिविषय बहुमान गृह्णताममीषामित्यभिप्रायेण।

पाठसमीक्षा—इनमें अन्तिम दो वाक्यो अर्थात् नवम तथा दशम खण्ड वाले वाक्योके पाठमें भी कुछ सशोधनकी आवश्यकता है। कारिकामें आए हुए 'यथाक्रमम्' पदकी व्याख्या नवम खण्ड वाले वाक्यमें की गई है। किन्तु उसका पाठ अटपटा-सा है। पूर्व सग्रहा उद्देशप्रकारत्वदित्यादिक्रमेण इस पाठका कुछ अर्थ नही लगता है। अत हमने उसके स्थानपर 'यथाक्रममिति पूर्वोक्तसग्रह-कारिकादिक्रमेण' यही पाठ प्रस्तुत किया है।

पाठसमीक्षा—इससे अगले अर्थात् दशम खण्ड वाले वाक्यका पाठ भी कुछ अपूर्ण सा प्रतीत होता है। उसकी समाप्ति 'इत्यभिप्रायेण' शब्दसे हो रही है। यहा वाक्य पूरा नही हो पा रहा है। उसके आगे कुछ छूटा हुआ है। और वह छूटा हुआ पाठ 'व' शब्द' है। यहा कारिकामें आए हुए 'व' पदकी व्याख्या कर रहे हैं। 'अह व कथयिष्यामि' में आए हुए 'व' पदसे ग्रन्थकारने यह अभिप्राय निकाला है कि क्योकि मुनिगण अपने बुद्धिग्राह्य इस विषयको 'सबहुमान' अत्यन्त आदर-पूर्वक ग्रहण करनेको उद्यत हैं इसलिए उनको 'निखिलेन' सम्पूर्ण रूपसे सब बातें बतलाऊगा। इस प्रकार 'व' शब्दसे मुनियोकी तत्परताको सूचित किया है इस अभिप्रायको लेकर ग्रथकारने यहां 'स्वबुद्धिविषय सबहुमान गृह्णताममीषा [निखिलेन कथयिष्यामि] इत्यभिप्रायेण व शब्द। यह पक्ति लिखी है। अत हमने 'व शब्द' का समावेश करके ही यहा सशोधित पाठ प्रस्तुत किया है।

भरत०—उनके वचनको सुनकर भरतमुनि फिर रस तथा भावके निश्चय करने वाले [आगे कहे जाने वाले] वाक्य कहने लगे। ४।

पुन. शब्दो भिन्नक्रम.। भरतमुनि पुन. रस-भावविकल्प्यते निश्चीयन्तेऽनेन तादृग् वाक्यमुवाच । मुनेश्चाय भावो भवद्भिर्युक्तमेतदुक्तमिति । तदीय वचनमुत्तर-दानेन समादृत्येति पुन.-शब्दार्थ ॥४॥

भरत०—अहं वः कथयिष्यामि निखिलेन तपोधनाः ।
संग्रहं [1]कारिकां चैव निरुक्तं च यथाक्रमम्[2] ॥५॥

उद्देश-लक्षण-परीक्षादिषु प्राधान्यात् तदुपक्रममेव संग्राह्य-लक्षणीय-निर्वचनीयात्मनोपलक्षितं सर्वमभिधेयम् । तदाह निखिलेन । रसादिषु समुच्चयार्थश्च.। तदभिधानेऽन्यन्न किंचिदवशिष्यते इत्येवशब्दः । यथाक्रममिति पूर्वोक्त-संग्रह-कारिकादि-क्रमेण । स्वबुद्धिविषयं लबहुमान गृह्णतामभीप्सामितियमिपायेण 'व.' शब्द ॥५॥

अभिनव०—[श्लोकमे आया हुआ] 'पुन.' शब्द भिन्न-क्रम है [अर्थात् जहां वह पढा गया है उसका अन्वय वहां न होकर अन्य स्थानपर भरतमुनिके बाद होता है]। भरतमुनि फिर रस तथा भावका [विकल्प विशेष रूपसे कल्पना अर्थात्] निश्चय जिसके द्वारा किया जाता है इस प्रकारके [आगे कहे जाने वाले] वाक्य कहने लगे। [भरत] मुनिका यह अभिप्राय है कि आप लोगोंने यह ठीक ही कहा है [अर्थात् आपने जो प्रश्न उठाए हैं वे ठीक हैं]। उनके [मुनियो] कहे हुए वचनको उत्तर देनेके द्वारा आदर करके [भरतमुनि बोले] यह 'पुन' शब्दका अर्थ है। [अर्थात् भरतमुनिने रस भाव आदिका आगे जो निरूपण किया है वह मुनियोंके यहां पूछे गए प्रश्नके उत्तर रूपमे ही तथा पूर्व-क्रमके अनुसार प्राप्त होनेसे किया है] ॥४॥

भरत०—हे तपोधन मुनियो मैं संग्रह [उद्देश], कारिका [लक्षण] तथा निरुक्त [परीक्षा, तथा उनके साथ ही रस भाव आदि] को यथाक्रम आप लोगोंको पूर्ण रूपसे बतलाऊंगा। ५।

अभिनव०—उद्देश, लक्षण, परीक्षादि की प्रधानता होनेके कारण वहींसे संग्राह्य, [नाममात्रसे कथन करने योग्य], लक्षणीय तथा परीक्षणीय सबका कथन प्रारम्भ करना चाहिए। इसी बातको 'निखिलेन' आदिसे कहा है। [श्लोकमें आया हुआ] च-शब्द रस [भाव] आदिके समुच्चयार्थमे है। [अर्थात् च-शब्दके प्रयोगसे संग्रह कारिका आदिके साथ रस भाव आदि का भी समुच्चय होनेसे संग्रह आदिके साथ रस भाव आदिका भी वर्णन करूंगा यह अर्थ निकलता है]। उन [रस भावादि] का कथन करनेके बाद और कुछ कहनेको शेष नहीं रहता है इस अर्थमे 'एव' शब्दका प्रयोग किया गया है। 'यथाक्रम' कहनेका अभिप्राय यह है कि पहिले कहे हुए उद्देश [संग्रह], लक्षण [कारिका] आदिके क्रमसे [ही इन सबका प्रतिपादन करेंगे]। अपनी बुद्धिके विषयको [अर्थात् भरतमुनिके कथनको] आदर पूर्वक ग्रहण करने वाले आप सब [प्रश्नकर्ता मुनियो] को सब विषय बतलाऊंगा इस अभिप्रायसे 'व' शब्द [का ग्रहण किया] है ॥५॥

---

१ य कारिकार्थं च। २. य यथाविधि।

तान्निदर्शयन मुनिराह—'न शक्यमस्य' इति—

भरत०——न शक्यमस्य नाटचस्य गन्तुमन्तं कथञ्चन ।
[1]कस्माद् बहुत्वाज्ज्ञानानां शिल्पानां [2]चाप्यनन्तत ॥६॥

शक्यमिति सामान्योपक्रमात् माध्यस्थ्यविवक्षा । गन्तुमिति प्राप्तुम् । अन्तो निश्चय । 'कथचन' इति अमु सग्रहादिप्रकार वर्जयित्वान्येन प्रतिपदनिरूपणादिनेत्यर्थ । यत्किल प्रतिपद निरूपयितु न शक्य तल्लक्षणद्वारेणोच्यते । लक्षणस्यैवाङ्गमुद्देश-परीक्षे । तस्य विषयप्रदर्शने परिशुद्धौ च तयोर्व्यापारात । न चात्र प्रतिपदनिरूपण युक्तमिति ।

अत्र हेतुमाह—बहुत्वादिति । ज्ञानाख्यानि व्याकरणादीनि शास्त्राणि । शिल्पानि चित्र-पुस्तादिकर्माणि । तेपामनन्तत्वादन्ताभावात् ॥६॥

अभिनव०—उस [संग्रह आदिकी उपयोगिता] को दिखलाते हुए 'न शक्यमस्य' इत्यादि [श्लोक] से [भरत] मुनि कहते हैं—

भरत०—[लक्षण प्रक्रियाके बिना] इस नाट्य [के सम्पूर्ण विषयों] का अन्त [निश्चय] प्राप्त करना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। क्योंकि ज्ञानके [विषयोके] असख्येय तथा कलाओंके अनन्त होनेसे [लक्षणके विना प्रतिपदपाठसे अन्त प्राप्त करना सम्भव नहीं है] ॥६॥

अभिनव०—[श्लोक मे आया हुआ] 'शक्य' यह [पद] माध्यस्थ्य द्योतनके अभिप्रायसे सामान्य रूपसे कहा गया है। 'गन्तु' का अर्थ प्राप्त करना है। 'अन्त' का अर्थ 'निश्चय' है। 'कथञ्चन' का अभिप्राय यह है कि इस सग्रह [उद्देश, लक्षण, परीक्षा] आदि रूप मार्गको छोडकर प्रत्येक वस्तुके अलग-अलग निरूपण [प्रतिपदनिरूपण] आदिके द्वारा [इन सबका ज्ञान सम्भव नही है]। जिस [विषय] को प्रतिपद रूपसे [अलग-अलग प्रत्येक बातको] निरूपित करना सम्भव नही है उसका लक्षण द्वारा [सरलतासे] प्रतिपादन किया जाता है। लक्षणके ही अङ्ग उद्देश तथा परीक्षा हैं। क्योंकि उस [लक्षण] के विषयके प्रदर्शन [मे उद्देशका, अर्थात् जिनका लक्षण करना है उनके नाम निर्देशका] और [लक्षणकी] शुद्धताके विषयमे [क्रमश उद्देश तथा परीक्षा] दोनोका व्यापार होनेसे [उद्देश तथा परीक्षा दोनो लक्षणके ही अङ्ग माने जाते हैं]। यहा [रस भावादिका] प्रतिपद निरूपण सम्भव नही है। [अत एव लक्षण और उसके अङ्ग उद्देश तथा परीक्षा द्वारा उन सबका विवेचन यहाँ किया जायगा]।

अभिनव०—[प्रतिपद-निरूपणके द्वारा अन्त प्राप्त करना सम्भव नही है] इसका कारण [श्लोकके उत्तरार्द्ध मे] 'बहुत्वात्' बहुत होनेसे इस [पद] से कहते हैं। ['बहुत्वाज्ज्ञानाना' इसमे] व्याकरण आदि शास्त्र 'ज्ञान' पदसे कहे गए है। 'शिल्प' का अभिप्राय चित्रकला तथा लेपन [वार्निश आदि अथवा काष्टकला आदि पुस्तं लेप्यादि कर्माणि] आदि कर्मसे है। उनके अनन्त होनेसे अर्थात् उनका कोई अन्त न होनेसे [असख्येय होनेसे विना लक्षणके प्रतिपदपाठसे पार पाना सम्भद नहीं है]

---

१ नि व कस्माद्बहुत्वाद् भावानाम् । २. न चापि तत्वत. ।

एतदेवोपोद्बलयति 'एकस्य' इति—

भरत०—एकस्यापि न वै [1]शक्यस्त्वन्तो ज्ञानार्णवस्य हि[2] ।
[3]गन्तुं किं पुनरन्येषां ज्ञानानामर्थतत्त्वतः ॥७॥

नाट्याङ्गभूतस्य कस्यचिदिति शेषः । अर्थस्याभिधेयस्य । तत्त्वत —ततन विस्तारः । तेन । अन्येषामिति अङ्गभूतस्यापि यान्यङ्गभूतत्वेनायान्तीत्यर्थः ॥७॥

सग्रहादयस्त्वत्र सदुपाया इति दर्शयति किन्त्विति ।

भरत०—किन्त्वल्पसूत्रग्रन्थार्थमनुमानप्रसाधकम् ।
नाट्यस्य प्रवक्ष्यामि रसभावादिसंग्रहम् ॥८॥

इस विषयकी चर्चा करते हुए व्याकरण महाभाष्यमें लिखा है कि—

'अथैतस्मिन् शब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्तव्यः । गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः । नेत्याह । अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः । एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच न चान्तं जगाम । बृहस्पतिश्च प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः न चान्तं जगाम । किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति ।"

इसका भाव यह है कि इन्द्रको बृहस्पतिने प्रतिपदपाठ द्वारा शब्दशास्त्र पढ़ानेका प्रयत्न दिव्य-सहस्र वर्ष पर्यन्त किया परन्तु उस विधिसे वे शब्दशास्त्रका पार न पा सके । अब आज-कलके लोग जिनकी अधिक-से-अधिक आयु सौ वर्षकी होती है प्रतिपद पाठ द्वारा किसी विषयका पार पा जावें यह कैसे सम्भव है ।

अभिनव०—इसी बातको 'एकस्यापि' इत्यादिसे स्पष्ट करते हैं—

भरत०—क्योंकि किसी एक भी विद्याके [अपार] सागरका पार पाना सम्भव नहीं है फिर [नाट्य सम्बन्धी] अन्य विद्याओं [या अङ्गों] के अत्यन्त विस्तारके कारण पार जानेकी तो बात ही क्या कही जाय । ७ ।

अभिनव०—नाट्यके अङ्गभूत किसी एक भी [ज्ञान-सागरका पार पाना सम्भव नहीं है] यह शेष है । अर्थ अर्थात् प्रतिपाद्य विषयके 'तत्त्वत.' अर्थात् विस्तारके कारण । 'ततन' का अर्थ विस्तार है उस [विस्तारके कारण] से । 'अन्योंके' इसका अभिप्राय यह है कि [नाट्यके मुख्य] अङ्गोंके भी अङ्ग रूपसे जो [विषय] आते हैं [उन अवान्तर अङ्गों का] ॥ ७ ॥

अभिनव०—सग्रह [उद्देश लक्षण परीक्षा] आदि ही इस विषयमें ठीक उपाय हो सकते हैं यह बात 'किन्तु' इत्यादि [अगली कारिका] से दिखलाते हैं—

भरत०—किन्तु [नाट्य विषयोंके गुम्फन एवं समझ सकने योग्य सम्पादनके लिए] सूत्र [अर्थात् लक्षण] तथा ग्रन्थ [अर्थात् भाष्य या परीक्षा] के द्वारा [जिन] और [किन व्यतिरेकी अनुमान रूप] लक्षणोंके [आधार पर उपलक्षित करके उनके द्वारा समस्त इस] नाट्यके [प्रतिपाद्य विषय रूप] रस भाव आदिके संग्रह [अर्थात् नामस्मरण पूर्वक उद्देश] को [आगे १०वीं कारिका में] कहूँगा । ८ ।

---

१ ग घ म ज शक्यमन्तः । २. ड म तु । ३ न गन्तुमर्थं हि । ४. ड. [illegible]

नाट्यस्य नाट्यविषयस्यार्थस्य । सग्रह सक्षिप्य गृह्यतेऽनेनेति तमुद्देशम् । 'प्रवक्ष्यामीति । कथ, रसभावादि कृत्वा, प्राधान्यात् तदुपक्रममित्यर्थ । किं तेनेत्याह—अनुमान लक्षरा, तद्धि केवलव्यतिरेकिहेतुरूपम् । तस्य चोद्देशधर्मिरा प्रकल्पयन् प्रकृष्ट साधक, आश्रयासिद्धत्वशङ्काशमनेन पक्षधर्मत्वमूलाङ्गपोषकत्वात् ।

अभिनव०—नाट्यके अर्थात् नाट्यके [प्रतिपाद्य] विषयके, सगह अर्थात् जिसके द्वारा [विस्तीर्ण प्रतिपाद्य] विषयको सक्षेप करके ग्रहरा किया जाता है उस उद्देश [नाममात्रेरा वस्तुसकीर्तनमुद्देश.] को [कहूगा]। कैसे [कहूगा कि], रस भाव आदिके द्वारा अर्थात् प्रधान होनेके कारण उन [रस भाव आदि] से प्रारम्भ करके। उसका [अर्थात् सग्रह, या उद्देश अथवा नाममात्रसे रसभावादिके कथनका] क्या लाभ होगा? यह कहते हैं कि—[उससे] अनुमान अर्थात् लक्षरा, केवल व्यतिरेकि-हेतु रूप [अनुमान] होता है। उस [अनुमान अर्थात् लक्षरा] के उद्देश [अर्थात् जिसका लक्षरा किया जा रहा है उस] धर्मीको निश्चित करता हुआ [उद्देश या सग्रह, अनुमानका] प्रकृष्ट साधक होता है। [उद्देशके द्वारा हेतुके आश्रय अर्थात् पक्ष के निश्चित हो जानेसे] आश्रयासिद्धिकी शकाका निराकरण करके अनुमानके पक्षधर्मता रूप मुख्य अङ्गके पोषक होनेसे [सग्रह या उद्देश अनुमानका प्रकृष्ट साधक होता है]।

इस प्रसगमें ग्रन्थकारने 'आश्रयासिद्ध' तथा 'पक्षधर्म' शब्दोका प्रयोग किया है। ये दोनो शब्द न्यायशास्त्रके पारिभाषिक शब्द हैं। इनमेसे पहिले 'पक्ष' शब्द का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। न्यायमें 'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्ष.' यह पक्षका लक्षरा किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ साध्य सन्दिग्ध अवस्थामें रहता है उसको 'पक्ष' कहते हैं। जैसे 'पर्वतो वन्हिमान् धूमवत्वात्' इस अनुमानमें पर्वत 'पक्ष' है। क्योकि जब तक अनुमान द्वारा पर्वतमें वन्हिकी सिद्धि नही हो जाती है तव तक उसमें अग्निका सन्देह ही रहता है। इसलिए पर्वत 'पक्ष' कहलाता है। धूम, 'हेतु' है। उसका पर्वत रूप पक्षमें रहना आवश्यक है। यदि धूम 'पक्ष' अर्थात् पर्वतमें न रहे तो उससे पर्वतमें वन्हिकी सिद्धि भी नही हो सकती है। पर्वत रूप 'पक्ष' में धूम रूप 'हेतु' की विद्यमानताको ही 'पक्षधर्मता' कहते हैं। अनुमानके मुख्य दो अङ्ग होते हैं। एक 'व्याप्ति' और दूसरा 'पक्षधर्मता'। इनमेसे 'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वन्हि' जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है इस साहचर्य नियमका नाम 'व्याप्ति' है। इस व्याप्तिके द्वारा सामान्य रूपसे, जहाँ धूम होगा वहा अग्नि होगा इस साध्यसामान्यकी सिद्धि होती है। और 'धूमवाश्चाय पर्वत.' इस पर्वतपर धूम है इस 'पक्षधर्मता' के द्वारा पर्वत रूप विशेष स्थलपर वन्हिकी सिद्धि होती है। विशेष स्थलपर साध्यकी सिद्धिकेलिए 'पक्षधर्मता' का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार व्याप्ति' तथा 'पक्षधर्मता' ये दोनो अनुमानके मुख्य अङ्ग माने जाते हैं। इनके अभावमें अनुमानकी सिद्धि नही हो सकती है।

कही-कही इस प्रकारका अनुमान वाक्य भी प्रयुक्त किया जाता है जिसमें हेतुका आश्रय या पक्ष सर्वथा अविद्यमान् होता है। जैसे 'गगनारविन्द सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्' आकाश-कमल सुगन्धयुक्त है, कमल होने से, तालावमें उत्पन्न हुए कमलके समान। इस अनुमान वाक्यमे 'गगनारविन्द' अथवा आकाश-पुष्प पक्ष है। परन्तु आकाश-पुष्प तो कोई वस्तु नही है।

---

१ वक्ष्यामीति।

तस्य संग्रहस्य स्वरूपमाह—सूत्रभाष्यग्रन्थयोर्लक्षणपरीक्षयो- र्योऽर्थोलक्ष्य-परीक्षितव्यलक्षण, सोऽल्प सङ्कुचितो नाममात्रेणोद्देश्यतया यत्र ॥८॥

अन्येऽप्येवमेव मन्यन्त इति दर्शयति विस्तरेणेति—

भरत०—विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययो ।
'निबन्धो य. समासेन संग्रह तं विदुर्बुधा ॥९॥

अत: इस प्रकारका हेतु 'आश्रयासिद्ध-हेत्वाभास' कहलाता है। उससे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। जब हेतुके पक्षका अस्तित्व ही नहीं है तब उसकी पक्षधर्मताकी कोई सम्भावना भी नहीं है। अत. 'आश्रयासिद्ध-हेत्वाभास' 'पक्षधर्मता-रहित' होनेके कारण साधक नहीं होते हैं। उद्देश, लक्षण, और परीक्षामेंसे उद्देश भाग आश्रय या पक्षकी विद्यमानताको स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन करनेके कारण 'आश्रयासिद्धि' का निवारक और पक्षधर्मताका पोषक होकर अनुमानका साधक होता है। इसी लिए ग्रन्थकारने संग्रह या उद्देशको अनुमानका प्रसाधक कहा है।

अनुमान शब्दका प्रयोग यहाँ 'लक्षण' केलिए किया गया है। वैसे असाधारण धर्मके कथनको लक्षण कहते हैं। परन्तु कहीं-कहीं उस असाधारण धर्म अथवा लक्षणका हेतु रूपमें भी प्रयोग किया जाता है। जब लक्षण हेतु रूपमें प्रयुक्त होता है तो वह केवलव्यतिरेकी हेतु रूपमें ही काम आता है। इसलिए ग्रन्थकारने यहाँ 'लक्षण' को केवलव्यतिरेकि अनुमान रूप कहा है। और उद्देशको आश्रयासिद्धिके वारण द्वारा पक्षधर्मताके पोषक होनेसे इस अनुमान या लक्षणका प्रकृष्ट साधक माना है।

अभिनव०—[कारिकाके 'अल्पसूत्रग्रन्थार्थम्' इस विशेषण द्वारा] उस संग्रह [उद्देश] के स्वरूपको कहते हैं। सूत्र [लक्षण] तथा [उस लक्षण रूप सूत्रकी परीक्षा रूप ग्रन्थ अथवा] भाष्य-ग्रन्थ अर्थात् लक्षण एवं परीक्षाका जो लक्षणीय तथा परीक्षणीय [अर्थ अर्थात्] विषय, वह जहाँ [उद्देशमें] अल्प [अर्थात् नाममात्रसे] कथित होनेके कारण सकुचित है [यह 'अल्पसूत्रग्रन्थार्थम्' का अर्थ हुआ। इस प्रकारके विशेषण वाला उद्देश या संग्रह होता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है] ॥८॥

इस प्रकार ग्रन्थकारने अपने मतके अनुसार संग्रह अथवा उद्देशका लक्षण किया है। इसी मतकी पुष्टिके लिए अन्य आचार्योंके मतके अनुसार भी संग्रहका लक्षण आगे प्रस्तुत करते हैं।

अभिनव०—अन्य [आचार्य] भी [संग्रह या उद्देशका स्वरूप] इसी प्रकार मानते हैं यह 'विस्तरेण' इत्यादि [नवम कारिका] में दिखलाते हैं—

भरत०—सूत्र [अर्थात् लक्षण] तथा भाष्य [अर्थात् परीक्षा] में विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किए जाने वाले पदार्थोंका [नाममात्रेण कीर्तन रूप उद्देश भागमें समासेन] संक्षेप रूपसे जो [निबन्धः अर्थात्] कथन करना है उसको विद्वान् लोग 'संग्रह' [संक्षेपेण नाममात्रेण कथन] मानते हैं।९।

---

१. निबद्धो।

सूत्र लक्षणम् । भाष्य तद्व्यक्तीकरणरूपा परीक्षा । 'अल्पौ सूत्र-ग्रन्थौ यत्रार्थे सोऽर्थो यत्रेति तु व्याख्यानमनेन श्लोकेन सवदते' ॥९॥

सग्रह दर्शयति 'रसा भावा' इत्यादिना—

भरत०—'रसा भावा ह्यभिनया 'धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः ।
सिद्धि स्वरास्तथातोद्य गानं रङ्गश्च सग्रहः ॥१०॥

च-शब्द इति शब्दार्थे । अभिनयत्रय गीतातोद्य चेति पञ्चाङ्ग नाट्यम् । अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशाङ्गत्वमुच्यते । न तु भरते तत्सगृहीतस्यापि पुनरत्रोपदेशात् ।

पिछली कारिकामें अल्पसूत्रग्रन्थार्थम्' यह विशेषण 'सग्रहम्' के साथ प्रयुक्त किया था उसकी इस कारिकाके अर्थके साथ सङ्गति दिखलानेकेलिए यहाँ उसकी व्याख्या करते हैं—

अभिनव०—[कारिकामे आए हुए] 'सूत्र' पदका अर्थ लक्षण है। और उस लक्षणके स्पष्टीकरण रूप परीक्षाको भाष्य कहा है। जिस [उद्देश रूप] अर्थमे [पूर्वोक्त] लक्षण तथा परीक्षा [सूत्र तथा ग्रन्थ या भाष्य] अल्प [अर्थात् बीज रूपसे विद्यमान] हैं उस प्रकारका अर्थ [प्रतिपाद्य विषय] जहाँ हो वह [अल्पसूत्रग्रन्थार्थम् इस विशेषणसे युक्त सग्रह हुआ। 'अल्पसूत्राग्रन्थार्थम्' पदके द्वारा पूर्व कारिकामे की हुई 'सग्रह' शब्दकी] यह व्याख्या इस [नवम श्लोकके साथ सङ्गत होती है [अर्थात् यहां जो 'सग्रह' का लक्षण किया है उसीके अनुसार पहिली कारिकामे 'अल्पसूत्रग्रन्थार्थम्' यह विशेषण रखा गया है] ।

पाठसमीक्षा—द्वितीय सस्करणमें श्लोकेन न सवदते' इस प्रकारका पाठ छापा गया है। वह एकदम अशुद्ध है। उससे सारा अर्थ ही उलट जाता है। प्रथम सस्करण मे 'न' नही था। वही पाठ ठीक था। द्वितीय सस्करणमें 'न' जोडकर पाठ अशुद्ध कर दिया है ॥९॥

अभिनव०—रसा भावा इत्यादि [दशम कारिका] से [प्रतिपाद्य विषयका] सग्रह [नाममात्रेण कथन-रूप 'उद्देश'] कहते है—

भरत०—रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्तियां, सिद्धि, स्वर, वाद्य, गान और रङ्ग [यह सक्षेपमे इस नाट्यशास्त्रके प्रतिपाद्य ग्यारह विषयोका नाममात्रेण कथन या 'उद्देश' रूप] सग्रह है ।१०।

यद्यपि यहाँ नाटचके ११ अङ्गोका 'उद्देश' रूपसे कथन किया है। परन्तु वह भरतमुनि का अपना मत नही अपितु प्राचीन नाटयाचार्य 'कोहल' का मत है। भरत मतमें आङ्गिक वाचिक तथा आहार्य तीन प्रकारका अभिनय, गान तथा वाद्य ये सब मिल कर नाटच के केवल पाच अङ्ग ही अभिमत हैं। फिर भी यहा कोहलके अभिमत ११ अङ्गोका सग्रह ग्रन्थकारने कर दिया है यह बात वृत्तिकार अगली पक्तियोमें दिखलाते हैं।

अभिनव०—[कारिकामे आया हुआ] 'च' शब्द 'इति' शब्दके अर्थमे [प्रयुक्त हुआ] है। [यद्यपि भरतमुनिके सिद्धान्तमे आङ्गिक, वाचिक तथा आहार्य] तीन प्रकार का अभिनय, गान एव वाद्य [मिल कर] नाट्यके पांच अङ्ग [ही] होते हैं

---

१. न सवदते। २ ज य रसभावा। ३ ज व. अ. धर्मवृत्ति। त धर्मवृत्त।

'च' शब्द इति शब्दार्थे। अभिनयत्रय गीतातोद्य चेति पञ्चाङ्गं नाट्यम्।

अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशाङ्गत्वमुच्यते, न तु भरते, तद्गृहीतस्यापि पुनरुद्देशात्। निर्देशे चैतत्क्रमव्यत्यासनात्। अन्तर्भूतस्यापि प्रयोजनवशेन पुनरुद्देशदर्शनात्। क्रमस्य चाविवक्षितत्वादिति।

अभिनव०—'च' शब्द 'इति' शब्दके अर्थमें [प्रयुक्त] है। [आहार्य अभिनयको छोड़ कर आङ्गिक वाचिक तथा सात्त्विक] तीन प्रकारका अभिनय तथा गीत और वाद्य ये [मिल कर] नाट्यके पांच अङ्ग [भरतमुनिके मतमें] होते हैं।

परन्तु इस [दशम] श्लोकके द्वारा [प्राचीन नाट्याचार्य] कोहलके मतमें ११ अङ्गोंका वर्णन किया गया है। भरतके मतसे नहीं। उन [कोहलाचार्य] के द्वारा कथित [एकादश अङ्गों] का भी यहां [भरत मुनिके द्वारा] फिर कथन यह कर दिया गया है। निर्देश [करने] में [कोहलाभिमत अङ्गों] के क्रमका परिवर्तन कर देनेसे [अर्थात् क्रममें परिवर्तन करके यहां उल्लेख किया गया है]। और [भरतमुनिके प्रतिपादित अङ्गोंमें] अन्तर्भूत होने पर भी प्रयोजनवश [एकादश अङ्गोंका] फिर दुबारा कथन देखा जानेसे तथा क्रमके विवक्षित न होनेसे [यहां कोहलाभिमत अङ्गों को भिन्न क्रमसे कथन किया गया है]।

पाठसमीक्षा—इस प्रकार इस श्लोकमें कोहलाचार्यके अभिमत एकादश नाट्याङ्गोंका उद्देश किया गया है यह बात वृत्तिभागसे ज्ञात होती है। परन्तु मूल ग्रन्थमें इस दशम श्लोकके बाद निम्नाङ्कित एक श्लोक इसी विषयमें और भी पाया जाता है—

उपायास्तथा त्रिधा सन्ध्यादश्चेति [illegible] ।
त्रयोदशविधो ह्येष ख्यातिष्टो नाट्यसंग्रहः ॥

वृत्तिकारने नाट्यके एकादश अङ्गोंका निर्देश किया है। इस अधिक श्लोकमें तीन अङ्ग और अधिक गिनाए हैं उनको मिला कर १४ अङ्ग हो जाते हैं। परन्तु श्लोकमें त्रयोदश अङ्गोंका उल्लेख किया गया है। यह ठीक प्रतीत नहीं होता है। किन्तु वृत्तिके अनुसार ११ अङ्ग ही माने गए हैं अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त ज्ञात पड़ता है। उसको प्रक्षिप्त मान कर ही हमने मूल पाठमें स्थान नहीं दिया है। द्वितीय संस्करणमें भी उसे निकाल दिया गया है।

नटगत रसानुभूति—

इसके बाद वृत्तिग्रन्थमें यह विषय उठाया गया है कि रसानुभूति नटको होती है या नहीं। यद्यपि यह विषय यहां प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता है। इसको [illegible] आगे करेंगे। फिर भी यहां इसका [illegible] पाया जाता है। इसलिए इसकी [illegible] आवश्यक है। इस प्रकारकी विवेचनामें [illegible]

१. 'च शब्द इति शब्दार्थे। अभिनयत्रय गीतातोद्ये चेति पञ्चाङ्गं नाट्यम्'। [illegible] अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशाङ्गत्वमुच्यते, न तु भरते। तद्गृहीतस्यापि पुनरुद्देशात्। निर्देशे चैतत्क्रमव्यत्यासनात्। अन्तर्भूतस्यापि प्रयोजनवशेन पुनरुद्देशदर्शनात्। क्रमस्य चाविवक्षितत्वादिति।

अथ कारिका लक्षयत्यल्पाभिधानेनेति—

भरत०—अल्पाभिधानेनार्थो य समासेनोच्यते बुधैः ।
सूत्रत 'सा तु विज्ञेया कारिकार्थप्रदर्शिनी' ।। ११ ।।

अनेनार्थस्य 'लक्षणरूपस्य, तद्वाचकस्य सूत्रस्य, तत्सक्षिप्तार्थविवरणात्मकस्य च श्लोकस्य कारिकात्व दर्शयति । अनेन लक्षणवाक्य द्विधेति तात्पर्यम् । योऽर्थोऽल्पै शब्दै समासेन बहुतरलक्ष्यसग्रहेण सूत्र वाचकमाश्रित्योच्यते सोऽर्थ कारिका, ज्ञप्तिसाधकत्वात् तदर्थिनी 'कारिका । सूत्रत सूत्रणेन । एतेन सूत्रमपि कारिका । तत्सूत्रमपेक्ष्य या अनु पश्चात् पठिता श्लोकरूपा सापि कारिका ।

कारिका या लक्षण का स्वरूप—

इस प्रकार 'सग्रह' अथवा 'उद्देश' का स्वरूप प्रतिपादन करने और नाट्यविद्याके प्रतिपाद्य अगोका नाममात्रेण कथन करनेके बाद अगली कारिकामे ग्रन्थकार 'लक्षण' का स्वरूप प्रदर्शित करेंगे । 'लक्षण' के लिए ग्रन्थकारने 'सूत्र', 'कारिका' और 'लक्षण' तीन शब्दोका प्रयोग यहाँ किया है । इसके कारण इन शब्दोका अर्थ परस्पर सङ्कीर्ण और दुर्बोध-सा हो गया है । फिर भी इन सब शब्दोको पर्यायवाचक माना जा सकता है । इसी दृष्टिसे सूत्र' तथा 'कारिका' के स्वरूपका परिचय अगले ११वें श्लोकमें निम्न प्रकार देते हैं—

अभिनव०–इसके बाद 'अल्पाभिधानेन' इत्यादि [११वें श्लोकके द्वारा] कारिका [अर्थात् लक्षण] का प्रतिपादन [लक्षण] करते हैं ।

भरत०—सक्षेप रूपसे परिमित शब्दो वाले सूत्रके द्वारा जिस अर्थका कथन विद्वानो द्वारा किया जाता है उस अर्थको प्रदर्शन कराने वाली उस [उक्ति] को कारिका कहते हैं ।११।

अभिनव०--इस [श्लोक] के द्वारा (१) 'लक्षण' रूप अर्थ [के, कारिकात्व को प्रदर्शित करते हैं] । (२) उस [लक्षण] के वाचक सूत्र और (३) उसके सक्षिप्त अर्थके विवरण स्वरूप श्लोकका [भी] कारिकात्व प्रतिपादन किया गया है । [अर्थात् सूत्र, उसके अर्थको प्रतिपादन करने वाले श्लोक, तथा उसके प्रतिपाद्य विषय या लक्षण इन तीनोको 'कारिका' नामसे कहा जा सकता है] । इससे लक्षण वाक्य [सूत्रात्मक तथा श्लोकात्मक] दो प्रकार का होता है, यह तात्पर्य निकलता है । जो अर्थ अधिक विषयको सग्रह कराने वाले थोड़ेसे शब्दोके द्वारा सक्षेप रूपसे वाचक सूत्रके द्वारा कहा जाता है (१) वह अर्थ, (२) ज्ञानका साधक होनेके कारण उस अर्थका प्रतिपादन करने वाली [उक्ति भी] 'कारिका' कहलाती है । सूत्रसे अर्थात् सूत्रके द्वारा । इससे (३) सूत्र भी कारिका [कहलाता] है । उसकी अपेक्षासे जो बादको श्लोक रूपमे पढी जाय वह [श्लोक रूप] भी कारिका होती है ।

इस श्लोकमें ग्रन्थकारने 'योऽर्थं अल्पाभिधानेन समासेन उच्यते' जो अर्थ परिमित शब्दो वाले सूत्रसे कहा जाता है उस लक्षण रूप अर्थको भी 'कारिका' कहा है । उस अर्थ के

---

१ सानुमन्तव्या । सा तु मन्तव्या । २ प्रयोगिनी । ३ अनेनार्थस्य कारिकात्व लक्षणरूपस्य दर्शयति । ४ प्रयोगिनी ।

तथाहि—सूचनात्मकत्वात् सूत्रात्लब्धो योऽर्थो लक्षणात्मक स एव 'वृत्तबन्धे-नोच्यमानोऽल्पैश्च शब्दैर्निरूप्यमाणोऽर्थस्य लक्षणीयस्य प्रकर्षं धर्म्यन्तराद् व्यवच्छेदं दर्शयन् धर्मं कारिका । क्रियतेऽनेन अस्मिन्निति कारिका लक्षणमिति यावत् । तदर्थ-प्रकाशकत्वाच्छ्लोकोऽप्युपचारात् कारिका ।

एतदुक्तं भवति—उद्दिष्टस्य धर्म्यन्तरव्यवच्छेदकं लक्षणं वक्तव्यम् । तच्च पूर्वं सूत्रेण ततोऽप्यक्लृप्ताक्षेपोत्तरप्रपञ्चेन तद्विवरणमात्ररूपेण सुखग्राह्येण श्लोकेन । उभयोरपि हि लक्षणमेव प्रतिपाद्यम् । तदेव कारिकोच्यते । सूत्रश्लोकावुपचारादिति ।।११।।

बोधक 'सूत्र' को भी 'कारिका' माना है। और उस सूत्र के अर्थ या लक्षणको कुछ अधिक विस्तार से कहने वाले श्लोकको भी 'कारिका' माना है।

अभिनव०—इसलिए–[बहुतर अर्थके द्योतक] सूचनात्मक सूत्रसे प्राप्त जो लक्षण रूप अर्थ वह ही पद्यात्मक रूपमें कहा जावे, तथा स्वल्प शब्दोंके द्वारा निरूपित होनेपर लक्षणीय अर्थका [समान-जातीय तथा असमान-जातीय] अन्य धर्मियोंसे भेद कराने वाले [लक्षण रूप] प्रकर्षको प्रकाशित करने वाला धर्म 'कारिका' कहलाता है। जिसके द्वारा [पदार्थके स्वरूपका] बोध कराया जाय वह 'कारिका' होती है। अर्थात् लक्षण [को ही कारिका कहते हैं]। उस [लक्षण रूप] अर्थके प्रकाशक होने से [वृत्तबन्ध अर्थात् पद्यात्मक रचना रूप] श्लोक भी उपचारसे 'कारिका' [कहलाता] है।

पाठसमीक्षा—इस अनुच्छेद का पाठ भी पूर्व संस्करणों में [illegible] रूप में निम्न प्रकार छपा है—

सूचनात्मकत्वात् सूत्रात्लब्धोऽर्थो लक्षणात्मक स एव मन्दगिरि [illegible] [illegible] तथा वर्णोऽपि [illegible] [वर्णनात्मेति] वृत्तबन्धेनोच्यमानोऽल्पैश्च शब्दैर्निरूप्यमाणोऽर्थस्य लक्षणीयस्य प्रकर्षं धर्म्यन्तराद् व्यवच्छेदं दर्शयन् धर्मं कारिका।

इसमें 'मन्दगिरि' से लेकर 'वर्णनात्मे' आदि पाठ अशुद्ध है। [illegible] इसका संशोधन कोष्ठोंमें करके दिखाते हुए '[illegible]' इस प्रकार का सुझाव दिया गया है। पर वह भी ठीक नहीं है। वस्तुतः यह पाठ यहां अधिक है।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय है कि—उद्दिष्ट [नामरूपसे कथित] अर्थके [सजातीय तथा विजातीय] अन्य धर्मियोंसे भेदक धर्मको 'लक्षण' कहना चाहिए। [सजातीय-विजातीय-व्यवच्छेदो हि लक्षणार्थः]। वह पहिले सूत्रके द्वारा [किया जाना चाहिए] फिर शङ्का-समाधान या खण्डन-मण्डन आदिके बिना उस [सूत्र] के व्याख्या-त्मक और सरलताके समझमें आ सकने वाले श्लोक [रूप कारिका] के द्वारा [प्रतिपादन किया जाना चाहिए]। इन [सूत्र तथा उसके श्लोकात्मक व्याख्या रूप कारिका] दोनोंका प्रतिपाद्य [विषय] लक्षण ही होता है। वह [श्लोक द्वारा प्रति-पादित अर्थ लक्षण] ही 'कारिका' कहलाता है। सूत्र तथा श्लोक [दोनों भी] उपचार से [कारिका कहे जाते हैं] ।।११।।

१ [illegible]

अथ परीक्षात्मक निरुक्त लक्षयति श्लोकद्वयेन नानेत्यादिना—

भरत०—नानानामाश्रयोत्पन्नं निघण्टुनिगमान्वितम् ।
धात्वर्थहेतुसंयुक्त नानासिद्धान्तसाधितम् ॥१२॥

निरुक्तका लक्षण—

इस प्रकार 'उद्देश' तथा 'लक्षण' का विवेचन करनेके वाद अब परीक्षा या 'निरुक्त' की विवेचना अगले दो श्लोकोंमें करते हैं। इनमेंसे प्रथम श्लोकमें चार विशेषणों द्वारा उसकी विशेषताका या स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए 'स्वरूप लक्षण' किया गया है। और वृत्तिकारने अर्थ करते समय द्वितीय श्लोकमें निरुक्त अथवा परीक्षाका 'तटस्थ-लक्षण' किया गया है। पहिले द्वितीय श्लोक का भावार्थ देकर उसके वाद प्रथम श्लोककी प्रतिपद-व्याख्या की है। द्वितीय श्लोकमें दो जगह 'अर्थ' पदका प्रयोग हुआ है उससे कुछ कठिनता-सी उपस्थित हो जाती है। इसलिए उसकी व्याख्या विशेष रूपसे करनी होगी। वृत्तिकारने 'अर्थसूचक' में आए हुए 'अर्थ' शब्दको लक्षणीय अर्थका और 'स्थापितोऽर्थ' में आए हुए 'अर्थ' शब्दको लक्षणका वाचक माना है। लक्षणका समन्वय अनेक व्यक्तियोंमें होता है इसलिए व्यक्तिभेदसे भिन्न लक्षणीय अर्थका सूचक यह 'अर्थसूचक' में आए हुए द्वितीय 'अर्थ' शब्दका वाच्य है। जो लक्षणात्मक अर्थ अर्थात् लक्षण स्थापित होता है यह प्रथम स्थान पर 'स्थापितोऽर्थ' प्रयुक्त 'अर्थ' पदका वाच्य होता है। यह लक्षण रूप अर्थ जहाँ स्थापित किया जाय इसका अभिप्राय यह है पूर्वोत्तर पक्ष रूप जिस कथामें खण्डन-मण्डन या आक्षेप-प्रतिसमाधानके वाद सिद्धान्त रूपसे लक्षणकी स्थापना की जाती है वह कथा या विचार 'परीक्षा' या 'निरुक्त' कहलाता है। यह 'निरुक्त' का लक्षण हुआ। वह आक्षेप-प्रतिसमाधान आदि कैसे होते हैं इस वातका प्रतिपादन प्रथम श्लोकके विशेषणों द्वारा किया गया है।

अभिनव०—[संग्रह तथा कारिका अर्थात् उद्देश एद लक्षणके वाद] 'नाना-नामाश्रयोत्पन्न' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा परीक्षात्मक निरुक्तका लक्षण करते हैं—

भरत० —[यह निरुक्त या परीक्षा कैसे प्रवृत्त होती है यह कहते हैं] १ अनेक प्रकारके जो नाम [अर्थात् प्रातिपदिक अथवा सुवन्त पद] उनके आश्रयसे उत्पन्न [अर्थात् इस लक्षणमे अमुक पदका प्रयोग क्यों किया गया है इस प्रकार पदकृत्य की विवेचना पूर्वक परीक्षाकी प्रवृत्ति होती यह है वात प्रथम विशेषण द्वारा सूचित की]। २ [इन नाम पदोंमे भी कोई रूढि पद तथा कोई यौगिक पद होते हैं। परीक्षा मे उनके इन रूढ तथा यौगिक अर्थोंका विवेचन किया जाता हैं इस वातको दूसरे विशेषण द्वारा वतलाते हैं] रूढि [निघण्टु] तथा यौगिक [निगम अर्थोंकी विवेचना] से युक्त [इस प्रकार पहिले विशेषण द्वारा लक्षणमे आए हुए पदोंके पदकृत्यकी आवश्यकताका तथा द्वितीय विशेषण द्वारा उसमे आए हुए पदोंके रूढ तथा योगिक अर्थोंकी विवेचनाको सूचित किया गया है।] ३ [लक्षणमे कहीं-कहीं क्रिया तथा कारक आदिके विवेचनकी भी आवश्यकता होती है। इसका प्रतिपादन अगले विशेषण द्वारा करते हैं] क्रिया [धात्वर्थ तथा उस क्रियाके हेतु रूप] कारक [की विवेचना] से युक्त। [इस प्रकार इन तीन विशेषणों द्वारा लक्षणकी शब्द परीक्षाका प्रदर्शन कराया गया। अगले चौथे विशेषण द्वारा उसकी अर्थ परीक्षाकी ओर संकेत करते हैं]। नाना प्रकार के [पूर्वपक्ष तथा उत्तर पक्षके वादियों द्वारा स्वीकृत सर्वतन्त्र या प्रतितन्त्र आदि रूप] सिद्धान्तोंसे साधित [लक्षणकी आक्षेप प्रतिसमाधान पूर्वक परीक्षाको निरुक्त कहते हैं]।१२।

१ अ नाटघन्तु।

भरत०—'स्थापितोऽर्थो भवेद्यत्र समासेनार्थसूचकः' ।
धात्वर्थवचनेनेह निरुक्तं तत्प्रचक्षते ॥१३॥

समासेन संक्षेपेणानेकव्यक्तिभेदभिन्नस्यार्थस्य लक्षणीयस्य च सूचकोऽर्थो लक्षणात्मकः स यत्राक्षेपप्रतिसमाधानलक्षणे वस्तुनि सति स्थापितो भवति तत्परीक्षारूपं निरुक्तम् । न चैवं परिभाषा, किन्त्वर्थमात्रम् । एतन्निर्भज्याक्षेपप्रतिसमाधानाभ्यां लक्षणस्य वचनमिति । एतदाह धात्वर्थवचनेनेति ।

कथं तल्लक्षणं स्थाप्यते, इत्याशङ्क्य क्रियाविशेषणाभिधानद्वारेणाक्षेपप्रतिसमाधानप्रकारं दर्शयति 'नानेत्यादिना' । नानाप्रकाराणि यानि 'नामानि' लक्षणवाक्येऽर्थप्रतिपादकाः सुबन्ताः शब्दास्तानाश्रित्य 'उत्पन्नः' उत्पादः आक्षेपप्रतिसमाधानयोर्यत्र । ननु नामपदेषु कथमाक्षेपप्रतिसमाधाने ? आह, निघण्टनाभिधानकोशेन रूढिषु, अन्येषु प्रकृतिप्रत्ययविभागनिगमनया 'अन्वितं' अन्वयो यत्रोत्पादे ।

भरत०—संक्षेप रूपसे अर्थका सूचक [लक्षण रूप] अर्थ जिस [आक्षेप प्रतिसमाधानात्मक कथा] में धात्वर्थके निर्वचन द्वारा स्थापित किया जाता है उसको 'निरुक्त' कहते हैं ।१३।

अभिनव०—समास अर्थात् संक्षेपसे अनेक व्यक्तियों [लक्ष्यार्थों] के भेदसे भिन्न लक्षणीय अर्थका सूचक जो लक्षण रूप अर्थ, वह आक्षेप-प्रतिसमाधान [खण्डन-मण्डन] रूप जिस वस्तुके होनेपर स्थापित किया जाता है वह परीक्षा रूप 'निरुक्त' [कहलाता] है । इस प्रकार यह [व्याकरण शास्त्रमें गुण-वृद्धि आदिके समान निरुक्त की] परिभाषा नहीं है अपितु [आक्षेप-प्रतिसमाधानाभ्यां लक्षणस्य निर्भज्य लक्षणस्य वचनं निरुक्तं इस निर्वचन के अनुसार निरुक्त पदका] अर्थमात्र है । पूर्वोत्तर पक्ष [आक्षेप-प्रतिसमाधानादि] के द्वारा अलग करके लक्षणका कथन करना ही निरुक्त है । यह बात [श्लोकके तृतीय चरण] 'धात्वर्थवचनेन' इत्यादिसे [निर्वचन द्वारा] कहते हैं । [यह १३वीं कारिकाकी व्याख्या हुई] ।

अभिनव०—[निरुक्त अथवा परीक्षा द्वारा] उस लक्षणकी स्थापना कैसे की जाती है ऐसी शङ्का करके [कारिकाकार] 'नाना' इत्यादि [१२वें श्लोकमें दिए हुए] क्रिया-विशेषणोंके कथन द्वारा आक्षेप-प्रतिसमाधानके प्रकारको दिखलाते हैं । नाना प्रकारके जो नाम अर्थात् लक्षणवाक्यमें [आए हुए] अर्थके प्रतिपादक सुबन्त शब्द, उनके आश्रयसे 'उत्पन्न' अर्थात् आक्षेप प्रतिसमाधानकी 'उत्पत्ति' जिसमें होती है वह [निरुक्त है] । [प्रश्न] अच्छा तो नाम पदोंमें आक्षेप—प्रति समाधान आदि कैसे होता है [यह प्रश्न है इसका उत्तर] कहते हैं—निघण्टु अर्थात् शब्दकोशमें रूढ़ [शब्दों] में, और अन्य [यौगिक अथवा योगरूढ़] शब्दोंमें प्रकृति-प्रत्ययके विभाग रूप निगमनसे युक्त 'अन्वित' अर्थात् अन्वय जिस उत्पादमें होता है [वह निरुक्त है]

---

१ निर्भज्येन । स० ग० स्वार्थस्य । २ म० सूचको ।

यानि च लक्षणवाक्ये तिडन्तानि पदानि तेषु प्रकारमाह—'धात्वर्थस्य' क्रियाया 'हेतूना' च क्रिया-निमित्ताना कारकाणा 'सयोजन' विचारो यत्र स्थापने। इयता लक्षण-वाक्ये[1] पूर्व शब्दपरीक्षा दर्शिता। अय शब्द कथमत्रार्थे वर्तते इत्याक्षेप, इत्थमिति च प्रतिसमाधानम्। एतत् प्रदर्शितवस्तुप्राणितमेव[2]।

अर्थपरीक्षामपि दर्शयति—नानाप्रकारै सर्वतन्त्र-प्रतितन्त्रादिभि सिद्धान्तै प्रमाण-मूलैरर्थै 'साधित' आक्षेपोत्तरयो साधना यत्र स्थापने। एव परीक्षाऽनेन दर्शिता। तन्त्रादिन्यायास्तु तदङ्गम्।

अभिनव०—और लक्षण-वाक्यमे जो तिडन्त पद होते हैं उनमे [आक्षेप-प्रतिसमाधानके] प्रकारको कहते हैं—धात्वर्थ अर्थात् क्रिया और क्रियाके निमित्तभूत कारकोका संयोग या विचार जिस स्थापनामें किया जाय [वह निरुक्त अथवा परीक्षा कहलाती है]। यहाँ तक [दो क्रिया-विशेषणोके द्वारा] लक्षण वाक्यमे पहिले शब्दपरीक्षा [की जाती है यह बात] दिखलाई। [उस शब्द-परीक्षामे इस बातकी विवेचना की जाती है कि] यह शब्द इस [विशेष] अर्थमे कैसे आया है यह आक्षेप [का स्वरूप] हुआ। इस प्रकार [यह शब्द इस अर्थमे प्रयुक्त किया गया है] यह प्रतिसमाधान हुआ। यह [आक्षेप और समाधान] प्रदर्शित वस्तु [अर्थात् लक्षण] का प्राण [स्वरूप] ही है।

इस प्रकार लक्षण-वाक्योमें आए हुए पदोकी शाब्द परीक्षाका निरूपण कर चुकनेके बाद लक्षण वाक्यकी अर्थविपयक परीक्षाका वर्णन अन्तिम विशेषण द्वारा करते हैं—

अभिनव—[अन्तिम क्रियाविशेषण द्वारा लक्षण वाक्यकी] अर्थ परीक्षाको भी दिखलाते हैं। नाना प्रकारके 'सर्वतन्त्र' 'प्रतितन्त्र' आदि सिद्धान्तो अर्थात् प्रमाणमूलक अर्थोकेद्वारा 'साधित' अर्थात् [सिद्धान्तकी] स्थापनामे आक्षेप-प्रतिसमाधानकी साधना जिसमे की जाय [वह परीक्षा कहलाती है। उसीको यहा 'निरुक्त' पदसे कहा गया गया है]। इस प्रकार इस [श्लोक] के द्वारा परीक्षाका प्रतिपादन किया गया। तन्त्रादि न्याय उस [परीक्षा] के अङ्ग हैं।

'नानासिद्धान्तसाधितम्' इस क्रिया-विशेषणमें आए हुए सिद्धान्त पदकी व्याख्या करते हुए वृत्तिकारने सर्वतन्त्रादि सिद्धान्तोका उल्लेख किया है। और अन्तमें 'तन्त्रादिन्यायास्तु तदङ्गम्' कह कर फिर उन तन्त्रादि सिद्धान्तोकी ओर सकेत किया है। इसलिए इनको समझ लेना आवश्यक है। 'इद इत्थभूत च इत्यभ्यनुज्ञायमानोऽर्थ सिद्धान्त'। यह बात ऐसी है इस रूपमें स्वीकार किए जाने वाला अर्थ 'सिद्धान्त' कहलाता है। उस 'सिद्धान्त' के न्यायदर्शनमें चार भेद किए गए हैं। १ सर्वतन्त्र-सिद्धान्त, २ प्रतितन्त्र सिद्धान्त, ३ अधिकरण-सिद्धान्त, ४ अभ्युपगम-सिद्धान्त। 'तन्त्र' शब्दका अर्थ 'शास्त्र' है। जो सिद्धान्त सब शास्त्रोमे सामान्य रूपसे माना जाय उसको 'सर्वतन्त्र-सिद्धान्त' कहते हैं। जैसे चक्षु आदि इन्द्रिया हैं। वे रूपादि विपयोको ग्रहण करती हैं इत्यादि बातें सब ही शास्त्रोमें समान रूपमे मानी जाती हैं इसलिए उनको 'सर्वतन्त्र-सिद्धान्त' कहते हैं।

---

१. भ वाक्येन। २ प्रणीतमेव।

निरुक्तमपि[1] चतुर्धा नाम्ना वा ऊर्ध्वं खमस्योलूखलम् । धातुना वा रस्यत इति रसः द्वाभ्यां वा पिशितमश्नातीति पिशाचः । समयेन च ।

'प्रतितन्त्र सिद्धान्त' का अर्थ है अलग-अलग शास्त्रोंके सिद्धान्त । जो सिद्धान्त भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें विशेष रूपसे माने जाते हैं सब शास्त्रोंमें नहीं, वे प्रतितन्त्र-सिद्धान्त कहलाते हैं । जैसे सांख्यशास्त्रमें 'सत्कार्यवाद' सिद्धान्तका वर्णन पाया है । उसका अभिप्राय यह है कि जो वस्तु है उसका कभी नाश नहीं होता और जो वस्तु नहीं है उसकी कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' यही 'सत्कार्यवाद' का सिद्धान्त है । न्यायादि दर्शन इसको नहीं मानते हैं । उनके मतमें उत्पन्न होने वाले पदार्थका नाश अवश्य होता है । और उत्पत्तिके पूर्व घटादि पदार्थ विद्यमान नहीं होते हैं । इसलिए असत् घटादिकी उत्पत्ति भी होती है । अत एव सत्कार्यवाद-सिद्धान्त सर्वमान्य न होनेसे 'प्रतितन्त्र-सिद्धान्त' कहा जाता है । तीसरा 'अधिकरण-सिद्धान्त' है । 'अधिकरण' का अर्थ आधार है । जो सिद्धान्त अन्य अनेक सिद्धान्तोंका आधारभूत सिद्धान्त हो, अर्थात् जिस एक सिद्धान्तके मान लेनेपर अन्य अनेक बातें स्वयं सिद्ध हो जायें उसको 'अधिकरण-सिद्धान्त' कहते हैं । जैसे यदि यह मान लिया जाय कि इस संसारका बनाने वाला कोई है तो उसके सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता नित्यता विभुत्व आदि गुण स्वयं सिद्ध हो जाते हैं । इसलिए यह 'अधिकरण-सिद्धान्त' कहलाता है । चौथा 'अभ्युपगम-सिद्धान्त है । 'अभ्युपगम' का अर्थ स्वीकार करना' है । जो सिद्धान्त वस्तुतः अभिमत न होने पर भी किसी कारणवश कोई समयके लिए स्वीकार कर लिया जाय उसको 'अभ्युपगम सिद्धान्त' कहते हैं । अभिमत न होनेपर भी कभी-कभी १ उस सिद्धान्तकी विशेष परीक्षाकेलिए अथवा २ अपने पाण्डित्यके प्रकाशनके लिए कुछ समयके लिए उसे स्वीकार कर लिया जाता है । उस अवस्थामें उसको 'अभ्युपगम-सिद्धान्त' कहते हैं ।

कारिकामें उत्पन्न, अन्वित, संयुक्त तथा साधित ये चार क्तप्रत्ययान्त पद आए हैं । इन चारोंमें वृत्तिकारने भूतार्थमें क्त-प्रत्यय न मान कर भावमें क्त-प्रत्यय माना है । इसीलिए 'उत्पन्न' की व्याख्या 'उत्पाद,' 'अन्वित' की व्याख्या 'अन्वयः,' 'संयुक्त' की व्याख्या 'संयोग' तथा 'साधितम्' की व्याख्या 'साधन' की है ।

अभिनव०—निरुक्त भी चार प्रकारका होता है । [यहां निरुक्त पद परीक्षा का वाचक नहीं अपितु निर्वचनका बोधक है । शब्दोंका निर्वचन चार प्रकारका होता है यह दिखलानेमें यहां ग्रन्थकारका तात्पर्य है] । १ प्रातिपादिक [नाम] के द्वारा [निर्वचन जैसे ओखलीके वाचक 'उलूखल' पदका निर्वचन] 'ऊर्ध्वं ख मस्य इति उलूखलम्' जिसके ऊपर आकाश है वह [उलूखल शब्दका निर्वचन 'ऊर्ध्वं' तथा 'खं' इन नाम पदोंके आधार पर किया गया है] । अथवा २ धातु द्वारा [भी निर्वचन किया जाता है । जैसे] 'रस्यते इति रस' जिसका आस्वाद किया जाय वह 'रस' है [यह निर्वचन 'रस्यते' इस क्रिया या 'रस धातुके द्वारा किया जाता है] । ३ अथवा [नाम तथा धातु] दोनोंके द्वारा [भी शब्दोंका निर्वचन किया जाता है । जैसे] पिशितं अश्नातीति पिशाचः' पिशित अर्थात् कच्चे मांसको जो खाता है वह 'पिशाच' है [यह निर्वचन 'पिशित' इस नाम तथा 'अश्नाति' इस क्रिया दोनोंके द्वारा किया जाता है] । अथवा ४ सङ्केत [समय] के द्वारा [भी चौथे प्रकारका निर्वचन होता है] ।

---

१ चतुर्धा ।

सोऽपि त्रिधा । लौकिको यथा भू सत्तायाम् । वैदिको यथा दीधीङ् दीप्ति-देवनयो, वेवीङ् वेतिना तुल्ये । प्रतिशास्त्र-पार्षद, यथा गान्धर्ववेदे गीतकविशेषे ओवेणकादिशब्द । तदेतदुक्त नानेत्यादिना । निरुक्तस्य तु प्रयोजन सक्षेपेणार्थावधारणम् । तदुक्त स्थापित इति ॥१२-१३॥

अथोद्दिष्टाना विभाग सूचयति सग्रहो यो मयेति—

भरत०—संग्रहो यो मया प्रोक्तः समासेन द्विजोत्तमाः ।
विस्तरं तस्य वक्ष्यामि सनिरुक्तं सकारिकम् ॥१४॥

तस्येति सग्रहस्य । सग्रह एव विस्तारितो विभाग इत्यर्थ । किं तदुक्तावेव सर्वं सम्पन्नम् ? नेत्याह 'सनिरुक्त' परीक्षापर्यन्तमित्यर्थ । अन्तवचनेऽव्ययीभाव । न चालक्षितस्य परीक्षेत्याह 'सकारिकम्' । कारिकासम्पदोपेत, सम्पत्तौ समास ॥१४॥

अभिनव०—और वह [सकेत] भी तीन प्रकारका होता है । १ लौकिक [सकेत] जैसे 'भू सत्तायाम्' [यह लौकिक सकेत का उदाहरण है] । २ वैदिक [सकेत] जैसे 'दीधीङ्' धातु दीप्ति तथा [देवन] पासोसे खेलनेके अर्थमे प्रयुक्त होता है । इसी प्रकार वेवीङ धातु वीगतौ धातुके समान [गत्यर्थमे] है । दीधीङ् आदि पाच धातु वेदमे ही प्रयुक्त होते है इसलिए यह वैदिक सकेतका उदाहरण है । ३ प्रत्येक शास्त्रके [पार्षद अर्थात् शाखा या] अङ्ग रूपमे परिभाषित सकेत जैसे गान्धर्व वेदमे गीतविशेषके अर्थमे 'ओवेणक' आदि शब्द । यही बात 'नानानामाश्रयोत्पन्न' इत्यादि [श्लोक] से कही है । निरुक्त का प्रयोजन सारहूप सक्षेपसे अर्थका निर्णय करना है । इसीलिए निरुक्त लक्षणमे 'स्थापित' यह कहा है ॥१३-१४॥

अभिनव०—अब सग्रहो यो इत्यादि से उद्दिष्टोके विभागको कहते है—

भरत०—हे द्विजवरो मैंने सक्षेपसे [कथन रूप] जो सग्रह' [उद्देश] कहा है उसीके विस्तार [विभाग] को लक्षण [कारिका] तथा परीक्षा [निरुक्त] सहित करू गा । १४ ।

अभिनव०—उसका अर्थात् उद्देश [सग्रह] का । अर्थात् उद्देशका ही विस्तार कर देना विभाग कहलाता है । [प्रश्न—] क्या उस विस्तार या विभागके कथनसेही सब कुछ कार्य होजायगा । [उत्तर—] नहीं । [केवल विभागके कथन कर देनेसे कार्य पूरा नही हो सकता है] इसीलिए [कारिकाकार] कहते हैं—'सनिरुक्त' अर्थात् परीक्षा सहित [कथन करेंगे । अर्थात्] परीक्षा पर्यन्त [उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा तीनोका कथन करेंगे] यह अभिप्राय है । 'सनिरुक्त' पदमे 'अव्यय विभक्ति समीपसमृद्धि' इत्यादि सूत्रसे 'अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते इति साग्नि अधीते' इत्यादिके समान 'निरुक्तपर्यन्त इति सनिरुक्तम्' इस प्रकार] अन्त [अर्थके] वचनमे 'अव्ययीभावसमास' है । और बिना लक्षणके परीक्षा नही हो सकती है इसलिए 'सकारिकम्' कहा है । कारिका अर्थात् लक्षण की सम्पत्तिसे युक्त [विस्तारको कहूगा] । यह समास 'सम्पत्ति' अर्थमे है । [अत 'सकारिक' का अर्थ 'कारिकासम्पदोपेतम्' होता है] ॥ १४ ॥

तत्र विभागं तावदाह 'शृङ्गार-हास्य' इत्यादिना 'नाट्यसंग्रह' [६-३१] इत्यन्तेन—

भरत०—शृङ्गार-हास्य-करुण-[1]रौद्र-वीर-भयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ[2] चेत्यष्टौ नाट्ये[3] रसाः स्मृताः ॥१५॥

तत्र नाट्यं नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानसनिश्चलनाध्यवसेयः समस्तनाटकान्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयोऽर्थः । स च यद्यप्यनन्तविभावाद्यात्मा तथापि सर्वेषां जडानां संविदि, तस्याश्च भोक्तरि, भोक्तृवर्गस्य च प्रधाने भोक्तरि पर्यवसानात्, नायकाभिधानभोक्तृविशेषस्थायिचित्तवृत्तिस्वभावः ।

ऊपर उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा या संग्रह, कारिका और निरुक्त रूप त्रिविध शास्त्र प्रवृत्तिका वर्णन किया गया था । इनके अतिरिक्त इस शास्त्र प्रवृत्तिका एक अन्य विभाग और होता है । ग्रन्थकारने उसको अलग न मानकर उद्देशके भीतर ही उसका अन्तर्भाव कर लिया है । 'संग्रह एव विस्तारितो विभागः' संग्रह या उद्देशका ही विस्तार कर देनेसे 'विभाग' बन जाता है । यह भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त दोनोंका मत है । न्याय शास्त्रके वार्तिककार उद्योतकराचार्य तथा 'न्यायमञ्जरी' के निर्माता जयन्त भट्टने भी इसी प्रकार विभागका अन्तर्भाव 'उद्देश' के भीतर ही किया है । उन्होंने लिखा है—

त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरित्युक्तम् । उद्दिष्टविभागश्च न त्रिविधायां शास्त्रप्रवृत्तावन्तर्भवति । तस्मादुद्दिष्टविभागो युक्तः । न, उद्दिष्टविभागस्य उद्देश एवान्तर्भावात् । कस्मात् ? लक्षणसामान्यात् । [न्यायवार्तिक १, १-३ । तथा न्यायमञ्जरी पृ० १२ ।]

अभिनव०—उसमें सबसे पहिले 'शृङ्गार-हास्य' इत्यादि [१५वें श्लोक] से लेकर 'नाट्यसंग्रह' [६-३१] यहां तक विभागका कथन करते हैं—

भरत०—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत नामक आठ रस नाट्यमें माने जाते हैं । १५ ।

अभिनव०—नटके द्वारा किए जाने वाले [नटगत] अभिनयके प्रभावसे प्रत्यक्ष-सा दिखलाई देने वाला [साक्षात्कारायमाण], एकाग्र मनकी निश्चलतासे ग्राह्य अनुभव होने वाला, समस्त नाटकों और किसी-किसी काव्य विशेषसे [भी] प्रकाशित होने वाला अर्थ नाट्य [कहलाता] है । वह यद्यपि [भिन्न-भिन्न प्रकारके नायक-नायिका आदि आलम्बन तथा उद्दीपन विभावोंके अपरिमेय होनेके कारण] अनन्त विभावादि रूप है तथापि समस्त अचेतन विभावोंके ज्ञानमें [पर्यवसित होनेसे] और उस [ज्ञान] का भोक्ता [आलम्बन विभाव रूप किसी पात्र विशेष] में [पर्यवसान होने से] और [इस प्रकारके अनेक] भोक्ताओंका प्रधान भोक्ता [अर्थात् नायक] में पर्यवसान होनेके कारण नायक कहलाने वाले भोक्ता विशेषके [रत्यादि रूप] स्थायिभावात्मक चित्तवृत्ति स्वरूप [अर्थ नाट्य] होता है ।

---

१ ग घ म वीर रौद्र । २ द ध त अद्भुतसंज्ञौ । च बीभत्साद्भुत शान्तश्च नव नाट्यरसाः स्मृताः । ३. म त नाट्यरसाः ।

सा चैकचितवृत्ति स्वकीय-परकीयमिति[1] प्रतीयमानानन्तचित्तवृत्यन्तरशतविशेषितालौकिकगीतगेयपदादिलास्याङ्गदशकोपजीवनस्वीकृतलक्षणगुणालकारगीतातोद्यादिसम्यक्सुन्दरीभूत-काव्यमहिमप्रयोगमालाभ्यासविशेषाश्रयत्वात् **स्वपरभावात्** प्रच्याविता, अतएव साधारणीभूततया सामाजिकानपि स्वात्मसद्भावेन समावेशयन्ती, तादात्म्यादेव च अनुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिकारणकतटस्थप्रमातृप्रमेयपरकीयलौकिकचित्तवृत्तिविलक्षणतया निर्भासमाना, परिमितस्वात्मा[2]श्रयतानिर्भासनाविरहाच्च लौकिकप्रमदादिजनितनिजरतिशोकादिवत्[3] चित्तवृत्यन्तरजननाक्षमा अत एव निर्विघ्नस्वसवेदनात्मक[4]विश्रान्तिलक्षणेन रसनापरपर्यायेण व्यापारेण गृह्यमाणत्वाद् रसशब्देनाभिधीयते ।

तेन रस एव नाट्यम् । यस्य व्युत्पत्ति फलमित्युच्यते । तथा च 'रसाद् ऋते' [६-३१ वृत्तिभागे] इत्यत्रैकवचनोपपत्ति ।

अभिनव०–और वह [प्रधान चित्त वृत्तिरूप नायककी] एक चित्तवृत्ति, लौकिक गीतोके [नाटक या काव्यमे आए हुए] गेय पदादि, लास्य [नृत्य विशेष] आदिके दश अगो से युक्त और स्वीकृत लक्षण वाले, गुण, अलकार गीत वाद्य आदिके सयोग द्वारा अत्यन्त सौन्दर्यको प्राप्त, काव्यके महिमा तथा नटके द्वाराकी जाने वाली प्रयोग-परम्परा एव अभ्यास विशेषके प्रभावसे, [ये विभाव आदि मेरे है या दूसरेके हैं इस प्रकारके] स्वकीय परकीय भावसे रहित हो जाती है, इसलिए साधारणीकरण हो जानेसे [नायक की अपनी चित्तवृत्ति] सामाजिकोको भी अपनी सत्ताके भीतर समाविष्ट करती हुई, और नायक तथा सामाजिककी चित्तवृत्तिके तादात्म्य [अभेद-साधारणीकरण] होनेके कारण ही अनुमान तथा आगम [रूप परोक्षात्मक] एव [इन्द्रियसयोगादि रूप साधनोकी अपेक्षा न रखने वाले अर्थात् इन्द्रियसन्निकर्षादि के बिना ही उत्पन्न हो जाने वाले] योगि-प्रत्यक्षसे उत्पन्न [करणक] तटस्थ [उदासीन, रसादि का अनुभव न करने वाले] प्रमाता एव प्रमेयसे विलक्षण तथा परकीय लौकिक चित्तवृत्तिसे भिन्न रूपसे प्रतीत होने वाली, [नायक-विशेषके] अपने परिमित स्वरूपके आश्रयसे प्रतीत न होनेके कारण, लौकिक प्रमादादिसे उत्पन्न अपनी रति और शोकके [वर्णनके] समान [लज्जा-नाशादिरूप रसविरोधिनी] अन्य चित्तवृत्तिके उत्पादनमे अक्षम होनेसेही निर्विघ्न अनुभूतिकी विश्रान्ति रूप आस्वादन नामसे कहे जाने वाले व्यापारके द्वारा गृहीत होनेके कारण [रस्यते इति रस इस व्युत्पत्तिके अनुसार] 'रस' शब्दसे कही जाती है ।

अभिनव०—इसलिए रसका ही नाम नाट्य है । जिस [रस] की अनुभूति ही [नाट्यका] फल कहलाती है । अत एव 'रसादृते' रससे भिन्न [६-३३ की मूल गद्यात्मक व्याख्यामे दिए हुए] इस 'रसात्' [पद] मे एकवचनकी सगति लगती है ।

---

१ परमिति । २ स्वात्मान्याश्रयता । ३ पङ्ज (तञ्ज) हानादि । ४ हर्ष ।

ततश्च मुख्यभूतात् महारसात् स्फोटवद्[1]शीव 'असत्यानि वा, अन्विताभिधान-सदृशीवोपायात्मकानि सत्यानि वा, अभिहितान्वयवद्[2]शीव' तत्समुदायरूपाणि वा रसान्तराणि भागाभिनिवेशदृष्टानि दृश्यन्ते । एतद्वक्ष्यते 'काव्यार्थान् भावयन्ति' इति । तेन प्रथमं रसाः । ते च नव । शान्तापलापिनस्त्वष्टाविति तत्र पठन्ति ।

अभिनवभारतीका यह अनुच्छेद कठिन एवं ध्यान देने योग्य है। इसमें ग्रन्थकारने नाट्यको रसस्वरूप ही कहा है। और रसानुभूतिका स्वरूप प्रदर्शित किया है। नाटकादिमें जो रसानुभूति होती है उसकी विशेष प्रक्रिया दिखलाते हुए सबसे पहिले ग्रन्थकारने 'साधारणीकरण' का निर्देश किया है। साधारणीकरणका अभिप्राय नाटकके विभावादिमें स्वकीय परकीय भावना का विलोप है। काव्यके महिमा एवं नटके अभिनयके प्रभावसे विभावादिमें स्वकीय परकीय की भावनाका विलोप हो जाता है। इसीको 'साधारणीकरण' कहते हैं। यदि यह साधारणीकरण का अलौकिक व्यापार न हो तो दूसरेकी रतिको देखने और अपनी रतिके प्रदर्शन दोनोंमें ही लज्जादि-जनक होनेसे रसानुभूति नहीं हो सकती है। इसलिए रसानुभूतिकी प्रक्रियामें ग्रन्थकारने सबसे पहिले 'साधारणीकरण' की प्रक्रियाका प्रतिपादन किया है।

दूसरी बात उन्होंने यह कही है कि रसानुभूति अनुमान, आगम तथा योगिप्रत्यक्ष आदि से विलक्षण होती है। इसका कारण यह है कि रसकी अनुभूति साक्षात्कारात्मक होती है। अनुमान तथा आगमसे होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष या साक्षात्कारात्मक न होकर परोक्ष होता है। इसलिए साक्षात्कारात्मक या अपरोक्ष रसानुभूति, परोक्ष अनुमान तथा शब्द प्रमाणसे उत्पन्न ज्ञानसे भिन्न प्रकारकी होती है। इसके साथ ही वह साक्षात्कारात्मक अथवा अपरोक्ष ज्ञान रूप योगिप्रत्यक्ष से भी भिन्न होती है। क्योंकि योगि-प्रत्यक्ष साक्षात्कारात्मक होनेपर भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि की अपेक्षा नहीं रखता है। परन्तु रसानुभूतिके लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आदिकी आवश्यकता होती है। इसलिए ग्रन्थकारने रसानुभूतिको अनुमान, आगम तथा योगि-प्रत्यक्ष सबसे विलक्षण माना है।

तीसरी बात जो उन्होंने इस अनुच्छेदमें कही है वह यह है कि नाटकमें अनेक विभावादि या पात्रादिके व्यापारोंसे एक ही रसकी निष्पत्ति होती है। अर्थात् नाटकका एक प्रधान रस होता है वह समस्त पात्रोंके व्यापारसे निष्पन्न होता है। उसके साथ अन्य रसोंकी स्थिति गौणरूपसे होती है। इस बातका समर्थन करनेके लिए ग्रन्थकारने इसके अनुच्छेदमें तीन उदाहरण दिए हैं।

अभिनव०—इसलिए मुख्यभूत महारससे, (१) स्फोटके समान असत्य रूप [अन्य रस] अथवा (२) अन्विताभिधानके समान उपायात्मक सत्य रूप [अन्य रस], अथवा (३) अभिहितान्वयके समान वह [प्रधान रस] जिनका समुदाय रूप है इस प्रकारके अन्य रस [प्रधान रसके] अंश रूपमें स्थितसे दिखलाई देते, और वर्णन किए जाते हैं। इसीलिए आगे [रस] काव्यके अर्थोंको भावित करते हैं ['काव्यार्थान् भावयन्ति'] यह कहा जायगा। इसलिए [काव्यार्थ भावनामें प्रधान होनेके कारण] सबसे पहिले रसोंको कहा गया है। और वे रस नौ होते हैं। परन्तु नाटकमें शान्तरसको न मानने वाले तो [बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्यरसाः स्मृताः' के स्थान पर 'बीभत्साद्भुत संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' इस रूप में] 'अष्टौ' ऐसा पाठ मानते हैं।

---

१ स्फोटवशीव । २. इवीव । ३ इवेव । ४ रूढरसे ।

स्फोटवाद सिद्धान्तमें जैसे पदस्फोठमें वर्णोंकी, एव वाक्यस्फोटमें पदोकी असत्य स्थिति होती है इसी प्रकार नाटकके प्रधान रसमें अन्य रसोकी असत्य स्थिति होती है। यह बात 'स्फोट-सदृशीव असत्यानि' इस अशसे ग्रन्थकारने सूचित की है।

'स्फोटवाद' वैयाकरणोका सिद्धान्त है। साधारणतः अनेक वर्णोंके योगसे पदोकी तथा अनेक पदोके योगसे वाक्यकी रचना मानी जाती है। परन्तु स्फोटवादमें न पदोमें वर्णोंकी पृथक् सत्ता मानी जाती है और न वाक्यमें अलग-अलग पदोंकी स्वतन्त्र सत्ता मानी जाती है।

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्त प्रविवेको न कश्चन ॥

इस सिद्धान्तके अनुसार वर्ण, पद तथा वाक्य सब अखण्ड हैं। वाक्योमें पदो तथा पदो मे वर्णोंकी स्वतन्त्र सत्ता नही है। अखण्ड वाक्य तथा अखण्ड पदकोही 'वाक्यस्फोट' तथा 'पदस्फोट' कहते हैं। ये 'स्फोट' ही अर्थके बोधक होते हैं इसीलिए 'स्फुटति अर्थो यस्मात् इति स्फोट.' इस व्युत्पत्तिके अनुसार उनको 'स्फोट' कहा जाता है। यदि 'स्फोट' को न मानकर अलग-अलग पदो तथा वर्णोंको माना जाय और उनके सयोगसे पदो अथवा वाक्यकी रचना मानी जाय तो ध्वन्यात्मक वर्णोंके तत्काल तिरोहित हो जानेके कारण उनके समुदाय रूप पदो तथा वाक्योकी रचना सम्भव ही न होगी। तब उनसे अर्थ प्रतीतिका भी सम्भव नही होगा। इसलिए वैयाकरण पद विभाग रहित 'वाक्यस्फोट' तथा वर्णविभाग रहित 'पदस्फोट' को ही अर्थ-बोधक मानते हैं। और इस स्फोटात्मक शब्दको नित्य मानते हैं। नैयायिक शब्दको अनित्य मानते हैं। और स्फोटवाद को भी नही मानते हैं फिर भी वर्ण समुदायात्मक पद, तथा पदसमुदायात्मक वाक्यकी प्रतीतिके उपपादनके लिए वे पूर्ववर्णानुभवजनितसस्कारसहकृत चरमवर्णके श्रवणसे सदसद् अनेक वर्णाव-गाहिनी पदप्रतीतिको मानते हैं। इसी प्रकार वाक्यस्फोटके स्थान पर वे पूर्वपदानुभवजनितसस्कार-सहकृत अन्त्यपदश्रवणसे सदसद् अनेक पदावगाहिनी वाक्यप्रतीति को मानते हैं। परन्तु वैयाकरण इनके स्थानपर नित्य पदस्फोट तथा वाक्यस्फोट मानते हैं।

ग्रन्थकारने यहाँ नाट्यरसका निरूपण करते हुए स्फोटका उदाहरण दिया है। उसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार स्फोटवादके अनुसार वाक्य अथवा पद रूप एक अखण्ड व्यक्तिकी प्रतीति होती है उसमें अवयवोकी प्रतीति असत्य कल्पनामात्र है इसी प्रकार नाटकका रस, एक प्रधान रस ही होता है उसमें अन्य गौण रसोकी स्थिति स्फोटके अवयवोकी स्थितिके समान असत्य ही मानी जा सकती है।

इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए ग्रन्थकारने अभिहिता-वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद का भी उल्लेख किया है। ये दोनो सिद्धान्त मीमासकोंके दो आचार्योंने माने हैं। अभिहिता-वयवाद के प्रतिपादक कुमारिलभट्ट तथा अन्विताभिधानवादके प्रवर्तक उनके शिष्य प्रभाकर मिश्र हैं। वाक्यसे अर्थ बोधकी प्रक्रियाके विषयमें मतभेद होनेके कारण ये दोनो सिद्धान्त प्रसिद्ध हुए हैं। साधारणत पदोंसे, पहिले उनके अर्थोंकी उपस्थिति होती है उसके बाद उन पदार्थोंका परस्पर अन्वय या सम्बन्ध होकर पदार्थ ससर्ग रूप वाक्यार्थकी प्रतीति होती है। इसको 'अभिहितान्व-यवाद' कहते हैं। पहिले पदो के द्वारा पदार्थोंके अभिहित होने और उसके बाद उनके अन्वित होने के कारण इसका नाम 'अभिहितान्वयवाद' रखा गया है। और वह कुमारिलभट्टका मत माना जाता है।

इसके विपरीत दूसरा सिद्धान्त 'अन्विताभिधानवाद' कहलाता है। 'अन्विताभिधानवाद' का अभिप्राय यह है कि वाक्यार्थ बोधमें पदोंका अभिहित होनेके बाद अन्वय नहीं होता, अपितु पदोंके द्वारा अन्वित अर्थ ही अभिहित होता है। इसीलिए इसको 'अन्विताभिधानवाद' कहते हैं। अन्विताभिधान माननेका कारण यह है कि व्यवहारमें पदोंकी शक्तिका ग्रहण जब होता है तब व्यवहार तो केवल-पदार्थका नहीं होता है अपितु किसी अन्यके साथ अन्वित या सम्बद्ध अर्थका ही व्यवहार होता है। इसलिए संकेतग्रह कालमें अन्वितमेंही संकेतका ग्रहण होनेसे अन्वित अर्थका ही अभिधान, पदके द्वारा होता है। इसलिए उनका बादमें अन्वय माननेकी आवश्यकता नहीं है। यही 'अन्विताभिधानवाद' है। इसके प्रवर्तक कुमारिल भट्टके शिष्य प्रभाकर हैं।

प्रकृतमें इन दोनों वादोंकी चर्चाका यह अभिप्राय है कि अन्विताभिधानवादमें पदार्थ यद्यपि सत्य है वाक्यार्थबोधके समय उनकी अलग-अलग प्रतीति भी होती है। परन्तु वह उपायभूत ही है वास्तवमें तो अन्वित पदार्थ ही प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार नाटकके मुख्य रसके साथ अन्य रसोंकी स्थिति 'अन्विताभिधानवाद' के उपायात्मक सत्यके रूपमें मानी जा सकती है। अथवा 'अभिहितान्वयवाद'में पदार्थोंका बोध पहिले होकर उनके समुदाय रूपसे वाक्यार्थका बोध होता है। इसी प्रकार नाटकमें अन्य सब रस, पदार्थोंके समान गौण होते हैं और प्रधान रसका बोध कराते हैं। प्रधान रस उन सबके समुदाय रूपमें होता है।

इस अनुच्छेद में जो 'तत्समुदायरूपाणि' पद 'रसान्तराणि' के विशेषण रूपमें प्रयुक्त हुआ है उसका सीधा अर्थ यह प्रतीत होता है कि उनके समुदाय रूप रसान्तर। परन्तु यह अर्थ संगत नहीं होता है क्योंकि अन्य रस उस मुख्य रसके समुदाय रूप नहीं हैं। इसलिए 'स समुदायरूपो येषां तानि तत्समुदायरूपाणि' वह मुख्य रस जिनका समुदाय रूप है वे अन्य रस 'तत्समुदायरूपाणि रसान्तराणि' हुए इस प्रकारका समास करना चाहिए।

रसोंका उद्देश करने वाली इस कारिकामें 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' नाटकमें आठ रस माने जाते हैं यह कहा है। काव्यमें इन आठ रसोंके अतिरिक्त शान्तरस भी माना जाता है। उसको मिला कर नौ रस हो जाते हैं। परन्तु नाटकमें 'शम' की पुष्टि न हो सकनेके कारण उसका रस नहीं माना जाता है इसलिए आठ ही रस माने जाते हैं। भरतमुनिने यद्यपि यहाँ आठ रसोंका निर्देश किया है। परन्तु उसके साथ 'नाट्ये' पद जोड़ कर यह भी सूचित किया है कि नाटकके अतिरिक्त अन्य काव्योंमें शान्त रस भी हो सकता है। नाटकमें शान्त रस नहीं हो सकता है। इसका उपपादन करते हुए दशरूपककारने लिखा है कि—

शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः॥

अर्थात् यद्यपि कुछ लोग शमको स्थायी भी स्थायिभावोंमें कहते हैं परन्तु नाटकमें उसकी पुष्टि नहीं हो सकती है। बल्कि उसकी परिपोषकता वैरस्यका कारण ही होता है। इसलिए नाटकमें आठ ही रस मानने चाहिए। दशरूपकके टीकाकार धनिकने इस विषयपर विस्तारपूर्वक विचार किया है। उन्होंने शान्तरसके विरुद्ध अनेक तर्कोंके साथ विचार कर अन्तमें उसका इस प्रकार खण्डन किया है—

[illegible]

त्र कामस्य सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति 'हृद्यतेति पूर्वं शृङ्गार । तदनुगामी च हास्य । निरपेक्षभावत्वात् तद्विपरीतस्तत करुण । ततस्तन्निमित्त रौद्र । स[2] चार्थप्रधान । तत कामार्थयोर्धर्ममूलत्वाद्वीर । स हि धर्मप्रधान । तस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात् तदनन्तर भयानक । तद्विभावसाधारण्यसम्भावनात् ततो बीभत्स इति[3]। वीरस्य पर्यन्तेऽद्भुत । यद्वीरेणाक्षिप्त फलमित्यनन्तर तदुपादानम् । तथा च वक्ष्यते 'पर्यन्ते कर्तव्यो नित्य रसोऽद्भुत' इति [ना० १८-४३] ।

ततस्त्रिवर्गात्मकप्रवृत्तिधर्मविपरीत-निवृत्तिधर्मात्मको मोक्षफल शान्त । तत्र स्वात्मावेशेन रसचर्वणेत्युक्तम् ॥१५॥

इस कारिकामें रसोका उद्देश्य एक विशेष क्रमसे किया है। इसी विशेष क्रमसे इनके नामोका निर्देश क्यो किया गया है इसका उपपादन मनोवैज्ञानिक आधार पर बडे सुन्दर रूपमें वृत्तिकार अगले अनुच्छेदमें निम्न प्रकारसे करते हैं।

अभिनव०--उनमें रति [काम] के सब जातियो [प्राणियो] मे सुलभ होनेसे और सबके अत्यन्त परिचित होनेसे सबके प्रति आल्हादक होनेके कारण सबसे पहिले शृङ्गार [रस] कहा गया है। उस [शृङ्गार] का अनुगामी हास्य होता है [इसलिए शृङ्गारके बाद हास्य रसका उल्लेख किया गया है]। निरपेक्ष [नैराश्यमय] भाव होनेके कारण उस [हास्य] से विपरीत करुण [रस] उसके बाद कहा गया है। उसके बाद उस [करुण रस] का निमित्तभूत रौद्र [रस रखा गया] है। और वह [रौद्र रस] अर्थप्रधान होता है। [इस प्रकार काम तथा अर्थप्रधान रसोका उल्लेख किया गया है] उसके बाद काम तथा अर्थ दोनोके धर्ममूलक होनेसे [धर्मप्रधान] वीर रस [रखा गया] है। क्योकि वह धर्मप्रधान होता है। और उस [वीर रस] का प्रयोजन [सार] भयभीतोका अभय प्रदान करना है इसलिए उस [वीररस] के बाद भयानक [रस] का निर्देश किया गया है। उन [भयानक तथा बीभत्स रसो] के विभाव समान हो सकते हैं इसलिए उसके बाद बीभत्स रसका उल्लेख किया गया है। वीरके बाद अद्भुत आया है। क्योकि [अद्भुत रस या उसका स्थायिभाव विस्मय] वीर रससे आक्षिप्त, [वीर रसका] फल होता है इसलिए उसका ग्रहण बादको किया गया है। जैसा कि आगे कहेगे कि [नाटकोके] अन्तमे नियत रूपसे अद्भुत रसही रखना चाहिए।

अभिनव०—इनके बाद [धर्म अर्थ और कामरूप] त्रिवर्गके साधनभूत प्रवृत्ति रूप धर्मके विपरीत निवृत्ति धर्म रूप मोक्ष जिसका फल है वह शान्त रस आता है। उस [शान्त रस] मे आत्मनिष्ठ हो जानेसे [आत्माके स्वरूपभूत] रसका आस्वाद होता है॥ १५॥

---

१ हत्येति। २ चार्यप्रधान। ३. ततो बीभत्स इति यद्वीरेणाक्षिप्तम्।

रतिह्ासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥१६-१७॥

...लौकिकरत्यादिचित्तवृत्तेः ... तद्विषयविशिष्टविभावाद्या-
...स्थायिन उद्दिष्टाः ।
...स्य स्थायी 'विस्मयशमौ' इति केचित् पठन्ति । उत्साह एवास्य
...प्सेति केचित् । सर्वं इत्येके । तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायी ।
...पजीवित्वख्यापनायामङ्गलभूतोऽप्यसौ पूर्वं निर्दिष्टो व्यभिचारिषु ।
...त्या नोक्तेत्यपरे । अत एव स्थायिन एते तु व्यभिचारिणोऽपि
...ते वितनिष्याम. ॥ १७ ॥

...लोक—इसके बाद पूर्व संस्करणों में निम्नाङ्कित श्लोक अधिक पाया जाता है ।
...गुप्तने कोई विवृति नहीं लिखी है । अतः हमने उसको प्रक्षिप्त मान कर
...ीं दिया है । किन्तु श्लोकोंकी संख्याको पूर्व संस्करणोंके साथ मिलानेके लिए
...-१७ दोनों संख्याएं डाल दी हैं । प्रक्षिप्त श्लोकका पाठ निम्न प्रकार है ।

एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना ।
पुनश्च भावान् वक्ष्यामि स्थायि-सञ्चारि-सत्त्वजान् ॥१६॥

...थ [क-स्थायिभाव]—
...—और वह [रस] विभावादिके द्वारा [अनुभूत] होता है इसलिए
...वोंका कथन करना चाहिए । [अतः उनका कथन करते हैं]—
...-रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह तथा भय एवं जुगुप्सा और विस्मय स्थायी
...-१७।
...—उनमें लौकिक रत्यादि रूप चित्तवृत्तिके परिचयके बिना कवि अथवा
...] के साथ सम्बद्ध विभावादिको उपस्थित करनेमें समर्थ नहीं हो
... [भावोंमें सबसे पहिले] स्थायिभावोंका निर्देश किया गया है ।
...—उन [स्थायिभावों] में कुछ लोग '[विस्मयश्चेति' के स्थान पर]
... पाठ मान कर [शमको] शान्त रसका स्थायिभाव कहते हैं । दूसरे
... इस [शान्तरस] का स्थायिभाव मानते हैं । कोई जुगुप्साको
...यिभाव] बतलाते हैं । और कुछ लोग सबको [शान्तरसका स्थायी
...न्तु वास्तवमें तो] तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न वैराग्य [निर्वेद] ही इस
...थायिभाव है । इसीलिए [निर्वेदमें] स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभाव
...हैं [अर्थात् निर्वेद शान्त रसका स्थायिभाव होता है और अन्य रसोंमें
...ता है] इस बातके द्योतन करनेके लिए ही अमङ्गल रूप होनेपर

...निय । २ द ... । ३ ...

भरत०—[1]निर्वेद-ग्लानि-शङ्काख्यास्तथासूया मदः श्रमः ।
आलस्यं चैव दैन्य च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः[2] ॥१८॥
व्रीडा चपलता[3] हर्ष आवेगो जडता[4] तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्य निद्रापस्मार एव च ॥१९॥
सुप्त [5]विवोधोऽ[6]मर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा[7] मरणमेव च ॥ २० ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिशदमी भावा समाख्यातास्तु नामतः ॥ २१ ॥

व्यभिचारिण एते, एत एव च व्यभिचारिण, इत्युभयतो नियमार्थ सख्योपादानम् ॥ १८-२१ ॥

व्यभिचारित्वाभिनयत्वोपजीवका इति तदनन्तर सात्त्विका—

भी व्यभिचारी भावो [की गणना कराने वाली अगली कारिकाओ] मे इस [निर्वेद] का सबसे पहिले पाठ किया गया है । [और इसी लिए] स्थायिभावोकी सख्याका निर्देश नहीं किया गया है । यह अन्य लोग मानते हैं । इसीलिए ये स्थायिभाव [अन्य रसोमे] व्यभिचारिभाव भी हो जाते है । इसका विस्तारपूर्वक निरूपण हम आगे करेंगे ॥१६-१७॥

ख व्यभिचारिभाव—

भरत०—१ निर्वेद [वैराग्य], २ ग्लानि, ३ शका, ४ असूया, ५ मद, ६ श्रम, ७ आलस्य, ८ दैन्य, ९ चिन्ता, १० मोह, ११ स्मृति, १२ धृति । १८ ।

भरत०—१३ लज्जा, १४ चपलता, १५ हर्ष, १६ आवेग, १७ जडता । १८ गर्व, १९ विषाद, २० औत्सुक्य, २१ निद्रा, २२ अपस्मार । १९ ।

भरत०—२३ स्वप्न, २४ विवोध, २५ अमर्ष, २६ आकारगोपन [अवहित्था], २७ उग्रता, २८ मति, २९ व्याधि, ३० उन्माद, ३१ मरण । २० ।

भरत०—३२ त्रास, और ३३ वितर्क ये तेंतीस नामसे गिनाए गए व्यभिचारिभाव समझने चाहिए । २१ ।

अभिनव०—ये [३३] व्यभिचारी [भाव] है और ये ही [३३] व्यभिचारी [भाव] हे इस प्रकार दोनो ओर नियम करनेके लिए ['त्रयस्त्रिशदमी भावा' आदि रूप मे] सख्याका ग्रहण किया गया है ॥ १८-२१ ॥

ग सात्त्विकभाव—

अभिनव०—और [सात्त्विक भावोके] व्यभिचारित्व तथा अभिनयोपजीवित्व दोनो धर्मो से युक्त होनेसे व्यभिचारिभावोके बाद सात्त्विकभावोको कहते है—

---

१ ज निर्वेदोऽथ तथा ग्लानिशङ्कासूया । २ म मोहमतिस्मृती । ३ क चपलता चैव । ४. व धृति । ५ न त सुप्तिर्विवोधो । ६ ड म प्रवोधो हर्षश्चाप्यवहित्थ । ७ ड भ रथो । ८ अरतिर्व्याधिरुन्माद ।

भरत०—स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥ २२ ॥

सात्त्विका व्यभिचारित्वमभिनयत्वं चोपजीवन्तीति पृथगभिनयादिभ्यो गणिताः ॥ २२ ॥

भरत०—आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा ।
चत्वारो ह्यभिनया ह्येते विज्ञेया नाट्यसंश्रयाः[1] ॥ २३ ॥

'चत्वार' इति आहार्यस्यापि धनुःप्रतिशीर्षकमुकुटादेः फलवत्प्रयोगेऽन्तरङ्गत्वं सूचयति । 'नाट्यसंश्रया' इति—लोके तु कदाचिन्न भवन्त्यपि, गृहीतत्वात्, नाट्ये तु त एव[2] जीवितम् । अत एव रसभावानन्तरमभिनया उद्दिष्टाः ॥२३॥

अभिनयाश्च लौकिकं धर्मं, तन्मूलमेव तदुपयोगिनं सामयिकं चानुसरन्तीत्यभिनयानन्तरं धर्मी—

भरत०—लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मीति द्विविधः स्मृतः ।

भरत०—१ स्तम्भ, २ स्वेद, ३ रोमाञ्च ४ स्वरभङ्ग, ५ कम्पन, ६ विवर्णता, ७ आँसू आना, और ८ मूर्छा [प्रलय] ये आठ सात्त्विकभाव कहलाते हैं । २२ ॥

अभिनव०—सात्त्विक [भाव] व्यभिचारी भावोंके धर्म तथा अभिनयके धर्म दोनोंके युक्त होते हैं इसलिए अभिनय आदिसे अलग गिनाए गए हैं ॥ २२ ॥

तृतीय नाट्याङ्ग अभिनय—

भरत०—१ आङ्गिक, २ वाचिक, ३ आहार्य [अर्थात् वेषभूषादिरूप] और ४ सात्त्विक [अर्थात् मानसिक व्यापाररूप] नाट्यमें स्थित ये चार प्रकारके अभिनय माने जाते हैं । २३ ।

अभिनव०—[कारिकामें आया हुआ] चार यह [पद] धनुष, पगड़ी [प्रतिशीर्षक] और मुकुट आदि [वेषभूषा रूप आहार्य अभिनय] की भी साक्षात्कार बुद्धिके उपयोगमें अन्तरंगता [विशेष उपयोगिता] को सूचित करता है । 'नाट्यसंश्रया' इस [पद] का यह अभिप्राय है कि लोकमें तो परिचित होनेसे [उपयोगी] न भी हों किन्तु नाट्यमें तो ये ही [आहार्य वेषभूषादि] नाट्यका प्राणस्वरूप हैं । इसीलिए रस तथा भाव [के कथन करने] के बाद अभिनयोंका कथन किया गया है ॥ २३ ॥

चतुर्थ नाट्याङ्ग धर्मी—

अभिनव०—अभिनय, लौकिक धर्म तथा तन्मूलक उसके उपयोगी सामयिक [धर्म] का अनुगमन करते हैं इसलिए उनके बाद धर्मी [का कथन करते] हैं—

भरत०—लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी इस प्रकार धर्मी दो प्रकारका माना गया है ।

[१०] कारिकामें [illegible] ये ६ [illegible] या । जिनमेंसे (१) रस (२) भाव, (३) अभिनय [illegible] हुए हैं । [illegible]

[illegible]

१ म [illegible] । [illegible]

भरत०—भारती सात्वती चैव [1]कैशिक्यारभटी तथा ।
चतस्रो वृत्तयो ह्येता [2]यासु नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।। २४ ।।

न चाभिनयोऽभिनेतव्यमन्तरेणास्तीति दशरूपकयोगद्वारेण च तदुपकारिण्यो वृत्तय । द्वे तिस्र पच वेति निराकरणाय चतस्र इत्युक्तम् ।। २४ ।।

भरत०—आवन्ती दाक्षिणात्या च तथा[3] चैवोड्रमागधी ।
[4]पांचाली मध्यमा [5]चेति [6]विज्ञेयास्तु प्रवृत्तयः ।। २५ ।।

ता अपि देशवशाद् भूयसा भवन्तीति तदवन्तर प्रवृत्तय ।। २५ ।।

कभी स्त्री पात्र (अभिनेत्री) पुरुषका रूप धारण करके भी अभिनय करते हैं। इस प्रकार का अभिनय नाट्यमें ही पाया जाता है इसलिए उसे 'नाट्यधर्मी' अभिनय कहा जाता है। इसके विपरीत जहाँ पुरुष, स्त्रीका, अथवा स्त्री, पुरुषका रूप धारण न करके अपने यथावस्थित रूपमे अभिनय करते है उसको 'लोकधर्मी' अभिनय कहा जाता है। १२वें अध्यायमें लोकधर्मी तथा नाट्य-धर्मीका भेद निम्न प्रकार दिखलाया गया है।

धर्मी या द्विविधा प्रोक्ता मया पूर्वं द्विजोत्तमा ।
लौकिकी नाट्यधर्मी च तयोर्वक्ष्यामि लक्षणम् ।।७०।।
स्वभावाभिनयोपेत नानास्त्रीपुरुषाश्रयम् ।
यदीदृश भवेन्नाट्य लोकधर्मी तु सा स्मृता ।।७२।।
अतिवाक्यक्रियोपेतमतिसत्त्वातिभाविकम् ।
लीलाङ्गहाराभिनयनाट्यलक्षणलक्षितम् ।।७३।।
स्वरालङ्कारसयुक्तमस्वस्थपुरुषाश्रयम् ।
यदीदृश भवेन्नाट्य नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ।।७४।।

पञ्चम नाट्याङ्ग वृत्ति—

भरत०—भारती, सात्त्वती और कौसिकी तथा आरभटी ये चार प्रकारकी वृत्तिया होती हैं जिनपर कि नाट्य आश्रित है। २४।

अभिनव०—अभिनय, अभिनेतव्य के विना सम्भाव नही है इसलिए और दश-प्रकारके रूपकोसे सम्बन्धके कारण उनकी उपकारक वृत्तियाँ [कही] है। दो, तीन या पाच [सख्या] के निराकरणकेलिए चार यह [सख्या] कही है ।।२४।।

षष्ठ नाट्याङ्ग प्रवृत्ति—

भरत०—१ आवन्ती, २ दाक्षिणात्या, ३ औड्रमागधी, ४ पाचाली तथा ५ मध्यमा ये [पाच प्रकारकी] प्रवृत्तिया समझनी चाहिए। २५।

अभिनव०—और वे [वृत्तिया] भी अधिकाशमे देशके आधारपर होती हैं इसलिए उन [वृत्तियो] के बाद प्रवृत्तियाँ कही गई है। ।। २५ ।।

---

१ ड त. वृत्तिरारभटी तथा। २ ड त ह्येता कैशिक्या सह कीर्तिता । अ विज्ञेया नाट्यसश्रया । ३ प व चैवार्ध। चैवान्ध्र। ४. पाचालमध्यमा। ५ चैव। ६. प ज्ञेया नाट्यप्रवृत्तय ।

भरत०—दैविकी मानुषी चैव सिद्धिः स्याद् द्विविधैव तु ॥ २६ ॥

सर्वमेतत् सिद्धिपर्यवसानमिति ततो द्विविधा सिद्धि । २६ ।

भरत०—¹शारीराश्चैव वैणाश्च सप्त षड्जादयः स्वराः ।

[निषादर्षभगान्धारमध्यपंचमधैवता ।]

स्वरा. पाठ्यगानसगृहीता अपि पृथगुपात्ता । केवलानामपि प्रयोगोपरजकत्व यल्लक्ष्ये दृश्यते, यत्र अन्तरालाप इति प्रसिद्धिस्तदभ्युपगमार्थम् ।

भरत०—ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च ॥ २७ ॥

चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ।

लक्षणान्वितमिति-अन्यत्तु मल्लकपटफलक-ज्वालामुख-पक्षवाद्यादि लौकिक नैतत्संगृहीत वाध्यत्वादित्यर्थ । एतच्चान्ते वक्ष्यते²। यदपि चतुर्विध न सर्वमिद वहुलचर्मकारादिवाद्यमपि च वक्ष्यमाणलक्षणान्वितम् । आतुद्यतेऽभिहन्यत इत्यर्थ ।२८।

सप्तम नाट्याङ्ग सिद्धि—

भरत०—देविकी और मानुषी सिद्धि दो प्रकारकी ही होती है । २६ ।

अभिनव०—और यह सब [अभिनय] सिद्धिमे समाप्त होते हैं इसलिए उनके वाद दो प्रकारकी सिद्धियां कही हैं ॥ २६ ॥

अष्टम नाट्याङ्ग स्वर—

भरत०—[शरीरसे उच्चारण किए जाने वाले] शारीर, तथा [वासुरी आदि वाद्योंमे निकलने वाले] वैणस्वर, षड्जादि सात प्रकारके होते हैं [जिनके नाम निम्न प्रकार हैं । १ नियाद, २ ऋषभ, ३ गाधार, ४ मध्यम, ५ धैवत, ६ पंचम, ७ धैवत] ।

अभिनव०—पाट्य तथा गानमें ही स्वरोंका अन्तर्भाव हो जाने पर भी [उनके विशेष महत्त्वके कारण] उनका पृथक ग्रहण किया गया है । [पाठ्य अथवा गानसे रहित] केवल स्वरोंमे भी नाट्यका सौन्दर्य देखा जाता है जो अन्तरालाप नाम से प्रसिद्ध है उसके गहण करनेके लिए स्वरोंका पृथक ग्रहण किया गया है ।

नवम नाट्याङ्ग आतोद्य—

भरत०—[वीणा सितार आदिके समान फैले हुए] तत, [मृदग ढोलक आदिके समान मढे जाने वाले] अवनद्ध, [घण्टा घडियाल आदिके समान ठोस] घन, तथा [बांसुरी आदिके समान छिद्रयुक्त] सुषिर, लक्षणोंसे युक्त [उत्तम श्रेणीके] चार प्रकारके वाद्य [आतोद्य] माने जाते हैं ।२८।

अभिनव०—लक्षणान्वित [उत्तम श्रेणीके] इस विशेषणसे मल्लकपट फलक ज्वालामुख और पक्षवाद्य [संजरी] आदि लौकिक वाद्योंका वाधित होनेसे इनमे अन्तर्भाव नहीं होता है । यह वात आगे कहेंगे । और ये चार प्रकारके वाद्यही सारे वाद्य नहीं हैं । चर्मकार आदिके अनेक वाद्यभी आगे कहे जाने वाले लक्षणोंसे अन्वित होनेसे वाद्य कहलाते हैं । [हाथ आदि अथवा वायु आदिके द्वारा] ताडित किए जानेसे [आतुद्यते अभिहन्यते इति आतोद्यं इस व्युत्पत्तिके अनुसार] आतोद्य [वाद्य] कहलाता है ॥ २८ ॥

---

१ शारीरा वैणाश्चैव ।　　२ लक्षते ।

भरत०--ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयमवनद्धं तु पौष्करम् ॥ २८ ॥
घनस्तु तालो विज्ञेयः सुषिरो वंश एव च ।

पुष्करशब्दश्रवणादागत, पुष्करावर्तकदेवताधिष्ठित, पद्मपत्राकार, चर्मपुटभाष चेति पौष्करम् । हन्यते कलासाम्यार्थमिति घन । अत एव तालैकप्रमाणत्वात् स्वरवर्ण-सम्भवात् ताल इत्युक्त कास्यतालादि । एवकार काहलादिव्युदासाय ।

भरत०--प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम्[2] ॥२९॥
गान पंचविधं ज्ञेयं ध्रुवायोगसमन्वितम्[3] ।

पात्रस्य प्रवेशे भावप्रकृत्यवस्थादिसूचक यद् गीयते तत् प्रवेशगानम् । प्रविष्टस्या-न्तर्गता चित्तवृत्ति सामाजिकान् प्रति प्रसादयितु प्रथयितु [4]प्रसादगानम् । रसान्तराक्षेपार्थ आक्षेपगानम् । अन्तरमिति गतिपरिक्रमणनिरूपणादिरवसर, तत्र यद् गीयते तदान्तर गानम् । पात्रस्य निष्क्रमणे तु निष्क्रामगानम् । प्रवेशादय उपचाराद् गाने ।

भरत०—तन्त्रीगत [वीणा सितार आदि वाद्य] को 'तत' [इस नामसे] और अवनद्ध अर्थात् [मढ़े हुए मृदग आदि] को पौष्कर, [मजीरा आदि काले आदिके बने] तालको घन [ठोस] तथा वांसके [बासुरी आदि छिद्र युक्त बाजोको] 'सुषिर' समझना चाहिए ।२९।

अभिनव०—पुष्कर [अर्थात् मेघविशेष] के शब्दको सुन कर [उसके शब्दा-नुकरणके रूपमे] बनाया गया है इसलिए, और पुष्करावर्तक [मेघविशेषके] देवतासे अधिष्ठित होनेवाला, कमलपत्रके समान आकार वाला, एवं चर्मके मढावसे शब्द करने वाला [मृदग आदि वाद्य] पौष्कर [वाद्य कहलाता] है। तालकी समानता लानेके लिए पीटा [बजाया] जाता है। इसीलिए कासेके बने हुए [घण्टा घडियाल] ताल आदि, तालमे अनुपम प्रमाण होनेसे और स्वर वर्णोके उत्पादक होनेसे ताल इस नामसे कहे जाते हैं। ['सुषिरो वश एव च' मे आया हुआ] एवकार [पद] काहल [वाद्यविशेष] आदिके वारणकेलिए है [कि वे सुषिर वाद्योमे न गिनेजावें] ॥ २९ ॥

दशम नाट्याङ्ग गान—

भरत०—ध्रुवा [टेक] से युक्त गान १ प्रवेशक, २ आक्षेपक, ३ निष्क्रामक, ४ प्रासादिक तथा ५ आन्तर इस प्रकारसे पाच तरह का गान होता है ।३०।

अभिनव०—पात्रके प्रवेश करते समय उसके भाव प्रकृति तथा अवस्था आदि का सूचक जो [गान] गाया जाता है वह प्रवेशक [गान] कहलाता है। प्रविष्ट हुए [पात्र] की अन्तर्गत चित्तवृत्तिको सामाजिकोके प्रति प्रसन्न अर्थात् प्रकट करनेके लिए जो [गान] गाया जाता है वह प्रसाद-गान होता है। प्रकृत [चल रहे] रससे भिन्न [अन्य] हास्यादि रसका आक्षेप करानेवाला गान आक्षेपगान कहलाता है। अन्तर अर्थात् बीचके गति या घूमने आदिके अवसर, उनपर जो गाया जाता है वह आन्तरगान [कहलाता] है। पात्रके मचसे निकलते समय गाया जानेवाला [गान] निष्कामगान [कहलाता] है। प्रवेश आदि [शब्द] उपचारसे गानमे प्रयुक्त है।

---

१ ग वृतम । २ ज ग अथापरम् । ३ ग समुद्भवम् । ४ ग प्रासाद ।

प्रसादोऽस्य प्रयोजन प्रासादिकम्। अन्ये तु समासान्मत्वर्थीय ठक कृत्वा प्रासादिकमिति। ध्रुवा गीत्याधारो नियत पदसमूह। तत्र योगेन युज्यमानतया समन्वित तदर्थप्राधान्येन नियतरूपत्वादिति गानस्य गान्धर्वाद् भेद सूचित ।३०।

भरत०—चतुरस्रो विकृष्टश्च रंगस्त्र्यश्रश्च कीर्तितः[1] ॥३०॥

कक्ष्याविभागेन गत्युपकारेण सर्वाभिनयानुभावोपकारी गानातोद्योपकारी च मण्डप। यथोक्तम्—'यश्चाप्यास्यगतो भाव' [२-२०] इति। तथा 'गम्भीरस्वरता येन कुतुपस्य' इत्यादि [२-८२]। रगेणैव च कक्ष्याविभाग सगृहीत इति नानुद्दिष्ट कक्ष्याया [२४-३०] ॥ ३० ॥

एतदुपसहरति एवमित्यादिना—

अभिनव०—[सामाजिकोंके प्रति पात्रकी चित्तवृत्तिको प्रकट करना रूप] प्रसाद जिसका प्रयोजन है वह प्रासादिक [गान] कहलाता है। [यह प्रासादिक पदका निर्वचन है]। दूसरे [व्याख्याता] समाससे मत्वर्थ से ठक्-प्रत्यय करके [प्रासादिक इस प्रयोगको] बनाते हैं। ध्रुवा गीतके आधारभूत निश्चित पदसमूहको कहते हैं। उससे योग अर्थात् सम्बन्धसे युक्त होनेके कारण उसकी प्रधानतासे युक्त गानका [अन्य साधारण गान रूप गान्धर्व अर्थात्] संगीतसे भेद किया गया है। ३०।

ग्यारहवा नाट्याङ्ग रङ्ग —

इसी अध्यायकी दशम कारिकामें 'गानं रङ्गश्च सग्रह' आदिमे नाट्यके ११ अङ्गोंका सग्रह दिखलाया गया था। उसके बाद १५ श्लोकसे ३०वें श्लोकके पूर्वार्द्ध तक रस भाव आदि १० अङ्गों का वर्णन कर चुके। अब आगे ११वे अङ्ग 'रङ्ग' का वर्णन करते हैं—

भरत०—वर्गाकार [चतुरस्र], आयताकार [विकृष्ट], त्रिभुजाकार [त्र्यश्र यह तीन प्रकार का रग अर्थात] मण्डप कहा गया है।

अभिनव०—मण्डप [रंगशीर्ष, नेपथ्यगृह आदि रूपसे रगमञ्चके] श्रेणीविभागसे [रंगमञ्च पर पात्रोके गमनागमनके समय] गतिमे उपकारक, समस्त अभिनयोमे उपकारी, तथा गाने और बजाने आदिका उपकारक होता है। जैसा कि [द्वितीय अध्याय २-२० मे] कह चुके हैं—जो इस [वक्ता] के मुखमें लाया हुआ भाव है [वह भी बहुत बड़े मण्डपमे अस्पष्ट हो जायेगा] यह। और [नाट्यमण्डपको वायु रहित बनाना चाहिए] जिससे गायक वादक आदिके समूह [कुतुप. तफेदकगायनवादकसमूह] का स्वर [मण्डपमें गूजनेके कारण] गम्भीर हो जावेगा। इत्यादि [रगभूमिके रगशीर्ष नेपथ्यगृह आदि रूप] श्रेणीविभाग रगके भीतर ही आ जाते हैं इसलिए [२४-३० मे] कक्ष्या विभागका कथन नहीं किया है। [अर्थात् नाट्याङ्गोके अन्तर्गत ही मान लिया है] ॥ ३० ॥

अभिनव०—इसका ही उपसहार एवं इत्यादि [श्लोक] से करते हैं—

१　अ नाट्यसंग्रह हि सग्रह।

भरत०—एवमेषोऽल्पसूत्रार्थो निर्दिष्टो' नाट्यसंग्रह. ।
अत परं प्रवक्ष्यामि सूत्रग्रन्थविकल्पनम् ॥३१॥

एवमुद्देशविभागभेदेन द्विधा सग्रहमभिधाय लक्षणपरीक्षे वक्तु प्रतिजानीते 'अत परम्' इति । 'सूत्रग्रथविकल्पनम्' इति-सूत्र सूत्रक लक्षण वक्ष्यामि । तेनैव च कारिका सगृहीता । ग्रन्थो भाष्यम् । तत्कृत च विकल्पनमाक्षेपप्रतिसमाधानात्मकमिति परीक्षा निरुक्तशब्दवाच्या प्रतिज्ञाता । सूत्रविवरणस्वभावा तु कारिका सूत्रमपि प्रकाशयन्ती बहुतराक्षेपसमाधान-व्याकुल शिष्यजनं स्थितपक्षनिरूपणेनोपकरोतीति भाष्यस्य पश्चादस्या पाठ । ३१ ।

एव सूत्र भाष्य परीक्षा च प्रवक्ष्यामीति प्रतिज्ञाय रसविषयमेव सूत्रप्रभृति, प्रथम वक्तव्यमित्यत्र परिकरबन्ध घटयितुमाह तत्रेति—

भरत०—तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः ।

तत्र तेषा रसादीना मध्ये । एवकारोऽवधारणे । तावदिति क्रमे । अभित आदित सूत्रग्रन्थपरीक्षाक्रमेण विभज्याख्यास्याम ।

भरत ९—इस प्रकार [१५-३० श्लोक तक] सक्षिप्त लक्षण सहित नाट्य [के ११ अङ्गों] का उद्देश कर दिया । अब इस [नाट्याङ्गोके उद्देश] के बाद उनके [सूत्र अर्थात्] लक्षण तथा [ग्रन्थ अर्थात्] भाष्य द्वारा [विकल्पनम् अर्थात्] परीक्षाको कहूगा । ३१ ।

रस निरूपणकी अवतरणिका—

अभिनव०—इस प्रकार उद्देश तथा विभागके भेदसे [११ नाट्याङ्गोके] सग्रह [उद्देश] को दो रूपोमे कथन करके लक्षण तथा परीक्षाके कहनेकेलिए प्रतिज्ञा की है कि—इसके आगे [सूत्रग्रन्थविकल्पनं प्रवक्ष्यामि] । सूत्र सूचक या लक्षणको कहूँगा । उसी [सूत्र] से कारिकाका भी ग्रहण हो जाता है । 'ग्रन्थ' भाष्य है । उनके द्वारा होने वाला विकल्पन अर्थात् 'निरुक्त' नामसे कही जाने वाली आक्षेप-प्रतिसमाधान रूप 'परीक्षा' की प्रतिज्ञा की गई है । सूत्रका विवरण देने वाली कारिका तो सूत्र [के अर्थ] को भी प्रकाशित करती हुई विस्तृत आक्षेप तथा प्रतिसमाधान से घबराए हुए शिष्य जनोको [सक्षेपमे] सिद्धान्त पक्षका निरूपण करके लाभ पहुचाती है इस लिए भाष्यके बाद इस [कारिका] का पाठ आता है । ३१ ।

अभिनव०—इस प्रकार 'सूत्र, भाष्य एवं परीक्षाको कहुगा' इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करके [अब आगे] सबसे पहिले रस विषयक सूत्र भाष्य परीक्षा आदि कहना चाहिए इस विषयकी अवतरणिका बनानेकेलिए कहते हैं—

भरत०—उनमे सबसे पहिले रसोकी विशेष व्याख्या करेंगे ।

अभिनव०—उन रसादिके मध्यमेसे । एवकार अवधारण [अर्थ] मे है । और 'तावत्' यह [पद] क्रमका सूचक है । 'अभिव्याख्यास्याम' का अर्थ अभित सब ओरसे विभज्य अलग-अलग करके [आख्यास्याम] कहेगे ।

---

१ अ म व्यादिष्टो ।

भरत०—न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।

उद्देशक्रमस्यैव पर्यनुयोज्यतामाशक्यापर क्रमहेतुमाह 'न हि' इति । हि यस्मात्, रस विना विभावादिरर्थो बुद्धौ व्याख्येयतया न प्रवर्तते, यतश्च तं विनार्थं प्रयोजनं प्रीतिपुरस्सरं 'व्युत्पत्तिमयं न प्रवर्तते, यतश्च रस प्रत्याहृते रसनात्मकप्रतीत्येकघन-विश्रान्ते सामाजिकलोकेऽन्यो भावादिरर्थं प्रविभागेन बुद्धौ न वर्तते, सर्वस्य जडस्य चित्तवृत्त्यन्तोरोपकृतप्रधानस्थायिनामधेयचित्तवृत्तिमग्नत्वेन विभावानुभावादिवर्गस्याव-भासात् । अतो व्याख्यातृ-नट-सामाजिकाभिप्रायेण तस्यैव प्राधान्यमिति रस एव तावत् पूर्वमुद्दिष्ट इति, तस्यैव लक्षणादि कर्तव्यमिति तात्पर्यम् ।

पूर्वत्र वहुवचनमत्र चैकवचनं प्रयुञ्जानस्यायमाशय —

रसको प्रथम स्थान देनेके हेतु—

यद्यपि नाटचागोका जो उद्देश या नाममात्रेण कथन पहिले किया है उसी क्रमसे अब उनकी लक्षण परीक्षा आदि प्रारम्भ कर रहे हैं। फिर भी किसीके मनमें यह आशका हो सकती है कि उद्देशमे ही रसको सबसे पहिले क्यो रखा है। अत इसका समाधान करते हैं—

भरत०—क्योंकि रसके विना कोई अन्य [नाट्याग रूप] अर्थ प्रवृत्त नहीं हो सकता है [इसलिए रसको ही सबसे पहिले कहेंगे]।

अभिनव०—उद्देशके क्रम [मे जो रसको सबसे पहिले कहा उस] पर ही प्रश्न हो सकता है [कि यही रसको सबसे पहिले क्यो कहा है] उसी आशकाको अपने मनमे] करके [उसके निवारणकेलिए ग्रन्थकार] क्रम [रखने] का दूसरा हेतु 'न हि' इस पदसे बतलाते हैं। 'हि' का अर्थ 'यस्मात्' क्योकि यह है। (१) क्योकि रसके विना विभावादि अर्थ व्याख्येय रूपसे बुद्धिमे नहीं आ सकता है, (२) और क्योकि उस [रस] के विना आनन्द पूर्वक [कृत्योमे प्रवृत्ति तथा अकृत्यसे निवृत्तिके उपदेश या] ज्ञान रूप [नाटकका] प्रयोजन नहीं बन सकता है, और (३) क्योकि रसके प्रति आदर-बुद्धि रखने वाले एव केवल रसनात्मक प्रतीतिमें आनन्द अनुभव करने वाले [विश्रान्ते] सामाजिक वर्गमें रससे भिन्न भाव आदि रूप अन्य अर्थ स्पष्ट रूपसे समझमें नहीं आता है, [क्योकि विभाव अनुभाव आदि समुदाय रूप] समस्त अचेतन वर्गकी [विभावादिरूप] अन्य प्रतीतियो [चित्तवृत्तियो] से उपकृत स्थायी [स्थायिभाव] नाम वाली प्रधान चित्तवृत्तिके अन्तर्गत रूपसे ही [अचेतन] विभावादि वर्गकी प्रतीति होती है। [इसलिए रसके विना भावादिकी प्रतीति नहीं हो सकती है] इसलिए व्याख्याता नट तथा सामाजिक [सभी] की दृष्टिसे उस [रस] को ही [समस्त नाट्यागोमे] प्रधानता है इसलिए रस ही [उद्देश क्रममे] सबसे पहिले कहा गया है। इस लिए [सबसे पहिले] उसीके लक्षण आदि करने चाहिए यह अभिप्राय है।

अभिनव०—पहिले [१५वें श्लोकमें 'अष्टौ नाट्यरसा' में बहुवचन और यहाँ ['रसादृते' मे] एकवचनका प्रयोग करने वाले आचार्य [भरतमुनि] का यह आशय है कि—

---

१. भ त्ति. निमयम व्युत्पत्ति प्रवर्तते ।

एक एव तावत्परमार्थतो रस सूत्रस्थानीयत्वेन रूपके प्रतिभाति। तस्यैव पुनर्भागदृशा विभाग । सोऽपि न तदेकमुखप्रेक्षितामतिवर्तते। एतच्चोद्देश एवास्माभिरभिहितचर, अभिधास्यते चाग्रे।

एव कमहेतुमभिधाय रसविषय लक्षणसूत्रमाह—

भरत०—तत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'।

अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेव व्याचख्यु—विभावादिभि सयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्ति। तत्र विभावश्चित्तवृत्ते स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिता, तेषा रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्। अपि तु भावानामेव येऽनुभावा । व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविन स्थायिना, तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिता ।

अभिनव०—[सारे] नाटकमे सूत्र रूपसे व्याप्त वास्तवमे एक ही प्रधान रस प्रतीत होता है। फिर उसीके भागकी दृष्टिसे [अवान्तर रस रूप] विभाग होते हैं। और वह [अन्य रसोका विभाग] भी उस [प्रधान रस] का मुखापेक्षी [आश्रित] हुए विना नहीं रहता है। यह बात हम उद्देशके प्रसगमे पहिले ही कह चुके है। और आगे भी कहेगे।

अभिनव०—इस प्रकार [उद्देश्य मे] क्रम [रखने] के हेतुको वतला कर रस विषयक लक्षण सूत्रको कहते हैं—

भरत०—उनमे 'विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंके सयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है'।

१ भट्ट लोल्लटकी व्याख्या—

अभिनव०—भट्ट लोल्लट आदि [व्याख्याताओ] ने [इस सूत्रकी] इस प्रकार व्याख्या की है कि—विभावादिका जो सयोग अर्थात् स्थायिभावके साथ [विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोका सयोग] उससे रसकी निष्पत्ति [अर्थात् उत्पत्ति] होती है। उन [विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावो] मेसे विभाव स्थायिभाव रूप चित्तवृत्तिकी उत्पत्तिमे कारण होते हे। अनुभाव शब्दसे यहा रसजन्य [कटाक्षादि रूप] अनुभाव विवक्षित नही है क्योकि उन [रसजन्य अनुभावो] की गणना रसके कारणोमे नही की जा सकती हे [वे तो रसके कार्यभूत होते हैं]। अपितु [यहा रसके कारणभूत अनुभावोमे रत्यादि स्थायी] भावोके ही जो [पीछे उत्पन्न होनेके कारण] अनुभाव है [उनका ग्रहण विवक्षित है]। और [निर्वेद आदि] व्यभिचारिभाव चित्तवृत्ति स्वरूप होनेसे ['युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' इस नियमके अनुसार रति रूप तथा निर्वेदादि रूप दो प्रकारकी चित्तवृत्तिया एक समयमे नही हो सकती है इसलिए] यद्यपि स्थायिभावके साथ नही रह सकते हे किन्तु यहा उस [स्थायिभावक] के सस्काररूपसे विवक्षित हे। [इसलिए रस रूपसे स्थित रत्यादि स्थायिभावके साथ सस्कार रूपमे निर्वेदादि व्यभिचारिभाव रह सकते है]।

दृष्टान्तेऽपि व्यजनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्, अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रस। स्थायी त्वनुपचित। स चोभयोरपि। मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलादिति[1]।

चिरन्तनाना चायमेव पक्ष। तथा हि दण्डिना स्वालंकारलक्षणेऽभ्यधायि—

'रति शृङ्गारता गता रूपबाहुल्ययोगेन'। इति [काव्यादर्शे २-२८१]

अधिरुह्य परा कोटिं कोपो रौद्रात्मता गत। [काव्य० २-२८३]

इत्यादि च।

एतन्नेति शकुक।

अभिनव०—[रसके उपपादनके लिए आगे दिए जाने वाले व्यंजनादि रूप] दृष्टान्तमे भी व्यंजनादिके बीचमे किसी [रस] की स्थायिभावके समान अनुद्भूत [वासनात्मक] रूपमे स्थिति होती है, और दूसरेको व्यभिचारिभावके समान उद्भुत रूपमे। इस लिए 'विभाव अनुभाव आदिसे परिपुष्ट किया हुआ स्थायिभाव ही रस है'। और अपरिपुष्ट [स्थायिभाव रससे भिन्न] स्थायिभाव [कहलाता] है। [यह रस तथा स्थायिभावका भेद है]। वह [रस, अनुकार्य रामादि तथा अनुकर्ता नट] दोनो मे रहता है। मुख्य रूपसे [जिसका अनुकरण नट करता है उस] अनुकार्य रामादिमें रहता है। तथा रामादि रूपताकी प्रतीति होनेके कारण [गौण रूपसे] नटमे भी [रस की प्रतीति होती है। रस-सूत्रकी यह व्याख्या भट्टलोल्लट आदि करते हैं]।

२ भट्टलोल्लटके समान दण्डीका मत—

अभिनव०—और [दण्डी आदि] प्राचीन आचार्योंका [भी] यही सिद्धान्त है। इसलिए दण्डीने भी अपने [काव्यादर्श नामक] अलकार ग्रन्थमे [२-२८१] कहा है—

अभिनव०—रूप बाहुल्य [उपचय] के कारण रति [स्थायिभाव] शृंगार [रस] रूपताको प्राप्त हो जाती है। यह, और—

अभिनव०—अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त हुआ क्रोध [स्थायिभाव] रौद्र [रस] रूपताको प्राप्त होता है। [काव्यादर्श २-२८३]। इत्यादि।

शकुक द्वारा भट्ट लोल्लट तथा दण्डीके मतका खण्डन—

अभिनव०—यह [अर्थात् उपचित रत्यादि स्थायिभावको ही रस माननेका सिद्धान्त] ठीक नही है। यह शकुकका कहना है। [रत्यादिको ही रस माननेके विरोधमे शंकुकने ८ हेतु प्रस्तुत किए हैं]।

उपचित रत्यादि स्थायिभावोंको ही रस माननेवाले भट्टलोल्लट तथा दण्डी आदिके विरुद्ध शंकुकने आठ हेतु दिए हैं। इनका सार निम्न प्रकार किया जा सकता है कि—

१ रत्यादि स्थायिभावोंका साक्षात्कारात्मक ज्ञान तो विभावादिका संयोग होनेपर ही होता है। बिना विभावादिके स्थायिभावोंका साक्षात्कारात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है। और

---

१ अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलादिति।

विभावादिका योग होनेपर जो रत्यादिका साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है वह तो रस ही है। स्थायी भाव नही। अत रस तथा स्थायिभाव बिल्कुल भिन्न है। स्थायिभाव को ही रस नही कहा जा सकता है।

२. विभावादिके योगसे पहिले रत्यादिका जो ज्ञान होता है वह तो उनका केवल शब्द द्वारा परोक्षात्मक ज्ञान होता है उसको रस नही कहा जा सकता है। इसलिए विभावादिके योग मे पहिले जो स्थायिभावोकी स्थिति है उसको रस नही माना जा सकता है। क्योकि उसका ज्ञान शब्दके द्वारा परोक्ष ही हो सकता है। रसनात्मक साक्षात्कारात्मक नही। और विभावादिके योगके बाद जो रत्यादिकी साक्षात्कारात्मक अनुभूति होती है उसको स्थायिभाव नही कहा जा सकता है। इसलिए भी 'स्थायिभाव ही रस है' यह कहना ठीक नही है।

३ रत्यादिको ही रस रूप माननेमें शकुकने तीसरा दोष यह दिया है कि यदि विभावादि के योगके पहिले ही रसकी स्थिति मानी जाय तो फिर उसके अन्य लक्षण करनेकी आवश्यकता नही रहती। अर्थात् 'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति' यह जो लक्षण भरतमुनि ने किया है वह सब व्यर्थ हो जाता है। क्योकि विभावादिके योगके पहिले ही रसकी स्थिति विद्यमान है।

४ चौथा दोष यह है कि यदि रत्यादिको ही रस माना जाय तो कभी रत्यादि सामान्य या मन्द रूपमें होते हैं कभी तीव्र और कभी मध्यम रूपमें। इसी प्रकार रसके भी अनेक भेद होने लगेंगे। किन्तु ऐसा नही होता है। रसमे न्यूनाधिक्य तर-तम आदिका भेद नही होता है। स्थायिभावोमें तर-तम आदिका मात्रा कृत भेद पाया जाता है। इसलिए स्थायिभावको ही रस नही कहा जा सकता है।

५ पाचवा दोप यह है कि आगे चल कर भरतमुनिने हास्यके स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित आदि छ भेद दिखलाए हैं। ये भेद स्थायिभावके तो हो सकते हैं क्योंकि स्थायिभावमें मात्राका तारतम्य हो सकता है। परन्तु हास्यरसमें तारतम्यका सम्भव न होने से रसके भेद नही हो सकते हैं। भरतमुनिने मुख्यत स्थायिभावकी दृष्टि से ये ही भेद कहे हैं।

६ और यदि मात्रा भेदसे रसके भेद मानने लगेंगे तो फिर कामकी जो दस अवस्थाए कही गई हैं उनमें मात्रादिके भेदसे असख्य रसभाव आदिकी प्रतीति होने लगेगी और एक शृगाररसके ही असख्य भेद वन जावेंगे।

७ फिर आपने स्थायिभावोके उपचयको रस कहा है सो शोकादि स्थायिभावोका उपचय नही अपितु कालक्रमसे अपचय या ह्रास ही होता है। पहिले पहिल जब शोकका अवसर उपस्थित होता है उस समय शोक तीव्रावस्थामें होता है उसके बाद क्रमश उसका ह्रास होता जाता है। इसलिए उसके उपचयका अवसर आना ही सम्भव नही है। तब उपचयके विना करुणरसकी उत्पत्ति कैसे होगी यह सातवा दोप है।

८ इसी प्रकार रौद्ररसके स्थायिभाव क्रोध, वीररसके स्थायिभाव उत्साह तथा शृगाररस के स्थायिभाव रति, आदिका भी सेवा या परिपोपणके अभावमें उपचय नही अपितु ह्रास देखा जाता है। पर रसानुभूतिमे वृद्धि ह्रासादि नही होते हैं इसलिए उपचित स्थायिभावको रस मानना उचित नही है। यह आठवा हेतु है। इस प्रकार शकुकने भट्टलोल्लट तथा दण्डी आदिके 'उपचित स्थायिभाव ही रस रस है' इस सिद्धान्तके खण्डनकेलिए आठ हेतु दिए हैं। अभिनवभारतीकार अगले अनुच्छेदमें उन हेतुओंको निम्न प्रकार दिखलाते हैं—

(१) विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिंगाभावेनावगत्यनुपपत्ते, (२) भावाना पूर्वमभिधेयताप्रसगात्, (३) स्थितिदशाया लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्, (४) मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्ते, (५) हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्ते, (६) कामावस्थासु दशस्वसख्यरसभावादिप्रसगात्, (७) शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात् तनु-मान्द्यदर्शन, (८) क्रोधोत्साहरतीना अमर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च ।

अभिनव०—(१) विभावादिके योगके विना [या अभावमे] स्थायिभावके अनुमापक हेतुके न होनेसे [स्थायिभावकी] प्रतीति नहीं बन सकती है [इसलिए स्थायिभावको रस नहीं कहा जा सकता है । और यदि, शब्दसे स्थायिभावकी परोक्ष प्रतीति मानी जाय तो विभावादिके प्रयोगके] (२) पहिले भावोको [शब्दसे] अभिधेय माना होगा | वह परोक्षात्मक ज्ञान आस्वाद रूप या साक्षात्कारात्मक न होनेसे रस नहीं कहा जा सकता है] । (३) [विभावादिके प्रयोगके पहिले भी रसको] स्थित माननेपर ['विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति.' इत्यादि रूप जो रसकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया वतलाई है उन] अन्य लक्षणोकी आवश्यकता नहीं रहती है । (४) [यदि रत्यादि स्थायिभावोको ही रस माना जाय तो रत्यादिकी मात्रामे न्यूनाधिक्य अथवा तारतम्य का सम्भव होनेसे रसमे भी] मन्द, तर-तम-मध्यम आदि अनन्त भेद होने लगेंगे । [परन्तु रसके एक रूप होनेसे उसमें मात्राकृत तारतम्य नहीं माना जाता है । और यदि स्थायिभावको ही रस मानें तो फिर रसके समान स्थायिभावको भी तारतम्य या मात्राकृत भेदसे रहित मानना होगा उस दशामे] (५) हास्य रसमे [स्थायिभावकी मात्रा के तारतम्यसे जो ६ भेद किए गए हैं उन] ६ भेदोका अभाव प्राप्त होने लगेगा । [और यदि स्थायिभावके तारतम्यसे रसका भेद मानेंगे तो] (६) कामकी दस अवस्थाओमे असंख्य रस भाव आदि मानने होंगे [जो कि युक्तिसंगत नहीं हैं । इसलिए स्थायिभावको रस मानना उचित नहीं है । और आपने स्थायिभावके उपचय अथवा उपचित स्थायिभावको रस कहा है परन्तु शोकादि स्थायिभावोमे] (७) शोक प्रारम्भमें तीव्र होता है उसके बाद कालक्रमसे मन्द होता जाता है [अतः उसका उपचय सम्भव न होनेसे करुणरसकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी । इसी प्रकार] (८) क्रोध उत्साह तथा रति [आदि अन्य स्थायिभावोमे] अमर्ष, स्थैर्य और सेवा [आदि परिपोषक सामग्री] के अभावमे ह्रास दिखलाई देता है इसलिए [उपचयके स्थानपर उनका अपचय रूप] विपर्यय पाया जानेसे [उपचित स्थायिभाव रस होता है यह कहना उचित नहीं है] ।

इस प्रकार शकुकने इस अनुच्छेदमें दी हुई आठ युक्तियोके द्वारा अपने पूर्ववर्ती व्याख्याता भट्टलोल्लट तथा दण्डी आदिके मतका खण्डन कर दिया । इसका अभिप्राय यह हुआ कि भट्टलोल्लट आदि उपचित रत्यादिको रस मानते है वह उचित नहीं है । अब आगे ग्रन्थकार शकुकके अपने सिद्धान्तको प्रदर्शित करेंगे । उनके अनुसार उपचित रत्यादिके बजाय अनुमियमान रत्यादिको रस कहा गया है ।

तस्मात्, हेतुभिर्विभावाख्यै, [1]कार्यैरनुभावात्मभि, सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभि प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानै, अनुकर्तृस्थत्वेन लिगबलत प्रतीयमान [2]स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूप । अनुकरणत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रस ।

विभावा हि काव्यबलानुसन्धेया । अनुभावा शिक्षात । व्यभिचारिण कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात् । स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेय । 'रति शोक' इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन न तु वाचिकाभिनयरूपतया-ऽवगमयन्ति ।

---

३ शकुकका अपना सिद्धान्त—

अभिनव०—इसलिए [रसके] कारण रूप विभावो, [उसके] कार्य रूप अनुभावो [कटाक्षादि शारीरिक व्यापारो], तथा सहचारी रूप [निर्वेदादि] व्यभिचारी भावो [मानस व्यापार या चित्तवृत्ति] से [नटके द्वारा अपने शिक्षा अभ्यास आदि रूप] प्रयत्नसे जन्य होनेके कारण कृत्रिम होनेपर भी उस प्रकारके [कृत्रिमसे] न प्रतीत होने वाले [कारण कार्य सहकारी रूप पूर्वोक्त विभावादिसे] लिगकी सामर्थ्यसे अनुकर्ता [नट] मे स्थित रूपसे [अनुमान द्वारा] प्रतीत होने वाला, मुख्य [अनुकार्य] राम आदिमे रहने वाले [रत्यादि] स्थायिभावका अनुकरण रूप [नटगत स्थायिभाव ही रस] होता है। और अनुकरण रूप होनेके कारण ही [स्थायिभाव नामसे न कहा जाकर] उससे भिन्न [रस इस] नामसे व्यवहृत 'रस' कहलाता है।

अभिनव०—[इस प्रकारसे रसकी अनुभूतिमे कारणभूत] विभाव काव्यके द्वारा उपस्थित होते है। [कटाक्ष भुजाक्षेप आदि] अनुभाव [नटकी] शिक्षा [अभ्यासादि] से, और व्यभिचारी भाव अपने कृत्रिम अनुभावोके अर्जन द्वारा [उपस्थित होते है]। स्थायिभाव [इनमेसे किसी साधनसे उपस्थित नही होता है] काव्यबल से भी प्रतीत नही होता है। [पूर्वत स्थित रहता है। केवल विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव रूप लिगोसे नटगत रूपमे अनुमित होता है। वह भी रामादिगत रत्यादिके अनुकरणात्मक रूपमे अनुममित होता है। इसलिए अनुकरणात्मक होने से स्थायिभाव नामके वजाय 'रस' नामसे कहा जाता है]। रति शोक आदि शब्द अभिधाशक्ति द्वारा [शाब्द प्रक्रियाके अनुसार परोक्ष रूपमे] रत्यादि को बोधित करते है। वाचिक अभिनयके रूपमे बोधित नही करते है।

इसका अभिप्राय यह है कि अभिनय चाहे वाचिक हो या शारीरिक, वह अर्थको साक्षात्कारात्मक रूपमे उपस्थित करता है इसलिए उससे रसास्वाद बन जाता है। परन्तु शब्द

---

१. कायश्च। २ स्थायीभावो।

न हि वागेव वाचिकमपितु तया निर्वृतम् । अगैरिवागिकम् । तेन—

विवृद्धात्माप्यगाधोऽपि दुरन्तोऽपि महानपि ।
वाडवेनेव जलधिः शोक क्रोधेन पीयते ॥ इति

तथा—

शोकेन [1]कृतस्तम्भ तथा स्थितो [2]योऽनवस्थिताक्रन्दैः ।
हृदयस्फुटनभयार्तैं [3]रक्षितुमभ्यर्थ्यते सचिवैं ॥

इत्येवमादौ च न शोकोऽभिनेयो, अपि तु अभिधेय ।

भाति पतितो लिखन्त्यास्तस्या वाष्पाम्बुशीकरकणौघ ।
स्वेदोद्गम इव करतलसस्पर्शादिप मे वपुपि ॥ [रत्नावली २, ११]

प्रमाणसे उपस्थित होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं अपितु परोक्ष ज्ञान होता है । रति आदि शब्दोसे जब स्थायी भावोका कथन किया जाता है तो उनसे रति आदिका परोक्ष ज्ञान होता है प्रत्यक्षात्मक नही । अगोसे किया जाने वाला आगिक अभिनय तो साक्षात्कारात्मक ज्ञानको उत्पन्न करता है । इसी प्रकार वाचिक अभिनय भी साक्षात्कारात्मक ज्ञानको उत्पन्न करता है । परन्तु वाचिक अभिनय तथा शब्द द्वारा किसी अर्थका कथन करना दोनों भिन्न वस्तुए हैं । वाणीसे कहना और वाचिक अभिनय एक वात नही हैं । इस लिए नट जो आगिक या वाचिक अभिनय करता है वह प्रत्यक्षात्मक ज्ञानका जनक होनेसे रसानुभूतिका उत्पादक होता है परन्तु वह जो रति शोक आदि शब्दोंका प्रयोग करता है उससे सीता राम आदिकी रतिका परोक्ष ज्ञान ही होता है । अत रसास्वादका जनक नही होता है । इसीलिए रसादिकी स्वशब्दवाच्यताको दोष माना जाता है ।

अभिनव०—[क्योकि] वाणी [का नाम] ही वाचिक [अभिनय] नहीं है । अपितु उस [वाणी] के द्वारा किए जाने वाला [अभिनय वाचिक अभिनय कहलाता है] जैसे [अगोका ही नाम आगिक अभिनय नहीं है अपितु] अगोसे किया जाने वाला [अभिनय] आगिक होता है । इसलिए—

अत्यन्त बढ़ा हुआ, अगाध एवं अनन्त होनेपर भी जैसे वाड़वाग्नि समुद्रको पी जाता है इसी प्रकार [अत्यन्त बढे हुए अगाध] शोकको क्रोध नष्ट कर देता है ।

अभिनव०—यहां, और—

अभिनव०—शोकके कारण निश्चेष्ट एवं निरन्तर रोते हुए [राजा उदयन] ऐसे पडा हुआ है कि कही इसका हृदय [शोकातिशयसे] फट न जाय इससे भयभीत हुए मन्त्री चुपचाप [विना रोए चिल्लाए] उसकी रक्षाकी प्रार्थना [भगवान्से] कर रहे हैं ।

अभिनव—इत्यादिमें शोकका अभिनय नहीं हो रहा है अपितु वह अभिधेय [स्वशब्दसे वाच्य] है । [इसके विपरीत निम्न श्लोकमे वह अभिनेय है अभिधेय नही]—

अभिनव०—[चित्र] वनाते समय उसके आंसुओके जो कण उसपर गिरे, वे उसके हाथके स्पर्शसे मेरे शरीरमे आए हुए पसीनेके समान शोभित हो रहे हैं ।

---

१ कृत. । २. ग भ तथा स्थितो योऽवस्थिता । ३ रक्षितुं ।

अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानदृष्टा—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतो. ।
मिथ्याज्ञानाविशेषोऽपि विशेषोऽर्थक्रिया प्रति ॥ इति ।

न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्ति । नाप्ययमेव राम इति । न चाप्यय न सुखीति । नापि राम स्याद्वा न वायमिति । नापि तत्सदृश इति । किन्तु सम्यङ्—मिथ्या-सशय-सादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन, य. सुखी राम असावयमिति प्रतीतिरस्तीति । तदाह्—

अभिनव०—मिथ्याज्ञानसे भी [रसास्वादादि रूप] अर्थक्रिया [फलप्राप्ति] देखी जाती है ।

अभिनव०—मणिकी प्रभा तथा प्रदीपकी प्रभाको देख कर और [उनको] मणि समझकर [उनके उठानेके लिए] भागनेवाले दो व्यक्तियोमें मिथ्याज्ञानके समान होने पर भी अर्थक्रिया [अर्थात् फलप्राप्ति] में भेद पाया जाता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि कहीं दूरसे किसी वस्तुपर पडती हुई मणिकी प्रभा तथा दूसरी वस्तु पर पडती हुई प्रदीपकी प्रभाको मणि समझ कर दो व्यक्ति उनको लेने दौडे । उन दोनोने वास्तव किसी अन्य दूरस्थ वस्तुपर पडती हुई उनकी प्रभाको ही देखा है मणिको किसी ने नही देखा है । इसलिए उस प्रभाको मणि समझना दोनोका मिथ्या ज्ञान है । परन्तु जब वे जहां वह प्रभा पड रही है वहा जा कर देखते हैं तो उनको मालूम होता है कि यह तो प्रभा मात्र है । किन्तु साथ ही उनको उस प्रभाके आनेके मूलस्रोतका भी पता चल जाता है तब उनमेंसे एकको मणिकी, और दूसरेको प्रदीपकी प्राप्ति उस प्रभाके मूल कारणके रूपमें होती है । इस प्रकार मिथ्याज्ञानमें दोनोकी समानता होनेपर भी उनके फलप्राप्तिमें भेद रहता है । यह इस श्लोकका भाव है ।

इस प्रकारके उदाहरणोके द्वारा यद्यपि यह सिद्ध किया जा सकता है कि मिथ्याज्ञान या भ्रान्तिसे भी यथार्थ वस्तुके समान फलकी प्राप्ति हो सकती है । परन्तु शकुकके मतसे अनुक्रियमाण रतिको जो रस कहा गया है उसमें भ्रान्ति या मिथ्याज्ञानका अवसर नहीं है । नाटक देखने के समय जो नटमें राम सीतादिकी प्रतीति होती है उसको मिथ्या प्रतीति नही कहा जा सकता है । साथ ही उसको सम्यक् प्रतीति भी नही कहा जा सकता है । न वह सादृश्य प्रतीति है और न वह सन्देहात्मक प्रतीति ही मानी जा सकती है । वास्तव में वह सम्यक्, मिथ्या, सादृश्य तथा सशयात्मक सभी प्रतीतियोसे भिन्न प्रतीति है । जैसे घोडेके चित्रको देख कर यह घोडा है यह प्रतीति होती है । परन्तु उस प्रतीतिको भी सम्यक् प्रतीति अथवा मिथ्या प्रतीति नहीं कहा जा सकता है । और न उसको सादृश्य प्रतीति अथवा सन्देहात्मक प्रतीति कहा जा सकता है । इसी प्रकार चित्रतुरगादि न्यायसे नटमें रामादिकी प्रतीति होती है वह भी नव प्रकारकी प्रतीतियो से विलक्षण होती है । यही बात शकुक मतका प्रतिपादन करते हुए अगले अनुच्छेदमें कहते हैं—

अभिनव०—और यहां (१)नट ही सुखी [शृंगाररस-युक्त राम] है यह प्रतीति नहीं होती है । और (२)न यही राम है इस प्रकारकी प्रतीति भी नहीं होती ।(३)न यह सुखी नहीं है यह प्रतीति होती है । और (४) नाहीं, यह राम है या नहीं इस प्रकारकी

अथ नटगता चित्तवृत्तिरेव प्रतिपन्ना सती रत्यनुकार शृङ्गार इत्युच्यते। तत्रापि किमात्मकत्वेन सा प्रतीयते इति चिन्त्यम्।

ननु प्रमदादिभि कारणै, कटाक्षादिभि कार्यै, धृत्यादिभिश्च सहचारिभिर्लिंगभूतैर्या लौकिकी कार्यरूपा कारणरूपा सहचारिरूपा च चित्तवृत्ति प्रतीतियोग्या, तदात्मकत्वेन सा नटचित्तवृति प्रतिभाति।

हन्त तर्हि रत्याकारेणैव सा प्रतिपन्नेति दूरे रत्यनुकरणता वाचोयुक्ति।

रूपमे कहा जा सकता है परन्तु इनमेसे कोई भी बस्तु] चित्तवृत्ति रूप रत्यादि [स्थायिभाव] के अनुकरण रूपमे किसीको प्रतीत नहीं होता है। [शरीर प्रतिशीर्षक से लेकर कटाक्षादि पर्यन्त सबके ही] जड़ होनेसे, भिन्न इन्द्रियसे ग्राह्य होनेसे [अर्थात् रत्यादि स्थायिभावका ग्रहण मनसे होता है तथा शरीरादिका ग्रहण चक्षु इन्द्रियसे होता है इसलिए रति तथा शरीरादि भिन्न इन्द्रियोसे गृहीत होनेके कारण एक नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार रत्यादिका अधिकरण आत्मा, तथा प्रतिशीर्षकादिका अधिकरण शरीर होनेसे] भिन्न आश्रय होनेके कारण [यह सब] उन [रत्यादि स्थायिभावो] से अत्यन्त भिन्न है। [इसलिए नटमे पाई जाने वाली जिन बातोको अनुकरण रूप मानकर रस कहा जा सकता था उनमेसे कोई भी रस कहलाने योग्य नहीं है तब शकुक महोदय किसको अनुकरणात्मक मान कर रस कहना चाहते है] ? दूसरी बात यह है कि मुख्य [अनुकार्य] तथा अमुख्य [अनुकरण] दोनोको देखनेपर यह उसका अनुकरण है यह प्रतीत होता है। परन्तु यहा रामगत रति [रूप मुख्य अनुकार्य] को [सामाजिकोमेसे] किसीने नही देखा है। अत अनुकरण रूप नही है ? इसलिए नट रामका अनुकरण करता हे यह मत भी खण्डित हो जाता है।

अभिनव०—(२) [शकुककी ओरसे—] यदि यह कहा जाय कि—नटगत [रत्यादि रूप] चित्तवृत्तिका ही ग्रहण होनेपर, रतिके अनुकरण रूप शृंगार [रस] है। तो भी [उपाध्यायपक्ष]वह किस रूपमे प्रतीत होती इसका विचार करना होगा।

अभिनव०—[शकुक पक्ष]—प्रमादादि [विभाव रूप] कारणो, कटाक्षादि [अनुभाव रूप] कार्यो, तथा धृति आदि [व्यभिचारिभाव रूप] लिग रूप सहकारियोके द्वारा [विभाव रूप कारणसे] कार्य रूप, [अनुभावादि रूप कार्योसे] कारण रूप, तथा [व्यभिचारिभाव रूप सहकारियोकी] सहचारी रूपसे जो लौकिक चित्तवृत्ति [रति] प्रतीति योग्य होती है उसी रूपसे नटगत चित्तवृत्ति प्रतीत होती है [और वह ही रस नामसे कही जाती है। यह शकुककी ओरसे कहा जा सकता है। इसके खण्डनमे कहते हैं कि]—

अभिनव०—तव तो वह रति रूपमे ही गृहीत होती है [रतिके अनुकरण रूपमे नही] इसलिए उसको रतिका अनुकरण कहना दूर रहा [वह तो रति रूप ही है। हन्त अव्यय हर्ष खेद दोनो अर्थोमे आता है]। यहा प्रसन्नता का सूचक है।

ननु ते विभावादयोऽनुकार्ये पारमार्थिका, इह त्वनुकर्तरि न तथेति विशेष ।

अस्त्वेवं, किन्तु ते हि विभावादयोऽतत्कारणातत्कार्यातत्सहचारिरूपा अपिकाव्यशिक्षादिबलोपकल्पिता कृत्रिमा सन्त. किं कृत्रिमत्वेन सामाजिकैर्गृह्यन्ते न वा। यदि गृह्यन्ते तदा तै कथ रतेरवगति ।

नन्वत एवं प्रतीयमाना रतिरनुकरणबुद्धेः कारणम् ।

अभिनव०—[शकुक पक्षकी ओरसे प्रश्न]—अच्छा अनुकार्य [रामादिमे रत्यादिकी जो वास्तविक प्रतीति होती है उस] मे वे [सीतादि रूप] विभाव आदि वास्तविक होते हैं और यहां [नाटकका प्रयोग करने वाले नट रूप] अनुकर्तामें वैसे [अर्थात् वास्तविक विभावादि] नहीं होते यह दोनोका भेद है [इसलिए नटगत रत्यादिकी प्रतीतिको रति न कह कर रतिका अनुकरण अथवा अनुकरणात्मक रति कहा जाता है] ।

इसका उपाध्याय पक्षकी ओरसे खण्डन करते हुए कहते हैं कि—

अभिनव०—यही सही । [आपका कहना ठीक है] परन्तु वे विभाव आदि उस [नट गत रति] के कारणरूप [विभाव] कार्य रूप, [अनुभाव] तथा सहचारी रूप [व्यभिचारिभाव] न होते हुए भी काव्य तथा शिक्षा आदिके द्वारा कल्पित होनेसे कृत्रिम होते हैं । [यह निश्चयसे ठीक है, किन्तु कृत्रिम होने पर भी] वे सामाजिकोके द्वारा कृत्रिम रूपसे ग्रहण किए जाते हैं अथवा नहीं । यदि [सामाजिकके द्वारा वे कृत्रिम रूपसे ही] ग्रहण किए जाते हैं तो उन [कृत्रिम साधनोसे वास्तविक] रतिकी प्रतीति कैसे हो सकती है ? अर्थात् [उनसे वास्तविक या अवास्तविक किसी प्रकारकी रतिका ज्ञान नहीं होना चाहिए] ।

अभिनव०—[इस पर शंकुक पक्षकी ओरसे फिर यह कहा जा सकता है कि]—इसीलिए तो [कृत्रिम साधनोसे] प्रतीयमान रति [वास्तविक रति नहीं होती है अपितु] अनुकरण बुद्धिका कारण होती है [अर्थात् अनुकरणात्मक रत्यादिकी प्रतीति होती है । और उसी अनुक्रियमाण रत्यादिको रस कहा जाता है] ।

उपाध्याय पक्षसे आगे इसका खण्डन करेंगे । खण्डनमें दो युक्तिया दी गई हैं । पहिली युक्तिका अभिप्राय यह है कि यहा रतिकी प्रतीतिके दो प्रकारके कारण हैं एक प्रसिद्ध या वास्तविक विभावादि रूप कारण, और दूसरे अप्रसिद्ध एवं कृत्रिम अवास्तविक विभावादि रूप कारण । जहा पर किसी पदार्थके प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध दो प्रकारके कारण होते हैं वहा सामान्य पुरुष तो कार्यको देखकर उसके प्रसिद्ध कारणका ही अनुमान कर सकता है । अप्रसिद्ध कारणका अनुमान तो विशेष रूपसे उस विषयका ज्ञान रखने वाला ही कर सकता है । जैसे एक रोग कई कारणोंसे हो सकता है । साधारण लोग रोगको देखकर उसके साधारण रूपसे प्रसिद्ध कारणका ही अनुमान करते हैं । किन्तु उसका विशेषज्ञ वैद्य या डाक्टर विशेष कारणका भी अनुमान कर सकता है । यदि साधारण पुरुष रोगके सामान्य प्रसिद्ध कारणके बजाय अन्य कारणकी कल्पना करने लगता है तो वह प्रामाणिक नहीं समझा जाता है । उसकी वह कल्पना भ्रान्तिमात्र मानी जाती है । इसी प्रकार

यच्चोक्त रामोऽयमित्यस्ति प्रतिपत्ति । तदपि यदि तदात्वे इति निश्चित तदुत्तर-कालभाविबाधकवैधुर्याभावे कथ न तत्त्वज्ञानम् । बाधकसद्भावे वा कथ न मिथ्या-ज्ञानम् । वास्तवेन च वृत्तेन बाधकानुदयेऽपि मिथ्याज्ञानमेव स्यात् । तेन विरुद्धबुद्धि-द्वयसम्भेदादित्यसत् । नर्तकान्तरेऽपि च रामेऽयमिति प्रतिपत्तिरस्ति । ततश्च रामत्व सामान्यरूपमित्यायातम् ।

यच्चोच्यते विभावा काव्यादनुसन्धीयन्ते, तदपि न विद्म । न हि ममेय सीता काचिदिति स्वात्मीयत्वेन प्रतिपत्तिर्नटस्य । अथ सामाजिकस्य तथा प्रतीतियोग्या क्रियन्त इत्येतदेवानुसन्धानमुच्यते । तर्हि स्थायिनि सुतरामनुसन्धान स्यात् । तस्यैव हि मुख्यत्वेन अस्मिन्नयमिति सामाजिकाना प्रतिपत्ति ।

नहीं होती है। [यदि सामाजिकको नटमे रामके सादृश्यकी प्रतीति हो जाय तो उसमे जो भावावेश होता है वह नहीं रह सकता है] परन्तु सामाजिकोकी नटके विषयमे भावावेश रहित प्रतीति नहीं होती है फिर भी उस [रत्यादि] के अनुकरणकी प्रतीति होती है यह कथन सर्वथा सारहीन है।

अभिनव०—और जो यह कहा है कि 'यह राम है' इस प्रकार की प्रतीति [नट के विषयमे] होती है। वह भी यदि उस यह समय निश्चित प्रतीति है तो उत्तरकालमे बाधकका अभाव होनेसे उसको तत्त्वज्ञान क्यो नहीं कहा जाय ? और [४ उत्तर काल मे उसका] बाध होनेपर उसको मिथ्याज्ञान क्यो न माना जाया ? [तीसरा कोई मार्ग नहीं है]। वास्तविक दृष्टिसे तो आख्यान वस्तु [वृत्त] मे बाधकके अनुपस्थित होनेपर भी वह मिथ्याज्ञान ही है। इसलिए [पृष्ठ ४५० पर उद्धृत कारिकामे जो यह कहा है कि नटमें यह राम है और यह राम नहीं है इत्यादि] दो विरुद्धबुद्धिके सम्बन्धके कारण [यह जो पृ० ४५० पर कारिकामे कहा था] यह कहना भी असगत है। अन्य नटोमे भी यह राम है इस प्रकार की प्रतीति होती है इसलिए रामत्व सामान्य रूप है यह परिणाम निकलता है।

अभिनव०—और जो यह कहा था कि 'विभाव काव्यके द्वारा उपस्थित होते हैं' वह भी समझमे नहीं आता [अर्थात् ठीक प्रतीत नहीं होता है]। क्योकि यह मेरी सीता है इस प्रकारकी नटको कोई प्रतीति नहीं होती है। यदि [आपके कहनेका यह अभिप्राय है कि काव्यके द्वारा विभावादि] सामाजिकके लिए उस प्रकारकी प्रतीतिके योग्य बनाए जाते हैं इसको काव्य बलसे उपस्थित होना [अनुसन्धान] कहते हैं तो [विभाव आदिकी अपेक्षा] स्थायिभाव [रत्यादि] के विषयमे वह अनुसन्धान और अधिक होगा। क्योकि उसी [स्थायिभाव रत्यादि] के मुख्य होने से इस [राम आदि] मे यह [रत्यादि स्थायिभाव] है यह सामाजिकोको प्रतीति होती है। [इसलिए रत्यादिको ही रस कहना उचित होगा न कि रत्यादिके अनु-करण को। यह खण्डन करने वाले उपाध्याय महोदयका आशय है]।

यत्तु 'वाग्वाचिकम्' इत्यादिना भेदाभिधानसंरम्भगर्भ-महीयान् अभिनयरूपताविवेक कृत स उत्तरत्र स्वावसरे चर्चयिष्यते (अ० १४)। तस्मात् सामाजिकप्रतीत्यनुसारेण स्थाय्यनुकरण रस इत्यसत्।

न चापि नटस्येत्य प्रतिपत्ति —'राम तच्चित्तवृत्तिं वानुकरोमि' इति। सदृशकरण हि तावदनुकरणमनुपलब्धप्रकृतिना न शक्य कर्तुम्। अथ पश्चात् करणमनुकरण तल्लोकेऽप्यनुकरणात्मकता प्रसक्ता।

अथ न नियतस्य कस्यचिदनुकार अपितूत्तमप्रकृते शोकमनुकरोतीति। तर्हि केनेति चिन्त्यम्। न तावच्छोकेन, तस्य तदभावात्। न चाप्यश्रुपातादिना शोकस्याऽनुकार, तद्वैलक्षण्यादित्युक्तम्।

अभिनव०—और [शंकुक महोदयने] जो वाग् तथा वाचिकका भेद दिखलाते हुए अभिनयरूपताका महान् विवेक दिखलाया है [अर्थात् हम अभिनय के विशेषज्ञ हैं इस प्रकारका जो प्रदर्शन शंकुक महोदयने वाग् वाचिक का भेद दिखलाते हुए किया है] उसकी आगे चल कर [१४ वें अध्यायमें] अपने उचित अवसर ही आलोचना करेंगे। इसलिए सामाजिकके प्रतीतिके अनुसार 'स्थायिभावका अनुकरण रस है' यह कहना अनुचित है।

द्वितीय विकल्प 'नटाभिप्रायेण' का खण्डन—

शंकुकके मतकी आलोचना प्रारम्भ करते समय प्रारम्भमें चार विकल्प किए थे कि सामाजिक, नट, व्याख्याता अथवा भरतमुनि इन चारोंमेंसे किसकी दृष्टिमे आप स्थायिभावके अनुकरणको रस कहना चाहते हैं। इन चारो विकल्पोंमें से सामाजिककी दृष्टिसे स्थायिभावके अनुकरणको रस नही कहा जा सकता है यह कह कर यहाँ तक प्रथम विकल्पका खण्डन किया है। अब इसके बाद दूसरे विकल्पको लेते हैं। दूसरे विकल्पमें नटके अभिप्रायसे स्थायिभावके अनुकरणको रस माना गया है। उसका खण्डन करते हुए आगे उपाध्याय महोदय कहते हैं—

अभिनव०—और न नटको इस प्रकारकी प्रतीति होती है कि 'मैं राम का अथवा उनकी चित्तवृत्तिका अनुकरण कर रहा हू।' [और वास्तवमे नट रामका अनुकरण कर भी नहीं सकता है। क्योंकि] सदृश करना अनुकरण कहलाता है। वह अनुकार्य [प्रकृति] के जाने विना नहीं किया जा सकता है [और उन मूल प्रकृतिभूत रामादिको नटने देखा ही नहीं है तब उनके सदृश वह कैसे कर सकता है]। और यदि पश्चात् करण अनुकरण माना जाय तो [नट ही नहीं सारा संसार ही रामादिके बाद रत्यादिका अनुभव करता है इसलिए न केवल नाटक देखनेके समय अपितु उससे भिन्न समयमे] लोकमें भी अनुकरणात्मकता अतिव्याप्त हो जायगी। [अर्थात् लौकिक रत्यादिको देख कर भी रसकी अनुभूति होने लगेगी]।

अभिनव०—और यदि यह कहा जाय कि [राम आदि] किसी नियत विशेष व्यक्तिका अनुकरण नहीं होता है अपितु [सामान्य रूपसे, नट] उत्तम प्रकृतिके [अपने] शोकका अनुकरण करता है तो किस [साधन] से [अनुकरण नट करता है] यह

इयत्तु स्यात्——उत्तमप्रकृतेर्ये शोकानुभावास्ताननुकरोमीति । तत्रापि कस्योत्तमप्रकृते । यस्य कस्यचिदिति चेत् सोऽपि विशिष्टता विना कथ बुद्धावारोपयितु शक्य । य एव रोदितीति चेत् स्वात्मापि मध्ये नटस्यानुप्रविष्ट इति गलितोऽनुकार्यानुकर्तृभाव ।

किञ्च नट शिक्षावशात् स्वविभावस्मरणाच्चित्तवृत्तिसाधारणीभावेन हृदयसवादात् केवलमनुभावान् प्रदर्शयन् काव्यमुपचितकाकुप्रभृतिपुरस्कारेण पठश्चेष्टत इत्येतावन्मात्रेऽस्य प्रतीति नत्वनुकार वेदयते । कान्तावेषानुकारवद्धि न रामचेष्टितस्यानुकार । एतच्च प्रथमाध्यायेऽपि दर्शितमस्माभि ।

विचारना होगा है । (१) शोकसे [उत्तमप्रकृतिके शोकका अनुकरण नट करता है यह] नहीं कहा जा सकता है क्योकि उस [नट] को [वास्तवमे किसी प्रकारका] शोक नहीं होता है । (२) और न अश्रुपात आदिसे शोकका अनुकरण होता है [शोक मानस चित्तवृत्त्यात्मक' और अश्रुपातादिके दैहिक व्यापार होनेके कारण] उस [अश्रुपातादि] के उस [शोक] से अत्यन्त भिन्न होनेसे । यह बात पहिले ही कह चुके हैं ।

अभिनव०—केवल इतना तो कहा जा सकता है कि उत्तमप्रकृतिके जो शोकके अनुभाव हैं उनका 'मै [नट] अनुकरण करता हू' । परन्तु उसमे भी किस उत्तम प्रकृतिके [शोकानुभावोका अनुकरण करता है यह प्रश्न उपस्थित होता है । 'जिस किसीके' यह कहा जाय तो ['निर्विशेष न सामान्य' इस नियमके अनुसार] वह भी विशेषके बिना बुद्धिमे [समझ मे] कैसे आ सकता है ? 'जो इस प्रकार [अर्थात् मुझ नटकी तरह] रोता है [मै उसका अनुकरण करता हू] यदि यह कहा जाय तो उस [प्रतीति] के बीचमे नटका अपना स्वरूप भी प्रविष्ट हो जाता है इसलिए अनुकार्य और अनुकर्ताका भाव समाप्त हो जाता है ।

अभिनव०—और नट शिक्षाके कारणसे अपने [सीता रामादि रूप] विभावोके स्मरण द्वारा चित्तवृत्तिके साधारणीभावके कारण हृदयकी एकरूपतासे केवल [तदुचित] अनुभावोको प्रकाशित करता हुआ काव्यको [अनुभावानुरूप] उचित कण्ठध्वनि [काकु] से उच्चारण करता हुआ [तदनुरूप] चेष्टा करता है । केवल इतने अशमे होने वाली उसकी प्रतीति अनुकरणका बोध तो नहीं कराती है । क्योकि जैसे स्त्रीके वेषका अनुकरण होता है इस प्रकार रामकी चेष्टाओका अनुकरण नहीं होता है । यह बात हम प्रथमाध्यायमे भी दिखला चुके हैं ।

तृतीय विकल्प 'व्याख्याकाराभिप्रायेण' का खण्डन —

इस प्रकार यहाँ तक द्वितीय विकल्पका खण्डन किया । अर्थात् द्वितीय विकल्पके अनुसार सामाजिक की दृष्टिमे स्थायिभावोके अनुकरणको रस नही कहा जा सकता है । नटकी दृष्टिमे स्थायिभावोके अनुकरणको रस नही कहा जा सकता है यह बात प्रथम विकल्पके खण्डनमें कह चुके थे । अब शकुकके रसानुकरणवादका तृतीय विकल्प आता है । इस विकल्पका खण्डन आगे करते हैं—

नापि वस्तुवृत्तानुसारेण तदनुकारत्वम्। अनुसंवेद्यमानस्य वस्तुवृत्तत्वानुपपत्तेः। यच्च वस्तुवृत्त तद्दर्शयिष्याम.।

'नापि मुनिवचनमेवंविधमस्ति क्वचित् 'स्थाय्यनुकरण रस.' इति। नापि लिंगमत्रार्थे मुनेरुपलभ्यते। प्रत्युत ध्रुवा-गान-तालवैचित्र्य-लास्याङ्गोपजीवननिरूपणादि विपर्यये लिंगमिति सन्ध्यङ्गाध्यायान्ते वितनिष्याम.। 'सप्तद्वीपानुकरणम्' (१-११७) इत्यादि त्वन्यथापि शक्यगमनिकमिति।

अभिनव०—और न वस्तुस्थितिके [विवेचक व्याख्याताओंके] अनुसार उन [स्थायिभावों] का अनुकरण हो सकता है। क्योंकि बादको प्रतीत होने वालेको वस्तुवृत्त नहीं कह सकते हैं। और जो वास्तवमें वस्तुवृत्त है उसको हम आगे चल कर कहेंगे।

चतुर्थ विकल्प 'भरताभिप्रायेण' का खण्डन—

अभिनव०—और न भरतमुनिका ऐसा कोई वचन कहीं मिलता है कि 'स्थायिभावका अनुकरण रस है'। और न इस विषयमें [भरत] मुनिका कोई [अनुमापक] लिंग मिलता है [जिससे यह अनुमान किया जा सके कि भरतमुनि स्थायिभावके अनुकरणको ही रस मानते हैं]। इसके विपरीत ध्रुवा [टेक] गान, ताल, के वैचित्र्य, और लास्य [नृत्य] के अंगोंके द्वारा [अभिनयके] परिपोषणका निरूपण आदि विपरीत पक्ष [अर्थात् स्थायिभावका अनुकरण रस नहीं होता है इस पक्ष] मे [अनुमापक] लिंग है। इस बातको हम सन्ध्यंगोका वर्णन करने वाले अध्यायके अन्तमें विस्तार पूर्वक कहेगे। [प्रथमाध्याय के १२० वें श्लोक 'सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद् भविष्यति' इस श्लोकमे जो नाट्यको सप्तद्वीपका अनुकरण रूप बतलाया है उस] सातो द्वीपोके अनुकरण आदिकी व्याख्या तो अन्य प्रकारसे भी हो सकती है।

शंकुकमत—इस पर शंकुक मतकी ओरसे यह कहा जा सकता है कि जैसे कान्ताके वेषादिका अनुकरण सम्भव है। इसी प्रकार स्थायिभावोंका भी अनुकरण सम्भव है। उसका उपाध्याय पक्ष की ओर से यह उत्तर है कि—उससे स्थायिभावके अनुकरणको रस कहते हैं यह बात सिद्ध नहीं हो सकती है। और यदि यह भी मान लिया जाय कि 'सप्तद्वीपानुकरण नाट्यमेतद् भविष्यति' में जब नाट्यको सभी चीजोंका अनुकरण होना बतलाया गया है तो स्थायिभावोंका भी अनुकरण हो सकता है। इसलिए स्थायिभावके अनुकरणको रस कहते हैं यह सिद्धान्त भरतमुनिके वचनसे सिद्ध होता है। तो इसका उत्तर उपाध्याय पक्ष अर्थात् सिद्धान्त पक्षने यह दिया गया है कि यदि स्थायिभावोका अनुकरण भी मान लिया जाय तो स्थायिभावकी जगह उसको रस किस आधार कहा जाता है। जैसे कान्ताके वेषका अनुकरण किया जाता है परन्तु उनका उससे भिन्न कोई अन्य नाम नही प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार यदि स्थायिभावका अनुकरण मान भी लिया जाय उसका 'रस' यह नया नामकरण करनेकी आवश्यकता तो प्रतीत नहीं होती है। यही बात अगली पंक्तिमें कहते हैं—

---

१. न च

इयत्तु स्यात्—उत्तमप्रकृतेर्ये शोकानुभावास्ताननुकरोमीति । तत्रापि कस्योत्तमप्रकृते । यस्य कस्यचिदिति चेत् सोऽपि विशिष्टता बिना कथ बुद्धावारोपयितु शक्य । य एव रोदितीति चेत् स्वात्मापि मध्ये नटस्यानुप्रविष्ट इति गलितोऽनुकार्यानुकर्तृभाव ।

किञ्च नट शिक्षावशात् स्वविभावस्मरणाच्चित्तवृत्तिसाधारणीभावेन हृदयसवादात् केवलमनुभावान् प्रदर्शयन् काव्यमुपचितकाकुप्रभृतिपुरस्कारेण पठश्चेष्टत इत्येतावन्मात्रेऽस्य प्रतीति नत्वनुकार वेदयते । कान्तावेषानुकारवद्धि न रामचेष्टितस्यानुकार । एतच्च प्रथमाध्यायेऽपि दर्शितमस्माभि ।

विचारना होगा है । (१) शोकसे [उत्तमप्रकृतिके शोकका अनुकरण नट करता है यह] नहीं कहा जा सकता है क्योकि उस [नट] को [वास्तवमे किसी प्रकारका] शोक नहीं होता है । (२) और न अश्रुपात आदिसे शोकका अनुकरण होता है [शोक मानस चित्तवृत्त्यात्मक' और अश्रुपातादिके दैहिक व्यापार होनेके कारण] उस [अश्रुपातादि] के उस [शोक] से अत्यन्त भिन्न होनेसे । यह बात पहिले ही कह चुके हैं ।

अभिनव०—केवल इतना तो कहा जा सकता है कि उत्तमप्रकृतिके जो शोकके अनुभाव हैं उनका 'मै [नट] अनुकरण करता हू' । परन्तु उसमे भी किस उत्तम प्रकृतिके [शोकानुभावोका अनुकरण करता है यह प्रश्न उपस्थित होता है । 'जिस किसीके' यह कहा जाय तो ['निर्विशेष न सामान्य' इस नियमके अनुसार] वह भी विशेषके बिना बुद्धिमे [समझ मे] कैसे आ सकता है ? 'जो इस प्रकार [अर्थात् मुझ नटकी तरह] रोता है [मैं उसका अनुकरण करता हू] यदि यह कहा जाय तो उस [प्रतीति] के बीचमे नटका अपना स्वरूप भी प्रविष्ट हो जाता है इसलिए अनुकार्य और अनुकर्ताका भाव समाप्त हो जाता है ।

अभिनव०—और नट शिक्षाके कारणसे अपने [सीता रामादि रूप] विभावोके स्मरण द्वारा चित्तवृत्तिके साधारणीभावके कारण हृदयकी एकरूपतासे केवल [तदुचित] अनुभावोको प्रकाशित करता हुआ काव्यको [अनुभावानुरूप] उचित कण्ठध्वनि [काकु] से उच्चारण करता हुआ [तदनुरूप] चेष्टा करता है । केवल इतने अशमे होने वाली उसकी प्रतीति अनुकरणका बोध तो नहीं कराती है । क्योकि जैसे स्त्रीके वेषका अनुकरण होता है इस प्रकार रामकी चेष्टाओका अनुकरण नही होता है । यह बात हम प्रथमाध्यायमे भी दिखला चुके हैं ।

तृतीय विकल्प 'व्याख्याकाराभिप्रायेण' का खण्डन —

इस प्रकार यहाँ तक द्वितीय विकल्पका खण्डन किया । अर्थात् द्वितीय विकल्पके अनुसार सामाजिक की दृष्टिमे स्थायिभावोके अनुकरणको रस नही कहा जा सकता है । नटकी दृष्टिसे स्थायिभावोके अनुकरणको रस नही कहा जा सकता है यह बात प्रथम विकल्पके खण्डनमें कह चुके थे । अब शकुकके रसानुकरणवादका तृतीय विकल्प आता है । इस विकल्पका खण्डन आगे करते हैं—

नापि वस्तुवृत्तानुसारेण तदनुकारत्वम्। अनुसवेद्यमानस्य वस्तुवृत्तत्वानुपपत्तेः। यच्च वस्तुवृत्तं तद्दर्शयिष्याम.।

'नापि मुनिवचनमेवविघमस्ति क्वचित् 'स्थाय्यनुकरणं रस' इति। नापि लिंगमत्रार्थे मुनेरुपलभ्यते। प्रत्युत ध्रुवा-गान-तालवैचित्र्य-लास्याङ्गोपजीवननिरूपणादि विपर्यये लिंगमिति सन्ध्यङ्गाध्यायान्ते वितनिष्याम.। 'सप्तद्वीपानुकरणम्' (१-११७) इत्यादि त्वन्यथापि शक्यगमनिकमिति।

अभिनव०—और न वस्तुस्थितिके [विवेचक व्याख्याताओंके] अनुसार उन [स्थायिभावों] का अनुकरण हो सकता है। क्योंकि वादको प्रतीत होने वालेको वस्तुवृत्त नहीं कह सकते हैं। और जो वास्तवमें वस्तुवृत्त है उसको हम आगे चल कर कहेंगे।

चतुर्थ विकल्प 'भरताभिप्रायेण' का खण्डन—

अभिनव०—और न भरतमुनिका ऐसा कोई वचन कहीं मिलता है कि 'स्थायिभावका अनुकरण रस है'। और न इस विषयमे [भरत] मुनिका कोई [अनुमापक] लिंग मिलता है [जिससे यह अनुमान किया जा सके कि भरतमुनि स्थायिभावके अनुकरणको ही रस मानते हैं]। इसके विपरीत ध्रुवा [टेक] गान, ताल, के वैचित्र्य, और लास्य [नृत्य] के अंगोके द्वारा [अभिनयके] परिपोषणका निरूपण आदि विपरीत पक्ष [अर्थात् स्थायिभावका अनुकरण रस नहीं होता है इस पक्ष] में [अनुमापक] लिंग है। इस बातको हम सन्ध्यंगोंका वर्णन करने वाले अध्यायके अन्तमे विस्तार पूर्वक कहेगे। [प्रथमाध्याय के १२० वें श्लोक 'सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद् भविष्यति' इस श्लोकमे जो नाट्यको सप्तद्वीपका अनुकरण रूप बतलाया है उस] सातो द्वीपोके अनुकरण आदिकी व्याख्या तो अन्य प्रकारसे भी हो सकती है।

शंकुकमत—इस पर शकुक मतकी ओरसे यह कहा जा सकता है कि जैसे कान्ताके वेषादिका अनुकरण सम्भव है। इसी प्रकार स्थायिभावोंका भी अनुकरण सम्भव है। उसका उपाध्याय पक्ष की ओर से यह उत्तर है कि—उससे स्थायिभावके अनुकरणको रस कहते हैं यह बात सिद्ध नहीं हो सकती है। और यदि यह भी मान लिया जाय कि 'सप्तद्वीपानुकरण नाट्यमेतद् भविष्यति' में जब नाट्यको सभी चीजोंका अनुकरण होना बतलाया गया है तो स्थायिभावोका भी अनुकरण हो सकता है। इसलिए स्थायिभावके अनुकरणको रस कहते हैं यह सिद्धान्त भरतमुनिके वचनसे सिद्ध होता है। तो इसका उत्तर उपाध्याय पक्ष अर्थात् सिद्धान्त पक्षने यह दिया गया है कि यदि स्थायिभावोका अनुकरण भी मान लिया जाय तो स्थायिभावकी जगह उसको रस किस आधार कहा जाता है। जैसे कान्ताके वेषका अनुकरण किया जाता है परन्तु उसका उससे भिन्न कोई अन्य नाम नहीं प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार यदि स्थायिभावका अनुकरण मान भी लिया जाय उसका 'रस' यह नया नामकरण करनेकी आवश्यकता तो प्रतीत नहीं होती है। यही बात अगली पंक्तिमें कहते हैं—

---

१. न च

तदनुकारेऽपि च क्व नामान्तर कान्तावेषगत्यनुकरणादौ ।

यच्चोच्यते वर्णकैर्हरितालादिभि संयुज्यमान एव गौरित्यादि । तत्र यद्यभिव्यज्यमान इत्यर्थोऽभिप्रेतस्तदसत् । न हि सिन्दूरादिभि पारमार्थिको गौरभिव्यज्यते प्रदीपादिभिरिव । किन्तु तत्सदृश समूहविशेषो निर्वर्त्यते । अत एव हि सिन्दूरादयो गवायवसन्निवेशसदृशेन सन्निवेशविशेषेणावस्थिता गोसदृश इति प्रतिभासस्य विषय । नैव विभावादिसमूहो रतिसदृशताप्रतिपत्तिग्राह्य । तस्माद् 'भावानुकरण 'रस' इत्यसत् ।

अभिनव०—और उस [स्थायिभाव] का अनुकरण माननेपर भी [उसके लिए रस इस दूसरे नामका अवसर कहाँ है] कान्ताके वेष और गति आदिके अनुकरण आदिमे नामान्तर [का प्रयोग] कहां होता है [इसी प्रकार स्थायिभावका अनुकरण माननेपर भी उसके लिए 'रस' इस दूसरे नामका प्रयोग उचित नहीं है] ।

अभिनव०—और [शकुककी ओरसे] जो यह कहा जाता है कि [चित्रमे हरिताल आदिके रगोंके मिलनेसे ही गौ इत्यादि प्रतीत होती है [वैसे ही विभावादिके सयोगसे रसकी उत्पत्ति होती है। और उसके अभिव्यक्त करने वाले विभावादिसे भिन्न उसका रस यह नया नाम भी हो जाता है] उसमे [हमारा कहना यह है कि यहा] यदि [सयज्युमान पदका] अभिव्यज्यमान [यह अर्थ] अभिप्रेत है तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि सिन्दूर आदि [रगो] से वास्तविक गायकी अभिव्यक्ति नहीं होती है। जैसे प्रदीपसे [तो विद्यमान वास्तविक गायकी अभिव्यक्ति होती है परन्तु सिन्दूर आदिसे रंगोसे उस प्रकार गायकी अभिव्यक्ति नही होती है] किन्तु उसके सदृश [अवयवोके] समूहविशेषकी रचना होती है। इसीलिए [चित्रमे] सिन्दूर आदि गायके अवयवोके सन्निवेशके सदृश सन्निवेश विशेषमे स्थित होकर [यह आकृति] 'गायके सदृश है' इस प्रतीतके विषय होते हैं। किन्तु इस प्रकार विभावादि-समूह रतिके सदृश है इस ज्ञानसे गृहीत नहीं होते हैं। इसलिए [रत्यादि स्थायी] भावोका अनुकरण रस यह है कहना असगत है।

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकारने रस सूत्रकी भट्टलोल्लट तथा शकुक कृत व्याख्या की आलोचना की। इस आलोचनाके देखनेसे विदित होता है कि ग्रन्थकारने शकुकके रसानुकरणवादके खण्डनपर सबसे अधिक बल दिया है। उनकी दृष्टिमें शकुकके मतका सबसे मुख्य भाग यही अनुकरणात्मकता है। इसीलिए उन्होंने इसके खण्डनमें इतना प्रयत्न किया है। काव्यप्रकाशकारने जो शकुकमतका उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है उसमें इस अशपर इतना बल नही दिया गया है। इसलिए वहाँ प्रयुक्त किया विवरण शकुकके मतको पूर्ण रूपमे उपस्थित नही करता है।

यहाँ तक शकुकके रसानुकरणवादका खण्डन करनेके बाद साख्य सिद्धान्तके अनुसार मानी गई रसकी सुखदु ख मोहात्मकताका खण्डन करते हैं—

---

१ रसा ।

येन त्वभ्यधायि सुखदु खजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव, सांख्यदृशा सुख दु खस्वभावो रस.। तस्या च सामग्र्या दलस्थानीया विभावा, सस्कारका अनुभाव-व्यभिचारिण । स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तरा सुखदु खस्वभावा इति।

तेन 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम' इत्यादावुपचारमगीकुर्वता ग्रन्थविरोधं स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौर्ख्यात् प्रामाणिको जन परिरक्षित इति किमस्योच्यते। [1]यत्त्वन्यत् प्रतीतिवैषम्यप्रसगादि तत् [2]कियदत्रोच्यताम्।

रसकी त्रिगुणात्मकताका खण्डन—

अभिनव—और जिस [व्याख्याकार] ने यह कहा कि [क्योंकि] सुख दुःख मोहको उत्पन्न करनेकी शक्तिसे युक्त [रसकी विभावादि रूप] विषय सामग्री बाह्य ही होती है। इस सांख्य सिद्धान्तके अनुसार [संसारके सभी पदार्थोंके त्रिगुणात्मक होनेके कारण] रस [भी] सुख दु.ख मोहात्मक होता है। और उस सामग्रीमे [जैसे आगे दिए जाने वाले व्यंजन आदिके उदाहरणमे दाल आदि व्यंजनोमे छौंक आदिके द्वारा संस्कार करनेसे रसकी उत्पत्ति होती है इसी प्रकार यहां] दाल आदिके स्थानपर विभाव और उनके सस्कार करने वाले अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव होते हैं। और [विभाव अनुभाव व्यभिचारिभाव आदि] सामग्रीसे जन्य आन्तरिक सुख दु ख मोह रूप स्थायिभाव रत्यादि होते हैं।

इस प्रकारकी व्याख्या किसी व्याख्याकारने की है। इसमें तीन बातें मानी हैं।(१) विभावादि को दाल आदि व्यजनके स्थानपर (२) अनुभाव व्यभिचारिभावोंको सस्कारक छौंकके स्थानपर, और (३) स्थायिभावोंको बाह्य सामग्री जन्य माना है परन्तु यह ठीक नहीं है। भरतमुनिने 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम' स्थायिभाव रसत्वको प्राप्त होते हैं यह कहा है। इसमें आन्तरिक स्थायिभाव पूर्वसे विद्यमान हैं वे विभावादिके द्वारा रसत्वको प्राप्त होते हैं। परन्तु ऊपर दिखलाए हुए सांख्य सिद्धान्तके अनुसार स्थायिभाव बाह्य सामग्रीसे जन्य हुए। इस विरोधको ध्यान में रख कर उक्त व्याख्याताने जो 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम' इस पंक्तिकी उनको औपचारिक प्रयोग मान कर व्याख्या की है। इससे इतना तो स्पष्ट हो गया कि उक्त व्याख्याकारका सिद्धान्त भरतमुनिके सिद्धान्तके विपरीत जाता है। इसीलिए भरतमुनिकी पंक्तिको उन्होंने औपचारिक प्रयोग माना है। प्रकृतमें ग्रन्थकार उस व्याख्याताकी उस त्रुटिको पकड कर कहते हैं कि—

अभिनव—[जिसने उपर्युक्त सांख्य सिद्धान्तके आधारपर रसके सुख-दु ख-मोहात्मकत्वका प्रतिपादन किया है] उसने 'स्थायिभावोंको रसत्वको प्राप्त करावेंगे' [स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम] इत्यादि [भरत मुनिके वाक्य] मे उपचार [लक्षणा] का अंगीकार करके [रस] ग्रन्थके साथ [अपने मतके] विरोधको स्वयं समझकर [हम जैसे] प्रामाणिक पुरुषोंको [उस भरतमुनि विरोधी सिद्धान्तमे मूर्खोंको भी प्रतीत होने जाने वाले भद्दे] दोषके प्रदर्शन करानेकी मूर्खतामे बचा लिया इसलिए उसको क्या कहा [कितना धन्यवाद दिया] जाय।

---

१ यत्वत्यत्तं न। २ र्तात्क मदत्रोच्यताम्।

भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते । स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दु खित्व स्यात् । न च सा प्रतीतिर्युक्ता । सीतादेरविभावत्वात् । स्वकान्तास्मृत्यसवेदनात् । देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात् । समुद्रलघनादेरसाधारण्यात ।

इसके अतिरिक्त [रस प्रतीतिको सुख दु ख-मोहात्मक माननेपर एक ही ज्ञानमे तीन विरुद्ध प्रकारकी प्रतीतियोका सम्मिश्रण होनेसे] प्रतीतिवैषम्यादि दोष होगे इसलिए इस [मतकी अनुपयोगिता तथा अनौचित्यके] विषयमें कितना कहा जाय । [अर्थात् साख्य सिद्धान्तके अनुसार जो रसको सुख दु.ख मोहात्मक मानना अनुचित है] ।

यहाँ यह बात विशेष रूपसे ध्यान देनेकी है कि ग्रन्थकार साख्य सिद्धान्तके आधारपर मानी जाने वाली रसकी सुख-दु ख मोहात्मकताका खण्डन कर रहे हैं । वैसे वे स्वयं पृ० २१९ पर रसको सुख-दु ख-उभयात्मक सिद्ध कर चुके हैं । अत उभयात्मकताको मानने पर भी वे त्रिगुणात्मकताका खण्डन कर रहे हैं यह समझना चाहिए ।

भट्टनायकका मत—

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकारने रसके विषयमें भट्टलोल्लट, शकुक तथा साख्यसिद्धान्तानुसारी व्याख्याताके मतका खण्डन किया है । इन तीनोके खण्डनके बाद अब चौथे व्याख्याता 'भट्टनायक' के मतकी आलोचना करनेके लिए पहिले उनके मतका प्रतिपादन करेंगे । भट्टनायक के मतमें शब्दमें अभिधा शक्तिके अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व दो व्यापार और माने गए हैं । अभिधा शक्ति वाक्यके अर्थका बोध कराती है । उसके बाद भावकत्व शक्तिसे राम सीता आदि के व्यक्तित्व रूप विशेषका परिहार होकर साधारणीकरण हो जाता है । उसके बाद भोजकत्व व्यापारसे उसका भोग या रसास्वादन होता है । इसलिए भट्टनायक रसकी न उत्पत्ति न प्रतीति और न अभिव्यक्ति मानते हैं । अपितु इन सबसे विलक्षण भावकत्व एव भोजकत्व व्यापार द्वारा उसका भोग मानते हैं । इस मतकी आलोचना करनेके पूर्व ग्रन्थकार उस मतको निम्न प्रकार उपस्थित करते हैं—

अभिनव०—[भरतसूत्रके चौथे व्याख्याता] भट्ट नायक तो [रससूत्रकी व्याख्या करते हुए] यह कहते है कि—रस न तो प्रतीत होता है । न उत्पन्न होता है, और न अभिव्यक्त होता है । [क्योकि यदि पर-गतत्वेन उसकी उत्पत्ति प्रतीति या अभिव्यक्ति कुछ भी मानी जाय सब ही व्यर्थ है । रसकी प्रतीति तो सामाजिकको होनी चाहिए । यदि सामाजिकमे उसकी अनुभूति न हो कर किसी अन्य नट आदिमे होती है तो वह सामाजिकके लिए व्यर्थ है । इसलिए परगतत्वेन उत्पत्ति आदिके विचारको छोड कर ग्रन्थकारने स्वगतत्वेन अर्थात् सामाजिकमे रसकी उत्पत्ति आदिके विषयमे विचार किया है] स्वगत [अर्थात् सामाजिकमे करुणादि रसोकी] प्रतीति माननेपर करुण रसमे [सामाजिकको] दु खी [प्रतीत] होना चाहिए । किन्तु वह प्रतीति युक्त नही है । [दु खके मूल कारण वास्तविक] (१) सीता आदिके विभाव [रूपमे उपस्थित] न होनेसे । (२) अपनी स्त्री आदिकी स्मृति [अभिनय कालमे] न होनेसे [दु.ख आदिका होना युक्ति सगत नही है । क्योकि यदि सामाजिकमे करुण रसकी प्रतीति मानी जाय तो उसके अनुभव कालमे उसको दु ख होना चाहिए । इसलिए भट्टनायकके अनुसार सामाजिकगतत्वेन रसकी

न च तद्वतो रामस्य स्मृतिरनुपलब्धत्वात् । न च शब्दानुमानादिभ्यस्तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता 'युक्ता प्रत्यक्षादिव । नायकयुगलावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिदिस्वोचितवृत्त्यन्तरोदय । अव्यग्रतयाकाशरसत्वमपि[2] स्यात् । तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता ।

उत्पत्तावपि तुल्यमेतद् दूषणम् ।

शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्ति । स्वगतपरगतत्वादि च पूर्ववद् विकल्प्यम् ।

प्रतीति नहीं बनती है। तीसरी बात यह है कि सीतादि अथवा पार्वती आदि] (३) देवता आदि [के विभाव होनेपर उन] के साधारणीकरणके अयोग्य होनेसे और [हनुमान् आदि जैसे विभावोके द्वारा किए गए] (४) समुद्र लंघन आदि [का साधारणीकरण असम्भव होनेसे उन] के असाधारण होनेसे [सामाजिकको स्वगत रूपसे रस की प्रतीति होना सम्भव नहीं है] ।

अभिनव०—और न उस [रत्यादि] से युक्त राम [आदि विभावो] की स्मृति [रूप वह रस प्रतीति] है [क्योकि स्मृति, पूर्व उपलब्ध अर्थकी ही होती है। रत्यादि युक्त रामके] पहिले उपलब्ध न होनेसे [रसानुभूतिको रत्यादिमान् रामकी स्मृति रूप भी नहीं कहा जा सकता है] । शब्द अनुमान आदि [परोक्ष ज्ञानके जनक प्रमाणो] से उस [रस] की प्रतीति माननेपर [उस ज्ञान के परोक्ष रूप होने और साक्षात्कारात्मक न होनेके कारण उसमे] प्रत्यक्ष ज्ञानसे जैसी सरसता होती है वैसी सरसता नहीं हो सकती है। [इसलिए शब्द अथवा अनुमान प्रमाणसे भी रसका ज्ञान नही माना जा सकता है। यदि लौकिक प्रत्यक्ष प्रमाणसे रसकी प्रतीति मानना चाहें तो वह भी युक्ति सङ्गत नहीं होता। क्योकि प्रत्यक्ष रूपसे सम्भोगादिमे रत] नायक-नायिकाके देखनेपर [रसके स्थानपर लज्जा घृणा और इच्छा आदि अपने अपने स्वभावके अनुरूप] दूसरे प्रकारकी चित्तवृत्तियोका उदय होगा। इसके अतिरिक्त [लज्जा जुगुप्सा आदि अन्य वृत्तियो का उदय हो जानेसे अव्यग्रता अर्थात्] तन्मयता न होनेके कारण [आकाश-पुष्प के समान आकाश-रस अर्थात्] रस-प्रतीतिका अभाव भी होगा। इसलिए [लौकिक प्रत्यक्षादि रूप] अनुभव, स्मृति [परोक्ष ज्ञान] आदि रूप रसकी प्रतीति मानना उचित नही है। [इसलिए भट्टनायकके मतमें 'रसो न प्रतीयते' यह कहा गया है]।

अभिनव०—[और रसकी] उत्पत्ति माननेमे भी ये सब दोष समान ही है। [इसलिए रसकी स्वगत या परगत उत्पत्ति भी नहीं जा सकती है। अब तीसरा अभिव्यक्ति-पक्ष रहता जाता है। उसके विषयमें भट्टनायक आगे कहते हैं कि]—

अभिनव०—शक्ति रूपसे पहिलेसे स्थित [रस] की [बादको विभाव अनुभाव आदि द्वारा] अभिव्यक्ति माननेपर [जैसे मन्द प्रकाशमे वस्तु स्पष्ट नहीं

---

१. प्रयुक्ता। २ यथापि। अनेकरसत्वमाप्यापि।

तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना,

---

दिखाई देती है अधिक प्रकाशमें अधिक स्पष्ट हो जाती है इसी प्रकार विभावादि] विषयोंकी वृद्धि आदिसे [रसानुभूतिमें भी न्यूनाधिक्य रूप] तारतम्य होने लगेगा [जो कि रसके अखण्ड एकरस एवं आत्मस्वरूप होनेके कारण उचित नहीं है]। और [वह अभिव्यक्ति सामाजिकको] स्वगत रूपसे होती है अथवा परगत [अर्थात् नटादिनिष्ठ] रूपसे होती है यह पहिले [प्रतीति एवं उत्पत्ति पक्ष] के समान विचारना चाहिए।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि रसकी उत्पत्ति अथवा प्रतीतिको परगत अर्थात् नटनिष्ठ माना जाय तो उससे सामाजिकको कोई लाभ नहीं है। परगत प्रतीति अथवा उत्पत्तिसे सामाजिकको रसास्वाद नहीं हो सकता है। इसी प्रकार परगत रसकी अभिव्यक्ति माननेसे भी सामाजिकको उसकी अनुभूति नहीं हो सकती है। इसलिए परगत प्रतीति तथा उत्पत्ति माननेके समान रसकी परगत अभिव्यक्ति मानना भी व्यर्थ है। इसके विपरीत रसकी स्वगत अर्थात् सामाजिक निष्ठ प्रतीत तथा उत्पत्ति माननेमें यह दोष दिया था कि उस अवस्थामें करुणादि रसमें सामाजिकको दु:खकी अनुभूति माननी होगी। यही दोष अभिव्यक्ति पक्षमें भी आवेगा। अर्थात् यदि सामाजिकमें स्वगत रसकी अभिव्यक्ति मानेंगे तो करुण रसमें उसको दु:खकी अनुभूति होगी। इसलिए भट्टनायकके मतमें रस न तो स्वगत या परगत रूपसे प्रतीत होता है, न उत्पन्न ही और न अभिव्यक्त होता है।

इस प्रकार भट्टनायकने रस विषयक अन्य मतों अर्थात् (१) उत्पत्तिवाद, (२) प्रतीतिवाद तथा (३) अभिव्यक्तिवाद तीनों मतोंका खण्डन कर दिया। तब उनके मतमें रसकी प्रतीति कैसे होती है यह प्रश्न स्वयं उपस्थित होता है। इसकेलिए वे अगली पंक्तियोंमें अपने मतका प्रतिपादन करेंगे। उनके अपने मतका सारांश यह है कि शब्दमें अभिधाके अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व शक्ति भी रहती है। अभिधासे शब्दार्थ वाक्यार्थ आदिकी प्रतीति होनेके बाद दूसरी भावकत्व शक्ति अथवा भावना शक्तिके द्वारा सीता राम आदिके विशेष व्यक्तित्वका निवारण अर्थात् साधारणीकरण किया जाता है। उसके बाद भोजकत्व शक्तिके द्वारा सामाजिकको रसका आस्वादन होता है। भट्टनायक अपने इसी सिद्धान्तको अगली पंक्तियोंमें प्रतिपादन करते हैं—

अभिनव०—इसलिए काव्यमें दोषाभाव तथा गुणालंकारमयत्व रूप लक्षणके कारण [अर्थात् दोष रहित, गुण तथा अलंकार सहित शब्द एवं अर्थको काव्य कहा जाता है इस काव्य-लक्षणके अनुसार] और नाटकमें [आंगिक, वाचिक सात्त्विक एवं आहार्य] चार प्रकारके अभिनय [सामाजिकके अपने भीतर रहने वाले समस्त अज्ञान आदि के निवारण करने वाले एवं विभावादि के साधारणीकरण रूप अभिधा के बाद [द्वितीय अंशपर] होने वाले भावकत्व व्यापारके द्वारा भाव्यमान [साधारणीकृत] रस, अनुभव, स्मृति आदिसे भिन्न प्रकारके रजोगुण तथा तमोगुण

अभिघातो द्वितीयेनाशेन भावकत्वव्यारेण भाव्यमानो रसो, अनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोदेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन पर भुज्यत इति ।

तत्र पूर्वपक्षोऽय भट्टलोल्लटपक्षानुभ्यपगमादेव नाभ्युपगम्यत इति तद्दूषणमनुत्थानोपहतमेव ।

प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च ससारे को भोग इति न विद्म । रसनेति चेत् सापि प्रतिपत्तिरेव । केवलमुपायवैलक्षण्यान्नामान्तर प्रतिपद्यताम्, दर्शनानुमितिश्रुत्युपमितिप्रतिभानादिनामान्तरवत् ।

के मिश्रणके कारण द्रवीभाव, विस्तार तथा विकास रूप सत्त्वगुणके प्राधान्यसे प्रकाश तथा आनन्दमय साक्षात्कारमें विश्रान्ति रूप एवं परब्रह्मके आस्वादके सदृश [भोग] भोजकत्व व्यापारके द्वारा अनुभव [भोग] किया जाता है। [यह भट्टनायक का अपना सिद्धान्त है] ।

भट्ट नायकके मतका खण्डन—

अभिनव०—यह [भट्टनायकका] पूर्वपक्ष [पहिले कहे हुए] भट्टलोल्लटके पक्षके खण्डन [अनभ्युपगम] से ही खण्डित हो जाता है। इस लिए उसका निराकरण करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती है। [अनुत्थानोपहतमेव] ।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है भट्टलोल्लटने विभावादिकेद्वारा उपचयको प्राप्त रत्यादि स्थायिभावको ही रस माना है। उसका खण्डन शकुकने अनेक युक्तियां देकर किया था। उन्ही युक्तियोसे भट्टनायकके इस मतका भी खण्डन हो जाता है। यही बात इन पक्तियोंमें कही गई है। इसके अतिरिक्त भट्टनायकके मतमें कुछ और भी दोष आते है। उनको आगे दिखलाते हैं। जिनमे सबसे मुख्य दोष यह है कि भट्टनायक शब्दके जो भावकत्व तथा भोजकत्व व्यापार मानते हैं वे किसी प्रमाणसे सिद्ध नही होते और न किसी अन्य आचार्यने माने हैं। इसलिए शब्दके इन दोनो व्यापारोकी कल्पना सर्वथा अप्रामाणिक है। इसके अतिरिक्त भट्टनायक रस की न उत्पत्ति मानते हैं न अभिव्यक्ति और न प्रतीति। ऐसा ससारमें कोई पदार्थ नही हो सकता है। जिसकी न उत्पत्ति हो, न अभिव्यक्ति, और न प्रतीति हो उसकी सत्तामें ही क्या प्रमाण हो सकता है। इस प्रकारके अनेक अन्य दोष भी भट्टनायकके मतमें आते हैं। उनको ग्रन्थकार अगली पक्तियोंमें दिखलाते हैं।

अभिनव०—और प्रतीति आदिसे भिन्न ससारमे भोग क्या है यह भी पता नही चलता है। [अर्थात् विषयकी प्रतीतिको ही भोग कहा जा सकता है। किन्तु भट्टनायक रसकी प्रतीति नहीं मानते हैं तब उसका भोग किसको कहा जायगा] ? आस्वादन [रसना] ही भोग पदसे अभिप्रेत है यह कहो तो वह [रसना या आस्वादन] भी तो प्रतीति रूप ही है। केवल उपायके भेद से ही उसका दूसरा नाम [रसनास्वादन आदि] भले ही रखलो। जैसे [भिन्न-भिन्न साधनो या प्रमाणों द्वारा उत्पन्न होने के कारण] एक ही ज्ञानको प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्दबोध और उपमिति ज्ञान आदि भिन्न नामोंसे कहा जाता है।

निष्पादनाभिव्यक्तिद्वयानभ्युपगमे च नित्यो वा असद्वा रस इति, न तृतीया गति स्यात्[1]। न चाप्रतीत वस्त्वस्ति व्यवहारे योग्यम्।

अथोच्यते प्रतीतिरस्य भोगीकरण, तच्च रत्यादिस्वरूपम्।

तदस्तु, तथापि न तावन्मात्रम्। यावन्तो हि रसास्तावत्य एव रसनात्मानः प्रतीतयो भोगीकरणस्वभावा। सत्त्वादिगुणाना चागागिवैचित्र्यमनन्त कल्प्यमिति का त्रित्वेनेयत्ता।

अभिनव०--[भट्टनायकके मतमे चौथा दोष यह आता है कि रसकी] उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति दोनो न माननेपर उस रसको या तो नित्य माना जाय अथवा असत् माना जाय। इसके सिवाय तीसरा मार्ग नही रह जाता है। [इसलिए रसकी उत्पत्ति और अभिव्यक्ति दोनो नही होती है यह नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार उसकी प्रतीतिका निषेध करना भी उचित नहीं है। क्योकि] बिना प्रतीति के कोई वस्तु व्यवहारके योग्य नही होती है।

भट्टनायक द्वारा स्वपक्ष समर्थन—

गत अनुच्छेदमें भट्टनायकके मतका जो खण्डन किया गया है उसमें सबसे अधिक बल भट्टनायक द्वारा कहे गए 'न प्रतीयते' इस अशके खण्डनपर दिया गया है और उसमे कहा गया है कि प्रतीतिके बिना व्यवहारादि ही कैसे होगा। इसके उत्तरमें भट्टनायकका यह कहना है कि हम रसकी प्रतीति नही मानते यह वात नही है। जब हम यह कहते हैं कि 'रसो न प्रतीयते' तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि वह घटादि वाह्य पदार्थोंके समान वाह्य रूपसे प्रतीत नही होता है। आन्तर भोगके रूपमें तो उसकी प्रतीति होती ही है। और वह आन्तर भोग रत्यादि रूप होता है। भट्टनायकके इसी दृष्टिकोणको अगली पक्तिमें निम्न प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

अभिनव—[भट्ट नायकको ओरसे इसका यह उत्तर है कि]—इस रसकी प्रतीति [उसका] भोगीकरण ही है और वह रत्यादि स्वरूप है।

भट्टनायकको इस युक्तिका उत्तर—

भट्टनायकको बातका ग्रन्थकार यह उत्तर देते हैं कि आपने इस दोपका समाधान कर दिया उसे ठीक भी मान ले तो भी आपके मतमे अकेला यही एक तो दोष नही है। और भी कई दोप हैं। जैसे आप अभिधा, भावकत्व तथा भोजकत्व तीन व्यापार मानते हैं। सो ये तीन ही व्यापार कैसे कहे जा सकते हैं। इस प्रकारके तो अनन्त व्यापार मानने होंगे। क्योकि—

अभिनव--तो वैसा ही सही, किन्तु केवल वह एक ही तो दोष नही है [न तावन्मात्र] जितने [शृगार करुण आदि] रस है उतनी ही प्रकारकी भोगीकरण रूप आस्वादनात्मक प्रतीतिया है। और उनके भी सत्त्व [रजोगुण तमोगुण] आदि गुणोके अगागिभाव [गुण-प्रधानभाव] के भेद [वैचित्र्य] से अनन्त [भेदो या] व्यापारोकी कल्पना करनी होगी। तव [भट्टनायकने जो अभिधा, भावकत्व तथा भोजकत्व रूप तीन व्यापार माने है वह] तीनकी सीमा ही कैसे रहेगी ?

आगे तीन शब्दव्यापारोंकी प्रतिपादक भट्टनायक की दो कारिकाए देते हैं—

---

१ न तृतीया गतिरस्याम्।

अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकरणमेव च ।
अभिधाधामता याते शब्दार्थालंकृती तत ॥
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो हि यत् ।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमन्नरै[1] ॥ इति ॥

यत् 'काव्येन भाव्यन्ते रसा.' इत्युच्यते तत्र विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वाद-रूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावन तदभ्युपगम्यत एव ।

[2]यदुक्तम्—

सवेदनाख्यया व्यग्यस्परसवित्तिगोचर ।
आस्वादनात्मानुभवो रस काव्यार्थ उच्यते ॥ इति ॥

तत्र व्यज्यमानतया व्यग्यो लक्ष्यते । अनुभवेन च तद्विपय इति मन्तव्यम् ।

भट्टनायक ध्वनिसिद्धान्तके विरोधी आचार्य हैं। उन्होंने 'हृदयदर्पण' नामका ग्रन्थ लिखा था । इस ग्रन्थमें ध्वनि सिद्धान्तका खण्डन किया गया था इसलिए इस ग्रन्थको 'ध्वनिध्वस' नामसे भी कहा जाता था। यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है । उसके कुछ उद्धरण अभिनवगुप्तने उद्धृत किए हैं । आगे दी जाने वाली कारिकाए अभिनवगुप्तने उसी ग्रन्थसे ली हैं ।

अभिनव—(१) अभिधा, (२) दूसरी भावना तथा (३) उसका भोगीकरण [अर्थात् भोजकत्व ये तीन शब्दके व्यापार हैं। उनसे पहिले] वाच्यार्थ एव वाच्यालकार आदि अभिधाके विषय [वाच्य] रूप से उपस्थित होते हैं । उसके वाद—

अभिनव— दूसरे भावना नामक व्यापारसे [साधारणीकरण द्वारा] जो भावित होता है वह शृगारादि समूह भी उसके भोगीकरण रूप [तीसरे व्यापारके द्वारा] सिद्धि युक्त [अर्थात् प्राक्तन पुण्यशाली] पुरुषो [सहृदयो] के द्वारा विशेष रूपसे अनुभव किया जाता है । [व्याप्यते विशेषेण आप्यते साक्षात्क्रियते] ।

ये भट्टनायककी दोनो कारिकाएं हैं। उनके द्वारा भावकत्व भोजकत्व व्यापारोका अनुवाद उनके खण्डनार्थ किया गया है । ये दोनो शब्दव्यापार प्रमाण सिद्ध नही हैं। इसलिए—

अभिनव—काव्यसे रसोकी भावनाकी जाती है 'काव्येन भाव्यन्ते रसा' यह जो कहा जाता है उसमे विभावादिसे उत्पन्न चर्वणात्मक आस्वाद रूप ज्ञानको विषय वनाना ही यदि भावना शब्दका अर्थ है तो उसको हम स्वीकार करते ही हैं [परन्तु उससे भट्टनायकके भावकत्व व्यापारकी सिद्धि नहीं होती है] ।

और जो यह कहा है कि—

अभिनव०—'सवेदन' नामसे व्यङ्ग्य, [पर-प्रधान] साक्षात्कारात्मक प्रतीतिका विषय और आस्वादन रूप अनुभवभूत रस ही काव्यका प्रयोजन कहलाता है ।

अभिनव०—[यहां 'सवेदन' पद भावकत्व भोजकत्व द्वारा अर्थकी अभिव्यक्तिका वोधक नहीं अपितु] व्यज्यमान रूपसे व्यङ्ग्य [अनुभव कालमे प्रतीत होने वाले रस] का वोधक है । और अनुभव पदमे रस-विषयका [अनुभव] समझना चाहिए ।

---

१. सिद्धिमान्नर । २ यत्तूतम् ।

नन्वेव कथ रसतत्त्वमास्ताम् ? कि कुर्म ?

आमायसिद्धे किमपूर्वमेतत् सविद्बिकासेऽधिगतागमित्वम् ।
इत्थ स्वयग्राह्यमहार्हहेतु—द्वन्द्वेन कि दूपयिता न लोक ॥

इस प्रकार रससूत्रके व्याख्याताओने जितनी भी व्याख्याए प्रस्तुतकी उन सबका खण्डन कर दिया गया है । ग्रन्थकारकी दृष्टिमे भट्टलोल्लट, शकुक, साख्यानुयायी तथा भट्टनायक मेंसे किसीकी भी रससूत्रकी व्याख्या ठीक नही जान पडती है । तब यह स्वय प्रश्न होता कि आखिर आप चाहते क्या हैं ? आपने तो सबके मतोका खण्डन कर डाला तब रस कहाँ रहेगा यह प्रश्न उपस्थित होता है । इस प्रश्नको पूछते हुए भट्टलोल्लटकी ओरसे पूर्वपक्षी कहता है कि जब आप सभी मतोका खण्डन किए जाते हैं । तब फिर—

अभिनव—ऐसी दशामे [बिचारा] रसतत्त्व [कहा] कैसे रहेगा ?

इसपर सिद्धान्तपक्षसे उसी प्रकारका उत्तर देते हैं कि रसतत्त्व कही रहे या न रहे पर किसीकी अप्रामाणिक बात तो नही मानी जा सकती है । सभी अप्रामाणिक मतोका खण्डन हो जानेसे रसतत्त्व की स्थिति कही नही बनती है तो इसके लिए—

अभिनव—हम क्या करें ?

यो कहने तो ग्रन्थकारने ऊपरकी पक्तिमें यह कह दिया रसतत्त्व कही रहे या न रहे इसमें हम क्या करें ? पर वास्तवमें तो ग्रन्थकारका यह अभिप्राय नही हो सकता है । और न है । ऊपरके मतोका खण्डन करनेमें ग्रन्थकारका अभिप्राय उन मतोका खण्डन करना मात्र नही है अपितु उनका अभिप्राय रसतत्त्वके वास्तविक स्वरूपका अनुसन्धान करना है । इन सब मतोकी आलोचना उन्होने उसी रसतत्त्वके यथार्थ स्वरूपके अनुसन्धान करनेके लिए की है । इसलिए उन्होने अपनी दृष्टिसे पूर्वाचार्योंके मतोका खण्डन नही अपितु शोधन किया है । अपने इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार अगले चार श्लोको द्वारा प्रकट करते हैं । पहिले श्लोकका भाव यह है कि यह ठीक है कि हमने प्राचीन सब व्याख्याताओके मतकी आलोचना कर डाली है । परन्तु उससे रसतत्त्वका खण्डन नही होता है । क्योकि रसतत्त्व तो आम्नायसे सिद्ध है । आम्नायसिद्ध अर्थका इस प्रकार की आलोचनासे लोप तो हो ही नही सकता है । अपितु उस प्रकारकी आलोचनासे क्रमश उसके स्वरूपका परिमार्जन होकर अन्तमें उसका प्रामाणिक स्वरूप सामने आ जावेगा । अन्यथा यदि उस सबसे आम्नाय सिद्ध अर्थके खण्डन करनेका प्रयत्न किया जायगा तो स्वत प्रमाण वेदसे सिद्ध अर्थका अपलाप करने वाला ही तो दूपित होगा । आम्नाय सिद्ध अर्थका तो कुछ नही बिगड सकता है । इसी बातको प्रथम श्लोकमें इस प्रकार कहा है—

अभिनव—वेद प्रतिपादित रसतत्त्वके विषयमे यह कोई नई बात नही है । [बहुतसे वैदिक सिद्धान्तोके खण्डन करनेका प्रयत्न लोग करते है । परन्तु उनसे नित्य वैदिक सिद्धान्तोका खण्डन तो होता नही अपितु क्रमश] बुद्धिका विकास होकर प्रामाणिक वस्तु-स्वरूप प्राप्त हो जाता है । अन्यथा इस प्रकार स्वत. प्रमाण स्वरूप बहुमूल्य शब्द प्रमाण [स्वयग्राह्य स्वत.प्रमाण, हेतु प्रमाण] के साथ विरोध [द्वन्द्व] करनेसे क्या [विरोध करने वाला] लौकिक प्रमाण [अथवा पुरुष] दूषित नहीं होगा ? [अर्थात् स्वत प्रमाण भूत वेदका विरोध करने वाला प्रमाण ही शब्द प्रमाणके सामने बाधित या दूपित होगा] ।

ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्व धी पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती ।
अल तदाद्यं परिकल्पिताना विवेकसोपानपरम्पराणाम् ॥
चित्र निरालम्बनमेव मन्ये प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम् ।
तन्मार्गलाभे सति सेतुबन्ध-पुरप्रतिष्ठादि न विस्मयाय ।
तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि ।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥

तर्ह्युच्यता परिशुद्धतत्त्वम् ।
उक्तमेव मुनिना, नत्वपूर्वं किञ्चित् ।

दूसरे श्लोकका भाव यह है कि इस प्रकारकी परीक्षामें ज्यों ज्यो आगे बढते जाते हैं त्यो-त्यो अर्थके यथार्थस्वरूपके पास पहुँचते जाते हैं। पहिली सभी विचारकी श्रेणियाँ उस अर्थतत्त्व की प्राप्तिकी सीढी मात्र हैं इसलिए उनके विषयमें अधिक चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

अभिनव—श्रान्तिका अनुभव न करनेवाली विवेचकोंकी बुद्धि ऊपर-ऊपर चढते हुए [अन्तमें] जिस अर्थ तत्त्वको देखती है [वही मुख्य उद्देश्य भूत अर्थतत्त्व है]। उस तक पहुंचानेवाली परिकल्पित विवेककी प्रारम्भिक सीढी [परम्परा] विशेष महत्त्वकी नहीं है [तदाद्यं अलम्]।

तीसरे श्लोकका भाव यह है कि संसारके सभी प्रमेय पदार्थोंका यद्यपि कोई आधार दिखलाई देता है परन्तु उस आधारका कोई आधार नही होता है। 'मूले मूलाभावादमूल मूलम्'। मूलका मूल, या जडकी जड नही होती है इसलिए आदि मूल, बिना मूलके निराधार निरालम्बन होता है। परन्तु उस निरालम्बन आदि मूलके आधारपर सारे जगत्का निर्माण हो जाता है। इसी प्रकार यद्यपि हमने रसके साधक आधारभूत समस्त सिद्धान्तोंका निराकरण कर दिया है इसलिए रस सिद्धान्त निरालम्बन-सा हो गया है। परन्तु उसी प्रथमावतार आदिमूलके आधारपर सारे साहित्यशास्त्र एव रसप्रासादका निर्माण हुआ है। श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

अभिनव—यह आश्चर्यकी बात है कि पदार्थोंकी रचनाका प्रथम आधार निरालम्बनसा ही होता है किन्तु उसके द्वारा नीव पड़ जानेपर उसके ऊपर पुलोंकी रचना तथा नगरोंका निर्माण भी आश्चर्यजनक नहीं होता है।

चौथे श्लोकमें प्राचीन व्याख्याओंकी आलोचनाका उपसहार करते हुए कहते हैं—

अभिनव—इसलिए हमने प्राचीन सज्जन आचार्योंके मतोंका [पूर्व आलोचनामें दूषण] खण्डन नहीं किया है अपितु [उन्हींका विशेष परीक्षा द्वारा] संशोधन किया है। क्योंकि पूर्व आचार्यो द्वारा स्थापित सिद्धान्तोंकी भली प्रकार सगति लगा देनेमें मौलिक सिद्धान्तोंकी स्थापनाका-सा ही फल मिलता है।

इसलिए हमारी पूर्व आलोचनाने प्राचीन आचार्योंके मतका खण्डन न समझ कर उसे रसतत्त्वके स्वरूप परिशोधनका प्रयत्नमात्र समझना चाहिए यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

अभिनव—[प्रश्न] तब फिर परिशुद्ध [रस] तत्त्वका कथन कीजिए।

अभिनव—[उत्तर] भरत मुनिने कह ही दिया है हमको नई बात नहीं कहनी है।

तथाह्याह 'काव्यार्थान् भावयन्ति' इति (अ० ७)। तत्काव्यार्थो रस ।

यथा हि "सत्रमासत', 'तामग्नौ प्रादात्' इत्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिण प्रतिपत्तिमात्रादतितीव्रप्ररोचितात् प्रथमाप्रवृत्तादनन्तरमधिकैव उपात्तकालतिरस्कारेणैव 'आसे' 'प्रददानि' इत्यादिरूपासक्रमणादिस्वभावा यथादर्शन प्रतिभा, भावना-विधि-²नियोगादिभाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्ति । तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्ति ।

अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदय । तस्य च 'ग्रीवाभगाभिरामम्' इति [शाकु १], 'उमापि नीलालक' इति [कुमार ३-६२], 'हरस्तु किंचित्' [कुमार ३-६७] इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तर मानसी साक्षात्कारात्मिका अपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते ।

अभिनव०—जैसाकि [भरतमुनिने] कहा है। 'काव्यके अर्थोंको प्रकाशित करते हैं'। वही काव्यार्थ रस है।

अभिनव०—जैसे कि [ब्राह्मण ग्रन्थोमे 'वनस्पतय. सत्रमासत', 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदाखिदत् तामग्नौ प्रादात्' आदि अर्थवाद-वाक्य आते हैं उनकी ओर सकेत करते हुए ग्रथकार कहते हैं कि] जैसे [वनस्पति आदि] 'यज्ञमे बैठे' [प्रजापतिने अपनी चर्बी निकाली और] 'उसको अग्निमे डाला' इत्यादि [अर्थवाद वाक्यो] मे अर्थित्व [सामर्थ्यादि] से लक्षित, अधिकारीकी [अर्थित्व सामर्थ्यादि अधिकारीके लक्षण कहे गए हैं। जो जिसका चाहनेवाला और उसको करनेमे समर्थ हो वह उस कर्मके करनेका अधिकारी है। उस अधिकारीको उक्त वाक्योको सुनकर] पहिले-पहिल होनेवाली, [अर्थवाद-वाक्योके द्वारा] अत्यन्त प्रशसित, सामान्य प्रतीतिके बाद [उस वाक्यमे] ग्रहण किए गए [भूत] कालकी उपेक्षा करके [उसी प्रकार मैं भी यज्ञमे] 'बैठू', 'देऊ', इत्यादि रूप [अर्थवाद वाक्योमे पढे हुए अर्थोंसे, अधिकारीमे] सक्रान्त होनेवाली [मीमासकमतमे] भावना, विधि, नियोग, आदि शब्दोके द्वारा व्यवहृत होनेवाली, अधिक ही प्रतीति होती है। इसी प्रकार काव्यात्मक वाक्यसे भी [काव्यके] अधिकारी सहृदय व्यक्तिको [सामान्य वाक्यार्थ-ज्ञानमात्रसे] अधिक ही [रसात्मक व्यग्यार्थकी] प्रतीति होती है।

अभिनव०—यहाँ निर्मल प्रतिभानशाली हृदय वाला [सहृदय] पुरुष [काव्यार्थ ज्ञानका] 'अधिकारी' है। और उसको [कालिदासके शकुन्तला नाटकमे आए हुए] 'ग्रीवाभगाभिराम', [कुमारसम्भवमें आए हुए] 'उमापि नीलालक' इत्यादि, तथा 'हरस्तु किंचित' इत्यादि श्लोक वाक्योसे वाक्यार्थकी प्रतीतिके बाद उस-उस वाक्यमे गृहीत कालादिके विभागकी उपेक्षा [साधारणीकरण] करने वाली, मानसी एव साक्षात्कारात्मिका प्रतीति उत्पन्न होती है।

---

१ रात्रिमासत। २. उद्योग।

तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति[1] तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति, त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितं, तत एव 'भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादिप्रत्ययेभ्यो 'दुःखसुखादिकृतवुद्धयन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं[2], साक्षादिव हृदये निविशमानं[3], चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं, भयानको रस.। तथाविधे हि भये नात्मात्यन्तं तिरस्कृतो, न विशेषत उल्लिखित.। एवं परोऽपि।

तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योर्भयकम्पयोरिव[5] वा। तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वेन परिपोषिका नटादिसामग्री। यस्या वस्तुसता काव्यार्पिताना च देशकालप्रमात्रादीना नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिवन्धवलादत्यन्तमपसारणे स एव साधारणीभाव सुतरा पुष्यति। अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्ति. सुतरा रसपरिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्। सा चाविघ्ना संवित् चमत्कार। तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादिविकारश्चमत्कार। यथा—

अभिनव०—और उस प्रतीतिमे जो मृग-शावक आदि विषय रूप से भासता है उसके [साधारणीकरण हो जानेसे] विशेष रूप न होनेसे [मृगपोत] विषयक 'यह भीत है', यह ज्ञान, तथा [भयके कारण] त्रासक [दुष्यन्तादि] के वास्तविक न होने [अर्थात् कल्पित होने]से, भय ही, देश काल आदिसे बिल्कुल असम्बद्ध, [रूपमें भासता है], इसीलिए मैं भीत हूं, अथवा यह भीत है, अथवा यह शत्रु, मित्र, या मध्यस्थ है इत्यादि सुख दु.ख आदिको देने वाले अन्य ज्ञानोको नियमसे उत्पन्न करने वाले, अत एव विघ्न बहुल ज्ञानोसे भिन्न, निर्विघ्न प्रतीतिसे [ग्राह्य भय रूप स्थायिभाव ही] साक्षात् हृदयमे प्रविष्ट होता हुआ-सा, आखोंके सामने घूमता हुआ-सा, 'भयानकरस' होता है। उस प्रकार के भयमे [सामाजिकका] आत्मा न अत्यन्त उपेक्षित होता है, और न विशेष रूपसे उल्लिखित होता है। इसी प्रकार अन्य [रस] भी होते हैं।

अभिनव०—इसलिए उन विभावादि का उसी देश कालमे परिमित रूपमे ही साधारणीकरण नहीं होता है अपितु धूम और अग्निके व्याप्तिग्रहमे, अथवा भय और कम्प आदिके व्याप्ति गृहके समान अत्यन्त विस्तृत रूपमे [साधारणीकरण] होता है। और इसमे साक्षात्कारात्मक रूपसे परिपोषिका नटादि सामग्री होती है। जिसमे वास्तवमे विद्यमान, और काव्यमें वर्णित, देश, काल, प्रमाता, आदिको नियामक हेतुओंके [नियमके] बन्धनसे अत्यन्त अलग कर देनेपर वह साधारणीकरण व्यापार अत्यन्त पुष्ट हो जाता है। इसलिए समस्त सामाजिकोको एकरूपसे ही प्रतीति होती है। जो रसकेलिए अत्यन्त परिपोषक हो जाती है। अनादि संस्कारो द्वारा चित्रित चित्त वाले सारे सामाजिकोकी एक जैसी वासना होनेके कारण [सबको एक जैसी ही रस प्रतीति होती है]। और वह विघ्नोसे सर्वथा रहित प्रतीति

१. भीति। २ ग्राहकहृद्य। ३ सुखदुःखादि कृतहानादि। ४. निपीयमानं। ५ देव।

अज्ज वि हरी 'चमकई कहविण मंदरेण कलिआइ ।
चंदकलाकंदल सच्छहाइ लच्छीए अंगाइ ॥
[अद्यापि हरेः चमत्कृतिकराणि न मन्दरेण कलितानि[2] ।
चन्द्रकलाकन्दलसच्छायानि लक्ष्म्या अंगानि ॥ इति संस्कृतम्] ।

[3]स चातृप्तिव्यतिरेकेणाविच्छिन्नो भोगावेश इत्युच्यते । भुञ्जानस्याद्भुतभोगास्पन्दाविष्टस्य च मनःचमत्करणं चमत्कार इति । स च साक्षात्कारस्वभावो मानसोऽध्यवसायो वा, संकल्पो वा, स्मृतिर्वा तथात्वेन स्फुरन्नस्तु । यदाह—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखिनोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ [शाकु ५] इत्यादि ।

'चमत्कार' कहलाती है । और उससे उत्पन्न होने वाले कम्प और रोमाञ्चोदय आदि [अनुभावात्मक] विकार भी 'चमत्कार' कहलाते हैं । जैसे—

अभिनव०—अब भी मन्दराचलने विष्णुके शरीरमें अपने स्पर्शसे [पुलक आदि रूप] 'चमत्कार'को उत्पन्न करने वाले, चन्द्रमाकी कलाके समान सुन्दर, लक्ष्मीके अंगोंको नहीं पहिचाना जान पड़ता है ।

अभिनव०—['यहाँ चमत्कार' शब्द रसानुभूति-जन्य पुलकादिके लिए प्रयोग किया गया है] । और वह [अविघ्न संवित् रूप चमत्कार] अतृप्तिसे भिन्न [अर्थात् पूर्ण तृप्ति रूप] भोगावेश कहलाता है । और [रसका] भोग करने वालेके, अद्भुत भोगात्मक व्यापार [स्पन्द] से आविष्ट मनका, चमत्कृत हो जाना ही 'चमत्कार' कहलाता है । [अर्थात् रसानुभूति तथा उससे जन्य पुलकादि दोनोंके लिए चमत्कार शब्दका प्रयोग होता है] । और वह साक्षात्कारात्मक मानस अध्यवसाय, या संकल्प, अथवा स्मृति, इस रूपसे प्रतीत हो सकता है । [अर्थात् उसके लिए स्मृति, संकल्प, मानस अध्यवसाय आदि शब्दोंका भी प्रयोग होता है] । जैसा कि [निम्न श्लोकमें कालिदासने] कहा है—

सुन्दर विषयोंको देख कर और मधुर शब्दोंको सुनकर जो सुखी व्यक्ति भी [मानो] किसी प्रिय जनसे उसका वियोग हो गया हो इस प्रकार कभी व्याकुल हो उठता है सो वासना रूपसे मनमें स्थित, किन्तु समझ में न आने वाले । पूर्वजन्मके परिचयोंको 'स्मरण' करता मालूम होता है । इत्यादि ।

यह कालिदास के शकुन्तला नाटकका श्लोक है । शकुन्तलाका प्रत्याख्यान कर देने वाले दुष्यन्तने जब गानेकी मधुर ध्वनि आती हुए सुनी तो वे व्याकुल हो उठे । उसी प्रसंगका यह श्लोक है । इसमें जो 'स्मरति' पद आया वह स्मरणके लिए नहीं आया अपितु पूर्वोक्त साक्षात्कारात्मक मानस व्यापार रूप 'चमत्कार' के लिए आया है । इसी बातको अगली पंक्तियोंमें कहते हैं—

---

१ चमत्कारोतीति कथयित्वा । २ दलितानि । ३ तथाहि— ४ मनःकरण ।

अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरुपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा, पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूतत्वात्। अपि तु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति। सर्वथा तावदेषास्ति प्रतीतिरास्वादात्मा यस्यां रतिरेव भाति। तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात् सा रसनीया सती न लौकिकी, न मिथ्या, नानिर्वाच्या, न लौकिकतुल्या, न तदारोपादिरूपा।

तथैव चोपचयावस्थासु देशाद्यनियन्त्रणात् अनुकारोऽपि अस्तु भावानुगामितया करणाद्। विषयसामग्र्यपि वा भवतु [१]वाह्या [२]विज्ञानवादानवलम्बनात्। सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रस। तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतय। तथा हि लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता सवित्तिरेव चमत्कार-निर्वेश-रसन-आस्वादन-भोग-समापत्ति-लय-विश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते।

अभिनव०—यहाँ 'स्मरति' इस पदसे जो 'स्मृति' दिखलाई है वह न्यायमे प्रसिद्ध [ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः] स्मृति नहीं है। क्योंकि पहलेसे इस अर्थका अनुभव नहीं हुआ है। अपितु प्रतिभान जिसका दूसरा नाम है इस प्रकारकी साक्षात्कारात्मक स्वभाव रूप ही यह [स्मृति] है। इसलिए यह आस्वादस्वरूप ऐसी प्रतीति अवश्य होती है जिसमे [निर्विघ्न रूपसे] रतिका ही भान होता है। इसी लिए अन्य विशेषो [भेदक धर्मों] से [अनुपहित] रहित होनेके कारण, आस्वाद योग्य होते हुए भी वह; न लौकिकी, न मिथ्या, न अनिर्वचनीय, न लौकिकके सदृश, या उसके आरोपादि रूप [कही जा सकती] है। [अपितु उन सब प्रतीतियोसे विलक्षण प्रतीति रूप है]।

अभिनव०—ऐसे ही [विभावादिसे उपचित स्थायिभावको रस मानने वाले भट्ट लोल्लटके मतानुसार रत्यादिकी] उपचयावस्थाओमे देश काल आदिसे अनियन्त्रित होनेसे [रत्यादिकी साक्षात्कारात्मक प्रतीति होती है। उसी प्रकार अनुक्रियमाण स्थायिभावको रस मानने वाले शंकुकके सिद्धान्तमे] अनुकरण भी भावोके अनुगामी रूपसे [पीछे] करनेसे वैसा ही [देशकालादिसे अनालिङ्गित] हो। तथा [भट्ट लोल्लट उपचित रतिको और शंकुक अनुक्रियमाण रतिको रस मानते हैं। उन दोनोके मतोमे] विज्ञानवादका अवलम्बन न करने से वाह्य विषय सामग्री [विभावानुभावादि] भी वैसी ही [देशकालादिसे अनालिङ्गित] रहे [उसमे कोई हानि नहीं] प्रत्येक दशामे [सर्वथा] आस्वादात्मक एव निर्विघ्न प्रतीतिसे ग्राह्य 'भाव' ही रस है। उसमे आने वाले विघ्नोके अपसारक विभावादि होते हैं। जैसे कि लोकमें होने वाली समस्त विघ्नोंसे रहित वह प्रतीति ही चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दोंसे कही जाती है।

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ तक निर्विघ्नप्रतीतिसे ग्राह्य भावको ही रस माना है। इसलिए उसमें विघ्न उत्पादन करने वाले कारणो तथा उनके निराकरणके उपायोका वर्णन आगे करते हैं—

---

१ 'वाह्या' नहीं है। २. विज्ञानवादावलम्बानात्।

विघ्नाश्चास्या सप्त[1]। १ प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावनाविरहा नाम। २ स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेश । ३ निजसुखादिविवशीभाव । ४ प्रतीत्युपायवैकल्यम् ५ स्फुटत्वाभाव । ६ अप्रधानता । ७ सशययोगश्च ।

१—तथाहि—सवेद्यमसम्भावयमान सवेद्ये सविद विनिवेशयितुमेव न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्न ।

तदपसारणे हृदयसवादो लोकसामान्यवस्तुविषय । अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेष्वखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढारूढप्रत्ययप्रसरकारी प्रख्यातरामादिनामधेयपरिग्रहश्चोपाय[2]। अत एव निस्सामान्योत्कर्षोपदेशव्युत्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तुविषयत्वादि नियमेन निरूप्यते[3] न तु प्रहसनादौ[4]। तच्च स्वावसर एव वक्ष्याम इत्यास्ता तावत् ।

अभिनव०—और उस [रस प्रतीति] मे सात विघ्न [निम्न प्रकार] होते हैं। १ ज्ञानके अयोग्य होना अर्थात् रसकी सम्भावनाका अभाव। २ स्वगत [सामाजिकगत] रूपसे अथवा परगत [अर्थात् नटगत] रूपसे देश-काल विशेषका सम्बन्ध। ३ अपने [व्यक्तिगत] सुखादिके वश [सामाजिकका] हो जाना। ४ प्रतीतिके उचित उपायोका अभाव। ५ स्फुट प्रतीतिका न होना। ६ अप्रधानता। तथा ७ सशयका योग।

इनमेंसे पहिला विघ्न प्रतीतिकी अयोग्यता अथवा रसकी असम्भावना है। इस विघ्न का उल्लेख कर उसके निवारणके उपायका प्रतिपादन अगले अनुच्छेदमें करते हैं—

१ अभिनव०—जैसे कि—ज्ञानके विषय [सवेद्य] को असम्भव समझने वाला व्यक्ति उस विषयमे अपने ज्ञानको ही निश्चित नही कर सकता है उसमे विश्रान्ति [या आनन्दकी अनुभूति] की तो बात ही क्या है। [इस लिए रसकी सत्ता ही न मानना या असम्भवना मानना,] यह [रसास्वादका] पहिला विघ्न है।

अभिनव०—उसके निराकरणका उपाय अन्य सामाजिकोके साथ लौकिक सामान्य [विभाव अनुभावादि रूप] वस्तुओके विषयमे हृदयकी एकरूपता है। लोकोत्तर [समुद्रलघनादि रूप] व्यापारोमे [असम्भावना विघ्नके निराकरणकेलिए] अखण्डित प्रसिद्धिसे उत्पन्न एव बद्धमूल विश्वासको परिपुष्ट करने वाले प्रख्यात राम आदि नामोका [नटादिमे] ग्रहण करना ही [असम्भावना दोषके निराकरणका उपाय] है। इसी लिए लोकोत्तर उत्कर्षका [प्रदर्शन एव उसके द्वारा सामाजिकको 'रामादिवत्प्रवर्तितव्य न रावणादिवत्' रामादिके समान आचरण करना चाहिए रावणादिके समान नहीं इस प्रकारका] उपदेश तथा ज्ञान जिसका प्रयोजन है इस प्रकारके नाटक आदिमे नियमसे प्रख्यात वस्तु रूप, विषय [कथानक तथा नायक] आदिका निरूपण होना है। प्रहसनादिमे [प्रख्यात वस्तु या नायकादिका गहण] नहीं किया जाता है। उसका अपने अवसर [अर्थात् नाटक प्रहसनादिके लक्षण करते समय] ही निरूपण करेगे। इसलिए इस समय उसकी आवश्यकता नहीं है।

---

१ दि म मे नहीं है। २ परिग्रह। ३ निरूपयिष्यते। ४ दाविव।

२–स्वैकगताना च सुखदु खसविदामास्वादे यथासम्भव तदपगमभीरुतया वा, तत्परिरक्षाव्यग्रतया वा, तत्सदृशार्जिजीविषया वा, तज्जिहासया वा, तत्प्रचिख्यापयिषया वा, तद्गोपनेच्छया वा, प्रकारान्तरेण वा, सवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्न ।

परगतत्वनियमभाजामपि सुखदु खाना सवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदु खमोहमाध्यस्थ्यादिसविदन्तरोद्गमनसम्भावनादवश्यभावी विघ्न ।

'तदुपसारणे[1] 'कार्यो नातिप्रसगोऽत्र'[2] इत्यादिना, 'पूर्वरंगविधि प्रति' इति पूर्वरगानिगूहनेन, 'नटी विदूषको वापि' इति लक्षितप्रस्तावनावलोकनेन च, यो नटरूपताधिगमस्तत्पुरस्सर प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपाय, अलौकिकभाषादिभेद-लास्याग-रंगपीठ-मण्डपगतकक्ष्यादिपरिग्रहनाट्यधर्मिसहित । तस्मिन् हि सति, [3]अस्यैव, अत्रैव, [4]एतर्ह्येव, च सुखं दु ख वेति न भवति । प्रतीतिस्वरूपस्य निह्नवात्, रूपान्तरस्य चारोपितस्य प्रतिभासविद्विश्रान्तिवैकल्येन स्वरूपे विश्रान्त्यभावात् । सत्ये [5]तदीयरूपचिह्नवमात्रे एव पर्यवसानात् ।

---

२. अभिनव०—[यदि सामाजिक]स्वगत सुख दुःख आदि प्रतीतियोका आस्वादन करता है तो, कभी उसके नष्ट होनेके भयसे, कभी उसकी रक्षाके लिए व्यग्र होजानेसे, अथवा उसके सदृश अन्य सुखकी प्राप्तिकी इच्छासे, अथवा उस [दु.ख] के परित्याग की इच्छासे, अथवा उसको प्रकट करनेकी इच्छासे, या उसको छिपानेकी इच्छासे अथवा अन्य किसी प्रकारसे, अन्य ज्ञानका उत्पन्न हो जाना ही [रसास्वादका] महाविघ्न है ।

अभिनव०—और परगतत्वके नियमसे युक्त [नियमत नटगत रस] माननेपर भी सुख दु.ख आदिका संवेदन होनेपर [सामाजिकको] अपने भीतर निश्चय रूपसे सुख, दु ख, मोह या माध्यस्थ्यादि अन्य ज्ञानोके उत्पन्न होनेसे [रसास्वादमे] विघ्न अवश्य होगा ।

अभिनव०—उसके निराकरणकेलिए [५-१५८ मे कहे हुए] 'कार्यो नातिप्रसंगोऽत्र' इत्यादिके द्वारा, तथा 'पूर्वरंग विधि प्रति' इत्यादि द्वारा [निर्दिष्ट] पूर्वरंगके [अनिगूहन] दर्शन एव 'नटी विदूषको वापि' इस रूपमे लक्षित प्रस्तावनाके अवलोकन से जो नटरूपताकी प्रतीति होती है, उसके साथ [अनुकार्य रामादिके वेष भूषाके अनुरूप] मुकुटादिके द्वारा अलौकिक भाषादिके भेद, नृत्यादिके अंग, रगपीठ तथा मण्डपगत कक्ष्यादिके परिग्रहरूप नाट्यधर्मो सहित, नटके स्वरूपप्रच्छादनका प्रकार, उपाय है । क्योकि उसके होनेपर इसी [नट] को, यहाँ ही, और इसीसे सुख या दु.ख होता है यह नहीं कहा जा सकता है । [नट की] प्रतीतिके स्वरूपका [मुकुटादि द्वारा] आच्छादन हो जानेसे, दूसरे आरोपित रूप [रामादि] के प्रतिभानात्मक सविद्मे विश्रान्त न होनेसे, और अपने स्वरूपमें विश्रान्तिका अभाव होनेसे । [स्वरूपमे विश्रान्तिके] होने पर इसके [नट]के स्वरूपके आच्छादनमे ही पर्यवसान हो जानेसे ।

---

१ तदपाकरणे । २ ना शा ५, १५८ । ३ तस्यैव । ४ एतस्यैव । ५ तदीय ।

'स एष सर्वो मुनिना साधारणीभावसिद्ध्या रसचर्वणोपयोगित्वेन परिकरबन्ध समाश्रित इति तत्रैव स्फुटीभविष्यति । तदिह तावन्नोद्यमनीयम्[2] । तत स एष स्वपर-नियतताविघ्नापसरणप्रकारो व्याख्यात ।

३–निजसुखादिविवशीभूतश्च कथ वस्त्वन्तरे सविद विश्रामयेदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय 'प्रतिपदार्थनिष्ठसाधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभि , शब्दादिविषयमयीभि , आतोद्य-गान-विचित्रमण्डपपद-विदग्धगणिकादिभिरुपरजन समाश्रित, येनाहृदयोऽपि हृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते । उक्त हि 'दृश्य श्रव्य च' [ना० शा० १-११] इति ।

४–किञ्च प्रतीत्युपायानामभावे कथ प्रतीतिभाव ?

५–अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिंगसम्भवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति, स्फुटप्रतीतिरूपप्रत्यक्षोचितप्रत्ययसाकाक्षत्वात् ।

यथाहु —

अभिनव०—भरतमुनिने साधारणीकरणकी सिद्धि द्वारा रसास्वादनके उपयोगी इस सब कारण-कलापका सग्रह कर दिया है यह बात यथास्थान वहा ही स्पष्ट होगी । इसलिए यहाँ उसके वर्णनकी आवश्यकता नहीं है। इस तरह यह नियत रूप से स्वगत या परगत [रसानुभूतिमे आने वाले] विघ्नोके निराकरणका प्रकार दिखलाया है ।

३ अभिनव०—अपने निजी [व्यक्तिगत] सुख दु ख आदिके विवश हुआ व्यक्ति [रसास्वाद रूप] अन्य वस्तुमे अपने ध्यानको एकाग्र कैसे कर सकता है ? इसलिए [रसानुभूतिमे यह तीसरा विघ्न है] उस विघ्नके निराकरणकेलिए [नाटक आदिमे] प्रत्येक पदार्थमे रहने वाले साधारणीकरणके प्रभावसे सबके भोग्य होने योग्य, शब्दादि विषयोसे युक्त, एव गाने बजाने और विचित्र प्रकारके नृत्य आदि [मण्डपपद] मे चतुर गणिकादिके द्वारा [सामाजिकके] मनोरजनका आश्रय लिया जाता है । जिससे शुष्क-अरसिक-व्यक्तिभी हृदयकी विमलता-सरसता को प्राप्त कर सहृदय-सा बन जाता है। [इसीलिए] 'दृश्य श्रव्य' आदि [दोनो प्रकारके काव्य नाटक आदि रसास्वादके उपाय होते हैं यह] कहा है ।

४ अभिनव०—और प्रतीतिके उपायोके अभावमे [रसकी] प्रतीति कैसे हो सकती है [यह रसप्रतीतिका चौथा विघ्न है] ।

५ अभिनव०—परोक्ष [अस्फुट] प्रतीतिके जनक शब्द तथा अनुमान के होनेपर भी साक्षात्कारात्मक [स्फुट] प्रतीति रूप प्रत्यक्षकी आकाक्षा बनी रहनेसे उस [शब्द या अनुमानसे उत्पन्न होने वाली परोक्ष] प्रतीतिकी विश्रान्ति नहीं होती है ।

अभिनव०—जैसा कि [वात्स्यायन भाष्यमे] कहा है—

१ तथाहि—[illegible] पाठ्यपुस्तक[illegible]कादि [illegible] न दृष्टम् । न च तत्र किंचिन कथचित्सम्भा-[illegible]मान[illegible]दिति । यह अधिक पाठ है । २ नोन्नयनीयम् । ३ प्रतिपदार्थनिष्ठं ।

'सर्वा चेय प्रमिति प्रत्यक्ष परा' इति। [न्याय सू० भा० १-३]।

स्वसाक्षात्कृते आगमानुमानशतैरप्यन्थाभावस्यासवेदनात्[1]। अलातचक्रादौ [2]साक्षात्कारेणैव वलवता 'तत्प्रतीत्यवधारणादिति लौकिकस्तावदय क्रम। तस्मात् तदुभयविघ्नविघाते, अभिनया लोकधर्मिवृत्तिप्रवृत्त्युपस्कृता समभिपिच्यन्ते। अभिनयन हि शब्दलिगव्यापारविसदृशमेव प्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति निश्चेष्याम।

६ अप्रधाने च वस्तुनि कस्य सविद्विश्राम्यति? तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तर प्रत्यनुधावत स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात्। 'अतोऽप्रधानत्व जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च सविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखप्रेक्षिणि सम्भवतीति तदतिरिक्त स्थाय्येव तथा चर्वणापात्रम्।

अभिनव०—[शब्द अनुमान उपमानादि प्रमाणोसे उत्पन्न होने वाली] 'यह सारी प्रमिति प्रत्यक्ष परक [प्रत्यक्षप्रधान] है'। [क्योकि शब्दसे ज्ञान होनेपर भी अनुमानसे जाननेकी अनुमानसे जाने हुए को भी प्रत्यक्षसे जानने की इच्छा होती है। प्रत्यक्षके बाद इच्छा पूर्ण होजानेसे सारे ज्ञानोमे प्रत्यक्ष की प्रधानता है]।

अभिनव०—स्वयं साक्षात्कार किए हुए अर्थमे सैकड़ो शब्द तथा अनुमानो [के विरोध] से भी परिवर्तन नहीं होता है। [जलती हुई लकडीको पकड़ कर जोरसे घुमानेपर अग्निका गोल चक्र दिखलाई देता है इसको 'अलातचक्र' कहते हैं। इसमें गतिके वेगसे चक्रकी प्रतीतिमात्र होती है वास्तविक चक्र नही होता है फिर भी] अलातचक्रा आदिमे प्रवल साक्षात्कारात्मक ज्ञानके कारण ही उसकी प्रतीति होती है यह लौकिक [अलातचक्रादिकी प्रतीतिका] क्रम है। इसलिए [४ प्रतीत्युपाय वैकल्प तथा ५ स्फुटत्वभाव] इन दोनोसे उत्पन्न विघ्नोके निराकरणकेलिए उन लौकिक धर्मी, वृत्ति तथा प्रवृत्ति [इनका वर्णन यथास्थान आया है] से युक्त अभिनयोंका ही अभिषेक किया गया है [अर्थात् अभिनयके द्वारा उपायाभाव तथा स्फुटत्वाभाव निवारण होकर साक्षात्कारात्मक रसानुभूति होती है]। क्योकि अभिनय, शब्द तथा अनुमानसे भिन्न प्रकारका प्रत्यक्ष जैसा व्यापार है यह वात आगे सिद्ध करेंगे।

६ अभिनव०—[गुणालंकारादिकी अपेक्षा रस अप्रधान या गौण है ऐसी भ्रान्ति किन्हीको हो सकती है उस] अप्रधान वस्तुमे किसकी अनुभूति विश्रान्त हो सकती है? [किसीकी नही]। दूसरे प्रधानकी ओर, दौड़ने वाली उसी [अप्रधान] प्रतीतिकी अपनेमे विश्रान्ति नहीं हो सकती है। [इसलिए रसकी अनुभूतिमे उसकी अप्रधानता छठा दोष विघ्न हो सकती है]। वह अप्रधानत्व अचेतन विभाव अनुभाव समुदायमे, और ज्ञान रूप होनेपर भी नियमसे दूसरे [स्थायिभाव] का मुंह ताकने वाले व्यभिचारिभावमेभी हो सकता है, इसलिए उन [विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव] से अतिरिक्त स्थायिभाव ही [चर्वणा] आस्वादनके योग्य होता है।

---

१ अनन्यथाभावस्यस्य सवेदनात्। २ साक्षात्कारान्तरेणैव। ३. तदवधारणात्।

तत्र पुरुषार्थनिष्ठा काश्चित्संविद एव प्रधानम् । तद्यथा रति 'काम-तदनुप-गिधर्मार्थनिष्ठा । क्रोधस्तत्प्रधानेष्वर्थनिष्ठ । कामधर्मपर्यवसितोऽप्युत्साह रागस्तधर्मा-दिपर्यवसित । तत्त्वज्ञानजनितनिर्वेदप्रायो विभावो मोक्षोपाय इति तावदेषा प्राधान्यम् ।

यद्यपि चैषामन्योन्य गुणभावोऽस्ति, तथापि तत्तत्प्रधाने रूपके तत्तत्प्रधान भवतीति रूपकभेदपर्यायेण सर्वेषा प्राधान्यमेषा लक्ष्यते । अदूरभागाभिनिविष्टदृशस्त्वे-कस्मिन्नपि रूपके पृथक् प्राधान्यम् ।

तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधाना । स्वसंविच्चर्वणारूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसार-त्वात् । तथा हि—एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्ति । अन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात् । अविश्रान्तिरूपतैव दु खम् । तत एव कापिलैर्दु खस्य चाचल्यमेव प्राणत्वेनोक्तम् । रजोवृत्तिता वदद्भि । इत्यानन्दरूपता सर्वरसानाम् । किन्तुपरञ्जकविषयवशात् तेषामपि कटुकितास्पर्शोऽस्ति वीरस्येव स हि क्लेशसहिष्णुता-दिप्राण एव । एव रत्यादीना प्राधान्यम् ।

अभिनव०—उनमेसे पुरुषार्थ-सम्बद्ध कोई रसानुभूति ही प्रधान होती है । जैसे कि रति [मुख्य रूपसे] काम, तथा [गौण रूपसे] उसके साथ सम्बद्ध धर्म तथा अर्थसे सम्बद्ध होती है । क्रोधप्रधान व्यक्तियो क्रोध अर्थनिष्ठ होता है । [मुख्य रूपसे] काम तथा धर्ममे पर्यवसित होने वाला उत्साह भी धर्मादि सबमे होता है । तत्त्व-ज्ञानजन्य निर्वेद-प्रधान [मुनि आदि रूप] विभाव वाला [शान्त रस] मोक्षका उपाय है । इसलिए इन [रति, क्रोध, उत्साह, निर्वेद] की प्रधानता होती है ।

अभिनव०—यद्यपि इन [चारो] का एक दूसरेके प्रति गुणभाव भी हो सकता है किन्तु उस-उस रस-प्रधान रूपकमे उस-उसकी ही प्रधानता होती है । इसलिए रूपकोके भेदके क्रमसे इन सबकी प्रधानता होती है । और सूक्ष्म विवेचको [अदूरभागाभिनि-विष्टदृश] के लिए तो एक रूपकमे भी [इनका] अलग-अलग प्राधान्य हो सकता है ।

अभिनव०—उनमे से ये सभी [रस] स्वसाक्षात्कारात्मक आस्वादस्वरूप ज्ञान के आनन्दमय होनेसे सुखप्रधान [आनन्दमय] होते है । जैसे कि—केवल शोकानुभूति के आस्वादनमे भी उसके निर्विघ्न विश्रान्ति रूप होनेसे लोकमे [अत्यन्त सुकुमार हृदय] स्त्रियोको भी हृदयकी विश्रान्ति [आनन्द] प्राप्त होती है । [हृदयकी] अविश्रान्तिका नाम ही दु ख है । इसीलिए साख्य दर्शनके मानने वाले [कपिलके अनुयायियो] ने [दु खको] रजोगुणकी वृत्ति कह कर, चचलता [अविश्रान्ति] को ही दु खका प्राण कहा है । इसलिए [जब करुण रस तकमे हृदयकी विश्रान्ति प्राप्त होती है तो] सब रसोकी आनन्दरूपता ही है । किन्तु उपरञ्जक विषयोके कारण, वीररसके समान उनमे भी दु खका स्पर्श रहता है । क्योकि वह [वीररस] क्लेश सहिष्णुतादि प्रधान होता है । इस प्रकार रति आदि [चार रसो] की [अन्योकी अपेक्षा] प्रधानता है ।

हासादीना तु सातिशयं सकललोकसुलभविभावतयोपरजकत्वमिति न प्राधान्यम्। अत एवानुत्तमप्रकृतिषु वाहुल्येन हासादयो भवन्ति। पामरप्राय सर्वोऽपि हसति, शोचति, विभेति, परनिन्दामाद्रियते। अल्पसुखभागित्वेन[1] च सर्वत्र विस्मयते। रत्याद्यङ्गतया तु पुमर्थोपयोगित्वमपि स्यादेषाम्। एतद्गुणप्रधानभावकृत एव दशरूपकादिभेद इति वक्ष्याम.।

स्थायित्व चैतावतामेव। जात एव हि जन्तुरियतीभि सविद्भि परीतो भवति। तथाहि—'दु खसंश्लेषविद्वेषी सुखास्वादनसादर' इति न्यायेन सर्वो रिरसया व्याप्त, स्वात्मन्युत्कर्पमानीतया, परमुपहसन्, अभीष्टवियोगसन्तप्त, तद्धेतुषु कोपपरवश, अशक्तौ च ततो भीरु, किंचिदर्जिजीषुरपि, अनुचितवस्तुविषयवैमुख्यात्मकतयाक्रान्त, किंचिदनभीष्टतयाभिमन्यमान,[2]तत्तत्स्वपरकर्तव्यदर्शनसमुदितविस्मय, किंचिच्च जिहासुरेव जायते।

अभिनव०—और हास [शोक भय जुगुप्सा विस्मय] आदिका तो विशेष रूपसे सर्वसाधारण लोगोमे पाए जाने वाले विभावोके द्वारा उपरंजकत्व होता है इसलिए [उन चारो रसो] का प्राधान्य नहीं माना जाता है। इसीलिए उत्तम प्रकृति [के रामादि सदृश उच्च कोटिके नायकादि] मे हास आदि अधिक नही [वर्णित] होते हैं। और नीच सदृश सभी [नायकादि विशेष रूपसे] हसते है, [कुछ अत्यधिक] शोक करते हैं, [कभी] डरते हैं, [कभी] दूसरे की निन्दा करते हैं, और थोड़ा सुख प्राप्त करनेके कारण [दूसरोके अधिक सुख वैभव आदिको देख कर] विस्मित होते है। [ये पांचोकी प्रधान नहीं]। रति आदि के अङ्ग रूपमें तो इनकी पुरुषार्थके प्रति उपयोगिता भी हो सकती है। इन [रसो] के गुणप्रधान भावके कारण ही [नाटकादि] दश प्रकारके रूपक आदिका भेद होता है यह आगे कहेंगे।

अभिनव०—स्थायिभाव तो इतने ही होते हैं क्योकि उत्पन्न हुआ प्राणी इतनी ही वासनाओसे युक्त उत्पन्न होता है। जैसे कि—'दु खके सम्पर्कसे द्वेष करने वाला तथा सुखास्वादमें तत्पर होता है' इस नियमसे, १ प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर उत्कर्षको प्राप्त रमण करनेकी इच्छा से युक्त होता है [इससे रतिका स्थायिभावत्व सूचित होता है] २ रमणेच्छाके कारण दूसरेका उपहास करता है [इससे हासका], ३ प्रिय वस्तुके वियोगसे दु खी होता है [इससे शोकका], ४ उस [वियोग] के कारणोके प्रति क्रोध करता है [इससे क्रोधका], ५ शक्ति न होने पर उनसे डरता है [यह भयका], ६ किसीको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है [इससे उत्साहका], ७ कभी अनुचित वस्तु रूप विषयके प्रति घृणासे भर जाता है किसीको अनभीप्सा मानता है, [इससे जुगुप्साका], ८ अपने तथा दूसरोके उस-उस प्रकारके [आश्चर्यजनक] कार्योको देखकर विस्मित होता है [इससे विस्मयका], और ९ किसीको त्याग करनेकी भी इच्छा करता है [इससे निर्वेदका स्थायिभावत्व सूचित किया है]।

---

१ भावित्वेन। २. तत्तत्स्वकर्तव्य।

न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्य प्राणी भवति। केवल कस्यचित् काचिदधिका चित्तवृत्ति काचिदूना। कस्यचिदुचित्तविषयनियन्त्रिता, कस्यचिदन्यथा। तत्काचिदेव पुमर्थोपयोगिनीत्युपदेश्या। तद्विभावकृतश्चोत्तमप्रकृत्यादिव्यवहार।

ये पुनरमी ग्लानिशकाप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावाभावाज्जन्म-[1] मध्येऽपि न भवन्त्येव। तथाहि—रसायनमुपयुक्तवतोमुनेर्ग्लान्यालस्यश्रमप्रभृतयो नोत्तिष्ठन्ति। यस्यापि वा भवन्ति विभावबलात्तस्यापि हेतुप्रक्षये क्षीयमाणा सस्कार-शेषता तावत् नावश्यमनुवध्नन्ति। उत्साहादयस्तु सम्पादितकर्तव्यतया प्रलीनकल्पा अपि सस्कारशेषता नातिवर्तन्ते। कर्तव्यान्तरविषयस्योत्साहादेरखण्डनात्। यथाह पतञ्जलि —

'न हि चैत्र एकस्या स्त्रिया रक्त इत्यन्यासु विरक्त'[2] इत्यादि।

अभिनव०—इन चित्तवृत्तियोके [स्थायिभावात्मक] सस्कारोसे रहित कोई भी प्राणी नहीं होता है। केवल [इतना अन्तर होता है कि] किसी प्राणीकी कोई चित्तवृत्ति अधिक होती है, और किसीकी कोई कुछ कम होती है। किसीकी [चित्तवृत्ति] उचित विषयमे नियन्त्रित होती है और किसी इसके विपरीत [अर्थात् अनुचित विषयमे और अनियन्त्रित होती है]। इसलिए कोई-कोई ही पुरुषार्थ [धर्म अर्थ काम मोक्ष आदि] मे उपयोगिनी होनेसे उपदेश करने योग्य होती हैं। और उन्हीके विभाव [रामादि] के कारण उत्तम प्रकृति आदि [नायक भेदो] का व्यवहार होता है।

इस प्रकार इस अनुच्छेद में स्थायिभावोके स्थायित्वका प्रतिपादन करनेके बाद अगले अनुच्छेदमें व्यभिचारी भावोके अस्थायित्व या व्यभिचारित्वका प्रतिपादन करते हैं—

अभिनव०—और जो ये ग्लानि, शका आदि रूप विशेष प्रकारकी [व्यभिचारि-भावात्मक या अस्थायी] चित्तवृत्तियां हैं वे अपने योग्य विभावादिके अभावमे जन्म के भीतर भी [सदा विद्यमान] नही होती हे। जैसे कि—रसायन [औषधि] का सेवन करने वाले मुनियोको ग्लानि, आलस्य आदि उत्पन्न नही होते है। [विभाव] कारणोके द्वारा जिसको [कुछ समयके लिए] होते भी है उसके भी कारणके दूर हो जाने पर नष्ट हो जाते हैं। सस्कार रूपसे अवश्य शेष बने रहे यह नही होता है। [अत वे व्यभिचारिभाव हैं। इसके विपरीत स्थायिभाव] उत्साहादि अपने आवश्यक कार्यको समाप्त कर चुकनेसे विलीन-प्राय हो जाने पर भी सस्कार रूपसे अवश्य विद्यमान रहते हैं। क्योकि अन्य कार्योके विषयमे उत्साहादि की समाप्ति तो नही होती है। जैसा कि पतजलिने [योगदर्शनके व्यासभाष्यमे] कहा है—

'चैत्र किसी एक स्त्री प्रति अनुरक्तहै इसका यह अभिप्राय नही है कि वह अन्य स्त्रियोके प्रति विरक्त है'। अर्थात् [उनमे अव्यक्त रूप से राग हो सकता है] इत्यादि।

१. जगन्मध्येऽपि। २ व्यासभा २-४।

तस्मात् स्थायिरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी व्यभिचारिण. स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माण प्रतिलभमाना रक्तनीलादिसूत्रस्यूत[1]-विरलभावोपलम्भनसम्भावितभङ्गीसहस्रगर्भ-स्फटिक-काच-अभ्रक[2]-पद्मराग-मरकत - महानीलादिमयगोलकवत् तस्मिन् सूत्रे स्वसस्कारवैचित्र्यमनिवेशयन्तोऽपि तत्सूत्रकृतमुपकारसन्दर्भ विभ्रत[3] स्वय च विचित्रार्थस्थायिसूत्र च विचित्रयन्तोऽन्तरान्तरा शुद्धमपि स्थायिसूत्र प्रतिभासावकाशमुपनयन्तोऽपि पूर्वापरव्यभिचारिरत्नच्छायाशबलिमानमवश्यमानयन्त प्रतिभासन्त इति व्यभिचारिण उच्यन्ते ।

तथाहि—ग्लानोऽयमित्युक्ते, कुत इति हेतुप्रश्नेनास्थायितास्य[4] सूच्यते । न तु राम उत्साहशक्तिमान् इत्यत्र हेतुप्रश्नमाहु ।

अभिनव०—इसलिए स्थायिभाव रूप चित्तवृत्तिके सूत्रमे बधे हुए ही ये [ग्लानि आदि] व्यभिचारिभाव उदय अस्त रूप अनेको विचित्रताओंसे युक्त अपने स्वरूपको प्राप्त कर, लाल, नीले आदि डोरोमे पिरोए हुए, अलग-अलग रूपसे पाए जानेके कारण, सहस्रो भेद सम्भव होनेसे, स्फटिक, काच, अभ्रक, पद्मराग मरकत और महानील आदि [मणियों] के दानोंके समान उस [स्थायिभावात्मक] सूत्रमे अपने विचित्र सस्कारोका समावेश न कराते हुए भी, उस [स्थायिभाव रूप] सूत्रके द्वारा किए जाने वाले अनेक उपकारोको धारण करके स्वयं अपनेको और विचित्र अर्थ वाले उस स्थायिभावात्मक सूत्रको भी नानारूपमें प्रकट करते हुए, और वीच-वीच में कहीं-कहीं उस शुद्ध स्थायिभावात्मक सूत्रको भी प्रकाशित होनेका अवसर प्रदान करते हुए भी आगे पीछेके व्यभिचारिभाव रूप रत्नोकी छायासे अवश्य ही मिश्रित रूप [शबलिमान] से दिखलाते हुए प्रतीत होते हैं। इसलिए व्यभिचारिभाव कहलाते हैं।

यहाँ ग्रन्थकारने स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभावोको स्थितिका स्पष्टीकरण मालाके दृष्टान्तसे किया है। मालामें अनेक रङ्ग-विरङ्गे दाने एक सूत्रमें पिरोए जाते हैं। उन दानोके द्वारा मालाको गु फित रखने वाले सूत्रके स्वरूपमें कोई वास्तविक अन्तर नहीं होता है। किन्तु फिर भी उसमें एक वैचित्र्य प्रतीत होने लगता है। जहाँ-जहाँ जिस रङ्गके दाने हैं वहाँ वहाँ सूत्र उसी विचित्र रूपका प्रतीत होता है। किन्तु वीच-वीचमें कही सूत्रका शुद्ध रूप भी प्रतीत होता है। इसी प्रकार रसानुभूतिके प्रसङ्गमें अनेक प्रकारके व्यभिचारिभाव एक स्थायिभाव रूपमें सूत्रमें गु फित होते हैं। वे स्थायिभाव-रूप सूत्रके स्वरूपमें कोई अन्तर नही करते हैं। विविध प्रकारके स्थायिभावोको सूत्रित करने वाला स्थायिभाव एक रूप ही रहता है। फिर भी विविध व्यभिचारिभावो के कारण उसमें विचित्रता प्रतीत होती है। और वीच वीच में जैसे मालाका शुद्ध सूत्र भी दीखता रहता है इसी प्रकार शुद्ध स्थायिभावकी भी अनुभूति होती रहती है।

अभिनव०—इसलिए 'इसको ग्लानि हो रही है' ऐसा कहनेपर किससे [ग्लानि हो रही है] इस प्रकारका हेतु विषयक प्रश्न [उपस्थित] होनेसे इस [ग्लानि] की अस्थायिता [व्यभिचारिभावत्व] सूचित होती हैं। किन्तु 'राम उत्साह शक्तिसे

---

१. विरलभागोप। २ भ्रमक। ३. विभुतम। ४. स्थायी तस्य।

अत एव विभावास्तत्रोद्बोधका सन्त स्वरूपोपरञ्जकत्व विदधाना रत्युत्साहादेरुचितानुचितत्वमात्रमावहन्ति । न तु तदभावे सर्वथैव ते निरुपाख्या । वासनात्मना सर्वजन्तूना तन्मयत्वेनोक्तत्वात् । व्यभिचारिणान्तु स्वविभावाभावे नामापि नास्तीति । वितनिष्यते चैतद्यथायोग व्याख्यावसरे । एवमप्रधानत्वनिरास स्थायिनिरूपणाया 'स्थायिभावान् रसत्वम्' [ना० अ० ६] इत्यनया सामान्यलक्षणशेपभूतया विशेषलक्षणनिष्ठया च कृत ।

तत्रानुभावाना विभावाना व्यभिचारिणा च पृथक् स्थायिनि नियमो नास्ति । वाष्पादेरानन्दाक्षिरोगादिजत्वदर्शनात् । व्याघ्रादेश्च क्रोधभयादिहेतुत्वात् । 'श्रम-

---

युक्त है' इस [कथन] मे [किससे उत्साह युक्त है इस प्रकारका] हेतु विषयक प्रश्न [उपस्थित] नही होता है । [अत. 'उत्साह' स्थायिभाव है । व्यभिचारिभाव नहीं] ।

अभिनव०—इसीलिए विभावादि उन [उत्साहादि]के उद्बोधक होकर [उनके] स्वरूपका उपरञ्जन करते हुए रति उत्साह आदि [स्थायिभावो] के उचित अनुचित रूपके ही कारण होते हैं । किन्तु उन [विभावादि] के अभावमे वे [रत्यादि स्थायिभाव] सर्वथा असत् [अभाव रूप निरुपाख्य] नहीं हो जाते हैं । क्योकि वासना रूपसे सब प्राणी उत्साहदिमय [उत्साहदिसे सदा युक्त] रहते हैं यह बात कही जा चुकी है । व्यभिचारिभावोका तो अपने विभावो [कारणो] के अभावमे नाम भी शेष नहीं रहता है । यह उनके व्याख्यानके अवसरपर आगे विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया जायगा । इस प्रकार स्थायिभावोके निरूपणके अवसरपर 'स्थायिभावोको रस रूपता को प्राप्त करावेगें' इस [रसके] सामान्य लक्षणके शेप भूत [अगरूप शृगारादि रसोके] विशेष-लक्षणोके निरूपण द्वारा [विशेषलक्षणनिष्ठ या निरूपणया भरतमुनिने] अप्रधानत्व [रूप छठे विघ्न] का निराकरण किया है ।

७ सातवाँ विघ्न 'सशययोग' बतलाया था । उसका, तथा उसके निवारणके उपायका निरूपण अगले अनुच्छेदमें करते हैं—

अभिनव०—उनमे विभाव अनुभाव व्यभिचारिभावका अलग-अलग स्थायिभावो मे [नियत रूपसे रहनेका कोई] नियम नही है । क्योकि आंसू आदि [करुण रसके अनुभाव] आनन्द, तथा आखोंके रोगादिसे भी उत्पन्न होते देखे जाते है [इसलिए आसू आदिको देख कर शोक या करुण रसको उसका कारण समझा जाय या अन्य किसीको इस प्रकारका सन्देह हो सकता है । इसी प्रकार] व्याघ्र आदि [विभाव रौद्र रसके स्थायिभाव] क्रोध, तथा [भयानक रसके स्थायिभाव] भयके हेतु देखे जाते हैं [इसलिए व्याघ्र आदिको देख कर रौद्र रसकी उत्पत्ति होगी या भयानक रसकी इस प्रकारका सन्देह उत्पन्न हो सकता है । इसी प्रकार] श्रम चिन्तादि [व्यभिचारिभाव] उत्साह तथा भय आदि अनेक [अनुभावादि] के साथ देखे जाते है [इसलिए उनको

---

१ भ्रम ।

चिन्तादेरुत्साहभयाद्यनेकसहचरत्वविलोकनात्[1]। एव सशयोदये शङ्कात्मक–विघ्नशमनाय 'सयोग' उपात्त । सामग्री तु न व्यभिचारिणी । यथा हि–बन्धुविनाशो यत्र विभाव परिदेविताश्रुपातादिस्त्वनुभाव, चिन्ता दैन्यादिर्व्यभिचारी[2] सोऽवश्य शोक एव।[3]

तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिंगदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्त-वृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षादिभि[4]-र्लौकिकी कारणत्वादि-भुवमतिक्रान्तै विभावनानुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणै, अत एवालौकिकविभावा-दिव्यपदेशभाग्भि, प्राच्यकारणादिरूपसस्कारोपजीवनख्यापनाय[5] विभावादिनामधेयव्य-पदेश्यै-र्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपभेदै गुणप्रधानपर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योग सम्बन्धमैकाग्र्य वासादितवद्भि, अलौकिकनिर्विघ्नसवेदनात्मक-चर्वणागोचरता नीतोऽर्थ. चर्व्यमाणतैकसारो, न तु सिद्धस्वभाव, तात्कालिक एव, न तु चर्वणातिरिक्तकालाव-लम्वी [6]स्थायिविलक्षण एव रस.।

देख कर उत्साहका अनुमान करना चाहिए या भयादिका] इस प्रकारका सशय होने पर सशयोदय रूप [शंकात्मक सातवें] विघ्नके निराकरणके लिए [रससूत्रमे] 'सयोग' [पद] ग्रहण किया गया है। [उसके ग्रहण करनेसे इस सशयका निराकरण हो जाता है क्योकि विभावा अनुभाव आदि अलग-अलग यद्यपि सशयके जनक हो हो सकते हैं, परन्तु उनकी सामग्री समाग्रता अर्थात्] 'सयोग' तो सशयजनक [व्यभिचारी] नहीं है। जैसे कि—जहाँ बन्धु [प्रियजन] का विनाश विभाव है, विलाप, रोदन आदि अनुभाव, तथा चिन्ता दैन्यादि व्यभिचारिभाव है वह अवश्य शोक ही है [इसमे किसी प्रकारका सन्देह नहीं होता है। इसलिए 'सयोग' पदके उपादानसे संशय रूप सातवें विघ्नका निराकरण हो जाता है]

अभिनव०—लोकव्यवहारमे कार्य कारण सहकारी रूप लिङ्गो [अनुमापक हेतुओ] को देख कर [रत्यादि रूप] स्थायिभावात्मक, अन्य व्यक्तिकी चित्तवृत्तिके अनुमानके अभ्यास की तीव्रताके कारण, उन्हीं उद्यान, कटाक्ष-वीक्षण आदि [अनुभावो] के द्वारा [जो कि नाटकोमे] कारणत्व आदि रूपको छोड़ कर विभावना अनुभावना एवं समुपरञ्जकत्व मात्र रूपको प्राप्त, इसलिए अलौकिक विभावादि नामोसे कहे जाने वाले, कारणादि रूप पुराने सस्कारोके उपजीवित्व द्योतनकेलिए विभावादि नामसे निर्दिष्ट किए जानेवाले, और भावाध्याय [सप्तम अध्याय] मे भी जिनका स्वरूप आगे कहेगे इस प्रकारके [विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारि-भावोके] सामाजिकको बुद्धिमे गुण-प्रधानभावसे भली प्रकारसे योग अर्थात् सम्बन्ध अथवा एकत्रीभावको प्राप्त हुए [विभावादि] के द्वारा अलौकिक तथा निर्विघ्न सवेदन रूप चर्वणाका विषय बनाया गया हुआ [रत्यादि रूप] अर्थ जिसका चर्वणा ही

---

१. अचलोकन ······ व्यभिचारिणि। २ व्यभिचारिण। ३ इत्येव मशयोदये।
४ धृत्यादिभि। वृक्षादिभि.। ५ म भ. जीविन ख्यापनाय। ६ स्थायिभाव लक्षण एव।

न तु यथा शकुकादिभिरभ्यधीयत—'स्थाय्येव विभावादिप्रत्याय्यो रस्यमानत्वाद्रस उच्यते' इति । एव हि लौकिकेऽपि कि न रस । अरातोऽपि हि यत्र रसनीयता स्यात् तत्र वस्तुसत कथ न भविष्यति । तेन स्थायिप्रतीतिरनुमितिरूपा वाच्या ।[1] न रस । अत एव सूत्रे स्थायिग्रहण न कृतम् । तत्प्रत्युत शल्यभूत स्यात् । केवलमौचित्यादेवमुच्यते 'स्थायी रसीभूत' इति ।

[2]औचित्यन्तु तत्स्थायिगतत्वेन कारणादितया प्रसिद्धाना, अधुना चर्वणोपयो-

---

एकमात्र सार है न कि [घटादिके समान पहिलेसे सिद्ध अर्थात्] विद्यमान स्वरूप वाला अर्थात् केवल उस [चर्वणाके] कालमे ही रहने वाला अर्थात् चर्वणासे अतिरिक्त कालमे न रहने वाला [इसलिए भट्टलोल्लट तथा शकुक आदिके रसाभिमत] स्थायिभावसे विलक्षण 'रस' होता है ।

इस प्रकार सिद्धान्तपक्षमें 'स्थायिभाव' से विलक्षण रसकी सिद्धि की गई है। स्थायिभावसे रसकी भिन्नता यह दिखलाई है कि स्थायिभाव सदा व्यक्त या अव्यक्त रूपमे विद्यमान रहता है परन्तु रसकी स्थिति केवल उतने समय तक रहती है जब तक कि उसकी प्रतीति होती है । प्रतीतिके पूर्व भी उसकी सत्ता नही होती है और रसानुभूतिके समाप्त होनेके बाद भी उसकी सत्ता नही रहती है । यही रसकी स्थायिभावसे विलक्षणता है । इस प्रकार सिद्धान्त पक्षसे शकुकादि मतका भेद दिखलाते हुए अगले अनुच्छेदमें उपचित स्थायिभावको रस मानने वाले भट्टलोल्लट तथा स्थायिभावके अनुकरणको रस मानने वाले शकुक आदिके खण्डनका उपसहार करते हैं—

अभिनव०—न कि जैसा शकुक आदिने कहा था कि 'विभावादिके द्वारा प्रतीत कराया हुआ स्थायिभाव ही रस्यमान होनेसे रस कहा जाता है' [इस प्रकारका रस है होता] । ऐसा माननेपर तो लौकिक [रति आदि अथवा नाटक आदिके द्रष्टा सामाजिकसे भिन्न साधारण पुरुष] मे भी रस [व्यवहार या अनुभूति] क्यो न होगी ? क्योकि जहा [सामाजिकमे] विद्यमान न होने पर भी [रत्यादि की] रसनीयता हो जाती है वहा [लौकिक पुरुषमे] वास्तवमे विद्यमान [रत्यादि] की रसनीयता क्यो नही होगी ? इसलिए [लोकमे होने वाली] स्थायिभावकी प्रतीति अनुमिति रूप होती है यह कहना चाहिए । वह रस नहीं कही जा सकती है । [स्थायिभाव किसीभी दशामे रस नहीं हो सकता है] इसीलिए [रससूत्रकार भरतमुनिने] सूत्रमे 'स्थायिभाव' का ग्रहण नही किया है । [यदि स्थायिभावका सूत्रमे ग्रहण किया जाता तो लाभदायक होनेके बजाय] यह उलटा कष्टदायक [असगत] हो जाता । [इसलिए स्थायिभाव वस्तुत रस नही है] केवल [औपचारिक रूपसे] औचित्यके कारण ही यह कहा जाता है कि 'स्थायि [भाव] रस हो गया है' ।

अभिनव०—उस स्थायी [भाव] के द्वारा कारण रूपसे प्रसिद्ध, एव इस [रसास्वादनके] समय चर्वणामे उपयोगी होनेके कारण विभावादिका रूपसे अवलम्बन

---

१. प्राच्या । २. अचित्य ।

गितया विभावत्वावलम्बनात् । 'तदा हि लौकिकचित्तवृत्त्यनुमाने का रसता । तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वाद स्मृति-अनुमान-लौकिकस्वसवेदन[2] विलक्षण एव ।

तथाहि—लौकिकेनानुमानेन सस्कृत, प्रमदादि न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते । अपि तु हृदयसवादात्मकसहृदयत्वबलात् पूर्णीभवद्रसास्वादाकुरीभावेन अनुमान-स्मृत्यादि-सोपानमनारुह्य[3]व तन्मयीभावोचितचर्वणाप्रवणतया[4] ।

न च सा चर्वणा प्राड् मानान्तरात् । येनाधुना स्मृति स्यात् । न चात्र लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापार । किन्त्वलौकिकविभावादिसयोगबलोपनतैवेयं चर्वणा । सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधत, तथा योगिप्रत्यक्षजनित[5]-तटस्थपरसवित्तिज्ञानात्, सकलवैषयिकोपरागशून्य-शुद्धपरयोगिगत-स्वानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते । [6]एतेषां यथायोगमर्जनादिविघ्नान्तरोदयात् ताटस्थ्य–अस्फुटत्व–विषयावेशवैवश्येन[7] च सौन्दर्यविरहात् ।

करनेसे [स्थायिभाव रस बनता है ऐसा कहा जाता है] यही औचित्य है । [अर्थात् रत्यादिके कारणभूत नायकादि विभावादि रूपसे रसचर्वणामे उपयोगी होते हैं इसलिए उनके संयोगसे 'स्थायिभाव रस हो गया है' यह औपचारिक प्रयोग किया जाना है] । तब लौकिक [विभावादि-रहित] चित्तवृत्तिके अनुमानमे रसत्व कहासे आ सकता है ? इसलिए अलौकिक चमत्कार स्वरूप रसास्वाद, स्मृति, अनुमान, लौकिक प्रत्यक्षादिसे भिन्न ही है ।

अभिनव०—क्योकि लौकिक अनुमानकी प्रक्रियासे संस्कृत [सामाजिक, नाटको में] प्रमदादि [विभावादि] को [लौक्कि परगत रत्यादिके समान] तटस्थ रूपसे ग्रहण नहीं करता है । अपितु हृदयसंवादात्मक [समस्त सामाजिकोके हृदयकी एकरूपता रूप] सहृदयत्वके बलसे अखण्ड रसास्वादके अंकुर रूपसे, अनुमान स्मृति आदिकी प्रक्रियामें आए बिना ही तन्मयीभावसे प्राप्त [उचित] चर्वणा के उत्पादक रूपसे [प्रमदादि विभावोंका अनुभव करता है] ।

अभिनव०—और वह चर्वणा [उस रसास्वादसे] पहले किसी अन्य प्रमाणसे नहीं होती है कि उसे स्मृति कहा जा सके । और न उसमे लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणो का व्यापार होता है । किन्तु अलौकिक विभावादिके सयोगके बलसे ही यह चर्वणा प्राप्त होती है । और वह [रस-चर्वणा] (१) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा उपमान रूप लौकिक प्रमाणसे उत्पन्न रत्यादिके ज्ञानसे, तथा (२) योगिप्रत्यक्षसे होने वाले [अर्थात् दूसरेके द्वारा अनुभव किए जाने वाले रत्यादिके] तटस्थ पर–सवेदनात्मक ज्ञानसे एवं (३) समस्त विषयोके प्रति वैराग्य युक्त [असम्प्रज्ञात समाधिमे स्थित] परम

---

१ तया । २. म. सवेदन । ३ आरुह्यैव । ४ प्राणतया । ५ भ जनितपर ।
६ एतासा । ७ वेशमिवावश्य ।

अत्र तु स्वात्मैकगतत्वनियमासम्भवात् न विषयावेशवैवश्यम् । स्वात्मा'-नुप्रवेशात् परगतत्वनियमाभावात् न ताटस्थ्य-अस्फुटत्वे² । तद्विभावादिसाधारण्य-वशसप्रबुद्धोचितनिजरत्यादिवासनावेशवशाच्च न विघ्नान्तरादीना मम्भव इत्यवोचाम बहुश । अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससम्भव-प्रसङ्गात् ।

योगीमे रहने वाले, स्वय केवल स्वात्मानन्दके अनुभव [रूप साक्षात्कारात्मक ज्ञान] से भिन्न प्रकारकी होती है । क्योकि इनमे यथायोग्य (१) [लौकिक प्रमाण जन्यमे] अर्जनादि रूप अन्य विघ्नोके आजानेसे (२) [प्रारम्भिक युञ्जान योगीके प्रत्यक्षमे परगत रत्यादिका प्रत्यक्ष करनेके कारण] ताटस्थ्य एव अस्पष्टता होनेके कारण तथा (३) [परयोगीके प्रत्यक्षमे आत्मनिष्ठता रूप] विषयावेशकी विवशताके कारण [सौन्दर्य] आह्लादकत्वका अभाव होनेसे [रसचर्वणा इन सबसे भिन्न प्रकारकी है] ।

अभिनव०—यहा [रसमें] तो साधारणीकरणके कारण परम योगीके ज्ञानके समान (१) केवल एक अपनेमे [अर्थात् केवल किसी एक सामाजिकमे] रहनेका नियम सम्भव न होनेसे विषयावेशकी विवशता नहीं होती है (२) [रसकी अनुभूतिमे सामा-जिकके] अपने आत्माके भी सम्मिलित होनेसे और परगतत्व [केवल नटनिष्ठत्व] का नियम न होनेसे तटस्थता एव अस्पष्ट प्रतीति नही होती है । (३) उस [रस]के विभा-वादिके साधारणीकरणके कारण [सामाजिककी] अपनी रत्यादि वासनाके उचित [साधारणीकृत] रूपसे उद्बुद्ध हो जानेके कारण अन्य [अर्जनादिमे होने वाले परोक्ष-त्वादिविघ्नो] की सम्भावना नहीं रहती है यह बात अनेक बार [हम] कह चुके है । इसलिए विभावादि रसके उत्पत्तिके कारण [अर्थात् कारक-हेतु] नही हैं । क्योकि [यदि विभावादिको रसका कारक-हेतु माना जाय तो] उसके ज्ञानके समाप्त हो जाने पर भी रसकी उत्पत्ति सभव हो सकती है ।

इसका अभिप्राय यह है कि कारक हेतुकी स्वरूप सत्ता ही कार्यके जननमें उपयोगिनी है उसका ज्ञान आवश्यक नही होता है । जैसे बीज अकुरका कारक हेतु है तो उसका ज्ञान किसीको हो या न हो बीज अकुरको उत्पन्न ही कर देता है । इसी प्रकार यदि विभावादिको रसका कारक हेतु माना जाय तो विभावादिके ज्ञानके विना भी रसकी उत्पत्ति होनी चाहिए । परन्तु विभावादि के ज्ञानके बिना उसकी उत्पत्ति नही देखी जाती है । इसलिए विभावादिको रसका कारक-हेतु नही कहा जा सकता है ।

हेतु दो प्रकारके माने जाते हैं । एक कारक हेतु और दूसरे ज्ञापक-हेतु । विभावादि रसके कारक-हेतु नही हो सकते हैं यह अभी दिखला दिया । तब वे रसके ज्ञापक हेतु हैं यह पक्ष रह जाता है । परन्तु वह पक्ष भी अभीष्ट नही है । प्रत्यक्षादि प्रमाण या दीपक आदि, पूर्वसे विद्यमान परन्तु अधेरेमें रखे होनेके कारण दिखलाई न देने वाले घटादिके ज्ञापक-हेतु होते हैं ।

---

१ स्वानुप्रवेश । २ लाटस्थ्यास्फुटत्वम् धापगमेऽपि ।

नापि ज्ञप्तिहेतवो येन प्रमाणमध्ये पतेयु । सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात् ।

किं तर्ह्येतद्धि विभावादय इति ? अलौकिक एवाय चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहार ।

क्वान्यत्रेत्थ दृष्टमिति चेत्, भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ । पानकरसास्वादोऽपि किं गुडमरिचादिपु दृष्ट इति समानमेतत् ।

परन्तु रस तो केवल चर्वणा का नाम है आस्वादनसे पूर्व या पश्चात् कालमे उसकी सत्ता ही नही मानी जाती है इसलिए विभावादिको रस का ज्ञापक-हेतु भी नही माना जा सकता है । यही वात अगली पक्तियोमें कहते हैं—

अभिनव०—और न [विभावादि रसके] ज्ञापक हेतु हैं । कि जिससे वे प्रमाणों में गिने जावें क्योंकि [पूर्वसिद्ध घटादिके समान] प्रमेयभूत किसी पूर्वसे विद्यमान रसादिकी सत्ता नहीं है ।

अभिनव०—[प्रश्न] तो फिर ये विभावादि क्या है ?

अभिनव०—[उत्तर] चर्वणामे उपयोगी यह विभावादि व्यवहार अलौकिक है । [लोक भाषामें उनकी ठीक स्थिति निर्दिष्ट नहीं हो सकती है] ।

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि जैसे कारक और ज्ञापक दो प्रकारके ही हेतु होते हैं इसी प्रकार ससारके सारे पदार्थ कार्य अथवा ज्ञाप्य इन दो ही वर्गोमें समाविष्ट हो जाते हैं । जो पदार्थ कारक-हेतुओसे उत्पन्न होते हैं उनको 'कार्य' पदार्थ कहा जाता है । और जो पदार्थ पहिले विद्यमान रहते हुए भी दिखलाई नही देते हैं और दीपकादि रूप किसी कारणसे अभिव्यक्त हो जाते हैं उनको 'ज्ञाप्य' पदार्थ कहते हैं । न्याय-सिद्धान्तमें पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है । परन्तु साख्य सत्कार्यवादको मानता है इसलिए उसके मतमें उत्पत्तिसे पूर्व भी पदार्थ अपने कारणमें सूक्ष्म रूपसे इसी प्रकार विद्यमान रहता है जिस प्रकार कि तिलमें तेल, दूधमें घी आदि । इसलिए उसके मतमें कारणव्यापारसे पदार्थोकी उत्पत्ति नही अपितु अभिव्यक्ति होती है । इस प्रकार पदार्थोंके ज्ञानके ये ही दो मार्ग हैं । सो जब आप विभावादिको रसका न कारक-हेतु मानते हैं और न ज्ञापक-हेतु मानते हैं तो फिर यह तो वतलाइए कि क्या संमारमे कोई और भी ऐसा पदार्थ है जो आपके रसके समान न कार्य हो और न ज्ञाप्य हो । ऐसा कोई पदार्थ समारमें नही हो सकता है । जिसका ज्ञान नही होता वह प्रमेय भी नही हो सकता है इसलिए आप जो यह कहते हैं कि विभावादि रसके न कारक-हेतु हैं और न ज्ञापक-हेतु सो आपका यह कथन असङ्गत है इसी प्रश्न को उठा कर आगे उसका समाधान करते हैं—

अभिनव०—[आपके रसको छोड़कर] इस प्रकारका [पदार्थ जो न कार्य हो और न ज्ञाप्य हो] अन्यत्र कहाँ देखा है ? यदि यह प्रश्न करो तो [ससारमे इस प्रकारके किसी अन्य पदार्थका उपलब्ध न होना रसकी] अलौकिकत्व सिद्धिमे हमारे लिए भूषण ही है [दूषण नहीं] । और ठंढाई आदि पानक द्रव्यमेंका स्वाद [उसके अवयवभूत] गुड़ काली मिर्च आदिमे कहाँ देखा जाता है ? यही वात यहाँ [रसके विषयमे] भी समान है ।

नन्वेव रसोऽप्रमेय स्यात् ?

एव युक्त भवितुमर्हति । रस्यतैकप्राणो ह्यसौ, न प्रमेयादिस्वभाव ।

तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम् ?

नेय रसस्यापितु तद्विषयरसनाया । तन्निष्पत्त्या तु यदि तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते न कश्चिदत्र दोष ।

सा च रसना न प्रमाणव्यापारो न कारकव्यापार । स्वय तु नाप्रामाणिकी स्वयसवेदनसिद्धत्वात् । रसना च बोधरूपैव, किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे ठडाई अथवा पना आदिका विशेष स्वाद उसके कारण भूत कालीमिर्च गुड आदिमें कही अन्यत्र दिखलाई नही देता है फिर भी ठडाईमे वह विशेष स्वाद पाया जाता है उसी प्रकार कार्य तथा ज्ञाप्यसे भिन्न कोई पदार्थ अन्यत्र नही देखा जाता है फिर भी रस इन दोनोसे भिन्न प्रकारका है इसके माननेमे कोई हानि नही है। इसीसे हम रसको 'अलौकिक' मानते हैं।

अभिनव०-- प्रश्न तो फिर इस प्रकार तो रस प्रमेय नही रहेगा ?

अभिनव--[उत्तर] यह कहना ठीक हो सकता है। रस तो प्रमेय आदि स्वभाव वाला नहीं केवल रस्यमानता ही उसका प्राण है। [इसलिए यदि वह प्रमेय कोटिमे नहीं जाता है तो भी कोई हानि नहीं है]।

इसका यह अभिप्राय है कि जिस रूपमें घट पटादि पदार्थोंको प्रमेय माना जाता है उस रूपमें रस प्रमेय नही है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है घटादि प्रमेय पदार्थ या तो कार्य होते हैं अथवा 'ज्ञाप्य' होते है। 'कार्य' होनेपर उनकी 'उत्पत्ति' होती है और 'ज्ञाप्य' होनेपर 'अभिव्यक्ति'। दोनो ही अवस्थाओमे वे स्थिर पदार्थ हैं। ज्ञानके पहिले भी उनकी स्थिति रहती है, और ज्ञानके नष्ट हो जानेके बाद भी उनकी स्थिति विद्यमान रहती है। परन्तु रसके विषयमे यह बात नही है। रस 'आस्वाद स्वरूप' है। उसकी स्थिति केवल उतनी ही देर रहती है जितनी देर कि उसका आस्वाद होता है। आस्वादके न पहिले रस है, न बादको रहेगा। इसलिए वह 'प्रमेय' कोटिमे नही आता है।

अभिनव०--[प्रश्न] तो फिर सूत्रमे उसकी निष्पत्ति कैसे कही है ?

अभिनव०--[उत्तर रस सूत्रमे] यह रसकी निष्पत्ति नही कही गई है अपितु उसके विषयभूत आस्वादन [रसना] की निष्पत्ति कही है। और उस [रसना] की निष्पत्तिसे यदि केवल उस [रसना] के आश्रित रहने वाले रसकी निष्पत्ति [उपचारसे] कही जाती है तो इसमे कोई दोष नही है।

अभिनव०--यह रसना [आस्वादन] न [ज्ञापक हेतुरूप] प्रामाणोका व्यापार है और न कारक [हेतुओ] का व्यापार है। फिर भी स्वसवेदनात्मक होनेसे स्वय तो असत्य [अप्रामाणिकी] भी नही है। आस्वाद [रसना] प्रतीति रूप ही है किन्तु अन्य लौकिक ज्ञानोसे [उसके विभावादि रूप] उपायोके लौकिक प्रत्याक्षादि

विलक्षणैव । उपायाना विभावादीना लौकिकवैलक्षण्यात् । तेन विभावादिसयोगाद्रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्य सूत्रस्य ।

अयमत्र सक्षेप । मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते । गाढप्राक्तन-संवित्सस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति । अत एवोभयदेश-कालत्याग । रोमाञ्चादयश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टास्तथापि लौकिकदेश-कालानियमेन तत्र रति गमयन्ति । यस्या स्वात्मापि तद्वासनावत्वादनुप्रविष्ट । अत एव न तटस्थतया रत्यवगम न च नियतकारणतया येनार्जनाभिषङ्गादिसम्भावना । न च नियतपरात्मैकगततया येन दु खद्वेषाद्युदय । तेन साधारणीभूता सन्तानवृत्तेरेकस्या एव वा सविदी गोचरभूता रति शृङ्गार । साधारणीभावना च विभावादिभि-रिति ।

प्रमाण रूप उपायोसे विलक्षण होनेके कारण भिन्न प्रकारका हैं। इसलिए क्योकि विभावादिके सयोगसे रसना [आस्वादन] की निष्पत्ति होती है अत एव उस प्रकारकी प्रतीतिका विषयभूत लोकोत्तर अर्थ [रस्यमान होनेसे] रस [कहलाता] है यह [पूर्वोक्त रस] सूत्रका तात्पर्य है ।

अभिनव०—[रससूत्रकी इस विस्तृत विवेचनाका साराश भूत] सक्षेप यह है कि—[नाटकमे अनुकार्यकी वेष-भूषाके अनुरूप नटके द्वारा धारण किए गए] मुकुट पगड़ी आदिके द्वारा पहिले नटवुद्धि आच्छादित हो जाती है। और पूर्वकालके गाढ ज्ञान-सस्कारो एव काव्यके द्वारा वल-पूर्वक कराई जानेपर भी राम बुद्धि उस [नट] मे स्थिर नहीं होती है। इस लिए [नट तथा रामादि] दोनो [से सम्बद्ध] देश-कालादि का परित्याग हो जाता है। और [लोकमे जो व्यभिचारिभाव] बहुधा रतिकी प्रतीति कराने वाले रूपमे देखे गए हैं फिर भी वे व्यभिचारिभाव, रोमाञ्चादि [अनुभाव, नटमे] भी देश-कालादिके नियमके विना रतिका वोध कराते हैं। जिस [प्रतीति] मे [सामाजिकका] अपना आत्मा भी सस्कारयुक्त [सहृदयत्वशालि] होनेके कारण आजाता है। इसलिए [वह] रत्यादिका ज्ञान तटस्थ रूपसे नहीं होता है। और न [सीता रामादि रूप] निश्चित कारणोसे होता है कि जिससे [उसमे] अर्जन विषयावेश [अभिष्वङ्ग] आदि [विघ्नो] की सम्भावना हो। और न निश्चित रूपसे परगत [नटगत] रूपसे [उसकी प्रतीति होती हैं] जिससे [परगत रत्यादिको देखकर] दु ख, द्वेषादिकी उत्पत्ति हो। इसलिए [क्षणिकतावादी जो बौद्ध चित्तसन्तान, चित्तधारा मानते हैं उनके मत मे] साधारणीभूत चित्तवृत्ति प्रवाहकी, अथवा [स्थिरतावादी न्यायादिके मतमें] एक ही ज्ञानकी विषयभूत रति, शृङ्गार [रस कहलाती] है। साधारणीकरण विभावादिके द्वारा होता है ।

तत्र विभावप्राधान्येन[1] साधारणीभावो यथा—

केलीकन्दलितस्य विभ्रममधो धुर्यं वपुस्ते दृशो—
भङ्गीभगुरकामकार्मुकमिदं भ्रूनर्मकर्मक्रमम् ।
[2]आघ्रातोऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवं
सत्यं सुन्दरि [3]वेधसस्त्रिजगतीसारा त्वमेकाकृतिः ।।

अत्र च विभावकृतं तत्सौन्दर्यं प्राधान्येन भाति । तदनुगतत्वेन केलीविभ्रम-भगुरनर्मवचोमहिम्ना चानुभाववर्गो, भङ्गी-क्रम-विकारादिशब्दबलाच्च व्यभिचारि-वर्गं प्रतिभातीति । अत एव नास्फुटत्वशङ्कात्र रसास्वादमये शृङ्गारे विधेया ।

अनुभावप्राधान्यं यथा शुद्धसारस्वतप्रवाहपवित्र-सकलवाङ्मयमहार्णवपूर्णभाव-सम्पादनाद् द्विजराजस्येन्दुराजस्य—

अभिनव०—उनमेसे विभावकी प्रधानताके कारण साधारणीभाव [का उदाहरण] जैसे—

अभिनव०—हे सुन्दरि ! तुम्हारा शरीर [रतिक्रीडादि रूप] केलिसे उत्पन्न [हाव-भाव रूप] विभ्रम रूप मधुको धारण करने वाला है, तुम्हारी भौहोका [नर्मकर्मक्रम] विलास, विशेष भङ्गीसे टूटने वाला कामदेवका धनुष है, और तुम्हारे मुखकमलसे उत्पन्न आसव पीनेसे नहीं, केवल सूंघने मात्रसे [तनिकसे सम्पर्कसे] ही विकारको उत्पन्न करने वाला है इसलिए [हे सुन्दरि] तुम सचमुच ब्रह्माकी तीनो लोकोकी सारभूत अद्वितीय रचना हो ।

पाठसमीक्षा— यह इस श्लोकका भावार्थ है । उसका पाठ ठीक नही है । 'वक्त्राम्बुजन्मासव' मुखकमलसे उत्पन्न आसव यह अर्थ अभिप्रेत है । परन्तु उसमें 'अम्बुज' शब्द नही आया है केवल 'अम्बु' शब्द दिया गया है उससे तो मुखके जलमे उत्पन्न यह अर्थ होता है जो उचित प्रतीत नही होता है । और छन्दकी रचनामें 'अम्बु' के आगे 'ज' बढ़ानेका अवसर भी नही है । इसलिए यह पाठ दोष नही अपितु कवि की अव्युत्पत्तिका सूचक है ।

अभिनव०—यहा [नायिका रूप] विभावकी प्रधानताके कारण उसका सौन्दर्य प्रतीत होता है । और 'केली', 'विभ्रम', 'भगुर', 'नर्म' आदि शब्दोके प्रभावसे अनुभाव-वर्ग, एवं 'भङ्गी', 'क्रम', 'विकार' आदि शब्दोकी सामर्थ्यसे व्यभिचारी-वर्ग उस [विभाव] के अनुगामी [उसकी अपेक्षा गौण] रूपमे प्रतीत होता है । इसलिए यहां रतिके आस्वादात्मक शृंगारमे अस्फुटत्वकी शङ्का नही करनी चाहिए ।

अभिनव०—अनुभावके प्राधान्यमे [उदाहरण] जैसे—शुद्ध सरस्वतीके प्रवाहसे पवित्र [चन्द्रमाको देख कर समुद्रोमे ज्वार उठनेपर वह जैसे परिपूर्ण हो जाता है इस प्रकार] समस्त वाङ्मय रूप महार्णवको [अपनी कृतियोके द्वारा] परिपूर्ण करने वाले द्विजवर इन्दुराजका [बनाया हुआ निम्नांकित श्लोक है] ।

'इन्दुराज' पदमे श्लेष है वह चन्द्रमाकी ओर भी संकेत करता है । वैसे वह अभिनवगुप्तके गुरुओमें से एक गुरुका नाम है । इसीलिए उसका इतने गौरवके साथ उल्लेख किया है ।

---

१ प्राधान्यस्य धामणिमया । २ आपाते । ३ म भ वोधशस्त्र ।

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत् ।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निविडो यत्पाण्डिमा गण्डयो
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थिति ॥

इति । अत्र 'विश्रम्य' इति, 'बहुश' इति 'प्रतिदिनम्' इति च पदसमर्पितो व्यभिचारिगण,[1] 'कृष्ण' इत्यादिपदार्पितश्च विभावो, गुणत्वेन प्रतिभासते । विश्रान्तिलक्षणस्तम्भ - विलोकनवैचित्र्य गात्रतानवतारतम्य-पुलक-वैवर्ण्यप्रभृतिस्त्वनुभावसञ्चयः प्रधानतया ।

व्यभिचारिणान्तु प्राधान्य तद्विभावानुभावप्राधान्यकृतम् । तत्राद्य यथा महाकवे कालिदासस्य[2]—

आत्तमात्तमविकान्तमुक्षितु कातरा शफरशङ्किनी जहौ ।
अञ्जलौ जलमधीरलोचना लोचनप्रतिशरीरलाञ्छितम् ॥

इत्यत्र सुकुमारमुग्धप्रमदाजनभूषणभूतस्य व्यभिचारिवर्गस्य वितर्क-त्रास-शङ्कादे प्राधान्य, तद्विभावाना प्राधान्यात् सौन्दर्यातिशयकृतम् । '[3]आत्त-आत्त' इत्याद्यर्पितानु-

अभिनव०—जो [गोपियोकी चंचल] आंखें कही रुक कर देखनेमें स्थिर नही हो पाती हैं, जो कटे हुए कमलिनीके नाल [मृणाल-दण्ड] के समान [उन गोपियोके] अङ्ग प्रतिदिन दुर्बल होते जा रहे हैं और दूबके समान कपोलोपर जो गहरी सफेदी दिखलाई देती है सो कृष्णके तरुण होने और गोपवनिताओके तरुणी होनेके कारण उनके वेषका यही हाल होना है ।

अभिनव०—यह ! यहां 'विश्रम्य', 'बहुश.' तथा 'प्रतिदिन' इन पदोसे प्रतीत होने वाले व्यभिचारिभाव, तथा 'कृष्ण' इस पदसे प्रतीत होने वाला विभाव, अप्रधान रूपसे प्रतीत होते हैं । और विश्रान्ति रूप स्तब्धता, देखनेकी विचित्रता, कृशताका तारतम्य, रोमाञ्च तथा विवर्णता आदि अनुभाव-समूह प्रधान रूपसे [प्रतीत हो रहा है] ।

अभिनव०—व्यभिचारिभावोका प्राधान्य विभावो और अनुभावोके प्राधान्यके द्वारा होता है । उनमेंसे पहिला [अर्थात् विभाव-प्राधान्यकृत व्यभिचारिभावके प्राधान्य का उदाहरण] जैसे महाकवि कालिदासके [निम्नाङ्कित श्लोकमे]—

अभिनव०—[जलक्रीडाके समय] प्रियतमके ऊपर फेंकनेकेलिए वार-वार हाथमे लिए हुए, और अपने नेत्रोके प्रतिबिम्बसे युक्त जलको चञ्चल नेत्र वाली नायिका [इसके भीतर मछली है इस प्रकार] मछलीकी शङ्कासे छोड देती थी ।

अभिनव०—यहा सुकुमार और भोली-भाली स्त्रियोके अलङ्कार रूप वितर्क, त्रास, शङ्का आदि व्यभिचारिवर्गका प्राधान्य, उसके विभावके प्राधान्यसे उनके सौन्दर्य के अतिशयके कारण प्रतीत होता है। 'आत्त-आत्त' वार-वार ग्रहण किया हुआ इत्यादि

१ व्यभिचारिण. । २. कलशकस्य । ३ 'आत्त' ।

भाववर्गस्तु तदनुयायी । एव द्वयप्रधान्ये चोदाहार्यम् । किन्तु समप्राधान्य एव रसास्वादास्योत्कर्ष ।

तच्च प्रबन्ध एव भवति । वस्तुतस्तु दशरूपक एव । यदाह वामन —

'सन्दर्भेषु दशरूपक श्रेय' । [काव्यालङ्कारसूत्र १-३-३०] ।

'तद्विचित्र चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्' [काव्यालङ्कारसूत्र १-३-३१] इति ।

'तद्रूपसमर्पणया तु प्रवन्धे भाषा-वेष-प्रवृत्त्यौचित्यादिकल्पनात् । तदुपजीवनेन मुक्तके । तथा च तत्र सहृदया पूर्वापरमुचित परिकल्प्य 'ईदृगत्र वक्तास्मिन्नवसरे' इत्यादि बहुतर पीठबन्ध रूप विदधते ।

तेन ये काव्याभ्यास-प्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिभि सहृदयास्तेषा परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्प काव्यार्थ स्फुरति । अत एव तेषा काव्यमेव प्रीति-व्युत्पत्तिकृत्, अनपेक्षितनाटचानामपि² । तेषामपि तु नाटचे 'निपतिता

[पदोसे सूचित] अनुभाववर्ग उन [व्यभिचारिभावो] का अनुगामी [गौण] प्रतीत होता है । [ये तीन उदाहरण विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावके पृथक्-प्राधान्यमे दिए है] इसी प्रकार दो-दोकी प्रधानतामे भी उदाहरण समझ लेने चाहिए। किन्तु [उन दोनोकी] तुल्य प्रधानतामे ही रसास्वादका उत्कर्ष होता है ।

अभिनव०—और वह [समप्राधान्य जनित रसोत्कर्ष मुख्य रूपसे] 'प्रबन्ध-काव्य' मे ही होता है । [और 'प्रबन्ध-काव्य' मे भी क्यो कहा जाय] वास्तवमे तो दशरूपक [अर्थात नाटकादि] में ही होता है । जैसा कि वामनने [अपने काव्यालकारसूत्रमे] कहा है—

अभिनव०—'प्रबन्ध-काव्योमे दश प्रकारके रूपक श्रेष्ठ होते हैं' [१-३-३०] ।

अभिनव०—'क्योकि वे चित्रपटके समान समस्त विशेषताओसे युक्त होते हैं' [१-३-३१] ।

अभिनव०—उस [नाटकादि दशरूपक] के [सदृश शब्दात्मक] रूपके समर्पक होनेसे भाषा, वेष, प्रवृत्तिके औचित्यादिकी कल्पना द्वारा प्रवन्ध काव्यमे, और उस [प्रवन्धकाव्य] के आश्रित [प्रवन्धकाव्यके समान पद्यवद्ध] होनेसे मुक्तक [काव्यो] मे [रसानुभूति] होती है । क्योकि उसमें सहृदय [पुरुष] पूर्वापर उचित [प्रसग आदिकी कल्पना करके] यहा इस अवसरपर इस प्रकारका [इस श्लोकका] वक्ता है इत्यादि बहुत सी भूमिका वना लेते है ।

अभिनव०—उसके कारण काव्यका अभ्यास करने तथा पूर्वजन्मके पुण्य [सस्कारो]के प्रभावसे जो सहृदय [पुरुष] होते हैं उनको [मुक्तक काव्यमे आये हुए] परिमित [स्वल्पमात्र] विभावादिके प्रकाशनसे ही स्पष्ट एव साक्षात्कारात्मक काव्यार्थ [अर्थात रस] की प्रतीति होती है । इसलिए नाट्यकी अपेक्षा न रखने वाले उन

१ तद्रूप रसचवणया । २ नाटयमपि ।

स्फुरिता शशिरश्मय' इति न्यायेन सुतरा निर्मलीकरणम्। अहृदयाना च तदेव नैर्मल्याधायि। यत्र पतिता गीत-वाद्य-गणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति नित्योपकरणात्[1]।

[सहृदयो] केलिए [नाटकके स्थानपर] काव्य ही [रसकी] प्रतीति तथा [काव्यके प्रयोजन भूत कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी शिक्षा देने वाला] व्युत्पत्तिका कारण होता है। उनका भी, [दर्पण आदिपर] 'पड़ी हुई एव [प्रक्षिप्त होकर] चमकती हुई चन्द्रमा की किरणें [दर्पणादिको और भी अधिक उज्जल कर देती है]' इस सिद्धान्तके अनुसार [नाट्यके बिना केवल प्रबन्धकाव्य तथा मुक्तककाव्योसे रसकी अनुभूति करनेमे समर्थ सहृदयोके लिए] नाट्य और भी अधिक निर्मल करने वाला [अधिक सहृदयताका उत्पन्न करने वाला] होता है। और जिनको कि नित्य प्रयोगके कारण गीत, वाद्य, गणिका आदिकी प्रतीति व्यसन रूप नहीं हो जाती है उन असहृदयोके लिए वही [नाट्य] अन्त.करणके नैर्मल्य [अर्थात् सहृदयत्व] का आधान करने वाला होता है।

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकारने यह प्रतिपादित किया कि रसानुभूतिका सबसे प्रधान साधन नाटय ही है। किन्तु सहृदयोको प्रबन्धकाव्यो तथा मुक्तककाव्योंसे भी रसकी अनुभूति हो सकती है। परन्तु नाटय उन सहृदयोंके अन्त करणको और अधिक निर्मल बना देता है। किन्तु जो सहृदय नही है, इसलिए प्रबन्ध-काव्य या मुक्तक-काव्योके द्वारा रसास्वाद नहीं कर सकते हैं उनको भी नाटयके द्वारा रसास्वाद होता है। जिस प्रकार चन्द्रमाकी किरणें सामान्य पदार्थोंपर पड कर उनको प्रकाशित करती हैं और यदि दर्पण आदि जैसे भास्वर पदार्थोंपर पडती है तो उनकी भास्वरताको और भी अधिक बढा देती हैं। इसी प्रकार जो सहृदय पुरुष रसास्वदके लिए नाटयकी अपेक्षा नही रखते हैं उसके बिना प्रबन्धकाव्य तथा मुक्तक काव्योके द्वारा भी रसास्वादन कर सकते हैं उनको यदि नाटयका सहारा मिल जाता है तो उससे उनकी सहृदयता एव रसास्वादन शक्ति और भी तीव्र हो जाती है। और जिनमें स्वभावत सहृदयता नही है उनको नाटयके द्वारा उसकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार सहृदय तथा असहृदय दोनो के लिए नाटय रसास्वादमें सहायक होता है यह यहाँ तक कहा है।

नाटयमें नट-व्यापारके अतिरिक्त गीत, वाद्य, नृत्य गणिकादि सभीका समावेश माना जाता है। इसलिए नटव्यापारके समान गीत वाद्य नृत्य गणिकादिका प्रयोग भी सहृदयताका सम्पादक होता है। किन्तु नाटयकी अपेक्षा गीत वाद्यादिका प्रयोग बहुत अधिक होता है। बहुतसे लोग गीत वाद्य आदिके व्यसनी होनेपर भी ऐसे देखे जाते हैं जिनको सहृदय नही कहा जा सकता है। काव्यके रसका आस्वाद करनेकी क्षमता उनमें नही होती है। ऐसे लोगोके लिए भी नाटय रसास्वादमें सहायक होता है।

इस बातका प्रतिपादन करनेके लिए ग्रन्थकारने मूर्तिका उदाहरण लिया है। जिस प्रकार सामान्य लोग मूर्तिके द्वारा कृष्ण आदिका ध्यान करते हैं इसी प्रकार नटको देख कर रामादिका ज्ञान हो सकता है। मूर्तिमें वास्तविक कृष्ण आदिकी प्रतीति न होनेपर भी उसके द्वारा देवता विशेषका ध्यान करनेसे उसके फलकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार नटमें वास्तविक रामादि

---

१. नाट्योपलक्षणात्। नाट्योपकरणात्।

तत्र च नटो [1]ध्यायिनामिव ध्यानपदम् । नहि तत्र 'अयमेव सिन्दूरादिमयो वासुदेव' इति [2]स्मरणीय-प्रतिपत्ति, अपि तु तदुपायद्वारेणातिस्फुटीभूतसङ्कल्पगोचरो देवताविशेषो ध्यायिना फलकृत् । [3]तद्वनाट्यप्रक्रिया-द्वारोदितातिस्फुटाध्यवसायविषयितो[4] नियतदेशकालाद्यस्पृष्ट [5]विधिस्थानीयोऽर्थो 'अत इद फलम्' इति व्युत्पत्ति वितरति । यत्र दृश्येऽभिनयादौ[6] चित्तवृत्त्यादौ वा न बाधकोदय । सम्यग्ज्ञानभूत ह्येवेद पूर्णम् । तेन राम इत्येव प्रतीति, न त्वय न रामो, अन्योऽयमिति । स्फुटीकरिष्यते चैतदग्रत ।

तत्रालौकिककोऽयमर्थो न दृष्टान्तमन्तरेण हृदयङ्गमो भवेदित्याशयेनाह—

भरत०—को दृष्टान्तः ? अत्राह—यथा हि नानाव्यञ्जनोषधिद्रव्य-सयोगाद्रसनिष्पत्ति, तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः[7] ।

की प्रतीति न होनेपर भी उसके द्वारा नाट्यके रसास्वाद तथा उससे प्राप्त होने वाली शिक्षा आदि रूप फलोकी प्राप्ति होती है । यह बात ग्रन्थकारने अगले अनुच्छेदमें इस प्रकार कही है—

अभिनव०—उस [नाट्य] मे नट, [मूर्ति आदिका] ध्यान करने वालोके समान कृष्णादिके रूपमे] ध्यानका पात्र होता है । [यद्यपि] वहाँ [सिन्दूर आदिसे लिप्त वासुदेव की मूर्तिमे] 'ये सिन्दूरादिमय वासुदेव ही है' इस रूपमे स्मरणीय [अर्थात् वासुदेव या अपने इष्ट देव] की प्रतीति नही होती है । अपितु उस [मूर्ति रूप] उपायके द्वारा अत्यन्त स्पष्टताको प्राप्त सकल्पका विषय होकर वह देवता-विशेष ध्यान करने वालेको फलप्रदान करने वाला होता हे । उसी प्रकार नाट्यकी प्रक्रियाके द्वारा उत्पन्न अत्यन्त स्पष्ट निश्चयात्मक ज्ञानका विषय, नियत देशकालादिका स्पर्श न करने वाला [नाटक द्वारा कवि जो शिक्षा देना चाहता है उस शिक्षाको देने वाला] विधिस्थानीय अर्थ 'इस [कर्म] का यह फल है' यह ज्ञान कराता है । [वैदिक विधि-वाक्य मनुष्यको कर्त्तव्यकी शिक्षा देते हैं । इसी प्रकार नाटक द्वारा भी कर्त्तव्य-अकर्तव्य की शिक्षा प्राप्त होती है । इसलिए उसे 'विधिस्थानीय अर्थ कहा है'] । जिसमे दृश्यमान अभिनयादि अथवा उससे उत्पन्न [व्युत्पत्तिरूप] चित्तवृत्त्यादिमे कोई बाधक नही होता है । इसलिए वह पूर्णतया सम्यग्ज्ञान रूप ही है । इसलिए [नटमे] 'राम है' केवल इस प्रकार की ही प्रतीति होती है । 'यह राम नही है [अथवा रामसे भिन्न] अन्य है' इस प्रकारकी नही । इस बातको आगे चल कर स्पष्ट करेगे ।

भरतमुनि द्वारा स्वय रसनिष्पत्ति का उपपादन—

अभिनव०—यह [रस रूप] अलौकिक अर्थ बिना दृष्टान्तके ठीक तरहसे समझमे नही आता हे इस आशयसे [मूल ग्रन्थकार भरतमुनि] कहते है—

भरत०—[इस रसनिष्पत्ति प्रक्रिया मे] क्या दृष्टान्त है ? [उत्तरमे] कहते है कि—जिस प्रकार नाना व्यञ्जनो [उपसेचन पदार्थो] एव ओषधि आदिके सयोगसे [भोज्य द्रव्योमे] रसादिकी उत्पत्ति होती है इसी प्रकार [विभावादि] नाना भावोके सयोगसेरस की निष्पत्ति होती है ।

---

१ ध्यायिनामिवेद ध्यानपदम् । २ स्मरणीय इति । ३ तद्वन्नाट्यप्रक्रियामपिवाभादिनट-लक्षित । ४ विषयीकृतो । ५ 'अत इद फल' इतिविधिस्था । ६ युते दृश्यान्यनियभादौ ।
७ अ यथा च गुडादिद्रव्यैरौषधिविशेषैश्च स्वाद्वादयो रसा निष्पद्यन्ते एव नानाभावोपगता अधि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति । न को दृष्टान्त इति चेदुच्यते । यथा नाना ।

भरत–यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनै-रौषधिभिश्च षाडवादयोरसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति[2]।

'दृष्टान्त.' इति। वहूना सयोगादपूर्वो रस उत्पद्यमान क्व दृष्ट इत्यर्थ ? अत्र प्रश्ने भाष्येण प्रतिवचनमाह 'यथा' इत्यादिना 'आप्नुवन्ति' इत्यन्तेन। व्यञ्जनमुपसेचन-द्रव्यम्। तच्च [3]नाना तिक्तमधुरचुक्रादिभेदाद् दधिकाञ्जिकादि। औषधयश्चिञ्चा-गोधूम-दलहरिद्रादय। द्रव्य गुडादि। एषा पाकक्रमेण सम्यग्योजनारूपात् कुशलसम्पद्यात् सयोगात्। षाडवादय इति लोकप्रसिद्धेभ्य परस्परविविक्तेभ्यो मधुर-तिक्त-अम्ल-लवण-कटु-कषायेभ्यो मिश्रेभ्यश्च विलक्षण षाडवशब्दवाच्य। तत्प्रधाना वहुतरा रसनयोग्या. क्रियन्ते। तथैव नानाभूतैर्विभावादिभिरुपसमीप प्रत्यक्षकल्पता गता लोका-पेक्षया ये स्थायिनो भावास्ते रस्यमानतैकजीवित[4] रसत्व तत्र प्रतिपद्यन्ते।

भरत०—जैसे कि गुड आदि द्रव्यो और उपसेचक [व्यञ्जन] तथा औषधि आदिसे षाडव [ठडाई या भोज्य पदार्थ विशेष] आदिके रस उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार नाना भावो [विभाव अनुभाव आदि] के सयोगसे स्थायिभाव रसको प्राप्त होते हैं। [भरत मुनिकी एक ही अभिप्रायकी पद पक्ति दो वार आजानेसे अटपटी प्रतीत होती है]।

अभिनव०—'दृष्टान्त' इससे [यह अभिप्राय है कि] वहुतसे [पदार्थों] के संयोगसे अपूर्व रसकी उत्पत्ति होती हुई कहा देखी है ? यह [प्रश्नका] आशय है। इस प्रश्नके होनेपर [भरतमुनि अपने] भाष्य [रूप लेख] के द्वारा 'यथा' यहांसे लेकर 'आप्नुवन्ति' पर्यन्त [लेख] से उत्तर देते हैं। व्यजनका अर्थ उपसेचन-द्रव्य है। और वह तिक्त, मधुर, खट्टा आदि भेदसे दही कांजी आदि अनेक प्रकारके होते हैं। औषधिसे इमली, गेहूँ, दाल, हल्दी आदिका ग्रहण होता है। द्रव्यसे गुड आदि लेना चाहिए। इन सबके, पाककी प्रक्रियासे भली प्रकार मिलाने रूप, कुशल [पाचक] के द्वारा किए जाने वाले [विशेष प्रकारके] 'संयोग' से [षाडव आदि रसकी उत्पत्ति होती है]। 'षाडवादि' इससे लोकमे प्रसिद्ध अलग-अलग मधुर, तिक्त, खट्टा, नमकीन, कड़वा और कसैला आदिसे [भिन्न], तथा उनके मिश्रणसे भी भिन्न 'षाडव' शब्द वाच्य [विशेष प्रकारके रस] का ग्रहण होता है। वह [षाडव रस] जिनमे प्रधान है इस प्रकारके वहुतसे आस्वाद-योग्य पदार्थ वन जाते हैं। इसी प्रकार नाना प्रकारके विभावादिके द्वारा 'उप' अर्थात् 'समीप' अर्थात् प्रत्यक्षकल्पताको प्राप्त हुए, लौकिक [अस्थायी भावो] की अपेक्षासे जो स्थायिभाव हैं वे, रस्यमानता ही जिसका प्राण है इस प्रकारके रसत्वको वहा [नाटकमें] प्राप्त होते हैं।

---

१ औषधविशेषौ. स्वाद्वादया। २ 'को दृष्टान्त.' पाठ यहां दिया है।
३ नानान्तप्रमधुर। ४. जीवित।

एतदुक्त भवति—पाकरूपया सम्यग्योजनया [1]तावल्लौकिको रसो जायते । तत्र च प्रधानत्वेन जलस्य रसाभिव्यञ्जकत्वमिति व्यञ्जन विभावस्थानीयम् । चिञ्चा-हरिद्राद्यनुभावप्रायम् । [2]द्रव्य तु गुडादि । तदीयचुक्रादिरसविलक्षणमधुरादियोगाद् व्यभिचारिकल्पम् । स्वात्मनि तदुपजीवनेन, परत्र च स्व-रस-सक्रमणया वैचित्र्याधायकत्वात् ।

अत्र तु स्थायिकल्पस्तन्मिश्रणासमयभावी रसविशेषो विभावकल्पव्यञ्जनजनितो मन्तव्य स हि लौकिक । अयन्तु कुशलैकनिर्वर्त्यस्तद्विदा रसनीयो भवति । तेना [3]अन्नस्यत्यध्याहारो न युक्त । यथा हि दार्ष्टान्तिकसूत्रे स्थायिग्रहण शल्यकल्पमिति त्रयमेवोपात्त तथा दृष्टान्तेऽपि त्रयस्यैवोपादान युक्तम् ।

एव सूत्र व्याख्याय लक्षणपद परीक्षितुमाक्षिपति 'रस इति क', इत्यादिना—

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—पाचन रूप सुन्दर सयोगके द्वारा [षाडवादि रूप] लौकिक रसकी उत्पत्ति होती है । और उसमे प्रधान रूपसे जल, रसका अभिव्यञ्जक होता है । इसलिए व्यञ्जन [अर्थात् जलादि रूप उपसेचन द्रव्य, काव्य के] विभावके स्थानपर समझना चाहिए । और इमली, हल्दी आदि [औषधियोको काव्यके] अनुभावके स्थानपर लेना चाहिए । द्रव्य गुड आदि है । उन्हे अपने खट्टे आदि रससे भिन्न, मधुर आदि रसका योग होनेसे वे व्यभिचारिभावके स्थानपर समझना चाहिए । वे [गुडादि द्रव्य] अपने भीतर उससे सम्बद्ध होनेके कारण और अन्य द्रव्योमे अपने रसके सक्रमण द्वारा विचित्रताके आधायक होनेसे [वे व्यभिचारिभाव सदृश होते] है ।

अभिनव०—यहा [लौकिक रसोमे] तो [काव्यके] स्थायिभावके सदृश उसके मिश्रणके कालमे [अलग-अलग द्रव्योमे] न रहने वाला, रस-विशेष, विभाव सदृश व्यञ्जनो [उपसेचन द्रव्यो] से उत्पन्न समझना चाहिए । वह लौकिक रस है । यह [लौकिक रस] तो केवल कुशलो [चतुर पाचको] द्वारा उत्पन्न किया जाकर उसके समझने वालोके द्वारा आस्वादनीय होता है । इसलिए [यहा] 'अन्न' इस [पद] का अध्याहार करना उचित नहीं है । [यह लौकिक रसकी प्रक्रिया दृष्टान्त रूपमे उपस्थित की गई है । आगे दार्ष्टान्तिक अर्थात् काव्यरसकी प्रक्रिया-द्वारा इसको पुष्ट करते है । इसलिए] जैसे कि दार्ष्टान्तिक [नाट्यरसकी प्रक्रिया] मे स्थायिभावका ग्रहण, बाधक [शल्यकल्प] होता है इसलिए [उसको छोड कर विभाव, अनुभाव व्यभिचारिभाव] तीनका ही ग्रहण किया है इसी प्रकार दृष्टान्त [अर्थात् लौकिक रसकी प्रक्रिया] मे भी [स्थायिभावके स्थानापन्न] अन्नको छोड़ कर [व्यञ्जन रूप जलादि विभावके स्थान पर, इमली आदि अनुभावके स्थानपर, तथा गुडादि व्यभिचारिभावके स्थानपर इन] तीनका ही ग्रहण करना उचित है ।

अभिनव०—इस प्रकार [यहाँ तक रसका लक्षण करने वाले] सूत्रकी व्याख्या करके, लक्षण पदकी परीक्षा करनेकेलिए आक्षेप [प्रश्न] करते है—

१ तावदलौकिको । २. द्रव्याणि तु गुडादीनि । ३ अदनीयस्य ।

भरत०—रस इति कः पदार्थः ?

भरत०—उच्यते, [1]आस्वाद्यत्वात् ।

भरत०—कथमास्वाद्यते रसः ?

भरत०—यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति हर्षादींश्चाधिगच्छन्तीति, 'सुमनसः' पुरुषा इत्यभिव्याख्याताः । तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति हर्षादींश्चाधिगच्छन्तीति प्रेक्षकाः 'सुमनस' इत्यभिव्याख्याताः[3] । तस्मान्नट्यरसाः[4] ।

मधुरादौ, पारदे, विषये, सारे, जलसस्कारें अभिनिवेशे, क्वाथे, देहधातोर्निर्यासे, वाय प्रसिद्धो नत्वन्यत्र । तेन 'रस' इति पदस्य शृङ्गारादिषु प्रवर्तितस्य कोऽर्थ ? किं प्रवृत्तिनिमित्त कथ्यते, स्वाभिधेयनियमनाय शब्देन, यदि वा तत्प्रयोक्तृ-पतिपत्तृभि ? अर्थ प्रवृत्तिनिमित्तम् ।

भरत०—[प्रश्न] रस इस [नाम] से कौन सा पदार्थ कहा जाता है [अर्थात् रस पदका प्रवृत्ति निमित्त क्या है, रसको रस क्यों कहा जाता है] ?

भरत०—[इस प्रश्नके उत्तरमे] कहते हैं, रस्यमान अर्थात् आस्वाद्यमान होनेसे [रसको] रस [इस नामसे] कहा जाता है ।

भरत०—[प्रश्नकर्ता फिर पूछते हैं कि] रसका आस्वादन किस प्रकार किया जाता है ?

भरत०—[इसका उत्तर देते हैं कि] जिस तरह नाना प्रकारके [जल, दधि, कांजी आदि उपसेचन द्रव्य रूप] व्यञ्जनोंसे संस्कृत अन्नको खाने वाले पुरुष, रसोंका आस्वादन करते हैं और आनन्दको प्राप्त करते हैं । इसलिए 'सुमना' इस शब्दसे कहे जाते हैं, इसी प्रकार नाना प्रकारके [विभाव अनुभाव आदि रूप] भावो और अभिनयोंके द्वारा व्यक्त किए गए वाचिक आङ्गिक तथा सात्विक [मानस] अभिनयोंसे युक्त स्थायिभावोंको सहृदय प्रेक्षक आस्वाद करते हैं और आनन्द आदिको, प्राप्त करते हैं इसलिए ['सुमना'] सहृदय इस नामसे कह जाते हैं । इसलिए नाट्यसे अनुभूत होने वाले इनको नाट्यरस कहते हैं ।

रस पदका अर्थ क्या है ? इत्यादि । [प्रश्नका आशय यह है कि रस शब्द] मधुर आदि [रसो] मे, अथवा पारदमें, अथवा विषयमे, सारमें, जलके सस्कारमें, अभिनिवेश [आग्रह] मे, काढ़े, देह धातुके सार अर्थमे यह [रस शब्द] प्रसिद्ध है । अन्य अर्थोंमे तो [प्रसिद्ध] नहीं है । इस लिए शृङ्गारादिमे प्रयुक्त होने वाले इस 'रस' शब्दका क्या अर्थ है ? अर्थात् प्रवृत्त होनेका क्या कारण है शब्दके द्वारा अपने अर्थके नियमित करनेके लिए अथवा उसके प्रयोग करने वाले या उससे ज्ञान प्राप्त करने वालोंके द्वारा उसकी [उस अर्थमें] प्रवृत्तिका कारण किसको कहा जाता है [यह प्रश्नका अभिप्राय है । प्रश्न वाक्यमें प्रयुक्त] 'अर्थ' शब्द प्रवृत्ति निमित्तका ग्राहक है ।

---

१ आस्वाद्यमानत्वात् । २ सुमनस. पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति ।

अत्रोत्तर, 'आस्वाद्यत्वात्'। प्रवृत्तिहेतोर्यत प्रश्नस्तेनोत्तर हेतुविभक्त्यैव दत्तम्। तेन क्रिया प्रवृत्तिनिमित्तमस्येत्युक्त भवति।

यस्तु भङ्क्त्वा व्याचष्टे-रस इति कोऽय शब्द ? तत्रोत्तर 'पदार्थ उच्यते' इति। तस्य 'अनेन' इत्यध्याहार बिना, प्रकृतपदार्थवाचकोऽय शब्द इति च[1] तात्पर्यपरिकल्पन विना, नातीवसङ्गतमुत्तरम्। प्रश्नमन्तरेण च 'आस्वाद्यत्वात्' इत्यल्पपदप्रायमित्यास्तामेतत्।

अथ प्रवृत्तिनिमित्त व्याक्षिपति-'कथमास्वाद्यते' इति। आस्वादन हि रसनेन्द्रियज[2] ज्ञान प्रसिद्धमिति भाव। अत्रोपचरितक्रियाश्रयेणोत्तरमाह 'यथा नाना' इत्यादिना। यथा-तथाशब्दाभ्या सादृश्यमत्रोपचारे निमित्तमिति दर्शयति।

अभिनव०—[रस शब्दका प्रवृत्तिनिमित्त अर्थात् शृङ्गारादिकेलिए रस शब्द के प्रयोगका कारण क्या है ?] इस [प्रश्नके] विषयमे [भरतमुनि] उत्तर देते हैं—'आस्वाद्य होनेसे' [अर्थात् रस्यमान होनेसे शृङ्गारादिको रस नामसे कहा जाता है। प्रवृत्ति निमित्त क्या है ? इस प्रकारका] प्रवृत्तिके हेतुका जो प्रश्न किया था उसका उत्तर हेतु सूचक ['आस्वाद्यत्वात्' पदमे प्रयुक्त पञ्चमी] विभक्तिके द्वारा ही दे दिया है। इसलिए [आस्वादन रूप] क्रिया ही इस [रस शब्द] का प्रवृत्तिनिमित्त है यह तात्पर्य निकलता है।

'रस इति क पदार्थ ? उच्यते आस्वाद्यत्वात्' इस पक्तिकी अभिनवगुप्तने अपनी दृष्टिसे यह व्याख्या यहां तक कर दी है। दूसरे व्याख्याकारने इसकी व्याख्या अन्य प्रकारसे की है। उसने 'रस इति क ?' इतने को प्रश्न-परक अलग वाक्य माना है। और 'पदार्थ उच्यते' को उत्तर परक अलग वाक्य माना है। यह व्याख्या अभिनवगुप्त को रुचिकर नही है। इसलिए अगले अनुच्छेदमे वे इसका खण्डन करते हैं—

अभिनव०—जिस [व्याख्याकार] ने ['रस इति क ? पदार्थ उच्यते' इस प्रकार का] विभाग करके [इस पक्तिकी] व्याख्या की है उसके मतमे ['उच्यते इसके बाद] 'अनेन इस [शब्द] के द्वारा' इसका अध्याहार किए विना, और यह [पदार्थ शब्द अपने सामान्य अर्थको छोड कर विशेष रूपसे 'रस'] इस प्रकृत पदार्थका वाचक है इस प्रकारकी कल्पनाके विना, उत्तर ठीक तरह से सङ्गत नहीं होगा। और प्रश्नसे सम्बद्ध हुए विना 'आस्वाद्यत्वात्' यह [वाक्य भी] अधूरा रह जायगा। [अत यह व्याख्या ठीक नही है।

अभिनव०—आगे [रस शब्दके] प्रवृत्ति निमित्तपर आक्षेप [या प्रश्न] करते है कि-किस प्रकार [रसका] आस्वादन किया जाता है ? क्योकि रसना इन्द्रियसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'आस्वादन' नामसे प्रसिद्ध है [शृङ्गारादिका ज्ञान तो रसना इन्द्रियसे नहीं होता हे तब उसको 'आस्वादन' कैसे कह सकते है ?] यह [आक्षेपकर्ता का] भाव है। औपचारिक [अर्थात् सादृश्य मूलक आस्वादन] क्रियाका आश्रय लेकर

१ न। २ जज्ञान।

तत्र भोग्यस्य, भोक्तु, फलस्य च साम्यं दर्शयति । यथाहि व्यञ्जनसस्कृतेऽन्ने आस्वाद्यता, एकाग्रमनसि च भोक्तर्यास्वादयितृता, अन्यचित्तस्य भुञ्जानस्याप्यास्वादाभिमानाभावात्, प्रहर्षाप्यायजीवनपुष्टिबलारोग्याणा चास्वादफलता । तथाभिनयव्यञ्जितेऽपि चिन्त्या । स्थायिशब्दव्यपदेश्ये रसे आस्वाद्यता, एकाग्रे च सामाजिके तन्मयीभूते आस्वादयितृता । हर्षप्रधानाना धर्मादिव्युत्पत्तिवैदग्ध्यादीनामास्वादफलत्वमिति । कर्तृ-कर्म-फलसादृश्याद्विभावादिज प्रतीतिविशेषो रसनाक्रिया इति व्यपदिष्ट इति तात्पर्यम् ।

'यदन्न भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति हर्षादींश्च यान्ति तेन पुरुषा 'सुमनस' इति 'अभिव्याख्याता.' । अभित. सर्वत्र, विशेषेण अन्यभोक्तृविलक्षणतया, आ समन्तात् ख्याता प्रसिद्धा । यथा चैते तथा प्रेक्षका अपि । तेन तेऽपि स्थायिन. आस्वादयन्तीति आभिमुख्येन सादृश्येन व्याख्याता अस्माभिर्व्यवहृता. । अत्रोपसहार, 'तस्मान्नाट्यरसा इति ।

[मूल ग्रन्थमें] 'यथा' इत्यादिसे इसका उत्तर देते हैं। 'यथा' और 'तथा' शब्दोसे इस औपचारिक व्यवहारमे सादृश्य ही कारण है यह बात दिखलाई है।

अभिनव०—उनमे १ भोग्य, २ भोक्ता तथा ३ फलकी समानताको दिखलाते हैं। जैसे कि [दधि काजी आदि उपसेचन रूप] नाना व्यञ्जन द्रव्योंसे सस्कृत अन्नमें आस्वाद्यता, एकाग्र मन वाले खाने वाले [भोक्ता] में आस्वादयितृता, होती है क्योकि [एकाग्रताके बिना] अन्यत्र चित्तके लगे होनेपर खाते हुए भी आस्वादनका अभिमान नहीं होता है। और प्रसन्नता, तृप्ति, जीवन, पुष्टि, बल आरोग्यादि आस्वादनके फल होते है। इसी प्रकार [नाटकादिमे] अभिनयके द्वारा व्यक्त होनेवाले [रस] के विषयमे भी समझ लेना चाहिए। [जैसे कि] स्थायिभाव नामसे कहे जाने वाले [शृङ्गारादि] रसमे आस्वाद्यता, एकाग्रचित्त और तन्मय हुए सामाजिकमें आस्वादयितृत्व तथा आनन्द प्रधान धर्मादिके ज्ञान एवं [उसके देखनेसे प्राप्त होने वाले] नैपुण्य आदिकी प्राप्तिको फल कहा जा सकता है। इसलिए [आस्वादके] कर्त्ता, कर्म, तथा फलके सादृश्यके कारण विभावादिसे उत्पन्न प्रतीति विशेष यहाँ रसना क्रिया [आस्वादन क्रिया] रूपमे कही गई है यह अभिप्राय है।

अभिनव०—जैसे [व्यञ्जनोके रसको समझने वाले] सहृदय पुरुष अन्नको खाते हुए उनका आस्वाद लेते हैं और हर्ष आदिको प्राप्त करते हैं इसलिए ['सुमना' अर्थात्] सहृदय इस शब्दसे प्रसिद्ध होते हैं। [आगे 'अभिव्याख्याता.' का अवयवार्थ दिखलाते हैं] 'अभित.' अर्थात् सर्वत्र 'विशेष' रूपसे अर्थात् अन्य भोक्ताओ की अपेक्षा भिन्न रूपसे 'आ समन्तात्' सब ओर, 'ख्यात' अर्थात् प्रसिद्ध होते हैं। जिस प्रकार ये [अर्थात् लौकिक रसका भोग करने वाले सहृदय पुरुष हैं] इसी प्रकार [नाटक आदिके] ये प्रेक्षक भी हैं। [क्योकि] वे भी स्थायिभावोका आस्वादन

---

१ येन सुमनसो भुञ्जना हर्षादींश्च यान्ति तेन रसानास्वादयन्तीत्यनेन शब्देन ।

अन्ये त्वादिशब्देन शोकादीनामत्र सग्रह । स च न युक्त । सामाजिकाना हि हर्षैकफल नाट्य न शोकादिफलम् । तथात्वे निमित्ताभावात् 'तत्प्रसङ्गाच्चेति[1] मन्यमाना हर्षाश्चाविगच्छन्तीति पठन्ति ।

एव ग्रन्थयोजनाया स्पष्टाया यत्कैश्चिदत्र चोदित दृष्टान्ते आत्मा, रसना, मनश्चेति त्रयम, प्रकृते तु रसनैवेति[2] । परिहृत च, आत्मन एवात्र स्थानान्तरसक्रान्तस्य मन स्थानीयता, मनसश्च रसस्थानीयतेति । तत्सर्वं वृथा नाट्यमात्रम् । उपचारस्य सादृश्यस्यात्र प्राधान्येन प्रतिपिपादयिषितत्वात् । इत्यास्ताम् ।

करते हैं और हर्षादिको प्राप्त करते हैं इसलिए वे भी आभिमुख्येन अर्थात् सादृश्येन [लौकिक रसके भोक्ताओके सदृश होनेसे 'सुमनसः' सहृदय इस पदसे] व्याख्याताः [अर्थात् अस्माभिर्व्यवहृता·] अर्थात् हमने उनके लिए सहृदय शब्दका व्यवहार किया है । [यह 'अभिव्याख्याता' इस पदका अभिप्राय है] । 'तस्मान्नाट्यरसा' इस [वाक्य] के द्वारा [भरतमुनिने] इसका उपसहार किया है ।

दूसरे किसी व्याख्याकारने इसकी व्याख्या कुछ भिन्न प्रकारसे की है । उसने 'हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति' के स्थान पर 'हर्षं चाधिगच्छन्ति' इस प्रकारका पाठान्तर माना है । उस व्याख्याकारका कहना है कि 'हर्षादीश्च' में 'आदि' पदसे शोकादिका ग्रहण होगा परन्तु वह उचित नही है क्योकि नाट्य शोकका जनक नही होता । आनन्दके लिए नाट्यकी योजना की जाती है इसलिए यह टीकाकार शोकादिके ग्राहक 'आदि' पदको मूल भरत पाठमेंसे हटाकर 'हर्षं चाधिगच्छन्ति' पाठ मानता है । उसीके मतको अगले अनुच्छेदमे दिखलाते हैं—

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याता] तो [हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति इसमे आए हुए] 'आदि' शब्दसे शोकादिका यहाँ सग्रह होता है, [यह कहते हैं] । परन्तु वह [शोकादिका सग्रह] उचित नहीं है । क्योकि नाटक सामाजिकोको केवल आनन्द देने वाला ही होना चाहिए शोकादि उसके फल नही होने चाहिए । उस [नाटकके दु खजनकत्व] मे कोई प्रमाण [निमित्त] न होनेसे और [यदि नाटकसे दु ख होता है यह मान लिया जाय तो सामाजिकको] उस प्रकारका [अनुभव] प्राप्त होने लगेगा [जो कि अभीष्ट नही है । सभी आचार्य तथा सहृदय पुरुष करुणादि रसोमे भी आनन्दका ही अनुभव करते है दु खका नही] ऐसा मान कर 'हर्षाश्चाधिगच्छन्ति' ऐसा पाठ मानते हैं ।

अभिनव०—इस प्रकार [रससूत्र-विषयक] ग्रन्थकी स्पष्ट योजना हो जानेपर भी जो किन्ही [व्याख्याताओ] ने यह दोष दिखलाया है कि दृष्टान्त [अर्थात् लौकिक अन्न-रस-स्थल] मे [भोक्ता वाले अशके तीन अवान्तर विभाग है] १ आत्मा [आस्वादयिता] २ रसना [आस्वादन क्रिया] और [उसका साधन भूत] ३ मन ये तीन [अवान्तर विभाग] है, और यहाँ [दार्ष्टान्तिक अर्थात् नाट्य रसके प्रसगमे केवल एक] आस्वादमात्र है । [आस्वादयिताका विशेष विवेचन नहीं किया है । रसके समान आत्मा, मन और आस्वादन इन तीनोकी स्थिति वहाँ भी मानी जा सकती है] यह दोनो

---

१ तत्परिहारप्रसङ्गाच्च । २ रसनेति ।

एव 'रसत्वं केन वै तेषा' इति यत् प्रश्नित तत्प्रतिसमाहितम् ।

भरत०—अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवत.—

भरत०—यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम् ।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः ॥१॥
भावाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृता ॥२॥

स्थलोमें वैषम्य आता है इस प्रकारकी शङ्का उठा कर] और उन्हीं [व्याख्याता महोदय] ने जो यह परिहार किया है कि यहां आत्मा ही [साधन रूपमे] स्थानान्तरमे संक्रान्त होकर मन स्थानीय हो जाता है और मन ही रसस्थानीय [आस्वाद्य] हो जाता है। वह सब [शङ्का तथा उसका समाधान आदि जो व्याख्याताओंने किया है वह सब] व्यर्थ है। यहां केवल [रसोत्पत्तिमें] उपचार या सादृश्यका प्रधान रूपसे प्रतिपादन करना अभीष्ट है। इसलिए [उन व्याख्याताओने जो शङ्का उठा कर समाधान करनेका प्रयत्न किया है वह सब अनावश्यक व्यापार है] इसलिए उसको छोड़ देना चाहिए।

अभिनव०—इस प्रकार [इस अध्यायके प्रारम्भमें रसके विषयमे जो यह प्रश्न किया गया था कि] किस कारणसे उन [रसो] का रसत्व होता है उसका समाधान [यहां तक] होगया।

भरत० —इस विषयमे वश परम्परासे प्राप्त [शिष्याचार्य परम्परासे प्रसिद्ध 'अनुवंश्यौ'] दो श्लोक पाए जाते हैं [जो कि निम्न प्रकार हैं]—

भरत०—जिस प्रकार अनेक द्रव्योसे तथा अनेक प्रकारके [दही काजी आदि व्यञ्जन अर्थात्] उपसेचक द्रव्योंसे युक्त भातको [उत्तम] भातके रसको जानने वाले पुरुष [सामान्य रूपसे नहीं अपितु विशेष रुचिसे] खाते हुए उसका [रस] आस्वादन करते हैं—

भरत०—इस प्रकार [विभाव और व्यभिचारिभाव रूप] नाना भावों तथा [अनुभाव रूप] अभिनयोंसे सम्बद्ध स्थायिभावोंको [बुध अर्थात् प्राक्तन संस्कारवान्] सहृदय पुरुष मनसे आस्वादन करते हैं। इसलिए उनको 'नाट्यरस' नामसे कहा गया है।

ये दोनो श्लोक 'अनुवश्य' श्लोक हैं, गुरु-शिष्य परम्परासे भरतमुनिके भी पूर्वकालसे चले आरहे हैं। अर्थात् भरतमुनिके बनाए हुए नही हैं। भरतमुनिने यहा रससूत्रके स्वकृत भाष्यमें उन्हें उद्धरण रूपमें प्रस्तुत किया है। इसलिए उनके ऊपर भरत कारिकाओंकी सख्या नही डालनी चाहिए। परन्तु नाट्यशास्त्रके सभी सस्करणोमें इनके ऊपर ३२-३३ सख्याए डाली हुई हैं। आगे भी इसी प्रकारके अनेक श्लोक आवेंगे जो भरतमुनि विरचित श्लोक नही हैं परन्तु उन पर सभी सस्करणोंमें सख्या डाल दी गई है। हम सिद्धान्तत इस बातसे सहमत नही हैं। अत. हम इन श्लोकोपर अनुवश्य श्लोकों को अलग दिखलाने वाली १-२ सख्या डाल रहे हैं।

---

१. युक्तं । स गुणं. । २ भुक्तं भुक्त । ३ सयुक्तान् । ४ नाट्ये रसा. ।

अत्रेति भाष्ये। अनुवशे भवौ शिष्याचार्यपरम्परासु वर्तमानौ। श्लोकाख्यौ वृत्त-विशेषौ सूत्रार्थसक्षेपप्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ भवत । तौ पठति यथेत्यादि ।

मधुरादिभेदाद्बहूनि द्रव्याणि गुडादीनि। बहुभिरिति दधिकाञ्जिकादिभि । अनेन विभावभेद रसभेदे हेतुत्वेन सूचयति । 'भुञ्जाना आस्वादयन्तीति' रसनाव्यापाराद् भोजनादधिको यो मानसो व्यापार स एवास्वादनमिति दर्शयति। एतदुक्त भवति, न रसनाव्यापार आस्वादनमपितु मानस एव । स चात्राविकलोऽस्ति । केवल लोके रसना-व्यापारान्तरभावी स प्रसिद्ध, इत्युपचार इह दर्शित इति । १ ।

शुद्धतत्स्वरूपज्ञानस्वभावा अत्र 'भावा' विभावव्यभिचारिण । 'अभिनया' अनुभावा एव। इद पृथग् वचन प्राधान्यात्। तैं[1] यें 'सम्यग्बद्धा' हृदयसवादक्रमेण तन्मयी-

---

अभिनव०—यहा [इस विषयमें] वश परम्परासे होने वाले अर्थात् शिष्य तथा आचार्योकी परम्परामे विद्यमान श्लोक अर्थात् वृत्तविशेष [अर्थात्] सूत्रके अर्थको सक्षेपमे प्रकट करने वाले होनेके कारण 'कारिका' शब्दसे कहे जाने वाले [दो श्लोक] पाए जाते हैं। उनको [भरतमुनिने] 'यथा' इत्यादि [रूपसे] पढा है।

अभिनव०—मधुर आदिके भेद गुड आदि अनेक द्रव्य [कारिकामे 'बहुद्रव्य युतै' पदसे अभिप्रेत] हैं। बहुतसे [व्यञ्जनोसे यहाँ] दही काजी आदि [उपसेचन द्रव्यो] का ग्रहण होता है। इससे विभावोके भेदसे रसोका भेद होता है यह बात सूचित की है। 'भुञ्जाना आस्वादयन्ति' खाने वाले स्वाद लेते है इससे जिह्वाके [भक्षण रूप] व्यापारसे अधिक जो [स्वाद ग्रहण रूप] मानस व्यापार है वह ही आस्वादन कहलाता है यह दिखलाया है। इसका यह अभिप्राय है कि आस्वादन रसनाका व्यापार नही है अपितु मनका व्यापार है। और वह [मानस व्यापार रूप आस्वादन] यहाँ [शृङ्गारादि रसोके अनुभवमे भी] पूर्ण रूपसे विद्यमान रहता है। [इसलिए शृङ्गारादिकेलिए रस शब्दका प्रयोग उचित ही है। अर्थात् शृङ्गारादिके लिए रस शब्दका प्रयोग लक्षणा अथवा उपचारसे नहीं अपितु मुख्य रूपसे ही किया जा सकता है। पहिले जो उसको औपचारिक प्रयोग कहा है उसका आशय यह है कि] लोकमे [अर्थात् मधुर आदि रसोमे] रसनाके व्यापारके बाद वह [आस्वादन रूप व्यापार] होता है यह प्रसिद्ध है केवल इसलिए यहाँ [शृङ्गारादि रसोमे रस शब्दके प्रयोगमे] उपचार दिखलाया गया है। १ ।

ऊपर उद्धृत किए हुए दोनो अनुवश्य श्लोकोमेंसे प्रथम श्लोककी व्याख्या यहा तक हो गई। अब आगे द्वितीय श्लोककी प्रतिपद व्याख्या करते हैं।

अभिनव०—[पहिले अनु० श्लो० २ मे आए हुए 'भाव' तथा अभिनय शब्दोके अर्थ करते है] यहां 'भाव' शब्द उनके [अर्थात् विभाव तथा व्यभिचारिभावके] शुद्ध स्वरूपके परिज्ञान रूप विभाव तथा व्यभिचारिभावकेलिए प्रयुक्त है। और 'अभिनय'

---

[1] यैं ।

भावापन्न-प्रमातृभूम्यभेदमुपसम्प्राप्ता अचिन्त्या 'स्थायिन' 'आ' समन्तात् साधारणीभावेन निर्विघ्नप्रतिपत्तिवशात् मनसेन्द्रियान्तरविघ्नसम्भावनाशून्येन 'स्वादयन्ति' स्वपरविवेकशून्यस्वादचमत्कारपरवशतया लौकिकात् प्रत्ययात्, उपार्जनादिविघ्नवहुलात् योगिप्रत्ययाच्च विपयास्वादशून्यतापरुषात्, विलक्षणाकारसुखदु:खादिविचित्रवासनानुवेधोपनतहृद्यतातिशयसंविच्चर्वणात्मना भुञ्जते। 'वुधा' इति पूर्वोपयोगो लौकिकाना प्रत्यक्षादीनामत्र दर्शित ।

एतदुपसहरति तस्मादिति। नाटचात् समुदायरूपाद्रसा,। यदि वा नाटचमेव रसा। रससमुदायो हि नाटचम्।

[शब्दसे] अनुभाव ही [गृहीत होते] हैं। [यद्यपि विभाव तथा व्यभिचारिभावोके समान अनुभावोका अन्तर्भाव भी 'भाव' के भीतर हो सकता था किन्तु] प्राधान्यके कारण [अनुभाव रूप अभिनयोंका भावोसे] अलग् सम्यक् कथन, किया गया है। उन [विभाव व्यभिचारिभाव तथा अभिनय रूप अनुभाव] से भली प्रकारसे 'धद्ध' अर्थात् हृदयकी एकरूपताके क्रमसे तन्मयताको प्राप्त प्रमाताके स्वरूपसे अभिन्न, अनिर्वचनीय 'स्थायिभावो' को [आसमन्तात्] सब ओरसे अर्थात् साधारणीभावके द्वारा निर्विघ्न प्रतीति रूप होनेके कारण। [मनसा अर्थात्] अन्य इन्द्रियोके द्वारा विघ्नोकी उत्पत्तिकी सम्भावनासे रहित मनके द्वारा [सहृदय पुरुष] 'आस्वादन' करते हैं अर्थात् स्वगत या परगतके भेदसे रहित आस्वादके चमत्कारके कारण उपार्जन आदि अनेक प्रकारके विघ्नोसे युक्त लौकिक [प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उत्पन्न] ज्ञानसे [भिन्न], और विषयके आस्वादसे शून्य होनेसे शुष्क [पुरुप], योगिप्रत्यक्षसे भिन्न, विलक्षण प्रकारके सुख दुःख आदिकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी वासनाओके सम्पर्कसे प्राप्त होने वाली अत्यन्त आल्हादात्मक चर्वणा रूपसे सहृदय पुरुष [स्थायिभावोका] भोग करते हैं। 'वुधा' इस पदसे लौकिक प्रत्यक्षादिका पूर्व उपयोग यहाँ दिखलाया है।

अर्थात् लोकमें विशेप प्रकारकी चेष्टाओको देख कर परगत चित्तवृत्तिका अनुमान किया जाता है। उसके द्वारा काव्य नाटक आदिमें विभावानुभाव तथा व्यभिचारिभावोंके द्वारा रसास्वादमें सहायता मिलती है यही लौकिक प्रत्यक्षादिका उपयोग यहाँ 'वुधा' शब्दसे सूचित किया है। क्योंकि इस प्रकार चेष्टाविशेपसे चित्तवृत्तिविशेपका अनुमान कर सकनेमें कुशल पुरुप ही, 'वुध' या विद्वान् कहलाते हैं। इसलिए 'वुध' शब्द उस प्रकारके लौकिक प्रत्यक्षादिकी यहा रसास्वादनमें उपयोगिताको सूचित करता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

अभिनव०—'तस्मात्' ['तस्मान्नाट्यरसा.'] इससे इसका उपसंहार किया है। ['नाट्यरसा.' इस पदकी अनेक प्रकारकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं—] नाट्य अर्थात् [विभावादिके] समुदाय रूपसे [अभिव्यक्त] होने वाले रस [नाट्यरस कहलाते हैं]। अथवा नाट्य रूप ही रस [नाट्यरस कहलाते हैं]। क्योकि रससमुदाय रूप ही नाट्य होता है।

न नाट्य एव च रसा काव्येऽपि नाट्यमान एव रस । काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्याया । यदाहु 'काव्यकौतुके—

प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भव । इति ।

'वर्णनोत्कलिकाभोग-प्रौढोक्त्या सम्यगर्पिता ।

उद्यान-कान्ता-चन्द्राद्या भावा प्रत्यक्षवत् स्फुटा ॥ इति ॥

अन्ये तु काव्येऽपि गुणालङ्कारसौन्दर्यातिशयकृत रसचर्वणमाहु । वयन्तु ब्रूम – काव्य तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव । तत्र ह्य् उचितैर्भाषा-वृत्ति-काकु-नेपथ्यप्रभृतिभि पूर्यते रसवत्ता । सर्गबन्धादौ हि नायिकाया अपि सस्कृतैवोक्तिरित्यादि बहुतरमनुचित केवल शक्तिरहितत्वाद् व्यावर्ण्यते । तावतैव' हृद्यमिति न्यायेनानौचित्य न प्रतिजहाति ।

अभिनव०—केवल नाटकमे ही रस नहीं होते अपितु नाटकके सदृश प्रतीत होने वाले काव्यमे भी रस होता है । काव्यार्थके विषयमे [भावनाबलसे] प्रत्यक्षकल्प [साक्षात्कारात्मक] ज्ञानके उत्पन्न होनेपर रसकी प्रतीति होती है यह [ग्रन्थकार के साहित्य गुरु भट्टतौत] उपाध्यायका मत है । जैसा कि [उन्होने अपने ग्रन्थ] काव्यकौतुकमे कहा है कि—

अभिनव०—अभिनय [प्रयोग] को प्राप्त हुए बिना [सर्गबन्ध रूप] काव्यसे [भी रसका] आस्वाद सम्भव है ।

अभिनव०—[क्योकि] वर्णन शैलीके विस्तार एव प्रौढताके कारण सुन्दर रूपसे अङ्कित किए उद्यान, कान्ता, चन्द्रमा आदि [रूप आलम्बन उद्दीपन विभाव आदि काव्यमे भी] प्रत्यक्षके समान स्पष्ट प्रतीत होते हैं ।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्यातागण सर्गबन्ध रूप] काव्यमे भी गुण तथा अलङ्कारोके सौन्दर्यातिशयके द्वारा रसकी चर्वणा होती है यह कहते हैं । और हमारा तो यह कहना है कि काव्य तो मुख्य रूपसे दशरूपकात्मक ही होता है । क्योकि उस [दशरूपकात्मक मुख्य काव्य] मे उचित भाषा, व्यापार, ['काकु'] उच्चारणशैली, एव वेषभूषा आदिके द्वारा रसवत्ता पूर्णताको प्राप्त हो जाती है । सर्गबन्धादि [महा काव्यो] मे तो नायिका आदि [स्त्री पात्रादि सभी पात्रो] के कथनोपकथन भी [उनके अनुरूप प्राकृतादि भाषाके बजाय] सस्कृत-मे ही होने आदि रूप अनेक प्रकारका अनौचित्य पाया जाता है । जो केवल [कविमे नाटक रचनाकी] शक्तिके अभावके कारण ही उस रूपमे वर्णित होता है । [वह महाकाव्योका वर्णन] 'उस रूपमे भी सुन्दर [लगता] है' इस युक्तिसे पूर्वोक्त अनौचित्यका वारण नहीं किया जा सकता है । [अर्थात् महाकाव्योमें अभिव्यञ्जना सौन्दर्यके होनेपर भी नाटककी अपेक्षा जो न्यूनताए पाई जाती है उनका निराकरण नहीं किया जा सकता है ।

---

१ काव्य कौतुकपर अभिनवगुप्तने विवरण नामक टीका लिखी थी । परन्तु मूल ग्रन्थ और टीका दोनोंमेसे कोई भी उपलब्ध नहीं है । २ वर्णनोत्कलिता । ३ तावतीव ।

तत एवोच्यते 'सन्दर्भेषु रूपकमिति'। [वामन का० १-३-३०]। तेन तदशसन्ध्यादिसघटनमुद्धृत्य सर्गबन्धादि यावन्मुक्तम्। यत्तु दशरूपक तस्य योऽर्थस्तदेव नाट्यम्। यद्वच्यते 'नाट्यस्यैषा तनूरिति'। [ना० शा० १४–२] तस्य हृदयसवादतारतम्यापेक्षया श्रोतृ-प्रतिपत्तृस्फुरणं स्फुटास्फुटत्वेनातिविचित्रम्।

तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एव ससारोचितक्रोध-मोहाभिलाषपरवशमनसो न भवन्ति। तेषा तथाविधदशरूपकाकर्णनसमये साधारणरसनात्मकचर्वणग्राह्यो रसञ्चयो नाट्यलक्षण स्फुट एव। ये त्वतथाभूतास्तेषा प्रत्यक्षोचिततथाविधचर्वणालाभाय नटादिप्रक्रिया, स्वगतक्रोधशोकादिसङ्कटहृदयग्रन्थिभञ्जनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता। सर्वानुग्राहक हि शास्त्रमिति न्यायात्। तेन नाट्य एव रसा न लोक इत्यर्थ। काव्यं च नाट्यमेव।

अभिनव०—इसीलिए [वामनकृत काव्यालङ्कार सूत्रमे] कहा गया है कि 'रचनाओमे दश प्रकारके रूपक [ही सर्वश्रेष्ठ होते हैं]' उन [दश प्रकारके रूपकों] के [मुख सन्धि आदि] सन्ध्यादिकी रचना रूप अंशोंको छोड़ कर सर्गबन्ध [महाकाव्यो] से लेकर मुक्तक तक [काव्य] हैं। [इस प्रकार दशरूपक, सर्गबन्ध तथा मुक्तक तीन प्रकारके काव्य होते हैं] उनमेसे जो दशरूपक है उसका जो अर्थ [विषय] है वही नाट्य कहलाता है। जैसा कि आगे [ना० १४-२ मे] कहा जायगा कि 'यह [दशरूपकका अर्थ ही] नाट्यका शरीर है'। हृदयकी अनुरूपताके तारतम्यके कारण उस [नाटक] के सुनने तथा समझने वालोकी अनुभूति स्फुट अस्फुट आदि भेदसे अत्यन्त विचित्र प्रकार की होती है।

अभिनव०—उन [सुनने समझने वालों] मे जो लोग स्वभावसे ही दर्पणके समान निर्मल हृदय वाले होते हैं वे ही [नाटक आदिको देख या सुन कर] सांसारिक [साधारण] पुरुषोके समान क्रोध, मोह, अभिलाष आदिके परवश नहीं होते हैं। उनको उस प्रकारके दशरूपकके सुनने [अथवा पढने] के समय भी [अर्थात् नाटकको देखे विना केवल पढने अथवा सुननेसे] असाधारण रसनात्मक चर्वणासे ग्राह्य नाट्य रूप रसकी प्रतीति स्पष्ट ही होती है। और जो उस प्रकार [निर्मल हृदय वाले या सहृदय] नहीं हैं उनको साक्षात्कारात्मक चर्वणाकी प्राप्तिकेलिए ही नट आदिकी प्रक्रिया, और [दूसरोके रत्यादि व्यापारोको देख कर] अपने भीतर उत्पन्न होने वाले क्रोध, शोक आदिके साङ्कर्यसे जन्य हृदयकी ग्रन्थियोके नाश करनेकेलिए गान आदिकी प्रक्रियाका निर्माण भरतमुनिने किया है। क्योकि [नाट्य] शास्त्र [सहृदय असहृदय] सबका ही उपकारक है। इस युक्तिसे [नाटकसे साधारण पुरुष भी रसास्वादन कर सकते हैं]। इसलिए नाट्यमें ही रस [का आस्वादन] होता है लोकमे नहीं [अर्थात् लौकिक रत्यादि व्यापारोका अवलोकन लज्जा, आदिका उत्पादक होता है]। और काव्य [सन्ध्यङ्गादिसे रहित] नाट्य ही होता है। [इसलिए काव्योंसे भी रसकी अनुभूति होती है]'

अत एव च नटे न रस । कुत्र तर्हि ? विस्मृतिशीलो न बोध्यते । उक्त हि देशकालप्रमातृभेदानियन्त्रितो'रस इति, केयमाशङ्का ? नटे तर्हि किम् ? आस्वादनोपाय । अत एव च पात्रमित्युच्यते । न हि पात्रे मद्यास्वादोऽपि तु तदुपायक । तेन प्रमुखपात्रे² नटोपयोग इत्यलम् ।

चित्रपुस्ताद्यपि च नाट्यस्यैवार्थभागाभिष्यन्दो यथा सर्गबन्धादि शब्दभागाभिष्यन्द । एतच्च 'योऽर्थो हृदयसवादी' [अ० ७–१०] इत्यत्र वितत्य वक्ष्याम ।

अन्ये त्वभिनयादिसामग्रीमय बहिर्दृश्यमान नाट्य नटधर्म कर्मरूपमित्याशयेन नाट्याद्रसा इत्याहु । स्मृता इति सम्प्रदायाविच्छेद दर्शयति । २ ।

अभिनव०—इसलिए नटमे रस नहीं होता है । [प्रश्न] तो फिर [रस] कहाँ होता है ? [उत्तर—यह तो हम पहिले ही बतला चुके हैं] भूल जाने वालेको [बार-बार] नहीं बतलाया जाता है । [किन्तु फिर भी तुमको एक बार और बतलाए देते हैं कि]—रस देश काल तथा प्रमाताके भेदसे नियन्त्रित नहीं होता है [अर्थात् नियत देश काल या प्रमातामे ही रसकी उत्पत्ति नहीं होती है] यह बात कही जा चुकी है । इस लिए [रस कहाँ होता है] यह शङ्का कैसी है ? [अर्थात् यह शङ्का करना उचित नहीं है । प्रश्न] तो फिर नटमे क्या होता है ? [उत्तर] उसके आस्वादनका उपाय । इसीलिए [नटको] 'पात्र' कहा जाता है । पात्रमे मद्यका आस्वादन नही होता है अपितु उसके द्वारा [होता है । इसी प्रकार नटमे रसास्वाद नही होता है अपितु नटके द्वारा होता है] । प्रमुखपात्रके [अर्थात् प्रमुख उपायके] रूपसे [रसज्ञानमे] नटका उपयोग होता है । इतना [कथन इस विषयमे] पर्याप्त है ।

अभिनव०—चित्र तथा शिल्प आदि [मृदा वा दारुणा वाथ वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा । लोहरत्नै कृत वापि पुस्तमित्यभिधीयते] भी नाट्यके अर्थ भागके सार रूप है । जिस प्रकार सर्गबन्ध आदि [महाकाव्य नाट्यके] शब्दभागके सारभूत हैं । इस बात को [सप्तमाध्यायमे] 'योऽर्थो हृदयसवादी' [इत्यादि कारिकाकी व्याख्या] के प्रसगमे विस्तार पूर्वक कहेगे ।

इस प्रकार यहा तक ग्रन्थकारने 'नाट्यरस' इस पदकी अपने मतानुसार व्याख्या की है । आगे वे इस विषयमें अन्य व्याख्याताओके मत दिखलाते हैं—

अभिनव०—दूसरे व्याख्याता तो अभिनयादि सामग्रीमय बाहर दिखलाई देने वाला नटका कर्म रूप धर्म ही नाट्य होता है इस अभिप्रायसे नाट्यसे उत्पन्न रस 'नाट्यरस' होते हैं यह कहते हैं । [पृष्ठ ५०१ पर दिए हुए द्वितीय अनुवश्य श्लोकके अन्तमे आए हुए] 'स्मृता' इस पदसे परम्पराकी अविच्छिन्नताको सूचित किया है । २ ।

---

१ देश-काल प्रमातृ भेदान्नियन्त्रितो । २ प्रमुखमात्रे ।

ये तु रत्याद्यनुकरणरूप रसमाहु', अथ चोदयन्ति शोक कथ सुखहेतुरिति ? परिहरन्ति च अस्ति कोऽपि नाट्यगताना विशेष इति । तत्र चोद्य तावदसत् । शोको हि प्रतीयमान न[1] स्वात्मनि प्रत्येतुर्दु खं वितनोतीति नियम शत्रुदु खे प्रहर्षात्, अन्यत्र च मध्यस्थयत्वात् । उत्तरन्तु तु भावाना स्वभावमात्रेणेति, न [2]किञ्चिदत्र तत्त्वम् ।

अस्मन्मते तु सवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते । तत्र का दु खाशङ्का । केवल तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारस्तदुद्वोधने चाभिनयादिव्यापार ।

यदेतदुक्त रसतत्त्व तदेवोपशोधयितुमुपक्रमते 'अत्राह' इत्यादिना चोद्यमुखेन–

अभिनव०—जो [शंकुक आदि व्याख्याता] रत्यादिके अनुकरणको ही रस कहते हैं और उसपर यह शङ्का करते हैं कि शोक [अर्थात् करुण रस] सुखका हेतु कैसे हो सकता है ? और [फिर स्वयं ही उस शङ्काका] समाधान करते है कि नाट्य में आए हुए [शोकादि] में कुछ अपूर्व विशेषता [विभावनादि व्यापारके कारण] हो जाती है [जिससे नाट्यमे शोक भी आनन्दात्मक करुण रसका जनक हो जाता है] । उस व्याख्या पक्षमें पहिले तो शङ्का [चोद्य] ही असङ्गत है । क्योकि प्रतीयमान शोक ज्ञाता [सामाजिक] के अपने आत्मामें दु खको उत्पन्न करता है यह नियम नहीं है । शत्रुके दुःखमें [देखने वालेको] हर्ष होनेके कारण [प्रतीयमान शोक सामाजिक मे नियमसे दु खको उत्पन्न करे यह नियम नहीं माना जा सकता है] । और अन्यत्र [सामाजिकसे भिन्न व्यक्तिमे शोकसे दु खकी उत्पत्ति माननेपर सामाजिकके] उदासीन होनेसे [शोक दु.खका कारण नहीं माना जा सकता है । इसलिए पहिले तो जो शङ्का उठाई गई है वही अनुचित है । फिर उसका जो उत्तर दिया गया है वह अनावश्यक है । क्योकि] उत्तर तो वस्तुके स्वभाव मात्रसे दिया गया है [कि नाट्यगत शोकादिमें कुछ ऐसी विशेषता हो जाती है कि जिससे वे आनन्दके ही जनक होते हैं । यह तो वस्तुके स्वभावमात्रका कथन किया गया है । उसके उपपादनके लिए यहाँ कोई युक्ति नहीं दी गई है] इसलिए इस [शङ्का—समाधान] में कुछ भी तत्त्व नहीं है

अभिनव०—हमारे मतमें तो आनन्दमय ज्ञानस्वरूप [आत्मा] का ही आस्वादन [रस रूपमे] होता है । उसमे दु.खकी शङ्का ही कैसे हो सकती है ? केवल उस [आनन्दमय विज्ञानस्वरूप] की विचित्रताके सम्पादनके लिए रति शोक आदि संस्कारों [स्थायिभावो] का व्यापार होता है । और उन [रति शोकादि रूप स्थायि-भावो] के उद्वोधनके लिए अभिनयादि [रूप नटका] व्यापार होता है ।

अभिनव०—इस प्रकार जिस रसतत्त्वका वर्णन [यहाँ तक] किया गया है उसीका [और अधिक] शोधन करनेकेलिए [भरतमुनि आगे] 'अत्राह' इत्यादिसे प्रश्न या शङ्का करते हुए [नए प्रकरणका] आरम्भ करते हैं—

---

१. किं ।   २, किञ्चिदेतत् ।

भरत०—अत्राह–किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति[1] ?

उच्यते–केषाञ्चिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिर्वृत्तिरिति ।

नर्तकगतेभ्यो रसेभ्यो भावा सामाजिके[2] । यथा करुणाच्छोक ततो विभावाद्युपचिते सामाजिके करुण इति रसाद् भावो भावाद्रस इति सन्देह । अत एव परस्परमपि[3] जन्म कालभेदेनेति तृतीय पक्ष । यदि वा नट एव राम एव [4]वा पूर्वं भाव । तत उपचये रस, ततोऽप्यपचये[5] भाव । इत्येव पक्षत्रयोत्थानम् । इदं चासत् । एवं भूतस्य रसस्वरूपस्य निराकृतत्वात् ।

श्रीशङ्कुकस्त्वाह—अनुकर्तरि रसानास्वादयतो[6]ऽनुकार्ये भावप्रतीति प्रयोगे ।

भरत०—यहा प्रश्न होता है कि [अत्राह]—(१) क्या रसोंसे भावोंकी उत्पत्ति होती है ? (२) अथवा भावोंसे रसोंकी ?

भरत०—[इस प्रश्नके उत्तरमे] कहते हैं कि—किन्हींके मतमे [न रसोसे भावोकी, और न भावोंसे रसोंकी उत्पत्ति होती है । अपितु] एक-दूसरेके सम्बन्धसे इनकी उत्पत्ति होती है ।

अभिनव०—नटमे रहने वाले रसोसे सामाजिकमे भावो [की उत्पत्ति होती है] जैसे [नटगत] करुण [के अभिनय] से [सामाजिकगत] शोक [रूप स्थायिभाव की उत्पत्ति होती है] । और उस [शोक] के विभावादिकेद्वारा उपचित होनेपर सामाजिकमे करुण [रसकी उत्पत्ति या पुष्टि होती है । इस प्रकार पहिले नटगत या नट द्वारा रसके अभिनयसे सामाजिकगत शोकादि स्थायिभावकी, और फिर सामाजिकगत भावकी पुष्टिसे सामाजिकगता रसकी उत्पत्ति होती है] इसलिए [क्या] रससे भाव [उत्पन्न होता है ? अथवा भावसे रस [उत्पन्न] होता है ? यह सन्देह होता है । इसलिए कालभेदसे एकसे दूसरेका भी परस्पर जन्म होता है यह तीसरा पक्ष बनता है । [कालभेदका अभिप्राय यह है कि पहिले नटगत रसके अभिनयसे भावकी उत्पत्ति होती है और बादको सामाजिकगत भावसे सामाजिक गत रसकी उत्पत्ति होती है । इस बातको ऊपर कह चुके हैं] । अथवा पहिले [अनुकर्ता] नटमे ही अथवा [अनुकार्य] राममे ही भावकी उत्पत्ति होती है । फिर [उसका] उपचय हो जानेपर उससे ही [अनुकर्ता नटमे अथवा अनुकार्य राममे] रस और, उसका अपचय होनेपर [रससे फिर] भाव होता है । इस प्रकार [(१) रससे भाव, (२) भावसे रस, (३) तथा एक दूसरेसे परस्पर दोनोकी उत्पत्ति होनेसे पूर्वोक्त] तीन पक्ष बनते हैं । [यह उपचित रत्यादिको रस मानने वाले भट्टलोल्लटका मत है । परन्तु इस मतका खण्डन पहिले किया जा चुका है इसलिए] इस प्रकारके रस स्वरूपका खण्डन हो जानेके कारण यह पक्ष ठीक नही है ।

अभिनव०—[नाट्यशास्त्रके दूसरे व्याख्याकार] श्रीशङ्कुकका यह कहना है

---

१ मिति उच्यते । २ सामाजिकं । ३ मिव । ४ चा पूर्वं । ५ प्युपचये । ६ येते ।

लोके 'प्रकृत रस निष्पादयतीति द्वितीयपक्षो नाट्याचार्याभिप्रेतशिक्षानुसारेण । अत एव च तृतीयोऽपि सम्भवति ।

एतदप्यसत् । न हि सामाजिकोऽनुकार्यानुकर्तृ विभागमवैति । ²दूषितश्चानुकरणवाद ।

तस्मादित्थमेतत्—किं रसेभ्यो भावा, उत विपर्यय. ? आहोऽन्योन्यजनकतेति त्रय प्रश्ना । आहो-शब्दो भिन्नक्रम । विभावादिभ्यस्तावद्रस निष्पत्तिरुक्ता । स एव द्वितीय पक्षोऽभ्युगत पूर्वम्³ ।

एतच्च कथ ? न हि लोके विभावानुभावादय केचन भवन्ति । हेतु-कार्य-अवस्थामात्रत्वाल्लोके तेषाम् । अथ त एव रसनोपयोगित्वे विभावादिरूपता प्रतिपद्यन्ते ।

कि—अनुकर्ता [नटगत अभिनयमे] रसोका आस्वाद करने वाले [सामाजिक] को नाटकमे अनुकार्य [रामादि] मे [रत्यादि] भावोकी प्रतीति होती है । वह [सामाजिक] लोगोमें प्रकृत रसको उत्पन्न करती है । इसलिए भावोसे रसकी उत्पत्ति होती है यह दूसरा पक्ष नाट्याचार्य [भरतमुनि] के अभिमत सिद्धान्तके अनुसार होता है । इसीलिए [पहिले अनुकार्यगत भावसे नटगत रसकी, और उसके बाद नटगत रससे सामाजिकगत भावकी उत्पत्ति होनेसे] तीसरा पक्ष भी बन जाता है ।

अभिनव०—यह [शंकुकका कथन] भी असङ्गत है । क्योकि सामाजिकको अनुकार्य तथा अनुकर्ताके भेदका ज्ञान नहीं होता है । और [शंकुकके अभिमत] अनुकरणवाद [अर्थात् रत्यादिका अनुकरण रस है इस सद्धान्त] का खण्डन किया जा चुका है ।

अभिनव०—इसलिए यह [प्रकृति पक्तिकी व्याख्या] इस प्रकार है—क्या रसोसे भावोकी उत्पत्ति होती है अथवा उसका उल्टा होता है [अर्थात् भावोसे रसोकी उत्पत्ति होती है] अथवा दोनों एक दूसरेको उत्पन्न करते हैं ये तीन प्रश्न हैं । 'आहो' शब्द भिन्नक्रम है [अर्थात् जहाँ पढ़ा गया है उससे भिन्न स्थानपर उसका अन्वय होता है । इन तीनोमेसे पहिले] विभावादिसे रसकी उत्पत्ति [होती है यह बात] कही जा चुकी है । वही दूसरा पक्ष पहिले [मुख्य सिद्धान्त रूपसे] स्वीकृत हो चुका है । [अर्थात् विभाव अनुभाव आदि भावोसे रसोकी उत्पत्ति होती है यह दूसरा पक्ष ही मुख्य सिद्धान्तपक्ष है । इस पर पूर्वपक्षी अर्थात् शकुक मतानुयायी फिर यह शका करता है कि—]

अभिनव०—[प्रश्न] यह कैसे हो सकता हे ? क्योकि लोकमे तो विभाव अनुभाव आदि कोई नहीं होते हैं । [काव्यमें ही विभाव अनुभावादि व्यवहार होता है] लोकमे उनको केवल कारण या कार्य रूप ही माना जाता है । यदि यह कहो कि वे [लौकिक कारण तथा कार्य] ही [काव्य नाटक आदिमे प्रयुक्त होनेपर] आस्वादन

---

१ प्रकृति. । ति ।　२ दूषित स्वानुकरणवाद. । ३ अभ्युपगत पूर्वमेव

तर्हि रसप्रसादाद् भावा विभावादय । अथोच्यते विभावादिप्रसादाद्रसो यथोक्त प्राक्, रसप्रसादाच्च विभावादिरूपत्वम् । तर्हि परस्पराश्रयत्वम् । इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते इत्याक्षेप ।

भरत०——तन्न। कस्मात्, दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिः, नतु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति ।

भरत०——भवन्ति चात्र श्लोकाः–

भरत०——नानाभिनयसम्बद्धान्[1] भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात् तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभि ॥ ३ ॥
नानाद्रव्यै-र्बहुविधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा ।
एव भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह ॥ ४ ॥

मे उपयोगी होनेसे विभावादि रूपको प्राप्त हो जाते है । तो फिर यह मानना होगा कि [काव्य नाटक आदिमे] रसकी कृपासे ही विभावादि [उन शब्दोसे व्यवहारके योग्य] होते हैं [इसलिए रसोसे भावोकी उत्पत्ति होती है यह सिद्धान्त मानना होगा] । और यदि यह कहो कि उन विभावादिके प्रसादसे रसकी उत्पत्ति होती है । जैसा कि पहिले कह चुके हैं [कि रसकी उत्पत्ति होनेके पहिले विभावादि रूपत्व रहता है और रसानुभूति कालमे वे सब मिल कर रसरूप हो जाते हैं] तो अन्योन्याश्रयत्व आ जाता है क्योकि विभावादि व्यवहार रसके कारण होता है और रसकी उत्पत्ति विभावादि से होती है । और एक दूसरेके आश्रित रहने वाले कार्य नही हो सकते है यह भावोसे रसकी उत्पत्ति होती है इस स्वीकृत किए हुए सिद्धान्त पक्षके ऊपर आक्षेप है ।

भरत०—यह [(१) रसो और भावोके परस्पर सम्बन्धसे दोनोकी उत्पत्ति मानने वाला पक्ष तथा (२) रसोसे भावोकी उत्पत्ति मानने वाला पक्ष, ये दोनो] ठीक नहीं है । क्योकि [रस सूत्रके अनुसार विभाव अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदि] भावोसे रसोकी उत्पत्ति देखी जाती है । रसोसे भावोकी [उत्पत्ति] नही [देखी जाती है] ।

भरत०—इस विषयमे [भावोसे रसोकी उत्पत्तिके प्रतिपादक अनुवश्य] श्लोक भी हे–

भरत० —क्योकि ये [विभावादि] नाना प्रकारके अभिनयोसे सम्बद्ध रसोको उत्पन्न [भावित] करते हैं इसलिए नाटकका प्रयोग करने वाले इनको ['भावयन्ति इति भावा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार] 'भाव' [नामसे] कहते हैं । ३ ।

भरत०—बहुत प्रकारके भिन्न-भिन्न पदार्थोसे जैसे व्यजनोकी भावना [सस्कार या उत्पत्ति] होती है । इसी प्रकार [विभाव अनुभाव आदि] 'भाव' अभिनयोके साथ मिल कर रसोको निष्पन्न करते हैं । ४ ।

१ त सम्बधा । म सम्बधान् । अ सम्बद्धा ।

न भावहीनोऽस्ति रसो[1] न भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये[2] भवेत् ॥ ५ ॥

व्यञ्जनौषधिसंयोगो[3] यथान्नं स्वादुतां नयेत् ।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ॥ ६ ॥

यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फल यथा ।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिता ॥ ७ ॥

अत्र सिद्धान्तमाह दृश्यते हीति । प्रमदादय प्रतीता सन्तो रसास्वाद विदधते यथोक्त प्राक् । अतो न रसेभ्यो भावा. ।

भरत०—[क्योंकि] भावोंके विना रस नहीं रहता है [इसलिए भावोंसे रसकी उत्पत्ति होती है यह सिद्धान्त पक्ष यहा तक है । अगले चरणमें प्रतिवन्धी पूर्व पक्ष देते हैं] और रसोंके विना भाव नहीं रहता है । [इसलिए रसोंसे भावकी उत्पत्ति माननी चाहिए । यह पूर्वपक्षीका कथन है । इसके आगे सिद्धान्त पक्षसे उत्तर करते हैं—] अभिनयमे एक दूसरेके सहारे इनकी सिद्धि होती है । ५ ।

इससे आपातत यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार भाव और रस दोनोकी एक दूसरेके सहारे उत्पत्ति मान कर अन्योन्याश्रय वाले तीसरे पक्षका समर्थन कर रहे हैं । परन्तु वास्तवमें यह वात नही है । ग्रन्थकारका आशय यह है कि यदि भावोंमे रसकी और रससे भावोकी उत्पत्ति मानी जाय तव तो क्रियाकी समानताके कारण अन्योन्याश्र दोप हो सकता है । किन्तु यहा भावोसे तो रसकी उत्पत्ति मानी जाती है । किन्तु रससे भावोंकी उत्पत्ति नहीं, विभावादि शब्द व्यदेश्यता मानी जाती है । अत दोनोकी क्रियाओके भिन्न होनेसे अन्योन्याश्रय दोप नहीं है । इसी अभिप्रायसे अभिनवगुप्त इनकी व्याख्या करेंगे । और उसमें ७ वें अनुवश्य श्लोककी व्याख्यामें इस अन्तरका स्पष्टीकरण करेंगे ।

भरत०—जैसे व्यञ्जन [उपसेचन द्रव्य] तथा औसधि [गेहू आदि] का संयोग [अन्न अर्थात्] खाद्य द्रव्यको स्वादिष्ट वना देता है । इसी प्रकार भाव और रस एक दूसरेको भावित करते हैं । ६ ।

भरत०—जैसे वीजसे वृक्ष होता है और जैसे वृक्षसे पुष्प तथा फल होते हैं । इसी प्रकार सारे रस मूल हैं, और उनके द्वारा ही भावोकी स्थिति होती है । ७ ।

अभिनव०—इस [शङ्का या आक्षेपके होने] पर सिद्धान्त [रूपसे ग्रन्थकार भरतमुनि पृ० ५१० के मूल गद्यमे] कहते हैं कि— 'दृश्यते हीति' इसका अभिप्राय यह हैं कि— प्रमदादि [विभावादि] की प्रतीति ही रसास्वादको उत्पन्न करती है । जैसा कि पहिले कहा जा चुका है । इसलिए रसोसे भावोकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

---

१. त भावो मा रसवर्जित । २. स. [illegible] । ३. म सयोगाद्यथान्नमुप पादयेत ।

भावशब्दार्थपर्यालोचनया चैतदेवोपपन्नमिति श्लोकेनाह 'नानाभिनयै सम्यग् बद्धान् हृदयङ्गतान् भावयन्ति सम्पादयन्ति रसास्तस्माद् भावा' ॥ ३ ॥

'नन्वेतद् भावशब्दप्रवृत्तिनिमित्त, तन्न प्रकृत किञ्चिदुक्तमित्याशक्य प्रकृते योजयितुमाह 'नानाद्रव्यै' इति ।

व्यज्यत इति व्यञ्जन चानुपानादिरसोऽत्राभिप्रेत । 'बहुविधै' इति व्यञ्जनस्योपलक्षण, अभिनयैरित्यस्य वा विशेषणम् ॥ ४ ॥

अभिनव०—भाव शब्दके अर्थका विवेचन करनेसे भी यही बात युक्तिसगत प्रतीत होती है । इस बातको 'नानाभिनय-सम्बद्धान्' इत्यादि [तीसरे अनुवश्य] श्लोकमे कहा है । नाना प्रकारके अभिनयोसे सम्यग् प्रकारसे सम्बद्ध अर्थात् हृदयङ्गम [रसो] को 'भावयन्ति' अर्थात् उत्पन्न करते हैं इसलिए 'भाव' कहलाते हैं ॥३॥

अभिनव०— [प्रश्न]—यह तो भावशब्दके प्रयोगका निमित्त आपने बतलाया । उससे [भाव ही रसोकी उत्पत्तिके कारण हैं इस विषयमे कोई युक्ति तो नहीं दी है इसलिए वह] प्रकृत [विषयके निर्णय] मे कुछ भी नही कहा हैं [इस प्रकार का प्रश्न किया जा सकता है] इस प्रकारकी आशङ्का करके [अनुवश्य श्लोकके निर्माताने स्वय ही उस व्युत्पत्यर्थ को] प्रकृतमे योजना करते हुए 'नानाद्रव्यै' इत्यादि अगला श्लोक कहा है ।

अभिनव०— अनेक द्रव्योके योगसे जो व्यक्त होता है वह व्यञ्जन [होता] है । इस व्युत्पत्तिके अनुसार [ठडाई आदि] अनुपानका रस यहाँ 'व्यञ्जन']शब्दसे] अभिप्रेत है । 'बहुविध' यह पद व्यञ्जन का उपलक्षण है । अथवा 'अभिनयै' इसका विशेषण है ।

उपलक्षण तथा विशेषणका अन्तर यह है कि जो विद्यमान होकर अन्यव्यावर्तक होता है वह 'विशेषण' कहलाता है और जो अविद्यमान होकर अन्यव्यावर्तक होता है वह 'उपलक्षण' कहलाता है । जैसे काली गाय इस प्रयोगमें काली पद गायका 'विशेषण' है । क्योकि काला रूप गायमें विद्यमान रहता है और उसको श्वेत आदि अन्य रगोकी गायोसे भिन्न करता है । इसलिए विद्यमान होकर अन्य-व्यावतक होनेसे 'काली' पद विशेषण' कहा जाता है । इसके विपरीत जो विद्यमान न होकर भी अन्यका व्यावर्तन करे, अन्यसे भेद करे वह 'उपलक्षण' कहलाता है । जैसे 'काकवद्देवदत्तस्य गृहम्' कौए वाला देवदत्तका घर है । इस प्रयोगमें 'काकवत्' पद 'गृह' का विशेषण नही अपितु उपलक्षण है । किसी समय दो व्यक्ति कही जा रहे थे । किसी पर बैठे हुए कौओकी ओर उनका ध्यान गया । परन्तु वे आगे चले गए । किसी अन्य समय देवदत्तके घरका प्रसग आया । उन दोनो व्यक्तियोमेसे एक तो यह जानता था कि यह देवदत्तका घर है । दूसरा व्यक्ति इस बातको नही जानता था । कालान्तरमें जब देवदत्तके घरकी चर्चा आई तो जानने वाले व्यक्तिने न जानने वाले व्यक्तिको देवदत्तके घरका परिचय देनेकेलिए कहा कि वह 'कौए वाला' ही

---

१ नन्वेतद्भावशब्द प्रवृत्तिनिमित्तम् । न तत्, प्रकृत किञ्चिदुक्तम् ।

एव स्थितपक्षमुपसहरति—न 'भावहीनोऽस्ति रस.' इति ।

अत्र चोद्यवादी स्वाशयमुन्मीलयति 'न भावो रसवर्जित' इति । लोके हि न कश्चिद्विभावादिव्यवहार इति भाव ।

अथोत्तरमाह—'परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्' । अभिनये साक्षात्कारे सम्पन्ने तदुपयोगितया विभावादिव्यपदेश इत्यतो या परस्परकृता सिद्धि सा भद्र भवेदिति सम्भाव्यते । एवम्भूतमितरेतराश्रयज न दूषणमित्यर्थ ॥ ५ ॥

अत्रैव दृष्टान्तमाह 'व्यञ्जनौषधिसयोग.' इति—व्यञ्जनौषधिसयोगोऽन्न च कर्तृ यथा परस्परमन्योऽन्य कर्मभूत स्वादुता नयेत् तथा भावा रसाश्चान्योऽन्य भावयन्ति ।

देवदत्तका घर है । यहाँ 'काकवत्' पद देवदत्तके घरका अन्य गृहोंसे भेद दिखलाता है । परन्तु परिचय कराते समयमें उस घर-घर कौए बैठे हो यह आवश्यक या सम्भव नहीं है । इसलिए अविद्यमान होनेपर भी अन्यव्यावर्तक होनेसे 'काकवत्' पद गृहका 'उपलक्षण' है 'विशेषण' नही । इसी प्रकार 'बहुविधैः' पदको 'अभिनयै' का विशेषण या व्यञ्जनका 'उपलक्षण' माना जा सकता सकता है । अभिनयोंमें बहुविधत्व विद्यमान रहता है इसलिए वह अभिनयका 'विशेषण' हो सकता है । परन्तु ठडाई आदि पेय द्रव्योंमें अनेक द्रव्योंको मिला कर एक रस बन जाता है । उसमें बहुविधत्व विद्यमान नही रहता है इसलिए उसको व्यञ्जनका 'उपलक्षण' कहा जा सकता है ।

अभिनव०—इस प्रकार सिद्धान्त पक्षका उपसंहार 'न भावहीनोऽस्ति रसः' इत्यादिसे करते हैं—'भावके विना रस नहीं होता है' [इसलिए भावसे रसकी उत्पत्ति माननी चाहिए] ।

अभिनव०—इस पर शङ्का करने वाला अपने अभिप्रायको 'न भावो रसवर्जितः' इत्यादिसे प्रकट करता है—[जैसे आपके मतानुसार] भावके विना रस नहीं होता है [इसी प्रकार दूसरी ओर] 'भाव भी रसके विना नहीं होता है' । [अर्थात्] लोकमें [रसके सम्बन्धके विना] विभावादिका कोई व्यवहार नहीं होता है [विभावादि शब्दो का प्रयोग रसके सम्बन्धसे ही नाटकादिमे होता है इसलिए रससे भावकी उत्पत्ति माननी चाहिए ।]

अभिनव०—इसपर उत्तर देते हैं—उन दोनोंके परस्पर योगसे होने वाली सिद्धि ही 'अभिनय' कहलाती है । अभिनयमे [रसका] साक्षात्कार होनेपर उसके सहायक होनेसे [रसके कारणादिको] विभावादि कहा जाता है । इसलिए जो उन दोनोके परस्पर योगसे अभिनय रूप सिद्धि होती है, यह वह ही ठीक है ऐसा प्रतीत होता है । इस प्रकारका अन्योन्याश्रयसे उत्पन्न होने वाला दोष नहीं आता है । यह अभिप्राय है । [इसका उपपादन आगे एक अनुच्छेदके बाद करेंगे] ॥५ [अनुवंश्य] ॥

अभिनव०——इसीमे उदाहरण देते हैं व्यञ्जन [दही काँजी आदि द्रव्य] तथा औषधियोका संयोग, एवं अन्न ये [दोनो क्रमश कर्ता तथा कर्म दोनो होते हैं] कर्ता रूपसे [क्रमशः] स्थित होकर जैसे कर्मभूत एक दूसरेको परस्पर स्वादुता को प्राप्त कराते हैं इसी प्रकार रस और भाव एक दूसरेको परस्पर भावित करते हैं ।

भावा रसान् भावयन्ति निष्पादयन्ति। रसास्तु भावान् भावयन्ति, भावान् कुर्वन्ति भावादिव्यपदेश्यान् कुर्वन्तीत्यर्थ ।

एतदुक्त भवति—एकत्रैकदा क्रियायामन्योन्यश्रयत्व दोषो न तु क्रियाभेदे। यथा व्यञ्जनादिसयोगेनान्नस्याम्लादिरसवत्ता[1]क्रियते । अन्नेन [2]वाश्रयरूपेण सता व्यञ्जनसुखयोग्यता क्रियते। एव भावै रस्यमानता, रसैश्च भावादिव्यपदेश्यता कारणादीनाम्। यथा पटापेक्षया तन्तव कारणमिति व्यपदेश्या, तन्त्वपेक्षया पट कार्यो, न चेतरेतराश्रयत्व, तथा प्रकृतेऽपीति ॥ ६ ॥

अर्थात् भाव रसोको भावित या उत्पन्न करते है और रस भावोको भावित करते हैं, भाव बनाते है, अर्थात् भाव पदसे कथन करने योग्य बनाते हैं। यह अभिप्राय है।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—एक विषयमे एक क्रिया होनेपर अन्योन्याश्रय दोष होता है [जैसे बीज अकुरका उत्पादक और अकुर बीजका उत्पादक है। यहाँ उत्पादन रूप समान क्रिया होनेसे अन्योन्याश्रय कहा जा सकता है]। किन्तु क्रियाका भेद होने पर नही। जैसे यहाँ [व्यञ्जन] दधि काजी आदि उपसेचन द्रव्य आदिके सयोगसे अन्नमे अम्लादि रस उत्पन्न होता है [परन्तु अन्नसे व्यञ्जनमे रस उत्पन्न नहीं होता अपितु] आधारभूत अन्नसे व्यञ्जन [भूत रस] को आस्वाद योग्य बनाया जाता है। इसी प्रकार भावोके द्वारा [स्थायिभावकी] रस्यमानता होती है, और रसोके द्वारा कारणादि [रूप सीता रामादि] को विभाव पदसे व्यपदेश्य बनाया जाता है। [इसलिए क्रियाभेदके कारण यहाँ अन्योन्याश्रय दोष नही होता है]। जैसे पटकी अपेक्षासे तन्तु, 'कारण' इस नामसे कहे जाते है और तन्तुकी अपेक्षासे पट 'कार्य' कहलाता है परन्तु अन्योन्याश्रय दोष वहाँ नही होता है। इसी प्रकार यहाँ भी [क्रियाभेदके कारण अन्योन्याश्रय दोष नही होता है] यह समझना चाहिए ॥ ६ [अनुवंश्य श्लोक] ॥

इस प्रकार यहाँ तक रसकी उत्पत्तिके विषयमें भावोसे रसकी उत्पत्ति होती है इसी पक्षको सिद्धन्त पक्षके रूपमे स्थापित किया गया है। परन्तु इसी अध्याय में रस प्रकरणके प्रारम्भमें मूल ग्रन्थमें सबसे पहिले रसोकी विवेचना प्रारम्भ करनेका समर्थन करते हुए यह लिखा था कि 'रसके बिना अन्य किसी अर्थकी प्रवृत्ति नही होती है इसलिए सबसे पहिले रसोका निरूपण करते है'। इसका यह अर्थ भी होता है कि रसके बिना विभाव आदिकी भी प्रवृत्ति नही होती है। इस लिए रसोमे भावोकी उत्पत्ति माननी चाहिए। तब इन दोनो कथनोमें परस्पर विरोध आता है। इसलिए ग्रन्थकार इस आपतत प्रतीत होने वाले विरोधके परिहारकेलिए अगला श्लोक देते है। फिर भी उसमें रससे भावोकी उत्पत्तिके सिद्धान्तका समर्थनसा प्रतीत होता है। इसलिए वृत्तिकारने आगे चल कर तीनो सिद्धान्तोको कथचित् स्वीकार किए जाने की बात लिखी है।

---

१ आल्हादिरसवत्ता। २ चाश्रय।

ननु यदि भावेभ्यो रसास्तर्हि कथमुक्त 'नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थ प्रवर्तते तेन पूर्व त एवोद्देश्या' इत्याशक्याह यथेत्यादिना—

वीज यथा वृक्षमूलत्वेन स्थित तथा रसा । तन्मूला हि[1]प्रीतिपूर्विका [2]प्रयोजने नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च व्युत्पत्तिरिति । [3]त एव च व्याख्यानार्हा । कविगतसाधारणीभूतसविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नटव्यापार । सैव च सवित् परमार्थतो रस । सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धारबुद्ध्या विभावादिप्रतीतिरिति । तदेव [4]मूलवीजस्थानीय कविगतो रस । कविर्हि सामाजिकतुल्य एव । तत एवोक्त "[5]शृङ्गारी चेत् कवि' [ध्वन्यालोक ३-४२] इत्यादि, आनन्दवर्धनाचार्येण । ततो वृक्षस्थानीय काव्यम् । तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापार । तत्र फलस्थानीय सामाजिकरसास्वाद । तेन रसमयमेव विश्वम् ।

अभिनव०—[प्रश्न]—यदि भावोंसे रसोंकी उत्पत्ति होती है [इस सिद्धान्त को माना जाय] तो आपने [पहिले] यह कैसे कहा है कि 'रसके विना कोई अर्थ प्रवृत्त नही होता है इस लिए पहिले उन्हींका कथन करना चाहिए' [इस प्रकार का प्रश्न कोई भी उठा सकता है] ऐसी आशंका करके [उसका समाधान] 'यथा' इत्यादि [७वें अनुवंश्य श्लोक] से कहते हैं—

अभिनव०—जैसे वीज वृक्षके मूल [कारणरूप] में स्थित होता है इसी प्रकार [कविगत] रस [काव्य रूप वृक्षके मूल रूपमे स्थित होते हैं] । इसलिए उसीके द्वारा आनन्दास्वाद [प्रीति] पूर्वक [रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादि रूप उपदेशका] ज्ञान होता है। इसीलिए वे [रस सबसे पहिले] ही व्याख्यान करने योग्य हैं। उसी कविगत साधारणीभूत रससंविन्मूलक काव्यके द्वारा नटका व्यापार होता है। और वही [कविगत] सवित् वास्तवमे [मूलभूत] रस है। उसकी प्रतीति के वशीभूत उस [कविगत रससे प्रभावित] सामाजिकको अपोद्धारवुद्धि अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक आदिके द्वारा बादको विभावादिकी प्रतीति होती है। इस प्रकार मूल वीजके स्थानपर कविगत रस [भावादिका मूल कारण] है। कवि सामाजिकके समान ही है। इसीलिए [ध्वन्यालोककार] श्री आनन्दवर्धनाचार्यने कहा है कि— 'यदि कवि शृङ्गारी है तो सारा जगत् रसमय हो जाता है और वह यदि वीतराग है तो सारा काव्य नीरस हो जाता है' इत्यादि। उस [वीजस्थानीय कविगत रस] से वृक्षस्थानीय काव्य [उत्पन्न] होता है। उसमे पुष्पस्थानीय अभिनयादि रूप नटका व्यापार होता है। उसमे फलस्थानीय सामाजिकका रसास्वाद होता है। इसलिए [सामाजिकके लिए सारा काव्य—] जगत् रसमय ही होता है।

---

१. मूलादि । २. 'प्रयोजने नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च' इतना पाठ पूर्वसंस्करण मे दो पंक्तियो के बाद आए हुए 'विभावादिप्रतीतिरिति' के बाद दिया गया था। ३ त [क] तरे च व्याख्यानार्हात'। ४. मूलवीज स्थानीयात्। ५. शृङ्गारी चेत्कवि. काव्ये जात रसमय जगत्। स एव वीतरागश्चेत्नीरस सर्वमेव तत् ॥ ध्वन्या० पृ० ४२२

अत्र च विज्ञानवादो, द्विधाभिधान, स्फोटतत्त्व, सत्कार्यवाद, एकत्वदर्शनमित्यादि च द्रष्टव्यम् । वयन्तु प्रकृतानुपयोगिश्रुतलवसन्दर्शनमिथ्याप्रयाससश्रयमशिक्षितपूर्विण इत्यास्ताम् ।

अन्ये तु बीजादिव भावाद्रसवृक्ष । ततोऽभिनयकुमुमसुन्दरात् फलमिव भाव प्रतीत्या भुज्यत इति व्याचक्षते । तैं प्रकृतविरुद्ध सर्व व्याख्यातम् । एव हि भावस्यैवोपक्रमपर्यवसानवर्तित्वमुक्त स्यादित्यास्ता चैतत् ।

एव त्रयोऽपि पक्षा कथञ्चिदुपगता अभिप्रायवैचित्र्येणेति तात्पर्यम् ।। ७ ।।

एवमुद्दिष्टाना विभक्ताना च रसाना सामान्यलक्षण परीक्षापरिशुद्धमभिधाय तदनुवादपूर्वक विशेषलक्षण वक्तु पीठबन्ध दर्शयति तदेषामित्यादिना—

भरत०—तदेषां रसानामुत्पत्ति-वर्ण-देवत-निदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः ।

अभिनव०—यहाँ [अर्थात् इस रसके प्रसङ्गमे] विज्ञानवाद, द्वैतवाद, स्फोटवाद, सत्कार्यवाद और अद्वैतवाद आदि [नाना दार्शनिक सिद्धान्तोका वर्णन प्राचीन टीकाकारोने किया है उसको उन्ही ग्रन्थोमे] देखना चाहिए । हमे तो प्रकृतमे अनुपयोगी [उन विषयोमे] चञ्चुप्रवेशके प्रदर्शनके मिथ्या ढोग बनानेका अभ्यास नही है इसलिए उसकी चर्चा नहीं करेंगे ।

अभिनव०—दूसरे व्याख्याकार तो [इस श्लोककी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि] बीजके समान भाव [अर्थात् बीजस्थानीय भाव] से रसरूप वृक्ष [उत्पन्न] होता है और अभिनय रूप कुसुमोसे मनोहर उस [रस रूप वृक्ष] से फल के समान [फलस्थानीय] भाव, प्रतीतिके द्वारा भोगा जाता है इस प्रकारकी व्याख्या करते है । [यह मत 'भोगेन भुज्यते' कह कर भोजकत्व व्यापार मानने वाले भट्टनायक का प्रतीत होता है । 'भोगेन भुज्यते' के स्थानपर यहाँ 'प्रतीत्या भुज्यते' प्रयोग किया गया है] । उन्होने यह बिल्कुल प्रकरणके विरुद्ध व्याख्या की है । क्योकि इस प्रकार [भावसे रस वृक्षकी उत्पत्ति और उसके फल रूपमे भावका भोग मानने पर] तो आदि और अन्त दोनो स्थानोपर भाव ही आता है [जो कि सम्भव नही है] । इसलिए [इस मतके भी असङ्गत होनेसे] इसको भी छोडना चाहिए ।

अभिनव०—इस प्रकार यद्यपि भावसे रसकी उत्पत्ति होती है यही मुख्य रूपसे सिद्धान्त पक्ष है परन्तु अभिप्राय भेदसे [पूर्व व्याख्याकारो द्वारा] तीनो पक्ष कथञ्चित् स्वीकृत किए गए है । [परन्तु सिद्धान्त पक्षको छोड शेष दोनो पक्षोका खण्डन अभिनवगुप्तने किया है] ।। ७ [अनुवश्य श्लोक] ।।

अभिनव०—इस प्रकार उद्दिष्ट [नाममात्रेण कथित] और विभक्त किए हुए रसोके परीक्षा द्वारा शोधित सामान्य लक्षणको कह कर उसका अनुवाद करते हुए विशेष लक्षण कहनेके लिए 'तदेषां' इत्यादिसे भूमिका बांधते है—

भरत०—अब इन रसोकी उत्पत्ति, वर्ण, देवता, उदाहरण आदिकी व्याख्या करेंगे ।

यत' सामान्यलक्षणमेतेषा कृत तस्माद्विशेषलक्षणाशपूरकाण्युत्पत्त्यादीनि व्याख्यास्याम । तत्रोत्पत्तिरुत्पादकानामुत्पाद्याना च विशेषलक्षणमन्योऽन्यतो व्यवच्छेदात् । उत्पादकानामप्येतदुत्पादकत्व, उत्पादकान्तराद्विलक्षण' उत्पाद्यकृतमेव । उत्पाद्यानामुत्पादककृतमिति परस्परलक्षणत्वम् ।

वर्ण' श्वेतादिरिति तु सुस्पष्टम्[2] । निर्देशन तु शृङ्गारो नाम इत्यादिना । विभावादिविशेषसयोगे[3] उत्पत्तिलक्षणे ह्यन्योन्याश्रयशङ्का । वर्णदेवतयोस्त्वागमानुविद्धत्वमिति स्फुटम् । निश्चयदर्शनोपायत्व उत्पत्त्यादीना न सम्भवति, विभावादिविशेषसयोगस्तु तद्वैलक्षण्यान्निदर्शनमित्युक्तम् ।

तत्रोत्पत्तिं तावदाह तेपामित्यादिना—

भरत०—तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः । तद्यथा—शृङ्गारो रौद्रो वीरो वीभत्स इति । अत्र—

भरत०—शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥ ३२ ॥

अभिनव०—[क्योकि] इनका सामान्य लक्षण कर चुके हैं इसलिए विशेष लक्षणके पूरक उत्पत्ति आदिकी व्याख्या करेंगे । उनमेसे उत्पत्ति उत्पादको [अर्थात् हास्यादिरसोके उत्पादक शृङ्गारादिरसो] एव उत्पाद्यो [अर्थात् शृङ्गारादिसे उत्पन्न हास्यादि] का एक दूसरेसे भेद होनेसे [उत्पादक शृङ्गार और उत्पाद्य हास्य इन दोनोंका] विशेष लक्षण है । [इसी प्रकार] उत्पादको [अर्थात् शृङ्गार, रौद्र, वीर, वीभत्स इन चार रसो] का यह उत्पादकत्व भी दूसरे [अर्थात् परस्पर एक दूसरे] उत्पादकोंसे विलक्षण [या व्यवच्छेदक] होता है । और वह उत्पाद्य [हास्यादि के भेद] के कारण ही होता है । इसी प्रकार उत्पाद्योका [उत्पाद्यत्व भी दूसरे उत्पाद्योकी अपेक्षा भिन्न अर्थात व्यवच्छेदक तथा] उत्पादक कृत ही होता है ।

अभिनव०—वर्ण श्वेतादि तो स्पष्ट ही हैं । इसी प्रकार शृङ्गार आदि नाम निदर्शन [पदसे अभिप्रेत] है । विभावादिके सयोगविशेष रूप उत्पत्तिके लक्षण [मानने] में अन्योन्याश्रयकी शङ्का होती है । वर्ण तथा देवता तो आगममे वर्णित है अत' [उनमे शङ्का न होनेसे] यह स्पष्ट है । [निश्चयेन दर्शन येन तन्निदर्शनम् इस व्युत्पतिके अनुसार] निश्चयसे दर्शनका उपायत्व उत्पत्ति आदिमें नहीं बनता है । इस लिए उनसे भिन्न विलक्षण होनेके कारण विभावादिका संयोगविशेष 'निदर्शन' कहा जाता है ।

अभिनव०—उनमेसे पहिले 'तेषा' इत्यादिसे उत्पत्तिका वर्णन करते हैं—

भरत०— उनमें चार रस [शेष रसोकी] उत्पत्तिके हेतु [अर्थात् सूचक] होते हैं । जैसे कि १ शृङ्गार, २ रौद्र, ३ वीर तथा वीभत्स [रसोके उत्पत्तिके कारण होते हैं] इनमे [भी]—

भरत०—शृङ्गारसे हास्यकी, रौद्रसे करुणकी, वीरसे अद्भुत रसकी, तथा वीभत्ससे भयानकको उत्पत्ति होती हैं । ३२ ।

---

१. वैलक्षण्यम् । २ श्वेतादि तु सुस्पष्ट विलक्षणादि । एवं । ३. संयोग.

तेषा रसानामुत्पत्तौ हेतव सूचकाश्चत्वार । रसानामुत्पाद्योत्पादकप्रकारो यावान् सम्भवति स चतुर्भिरेव सूचित इति यावत् ।

(१)तथा हि तदाभासत्वेन तदनुकाररूपतया हेतुत्व शृङ्गारेण सूचितम् । यतो विभावाभासादनुभावाभासाद् व्यभिचार्याभासाद् रत्याभासे प्रतीते चर्वणाभाससार शृङ्गाराभास । कामनाभिलाषमात्ररूपा हि रतिरत्र व्यभिचारिभावो न स्थायी । तस्य तु स स्थायिकल्पत्वेन भाति । तद्वशाद्विभावाद्याभासता । अतश्च स्थाय्याभासत्वं रते । यतो रावणस्य सीता द्विष्टा[1] वाप्युपेक्षिका वेति हृदय नैव स्पृशतीति । तत्स्पर्शे ह्यभिमानोऽस्या विलीयत एव । 'मयीयमनुरक्ता' इति तु निश्चयो ह्यनुपयोगी कामजमोहसारत्वात्, शुक्तौ रूप्याभासवत् ।

अभिनव०—१ उन रसोकी उत्पत्तिमे हेतु अर्थात् ज्ञापक चार प्रकारके होते है । अर्थात् रसोका [परस्पर] जितना भी उत्पाद्य-उत्पादक भाव भेद हो सकते हैं वे सब [आगे कहे जाने वाले] चार [प्रकारोसे ही सूचित हो जाता है] । जैसे कि—

अभिनव०—(१) तदाभास रूपसे अथवा तदनुकृति रूपसे [कोई रस किसी अन्यसे उत्पन्न हो सकता है इस प्रकारका] हेतुत्व शृङ्गार [रस] के द्वारा सूचित होता है । क्योकि विभावाभास, अनुभावाभास, व्यभिचार्याभासके द्वारा रत्याभासके प्रतीत होनेपर [रतिका वास्तविक परिपाक न हो कर जो] केवल चर्वणाभास मात्र होता है वह शृङ्गाराभास [कहलाता] है । उस [शृङ्गाराभासकी चर्वणा] मे रति की कामना या अभिलाषा मात्र होती है जो कि स्थायिभाव नहीं अपितु व्यभिचारिभाव मात्र होती है । किन्तु उस [शृङ्गारभासका अनुभव करने वाले] को स्थायिभावके समान-सी प्रतीति होती है । उसी [रत्याभास या व्यभिचारिभाव रूप रति] के कारण विभावाद्याभास बन जाते हैं । इसीलिए [परस्त्री अथवा अननुरक्त स्त्री आदि विषयक] रति स्थाय्यभास [रूपमे उपस्थित होती] है । [उदाहरणार्थ रावण सीताको चाहता है । यह रावणकी सीता विषयक रति वास्तविक रति नहीं अपितु रत्याभासमात्र है] । क्योकि सीता रावणके प्रति द्वेष-युक्त अथवा उपेक्षा-युक्त है [रागवती नहीं है] । इसी लिए वह [रावणके] हृदयका आलिङ्गन नहीं करती है । यदि उस [रावणके हृदय] का स्पर्श करे तो उसका [पातिव्रत्य धर्मका] अभिमान ही विलीन हो जाय । [रावण जो यह समझता है कि] यह मेरे प्रति अनुरक्त है यह निश्चय केवल काम जन्य मोह मात्र रूप होनेसे [रसोत्पत्तिमे] अनुपयुक्त और शुक्तिमे रजताभासके समान [भ्रममात्र] है ।

---

१ मय्युपेक्षिका ।

यद्यपि—

दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिं
चेतः कालकलामपि प्रसहते नावस्थितिं तां विना ।
एतैराकुलितस्य विक्षतरतेरङ्गैरनङ्गातुरैः
सम्पद्येत कथं तदाप्तिसुखमित्येतन्न वेद्मि स्फुटम् ॥

इत्यादौ रावणवाक्ये तावति रत्याभासैतैव । न तु हासः स्फुरति । तथापि सीतालक्षणविभाव-रावणवयःप्रकृतिविरुद्धः च चिन्ता-दैन्य-मोहादिको व्यभिचारिगणः, अश्रुपात-परिदेवितादि चानुभावजातमनौचित्यात्तदाभासरूपं सद्धास्यविभावरूपम्। तद्वक्ष्यते 'विकृतपरवेषालङ्कार' इत्यादि । एवं तदाभासतया प्रकारः शृङ्गारेण सूचितः ।

तेन करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्वं सर्वेषु मन्तव्यम् । अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हास्यविभावत्वम् । तच्चानौचित्यं सर्वरसानां विभावानुभावादौ सम्भाव्यते । तेन व्यभिचारिणामप्येषैव वार्ता । अत एव संवित्सतत्त्वनिपुणैश्चिरन्तनैः रस-भाव-तदाभासव्यवहारस्तत्र क्रियते ।

अभिनव०—यद्यपि—

अभिनव०—दूरसे ही आकर्षण कर लेने वाले मोहमन्त्रके समान उस [सीता] के नामको सुनते ही चित्त एक क्षणके लिए भी उसके विना रह सकनेमें असमर्थ हो जाता है । [किन्तु] व्याकुल और बेचैन, मेरे इन काम-सन्तप्त अङ्गोके द्वारा उसकी प्राप्ति [आलिङ्गन] का सुख कैसे प्राप्त हो यह ठीक तरहसे समझमें नहीं आता है ।

अभिनव०—इत्यादि रावणके वाक्यमें प्रारम्भमे रत्याभास ही प्रतीत होता है हास नहीं [प्रतीत होता है] । फिर भी [रावणका सीताके प्रति यह अनुराग-प्रदर्शन] सीता [रूप आलम्बन] विभावके [विपरीत], रावणकी आयुके और प्रकृतिके विरुद्ध [प्रकट होने वाले] चिन्ता, दैन्य, मोह आदि रूप व्यभिचारि-गण और रुदन, विलाप आदि अनुभाव समुदाय अनुचित होनेसे तदाभासात्मक होकर हास्यके विभाव रूप बन जाते हैं । जैसा कि आगे-'दूसरोके विकृत वेष अलङ्कारादिके होनेपर' [हास्य रस होता है] यह कहेंगे इस प्रकार तदाभास रूपसे [रसान्तरोत्पत्तिका] प्रकार शृङ्गारके द्वारा सूचित किया गया है ।

अभिनव०—इस [उदाहरण] से करुणाभास आदि सभी [रसाभासो] में हास्यत्व समझना चाहिए । क्योंकि अनुचित प्रवृत्तिके कारण ही [कोई व्यक्ति] हास्य का विभाव बनता है । और वह अनौचित्य सभी रसोके विभाव अनुभाव आदिमें हो सकता है । इसी प्रकार व्यभिचारिभावोंका भी यही हाल है । इसीलिए अनुभूतिके तत्त्वको समझने वाले विद्वानोके द्वारा [अनुभूतिमे सूक्ष्म भेदके आधारपर ही] भिन्न-भिन्न दशाओमें रस, भाव, तदाभास [रसाभास] आदि व्यवहार किया जाता है ।

अमोक्षहेतावपि तदाभासताया शान्ताभासो हास्य एव। प्रहसनरूपयानौचित्यस्य[1] त्याग सर्वपुरुषार्थेपु व्युत्पाद्य । एतच्च लक्षणे वक्ष्यते ।

तत्र हास्याभासो यथास्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य—

लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एप
सम्मन्यते यदि किमङ्ग वदाम नाम।
यस्त्वत्र हास्यमुखरस्त्वममुष्य तेन
पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति ॥

एव यो यस्य न बन्धुस्तच्छोके करुणोऽपि हास्य एवेति सर्वत्र योज्यम्। एतदेवोदाहरणम् । एवमन्यत्तेनानुमेयमिति मुनिना 'यथा'ग्रहण कृतम् ।

अभिनव०—[निर्वेद रूप शान्तरसका स्थायिभाव] मोक्षका हेतु न होनेपर भी [जहां तदाभास] मोक्षहेतु-सा प्रतीत होता है वहां शान्तभास हास्यरूप ही होता है। [प्रहसन] उपहास रूप अनौचित्यका त्याग सभी पुरुषार्थोमे निवाहना चाहिए। यह बात [हास्यरसके] लक्षणके प्रसङ्गमे कहेगे ।

अभिनव०—उनमे हास्याभासका उदाहरण जैसे हमारे चाचा श्री वामनगुप्तका [निम्नाङ्कित पद्य हास्याभासका उदाहरण है]—

अभिनव०—हे महापुरुष [अङ्ग] ! यदि ये लोग आपके लोकोत्तर कामोको [अर्थात् आप अपनी वीरताकी जो अलौकिक वातें इनको सुनाते हैं उनको] नहीं मानते हैं तो हम [उनको] क्या कहे, [लेकिन आपसे इतना अवश्य कह सकते हैं कि आप इधर तो अपनी वीरताकी ऐसी डींग मारते हैं उधर जब अपने शत्रु या अधिकारीके सामने जाते हैं तो खुशामदके रूपमे सदा फटकारा खाकर भी हसते हुए जाते हैं। सो] जो आप उनके सामने [खुशामद रूपमे] हसते हैं इससे कौन ऐसा है जो जिसका हसते-हसते पेट न दुखने लगता हो ।

यहां अपनी वीरताकी कोरी गप्पें हांकने वाले किसी व्यक्तिका उपहास करते हुए जो 'प्रहसन' अत्यन्त हसनेका वर्णन किया गया है इसलिए यहां हास्य रस न होकर हास्यभास हो गया है। जैसा कि आगे हास्य रसके प्रकरण में अतिहसन अथवा प्रहसन हास्याभास कोटिमें वतलाया जायगा।

अभिनव०—इसी प्रकार जो जिसका प्रिय जन [वन्धु] नहीं है उसके शोकमे [प्रदर्शित] करुण [रस] भी [अनौचित्य-युक्त होनेके कारण] हास्य ही है। इस प्रकार सब [रसोमे अनौचित्यका प्रयोग होनेपर सब] जगह [हास्य ही होता है यह] समझ लेना चाहिए। [यहा तक कि हास्य रसमे भी अनौचित्यका योग होनेपर वह भी 'हास्याभास' रूप हो जाता है जैसे कि 'लोकान्तराणि चरितानि'] यही उदाहरण है। इसी प्रकार इस [उदाहरण] से अन्योका अनुमान कर लेना चाहिए। इसी लिए [भरत] मुनिने 'यथा' शब्दका ग्रहण किया है।

---

१ रूप. रयनौचित्य ।

(२) यदीयफलानन्तरं द्वितीयो रसोऽवश्यम्भावी तस्योदाहरणं रौद्रः । रौद्रस्य हि फलं वधबन्धादि । तद्विभावकेनावश्यं करुणेन भाव्यम् । यथा वेणीसंहारे—

अद्यं बाबा रणमुपगतौ तातमम्बा च दृष्ट्वा
घ्रातस्ताभ्यां शिरसि विनतोऽहं च दुःशासनश्च ।
तस्मिन् बाले प्रसभमरिणा प्रापिते तामवस्थां
पित्रोः पार्श्वं व्यपगतघृणः किन्नु वक्ष्यामि गत्वा ॥

एवं रौद्रानन्तरं नियमेन भयानकः । शृङ्गारानन्तरं नियमेन करुणः । व्याप्रियते त्वसौ तज्जन्मनि यथा तापसवत्सराजचरिते वासवदत्तादाहाद्वत्सराजस्य ।

ननु तत्र रतेरविच्छेदात् बन्धुताकृतः शोकः ?

अभिनव०—[(२) द्वितीय प्रकारका उत्पत्ति हेतुत्व] जिसके फलके अनन्तर दूसरा रस अवश्य उत्पन्न हो उस [प्रकारके उत्पाद्य-उत्पादक भाव] का उदाहरण रौद्र रस है । क्योकि रौद्र [रस] का फल बध बन्ध आदि होता है । [उसके बाद] उन्हीं [बध-बन्धादि रूप उद्दीपन] विभावो वाला करुण रस अवश्य होता है । जैसे वेणीसंहारमें—

अभिनव०—आज ही प्रातःकाल हम दोनों अर्थात् मैं [दुर्योधन] और दुःशासन पिता [धृतराष्ट्र] तथा माता [गान्धारी] से मिल कर युद्ध भूमिमे आए थे और नमस्कार करनेपर उन्होने [माता-पिताने] मेरे और दुःशासनके सिरको [चिरायुकी कामनाकेलिए] सूंघा था । उस बालक [दुःशासन] की शत्रु [भीम] के द्वारा [उसको मार कर और छातीका खून पीकर] वह दुर्दशा हो जानेके बाद, मैं निर्लज्ज माता-पिताके सामने जाकर क्या उत्तर दूंगा ?

इस प्रकार एक ओर रौद्र रसका प्रदर्शन होता है, उससे जिसका बधादि होता है उसके सम्बन्धियोमें करुण रसकी उत्पत्ति होती है ।

अभिनव०—इसी प्रकार रौद्रके बाद नियमसे भयानक [रस] होता है । और शृङ्गारके बाद [दोनोमेंसे किसी एकके मरने पर] नियमसे करुण होता है । और [कभी-कभी] उसी जन्ममे [अर्थात् दोनोके जीवित रहते भी एककी मृत्युका भ्रमवश निश्चय-सा होजानेपर] भी इस [करुण रस] का व्यापार होता है । जैसे तापस-वत्सराजचरितमे । [वासवदत्ताके वस्तुतः जीवित होनेपर भी मन्त्री आदिके द्वारा उसकी आगमें जलकर मृत्यु हो जानेका निश्चय करा देनेपर] वासवदत्ताके जल कर मर जानेसे वत्सराज उदयनके [करुण रसका व्यापार देखनेमे आता है] ।

अभिनव०—[प्रश्न] वहां [अर्थात् तापसवत्सराजचरित नाटकमें आगे चल कर फिर वासवदत्ताकी प्राप्ति हो जानेसे] रतिका विच्छेद न होनेसे [शृङ्गारसे सम्बद्ध वह परिपाकको प्राप्त न होनेके कारण] करुण रस हो नहीं है अपितु केवल बन्धु-भावके कारण होने वाला [साधारण] शोक है ?

नैतत्, करुणोत्पत्तिकालेऽपि हि [1]क्रोधस्या विच्छेद एव। यदाह—

निर्वाणवैरदहना प्रशमादरीणा
नन्दन्तु पाण्डुतनया सह माधवेन। [वेणीस० १-७]

इति। न च बन्धुतामात्र हेतु। एव हि सति—

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिश विधुरे क्षिपन्ती।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि॥ [तापस० २-१६]

इत्यत्र 'ते' इति प्राणभूत पद निरुपयोगिता गमित स्यात्।

अभिनव०—[उत्तर] यह [कहना कि तापसवत्सराजमे करुण रस नहीं अपितु बन्धुताकृत शोक मात्र है] ठीक नहीं है। क्योकि [प्रकारान्तरसे अर्थात् रौद्ररस के फल रूपमे] करुण रसकी उत्पत्ति होनेके समय भी [पारमार्थिक रूपसे रौद्ररसके स्थायिभाव] क्रोधका विच्छेद हो जाता है। जैसा कि कहा है—

अभिनव०—शत्रुओ [अर्थात् कौरवों] का नाश हो जानेसे जिनका वैराग्नि शान्त हो गया है इस प्रकारके पाण्डुपुत्र —पाण्डव लोग-- कृष्णके सहित आनन्द मनावें। [और रक्तसे पृथ्वीको रग देने वाले तथा घायल शरीर वाले कौरव लोग स्वर्गको मृत्युको प्राप्त हो]।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जैसे क्रोधका विच्छेद हो जानेपर रौद्रके फल रूपमें करुण रसकी उत्पत्ति हो सकती है इसी प्रकार रतिका विच्छेद हो जानेपर भी उसी जन्ममें अर्थात् दोनो प्रेमियोके वस्तुत जीवित रहते हुए किसी एकको किसी कारण विशेषसे दूसरेकी मृत्यका निश्चय हो जानेपर करुण रसकी उत्पत्ति हो सकती है। यह सिद्धान्त पक्ष इस पक्तिमें प्रतिपादित किया गया है। इसी आधारपर तापसवत्सराजवसितमें करुण रसका समर्थन करनेके लिए ग्रन्थकार दूसरी युक्ति भी आगे देते हैं कि—

अभिनव—[और तापसवत्सराजचरितमे] बन्धुतामात्र [अर्थात् सामान्य सम्बन्धमात्र उदयनके दु खका] कारण नही है। ऐसा होनेपर तो—

अभिनव०—भयसे कापती हुई [अपने चारो ओर लगी हुई अग्निके] डरसे जिसके वस्त्र [इधर-उधर] गिरे जा रहे हैं इस प्रकारकी और 'उन' [पूर्वानुभूत चपलतादि युक्त सुन्दर] नेत्रोको चारो ओर दौडाती हुई [वासवदत्ता] को धुएसे स्वय अन्धे हुए अग्निने बडी निर्दयताके साथ सहसा भस्म ही कर डाला, [धुएसे अन्धे हो जानेके कारण] उसको देख नहीं पाया।

अभिनव०—इत्यादिमे [इस पद्यका] प्राणभूत 'ते' यह पद अनुपयुक्त हो जायगा।

इसलिए 'तापसवत्सराजचरित' में शृङ्गारसे करुण रसकी उत्पत्ति होती है यही पक्ष मानना चाहिए।

---

१ क्रोधस्य विच्छेद।

रतिप्रलापेषु च 'कुमारसम्भवे शृङ्गार एव करुणस्य जीवितम् ।

हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
उपचारपद न चेदिद त्वमनङ्ग कथमक्षता रति ।। (कुमार ४-९)

इत्याद्युक्तिषु ।

एव वीराद् भयानकोत्पत्ति । यथा—

कर्णस्यात्मजमग्रत. शमयतो भीतं जगत् फाल्गुनात् । (वेणीसहार ५-५)

अभिनव०—[इसी प्रकार कुमार सभवमे वर्णित] रतिके प्रलापोंमें शृङ्गार रस ही करुणका प्राण स्वरूप है । [जैसे]—

अभिनव०—तुम [रति] मेरे [कामदेवके] हृदयमें रहती हो यह जो मेरी प्रिय बात तुम कहते थे सो वह मुझे झूठ ही मालूम होता है । यहि यह केवल दिखावटी बात न होती [और मै रति सचमुच तुम्हारे –कामदेवके– हृदयमे बैठी होती] तो तुम तो शरीर रहित हो गए [तुम्हारा शरीर तो भस्म हो गया परन्तु उसके भीतर तुम्हारे हृदयमें बैठी हुई] रतिका कुछ भी नहीं विगडा [वह वैसे ही जीवित है] यह कैसे हो सकता था ।

अभिनव०—इत्यादि वाक्योमें [शृङ्गार रस ही करुणका प्राणभूत होता है]

अभिनव०—इसी प्रकार वीरसे भयानक उत्पन्न होता है । जैसे—

अभिनव०—कर्णके पुत्र [वृषसेन] को [कर्णके] सामने ही मार देने वाले [फल्गुनात् अर्थात्] अर्जुनसे जगत् भयभीत हो रहा है ।

यह वेणी सहार नाटकके पचमाकका ५वां श्लोक है । धृतराष्ट्र दुर्योधनको युद्धसे निवृत्त करनेकेलिए समझा रहे हैं । कि जिन भीष्म और द्रोणके बलपर तुमने पाण्डवोकी पर्वाह न की और उनके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया, वे भीष्म और द्रोण युद्धमें मारे जा चुके हैं । उनके बाद कर्णकी शक्तिपर तुम्हें बडा अभिमान था सो अर्जुनने कर्णके देखते-देखते उसके सामने ही उसके पुत्र वृपसेनको समाप्त कर दिया इससे वह आशा या अभिमान भी चूर हो जाता है । दुशासन आदि वीरोंके मारे जानेके बाद अब केवल तुम बच रहे हो । इसलिए हे पुत्र ! मेरी प्रार्थना है कि तुम शत्रुओके प्रति मानको छोड कर उनके साथ सन्धि कर लो और हम अन्धे माता-पिताका पालन करो । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

दायादा न ययोर्बलेन गणितास्तौ भीष्म-द्रोणौ हतौ
कर्णस्यात्मजमग्रत: शमयतो भीत जगत् फल्गुनात् ।
वत्सानां निधनेन मे त्वयि रिपु शेपप्रतिज्ञोऽधुना
मान वैरिषु मुञ्च तात ! पितरावन्धाविमौ पालय ।।

इसमें अर्जुनके द्वारा कर्णके पुत्रके मारे जानेसे जगत्के भयभीत होनेका जो वर्णन किया गया है इसीमे वीर रससे भयानककी उत्पत्ति दिखलानेकेलिए यह उदाहरण दिया है ।

भरत मुनि ने जो 'वीराच्चैव भयानक' लिख कर वीर रससे भयानककी उत्पत्तिका प्रतिपादन किया है १. उसके विपयमें भरतके टीकाकार शकुकने यह आपत्ति उठाई है कि भयानक

---

१. द्वितीय संस्करणे कुमार सम्भवे इति पदं नास्ति ।

यत्वत्र शकुकेनोक्त 'नात्रोत्साहस्य व्यापार' इति, तदसत् । एय हि निर्विषय एवोत्साह स्यात् । कर्तव्याननुसन्धानात् । युद्धवीरे च पराजयजनित प्रतापापरपर्यायः शत्रुहृदयदाहदायी तद्वनितादिषु भयानक एव जीवितम् ।

यथा—

स पातु वो यस्य हतावशेषा-
स्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु ।
लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति
दैत्या स्वकान्तानयनोत्पलेपु ॥

नियमेन तु भवतीति वक्तव्यम् । नियमश्चकारेणोक्तो रौद्रादित्यानन्तर्य-सूचकपञ्चम्यनन्तर प्रयुक्तेन ।

रसकी उत्पत्तिमें वीर रसके स्थायिभाव उत्साहका कोई व्यापार नही होता है तब वीरसे भयानककी उत्पत्ति कैसे कहते हैं । २.इसका समाधान करते हैं—

अभिनव०—यहां [अर्थात्] भयानक रसकी उत्पत्तिमे वीर रसके स्थायिभाव] उत्साहका कोई व्यापार नहीं दीख पडता है [इसलिए वीर रसको भयानक रसकी उत्पत्तिका कारण नही मानना चाहिए] यह जो शकुकने कहा है–[इसका खण्डन करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि]—यह [शकुकका मत] ठीक नहीं है [क्योकि वीर रस तो सदा शत्रुमे भयानक रस या उसके स्थायिभाव भयको उत्पन्न करता ही है। यदि भय अथवा भयानक रसकी उत्पत्तिमे वीर रस अथवा उसके स्थायिभाव उत्साहका व्यापार न माना जाय तो] इस प्रकारसे तो [उत्साहका शत्रुनिष्ठ भयोत्पादनके अतिरिक्त अन्य कोई] कार्य [कर्तव्य] प्रतीत न होनेसे उत्साहका कोई विषय ही नही रहेगा [उत्साह निर्विषय ही हो जायगा]। और युद्धवीरमे तो [विशेष रूपसे] शत्रुकी पराजयसे उत्पन्न शत्रुके हृदयको दग्ध करने वाला प्रताप नामसे व्यवहृत होने वाला, भयानक [रस] ही प्राणभूत होता है ।

जैसे—

अभिनव०—जिस [विष्णु] के द्वारा मारे गए [दैत्यो] मेसे बचे हुए दैत्य उस [कृष्ण] के वर्णके समान अञ्जनसे युक्त अत एव लावण्य युक्त अपनी स्त्रियोके नेत्र रूप नीलकमलो [को देख कर उनके सदृश कृष्ण वर्ण कृष्णका स्मरण कर उन नेत्रो] से भी भयभीत हो उठते है उन [कृष्ण] की जय हो ।

अभिनव०—[इत्यादि उदाहरणो] मे नियमसे [वीर रससे उत्पन्न भयानक रस ही वीर रसका प्राणस्वरूप] होता है यह कहना चाहिए । यह नियम ['रौद्राच्च करुणो रस' इस वादमे आए हुए] पञ्चम्यन्त 'रौद्रात्' पदके वाद आए हुए 'चकार' से सूचित होता है। [अर्थात् भयानक रसकी उत्पत्तिमे 'उत्साह' नियमसे अवश्य कार्य करता है। अत शकुकका कथन ठीक नहीं है] ।

(३) यस्तु रसो रसान्तरं फलत्वेनाभिसन्धाय प्रवर्तते तस्योदाहरणं वीरः। महापुरुषोत्साहो हि जगद्विस्मयफलाभिसन्धानेनैव। यथा—

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत [वीरचरिते २-५४] इत्यादि।

रौद्रस्तु परविनाशनं फलत्वेनाभिसन्धाय प्रवर्तते न करुणामिति विशेषः। विदूषकहासस्तु नायिकहासं फलत्वेनाभिसन्धत्ते इति मन्तव्यम्।

अभिनव०—[(३) तृतीय प्रकारका उत्पत्ति हेतुत्व] जो रस दूसरे रसको फल रूपसे मान कर प्रवृत्त होता है उसका उदाहरण वीररस है। क्योंकि महापुरुषोंका उत्साह [वीररसका स्थायिभाव] जगत्को विस्मित करनेको फल मान कर ही प्रवृत्त होता है [अर्थात् वीर रससे अद्भुतरसकी उत्पत्ति होती है।] जैसे कि—

यहाँ उदाहरण रूपमें महावीर चरित नाटकके प्रथमाङ्कके ५४वें श्लोकका प्रथम चरण उद्धृत किया है। पूरा श्लोक निम्न प्रकार है—

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डवभङ्गोद्यत—
टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः।
द्राक् पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर—
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति॥

अभिनव०—[रामचन्द्र के] बाहुदण्डके द्वारा खींचे गए शिव-धनुषके दण्ड [के टूटने] से उत्पन्न और आर्य [रामचन्द्र] के बालचरित की प्रस्तावना [आरम्भ] को घोषित करने वाला, [धनुषके टूटनेके साथ ही गिर कर मिले हुए] कपाल-सम्पुटों के समान [अत्यन्त संकीर्ण] ब्रह्माण्ड रूप भाण्डके भीतर घूमनेके कारण जिसकी उग्रता और भी अधिक बढ़ गई है इस प्रकार का यह [धनुषके टूटनेसे उत्पन्न] टंकार-शब्द अब तक भी शान्त नहीं हो रहा है यह कितने आश्चर्य की बात है।

अभिनव०—इत्यादि [मे वीर रसका फल अद्भुत रस होता है]।

रौद्ररससे यद्यपि करुण रसकी उत्पत्ति होती है परन्तु वह इस श्रेणीमें नहीं आता है क्योंकि रौद्र रससे साक्षात् तो परविनाशकी उत्पत्ति होती है और उस परविनाशके द्वारा परम्परया करुण रस उत्पन्न होता है। इसी प्रकार विदूषकके हाससे नायिकाके हासकी उत्पत्ति होती है परन्तु वह रसान्तर नहीं होता है। इसलिए वह भी इस प्रकारका उदाहरण नहीं है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पक्तियोमें कहते हैं—

अभिनव—रौद्र रस तो दूसरेके नाशको ही फल मान कर प्रवृत्त होता है करुण को नहीं [इसलिए वह इस श्रेणीके उदारहणोंमें नहीं गिना जा सकता है] यह विशेष समझना चाहिए। और विदूषकका हास तो नायिकाके हासको फल मानता है [अर्थात् नायिकाका हास विदूषकके हासका फल होता। वह रसान्तर नहीं है]।

(४) यस्तु रसस्तुल्याविभावत्वान्नियमेन रसान्तरं हि परमाक्षिपति तस्योदाहरणं वीभत्सः । तस्य हि ये भावा रुधिरप्रभृतयस्तेऽवश्यं भयहेतवः । तथा तद्व्यभिचारिणो मरणमोहापस्माराद्या, तदनुभावास्तु मुखविकूणनादयः । यथा वेणीसंहारे—

"सस्तम्भयन्ता निहतदुःशासनपीतशेषशोणितस्नपितवीभत्सवृकोदरदर्शनवैक्लव्यस्खलितप्रहरणानि रणाद्विद्रवन्ति बलानि" । इति ॥

भरत०—शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु कीर्तितः ।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः ॥ ३३ ॥

एवं तदाभासद्वारेण रसान्तराक्षेपकत्वे शृङ्गार उदाहरणम् । तेन शृङ्गारानुकृतिरित्यत्र 'तु' शब्दो वीप्सायाम् । द्वितीयो हेतौ । तेनैव योजना—या अनुकृतिः स हास्यो, यतः प्रकीर्तितः । एवं विभावको हास्य इति शेषः । तद्यथा शृङ्गार आद्यः, शृङ्गारवत्यनुकृतिरित्यर्थः ।

चतुर्थ प्रकारका उत्पत्ति हेतुत्व—

अभिवन०—जो रस समान विभाव वाला होनेसे दूसरे रसका आक्षेप कराता है उसका उदाहरण वीभत्स रस है । उस [वीभत्स रस] के जो रुधिर आदि विभाव हैं वे अवश्य ही भयके हेतु [अर्थात् भयानक रसके भी विभाव] होते हैं । इसी प्रकार उस [वीभत्स रस] के व्यभिचारिभाव मरण, मोह, अपस्मार [मूर्छा मिरगी] इत्यादि, तथा उस [वीभत्स रस] के मुख-सिकोडना आदि अनुभाव [अवश्य ही भयानक रसके व्यभिचारिभाव तथा अनुभाव] होते हैं । जैसे वेणीसंहारमें—

अभिनव०—मारे हुए दुःशासनके [छातीके रक्तको पीकर] पीनेसे बचे हुए रक्तको शरीरमें मल लेनेसे भयंकर दिखलाई देने वाले भीमको देखकर घबराहटके मारे जिनके अस्त्र-शस्त्र गिरे जा रहे हैं इस प्रकारकी रणभूमिसे भागती हुई सेनाओंको रोको ।

पूर्वोक्त उदाहरणोंमें कार्य कारणभावके व्यवस्थापक चार नियम—

भरत०—शृङ्गारका जो अनुकरण है वह हास्य कहलाता है । और रौद्रका जो कार्य है वह करुण रस माना जाता है । ३३ ।

अभिनव—इस प्रकार [हास्यको शृङ्गारकी अनुकृति कह कर] तदाभास द्वारा दूसरे रसका आक्षेप करानेमें शृङ्गार [को] उदाहरण [माना जा सकता] है । इसलिए [कारिकामें आए हुए] 'शृङ्गारानुकृति' [या तु] इसमें 'तु' शब्द वीप्सामें [अर्थात् पौन पुन्य वार-वारकी अनुकृतिका सूचक] है । और दूसरी वार का तु-शब्द हेतु अर्थमें है । इसलिए जो [शृङ्गारकी] अनुकृति है वह हास्य है । 'क्योंकि' [ऐसा कहा जाता है । अर्थात् इस प्रकारके [शृङ्गारानुकृति रूप] विभावों वाला हास्य [रस] होता है । जैसे कि शृङ्गार अर्थात् प्रथम रस, है । और शृङ्गार रससे युक्त अनुकरण [हास्य कहलाता है] यह अभिप्राय हुआ ।

१ शृङ्गारस्यानुकृतिः ।

'या त्वत्र शृङ्गारादद्भुतोत्पत्तेराशङ्का 'दृश पृथुतरीकृता' [रत्नावली २-१५] इत्यादौ 'सा निर्मूलैव । 'उदयने हि शृङ्गारो ब्रह्मणि विस्मयसम्भावना । सा च न तात्कालिकत्वेन, नोत्तरकालिकत्वेन । किन्तु पूर्वतरमेवेति न किञ्चिदेतत् ।

शकुक आदि प्राचीन व्याख्याकारोने शृङ्गारसे अद्भुत रसकी भी उत्पत्ति मानी है और उसके लिए रत्नावलीका निम्न श्लोक उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया है—

दृशः पृथुतरीकृता जितनिजाब्जपत्रत्विष—
श्चतुर्भिनरपि साधु साध्विति मुखै सम व्याहृतम् ।
शिरासि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुव वेधसो
विधाय ललनां जगत्त्रयललामभूताभिमाम् ॥

रत्नावली २-१५ ।

एकान्तमें सागरिका कुमारीको देखकर राजा उदयन तथा विदूषक उसके सौन्दर्यकी प्रशसा करते हुए कह रहे हैं कि इस को बना कर निश्चय स्वय ब्रह्मा भी आश्चर्यमें पड गए होगे कि इतनी सुन्दर रचना मैंने कैसे बना ली है । पहिले इस भावको विदूषकने व्यक्त किया है । उसके बाद राजा भी उसी भावका अनुमोदन करते हुए यह श्लोक कह रहे हैं। श्लोक का भाव यह है कि—

तीनों लोकोकी अलकार भूत इस सागरिका रूप ललनाकी रचना करके विस्मयके कारण ब्रह्माकी अपने आसनके कमलोंकी कान्तिको जीत लेने वाली आंखें आश्चर्यसे फैल गई, चारो मुखोसे एक साथ साधुवाद निकलने लगे और सिर हिलने लगे ।

यहाँ शृङ्गारसे अद्भुत रसकी उत्पत्ति शकुक आदिके मानी है । परन्तु अभिनव गुप्त इससे सहमत नही हैं । उनका कहना यह है कि यहाँ शृङ्गार या रति तो राजा उदयनमें है और विस्मय ब्रह्माको हो रहा है और वह भी शृङ्गारकी उत्पत्तिके पहिले है । अर्थात् जब ब्रह्माने सागरिकाकी रचनाकी उसी समय उनको अपनी अद्भुत रचनापर विस्मय हुआ । परन्तु राजाके मनमें सागरिकाके प्रति रति या अनुरागका भाव बहुत बाद को उत्पन्न हुआ । इसलिए उत्तरवर्ती शृङ्गारको पूर्ववर्ती अद्भुत रसका कारण मानना उचित नही है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पक्तियोमें कहते हैं—

जो यहा 'दृशः पृथुतरीकृताः' इत्यादि [रत्नावली २-१५] मे [शंकुक आदि प्राचीन व्याख्याकार] शृगारसे अद्भुत रसकी उत्पत्तिकी शका करते है, वह ठीक नहीं है । क्योकि वहाँ उदयनमे शृङ्गार [की भावना] है और विस्मय ब्रह्मामे है। और वह [विस्मय] भी उस समय [अर्थात् शृङ्गार-भावनाकी उत्पत्तिके समय] नहीं [उत्पन्न हुआ है] और न उसके बाद [उत्पन्न हुआ है] अपितु [शृङ्गार से] पूर्वकालमे उत्पन्न हुआ है। इसलिए [उस उत्तरवर्त्ती शृङ्गारको पूर्ववर्ती विस्मयके प्रति कारण मानना] 'यत्किञ्चित्' अर्थात् सर्वथा असङ्गत है।

(५) तेतीसवी कारिकाके पूर्वार्द्धकी व्याख्या यहा तक समाप्त करने के बाद अब आगे उसी कारिकाके उत्तरार्द्धकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। उत्तरार्द्धमें रौद्ररससे करुण रसकी उत्पत्तिका प्रतिपादन किया है । इसको ग्रन्थकार परम्पराफलत्वेन रसान्तरके आक्षेपका उदाहरण

---

१. यत्त्वत्र । २ तन्निर्मूला । ३ उदयनेन हि ।

(५) 'परम्पराफलत्वेन रसान्तराक्षेपे रौद्र उदाहरणम्। रौद्रस्य यत्कर्म फलात्मक बधादि, चकारात् तस्य यत्कर्म फलरूप स एव करुण । एवकारेणात्यन्तव्यवहिता परम्परा पराकरोति ॥ ३३ ॥

भरत०—वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
वीभत्सदर्शनं यत्र ज्ञेय स तु भयानकः ॥ ३४ ॥

(६) समनन्तरफलत्वेन रसान्तराक्षेपे उदाहरण त्वस्यासन्नयोगो वीर । 'वीरस्यपीति' वीरस्य सम्यङ् निकट यत्फल सोऽद्भुत । परित समन्तात् या कीर्ति. यश प्रतापरूपा ततो हेतो । अपि-शब्दात् शृङ्गारोऽपि वीरस्यानन्तर फल द्रौपदीस्वयम्वरादौ ।

मानते हैं। क्योकि रौद्र रससे साक्षात् करुण रसकी उत्पत्ति नही होती है। रौद्र रससे साक्षात् तो दूसरेके बधादिकी उत्पत्ति होती है और वह शत्रुवधादि उसकी स्त्रियों आदिमें करुण रसकी विभावता का कारण बन कर करुण रसको उत्पन्न करता है। इस प्रकार रौद्र रस करुणरसकी उत्पत्तिमें परम्परया कारण होता है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली पक्तियोमें लिखते हैं—

अभिनव०—(५) परम्पराफलके रूपमे दूसरे रसका आक्षेप करानेमे रौद्र [रस] उदाहरण है। रौद्ररसका जो कार्य अर्थात् वधादि रूप फल, [कारिकामें आए हुए] चकारसे उसका [भी] जो [प्ररम्परागत] कार्य, अर्थात् फल, वह करुण रस होता है। ['रौद्रस्यैव च यत्कर्म'मे आए हुए] एवकारसे अत्यन्त व्यवहित परम्पराका निराकरण किया है। ३३।

पिछली ३३वी कारिकामें शृङ्गार रसकी हास्यके प्रति, और रौद्र रसकी करुणाके प्रति कारणताका निरूपण किया था। इस कारिकामें वीर रससे अद्भुतकी तथा वीभत्ससे भयानकवी उत्पत्तिका वर्णन करेंगे। इनमेंसे समनन्तरफलत्वेन रसान्तर का आक्षेप कराने वाला वीररस है और तुल्यविभावत्वेन रसान्तरका आक्षेप कराने वाला वीभत्स रस है। इस रूपमें इन दोनोके द्वारा दो प्रकारकी कारणताका प्रतिपादन किया है।

भरत०—वीर रसका भी जो कार्य है वह अद्भुत रस कहलाता है। और जहा [समान विभावादिकोके कारण] वीभत्सका वर्शन होता है वह भयानक रस समझना चाहिए ॥ ३४ ॥

अभिनव०—(३) उनमेसे अव्यवहित फलके रूपमे दूसरे रसका आक्षेप करानेमे इस [अद्भुत रस] के समीप स्थित [आसन्नयोगो] वीर रस उदाहरण है। वीरका सम्यक् अर्थात् निकट [अव्यवहित] जो फल है वह अद्भुत रस है। ['परिकीर्तित'. की विशेष प्रकारकी हेतु-परक व्याख्या करते हैं कि] 'परित समन्तात्' सव ओरसे जो कीर्ति, यश प्रताप आदि रूप कीर्ति उसके कारण। [उत्पन्न अर्थात् वीर रससे महापुरुषोकी यश प्रताप आदि रूप कीर्ति सव ओर फैलती है और वह जगत्के विस्मयका कारण होती है। कारिकामे 'वीरस्वापि' इस भागमे आए हुए] अपि-शब्दसे [कभी-कभी] शृङ्गार भी वीरका अव्यवहित फल होता है [यह सूचित किया है]। जैसे द्रौपदी स्वयम्वर आदिमे।

१ त्वस्ययोग वीरस्य।

(७) सहभावेन रसान्तराक्षेपे बीभत्स उदाहरणम्। यदेव वीभत्सस्य दर्शन विभावादिरूप स एव भयानकस्तद्विभावत्वात्। उपचारस्य सहभावप्रतीति[1] फलम्। तमेव 'च' शब्दो द्योतयति। 'तु' पूर्वतो[2] विशेषमाह। [3]इम एव चाक्षेपप्रकाशत्वेन सम्भाव्यन्ते[4] न त्वधिक इति।

ये चात्रोत्पत्तिहेतव उक्तास्ते [5]यथास्व पुरुषार्थचतुष्कव्याप्ताः। [6]ते हि तत्सौन्दर्यातिशयजननरूपा[7]। रञ्जकाभासादयस्तनुगामित्वेन रूपकेषु निवन्धनीया।

एतावन्त एव रसा इत्युक्त पूर्वम् तेनानन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्धया, एतावतां प्रयोज्यत्वमिति यद् भट्टलोल्लटेन निरूपित तदवलेपेनापरामृश्य इत्यलम् ॥ ३४ ॥

भरत०—अथ वर्णा –

अभिनव०—(७) [४० वीं कारिकाके उत्तरार्द्ध भागकी व्याख्या करते हैं]—सहभावसे [तुल्यविभावादिकके कारण] अन्य रसका आक्षेप करानेमे वीभत्स रस उदाहरण है। जो कि वीभत्सका विभावादि रूपमें दर्शन है वह ही उन्हीं विभावो वाला होनेसे भयानक रस है। [कारिकामें जो वीभत्स दर्शन होता है वह भयानक हैं' इस प्रकार जो वीभत्स तथा भयानकके अभेदका प्रयोग किया गया है वह औपचारिक प्रयोग है क्योकि वस्तुतः वीभत्स तथा भयानक एक रस तो नहीं हैं। वे दोनो वास्तवमे तो अलग-अलग रस हैं। किन्तु उनका जो औपचारिक अभेद कहा गया है उस] उपचार का फल दोनोकी सहभावकी प्रतीति है। उसीकी [कारिकामे आया हुआ] च-शब्द सूचित [वात] करता है। तु-शब्द पहले [अर्थात् वीभत्स रस] से [भयानक रसके] भेदको वतलाता है। आक्षेपके द्वारा प्रतीत होने वाले ये ही [चार रस] हो सकते हैं। [अधिक] नहीं।

अभिनव०—और यहां जो [शृङ्गार आदि चार, हास्यादि चारके] उत्पत्तिके कारण वतलाए गए हैं वे यथा योग्य [धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप] पुरुषार्थ-चतुष्टयसे व्याप्त हैं। वे ही [चार रस] सौन्दर्यातिशयके जनन रूप हैं। रञ्जकाभास [रसाभास] आदि उन [रसो] के अनुगामी रूपमे रूपकोमे समाविष्ट किए जा सकते हैं।

अभिनव०—इतने ही [आठ या शान्तको मिला कर नौ] "रस हैं यह पहिले कह चुके हैं। इसलिए भट्टलोल्लटने जो यह कहा है कि [रसोके] अनन्त होनेपर भी नटोमें प्रसिद्ध होनेके कारण [नाटकमे] इतनोका [आठ रसोका] ही प्रयोग करना चाहिए" सो [उन्होने] अभिमानवश विना विचारे कह दिया है [इसलिए उचित नहीं है] अत एव उसका अधिक खण्डन करनेकी आवश्यकता नहीं है। ३४।

(२) वर्ण निरूपण—

भरत०—अब वर्णोंका कथन करते हैं।

---

१. प्रतीत। २. पूर्व पक्षमाह। ३ अयमेव चाक्षेपप्रकाशत्वात् सम्भाव्यते।
४. सा त्वस्यापि सप्तोक्तः। ५ यथा स्वं। ६. तद्धि।
७ तत्सौन्दर्यातिशयजननरूपम्।

भरत०—श्यामो भवति शृङ्गार सितो हास्य प्रकीर्तितः ।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्र प्रकीर्तित ॥ ३५ ॥

भरत०—गौरो वीरस्तु विज्ञेय कृष्णश्चैव भयानकः ।
नीलवर्णस्तु बोभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः ॥ ३६ ॥

वर्णाभिवान पूजादौ ध्याने उपयोगि । मुखरागेऽपीत्यन्ये । "स्वच्छ-पीतौ शमाद्भुतौ" इति शान्तवादिना पाठ ॥ ३५-३६ ॥

भरत०—अथ देवतानि—

भरत०—शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो[1] हास्य प्रमथदैवत ।
रौद्रो रुद्राधिदैवत्यः[2] करुणो यमदैवत ॥ ३७ ॥

तत्तद्रससिद्धौ सा सा देवता पूज्येति देवतानिरूपणम् । विष्णु कामदेव । प्रमथा भगवतो गणा क्रीडापरा । रुद्रस्त्रैलोक्यसहारकर्ता । अत एव [3]चोदयति यमम् । यमेन बधादिके सम्पादिते करुण ॥ ३७ ॥

भरत०—श्रृङ्गार रस श्याम-वर्णका होता है । हास्य रस श्वेत माना जाता है । रौद्र रस कपोत-वर्ण [कबूतरकेसे रगका] और रौद्र रस लाल रगका कहा गया है । ३५ ।

भरत०—वीर-रस गौर [वर्णका], और भयानक रस कृष्ण-वर्णका समझना चाहिए । वीभत्स-रस नील-वर्णका और अद्भुत-रस पीले रगका माना गया है । ३६ ।

अभिनव०—[इस प्रकार रसोके] रगोका कथन [उनकी] पूजा आदिके अवसरपर उनके ध्यान [करने] मे उपयोगी होता है । दूसरे व्याख्याकारोके मतमे [उस-उस रसके अभिनयके समय तदनुरूप] मुखके राग [रंगने] मे भी [उपयोगी होता है । इसमे शान्त-रसका वर्ण नहीं दिखलाया गया है इसलिए जो लोग शान्त-रसको भी मानते हैं उनके मतमे ४३ वीं कारिकाके अन्तिम चरणमे 'पीतश्चैवाद्भुत स्मृत ' के स्थानपर] 'स्वच्छ-पीतौ शमाद्भुतौ' इस प्रकारका शान्तरस मानने वालोका [अभिमत] पाठ है । [उसके अनुसार शान्तरसका वर्ण पीत माना जाता है] । ३५-३६ ।

(३) देवता निरूपण—

भरत०—अब देवताओंका वर्णन करते हैं ।

भरत०—शृङ्गार रसका देवता विष्णु [कामदेव] है, [शिवजीके] गण हास्यके देवता हैं । रौद्ररसका आधिष्ठातृदेव रुद्र, और करुणका देवता यम है । ३७ ।

अभिनव०—उस-उस रसकी सिद्धिकेलिए उस-उस देवताकी पूजा करनी चाहिए इसके [बतलानेके] लिए देवताओंका निरूपण किया गया है । [कारिकामे आए हुए] विष्णु [का अर्थ यहा] कामदेव है । [वह कामदेव रूप विष्णु शृङ्गार रसका देवता है] । प्रमथ [पदसे शिव] भगवानके, क्रीडा करने वाले गण [गृहीत

---

१ न व अ देवत्तु । भ व देवश्च । २ देवस्तु ।

३ चोदयतीतिनिय [च यमयतीति] मेन ।

भरत०—वीभत्सस्य महाकाल कालदेवो भयानक ।
वीरो महेन्द्रदेव. स्याददद्भुतो ब्रह्मदैवतः ॥ ३८ ॥

महाकालोऽधिदैवतमिति शेष । स हि तद्विभाव कङ्काल-श्मशानादि सेवते । हेन्द्रस्त्रैलोक्यराज. । ब्रह्मा अचिन्त्याद्भुतस्रष्टा । 'वुद्ध शान्तेऽब्जजोऽद्भुते' इति ान्तवादिन केचित् पठन्ति । वुद्धो जिन परोपकारैकपर प्रवुद्धो वा ॥ ३८ ॥

भरत०—एवमेतेषां रसानामुत्पत्ति-वर्ण-दैवतान्यभिव्याख्यातानि।

भरत०—इदानीं विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शना-यभिव्याख्यास्यामः स्थायिभावांश्च रसत्वमुपनेष्याम ।

ोते] हैं। [वे हास्य रसके देवता हैं]। रुद्र तीनो लोकोका सहार करने वाले हैं [वे ही रौद्र रसके देवता हैं। वे त्रैलोक्यके संहार कर्ता हैं] इसलिए वे ही यमराजको [प्राणियोके वध आदिकेलिए] प्रेरित करते हैं। [उन रुद्रकी प्रेरणासे] यमके ारा वध आदिके सम्पादित हो जानेपर करुण रस [उत्पन्न] होता है [इसलिए करुणरसके देवता यमराज हैं] ॥ ३७ ॥

भरत०—वीभत्स रसका देवता महाकाल, और भयानकका काल देव है। वीररसका हेन्द्र देवता है और अद्भुत रसका वेवता ब्रह्मा है। ३८।

अभिनव०—— बीभत्सरसके महाकाल अधिष्ठातृदेव है यह शेष समझना ाहिए। क्योकि वह [महाकाल रूप शिव] ही उस [वीभत्सरस] के विभाव कङ्काल मशान आदिका सेवन करता है। [भयानकरसके विभाव भी वीभत्सरसके समान होते ैं इसलिए उसका देवता कालदेवको वतलाया है। वीर रसका देवता महेन्द्रको माना ाया है उस महेन्द्र शव्दसे] महेन्द्र अर्थात् त्रैलोक्यके राजाका ग्रहण होता है। [अद्भुत रसका देवता ब्रह्माको वतलाया है क्योंकि] ब्रह्मा अचिन्त्य [जिसकी मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता है इस प्रकारके] आश्चर्यजनक पदार्थोंका रचयिता होता है। [इन रस-देवताओमें भी शान्तरसके देवताका उल्लेख नहीं हुआ है इसलिए 'स्याद्द्-भुतो ब्रह्मदैवत.' इसके स्थानपर] कुछ शान्तरसको मानने वाले 'वुद्धः शान्तेऽब्ज-जोऽद्भुते' इस प्रकारका पाठ मानते हैं। [उनके मतमे] वुद्ध अर्थात् परोपकारमे ही लगे रहने वाले अथवा ज्ञानी [वुद्धदेव शान्तरसके देवता हैं। 'और अब्जज' अर्थात् कमलयोनि ब्रह्मा अद्भुतरसके अधिष्ठातृ-देव माने जाते हैं] ॥ ३८ ॥

भरत०—इस प्रकार इन रसोकी उत्पत्ति वर्ण तथा देवताओंकी व्याख्या हो गई।

भरत०—अब विभाव अनुभाव व्यभिचारिभावोंसे संयुक्त इन [रसों] के [सामान्य तथा विशेष] लक्षण और उदाहरणोंका वर्णन करेंगे। और स्थायिभावोंको रसत्वको प्राप्त करावेंगे।

इस प्रकार यहां तक रसोंकी उत्पत्ति, वर्ण तथा देवताओका वर्णन किया गया है। परन्तु रसोका परिज्ञान केवल इनके द्वारा नहीं हो सकता है। क्योंकि उत्पत्तिमें तो शृंगारादि रसों को हास्यादि दूसरे रसोंका कारण माना है इसलिए उसमें अन्योन्याश्रय दोष आजानेसे वह रसोंके स्वरूपका निश्चयात्मक ज्ञान नहीं करा सकती है। इसी प्रकार वर्ण तथा देवताओंका

तत्रोत्पत्तिलक्षणमन्योन्याश्रयत्वान्न निश्चयकारि, वर्णदेवतात्मकमप्यागमसिद्धत्वात्, इत्येकप्रघट्टकेनोपसहरति एवमित्यादिना । एतेषामिति सर्वेषामित्यर्थ ।

अथ विशेषलक्षणानि वक्तुमासूत्रयति इदानीमित्यादिना । विशेषलक्षण सजातीयाद् व्यवच्छेदकम् । न विजातीयाद् व्यवच्छेद विना सजातीयत्वम् । न चासौ सामान्यलक्षण विनेति तत्पृष्ठे विशेषलक्षणमिति दर्शयितु सामान्यलक्षणमनुवदति अनुभावेत्यादिना ।

लक्षणानि च तानि निदर्शनानि च विशेषात्मकानि । तेन प्रत्येक लक्षणविशेषा उच्यन्त इत्यर्थ ।

नाम मात्रका वर्णन कर दिया गया है उनसे भी रसोके स्वरूपका परिज्ञान नही हो सकता है । इसलिए आगे रसके सामान्य-लक्षण तथा शृगारादि विशेप रसोके अलग-अलग विशेप-लक्षण मूल ग्रन्थमें दिखलाए गए हैं । उनकी अवतरणिका करते हुए अभिनवभारतीकार इसी बातको अगली पक्तियोमें लिखते हैं—

अभिनव०—इन [पूर्ववर्णित उत्पत्ति, वर्ण तथा देवता] मेसे उत्पत्ति लक्षणमे [शृङ्गार आदि कुछ रसोसे ही दूसरे रसोकी उत्पत्तिका वर्णन होनेसे] अन्योन्याश्रय [दोष] हो जानेसे वह [रसोके स्वरूपकी] निश्चयकारक नही हो सकती है । इसी प्रकार वर्ण तथा देवता भी आगम सिद्ध होनेसे [रसोके स्वरूपके परिचायक नही हो सकते हैं] इसलिए एक ही साथ 'एवम्' इत्यादि [गद्यात्मक मूलग्रन्थ] से उनका उपसहार करते हैं । 'एतेषा' अर्थात् इन सब [रसो] के [उत्पत्ति, वर्ण, तथा देवता का वर्णन हो चुका] ।

अभिनव०—अब [रसोके] विशेष लक्षणोको कहनेलिए [ग्रन्थकार] 'इदानी' इत्यादिसे भूमिका बनाते है । विशेष लक्षण सजातीयसे भेदक होता है । परन्तु विजातीयसे भेद हुए बिना सजातीयत्व [का ज्ञान] नही होता है । और वह [विजातीयसे व्यवच्छेद] सामान्य लक्षणके बिना नही होता है । इसलिए विशेष लक्षण उस [सामान्य लक्षण] के बाद होता है इसके दिखलानेके लिए [ग्रन्थकार पहिले 'विभावानुभावव्यभिचारिसयुक्ताना', इत्यादिसे [रसके] सामान्य लक्षणका अनुवाद करते है ।

अभिनव०—लक्षण रूप जो निदर्शन अर्थात् विशेष लक्षण ['लक्षण-निदर्शनानि' हुए । उनकी व्याख्या करेंगे] इससे प्रत्येक रसके विशेष-लक्षण कहेंगे यह यह अभिप्राय निकलता है ।

मूल ग्रन्थमे जो 'लक्षणनिदर्शनानि अभिव्याख्यास्याम ' आया है उसमे लक्षणानि निदर्शनानि च लक्षण और निदर्शन इस प्रकारका द्वन्द समास न करके 'लक्षणानि च तानि निदशनानि च' इस कर्मधारय समास द्वारा उसकी विशेष प्रकारकी व्याख्या करते है । इस समासके भेद द्वारा व्याख्याकार निदशन पदका उदाहरणके स्थानपर, 'विशेप-लक्षण' यह अर्थ करना चाहते हैं । क्योकि विशेप लक्षणोके बिना सामान्य लक्षणोका 'निदशन' या 'समन्वय' नही किया जा सकता है । इसलिए

विशेपलक्षणानि वा सामान्यलक्षणस्य निदर्शनानि। येषु सामान्यलक्षण निर्दिश्यते योज्यते उदाह्रियते च। तद्विना तस्योदाहर्तुमशक्यत्वात्। चकारो लोकोत्तरतयादर सूचयति। ये स्थायिनो भावा लोके चित्तवृत्त्यात्मानो बहुप्रकारपरिश्रमप्रसवनिबन्धनकर्तव्यताप्रबन्धाभिधायिनस्तानपि नाम रसत्व विश्रान्त्येकायतनत्वेनोपदेशदिशा नेष्याम। विभावान् यथायोगमुदाहरद्भि कविनटैर्हि ते रसता नीयन्ते। यदाह—

'या व्यापारवती रसान् रसयितु काचित् कवीना नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिश निर्वर्णयन्तो वय
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन [1] त्वद्भक्तितुल्य सुखम्॥

विशेष लक्षण सामान्य लक्षणके निदशक होते हैं। अत एव आगे रसके सामान्य-लक्षण और उनके निदर्शन रूप विशेष-लक्षण कहेंगे यह अर्थ उक्त पंक्तिका करना चाहिए यह व्याख्याकारका भाव है। इसी बातको वे अन्तिम पंक्तियोंमें कहते हैं—

अभिनव०—अथवा विशेष-लक्षण, सामान्य लक्षणके उदाहरण होते हैं [यह अर्थ भी निकलता है क्योंकि] जिन [उन] मे सामान्य-लक्षणका निर्देश अथवा योजना की जाती है अर्थात् उदाहरण दिया जाता है। उस [विशेष-लक्षण] के विना उस [सामान्य लक्षण] को नहीं दिखलाया जा सकता है [क्योकि 'निर्विशेष न सामान्यम्' इस नियमके अनुसार हर सामान्यका पर्यवसान किसी न किसी विशेष व्यक्तिमे होना अनिवार्य है। जैसे मनुष्य सामान्य या जातिवाचक संज्ञा है परन्तु उससे किसी न किसी मनुष्य व्यक्तिका ग्रहण अवश्य होता है। इसलिए विशेषको सामान्यका निदर्शन कहा जा सकता है। मूलग्रन्थमे आए हुए 'स्थायिभावांश्च' इस अशमे] 'चकार' [स्थायिभावोके विषयमे] लोकोत्तर रूपसे आदर सूचित करता है। जो स्थायिभाव लोकमें [सामान्य रूपसे] चित्तवृत्ति रूप होते हैं और नाना प्रकारके परिश्रमसे सिद्ध होने वाले [नाटकादि रूप निबन्धन अर्थात्] प्रयोजकोके व्यापारके बोधन करने वाले हैं उनको भी उपदेश द्वारा विश्रान्तिके परम धाम रूप रसत्वको प्राप्त करावेंगे। क्योकि यथोचित विभावादिको उपस्थित करा कर कवियो और [अभिनय कालमें] नटोके द्वारा वे [स्थायिभाव] रसत्वको प्राप्त कराए जाते हैं। [यह मूल ग्रन्थके 'स्थायिभावांश्च रसत्वमुपनेष्यामः' का अर्थ है]। जैसा कि [ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्यने ध्वन्यालोक पृ० ४४३ पर] कहा है कि—

हे समुद्रशायिन्! [विष्णु भगवान्] रसोके आस्वादनकेलिए [शब्द योजनादिमें] प्रयत्नशील कवियोंकी [प्रतिपलनवोन्मेषशालिनी] जो कुछ अपूर्व दृष्टि है और प्रमाणसिद्ध अर्थोका प्रकाशित करने वाली जो विद्वानो [दार्शनिको] की 'वैपश्चिती' दृष्टि है उन दोनोके द्वारा [अर्थात् कविभावना तथा दार्शनिक भावना दोनो] से इस

१. ध्वन्यालोक ३-४३।

नटाना तु तदुपजीवित्वान्न नवा दृक् पश्यति न रसयत्यतो 'नवा' इति । तस्माद्रसनोपयोगि विभावाद्यौचित्यमस्माभिरुपदिशद्भिः स्थायिनो रसता नीता भवन्तीत्यनेन लक्षणरूपस्य फल दर्शयति ।

अथ शृङ्गाररसप्रकरणम् ।

भरत०—तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मक[1] । तथा च यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं[2] वा भवति तच्छृङ्गारेणोपमीयते । यस्तावदुज्ज्वलवेषः स शृङ्गारवानित्युच्यते ।

तत्र कामस्य फलत्वादशेषहृदयसवादित्वाच्च तत्प्रधान शृङ्गार लक्षयति

ससारको रात दिन देखते-देखते हम थक गए परन्तु आपकी [अर्थात् भगवान्की] भक्तिके सुखके समान सुख अन्यत्र कहीं भी नहीं मिला ।

इस श्लोकके प्रथम चरणमें कवियोकी अपूर्व दृष्टि रसास्वादन करानेमें व्यापारवती होती है यह कहा गया है । इसका अर्थ यह हुआ कि कवि यथोचित रीतिसे विभावादिकी आयोजना द्वारा रसास्वादकी सामग्री उपस्थित करते हैं । इसीलिए कवि स्थायिभावोको आस्वादयोग्य रस बनाते हैं यह कहा है । इसी प्रकार नट भी अभिनय द्वारा नाना प्रकारके परिश्रम साध्य उपायोसे विभावादिको प्रस्तुत कर स्थायिभावोको आस्वादयोग्य बनाते हैं । इसीलिए ग्रन्थकारने यहा 'कविनटै' यह पद प्रयुक्त किया है । परन्तु नट कविके आश्रित होता है, कवि-निर्मित नाटक आदि का अभिनयमात्र करता है । इसलिए उसका महत्त्व कविकी अपेक्षा कम है । यही भेद अगली पक्तिमें दिखलाते हैं—

अभिनव०—नटो [अभिनेताओ] के तो उन [कवियो] के आश्रित होनेसे उनकी दृष्टि नवीन [नहीं होती अर्थात् नवीन अपूर्व अर्थको] न देखती है और न आस्वादन करती है । इसीलए [नटोसे कविकी विशेषता दिखलानेकेलिए कविकी दृष्टिके साथ] 'नवा' यह [विशेषण] दिया है । इसलिए रसोके आस्वादन योग्य बनानेमे उपयोगी उचित विभावादिका उपदेश करके [कवियो और नटोके समान] हम [नाट्यशास्त्रकार] भी स्थायिभावोको रस रूपताको प्राप्त कराते हैं । इससे [रस तथा विभावादिके] लक्षण रूप [इस ग्रन्थ] का फल [रसास्वाद है यह] दिखलाया है ।

अथ शृङ्गाररस प्रकरण ।

भरत०—उनमेसे रति रूप स्थायिभावसे उत्पन्न उज्ज्वलवेषात्मक शृङ्गार रस होता है । क्योंकि ससारमे जो कुछ शुद्ध पवित्र उज्ज्वल और दर्शनीय होता है उसकी शृङ्गारके साथ उपमा दी जाती है । और जो उज्ज्वल वेष (बन ठन कर रहने वाला) होता है वह शृङ्गारवान् (शृङ्गारी पुरुष) कहलाता है ।

अभिनव०—उन [सब रसो] मेसे कामके [पुरुषार्थ रूप] फल होनेसे और

---

१. च ब वेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रस । त हृद्योज्ज्वल वेषस्वभाव । २ य त दर्शनीय भवति तत्सर्वम् ।

'तत्र' इत्यादिना 'उज्ज्वलवेषात्मक' इत्यन्तेन सूत्रेण। तत्रेति क्रमनिर्धारणे, एव सति इत्यर्थे वा। एतत्सूत्रभाष्येण व्यक्तं यल्लक्ष्यपद शृङ्गारो नामेति व्याचष्टे यत्किञ्चि-दित्यादिना। 'वस्तुसौष्ठवादिमण्डित शृङ्गार, तेन शुचिमेध्याद्युपमीयते'। तेनोज्ज्वल-वेषात्मके शृङ्गारशब्द। न चातिप्रसङ्ग आप्तोपदेशस्य नियामकत्वादिति चिरन्तना।

तदनुपपन्न, उपमानोपमेययोर्विशेषविषयविभागानवभासात् तथा। तस्माद यमत्रार्थ—रतिरेवास्वाद्यमानो मुख्य शृङ्गार। रतिमास्वादयद्भिस्तद्बहुमानपर. 'शृङ्गारी' इत्युच्यते।

सब [मनुष्य या प्राणियों] के हृदयके अनुकूल [प्रिय] होनेसे [सबसे पहिले] काम-प्रधान शृङ्गारका लक्षण [निरूपण] 'तत्र' से लेकर 'उज्ज्वलवेषात्मकः'—तक [ग्रन्थभागसे] से करते हैं। 'तत्र' यह पद क्रमके निर्धारणमें है, अथवा 'ऐसा होने पर' [अर्थात् रसका सामान्य लक्षण हो चुकनेके बाद] इस अर्थमे है। इस सूत्रके भाष्यसे व्यक्त होने वाला जो लक्ष्यपद है उसको 'शृङ्गारो नाम' इससे कहा है। उसीकी 'यत्किञ्चित्' इत्यादिके द्वारा व्याख्याकी गई है। वस्तुके सौन्दर्यादिसे अलंकृत शृङ्गार होता है उसीके साथ [मूल ग्रन्थमें] शुचि मेध्य आदिका सादृश्य दिखलाया गया है। इसलिए उज्ज्वल वेषात्मकके लिए शृङ्गार-शब्द [प्रयुक्त होता] है [उसके उपयोगी समझा जाता है]। और आप्तोपदेशके नियामक होनेसे [शृङ्गार-शब्दके प्रयोगमे] अतिव्याप्त नहीं होती है यह [शकुकादि] प्राचीन [व्याख्याताओंका] मत है।

अभिनव०—परन्तु वह असङ्गत है। [वास्तवमे यहाँ] उपमान और उपमेय [अर्थात् उज्ज्वल वेष तथा शृङ्गार रस] के अलग-अलग विशेष विषयकी प्रतीति नहीं होनेसे [अर्थात् उपमान उपमेयका अभेद मान कर] उस प्रकारका व्यवहार होता है। इसलिए ['शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभाव प्रभवः उज्ज्वलवेषात्मकः' इसका] यहा यह अर्थ होता है कि आस्वादनकी जाती हुई रति ही मुख्य रूपसे शृङ्गार [शब्दका अर्थ] है। रतिका आस्वादन करने वालो [सामाजिको] के द्वारा उस [रतिके उपभोग] में विशेष रूपसे आसक्त [नायकादि] को 'शृङ्गारी' कहा जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि भरतमुनिने यहाँ शृङ्गार रसको 'उज्ज्वलवेषात्मकः' कहा है और लोकमें जो कुछ शुचि मेध्य उज्ज्वल एव दर्शनीय है 'तच्छृङ्गारेणोपमयते' उसको शृङ्गार के समान बतलाया है। भरतमुनिके इस लेखपर यह शङ्का हो सकती है कि शृङ्गार रस तो वस्तुतः आस्वादात्मक है। वह न तो उज्ज्वल वेषात्मक है और न उज्ज्वल वेषके समान। फिर भरत मुनिने जो उसको उज्ज्वल वेषात्मक तथा उज्ज्वल वेषके समान कहा है उसकी सङ्गति कैसे लग सकती है। इस प्रकारकी नीतिका अवलम्बन किया जाय तो फिर तो प्रत्येक शब्दका मन चाहे अर्थमें प्रयोग किया जा सकेगा। इसी दोषको यहाँ 'अतिप्रसङ्ग' दोष कहा गया है। इस 'अति प्रसङ्ग' का निराकरणके लिये शकुक आदि प्राचीन टीकाकारोने आप्तोपदेश 'आर्ष-प्रयोग' के

---

१. हस्त पृष्ठतादि मण्डित.। २ सूची मध्यावुपमीयते।

[1]या तु तज्जनकादिपरे 'तद्व्यसनिता' सा [2]रसास्वादनदशा लोके भवन्त्यपि न चिरमवतिष्ठते। तदास्वादे चोपयोगि [3]यथास्व विभावादि। तथा शास्त्रानिषिद्ध, अजुगुप्सित, [4]सुस्फुट, मनोहर च यत्, तदुपचाराच्छृङ्गारशब्दवाच्यम्। तदाह—'उपमीयते' तदुपयोगितया तथा मीयते लक्ष्यत इति यावत्। क्व तथेति दर्शयति यस्तावदिति। 'तावद' ग्रहणेनावधारणवाचिना शृङ्गारवाच्यो मुख्योऽर्थस्तत्र नास्तीति दर्शयति। शृङ्गारवानिति [5]तदुज्ज्वलवेषे शृङ्गारशब्द उपचरित इत्याह।

ननु मुख्यतया रत्यास्वादे शृङ्गारशब्दस्य प्रवृत्तौ किं निबन्धनमित्याह [6]यथा चेत्यादि—

भरत०—यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि

सिद्धान्तकी शरण ली है। अर्थात् उन्होने इसे 'आर्ष-प्रयोग' मान कर अतिव्याप्तिके निवारणका यत्न किया है। किन्तु अभिनवगुप्त इससे सहमत नही हैं। उनका कहना है कि यहा 'आर्ष प्रयोग' की शरणमें जानेकी आवश्यकता नही है। शास्त्रोमें कार्य-कारण, विषय-विषयी आदिका अभेद मानकर 'अन्न वै प्राणिना प्राणा' आदि औपचारिक प्रयोग बहुधा देखे जाते है। यह शास्त्रोकी सामान्य प्रक्रिया है। इसी प्रकार यहा उपमान तथा उपमेयका अभेद मानकर यह औपचारिक प्रयोग किया गया है।

अभिनव०—परन्तु उस [रति] के जनक [विभाव रूप स्त्री] आदिमे आसक्त पुरुषमे जो उस [शृङ्गार] की व्यसनिता [आसक्ति] पाई जाती है वह रसका आस्वादन होनेकी दशा लोकमें विद्यमान होते हुए भी [अनास्वाद्य होनेसे] बहुत काल तक स्थिर नहीं रहती है। [इसलिए मुख्य रूपसे आस्वाद्यमान रति ही शृङ्गार-शब्दसे ग्रहण की जाती है] और उस [रति] के आस्वादनमे यथायोग्य विभावादि उपयोगी, होते हैं। शास्त्रमे अनिषिद्ध, अनिन्दित और मनोहर जो [उज्ज्वल-वेषादि रूप वस्तु] है वह भी गौण रूपसे शृङ्गार-शब्दसे कहा जाता है। यही बात [मूल ग्रन्थमे] 'उपमीयते' [इस शब्द] से कही है। [यहा उपमीयते शब्दका यह अर्थ है कि शुचि मेध्यादि विभावादि रूप वस्तु] उस [रतिके आस्वादन] मे उपयोगी रूपसे, उस रूपमे [मीयते] बोधित या लक्षित होता है। जैसे कहा [लक्षित होता है] यह [मूल ग्रन्थमे] 'यस्तावत्' इत्यादिसे दिखलाते हैं। अवधारणार्थक 'तावत्' शब्दके ग्रहणसे शृङ्गार-शब्दका मुख्य [रस रूप] वाच्यार्थ उस [उज्ज्वल वेष] मे नहीं है यह सूचित किया है। इसलिए [वह उज्ज्वल वेष वाला] शृङ्गारवान् होता है इत्यादि प्रयोगमे उज्ज्वलवेषमे शृङ्गार-शब्द औपचारिक [रूपसे प्रयुक्त होता] है।

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा तो फिर मुख्य रूपसे शृङ्गार-शब्दकी प्रवृत्तिका क्या कारण या प्रयोजन होता है? ऐसी आशका करके [उसके समाधानार्थ मूल ग्रन्थ मे आगे] 'यथा च' इत्यादि कहा है।

भरत०—जैसे गोत्र कुल तथा आचार आदिसे उत्पन्न तथा आप्तोपदेशसे सिद्ध पुरुषोंके

---

१ यस्तु स तज्जनादिपर एव। तद्व्यसविता। २ रसनास्वादशालोके। ३ यथास्व।
४. सस्फुट, यत् स्फुट। ५ तदनुज्ज्वरा। ६ तथा घ।

भवन्ति तथैवैषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्ना-न्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि भवन्ति। एवमेष ह्याचारसिद्धो हृद्योज्ज्वल-वेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रसः।

गोत्र पितृसन्तानादि। कुल मातृसन्तान सूचयति। आचारो व्यवहार। तत उत्पन्नानि लोके प्ररुढानि। मूले तु[1] आप्तोपदेशेन नामकरणलक्षणेन समयेन सिद्धानि। पु सामिति मनुष्यजाते, नराणां नारीणा च। नराणा हि पितृसन्तानानुसारि नाम विष्णुशर्मेत्यादि। स्त्रीणान्तु मातृवशानुसारि कनकप्रभा चन्द्रप्रभेति।

एव रसादीना तच्छास्त्रवेदिवृद्धव्यवहारतो निरूढानि प्राक्तनब्रह्माद्याप्त-प्रणीतानि नामानि। तदेवोपसहरति। एव शृङ्गारो रस.। स आचार-व्यवहाराल्लोकेऽपि सिद्ध'। कुतो हेतो ? हृद्यादिवेषात्मकत्वात्।

एतदुक्त भवति—प्रतिशास्त्रसमयानुसारिणोऽपि शब्दास्तद्वृद्धव्यवहारपरम्परया लोके प्रसिद्धा उपचारतोऽन्यत्रापि व्यवह्रियन्ते। यथा 'साख्यपुरुपोऽय न किञ्चित्

नाम होते हैं इसी प्रकार इन रसों, भावों और नाट्याश्रित अर्थोंके व्यवहारके द्वारा उत्पन्न एवं आप्तोपदेशसे सिद्ध नाम होते हैं। इस प्रकार यह मनोहर और उज्ज्वलवेषात्मक होने से व्यवहार सिद्ध शृङ्गार रस होता है।

अभिनव०—[मूलमें आए हुए] 'गोत्र' शब्दका अर्थ पितृकुलकी परम्परा है। कुल-शब्द मातृसन्तान [मातृकुलकी परम्परा] का वाचक है। आचारका अर्थ व्यवहार है। उनसे उत्पन्न और लोकमें प्रसिद्ध। मूल रूपमे तो नामकरण रूप आप्तोपदेशके नियमसे सिद्ध। 'पुंसा' का अभिप्राय [केवल पुरुष नहीं अपितु] मनुष्य जातिके अर्थात् स्त्री और पुरुषो [दोनो] के [नाम होते हैं। उनमेंसे] पुरुषोके [नाम] पितृकुलकी परम्पराके अनुसार विष्णुशर्मा इत्यादि होते हैं और स्त्रियोके नाम तो मातृकुलकी परम्पपराके अनुसार कनकप्रभा चन्द्रप्रभा इत्यादि [होते हैं]।

अभिनव०—इसी प्रकार रस आदिके नाम उनको समझने वाले वृद्ध-पुरुषोके व्यवहारसे [लोकमे] प्रसिद्ध और [मूल रूपमें] प्राचीन ब्रह्मा आदिके द्वारा रखे गए नाम होते हैं। इसी बातका उपसंहार 'इस प्रकारका शृङ्गार रस होता है' इससे करते हैं। और वह आचार अर्थात् व्यवहारसे [गौण रूपसे उज्ज्वल वेषकेलिए] लोकमे भी प्रसिद्ध हो जाता है। क्यो होता है ? [यह कहते हैं कि] मनोहर वेषादिके कारण।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय होता है कि—प्रत्येक शास्त्रके सिद्धान्तो [समय] के अनुसार [मुख्य रूपसे विशेष अर्थमे] प्रयुक्त होने वाले शब्द भी उन [विशेष शास्त्रो] के वृद्ध जनोके व्यवहारसे लोकमे प्रसिद्ध होकर उपचारसे अन्य अर्थो मे भी व्यवहृत होते हैं। जैसे (१) 'यह सांख्यका पुरुष कुछ नहीं करता है' (२) 'उसने मेरे लिए भूमिका बना दी' (३) 'इन दोनोमेंसे इसकी अधिक महत्ता है।' [तीनों

१. तु न भाग।

करोति,' 'पूर्वरङ्गोऽत्र तेन मे विरचित ' 'अत्र 'महत्ता अन्योऽन्यमस्य' । तद्वदमी शृङ्गारादि शब्दा इहैव विषये मुख्या, लोके तु साख्यपुरुषादिशब्दवत् ।

वाक्योंमे प्रयुक्त १ 'पुरुष', २ 'पूर्वरङ्ग' तथा ३ 'महत्ता' शब्द क्रमशः सांख्य, नाट्य-शास्त्र तथा वैशेषिक दर्शनके विशेष शब्द हैं परन्तु उनका प्रयोग लोकमे अन्य अर्थोमें भी होता है] । इसी प्रकार ये शृङ्गारादि शब्द इस [रसके] विषयमे ही मुख्य [रूपसे प्रयुक्त होते] हैं । लोकमे [अर्थात् उज्ज्वलवेषादि रूप लौकिक अर्थमें] तो सांख्य-पुरुषादिके समान [औपचारिक रूपसे ही प्रयुक्त होते] हैं ।

साख्य-दर्शनमें विश्वको प्रकृति तथा पुरुष दो भागोमें विभक्त किया गया है । चेतन सत्ताका नाम पुरुष तथा अचेतन सत्ताका नाम प्रकृति रखा गया है । न्याय दर्शनमें चेतन सत्ताके भी जीवात्मा तथा परमात्मा ये दो भेद माने गए हैं । उनमेंसे जीवात्मा नाना प्रकार के कर्मोंका करने वाला तथा उनके फलोका भोगने वाला होता है । इस प्रकार न्यायमें आत्माको कर्ता तथा भोक्ता माना गया है । परन्तु साख्य-दर्शनके अनुसार कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व सब अन्त करण या प्रकृतिके धर्म हैं । पुरुष उनके यहाँ न कर्ता है न भोक्ता । इसीलिए लोकमें अकर्मण्य व्यक्तिकेलिए व्यङ्ग्य रूपमें 'साख्य पुरुष' शब्दका प्रयोग होता है । इसी प्रकार नाट्यशास्त्रके 'पूर्वरङ्ग' शब्दका लोकमें 'भूमिका' अर्थ में, तथा वैशेषिक दर्शनके परिमाणवाचक 'महत्' शब्दका बडप्पन आदि अर्थोमें लोकमें प्रयोग होता है ।

इसी प्रकार शृङ्गारादि शब्द मुख्य रूपसे शृङ्गार रसके वाचक होते हैं । लोक व्यवहारसे औपचारिक रूपसे उज्ज्वल वेष आदि अर्थोमें भी उनका प्रयोग हो जाता है । परन्तु उज्ज्वल वेष आदि रूप अर्थ शृङ्गारादि शब्दोके मुख्यार्थ नही है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

शकुक आदि प्राचीन व्याख्याकारोमें से किसीने 'अस्मायामेधास्रजो विनि ' ५-२-१२१ इस पाणिनि-सूत्रके अन्तर्गत आए हुए 'शृङ्गवृन्दारकाभ्यामारकन्' इस वार्तिकसे मत्वर्थीय-प्रत्यय मान कर 'प्रशस्त शृङ्ग यस्यास्तीति शृङ्गार ' इस प्रकार शृङ्गार-पदकी व्युत्पत्ति की है। परन्तु अभिनवगुप्त इस व्युत्पत्तिसे सहमत नही हैं । उनका कहना यह है कि इस सूत्रसे 'आरकन-प्रत्यय' करनेपर तो 'शृङ्गार' शब्दके स्थानपर 'शृङ्गारक' शब्द बनेगा । जैसे 'वृन्द' शब्दसे इस सूत्रके द्वारा आरकन्-प्रत्यय करनेपर 'प्रशस्त वृन्द येषामस्तीति वृन्दारका ' यह पद बनता है। इसी प्रकार 'प्रशस्त शृङ्ग यस्यास्तीति शृङ्गारक ' यह पद बनेगा, 'शृङ्गार' पद नही बनेगा । शृङ्गार-पद तो तब बनता जब 'आरकन्' प्रत्यय न होकर 'आरच्' या आरक्' प्रत्यय होता है । परन्तु वह वार्तिक 'आरच्' प्रत्ययका विधान तो नही करता है । 'आरकन्' प्रत्ययका विधान करता है । आरकन्-प्रत्ययमें से अन्तिम हल 'न्' की इत्सञ्ज्ञा तथा लोप होकर 'वृन्दारक' शब्द बन जाता है । परन्तु 'न' का लोप हो जानेके बाद क' का भी लोप हो जाय यह बात सम्भव नही है । अत' आरकन्-प्रत्यय होनेपर 'वृन्दारक' के समान 'शृङ्गारक'-पद बनता है । इसलिए उस सूत्रके द्वारा शृङ्गार-पदकी सिद्धि या उसके आधारपर शृङ्गार-पदकी व्युत्पत्ति करना अनुचित है । इसीलिए व्याकरण-शास्त्रमें इस वार्तिकसे 'शृङ्गार' शब्दकी सिद्धि न मान कर उसे उणादिमें निपातित माना गया है । अत एव प्राचीन व्याख्याकारो द्वारा की गई शृङ्गार पदकी व्युत्पत्ति ठीक नही है । वे उस सूत्रके आधार पर व्युत्पत्ति करते समय इस बातको भूल गए हैं कि यहाँ 'शृङ्गार' शब्द है शृङ्गारक नही । इसी बातको ग्रन्थकार अगने अनुच्छेदमें इस प्रकार कहते हैं—

---

१. अत्र महत्ता मन्योन्यमस्य ।

यस्तु शृङ्गारशब्दस्य 'मत्वर्थीयेन व्युत्पत्तिमाह तस्य रूपमपि विस्मृतम्। 'आरकन्' हि प्रत्ययोऽत्र आरब्ध,[2] 'वृन्दारक' इति यथा। अत एव उणादिषु निपातितोऽयं शब्द।[3]

[4]यस्त्वपृथग्भावेन गोत्रादिनामानि [5]तत्तदीक्षितानि व्याचष्टे तस्य व्यावर्त्याभावात् प्रकृते न किञ्चिदुपपुज्यते। न च गोत्राचारोत्पन्ने नामनि नियामक आप्तोपदेशो लोके, इत्यास्तामेतत्।

अथ रतिस्थायीति सूत्रभागं भाष्येण स्पष्टयति 'स च' इत्यादिना—

अभिनव०—जो [शंकुक आदि कोई प्राचीन व्याख्याकार] मत्वर्थीय [आरकन् प्रत्यय] से शृङ्गार-शब्दकी व्युत्पत्ति करते हैं उनको तो [शृङ्गार-पदका] स्वरूप भी ध्यानमें नहीं रहा है। [क्योंकि उस 'शृङ्ग-वृन्दाभ्यामारकन्' वार्तिकके द्वारा तो] इस [शृंग शब्द] से 'आरकन्' प्रत्यय [का विधान] किया गया है, [शृङ्ग-शब्दसे आरकन्-प्रत्यय करनेपर तो शृङ्गार-शब्द नहीं अपितु शृङ्गारक-शब्द बनेगा] जैसे ['वृन्द' शब्दसे उसी वार्तिकके द्वारा आरकन् प्रत्यय करनेपर] 'वृन्दारक' [शब्द बनता है। अत एव उस वार्तिकके द्वारा शृङ्गार-शब्दकी सिद्धि नहीं हो सकती है] इसीलिए ['शृङ्गार-भृङ्गारौ' उ० सू० से] उणादिमे इस शब्दको निपातित माना गया है।

प्राचीन टीकाकारोंमेंसे शङ्कुकादि किसी टीकाकारने भरतकी 'गोत्र कुलाचारोत्पन्नानि आप्तोदेशसिद्धानि पुंसा नामानि' इस मूल पंक्तिमें गोत्रोत्पन्न नाम, कुलोत्पन्न नाम और आचारोत्पन्न नाम इस प्रकारकी अलग-अलग व्याख्या न करके 'अपृथगभावेन' सम्मिलित रूपसे 'गोत्राचारोत्पन्न नाम' ऐसा अर्थ कर दिया है। अभिनवगुप्तको यह व्याख्या रुचिकर नहीं है। उनके मतमें भरतमुनिने गोत्र, कुल और आचार तीनों पदोंका प्रयोग अलग-अलग [व्यावर्त्य] अर्थोंको लेकर किया है। यदि इनके अलग-अलग [व्यावर्त्य] अर्थ न होते तो 'गोत्रोत्पन्न' या 'आचारोत्पन्न' एक ही शब्दका प्रयोग किया होता। ऐसा नहीं किया है इससे प्रतीत होता है कि भरतमुनिको तीनों शब्दोंका अलग-अलग [व्यावर्त्य] अर्थ अभिप्रेत है। पूर्व टीकाकारकी व्याख्यामें इन शब्दोंका अलग [व्यावर्त्य] अर्थ नहीं रहता है इसलिए वह व्याख्या ठीक नहीं है। इसी लिए उसका खण्डन करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—जिसने 'गोत्रादिनामानि' [अर्थात् 'गोत्रकुलाचारोत्पन्नानि नामानि' इस भरत वचन] को सम्मिलित रूपसे उस-उस रूपमें पाए जाने वाले 'गोत्राचार मूलक नाम' इस प्रकारकी व्याख्या की है उसके मतमें [अर्थात् उसकी व्याख्यामें गोत्र कुल तथा आचार इन तीनों पदोंका व्यावर्त्य अर्थात्] अलग-अलग अर्थ न होनेसे उस [व्याख्या] का यहां प्रकृतमें कोई उपयोग नहीं है। [इस व्याख्यामें दूसरा दोष यह भी है कि] लोकमें गोत्राचारसे उत्पन्न नाममें आप्तोपदेशको नियामक भी नहीं माना जाता है। इसलिए इस [व्याख्या] को छोड़ देना चाहिए।

अभिनव०—अब [पृ० ५३४ पर 'शृङ्गारो नाम रतिस्थायिप्रभव' में आए

---

१ स्यान्मीयेन। २. शृङ्ग वृन्दारकाभ्यामारकन्, अष्टा ५-२-१२१ वार्तिक।
३ शृङ्गारभृङ्गारौ उ० सू०। ४. पृथग्भावेन। ५. व्यावर्त्याभावात् तत्तदीक्षितानि।

भरत०—स च स्त्री-पुरुषहेतुकः; उत्तमयुवप्रकृति ।

स्त्री-पुरुषशब्देन परस्पराभिलाष-सम्भोगलक्षणया लौकिक्या 'अस्येयं स्त्री-इति, धिया'[1]। तेनाभिलाषमात्रसारायां कामावस्थानुवर्तिन्या व्यभिचारिरूपिणी[2] या तया विलक्षणैवेयं स्थायिरूपा प्रारम्भादिफलावाप्तिपर्यन्तव्यापिनी[3] परिपूर्णसुखैकफला रति-रुक्ता भवति हेतुरस्य। कवि हि लौकिकरतिवासनानुविद्धस्तथा विभावादीनाहरति [4]नटश्च तथानुभावयति यथा रत्यास्वादे शृङ्गारो भवतीति। आस्वादयितुरपि प्राक् कक्ष्यायां रत्यवगम उपयोगीत्युक्तं[5] प्राक्।

एतदुक्तं भवति—रति [6]क्रीडा सा च परमार्थतः कामिनोरेव, तत्रैव सुखस्य धाराविश्रान्ते। अपरस्य ऋतु-माल्यादिविषयसौन्दर्यस्य [7]कविना कृतस्य [8]सङ्कल्पसवे-दनात्। द्वितयान्योन्यनिमज्जनात्मकमीलनाख्यो हि परमो भोगः। संविद एव प्रधान-त्वात्, अन्यस्य[9] तु जडस्य भोग्यत्वात्। अत एवाह—

हुए] 'रतिस्थायि' इत्यादि सूत्र भागको 'स च' इत्यादिसे स्पष्ट करते हैं—

भरत०—और वह उत्तम युवक तथा युवतियोंमें स्त्री पुरुष भाव-मूलक [अर्थात् परस्प-रानुरक्त-स्त्री-पुरुष भावके कारण] होता है।

अभिनव०—स्त्री-पुरुष शब्दसे परस्पर अभिलाष तथा सम्भोगकी लक्षणा द्वारा 'यह इसकी स्त्री है' इस प्रकारकी लौकिक बुद्धिका ग्रहण होता है। इसलिए [केवल एकपक्षीय, सम्भोग रहित] अभिलाष मात्रसे युक्त कामावस्थामें [विद्यमान स्त्री अथवा पुरुष किसीमें] रहने वाली [एकपक्षीय अत एव स्थायिभाव रूप न होकर] व्यभिचारिभाव-रूपिणी जो रति उससे भिन्न [परस्परानुरक्त दम्पतिकी सम्भोग युक्त] यह स्थायिभाव रूपा, प्रारम्भ [अर्थात् अनुराग] से लेकर [सम्भोगादि रूप] फल-पर्यन्त रहने वाली, परिपूर्ण सुखको देने वाली रति इस [शृङ्गार रस] का हेतु होती है। [काव्य नाटक आदिमें इस शृङ्गार रसको उपस्थित करने वाला] कवि स्वयं लौकिक रतिकी वासनासे युक्त होकर विभावादिको इस प्रकारसे उपस्थित करता है और नट उसको इस प्रकारसे अनुभव कराता है कि जिससे रतिका आस्वादन होनेपर शृङ्गाररस अनुभूत होने लगता है। आस्वादयिता [अर्थात् सामाजिक] का भी पूर्व-कालीन रति-संस्कार [शृङ्गारकी अनुभूतिमें] उपयोगी [आवश्यक] होता है यह पहिले कह चुके हैं। [अर्थात् यदि सामाजिकमें रति-वासना न हो तो शृङ्गारप्रधान काव्य या नाटकादिसे भी उसको रसानुभूति नहीं होगी]।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि सुरत-क्रीडा रति [कहलाती] है। और वह वास्तवमें [परस्परानुरक्त दम्पति रूप] कामियोंमें ही होती है। क्योंकि

---

१ या। २ व्यभिचारिरूपाणीतिया (पानीतायां)। ३ फलप्राप्ति पर्यन्ता व्यापिनी।
४ नाटय च नुभावान् यथा। ५ इत्युक्ता। ६ क्रीडासार्थं। ७ तद्विना।
८. सकल्पत्वात्। ९ मन्यम तु।

"श्वासायासविडम्वनैव वपुषि प्राणा पुनर्जानकी" । इति

अत एव यत् कैश्चिदचोद्यत—'रतेराधारभेदेन भेदात् कथमेको रस.' इति, तदनभिज्ञतया । एकैव ह्यसौ तावती रति यत्रान्योन्यसविदैकवियोगो न भवति ।

अत एवोत्तमयुवप्रकृति । उत्तमश्च उत्तमा च उत्तमौ । एव युवानौ । अत्रोत्तमयुवशब्देन तत्सविदुच्यते, न तु काय । चैतन्यस्यैव हि परमार्थतः उत्तमयुवत्व विशेष । स चावस्थावान्, तत्र-तत्र व्यवहारस्य भूतत्वात् तत्प्रकृति. । सा सविदास्वादयोग्यत्वात्

उन्हींमे [सम्भोग द्वारा] सुखकी धाराकी विश्रान्ति होती है । अन्य [अर्थात् सामाजिक आदि] को तो कविके द्वारा प्रस्तुत किए गए ऋतु-माल्यादि [उद्दीपन विभावादि] विषयके सौन्दर्यके [सकल्प अर्थात्] मानसिक भावनाके द्वारा अनुभव करनेसे [उसमे वास्तविक रति नहीं रहती है । परन्तु अनुकार्य राम-सीतादि दम्पति तथा सामाजिक] दोनोके तादात्म्य [अन्योन्यनिमज्जन] रूप अभेद [मीलन] से परम भोग [अर्थात् रसास्वाद] होता है । अनुभूति [सवित्] के ही प्रधान होनेसे [अनुभूति या 'संवित्' ही परम भोग रूप है । सवित अर्थात् अनुभूतिके अतिरिक्त] अन्य जडोंके भोग्य होनेसे [अनुभूति ही वस्तुत रस रूप है] । इसीलिए कहा है कि—

अभिनव०—शरीरमे श्वास-प्रश्वासका व्यापार तो विडम्वना मात्र है शरीरमे वास्तविक प्राण तो जानकी [विषयक रति] है ।

इस प्रकार इस अनुच्छेदमें यह प्रतिपादन किया गया कि काव्य नाटकादिमें अनुकार्य सीता-रामादि और सामाजिक दोनोके साधारणीकरण द्वारा तादात्म्य या अभेदके कारण ही सामाजिकको रसानुभूति होती है । इसलिए जो लोग यह समझते हैं कि सीता रामादि अनुकार्य की रति, और सामाजिककी रति, आधारभेदके कारण भिन्न-भिन्न है इसलिए उससे रसकी अनुभूति सामाजिकको नही होनी चाहिए उनका खण्डन हो जाता है । क्योकि साधारणीकरण द्वारा उनका अभेद हो जाता है । इसी वातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेद में कहते हैं—

अभिनव०—इसलिए किन्हीं [व्याख्याकारो] ने जो आशङ्का की है कि आधारके भेदसे रतिका भेद होनेके कारण एक रस [की प्रतीति] कैसे होता है, वह अज्ञानवश ही की है । [वास्तवमे तो 'तावती' अर्थात् दोनोमे रहने वाली] यह सारी रति एक ही है । जहां एक दूसरेके ज्ञानके द्वारा [परस्पर तादात्म्य साधारणीकरणके द्वारा एकवियोग अर्थात्] परस्पर भेद नहीं होता है [उन अनुकार्य तथा सामाजिकमे रहने वाली रति एक ही होती है] ।

अभिनव०—इसीलिए [मूलग्रन्थमे रसको] उत्तमयुवप्रकृति [अर्थात् परस्परानुरक्त युवक-दम्पति-विषयक] कहा है । [उत्तमयुवप्रकृति शब्दका अर्थ] उत्तम पुरुष तथा उत्तमा स्त्री दोनो मिल कर दो उत्तम हुए । इसी एक युवक पुरुष और एक युवती स्त्री मिल कर दो युवक ['युवानौ' हुए] । इस प्रकार 'उत्तमश्च उत्तमा च

शृङ्गाररसी भवति। अनुत्तमत्वे तु न दार्ढ्य, अयुवत्वे चेति। न सा रतिसंविद्वियोगस्य सम्भावनात्। अवियुक्तसंवित्प्राणस्तु शृङ्गार[1]।

वेषयति व्यापयति चित्तवृत्तिमन्यत्र ज्ञापनया सक्रामयतीति वेषो विभावानुभावात्मा। वेषयन्ति व्याप्नुवन्ति स्थायिनमिति वेषा व्यभिचारिण। ते उज्ज्वला उत्कृष्टा यस्मिन्, तथाभूत आत्मा यस्येति।

उत्तमौ' और 'युवा च युवती च युवानौ' इस प्रकार द्वन्द्व-समासमे एक शेष होकर 'उत्तमौ च तौ युवानौ प्रकृतिर्यस्य' इस प्रकारका समास होकर 'उत्तमयुवप्रकृति', शब्द बनता है। उससे उत्तम युवक तथा उत्तम युवति दोनोका ग्रहण होता है]। और यहां उत्तम युव शब्दसे उन दोनो की संवेदन शक्तिका ग्रहण होता है न कि शरीरका क्योकि 'वस्तुत उत्तमत्व रूप विशेष धर्म चैतन्य [संवित] का है। और वह [यौवनकालका] अवस्थावान् [अर्थात् नवयौवनयुक्त काय] शरीर सर्वत्र [तत्र-तत्र यौवनके शरीरमे ही युवक] व्यवहारके होनेसे उस [रति] का कारण [उत्तम युवक] होता है। और वह [उत्तम युवक-युवतिकी रति] संवित [अनुभूति] आस्वादयोग्य होनेसे शृङ्गाररस बन जाती है। [स्त्री-पुरुषके] उत्तम न होनेपर वह रति स्थिर नही होती है [दोनो क्षणिक सुखभोगके बाद एक दूसरेको छोड़ देते हैं]। इसी प्रकार युवक न होनेपर भी [रति स्थिर नही होती है] इसलिए [अनुत्तम अथवा अयुवक स्त्री-पुरुषोकी] वह [क्षणिक आवेशकी स्थिति] रतिसंवित् नही कहलाती है [उन दोनोमे शीघ्रही] वियोगकी सम्भावना होनेसे। [इसलिए अनुत्तम, अथवा अयुवक स्त्री-पुरुषोंके क्षणिक कामावेशको रति या शृङ्गार नहीं कहते हैं क्योकि] रतिकी सतत रहने वाली [चिरस्थायिनी प्रतीति ही शृङ्गार-रसका प्राण है।

ऊपरके शृङ्गाररसके वर्णनमें शृङ्गारको 'उज्ज्वलवेषात्मक' कहा है। इसमें वेष-शब्द साधारण वस्त्रालङ्कारादि रूप वेषका वाचक नही है अपितु वह रसकी विभाव अनुभाव रूप सामग्रीका बोधक है इसलिए अगली पंक्तियोमें ग्रन्थकार वेष-शब्दकी इस प्रकारकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं जिससे वह विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभाव रूप रस-सामग्रीका बोधक हो सके। इसमें 'वेष' शब्द जुहोत्यादिगणके 'विष्लृ व्याप्तौ' धातुसे बनाया गया है। और उस धातुके णिजन्तके प्रयोगसे वेष-शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है कि—

अभिनव०—जो चित्तवृत्तिको अन्यत्र व्याप्त करता है अर्थात् [अपने] बोधन द्वारा [रस रूपमे] संक्रान्त करता है वह विभाव अनुभाव रूप 'वेष' होता है। और जो [रत्यादि रूप] स्थायिभावमे समा जाते हैं अर्थात् व्याप्त होते हैं वे व्यभिचारिभाव भी 'वेष' कहलाते है। [इस प्रकार 'वेष' शब्दका अर्थ विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारि-

---

१ इसके आगे यथा—वारिसिरिण० परिहिआदि हिल० गणाहुफहविएक।
हुहिमुलजमरणिमअलहुतोतिहविप सि। इति
व्याख्याता परस्पर जीवितसर्वस्वाभिमानरूपा। इतना पाठ अस्पष्ट है।

सूत्रे संक्षिप्य यद्विभावादि निरूपितं तद्विभागेन व्याख्येयमित्याशयेन शृङ्गार-स्यावस्थाभेदमाह 'तस्य द्वे' । इत्यादिना—

भरत०—तस्य द्वे अधिष्ठाने, सम्भोगो विप्रलम्भश्च ।

अधिष्ठाने अवस्थे इत्यर्थः । अधिष्ठीयतेऽवस्थाऽत्र शृङ्गाररूपेण । तेन शृङ्गार-स्य [1]नेमौ भेदौ *गोत्वस्येव शाबलेयत्व-बाहुलेयत्वे । तद्दशाद्वयेऽप्यनुयायिनी या* रतिरास्वा-दनात्मिका तस्याश्चास्वाद्यमानं रूपं शृङ्गारः ।

यदाहुः—

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने मय्यविश्वासिनी भूः ।
स्नेहानाहुः किमपि [2]विरहध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति ॥ इति [मेघ २-३५]

भाव होता है यह दिखलाया । अब उसके साथ जुड़े हुए उज्ज्वल शब्दकी उपयोगिता दिखलाते हैं] वे जिसमे उज्ज्वल अर्थात् उत्कृष्ट हैं उस प्रकारका स्वरूप जिसका है वह 'उज्ज्वल वेषात्मक शृङ्गार' हुआ ।

अभिनव०—इस प्रकार [रसका लक्षण करने वाले 'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस] सूत्रमे जिन विभावादिका संक्षेपसे निरूपण किया था उनकी अलग-अलग व्याख्या करनी चाहिए इस अभिप्रायसे 'तस्य द्वे' इत्यादिसे शृङ्गार रसके [दो] अवस्था-भेदोको कहते हैं—

भरत०—उस [शृङ्गाररस] की दो अवस्थाए होती है एक सम्भोग और दूसरा विप्रलम्भ ।

अभिनव०—'अधिष्ठाने' का अर्थ दो अवस्थाएं हैं। यहा शृङ्गार रूपसे अधिष्ठित होती है इसलिए अवस्था [अधिष्ठान कहलाती] है । इसलिए जैसे गोत्वके 'शाबलेयत्व' [अर्थात् दुरंगापन] और बाहुलेयत्व [अर्थात् बहुरंगापन] के समान ये दोनो [अर्थात् सम्भोग-शृङ्गार तथा विप्रलम्भ-शृङ्गार] शृङ्गाररसके भेद नहीं हैं, अपितु उन दोनो दशाओमे समान रूपसे विद्यमान जो आस्वादात्मक रति है उसका आस्वाद्यमान रूप शृङ्गाररस होता है । जैसा कि [कालिदासके मेघदूतमे] कहा है—

अभिनव०—इस [मेघ द्वारा] दिए गए चिह्नसे मैं कुशल पूर्वक [अर्थात् जीवित] हूँ ऐसा समझ कर हे काली आंखो वाली [प्रिये] लोकापवाद [अर्थात् लोगो के कहने] से मेरे [जीवन] के प्रति अविश्वासिनी न बनना [अर्थात् अब तक तो तुम्हारा पति मर भी गया होगा इसलिए उसकी आशा छोड़ दो । इस प्रकार लोगोके कहनेसे मेरे जीवनके विषयमे सन्देह न करना । और इतने दिन अलग रहनेसे तुम्हारा पति तुमको भूल गया होगा यह भी न समझना क्योकि] प्रथम वियोग कालमे प्रेम नष्ट

---

१ शृङ्गारस्येमौ । नाट्यदर्पण का० ११२ की वृत्ति । २. विरहह्रासिन ।

अत एव सम्भोगे विप्रलम्भसम्भावनाभीरुत्व, विप्रलम्भेऽपि सम्भोगमनोराज्यानुवेध इति। इयच्छृङ्गारस्य वपु। अभिलाष-ईर्ष्या-प्रवासादिदशास्त्वत्रैवान्तर्भूता: सत्यामास्थाबन्धात्मिकाया रतौ। तेन सम्भोगश्रृङ्गार इत्यादि व्यपदेशोऽभोगेऽप्युपचारात्। अत एव एलद्दशाद्वयमेलन एव सातिशयश्चमत्कार। यथा—

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तर ताम्यतो—
रन्योन्य हृदयस्थितेऽप्यनुनये सरक्षतोर्गौरवम्।
दम्पत्यो शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुपो-
र्भग्नो मानकलि सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहम्॥ [अमरुक श० २३]

तत्र हीर्ष्याविप्रलम्भसम्भोगमेलनात्मकैव एकप्राणीभूतोभयगतविभावानुभावव्यभिचारिकृता सातिशया रसानुभूति।

हो जाता यह बात लोग यो ही [किमपि] कहते हैं [पर वास्तवमे तो वह नष्ट न होकर वहुत कालसे] भोग न हो सकनेके कारण प्रियजनके प्रति तृष्णा बढ़जानेसे वे प्रेम धनीभूत बन जाते है।

अभिनव०—इसी लिए सम्भोगमे विप्रलम्भकी सम्भावनासे भय रहता है और विप्रलम्भमे सम्भोगकी कामनाका सम्बन्ध रहता है। इतना ही [अर्थात् सम्भोग तथा विप्रलम्भ] ही श्रृङ्गारका स्वरूप है। अभिलाष, ईर्ष्या, प्रवास, आदि [जो विप्रलम्भ-श्रृङ्गारके पाच भेद कहे हैं। उन] का रतिकी स्थिरता होनेपर [सत्यामास्थावन्धात्मिकाया रतौ] इन्हींमे अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए [प्रेम होनेपर] भोग के न होने पर भी सम्भोग-श्रृङ्गार आदि व्यवहार गौण रूपसे होता है। अत एव इन सम्भोग तथा विप्रलम्भ] दोनो दशाओके मिश्रणसे ही विशेष रूपसे चमत्कार [प्रतीत] होता है। जैसे—

अभिनव०—[परस्पर कुछ झगडा हो जानेके कारण] एक ही पलग पर मुह फेर कर लेटे हुए, एक दूसरेसे न वोलने [वीतोत्तर] के कारण दु खी, दोनोके हृदयमे एक दूसरेको मना लेनेकी इच्छा होनेपर भी अपने गौरवकी रक्षा करते हुए, दम्पतिके धीरेसे कन-अखियोके चलानेसे आंखोके मिल जानेपर हस कर तुरन्त एक दूसरेके गले मे चिपट जानेसे उनका मान-कलह भग हो गया।

अभिनव०—यहा ईर्ष्याविप्रलम्भ और सम्भोगके सम्मिलनसे एक प्राण रूप [पति पत्नी] दोनोके विभाव अनुभाव और व्यभिचारिभावोके द्वारा इन दोनोको अत्यन्त रसकी अनुभूति होती है।

'श्रृङ्गार उज्ज्वल वेषात्मक होता है' यह जो कहा गया है उसमें 'वेष'-शब्द विभावानुभावादिका वाहक है यह बात अभी वतला चुके है। परन्तु किसी प्राचीन व्याख्याकारने 'वेष' शब्दका सामान्य अर्थ लेकर यह शका उठाई है कि विक्रमोर्वशीय नाटक में श्रृङ्गार रस होते हुए भी उन्मादावस्थामे पुरुरवाके अनुज्ज्वल वेषका और तापसवत्सराजचरितमें वासवदत्ताके मर जानेका

तेन यच्चोदित श्रीशकुकेन पुरूरवस उन्मादे, वत्सराजस्य तापसत्वे चानुज्ज्वल-वेषत्व विप्रलम्भशृङ्गारेऽपि इति । तदनवकाशमेव भोगस्य रसत्वाभावात्, स्नानाद्य-वस्थानस्येव[1] ।

यत्वत्रोत्तर तावद्दत्त, स्थैर्यादुज्ज्वलवेषाभावेऽपि रतिमुत्तमा न विजहातीति, तद्यक्षभाषित, प्रकृतचोद्यापरिहारात् । न हि चोदितमनुज्ज्वलवेषे कथ शृङ्गार इति ।

तदेवास्तु चोद्यमिति चेत् ? न वचनस्यातिभारोऽस्ति । न तु मुनिनैवमुक्तं सत्युज्ज्वलवेषे शृङ्गार इति[2] न तु विपर्यये, इत्यास्तामेतत् ।

विश्वास दिला दिए जानेके बाद तापस वत्सराज उदयनके अनुज्ज्वलवेषका वर्णन पाया जाता है। इन दोनोमें अनुज्ज्वल वेषकी उपलब्धि होनेसे शृङ्गाररसकी सङ्गति वहां कैसे होगी ? इस शङ्का को उठाकर उन्ही व्याख्याकारने इस शङ्काका यह समाधान किया है कि यद्यपि पुरूरवा तथा वत्सराज उदयनका उज्ज्वल वेष वहा नही रहता है फिर भी उनके भीतरकी उत्तम रति विद्यमान रहती है इसलिए वहा शृङ्गाररसके माननेमें कोई दोष नही आता है ।

अभिनवगुप्त इस शका और समाधान दोनोको व्यर्थ मानते हैं। उनका कहना है कि यहां वेष-शब्दका अर्थ तो विभाव अनुभाव व्यभिचारिभाव है । उन्हींके सयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। वस्त्रालङ्कारादि रूप वेष तो रस नही है । जैसे स्नानावस्था यद्यपि उज्ज्वल होती है। परन्तु वह रस नही है । इसी प्रकार उज्ज्वल वस्त्राभूषण आदिको रस नही कहा जाता है । अत एव अनुज्ज्वल वस्त्राभरणात्मक वेषके होनेपर भी रस मानने कोई बाधा नही होती है। इसी विषयकी चर्चा ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—इस लिए श्रीशंकुकने जो यह शंका की है कि पुरूरवाके उन्माद [काल] मे, और वत्सराजके तापसत्व [काल] मे विप्रलम्भ-शृङ्गारमें भी अनुज्ज्वल-वेष पाया जाता है यह कैसे सङ्गत होगा ? परन्तु [उनकी] वह [शङ्का वस्त्रालङ्कारादि रूप] भोगके रस न होनेसे अनुचित है । स्नानादि अवस्थाके समान [अर्थात् जिस प्रकार स्नानादि अवस्था उज्ज्वल होनेपर भी रस नहीं होती है इसी प्रकार अनुज्ज्वल वस्त्रालङ्कारादि न रस होते, और न रसमे बाधक होते हैं] ।

अभिनव०—और [शकुकने ही] जो [इस शङ्काका] यह उत्तर दिया है कि उज्ज्वल वेषके न रहनेपर भी [पुरूरवा या वत्सराज उदयन] क्योंकि उत्तम रतिका परित्याग नहीं करते हैं इसलिए वहां शृङ्गार रस रहता है वह भी असंगत [यक्ष-भाषित] है क्योंकि उससे प्रकृत शङ्काका परिहार नही होता है। यहां [इस समाधानमें] यह शङ्का तो नहीं है कि अनुज्ज्वल वेषमे शृङ्गार क्यो रहता है ? [अपितु इसके विपरीत अर्थात् शृङ्गारमे अनुज्ज्वलवेष क्यो पाया जाता है यह शङ्का की गई है। उसका समाधान उन व्याख्याकारोने नहीं किया है। इसलिए वास्तविक शङ्काका परिहारक न होनेसे यह उत्तर 'यक्षभाषित' भूतोके कथनके समान व्यर्थ है] ।

अभिनव०—यदि वही शङ्का मान ली जाय [अर्थात् अनुज्जलवेषमें शृगार कैसे बनेगा यही शङ्काका रूप मान लिया] तो क्या हानि है ? यह प्रश्न करें तो

---

1. स्नानाद्यवस्थानमिव । 2. अपितु ।

भरत०—तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतु-माल्य-अनुलेपन-अलङ्कार-इष्टजन-विषय-वरभवनोपभोग-[1]उपवनानुभवन-श्रवण-दर्शन-कीडा-लीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

तत्रेति द्वयोरवस्थयोर्मध्ये सम्भोगावस्था तावदुच्यते । तत्रेह वस्तुत स्त्री-पु सौ परस्पर विभावौ, तयोरुत्तमत्वे चोपयोगीनि ऋत्वादीनि । उत्तमस्यानवसरे रत्यभावात् ।

तदाह—

[3]असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विन ।
अनाक्रम्य जगत्सर्वं नो सन्ध्या भजते रवि ॥ इति ॥

ऋतुर्वसन्तादि । माल्य कुसुमादि । अनुलेपन समालम्भन, यद्यत् कामस्योद्दीपकम् । अलङ्कार कटकादि । इष्टजनो विदूषकादि । [2]एतदुभयत्रोत्तमत्वसूचकम् ।

[उसका उत्तर यह है कि] कहनेको आप कुछ भी कहलें उसमे कोई बोझ [अतिभार] थोडे ही पडता है। किन्तु भरत मुनिने उज्ज्वल वेष होनेपर शृङ्गार होता है इसका उल्टा [अर्थात् अनुज्ज्वल वेष] होनेपर [शृङ्गार] नहीं होता है यह नहीं कहा है। [अत अनुज्जवल वेषमे शृङ्गार कैसे होगा यह शङ्का नहीं की जा सकती है। इसलिए इस विषयको नहीं छोड देना चाहिए।

भरत०—उन [सम्भोग तथा विप्रलम्भात्मक दो भेदो] मेसे सम्भोग [श्रृङ्गार] ऋतु माल्य, सुगन्धित अगराग, अलङ्कार, प्रियजन, [गीत आदि रूप] विषय, सुन्दर भवन, आदिका उपभोग, उपवन गमनका, अनुभव, अथवा [घरमे बैठ कर भी] श्रवण, दर्शन [जलावगाहनादि रूप] क्रीडा, और [हाव-भाव रूप] लीला आदिके द्वारा उत्पन्न होता है।

अभिनव०—'तत्र' उनमें अर्थात् [सम्भोग तथा विप्रलम्भ रूप पूर्वोक्त] दोनो अवस्थाओमेसे पहिले सम्भोगावस्थाको कहते हैं। उसमे वास्तवमे स्त्री-पुरुष दोनो एक दूसरेके प्रति कारण [आलम्बन विभाव] होते हैं। और ऋतु आदि उन दोनोके उत्कर्षाधानमे उपयोगी [उद्दीपन सामग्री रूप] होते हैं। क्योकि उत्तम [प्रकृति] को अनवसरमे रतिका उदय नहीं होता है।

अभिनव०—जैसा कि कहा है—विजय कामनाको पूरा किए विना मनस्वी-पुरुष स्त्रीकी चिन्ता नहीं करते हे। सारे ससारको आक्रान्त [विजय] किए विना सूर्य सन्ध्याका सेवन नहीं करता है।

ऋतु [से] वसन्त आदि माल्य पुष्पादि है। अनुलेपन अर्थात् अङ्गराग [इतर फुलेल आदि] जो-जो कामका उद्दीपक है। अलङ्कार अर्थात् कटक आदि। इष्टजन अर्थात् विदूषक आदि। ये [सब, स्त्री-पुरुष] दोनोके उत्तमत्वके सूचक हैं।

---

१ उपवनगमन। २ एतदुभयमुत्तमत्व। ३ पूर्व सस्करणोमे यह श्लोक इस पाठके अन्तिम पाठके बाद छपा है। यहां पर वह असङ्गत है।

विषया गीतादय । तदन्तर्भूतमपि माल्यादि प्राधान्यात् पृथगुक्तम् । वरभवनं हर्म्यादि । एतद्देशविशेषोपलक्षणम् । एषामुपभोग. । उपवनस्योद्यानस्यानुभवन, श्रवणं वा वरभवनस्थस्यापि । एतत् सङ्कल्पादेरप्युपलक्षणम् । क्रीडा जलावगाहनादिका । लीला जनस्याकृति[1] । आदिग्रहणादन्यदपि हृद्य हसयुगलक-चित्र-पुस्तदर्शनादि[2] । एतच्च समस्तमेव शृङ्गारविभावत्वेन मन्तव्यम् ।

यावान् कश्चिदयं विषयसम्भारो हृद्यतमस्तत्पूर्णताया सत्यामुत्तमस्य रत्युदय: । अत एव रत्नावल्या हर्म्यवर्णन, उद्यानगमन, कामदेवपूजा, वसन्त इत्यादि सर्वमेवात्र सगृहीतं, 'राज्य निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तम्' इत्यादिना । एव च सर्व एव समुदितो विभाव. इति काल्पनिक आलम्बनविभाव उद्दीपनविभाव इति । अत एव मुनिना नाय क्वचिद्विभाग उक्त सूचितो वा । युक्त चैतत् । यथैकत्रैव रूपके उद्यानर्तु-माल्यादीना सर्वेषा दर्शनादेको रस. स्याद्विभावाभेदात् ।

अभिनव०—विषय [से] गीत आदि [गृहीत होते] हैं । उनमे अन्तर्भूत होने पर भी माल्य आदिका प्राधान्य होनेसे अलग ग्रहण किया है । उत्तम भवन अर्थात् महल आदि । यह देश-विशेषका उपलक्षण है । इन सबका उपभोग । उपवन अर्थात् उद्यान का अनुभव करना, या उत्तम घरमे बैठ कर भी श्रवण करना । यह [उपवनके दर्शन आदिके] संकल्पादिका भी उपलक्षण है । क्रीडाका अर्थ जलावगाहन आदि है । लीला अर्थात् [हाव-भाव रूप] लोक की आकृति । आदि ग्रहणसे हंसका जोड़ा, चित्र, कला-कौशल [पुस्त] आदिका दर्शन आदि मनोहर वस्तुओंका ग्रहण होता है । ये सब ही [मिल कर] शृङ्गारके विभाव रूप समझने चाहिए ।

अभिनव०—यह जितना सुन्दरतम विषय-समूह है उसके पूर्ण होनेपर ही उत्तम-प्रकृतिमे रतिका उदय होता है । इसी लिए रत्नावली [नाटिका] में महलका वर्णन, उद्यानमे जाना, कामदेवकी पूजा, और वसन्त इत्यादि सबका ही 'शत्रु-रहित राज्यको योग्य मन्त्रीको सौंप कर' इत्यादि [वाक्यो] से संग्रह दिखलाया गया है । इस प्रकार ये सब मिल कर ही [शृङ्गार रसके] विभाव होते हैं । इसलिए आलम्बन-विभाव उद्दीपन-विभाव यह भेद काल्पनिक है । इसीलिए [भरत] मुनिने [आलम्बन उद्दीपन विभावका] यह भेद न कहीं [स्पष्ट रूपसे शब्दत.] कहा है और न [प्रकारान्तरसे] सूचित किया है । और यह [विभावोके भेद न करना] उचित भी है । जिससे कि एक रूपकमें उद्यान, ऋतु, माल्यादि सबके एक साथ देखनेसे विभावोंका भेद न होनेसे एक रसकी उत्पत्ति हो सके ।

अगले अनुच्छेदमें ग्रन्थकार यह दिखलाना चाहते हैं कि कभी-कभी उत्तमत्व सूचक माल्यादि सामग्रीके विना केवल विभावमात्रके दर्शन या वर्णनसे भी जो रसकी उत्पत्ति देखी जाती है वह क्यों हो जाती है । उनका कहना यह है कि रसोत्पत्तिका मुख्य स्थान रूपक है । रूपकमें प्राय: ऐश्वर्य-सम्पन्न राजा आदि ही नायक होते है । ऐसे रूपकोंमें यदि कहीं उद्यान आदि सामग्रीका वर्णन

---

१. अनुकृति । २. पुस्तकदर्शनादि ।

ननु प्रथम प्रमदामात्रदर्शने नोद्यानभवनादिसम्भव ?

क एवमाह ? ऐश्वर्यपूर्णस्य हि तावदात्मीयसमृद्धिसम्भारसस्कारावगमात्[1] पूर्णतैव विभाववर्गस्य स्यात् । तत्प्रधान हि रूपक तत्र तत्रोदाहरणम् । तेन पृथगुदाहरणदानमनुपपन्नम् ।

या तु मुक्तकादौ पृथक्तयाऽभावेऽपि रससवित् तत्रोत्तमत्वे [2]तदनुसन्धानाच्चमत्कार । [3]यस्त्वनुत्तमादिविषयेऽपरिपूर्णोद्दीपनत्वेन चमत्कारो दृश्यते [4]तत्रैकाङ्गस्य सौभाग्यस्य प्राधान्याच्चमत्कारोदय इति तात्पर्यं न तु तदभावकृता चमत्कृति ।

किए बिना केवल प्रमदा रूप आलम्बन विभावके वर्णनमात्रसे रसोत्पत्ति दीखती है तो वहाँ ऐश्वर्य प्रिय नायकके अपने सस्कारोसे ऋतु माल्यादि सामग्रीकी स्वय उपस्थिति हो जाती है । और जहा कही मुक्तक आदिमें इस प्रकारकी सामगीके बिना रसकी प्रतीति होती है वह उस सामगीके अभावके कारण नही अपितु आलम्बन विभावके विशेष सौभाग्य या सौन्दर्यके कारण होती है ।

अभिनव०—[प्रश्न]—पहिले केवल प्रमदामात्र [आलम्बन-विभाव] के देखने पर उद्यान भवन आदि [उत्तमत्व-सामग्री] की सम्भावना नही होती है । [तो वहाँ रस की उत्पत्ति कैसे होगी] ?

अभिनव०—[उत्तर] ऐसा कौन कहता है [अर्थात् यह कहना उचित नहीं है] क्योकि—ऐश्वर्यसे परिपूर्ण [रूपकोके नायक] को तो अपनी समृद्धि-बाहुल्यके सस्कार से [उद्यान-भवन आदि उत्तमत्व सामग्रीके कहे बिना भी] विभाववर्ग [अर्थात् सभी विभावो] की पूर्णता ही होती है [उत्तमत्व सूचक सामग्रीके न कहनेपर भी उसकी न्यूनता नही रहती है । इस प्रकारके काव्योमे] ऐश्वर्य-प्रधान रूपक ही [इस विषय मे] सर्वत्र उदाहरण है । इसलिए [उद्यानादि सामग्रीके अभावमे रसोपत्तिके] अलग उदाहरण देने अनावश्यक है [अर्थात् रूपकोमे यदि कही उद्दीपन सामग्रीके बिना भी रसकी प्रतीति होती है तो वहाँ नायककी अपनी समृद्धिका ज्ञान रहनेसे बिना कहे भी उद्दीपन सामग्री उपस्थित ही रहती है] ।

अभिनव०—और जो मुक्तक आदिमे अलग रूपसे [उद्दीपन सामग्रीके] न होनेपर भी रसकी प्रतीति होती है उसमे उत्तममे तो [बिना कहे भी आक्षेप द्वारा] उसकी उपस्थिति हो जानेसे चमत्कार प्रतीत होता है । और जो अनुत्तम [मुक्तक] मे उद्दीपनके परिपूर्ण न होनेपर भी चमत्कार दीखता है वहाँ एक अग [अर्थात् केवल आलम्बन विभाव] के सौन्दर्य [सौभाग्य] के प्रधान होनेसे चमत्कार प्रतीत होता है यह तात्पर्य है । न कि उन [उद्दीपन-सामग्रियो] के अभावके कारण चमत्कार होता है ।

---

१ सस्कारानवगमात् । २ तापस [तावत्] स्तत्रानुसन्धानाच्चमत्कार । ३ इयांस्तु ।
४ यथाहि—वर्धते लुनाहि परणी लुदिसिगमिहा
अमहह भुव हच दुधरी दुत्लए लघा । इति
तथा—'कम सूपे रङ्ग' इत्यादि । इतना पाठ अस्पष्ट है ।

एतैः कविनोपनिबद्धैर्नटेन च साक्षात्कारकल्पतामानीतैः सम्यगित्यविघ्नभोगात्मकः सम्भोगो रस उत्पद्यते झटित्येव । न हि गमनक्रियावत् पर्यन्ते रसनक्रिया निष्पद्यते अपितु प्रथम एवावसरे । स च विभावसाक्षात्कारात्मक एव ।

भरत०—तस्य नयनचातुरी-भ्रूक्षेप-कटाक्षसंचार ललितमधुराङ्गहार-वाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

तस्य तु 'प्रथमकक्षायामेव रसनागोचरत्वाभिमतस्य नयनचातुर्यादिभि.' अभिनय' प्रयोक्तव्य । यतस्तै 'रसनाद्याभिमुख्यं नीयते रस । अत एव तेऽभिनया अनुभावाश्च । आभिमुख्यनयनं अनुभावन च तत् । रसास्वादे समर्थाचरणमुद्दीपनम् । अत एव तदभावे विभावादिवर्णनप्रधानेऽपि काव्ये न चमत्कार. । रसनायास्तत्राभावात् ।

अभिनव०— कविके द्वारा उपनिबद्ध, और नटोंके द्वारा साक्षात्कारकल्प बनाए गए इन [विभावादि] से सम्यक् अर्थात् निर्विघ्न, भोग रूपसे सम्भोग [अर्थात् शृङ्गार] रस तुरन्त ही उत्पन्न होता है । [विभावादिके अनुभवके समकाल ही रसकी उत्पत्ति होती है] न कि गमन क्रियाके समान अन्तमे [फलप्राप्ति रूप] रसनक्रिया होती है । अपितु पहिले ही अवसरपर [रसन क्रिया होती है] और वह [प्रथम अवसर] विभावादिका साक्षात्कार रूप ही होता है ।

इसका आशय यह है 'कि देवदत्त गावको जाता है' यहाँ गमन क्रियाके फलकी प्राप्ति, अन्तमें, अर्थात् जब देवदत्त गांवमें पहुँच जाता है तब होती है । जब वह चलना प्रारम्भ करता है उस समय नहीं । परन्तु रसकी प्रतीति विभावादिकी प्रतीतिके समकाल ही होती है । गमनक्रिया के फलके समान अन्तमें नही ।

भरत०—और उस [सम्भोग-शृङ्गार] का नेत्रोंके चातुर्यसे, भौंहोंको चलाते हुए कटाक्ष से जो संचालन करना उसके द्वारा, और [ललित मन्थर] धीरे-धीरे मधुर नयनाभिराम बना कर जो अङ्गोंका सञ्चालन [उसके द्वारा तथा ललित अर्थात्] सुकुमार अर्थ वाले तथा मधुर [अर्थात्] सुननेमे प्रिय लगने वाले जो वाक्य आदि रूप अनुभावोंके द्वारा अभिनय करना चाहिए [इनमे 'ललित' पद तथा 'मधुर' पद ये अङ्गहार तथा वाक्य दोनोंके विशेषण होते हैं] ।

अभिनव०—प्रथम अवसरपर ही रसनीय रूपसे अभिमत उस [सम्भोग शृङ्गार रस] का नेत्रोके चातुर्य इत्यादिसे अभिनय करना चाहिए । क्योंकि उनके द्वारा रसको रसना [आस्वादन] के योग्य बनाया जाता है । इसलिए उन नयनोके चातुर्य इत्यादि] को 'अभिनय' तथा 'अनुभाव' [कहते] हैं । क्योंकि वे ही आभिमुख्य नयन [अर्थात् अभिनय] और अनुभावन [अर्थात् अनुभावरूप] हैं । और रसको आस्वादनमें योग्य बनाना उद्दीपन [विभाव कहलाता] है । इसलिए उन [अभिनय तथा अनुभावो] के बिना विभावादिके वर्णनका प्राधान्य जिनमे रहता है उन [श्रव्य] काव्योमे [नाटकके समान] चमत्कारकी प्रतीति नहीं होती है । क्योंकि उनमे [नाट्यके समान] आस्वादन नहीं होता है ।

---

१. कक्ष्यायामेव । २ नयनचातुर्यादिभी रसं ।

यथा कवीन्दोर्भट्टेन्दुराजस्य—

उपपरिसर गोदावर्या परित्यजताध्वगा
सरणिमपरो मार्गस्तावद् भवद्भिरवेक्ष्यताम् ।
इह हि विहितो रक्ताशोक कयापि हताशया
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाकुरकञ्चुक । इति ।

एवमन्यत्राप्युपमपद्यत इति । तस्याभिनयादियोजनीयम् ।

ननु विभावाना 'साधारण्ये कथ नियनेन एव न हिनाट्ये[1] ?

'इयास्त्वत्र[2] कविप्रयत्नसमर्प्यमाणो विशेष[3] । तद्भावात् प्रयोजकधर्मोद्रेकप्रकाशविशिष्टरसवलात्[4] प्रमुख एव विशेषविश्रान्तता याति । तथा 'हा प्रिये जनकराजपुत्रि' इत्येव श्रुते एव न रतिव्यतिरेकेण भावान्तरविभावता शक्या । एतेन 'कुणप कामिनी', इत्यादिसम्भावन प्रत्युक्तम् ।

अभिनव०—जैसे कविराज भट्ट इन्दुराजके [निम्नाङ्कित श्लोकमें]—

अभिनव०—हे पथिको ! गोदावरीके समीपवर्ती तटके मार्गको छोड़ कर आप लोग कोई दूसरा मार्ग निकाल लें क्योकि यहां किसी निराश स्त्रीने अपने चरण कमलोके प्रक्षेपसे रक्ताशोक वृक्षमें नवीन किसलयोका परिधान कराया है ।

अभि नव०—इसी प्रकार अन्यत्र भी होता है । उसका अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—[प्रश्न] अच्छा तो [अनेक रसोंमे] विभावोके साधारण [एक जैसे] होनेपर भी नाट्यमे नियमसे ऐसा ही [साधारणत्व] क्यो नहीं होता है ?

अभिनव०—[उत्तर] यही तो कविके व्यापार [अर्थात् नाट्य रचना] की विशेषता है कि जिससे उस [नाट्यजन्य अनुभावनादि रसानुकूल व्यापार] के होजाने पर [रसके] प्रयोजक धर्मोंके आविर्भाव द्वारा प्रकाशित रसके प्रभावसे [विभिन्न रसो के समान अनुभावादिकी] प्रमुख रसमे ही विश्रान्ति होती है । [साधारण्य अर्थात् अनेक रसोके साथ सम्बन्ध नहीं होता है] । जैसे—'हा प्रिये जनकराज पुत्रि' इस प्रकार [रामचन्द्रके वचनको] सुनते ही [रामचन्द्रकी सीता विषयिणी] रतिको छोड कर अन्य किसी भावकी शङ्का नहीं होती है । इससे [प्रमदादिमे] ['कुणप' अर्थात् मृतक शव], या कामिनी इस प्रकारकी [विपरीत] शङ्काका निराकरण किया है ।

परिव्राट्-कामुक शुना एकस्या प्रमदातनौ ।
कुणप कामिनी भक्ष्या इति तिस्रो विकल्पना ।

इस श्लोकका भाव यह है कि एक ही प्रमदा-शरीरसे परिव्राजकको वैराग्यजनक मृतक शरीरवत् बुद्धि होती है । कामुक पुरुष उसी प्रमदा शरीरको 'कामिनी' रूपमें देखता है और कुत्ता उसीको अपना भक्ष्य बनाना चाहता है । जैसे यहा एक ही प्रमदा शरीरमे सस्कारो द्वारा विशेष प्रकारकी बुद्धि होती है इसी प्रकार अनेक रसोमें विभावादिके एक समान होनेपर भी कविव्यापार द्वारा समर्पित विशेषताके कारण नाट्यमें प्रमुख रसमें ही उनकी विश्रान्ति होती है ।

---

१ साधारण्य कथम् । २ इचात्र । ३ समर्प्यमाणस्तेन । ४ विशिष्टसमवलात् ।

तत्र नयनचातुर्यादिना 'कान्ता' दृष्टिर्लक्ष्यते [८–४१]।[1] सभ्रूक्षेपेण चोक्तं 'भ्रुवोमूलसमुत्क्षेपात् चतुरम्' इति लक्ष्यते [८–१२१]। 'विवर्तनं कटाक्ष' इति ताराकर्म [८–१००]।

एवं च योजना—नयनानां, चातुर्येण, सभ्रूक्षेपेण कटाक्षेण च यद्यत्सचारणं, ललितं मन्थरं, मधुरं नयनाभिरामं कृत्वा यान्यङ्गानां हरणानि स्वकर्तव्यकाले, ललितानि सुकुमाराभिधेयानि मधुराणि च श्रवणसुखकराणि यानि वाक्यानि, इत्युपाङ्गाभिनय आङ्गिको वाचिकश्च लक्षितः। अत एव सामान्याभिनयाध्याये—[अ० २२] वक्ष्यमाणाशेषचेष्टाऽलङ्कारलाभ, इति ललितमधुरशब्दौ तदर्थावित्यसत्। आदिग्रहणात् सात्त्विको मुखराग-पुलकादि गृह्यते। अनुभावकत्वेन ताटस्थ्यपरिहारः। आभिमुख्यनयनेन स्वात्मैकविश्रान्तिशङ्कानिरासः। एवमुत्तरत्रापि।

अभिनव०—यहां [मूल आए हुए] नयन-चातुर्य आदिसे [८-४१ में वर्णित] 'कान्ता' दृष्टिका लक्षणासे बोध होता है। 'भ्रूक्षेप' से [८-१२१ में] कथित भौंहोंके नीचेसे ऊपर उठानेकी [विशेष शैली] का ग्रहण होता है। आँखोंको घुमाना कटाक्ष [कहलाता] है। और वह पुतलीका कार्य [८–१०० मे वर्णित] है।

अभिनव०—[मूल वाक्यके अर्थकी] योजना इस प्रकार होती है—नेत्रोंका चातुर्यसे, भौंहोंको चलाते हुए कटाक्षसे जो संचालन [उसके द्वारा], और ललित अर्थात् मन्दगतिसे, अपने करनेके उचित अवसरपर मधुर अर्थात् नयनाभिराम बनाकर, जो अङ्गोंका हिलाना—डुलाना [अंगहार उसके द्वारा], और ललित अर्थात् सुकुमार अर्थ वाले तथा मधुर अर्थात् सुननेमे प्रिय लगने वाले जो वाक्य [उनके द्वारा इस प्रकार ललित-मधुर शब्दोंका 'अङ्गहरण' तथा 'वाक्य' दोनोंके साथ सम्बन्ध होता है] इससे आङ्गिक तथा वाचिक [चक्षु तथा वाणी रूप] उपाङ्गोंके अभिनयको सूचित किया गया है। इससे ही सामान्य अभिनयके [निरूपण करने वाले २२वें] अध्यायमें कहे गए चेष्टा और अलङ्कार आदिका ग्रहण हो जाता है। इसलिए [अन्य व्याख्याकारोंने] जो 'ललित' और 'मधुर' शब्दोंको जो उन [चेष्टा अलङ्कार]का वाचक माना है वह ठीक नहीं है। ['वाक्यादिभिरनुभावैः' मे] 'आदि' शब्द का ग्रहण होनेसे मुखकी लालिमा या रोमाञ्च आदि सात्त्विक [भावों] का ग्रहण होता है। [मूल ग्रन्थमे इन नयनचातुरी आदिको 'अनुभाव' कहा है इस] अनुभावकत्वसे [उनकी तटस्थता अर्थात्] औदासीन्यका परिहार हो जाता है। और [उनको जो 'अभिनय' कहा है उस] आभिमुख्य नयन [रूप अभिनय] से केवल अपने [अर्थात् केवल अनुकार्य सीता राम आदि अथवा केवल नट] मे [रसकी] विश्रान्तिकी शङ्का का निराकरण है [सामाजिकको रस-प्रतीतिका प्रतिपादन] होता है। इसी प्रकार अन्यत्र [अर्थात् आगे कहे जाने वाले अन्य रसोमें] भी समझ लेना चाहिए।

---

१. यत्तु भ्रुवोर्मूलसमुत्क्षेपश्चतुरमिति लक्ष्यते। सभ्रूक्षेपेण चोक्तम्।

एव विभावसमय एव रसनीयस्य, अनुभावावसरेऽवस्थावेशवैरस्यास्पदस्य पश्चाद् व्यभिचारिण स्वामेव रसनीयता चित्रयन्त तदतिशय पुष्यन्तीति पश्चात्ते निरूप्यन्ते व्यभिचारिणश्चास्येति—

भरत०—व्यभिचारिणश्चास्य आलस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्याः ।

आलस्य-औग्र्य-जुगुप्सा वर्ज्यमाना येभ्यस्ते सर्वे व्यभिचारिण । अस्येति दशाद्वयमयस्य इत्यर्थ । जुगुप्सा स्थायिन्यपीह निषिद्धा [1]न्यायसिद्धस्थायिनामपि व्यभिचारित्वमनुज्ञापयति । आलस्यादि च स्वविभाव-प्रमदाविषयमेव निषिद्धम् । तेन 'वपुरलसलसद्बाहु लक्ष्म्या' [वेणी १–२] इति, तथा 'कतिचिदहानि वपुरभूत् केवलमलसेक्षण तस्या' [विक्र० ५–६] इत्यादिनामपि रूपकत्व[2] मन्तव्यम् । एव प्रयोगे काव्ये च विभावादीना क्रम एव समाश्रयणीय । [3]उत्पन्नस्य लब्धप्रतिष्ठता, तथाभूतस्य परिवारसघटनमिति हि प्रतीतिक्रमः ।

अभिनव०—इस प्रकार विभावोके [ग्रहणके] समय ही रसनीयताको प्राप्त, [उसके बाद] अनुभावोके अवसरपर [उत्पन्न] दशा विशेषके कारण [कभी कभी] विरसताको प्राप्त होने वाले [रस] की अपनी ही रसनीयताको विचित्र बनाते हुए व्यभिचारिभाव बादको उसको विशेष रूपसे पुष्ट करते हैं इसलिए 'व्यभिचारिणश्च' इत्यादि [मूल ग्रन्थ] से उनका निरूपण करते हैं—

भरत०—इस [शृगाररस] के व्यभिचारिभाव [पूर्वोक्त ३३ व्यभिचारिभावोंमेसे] आलस्य औग्र्य और जुगुप्साको छोड कर [शेष ३०] होते हैं ।

अभिनव०—आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा जिनसे पृथक् कर दी गई है ऐसे सब [अर्थात् शेष ३० शृङ्गार रसके] व्यभिचारिभाव हैं । [मूलमे आए हुए] 'अस्य' इसका अभिप्राय [सम्भोग तथा विप्रलम्भ रूप] दशाद्वयसे युक्त [शृगार] के, यह है । जुगुप्सा [वीभत्स रसका] 'स्थायिभाव' होनेपर भी यहां [शृगाररसमे] निषिद्ध मानी गई है इससे न्यायसिद्ध स्थायिभावोके भी [अन्य रसोमे] व्यभिचारित्वको बोधित करती है । [और यहां जो आलस्यका निषेध किया गया है वह] अपनी विभावभूत प्रमदादि विषयक आलस्यका ही निषेध किया गया है [यह समझना चाहिए । आलस्य मात्रका निषेध नहीं किया गया है] इसलिए 'अलसाई हुई बाहुसे युक्त लक्ष्मी का शरीर' तथा 'कुछ दिनो तक उस [नायिका] का शरीर केवल अलसाई हुई आंखोसे युक्त रहा' इत्यादिको [शृगारमे आलस्यका वर्णन होनेपर भी निर्दोष] रूपक समझना चाहिए । इस प्रकार नाटक तथा काव्यमे विभावादिके [कथित] क्रमका ही ग्रहण करना चाहिए । [क्योकि] पहिले उत्पन्न हुई वस्तु लब्धप्रतिष्ठ [अर्थात् स्थिर] होती है और उस प्रकारकी [अर्थात् स्थिर हुई] वस्तु अपने परिवारका सगठन [अपने सहायकोका सग्रह] करती है यह प्रतीतिका क्रम है ।

---

१ न्यायसिद्धा । २ इत्यादिनापि रूपक । ३ उत्पूर्वस्य ।

ननु निर्वेदादय सम्भोगे न व्यभिचारिण इत्याशंक्याह विप्रलम्भकृतस्त्विति—

भरत०—विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेद-ग्लानि-शङ्का-असूया-श्रम-चिन्ता-औत्सुक्य-निद्रा-स्वप्न-विबोध-व्याधि-उन्माद-अपस्मार-जाड्य-मरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः ।

तु शब्दो विशेषं द्योतयति । वाक्यैकवाक्यतया दु खप्रायनिर्वेदादि मुक्त्वा आलस्यादिव्यतिरिक्ताश्च सुखमया एव धृत्यादयोऽत्र व्यभिचारित्वेन सम्भोगे उपन्यस्ता इति प्रकटयति । परस्परांशोपजीवन चात्र जीवितमिति दर्शयितु 'अस्य' इत्यनुद्भिन्नमेवोक्तम् ।

तत एव च भगवदनुग्रहपवित्रवाचा कालिदासेन रघुवंशे सम्भोगविप्रलम्भात्मकव्यामिश्ररसनासम्पत्तये प्रत्यनीकोद्देशेन रामभद्रस्य स्वकर्म पूर्वावस्थावर्णनेनादृतम् ।

अभिनव०—निर्वेद आदि [दुःखप्रधान] व्यभिचारिभाव सम्भोग [शृङ्गार] में व्यभिचारी [भाव] नहीं होते हैं [उनको आपने शृंगाररसका व्यभिचारिभाव कैसे बतला दिया है ?] इस प्रकारकी शंका [कोई कर सकता है ऐसी सम्भावना] करके [उसके समाधानार्थ] कहते हैं कि विप्रलम्भ कृत [शृंगारका अभिनय] तो [उन दुःखव्यञ्जक निर्वेदादि व्यभिचारिभावोंके द्वारा करना चाहिए। अर्थात् निर्वेदादि विप्रलम्भ शृंगारके व्यभिचारिभाव होते हैं] ।

भरत०—विप्रलम्भ कृत [शृंगार] का तो निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, श्रम, चिन्ता औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, विबोध, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य, मरण, आदि अनुभावोंके द्वारा अभिनय करना चाहिए।

अभिनव०—'तु' शब्द [सम्भोग शृंगारकी अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगारके] विशेष [भेद] को सूचित करता है। [और वह भेद यह है कि यहाँ गिनाए हुए निर्वेदादि व्यभिचारिभावोंकी विप्रलम्भके प्रतिपादक] वाक्य के साथ एकवाक्यता होनेसे [विप्रलम्भसे सम्बन्ध रखने वाले] दु ख-प्रधान निर्वेदादिको छोड़कर और [शृगारमें वर्जित कहे हुए पहिले] आलस्यादिसे भिन्न [शेष] सुख-प्रधान धृति आदि ही यहाँ सम्भोग [शृगार] मे व्यभिचारित्वेन रखे गए हैं यह प्रकट करता है। इन दोनोमे [अर्थात् सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृंगारमे] एकका दूसरेपर अंशत. आश्रित रहना अपरिहार्य है इस बातको सूचित करनेकेलिए मूलमें 'अस्य' यह दोनोके बोधक अस्पष्ट पदका प्रयोग किया गया है।

अभिनव०—इसी लिए भगवती [सरस्वती] के अनुग्रहसे पवित्र वाणी वाले कालिदासने रघुवशमें सम्भोग तथा विप्रलम्भके मिश्रित रसास्वादनकेलिए [लङ्का विजयके बाद विमान मार्गसे लौटते समय] उल्टे क्रमसे [अर्थात् बादको घटनाओंका पहिले वर्णन करते हुए] रामचन्द्रजीके [illegible] और [illegible] को प्रस्तुत किया है।

निद्रान्तर्भूतोऽपि स्वप्न प्राधान्यादुपात्त. ।
'क्व नीलकण्ठ व्रजसि' इति [कुमार० ५-५४] ।
'सिविणवए विहुदोसुजपउसुमरा विउतरूढसखुआसि पुअगलगाल विउत्ति' ।
तथा—'आहूतोऽपि सहायै' इत्यादौ स एव प्राण ।

इसका अभिप्राय यह है कि रघुवशके तेरहवें सर्गमे विमान मार्गसे लोटते हुए रामचन्द्रजी सेतुवन्धसे प्रारम्भ कर अपने जीवनसे सम्बद्ध भागो तथा स्थानोका जो परिचय विमानमें बैठी हुई सीताको कराते जा रहे हैं उससे सम्भोग तथा विप्रलम्भ-शृङ्गारकी व्यामिश्र प्रतीतिका अद्भुत रसास्वाद होता है।

अभिनव०—निद्राके अन्तर्गत होनेपर भी [सम्भोग तथा विप्रलम्भकी मिश्रित प्रतीति करानेकेलिए] प्रधान होनेसे स्वप्नका [व्यभिचारिभावोमे पृथक्] ग्रहण किया है।

(१) हे [नीलकण्ठ] शिवजी ! आप [मुझे छोड़कर] कहा जा रहे हैं। इसमें
(२) सिविणवए [इत्यादि प्राकृत गाथामे] तथा—
(३) 'साथियोंके द्वारा बुलाए जानेपर भी' इत्यादि [उदाहरणो] में तो वह [सम्भोग और विप्रलम्भकी मिश्रित प्रतीति] ही प्राणस्वरूप है।

१ इनमें पहिला उदाहरण कुमारसम्भवसे लिया गया है। पूरा श्लोक निम्न प्रकार है—
त्रिभागशेषासु निशासु च क्षण निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत ।
क्व नीलकण्ठ व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ॥ कुमार ५ ५४ ।

शिवकी प्राप्तिकेलिए तपस्या करती हुई पार्वती रात्रिमें सोते समय स्वप्नमें शिवजीको अपने पास देखती है। स्वप्नमें ही वे मुझे छोडकर जा रहे हैं ऐसा देख कर उनके कल्पित गलेमें हाथ डाले हुए वह सहसा जग जाती है और 'हे नीलकण्ठ मुझ छोड कर कहाँ जा रहे हो' यह कहती हुई आँखें मलती हुई उठ बैठती है। इस प्रकार इसमे सम्भोग तथा विप्रलम्भकी मिश्रित अनुभूति होती है।

२ दूसरा उदाहरण प्राकृत गाथा अपूर्ण है।
३ तीसरा उदाहरण भी अपूर्ण दिया गया है। यह पूरा श्लोक निम्न प्रकार है—

आहूतोऽपि सहायैरेमीत्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।
गन्तुमना अपि पथिक सकोच नैव शिथिलयति ॥

कोई पथिक अपनी प्रियतमाके साथ सो रहा है। दूसरे दिन प्रात काल अपने साथियोके साथ उसे यात्रापर जाना है। सवेरे आकर उसके साथी उसे चलनेकेलिए आवाज देते हैं। उस समयकी उसकी अवस्थाका वर्णन करते हुए कवि उसका निम्नाङ्कित शब्दचित्र उपस्थित करता है—

साथियोके द्वारा [यात्रापर चलनेकेलिए] बुलाया गया, 'आ रहा हूँ' कह कर जागा हुआ, और जानेकी इच्छा वाला भी पथिक [तनिक देर और साथ रह लें इस लोभमें अपने हाथ पैरके आलिङ्गन कृत] सङ्कोचको नही छोड़ता है।

इन श्लोकोंमें सम्भोग तथा विप्रलम्भकी मिश्रित प्रतीति ही इनका प्राण है।

सम्भोगदशायान्तु विभावसान्निध्ये निद्राद्यभावाद् विवोधोऽपि व्यभिचारी। सम्भोगेऽपि रतिश्रमकृतनिद्रादि यद्यप्यस्ति तथापि न रतौ तच्चित्रतामाधत्ते। विप्रलम्भे तु तद्रतिभावनामेद.[1]। अत एव, निद्रावाहुल्यापेक्ष चेत्थमभिधानम्।

उन्मादापस्मारव्याधीनां या नात्यन्त कुत्सिता दशा सा काव्ये प्रयोगे च दर्शनीया। कुत्सिता तु सम्भवेऽपि नेति वृद्धा। वयन्तु ब्रूम.—तादृश्या दशाया स्वजीवितनिन्दात्मिकाया तद्देहोपभोगसाररत्यात्मकास्थावन्धोऽपि[2] विच्छिद्यत एवेति। सम्भाव्यमेव[3] मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यम्। येन शोकोऽवस्थानमेव न लभते।

अभिनव०—सम्भोग दशामे तो [स्त्री रूप] विभावादिके समीपस्थ होनेके कारण [वास्तवमे] निद्रादिका अभाव होनेसे विवोध भी व्यभिचारिभाव होता है। सम्भोगमें भी सुरत-श्रमके कारण यद्यपि [अल्पकालिक] निद्रादि भी होती है किन्तु उससे रति [के स्वरूप] में कोई वैचित्र्य उत्पन्न नहीं होता है [इसलिए सम्भोगमे निद्राको अनुभाव नहीं माना है]। विप्रलम्भमें तो उसके कारण रति-भावनामें भेद होता है इसलिए, और निद्राके वाहुल्यकी दृष्टिसे इस प्रकार [निद्राके अनुभावत्व] का कथन किया गया है।

अभिनव०—उन्माद, अपस्मार और व्याधि [भी विप्रलम्भ-शृङ्गारके अनुभाव होते हैं परन्तु उन] की जो अत्यन्त कुत्सित दशा न हो उसको काव्य या नाटकमें दिखलाना चाहिए। कुत्सित [मृत्यु] दशा तो सम्भव होनेपर भी नहीं दिखलानी चाहिए यह प्राचीन आचार्योंका मत है। हमारा [अभिनवगुप्तका] तो [इस विषयमे] यह कहना है कि उस प्रकारकी अपने जीवनकी निन्दात्मक दशामे तो, उस देहके द्वारा [विषयोका] उपभोग ही जिसका सार तत्त्व है इस प्रकारकी आस्थावन्धात्मक रतिका भी विच्छेद हो जाता है [इसलिए शृङ्गारका क्षेत्र ही वहां समाप्त हो जाता है]। अत एव [यदि मरणका वर्णन किया जाय तो] मरणकी सम्भावना मात्रका अथवा शीघ्र ही जिसमें फिर मिलन हो सके इस प्रकारके मरणका वर्णन करना चाहिए। जिससे शोककी स्थिति ही न हो पावे।

यदि शोक स्थिर हो जाता है तब तो विप्रलम्भ-शृङ्गारकी सीमा समाप्त होकर करुण-रसकी सीमा आ जाती है मृत्यु करुण तथा विप्रलम्भ-शृङ्गारकी सीमा रेखा है। मृत्युके पूर्व वियोगमें प्रेमियोंकी कोई भी अवस्था हो जाय वह विप्रलम्भ-शृङ्गारके अन्तर्गत रहती है। उनमेंसे किसी एककी वास्तविक मृत्यु हो जानेपर विप्रलम्भ-शृङ्गारकी सीमा समाप्त हो जाती है और करुण रसकी सीमा प्रारम्भ हो जाती है इसलिए मरणका वर्णन काव्य या नाटकमें रसविच्छेदका जनक होनेसे नही करना चाहिए। यदि किया भी जाय तो इस प्रकारसे करना चाहिए कि उससे रस-विच्छेद न होने पावे। इसके दो मार्ग है कि या तो मरणकी सम्भावना मात्रका वर्णन हो या फिर इस प्रकारसे वर्णन करना चाहिए कि जिसमें मरणके बाद शीघ्र ही दोनोंके पुनर्मिलनकी स्थिति आ जाय। उससे शोक स्थिर नही हो पाता है इसलिए रसका विच्छेद नही होता है।

---

१. तद्रतिभावनापरस्परोऽस्त नापरम्। २. [illegible]न्धोऽपि। ३. सम्भव एव।

यथा—

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जन्हुकन्यासरय्वो
देहत्यागादमरगणनालेखमासाद्य सद्य ।
पूर्वावस्थाधिकचतुरया सङ्गत कान्तयाऽसौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ।। [रघु० ८-६५]

अत एव सुकविना वाक्यभेदेनापि मरण नाख्यातम्[1]। प्रतीतिर्विश्रान्तिस्थानत्वपरिहाराय तृतीयपादेन विभावानुसन्धान[2] दर्शितम्। पुनर्ग्रहणेन स एवार्थ सुतरा द्योतित[2]।

अन्ये त्वाहु—मरणमिति न जीवितवियोग उच्यते अपितु चैतन्यावस्थैव प्राणत्यागकर्तृतात्मिका। या सम्बन्धाद्यवसरगता मन्तव्या व्यभिचारिभावत्वेनेति[3]। सुलभोदाहरणमेतदिति।

आदिशब्देन दैन्यमोहादय। एते व्यभिचारिणोऽपि स्वानुभावैरनुभाविता विप्रलम्भमनुभावयन्ति तस्मात् 'अनुभावै' इत्युक्तम्।

अभिनव०—जैसे—

अभिनव०—गङ्गा और सरयूके जलोके सङ्गमसे बने हुए तीर्थपर [अर्थात् गङ्गा और सरयूके सङ्गमपर] देह त्याग करनेके कारण तुरन्त ही देवताओकी कोटि मे सम्मिलित हो जानेसे, पूर्व आकारसे भी अधिक सौन्दर्य वाली [अप्सरा रूपिणी] कान्ता इन्दुमतीको प्राप्त कर [स्वर्गके उद्यान] नन्दन वनके भीतर स्थित क्रीडाभवनो [अज] फिर रमण करने लगे।

इसलिए सुकवि [कालिदास] ने यहाँ प्रकारान्तरसे [देहत्यागका वर्णन करके] भी मरण नहीं कहा [अपितु अमरत्वकी प्राप्तिका ही कथन किया है]। और [देहत्याग से होने वाली शोकात्मक] प्रतीतिके विश्रान्ति-स्थान [अर्थात् स्थायित्व] के परिहार करनेके लिए तृतीय चरणमे [इन्दुमती रूप] विभावकी प्राप्तिका वर्णन कर दिया है। और [चतुर्थ चरणमे] 'पुन' शब्दके ग्रहणसे फिर वही [सम्भोग रूप] अर्थ प्रतिपादित किया है। [इस प्रकार अचिरकाल-प्रत्यापत्ति रूपमें ही मरणका वर्णन हो सकता है]।

अभिनव०—दूसरे [व्याख्याकार] तो [इस विषयमे] यह कहते हैं कि [विप्रलम्भ-शृङ्गारके व्यभिचारिभावोमे जो मरण शब्द आया है उस] मरणसे जीवन की समाप्ति अभिप्रेत नहीं है अपितु इससे प्राणत्याग कर्तृत्ता रूप चैतन्यावस्था ही अभिप्रेत है। जो सम्बन्ध और अवसरके अनुरूप व्यभिचारिभाव रूपसे समझनी चाहिए। [अर्थात् प्राणत्याग करनेके लिए उद्यत हो जाने रूप मरणका ही वर्णन विप्रलम्भमे किया जा सकता है] इस प्रकारके उदाहरण बहुत मिल सकते हैं।

अभिनव०—आदि शब्दसे दैन्य मोह आदि [का ग्रहण होता है]। ये व्यभिचारी [भाव] भी अपने अनुभावोके द्वारा अनुभूत होकर विप्रलम्भका अनुभव कराते हैं। इसलिए ['मरणादिभिरनुभावै में] 'अनुभावै' यह कहा है।

---

१ मरणमाख्यातम्। २. अनुसन्धानक। घोदित। ३ व्यभिचारिभावेनेति।

अन्ये तु आदिशब्द करुणवाचिनमाश्रित्य तदीयानुभावान् प्राधान्येन दर्शयन्ति। एकशेषेण द्वयमप्यन्ये।

'विप्रलम्भे विडम्बन सिद्धम्। इह तूपचारात्तदीय फल विरहात्मक गृह्यते। न हि परस्पर रतिमतोर्विडम्बनमस्ति। तेन विरहेण कृता सुष्ठुता' दर्शयन् मुनिरनेन विना शृङ्गारो न प्रयोगे न काव्ये हृद्यतामवलम्बते इति दर्शयति। तथाहि सम्भोगेऽप्येकघनशर्करास्वादस्थानीयतापरिहाराय वैषम्यं गोत्रस्खलित, स्पर्धामन्यद्वा कलहविप्रलम्भहेतुभूत कवयो निबध्नन्ति। 'वामो हि काम.' [काम० २-७-१] इति वात्स्यायनादिभिरभिहितम्। मुनिनापि वक्ष्यते 'यद्वामाभिनिवेशित्वमिति'। [२२-२०७]

एते च व्यभिचारिणो विद्युदुन्मेष-निमेषयुक्त्यैव स्थायिसूत्रमध्ये प्रकटयन्तस्तिरो दधतश्च तद्वैचित्र्यमावहन्ति न तु स्थिराः। यद्यपि स्थाय्यपि न स्थिर, तथापि संस्कार रूपतया, धारावाहिसजातीयप्रवाहरूपतया च स्थिर एव। व्यभिचारिणस्तु नैव क्षणमपि भवन्ति। सस्कारमपि स्वक स्थायिसस्कार एव प्रौढयन्ति। तथैव स्मरणाच्च।

अभिनव०—दूसरे लोग आदि शब्दको करुणवाचक मान कर [विप्रलम्भमें भी] उसके अनुभावोको प्रधान रूपसे प्रदर्शित करते हैं। अन्य [तीसरे व्याख्याकार] लोग [आदि शब्दसे] एकशेष मान कर दोनोका ग्रहण मानते हैं।

अभिनव०—विप्रलम्भमे [विडम्बन] हताश करना सिद्ध ही होता है किन्तु यहां [सम्भोग शृङ्गारमे लक्षणा] उपचारसे उसका फल अर्थात् विरहका ग्रहण होता है। क्योकि एक दूसरेसे प्रेम करने वालोमे [वास्तविक] हताश करना सम्भव नहीं है। इसलिए उस विरहके द्वारा उत्पन्न [शृङ्गार रसके] सौन्दर्यको दिखलाते हुए [भरत] मुनि उस [विरह] के विना शृङ्गार रस न काव्यमे हृदयग्राही होता है और न नाटकमे। इस वातको सूचित करते हैं। इसलिए सम्भोगमे एक दम मीठे ही मीठे की समानताके परिहारके लिए गोत्रस्खलन आदि जन्य ईर्ष्या अथवा अन्य प्रकारके कलह-विप्रलम्भके कारण स्वरूप वैषम्यकी रचना कवि लोग करते हैं। इसलिए वात्स्यायन आदिने भी 'काम उल्टा होता हैं' यह कहा है। और [भरत] मुनि भी [अ० २२-१२३ मे] कहेंगे कि [काम उल्टा] 'वामाभिनिवेशी' होता है।

अभिनव०—ये व्यभिचारिभाव बिजलीके चमकने और लुप्त हो जानेके समान स्थायिभाव रूप सूत्रमे प्रकट होते और अस्त होते हुए ही उस [स्थायिभाव] के सौन्दर्यके आधायक होते हैं, स्थिर रूपसे नहीं। यद्यपि स्थायिभाव भी सदा रहने वाला [स्थिर] नहीं होता है, फिर भी संस्कार रूपसे, और धारावाही सजातीय प्रवाह रूपसे स्थिर ही होता है। किन्तु व्यभिचारिभाव तो इस रूपमें भी तनिक देर भी स्थिर नहीं रहते हैं। और अपने संस्कारको भी उसी प्रकार स्मरण होनेसे भी स्थायिभावके संस्कारमे ही [विलीन कर उसीको] पुष्ट करते हैं।

---

१. विप्रलम्भो। २. सुष्ठुतमां प्रोषित इति।

तेन व्यभिचारिषु पृथक्पृथग् यै कैश्चिदुदाहृत तन्न तन्त्रन्यायानुपाति ।

तथाहि—धृतौ यदुदाहृत "असम्भाव्य दैवात्" इत्यादि तत्रापि हर्ष-विस्मय-गर्व-मतिप्रभृतीना च तातेति मामिति वलितेत्यादिसूचिताना सम्भार एव । 'किमपर त्रैलोक्य' इत्यादौ चावान्तरवाक्यारम्भे स्मृतिप्रभृतिभि सर्वत्र भाव्यम् । अन्यथा हि धृत्यैकवचनत्वे सर्वत्र श्लोकार्थे दृष्टिरेकैव चित्रन्यस्तेव भवेत् । "अस्या सर्गविधौ" [विक्रमोर्वशीयम् १-१०] इत्यत्राप्यवान्तरवाक्यसमाप्तौ धृति-हर्ष-विस्मयादयो भवन्त्येव । अत एव विच्छिद्य विच्छिद्य वितर्कान्तिर समुदेति । न तु व्यभिचारी क्षण-मप्यवतिष्ठते । 'चल हि गुणवृत्तम्' इति हि तत्रभवन्त । अत एव प्रयोगवैचित्र्यम् । अन्यथाऽवैचित्र्यात् स एव प्रयोग स्यात् । मध्येऽन्ते चाश्रया स्फुटा । ते च [1]विस्मय धृतिप्रभृतीश्च द्योतयन्ति । इत्यास्तामेतत् ।

अभिनव०—इसलिए जो किन्हीं [व्याख्याकारो आदि] ने व्यभिचारिभावोके अलग-अलग उदाहरण दिए हैं वह [कार्य] शास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार नहीं है ।

अभिनव०—जैसे कि [धृतिके उदाहरण रूपमे] जो 'असम्भाव्य दैवात्' इत्यादि [पद्य] दिया गया है उसमे भी [केवल धृति ही नहीं है अपितु उसके साथ] 'तात', इस 'माम्', इस और 'वलित' इत्यादि पदोसे सूचित हर्ष, विस्मय, गर्व, मति इत्यादि [अनेक व्यभिचारिभावो] का समुदाय ही विद्यमान है । 'किमपर त्रैलोक्यम्' इत्यादिमे अवान्तर वाक्यके आरम्भमे भी स्मृति आदि [अनेक व्यभिचारिभाव] सर्वत्र उपस्थित होने चाहिए । अन्यथा यदि केवल एक मात्र धृतिका ही कथन हो तो सारे श्लोकके अर्थमे चित्रलिखित सी सदा एक ही [अर्थ विषयक] दृष्टि रहेगी । [उसमे जो अनेक अर्थोंकी प्रतीति होती है वह नहीं हो सकेगी] । 'अस्या सर्गविधौ' इत्यादि [विक्रमोर्वशीयके १-१०वें श्लोक] मे भी अवान्तर वाक्योकी समाप्तिपर धृति, हर्ष, विस्मय, आदि होते ही हैं । इसीलिए [धृति, विस्मयादि मेसे एक-एक भाव] टूट-टूट कर दूसरे वितर्कका उदय होता है । किन्तु कोई व्यभि-चारी [भाव] क्षण भर भी स्थिर नहीं रहता है । [सत्त्व रज और तमोगुण रूप] गुणोका स्वभाव चल [प्रतिक्षण परिवर्तनशील] है यह [सांख्य शास्त्रके] आचार्यों का मत है । इसीलिए प्रयोगमे भेद होता है अन्यथा [यदि इन व्यभिचारिभावोमे भेद न हो तो] भेद न होनेसे उसी [एक] प्रकारका अभिनय [प्रयोग] हो । [ऊपर उद्धृत 'असम्भाव्य दैवात्' इत्यादि श्लोकके] मध्य और अन्तमे [धृति, विस्मय आदि व्यभिचारिभावोके] आश्रय स्पष्ट हैं और वे विस्मय एव धृति आदि को सूचित करते है ।

यहां एक ही श्लोकमें अनेक व्यभिचारिभावोंके सकरके दिखलानेकेलिए जो उदाहरण दिए हैं उनमें से 'असम्भाव्य दैवात्' और 'किमपर त्रैलोक्य' इत्यादि प्रथम श्लोक कहांसे लिए गए

---

१. विस्मयधृतिप्रभृतीत्यास्तामेतत् ।

वाक्यैकवाक्यत्वेनावस्थाद्वयस्यूतस्य शृङ्गारस्य यत्स्वरूपमुक्तमेतदेव परिशोधयितुं पूर्वपक्षयति अत्राहेति—

भरत०—अत्राह—यद्ययं रतिप्रभवः शृङ्गारः कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति ?

करुणाविषये आश्रयणं विद्यते येषां भूम्ना। 'अत एव 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीय.' इतीह बाधकं नाश्रितम्। भूमा दहति पूर्वपक्षस्य प्राणितम्।

हैं यह पता नहीं चलता है और न पूरे श्लोक यहाँ उद्धृत किए गए हैं। 'अस्याः सर्गविधौ' इत्यादि श्लोक विक्रमोर्वशीय नाटकसे लिया गया है।

अभिनव०—[सम्भोग-शृङ्गार तथा विप्रलम्भ-शृङ्गारके प्रतिपादक पूर्वोक्त] वाक्योंकी एकवाक्यता [परस्पर सम्बन्ध] से दोनों अवस्थाओंमे रहने वाले शृङ्गारका जो स्वरूप कहा है उसीको और स्पष्ट करनेके लिए 'अत्राह' इत्यादिसे पूर्व पक्ष उठाते हैं—

भरत०—यहाँपर यह शङ्का होती है [अत्राह] कि यदि यह शृंगार रतिसे उत्पन्न होता है तो करुण रसमे रहने वाले [निर्वेदादि] भाव इसमे कैसे होते हैं ?

अभिनव—करुण विषयमे जिनका अधिकतर आश्रय रहता है वे [करुणाश्रयी होते हैं यह 'करुणाश्रयिण.' पद का विग्रह करना चाहिए] इसलिए [सिद्धान्त पक्षमे कर्मधारय और उससे मत्वर्थीय इनि-प्रत्यय की प्रक्रिया का निषेध करने वाले] "न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः, [बहुव्रीहिश्चेत् तदर्थप्रतिपत्तिकरः]" इस नियमको यहां ['करुणाश्रयिणः' पदकी रचनामे] बाधक नहीं माना गया है। क्योंकि [कर्मधारय से मत्वर्थीय-प्रत्यय द्वारा सूचित करुणरसके अनुभावोंका] 'आधिक्य' पूर्वपक्षके प्राणोंको ही भस्म कर देता है।

इस अनुच्छेदका 'करुणाश्रयिण' पद व्याकरणकी दृष्टिसे विशेष महत्वका है। इस पदकी सिद्धिमें दो प्रक्रियाओंका अवलम्बन करना होता है। पहिले तो 'करुणश्चासौ आश्रय. करुणाश्रय' इस प्रकार कर्मधारय किया जाता है। फिर उसमे 'सोऽस्यास्तीति' इस विग्रहमें मत्वर्थीय—इनि-प्रत्यय करके 'करुणाश्रयी' पद बनाया जाता है।

परन्तु यह पद्धति सामान्य रूपसे व्याकरणके अनुसार उचित नहीं है। क्योंकि 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीय बहुव्रीहिश्चेत् तदर्थप्रतिपत्तिकर.' यदि बहुव्रीहि समाससे उसी अर्थकी प्रतीति हो जाय जो कर्मधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय करनेपर प्रतीत होता है तो कर्मधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं करना चाहिए। यह व्याकरणका सामान्य नियम है। इसी आधारपर यहाँ यह पूर्व पक्ष उठाया गया है कि यहां कर्मधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं करना चाहिए क्योंकि उसके करनेपर जो अर्थ प्रतीत होता है वही अर्थ बहुव्रीहि समाससे भी प्रतीत हो सकता है। बहुव्रीहि समासका रूप यह होगा कि 'करुण आश्रयो यस्य स· करुणाश्रय.'। कर्मधारयसे मत्वर्थीय-प्रत्यय करनेपर

१. 'अतएव कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्यामितीह नाश्रितम्। भूम्ना दहति ह्यत्र [वर्त्ततीत्यत्र] पूर्वपक्षस्य प्राणितम्।

भरत०—अत्रोच्यते—'पूर्वमेवाभिहितं सम्भोगविप्रलम्भकृतः शृङ्गार इति । वैशिकशास्त्रकारैश्च दशावस्थोऽभिहितः । ताश्च सामान्याभिनये वक्ष्याम ।

ननु त्वयोक्तमसदेवास्त्वित्याशङ्क्याह-वैशिकेत्यादि । वेशो वेश्यावर्ग करण च सम्भोगात्मकम् । तत्प्रयोजन शास्त्र कामसूत्र ये कृतवन्तस्तै । शृङ्गारो दशभिरभिलषितादिभिर्मरणान्ताभिरवस्थाभिर्युक्तो दर्शित ।

'करुणाश्रयी' पद बनता है और बहुव्रीहि समास करनेपर 'करुणाश्रय' पद बनता है। अर्थ दोनो का एक ही होता है। इसलिए 'करुणाश्रयिण' पदका प्रयोग न करके 'करुणाश्रया' पदका प्रयोग करना चाहिए। यह पूर्वपक्षका आशय है।

सिद्धान्तपक्षका कहना यह है कि कर्मधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय करनेका निषेध उसी अवस्था मे किया गया है जब बहुव्रीहि समाससे भी ठीक वही अर्थ निकल सकता हो जो कर्मधारयसे मत्वर्थीय प्रत्यय करनेपर होता है। परन्तु यहाँ मत्वर्थीय प्रत्यय करनेपर जो अर्थ प्रतीत होता है वह बहुव्रीहि समाससे उपस्थित होने वाले अर्थकी अपेक्षा अधिक है। बहुव्रीहि समासमें 'करुण' आश्रयो येषा' इस विग्रहसे तो केवल करुण रस और भावोका आश्रयाश्रयिभाव मात्र ही बोधित होता है। परन्तु कर्मधारयसे मत्वर्थीय इनि प्रत्यय करनेपर 'नित्ययोगेऽतिशायने भवन्ति मतुबादय' इस नियमके अनुसार 'भूमा' या अतिशय अधिक बोधित होता है। इसी अधिक्यके द्योतनकेलिए 'करुणाश्रयिण' पदका प्रयोग किया गया है। 'भूमा दहति पूर्वपक्षस्य प्राणितम्' इस पक्तिका आशय यही है कि कर्मधारय समासके बाद मत्वर्थीय इनि-प्रत्यय द्वारा बोधित 'भूमा' या अधिक्य ही पूर्वपक्षको निष्प्राण बना कर समाप्त कर देता है।

भरत०—उसका [आपके पूछे हुए प्रश्नका] उत्तर यह है कि शृ गार सम्भोग तथा विप्रलम्भकृत [दो प्रकारका] होता है यह पहिले ही कह चुके हैं। [इनमेसे जो विप्रलम्भ या विरहकृत शृ गार है उसमे करुण रसके समान निर्वेदादि व्यभिचारिभाव भी होते हैं। यह न केवल हमही नही मानते हैं अपितु] कामशास्त्रके आचार्य [वात्स्यायान आदि] ने भी [कामकी] दश अवस्थाओ का कथन किया है। [उनमे करुण सम्बन्धी अवस्थाओका भी उल्लेख शृङ्गाररसमे पाया जाता है] उन [दश कामावस्थाओं] को सामान्यभिनयके प्रसगमे आगे कहेगे।

अभिनव०—[शायद पूर्वपक्षी यह कहे कि] तुम्हारी कही हुई बात अप्रामाणिक ही हो, ऐसी आशङ्का करके [उसके समाधानार्थ] 'वैशिक' इत्यादिसे [कामशास्त्रकारोका प्रमाण इस विषयमे] कहते हैं [वैशिक' शब्दका विग्रह 'वेश करण प्रयोजन वास्य शास्त्रस्य तत् वैशिक कामशास्त्रम्' यह होता है। इसमे] वेश [शब्दका अर्थ] वेश्यावर्ग है। और करण [का अर्थ] सम्भोगात्मक है। वह जिसका प्रयोजन है वह वैशिक शास्त्र [कामशास्त्र हुआ]। उस कामशास्त्रकी जिन्होने बनाया है उन [कामशास्त्रके प्रणेताओ] ने अभिलापसे लेकर मरण पर्यन्त दश अवस्थाओसे युक्त शृगाररस को दिखलाया है।

---

१ ननु पूर्व । २ न व वंशेषिक । द. वंशेषिकशास्त्रकारेण । म. शास्त्रैश्च । त. अ इव वाक्य नास्ति । म ताश्चावस्था ।

अवस्थाग्रहणेन तावन्तो वहवो विप्रलम्भा इत्याशङ्कां निराकरोति। तेन चिन्तादयोऽपि व्यभिचारित्वेन रतेस्तैरनुज्ञाता इति तात्पर्यम्। चकारेणेदमाह परस्परास्थावन्धात्मके रतिरूपे स्थिते सति तदङ्गभूता दशावस्था विप्रलम्भाङ्गम्। यथोदयनस्य चित्रफलकावलोकनत प्रभृति।

ननु तत्रापि रति क्व 'तद्विषयस्यानवगमात् ?

न हि चित्रमात्र, नलिनीसस्तरादे. साक्षिणो विद्यमानत्वात्। आकृत्या च काम्यमानतौचित्यस्य लाभात्। यदि पर नाम तज्ज्ञास्तत्कुत्रोपयोगीति।

कामशास्त्रमें कही हुई कामकी निम्नाकित दश दशाए मानी जाती हैं—

नयनप्रीतिः प्रथम चित्तासगस्ततोऽथ सकल्पः।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाश ॥
उन्मादो मूर्छा मृतिरित्येता. स्मरदशाः दशैव स्यु ।

अभिनव०—अवस्था पदके ग्रहणसे उतने वहुतसे [अर्थात् दश प्रकारके] विप्रलम्भ [शृङ्गार अलग-अलग] होते हैं इस शङ्काका निराकरण किया गया है। इसलिए उन्होने [अर्थात् कामशास्त्रके आचार्योने] चिन्तादिको भी रतिके व्यभिचारिभावके रूप रूपमें स्वीकार किया है यह तात्पर्य है। [वैशिकशास्त्रकारैश्च मे] चकारके ग्रहणसे परस्पर आस्थावन्ध रूप रतिके विद्यमान होनेपर उस [रति] की अङ्गभूत दश अवस्थाए विप्रलम्भका अङ्ग होती है यह वात कही है। जैसे रत्नावली [नाटिका] मे [सागरिका के] चित्रको देखनेसे प्रारम्भ करके उदयनकी [दश दशाओका वर्णन है]।

अभिनव०—[प्रश्न]—वहाँ [अर्थात् रत्नावलीके द्वितीय अङ्क के इस प्रसङ्गमे] भी उस [रति] के विषय[वास्तविक सागरिका]के उपलब्ध न होने से रति कहाँ है ? [अर्थात् राजा उदयन को तो कदली कुञ्जमे केवल चित्रफलक ही प्राप्त हुआ था सागरिका तो उसने देखी नहीं थी उसको चित्रमात्रसे रति कैसे उत्पन्न हो सकती है यह प्रश्न का आशय है। इसका उत्तर देते हैं कि]—

अभिनव०—[उत्तर] वहाँ केवल चित्रमात्र ही नहीं है अपितु [सागरिकाकी काम सन्तप्तावस्था और कुछ देर पूर्व उस कदली कुञ्जमे उपस्थितिके] साक्षी रूप कमलिनीके [पत्तोसे वनाए गए] विस्तर आदिके विद्यमान होनेसे। और [उस विस्तरपर वनी हुई कामसन्तप्त सागरिकाके शरीर आदि की] आकृतिसे [सगरिका की] काम्यमानताके औचित्यकी सिद्धि हो जानेसे [सागरिकाके विषयमे उदयनकी रतिका उदय उचित है। क्योकि यह सव सामग्री] किस कार्यमें उपयोगी हो सकती है इस विषयमे केवल उसको जानने वाले ही प्रमाण हो सकते हैं।

रत्नावली नाटिकाको आख्यान-वस्तु उदयन, वासवदत्ता और सागरिका की प्रेम कथा है। उदयन राजा इस कथाके नायक हैं। वासवदत्ता उनकी पत्नी हैं। और यौगन्धरायण उनके

---

१. तस्यविषयस्य।

[illegible] सागरिकायामपि । तदु-
[illegible] सर्वेषामपि गम्यत ।" इति।

[illegible] और उसे [illegible] अधिकार हो [illegible] राजा उदयनका [illegible] राजा उदयन [illegible] प्रेम [illegible] हो जाते हैं । [illegible] रक्षामें छोड जाते [illegible] हो जाती है । उसने राजाका एक चित्र [illegible] उदयनके साथ सागरिकाका भी चित्र बना [illegible] सागरिका [illegible] सुसङ्गता कदली कुञ्जमें बैठी बाते कर रही हैं । [illegible] । इसी बीचमें एक पालतू बन्दर छूट कर उपद्रव मचाता हुआ उधर [illegible] और ये दोनो डर कर कुञ्जसे निकल कर चली जाती हैं । चित्र वही छूट जाता है । राजा उदयन विदूषकके साथ उसी उद्यानमे नवमालिका लताको देखने केलिए आते हैं । सागरिकाके साथ पिजडेमें एक मैना भी थी जो उन लोगोकी बात सुन रही थी । इस बीच वह मैना पिजडेसे निकल गई और पेडपर बैठी हुई सागरिकाकी बातोको दोहरा रही है । उदयन और विदूषक उस सारिकाके मुखसे सागरिकाकी सारी कथाको सुनते हैं । फिर कदली-कुञ्जमे जानेपर विदूषकको उस चित्रकी प्राप्ति हो जाती है । इस दशामें वह चित्रमात्र भी रतिका जनक हो सकता है । उसके साथकी सारी सामग्री निश्चित रूपसे रतिजनक है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । इसमें सारिकाके मुखसे सुना हुआ सागरिकाका यह कथन कि—

दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।
प्रियसखि विषम प्रेम मरण शरण नु वरमेकम् ।।

और कदली कुञ्जमें कमलिनी पत्रोकी शय्याको देख कर राजा उदयनका निम्न कथन—

परिम्लान पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इद व्यस्तन्यास श्लथभुजलताक्षेपवलनै
कृशाङ्गचा सन्ताप वदति विसिनीपत्रशयनम् ।। २ रत्ना० २, १२ ।

इत्यादि सब ही सामग्री रतिकी उद्बोधिका है ।

साधारणत कामकी दश अवस्थाए कही गई हैं । जब दोनों ओरसे अनुराग होता है तब रतिके वस्तुत विद्यमान होनेसे ये दशो दशाए विप्रलम्भ-शृङ्गारका अङ्ग होती है । परन्तु जब दोनो ओरसे रति नही होती है तब उनको विप्रलम्भका अङ्ग नही कहा जा सकता है । उस समय उनकी स्वतन्त्र स्थिति होती है । जैसे बालरामायणमें रावणकी दश दशाओका वर्णन है । इसी बातको अगली पक्तिमें कहते हैं—

अभिनव०—जब [दोनो ओरसे रति न होनेके कारण दश दशाओको] विप्रलम्भका अङ्ग नही होती हैं तब उनकी स्वतन्त्रता भी होती है जैसे [बालरामायणमे] रावणकी [दश दशाए विप्रलम्भका अङ्ग न हो कर स्वतत्र ही है] यही बात हमारे [अर्थात् ग्रन्थकार अभिनवगुप्तके] गुरु भट्टतोतने कही है—"स्वतत्र रूपसे प्रवृत होने पर तो सब प्राणियोमे [कामकी दश दशाओका होना] सम्भव है ।"

नन्वेव व्यभिचार्यभेदात् करुणः कथ विप्रलम्भाद् भिद्यत इत्याशक्याह करुणस्त्विति—

भरत०—करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजन-विभवनाश-वध-बन्ध-समुत्थो निरपेक्षभावः ।

अधमप्रकृतेस्तावन्न विप्रलम्भ स्थाय्यभावात् । तदभावो विभावसामग्री-वैकल्यादिति । तत्र तावत् करुणः पृथक लब्धप्रतिष्ठ एव ।

उत्तमप्रकृतावपि रतिविपरीत. शोक. करुणे स्थायी । अत एवाह 'निरपेक्ष'. बन्धुजनादिविषये यापेक्षा रताविवालम्बन यथोक्तम्—

'आशाबन्ध. कुसुमसदशः प्रायशो ह्यङ्गनानाम्' इति [मेघ—१०]

अभिनव०—[प्रश्न] इस प्रकार [करुण तथा विप्रलम्भ दोनोमें] व्यभिचारि-भावोंके अभिन्न [समान] होनेसे करुणका विप्रलम्भ शृङ्गारसे भेद कैसे होता है इस प्रकारकी आशका [हो सकती है ऐसा समझ] करके [उसके समाधानार्थ करुण तथा विप्रलम्भका भेद अगली पक्तियोमे] 'करुणस्तु' इत्यादिसे कहते हैं—

भरत०—शाप के क्लेशमे पड़े हुए इष्ट जनके विभवनाश 'वध' अथवा बन्धन आदिसे उत्पन्न निरपेक्षाभाव वाला तो करुण होता है ।

अभिनव०—अधम प्रकृतिमें [स्त्री पुरुषके वियोगके बाद रति रूप] स्थायि-भावके न रहनेसे विप्रलम्भ-शृङ्गार नही होता है । [प्रेयसीत्वादि रूप] विभाव सामग्री का अभाव होनेसे उस [रत्यादि रूप स्थायिभाव] का अभाव होता है । [अर्थात् अधम पुरुषका स्त्रीके साथ स्थायी सम्बन्ध नहीं होता इसलिए उनमे रति रूप स्थायिभाव वियोग कालमे न रहनेसे विप्रलम्भ-शृङ्गार नहीं होता है परन्तु] उनमें [शोक स्थायि-भाव वाला] करुण रस अलगसे प्रतिष्ठित होता ही है । [इसलिए भी करुण रस विप्रलम्भसे भिन्न होता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है] ।

अभिनव०—और उत्तम प्रकृति [के पुरुषों] में भी रतिसे विपरीत शोक करुण रसमे स्थायिभाव [के रूपमे विद्यमान] रहता है । इसीलिए [करुण तथा विप्रलम्भके भेदका स्पष्टीकरण करनेकेलिए मूल ग्रन्थमें 'करुणका] 'निरपेक्षभाव' कहा है । [निरपेक्षभावः का अर्थ यह है कि] बन्धु जनादिके विषयमे जो [अपेक्षा अर्थात्] आशा जैसे रतिमें आलम्बन विभाव [सीतादि] की अपेक्षा रहती है । [वह शृङ्गार रसका 'सापेक्षभाव' है । करुणमें प्रियकी मृत्यु हो जानेसे वह आशा नहीं रहती है अत उसे 'निरपेक्षभाव' कहा है] जैसा कि [मेघदूतमे कालिदासने आशा या अपेक्षाका उल्लेख करते हुए] कहा है कि—

अभिनव०—स्त्रियोंका आशा-सूत्र प्रायः कुसुमके समान [कोमल] होता है ।

यह आशातन्तु विप्रलम्भमें तो विद्यमान रहता है । परन्तु करुण रसमें वह पुनर्मिलनका आशातन्तु सर्वथा भग्न हो जाता है । इसलिए करुणको 'निरपेक्षभाव' अर्थात् अपेक्षा या आशासे रहित नैराश्य-प्रधान भाव कहा है । और विप्रलम्भको 'सापेक्षभाव' कहा है ।

ततो निष्क्रान्तो भावः शोकाख्यो यस्मिन्। शापक्लेशे विनिपतितस्येष्टजनस्य यो विभवनाशो, वधो, बन्धो वा ततः समुत्थानं यस्य। शापग्रहणेनाप्रतिकार्यत्वे सत्युत्तम-प्रकृतेः शोकोदयस्थानमेतदिति दर्शयति। अन्यथोत्साहक्रोधादिविभावता स्यात्। शोकत्वमेव च पराकर्तुं कविकुलचक्रवर्तिना पुरूरवस उर्वशीशापप्राप्तिरनुपलक्षितत्वेन निबद्धा।

एवं विभाव-स्थायिविभेदो दर्शितः। ये चैते निर्वेदादयस्तेऽपि वस्तुतो रत्यननु-गृहीता निरपेक्षाच्छोकाद् भवन्तो, अन्ये एव। ततोऽप्याह 'निरपेक्ष' इति।

एवं प्रसङ्गात् करुणस्य स्वरूपमभिधाय प्रकृते योजयति औत्सुक्यचिन्तेति।

अभिनव०—उस [सापेक्षभाव] से निष्क्रान्त [अर्थात् रहित] शोक रूप भाव जिसमे है [वह निरपेक्षभाव रूप करुण है]। शापके क्लेशमे पड़े हुए इष्टजनका जो विभवनाश, वध, अथवा बन्धन उससे जिस [निरपेक्षभाव या नैराश्य] की उत्पत्ति होती है [उस प्रकारका निरपेक्षभाव या नैराश्यपूर्ण करुण रस होता है]। शापके ग्रहण करनेसे उसके प्रतीकारका कोई मार्ग सम्भव न होनसे उत्तम प्रकृतिकेलिए वह केवल शोकोदयका ही कारण हो सकता है यह बात सूचित की है। अन्यथा [इष्टजन का वह बध, बन्धादि शाप-जन्य न होता और किसी प्रकारसे उसका प्रतिकार सम्भव होता तो शोकका उदय न होकर] वह [वध-बन्धादि वीर रसके स्थायिभाव] उत्साह अथवा [रौद्र रसके स्थायिभाव] क्रोधका विभाव बनता। [विक्रमोर्वशीयमे करुणकी नही विप्रलम्भ शृङ्गारकी स्थिति रखनी है इसी लिए उर्वशीके स्वर्गको चले जानेपर] पुरूरवाके शोकको हटानेकेलिए ही कविकुलचक्रवर्ती महाकवि कालिदासने उर्वशीके शाप प्राप्तिका [पुरुरवाको] पता न चल सके इस प्रकारसे उल्लेख किया है।

अर्थात् उर्वशी वस्तुत शापवश भूलोकमें आकर कुछ समय पुरूरवाके साथ रही। शाप की अवधि समाप्त हो जानेपर वह स्वर्ग चली गई। उसके चले जानेके बाद पुरूरवा उसके वियोगमें उन्मत्त हो उठते हैं। इसी रूपमें विप्रलम्भका चरम परिपाक होता है। यदि पुरूरवाको उर्वशीके शापका ज्ञान हो जाता तो उस वियोगको अप्रतीकार्य मान कर शोकके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग न रहता और उस दशामें विप्रलम्भका परिपाक न हो सकता था। इसीलिए शोकको बचानेके लिए महाकवि कालिदासने अनुपलक्षित रूपसे उर्वशीके शापका उल्लेख किया है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

अभिनव०—इस प्रकार [करुण तथा विप्रलम्भ-शृङ्गारके] विभावो तथा स्थायिभावोका भेद दिखलाया है। और जो [करुण रसमे] ये निर्वेदादि [व्यभिचारि-भाव] होते हैं वे भी रतिसे असम्बद्ध [अननुगृहीत] निरपेक्ष [नैराश्यमय] शोकसे होनेके कारण भिन्न ही होते हैं। इसलिए भी [करुण रसको] 'निरपेक्षभाव' कहा है।

अभिनव०—इस प्रकार प्रसङ्गसे करुण रसके स्वरूपको कह कर [करुण तथा विप्रलम्भका भेद दिखलानेकेलिए] 'औत्सुक्य' इत्यादि [अगली पक्ति] से प्रकृतमे उसकी योजना करते हैं—

भरत०—औत्सुक्य-चिन्तासमुत्थ सापेक्षभावो विप्रलम्भकृत । एवमन्य करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति । एवमेष सर्वभावसंयुक्तः शृङ्गारो भवति ।

चिन्ताशब्दोऽशेषनिर्वेदाद्युपलक्षणम् । औत्सुक्यप्रधाना ये चिन्तादयस्तेभ्यः सम्यगुत्थान विजृम्भो यस्य । अत एव सापेक्षो यत्र रत्याख्यो भाव । ते च सापेक्षाद् रत्याख्याद् भवन्ति । न हि विप्रलम्भे विभावः स्थायी च सम्भोगाद् भिद्यते । एक एवासाविति वहुश उक्तम् ।

एतदुक्त भवति—औत्सुक्य विपयोन्मुख्यम् । तच्च नष्टे विपये न सम्भवति । एवं परीक्ष्य, परीक्षाफलमुपसंहरति 'एवमेप' इति । शृङ्गार इत्येकवचनेन एक एव शृङ्गार इत्युपसहृतम् ।

एव सूत्रार्थे परीक्ष्य स्थापिते तदर्थस्य सुखग्रहणार्थं सूत्रार्थविवरणरूपत्वात् सूत्रसमीपेऽप्युपचितपाठात् कारिकामधुना पठति 'अपि च' इति । न केवल सूत्र परीक्षापि

भरत०—औत्सुक्य और चिन्तासे उत्पन्न सापेक्षभाव [आशामय भाव] विप्रलम्भके कारण होता है । इस प्रकार करुण रस अलग है और विप्रलम्भ अलग है [अर्थात् करुण तथा विप्रलम्भ दोनो विल्कुल अलग-अलग रस हैं] । इस प्रकार [आलस्य, उग्रता और जुगुप्साको छोड कर] सव भावोसे युक्त यह शृङ्गार होता है ।

अभिनव०—यहाँ चिन्ता शब्द निर्वेदादि [विप्रलम्भके] समस्त [व्यभिचारि-भावोंका उपलक्षण है । औत्सुक्य प्रधान जो चिन्ता आदि उनसे जिसकी उत्पत्ति होती है [वह 'औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः' हुआ] । इसीलिए [अर्थात् औत्सुक्य तथा चिन्तासे उत्पन्न होनेके कारण] जिसमे रति रूप भाव सापेक्ष [आशान्वित] होता है [वह विप्रलम्भ-शृङ्गार है] । और वे [चिन्तादि] सापेक्ष [आशान्वित] रतिसे होते हैं । इसलिए विप्रलम्भमे स्थायिभाव और विभाव सम्भोग [के स्थायिभाव तथा विभावों] से भिन्न नहीं होते हैं । अपितु [सम्भोग तथा विप्रलम्भ दोनोके स्थायिभाव तथा विभाव] एक ही होते हैं यह वात अनेक वार कह चुके हैं ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि-औत्सुक्य [का अर्थ] विपयके प्रति उन्मुख होना है । वह विषय [आलम्वन विभाव] के नष्ट हो जानेपर नहीं हो सकता है । [इसलिये आलम्वन विभावके नष्ट हो जानेपर विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं रहता है अपितु करुण रस वन जाता है] । इस प्रकार [विप्रलम्भ-शृङ्गार तथा करुण रसके भेदको] परीक्षा करके, 'एकमेष' इत्यादिसे परीक्षाके फलका उपसंहार करते हैं । ['सर्वभावसंयुक्त शृङ्गारो भवति' इसमें] 'शृङ्गारः' इस एक वचनसे [सम्भोग विप्रलम्भको मिला कर] एक ही शृङ्गार रस होता है यह उपसंहार किया है ।

अभिनव०—इस प्रकार परीक्षा करके सूत्र [अर्थात् रससूत्र] के अर्थको स्थापना हो जानेपर विवरण रूपमे और सूत्रके समीपमें [सूत्रार्थके] विस्तृत पाठ [रूप] होनेसे अव [सूत्रकी व्याख्यानभूत] कारिकाको 'अपि च' इत्यादिसे पढ़ते हैं । यह जो कारिका है यह न केवल सूत्र [के अर्थको ही कहती]

परीक्षणीयं चापीति चकारार्थः । एवं सर्वत्र मन्तव्यम् । तामेव कारिकां पठति सुखेत्यादि—

भरत०—अपि च—

भरत०—'सुखप्रायेष्टसम्पन्न[1] ऋतुमाल्यादिसेवकः[2] ।
[3]पुरुषप्रमदायुक्तः शृङ्गार इति संज्ञितः ॥ ३९ ॥

पुरुष इति भोक्ता रत्यात्मकोऽभिप्रेतः । भोक्तैव च स्थायिसंविद्रूपः । व्यभिचारिणस्तु भोग्यस्वभावा इति रतिरेव पुरुषः । तथा चोक्तं 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' इति । एवं प्रमदा चापि ।

तत्र भोक्तृत्वे पुरुषस्य प्राधान्यं, प्रमदायास्तु भोग्यता । प्राधान्यादेव च तस्य भोग्येनापरतन्त्रीकरणमिति नायिकान्तरयोगेऽपि न शृङ्गारहानि । भोग्यस्य तु पारतन्त्र्यादेवान्यसङ्गमेन शृङ्गारभङ्ग इति दर्शितम् । अत एव न स्थायिभेदः शङ्कनीयः । 'सुखप्रायेष्टसम्पन्न' इत्यादि पुरुषविशेषणत्वेन समुदितस्य विभावत्वं दर्शयति । विभावादयो '[4]रसोदयेनास्वादेश्च भोक्तरि निमग्ना[5]' इति भोक्तृप्राधान्यं च दर्शयन्ति ।

अपितु परीक्षा रूप भी है यह ['अपि च' मे] चकारका अर्थ है। इसी प्रकार सब जगह समझना चाहिए। उसी कारिकाको 'सुख' इत्यादिसे पढते हैं—

भरत०—और भी [कहते हैं]—

भरत०—सुखमय इष्ट [सामग्री] से सम्पन्न [वसन्तादि] ऋतु तथा माल्यादि [उद्दीपक] का सेवन करने वाला, तथा स्त्री-पुरुष से युक्त [रस] शृङ्गार इस नामसे कहा जाता है। ३९।

अभिनव०—'पुरुष' इस पदसे अनुभव करने वाले भोक्ताका ग्रहण होता है। और भोक्ता ही स्थायिभाव [रत्यादि] की संवित् [अनुभूति] रूप है। व्याभिचारिभाव तो भोग्यस्वरूप होते हैं। इसलिए [स्थायिसंवित्] रति रूप ही पुरुष है। जैसे कि [उपनिषदादिमे कहा भी है] कि 'यह पुरुष श्रद्धामय है'। [जैसे उपनिषद्‌मे पुरुष को 'श्रद्धामय' कहा गया है इसी प्रकार यहाँ शृङ्गार रसकी अनुभूतिमे पुरुष 'रतिरूप' है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है]। इसी प्रकार प्रमदा [स्त्री] भी [रति रूपिणी] है।

अभिनव०—इनमेसे भोक्तृत्वमे पुरुषकी प्रधानता है और स्त्री तो भोग्य होती है। प्रधान होनेसे ही वह [पुरुष] भोग्य [स्त्री] के अधीन नही होता है। इसीलिए [पुरुषके स्वतन्त्र होनेसे] दूसरी नायिकाके साथ [पुरुष नायकका] सम्बन्ध होनेपर भी शृङ्गार रसकी हानि नहीं होती है। और भोग्य [स्त्री] के तो परतन्त्र [नायकाधीन] होनेसे [उसका] दूसरेके साथ सम्बन्ध होनेपर शृङ्गारकी हानि होती है यह बात [पहिले भी दिखलाई जा चुकी है]। इसलिए स्थायिभावके भिन्न होनेकी शङ्का नहीं करनी चाहिए। [मूलकारिकामे] 'सुखप्रायेष्टसम्पन्न' इत्यादिके पुरुषके विशेषण रूपसे अभिप्रेत होनेसे सबको मिला कर [शृङ्गार रसका] विभावत्व होता है यह दिखलाया है। और विभावादि, रसके उदय द्वारा, और आस्वादनके द्वारा भोक्तामे अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसलिए भोक्ताका प्राधान्य सूचित होता है।

---

१ सुखप्रायेषु। २ माल्यानु। ३ पुरुषः प्रमदायुक्ता.। ४ रसोदय विना। ५ निमग्नत्वे।

विषयसम्भारपूर्णताभिमानजैव रतिरुचिता । एतदर्थमेव 'जस अहं तादेण 'दिण्णेदि' 'ईरिसव्स कण्णपूरदंसणव्स' इति च । एतत्सर्वसम्पन्नत्वमेव नायिकाया दर्शितम् । अन्यथा नोत्तमत्वं स्यात् । निजजातिकुलानुरूपसम्पदभावे तु रति. 'पुरुषार्थरूपत्वा-भावादनुपदेश्या । अत एव तत्र सर्वस्य प्रतीतिवैरस्यानन्तरसम्भावनमिति श्लोकस्य तात्पर्यार्थः ।

विषयसामग्रीसम्पूर्णो रस इति ये मन्यन्ते ²तेषां भ्रान्तिकारणमय श्लोकः । स चेत्थ व्याख्यातो न भ्रान्तिजनक. । 'सञ्ज्ञित.'³ इत्यनेनान्वर्थता पराकरोति । तथा हि उणादिषु शृङ्गारशब्दो निपातित इति ।

अभिनव०— आवश्यक सामग्री [विषयसम्भार] की पूर्णताका निश्चय होने पर ही रति उचित होती है इसीलिए [रत्नावली नाटिकामे उदयनके प्रति जो सागरिकाकी रतिका वर्णन आया है उसमें सागरिकाको जब यह निश्चय हो गया है कि इन्हीं राजा उदयनके साथ मेरा विवाह करनेकेलिए मेरे पिताने मुझे भेजा था तभी उसकी रति उचित प्रतीत होती है इसीलिए नाटिकामे कविने सागरिकाके मुखसे यह कहलाया है कि ये वे ही राजा उदयन हैं] 'जिनको पिताजीने मुझे समर्पित कर दिया है' और 'इस प्रकारके कणपूरके दर्शनसे' [इससे नायिका सागरिकाके उत्तम कुलादिका बोध होनेसे रतिका औचित्य सिद्ध होता है]। इस सबसे नायिका [सागरिका] का सर्वसम्पन्नत्व [अर्थात् राजा उदयनके प्रति उसकी रतिके औचित्यको सिद्ध करने वाली सामग्रीकी पूर्णता] ही दिखलाई गई है। अन्यथा [इस सामग्रीके अभावमें सागरिकाकी रति] उत्तम नहीं होती । क्योंकि अपने जाति और कुलके अनुरूप सम्पत्तिके अभावमें [असदृश, अननुरूप स्त्री-पुरुषकी] रति पुरुषार्थ रूप न होनेसे नहीं कहनी चाहिए। [उस प्रकारका प्रेम अधम पुरुषोका होता है] इसलिए उस [अननुरूप स्त्री-पुरुषकी रति] मे सब [सहृदयों] को प्रतीतिमें अन्य प्रकारकी विरसताकी सम्भावना रहती है। यह इस श्लोकका तात्पर्यार्थ है।

अभिनव०—[शंकुक आदि] जो लोग विषय सामग्रीकी पूर्णताको ही रस मानते हैं उनकी भ्रान्तिका कारण यह श्लोक ही है। परन्तु इस प्रकार व्याख्या करने पर भ्रान्तिजनक नहीं रहता है। [श्लोकमें आए हुए] 'संज्ञितः' इससे [शृङ्गार शब्दकी 'प्रशस्तं शृङ्ग यस्मिन् स शृङ्गार.' इस प्रकारकी] अन्वर्थताका निराकरण कर दिया गया है। [क्योकि शृङ्ग शब्दसे 'शृङ्गवृन्दारकान्यामारकन्' इस सूत्रसे आरकन्' प्रत्यय करके] शृङ्गार शब्द निपातित किया गया है। [अत वह रूढ शब्द है। यह 'संज्ञित' पदका भाव है उसमें 'प्रशस्तं' शृङ्ग विद्यते यास्मिन् स शृङ्गारः इस प्रकार अन्वर्थताकी खोज नहीं करनी चाहिए]।

---

१. पुरुषार्थरूपत्वात् । २. तेषामभ्रान्ति । ३. संधीयत इति ।

ावदित्य कारिकेति समन्वयः। एवं सर्वत्र मन्तव्यम्। तामेव कारिकां पठति सुखेत्यादि—

भरत०—अपि च—

भरत०—'सुखप्रायेष्टसम्पन्न ऋतुमाल्यादिसेवकः'।
'पुरुषप्रमदायुक्तः शृङ्गार इति संज्ञितः'॥ ३९ ॥

पुरुष इति भोक्ता संवेदनात्मकोऽभिप्रेतः। भोक्तैव च स्थायिसंविद्रूपः। व्यभिचारिणस्तु भोग्यस्वभावास्तेन रतिरेव पुरुषः। तथा चोक्तं 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' इति। एवं प्रमदा अपि।

तत्र भोक्तृत्वे पुरुषस्य प्राधान्यं, प्रमदायास्तु भोग्यता। प्राधान्यादेव च तस्य भोग्येनापरतन्त्रीकरणमिति नायिकान्तरयोगेऽपि न शृङ्गारहानिः। भोग्यस्य तु पारतन्त्र्यादेवान्यसम्मीलने शृङ्गारभङ्ग इति दर्शितम्। अत एव न स्थायिभेदः शङ्कनीयः। 'सुखप्रायेष्टसम्पन्न' इत्यादि पुरुषविशेषणत्वेन समुदितस्य विभावत्वं दर्शयति। विभावादयो 'रसोदयेनास्वादैश्च भोक्तरि निमग्ना' इति भोक्तृप्राधान्यं च दर्शयन्ति।

अपितु परीक्षा रूप भी है यह ['अपि च' मे] चकारका अर्थ है। इसी प्रकार सब जगह समझना चाहिए। उसी कारिकाको 'सुख' इत्यादिसे पढते हैं—

भरत०—और भी [कहते हैं]—

भरत०—सुखमय इष्ट [सामग्री] से सम्पन्न [वसन्तादि] ऋतु तथा माल्यादि [उद्दीपक] का सेवन करने वाला, तथा स्त्री-पुरुष से युक्त [रस] शृङ्गार इस नामसे कहा जाता है। ३९।

अभिनव०—'पुरुष' इस पदसे अनुभव करने वाले भोक्ताका ग्रहण होता है। और भोक्ता ही स्थायिभाव [रत्यादि] की संवित् [अनुभूति] रूप है। व्याभिचारिभाव तो भोग्यस्वरूप होते हैं। इसलिए [स्थायिसंवित्] रति रूप ही पुरुष है। जैसे कि [उपनिषदादिमे कहा भी है] कि 'यह पुरुष श्रद्धामय है'। [जैसे उपनिषद्मे पुरुष को 'श्रद्धामय' कहा गया है इसी प्रकार यहां शृङ्गार रसकी अनुभूतिमे पुरुष 'रतिरूप' है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है]। इसी प्रकार प्रमदा [स्त्री] भी [रति रूपिणी] है।

अभिनव०—इनमेसे भोक्तृत्वमे पुरुषकी प्रधानता है और स्त्री तो भोग्य होती है। प्रधान होनेसे ही वह [पुरुष] भोग्य [स्त्री] के अधीन नहीं होता है। इसीलिए [पुरुषके स्वतन्त्र होनेसे] दूसरी नायिकाके साथ [पुरुष नायकका] सम्बन्ध होनेपर भी शृङ्गार रसकी हानि नहीं होती है। और भोग्य [स्त्री] के तो परतन्त्र [नायकाधीन] होनेसे [उसका] दूसरेके साथ सम्बन्ध होनेपर शृङ्गारकी हानि होती है यह बात [पहिले भी दिखलाई जा चुकी है]। इसलिए स्थायिभावके भिन्न होनेकी शङ्का नहीं करनी चाहिए। [मूलकारिकामे] 'सुखप्रायेष्टसम्पन्न' इत्यादिके पुरुषके विशेषण रूपसे अभिप्रेत होनेसे सबको मिला कर [शृङ्गार रसका] विभावत्व होता है यह दिखलाया है। और विभावादि, रसके उदय द्वारा, और आस्वादनके द्वारा भोक्तामें अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसलिए भोक्ताका प्राधान्य सूचित होता है।

---

१ सुखप्रायेषु। २ माल्यानु। ३ पुरुषः प्रमदायुक्ता.। ४ रसोदय विना। ५ निमग्नत्वे।

विषयसम्भारपूर्णताभिमानजैव रतिरुचिता। एतदर्थमेव 'जस अहं तादेण 'दिण्णेदि' 'ईरिसव्स कण्णूरदंसणव्स' इति च। एतत्सर्वसम्पन्नत्वमेव नायिकाया दर्शितम्। अन्यथा नोत्तमत्वं स्यात्। निजजातिकुलानुरूपसम्पदभावे तु रति 'पुरुषार्थरूपत्वा-भावादनुपदेश्या। अत एव तत्र सर्वस्य प्रतीतिवैरस्यानन्तरसम्भावनमिति श्लोकस्य तात्पर्यार्थ' ।

विषयसामग्रीसम्पूर्णो रस इति ये मन्यन्ते तेषां भ्रान्तिकारणमयं श्लोकः। स चेत्थं व्याख्यातो न भ्रान्तिजनक.। 'सञ्ज्ञित." इत्यनेनान्वर्थता पराकरोति। तथा हि उणादिषु शृङ्गारशब्दो निपातित इति।

अभिनव०— आवश्यक सामग्री [विषदसम्भार] की पूर्णताका निश्चय होने पर ही रति उचित होती है इसीलिए [रत्नावली नाटिकामें उदयनके प्रति जो सागरिकाकी रतिका वर्णन आया है उसमें सागरिकाको जब यह निश्चय हो गया है कि इन्हीं राजा उदयनके साथ मेरा विवाह करनेकेलिए मेरे पिताने मुझे भेजा था तभी उसकी रति उचित प्रतीत होती है इसीलिए नाटिकामें कविने सागरिकाके मुखसे यह कहलाया है कि ये वे ही राजा उदयन हैं] 'जिनको पिताजीने मुझे समर्पित कर दिया हैं' और 'इस प्रकारके कर्णपूरके दर्शनसे' [इससे नायिका सागरिकाके उत्तम कुलादिका बोध होनेसे रतिका औचित्य सिद्ध होता है]। इस सबसे नायिका [सागरिका] का सर्वसम्पन्नत्व [अर्थात् राजा उदयनके प्रति उसकी रतिके औचित्यको सिद्ध करने वाली सामग्रीकी पूर्णता] ही दिखलाई गई है। अन्यथा [इस सामग्रीके अभावमे सागरिकाकी रति] उत्तम नहीं होती। क्योंकि अपने जाति और कुलके अनुरूप सम्पत्तिके अभावमे [असदृश, अननुरूप स्त्री-पुरुषकी] रति पुरुषार्थ रूप न होनेसे नहीं कहनी चाहिए। [उस प्रकारका प्रेम अधम पुरुषोका होता है] इसलिए उस [अननुरूप स्त्री-पुरुषकी रति] मे सब [सहृदयों] को प्रतीतिमे अन्य प्रकारकी विरसताकी सम्भावना रहती है। यह इस श्लोकका तात्पर्यार्थ है।

अभिनव०—[शंकुक आदि] जो लोग विषय सामग्रीकी पूर्णताको ही रस मानते हैं उनकी भ्रान्तिका कारण यह श्लोक ही है। परन्तु इस प्रकार व्याख्या करने पर भ्रान्तिजनक नहीं रहता है। [श्लोकमें आए हुए] 'संज्ञितः' इससे [शृङ्गार शब्दकी 'प्रशस्तं शृङ्ग यस्मिन् स शृङ्गार' इस प्रकारकी] अन्वर्थताका निराकरण कर दिया गया है। [क्योंकि शृङ्ग शब्दसे 'शृङ्गवृन्दारकाभ्यामारकन्' इस सूत्रसे आरकन्' प्रत्यय करके] शृङ्गार शब्द निपातित किया गया है। [अत वह रूढ शब्द है। यह 'संज्ञित' पदका भाव है उसमे 'प्रशस्तं' शृङ्ग विद्यते यास्मिन् स शृङ्गारः इस प्रकार अन्वर्थताकी खोज नहीं करनी चाहिए]।

---

१. पुरुषार्थरूपत्वात्। २. तेषामभ्रान्ति। ३. संशीयत इति।

न केवलं श्लोकार्थमिदं सूत्रार्थानुविद्धे आर्ये अपि, इति 'अपि च' इति भिन्नक्रमस्यार्थः ॥ ३६ ॥

भरत०—अपि चात्र सूत्रार्थानुविद्धे आर्ये भवतः—

भरत०—ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजन-गान्धर्व-काव्यसेवाभिः ।
उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति ॥
नयनवदनप्रसादैः स्मित-मधुरवचो-धृति-प्रमोदैश्च ।
मधुरैश्चाङ्गविहारैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥

'प्रियजनो' विदूषकादिः । 'गान्धर्व'-शब्दो गीतादिहृद्यविषयोपलक्षणम् । 'काव्यसेवा'-शब्देन विषयसङ्कल्पं विभावत्वेन लक्षयति ।

यस्त्वाह काव्यार्थीभूताद् रसात् काव्यार्थविदो भावान्तरं प्रादुर्भवति । अतः सुखजनकत्वात् काव्यार्थो रस इति, स प्रत्युक्तः । नहि विषयसामग्री रस इति पूर्वं दर्शितम् । धृतिप्रमोद शब्देन व्यभिचारिणो लक्षयति । एक एव च परमार्थतः शृङ्गार इत्यभिप्रायेणादौ अवस्थोपलक्षणद्वारेण सर्वं एवोपसहृतो मन्तव्यः ।

इतिशृङ्गाररस-प्रकरणम् ।

अभिनव०—'अपि च' इस भिन्नक्रम वाले पदका अभिप्राय यह है कि यह केवल [हमारे नाट्यशास्त्रके] श्लोकका ही अर्थ [अर्थात् यह केवल हमारा ही मत] नही है अपितु इस विषयमे सूत्रार्थका समर्थन करने वाली दो आर्या [आर्या छन्दमे लिखे गए श्लोक] भी है ।

भरत०—ऋतु, माल्य, अलङ्कार प्रियजन, सङ्गीत, काव्यके सेवन, उद्यान-गमन और वन-विहार आदिसे शृङ्गाररस उत्पन्न होता है ।

भरत०—आखों और चेहरेकी प्रसन्नतासे, मुस्कराहट, मधुर वचन, धृति, प्रमोद तथा सुन्दरताके साथ अङ्गोंके सञ्चालनके द्वारा उस [शृङ्गार] का अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—[इनमे] 'प्रियजन' का अर्थ विदूषक आदि है । 'गान्धर्व' शब्द सङ्गीत आदि रूप मनोहर विषयोका उपलक्षण है । 'काव्यसेवा' शब्दसे विभाव रूपसे विषय [भोग] के सङ्कल्पको सूचित किया है ।

अभिनव०—जो कहते हैं कि 'काव्यके द्वारा प्रतिपादित रससे काव्यार्थको समझने वाले सहृदयके हृदयमे दूसरे रस [भाव] का उदय होता है । इसलिए सुखका जनक होनेसे काव्यका अर्थ भी रस [रूप ही] है' उसका खण्डन [हमारी की हुई व्याख्यासे] हो जाता है । क्योकि हम पहिले लिख चुके हैं कि रस विषयसामग्री रूप नहीं होता है । [इस दूसरी आर्यामे आए हुए] 'धृति' तथा 'प्रमोद' शब्दोसे व्यभिचारिभावोको सूचित किया है । प्रारम्भमे कही हुई [शृङ्गारकी] दो अवस्थाओके द्वारा वस्तुतः शृङ्गार रस एक ही होता है । इस प्रकार सबका उपसहार किया है ।

शृङ्गाररसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ हास्यरसप्रकरणम्

अथ हास्यं लक्षयितुमाह अथेति ।

भरत०—अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मकः ।

हास्यरस-प्रकरण

अभिनव०—इसके बाद हास्य रसका लक्षण करनेकेलिए 'अथ' इत्यादि से [हास्य रसका लक्षण] कहते हैं—

भरत०—अब आगे हास रूप स्थायिभाव वाला हास्यरस [लक्षणादिके द्वारा निरूपित किया जाता] है ।

शृङ्गाररसके निरूपणके बाद ग्रन्थकार हास्यरसका निरूपण प्रारम्भ करते हैं । भरतमुनिने हास्य रसका लक्षण, 'हासो नाम हास्यस्थायिभावात्मक' यह किया है । इसके पूर्व शृङ्गार का लक्षण, 'शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव' यह किया था । इसी प्रकार आगे करुण का लक्षण 'करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभव' यह किया है । इन लक्षणोंमें यह बात विशेप रूपसे ध्यान देने योग्य है कि शृङ्गार तथा करुण रसको ग्रन्थकारने 'रतिप्रभव' और 'शोकप्रभवः' अर्थात् 'स्थायिभावप्रभव' स्थायिभावसे उत्पन्न होने वाला कहा है । परन्तु हास्य रसको 'स्थायिभावप्रभव.' न कह कर 'स्थायिभावात्मक.' कहा है । इसी प्रकार शृङ्गार तथा करुणको छोड कर अन्य सब रसोंको भी 'स्थायिभावात्मक' माना है । केवल शृङ्गार तथा करुणको 'स्थायिभावप्रभव' माना है । इस अन्तरका क्या कारण है, अभिनवगुप्तने हास्य रसके विवेचनमें सबसे पहिले इसी प्रश्न को उठा कर उसकी विवेचना करनेका यत्न किया है । उनका कहना यह है कि हास्यादि रसोंके स्थायिभाव, सजातीय हासात्मक प्रतीतिको ही उत्पन्न करते हैं किन्तु शृङ्गार तथा करुणके स्थायिभाव सजातीय प्रतीतिको उत्पन्न नही करते हैं । शृङ्गार रसका स्थायिभाव रति है परन्तु उससे जो रस प्रतीति उत्पन्न होती है वह रतिरूप नही अपितु सुख रूप होती है । इसी प्रकार करुण रसका स्थायिभाव शोक है परन्तु उससे जो प्रतीति उत्पन्न होती है वह शोकात्मक नहीं अपितु दुःखात्मक होती है । इस प्रकार रति तथा शोक ये दो तो विजातीय प्रतीतिको उत्पन्न करते हैं इसलिए शृङ्गार तथा करुणको 'स्थायिभावात्मक' न कह कर 'स्थायिभावप्रभव' कहा गया है । और शेष हास आदि स्थायिभाव सजातीय प्रतीतिको उत्पन्न करते है इसलिए उनको 'स्थायि-भावात्मक' कहा गया है । यह भेदका एक कारण है ।

भेदका दूसरा कारण विभावादिके असाधारण्य तथा साधारण्य को माना है । शृङ्गार तथा करुण रसके विभावादि असाधारण हैं । अर्थात् काव्य नाटकमें ही वे उन रस प्रतीतिके कारण होते हैं लोकमें नही । जैसे लोकमें दो प्रेमियोंकी रतिलीलाको देख कर रसानुभूति न होकर लज्जादि की प्रतीति होती है परन्तु काव्य नाटक आदिमें वही रसानुभूतिका कारण बन जाता है । इसलिए करुण तथा शृङ्गारके विभावादि लोकसाधारण न होकर अलौकिक या असाधारण होते हैं । परन्तु हास्यादि रसोंके विभाव आदि लोक-साधारण होते हैं । जिन विकृतवेषादिसे काव्य नाटकादिमें हास्य रसकी उत्पत्ति होती है वे लोकमें भी हास्यजनक होते हैं । इस प्रकार भरतमुनिने शृङ्गार तथा करुणको 'स्थायिभावप्रभव' और हास्यादि शेष रसोंको 'स्थायिभावात्मक' कहा है यह अभिनवगुप्त का अभिप्राय है । अपने इसी अभिप्रायको ग्रन्थकार अभिनवगुप्त अगले अनुच्छेदमें विचार पूर्वक निम्न प्रकारसे अभिव्यक्त करते हैं—

आत्मशब्देनेदमाह—रतिरास्वादनात्मिका प्रतीतिं विदधाना न तां रतिरूपामेव विधत्ते, प्रत्युत विभावाद्यसाधारण्यात्[1]। हासे तु स आस्वादः सोऽपि—विकृतवेषादीनां सामाजिकान् प्रति लोकवृत्तेन हासहेतुत्वेनेति विभावसाधारण्यद्वारेण तदेकरूप एवेति, हासात्मकरसनास्य चर्वणाचर्वणीयत्वात् रसस्य। रतिशोकाभ्यां च परगतज्जातीयरसनिदास्वादौ धारासुखदुःखस्वरूपत्वेन विसाधारण्यात्मीयत्वे निजासहगृहीतहेतुवशादेवोत्पद्येते यत, अतोऽनयो मुनिना प्रभवग्रहणं कृतम्। अन्येषु तु विभावे साधारण्यसम्भावनात् तदात्मकग्रहणम्।

अनय-अविनयादेरन्यायकारिणः समान कालादेरपूर्ववस्तुनश्च सर्वान् प्रति उत्साह-क्रोध-भय-जुगुप्सा-विस्मयहेतुत्वेन साधारणविभावत्वात्। इत्यलं बहुना।

अभिनव०—[लक्षणमे आए हुए] आत्म-शब्दका यह अभिप्राय है कि—रति, आस्वाद रूप प्रतीतिको उत्पन्न करते समय [सजातीय] रति रूप प्रतीति को ही उत्पन्न नहीं करती है [अपितु विजातीय सुखात्मक प्रतीतिको उत्पन्न करती है] उसके मुख्य विभावादिके असाधारण [लोकसे विलक्षण काव्यमात्रमे आस्वाद जनक] होनेसे। [इसके विपरीत] हास्यमे जो आस्वाद होता है वहा तो विकृत वेष आदिके सामाजिको प्रति लोकके अनुसार ही हासके हेतु होते हैं इसलिए [काव्य तथा लोक दोनोमे] विभावोके साधारण होनेसे [हास्य रसका आस्वाद] उस [लोकके हास्य]के समान ही होता है। इसलिए, और [हास्य रसमे] रस कहलाने वाला [हासप्रभव नहीं अपितु] हासात्मक रस चर्वणाके द्वारा ही इस [हास्य]का आस्वाद होनेसे [उसे 'हासस्थायिभावात्मक कहा है]। [रसके सब भेदोमेसे] केवल रति और शोक [अर्थात् शृङ्गार तथा करुण रसके स्थायिभाव] ही चरमानुभूतिको प्राप्त (१) सुख दुःख रूपसे विजातीय प्रतीतिका आस्वादन कराने वाले और (२) अपने असाधारण विभावादि हेतुओके द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसीलिए [भरत] मुनिने उन दोनो [के लक्षणो] मे 'प्रभव'-पदका ग्रहण किया है। और अन्य [सब रसो] मे विभावोमे लोक-साधारणताकी सम्भावनासे [अर्थात् अन्यरसोमे लौकिक विभावादिके समान ही विभावादिके होनेसे] 'तदात्मक' ['स्थायिभावात्मक'] पदका ग्रहण किया है। [अर्थात् इन दो भेदोके कारण शृङ्गार तथा करुण रसको भरत मुनिने 'स्थायिभाव-प्रभव' तथा शेषको 'स्थायिभावात्मक' कहा है]।

अभिनव०—काल और अदृष्ट-तत्त्वके समान अन्यायकारीकी अनीति और दुष्टता आदि सबके प्रति उत्साह, क्रोध, भय, घृणा, और विस्मयका हेतु होती है इसलिए [शृङ्गार और करुणको छोड कर सबके] विभावोके [लोकवत्] साधारण होनेसे [अन्य सब रस स्थायिभावात्मक है शृङ्गार और करुण 'स्थायिभाव-प्रभव' है]। इसलिए अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

---

१ विभावादौ साधारण्यात्। १. नयविनयादेः।

भरत०—स च विकृतपरवेषालंकार-धार्ष्ट्य-लौल्य-कुहक-असत्प्रलाप-व्यङ्गदर्शन-दोषोदाहरणादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

तत्र वेष केशादिरचना। अलङ्कार कटकादि । स चोभयोऽपि विकृतो देशकालप्रकृतिवयोवस्थादिविपरीतो हास्यस्य विभाव । एतेन सर्वे रसा हास्येऽन्तर्भूता इति दर्शितम्। अथ विदूषकोऽपि तद्वेष विदधद्धास्याभास प्रथयतीति। एतच्च प्रागेवोक्तम्।

परस्य सम्बन्धी पर । एवंभूतो देवदत्तस्य वेषोऽयमलङ्कारो वेति, उद्धट्टक—[४-१८७] भाण्डनृत्तादौ दर्श्यमानो हासं करोति। वेषालङ्कारो गतगदितादेरप्युपलक्षणम्। धार्ष्ट्यं निर्लज्जता। लौल्य विषयेष्वनियतता। कुहक कक्षग्रीवादिस्पर्शनं विस्मापनविधिप्रसिद्ध बालानाम्। अङ्गविगमो विखुनादि व्यङ्गम्। एषां दर्शनमिति समास । दोषा अतत्प्रकृतेरपि भयादय, अकार्यकरणादयश्च। विकृतवेषादय एव वा। तेषामुदाहरण वर्णनम्। आदिग्रहणात् सङ्कल्पस्मृत्यादि ।

भरत०—और वह [हास्यरस] दूसरेके विकृत वेष, [विकृत] अलंकार, निर्लज्जता, लालचीपन, आदि तथा गर्दन, बग़ल आदिके छूने, असङ्गत भाषण एव [नकटापन आदि रूप] अङ्गहीनता के देखने तथा [असङ्गत] दोषोंके कथन आदि विभावोंसे उत्पन्न होता है।

अभिनव—उनमेसे वेष [का अर्थ] केशरचना आदि है। अलङ्कार [से] कटक [बाजूबन्द] आदि [गृहीत होता] है। ये दोनो [अर्थात् वेष और अलङ्कार] विकृत अर्थात् देश, काल, स्वभाव, आयु तथा दशाके विपरीत होनेपर हास्य [रस] के विभाव होते हैं। इससे [जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, शृङ्गार आदि] सारे रस [शृङ्गाराभासादिके रूपमे] हास्यमें अन्तर्भूत हो जाते हैं यह बात दिखलाई है। विदूषक भी उस [हास्यजनक] वेषको बनाते समय हास्याभासको ही प्रदर्शित करता है यह बात पहिले ही दिखला चुके हैं।

अभिनव०—[मूलके विकृतपरवेष शब्दमें] पर-शब्द परके सम्बन्धी [अर्थात् दूसरेसे सम्बन्ध रखने वाले] इस अर्थका बोधक है। इस प्रकारका जो यह देवदत्त आदिका वेष अथवा अलङ्कार वह, [अ० ४-१८४ में कहे हुए] 'उद्धट्टक' [अङ्गहारविशेष] तथा भांडोके नृत्यमें आदिमे दिखलाए जानेपर हास्यका जनक होता है। वेष तथा अलङ्कार-शब्द चलने-फिरने और बोल-चाल आदिके भी उपलक्षण हैं। 'धार्ष्ट्य' का अर्थ निर्लज्जता है। विषयोमे अनियतता [अर्थात् कभी किसी विषयकी ओर, कभी किसीकी ओर मन दौड़ाना यह] 'लौल्य' कहलाता है। बालकोको हंसाने की विधिमे प्रयुक्त होने वाले [प्रसिद्ध] बग़ल गर्दन आदिके छूनेका 'कुहक' शब्दसे ग्रहण होता है। व्यङ्गका अर्थ नकटापन आदि रूप अङ्गहीनता है। इन सबका दर्शन यह [मूल ग्रन्थके दर्शनान्त पदका] समास है। दोषसे जो वैसी [अर्थात् डरपोक] प्रकृति का नहीं है उसके भय आदिका ग्रहण होता है। अथवा अनुचित कार्योंका करना। अथवा विकृत वेष आदि ही [दोष हैं]। उनका उदाहरण अर्थात् कथन करना। 'आदि' शब्दसे [उनके] सङ्कल्प, स्मृति आदिका ग्रहण होता है।

भरत०—तस्योष्ठनासाकपोलस्पन्दन-दृष्टिव्याकोशाकुञ्चन-स्वेदास्य-राग-पार्श्वग्रहणादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य । व्यभिचारिणश्चास्य अव-हित्था-आलस्य-तन्द्रा-स्वप्न-प्रबोध-असूयादय ।

ओष्ठादे स्पन्दनशब्देन सम्बन्ध । व्याकोशन विकासो निमीलन च । आकुञ्चन ईषत् । एतद् दृष्ट्या योज्यम् । आस्यरागो मुखराग । पार्श्वयोर्ग्रहण पीडनम् । तन्द्राशब्देन मोह । एते च विभावा अनुभावा व्यभिचारिणश्च प्रकृतित्रयभेदेन ये स्मितादिभेदा वक्ष्यन्ते तेषु यथायोग योजनीया ।

भरत०—द्विविधश्चायं, आत्मस्थ परस्थश्च । [1]यदा स्वय हसति तदा आत्मस्थ । यदा [2]तु पर हासयति तदा परस्थ ।

द्विविधश्चायमिति । आत्मस्थैर्विभावैर्विकृतवेषादिभिर्विदूषक स्वय हसति स तस्यात्मस्थ । देवी च हासयतीति तस्या परस्थ । तदिदमसत् । एव हि विभावा-नामात्मस्थत्वादिविभाग स्यात्, न हासस्य ।

भरत०—उस [हास्य रस] का होठ, नाक और गालो के फडकाने [स्पन्दन], आखो [दृष्टि] को फैलाने, बन्द करने और थोडा मींचने, पसीना, मुखकी लालिमा, और पेट पकडने [पार्श्व-ग्रहण] आदि अनुभावोके द्वारा अभिनय करना चाहिए। अवहित्या [आकारगोपन] आलस्य, तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध, असूया आदि उसके व्यभिचारिभाव होते हैं।

अभिनव०—'ओष्ठ' [नासा कपोल] आदिका, 'स्पन्दन' शब्दके साथ सम्बन्ध है। 'व्याकोशन' का अर्थ [आखोका] खोलना और बन्द करना है। 'आकुञ्चन' का अर्थ थोडा-सा मींचना है। इनका दृष्टिके साथ सम्बन्ध करना चाहिए। 'आस्यराग' का अर्थ मुखका राग [लालिमा] है। 'पार्श्वों' [छातीके दोनो ओर पसलियो] का 'गृहण' अर्थात् दवाना [गृहीत होता है] 'तन्द्रा'-शब्दसे मोह [मूर्च्छा] का गृहण करना चाहिए। ये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव [उत्तम मध्यम अधम रूप] तीन प्रकारकी प्रकृतियोके भेदसे जो स्मित आदि आगे कहे जावेंगे उनके साथ यथोचित रीतिसे सम्वद्ध कर लेने चाहिए।

भरत०—यह [हास्यरस] दो प्रकारका होता है। [१] आत्मस्थ और (२) परस्थ। जव स्वय [हास्य विभावोके देख कर] हसता है तव आत्मस्थ और जव [स्वय हास्य विभावोको न देखने वाले] दूसरेको [अपने हास्यसे] हसाता है तव परस्थ [हास्य] कहलाता है।

अभिनव०—[यह हास्य रस] दो प्रकारका है यह कहते हैं। अपने भीतर रहने वाले विकृत वेष आदि विभावोसे जो विदूषक स्वयं हसता है वह उसका [अर्थात् देवीका] आत्मस्थ [हास्य] है। और जो देवी [महारानी] को हसाता है वह उसका परस्थ [हास्य] है [ऐसा भेद शकुक आदि प्राचीन व्याख्याकारोने किया है] वह ठीक नही है। क्योकि इस प्रकारसे तो विभावोका आत्मस्थ तथा परस्थ [दो तरहका] विभाग होता है, हास्यका नहीं।

१ म त. तत्र यदा । २ न ग यदा परम्

किञ्च स्वामिन शोकोऽनुजीविषु शोक करोतीत्ति परस्थता सर्वत्र स्यात् । स्वयम्भूर्हि परत्र देव्यादौ व्यक्त. परस्थ इति चेद् गम्भीरस्य प्रभोरनुजीविगतानुभाव-व्यक्त क्रोधोऽपि परस्थो भवेत् ।

तद्विभावक आत्मस्थ', 'अतद्विभावकस्त्वन्य. इत्यप्यसत् । परहासोऽपि तद्धासे विभाव. स्यात् । एतच्च रत्यादिषु सर्वेष्वप्यस्ति ।

तस्मादयमत्रार्थ —परं हसन्त दृष्ट्वा स्वय विभावानपश्यन्नपि हसन् लोके दृष्टः । तथा विभावादिदर्शनेऽपि गाम्भीर्यादनुदितहासेऽपि परकीयहासावलोकने तत्क्षणं हासविशेष सम्पद्यत एवेति स्वभाव. । यथाम्लदाडिमादिरसास्वाद सक्रमणस्वभावोऽन्य त्रापि दन्तोदकविकारान्' दर्शनादेव सक्रामयति । एव हासः स्वभावत. सक्रमशीलो याति 'काष्ठभूयिष्ठताम् ।

अभिनव०—और दूसरी बात यह भी है कि—स्वामीका शोक अनुजीवियोमे शोकको उत्पन्न करता है इसलिए [आपकी व्याख्याके अनुसार] सर्वत्र [अर्थात् करुण रसमें भी] परस्थता होने लगेगी । दूसरी जगह अर्थात् देवी आदि अन्यमे स्पष्ट रूपसे स्वय उत्पन्न होने वाला [हास्य] परस्थ है यदि यह कहो तो, गम्भीर प्रकृतिके स्वामीमे अनुजीविगत अनुभावोसे उत्पन्न होने वाला क्रोध [अर्थात् रौद्ररस] भी परस्थ होने लगेगा । [इसलिए आत्मस्थ और परस्थकी यह व्याख्या असङ्गत है] ।

अभिनव०—स्वयं जिसमे विभाव है [तद्विभावक] वह [हास्य] आत्मस्थ, और दूसरा जिसमे विभाव हो वह परस्थ [हास्य] होता है । [यह व्याख्या दूसरे टीकाकारने की है । किन्तु] यह [भी] ठीक नहीं है । क्योकि दूसरेका हास्यभी उस [आत्मस्थ हास्य] मे विभाव होता है । और [इस रूपमें आत्मस्थ तथा परस्थ हास्यका भेद करने पर तो] यह रति आदि सबमें ही हो सकता है । [इसलिए सभी रसोमे आत्मस्थ और परस्थ विभाग होने लगेगा । अत यह व्याख्या भी ठीक नहीं है] ।

अभिनव०—इसलिए इस [आत्मस्थ परस्थ विभाग] का अभिप्राय है कि—स्वयं विभावोको न देखनेपर भी दूसरेको हसते हुए देख कर लोग हसने लगते हैं यह बात लोकमे देखी जाती है । और [कभी स्वय] विभावादिको देख कर भी गम्भीर होनेके कारण जिसको [साधारणतः] हसी नहीं आती है वह भी दूसरेको हंसते देख कर तनिक देरके लिए मुस्करा जाता है । ऐसा स्वभाव ही पाया जाता है । जैसे खट्टे अनार [नीबू] आदिके रसका स्वाद संक्रमण-शील है और [उन अम्ल पदार्थोंके] दर्शनमात्रसे दूसरे व्यक्तिके मुखमें पानी आ जाने [दन्तोदक] आदि विकारोको संक्रान्त करा देता है । इसी प्रकार हास भी स्वभावतः सक्रमणशील है इसलिए काष्ठ [मे स्थित अग्नि] के समान [अन्योमे भी] फैल जाता है । [इस प्रकार जो हास स्वगत रूप है वह आत्मस्थ और जो अन्यत्र संक्रान्त रूप है वह परस्थ हास्य है यह आत्मस्थ तथा परस्थ भेदोका अर्थ लेना चाहिए] ।

---

१ अतो विभावकस्त्वन्यः । २. अनुरूप संक्रम । ३. [illegible]यिष्ठता

भरत०—अत्रानुवंश्ये आर्ये भवत —

भरत०--विपरीतालकारैर्-विकृताचाराभिधानवेषैश्च ।
विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रस स्मृतो हास्य ॥
विकृताचारैर्वाक्यैरङ्गविकारैश्च विकृतवेषैश्च ।
हासयति जन यस्मात् तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः ॥

नानाभेदा इत्याह—

भरत०--स्त्रीनीचप्रकृतावेष भूयिष्ठं दृश्यते रस ।
षड् भेदाश्चास्य विज्ञेया-स्ताश्च वक्ष्याम्यहं पुनः ॥ ४० ॥
स्मितमथ हसित विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम् ।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्यमाधमप्रकृतौ । ॥ ४१ ॥

षड् भेदाश्चेति द्वौ द्वौ इति यथाक्रम [1]विभावतारतम्यादिति केचित्। तत् त्वसत्, भेदान्तराणामपि प्रसङ्गात् । तस्मात् सक्रमणाभिप्रायेणैतत् । स्मित हि यदुत्तमप्रकृतौ तत्सक्रान्त हसित सम्पद्यते। अत एव त्र्यवस्थो हास इति वक्ष्यते । षडवस्थो ह्यन्यथा स्यात् । स्मित ईषत्तायाम् हसितम् ततो विशेषेण । विहसित ततोऽपि [2]पर, समीपगतमुपहसित च । अन्यदपहिसत, अतिशयेन च अतिहसितम् । इत्युपसर्ग भेदादर्थभेद ॥ ५१–५२ ॥

भरत—इस विषयमे परम्परागत दो आर्या [छन्दके श्लोक पाए जाते] हैं—

भरत०—विपरीत अलङ्कारो, विकृत आचार, नाम और वेषोके द्वारा, विकृत अर्थ विशेषोंके द्वारा [उनको देखने वाला सामाजिक पुरुष] जो हसता है वह [आत्मस्थ] हास्य रस होता है ।

भरत०—विकृत आचारण तथा वाक्योंसे, अङ्गविकारो तथा विकृत वेषोसे [नट या विदूषक आदि] लोगोंको हसाते हैं इसलिए वह भी [परस्थ] हास्य रस माना जाता है ।

अभिनव०—इसके अनेक भेद होते हैं वह बात कहते हैं—

भरत०—यह [हास्य] स्त्री तथा नीच पुरुष आदिमे अधिकतर पाया जाता है । और इसके छ भेद जानने चाहिए जिनको मैं आगे कहता हूँ । ४० ।

भरत०—स्मित् और हसित [उत्तम प्रकृतिमे], विहसित और उपहसित [मध्यम प्रकृतिमे], तथा अपहसित एव अतिहसित [अधम प्रकृतिमे] इस प्रकार उत्तम मध्यम तथा अधम प्रकृति [के पुरुषादि] मे [हास्य रसके] दो-दो भेद समझने चाहिए । ४१ ।

अभिनव०—छः भेद होते हैं इनमे दो-दोमे यथाक्रम विभावादिका [तारतम्य] न्यूनाधिक्य होता है यह किन्ही का कहना है। वह ठीक नहीं है क्योकि [उस प्रकारसे विभावतारतम्य माननेपर तो] अन्य भेद भी हो सकते हैं। इसलिए यह [सब भेद] सक्रमणके अभिप्रायसे ही हैं। उत्तम प्रकृति [के पुरुषो] मे जो स्मित

---

१ विभावतारतम्यमित्यादीति। २ ततोऽपि परस्य गत समीपगतमन्यत्। अपहसितमतिशयेन।

भरत०—तत्र–

भरत०—स्मित-हसिते ज्येष्ठानां मध्यमानां विहसितोपहसिते च ।
अधमानामपहसितं ह्यतिहसितं चापि विज्ञेयम् ॥४२॥

भरत०—अत्र श्लोका भवन्ति–

भरत०—ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः ।
अलक्षितद्विजं धीरमुत्तमानां स्मितं भवेत् ॥ ४३ ॥
उत्फुल्लाननेत्रं तु गण्डैर्विकसितैरथ ।
किञ्चिल्लक्षितदन्तं च हसितं तद्विधीयते ॥ ४४ ॥

सौष्ठवमनुल्वणता । द्विजा दन्ता. । धीरमिति मन्थर कृत्वा, ईषत्वनिर्वाह । विकसितैरिति अथेति स्मितानन्तर संक्रमणकाले इत्यर्थः । तदिति स्मितमेव सक्रान्त सदेव रूपतामेतीत्यर्थ ।

[मुस्कराहट] है वही संकान्त [अधिक व्यापक] होकर 'हसित' बन जाता है । इसीलिए [स्मित हसितको मिला कर एक, विहसित और उपहसितको मिला कर एक, तथा अपहसित अतिहसितको मिला कर एक, इस प्रकार] हासकी तीन अवस्थाए [आगे ५१वीं कारिकामे] कही जावेंगी । अन्यथा छः प्रकारका हास होता । [हासकी] मन्दता होने पर 'स्मित' कहा जाता है । उसके बढ़ जानेपर [अधिक व्यापक होने पर] 'हसित' हो जाता है । उसके बाद आगे बढा हुआ [हास्य] 'विहसित' और [उससे भी आगे बढ़ कर दूसरोके] समीपगत 'उपहसित' हो जाता है । अन्य भेद अपहसित तथा अतिहसित [कहलाते] हैं । इस प्रकार उपसर्गोंके मेलसे अर्थमे भेद हो जाता है ॥५२॥

भरत०—उनमेसे—

भरत०—[ज्येष्ठ अर्थात्] उत्तम पुरुषोंमें स्मित, तथा हसित, मध्यमोंमे विहसित तथा उपहसित, और अधमोंमे अपहसित तथा अतिहसित [ये दो-दो भेद] समझने चाहिए । ४२ ।

भरत०—इस विषयमे [उत्तमादिनिष्ठ स्मित हसित आदिके लक्षण करने वाले निम्नाङ्कित] श्लोक पाए जाते हैं—

भरत०—थोडेसे खिले हुए गालों और सुन्दर कटाक्षोंसे युक्त जिसमे दात दिखलाई न पड़ें इस प्रकारका उत्तम पुरुषोका गम्भीरता-पूर्ण [हास्य] 'स्मित' [मुस्कराहट] कहलाता है ।४३।

भरत०—प्रसन्न मुख तथा नेत्रोंसे युक्त, गालोंके और अधिक विकसित होनेपर जिसमे दांत थोड़े दिखलाई पड़ें उसको 'हसित' कहते हैं । ४४ ।

अभिनव०—'सौष्ठव' अर्थात् उज्ज्वलता । 'द्विज' अर्थात् दात । 'धीर' अर्थात् धीरे-धीरे इससे स्वल्पताका निर्वाह किया है । 'विकसितैरथ' इसमे 'अथ' पदसे स्मितके बाद, अर्थात् संक्रमण कालमें । 'तत्' इससे स्मित ही बढ़कर इस प्रकारका [हसित रूप] हो जाता हैं यह अभिप्राय है ।

भरत०—अथ मध्यमानाम्—

भरत०—आकुञ्चिताक्षिगण्डं यत् सस्वनं मधुरं तथा ।
कालागतं सास्यरागं तद्वै विहसितं भवेत् ॥ ४५ ॥
उत्फुल्लनासिकं यत्तु जिह्मदृष्टिनिरीक्षितम् ।
निकुञ्चिताङ्गकशिरस्तच्चोपहसितं भवेत् ॥ ४६ ॥

जिह्मारव्याया भाविन्या दृष्ट्या निरीक्षणं यत्र । काले उचित तेन सस्थानादौ ॥५७॥

भरत०—अधमानाम्—

भरत०—अस्थानहसितं यत्तु साश्रुनेत्रं तथैव च ।
उत्कम्पितांसकशिरस्तच्चापहसितं भवेत् ॥ ४७ ॥
संरब्धसाश्रुनेत्रं च विक्रुष्टस्वरमुद्धतम् ।
करोपगूढपार्श्वं च तच्चातिहसितं भवेत् ॥ ४८ ॥

अस्थाने इत्यकाले शोकाद्यवसरे । विक्रुष्टं श्रवणकटु ।

भरत०—हास्यस्थानानि यानि स्युः कार्योत्पन्नानि नाटके ।
उत्तमाधममध्यानामेवं तानि प्रयोजयेत् ॥ ४९ ॥

नाटके इति—नाटकशब्दो रूपकमात्रवृत्तिः ।

भरत०—और मध्यम पुरुषोंके—

भरत०—जिसमें गाल तथा आखें सिकुड जांय, मुख लाल हो जाय इस प्रकारका, [उचित] समयपर होने वाला, आवाज सहित मधुर [हास्य] 'विहसित' कहलाता है । ४५ ।

भरत०—और जिसमे नाक फूल जाय, टेढ़ी दृष्टिसे जिसमे देखना हो सके, और अङ्ग तथा शिर झुक जाय वह [हास्य] 'उपहसित' होता है ।४६।

अभिनव०—वक्र कही जाने वाली भावपूर्ण दृष्टिसे जिसमे निरीक्षण किया जाय । समयपर जो उचित हो इससे सभा आदिमे [उचित समझना चाहिए] ।

भरत०—अधमोंके—

भरत०—अनुचित अवसरपर इस प्रकारका हास्य जिसमे आंखोमे आंसू आ जाय, और कन्धे तथा सिर हिलने लगें वह अपहसित [नामक नीचजनोंका हास्य] होता है ।४७।

भरत०—आंखोमे आंसुओसे युक्त, सुननेमे बुरा लगने वाला [विक्रुष्टस्वर], हाथोसे पसलियोंको दबा कर अत्यन्त जोरसे [उद्धत], लगातार [संरब्ध] होने वाला [अधम पुरुषोंका हास्य] 'अपहसित' कहलाता है ।४८।

अभिनव०—स्थानमे अर्थात् अनुचित अवसरपर, शोकादिके समय । विक्रुष्ट अर्थात् सुननेमे बुरा लगने वाला ।

भरत०—नाटकमे कार्यवश जो हास्यके अवसर प्राप्त हो उनमे उत्तम मध्यम अधमोके [अनुरूप] इस प्रकारसे दिखलाए हुए रूपमे उन [हास्यभेदों] का प्रयोग करावे ।४९।

अभिनव०—'नाटकमें' यह नाटक शब्द रूपकमात्रका बोधक है ।

भरत०—इत्येष स्वसमुत्थस्तथा परसमुत्थश्च विज्ञेयः।
द्विविधः त्रिप्रकृतिगत त्र्यवस्थभावो रसो हास्यः॥ ५० ॥

स्वसमुत्थ इत्यसङ्क्रान्तस्मित-विहसित-अपहसितलक्षण.। परसमुत्थ सङ्क्रान्तो हसित-उपहसित-अतिहसितरूपः। हसितादिरूपसङ्क्रमणया उत्कृष्टप्रकृतौ स्मितादिरूपः।

रति-क्रोध-शोकादेस्तु न सङ्क्रमण भवतीत्युक्तमेव। तत्र हि युगपदेव 'स विभावस्तच्चित्तवृत्तिमये'[1] पुरुषे विश्रान्ततामेति न तु त एव विभावास्तस्य चित्तवृत्तिं प्रस्तूय सङ्क्रमन्त्यन्यत्र' प्रस्तुतवतो हासमिव। सर्वेषामात्मस्थ-परस्थभेदोपलक्षणमेतदित्यन्ये। एतच्चासत्। अनुभवसिद्धमेव हीद हास संक्रमतीति।

अन्यस्त्वाह—तिसृपु प्रकृतिषु त्र्यवस्थो विभावतारतम्याद् द्विरूप'। पुनरात्मस्थ-परस्थत्वेन द्विविधश्चेति द्वादशभेदोऽयमिति कारिकातात्पर्यम्। अत्र च पृथग् विभावनमपि भवति। तत्तु अतिप्रसङ्गावह तन्मतमिति नोदाहृतम्।

इति हास्यरसप्रकरणम्

भरत०—इस प्रकारका यह [हास्य] स्वसमुत्थ और परसमुत्थ दो प्रकारका [उत्तम मध्यम अधम रूप] तीन प्रकारकी प्रकृति वाला इसलिए तीन अवस्था वाला हास्यरस होता है ॥५०॥

अभिनव०—स्वसमुत्थसे संक्रान्त न होने वाले [तीनो प्रकृतियोंके प्रथम भेद] स्मित विहसित तथा अपहसित [का ग्रहण होता है] और परसमुत्थसे [तीनो प्रकृतियोंके] संक्रान्त होने वाले हसित, विहसित, तथा अतिहसित [का ग्रहण होता] है। हसितादिके रूप संक्रमण होनेसे उत्कृष्ट प्रकृतिमें [असंक्रान्त रूपमें] स्मित आदि रहता है।

अभिनव०—रति क्रोध शोक आदिका तो अन्यत्र संक्रमण नहीं होता है यह बात कह चुके हैं। उनमें तो वह विभाव एक साथ ही उस प्रकारकी चित्तवृत्तिसे युक्त पुरुषमें विश्रान्तिको प्राप्त हो जाता है। न कि वह विभाव उसकी चित्तवृत्तिको प्रस्तुत करके हासके समान फिर प्रस्तुत करनेवालेसे अन्यत्र सक्रान्त कराते हैं। दूसरे व्याख्याकारोका यह मत है कि आत्मस्थ, परस्थ भेदसे यह सबका उपलक्षण है। परन्तु यह मत ठीक नहीं है। क्योकि हास अन्यत्र संक्रान्त होता है यह अनुभवसिद्ध है [अन्य स्थायिभावोके विषयमें ऐसा अनुभव नहीं है]।

अभिनव०—दूसरे व्याख्याकार कहते हैं कि—तीन प्रकारकी प्रकृतियोंमें तीन अवस्था वाला हास्य विभावोके तारतम्यसे दो प्रकारका [कुल छः प्रकारका हुआ]। और फिर आत्मस्थ तथा परस्थ भेदसे दो प्रकारका होकर यह बारह प्रकारका हो जाता है यह इस कारिकाका तात्पर्य है। और इन [बारहो भेदो] मे पृथक-पृथक विभावन [व्यापार] भी होता है किन्तु उसमे तो अतिप्रसग प्राप्त होता है इसलिए वह मत प्रस्तुत नहीं किया है।

हास्यरसका प्रकरण समाप्त हुआ।

---

१. वा स एव। २. वृत्तिमान् वा पुरुषो विभावतामेति। ३ संक्रम्यपाग्रस्त।

अथ करुणरसप्रकरणम्

इदानीमवसरप्राप्तं करुणं लक्षयति 'अथ करुणो नाम' इति—

भरत०—अथ करुणो नाम शोकस्थायिप्रभवः। स च शापक्लेश-विनिपतितेष्टजनविप्रयोग-विभवनाश-वध-बन्ध-विद्रव-उपघात-व्यसनसंयोगादिभि-र्विभावैः समुपजायते।

अथेति क्रमे। तत्र चायं क्रमः—सम्भोगेन हास्योऽङ्गत्वेनापेक्षितः। विप्रलम्भेन च समानव्यभिचारित्वात् करुण इति टीकाकारः। एतच्च पूर्वापरविरुद्धम्। अस्माभिस्तु उद्देशविभाग एव क्रमो दर्शितः।

भरत०—तस्य, अश्रुपात-परिदेवन-मुखशोषण-वैवर्ण्य-स्रस्तगात्रता-निश्श्वास-स्मृतिलोपादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

तस्याभिनयः प्रयोज्यो यस्यास्वाद्यमानस्य करुण इति व्यपदेशः।

करुणरस-प्रकरण

अभिनव०—अब अवसर प्राप्त करुण रसका 'करुणो नाम' इत्यादि [मूल ग्रन्थ] से लक्षण करते है—

भरत०—शोक [नामक] स्थायिभावसे उत्पन्न [रस] करुण नामसे कहा जाता है। और वह शापक्लेशमे पतित प्रियजनके वियोग, विभवनाश, वध बन्ध [क़ैद], देशनिर्वासन [विद्रव] अग्नि आदिमे [जल कर] मर जाना अथवा व्यसनोंमे फस जाने आदि विभावोंसे उत्पन्न होता है।

अभिनव०—'अथ' यह शब्द क्रमके बोधनके लिए है। [शृङ्गारके बाद हास्य और उसके बाद करुणका जो निरूपण किया है उसका] यह क्रम [रखनेका कारण] है कि—सम्भोग [शृङ्गार] मे अङ्ग-रूपसे हास्यकी आवश्यकता होती है [इसलिए शृङ्गारके बाद हास्यका निरूपण किया गया है] और विप्रलम्भ [शृङ्गार] दोनोके व्यभिचारिभावोके समान होनेसे करुणकी [अपेक्षा रखता है इसलिए उसके बाद करुणका निरूपण किया गया है] यह [प्राचीन] टीकाकार [रसोके क्रमका कारण] मानते हैं। [परन्तु] यह पूर्वापर विरुद्ध है। हमने [अभिनवगुप्तने] तो [रसोके] उद्देश्य विभागके अवसरपर ही क्रमका निर्देश कर दिया है।

भरत०—आंसू गिराने, विलाप करने, मुख सूख जाने, विवर्णता, अङ्गोंकी शिथिलता, लम्बी सांसें भरने, स्मृतिके लोप आदि अनुभावोके द्वारा अभिनय उसका करना चाहिए।

अभिनव०—[इन अनुभावोके द्वारा] उसका अभिनय करना चाहिए कि जिस का आस्वादन होनेपर 'करुण' यह नाम होता है

इस पंक्तिका अभिप्राय यह है कि करुण रसका इन अनुभावोसे अभिनय करना चाहिए यह जो कहा गया है इससे ऐसी भ्रान्ति हो सकती है कि करुणरस अलगसे विद्यमान है उसका अभिनय किया जाना चाहिए। परन्तु वास्तवमें यह बात नही है। करुणरस तो अन्य रसोके समान अनुभूति-स्वरूप ही है। जिस समय उसका आस्वादन होता है,उतने ही समय रसकी स्थिति

सदय-हृदयता हि करुणेति लोके प्रसिद्धा । सा लिङ्गै[1]रनुकर्तरि शोक प्रतियतां सामाजिकानामिति तत्र करुणव्यपदेश इति श्रीशकुक. ।

एतच्च पूर्वापरविस्मरणविजृम्भितमस्य । यत [1]शोकानुकृतिस्तस्य करुणा, दया च नाम परत्राणेच्छा । सा कथ शोकानुकरणम् ? किम्प्रति च तेषा दयेति न विद्म ।

तस्मात् करुण इति [2]शोकस्य सर्वसाधारणत्वेन प्राग्युक्त्या आस्वाद्यमानस्य संज्ञा । तदर्थमेव नामशब्द । तत्प्रभवत्व शृङ्गारवद् व्याख्येयम् ।

रहती है। इसलिए 'करुण रसका अभिनय करना चाहिए' इसका यही अभिप्राय हो सकता है कि जिसका आस्वादन होनेपर करुण सज्ञा होती है उसका अभिनय करना चाहिए।

भरतके प्राचीन टीकाकार श्री शकुकने करुण रसकी अन्वर्थताका उपपादन करते हुए यह लिखा है कि करुण रसमें करुणा अर्थात् दयाका अनुकरण किया जाता है इसलिए इस रसका नाम 'करुणरस' रखा गया है। अभिनवगुप्त इस मतसे सहमत नही है। शकुकके मतमें अनुकर्ता नटके हृदयमें रहने वाले शोकको करुणा सामाजिको को शोकका अनुभव कराती है इसलिए इसको करुणरस कहा जाता है। इस मतका उल्लेख करके ग्रन्थकार उसका खण्डन निम्न प्रकार करते हैं—

अभिनव०—सदय-हृदयता लोकमें 'करुणा' नामसे प्रसिद्ध है। वह [अपने दृश्यमान रोदन विलपन आदि] लिङ्गों द्वारा अनुकर्ता [नट] मे रहने वाले शोकको अनुभव करने वाले सामाजिकोमे रहती है इसलिए [इस रसका] 'करुण' यह [सार्थक] नाम है। यह श्री शंकुकका मत है।

अभिनव०—परन्तु यह [कथन] पूर्वापर [बातोको] भूल जानेका परिणाम [परस्पर विरोधी] है। क्योंकि उनके मतमे करुणा, शोकका अनुकरण ठहरती है। परन्तु दया [दूसरोंकी] रक्षा करनेकी इच्छाको कहते हैं। वह शोकका अनुकरण रूप कैसे हो सकती है ? और किसके प्रति उन [सामाजिको] की दया [करुण रसकी जनक] होगी यह कुछ समझमें नहीं आता है। [अत यह मत ठीक नहीं है]।

अभिनव०—आगे अपना सिद्धान्तपक्ष देते हैं—इसलिए पूर्वोक्त युक्तिसे [साधारणीकरण व्यापार द्वारा] सर्वसाधारण रूपसे आस्वाद्यमान शोक [रूप स्थायिभाव] का नाम करुण रस है। इसीलिए [मूल ग्रन्थमे] 'नाम' शब्द दिया गया है। [करुण रस शोकप्रभव है] शोकसे उत्पन्न होता है यह बात शृङ्गारके समान समझ लेनी चाहिए।

पृष्ठ ५७० पर ग्रन्थकार इस विषयपर विचार कर चुके हैं कि शृङ्गार और करुण रसके स्थायिभाव रति तथा शोक सजातीय रति या शोकको उत्पन्न न करके क्रमश. सुख और दुःख रूप विजातीय अनुभूतिको उत्पन्न करते हैं। इसलिए शृङ्गार और करुण रस 'स्थायिभाव-प्रभव' हैं। 'स्थायिभावात्मक' नही। शेष हास्यादि रसोमें स्थायिभाव सजातीय अनुभूतिको उत्पन्न करते हैं इसलिए शेष रस 'स्थायिभावप्रभव' न होकर 'स्थायिभावात्मक' होते हैं। इन युक्तियोंके अनुसार शृङ्गार और करुण दोनो रस 'स्थायिभाव-प्रभव' होते हैं। इसी बातको यहाँ 'तत्प्रभवत्व शृङ्गार-वद् व्याख्येयम्' इस पंक्ति द्वारा ग्रन्थकार स्मरण दिला रहे हैं।

---

१. शोकप्रतिकृति । २ शोक ।

अशक्यप्रतीकारहेतूपलक्षणं शापग्रहणम्। शापक्लेशे पतितस्येष्टजनस्य ये विप्रयोगादय। तत्र विप्रयोगोऽसगम[1]। विभवनाशादि प्रसिद्धम्। विद्रवो देशादुच्चाटनम्। तच्च विप्रयोगेऽपीति विशेष। उपघातोऽग्न्यादिमरणम्। अग्न्यादिकृतो 'विद्रव', चोरादिकृत 'उपघात' इति त्वसत्। विभवनाशेन गतार्थत्वात्[2]। व्यसनेन मृगयाक्षादिनाऽनर्थजनकेन सयोग। विभवनाशादयोऽपि स्वात्मगता नोत्तमप्रकृते शोक कुर्यु। मध्यमाधमप्रकृतीना तु कुर्युरेव इति आदिग्रहणम्। परिदेवनमात्मनो दैवस्यान्यस्य चोपालम्भ। निश्श्वासशब्देन यदनन्तरभावी उच्छ्वासोऽपि ऊर्ध्वश्वसनरूपो लक्ष्यते। स्मृतिलोपेन स्तम्भप्रलयौ लक्ष्येते।

भरत०—व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद-ग्लानि-चिन्ता-औत्सुक्य-आवेग-भ्रम-मोह-श्रम-भय-विषाद-दैन्य-व्याधि-जडता-उन्माद-अपस्मार-त्रास-आलस्य-मरण-स्तम्भ-वेपथु-वैवर्ण्य-अश्रु-स्वरभेदादय।

अभिनव०—शाप पदका ग्रहण अशक्यप्रतीकार अर्थात् जिनका प्रतीकार करना सम्भव न हो इस प्रकारके हेतुओका उपलक्षण रूप है। शापके क्लेशमे पड़े हुए इष्टजनके जो विप्रयोग आदि [उनसे करुण रस उत्पन्न होता है]। उनमेसे 'विप्रयोग' का अर्थ वियोग [असग, न मिलना] है। विभवनाशादि प्रसिद्ध ही हैं। 'विद्रव' का अर्थ देशनिर्वासन है। वह [देशनिर्वासन केवल करुण रसमें ही नही अपितु] विप्रलम्भ [शृङ्गार] मे भी होता है यह बात विशेष है। 'उपघात' का अर्थ अग्नि आदि से मरण है। [प्राचीन व्याख्याकार शकुक आदिने 'विद्रव' तथा 'उपघात' का अर्थ भिन्न प्रकारसे किया है। अभिनवगुप्त उससे सहमत नहीं है इसलिए उसका उल्लेख करके निम्न प्रकार उसका खण्डन करते हैं] अग्नि आदिके द्वारा किए जाने वाला [सम्पत्तिनाशादि] 'विद्रव' कहलाता है, और चोर आदिके द्वारा किया गया 'उपघात' होता है। [शंकुकादि कृत] यह व्याख्या तो असगत है। क्योकि वे विभवनाशमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। 'व्यसन' अर्थात् मृगया [शिकार खेलना] या जुआ आदि किसी अनर्थजनकके साथ सम्बन्ध हो जाना। अपनेमें रहने वाले विभवनाश आदि भी उत्तम प्रकृतिके पुरुषोमें शोकको उत्पन्न नहीं करते हैं। मध्यम तथा अधम प्रकृति [के पुरुषो] में तो करते ही हैं इसलिए 'आदि' पदका ग्रहण किया है। अपने आपको, भाग्यको अथवा अन्यको उलाहना देना 'परिदेवन' [कहलाता] है। 'निश्श्वास' शब्दसे उसके बाद होने वाले ऊर्ध्व-श्वास रूप उच्छ्वासका भी ग्रहण होता है। 'स्मृतिप्रलोप' [शब्द] से स्तम्भ तथा प्रलयका भी लक्षणाके द्वारा ग्रहण होता है।

भरत०—निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जडता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, कम्पन [वेपथु], विवर्णता, अश्रु और स्वरभेद आदि इस [करुण रस] के व्यभिचारिभाव होते हैं।

---

१ विप्रयोगोऽयमसगम। २ गतत्वात्।

'वैवर्ण्य-अश्रुस्वरभेदा' अत्र वहिरुद्भन्नस्वभावाश्चित्तवृत्यात्मानो गृह्यन्ते। तथाहि वक्तारो भवन्ति 'अश्रुणा पूर्णोऽस्य कण्ठो न च नयनजलं दृष्टम्' इति। एते ह्यश्रुप्रभृतयो व्यभिचारित्वाभिनेयत्वोपजीवनायैत्र मध्ये निर्दिष्टा इत्यवोचाम, वक्ष्यामश्च। तेन न पौनरुक्त्यम् एवमन्यत्रापि। व्याधेरुन्मादापस्मारौ भेदेन वक्ष्याम.।

भरत०—अत्रार्ये भवत —

इष्टबधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि।
एभिर्भावविशेषै करुणरसो नाम सम्भवति॥
सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च।
अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च॥

वधशव्दो वन्यादेरप्युपलक्षणम्। विप्रियमिष्टजनवधादि, येन वाक्येनोच्यते तस्य श्रवणात्। तेन चेष्टजनस्य विभवनाशादि दृश्यमान श्रूयमाणं वा कविभि: करुण-विभावत्वेनोपनिवन्धनीयमिति तात्पर्यम्। एभिरित्येवप्रकारै। भावशव्दोऽत्रार्याया विभाववाची।

अभिनव०—वैवर्ण्य, अश्रु और स्वरभेद से [सात्त्विक भावोमे होनेसे वस्तुत] चित्तवृत्ति रूप ही है परन्तु यहां [अनुभाव रूप मे] वाहर प्रकाशित हो जाने वाले ग्रहण किए जाते हैं। जैसे कि कहने वाले कहा करते हैं कि 'इसका गला आंसुओसे भर आया है परन्तु आँखोमें आंसू दिखलाई नहीं दिए'। [यहां अश्रु सूक्ष्म चित्तवृत्ति रूप है, जो स्थूल रूपमे वाहर प्रकाशित होते हैं]। ये अश्रु आदि यहाँ व्यभिचारिभावत्व [तथा इसके पूर्वकी पक्तिमे] अभिनेयत्वके प्रदर्शनके लिए ही वीचमे [दो वार] निर्दिष्ट किए गए हैं यह वात कह भी चुके हैं और आगे कहेगे भी। इसलिए [इनके एक वार 'अनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्य' के साथ और दूसरी वार व्यभिचारिभावोंके साथ कथन होनेपर भी] पुनरुक्ति नहीं होती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए। उन्माद और अपस्मार व्याधिसे भिन्न हैं यह आगे कहेगे।

भरत०—इस विषयमे दो आर्या [छन्दके श्लोक] भी हैं—

भरत०—इष्टजनके वध को देखनेसे अथवा अप्रिय वचनके सुननेसे भी [अर्थात्] इन विशेष भावोंसे करुण नामक रस उत्पन्न होता है।

भरत०—जोर-जोरसे रोने, मूर्छित होने, कोसने और विलाप करने, शरीरको गिराने, और छाती पीटने आदिके द्वारा करुण रसका अभिनय करना चाहिए।

अभिनव०—'वध' शब्द वन्ध आदिका भी उपलक्षण है। 'विप्रिय' शब्दका अर्थ इष्टजनका वध आदि, जिस वाक्यसे कहा जाय उस [विप्रियवचन] के श्रवणसे भी [करुण रस उत्पन्न होता है]। इसलिए इष्टजनके दृश्यमान अथवा श्रूयमाण विभवनाश आदिको करुण रसके विभाव रूपमे कवियोंको अङ्कित करना चाहिए यह तात्पर्य है। 'एभि.' इसका अर्थ 'इन प्रकारोसे' यह है। इस आर्या [छन्द] मे आया हुआ भावशब्द विभावका वाचक है।

अनुभावांस्तद्द्वारेण च व्यभिचारिणोऽप्युपलक्षयितुमार्यान्तरं सस्वनेत्यादि । बहुवचनं प्रकृति-देश-काल-दशा-हेत्वादिभेदेनानेकप्रकारत्वज्ञापनार्थम् । मोहो जडता । तेनान्ये व्यभिचारिण उपलक्ष्यन्ते । देहस्यायासनं पातनवेष्टनादि । अभिघात उरस्ताडनादि । एते चानुभावा प्रकृतिभेदेन यथायोग विभजनीया । करुणो रौद्रादित्युक्तम् । स कीदृग् रौद्र इति क्रम केचिदाहु ।

इति करुणरसप्रकरणम्

अथ रौद्ररसप्रकरणम्

अधुना रौद्ररस लक्षयति 'अथ रौद्रो नाम' इति ।

भरत०—अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धत्तमनुष्यप्रकृतिः संग्रामहेतुकः ।

आत्मग्रहणस्यायमाशय अन्यायकारिता प्राधान्येन क्रोधस्य विषय । तादृशि च जने सर्वेऽपि मनोरथैरपि रुधिरपानमपि नामाद्रियन्ते । तथा चाह लोक — 'तादृशो यदि लभ्यते तत्तदीय रुधिरमपि पीत्वा न तृप्यते । महाकविना भासेनापि स्वप्रबन्धे उक्तम्—

अभिनव०—अनुभावो तथा उनके द्वारा व्यभिचारिभावोको लक्षित करनेके लिए 'सस्वन' इत्यादि दूसरी आर्या है— [इस आर्यामे आए हुए] बहुवचन, प्रकृति, देश, काल, दशा, हेतु, आदिके भेदसे अनुभावादिके अनेक प्रकारत्वके ज्ञापनकेलिए है। 'मोह' का अर्थ जडता है। उससे अन्य व्यभिचारिभाव भी उपलक्षित होते हैं। देहका आयासन अर्थात् गिराना मरोडना आदि। अभिघात अर्थात् छाती पीटना आदि। ये अनुभाव उत्तम, मध्यम, अधम रूप प्रकृतियोके भेदसे यथा योग्य विभक्त करके प्रयुक्त करने चाहिए। ['रौद्राच्च करुणो रस' इत्यादि कारिका ६-३२ मे] करुण रस रौद्रसे [उत्पन्न] होता है यह कहा था। [इसलिए करुण रसके निरूपणके बाद करुणका हेतुभूत] वह रौद्ररस कैसा है [यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है]। इस प्रकारका क्रम कोई [व्याख्याकार] मानते है।

करुणरसका प्रकरण समाप्त हुआ।

रौद्ररस-प्रकरण

अभिनव०—अब करुणके बाद अथ 'रौद्रो नाम' इत्यादिसे रौद्र रसका लक्षण करते हैं—

भरत०—राक्षस, दानव और उद्धत मनुष्योंके आश्रित, युद्धजन्य क्रोध रूप स्थायिभावात्मक रौद्र रस होता है।

अभिनव०—[रौद्ररसके लक्षणमे] 'आत्म' पदके ग्रहणका यह आशय है कि—प्रधान रूपसे अन्यायकारिता प्रधान रूपसे क्रोधका विषय होती है। और उस प्रकारके [अन्यायकारी] पुरुषके विषयमे सब लोग उग्र भावना रखते हैं यहां तक

त्रेतायुग तद्धि न मैथिली सा,
रामस्य रागपदवी मृदु चास्य चेत ।
लब्धा जनस्तु यदि रावणमस्य कायं,
प्रोत्कृत्य तन्नु[1] तिलशो न वितृप्तिगामी ।

तेन हास्यवत् साधारणविभावत्वात् चर्वणापि क्रोधमय्येवेति [2]तद्रसनाचर्वणे रौद्र. क्रोधात्मक एव । उद्रिक्त हन्तृत्व येपा त उद्धता । तद्वेषधारिणो ये नटास्ते प्रकृति चर्वणोदयहेतुरस्य ।

अत्र व्याचक्षते—युद्धहेतुकोद्धतमनुष्येपु भीमसेनादिपु रुधिरपानादिलक्षण । रक्षोदानवास्तु स्वभावरौद्रा इति ।

कि [उस अन्यायके प्रतीकार के लिए] मनमें [मनोरथं.] उसका खून पी जाने तकको तैयार हो जाते हैं । जैसे कि [क्रोधके अत्यन्त आवेशमें आनेपर] लोग कहा करते है कि—'ऐसा दुष्ट व्यक्ति यदि मिल जाय तो उसका खून पीकर भी तृप्ति नहीं होगी' । महाकवि भासने भी अपने नाटकमे कहा है कि—

अभिनव०—आज न वह त्रेतायुग है । न रामचन्द्रजी की अनुराग भूमि वे जानकी है, और न उन [रामचन्द्रजी] का सा कोमल चित्त है । आज तो यदि लोग रावणको पा जांय तो उसके तिल भरके टुकड़े कर डालनेपर भी तृप्त न होगे ।

अभिनव०—इस लिए हास्यरसके समान [लोकमे तथा काव्यमे रौद्र रसके भी] समान विभाव होनेके कारण [रौद्ररसकी] चर्वणा भी क्रोधमयी ही होती है । इसलिए उसका आस्वादन करनेपर रौद्र रस भी क्रोधात्मक ही होता है। जिनमें हिंसा का भाव उत्कट होता है वे मनुष्य 'उद्धत' कहलाते हैं । उन [उद्धतो] का वेष धारण करने वाले नट [भी उद्धत हुए] वे जिसके आस्वाद [चर्वणोदय] की प्रकृति अर्थात् हेतु हैं [वह रौद्र रस होता है यह 'रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रकृति.' इस लक्षण भागकी व्याख्या हुई] ।

हास्यरसके प्रकरणमें यह दिखलाया था कि हास्यरस 'स्थायिभावप्रभव' नहीं अपितु 'स्थायिभावात्मक' होता है । और उसका कारण यह बतलाया था कि लोकमें जिन कारणोंसे हास्य की उत्पत्ति होती है उन्हीसे काव्यमें भी हास्य उत्पन्न होता है । इसलिए समान विभाव होनेसे काव्यमें हास्यका रसास्वाद भी हास्यात्मक ही होता है । इसी प्रकार यहां रौद्र रसमें भी लोक तथा काव्यके विभावादिके समान होनेसे रौद्र रसकी चर्वणा भी क्रोधात्मक ही होती है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । इसलिए रौद्ररस भी 'स्थायिभाव-प्रभव' नही अपितु 'स्थायिभावात्मक' होता है ।

अभिनव०—[प्राचीन व्याख्याकार] इस विषयमे ['संग्रामहेतुकः' पदके सम्बन्धसे] इस प्रकारकी व्याख्या करते हैं कि—युद्धके कारण उद्धत हुए भीमसेन आदि मनुष्योंमें रुधिरपान आदि रूप [रौद्ररस संग्राम हेतुक होता है । राक्षस और दानव आदि तो स्वभावसे रौद्र होते है । उनमे संग्रामहेतुक रौद्रता नहीं होती है] ।

---

१ तन्न । २ तद्रसनाचरणो ।

तदसत्। भीमस्य रुधिरपानं न युद्धहेतुकं, अपितु तद्विपर्ययेण। उद्धतस्वभावत्वादेव ह्यसौ क्रोधपरवशः सन्ननुचितमपि प्रतिज्ञातवान्। तन्निर्वाहार्थेन च राक्षसाधिष्ठानमस्य कविना वेणीसंहारे वर्णितम्। तस्मात् सर्व एवैते स्वभावात् क्रोधना। तदनुकारिणि नटे रौद्र आस्वाद्यत इति मनुष्यप्रकृति।

संग्रामहेतुक इति चायमर्थः—युद्धस्य कविनटप्रदर्श्यमानस्य हेतुक कुत्सित-हेतुर्धीरोहित। तस्योचितो हेतुर्न क्रोध। तथा च प्राधान्येन युद्धेन वीर एव व्यपदेक्ष्यते।

नन्वेते स्वभावक्रोधना अपि किमुद्दीपनमपेक्षन्ते ? ओमित्याह स चेति।

भरत०—स च क्रोध-आधर्षण-आधिक्षेप-[1]अनृतवचन-उपघात-वाक्य-पारुष्य-अभिद्रोह-मात्सर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

क्रोधादि परकर्तृकम्। आधर्षणं दारादिखिलीकरणम्। अधिक्षेपो देश-जाति अभिजन-विद्या-कर्म-निन्दा। अनृतस्य कस्याप्यसत्यस्य वचनमनृतवचनम्। उपघातो [2]गृहभृत्याद्युपमर्दनम्। वाक्यपारुष्यं वधाद्युपन्यासेन तर्जनम्। अभिद्रोहो जिघांसा।

अभिनव०—यह [व्याख्या] असङ्गत है। क्योंकि भीमसेनके द्वारा किया गया रुधिरपान युद्धके कारण नहीं अपितु उसके विपरीत [स्वाभाविक औद्धत्यके कारण] है। उद्धतस्वभाव होनेके कारण ही क्रोधके परवश होकर [भीमने] अनुचित होनेपर भी [रक्तपानकी] प्रतिज्ञा करली थी। उसके निर्वाहकेलिए ही वेणीसंहार नाटकमे कविने उसके ऊपर राक्षसके आवेशका वर्णन किया है। इसलिए ये सभी स्वभावसे क्रोधी होते हैं। उनका अनुकरण करने वाले नटमे रौद्र रस पाया जाता है अतः उसको मनुष्य प्रकृति कहा गया है।

अभिनव०—'संग्राम हेतुक का' [मे कुत्सितार्थक क-प्रत्यय] का यह अभिप्राय है कि कवि या नट द्वारा प्रदर्शित संग्रामका, [क्रोध] कुत्सित हेतु प्रतीत होता है। उस [संग्राम] का उचित हेतु क्रोध नही [अपितु वीर रसका स्थायिभाव उत्साह] है। इसीलिए युद्धसे प्रधानतया वीर रसका ही ग्रहण होता है।

अभिनव०—[प्रश्न] क्या ये स्वभावसे क्रोधी भी उद्दीपनकी अपेक्षा करते हैं ? [उत्तर] हा, इसीको 'स च' इत्यादिसे कहते हैं—

भरत०—और वह क्रोध, आधर्षण, अधिक्षेप, अनृतभाषण, उपघात, वाक्पारुष्य, अभिद्रोह, मात्सर्य आदि [उद्दीपन] विभावोंसे उत्पन्न होता है।

अभिनव०—'क्रोधादि' [सभी] दूसरेके द्वारा किए जाने वाले [लेने चाहिए]। हैं। स्त्रियो आदिका तिरस्कार करना 'आधर्षण' [कहलाता] है। देश, जाति, कुल, विद्या, कर्म आदिकी निन्दा 'अधिक्षेप' [कहलाता] है। अनृत अर्थात् किसी झूठ बातका कहना 'अनृतवचन' [कहलाता] है। घरके भृत्य आदिके पीडनको 'उपघात' [कहा जाता] है। मार डालने आदिके बहानेसे धमकाना 'वाक्पारुष्य' [पदसे अभिप्रेत] है।

---

१ अनृतवचन नास्ति। २. गृहभृतयादि।

मात्सर्यं गुणेष्वसूया। आदिग्रहणाद्राज्यापहरणादि। एतैरुत्पद्यते कविना विभावत्वेन वर्ण्यमानैः।

भरत०—तस्य च ताडन-पाटन-पीडन-छेदन-भेदन-प्रहरण-आहरण-शस्त्र-सम्पात-सम्प्रहार-रुधिराकर्षणाद्यानि कर्माणि। पुनश्च रक्तनयन-भ्रुकुटी-करण-दन्तोष्ठपीडन-गण्डस्फुरण-हस्ताग्रनिष्पेषादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

अस्य ताडनादीनि कर्माणि, रक्तनयनादयोऽनुभावा, इति पृथङ् निरूपणं तुल्येऽप्यनुभावत्वे विशेषख्यपनार्थम्। विशेषस्तु पूर्वेषां वचनमात्रेण व्यावर्णनं, रङ्गे प्रत्यक्षतोऽप्रदर्शनीयत्वात्। यद्वक्ष्यते—

युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनं चैव।
अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकैः सविधेयानि॥ इति। [ना० ना० १८–३८]

रक्तनयनादि रङ्गे प्रत्यक्षेण कृतम्। प्रहरणाहरणन्तु पूर्वत्र प्रमादपठितमिति केचित्। इदन्तु पृथगभिधाने तुच्छं प्रयोजनम्।

अयं चात्राशयः—रक्षोदानवोद्धतमनुष्यादयः उद्दीपनहेतुभिर्विनापि चेष्टितमात्र

मार डालनेकी इच्छा 'अभिद्रोह' है। गुणोमे दोषदर्शन [असूया] 'मात्सर्य' है। 'आदि' ग्रहणसे राज्यके अपहरण आदिका ग्रहण होता है। कविके द्वारा [उद्दीपन] विभावके रूपमें प्रस्तुत किए गए इन [विभावो] से [रौद्ररस] उत्पन्न होता है।

भरत०—मारना, फाडना, मसलना, काटना, [मिश्रोंमे] कर देना, शस्त्र उठाना, [काट देने वाला] शस्त्र-पातन, [न काटने वाला] शस्त्र प्रहार, खून निकाल देना, आदि उस [रौद्र रस] के कर्म [अनुभाव] हैं। और फिर लाल-लाल नेत्रोंसे भ्रुकुटी चढ़ाने, दांतोंके किटकिटाने, होंठोंके चबाने, गालोके फडकाने, हाथोंको रगड़ने आदि अनुभावोंके द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए।

अभिनव०—ताडन आदि उसके कार्य हैं। और लाल नेत्र आदि अनुभाव हैं इसलिए [इन दोनोमे] अनुभावत्वके समान रहते हुए भी भेद दिखलानेकेलिए अलग-अलग कथन किया है। भेद यह है कि रङ्गमञ्चपर प्रत्यक्ष रूपसे दर्शनीय न होनेसे पहिले [अर्थात् ताडन रुधिराकर्षण आदि अनुभावो] का केवल वचन मात्रसे [नाटकमे] वर्णन किया जाता है जैसे कि आगे कहेंगे—

अभिनव०—युद्ध, राज्यभ्रंश, मरण, नगरका घेरा आदि प्रत्यक्ष रूपसे प्रदर्शित न किए जाने वाले कार्योंको प्रवेशकोके द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए।

अभिनव—[बादमे जो अनुभाव कहे हैं वे] रक्तनयन आदि रङ्गमञ्चपर प्रत्यक्ष किए जा सकते हैं [यही इन दोनोमें भेद है। इनमेंसे पहिले वर्गमे प्रहरण और आहरणका पाठ प्रमाद वश हो गया है ऐसा कुछ [व्याख्याकारो] का मत है। [दोनो प्रकारके अनुभावोको] अलग-अलग कहनेका यह प्रयोजन तो तुच्छ है। [वास्तवमें तो दोनोंको अलग दिखलानेका प्रयोजन आगे कहते हैं]।

अभिनव०—यहां यह आशय है कि—राक्षस, दानव और उद्धत मनुष्य उद्दीपन

तदसत्। भीमस्य रुधिरपानं न युद्धहेतुकं, अपितु विपर्ययेण। उद्धतस्वभावत्वादेव ह्यसौ क्रोधपरवशः सन्ननुचितमपि प्रतिज्ञातवान्। तन्निर्वाहायैव च राक्षसाधिष्ठानमस्य कविना वेणीसंहारे वर्णितम्। तस्मात् सर्व एवैते स्वभावात् क्रोधनाः। तदनुकारिणि नटे रौद्र आस्वाद्यत इति मनुष्यप्रकृतिः।

संग्रामहेतुक इति चायमर्थः—युद्धस्य कविनटप्रदर्श्यमानस्य हेतुकः कुत्सित-हेतुर्धीरोहितः। तस्योचितो हेतुर्न क्रोधः। तथा च प्राधान्येन युद्धेन वीर एव व्यपदेक्ष्यते।

नन्वेते स्वभावक्रोधना अपि किमुद्दीपनमपेक्षन्ते? ओमित्याह स चेति।

भरत०—स च क्रोध-आधर्षण-आधिक्षेप-[1]अनृतवचन-उपघात-वाक्य-पारुष्य-अभिद्रोह-मात्सर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

क्रोधादि परकर्तृकम्। आधर्षणं दारादिखिलीकरणम्। अधिक्षेपो देश-जाति अभिजन-विद्या-कर्म-निन्दा। अनृतस्य कस्याप्यसत्यस्य वचनमनृतवचनम्। उपघातो [2]गृहभृत्याद्युपमर्दनम्। वाक्यपारुष्यं वधाद्युपन्यासेन तर्जनम्। अभिद्रोहो जिघांसा।

अभिनव०—यह [व्याख्या] असङ्गत है। क्योंकि भीमसेनके द्वारा किया गया रुधिरपान युद्धके कारण नहीं अपितु उसके विपरीत [स्वाभाविक औद्धत्यके कारण] है। उद्धतस्वभाव होनेके कारण ही क्रोधके परवश होकर [भीमने] अनुचित होनेपर भी [रक्तपानकी] प्रतिज्ञा करली थी। उसके निर्वाहकेलिए ही वेणीसंहार नाटकमे कविने उसके ऊपर राक्षसके आवेशका वर्णन किया है। इसलिए ये सभी स्वभावसे क्रोधी होते हैं। उनका अनुकरण करने वाले नटमे रौद्र रस पाया जाता है अतः उसको मनुष्य प्रकृति कहा गया है।

अभिनव०—'संग्राम हेतुक का' [मे कुत्सितार्थक क-प्रत्यय] का यह अभिप्राय है कि कवि या नट द्वारा प्रदर्शित संग्रामका, [क्रोध] कुत्सित हेतु प्रतीत होता है। उस [संग्राम] का उचित हेतु क्रोध नही [अपितु वीर रसका स्थायिभाव उत्साह] है। इसीलिए युद्धसे प्रधानतया वीर रसका ही ग्रहण होता है।

अभिनव०—[प्रश्न] क्या ये स्वभावसे क्रोधी भी उद्दीपनकी अपेक्षा करते हैं? [उत्तर] हा, इसीको 'स च' इत्यादिसे कहते हैं—

भरत०—और वह क्रोध, आधर्षण, अधिक्षेप, अनृतभाषण, उपघात, वाक्पारुष्य, अभिद्रोह, मात्सर्य आदि [उद्दीपन] विभावोंसे उत्पन्न होता है।

अभिनव०—'क्रोधादि' [सभी] दूसरेके द्वारा किए जाने वाले [लेने चाहिए]। है। स्त्रियो आदिका तिरस्कार करना 'आधर्षण' [कहलाता] है। देश, जाति, कुल, विद्या, कर्म आदिकी निन्दा 'अधिक्षेप' [कहलाता] है। अनृत अर्थात् किसी झूठ बातका कहना 'अनृतवचन' [कहलाता] है। घरके भृत्य आदिके पीडनको 'उपघात' [कहा जाता] है। मार डालने आदिके बहानेसे धमकाना 'वाक्पारुष्य' [पदसे अभिप्रेत] है।

---

१ अनृतवचन नास्ति। २. ग्रहभृतयादि।

भावा इति व्यभिचारिण.। असम्मोह सम्मोहविपरीतः। विरोधे नञ। तत्र अवृत्तिरसगृहीत सम्यग् वोध। उत्साहोऽत्र व्यभिचारी, क्रोधस्य प्राधान्येन रसनीयत्वात्। स्वेदादयो वाह्या, आभ्यन्तरसात्त्विकाभावेऽपि विषस्पर्शज्वरादिना भवन्ति। ततोऽनैकान्तिका। आन्तरा अनुद्रिक्ता। व्यजनग्रहणादिभिरुद्रिक्ता। वाह्यै स्वेदादिभिर्व्यक्ता व्यभिचारिरूपा पठिता।

भरत०—अत्राह–यदभिहितं रक्षो-दानवादीनां रौद्रो रसः, किमन्येषां नास्ति ?

भरत०—उच्यते–अस्त्यन्येषामपि रौद्रो रस, किन्त्वधिकारोऽत्र गृह्यते। ते हि स्वभावत एव रौद्राः। कस्मात् बहुवाहवो, बहुमुखा. प्रोद्धत-विकीर्ण-पिङ्गल-शिरोजा, रक्तोद्वृत्तविलोचनाः, भीमासितरूपिणश्चैव। यच्च किञ्चित् समारभन्ते स्वभावचेष्टितं वागङ्गादिकं तत्सर्वं रौद्रमेवैषाम्। शृङ्गारश्च तै प्रायशः प्रसभं सेव्यते। तेषां चाटुकारिणो ये पुरुषास्तेषामपि संग्राम-सम्प्रहारकृतो रौद्रोरसोऽनुमन्तव्य.।

अभिनव०—[मूलमे आए हुए] 'भाव' शब्दसे व्यभिचारिभावोका अभिप्राय है। असम्मोह [सम्मोह अपरिज्ञान] के विपरीत [अर्थात् भली प्रकारसे परिज्ञान असम्मोह कहलाता है]। यह विरोधार्थमे नञ् [का प्रयोग] है। उस [संमोह] मे न रहने वाला, उससे असगृहीत [असम्मोह] यथार्थ ज्ञान है। [उत्साह वीर रसका स्थायिभाव है किन्तु] यहां [रौद्ररसमें] क्रोधके प्रधान रूपसे आस्वाद्य होनेके कारण उत्साह व्यभिचारिभाव होता है। वाह्य स्वेदादि आभ्यन्तर [अर्थात् वास्तविक सात्त्विक] भावके विना भी विषके स्पर्श अथवा ज्वर आदिके कारण हो सकते हैं इसलिए [अनैकान्तिक] व्यभिचारिभाव है। अव्यक्त होनेपर आन्तर [सात्त्विक भाव कहलाते हैं] पंखाके ग्रहण आदिसे व्यक्त [प्रतीत] होते हैं। वाह्य स्वेदादिसे व्यभिचारिभावके रूपमे व्यक्त [सात्त्विकभाव] यहाँ पढ़ गए हैं।

भरत०—[प्रश्न] इसपर शङ्का करते हैं कि—रौद्र रस राक्षस दानवादिमे होता है [यह जो कहा है] सो क्या अन्योंमे नहीं होता है [यह आपका अभिप्राय है] ?

भरत०—[इस प्रश्नका] उत्तर देते हैं कि अन्योंमे भी रौद्र रस होता है। किन्तु यहां विशेष रूपसे [राक्षस आदिके ही] अधिकारका ग्रहण किया जाता है। क्योंकि वे स्वभावसे ही क्रोधी होते हैं [इसलिए मुख्य रूपसे उन्हींका अधिकार है]। क्यो ? क्योंकि वे अनेक बाहुओं वाले, अनेक मुख वाले, कांपते हुए, फैले हुए, और पीले केशोंसे युक्त, लाल-लाल चढ़ी हुई आँखों वाले, और भयकर काले रगके होते हैं। और वे वाचिक या आङ्गिक आदि जो व्यापार स्वाभाविक रूपसे भी आरम्भ करते हैं उनका वह सब व्यापार रौद्र ही होता है। [यहां तक कि] वे प्राय. शृङ्गारका सेवन भी बलात्कारसे ही करते हैं। उनकी चाटुकारी [सेवा, खुशामद] करने वाले जो मनुष्य होते हैं उनमें भी सग्राम या सम्प्रहार आदिके कारण रौद्र रस मानना चाहिए।

यदपि कुर्वते नर्मगोष्ठ्यामपि न तत्र ताडनादि प्रधानम्। तदाहमुनि—'यच्च किञ्चित् समारभन्ते' [पृ० ५८७ पंक्ति ६] इति। उद्दीपनसम्भवे ताडनादिग्रस्ते एव रक्तनयनाद्यधिकी भवति। अत एव पुनः शब्दः तत्र।

ताडनं तलाद्यभिघातः। पाटनं द्विधाकरणम्। पीडनं मर्दनम्। छेदनं कर्तनम्। भेदनं परस्परवियोजनम्। भावे ल्युडन्ता। प्रहरणानामासमन्ताद्धरणम्। शस्त्रस्य सम्पातनमविदारयतोऽपि सम्प्रहरणं, विदारयतः पातनम्। तेन रुधिरस्याकर्षणम्। रक्षःप्रभृतयो हि नर्मणापि प्रहरन्ति किन्तु रुधिरागमनमात्रफलं न त्वधिकम्।

रक्ते च ते नयने। भ्रुवोर्मूलसमुत्क्षेपो भ्रुकुटी। दन्तोष्ठस्य यथायोगं पीडनम्। हस्ताग्रयोरन्योन्यनिष्पेषः सङ्घर्षणम्।

भरत०—भावाश्चास्य असम्मोह-उत्साह-आवेग-अमर्ष-चपलता-औग्र्य-गर्व-स्वेद-वेपथु-रोमाञ्च-गद्गदादयः।

कारणोके बिना भी जो कुछ चेष्टा करते हैं उसमे, यहा तक कि जो नर्मगोष्ठी [सम्भोग पूर्ववर्ती वार्तालाप] आदि तकमे, ताडन आदिकी प्रधानता रहती है। यही बात [अगले पृष्ठ ५८७, प० ६ मे] 'यच्च किञ्चित् समारभन्ते' 'जो कुछ भी कार्य करते है' इत्यादिसे कहेगे। इसलिए उद्दीपनके होनेपर ताडनादिसे ग्रस्त [पुरुष] मे ही रक्तनयन आदि और अधिक हो जाते हैं। इसीलिए वहाँ 'पुनः' शब्द [दिया गया] है।

अभिनव०—[आगे मूलमे आए हुए ताडन आदि शब्दोकी व्याख्या करते हैं]। उनमेंसे ऊपरके तल आदिपर चोट करना ताडन [कहलाता] है। पाटनका अर्थ दो टुकडे कर देना। पीडनका अर्थ दबाना मलना है। छेदन काटनेको और भेदन एक दूसरेसे अलग करनेको कहते हैं। [ये सब शब्द] भावमे 'ल्युडन्त' है। प्रहरणो [अर्थात् शस्त्रोका] चारो ओरसे आहरण करना [प्रहरणाहरण है]। शस्त्र का इस प्रकारसे प्रयोग कि जिससे [अङ्ग आदि विदीर्ण अर्थात्] कटे नही 'सम्प्रहार' कहलाता है और विदीर्ण कर देने वाला [शस्त्रप्रयोग] 'पातन' कहलाता है [अर्थात् शस्त्रका प्रहार जब शरीरका विदारण कर देता है तो उसको 'शस्त्रपातन' कहते हैं। और विदारण न करने पर शस्त्र-सम्प्रहार कहलाता है। यह सम्प्रहार और शस्त्रपातन का भेद है]। उस [शस्त्र-पातन]से रक्त निकलता है। राक्षस आदि तो हंसी-मजाकमे भी प्रहार करते हैं। किन्तु केवल इतना ही कि जिससे रक्त निकल आवे अधिक [अर्थात् अगविच्छेद कर देने वाला] नहीं। लाल-आँखे [यह रक्त नयनका अर्थ है] भौंहोको नीचेसे ऊपरको उठाना भ्रुकुटी [कहलाती] है। दातो और होठो का यथायोग्य पीडन [अर्थात् दातोका किटकिटाना और होठोका चबाना दन्तोष्ठपीडन कहलाता] है। दोनो हाथोके अगले भागको एक दूसरेसे मसलना 'सघर्ष' कहा जाता है।

भरत०—और इस [रौद्ररस] के व्यभिचारिभाव असम्मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, गर्व, स्वेद, कम्पन, रोमाञ्च और गद्गद स्वर आदि होते हैं।

भावा इति व्यभिचारिण । असम्मोह सम्भोहविपरीतः। विरोधे नञ । तत्र अवृत्तिरसगृहीत सम्यग् वोध । उत्साहोऽत्र व्यभिचारी, क्रोधस्य प्राधान्येन रसनीयत्वात् । स्वेदादयो वाह्या', आभ्यन्तरसात्त्विकाभावेऽपि विपस्पर्शज्वरादिना भवन्ति । ततोऽनैकान्तिका । आन्तरा अनुद्रिक्ता । व्यजनग्रहणादिभिरुद्रिक्ता । वाह्यै स्वेदादिभिर्व्यक्ता व्यभिचारिरूपा पठिता ।

भरत०—अत्राह—यदभिहितं रक्षो-दानवादीनां रौद्रो रसः, किमन्येषां नास्ति ?

भरत०—उच्यते—अस्त्यन्येषामपि रौद्रो रस , किन्त्वधिकारोऽत्र गृह्यते। ते हि स्वभावत एव रौद्राः । कस्मात् बहुबाहवो, बहुमुखा प्रोद्धत-विकीर्ण-पिङ्गल-शिरोजा , रक्तोद्वृत्तविलोचनाः, भीमासितरूपिणश्चैव। यच्च किञ्चित् समारमन्ते स्वभावचेष्टितं वागङ्गादिकं तत्सर्वं रौद्रमेवैषाम् । शृङ्गारश्च तै प्रायशः प्रसभं सेव्यते । तेषां चाटुकारिणो ये पुरुषास्तेषामपि संग्राम-सम्प्रहारकृतो रौद्रोरसोऽनुमन्तव्य. ।

अभिनव०—[मूलमे आए हुए] 'भाव' शब्दसे व्यभिचारिभावोका अभिप्राय है। असम्मोह [सम्मोह अपरिज्ञान] के विपरीत [अर्थात् भली प्रकारसे परिज्ञान असम्मोह कहलाता है] । यह विरोधार्थमे नञ् [का प्रयोग] है। उस [समोह] मे न रहने वाला, उससे असंगृहीत [असम्मोह] यथार्थ ज्ञान है। [उत्साह वीर रसका स्थायिभाव है किन्तु] यहा [रौद्ररसमें] क्रोधके प्रधान रूपसे आस्वाद्य होनेके कारण उत्साह व्यभिचारिभाव होता है। वाह्य स्वेदादि आभ्यन्तर [अर्थात् वास्तविक सात्त्विक] भावके विना भी विषके स्पर्श अथवा ज्वर आदिके कारण हो सकते हैं इसलिए [अनैकान्तिक] व्यभिचारिभाव है। अव्यक्त होनेपर आन्तर [सात्त्विक भाव कहलाते हैं] पंखाके ग्रहण आदिसे व्यक्त [प्रतीत] होते हैं। वाह्य स्वेदादिसे व्यभिचारिभावके रूपमे व्यक्त [सात्त्विकभाव] यहां पढ़ गए हैं।

भरत०—[प्रश्न] इसपर शङ्का करते हैं कि—रौद्र रस राक्षस दानवादिमे होता है [यह जो कहा है] सो क्या अन्योंमे नहीं होता है [यह आपका अभिप्राय है] ?

भरत०—[इस प्रश्नका] उत्तर देते हैं कि अन्योंमे भी रौद्र रस होता है। किन्तु यहां विशेष रूपसे [राक्षस आदिके ही] अधिकारका ग्रहण किया जाता है। क्योंकि वे स्वभावसे ही क्रोधी होते हैं [इसलिए मुख्य रूपसे उन्हींका अधिकार है] । क्यो ? क्योंकि वे अनेक बाहुओं वाले अनेक मुख वाले, कांपते हुए, फैले हुए, और पीले केशोंसे युक्त, लाल-लाल चढ़ी हुई आंखों वाले, और भयंकर काले रगके होते हैं। और वे वाचिक या आङ्गिक आदि जो व्यापार स्वाभाविक रूपसे भी आरम्भ करते हैं उनका वह सब व्यापार रौद्र ही होता है। [यहां तक कि] वे प्राय' शृङ्गारका सेवन भी वलात्कारसे ही करते हैं। उनको चाटुकारी [सेवा, खुशामद] करने वाले जो मनुष्य होते हैं उनमे भी सग्राम या सम्प्रहार आदिके कारण रौद्र रस मानना चाहिए।

एष्वेव रौद्ररस इत्यभिप्राय गृहीत्वा चोदक प्राह—'यदभिहितमिति'। सिद्धान्ती त्वेषु रौद्रो रसो भवत्येवेत्यभिप्रायेणाह 'अन्येषा' इति—अन्येषा कवि-नटाभ्या प्रयुज्यमानाना सम्बन्धिजन्यत्वेन। अधिकारोऽनुवृत्ति। अत्रेति राक्षसादिषु। एतदेव व्यनक्ति 'ते हीति'। स्वभावशब्दानन्तरमेवकारेण 'भवन्त्येव' इत्ययोगव्यवच्छेद एव सूचित। स्वय तेषा भवन तत इत्यर्थ। तेनाङ्गरौद्रोपन्यासोऽपि अविरुद्ध। अन्यथा स्वभावरौद्र एव रक्ताक्षादिभिरभिनेय स्यात्। न बहुबाहुमुखादि।

तत्र राक्षसादयोऽपि न परिजने सदा क्रुद्धा इति प्रतीयन्ते इत्याशयेनाह 'कस्मादिति'। अत्रोत्तर 'बहुबाहव' इति। लोकप्रसिद्धाकारविपरीतो हि तेषामाकार'। तत्र च परविनाशनाभिसन्धिजनित तपश्चर्यादिक, दृष्ट वा कर्म तेषा व्याप्रियते। अत स्तादृशेषु दृष्टेषु स एव क्रोधात्मकोऽभिसन्धिर्गम्यत इति सामाजिकाना तु दृश्यते रौद्रास्वाद।

अभिनव०—इन्ही [राक्षस आदि] मे ही रौद्ररस रहता है [मूल ग्रन्थका] इस प्रकारका अभिप्राय मान कर पूर्वपक्षी 'यदभिहितम्' इत्यादिसे शङ्का करता है [कि राक्षसादिमे रौद्ररस जो कहा है सो क्या मानवादि अन्योमे नहीं होता है? सिद्धान्ती तो इन मे [अर्थात् मानवादि अन्योमे भी] रौद्ररस होता ही है इस अभिप्रायसे 'अन्येषा' इत्यादिसे समाधान करता है। अन्योमे अर्थात् कवि अथवा नटो द्वारा प्रयुक्त किए जाने वाले [राक्षस आदि] के [सादृश्यादि सम्बन्धके कारण] सम्बन्धिजन्य होनेसे [अन्य मनुष्यादिमें भी रौद्र रस रहता है यह तात्पर्य है]। 'अधिकार' पदका अर्थ यहाँ अनुवृत्ति है। 'अत्र' का अर्थ 'राक्षस आदिमे' यह है। इसी बातको 'ते हीति' इत्यादिसे स्पष्ट करते हैं। 'स्वभाव' शब्दके बाद 'एव' शब्दके प्रयोगसे [इन राक्षस आदिमें रौद्रत्व अवश्य] होता ही है इस प्रकार 'अयोगव्यवच्छेद' [असम्बन्धका अभाव अर्थात् अवश्य-सम्बन्ध] सूचित किया है। ['स्वभावतः' शब्दका अर्थ करते हैं] उनका जो अपना स्वरूप [स्वयं भाव], उससे होता है [वह स्वभावतः शब्दका अर्थ है] यह अभिप्राय है। इसलिए [उनमे] आङ्गिक रौद्र रसका वर्णन करना भी अनुचित नहीं है। अन्यथा लाल आखो आदि [के कथन] से स्वाभाविक रौद्रका ही अभिनय होगा, अनेक बाहुमुखादि [के द्वारा आङ्गिक रौद्र] का [अभिनय] नहीं होगा।

अभिनव०—[प्रश्न] वे राक्षस आदि भी अपने सेवक आदिके प्रति सदा क्रुद्ध ही नहीं देखे जाते हैं [फिर उनको स्वभावरौद्र क्यो कहा है ?] इसका उत्तर [मूलग्रन्थमे] 'बहुबाहव.' इससे देते हैं। [इसका अभिप्राय यह है कि] उनका आकार लोकप्रसिद्ध मनुष्यादिके आकारसे भिन्न प्रकारका होता है। और उसका कारण दूसरे के नाश करनेके अभिप्रायसे की हुई तपश्चर्या अथवा कोई दृष्ट कर्म होता है। इस लिए इस प्रकारके [राक्षसादिके] दीखने पर वही क्रोधात्मक अभिप्राय प्रतीत होता है। इसलिए उससे सामाजिकोके भीतर रौद्ररसका आस्वादन होता है।

तेन च रागादिव यत्क्रोधकाले दृष्टं तत् सदैव तेषाम । 'रक्ते तारकयोरुद्वृत्ते च विलोचने येषां ते रक्तोद्वृत्तविलोचना. । अत एव भीमं असित कृष्णं च सदैव रूपं येषाम् । नित्ययोगे इनि । अत एव ²बहुव्रीहिरत्र न कृत. ।

न केवलं कायस्तदीय इत्थ यावच्चेष्टितमपि तदीयं दृश्यमानं रौद्रास्वादजनकमेवेति दर्शयति 'यच्चेति' । स्वभावेनेति चित्तस्याविकारेऽपि यच्चेष्टित वाचिक कायिक वा तदेषां ताडनादिप्रधानमिति दृश्यमान काव्ये प्रयोगे च रौद्रास्वादहेतु । वागङ्गे ³आदी कारणे यस्य । मानस तु चेष्टितमप्रत्यक्षत्वान्नोक्तम् ।

अभिनव०—और उसीसे उनमें रागके समान क्रोधकालमे जो [रक्तनयनादि चिन्ह] दिखलाई देते हैं वे [स्वाभाविक होनेके कारण] सदैव विद्यमान रहते है। लाल, और उठी हुई पुतलियों वाले नेत्र जिनके होते हैं [वे 'रक्तोद्वृत्त-विलोचना.' हुए]। इसलिए भयङ्कर और काला रूप ['भीमासितरूप' यह कर्मधारय समासका रूप बना। फिर उससे मत्वर्थीय इनि प्रत्यय करके] वह जिनका सदैव रहता है [इस प्रकारके राक्षसादि होते हैं यह 'भीमासितरूपिणः' पदका अर्थ हुआ। राक्षसोमे इस प्रकार के रूपका] नित्य सम्बन्ध द्योतन करनेकेलिए [इस पदमे] इनि-प्रत्यय है। इसीलिए इसमें बहुव्रीहि समास [द्वारा बने हुए 'भीमासितरूपा.' इस रूपका प्रयोग] नहीं किया गया है।

इसका यह अभिप्राय है कि 'भीमं असितं च रूप येषा विद्यते ते भीमासितरूपाः' इस प्रकारका रूप बहुव्रीहि समासमें रूप बनता है। उसका प्रयोग न करके 'भीमासितरूपिणः' पदका प्रयोग किया गया है। इसमें पहिले 'भीम असित च तद्रूप भीमासितरूप' इस प्रकारका कर्मधारय समास करके फिर 'तदस्यास्तीति' इस विग्रहमें मत्वर्थीय इनि-प्रत्यय करके 'भीमासितरूपिण.' यह शब्द बनाया गया है। पहिले कहे हुए 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीय. बहुव्रीहिश्चेत् तदर्थप्रतिपत्तिकर' इस नियमके अनुसार मत्वर्थीय-प्रत्यय करनेमें होने वाली बाधा यहाँ इसलिए नहीं होती है क्योंकि इनि-प्रत्यय 'नित्ययोग' रूप अधिक अर्थको बोधित करता है जो बहुव्रीहि समाससे बोधित नहीं होता है।

अभिनव०—उनका न केवल शरीर ही इस प्रकारका होता है अपितु उनके दिखलाई देने वाले कार्य भी रौद्ररसका आस्वाद कराने वाले ही होते हैं इस बातको [मूल ग्रन्थमे] 'यच्चेति' से दिखलाया है। [मूलमें आए हुए] 'स्वभावेन' इस पदका यह तात्पर्य है कि चित्तमें [क्रोधजन्य] विकारके न होनेपर भी उनका जो वाचिक अथवा कायिक व्यापार होता है वह सब ताडनादि प्रधान होता है। इसलिए काव्य या नाटकमें दिखलाई देनेपर वह रौद्ररसके आस्वादनका कारण होता है। [मूलमे आए हुए 'वागङ्गादिकं' पदका अर्थ करते हैं] वाणी और शरीर 'आदि' अर्थात् 'कारण' है जिसके [अर्थात् कायिक और वाचिक व्यापार रौद्ररस प्रधान होता है]। मानस व्यापार प्रत्यक्ष न होनेसे नहीं कहा है [पर वह भी रौद्ररस प्रधान ही होता है यह तात्पर्य है]।

---

१. उद्वृत्तं तारकयो. रक्तविलोचनम् । २. बहुवचन बहुव्रीहिरत्र कृत. । ३. आदि ।

एष्वेव रौद्ररस इत्यभिप्राय गृहीत्वा चोदक प्राह—'यदभिहितमिति'। सिद्धान्ती त्वेषु रौद्रो रसो भवत्येवेत्यभिप्रायेणाह 'अन्येषा' इति—अन्येषा कवि-नटाभ्या प्रयुज्यमानाना सम्बन्धिजन्यत्वेन। अधिकारोऽनुवृत्ति। अत्रेति राक्षसादिषु। एतदेव व्यनक्ति 'ते हीति'। स्वभावशब्दानन्तरमेवकारेण 'भवन्त्येव' इत्ययोगव्यवच्छेद एव सूचित'। स्वय तेषा भवन तत इत्यर्थ। तेनाङ्गरौद्रोपन्यासोऽपि अविरुद्ध। अन्यथा स्वभावरौद्र एव रक्ताक्षादिभिरभिनेय स्यात्। न बहुबाहुमुखादि।

तत्र राक्षसादयोऽपि न परिजने सदा क्रुद्धा इति प्रतीयन्ते इत्याशयेनाह 'कस्मादिति'। अत्रोत्तर 'बहुबाहव' इति। लोकप्रसिद्धाकारविपरीतो हि तेषामाकार। तत्र च परविनाशनाभिसन्धिजनित तपश्चर्यादिक, दृष्ट वा कर्म तेषा व्याप्रियते। अत स्तादृशेषु दृष्टेषु स एव क्रोधात्मकोऽभिसन्धिर्गम्यत इति सामाजिकाना तु दृश्यते रौद्रास्वाद।

अभिनव०—इन्ही [राक्षस आदि] मे ही रौद्ररस रहता है [मूल ग्रन्थका] इस प्रकारका अभिप्राय मान कर पूर्वपक्षी 'यदभिहितम् इत्यादिसे शङ्का करता है [कि राक्षसादिमे रौद्ररस जो कहा है सो क्या मानवादि अन्योमे नहीं होता है? सिद्धान्ती तो इन मे [अर्थात् मानवादि अन्योमे भी] रौद्ररस होता ही है इस अभिप्रायसे 'अन्येषा' इत्यादिसे समाधान करता है। अन्योमे अर्थात् कवि अथवा नटो द्वारा प्रयुक्त किए जाने वाले [राक्षस आदि] के [सादृश्यादि सम्बन्धके कारण] सम्बन्धिजन्य होनेसे [अन्य मनुष्यादिमे भी रौद्र रस रहता है यह तात्पर्य है]। 'अधिकार' पदका अर्थ यहाँ अनुवृत्ति है। 'अत्र' का अर्थ 'राक्षस आदिमे' यह है। इसी बातको 'ते हीति' इत्यादिसे स्पष्ट करते हैं। 'स्वभाव' शब्दके बाद 'एव' शब्दके प्रयोगसे [इन राक्षस आदिमें रौद्रत्व अवश्य] होता ही है इस प्रकार 'अयोगव्यवच्छेद' [असम्बन्धका अभाव अर्थात् अवश्य-सम्बन्ध] सूचित किया है। ['स्वभावत. शब्दका अर्थ करते हैं] उनका जो अपना स्वरूप [स्वय भाव], उससे होता है [वह स्वभावत. शब्दका अर्थ है] यह अभिप्राय है। इसलिए [उनमे] आङ्गिक रौद्र रसका वर्णन करना भी अनुचित नहीं है। अन्यथा लाल आखो आदि [के कथन] से स्वाभाविक रौद्रका ही अभिनय होगा; अनेक बाहुमुखादि [के द्वारा आङ्गिक रौद्र] का [अभिनय] नहीं होगा।

अभिनव०—[प्रश्न] वे राक्षस आदि भी अपने सेवक आदिके प्रति सदा क्रुद्ध ही नहीं देखे जाते है [फिर उनको स्वभावरौद्र क्यो कहा है ?] इसका उत्तर [मूलग्रन्थमे] 'बहुबाहव.' इससे देते हैं। [इसका अभिप्राय यह है कि] उनका आकार लोकप्रसिद्ध मनुष्यादिके आकारसे भिन्न प्रकारका होता है। और उसका कारण दूसरे के नाश करनेके अभिप्रायसे की हुई तपश्चर्या अथवा कोई दृष्ट कर्म होता है। इस लिए इस प्रकारके [राक्षसादिके] दीखने पर वही क्रोधात्मक अभिप्राय प्रतीत होता है। इसलिए उससे सामाजिकोके भीतर रौद्ररसका आस्वादन होता है।

तेन च रागादिव यत्क्रोधकाले दृष्टं तत् सदैव तेषाम्। 'रक्ते तारकयोरुद्वृत्ते विलोचने येषां ते रक्तोद्वृत्तविलोचना.। अत एव भीमं असित कृष्ण च सदैव रूपं येषाम्। नित्ययोगे इनि। अत एव 'बहुव्रीहिरत्र न कृत.।

न केवल कायस्तदीय इत्थं यावच्चेष्टितमपि तदीयं दृश्यमानं रौद्रास्वादजनक- वेति दर्शयति 'यच्चेति'। स्वभावेनेति चित्तस्याविकारेऽपि यच्चेष्टित वाचिक कायिकं वा तदेषा ताडनादिप्रधानमिति दृश्यमान काव्ये प्रयोगे च रौद्रास्वादहेतु.। वागङ्गे 'आदी कारणे यस्य। मानस तु चेष्टितमप्रत्यक्षत्वान्नोक्तम्।

अभिनव०—और उसीसे उनमे रागके समान क्रोधकालमे जो [रक्तनयनादि चिन्ह] दिखलाई देते हैं वे [स्वाभाविक होनेके कारण] सदैव विद्यमान रहते है। लाल, और उठी हुई पुतलियो वाले नेत्र जिनके होते हैं [वे 'रक्तोद्वृत्त-विलोचनाः' हुए]। इसलिए भयङ्कर और काला रूप ['भीमासितरूप' यह कर्मधारय समासका रूप बना। फिर उससे मत्वर्थीय इनि प्रत्यय करके] वह जिनका सदैव रहता है [इस प्रकारके राक्षसादि होते हैं यह 'भीमासितरूपिणः' पदका अर्थ हुआ। राक्षसोंमे इस प्रकार के रूपका] नित्य सम्बन्ध द्योतन करनेकेलिए [इस पदमे] इनि-प्रत्यय है। इसीलिए इसमें बहुव्रीहि समास [द्वारा बने हुए 'भीमासितरूपाः' इस रूपका प्रयोग] नहीं किया गया है।

इसका यह अभिप्राय है कि 'भीम असित च रूपं येषा विद्यते ते भीमासितरूपा.' इस प्रकारका रूप बहुव्रीहि समासमें रूप बनता है। उसका प्रयोग न करके 'भीमासितरूपिण.' पदका प्रयोग किया गया है। इसमें पहिले 'भीम असित च तद्रूप भीमासितरूप' इस प्रकारका कर्मधारय समास करके फिर 'तदस्यास्तीति' इस विग्रहमें मत्वर्थीय इनि-प्रत्यय करके 'भीमासितरूपिण' यह शब्द बनाया गया है। पहिले कहे हुए 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीय बहुव्रीहिश्चेत् तदर्थप्रतिपत्तिकर' इस नियमके अनुसार मत्वर्थीय-प्रत्यय करनेमें होने वाली बाधा यहाँ इसलिए नहीं होती है क्योंकि इनि-प्रत्यय 'नित्ययोग' रूप अधिक अर्थको बोधित करता है जो बहुव्रीहि समाससे बोधित नही होता है।

अभिनव०—उनका न केवल शरीर ही इस प्रकारका होता है अपितु उनके दिखलाई देने वाले कार्य भी रौद्ररसका आस्वाद कराने वाले ही होते हैं इस बातको [मूल ग्रन्थमें] 'यच्चेति' से दिखलाया है। [मूलमे आए हुए] 'स्वभावेन' इस पदका यह तात्पर्य है कि चित्तमें [क्रोधजन्य] विकारके न होनेपर भी उनका जो वाचिक अथवा कायिक व्यापार होता है वह सब ताडनादि प्रधान होता है। इसलिए काव्य या नाटकमे दिखलाई देनेपर वह रौद्ररसके आस्वादनका कारण होता है। [मूलमे आए हुए 'वागङ्गादिकं' पदका अर्थ करते हैं] वाणी और शरीर 'आदि' अर्थात् 'कारण' हैं जिसके [अर्थात् कायिक और वाचिक व्यापार रौद्ररस प्रधान होता है]। मानस व्यापार प्रत्यक्ष न होनेसे नहीं कहा है [पर वह भी रौद्ररस प्रधान ही होता है यह तात्पर्य है]।

---

१. उद्वृत्तं तारकयोः रक्तविलोचनम्। २. बहुवचन बहुव्रीहिरत्र कृतः। ३ आदि।

सर्वमिति यदुक्तं तत्स्फुटयति 'श्रृङ्गारश्चेति'। शृङ्गारशब्देनात्र तद्विभाव प्रमदोद्यानादि। सोऽपि तैः प्रसभमिति क्रूराकारतया सेव्यते, यत्र औग्र्यस्य वर्जनमुक्तं, किं पुनरन्यदिति च-शब्दस्यार्थः। तथा हि—"आः सीते! पतिगर्वविभ्रमभरभ्राम्यद्" इत्याद्युदाहरणम्। 'गाढाश्लेषे मलयमरुतः शृङ्खलादाम दत्तं' इति रौद्ररसत्वेन। कदाचिदनुनयेनापीति दर्शयति 'प्रायश' इति।

ननूद्धतमनुष्येषु तर्हि कथं रौद्रादिविकारः न हि ते बहुबाहुत्वादियुक्ता इत्याशङ्क्य आह 'तेषां चेति'। राक्षसादीनामनुकारिण इति। तामसप्रकृतिरूपतया तत्सदृशा अनुगामित्वेन मन्तव्या इत्यर्थः। कथमित्याह 'सङ्ग्रामेति'। सम्प्रहारग्रहणेन पूर्वोक्त ताडनपाटनादि गृह्यते। तेन बहुबाहुत्वाद्यभावेऽप्युद्धतमनुष्या वागङ्गचेष्टितेन क्रोधोचितेन रौद्रप्रकृतय इति लक्ष्यन्ते। एवं रक्षोदानवेत्यादावयोगव्यवच्छेदो निश्चितः। अन्ये तु वीरप्रधाना अश्वत्थाम-जामदग्न्यादयस्तेषु कारणमहिम्ना भवत्येव क्रोधो रौद्रास्वाद-योग्यः।

अभिनव०—[मूलमे] 'सब' यह जो कहा है उसको 'शृङ्गारश्च' इत्यादिसे स्पष्ट करते है। 'शृङ्गार'-शब्दसे यहा उसके विभाव प्रमदा, उद्यान आदिका ग्रहण होता है। उसको भी वे बलात् अर्थात् भयङ्कर आकार द्वारा ही सेवन करते हैं। जहा कि [अर्थात् जिस शृङ्गारमे] उग्रताका निषेध किया गया है [उसको भी जब वे क्रूरता पूर्वक सेवन करते हैं] तब अन्योकी तो बात ही क्या है। यह 'च' शब्दका तात्पर्य है। जैसे 'आः सीते' इत्यादि वचन उदाहरण है। कभी कभी-कभी अनुनयसे भी वे शृङ्गार रसका सेवन करते हैं यह बात 'प्रायशः' पदसे सूचित की गई है।

अभिनव०— प्रश्न अच्छा तो फिर उद्धत मनुष्योमे रौद्र रसका आस्वादन कैसे होता है। वे तो बहुत सी बाहु आदिसे युक्त नहीं होते हैं? ऐसी आशका करके [उसके समाधानके लिए मूलमे] 'तेषा च' इत्यादि कहते है। उसका आशय यह है कि उन राक्षसोके अनुकरण करने वाले अर्थात् तामस-प्रकृति होनेसे [मनुष्य भी] उनके अनुगामी होनेसे उनके सदृश समझने चाहिए। [कथम् उनमे रौद्र]रस कैसे उत्पन्न होता है इस बातको 'सग्राम' इत्यादिसे कहते है। सम्प्रहार पदके ग्रहणसे पूर्वोक्त ताडन पाटन आदिका ग्रहण होता है। इसलिए बहु-बाहुत्व आदिके अभावमे भी उद्धत मनुष्य क्रोधोचित वाचिक तथा शारीरिक व्यापारसे रौद्रप्रकृति ही होते हैं यह सूचित किया है। इस प्रकार राक्षस दानव इत्यादिमे [रौद्र रसका] अयोग-व्यवच्छेद [असम्बन्धका अभाव अर्थात् निश्चित सम्बन्ध] प्रतीत होता है। [उन उद्धत मनुष्योसे भिन्न] अन्य अश्वत्थामा परशुराम आदि वीररसप्रधान है, उनमे कारण विशेषके प्रभावसे [कभी-कभी] रौद्ररसके आस्वादन-योग्य क्रोध पाया जाता है। [परन्तु उनमे नित्यसम्बन्ध नहीं है]।

---

१. तथा च नानादेवाविगाढाश्लेषे मलयमरुता. मेखलादाम दत्ते ति।

राक्षसादीनामपि च हासशोकादि स्वकारणोदितोऽभिभूतक्रोध । हास्यकरुणादेश्च इह योगो भवत्येव । तेनैषा न रौद्र एव रस. ।

ननु सामाजिकानां तथाभूतराक्षसादिदर्शने कथ क्रोधात्मक आस्वाद. ? उच्यते-हृदयसवाद आस्वाद । क्रोधे च हृदयसवादस्तामसप्रकृतीनामेव सामाजिकानामिति दानवादिसदृशास्तन्मयीभूता एवान्यायकारिविषयं क्रोधमास्वादयन्तीति न किञ्चदवद्यम् ।

भरत०—अत्रानुवंश्ये आर्ये भवत —

भरत०—[1]युद्धप्रहार-घातन[2]-विकृतच्छेदन-विदारणैश्चैव ।
संग्रामसम्भ्रमाद्यैरेभि[3] सञ्जायते रौद्रः[4] ॥
नानाप्रहरणमोक्षैः[5] शिर.कबन्धभुजकर्तनैश्चैव ।
[6]एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनय[7] प्रयोक्तव्य ॥

विकृत यच्छेदन व्यङ्गादिकरणम् । युद्धादिति परेण क्रियमाणौचित्यम् । तन युद्धाद्यनुमितस्य परक्रोधादेर्विभावत्वमुक्तम् । संग्रामाय सम्भ्रम शस्त्राहरणे त्वरा ।

अभिनव०—[इसी प्रकार] राक्षस आदिमे भी अपने कारणसे उदय होने वाले और उस कालमे क्रोधका अभिभव कर देने वाले हास्य करुण आदि [रस रूपमे] होते हैं। इसलिए इन [राक्षसादि] मे केवल रौद्र रस ही नहीं रहता है [अपितु हास्य करुण आदि अन्य रसोका भी यथावसर आस्वाद होता है] ।

अभिनव०—[प्रश्न] उस प्रकारके राक्षस आदिको देखनेपर सामाजिकोको क्रोधात्मक कैसे होता है ? [इसके उत्तरमे] कहते हैं कि—हृदयका तादात्म्य [संवाद] ही आस्वाद है। क्रोधमे [मुख्य रूपसे] तामस प्रकृति वाले सामाजिकोका ही तादात्म्य होता है इसलिए दानव आदिके समान तन्मय होकर वे अन्यायकारी विषयक क्रोध का आस्वादन करते हैं इसलिए इसमे कोई दोष नहीं होता है ।

भरत०—इस विषयमे परम्परागत दो आर्या [छन्दके श्लोक] मिलते हैं—

भरत०—युद्धप्रहार, मारने, बुरी तरहसे [सिर आदिके] काटनेसे, और सग्रामके लिए शस्त्रादि ग्रहणकी शीघ्रता आदि इन कारणोंसे रौद्ररस उत्पन्न होता है ।

भरत०—नाना प्रकारके शस्त्रोंके चलानेसे, सिर, घड़, भुजा, आदिके काटनेसे, इस प्रकार के [रौद्रव्यञ्जक] विशेष कार्योंसे इस [रौद्र रस] का अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—विकृतच्छेदनका अर्थ अंगहीन करना आदि है। युद्ध इस पदसे दूसरे के द्वारा किए जाने वाले [छेदनादि] का औचित्य सूचित किया है । इसलिए युद्धादिसे अनुमित दूसरेके क्रोधादिका विभावत्व सूचित किया है । संग्रामकेलिए घबराहट अर्थात् शस्त्र ग्रहणकी जल्दी [सग्रामसम्भ्रम है । इनसे रौद्ररस उत्पन्न होता है] ।

---

१ ड म. सत्त्व । २. य पात । म घातो विच्छेद विदाररांश्चैव । ३ म सम्भनार्यैरेभि. । म सम्भ्रमोत्थैरेभि. । ४ त रौद्ररसो नाम सम्भवति । ५. म भ सप्रुन शिर. । ६. त म एभिस्त्वयं । ७ त भ. म. तस्याभिनय ।

अनुभावानाह 'नानेति'। मारणप्राधान्यं नानाप्रहरणेन दर्शयति। शिरःकर्तनादि [1]मृतशरीरस्यापि क्रोधातिशयात् सूचयन् वीराद् भेदमाह। युद्धवीरे हि तन्नास्ति। इह तु वक्ष्यते-उग्रकर्मेति।

भरतमुनिस्त्वेकेन श्लोकेनोपसंहरति 'इति रौद्र रस' इति—

भरत०—इति रौद्ररसो दृष्टो रौद्रवागङ्गचेष्टितः।
शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ उग्रकर्मक्रियात्मक ॥५१॥

उग्राणि औग्र्यप्रधानानि यानि शिरःकर्तनादीनि तेषां या क्रिया अभिनीति सा आत्मा प्रधानं यस्येति।

इति रौद्ररसप्रकरणम् समाप्तम्।

अभिनव०—[दूसरी 'आर्या' मे आए हुए] 'नाना' इत्यादि [पद] से रौद्ररसके अनुभावोको कहा है। नाना प्रहरणोसे [रौद्र रसमे] मरणकी प्रधानता सूचित की है। क्रोधातिशयके कारण शत्रुके मृतशरीरके भी सिर काटने आदिके सूचनसे वीर-रससे [रौद्ररसका] भेद दिखलाया है। क्योकि युद्ध वीरमे वह [शत्रुके मृत शरीरका सिर काटना आदि रूप] नहीं होता है और यहाँ रौद्ररसमे तो 'उग्रकर्मा' इत्यादि [अगली कारिका] से [मृतशरीरके शिरश्छेदन आदिको] कहेगे।

अभिनव०—[अनेक अनुवंश्य आर्याओके देनेके बाद अब] भरतमुनि तो एक ही श्लोकसे [रौद्ररसका] उपसहार करते हैं—

भरत०—इस प्रकार उग्र वाचिक तथा कायिक व्यापारोंसे युक्त, अतिमात्रामे शस्त्रप्रहारसे युक्त, और [क्रोधातिशयके कारण मृतशरीरसे भी सिर काटने आदि रूप] भयानक कर्मोंके अनुष्ठानसे परिपूर्ण रौद्ररस देखा जाता है।५१।

अभिनव०—उग्र अर्थात् भयङ्करतासे पूर्ण जो सिर काटना आदि रूप कार्य उनकी क्रिया अर्थात् अभिनय जिसका आत्मा है ऐसा [रौद्ररस होता है]। ५१।

पूर्व सस्करणोंमें रौद्ररसके इस अन्तिम श्लोककी सख्या ६६ है। हमारी सख्या ५१ है। बीचमें १५ श्लोक 'अनुवश्य आर्या' के रूपमें आए हैं। उनपर हमने सख्या नही डाली है। इस अध्यायमें ३१वी कारिकाके बाद गद्यमें रसोका विवेचन प्रारम्भ किया गया है। उसमें बीचमे 'अनुवश्ये आर्ये भवत' की अवतरणिका देकर जो श्लोक दिए गए हैं वे भरतमुनिके अपने बनाए श्लोक नही हैं अपितु पूर्व परम्परागत श्लोकोको उन्होने उद्धृत किया है। ३२-३३, ३४-३८, ४९-५०, ५४-५५, ६२-६३, ६४-६५, ये सब इसी प्रकारके श्लोक हैं। उनपर वस्तुत सख्या नही डालनी चाहिए। यहाँ पर ६६वें श्लोककी अवतरणिका रूपमें अभिनवगुप्तने 'भरतमुनिस्त्वेकेन श्लोकेनोपसहरति—इति रौद्र रस इति' इस ५१वें श्लोकको 'अनुवश्य' आर्याओसे भिन्न भी किया है। 'भरतमुनिस्त्वेकेन' इत्यादि यह पक्ति श्लोकका अवतरणिका भाग है इसलिए व्याख्या भागके पहिले आना चाहिए। पूर्व सस्करणोंमें उसे व्याख्या भागके अन्तमें अस्थानमें छापा गया है। यह ठीक नही है। हमने उसे अवतरणिका रूपमें ठीक स्थानपर लगा दिया है।

रौद्ररसका प्रकरण समाप्त हुआ।

---

1 हृतशरीरस्यापि।

अथवीररसप्रकरणम् ।

क्रमप्राप्त वीर लक्षयति—

भरत०—अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः । स चासम्मोहाध्यवसाय-नय-विनय-बल-पराक्रम-शक्ति-प्रताप-प्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

तस्य स्थैर्य-धैर्य-शौर्य-त्याग-वैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य.।

सञ्चारिभावाश्चास्य धृति-मति-गर्वावेगौग्र्यामर्ष-स्मृतिरोमाञ्चप्रतिवोधादय ।

युद्धवीरे हि सग्राम-सम्प्रहारयोगो रौद्रेऽपीति, आनन्तर्यं 'अथ' शब्देनाह। उत्तमाना प्रकृतिः स्वभावो यत उत्साहोऽतो वीररसोऽपि तथा । यदि वा काव्ये नाट्ये च प्रयुज्यमान उत्तमप्रकृतिर्हेतुर्यस्य । उत्तमवर्णाना हि सर्वत्रोत्साह आस्वाद्यो भवति । अत एव चतुर्ष्वपि नायकेषु धीरत्वमनुयायित्वेन वक्ष्यते धीरादात्त इत्यादि । तत्र सर्वो जन उत्साहवानेव किन्त्वविषय इत्यनुपदेश्यचरितता ।

वीररस प्रकरण

अभिनव०—क्रमप्राप्त वीररसका लक्षण करते हैं—

भरत०—इसके वाद [अर्थात् रौद्ररसके वाद] उत्तम प्रकृति वाला, और उत्साहात्मक वीररस होता है । उसकी उत्पत्ति भ्रमादिके अभाव [असम्मोह] से निश्चय [अध्यवसाय] नीति, इन्द्रियजय [विनय], सेना पराक्रम, सामर्थ्य, प्रताप, और प्रभाव आदि विभावोंसे होती है ।

भरत०—स्थिरता, धैर्य, शौर्य, त्याग, निपुणता, आदि अनुभावोंके द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए । धृति, मति, गर्व, आवेग, उग्रता, अमर्ष, स्मृति, रोमाञ्च, और प्रतिवोध आदि इसके सञ्चारिभाव हैं ।

अभिनव०—युद्धवीरमें संग्राम और सम्प्रहार आदि होता है, वह रौद्रमें भी होता है [यह रौद्र तथा वीररस दोनोकी समानता है । इसलिए रौद्रके वाद वीररस का स्थान आता है] । इस आनन्तर्यको 'अथ' शब्दसे कहा गया है । ['उत्तमप्रकृति.' पदकी दो प्रकारकी व्याख्या करते हैं] क्योकि [वीररसका स्थायिभाव] उत्साह उत्तमजनों की प्रकृति अर्थात् स्वभाव होता है इसलिए वीररस भी उसी प्रकारका [उत्तमप्रकृति] होता है । अथवा काव्य और नाटकमें प्रयुक्त उत्तम [पुरुष] जिसकी प्रकृति अर्थात् कारण हैं । क्योकि उत्तम वर्णोका उत्साह सर्वत्र आस्वाद्य [आनन्ददायक] होता है [इसलिए उत्तम पुरुषोको वीररसकी प्रकृति अर्थात् कारण कहा जा सकता है] । इसीलिए [धीरोदात्त धीरोद्धत धीरललित और धीरप्रशान्त रूप] चारो नायकोंमे [धीर शब्द] अनुगत रूपसे कहा जायगा जैसे 'धीरोदात्त' इत्यादि । उन [उत्तम वर्णो] मे [प्राय] सभी लोग [किसी न किसी प्रकारके] उत्साहसे युक्त होते हैं किन्तु [कविके द्वारा विवक्षित न होनेसे] जो विषय नहीं होते उनके चरित्र का वर्णन नहीं किया जाता है ।

---

१. 'वीरे जिघांसेति' इत्यधिकः पाठः ।

यदीय तु चरितमुपदेशार्हं तेषामुचित एवावसरे उत्साहाभिव्यक्ति । उचितत्व चावसरस्यासम्मोहादिसम्पत्तिरिति सैव विभावत्वेनोपदिष्टा । असम्मोहेन अध्यवसायो हि वस्तुतत्त्वनिश्चय इति मन्त्रशक्तिर्दर्शिता । असद्वस्तुतत्त्वाभिनिवेश सम्मोहो[1] रावणादिगत उत्साहकारी इत्यसत् । अशब्दार्थत्वात् । तत्रापि च पराक्रम-नयादिरेव विभाव ।

सन्ध्यादिगुणाना सम्यक् प्रयोगो 'नय' । इन्द्रियजयो 'विनय' । 'बल' हस्त्यश्वरथ-पादातम् । 'पराक्रम' परकीयमण्डलाद्याक्रमणेनावस्कन्द । युद्धादिके सामर्थ्य शक्ति । 'प्रताप' शत्रुविषये सन्तापकारिणी प्रसिद्धि । 'प्रभावो'ऽभिजन-धन-मन्त्रि-सम्पत् । आदिग्रहणेन यश प्रभृति । एते च सम्पूर्णस्वभावा एव विभावा भवन्ति । उत्तमस्य कदाचित् कश्चिदाधिक इति पृथक् पृथगुदाहरणमसत्[2] ।

अभिनव०—जिनका चरित्र वर्णनीय [उपदेशार्ह] हैं उनके उत्साहकी अभिव्यक्ति उचित अवसरपर ही होनी चाहिए। और असम्मोह आदिकी स्थिति ही अवसर की औचिती रूप है । इसलिए उसीको विभाव रूपसे कहा गया है । सम्मोहके विना जो 'अध्यवसाय' अर्थात् वस्तुके तत्वका निश्चय [वह 'असम्मोहाध्यवसाय' शब्दका अर्थ हुआ] । इससे मन्त्रशक्ति [विचारसामर्थ्य] प्रदर्शित की है। [इस प्रकार असम्मोहसे अर्थका निश्चय वीर रसका जनक होता है यह बात कही है । इसपर पूर्वपक्षी यह शङ्का करता है कि रावणादिमे तो असम्मोह नहीं अपितु] असद्वस्तुका आग्रह [अभिनिवेश] रूप सम्मोह भी उत्साहका जनक देखा जाता है । [तब आप असम्मोहको ही उत्साहका कारण कैसे कहते हैं ? यह प्रश्न करें तो उत्तर यह है कि यह बात अर्थात् सम्मोहको उत्साहका कारण मानना] यह ठीक नही है । [क्योकि वह ग्रन्थकारके] शब्दोसे अभिप्रेत न होनेसे [अर्थात् ग्रन्थकार तो 'असम्मोहाध्यवसाय' को ही उत्साहका जनक मानते हैं सम्मोहको नहीं । दूसरी बात यह भी है कि जहा आप सम्मोहको उत्साहजनक समझ रहे हैं वहां भी सम्मोह नहीं अपितु] वहां भी पराक्रम और नीति आदि ही उत्साहके [जनक] विभाव है।

अभिनव०—सन्धि आदि [अर्थात् सन्धि विग्रह यान आसन संश्रय द्वैधीभाव रूप राजनीतिके छ] गुणोका उचित रूपसे प्रयोग 'नय', कहलाता है । इन्द्रियोका विजय 'विनय' कहलाता है। हाथी घोड़े रथ तथा पैदल आदि सेना 'बल' कहलाती है। शत्रु सैन्य आदिको आक्रमण द्वारा पराजित कर देना 'पराक्रम' कहलाता है। युद्ध आदिकी सामर्थ्य यहा 'शक्ति' [पदसे अभिप्रेत] है । शत्रुको सन्ताप देने वाली प्रसिद्धि 'प्रताप' कहलाती है। कुल धन मन्त्री आदिकी सम्पत्ति [पूर्णता] 'प्रभाव' कहलाती है। [मूल ग्रन्थमे] 'आदि' पदके ग्रहणसे यश आदि [का ग्रहण करना चाहिए] । ये सब मिल कर ही [वीररसके जनक] विभाव होते है। उत्तम पुरुषोमे इनमेसे कभी कोई अधिक हो सकता है । इसलिए इन सबके अलग-अलग उदाहरण देना अनुचित है ।

---

१ असम्मोहः । २ उदाहरणम् ।

वस्तुतो ह्यत्रोदाहरण सर्वमेव रामादिचरितम् । सचिवायत्तसिद्धौ च वत्सराज-प्राये नायके यथायोगं सचिवगता अप्येते मन्तव्या. । प्रतिनायकगता अपि च ते उत्साहव्यञ्जका इति यथायोग व्यस्त-समस्तभेदकल्पन कविना कार्यम् ।

'स्थैर्यं'अचलनम् । गम्भीर्यकृत सवरण 'धैर्यम्' । 'शौर्य' युद्धादिक्रिया । 'त्यागो' दानम् । 'वैशारद्य' सामाद्युपायचतुष्कस्य एक-द्वि-त्रि-चतुरादिभेदैर्यथाविषय नियोजनम् ।

भरत०—अत्रार्ये भवतः[1]—

उत्साहोऽध्यवसायादविषादित्वादविस्मयामोहात् ।
विविधादर्थविशेषाद्वीररसो नाम सम्भवति ॥

विविधधर्मादिलक्षणमर्थनीय विशेषमभिसन्धाय अविषादित्वादविस्मयादमोहाच्च योऽध्यवसायो निश्चय । स च 'उत्साहयतीत्युत्साह' ।

एतदुक्त भवति—आपद्यादिनिमग्नता, स्वल्पे सन्तोषं, मिथ्याज्ञान चापास्य यस्तत्त्वनिश्चय स एवोत्साहहेतु प्रधानतया । रौद्रे तु तम प्राधान्यादनुचिताशास्त्रीय-वन्धाद्यपीति मोह-विस्मयप्राधान्यम् ।

अभिनव०—वास्तवमे रामचन्द्र आदिका सम्पूर्ण चरित्र ही इसका उदाहरण होता है । और [वत्सराज] उदयन-सदृश सचिवायत्तसिद्धि [नायक वाले काव्य नाटक आदि] मे मन्त्रीमे भी ये [गुण] हो सकते हैं । और प्रतिनायकमे रहने पर भी वे उत्साहके व्यञ्जक हो सकते हैं । इसलिए कविको इनके अलग-अलग अथवा सम्मिलित आदि भेदोकी यथोचित कल्पना स्वयं करनी चाहिए ।

अभिनव०—'स्थैर्य' [शब्दका अर्थ] अविचल रहना है । गम्भीरताके कारण [अपने मनोभावोका] गोपन करना 'धैर्य' [कहलाता] है । युद्ध आदिकी क्रिया 'शौर्य' है । दान 'त्याग' कहलाता है । साम [दान दण्ड भेद] आदि चारो उपायोंका आवश्यकतानुसार एक दो तीन या चारोका प्रयोग 'वैशारद्य' [कहलाता] है ।

भरत०—इस विषयमे दो आर्या [छन्दके श्लोक] भी पाए जाते हैं—

भरत०—निश्चय, अखिन्नता, विस्मयराहित्य और मोहशून्यता एव नाना प्रकारके विशेष अर्थोंसे 'उत्साह' रूप वीर रसकी उत्पत्ति होती है ।

अभिनव०—धर्मादि [अर्थात् धर्म अर्थ काम और मोक्ष] रूप विभिन्न पुरुषार्थोंको लक्ष्यमें रख कर विषाद, विस्मय तथा मोहसे रहित होकर जो अध्यवसाय अर्थात् निश्चय है वह भी उत्साहका जनक होता है इसलिए 'उत्साह' कहलाता है ।

अभिनव०—इसका यह अभिप्राय हुआ कि—आपत्तिग्रस्तताको छोड़ कर थोड़ेमे सन्तोषको छोड़कर और मिथ्याज्ञानको छोड़कर जो तत्त्वका निश्चय होता है वह ही मुख्यरूपसे उत्साहका कारण होता है । रौद्र रसमे तो तमोगुणकी प्रधानता होनेके कारण अनुचित और शास्त्रविरुद्ध वन्धादि भी हो सकता है इसलिए वहां मोह तथा गर्व [विस्मय] की प्रधानता रहती है ।

---

१. रसविचारमुखे ।

भरत०—स्थितिधैर्यवीर्यगर्वैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररस सम्यगभिनेय ॥

स्थिति स्थैर्यम् । वीर्य शौर्यम् । गर्वपदेन तदनुभावो लक्ष्यते । उत्साहनमुत्साहोऽबलस्य विषण्णप्रायस्योत्तेजनम् । यथा सेतुबन्धकाव्ये । पराक्रम पराक्रमणा । इत्थमत्र भवद्भि-रासितव्य योद्धव्यमिति बलस्य व्यापारणादितिकर्तव्यताना भृत्याना प्रभावना प्रभाव-सम्पादनम् । आक्षेपो वस्त्वन्तरस्य सूचनम् । तेन कृतानि तत्प्रधानानि यानि वाक्यानि इति गम्भीरदुरवगाहर्थत्व वाक्यानामित्युक्तम् ।

इति वीररसप्रकरणम् ।

भरत०—स्थिरता, धैर्य, शौर्य, गर्व, उत्साह, पराक्रम, प्रभाव और अपमानजनक वाक्योंके द्वारा वीररसका भली प्रकार अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—'स्थिति' का अर्थ स्थिरता है । 'वीर्य' पद शौर्यका वाचक है । 'गर्व' पदसे उस वीर रसके अनुभावका ग्रहण करना चाहिए । निर्बल या निराश व्यक्ति को उत्साहित करना 'उत्साह' [पदसे अभिप्रेत] है । जैसे सेतुबन्ध काव्यमे [किया गया है] । पराक्रमण पराक्रम [कहलाता] है । आपलोगोको इस प्रकार खडे होना और इस प्रकार युद्ध करना चाहिए इस तरहसे सेनाको [कार्यमे] लगानेके द्वारा और सेवकोकी [इतिकर्त्तव्यता अर्थात्] कार्य-पद्धतिको प्रभावित करना प्रभावसम्पादन [कहलाता] है । [अपने प्रतिपक्षीमे वीरतासे भिन्न कायरता छल आदि रूप] अन्य वस्तुओको सूचित करना 'आक्षेप' [कहलाता] है । उस [आक्षेप] से [प्रयुक्त] किए, अर्थात् आक्षेपप्रधान जो वाक्य [उनसे भी वीर रस उत्पन्न होता है] । इससे [आक्षेप-कारी] वाक्योके गम्भीर और दुर्ज्ञेय [व्यङ्ग्य] सूचित किया है ।

आक्षेप वाक्योंसे भी वीररसकी उत्पत्ति और अभिनय करनेमे सहायता मिलती है जैसे वेणीसहारके तृतीय अकमें जब भीमसेन दु शासनको पकड कर यह घोषणा करता है कि—

कृष्टा येन शिरोरुहे नृपशुना पाञ्चालराजात्मजा
येनास्या परिधानमप्यपहृत राज्ञा गुरूणा पुरः ।
यस्योर स्थलशोणितासवमह पातु प्रतिज्ञातवान्
सोऽय मद्भुजपजरे निपतित सरक्ष्यता कौरवा ॥

जिसने पाञ्चालराजकी पुत्री द्रौपदीके बाल पकड कर खीचे और राजाओ एव गुरुजनो के सामने उसके वस्त्रोका भी अपहरण किया और जिस दुष्टकी छातीका खून पीनेकी मैने प्रतिज्ञा की थी वह दुष्ट आज मेरे पजेमें आ गया है । हे कौरवो, तुम बचा सको तो बचा लो ।

भीमकी इस घोषणाको सुन कर अश्वत्थामा सेनापति पदपर अभिषिक्त होने वाले कर्णके ऊपर आक्षेप करता हुआ कहता है कि—

'अङ्गराज ! सेनापते ! जामदग्न्यशिष्य ! द्रोणोपहासिन् ! भुजबलपरिरक्षितसकललोक ! रक्षैन साम्प्रत भीमाद्दु शासनम् ।

ये सब वाक्य आक्षेपपूर्ण हैं । उनसे कर्णकी अशक्तता आदि गम्भीर अर्थ व्यङ्ग्य है । और वह कर्णको युद्धके लिए उत्साहित कर वीररसके जनक होते हैं ।

वीररसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ भयानकरसप्रकरणम्

वीरस्य भीताभयप्रधानत्वाद् भयानकं लक्षयति 'अथ' इति ।

भरत०—अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मकः । स च विकृत-रव-सत्त्वदर्शन-शिवोलूक त्रासोद्वेग-शून्यागारारण्यगमन-स्वजनवधबन्धदर्शन-श्रुतिकथादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

भरत०—तस्य च प्रवेपितकरचरण-नयनचापल-पुलक-मुखवैवर्ण्य-स्वरभेदादिभिरनुरभावैरभिनयः प्रयोक्तव्य. ।

भरत०—भावाश्चास्य स्तम्भ-स्वेद-गद्गद्-रोमाञ्च-वेपथु-स्वरभेद-वैवर्ण्य-शंका-मोह्-दैन्य-आवेग-चापल-जडता-त्रास-अपस्मार-मरणादय· ।

विकृतो रवोऽट्टहासादि । सत्त्वाना पिशाचाना दर्शनम् । त्रासोद्वेगौ परगतौ । शून्यागारस्यारण्यस्य च गमन प्राप्ति. । स्वजनस्य यौ वध-बन्धौ तयोर्दर्शनं प्रत्यक्षेण, श्रवणमागमेन । कथादि अतिक्रान्तयोरपि पुनरनुध्यानेन स्मरणम् ।

भयानकरस प्रकरण

अभिनव०—वीररस मुख्य रूपसे भयभीत पुरुषको अभयप्रदान कराने वाला होता है इस लिए [वीररसके बाद उससे सम्बद्ध] भयानक रसका 'अथ' इत्यादि [मूल ग्रन्थ] से लक्षण करते हैं—

भरत०—भयानकरस भयस्थायिभाव-स्वरूप होता है। और वह [अट्टहासादि रूप] विकृत शब्दसे, पिशाच [भूत प्रेत] आदिके देखनेसे, शृगाल उल्लूक आदिसे, [दूसरोंके] भय, घबराहटसे, शून्य मकानों, और शून्य वन आदिमे जानेसे, अपने सम्बन्धियोंके वध बन्धन आदिके देखने, सुनने या [अतीत कालके वध-बन्धकी] चर्चा आदि कारणों [विभावों] से उत्पन्न होता है ।

भरत०—कांपते हुए हाथ-पैर, नेत्रोंकी चञ्चलता, रोमाञ्च, मुखके रंग उड़ जाने और आवाजके बदल जाने आदि कार्यों [अनुभावों] के द्वारा उस [भयानक रस] का अभिनय करना चाहिए ।

भरत०—[हाथ-पैर आदिकी] जकडाहट, पसीना, गद्गद हो जाना, रोमाञ्च, कम्पन, आवाजका परिवर्तन [मुखका] रंग उड़ जाना, शङ्का मोह, दीनता, घबराहट, चञ्चलता, जडता, मृगी, मरण आदि उसके व्यभिचारी भाव हैं ।

अभिनव०—विकृत शब्द अर्थात् अट्टहास आदि । सत्त्वोका अर्थात् भूत-प्रेत पिशाच आदिका दिखलाई देना । दूसरेमे रहने वाले भय और घबराहट [भी भयानक रसके जनक कारण होते हैं] । खाली मकानो और वनोमें गमन अर्थात् पहुंचना । अपने सम्बन्धियोका जो वध तथा बन्ध उसका प्रत्यक्ष रूपसे देखना, अथवा शब्द प्रमाण [आगम विश्वस्त व्यक्ति] के द्वारा सुनना । 'कथादि' अर्थात् [स्वजनोंके] बीते हुएं [बध-बन्धादि] के फिर चिन्तन करनेसे स्मरण होने आदि [कारणो] से भयानकरस की उत्पत्ति होती है] ।

---

१. म त स्थायिभावप्रभव. ।

वेपितु प्रवृत्त यत्करचरणम् । आदिकर्मन भयव्यञ्जक, व्याध्यादिवैलक्षण्य-सूचनात् । पुलको रोमकूपोन्नति । स्वरस्य भेद स्वभावविपर्यय ।

भरत०—अत्रार्याः—

भरत०—विकृतरव-सत्त्वदर्शन-सग्रामारण्य-शून्यगृहगमनात् ।
गुरुनृपयोरपराधात् कृतकश्च भयानको ज्ञेय ॥
गात्र-मुख-दृष्टिभेदैरुरुस्तम्भाभिवीक्षणोद्वेगैः ।
सन्नमुखशोष-हृदयस्पन्दन-रोमोद्गमैश्च भयम् ॥
एतत् स्वभावज स्यात् सत्त्वसमुत्थ तथैव कर्तव्यम् ।
पुनरेभिरेव भावै कृतकं मृदुचेष्टित कायम् ॥

'गुरुनृपयो ' इति, अयमाशय —भय तावत् स्त्रीनीचबालादिपु वक्ष्यते नोत्तममध्यम-प्रकृतिषु । तेऽपि तु गुरुभ्यो राज्ञश्च भय दर्शयेयु । तद्भावेऽप्येव सुनरामुत्तमत्व भवति । अप्रभुत्व चामात्यानाम् । यथाह 'स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि' इति [र० १-७]।

अभिनव०—जो हाथ-पैर कापना प्रारम्भ हो जाय [वह 'प्रवेपित' है और वह भयके अनुभाव होता है । इस प्रकार 'प्रवेपित' पदमे] आदि कर्म [अर्थमे 'आदिकर्मणि क्त.' इस सूत्रके द्वारा किया हुआ क्त-प्रत्यय] ही व्याधि आदि [द्वारा होने वाले कम्प] से भिन्नताके सूचन द्वारा भयका व्यञ्जक है । पुलकका अर्थ रोए खडा होना है । स्वरका भेद अर्थात् [स्वरके] स्वभावका परिवर्तन [भी भयका अनुभाव है] ।

भरत०—इस विषयमें [प्राचीन आचार्योंकी वशपरम्परासे प्राप्त पद्य रूप निम्नाङ्कित तीन] आर्याए पाई जाती हैं—

भरत०—विकृत शब्द भूत-प्रेत आदि [सत्त्वों] का दर्शन, युद्धभूमिमे वनमे अथवा सूने घरोंमे जानेसे गुरु और राजाके अपराधसे कृतक [बनावटी] भयानक रस उत्पन्न होता है ।

भरत०—[हाथ पैर आदि] अङ्गो मुख तथा दृष्टिके परिवर्तनसे उरुस्तम्भ [अर्थात जङ्घाओंके जकड जाने] से [अभिवीक्षण अर्थात् डर जानेके कारण रक्षाके लिए] इधर-उधर ताकनेसे, घबराहट [के प्रदर्शन] से, सन्नता [अर्थात् निर्जीवता], मुखके सूखने हृदयके धडकने तथा रोमाञ्चके द्वारा भय [का अभिनय] होता है ।

भरत०—यह स्वाभाविक [भयके अभिनयका प्रकार] है । इसी प्रकार [सत्त्वसमुत्थ अर्थात्] मनसे उत्पन्न [भयका अभिनय] करना चाहिए । और इन्हीं अनुभावोंके द्वारा [कृतक अर्थात्] बनावटी भय मृदु चेष्टाओं द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए ।

अभिनव०—[प्रथम आर्यामे आए हुए] गुरु और राजाके [प्रति किए हुए अपराधसे भय उत्पन्न होता है] इसका यह आशय है कि—स्त्री नीच अथवा बालक आदिमे [स्वाभाविक] भय होता है यह बात आगे कहेंगे । उत्तम, मध्यम प्रकृतियोमे [स्वाभाविक भय] नहीं होता है । [किन्तु] उनको भी गुरुओसे और राजासे [कृतक बनावटी] भय दिखलाना चाहिए । उस [भय] के होनेपर भी इस प्रकारसे [गुरुओ और राजासे भय प्रदर्शित करनेसे] भी उत्तमत्व [सूचित] होता ही है [उत्तमत्व

अनुभावाश्च तथा श्लिष्टास्तत्र क्रियन्ते लोके येन सत्यत एव भीतोऽयमिति गुर्वादीनां प्रतीतिर्भवति। अस्वाभाविकत्वाच्च कृतकत्वम्। बहुतरकालानुवर्तनेनास्वाद्यत्वाच्च रसत्वम्। न च व्यभिचारित्वम्। तद्धि तदा स्यात् यदि स्वभावत एव न किञ्चित् काललवमुत्पाद्यते।

गात्रादीना भेदो वर्ण-कर्म-संस्थानादिविपर्ययः। वीक्ष्यमतिक्रम्य अभिवीक्षरण कान्दिशीकत्वेन निर्लक्षचक्षु-कृतम्। उद्वेग चलनम्। सादो गात्राणा स्रस्तता। मुखस्य तालुनि शोष. । हृदयस्पन्दनमतिवेगेनेह। 'भय' इति, 'अभिनेयम्' इति वीररस आर्यात. सम्बध्यते।

की हानि नहीं होती है]। और मन्त्रियोका [राजासे भय प्रदर्शित करनेसे] अप्रभुत्व [अर्थात् विनय] सूचित होता है। जैसा कि [यद्यपि राजाने मुझे राज्यका सारा कार्यभार सौंप रखा है। मै जैसा चाहूँ कर सकता हूँ। फिर भी] "स्वेच्छाचार करते हुए मैं [मन्त्री, राजासे] डरता ही हूँ" यह [रत्नावली १-७] नाटकमे मन्त्रीने कहा है।

अभिनव०—यहां [भयके प्रदर्शन करनेमें] लोकमें इस प्रकार सुसंगत रूपसे कार्य [अनुभाव] किए जाते हैं जिससे कि यह सचमुच ही डर रहा है इस प्रकारकी प्रतीति गुरु आदिको होती है। अस्वाभाविक होनेसे इसको 'कृतक' कहा गया है। बहुत काल तक विद्यमान रहनेसे और आस्वाद योग्य होनेसे उस [भय] को 'रस' कहा जाता है। [भयानक रस मे यह भय] व्यभिचारिभाव नहीं है। वह [व्यभिचारिभाव] तो तब हो यदि स्वभावसे ही तनिक देर भी न ठहरे। परन्तु भय बहुत काल तक रहता है इसलिए वह व्यभिचारिभाव नहीं है यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

आगे दूसरी आर्या की वृत्ति लिखते हैं—

अभिनव०—गात्र अर्थात् मुख और दृष्टि आदिका भेद अर्थात् उनके रग 'कार्य' और स्थिति आदिका परिवर्तन। [इसी कारिकामे आगे कहे हुए अभिवीक्षरण शब्दका अर्थ करते हैं—] वीक्ष्य [अर्थात् जिसको देख रहे हैं उस] को छोड़कर [डरके मारे] इधर-उधर देखना 'अभिवीक्षरण' [कहलाता] है। [कान्दिशीको भयद्रुत.] भयग्रस्त होनेसे किसी एक स्थानपर न टिकने वाले चक्षुसे किया हुआ [वीक्षरण अभिवीक्षरण कहलाता है। यह 'निर्लक्षचक्षु-कृतम्' का भाव है। आगे कारिकामे आए हुए 'उद्वेग' शब्दकी व्याख्या करते हैं] विचलित हो जाना उद्वेग होता है। अङ्गोंकी शिथिलता 'साद' [सन्नता] है। मुखका सूखना तालुमें होता है। [अर्थात् मुखशोषका अर्थ तालूका सूखना है]। हृदयकम्पसे यहां अतिवेगसे [हृदय के कम्पका ग्रहण करना चाहिए क्योंकि सामान्य रूपसे हृदयका कम्पन तो प्रत्येक व्यक्तिमे सदा होता ही रहता है]। [कारिकामे आए हुए] 'भयं' इस पदका सम्बन्ध वीररसकी [अर्थात् पृ० ५९६ पर वीररसके प्रकरणमें आई हुई] आर्यासे [अनुवृत्ति द्वारा प्राप्त 'सम्यगभिनेय' इस अंशका लिङ्ग विपर्यय करके 'अभिनेय' इस पद] के साथ होता है।

ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिता । मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथा स्थानं निवेशिता ।

सत्त्वसमुत्थमिति-सत्त्वं मनःसमाधानं । तज्जन्म कृगिति । नटस्येय शिक्षा । सा च सर्वविषयेति टीकाकारः । तदिदमसत् । कविनटशिक्षार्थमेव सर्वमिदं प्रकरणम् । लोके विभावानुभावाभिनयादिव्यवहाराभावात् ।

तस्मादयमत्रार्थः—एतत् तावद् भयं स्वभावजं रजस्तमः प्रकृतीनां नीचानामित्यर्थः । येऽपि च सत्त्वप्रधानास्तेषां सत्त्वसमुत्थं प्रयत्नकृतं एभिरनुभावैः कार्यम् । किन्तु मृदुचेष्टितैर्यतस्तत् कृतकम् । पुनः शब्दो विशेषद्योतकः ।

अभिनव०—ये सब आर्याएं पूर्व आचार्योने [भयानक रसके] लक्षण रूपमे [वीररसके साथ मिलाकर] एक साथ पढी थी भरत मुनिने उनको सुबोध करनेकेलिए [वीररससे अलग करके यहां भयानक रसके प्रकरणमे] उचित स्थान पर उनका समावेश कर दिया है । [इसलिए मूलरूपमे उन कारिकाओके वीर रसके साथ पठित होने से 'वीररस सम्यगभिनयः' इत्यादि कारिकासे 'अभिनेयः' पदका सम्बन्ध 'भय' पदके साथ इस कारिकामे आ जाता है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है] ।

आगे तृतीय कारिकाकी व्याख्या आरम्भ करते हैं—

अभिनव०—[तृतीय आर्यामे 'सत्त्वसमुत्थ' मे 'सत्त्व' का अर्थ मनकी एकाग्रता है । उससे उत्पन्न होने वाला [भय 'सत्त्वसमुत्थ' या कृत्रिम भय होता है । उस का अभिनय भी स्वाभाविक भयके अनुभावोके द्वारा ही करना चाहिए] । यह नटके लिए उपदेश दिया गया है । [शकुक आदि प्राचीन] टीकाकारका मत यह है कि यह शिक्षा [केवल नटकेलिए ही नहीं है अपितु दर्शक सामाजिक आदि] सबके लिए है । [परन्तु उन लोगोका] यह कथन असङ्गत है क्योकि यह सब प्रकरण [अर्थात् सारा नाट्यशास्त्र] कवि तथा नटकी शिक्षाके लिए ही रचा गया है । [दूसरी बात यह भी है कि] लोकमें विभाव, अनुभाव, अभिनय आदिका व्यवहार नहीं होता है [ये सब शब्द नाट्यशास्त्रमें ही आते हैं । इसलिए यह शिक्षा केवल नटोके लिए ही है कि अमुक प्रकारसे अमुक रसका अभिनय करना चाहिए । सर्वसाधारणसे उसका सम्बन्ध नहीं है । इसलिए प्राचीन टीकाकार शंकुक आदिने जो इस शिक्षाका सर्वसाधारणके साथ सम्बन्ध माना है वह अनुचित ही है] ।

अभिनव०—इसलिए इस सबका यहा यह अभिप्राय है कि—यह स्वाभाविक भय, राजस एव तामस प्रकृति वालोमे अर्थात् नीचोमे होता है । और जो सत्त्वप्रधान अर्थात् सात्त्विक प्रकृतिके लोग होते हैं उनमे [स्वाभाविक भय नहीं होता है अपितु] सत्त्व अर्थात् मनसे कल्पित कृत्रिम [प्रयत्नकृत भय] होता है । उसका अभिनय भी इन्हीं अनुभावोके द्वारा करना चाहिए । किन्तु मृदु चेष्टाओ द्वारा करना चाहिए क्योकि वह कृत्रिम भय है । 'पुनः' शब्द [कृत्रिम भयके स्वाभाविक भयसे] भेदका बोधक है ।

ननु राजादि किमिति गुर्वादिभ्यो भयं कृतक दर्शयति ? दर्शयित्वा किमिति मृदून् गात्रकम्पनादीन् प्रदर्शयति ? किमिति च भयानक एव कृतकत्वमुक्तम् ? सर्वस्य हि कृतकत्वमुक्त भवति। यथा वेश्या धनार्थिनी कृतका रतिमादर्शयति। इत्याशङ्क्य साधारणमुत्तरमाह—तथैव कार्यमिति । भये हि प्रदर्शिते गुरुर्विनीत जानाति। मृदुचेष्टिततया चाधमप्रकृतिमेन[1] न गणयति। कृतकश्रृङ्गाराद्वेश्योपदष्टाना[2] न काचित् पुरुषार्थसिद्धि.। तेनैव ह्यु क्तेन प्रकारेण कार्यः पुरुषार्थविशेषो लभ्यते। यत्र तु राजा कृतकान्[3] परानुग्रहाय क्रोधविस्मयादीन् दर्शयति तत्र व्यभिचारितैव तेषां न स्थायिता।

इत्येतदर्थसूचिकामेव गुरुवशान्तरप्रसिद्धामार्या पठति करचरणेति—

भरत०—करचरणवेथुस्तम्भगात्रसंकोचहृदयप्रकम्पनेन ।
शुष्कोष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ।।

नित्यमिति कृतकत्वेऽकृतकत्वे च ।

इति भयानकरसप्रकरणम्

अभिनव०—[प्रश्न] राजा आदि [शक्तिशाली व्यक्ति] गुरु आदिसे कृत्रिम भय क्यो दिखलाता है ? और दिखलानेपर भी मृदु गात्रकम्पन आदिको क्यों प्रकट करता है ? और केवल भयानक रसको ही कृत्रिम क्यो कहा है ? क्योकि ऐसे तो सभी रस कृत्रिम हो सकते हैं। जैसे कि धन चाहने वाली वेश्या बनावटी प्रेमका प्रदर्शन करती है इस प्रकारकी आशङ्का की जा सकती है ऐसा मानकर साधारण [सबमे लग जाने वाला] उत्तर देते हैं 'उसी प्रकार [अभिनय] करना चाहिए यह'। क्योंकि [गुरुके सामने] भय प्रदर्शित करनेपर गुरु [राजाको] विनयशील समझते हैं। और मृदु चेष्टाओं द्वारा [भयके प्रदर्शित किए जानेसे] उसको अधम प्रकृति नहीं [उत्तम प्रकृतिका] समझते हैं। [इस प्रकार कृत्रिम भयसे विशेष प्रयोजनकी सिद्धि होती है] कृत्रिम श्रृङ्गारसे वेश्यासक्तोंको किसी किसी पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती है। अपितु उसी कहे हुए प्रकारसे [अर्थात् वास्तविक रूपसे 'कार्य' अर्थात् अभीष्ट पुरुषार्थविशेषकी प्राप्ति होती है। और जहांपर राजा दूसरोंके अनुग्रहके लिए कृत्रिम, क्रोध आदिका प्रदर्शन करता है। वहां वे [क्रोध आदि चिरकाल स्थायी न होनेसे] व्यभिचारिभाव ही होते हैं स्थायिभाव नहीं।

अभिनव०—इसी अर्थको सूचित करने वाले अपने गुरुकी वंशपरम्परामे प्रसिद्ध 'कर-चरण' इत्यादि [तृतीय] आर्याको पढते हैं—

अभिनव०—'नित्यं' इस पदसे [भयके] कृत्रिम होनेपर और अकृत्रिम [स्वाभाविक] होनेपर [एक ही प्रकारसे अभिनय करना चाहिए] । .

भयानकरसका प्रकरण समाप्त हुआ।

---

१. अधमप्रकृतिमेनं गणयति। २. परिदृष्टानां। ३. न कृतकं।

अथ वीभत्सरसप्रकरणम्

अवसरप्राप्तं वीभत्सरसं लक्षयत्यथेति—

भरत०—अथ वीभत्सो नाम जुगुप्सास्थायिभावात्मकः । स [1]चाहृद्या-प्रियाचोष्यानिष्टश्रवणदर्शनोद्वेजनपरिकीर्तनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

भरत०—तस्य च [2]सर्वाङ्गसहार-[3]मुखविकूणनोल्लेखन-निष्ठीवनोद्वेज-नादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । भावाश्चास्यापस्मारोद्वेगावेग-मोह-व्याधिमरणादयः ।

[4]हृद्यमपि किञ्चित् कस्यचित् निसर्गतोऽप्रियं[5] लशुनमिव द्विजानाम् । अप्रियं [6]धात्वादिदोषात् यथा श्लेष्मोपहतस्य क्षीरम् । अचोष्यं[7] स्वरूपेणादुष्टमपि मलाद्युपहितम् । अनिष्टं यत्रानिशं भुक्तत्वेनेच्छा निवृत्ता । सहारः पिण्डीकरणम । मुखस्येति तदङ्गाना सङ्कोचनम् । उल्लेखनमुल्लाघः । निष्ठीवनं कफनिरसनम्[8] । उद्वेजनं गात्रोद्धूननम् ।

वीभत्सरस प्रकरण

अभिनव०—अब आगेसे अवसर प्राप्त वीभत्स रसका लक्षण करते हैं—

भरत०—अब जुगुप्सा [घृणा] रूप स्यायिभावात्मक वीभत्स रस होता है। और अहृद्य, अप्रिय, अपवित्र, एवं अनिष्ट [वस्तुओं] के देखने, सुनने और उद्वेजन [अर्थात्] शरीरके हिलाने आदि रूप विभावोंसे उसकी उत्पत्ति होती है।

भरत०—समस्त अङ्गोके सङ्कोचन, मुखके अवयवोंके सिकोडने, उल्लेखन, थूकने [निष्ठीवन] और [उद्वेजन अर्थात्] शरीर धुनने आदि विभावोंके द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए। अपस्मार [मृगी] जी मिचलाना, वमनादि रूप आवेग, मूर्छा, रोग, मरण आदि उसके व्यभिचारिभाव होते हैं।

अभिनव०—[किसीकेलिए] हृद्य होनेपर भी कोई वस्तु किसी [दूसरे] केलिए स्वभावसे ही अत्यन्त अप्रिय [अग्राह्य] होती है जैसे ब्राह्मणोके लिए लहसुन। [लक्षणमे दिए हुए] अप्रिय अर्थात् [वात पित्त कफ रूप] धातुओके दोषसे [अप्रिय लगने वाली वस्तु]। जैसे कफके रोगीके लिए दूध [कफवर्धक होनेसे अप्रिय होता है]। अचोष्य अर्थात् स्वरूपसे दूषित न होनेपर भी मल आदिसे युक्त। अनिष्ट अर्थात् जिस का निरन्तर भोग करनेसे [और भोग करनेकी] इच्छा नहीं रही है। [अनुभावो मे 'सर्वाङ्गसहार' शब्दका प्रयोग हुआ है उसका अर्थ करते हैं]। सब अङ्गोका] सहार अर्थात् इकट्ठा करना सिकोडना। मुखका [विकूणन] अर्थात् उसके [नाक भौंह आदि] अवयवोका सङ्कोच करना। उल्लेखन का अर्थ छर्दि [वमन] रूपसे है। कफका निकालना [थूकना] निष्ठीवन [कहलाता] है। उद्वेजन अर्थात् शरीरको हिलाना।

---

१ ड चाहृद्याप्रियापेक्षानि। व अ हृद्याप्रशस्ताप्रियावेक्ष्य। २ म सर्वाङ्गसम्प्रहार। च सर्वाङ्ग सङ्कोच। ३ म मुखनेत्र विकूनेत्र। ४. हृदयस्यापि। ५ अप्रयत। ६ जात्यादि। ७ अचोक्ष। ८ निरासन।

भरत०—अत्रानुवंश्ये आर्ये भवत —

'अनभिमतदर्शनेन च 'गन्ध-रस-स्पर्श-शब्ददोषैश्च ।
'उद्वे जनैश्च बहुभिर्बीभत्सरस. समुद्भवति ॥
मुख-नेत्रविकूणनया नासाप्रच्छादनावनमितास्यैः ।
अव्यक्तपादपतनैर्बीभत्सरसः सम्यगभिनेय ॥

नासाप्रच्छादन दुर्गन्धप्राये दृष्टम् । प्रतिघातादव्यक्तानि पादयोः पतनानि । यदि वा अस्थिकङ्कालाद्याकुले पितृवने सञ्चरतोऽस्फुटितानि पादपतनानि क्वचिद्दीर्घाणि अन्यत्र ह्रस्वानि इति ।

इति बीभत्सरसप्रकरणम् ।

अथाद्भुतरसप्रकरणम्

'सर्वत्रान्तेऽद्भुत ' इत्युक्त लक्षयितुमाह 'अथ' इति—

भरत०—अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मक । स च दिव्य-जनदर्शन-ईप्सितमनोरथावाप्ति-उपवनदेवकुलादिगमन-सभा - विमान-मायेन्द्र-जालसम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

भरत०—इस विषयमें वशपरम्परासे प्राप्त दो आर्याए हैं—

भरत० अनभिमत [वस्तु] के देखनेसे गन्ध रस स्पर्श और शब्दके दोषोंसे और नाना प्रकारके उद्वेग जनक अर्थोंसे बीभत्स रसकी उत्पत्ति होती है।

भरत०—मुख और नेत्रोके टेढ़े करनेसे, नाकके दवानेसे, सिर झुका लेनेसे, और [व्यक्त अर्थात् अलग, अव्यक्त अर्थात् अलग-अलग नहीं अपितु परस्पर] टकराते हुए पैरोंके पडनेसे बीभत्स रसका भली प्रकारसे अभिनय करना चाहिए।

अभिनव०—अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त स्थलमें नाक दवाना देखा जाता है। परस्पर टकरानेके कारण अव्यक्त जो पैरोका पड़ना [उससे बीभत्सरसका अभिनय करना चाहिए]। अथवा हड्डी और कङ्कालोसे भरे हुए श्मशानमें घूमते हुए पुरुषके जो अस्पष्ट अर्थात् कहीं बहुत लम्बे और कहीं छोटे क़दमोका पड़ना [अव्यक्तपादपतन शब्दसे यहाँ अभिप्रेत है]।

बीभत्सरसका प्रकरण समाप्त हुआ।

अद्भुतरस-प्रकरण

अभिनव०—'सब जगह [सब नाटकोमें] अन्तमें अद्भुत [रस रखना चाहिए]' इस प्रकार कहे हुए अद्भुत रसका लक्षण करनेके लिए 'अथ' इत्यादि कहते हैं—

भरत०—विस्मय स्थायिभाव स्वरूप अद्भुत रस कहलाता है। यह दिव्यजनोंके दर्शन [जिसकी प्राप्ति सम्भव हो इस प्रकारको] मनोवाञ्छित और [जिसकी प्राप्ति सामान्य रूप से सम्भव न हो इस प्रकारके] मनोरथकी प्राप्तिसे, उपवन देवमन्दिर आदिमें गमन, सभा विमान, माया, इन्द्रजाल आदिकी सम्भावना आदि रूप विभावोंसे उत्पन्न होता है।

---

१. अनभिहित। २. रसगन्ध। ३. उद्वेजन।

भरत०—तस्य नयन विस्तार-अनिमिषप्रेक्षण-रोमाञ्च-अश्रु-स्वेद-हर्ष-साधुवाद-दान-प्रबन्धहाहाकार-वाहु-वदन-चेलांगुलिभ्रमणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्य ।

भरत०—भावाश्चास्य स्तम्भ-अश्रु-स्वेद-गद्गद-रोमाञ्च-आवेग-सम्भ्रम प्रहर्ष-चपलता-उन्माद-धृति-जडता-प्रलयादयः ।

दिव्या गन्धर्वादय । ईप्सित शक्यप्राप्तिरर्थ । अन्यो मनोरथ । तयो प्राप्तिरुपचयनम् । देवकुले च गमनम् । तस्याद्भुतविभावो येन तत्रत्य सरसनिवेशादि न कवचिद् दृष्टम् । सभा गृहविशेष । विमानादीनि दिव्यरथा । माया रूपपरिवर्तनादिका । इन्द्रजाल मन्त्र-द्रव्यवस्तु-युक्त्यादिना असम्भवद्वस्तुप्रदर्शनम् ।

तस्य इत्यद्भुतस्य । हर्षशब्देनात्र तदनुभावा । साध्वितिवदन साधुवाद । दान धनादे । प्रबन्ध सतत कृत्वा हाहाशब्दस्य करणम् । चेलस्यागुलेश्च भ्रमणम् ।

भरत०—आँखें फाडने, अपलक देखते रहने, रोमाञ्च, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवाद, दान, निरन्तर हा-हा शब्द करने, हाथ मुख वस्त्र अगुली आदिके घुमाने, आदि कार्यों [अनुभावो] के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए ।

भरत०—स्तम्भ, अश्रु स्वेद, गद्गद, रोमाञ्च, आवेग, सम्भ्रम, प्रहर्ष, चपलता, उन्माद, धृति, जडता, मूर्च्छा आदि उसके व्यभिचारिभाव होते हैं ।

अभिनव०—दिव्य [जन अर्थात्] गन्धर्व आदि । जिसकी प्राप्ति सम्भव हो इस प्रकारका अर्थ 'ईप्सित' [अर्थ कहलाता] है । उससे भिन्न [अर्थात् जिसकी प्राप्ति सम्भव न हो इस प्रकारका अर्थ] 'मनोरथ' [कहलाता] है । उन दोनोकी प्राप्ति अर्थात् समीपमे आ जाना । देवकुल [मन्दिर] मे गमन, उसकेलिए अद्भुत रसका विभाव होता है जिसने वहाके जैसे सुन्दर भवन आदि नहीं देखे हैं । सभा विशेष प्रकारके मण्डपको कहते हैं । विमान आदि अर्थात् दिव्यरथ । रूप परिवर्तन आदि [की कला] माया होती है । मन्त्र, द्रव्य या वस्तु [के रखने आदि] की युक्तिसे असम्भव मालूम होती हुई वस्तुका प्रदर्शन करना इन्द्रजाल [कहलाता] है ।

अभिनव०—['तस्य अभिनय प्रयोक्तव्य' मे] 'तस्य' इस पदसे 'अद्भुत का' [ग्रहण करना चाहिए] । 'हर्ष'शब्द से यहा उस [अद्भुत रस]के अनुभावो [कार्यों] का ग्रहण होता है । साधु-साधु इस प्रकार कहना [अर्थात् शाबाशी देना] साधुवाद है । दान अर्थात् धन आदिका दान [भी विस्मयका अनुभाव या कार्य है । क्योकि अत्यन्त अद्भुत कार्य देख कर देखने वाला राजादि प्रसन्न होकर इनाम आदि भी देता है । साधुवाद तो मिलता ही है] । निरन्तर हा हा शब्द करना [प्रसन्न और दु ख दोनोमे हा हा शब्द किया जा सकता है । यहां अद्भुत वस्तुको देख कर प्रसन्नतासे किए गए हा-हा शब्दका ग्रहण करना चाहिए] । वस्त्र या अगुली आदिका घुमाना [भी अद्भुत रसके अनुभाव या कार्य होते हैं] ।

भरत०—अत्रानुवंश्ये आर्ये भवत —

भरत०—यत्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं च कर्मरूपं वा ।
तत्सर्वमद्भुतरसे विभावरूपं हि विज्ञेयम् ।।
स्पर्शग्रहोल्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च ।
वेपथुगद्गदवचनैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ।।

अतिशेत इत्यतिशय । अन्यापेक्षया योऽर्थ उत्कृष्ट, तेन वाच्यभूतेन युक्तं यद्वाक्यं, यच्च शिल्पं, कर्मरूप कर्मात्मकं प्रशसाया 'रूपप्' । सर्वमित्येवं प्रकार इति यावत् । स्पर्शग्रहशब्देन तद्विभावादय. । अभिनयो वक्ष्यमाणो लक्ष्यते ।

किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वा भ्रूक्षेपमेव च ।
तथासगण्डयो स्पर्शात् स्पर्शमेव विनिक्षिपेत । २२-८३ इति ।

गात्रस्योर्ध्वं साल्हाद धूननमुल्लुकसनम् । वहुवचनं प्रकृतिभेदेन प्रकारवैचित्र्य सूचयति ।

इत्यद्भुतरसप्रकरणम् ।

भरत०—इस [अद्भुत रसके] विपयमे वशपरम्परासे प्रसिद्ध [निम्नलिखित] दो आर्याए भी पाई जाती हैं—

भरत०—जो वाक्य, कला, अथवा उत्तम कार्य अन्योकी अपेक्षा उत्कृष्ट [लोकोत्तर] होता है वह सब अद्भुत रसमे विभाव [कारण] रूप समझना चाहिए ।

भरत०—स्पर्शग्रहण, [२२-८३ मे कथित स्पर्शसे उल्लुकमन अर्थात्] उछलने कूदने के द्वारा [प्रसन्नताके अतिरेकमे किए गए] हा-हा शब्दसे साधुवाद [के वचनो] से, कम्पन, गद्गद वचनों और स्वेद आदिके [प्रदर्शन] द्वारा उस [अद्भुत रस] का अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव०—जो अन्योका अतिक्रमण कर जाय वह अतिशय [कहलाता] है । अर्थात् जो अर्थ अन्योकी अपेक्षा उत्कृष्ट हो । उसका प्रतिपादक वाक्य [तथा अतिशय युक्त] जो कला अथवा उत्तम कार्य ['कर्मरूपं' इस पदमे] प्रशंसा अर्थमे 'रूपप्'-प्रत्यय हुआ है । वह सब अर्थात् इस प्रकारका सब [अद्भुत रसका विभाव होता है] यह अभिप्राय है । 'स्पर्शग्रह' शब्दसे उस [अद्भुत रस] के विभाव रूपमे आगे [२२-८३ मे] कहे जाने वाले अभिनयका ग्रहण करना चाहिए । [वह अभिनय निम्न श्लोकमे दिखलाया गया है]—

अभिनव०—आखोको तनिक सिकोड़ कर और भौंहोको चढ़ा कर और गाल को कन्धेसे लगा कर इस प्रकार 'स्पर्श' का प्रयोग करे ।

अत्यन्त प्रसन्नतासे शरीरका ऊपर उछालना [अर्थात् उछलना-कूदना] उल्लुकसन [कहलाता] है । ['उल्लुकसनै.' आदि पदोमें] वहुवचनोंसे भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगोमे प्रकारोका भेद सूचित किया है ।

अद्भुतरसका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ प्रधानभूतविभावानुगुणभावप्रतिपादन भेदप्रदर्शनव्याजेन करोति 'शृङ्गार' इत्यादिना—

भरत०—शृङ्गारं त्रिविधं विद्याद् वाङ-नैपथ्य-क्रियात्मकम् ।
अगनैपथ्य-वाक्यैश्च हास्य-रौद्रौ त्रिधा स्मृतौ ।। ५२ ।।

वाक्यरौद्रो हि तत्र स्वभावरौद्रइति व्यवहरिष्यते । स्वभावानुसारित्वाद् वाक्यस्य ।

धर्मोपघातजश्चैव तथार्थापचयोद्भवः ।
तथा शोककृतश्चैव करुणस्त्रिविधः स्मृत ।। ५३ ।।

धर्मोपघातज उत्तमानामपि, शोभनहेतुत्वात् । शोकशब्देन स्वजननाशादिज[1] । तत्रैते त्रयो विभावा । धर्मशब्देनाग्निष्टोमादिक्रिया[2] ।

दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च ।
रसं वीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधमेव हि ।। ५४ ।।

त्रिगुणात्मक प्रधानके अनुरूप रसोके तीन-तीन भेद—

अभिनव०—'शृङ्गार' इत्यादि [४ कारिकाओ] के द्वारा [रसोके] भेद दिखलानेके बहानेसे ग्रन्थकार साख्याभियत सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण रूप त्रिगुणात्मक प्रधानभूत [विभाव] कारणके अनुरूप तीन-तीन भावोका प्रतिपादन करते हैं—

भरत०—वचनात्मक वेषात्मक तथा क्रियात्मक भेदसे शृङ्गाररस तीन प्रकारका समझना चाहिए। इसी प्रकार हास्य तथा रौद्र रस भी अङ्गोसे, वेषसे, तथा वाक्योसे [व्यक्त होनेके कारण] तीन-तीन प्रकारके होते हैं ।। ५२ ।।

अभिनव०— रौद्र रसके भेदोमे जो 'वाक्यरौद्र' कहा है वह स्वभाव रौद्र कहा जायगा। क्योकि वाक्य तो स्वभावके अनुसार ही होता है ।। ५२ ।।

भरत०—धर्मके नाशसे, अर्थकी हानि होनेसे और [स्वजनादिके नाश रूप] शोकसे उत्पन्न होनेके कारण करुण रस तीन प्रकारका माना गया है ।५३।

अभिनव०—[५३वी कारिकाके करुणरसके भेदोमे] 'धर्मोपघातज' उत्तम कारणसे उत्पन्न होनेके कारण उत्तम प्रकृति [के व्यक्तियो] मे भी होता है। [यहाँ धर्म नाश तो नाश तो उत्तम नहीं है परन्तु उसका मूल भूत धर्म रक्षाका भाव उत्तम है इसलिए इसको शोभनहेतु कहा है]। शोक शब्दसे स्वजनके नाश आदिसे उत्पन्न [करुण] का ग्रहण करना चाहिए। ये तीनो करुण रसके विभाव [कारण] होते है। धर्म शब्दसे अग्निष्टोम आदि क्रियाका ग्रहण होता है ।। ५३ ।।

भरत०—दानवीर, धर्मवीर, और युद्धवीर भेदसे ब्रह्माने वीररसके भी तीन ही प्रकार का कहा है ।५४।

---

१. शोकशब्देन स्वजनादिनासौ चेते त्रयो विभावा । २ इसके बाद 'अत एतद्यजनादीनि नियमानुभावात्मक प्रतिनायकगत तु विभावरूपमपि' इतना पाठ अस्पष्ट है ।

व्याजाच्चैवापराधाच्च वित्रासितकमेव च ।
पुनर्भयानकञ्चैव विद्यात् त्रिविधमेव हि ॥ ५५ ॥

व्याजादिति कृतक इत्यर्थ. । अनेनानुभावमार्दव दर्शितम् । अपराद्धघन्तीति 'अपराधा.', चोरादय । यत्तु स्वभावत्रस्तहृदयाना स्त्रीबालादीना तृणेऽपि कम्पमाने भय तद्वित्रासितकम् । विशेषेण त्रास्यते इति वित्रासितो बालादि. । तत्प्रकृतित्वाद् भयं तथोक्तम् । तत. सञ्ज्ञाया कन् । गुर्वाद्यपराधात् परमार्थतोऽप्युत्तमाना भयावेग इति त्वसत् । भय हि विनाशशङ्कात्मक नोत्तमेषु सम्भवति । तथा च भय नाम स्त्रीनीच-प्रकृतिकमिति सामान्येन वक्ष्यते ।

भरत०—बीभत्स क्षोभणः शुद्ध उद्वेगी स्याद् द्वितीयक ।
विष्ठाक्रिमिभिरुद्वेगी क्षोभणो रुधिरादिज ॥ ५६ ॥

रुधिरान्त्रादिदर्शनाद्यो बीभत्सः स क्षोभणत्वाच्छुद्ध. । यस्तु विष्ठादिभ्य' स उद्वेगी । हृदय चालयति । सोऽशुद्ध अशुद्धविभावकत्वात् ।

भरत०—१ बहानेसे [प्रदर्शित अर्थात् कृत्रिम] २ अपराध करने वाले [चोर आदि] से तथा ३ [बाल स्त्री आदिमे] वित्रासितक इस प्रकार भयानक रस भी तीन तरहका समझना चाहिए ।५५।

अभिनव०—व्याजसे अर्थात् बहानेसे [होने वाला भय अर्थात्] बनावटी । इस से अनुभावकी मृदुता सूचित की है । अपराध करने वाले [अर्थात् सताने वाले] चोर आदि [यहाँ] 'अपराध' [कहलाते] हैं । और जो स्वभावसे डरपोक स्त्री बालक आदिकोको तिनकेके हिलनेसे भी भय [होने लगता] है वह वित्रासितक [नामका भयका तीसरा भेद] है । जो विशेष रूपसे भयभीत हो जाता है वह बालक आदि 'वित्रासित' हुआ । उसमेरहने वाला होनेसे भी 'वित्रासित' हुआ । उस ['वित्रासित' शब्द] से सज्ञा अर्थमे ['संज्ञाया कन्' इस सूत्रसे] कन्-प्रत्यय [हो कर 'वित्रासितक' शब्द बनता है] है । [प्राचीन टीकाकारोने लिखा है कि] गुरु आदिके प्रति अपराधके कारण उत्तम प्रकृति [के व्यक्तियो] मे भी वास्तविक भयका आवेग होता है यह कहना ठीक नहीं है । क्योकि अपने विनाशकी शङ्का ही भयका स्वरूप है । वह उत्तम-प्रकृतियोमें नहीं हो सकता है । इसलिए स्त्री और नीचप्रकृति आदिमे भय होता है यह सामान्य रूपसे कहा जायगा । ५५ ।

भरत०—बीभत्स रस क्षोभण अर्थात् शुद्ध और उद्वेगी अर्थात् अशुद्ध दो प्रकारका होता है । उनमेसे विष्ठा कृमि आदिसे [उत्पन्न होने वाला] उद्वेगी [अशुद्ध] और रुधिर आदिमे [उत्पन्न] क्षोभण [तथा शुद्ध कहलाता] है ।५६।

अभिनव०—रुधिर या आतो आदिको देखनेसे जो बीभत्स रस [उत्पन्न] होता है वह क्षुब्ध करने वाला होनेसे 'क्षोभण' और शुद्ध कहलाता है । और जो विष्ठा आदिके देखनेसे उत्पन्न होता है वह उद्वेग कारक हृदय को विचलित करने वाला होता है इसलिए अशुद्ध विभावसे उत्पन्न होनेके कारण यह अशुद्ध है ।

उपाध्यायस्तत्वाह—बीभत्सस्तावद्विभावविशेषात् तत्र तु संसारनाट्यनायकरागप्रतिपक्षतया मोक्षसाधकस्तत्र मोक्षसाधनत्वाच्छुद्ध. । यदाहु—"शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा" [योग सूत्र २-४०] इति । तथा 'विपक्षवाधने प्रतिपक्षभावनम्' [योग सूत्र २-३३] इति । तेन सोऽपि परमार्थतस्त्रिविध एव । द्वितीयक इत्यनेन तस्य दुर्लभत्वेनाप्राचुर्यं सूचयति ।। ५६ ।।

भरत०—दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतो रसः ।
दिव्यदर्शनतो दिव्यो हर्षादानन्दजः स्मृत ।। ५७ ।।

दिव्य इति यत्र सभाविमानादयो विभावा । आनन्दयति इति 'आनन्द' मनोरथा-

---

अभिनव०—उपाध्याय [अर्थात् हमारे गुरु श्री भट्टतोत] का तो यह कहना है कि [ये दोनो ही प्रकारके बीभत्स रस तो वस्तुत अशुद्ध ही है । शुद्ध बीभत्स इन दोनोसे भिन्न होता है जो] बीभत्स रस ससारका सञ्चालन करने वाले राग [द्वेष] आदिका विरोधी होनेसे मोक्षका साधक होता है वह शुद्ध [बीभत्स रस कहलाता] है । [बीभत्स रस या उसका स्थायिभाव 'जुगुप्सा' भी मोक्ष साधनमे उपयोगी है इसके सिद्ध करनेकेलिए ग्रन्थकार योग दर्शनके दो सूत्र उद्धृत करते है] जैसा कि [पतञ्जलि मुनिने अपने योगदर्शनमे] कहा है कि 'शौच' [नियमके सिद्ध होने] से अपने शरीरसे भी घृणा हो जाती है [यह शौच, योगाङ्गोमे गिनाया गया है । इसलिए शौचसे सम्बद्ध होनेसे जुगुप्सा भी जो कि बीभत्सरसका स्थायिभाव है मोक्षसाधनमे उपयोगी है] । और [हिंसादि रूप] वितर्कोंके द्वारा [योगसाधनमे] 'बाधा उपस्थित होनेपर प्रतिपक्षकी भावना चाहिए' । इसलिए वास्तवमें वह [बीभत्सरस] भी [उक्त दो भेदोके अतिरिक्त मोक्ष साधक बीभत्स रूप तृतीय भेदके होनेसे] तीन ही प्रकारका होता है । [कारिकामे आए] 'द्वितीयक.' इस पदसे उस [मोक्षोपयोगी शुद्ध बीभत्स रसके] दुर्लभ होनेसे न्यूनताको सूचित किया गया है ।। ५६ ।।

योग दर्शनके इस सूत्रका यह अभिप्राय है कि जब किसी सुन्दरीके रूपपर साधकका मन विचलित हो तब उसके रोकनेके लिए उस सुन्दरीके शरीर परके चमडेको हटा देनेपर जो बीभत्स रूप बन जाता है उसकी भावना करनेसे मनसे रागका नाश हो जाता है । इस प्रकार बीभत्स रस योग साधनमें अथवा मोक्ष प्राप्तिमे सहायक होता है । यह जो मोक्षमें साधक बीभत्स रस है इसको शुद्ध बीभत्स रस मानना चाहिए । और पहिले कहे हुए रुधिर दर्शनसे उत्पन्न तथा विष्ठादिके दर्शनसे उत्पन्न क्षोभण एव उद्वेगी दोनो प्रकारके बीभत्स रसोको अशुद्ध हेतुओसे उत्पन्न होनेके कारण अशुद्ध ही मानना चाहिए यह ग्रन्थकारके गुरुदेव भट्टतोतका मत है । इस प्रकार पहिले दो प्रकारके 'क्षोभण' एव 'उद्वेगी' बीभत्स रसोके साथ मोक्षोपयोगी शुद्ध बीभत्सको मिला देने पर बीभत्स रसके भी तीन भेद हो जाते हैं । इसी बातको ग्रन्थकारने ऊपर कहा है ।

भरत०—(१) दिव्य और (२) आनन्दज भेदसे अद्भुत रस भी दो प्रकारका कहा गया है । उनमेसे दिव्यको देखनेसे उत्पन्न दिव्य तथा हर्षसे उत्पन्न आनन्दज [अद्भुत रस] होता है ।५७।

अभिनव०—दिव्यसे जिसमे सभा विमान आदि विभाव [अनुभाव] होते हैं

वाप्त्यादिः। स एव हर्षयतीति हर्ष ।

एषु च 'शृंगारम्' इत्यादिषु श्लोकेषु 'चकारा.' विभावानुभावान्तरनिरास-शङ्का पराकर्तुम्। 'एवकारा' इयन्त एव तेषां मुख्यत्वेन सङ्गता इति दर्शनार्थाः। 'तथा' शब्दा अनुक्तविभावाद्यूहनार्था इति यथायोग योज्यम् ॥ ५७ ॥ [८२]

इत्यद्भुतरस-प्रकरणम्।

अथ शान्तरसविचार॰[1]

भरत०—अथ शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः। स तु तत्त्वज्ञानवैराग्याशयशुद्ध्यादिभिर्विभावैं समुत्पद्यते। तस्य यमनियमाध्यात्म-ध्यान-धारणोपासन-सर्वभूतदया-लिङ्गग्रहणादिभिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य । व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद-स्मृति-घृति-शौच-स्तम्भ-रोमाञ्चादयः। अत्रार्याः श्लोकाश्च भवन्ति—

भरत०—मोक्षाध्यात्मसमुत्थस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्त. ।
नै.श्रेयसोपदिष्ट शान्तरसो नाम सम्भवति ॥

[उसका ग्रहण होता है] जो आनन्द प्रदान करते हैं वे मनोरथ सिद्धि आदि आनन्द कहलाते हैं। और वे ही हर्ष प्रदान करते हैं इस लिए हर्ष कहलाते हैं।

अभिनव०—इन 'शृङ्गार' इत्यादि श्लोकोमें आए हुए सारे चकार अन्य विभावों और अनुभावोके अभावकी शङ्काके निराकरणके लिए [अर्थात् इनके अतिरियत अन्य विभाव उस रसके नहीं हो सकते हैं इस शङ्काके निराकरणकेलिए, अर्थात् अन्य विभाव भी हो सकते हैं इसके प्रतिपादन करनेकेलिए प्रयुक्त हुए] हैं। तथा उन [सब विभावो] मेसे मुख्य रूपसे इतने ही यहां सङ्गत होते हैं इस बातके दिखलानेकेलिए [चकारके बाद] 'एव' शब्दोंका प्रयोग किया गया है। और यहां न कहे हुए [अनुक्त] विभावोंका भी संग्रह करनेके लिए 'तथा' शब्दोका प्रयोग किया गया है यह बात यथायोग समझ लेनी चाहिए ॥ ५७ [८२] ॥

यह अद्भुत रसका प्रकरण समाप्त हुआ।

अथ शान्तरसविचार॰

भरत०—शम स्थायिभाव स्वरूप और मोक्षका सम्पादक शान्त रस होता है। वह तो तत्वज्ञान, वैराग्य, चित्तशुद्धि आदि विभावो [कारणों] से उत्पन्न होता है। यम, नियम, अध्यात्म-ध्यान, धारणा, उपासना, सब प्राणियोपर दया, [लिङ्गग्रहण अर्थात्] सन्यास-धारण, आदि अनुभावों के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए। निर्वेद, स्मृति, घृति शौच, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि उसके व्यभिचारिभाव हैं इस विषयमे [निम्नाङ्कित] आर्या और श्लोक भी [परम्परासे प्रसिद्ध] हैं।

भरत०—मोक्ष और अध्यात्मसाक्षात्कारका जनक [मोक्षाध्यात्मयो समुत्थान यस्मात् स मोक्षाध्यात्मसमुत्थः] तत्वज्ञान रूप हेतुसे युक्त, मोक्ष प्राप्तिकेलिए उपदिष्ट शान्त नामका [नवम] रस होता है।

---

१. प म य. पुस्तकेषु शान्तरस प्रकरणं नास्ति।

भरत०—बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रियसंरोधाध्यात्मसंस्थितोपेत ।
सर्वप्राणिसुखहित शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥
यत्र न दु ख न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः ।
सम सर्वेषु भूतेषु स शान्त प्रथितो रस ॥
भावा विकारा रत्याद्या शान्तस्तु प्रकृतिर्मत ।
विकार प्रकृतेर्जात पुनस्तत्रैव लीयते ॥
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।
पुर्नर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥
एवं नवरसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विता ॥

ये पुनर्नवरस रसा इति पठन्ति तन्मते शान्तस्वरूपमभिधीयते । यत्र केचिदाहुः

भरत०—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियके निरोध करने वाले और आत्मनिरठ [साधक] के द्वारा प्राप्य, समस्त प्राणियोके लिए सुखकर एव हितकर शान्त रसको समझना चाहिए।

भरत०—जहां न दु ख रहता है, न सुख, न द्वेष रहता है और न ईर्ष्या रहती है। समस्त प्राणियोमे समभाव वाला वह शान्त रस प्रसिद्ध माना गया है।

भरत०—[शृङ्गार आदि अन्य सब रसोके] रत्यादि स्थायिभाव विकार रूप हैं और शान्त रस [उन सबका] प्रकृति रूप है। विकार [अर्थात् शृङ्गार आदि अन्य सब रस] प्रकृति [अर्थात् शान्त रस] से उत्पन्न होते हैं और अन्तमे फिर उसीमे लीन हो जाते हैं।

भरत०—अपने-अपने [अनुरूप विभावादि] निमित्तोके प्राप्त होनेपर शान्त रससे ही [रत्यादि] भाव उत्पन्न होते हैं और निमित्तका अभाव हो जानेपर फिर शान्तमे ही लीन हो जाते हैं।

भरत०—इस प्रकार नाट्यशास्त्रके जानने वालोंने [शान्त रसको मिलाकर] नौ रस माने हैं।

इस प्रकार मूल ग्रन्थमें भरतमुनिने 'शान्तरस' का विवेचन किया है। इस शान्तरसके विषयमे प्राचीन आचार्योंमें पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। कुछ लोग शान्तरसको मानते ही नही है। कुछ लोगोका मत है कि शान्तरस हो भी तो नाटकमें उसका अभिनय नही किया जा सकता है इसलिए काव्यमें भले ही शान्तरस मान लिया जाय पर नाटकमें उसका मानना उचित नही है। जो लोग शान्तरसको मानते हैं उनमें भी उसके स्थायिभावके विषयमें कुछ मतभेद पाया जाता है। इसी सब विषयके स्पष्टीकरणके लिए अभिनवभारतीकारने विशेष रूपसे 'शान्तरस-विचार' नामसे इस प्रकरणका प्रारम्भ किया है। पहिले वे शान्तरसके मानने वालोके पक्षका सामान्य रूपसे निरूपण करेंगे। उसके बाद पूर्वपक्षियोकी ओरसे शान्तरसका खण्डन करेगे। उसके बाद फिर सिद्धान्त रूपसे शान्तरसकी स्थापना करेगे। फिर उसके बाद शान्तरस के स्थायिभावके विषयमें बहुत विस्तारके साथ विवेचना करेंगे। यह इस प्रकरणकी विषय योजना है। सबसे पहिले शान्तरस का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

अभिनव०—जो लोग नौ रस मानते हैं उनके मतसे [नवम] शान्तरसका स्वरूप कहते हैं—उनमेसे कुछ यह कहते हैं कि—शान्तरस शमस्थायिभाव-स्वरूप है।

शान्त. शमस्थायिभावात्मक । तपस्या-योगिसम्पर्कादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य काम-क्रोधाद्यभावरूपैरनुभावैरभिनय । व्यभिचारी घृतिमतिप्रभृतिरिति ।

एतदपरे न सहन्ते । (१) शम-शान्तयोः पर्यायत्वात् । (२) एकोनपञ्चाशद् भावा इति सख्यात्यागाच्च । (३) किञ्च विभावा ऋतुमाल्यादयस्तत्समनन्तरभाविनि शृङ्गारादावनुसन्धीयन्ते इति युक्तम् । तपोऽध्ययनादयस्तु न शान्तस्य शमस्य हेतवः ।

तत्त्वज्ञानस्यानन्तरहेतव इति चेत्, पूर्वोदिततत्त्वज्ञानेऽपि तर्हि प्रयोज्यतेति तपोऽध्ययनादीना शमविभावता त्यक्ता स्यात् । कामाद्यभावोऽपि नानुभाव., 'शान्तविपक्षाद्व्यावृत्ते., अगमकत्वात् ।

तपस्या और योगिसम्पर्क आदि रूप विभावोसे उत्पन्न होता है। काम क्रोध आदिके अभाव रूप अनुभावोसे उसका अभिनय करना चाहिए। घृति, मति आदि उसके व्यभिचारिभाव होते है।

अभिनव०—[शान्तरस विरोधी] दूसरे लोग इसको नहीं मानते हैं। [शान्त-रसको न माननेमें वे निम्न हेतु प्रस्तुत करते हैं] (१) शम और शान्त दोनो समानार्थक शब्द है [परन्तु शान्तरसवादी उनमेसे 'शम' को स्थायिभाव और 'शान्त' को रस मान कर उनमें भेद करते हैं। यह उचित नहीं है। यह शान्त रस विरोधियोकी उसके खण्डनमे प्रथम युक्ति है]। (२) [दूसरी युक्ति वे यह देते हैं कि जहां भावोकी गणना की गई है उनमे उननचास ४९ भावोका प्रतिपादन किया गया है। अब यदि शान्त रसको भी मानते हैं तो उसका एक स्थायिभाव 'शम' और बढ कर ५० भाव हो जाते हैं। जिससे] उननचास [भाव है] इस संख्याका परित्याग हो जानेसे भी ['शम' को स्थायिभाव और शान्त रसको रस मानना उचित नहीं है]। (३) [और तीसरा हेतु यह भी है] कि ऋतु माल्य आदि विभाव अपने बादमे उत्पन्न होने वाले शृङ्गार आदि [रस] में [कारण रूपसे] प्रतीत होते हैं किन्तु तप और स्वाध्याय आदि [उत्तरवर्ती] शान्त या शममें [कारण रूपसे] प्रतीत नहीं होते हैं।

अभिनव०—[तप अध्ययन आदि] तत्त्वज्ञानके साक्षात् समनन्तर भावी हेतु हैं। यह कहो तो [शमसे] पहले उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञानके प्रति कारण होनेसे शमके प्रति तप और अध्ययन आदिकी विभावता नहीं रहती है। [शम या शान्त रसके प्रति साक्षात् कारण न होनेसे तप स्वाध्याय आदिको शम या शान्त रसका विभाव नहीं कहा जा सकता है]। और कामादिके अभावको [शान्तरसका] अनुभावभी नहीं कहा जा सकता है। शान्तसे भिन्न [शान्तके विपक्ष वीर आदि अन्य रसोंमे भी काम आदिके अभावके विद्यमान होनेके कारण उन] से व्यावृत्त [अलग] न होनेसे [शान्तरसका] बोधक न होनेके कारण [कामादिका अभाव शान्त रसका अनुभाव नहीं है]।

---

१. शान्ताद्विपक्षात् ।

(४) प्रयोगासमवायित्वाच्च । न हि चेष्टाभ्युपरम प्रयोगगोग्य । सुप्तगोहाद-योऽपि नि श्वासोच्छ्वास-पतन-भूशयनादिभिश्चेष्टाभिरेवानुभाव्यन्ते । (५) धृतिप्रभृतिरपि प्राप्तविपयोपभोग कथ शान्ते स्यात् । (६) न चाकिञ्चित्करत्वमात्रेण तत्त्वज्ञानोपायो[1] व्युत्पाद्यते । (७)[2]विनेयाश्चैते परदु खदु खितमनसो दृश्यन्ते सम्यग्दर्शनसमावस्था प्राप्ता अपि तु ससारे । तन्न शान्तो रस इति ।

इसका यही अभिप्राय हुआ कि कामादिके अभावको शान्त रसका अनुभाव माननेका अर्थ उनको शान्तरसका कार्य मानना है । परन्तु उनको शान्तरसका कार्य तब माना जा सकता है जब कि शान्तरसके साथ उनका अन्वय-व्यतिरेक बन सके । अर्थात् शान्तरसके होनेपर ही कामादिका अभाव हो और शान्तरसके न होने पर कामादिका अभाव न हो । इस प्रकारका अन्वय-व्यतिरेक घटनेपर ही शान्तरसको कामादिके अभावका कारण माना जा सकता है । इनमेंसे शान्तरसके होनेपर कामादिका अभाव हो यह अन्वय तो बन जाता है । परन्तु शान्तरसके न होनेपर कामादिका अभाव न हो यह व्यतिरेक नही बनता है । क्योकि शान्तरसके न होनेपर भी वीर आदि रसोमें भी कामादिका अभाव विद्यमान रहता है । इसलिए विपक्ष व्यावृत्ति न होनेके कारण अनुमापक न होनेसे कामादिके अभावको शान्तरसका अनुभाव नही कहा जा सकता है । इसलिए विभाव अनुभाव आदि सामग्रीका उपपादन न हो सकनेके कारण शान्तरसको स्वीकार करना अनुचित है ।

इसके समर्थन मे आगे चौथी युक्ति और भी देते हैं—

अभिनव०—(४) [शान्त रसका प्रयोग अर्थात्] अभिनयमे समावेश नही किया जा सकता है । क्योकि [किसी प्रकारका व्यापार चेष्टा आदि न करना ही 'शम' कहलाता है परन्तु] चेष्टाके अभावका अभिनय करना सम्भव नही है । सोना और मूर्छा आदि [जिनको लोकमें चेष्टा रहित स्थिति कहा जाता है उन] का भी श्वास प्रश्वास [द्वारा शयनका] और गिरने या पृथ्वीपर सोने आदि रूप चेष्टाओके द्वारा ही [नाटकमे] अनुभव कराया जाता है । [इसलिए व्यापार शून्यता रूप 'शम' का अभिनय सम्भव नही है । अत शान्त रस नहीं मानना चाहिए] । (५) [इसके समर्थनमे पाचवी युक्ति यह भी है कि शान्त रसके जो धृति आदि व्यभिचारिभाव कहे गए हैं वे भी नहीं बन सकते है । क्योकि] विषयोका उपभोग करनेसे उत्पन्न तृप्ति रूप धृति शान्तरसमे कैसे हो सकती है ? (६) [छठी युक्ति यह है कि शम-प्रधान पुरुष तो चेष्टा रहित हो कर बैठे रहेगा । उस] अकिञ्चित्कर पुरुषके द्वारा तत्त्वज्ञानके उपायोका अनुष्ठान भी सम्भव नहीं है [इसलिए तत्त्वज्ञानके न होनेसे शान्त रस मोक्ष रूप फलकी प्राप्ति भी उसको नही हो सकती है] । (७) [इसीके समर्थनमे सातवी युक्ति यह देते है कि आप शान्तरसको सुख दु खसे रहित मानते है परन्तु शान्तरसके] 'एते विनेया.' ये साधक तत्त्वज्ञानकी स्थितिको प्राप्त हो चुकनेपर भी ससारमे दूसरोके दु खसे दु:खी होते हुए देखे जाते हैं । इसलिए शान्तरस नही [माना जा सकता] है ।

---

१. उपाये । २ विनेये ।

अत्रोच्यते—इह तावद् धर्मादित्रितयमिव मोक्षोऽपि पुरुषार्थं शास्त्रेषु स्मृतीतिहासादिषु च प्राधान्येनोपायतो व्युत्पाद्यत इति सुप्रसिद्धम्। यथा च कामादिषु समुचिताश्चित्तवृत्तयो रत्यादिशब्दवाच्या. कविनटव्यापारेण अस्वादयोग्यताप्रापणद्वारेण तथाविधहृदयसंवादवत. सामाजिकान् प्रति रसत्व शृङ्गारादितया नीयन्ते तथा मोक्षाभिधानपरमपुरुषार्थोचिता चित्तवृत्ति किमिति रसत्वं नानीयते इति वक्तव्यम्? या चासौ तथाभूता चित्तवृत्ति सैवात्र स्थायिभाव ।

शान्तरसवादी सिद्धान्त पक्ष—

इस प्रकार विगत अनुच्छेदमें शान्तरसको न मानने वालोंके पक्षकी सात युक्तियोंका उल्लेख कर ग्रन्थकारने पूर्वपक्षको प्रस्तुत किया था। अब अगले अनुच्छेदमें सामान्य रूपमे शान्तरस की सत्ता सिद्ध करनेका प्रयत्न करते है—

अभिनव०—इस [शान्तरस विरोधी पूर्वपक्षके उपस्थित होने] पर [उसके समाधानार्थ] कहते हैं कि—इस संसारमें जैसे धर्म आदि तीन [अर्थात् धर्म, अर्थ, और काम] पुरुषार्थ माने जाते हैं इसी प्रकार शास्त्रोमे स्मृतियो एवं इतिहास आदिमे मोक्ष भी [चौथा] पुरुषार्थ उपायोके द्वारा बतलाया जाता है यह प्रसिद्ध है। और जैसे काम आदिके योग्य रति आदि शब्दोसे निर्दिष्ट चित्तवृत्तियां कवियों और नटोके व्यापार द्वारा उस प्रकारकी हार्दिक भावनाओं वाले [सहृदय] सामाजिकोके प्रति शृङ्गार आदिके रूपमे आस्वादन योग्य बनाई जा कर रसत्वको प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार मोक्ष नामक परम पुरुषार्थके योग्य [शम रूप] चित्तवृत्ति [आस्वादयोग्य] रसत्वको क्यो प्राप्त नहीं कराई जायगी यह बतलाना चाहिए? और यह जो [मोक्ष रूप पुरुषार्थकी साधक] चित्तवृत्ति है वही यहां [शान्त रसमे] स्थायिभाव है।

अर्थात् कामादि पुरुषार्थोके अनुरूप, रत्यादि चित्तवृत्तियां कवियों और नटोके व्यापारसे सहृदयोके आस्वादन योग्य होकर शृङ्गारादि रसके रूपमें अनुभूत होती हैं। इसी प्रकार मोक्ष रूप परम पुरुषार्थकी साधक 'शम' रूप चित्तवृत्ति भी कवि और नटके व्यापारके द्वारा आस्वाद योग्य होकर रसत्वको प्राप्त होती ही है। इसलिए शान्तरसको भी अवश्य ही मानना होगा।

शान्तरसका स्थायिभाव—

इस प्रकार इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने शान्तरसके विरोधियोंके मतका खण्डन करके शान्तरसकी सत्ता सिद्ध की है। परन्तु अभी इस प्रकरणका सबसे मुख्य प्रश्न शेष रह जाता है। वह प्रश्न यह है कि शान्तरसका स्थायिभाव कौन है? ग्रन्थकार इसकी विवेचना आगे करेंगे। इसीलिए इस अनुच्छेदके अन्तमें शान्तरसके स्थायिभावका स्पष्ट रूपसे नाम न लेकर ग्रन्थकारने 'या चासौ तथाभूता चित्तवृत्ति सैवात्र स्थायिभाव.' यह सामान्य रूपसे शान्तरसके स्थायिभावका निर्देश किया है। अगले अनुच्छेदमें ग्रन्थकार इस विषयकके अनेक मतोंका उल्लेख करनेके बाद अपने मतकी स्थापना करेंगे। (१) तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न 'निर्वेद' ही शान्त रसका स्थायिभाव है यह मत सबसे अधिक मान्य मत है। परन्तु ग्रन्थकार उससे सहमत नहीं है। इसलिए उन्होंने सबसे पहिले इस मतको प्रस्तुत कर उसका खण्डन किया है। (२) उसके बाद रति आदि आठों स्थायिभावोंमेसे कोई भी एक शान्तरसका स्थायिभाव हो सकता है इस मतका उल्लेख करके उसका खण्डन किया है। (३) उसके बाद वे आठो स्थायिभाव ठण्डाई आदि के मिले-जुले पानकरसके समान एक

एतत्तु चिन्त्य किन्नामासौ । तत्त्वज्ञानोत्थितो 'निर्वेद' इति केचित् । तथाहि— (१) दारिद्र्यादिप्रभवो यो निर्वेद स ततोऽन्य एव । हेतोस्तत्त्वज्ञानस्य वैलक्षण्यात् । स्थायिसञ्चारिमध्ये चैतदर्थमेवाय पठित । अन्यथा माङ्गलिको मुनिस्तथा न पठेत् । जुगुप्सा च व्यभिचारित्वेन शृङ्गारे निषेधन्मुनिर्भावाना सर्वेषामेव स्थायित्व-सञ्चारित्वेऽनुजानाति[1] ।

शान्तरसके स्थायिभाव होते हैं इस मतका उल्लेख तथा खण्डन किया गया है । अन्तमें ग्रन्थकारने स्वय साक्षात् मोक्षका साधक होनेसे 'शम' को ही शान्तरसका स्थायिभाव माना है । इस प्रकरणका आरम्भ करते हुए अभिनवगुप्तने सबसे पहिले तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद को शान्तरसका स्थायिभाव सिद्ध करनेके लिये दो युक्तियाँ दी हैं । उनकी पहिली युक्ति यह है कि भरतमुनिने व्यभिचारिभावो के आरम्भमें जो सबसे पहिले निर्वेदको स्थान दिया है वह उसके स्थायिभावत्वके सूचकके लिए है । दूसरी युक्ति यह है कि तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद अन्य सब स्थायिभावोका उपमर्दन कर देता है । इसलिए वह सबसे बडा मुख्यतम स्थायिभाव है । इन्ही युक्तियोको आगे दिखलाते हैं—

निर्वेद शान्तरसका स्थायिभाव है इस मतका उपपादन—

अभिनव०—विचारना तो यह है कि इस [शान्तरसके स्थायिभाव] का क्या नाम है । कुछ लोग कहते हैं कि तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न 'निर्वेद' ही शान्त रसका स्थायि-भाव है ? (१) क्योकि दारिद्र्य आदिके कारणसे उत्पन्न जो निर्वेद है वह उस [शान्तरसके स्थायिभाव रूप] निर्वेद से भिन्न ही होता है । तत्त्वज्ञान रूप कारणके भिन्न होनेसे । [वही तत्त्वज्ञानोत्थ निर्वेद मोक्षका कारण हैं] इसीलिए भरत मुनिने उसे स्थायी तथा सञ्चारी भावोके बीचमे पढा है । [अर्थात् स्थायिभावोके बाद जब व्यभिचारिभावोकी गणना कराई है तब ३३ व्यभिचारिभावोमे भरतमुनिने सबसे पहिले 'निर्वेद' को गिनाया है । इसका कारण यही है कि तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद ही शान्तरसका स्थायिभाव तथा मोक्ष साधन है । इसीसे भरतमुनिने व्यभिचारिभावोमे उसको सबसे पहले स्थान दिया है । यदि तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद दरिद्रयादि-जन्य निर्वेदसे भिन्न और मोक्षका साधन न होता तो] अन्यथा मङ्गलकी कामना करने वाले भरतमुनि इस प्रकार [व्यभिचारिभावोके आरम्भमे निर्वेदको] न पढते । [इसपर शङ्का यह हो सकती है निर्वेद तो अन्य रसोमे व्यभिचारिभाव माना गया है और मुनिने स्वय भी व्यभिचा-रिभावोमे ही उसकी गणना की है तब आप उसको स्थायिभाव कैसे कह सकते हैं ? इसका उत्तर ग्रन्थकार अगली पक्तिमे इस प्रकार देते हैं कि बीभत्स रसके स्थायिभाव रूप] जुगुप्साका शृङ्गारमे व्यभिचारिभावत्वका निषेध करते हुए मुनि सभी स्थायि-भावोका [अपने रसमें] स्थायिभावत्व तथा [अपनेसे भिन्न अन्य रसोमे] व्यभिचारि-भावत्व [रूप दोनो स्थितियो] को स्वीकार करनेकी अनुमति देते हैं ।

---

१ स्थायित्वसचारित्वचिन्तानत्तावत्त्वानुभावस्यत्वाश्रियोग्यतोपनिपतिता निश्शब्दार्थ-बलाकृष्टान्यानुजानाति ।

(२) तत्त्वज्ञानजश्च निर्वेद. स्थाय्यन्तरोपमर्दक'। भाववैचित्र्यसहिष्णुभ्यो रत्यादिभ्यो यः परमस्थायिशील स एव हि स्थाय्यन्तराणामुपमर्दक ।

इदमपि पर्यनुयुञ्जते—तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायीति वदता तत्त्वज्ञानमेवात्र विभावत्वेनोक्त स्यात्। वैराग्यबीजादिषु कथ विभावत्वम्। तदुपायत्वादिति चेत्, कारण,-कारणेऽयं विभावताव्यवहार, स चातिप्रसङ्गावहः।

किञ्च निर्वेदो नाम सर्वत्रानुपादेयता-प्रत्ययो वैराग्यलक्षणः। स च तत्त्वज्ञानस्य प्रत्युक्तोपयोगी। विरक्तो हि तथा प्रयतते यथास्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते। तत्त्वज्ञानाद्धि

अर्थात् एक रसका स्थायिभाव भी दूसरे रसमें व्यभिचारिभाव हो सकता है इस बात को भरतमुनिने भी स्वीकार किया है। इसीलिए उन्होंने यह कहा है कि शृङ्गार रसमें जुगुप्साको व्यभिचारिभावके रूपमें अङ्कित नही करना चाहिए। अन्यथा जुगुप्साका शृङ्गाररसमें व्यभिचारिभावके रूपमें निषेध करना ही सङ्गत नही हो सकता था। इसलिए 'निर्वेद' को स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभाव दोनो माननेमें कोई हानि है। फलत तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद ही शान्त रसका स्थायिभाव है। यह इस मतके मानने वालोका सिद्धान्त है।

अभिनव०—(२) और तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद [केवल स्थायिभाव ही नहीं है अपितु वह रत्यादिरूप] अन्य स्थायिभावोका मर्दन करने वाला भी है। व्यभिचारिभावोंके वैचित्र्यको सहन करने वाले रति आदिसे भी जो अधिक स्थायी स्वभाव वाला है वही [निर्वेद] अन्य स्थायिभावोंका विमर्दक होता है। [इसलिए तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद ही शान्त रसका स्थायिभाव है यह सिद्ध हुआ]।

इस मतका खण्डन—

अभिनव०—[दूसरे लोग] इसपर भी आक्षेप करते हैं—[उनका कहना यह है कि] तत्त्वज्ञानसे जन्य निर्वेद इस [शान्तरस] का स्थायिभाव है यह कह कर तत्त्वज्ञान ही उसका [एकमात्र] कारण है यह मानलिया गया है। [मोक्षका कारण वैराग्य है। तत्त्वज्ञान वैराग्यका कारण या बीज है। उस वैराग्यके मूलभूत तत्त्वज्ञानको मोक्षका साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता है यह अभिप्राय है। इसी बातको कहते हैं] वैराग्यके बीज [तत्त्वज्ञान] आदिमे [शान्तरसका] विभावत्व [कारणत्व] कैसे बनेगा? [परम्परया] उसका उपाय होनेसे [वैराग्यबीज तत्त्वज्ञान आदिमें विभावत्व होता है] कहो तो, कारणके कारण [अर्थात् परम्परित कारण] मे यह विभावत्व व्यवहार होता है और वह अतिव्याप्ति दोषका जनक है [इसलिए तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेदको स्थायिभाव नहीं मानना चाहिए]।

अभिनव०—दूसरी बात यह भी है कि सब विषयोमें अग्राह्यता बुद्धि रूप 'निर्वेद' वैराग्य-स्वरूप है। वह तत्त्वज्ञानका विलोम रूपसे उपयोगी है। [अनुलोम रूपसे नहीं] क्योंकि विरक्त [पुरुष] ऐसा यत्न करता है जिससे उसको तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है। और तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है। [इस प्रकार पहिले वैराग्य होता है फिर तत्त्वज्ञान] न कि तत्त्वको जान कर [अर्थात्

मोक्षो, न तु तत्त्व ज्ञात्वा निर्विद्यते, निर्वेदाच्च मोक्ष इति।

'वैराग्यात् प्रकृतिलय' इति तत्रभवन्त । [साख्य का० ४५]

ज्ञान होनेके बाद] निर्वेदको प्राप्त होता है और निर्वेदसे मोक्ष होता है। [अर्थात् निर्वेदसे या वैराग्य तत्त्वज्ञानका कारण होता है कार्य नही। वैराग्यसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है न कि तत्त्वज्ञान से वैराग्यकी उत्पति होती है। अत' तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न वैराग्य या निर्वेदको शान्तरसका स्थायिभाव कहना सङ्गत नही है]।

अभिनव०—[इसीलिए आत्मज्ञान रहित केवल] वैराग्यसे प्रकृतिलय प्राप्त होता है यह परमपूज्य [ईश्वरकृष्ण] ने कहा है।

इसका अभिप्राय यह है कि सांख्य योग आदि दर्शनोमें जहाँ मोक्षका वर्णन आया है उसके साथ वैदेह्य तथा प्रकृतिलयत्व की दो अन्य दशाओका भी उल्लेख मिलता है। सासारिक विषयोके दोपोको देख कर साधक उधरसे विरक्त होकर योगमार्गकी साधनामें प्रवृत्त होता है। और तप आदिका अनुष्ठान करता है। जिस साधकको सद्गुरुके उपदेशसे तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्म-साक्षात्कार हो जाता है वह अपनी इस साधनाके फल रूपमें मोक्षको प्राप्त हो जाता है। परन्तु जो अज्ञानवश आत्माके बजाय मूल प्रकृतिको या उससे बने किसी विकार रूप अनात्म वस्तुको आत्मा मान कर उपासना या साधना आदि करने लगता है उसको तत्त्वज्ञान न होनेसे मोक्षकी प्राप्ति नही होती है। ऐसा व्यक्ति मरनेके बाद अपनी साधनाके कारण 'विदेह' या 'प्रकृतिलीन' की अवस्थाको प्राप्त होता है। जो व्यक्ति मूल प्रकृतिको आत्मा मान कर साधना करता है वह मरनेके बाद 'प्रकृतिलीन' की अवस्थाको प्राप्त होता है। और जो व्यक्ति महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र, पञ्च स्थूलभूत अथवा इन्द्रिय आदि विकारोको आत्मा मानकर चलता है वह मरनेके बाद 'विदेह' नामसे कहा जाता है। यह 'विदेह' तथा 'प्रकृतिलीन' का लक्षण किया गया है। जीवन कालमें जिस प्रकारकी साधना मोक्ष प्राप्त करने वाले पुरुषने की है उसी प्रकारकी साधना 'विदेह' तथा 'प्रकृतिलीन' पुरुष भी करते हैं। परन्तु उन दोनोके फलोमें इस कारण भेद रहता है कि उनमेंसे एकको तत्त्वज्ञान हो गया है और शेप दो को तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्म साक्षात्कार नही हुआ है। इसलिए जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है या जिसको तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया है वह मोक्षका अधिकारी हो जाता है। परन्तु जिसको तत्त्वज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार नही हुआ है अपितु किसी अनात्मा वस्तुको ही अज्ञान वश आत्मा मानकर जिसने साधना की है वह मोक्षका अधिकारी नही होता है। फिर भी उस साधनाके कारण उसे मोक्षसे कुछ भिन्न नियत काल तक मोक्ष जैसे सुखका अनुभव होता है। 'विदेह' तथा 'प्रकृतिलीन' पुरुष निर्धारित समय तक मोक्ष जैसे सुखका अनुभव करके फिर ससारमें आते हैं। ऐसा साख्य आदिमें वर्णन मिलता है। इन तीनोको प्रारम्भमें वैराग्य होता है। उसके बाद जिसको वैराग्यसे तत्त्वज्ञान हो जाता है उसको मोक्ष हो जाता है। और जिसको तत्त्वज्ञान नही होता वह 'विदेह' या 'प्रकृतिलीन' अवस्था को प्राप्त होता है। इसलिए साख्यादिमें तत्त्वज्ञानसे रहित केवल वैराग्यको 'प्रकृतिलय' का कारण बतलाया है। इसी बातको यहा ग्रन्थकारने "वैराग्यात् प्रकृतिलय इति हि तत्रभवन्त" इस पक्तिके द्वारा कहा है

इसार तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेदको ही शात रसका स्थायिभाव मानने वाला पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है कि—

ननु तत्त्वज्ञानिन सर्वत्र दृढतरं वैराग्य दृष्टम् । तत्रभगवद्भिरप्युक्तं—'तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' इति । [योगसूत्र १–१६] ।

भवत्येव, तादृश तु वैराग्यं ज्ञानस्यैव परा काष्ठा इति, भुजङ्गविभुनैव भगवताऽभ्यधायि [योग व्यासभाष्य १–१६] । ततश्च तत्त्वज्ञानमेवेद तत्त्वज्ञानमालया परिपोष्यमाणमिति न निर्वेदः स्थायी, किन्तु तत्त्वज्ञानमेव स्थायीति भवेत् । यत्तु व्यभिचारिव्याख्यानावसरे वक्ष्यते तच्चिरकालविभ्रमविप्रलब्धस्योपादेयत्वनिवृत्तये 'तत् सम्यग् ज्ञानम् । यथा—

वृथा दुग्धोऽनड्वान् स्तनभरनता गौरिति पर
परिष्वक्त. पण्डो युवतिरिति लावण्यरहित. ।
कृता वैदूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
मया मूढेन त्वा कृपणमगुणज्ञ प्रणमता ॥

अभिनव०—[प्रश्न] तत्त्वज्ञानीको सर्वत्र ही दृढ़तर वैराग्य होता देखा जाता है। इसीलिए पूज्य पतञ्जलि मुनिने [अपने योगदर्शनमे] कहा है कि—आत्माका ज्ञान हो जानेपर गुणो [अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों] के प्रति जो तृष्णाका अभाव होता है वह 'पर-वैराग्य' कहलाता है। [अतः तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद या वैराग्यको मोक्षका कारण, एवं शान्तरसका स्थायिभाव माननेमे कोई दोष नहीं है] ।

अभिनव०—[उत्तर—] यह बात ठीक है किन्तु उस प्रकारका वैराग्य तो ज्ञानकी ही पराकाष्ठाका नाम है यह बात भी स्वयं [भुजंगविभु, नागराज, शेषनागके अवतार, अर्थात्] पतञ्जलि मुनिने कही है। इसलिए तत्त्वज्ञानकी शृङ्खला द्वारा परिपोषित होने वाला तत्त्वज्ञान ही यह परवैराग्य होता है इसलिए निर्वेद स्थायिभाव नहीं है। किन्तु तत्त्वज्ञान ही [शान्तरसका] स्थायिभाव है। और जो व्यभिचारिभावोकी व्याख्याके प्रसङ्गमे [सप्तमाध्याय बडोदा संस्करण पृ० ३६५ पर तत्त्वज्ञानसे निर्वेदकी उत्पत्तिकी बात] कहेंगे वह चिरकाल तक भ्रान्तिके कारण धोखा खाने वालेकी [विषयभोगादिमें] उपादेयता बुद्धिके दूर करनेकेलिए ही उसको [निर्वेदके कारणको] तत्त्वज्ञान कहाहै। जैसे कि—

अभिनव०—गुणोको न पहिचानने वाले और कृपण आपको [फलकी आशामें प्रतिदिन] अपनी मूर्खतावश प्रणाम करके मैंने अयनके भारसे झुकी हुई गाय समझ कर [अब तक] व्यर्थ ही बैलको दुहनेका यत्न किया, लावण्य रहित नपुंसकको युवती समझकर व्यर्थ ही आलिङ्गन किया और किरणोको प्रतिफलित करने वाले कांचके टुकड़ेमे व्यर्थ ही वैदूर्यमणिकी आशा की।

---

१. यत् ।

इति । तन्निर्वेदस्य खेदरूपस्य 'विभावत्वेन । एतच्च तत्रैव वक्ष्याम ।

ननु मिथ्यज्ञानमूलो विषयगन्धस्तत्त्वज्ञानात् प्रशाम्यतीति दु खजन्म–सूत्रेण अक्षपादैर्वदद्भि । मिथ्याज्ञानापचयकारण तत्त्वज्ञान वैराग्यस्य दोषापायलक्षणस्य कारणमुक्तम् ।

ननु तत किम् ?

ननु वैराग्य निर्वेद ।

अभिनव०—यह [जो गौण रूपसे तत्त्वज्ञानको निर्वेदका कारण बतलाया है] वह [मोक्षके साधक निर्वेदके प्रति नहीं अपितु] खेद रूप निर्वेदके विभाव [कारण] रूपमे ही कहा है। यह बात वहीं [व्यभिचारिभावोके व्याख्यानके प्रसङ्गमे बडोदा सस्करण पृ० ३६५ पर] कहेंगे। [इसलिए तत्वज्ञान-जन्य निर्वेदको शान्तरसका स्थायिभाव मानना उचित नहीं है। यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है]।

इसपर तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेदको ही शान्तरसका स्थायिभाव मानने 'वाला पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है। पहिले उसने योग दर्शनके 'तत्पर पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' इस सूत्रके आधार पर तत्त्वज्ञानको निर्वेदका कारण सिद्ध करनेका यत्न किया था। उसका समाधान ग्रन्थकारने यह कर दिया कि वहाँ 'ज्ञानस्यैव परा काष्टा वैराग्यम्' अर्थात् ज्ञानकी परा काष्ठाको ही 'वैराग्य' कहा गया है। इसलिए तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद नही अपितु स्वय तत्त्वज्ञान ही मोक्षके प्रति कारण है। अबकी बार पूर्वपक्षी न्यायदर्शनके 'दु खजन्मप्रवृत्तिदोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग.' इस सूत्रके आधारपर तत्त्वज्ञानको वैराग्यका कारण सिद्ध करनेका यत्न करता है। इस सूत्रका अर्थ यह कि तत्त्वज्ञानसे पहिले मिथ्याज्ञानका नाश होता है। उस मिथ्याज्ञानके नाश होने राग द्वेष आदि दोषोका नाश होता है। उसके बाद प्रवृत्ति अर्थात् धर्म अधर्मका नाश और उससे जन्मका नाश होनेपर दु खका नाश होता है वही मोक्ष होता है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान से मिथ्यज्ञानका नाश और उससे जो दोषका नाश कहा है इसीसे तत्त्वज्ञानको वैराग्यका कारण माना जा सकता है। क्योंकि मिथ्याज्ञानका नाश रूप तत्त्वज्ञान है और दोषनाश रूप वैराग्य है। अत. तत्त्वज्ञान को वैराग्यका कारण मानना सर्वथा उचित ही है। इसलिए तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद या वैराग्यको मोक्षका कारण एव शान्तरसका स्थायिभाव माननेमें कोई दोष नही आता है। पूर्वपक्षीके इसी भावको ग्रन्थकार अगली पक्तियोमें इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि—

अभिनव०—[निर्वेदको तत्त्वज्ञानजन्य माननेवाले पूर्वपक्षका प्रश्न] मिथ्यज्ञान मूलक विषयोके साथ सम्बन्ध [रागादि] तत्त्वज्ञानसे नष्ट हो जाता है यह बात कहते हुए अक्षपाद [गौतममुनि] ने 'दु खजन्मप्रवृत्ति' इत्यादि [१-१-२] सूत्रमे मिथ्याज्ञानके विनाशक तत्त्वज्ञानको दोषाभाव रूप वैराग्यका कारण कहा है।

अभिनव०—[निर्वेदको तत्त्वज्ञानजन्य न माननेवाले सिद्धान्तीका प्रतिप्रश्न] उससे क्या हुआ ?

अभिनव०—[पूर्वपक्षी उत्तर देता है कि] वैराग्य ही तो निर्वेद है [इसलिए तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेदको शान्तरसका स्थायिभाव माननेमे कोई दोष नहीं रहता है]।

---

१ भावत्वेन ।

क एवमाह ? निर्वेदो हि शोकप्रवाहप्रसररूपश्चित्तवृत्तिविशेष । वैराग्य तु रागादीना प्रध्वंस· ।

भवतु वा वैराग्यमेव निर्वेदस्तथापि तस्य स्वकारणवशात् मध्यभाविनोऽपि न मोक्षे साध्ये सूत्रस्थानीयता । इति प्रतिपादितचरम्[1] ।

किञ्च तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति शमस्यैवेद 'निर्वेद' इति नाम कृतं स्यात् । शमशान्तयो. पर्यायत्व तु हासहास्याभ्यां व्याख्यातम् । सिद्ध-साध्यते लौकिकालौकिकत्वेन । साधारणासाधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरपि सुलभमेव । तस्मान्न निर्वेद स्थायीति ।

अभिनव०--[सिद्धान्तीका प्रति प्रश्न] यह कौन कहता है ? [कि निर्वेद और वैराग्य एक ही बात है। ये दोनो बिलकुल अलग-अलग है क्योंकि] शोक-प्रवाहके प्रसार रूप चित्तवृत्ति विशेषका नाम 'निर्वेद' है [वह भावरूप है] और वैराग्य तो रागादिका प्रध्वंस [अभाव] रूप है [अतः निर्वेद तथा वैराग्य एक बात नहीं अपितु बिलकुल भिन्न पदार्थ हैं] ।

अभिनव०—अथवा [यदि दुर्जनतोषन्यायसे] वैराग्यको ही निर्वेद मान भी लिया जाय तो भी अपने कारण [अर्थात् मिथ्याज्ञानके नाश] से उत्पन्न उस [दोषाभाव रूप वैराग्य] के [तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्तिमें दुख-जन्म-प्रवृत्ति-दोषके नाशकी जो शृङ्खला उक्त सूत्रमे दिखलाई गई है उस शृङ्खलाके] बीचमे [मिथ्या ज्ञानके नाश के बाद] होने वाले उस [वैराग्य] को मोक्ष रूप फलकी सिद्धिमें [सूत्रस्थानीयता अर्थात्] साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता है । यह बात कही जा चुकी है ।

शान्तका स्थायिभाव 'शम'—

अभिनव०—और [इसमें यह दोष भी आजाता है कि] 'तत्त्वज्ञानसे निर्वेदकी उत्पत्ति होती है' ऐसा कहनेसे 'शम' का ही दूसरा नाम 'निर्वेद' हो जाता है। [इसलिए 'निर्वेद' के बजाय 'शम' को ही शान्त रसका स्थायिभाव मानना चाहिए। यह सिद्धान्त पक्ष है] । शम और शान्त दोनों पर्यायवाचीशब्द है यह [दोष यदि उठाया जाय तो] हास्य और हास शब्दोंकी [पर्यायता] से ही उसका परिहार हो चुका है। [अर्थात् जैसे 'हास' को अपने समानार्थक 'हास्य' का स्थायिभाव माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। इसी प्रकार 'शम' को उसके समानार्थक शान्तरसका स्थायिभाव माननेमे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए] । सिद्ध-साधनता [पिष्ट-पेषण नामक दोषका निराकरण स्थायिभावके] लौकिक तथा [रसके] अलौकिक होनेसे हो जाता है । [इन दोनोमेंसे एक अर्थात् स्थायिभावके] असाधारण तथा [दूसरे अर्थात् रसके] साधारण [अर्थात् सामाजिकमात्र द्वारा आस्वादन-योग] होनेसे शम और शान्तमें वैलक्षण्य [अर्थात् भेद] भी है । इसलिए निर्वेद [शान्तरसका] स्थायिभाव नहीं है [अपितु 'शम' शान्तरसका स्थायिभाव है] ।

---

१. तात्पर्याचार्येव ।

अन्ये मन्यन्ते—रत्यादय एवाष्टौ चित्तवृत्तिविशेषा उक्ता । त एव कथितविभाव-'विविक्तश्रुताद्यलौकिकविभावविशेषसश्रया विचित्रा एव तावत् । ततश्च तन्मध्यादेवान्यतमोऽत्र स्थायी । (१) 'तत्राव्याहतानन्दमयस्वात्मविषया रतिरेव मोक्षसाधनमिति सैव' शान्ते स्थायिनीति । यथोक्तम्—

यश्चात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानव ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य न विद्यते । इति [गीता ३-१७]

(२) एव समस्तविषय वैकृत पश्यतो, (३) विश्व च शोच्य विलोकयत,

रत्यादि अन्यतमके शान्तके स्थायिभावत्वका उपपादन—

अभिनव०—दूसरे लोगोका यह कहना है कि—रति आदि रूप आठ प्रकारकी चित्तवृत्ति विशेष [स्थायिभाव] ही पहिले कहे है। वे ही पहिले कहे हुए [शृङ्गारादिमे उपयोगी] विभावोसे भिन्न, श्रुत [अध्यात्मचर्चा] आदि रूप [शान्तरसोपयोगी] अलौकिक विभावविशेषके सहारेसे [शृङ्गारादिमे उपयुक्त होनेवाले रत्यादिसे] भिन्न प्रकारके होते हैं। [वे ही विलक्षण रत्यादि, शान्त रसके स्थायिभाव होते है । अर्थात् स्त्री-पुरुषादि रूप विभावोसे परिपोषित रति जहा शृङ्गार रसकी जनक होती है वहा अध्यात्मचर्चा आदि जैसे विभावोसे परिपोषित होकर वही रति शान्त रसकी जनक हो जाती है । इसी प्रकार अन्य स्थायिभाव भी अपने पहिले कहे हुए विभावोके बजाय श्रुतादि रूप अन्य विभावोके द्वारा भिन्न प्रकारकी अनुभूतिके जनक भी हो सकते हैं] । इसलिए उनमेसे ही कोई एक यहा [अर्थात् शान्तरसमे] स्थायिभाव होता है । इसलिए (१) अखण्डान्दस्वरूप आत्मविषयक रति ही क्योकि मोक्षका साधन होती है अत एव वही यहा शान्तरसमे [स्थायिनी अर्थात्] स्थायिभाव रूप है । जैसा कि [गीता ३-१७ मे] कहा है—

अभिनव०—जो आत्मामे ही रति रखने वाला, आत्मामे ही आनन्दका अनुभव करने वाला, एव अपनेमे ही सन्तुष्ट रहने वाला मनुष्य है उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता है ।

इस कथनसे यह सिद्ध किया गया है कि रति ही शान्तरसका स्थायिभाव हो सकती है। इसी प्रकार हास्यादि अन्यरसोके स्थायिभाव भी शान्त रसमें स्थायिभाव बन सकते हैं यह बात अगले अनुच्छेदमें दिखलाते हैं। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि विकृताकार आदिके दर्शनसे हासकी उत्पत्ति होती है। और शोच्यादि वस्तुओंको देख कर करुणादि अन्य रसोकी उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार उन हास्यादि रसोके स्थायिभाव, शातरसके भी जनक होते हैं यह बात अगले अनुच्छेद में निम्न प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

अभिनव०—इसी प्रकार (२) समस्त वस्तुओके विषयमे विकारको देख कर [विकृत दर्शन-जन्य हास्य रसका स्थायिभाव हास, शान्त रसको उत्पन्न करता है] । (३) समस्त ससारको शोचनीय रूपमे देखने वाले [साधक] को [करुण रसका

---

१ विविक्तया। २. तत्रानाहतानन्मय। ३. शास्त्रे।

(४) सासारिकं च वृत्तान्तमपकारित्वेन पश्यत, (५) सातिशयमसम्मोहप्रधान 'वीर्य-माश्रितवत, (६) सर्वस्माद्विषयसार्थाद्बिभ्यत[३], (७) सर्वलोकस्पृहणीयादपि प्रमदादेर्जुगुप्समानस्य, (८) अपूर्वस्वात्मातिशयलाभाद्विस्मयमानस्य, मोक्षसिद्धिरिति रतिहासादीना विस्मयान्तानामन्यतमस्य स्थायित्वं निरूपणीयम् ।

न चैतन्मुनेर्न सम्मतम् । यावदेव हि' विशिष्टान् विभावान् परिगणयति आदिशब्देन च तत्प्रकारानेवान्यान् संगृह्णीते तावदेव तद्व्यतिरिक्तालौकिकहेतूपनताना रत्यादीनामनुजानात्येवापवर्गविषयत्वम् ।

स्थायिभाव शोक शान्तरसकी अनुभूतिमे सहायक होता है], (४) सासारिक वृत्तान्तको [आत्माके लिए] अपकारी रूपमे देखने वालेको [अपकारित्व-जन्य रौद्र रसका क्रोध रूप स्थायिभाव], अत्यन्त ज्ञान प्रधान [वीर्य] उत्साहको स्वीकार करने वाले [साधक]को [वीररसका स्थायिभाव उत्साह],(५) समस्त विषय समूहसे भयको अनुभव करनेवालेको [भयानक रसका स्थायिभाव भय], (७) सब लोगोके स्पृहणीय कामिनी आदिसे भी घृणा करने वालोको [वीभत्स रसका स्थायिभाव जुगुप्सा], (८) और अपने अपूर्व आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके कारण [अद्भुतरसके स्थायिभाव] विस्मयको प्राप्त [साधक] को मोक्षकी प्राप्ति होती है इस लिए हाससे लेकर विस्मय पर्यन्त [समस्त रसोके आठों स्थायी भावो] मे से किसी एकको [शान्तरसका] स्थायिभाव माना जा सकता है [यह दूसरे लोगोका मत है] ।

अभिनव०—यह मत भरतमुनिको सम्मत न हो यह बात भी नहीं है [अर्थात् भरतमुनि भी इस मतको मानते हुए प्रतीत होते हैं। क्योकि] जब वे [भिन्न भिन्न रसोके] विशिष्ट विभावोको गिनाते हैं और [उनके अन्तमे दिए हुए] 'आदि' शब्दसे उसी प्रकारके अन्य विभावोका भी सग्रह करते हैं तो उसीमे उन [सामान्य हेतुओ] से भिन्न [श्रुतादि रूप] अलौकिक हेतुओसे उत्पन्न रत्यादिकी मोक्ष साधनताको भी स्वीकार ही करते हैं [यह समझना चाहिए] ।

इनका अभिप्राय यह हुआ कि रत्यादि आठ स्थायिभावोंमेंसे कोई भी एक शान्त रसका स्थायिभाव हो सकता है इस दूसरे मतके मानने वाले रति, हास आदि सभी स्थायिभावोंके दो रूप मानते हैं। एक रूप अपने-अपने मुख्यरसकी अनुभूतिमें काम आता है और दूसरा रूप मोक्ष सिद्धिमें उपयोगी होता है। रति आदिका जो रूप अपने स्त्री पुरुष आदि रूप मूल विभावोंसे उत्पन्न होता है वह शृङ्गारादि रूप मुख्य रसका जनक होता है। और जो श्रुतादि अर्थात् सत्सङ्ग-चर्चा आदि रूप अलौकिक साधनोंसे आत्माके विषयमें रतिकी उत्पत्ति होती है वह मोक्ष सिद्धिमें उपयुक्त होती है। अपने इस मतके समर्थनके लिए इन्होंने भरत मुनिको भी रत्यादिके द्विविध स्वरूपका समर्थक सिद्ध करनेका यत्न किया है। भरतमुनिने जहां रत्यादि स्थायिभावोंके विभावों की गणना की है वहां उनके अन्तमें प्राय 'आदि' शब्दका प्रयोग भी किया है। उस 'आदि' शब्द से श्रुतादि रूप अलौकिक विभावोंसे उत्पन्न मोक्ष-साधक, भिन्न प्रकारके रत्यादिका ग्रहण करना भरत मुनिको अभिप्रेत है यह दूसरे मतके समर्थकोंका अभिप्राय है।

---

१. विनय। २ बाह्यत। ३. म भ विशेषाद्विभावात्।

अन्ये मन्यन्ते—रत्यादय एवाष्टौ चित्तवृत्तिविशेषा उक्ता । त एव कथितविभाव-'विविक्तश्रुताद्यलौकिकविभावविशेषसश्रया विचित्रा एव तावत् । ततश्च तन्मध्यादेवा-न्यतमोऽत्र स्थायी । (१) 'तत्राव्याहतानन्दमयस्वात्मविषया रतिरेव मोक्षसाधनमिति सैव' शान्ते स्थायिनीति । यथोक्तम्—

यश्चात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानव ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते । इति [गीता ३–१७]

(२) एव समस्तविषय वैकृत पश्यतो, (३) विश्व च शोच्य विलोकयत,

रत्यादि अन्यतमके शान्तके स्थायिभावत्वका उपपादन—

अभिनव०—दूसरे लोगोका यह कहना है कि—रति आदि रूप आठ प्रकारकी चित्तवृत्ति विशेष [स्थायिभाव] ही पहिले कहे हैं। वे ही पहिले कहे हुए [शृङ्गारादिमे उपयोगी] विभावोसे भिन्न, श्रुत [अध्यात्मचर्चा] आदि रूप [शान्तरसोपयोगी] अलौकिक विभावविशेषके सहारेसे [शृङ्गारादिमे उपयुक्त होनेवाले रत्यादिसे] भिन्न प्रकारके होते हैं। [वे ही विलक्षण रत्यादि, शान्त रसके स्थायिभाव होते है । अर्थात् स्त्री-पुरुषादि रूप विभावोसे परिपोषित रति जहा शृङ्गार रसकी जनक होती है वहा अध्यात्मचर्चा आदि जैसे विभावोसे परिपोषित होकर वही रति शान्त रसकी जनक हो जाती है । इसी प्रकार अन्य स्थायिभाव भी अपने पहिले कहे हुए विभावोके बजाय श्रुतादि रूप अन्य विभावोके द्वारा भिन्न प्रकारकी अनुभूतिके जनक भी हो सकते हैं] । इसलिए उनमेसे ही कोई एक यहा [अर्थात् शान्तरसमे] स्थायिभाव होता है । इसलिए (१) अखण्डान्दस्वरूप आत्मविषयक रति ही क्योकि मोक्षका साधन होती है अत एव वही यहा शान्तरसमे [स्थायिनी अर्थात्] स्थायिभाव रूप है । जैसा कि [गीता ३-१७ मे] कहा है–

अभिनव०—जो आत्मामे ही रति रखने वाला, आत्मामे ही आनन्दका अनुभव करने वाला, एव अपनेमे ही सन्तुष्ट रहने वाला मनुष्य है उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नही रहता है ।

इस कथनसे यह सिद्ध किया गया है कि रति ही शान्तरसका स्थायिभाव हो सकती है। इसी प्रकार हास्यादि अन्यरसोके स्थायिभाव भी शान्त रसमें स्थायिभाव बन सकते हैं यह बात अगले अनुच्छेदमें दिखलाते हैं । जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि विकृताकार आदिके दर्शनसे हासकी उत्पत्ति होती है । और शोच्यादि वस्तुओको देख कर करुणादि अन्य रसोकी उत्पत्ति होती है । उसी प्रकार उन हास्यादि रसोके स्थायिभाव, शातरसके भी जनक होते हैं यह बात अगले अनुच्छेद में निम्न प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

अभिनव०—इसी प्रकार (२) समस्त वस्तुओके विषयमे विकारको देख कर [विकृत दर्शन-जन्य हास्य रसका स्थायिभाव हास, शान्त रसको उत्पन्न करता है] । (३) समस्त ससारको शोचनीय रूपमे देखने वाले [साधक] को [करुण रसका

---

१ विविक्तया । २. तत्रानाहतानन्मय । ३. शास्त्रे ।

(४) सासारिक च वृत्तान्तमपकारित्वेन पश्यत', (५) सातिशयमसम्मोहप्रधान 'वीर्य-माश्रितवत, (६) सर्वस्माद्विषयसार्थाद्बिभ्यत', (७) सर्वलोकस्पृहणीयादपि प्रमदादेर्जुगुप्समानस्य, (८) अपूर्वस्वात्मातिशयलाभाद्विस्मयमानस्य, मोक्षसिद्धिरिति रतिहासादीना विस्मयान्तानामन्यतमस्य स्थायित्व निरूपणीयम् ।

न चैतन्मुनेर्न सम्मतम् । यावदेव हि' विशिष्टान् विभावान् परिगणयति आदिशब्देन च तत्प्रकारानेवान्यान् संगृह्णीते तावदेव तद्व्यतिरिक्तालौकिकहेतूपनतानां रत्यादीनामनुजानात्येवापवर्गविषयत्वम् ।

स्थायिभाव शोक शान्तरसकी अनुभूतिमें सहायक होता है], (४) सांसारिक वृतान्तको [आत्माके लिए] अपकारी रूपमे देखने वालेको [अपकारित्व-जन्य रौद्र रसका क्रोध रूप स्थायिभाव], अत्यन्त ज्ञान प्रधान [वीर्य] उत्साहको स्वीकार करने वाले [साधक]को [वीररसका स्थायिभाव उत्साह],(५) समस्त विषय समूहसे भयको अनुभव करनेवालेको [भयानक रसका स्थायिभाव भय], (७) सब लोगोके स्पृहणीय कामिनी आदिसे भी घृणा करने वालोको [वीभत्स रसका स्थायिभाव जुगुप्सा], (८) और अपने अपूर्व आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके कारण [अद्भुतरसके स्थायिभाव] विस्मयको प्राप्त [साधक] को मोक्षकी प्राप्ति होती है इस लिए हाससे लेकर विस्मय पर्यन्त [समस्त रसोंके आठो स्थायी भावो] मे से किसी एकको [शान्तरसका] स्थायिभाव माना जा सकता है [यह दूसरे लोगोका मत है] ।

अभिनव०—यह मत भरतमुनिको सम्मत न हो यह वात भी नहीं है [अर्थात् भरतमुनि भी इस मतको मानते हुए प्रतीत होते हैं । क्योकि] जब वे [भिन्न भिन्न रसोके] विशिष्ट विभावोको गिनाते हैं और [उनके अन्तमे दिए हुए] 'आदि' शब्दसे उसी प्रकारके अन्य विभावोका भी संग्रह करते हैं तो उसीसे उन [सामान्य हेतुओ] से भिन्न [श्रुतादि रूप] अलौकिक हेतुओसे उत्पन्न रत्यादिकी मोक्ष साधनताको भी स्वीकार ही करते हैं [यह समझना चाहिए] ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि रत्यादि आठ स्थायिभावोंमेंसे कोई भी एक शान्त रसका स्थायिभाव हो सकता है इस दूसरे मतके मानने वाले रति, हास आदि सभी स्थायिभावोके दो रूप मानते हैं । एक रूप अपने-अपने मुख्यरसकी अनुभूतिमें काम आता है और दूसरा रूप मोक्ष सिद्धिमें उपयोगी होता है । रति आदिका जो रूप अपने स्त्री पुरुष आदि रूप मूल विभावोंसे उत्पन्न होता है वह शृङ्गारादि रूप मुख्य रसका जनक होता है । और जो श्रुतादि अर्थात् अध्यात्म-चर्चा आदि रूप अलौकिक साधनोंसे आत्माके विषयमें रतिकी उत्पत्ति होती है वह मोक्ष-सिद्धिमें उपयुक्त होती है । अपने इस मतके समर्थनकेलिए उन्होंने भरत मुनिको भी रत्यादिके द्विविध स्वरूपका समर्थन सिद्ध करनेका यत्न किया है । भरतमुनिने जहा रत्यादि स्थायिभावोके विभावो की गणना की है वहा उनके अन्तमें प्राय 'आदि' शब्दका प्रयोग भी किया है । इस 'आदि' शब्द से श्रुतादि रूप अलौकिक विभावोंसे उत्पन्न मोक्ष-साधक, भिन्न प्रकारके रत्यादिका ग्रहण करना भरत मुनिको अभिप्रेत है यह दूसरे मतके समर्थकोंका अभिप्राय है ।

---

१. विनय । २ पाठ्यत । ३. म. भ विशेषाद्विभावान् ।

एववदिनान्तु परस्परमेव विचारयतामेकस्य स्थायित्व विशीर्यंत एव । तदुपाय-भेदात् तस्य तस्य स्थायित्वमित्यप्युच्यमानमप्रगुणमेव[1] । स्थायिभेदेन प्रतिपुरुष [2]रसस्याप्यानन्त्यापत्ते । मोक्षैकफलत्वादेको रस इति चेत्, [3]धर्मैकफलत्वे वीररौद्रयो-रप्येकत्व स्यात् ।

अन्ये तु–पानकरसवदविभाग प्राप्ता सर्व एव रत्यादयोऽत्र स्थायिन इत्याहु । चित्तवृत्तीनामयुगपद्भावात्, अन्योन्य च विरोधादेतदपि न मनोज्ञम् ।

रत्यादि अन्यतमके शान्तस्थायित्वका खण्डन—

अभिनव०—इस प्रकार [सब ही रसोके स्थायिभाव शान्तरसके स्थायिभाव हो सकते हैं यह] कहने वालोमे तो परस्पर विचार करनेपर ही [कभी रतिको कभी शोकादिको शान्त रसका स्थायिभाव बतलानेपर तो] किसी एकका स्थायिभावत्व खण्डित हो जाता है । उस-उस प्रकारके [भिन्न-भिन्न] उपायोके भेदसे उस-उस [रति शोक आदि] का [शान्त रसमे] स्थायिभावत्व होता है यह कहना भी अनुचित ही है । क्योकि प्रत्येक पुरुषमे भिन्न-भिन्न स्थायिभाव माननेपर [शान्त] रसके भी अनन्त भेद होने लगेंगे । [इस दोषके निवारण करनेके लिए] यदि यह कहा जाय कि [उन स्थायिभावोमे भेद रहनेपर भी] मोक्षरूप फलके एक [अभिन्न] होनेसे रस भी अभिन्न ही रहेगा तो, वीर तथा रौद्र रसका भी [पुरुषार्थ चतुष्टयमेसे] धर्म रूप अभिन्न फल होनेसे उनका भी अभेद होने लगेगा । [इसलिए रति आदि आठोमेसे कोई भी एक शान्त रसका स्थायिभाव हो सकता है यह मत असङ्गत है] ।

रत्यादिकी समष्टि शान्तरसका स्थायिभाव है इस मतका उपपादन और खण्डन—

दूसरे मतमें रत्यादि स्थायिभावोके अनेक रूप स्वीकार कर उनमेसे श्रुतादि रूप अलौकिक विभावोसे उत्पन्न रत्यादिको मोक्षसाधक मान कर उनमेंसे कोई भी एक शान्त रसका स्थायिभाव हो सकता है, इस पक्षकी स्थापना की गई थी । उसका सिद्धान्त पक्षकी ओरसे ग्रन्थकारने खण्डन कर दिया । अब इस विषयके तीसरे मतका उल्लेख कर उसका खण्डन करेगे । तीसरा मत भी इस दूसरे मतका ही रूपान्तर मात्र है । दूसरे मतमें रत्यादिमेसे किसी एकको शान्तरसका स्थायि-भाव माना था । इस तीसरे मतमें उन सबकी समष्टिको शान्तरसका स्थायिभाव माना है । इतना अन्तर है । जैसे ठण्डाई आदि पानक द्रव्योमें शकर मिर्च आदि अनेक द्रव्योका स्वाद मिल कर एक विचित्र आस्वादनको उत्पन्न करता है । इसी प्रकार शान्त रसमें रत्यादि समस्त स्थायिभाव पानकरस-न्यायमे मिलकर एक विचित्र प्रकारके शान्त रसास्वादके जनक होते हैं यह इस मतका आशय है । इसीको अगली पक्तियोमें प्रस्तुत करते हैं—

अभिनव०—दूसरे विचारकोका यह कहना है कि—पानक-रसके समान सभी स्थायिभाव मिलकर यहाँ [शान्त रसमे] स्थायिभाव बनते है । [अगली पक्तिमे इसका खण्डन करते है] किन्तु [रत्यादि विषयक अनेक प्रकारकी] चित्त वृत्तियोका एक साथ होना सम्भव न होनेसे, तथा [हास और क्रोध, वीर और भयानक आदि चित्तवृत्तियोमे] एक दूसरेका विरोध होनेसे यह मत ठीक नहीं है ।

---

१ प्रगुणमेव । २ आनन्त्यापत्तौ । ३ धर्मैक ।

कस्तर्ह्यत्र स्थायी ?

उच्यते—इह तत्त्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनमिति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता। तत्त्वज्ञान च नाम आत्मज्ञानमेव। आत्मनश्च 'इन्द्रियादिव्यतिरिक्तस्यैव ज्ञानम्। परो ह्येवमात्मा अनात्मनैव' स्यात्। विपञ्चित चैतदस्मद्गुरुभि। अस्माभिश्चान्यत्र' वितन्यत इतीह नातिनिर्बन्ध कृत.। तेनात्मैव ज्ञानानन्दादिविशुद्धधर्मयोगी परिकल्पित-विषयभोगरहितोऽत्र स्थायी।

'निर्वेद' और रत्यादिकी समष्टि शान्तरसके स्थायिभाव हैं इन दोनो मतोका खण्डन ग्रन्थकार पहिले कर चुके हैं और अब पानकरसन्यायसे सभी स्थायिभाव मिल कर शान्तरसके स्थायिभाव बनते हैं इस मतका भी उन्होंने निराकरण कर दिया तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अन्य सबके मतोका खण्डन तो आपने कर दिया पर अब आप ही बतलाइए कि आपके मतमें शान्तरसका स्थायिभाव क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए ग्रन्थकार अगले प्रकरणका आरम्भ करते हैं। उनका कहना है कि तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान अथवा आत्मा ही शान्तरसका स्थायिभाव है। आत्मा इन्द्रियादिसे अतिरिक्त है। उस आत्माका साक्षात्कार होनेपर ही शान्तरस की उत्पत्ति होती है। इसलिए उस आत्माको या आत्मज्ञानको आत्मसाक्षात्कारको ही शान्तरसका स्थायिभाव मानना चाहिए। इसी आत्मज्ञानको तत्त्वज्ञान भी कहते हैं इसलिए तत्त्वज्ञान आत्मज्ञान अथवा आत्मा ही शान्तरसका स्थायिभाव कहा जा सकता है। इस मतका उपपादन करते हैं।

आत्मज्ञान ही शान्तरसका स्थायिभाव है [सिद्धान्त पक्ष]—

अभिनव०—[प्रश्न] तब फिर [शान्तरसका] स्थायिभाव कौन-सा है ?

अभिनव०—[उत्तर] कहते हैं कि—इस विषयमे सबसे पहिली बात तो यह है कि तत्त्वज्ञान ही मोक्षका साधन होता है इसलिए उसीको स्थायिभाव मानना उचित है। तत्त्वज्ञान आत्मज्ञानका ही नाम है। और इन्द्रियादिसे भिन्न आत्माका ज्ञान ही आत्मज्ञान कहलाता है। इस रूपमे आत्मा, अनात्मा [अर्थात् देहादि] से भिन्न होता है। [उस आत्माका ज्ञान आत्म-साक्षात्कार अथवा तत्त्वज्ञान ही शान्तरसका स्थायि-भाव हो सकता है] इस बातको हमारे गुरु श्री भट्टतोतने विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया है। और हमने भी अन्यत्र [भगवद्गीताकी व्याख्यामें] इसका विस्तार पूर्वक निरूपण किया है। अत एव यहाँ उसके विशेष रूपसे वर्णनका आग्रह [अथवा यत्न] नहीं किया है। इसलिए ज्ञान आनन्द आदि विशुद्ध धर्मोंसे युक्त और परिकल्पित विषयोपभोग आदिसे रहित आत्मा ही यहाँ [शान्त रसमे] स्थायी [भाव रूप] है।

अन्य रसोंमे आत्माका स्थायिभावत्व क्यो नहीं ?

इसपर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि आप आत्माको स्थायिभाव मानते हैं तब आत्मा तो सभी रसोंमें स्थायिभाव हो सकता है। फिर रति, हास आदि किसीको भी स्थायि-भाव माननेकी आवश्यकता नहीं रहती है। वे सभी आत्माके सामने अस्थायी भाव बन जाते हैं। इसका उत्तर अगली पंक्तियोंमें ग्रन्थकार यह देते हैं कि यह ठीक है किन्तु फिर भी रति आदिको स्थायिभाव मानना ही चाहिए क्योंकि अन्यरसोंकी स्थितिमें इस प्रकारका आत्मसाक्षात्कार—

---

१. व्यतिरिक्तमिन्द्रियस्यैव। २ अनात्मैव। ३. भगवद्गीताव्याख्यायाम्।

न चास्य ¹स्थायितयान्येषामस्थायित्व वचनीयम् । रत्यादयो हि तत्तत्कारणान्तरोदय—प्रलयोत्पद्यमाननिरुध्यमानवृत्तय कञ्चित्कालमापेक्षिकतया स्थायिरूपात्मभित्तिसश्रया ²सन्त स्थायिन इत्युच्यन्ते । तत्त्वज्ञानन्तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीय सर्वस्थायिभ्य स्थायितम सर्वा रत्यादिका स्थायिचित्तवृत्ती-र्व्यभिचारीभावयत् निसर्गत एव सिद्धस्थायिभावमिति³। अत एव पृथगस्य गणना न युक्ता । न हि ⁴रुण्डमुण्डयो मध्ये तृतीय गोत्वमिति गण्यते । तेन एकोनपञ्चाशद् भावा इत्यव्याहतमेव ।

ज्ञान नही होता है जैसा शान्तरसकी स्थितिमें होता है । योगशास्त्रके अनुसार केवल समाधिकालमें आत्माका साक्षात्कार होता है । 'तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्' । योग १-७ में बतलाया गया है कि समाधिकी स्थितिमें आत्माका अपने स्वरूपमें अवस्थान होता है । उसी समय आत्माके स्वरूपका साक्षात्कार होता है । समाधिकी स्थितिको छोडकर अन्य समयोमे या व्युत्थानकाल में 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' वृत्तियोके समान रूपमे, वृत्तिकलुषित रूपमें आत्माका ज्ञान होता है । अर्थात् रत्यादिके अनुभव कालमें आत्माके विशुद्ध स्वरूपका भान नही होता है इसलिए वहा आत्माको स्थायिभाव नही माना जा सकता है । यदि वहाँ आत्माका साक्षात्कार मान लिया जाय तो वह रत्यादिका उपयोगी या पोषक न होकर विरोधी हो जायगा । अत रत्यादिके प्रसङ्गमें आत्माको स्थायिभाव नही माना जा सकता है । उसे केवल शान्तरसमे ही स्थायिभाव माना जा सकता है । आत्माको स्थायिभाव माननेका अर्थ यह भी नही लेना चाहिए कि उसके कारण रति आदि सबको अस्थायिभाव कह दिया जाय । रति आदि भी आपेक्षिक रूपसे स्थायिभाव हैं । वे भी परम स्थायी आत्मा रूप भित्तिके आश्रित कुछ काल तक स्थायी रूपसे रहते हैं इसलिए वे भी आपेक्षिक रूपसे स्थायिभाव होते ही हैं । इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अभिनव०—इस [आत्मतत्त्व] के स्थायी [भाव] होनेसे अन्यो [अर्थात् रत्यादि] को अस्थायिभाव नही समझना चाहिए । क्योकि रति आदि [अपने-अपने] अन्य कारणोके उपस्थित अथवा अनुपस्थित होनेके कारण उत्पन्न तथा निरुद्ध होते हुए भी आत्मा रूप स्थायी भित्तिके आश्रित होकर [व्यभिचारिभावोकी अपेक्षा कुछ अधिक काल तक स्थिर रहते हैं । इसलिए] स्थायी कहलाते है । और तत्त्वज्ञान तो अन्य सब [रत्यादि] भावोका आश्रय भूत अन्य सब स्थायिभावोकी अपेक्षा अधिक स्थायी और रत्यादि सब वृत्तियोको [अपनी अपेक्षा] व्यभिचारिभावत्वको प्राप्त कराता हुआ स्वभावत स्थायिभाव रूप स्वय सिद्ध है । इसीलिए इस [आत्मा या आत्म विषयक तत्त्वज्ञान रूप, शान्त रसके स्थायिभाव] की [स्थायिभावो मे] अलगसे गणना नहीं की गई है । क्योकि शिर और धड़ दोनोंके बीचमें [विद्यमान होनेसे] गोत्वको अलग नही गिना जाता हैं । [पृथक् गणना न करने पर भी उसका स्थायिभावत्व स्वत. सिद्ध है और इसकी अलग गणना न करनेके कारण भावोकी जो ४९ सख्या मानी गई है उसमे कोई अन्तर नहीं आता है] । इस लिए ४९ भाव है यह कहना ठीक ही है ।

---

१ न चास्यास्थायितया स्थायित्व वचनीयम । २. षट । ३. तन्त्रवचनम । ४. तण्डमण्डयो. ।

अस्यापि कथं पृथग् गणनेति चेत् ? पृथगास्वादयोगादिति ब्रूमहे। न हि रत्यादय 'इवेतरासम्पृक्तवपुषो तथाविधमात्मस्वरूपं लौकिकप्रतीतिगोचरम्। स्वगतमप्यविकल्परूपं व्युत्थानावसरेऽनुसन्धीयमानं चित्तवृत्यन्तरकलुषमेवावभाति।

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ तक यह सिद्ध किया कि शान्तरसमें आत्मा या आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान ही स्थायिभाव होता है। वह आत्मा ही सब भावोंमें सबसे अधिक स्थायी है सबका आधारभूत भित्तिस्थानीय तत्त्व है। इसलिए स्थायिभावोंकी गणना करते समय उसकी अलग गणना नहीं की गई है। इसलिए भावोंकी ४९ सख्या ठीक ही हैं।

शान्तरसकी पृथग् गणना क्यों ?—

इस पर पूर्वपक्षी यह प्रश्न करता है कि जब शान्तरसके स्थायिभावके रूप में 'तत्वज्ञान' की अलग गणना नहीं की गई है तो फिर शान्तरसकी ही गणना अलग क्यों की जानी चाहिए। इसका उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि शान्तरसका आस्वाद रत्यादिके आस्वादसे विलक्षण होता है इसलिए उसकी पृथक् गणना करना उचित ही है।

अभिनव०—इस [शान्त] रस की पृथक् गणना क्यों की गई है ? यह पूछो तो [इसके उत्तरमें] हम यह कहते हैं कि—[उन अन्य रसोंके समान शान्तका] भिन्न प्रकारका आस्वाद होनेसे [उसकी पृथक् गणना की गई है। इसी बातको स्पष्ट करनेकेलिए रत्यादिकी प्रतीति तथा शान्त रसकी अनुभूतिमें यह भेद दिखलाते हैं कि रति हास आदि अन्य स्थायिभावोंकी अनुभूति बिल्कुल पृथक्-पृथक् असङ्कीर्ण रूपमें होती है। इसलिए उनकी पृथक् गणना की जाती है परन्तु] रत्यादिके समान अन्य [भावों] के साथ अमिश्रित [रूपसे शान्तरसमें अनुभूत होने वाला] आत्माका स्वरूप लौकिक प्रतीतिका विषय नहीं होता है। और [समाधि कालमें] निर्विकल्प रूपसे स्वरूपावस्थ होनेपर भी व्युत्थान कालमें [अर्थात् समाधिका भङ्ग होनेपर] अन्य चित्तवृत्तियोंसे कलुषित रूपमें ही प्रतीत होता है। [इस लिए लोकमें आत्माके स्वरूपतः अलग प्रतीत न होनेसे, और शान्तरसमें उसके पृथग्रूपसे आस्वाद्य होनेसे शान्त रसकी गणना की गई है]।

यह बात ग्रन्थकार योगदर्शनके आधारपर लिख रहे हैं। योग दर्शनमें 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'। 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' [योग सूत्र प्रथम पाद १-३ सूत्र] ये तीन सूत्र आए हैं। इनका अभिप्राय यह है कि चित्तवृत्तियोंके निरोधका नाम योग या समाधि है। उस समाधिके समयमें अन्य किसी प्रकारकी वृत्ति न होनेसे द्रष्टा अर्थात् आत्माकी अपने स्वरूप में स्थिति होती है। और उस समाधिसे भिन्नकालमें 'वृत्तिसारूप्य' होता है। अर्थात् सुख दुःखादि रूप जिस प्रकारकी चित्तवृत्ति होती है उसी प्रकारका आत्माका स्वरूप भासता है। इसी बातको ग्रन्थकारने इन पंक्तियोंमें कहा है। लौकिक अनुभवोंके कालमें चित्तवृत्तियोंका सारूप्य होनेसे विशुद्ध आत्मस्वरूपकी प्रतीति नहीं होती है। निर्विकल्पक समाधिके कालमें विशुद्ध आत्मस्वरूपकी अनुभूति

---

१. इतरा सवृत्तेन।

मासता वा लोके तथा। तथापि न सम्भावनामात्रात् स्थायिना गणन, रसेपूवतेपु अनुपयोगात्। अपि तु 'व्यभिचारित्वम् अलक्षणीयत्व, चेति विज्ञायते। तथा हि एकोनपञ्चाशता भावैरित्येत् प्रघट्टकोपपत्ति।

न चास्यात्मस्वभावस्य व्यभिचारित्वासम्भवादवैचित्र्यावहत्वादनौचित्याच्च ²शमशब्दो मुनिना व्यपदिष्ट। यदि तु स एव ³शम-शब्देन व्यपदिश्यते निर्वेद-शब्देन वा तन्न कश्चिद् वाध। केवल शमश्चित्तवृत्यन्तरम्। निर्वेदोऽपि दारिद्र्यादिभावान्तरोत्थित निर्वेदतुल्यजातीयो न भवति। तज्जातीये एव हेतुभेदेऽपि तद् व्यपदेशो रतिभयादावपि।

होती है परन्तु व्युत्थान कालमें अर्थात् समाधिसे उठनेपर फिर वृत्तिसारूप्य अर्थात् चित्तवृत्तियोसे कलुपित रूपमें ही आत्माकी प्रतीति होती है। वृत्तिशून्य रूपमें अलग प्रतीति नही होती है। इसलिए स्थायिभावके रूपमें आत्मामें गणना अलग नही की गई है। किन्तु शान्तरसमें आत्माका पृथक् आस्वाद होता है। अत शान्तरस अलग माना है। यह ग्रन्थकारका आशय है।

अभिनव०—अथवा [दुर्जनतोष न्यायसे] लोकमे उस प्रकारकी [चित्तवृत्तियो से अकलुषित विशुद्ध आत्माके स्वरूपकी] प्रतीति [सम्भव] भी हो तो भी सम्भावनामात्रसे स्थायिभावोकी गणना नहीं की जाती है क्योकि [सम्भावित स्थायिभावोका] रसो [की उक्त निष्पत्ति] मे कोई उपयोग नहीं है। अपितु [सम्भावित मात्र अर्थका] व्यभिचारिभावत्व, और [स्थायित्मना] अलक्षणीयत्व ज्ञात होता है। इसलिए '४९ भावोके द्वारा' इत्यादि प्रकरणकी सगति ठीक हो जाती है।

अभिनव०—और इस आत्मस्वरूपको भरत मुनिने (१)[शम तथा निर्वेदादिके समान अन्य रसोमे उसके] व्यभिचारित्वका सम्भव न होनेसे (२) विभिन्न अनुभूतियोके जनक न होनेसे और (३) अनुपयुक्त होनेसे 'शम' शब्दसे नहीं कहा है। यदि उसी [विशुद्ध आत्मस्वरूप] को 'शम' शब्दसे या 'निर्वेद' शब्दसे कहा जाय तो उसमे कोई आपत्ति नहीं है। केवल इतनी बात है कि 'शम' [तथा 'निर्वेद' दोनो एक] विशेष प्रकारकी चित्त वृत्ति है [आत्माका स्वरूप नहीं है। शान्तरसका स्थायिभाव रूप] निर्वेद भी दारिद्र्य आदि रूप अन्य कारणो [विभावो] से उत्पन्न निर्वेदके समानजातीय नहीं होता है [अपितु उससे भिन्न प्रकारका ही होता है। इस पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब दारिद्र्यादिसे उत्पन्न और तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न दोनो प्रकार के खेदको 'निर्वेद' नामसे ही कहा जाता है तब उन दोनोको विजातीय क्यो कह रहे हैं? इसका उत्तर ग्रन्थकार अगली पक्ति मे देते हैं कि—] कारणका भेद होने पर भी समानजातीय पदार्थको उसी नामसे कहा जाता है। यह बात रति भयादिमे भी समान रूपसे देखी जाती है।

---

१. व्यभिचारित्वाल्लक्षणीयत्व पिज्ञायते चेति।　　२ शमात्स्वभावस्य दमशब्देन मुनिर्व्यपदिष्टः।　　३. शमशब्दे।

तदिदमात्मस्वरूपमेव तत्त्वज्ञान शमता च। यत्कालुष्योपरागविशेषा एवात्मनो रत्यादय.। तदनुगमेऽपि विशुद्धमस्य रूपमव्यवधान समाधिवलादधिशय्य [1]व्युत्थानेऽपि [2]प्रशान्तता भवति। यथोक्त 'तस्य प्रशान्तवाहिता सस्कारात्' इति [योग० ३-३०]।

तत्त्वज्ञानलक्षणस्य च [3]स्थायिन [4]समस्तोऽयं लौकिकालौकिकचित्तवृत्तिकलापो[5] व्यभिचारितामभ्येति। तदनुभवा एव च यमनियमाद्युनुकृता अनुभावा.[6]। [7]आंगिकाध्यायत्रये च ये स्वभावाभिनया वक्ष्यन्ते त अत एव [8]एतद्विषया एव। अयमेव स्वभाव। विभावा अपि [9]ईश्वरानुग्रहप्रभृतय [10]प्रक्षयोन्मुखाश्च रत्यादयोऽत्रास्वाद्या[11]।

इसका यह अभिप्राय है कि जैसे विभिन्न प्रकारके कारणोसे उत्पन्न होने वाला भय भिन्न-भिन्न स्वरूपका होता है। या भिन्न कारणोसे उत्पन्न रति हास आदि भी भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं परन्तु वे सब भय या रति या हास आदि एक शब्दमे कहे जाते हैं। इसी प्रकार दारिद्र्यादि कारणोसे और तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न निर्वेद भिन्न प्रकारके होनेपर भी एक ही 'निर्वेद' नामसे कहे जाते हैं। परन्तु ये निर्वेद या शम आत्माके स्वरूप नही अपितु चित्तवृत्ति रूप है। अत एव वे शान्तरसके स्थायिभाव नहीं हैं अपितु आत्मा ही शान्तरसमें स्थायिभाव है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। इसी बातको ग्रन्थकारने ऊपर की पंक्तियोंमें कहा हैं।

अभिनव०—इसलिए यह आत्माका स्वरूप ही तत्त्वज्ञान या शमता रूप है। जिसके कालुष्योपराग रूप आत्माके रत्यादि भाव होते हैं। [अर्थात् शृङ्गारादिरसोंमे आत्माके विशुद्ध स्वरूपकी नहीं अपितु चित्तवृत्तियोसे कलुषित रूपकी अनुभूति होती है। इस लिए] उन [रत्यादि] के विद्यमान होनेपर भी समाधिके द्वारा उसके अव्यवहित विशुद्ध स्वरूपका अनुभव करके व्युत्थानकालमे भी चित्तकी [कुछ काल तक] प्रशान्तवाहिता ही रहती हैं। जैसा कि [योगदर्शनमे] कहा हैं कि [समाधिके वाद भी] 'उस [चित्तकी] संस्कारोके कारण प्रशान्तवाहिनी स्थिति रहती हैं'। [इसलिए आत्मस्वरूप या तत्त्वज्ञान ही शान्त रसका स्थायिभाव है]।

अभिनव०—और यह सारा लौकिक या अलौकिक चित्तवृत्तियोका समुदाय तत्त्वज्ञान रूप स्थायिभावका व्यभिचारिभाव रूप हो जाता है। उस [तत्त्वज्ञान] के 'अनुभव' ही यम नियम आदिके द्वारा उपकृत होकर उस [शान्तरस] के 'अनुभाव' होते हैं। और आङ्गिक अभिनयके प्रतिपादक [९,१०,११,] तीन अध्यायोमे जो स्वभावाभिनय कहे जावेंगे वे भी इसी [शान्तरस] विषयक होते हैं। यही [विशुद्ध शान्तरस] 'स्वभाव' कहा जाता है। [अर्थात् शान्तरस ही स्वाभाविक है शेष रस विकृति रूप है] और ईश्वरानुग्रह आदि [शान्तरसके] विभाव [होते हैं] तथा विनष्ट होते हुए रत्यादि का भी इस [शान्तरस] मे [अनुभव] आस्वादन होता है।

---

१. प्रतिशय्य। २. प्रशान्तिता। ३ स्थायिरास्थायरथा। ४. म भ समस्ततोऽयम्। ५. म, भ कलोपाप्या। ६ म. भ. भावावुपा। ७. उपाङ्गाभिनयस्य। ८ तद्विषया·। ९. अपि कथम्। १०. प्रक्षयादच। ११. आत्मायाः कैवल्यम्।

केवल यथा विप्रलम्भे औत्सुक्य, सम्भोगेऽपि वा 'प्रेमासमाप्तोत्सवम्' [तापस-त्सराज १-१७] इति, यथा च रौद्रे औग्र्य, यथा च करुण-वीर-भयानक-अद्भुतेपु र्वेद-धृति-त्रास-हर्षा व्यभिचारिणोऽपि प्राधान्येनावभासन्ते, तथा न जुगुप्सायाम्। सर्वथैव गप्रतिपक्षत्वात्। तथाहि महाव्रते कपालादिधारण-मधु-भार्यादि-सम्मदादिविस्तार-क्षेपादिकर्मीकृति हि धर्मे जुगुप्साहेतुत्वेनैव। 'घृताभ्यक्ताच्च च देवरात् पुत्रजन्माद्युप-ष्टम्।

स्वात्मनि च कृतकृत्यस्य परार्थघटनायामेवोद्यम इत्युत्साहोऽस्य परोपकार षयेच्छा-प्रयत्नरूपो दयापरपर्यायोऽभ्यधिकोऽन्तरङ्ग.। अत एव तत् केचित् दयावीरत्वेन पदिशन्ति, अन्ये धर्मवीरत्वेन।

ननूत्साहोऽहङ्कारप्राण शान्तस्त्वहङ्कारशैथिल्याद् तद्विरोधात्मक ?

व्यभिचारित्व हि विरुद्धस्यापि 'नानुचित रतादाविव निर्वेदादे ।

अभिनव०—केवल इतनी बात है कि जैसे विप्रलम्भ-शृङ्गारमे, अथवा 'मासमाप्तोत्सवम्' इस कथनके अनुसार सम्भोग-शृङ्गारमे भी 'औत्सुक्य' [व्यभिचारि-व होनेपर भी प्रधान रूपसे प्रतीत होता है] अथवा जैसे रौद्र रसमे उग्रता, या रुण, वीर, भयानक और अद्भुत रसोमे [क्रमश·] निर्वेद, धृति, त्रास और हर्ष ादि व्यभिचारिभाव होनेपर भी प्रधान रूपसे प्रतीत होते हैं उस प्रकार जुगुप्सा अर्थात् वीभत्स रस] मे उसके रागके सर्वथा विपरीत होनेसे यह बात [अर्थात् न्य व्यभिचारिभावो की प्रधान रूपसे प्रतीति] नहीं होती है। जैसे कि [शिव म्बन्धी] महाव्रतमे कपालादिका धारण, मद्य, स्त्री आदि, [सम्मद] नशा आदिका धिक या कम रूपमे सेवनादि, धर्ममें [धार्मिक प्रवृत्तिके लोगोमे] जुगुप्साका कारण बनता है। और घृताभ्यक्त देवरसे [नियोग द्वारा विधवाके लिए] जो पुत्रोत्पादन ा विधान [स्मृति ग्रन्थोमे] किया गया है [वह भी जुगुप्साका ही जनक होता है]।

न्तरसके नामान्तर—

अभिनव०—और अपने आपमे कृतकृत्य पुरुषका परोपकार करनेका ही उद्योग हता है। इसलिए परोपकार विषयक इच्छा एव प्रयत्न रूप उत्साह जिसे दया भी हते है इस [शान्तरस] का विशेष रूपसे अन्तरङ्ग होता है। इसी लिए कोई उसे यावीर रूपसे और कोई धर्मवीर नामसे व्यवहृत करते हैं।

अभिनव०—[प्रश्न] उत्साह तो अहङ्कार मूलक होता है और शान्तरसमे हङ्कार शैथिल्य होता है इसलिए [शातरस उत्साहसे] भिन्न विरुद्ध होता है [तब ाप उत्साह को शान्तरसका अन्तरङ्ग कैसे कहते हैं] ?

अभिनव०—[उत्तर] विरुद्ध भावका भी व्यभिचारिभाव रूपमे वर्णन अनुचित हीं माना जाता है। जैसे शृङ्गाररसमे निर्वेदादि [कावर्णन अनुचित नहीं है।

---

१. निजाभ्यर्णं च। २ द्वैविध्यात्मकः। ३ न नोचितम्।

शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः,
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः ।
इत्यप्रार्थितलभ्यसर्वविभवे दोषोऽयमेको वने,
दुष्प्रापार्थिनि यत् परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते ॥ [नागानन्द ४-२]

इत्यादौ हि परोपकारकरणे ह्युत्साहस्यैव प्रकर्षो लक्ष्यते । न तूत्साहशून्या काचिदप्यवस्था, इच्छाप्रयत्नव्यतिरेकेण पाषाणतापत्तेः । यत एव परिदृष्टपरापरत्वेन स्वात्मोद्देशेन कर्तव्यान्तरं नावशिष्यते, अत एव शान्तहृदयानां परोपकाराय शरीर-सर्वस्वादिदानं न शान्तविरोधि ।

'आत्मानं गोपायेत्' [गौतम धर्मसूत्र ९-३५] इत्यादिना ह्यकृतकृत्यविषयं शरीररक्षणमुपदिश्यते । सन्न्यासिना तद्रक्षादितात्पर्याभावात् । तथाहि—

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तान् निघ्नता किन्न हतं रक्षता किन्न रक्षितम् ॥ [हितोपदेश १-८३]

अभिनव०—हरी-हरी घासका मैदान [शाद्वल] ही शय्या है, पवित्र शिलातल [उत्तम] आसन, वृक्षोंके नीचे घर, झरनोंका शीतल पानी पीनेकेलिए, खानेकेलिए कन्द और मृग मित्र होते हैं। इस प्रकार विना मांगे ही सब प्रकारका वैभव जहां प्राप्त हो सकता है उस वनमें केवल एक यही महान् दोष है कि धनकी प्राप्ति कठिन होनेसे परोपकार करनेमें असमर्थ होकर रहना व्यर्थ हो जाता है।

अभिनव०—इत्यादि [नागानन्दके ४-२ श्लोक] में परोपकार करनेकेलिए उत्साहका ही अतिरेक दिखलाई दे रहा है। [उत्साहको शान्तरसका विरोधी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि] उत्साहसे शून्य कोई भी अवस्था नहीं हो सकती है। क्योंकि इच्छा एवं प्रयत्नके विना तो [व्यक्ति जड़] पत्थर बन जावेगा। [परन्तु शान्तरसकी स्थितिको प्राप्त व्यक्ति पत्थरके समान जड़ तो नहीं होता है] और क्योंकि [पर आत्मा अर्थात्] ब्रह्म और अपर आत्मा अर्थात्, जीव [अथवा प्रकृति और पुरुष] का परम ज्ञानप्राप्त कर चुकनेके कारण अपने उद्देशसे दूसरा कोई कर्तव्य [करने योग्य काम] शेष नहीं रह जाता है, इसलिए शान्तहृदय वाले साधकोंको दूसरोंके उपकारकेलिए अपने शरीर और सर्वस्वका दान कर देना भी शान्तरसका विरोधी नहीं है। 'आत्मानं गोपायेत्' अपनी रक्षा करो इत्यादिसे अकृतकृत्य [अर्थात् जिनको तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है उन] पुरुषोंके लिए ही अपने शरीरकी रक्षाका उपदेश दिया गया है। सन्यासियों के लिए उस की रक्षामें कोई प्रयोजन नहीं रहता। क्योंकि—

अभिनव०—मनुष्यका जीवन [प्राण] धर्म अर्थ काम और मोक्ष की रक्षाकेलिए ही होता है। उनको नष्ट करने वालेने क्या नष्ट नहीं किया और उनकी रक्षा करने वालेने क्या नहीं बचाया [अर्थात् सब कुछ बचा लिया]।

इति सुप्रसिद्धचतुर्वर्गसाधकत्वमेव देहरक्षाया निदान दर्शितम् । कृतकृत्यस्य 'जलेऽग्नौ श्वभ्रे वा पतेत्' इति सन्न्यासित्वे श्रवणात् । तद्यथाकथञ्चित् त्याज्य शरीर यदि परार्थं त्यज्यते तत्किमिव न सम्पादित भवति ।

जीमूतवाहनादीना न यतित्वमिति चेत् ।

किन्तेन ? न तत्त्वज्ञानित्व तावदवश्यमस्ति । अन्यथा देहात्ममानिना देह एव सर्वस्वभूते धर्माद्यनुद्देशेन परार्थे त्यागस्यासम्भवात् ।

युद्धेऽपि हि न शरीरस्य त्यागायोद्यम परपराजयोद्देशेनैव प्रवृत्ते । भृगुपतनादावपि शुभतरदेहान्तरसम्पिपादयिषैवाधिक विजृम्भते । तत्स्वार्थानुद्देशेन परार्थसम्पत्त्यै यद्यच्चेष्टित देहत्यागपर्यन्तमुपदेशदानादि तत्तदलब्धात्मतत्त्वज्ञानानामसम्भाव्यमेवेति तेऽपि तत्त्वज्ञानिन ।

अभिनव०—इस श्लोकमे सुप्रसिद्ध चतुर्वर्गका साधकत्व ही देहरक्षाका कारण बतलाया गया है । कृतकृत्य [अर्थात् तत्त्वज्ञानी] केलिए 'पानीमे अग्निमे या गढेमे गिर पड़े' [अर्थात् जलमे अग्निमे, या गढेमे गिर कर अपने शरीरका अन्त कर दे] यह सन्यास [के प्रकरण] मे कहा गया है । इसलिए [सन्यासी तथा तत्त्वज्ञानीकेलिए] किसी न किसी प्रकार शरीर त्याग करना ही है । उसको यदि परोपकारकेलिए त्यागा जाय तो इससे बढ कर और क्या हो सकता है [किमिव न सम्पादित भवति] ?

अभिनव०—[प्रश्न] जीमूतवाहन आदि तो यती नहीं है ? यह कहो तो—

अभिनव०—उससे हमारा क्या [विगड़ता है] ? [क्योकि शान्तरसकेलिए आवश्यक] उसमे तत्त्वज्ञानित्व अवश्य ही है । अन्यथा देहको ही आत्मा समझने वाले [आत्मज्ञान रहित अतत्त्वज्ञानियो] को देह ही सर्वस्वभूत होता है । धर्मादिके उद्देश्यसे दूसरेके लिए उसका त्याग करना उनकेलिएसम्भव नहीं होता है । [जीमूतवाहनने परार्थकेलिए अपने शरीरका परित्याग कर दिया था इसलिए उसको तत्त्वज्ञानी अवश्य मानना चाहिए] ।

अभिनव०—[इसपर यह शङ्का की जा सकती है कि अतत्त्वज्ञानी लोग भी युद्धमे परोपकारकेलिए अपने शरीरका त्याग कर देते हैं इसलिए यह शरीरत्याग तत्त्वज्ञानी होनेका हेतु नहीं हो सकता है । इस प्रसङ्गका उत्तर ग्रन्थकार अगली पक्तियोमे इस प्रकार देते हैं कि] युद्धमें भी शत्रुको पराजित करनेकेलिए प्रवृत्त होनेसे [परोपकारकेलिए] शरीरके परित्यागका प्रयत्न नहीं किया जाता है । [इसी प्रकार दिव्यदेहकी प्राप्तिकेलिए भृगुपतन अर्थात् पर्वत शिखरसे गिर कर प्राण देनेका जो उल्लेख पुराणो आदिमे मिलता है उस] भृगुपतन आदिमे भी उत्तम दूसरे शरीरकी प्राप्तिकी इच्छा ही प्रधान रूपसे रहती है । इसलिए परोपकारकेलिए उपदेश दानसे लेकर शरीर त्याग पर्यन्त जितनी भी चेष्टाए हैं वे बिना तत्त्वज्ञानके सम्भव नहीं हो सकती हैं । इसलिए वे [जीमूतवाहन आदि] भी तत्त्वज्ञानी ही हैं ।

'तत्त्वज्ञानिना सर्वेष्वाश्रमेषु मुक्ति' इति स्मार्तेषु श्रुतौ च । यथोक्तम्—

देवार्चनरतस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रिय· ।
श्राद्धं कृत्वा ददद् द्रव्य गृहस्थोऽपि हि मुच्यते ।। इति ।।

केवल परार्थाभिसन्धिजाद्धर्मात्, परोपकारात्मकफलत्वेनैवाभिसहितात् पुनरपि देहस्य तदुचितस्यैव प्रादुर्भावो वोधिसत्त्वादीना तत्त्वज्ञानिनामपि ।

मोक्ष और तत्त्वज्ञानकेलिए सन्न्यास आवश्यक नहीं—

ज्ञानमार्गके समर्थक वेदान्तियोका यह सिद्धान्त है कि मोक्षकी प्राप्ति केवल तत्त्वज्ञान से ही हो सकती है। और तत्त्वज्ञानके अधिकारी केवल सन्यासी ही हो सकते हैं। अभिनवगुप्त इस सिद्धान्तसे सहमत नही है। अत उसका खण्डन करनेकेलिए इस प्रश्नको उठाते हैं कि—

जीमूतवाहन आदिको तत्त्वज्ञानी माना जाय तो उनको मोक्षकी प्राप्ति भी होनी चाहिए। परन्तु मोक्ष बिना सन्न्यासके नही हो सकता है। जीमूतवाहन आदि गृहस्थोको मोक्ष प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर ग्रन्थकार अगली पक्तिमें यह देते हैं कि—

अभिनव०—तत्त्वज्ञानियोंको सब आश्रमोमें मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। यह बात स्मृतियोमे और श्रुतियोमें भी पाई जाती है। जैसा कि कहा गया है।

अभिनव०—देवताकी अर्चनामे सदा लगा रहने वाला, तत्त्वज्ञानको प्राप्त, अतिथि सेवा करने वाला, श्राद्ध करके द्रव्यका दान करने वाला गृहस्थ भी मोक्षको प्राप्त होता है।

अभिनव०—[इस प्रकारके वचनोके अनुसार गृहस्थोकी भी मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। अन्तर केवल इतना है कि] परोपकार रूप फलकी कामनासे [अर्थात् सकाम कर्म द्वारा] किए गए एवं परार्थसाधन के अभिप्राय उपार्जित धर्मके द्वारा वोधिसत्व आदि तत्त्वज्ञानियोको फिर दुवाराभी उनके अनुरूप शरीर आदिकी प्राप्ति देखी जाती है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि तत्त्वज्ञान होनेपर भी साधक कुछ समय तक जीवित रहता है। उस समय वह जो कुछ कार्य करता है वह प्राय निष्काम भावसे ही करता है। इसलिए उससे नवीन कर्माशय या भोगजनक सस्कार उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए इस शरीरका नाश होनेके बाद नवीन जन्मके उत्पादक सस्कार आदिके न रहनेसे वह सदाके लिए मुक्त हो जाता है। परन्तु तत्त्वज्ञान हो जानेपर भी जब साधक परोपकारकी कामनासे सकाम धर्म करता है तब उस सकाम कर्मसे उत्पन्न धर्मके कारण उनके अगले जन्मकी उत्पादक सामग्री सगृहीत हो जाती है। अत एव इस प्रकारके साधकोको जिनको कि बौद्ध धर्ममें 'बोधिसत्व' कहा जाता है फिर दुबारा जन्म धारण करना होता है। इसलिए गृहस्थ एव सन्यासियोके मोक्षमें केवल इतना अन्तर है। सन्यासियोको तत्त्वज्ञानके बाद सकाम धर्म करनेकी आवश्यकता नहीं होती है इसलिए वे सदाके लिए मुक्त हो जाते हैं। गृहस्थ साधक तत्त्वज्ञान हो जानेपर भी परोपकार आदिकी भावनासे सकाम कर्म भी कर जाते हैं जिनके कारण कुछ समय तक उनको मोक्ष जैसा सुख तत्त्वज्ञानके कारण प्राप्त होता है परन्तु सकाम कर्म जन्य सस्कारके कारण फिर दुबारा देह धारण करना होता है। साख्यादिमें ऐसे लोगोंको 'विदेह' या 'प्रकृतिलीन' कहा है।

'अन्येष्वपि विश्रान्तिलाभ 'स्वभावौचित्यात्। यथा रामस्य 'वीराङ्ग पितुराज्ञा 'पालयत । एव शृङ्गाराद्येष्वपि मन्तव्यम्। अत एव शान्तस्य स्थायित्वेऽप्यप्राधान्य जीमूतवाहने। त्रिवर्गसम्पत्तेरेव परोपकृतिप्रधानाया फलत्वात्। अनेनैवाशयेन नाटक-लक्षणे वक्ष्यते 'ऋद्धिविलासादिभिर्गुणै' [१८-११] इति। अत्रैव हि ऋद्धिविलास प्रधानमर्थकामोत्तर सर्वं चरित सकललोकसवादसुन्दरप्रयोजन नाटके विनिवेशयित-व्यमित्युक्तम्। एतच्च तत्रैव वर्णयिष्याम । अनेनैव चाशयेन न शान्ते कश्चन मुनिना ऋद्धयङ्गको विनियोक्ष्यते। तेन 'ऋद्धयङ्गकविनियोगाभावात् तदसत्त्वमिति प्रत्युक्तम्।

अन्ये तु जीमूतवाहन 'कस्ते पुत्र ! त्राता भविष्यति' इति [नागा० ४-६] शरणा र्थिनी वृद्धामेव त्रातवान्। शक्तिश्चास्य न काचित्, परहिसा च न काचिदित्येवमाहु।

अभिनव०—[इसी प्रकार] अन्यो [अर्थात् अन्यरसो] मे भी [कर्तव्यभावनासे अपने कर्तव्यका पालन करने वालोको कर्तव्य पालनके बाद अपने कार्यके] स्वभावके औचित्यके कारण सुखकी प्राप्ति होती है। जैसे वीररसकी अगभूत पिताकी आज्ञा पालन करने वाले रामको [बनवासके सारे कष्टोके उठानेपर भी शाति एवं सुखकी प्राप्ति हुई थी]। इसी प्रकार शृङ्गार आदिमेभी [आसक्तिहीन होकर केवल कर्तव्य भावनासे उनका भोग करनेसे विशेष प्रकारके सुख एव शातिकी प्राप्ति हो सकती है] यह समझना चाहिए। इसलिए [नागानन्द नाटकके नायक] जीमूतवाहनमे परोपकार प्रधान [धर्म अर्थ काम रूप] त्रिवर्गकी प्राप्ति ही फल रूपसे अभीष्ट होनेसे [और मोक्षके फलत्वेन अभीष्ट न होनेसे] शान्तका स्थायित्व होनेपर भी उसका प्राधान्य नहीं है। इसी अभिप्रायसे नाटकके लक्षणमे 'ऋद्धि विलास आदि गुणोसे' इत्यादि कहा जायगा यहां [१८-११ मे] ही ऋद्धि एव विलास प्रधान अर्थ तथा काममय सब सहृदयोके हृदयकी भावनाके अनुसार सुन्दर प्रयोजन वाले सब चरित्रोको नाटकमे प्रस्तुत करना चाहिए यह कहा गया है। इस बातको वहीं [नाटकलक्षणके प्रसङ्गमे १८-११ की व्याख्यामे] कहेगे। और [नाटकके लक्षणसे ही शान्तरसमेभी ऋद्धिके अङ्ग आजाते हैं] इसी अभिप्रायसे भरत मुनिने शान्तरसमे किन्ही ऋद्धयङ्गोका विनियोग नहीं किया है। इसलिए [शान्तरसमे] ऋद्धिके अङ्गोका विनियोग न किए जानेसे [शान्तरसमे] उनका अभाव है यह [कथन] इस युक्तिसे खण्डित हो जाता है।

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहां तक यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि परोपकार विषयक इच्छा एव उत्साह ही शान्तरसका अन्तरङ्ग होता है। इसीलिए इसको दयावीर या धर्मवीरके नामसे भी कहते हैं। अब अन्य आलोचकोका मत देकर उसका निराकरण करते हैं

अभिनव०—[उत्साहको शान्तरसका अन्तरङ्ग सहायक न मानने वाले] दूसरे लोग यह कहते हैं कि [नागानन्द नाटकमे गरुडके आहारके लिए आए हुए नागकी

१ तत्त्वज्ञानिनामपि। २ विश्रान्तिलाभस्वभाव। ३ वीरोऽङ्ग। ४ पालयितु। ५ जात्यङ्गक। ६ चेदिति।

तच्चानुमतमेव। न हि बोधिसत्त्वाना पुनरप्युत्थानात्मकजीवितमभिसन्धानानुप्रविष्ट शक्तिश्चेति ।

तत्सिद्ध दयालक्षणो ह्युत्साहो ऽत्र प्रधानम्। अन्ये तु व्यभिचारिणो यथायोग भवन्तीति। यथोक्त 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि सस्कारेभ्य' [योगसूत्र ४–२७] इति। अत एव निश्चेष्टत्वादनुभावाभाव इति प्रत्युक्तम्। यदा तु पर्यन्तभूमिकालाभे हेतुभावाभावस्तदास्याप्रयोज्यत्वम् ।

माता कहती है] 'कस्ते पुत्र ! त्राता भविष्यति' हे पुत्र ! जब तुम्हारे राजाने ही तुम्हारी रक्षा न की और तुम्हे गरुड़के आकारकेलिए भेज दिया तब] हे पुत्र ! तेरी रक्षा [अब और] कौन करेगा इस प्रकार कह कर शरणकी प्रार्थना करने वाली वृद्धा [नाग-माता] की ही जीमूतवाहनने रक्षाकी है और उस [रक्षा कार्य] मे इस [जीमूत वाहन] की कोई शक्ति [अर्थात् बलसम्पन्न कार्य] दिखलाई नहीं देती है और न कोई शत्रु-वधादि [रूप परहिंसा] दिखलाई देती है। [शक्तिका प्रयोग एव शत्रुवधादि रूप परहिंसा ये दोनो बातें तो वीर रसमे अवश्य होनी चाहिए। नागानन्दमे ये दोनो बातें नहीं है तब उसे धर्मवीर या दयावीर नाम क्यो दिया जा रहा है। यह प्रश्न है] ।

अभिनव०—[इसका उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि] यह बात हम भी मानते हैं परन्तु बोधिसत्त्वोके मनमें [शत्रुवध करके] पुन अभ्युदय प्राप्त करनेका भाव नहीं रहता है। [इसलिए] शक्तिका प्रयोग भी उनको अभीष्ट [अभिसन्धानानुप्रविष्ट] नहीं होता है। [इसलिए जीमूतवाहनके व्यवहारमे ये दोनो बातें नहीं पाई जाती हैं तो कोई अनुचित या असगत बात नहीं है] ।

अभिनव०—इसलिए यह सिद्ध हो गया कि यहाँ [नागानन्द या शान्तरसमें दया रूप उत्साह ही प्रधान है। और अन्य व्यभिचारिभावभी यथायोग रहते ही हैं। जैसा कि [योगदर्शन ४-४७ सूत्रमे] कहा है कि 'उस समाधिके छिद्रोमे [अर्थात् समाधिके खुलनेपर बीच-बीचमे] सस्कारोंके कारण अन्य ज्ञानभी होते रहते हैं'। इसलिए [शान्तरसके] व्यापार शून्य होनेके कारण [उसमें] अनुभावोका अभाव है [अर्थात् शान्तरसके अनुभाव आदि नहीं बनते हैं यह जो कहा गया था] इसका भी खण्डन हो जाता है। [जीमूतवाहनकी मन स्थितिमे जो शान्तरस पाया जाता है वह उत्साह-शून्य निश्चेष्ट शान्तरस नहीं है। अपि तु उसके भीतर दूसरेकी रक्षाकेलिए अपने प्राण तक दे डालनेका प्रबल उत्साह है और उसके अनुसार वह व्यापार भी करता हुआ दिखलाई दे रहा है। यह बोधिसत्वोंके शान्त रसकी स्थिति है] और जब [मोक्ष प्राप्तिकी] अन्तिम भूमिकामें पहुच जानेपर [उत्साह आदि सभी] भावोंका अभाव हो जाता है तब यह [शान्तरस] अप्रयोज्य [अर्थात् अनभिनेय] हो जाता है।

---

१ न च काकतालीयतया साम्यमुपदिशति ।

रति-शोकादावपि पर्यन्तदशायामप्रयोगस्यैव युक्तत्वात् । हृदयसवादोऽपि तथाविधतत्त्वज्ञानबीजसस्कारभाविताना भवत्येव । तद्वक्ष्यति—'मोक्षे चापि विरागिण' । [ना० २७-५८] इति[1] ।

ननु तादृशि प्रयोगे वीरस्य क आस्वाद ?

उच्यते—यत्राय निबध्यते तत्रावश्य पुरुषार्थोपयोगि शृङ्गारवीराद्यन्यतमोऽस्त्येव तन्निष्ठस्तेषामास्वाद । यत्रापि प्रहसनादौ हास्यादे प्रधानता तत्राप्यनुनिष्पादितरसान्तरनिष्ठ एवास्वाद[2] ।

इस पर शान्तरसके विरोधियोकी ओरसे यह कहा जा सकता है कि हम भी तो यही कहते हैं कि शान्तरसका अभिनय सम्भव नही है इसलिए उसका मानना व्यर्थ है । इस शङ्काको मनमे लाकर ग्रन्थकार उसका अगली पक्ति यह समाधान करते हैं कि पर्यन्त भूमिकामे केवल शान्त रस ही व्यापार-शून्य और अनभिनेय नही होता है अपितु—

अभिनव०—पर्यन्त दशामे रति और शोक आदिका भी अनभिनेयत्व ही उचित होता है । [अर्थात् सम्भोग-शृङ्गारकी चरम परिणति भी एक दम व्यापार-शून्यता मे ही होती है इसी प्रकार विप्रलम्भ-शृङ्गार तथा करुण आदि अन्य रसोकी चरम परिणति भी व्यापारशून्यतामे ही होती है । इसलिए उस स्थितिमे उनका भी अभिनय सम्भव नहीं है । जब उनको रस मानते हो तो शान्त रसको न माननेका कोई हेतु नहीं हो सकता है] । हृदयकी तन्मयता भी [जैसे रति आदिके सस्कारोके कारण शृङ्गारादि अन्य रसोमे होती है इसी प्रकार] उस तरहके तत्त्वज्ञानके बीजभूत सस्कारो से सस्कृत अन्त करण वालोकी [शान्तरसमे भी] होती ही है । जैसा कि आगे कहेगे कि [शान्तरसकी चरम स्थितिमे] 'मोक्षके विषयमे भी वैराग्य युक्त हो जाते हैं' ।

अभिनव०—[प्रश्न] इस प्रकारके [शान्तप्रधान] नाटकोमे वीर रसके आस्वाद की क्या सङ्गति होती है ?

अभिनव०—[इस प्रश्नके उत्तरमे] कहते हैं कि—जहां इस [शान्तरस] का प्रयोग किया जाता है वहा पुरुषार्थोपयोगी शृङ्गार वीरादिमेसे कोई एक अन्य रस अवश्य रहता है । और उसी [प्रधान भूत शान्तरस] मे उन [शृङ्गार या वीर रस रस] का भी आस्वाद होता है । जैसे कि जिन प्रहसन आदिमे हास्यादिकी प्रधानता होती है वहा भी [हास्यादिके] बादमे [चरमानुभूतिके रूपमे] प्रतीत होने वाले अन्य रसमे ही [मुख्य रूपसे] आस्वाद होता है । [इसी प्रकार जहा शान्त रस और उसके साथ शृङ्गार वीर आदिमेंसे कोई अन्य रस भी रहता है वहा अन्तमे निष्पन्न होने वाले शृङ्गार या वीर रसमे ही काव्य या नाटकका चरमास्वाद होता है] ।

---

१ सर्वस्य त्वित्यत्र हृदयसवाद [दो] भयानके वीरप्रकृतेरभावात् ।

२ एवास्वादभिन्नादिकार्यम् धिकादोऽप्युद्देशे दैव रूपकभेदचिन्तन निमित्तमिति केचित् ।

तस्मादस्ति शान्तो रसः। तथा च चिरन्तनपुस्तकेषु 'स्थायिभावान् रसत्व-मुपनेष्यामः' इत्यनन्तरं 'शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मकः' इत्यादि शान्तलक्षणं पठ्यते।

तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादो विषयेभ्यो[1] विपरिवृत्या, तन्मुख्यता लाभात्। केवलं वासनान्तरोपहित इति। अस्य सर्वप्रकृतित्वमभिधाय पूर्वमभिधानम्।

लोके च पृथक् पृथक् सामान्यस्य न गणनमिति स्थाय्यस्य पृथङ्-नोक्तः[2]। सामान्यमपि तु विवेचकेन पृथगेव गणनीयमिति विवेचकाभिमतसामाजिकास्वादलक्षण-प्रतीतिविषयतया स पृथग्भूत एव।

अभिनव०—इसलिए शान्तरस है यह बात सिद्ध हो गई। इसीलिए [भरत नाट्यशास्त्रकी] प्राचीन पुस्तकोमे [पृष्ठ २९९ पर 'स्थायिभावाश्च रसत्वमुपनेष्याम'] स्थायिभावोको रसत्वको प्राप्त करनेका वर्णन करेंगे इसके बाद 'शम रूप स्थायिभावा-त्मक रस शान्त रस होता है' इस रूपमें शान्त रसका लक्षण किया गया है।

अभिनव०—उनमेसेसब रसोका चरम आस्वाद मे विषयोसे विमुखता द्वारा उस [शान्तरस] को प्रमुखता प्राप्त हो जानेके कारण प्राय शान्तरूप [निर्व्यापार रूप] ही मे होता है। [इसका अभिप्राय यह है कि जैसे सम्भोगकी चरमा-वस्थामे समस्त कामव्यापारोकी उपरति हो जाती है। कामव्यापारोकी उपरति होने पर ही चरमास्वाद होता है इसी प्रकार सभी रसोका चरमास्वाद विषयोसे नहीं अपितु विषयोकी उपरतिमे ही होता है। इसलिए सभी रसोका आस्वाद प्राय शान्त के रूपमे ही होता है] केवल [अन्तर इतना होता है कि] उन [अन्य रसो]की मुख्यता होनेके कारण अन्य वासनाओंसे उपहित रूपमे होता है। इसीलिए इस [शान्तरस] को सब रसोकी प्रकृति [मूलभूत] बतला कर सबसे पहिले [शान्तरस] कहा गया है।

शान्तरसके विषयमें विद्वानोंकी विचारधारामें बड़ा वैषम्य पाया जाता है। एक ओर जहा कुछ लोग शान्तरसका अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करना चाहते है वहा अभिनवगुप्त इसको सब रसोंमें प्रधान, 'रस राज' मानते हैं। उनके मतमें सारे रसोंकी उत्पत्ति शान्तरसमें ही होती है और उसीमें सब रसोका लय होता है। उनके अनुसार भरत नाट्यशास्त्र की प्राचीन पुस्तकोंमें उसे सब रसोंकी प्रकृति बतलाकर सबसे पहिले उसका निरूपण किया गया था। वर्तमान पुस्तकोंमें वह उपलब्ध नही है। शान्तरसके स्थायिभावके अलग न गिनाए जानेका कारण आगे दिखलाते हैं—

अभिनव०—[सब रसोमे रहने वाले] सामान्यकी लोकमे बार-बार अलग-अलग गणना नहीं की जाती है। इसलिए इस [शान्तरस] का स्थायिभाव वहां अलग नही कहा गया है। किन्तु विवेचक पुरुषको तो सामान्यको भी अलग समझना ही चाहिए इस लिए विवेचकके अभिप्रायसे सामाजिकगत आस्वाद रूप प्रतीतिके विषय रूपमें वह [शान्तरसका स्थायिभाव] अलग होता ही है।

---

१ न विषयेभ्यो। २. पृथगुक्त।

इतिहासपुराणाभिधानकोशादौ च नव रसा श्रूयन्ते। श्रीमत्सिद्धान्तशास्त्रेष्वपि। तथा चोक्तम्—

"अष्टानामिह देवाना शृङ्गारादीन् प्रदर्शयेत्।
मध्ये च देवदेवस्य शान्त रूप प्रकल्पयेत्॥" इति।

तस्य च वैराग्यससारभीरुतादयो विभावा। स हि तैरुपनिवद्धैर्विज्ञायते। मोक्ष-शास्त्रचिन्तादयोऽनुभावा। निर्वेद-मति-स्मृति-धृत्यादयो व्यभिचारिण। अत एव ईश्वरप्रणिधानविषये भक्ति-श्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहद्यनुप्रविष्टेऽस्यैवाङ्गमिति न तयो पृथग् रसत्वेन गणनम्। अत्र सग्रहकारिका—

मोक्षध्यात्मनिमित्तस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसयुक्त।
नि श्रेयसधर्मयुत शान्तरसो नाम विज्ञेय॥

शान्तरसके समर्थनमे प्रमाण—

इस प्रकार यहाँ तक यह सिद्ध हो गया कि पूर्वोक्त आठ रसोके अतिरिक्त नवाँ शान्तरस भी अवश्य मानना चाहिए। इसी बातको अन्य शास्त्रोके वचनके आधारपर सम्पुष्ट करते हैं—

अभिनव०—इतिहास, पुराण, अभिधान-कोश [धातुकोश और नामकोश दो प्रकारके कोश हो सकते हैं। उनमें यहाँ नामकोशका ग्रहण अभीष्ट होनेसे 'अभिधान-कोश' शब्दका प्रयोग किया गया है] आदिमे नव रसोका वर्णन पाया जाता है। और श्रीमत्सिद्धान्तशास्त्र [अर्थात् हमारे गुरुदेव श्री उत्पलपादाचार्यके प्रत्यभिज्ञादर्शन] मे भी [नव रसोका सिद्धान्त माना जाता है]। जैसा कि कहा है—

अभिनव०—यहाँ आठो देवताओके शृङ्गारादिका प्रदर्शन करे और उनके बीचमे [उन आठोसे भिन्न] महादेवके शान्त रूपकी रचना करे।

अभिनव०—[इससे सिद्ध होता है कि शान्तरसका मानना शास्त्रकारोकोभी अभिमत है]। वैराग्य और ससारसे पलायन आदि उस [शान्तरस] के विभाव हैं। उन [वैराग्य आदि] के [उपनिवन्धन] वर्णनसे उस [शान्तरस] का ज्ञान होता है। मोक्ष शास्त्र[उपनिषदादि] का विचार आदि उसके अनुभाव [कार्य] हैं। निर्वेद स्मृति धृति आदि व्यभिचारिभाव हैं। इसलिए स्मृति धृति उत्साहादिसे युक्त ईश्वर-प्रणिधान विषयक भक्ति तथा श्रद्धा भी इसी [शान्तरस] के अङ्ग रूप है। इस कारण उनकी अलग रस रूपमे गणना नही की गई है। [अर्थात् भक्तिरसको अलग नहीं माना गया है। शान्तरसमे ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है] इस विषयमे सग्रह कारिका [निम्न प्रकार] है—

अभिनव०—मोक्ष रूप अध्यात्म [की प्राप्ति] का कारण [अथवा मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्यसे प्रवृत्त] तत्त्वज्ञान रूप हेतुसे युक्त, और नि श्रेयस् रूप फलसे युक्त शान्तरस समझना चाहिए।

---

१ स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेभ्योऽन्ययैवागम्।

विभावस्थाय्यनुभावयोग क्रमाद्विशेषणत्रयेण दर्शितः ।

स्व स्व निमित्तमासाद्य शान्ताद् भाव प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ।।

इत्यादिना रसान्तरप्रकृतित्वमुपसहृतम् ।

अभिनव०—[इस कारिकामें आए हुए 'मोक्षाध्यात्मनिमित्तः' इस पदसे] विभाव, ['तत्त्वज्ञानार्थहेतु संयुक्त.' इस पदसे] स्थायिभाव, तथा [नि श्रेयसधर्मयुत.' इस विशेषण के द्वारा शान्तरसके] अनुभावोका सम्बन्ध क्रमसे तीन विशेषणो द्वारा दिखलाया गया है ।

अब अगली कारिकामें फिर शान्तरस ही अन्य सब रसो की प्रकृति है इस बातको कहते हैं—

अभिनव०—अपने-अपने अनुरूप कारणको प्राप्त करके शान्त [रस] से ही [रत्यादि अन्य सब] भाव उत्पन्न होते हैं और उस निमित्तके समाप्त हो जानेपर [अर्थात् रत्यादिके कारणोके निवृत्त हो जानेपर] फिर शान्तमें ही [रत्यादि सारे भाव] लीन हो जाते हैं ।

अभिनव०—इत्यादि [कारिका] से [शान्त रस ही] अन्य सब रसोका मूलभूत [प्रकृति] है इस बातका उपसंहार [निर्णय] किया गया है । [इसलिए शान्त रस का न केवल मानना ही अनिवार्य है अपितु उसको अन्य सब रसोकी अपेक्षा प्रधान रस मानना चाहिए । यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है] ।

इस पर शान्तरसके माननेके विरोधियोकी ओरसे यह शङ्का की जा सकती है कि रूपको के भेदोमें 'डिम' नामक एक भेद भी माना गया है । उसका लक्षण नाट्यशास्त्रके १७वें अध्यायमें आगे किया गया है । सूत्रकारने उसको 'दीप्तरस काव्ययोनि' कहा है । अर्थात् उसमें रौद्ररसका प्राधान्य रहता है । उसके साथ ही हास्य तथा शृङ्गारको छोड कर उसे षड्रसयुक्त बतलाया है । अब यदि शान्तरसको भी माना जाय तो हास्य शृङ्गार दो को छोड देनेपर 'डिम' में सात रस रहने चाहिए । परन्तु भरतमुनिने शृङ्गार तथा हास्यको छोड कर 'डिम' में केवल छ रसोंको माना है । इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुल रसोकी सख्या आठ ही होनी चाहिए नौ नहीं । अत एव शान्तरसको अलग रस नहीं माना जा सकता है ।

शान्तरसको मानने वाले अभिनवगुप्त अगले अनुच्छेदमें इस शङ्काका उत्तर देनेका यत्न करते हैं । उनका कहना यह है कि रौद्ररसप्रधान डिममें बलात् सेव्यमान शृङ्गार और उसका सहवर्ती हास्य ये दोनो रस तो सम्भावित हो सकते हैं परन्तु शान्तरस तो उनसे सर्वथा विपरीत है इसलिए उसकी 'डिम' में कोई सम्भावना ही नहीं है । शृङ्गार और हास्यकी रौद्ररस—प्रधान 'डिम' में सम्भावना हो सकती है परन्तु उसका रहना अभीष्ट नहीं है इसलिए शृङ्गार और हास्यका 'डिम' के लक्षणमें निषेध किया गया है । शान्तकी उसमें वैसे भी सम्भावना नहीं है इसलिए उसका निषेध अलगसे करनेकी आवश्यकता नहीं थी । इसलिए नामग्राह पूर्वक उसका निषेध नहीं किया गया है । परन्तु षड्रसयुक्त कहनेसे ही उसका निषेध हो जाता है । अत रसोंकी नौ सख्या या शान्तरसको अलग रस माननेमें कोई दोष नहीं आता है ।

यत्तु डिमे हास्यशृङ्गारपरिहारेण षड्रसत्व च वक्ष्यते तत्राय भाव '–'दीप्तरस-काव्ययोनि, [१८–८३] इति भाविना लक्षणेन रौद्रप्रधाने तावद् डिमे तद्विरुद्धस्य शान्तस्य सम्भावनैव न, कि निषेधेन । शान्तासम्भवे तु, 'दीप्तरसकाव्ययोनि' इत्यनेन किं व्यवच्छेद्यम् । 'शृङ्गारहास्यवर्जम् षड्रसयुक्तम्' इति ह्यु वते कस्तत्र प्रसङ्ग ?

उनका यह भी कहना है कि 'डिम' का लक्षण शान्तरसकी सत्ता माननेमें बाधक नही अपितु साधक ही है । क्योकि 'डिम' के लक्षणमें जो 'दीप्तरसकाव्ययोनि.' कहा गया है उससे शान्तरसका ही व्यवच्छेद हो सकता है अन्य किसीका नही । इसके विपरीत यदि यह कहा जाय कि उस पदसे करुण अद्भुत आदि रसोका व्यवच्छेद किया जाता है तो यह कहना उचित नही होगा । इसके दो कारण हैं । पहिला तो यह कि 'डिम' के लक्षणमें उसको 'सात्त्वती' तथा 'आरभटी' वृत्तियोसे युक्त माना गया है । परन्तु करुण अद्भुत आदि रसोमें इन दोनोमेंसे कोई वृत्ति नही रहती है । इसलिए 'डिम' के 'सात्त्वती' तथा 'आरभटी' वृत्ति सम्पन्न होनेसे ही उसमें करुण अद्भुत आदि रसोका व्यवच्छेद हो जाता है । शान्तरसमें यद्यपि 'आरभटी' वृत्ति नही होती है किन्तु 'सात्त्वती' वृत्ति तो रहती ही है । इसलिए उसका व्यवच्छेद करनेकेलिए इस 'दीप्तरस-काव्ययोनि' विशेषणकी उपयोगिता है । यह विशेषण किसी अन्यका व्यवच्छेदक न होकर शान्तरस का ही व्यवच्छेदक होता है । इसलिए 'डिम' का लक्षण शान्तरसका साधक ही है बाधक नही । तीसरी बात यह भी है कि यदि उस पदसे किसी अन्यरसका व्यवच्छेद मानें तो 'डिम' को जो 'षड् रसयुक्त' माना गया है वह नही बनता है । क्योकि उसमें शृङ्गार और हास्यरसका तो शब्दत निषेध कर दिया गया है । 'शृङ्गारहास्यवर्ज' इस विशेषण के अनुसार शृङ्गार और हास्यकी सम्भावना तो वहां समाप्त ही हो जाती है । अब यदि 'दीप्तरसकाव्ययोनि' इस विशेपणसे करुण अद्भुत आदि किसी अन्य रसको भी निकाल दिया जाता है और शान्तरसकी सत्ता नही मानी जाती है तब डिममें ६ रस नही बनते हैं उनकी सख्या पांच या और कम भी रह जाती है । इसलिए भी 'डिम' का लक्षण शान्तरसकी सत्ता का साधक है बाधक नही । इसी बातको ग्रन्थकार अगली पक्तियोंमें कहते हैं—

अभिनव०—और जो 'डिम' मे हास्य तथा शृङ्गारको छोड़कर 'षड् रसत्व' आग कहा जायगा उसका यह अभिप्राय है कि—'दीप्तरसकाव्ययोनि.' इत्यादि आगे किए जाने वाले ['डिम' के] लक्षणके अनुसार रौद्ररसप्रधान 'डिम' मे उसके विरोधी शान्तरसकी सम्भावना ही नहीं है इसलिए उसका निषेध करना भी व्यर्थ है । [इस-लिए उसका निषेध नहीं किया गया है । हास्य और शृङ्गारके साथ निषेध्य रूपमे शान्तरसका नाम न लेनेका यही कारण है । शान्तका नाम न लेनेसे उसका अभाव नहीं मानना चाहिए । क्योकि] शान्तरसका अभाव होनेपर तो 'दीप्तरसकाव्ययोनि'. इस [विशेषण] से किसका व्यवच्छेद किया जायगा ? [अन्य किसीका व्यवच्छेद इस विशेषणसे सम्भव ही नहीं है । क्योकि] 'शृङ्गार तथा हास्यसे रहित और छ' रसोसे युक्त' [डिम होता है] ऐसा कहने पर उसमे और किसकी प्राप्ति होती है ? [जिसका निषेध करनेकेलिए 'दीप्तरसकाव्ययोनि, यह विशेषण दिया है] ।

ननु 'करुणाद्भुतप्राधान्यमनेन पादेन व्यवच्छेद्यते। नैतत्, 'सात्त्वत्यारभटीवृत्तिसम्पन्नः' [१८-८८] इत्यनेनैव तन्निरासात्। शान्ते तु सात्त्वत्येव वृत्तिरिति तद्व्यवच्छेदकमेवैतत्। तेन डिमलक्षणं प्रत्युत शान्तरसस्य सद्भावे लिङ्गम्।

शृङ्गारस्तु प्रसभं सेव्यमानः सम्भाव्य एव तदङ्गं च हास्य इति तयोरेव प्रतिषेधः कृतः। प्राप्तत्वात् सर्वसाम्याच्च। विशेषतो वर्णदेवताभिधानमनुचितमप्यस्य तत्कल्पितमिति ज्ञेयम्। उत्पत्तिस्तु शान्तस्यापि दर्शितैव। 'अत एवास्य रसस्य यमनियमेश्वरप्रणिधानाद्युपदेशेऽनुयोगितया' महाफलत्वं, सर्वप्राधान्यं, इतिवृत्तव्यापकत्वं चोपपन्नमित्यलमतिप्रसङ्गेन।

अभिनव०—[इसपर पूर्वपक्षी यह शंका करता है कि] अच्छा इस पदसे करुण अद्भुत रसके प्राधान्यका निवारण किया जाता है [यह मानें तो क्या हानि है? इसका उत्तर देते हैं कि] यह ठीक नहीं है। [क्योंकि 'डिमके' लक्षणके अनुसार] 'सात्त्वती तथा आरभटी वृत्तियोंसे युक्त' इस [विशेषण] के कारण ही [इन दोनों वृत्तियोंसे रहित] उन [करुण अद्भुत रसो] का ['डिम' मे] निवारण हो जानेसे ['दीप्तरसकाव्ययोनि' विशेषणसे उनके निवारण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती है] शान्तरसमे तो सात्त्वती वृत्ति ही रहती है [इसलिए] उसका ही व्यवच्छेदक यह ['दीप्तरसयोनि' आदि विशेषण] है। इसलिए 'डिम' का लक्षण शान्तरसका साधक ही होता है।

अभिनव०—बलात्कार पूर्वक सेवन किया जानेवाला शृङ्गार ['डिम' में] सम्भावित ही हो सकता है। और हास्य उसका अङ्ग है। इसलिए उन्हीं दोनोका ['शृङ्गारहास्यवर्जं' इस पदसे शब्दतः] निषेध किया गया है। [ऊपर कही हुई युक्तिसे 'डिम' मे] उनकी प्राप्ति होनेसे और [शृङ्गार हास्यके] सब [रूपको] मे समान होनेसे [भी 'डिम' मे भी उनकी प्राप्ति होनेसे उनका निषेध शब्दतः किया गया है। और शान्तरसका निराकरण 'दीप्तरसकाव्ययोनि' इत्यादि विशेषण द्वारा अर्थतः किया गया है। शान्तरसका नामतः निषेध न होनेसे उसका अभाव नहीं मानना चाहिए। अत एव शान्तरस मानना चाहिए। आत्माके स्थायिभाव होनेके कारण शान्तरसके] रंग और देवता आदिकी कल्पना अनुचित होने पर भी [अन्यरसोंकी समानताके प्रसगमें] कर ली गई है। शान्तरसकी सत्ता में युक्ति तो पहिले दिखला ही चुके हैं। इसलिए (१) इस [शान्त] रसके यम नियम ईश्वरप्रणिधान आदि [रूप योगाङ्गो] के उपदेशमें [अनुयोगी अर्थात्] आश्रय होनेसे, [उनके द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्ष रूप फलके द्वारा] (२) महाफलत्व (३) सब रसोंमे प्रधानता तथा (४) सारे इतिहासमे [इस शान्तरसकी] व्यापकता युक्तिसङ्गत है। इसलिए इसकी [सिद्धि करनेके लिए] अधिक चर्चा व्यर्थ है।

---

१. करुण-बीभत्स-भयानकप्राधान्यमनेन। २. मरयाभावो हि हास्य ग[illegible]विभावत्वेन चास्य वीर-बीभत्सौ। ३. उपदेशः अनुपयोगितया।

तत्त्वास्वादोऽस्य कीदृश ?

उच्यते—उपरागदायिभिरुत्साहरत्यादिभिरुपरक्त यदात्मस्वरूप तदेव विरलोम्भितरत्नान्तरालनिर्भासमानसिततरसूत्रवदाभातस्वरूप, सकलेषु रत्यादिपूपरञ्जकेषु तथाभावेनापि सकृद्विभातोऽयमात्मेति न्यायेन भासमान परोन्मुखतात्मकसकलदुःखजालहीन परमानन्दलाभसविदेकत्वेन काव्यप्रयोगप्रबन्धाभ्या साधारणतया निर्भासमानमन्तर्मुखावस्थाभेदेन लोकोत्तरानन्दानयन तथाविधहृदय विधत्ते ।

एव ते नवैव रसा । पुमर्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात् । तेन रसान्तरसम्भवेऽपि चाप्रसिद्धचा सख्यानियम इति यदन्यैरुक्त तत्प्रत्युक्तम् । भावाध्याये ऽपि चैतद्वक्ष्यते ।

इस प्रकार अत्यन्त विस्तारके साथ यहाँ तक ग्रथकारने शान्तरसकी सत्ता सिद्ध कर उसकी अन्य रसोकी अपेक्षा प्रधानताका सिद्धान्त स्थापित किया। अब उसका रसास्वाद किस प्रकार होता है इसका प्रतिपादन अगले अनुच्छेदमें करते हैं।

अभिनव०—इस [शातरस] के तत्त्वका आस्वाद किस प्रकार होता हे ?

अभिनव०—[इस प्रश्नका उत्तर] बतलाते हे—[उपरागदायी अर्थात्] आत्माके स्वरूपको आच्छादित करने वाले उत्साह, रति आदिसे अच्छादित जो आत्माका स्वरूप है वही [मालामे] दूर-दूर पर पिरोई हुई मणियोके बीचमेसे चमकते हुए उज्ज्वल सूत्रके समान [कभी-कभी थोडी देरकेलिए] भासित हो जानेपर रत्यादि रूप सारे उपरञ्जकोके उस रूपमे रहनेपर भी [सकृद्विभात त्वजमेकमक्षर' इत्यादि वाक्योके अनुसार] यह आत्मरूप एक बार भी प्रकाशित होकर विषयोन्मुखता रूप समस्त दुःखोके जालसे रहित और परमानन्दकी प्राप्तिके साथ अभिन्न रूपसे काव्य तथा नाटक आदिके द्वारा समान रूपसे प्रतीत होते हुए अन्तर्मुखी अवस्थाभेदसे लोकोत्तर आनन्दका प्रापक होकर हृदयको भी उस प्रकारका [आनन्दमय बना देता हे।

नौ से अधिक अन्य रसोका खण्डन—

इस प्रकार यहाँ तक शान्तरसको मिला कर नौ रसोकी सिद्धि की गई। अब इसके आगे ग्रन्थकार यह दिखलाते हैं कि इन नौ रसोके अतिरिक्त स्नेह, वात्सल्य, भक्ति, लौल्य आदि अन्य रसोको माननेकी आवश्यकता नही है।

अभिनव०—इस प्रकार वे [पूर्वोक्त] नौ ही रस होते हे। क्योकि पुरुषार्थमे उपयोगी होनेसे अथवा रञ्जनकी विशेषता [अधिकता] के कारण इतने ही रसोको मानने योग्य कहा जा सकता है। इसलिए जो किन्ही [शकुक आदि व्याख्याकारो] ने यह कहा है कि [स्नेह भक्ति आदि] अन्य रसोके सम्भव होनेपर भी प्रसिद्धि होनेके कारण ही सख्याका [अर्थात् आठ या नौ ही रस है यह] नियम है, उसका खण्डन हो जाता है। [अर्थात् वास्तव मे उक्त नौ रसोके अतिरिक्त अन्य कोई भी रस नही है] 'भावाध्याय' [अर्थात् अगले सातवें अध्याय] मे भी यह बात कहेंगे।

आर्द्रतास्थायिक स्नेहो रस इति त्वसत् । स्नेहो ह्यभिषङ्ग, स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति । तथाहि—'वालस्य मातापित्रादौ, यूनोर्मित्रजने, लक्ष्मणादौ भ्रातरि च स्नेहोदयो रतौ विश्रान्त । एव वृद्धस्य पुत्रादाविति द्रष्टव्यम् । एवंव गन्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने सरणिर्मन्तव्या । हासे वा रतौ वान्यत्र वा पर्यवसानात् । एव भक्तावपि वाच्यमिति ।

अध्यायार्थमुपसहरन् भाविनो ऽवकाश ददत् संगति प्रकटीकर्तु माह—

भरत०—एवमेते रसा ज्ञेया नव[2] लक्षणलक्षिताः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भावानामपि लक्षणम् ॥३२॥[८३]॥

इति श्री भारतीये नाट्यशास्त्रे
रसाध्याय षष्ठ ।

वात्सल्य रसका खण्डन—

अभिनव०—आर्द्रता रूप स्थायिभावसे युक्त स्नेह [नामक दशम] रस होता है यह कहना उचित नहीं है । क्योकि स्नेह एक प्रकारके आकर्षणका नाम है । वह सब [ही प्रकारका आकर्षण या स्नेह] रति या उत्साहादिमे ही समा जाता है । जैसे कि वालकका माता पिता आदिके प्रति, युवकोका मित्रोके प्रति, और लक्ष्मण आदि जैसे भाइयोंके प्रति स्नेहका उदय, रतिमें ही समाविष्ट हो जाता है । इसी प्रकार वृद्ध जनों का पुत्रादिके प्रति स्नेह [जिसको अन्य रसोको मानने वाले वात्सल्यरस नामसे कहते हैं उस] के विषयमे भी समझना चाहिए [अर्थात् उसका भी अन्तर्भाव रतिके भीतर ही हो जाता है] । गन्ध रूप स्थायिभाव वाले लौल्यरसके खण्डनमे यही पद्धति समझनी चाहिए । क्योकि हासमे अथवा रतिमे अथवा अन्य किसी रसमें उसका अन्तर्भाव हो सकता है । इसी प्रकार भक्तिरसके विषयमें भी समझना चाहिए [अर्थात् भक्तिरस अलग नहीं है । उसका भी रति मे अथवा भावमे अन्तर्भाव हो सकता है] ।

अभिनव०—अब इस अध्यायके विषयका उपसहार करते हुए, और अगले अध्यायकी अवतारणाका अवसर देते हुए [पूर्वोत्तर अध्यायोकी] सङ्गतिको प्रदर्शित करते हुए [भरतमुनि] कहते हैं—

भरत०—इस प्रकार [अपने-अपने] लक्षणोंसे लक्षित ये नौ रस समझने चाहिए । इसके आगे [अगले सातवें अध्यायमे रसोंके पूरक होनेसे] भावोंके भी लक्षण कहेंगे ।

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्रमें
रसाध्याय नामक षष्ठाध्याय समाप्त हुआ ।

---

१. बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः । यूनोर्मित्रजने रतौ । लक्ष्मणादौ भ्रातरि स्नेहो धर्ममय एव । २. शेमास्तथाष्टौ ।

एवमेते रसा ज्ञेया नवेति। समूला एवोपचारा इति दर्शगति लक्षणलक्षिता। भावादिलक्षणेन रसलक्षणमेव पूर्यते। रतिस्थायिभावप्रभव। ऋतुमाल्यादिविभावको नयनचातुर्याद्यनुभावक शृङ्गार इत्युक्तमपि साकाक्षमेव। कीदृशी हि रति, कश्च विभाव कश्चानुभाव। तेन यद्यप्याणततो भावाना लक्षणमिद प्रतिभाति वाक्यात्, तथापि वाक्यैकवाक्यतया रसलक्षणमवेदमिति अपि-शब्दस्यार्थ। इति शिवम्।

रत्यादिशक्त्यष्टकमध्यवृत्ति र्येस्य स्वहृन्मण्डलसम्प्रयोज्य।
स्थायी शिवश्चेतसि तेन वृत्ति कृता रसाध्याय इह क्रमेण॥

इति श्री महामाहेश्वराभिनवगुप्तविरचिताया नाट्यवेदविवृती
अभिनवभारत्या रसाध्याय षष्ठ समाप्त।

अभिनव०—'एवमेते' रसा इत्यादि [मूल कारिकाका प्रतीक भाग है]। 'लक्षण लक्षिता' इस पदसे यह सूचित किया है कि रस आदिका व्यवहार सहेतुक ही है। भाव आदिके लक्षणोसे रसके लक्षणकी ही पूर्ति होती है। रति स्थायिभावसे युक्त, ऋतु माल्यादि विभावोसे युक्त और नयनचातुर्य [कटाक्ष] आदि अनुभावोसे युक्त शृङ्गार रस होता है ऐसा कहनेपर भी [शृङ्गार रसका लक्षण] साकाक्ष ही रहता है [अर्थात् पूरा नहीं होता है]। क्योकि रति कैसी होती है, विभाव किसको कहते हैं, और अनुभाव क्या है [इसका ज्ञान उस शृङ्गार-लक्षणसे नही होता है]। इसलिए यद्यपि वाक्यसे सरसरी दृष्टिसे वे भावोके ही लक्षण प्रतीत होते है किन्तु वाक्यैकवाक्यतासे [अर्थात् पूर्वोत्तर अध्यायोको मिला कर विषयकी विवेचना करनेसे] ये भी रसके ही [पूरक] लक्षण हैं। यह [मूल श्लोकमे प्रयुक्त हुए] 'अपि' शब्दका अभिप्राय है। 'इति शिवम्' [यह अध्यायकी समाप्तिका सूचक है]।

अभिनव०—रति आदि आठो शक्तियोके मध्य रहने वाले और अपने हृदय-मण्डलमे प्रेरणा देने वाले शिव जिस [अभिनवगुप्त] के हृदयमे स्थायी [स्थायी भावके] रूपसे रहते हैं उस [अभिनवगुप्त] ने क्रमसे रसाध्यायकी वृत्ति बनाई है।

परम शिवभक्त श्री अभिनवगुप्त विरचित नाट्यशास्त्रकी
'अभिनवभारती' नामक वृत्तिमें
रसाध्याय नामक षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ।

— (०) —

उत्तरप्रदेशस्थ 'पीलीभीत' मण्डलान्तर्गत 'मकतुल' ग्रामनिवासिना
श्री शिवलाल वख्शी महोदयाना तनुजनुषा,
वृन्दावनस्थ गुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्येन, तत्रत्याचार्यपदमधितिष्ठता,
एम० ए० इत्युपपदधारिणा, विद्यामार्तण्डेन
श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिना विरचिते
'अभिनवभारती-सञ्जीवनभाष्ये' षष्ठोऽध्याय समाप्त।
समाप्तश्चाय ग्रन्थभाग।

परिशिष्ट [१]

अभिनवभारती के १, २, ६ अध्यायो में आए हुए उद्धरणो का अकारादि क्रम से, आकर ग्रन्थो सहित सूचीपत्र

पृष्ठ सख्या	उद्धरण	आकर ग्रन्थ	स्थान
४७२	अञ्जवि हरी चमक्कइ	..	.
५२१	अद्यैवावा रणमुपगतो	वेणीसहार	४-१६
४३२-४८	अविरुह्य परा कोटिं	काव्यादर्श	२,२८३
३६१	अन्तर्नेपथ्यगृह	वार्तिककृत्	.
४६७	अभिधाभावना चान्या		.
५४६	असमाप्तजिगीषस्य	राजतरगिणी, शिशुपालवध	४-४८
५५८	अप्रयुक्ते दीर्घ सम्भवत्	मीमासायाम्	...
२५३	अस्याः सर्ग विधौ	विक्रमोर्वशीयम्	१-१०
६३६	अष्टानामिह देवानाम्	सिद्धान्तशास्त्रम्	...
४९१	आत्तमात्तमधिकान्तमुक्षितु	कालिदास [रत्नक]	...
६२९	आत्मान गोपायेत्	गौतमधर्म-सूत्र	९-३५
२१४	आत्मारामा विहितरतयो	वेणीसहार	१-२३
४६८	आम्नायसिद्धे	अभिनवभारती	.
२१६	आलीढस्थितटङ्कितस्य		.
२१५	आविल पयोधराग्रम्	विक्रमोर्वशी	५-८
५६३	आशाबन्ध कुसुमसदृश	मेघदूत	१-१०
५९०	आ गीतै पतिगर्वं	..	
५५४	आहूतोऽपि सहायैः	..	...
५६७	ईरिसस्स कण्णुप्पन्दनस्स	.	...
५२२	उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता	तापसवत्सराज	२-१६
५०४	उद्यान कान्ता चन्द्राद्या	काव्यकौतुक	.
५५०	उपपरिसर गोदावर्या	भट्टेन्दुराज	..
४६८	ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य	अभिनवभारती	..
५४४	एकस्मिन् शयने	अमरुक	२३
५४३	एतस्मान्मा कुशलिनमभिज्ञान	मेघदूत	२-५५
५५२	कतिचिदहानि वपुरभूत	विक्रमोर्वशी	५-८
५२३	कर्णस्यात्मजमग्रत	वेणीसहार	५-५
२८,२९	कामजो दशको गणः	मनुस्मृतिः	७-४७
४९०	केली कन्दलितस्य	...	...

एवमेते रसा ज्ञेया नवेति । समूला एवोपचारा इति दर्शयति लक्षणलक्षिता । भावादिलक्षणेन रसलक्षणमेव पूर्यते । रतिस्थायिभावप्रभव । ऋतुमाल्यादिविभावको नयनचातुर्याद्यनुभावक शृङ्गार इत्युक्तमपि साकाक्षमेव । कीदृशी हि रति, कश्च विभाव कश्चानुभाव । तेन यद्यप्यापाततो भावाना लक्षणमिद प्रतिभाति वाक्यात्, तथापि वाक्यैकवाक्यतया रसलक्षणमवेदमिति अपि-शब्दस्यार्थ । इति शिवम् ।

रत्यादिशक्त्यष्टकमध्यवृत्ति र्यस्य स्वहृन्मण्डलसम्प्रयोज्य ।
स्थायी शिवश्चेतसि तेन वृत्ति कृता रसाध्याय इह क्रमेण ॥

इति श्री महामाहेश्वराभिनवगुप्तविरचिताया नाट्यवेदविवृतौ
अभिनवभारत्या रसाध्याय षष्ठ समाप्त ।

अभिनव०—'एवमेते' रसा इत्यादि [मूल कारिकाका प्रतीक भाग है] । 'लक्षण लक्षिता' इस पदसे यह सूचित किया है कि रस आदिका व्यवहार सहेतुक ही है । भाव आदिके लक्षणोसे रसके लक्षणकी ही पूर्ति होती है । रति स्थायिभावसे युक्त, ऋतु माल्यादि विभावोसे युक्त और नयनचातुर्य [कटाक्ष] आदि अनुभावोसे युक्त शृङ्गार रस होता है ऐसा कहनेपर भी [शृङ्गार रसका लक्षण] साकाक्ष ही रहता है [अर्थात् पूरा नही होता है] । क्योकि रति कैसी होती है, विभाव किसको कहते हैं, और अनुभाव क्या है [इसका ज्ञान उस शृङ्गार-लक्षणसे नही होता है] । इसलिए यद्यपि वाक्यसे सरसरी दृष्टिसे वे भावोके ही लक्षण प्रतीत होते है किन्तु वाक्यैकवाक्यतासे [अर्थात् पूर्वोत्तर अध्यायोको मिला कर विषयकी विवेचना करनेसे] ये भी रसके ही [पूरक] लक्षण हैं । यह [मूल श्लोकमे प्रयुक्त हुए] 'अपि' शब्दका अभिप्राय है । 'इति शिवम्' [यह अध्यायकी समाप्तिका सूचक है] ।

अभिनव०—रति आदि आठो शक्तियोके मध्य रहने वाले और अपने हृदय-मण्डलमे प्रेरणा देने वाले शिव जिस [अभिनवगुप्त] के हृदयमें स्थायी [स्थायी भावके] रूपसे रहते है उस [अभिनवगुप्त] ने क्रमसे रसाध्यायकी वृत्ति बनाई है।

परम शिवभक्त श्री अभिनवगुप्त विरचित नाट्यशास्त्रकी
'अभिनवभारती' नामक वृत्तिमें
रसाध्याय नामक षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ ।

— (०) —

उत्तरप्रदेशस्थ 'पीलीभीत' मण्डलान्तर्गत 'मकतुल' ग्रामनिवासिना
श्री शिवलाल बख्शी महोदयाना तनुजनुषा,
वृन्दावनस्थ गुरुकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्येन, तत्रत्याचार्यपदमधितिष्ठता,
एम० ए० इत्युपपदधारिणा, विद्यामार्तण्डेन
श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिना विरचिते
'अभिनवभारती-सञ्जीवनभाष्ये' षष्ठोऽध्याय समाप्त ।
समाप्तश्चाय ग्रन्थभाग. ।

परिशिष्ट [१]

अभिनवभारती के १, २, ६ अध्यायों में आए हुए उद्धरणों का अकारादि क्रम से, आकर ग्रन्थो सहित सूचीपत्र

पृष्ठ सख्या	उद्धरण	आकर ग्रन्थ	स्थान
४७२	अञ्जवि हरी चमक्कइ	...	.
५२१	अद्यैवावा रणमुपगतो	वेणीसहार	४-१६
४३२-४८	अधिरुह्य परा कोटि	काव्यादर्श	२,२८३
३६१	अन्तर्नेपथ्यगृह	वार्तिककृत्	...
४६७	अभिधाभावना चान्या	.	
५४६	असमाप्तजिगीषस्य	राजतरगिणी, शिशुपालवध	४-४४२
५५८	अप्रयुक्ते दीर्घ सम्भवत्	मीमासायाम्	...
२५३	अस्याः सर्ग विधौ	विक्रमोर्वशीयम्	१-१०
६३६	अष्टानामिह देवानाम्	सिद्धान्तशास्त्रम्	..
४६१	आत्तमात्तमधिकान्तमुक्षितु	कालिदास [रत्नक]	..
६२९	आत्मान गोपायेत्	गोतमधर्म-सूत्र	६-३५
२१४	आत्मारामा विहितरतयो	वेणीसहार	१-२३
४६८	आम्नायसिद्धे	अभिनवभारती	..
२१६	आलीढस्थितटङ्कितस्य	...	.
२१५	आविल पयोधराग्रम्	विक्रमोर्वशी	५-८
५६३	आशाबन्ध कुसुमसदृश	मेघदूत	१-१०
५६०	आ सीतै पतिगवें	..	.
५५४	आहूतोऽपि सहायै	...	...
५६७	ईरिसस कराणपुरदनणस्स	.	.
५२२	उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता	तापसवत्सराज	२-१६
५०४	उद्यान कान्ता चन्द्राद्या.	काव्यकौतुक	.
५५०	उपपरिसर गोदावर्या	भट्टेन्दुराज	.
४६८	ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य	अभिनवभारती	..
५४४	एकस्मिन् शयने	अमरुक	२३
५४३	एतस्मान्मा कुशलिनमभिज्ञान	मेघदूत	२-४५
५५२	कतिचिदहानि वपुरभूत	विक्रमोर्वशी	५-८
५२३	कर्णाम्यात्मजमग्रत	वेणीसहार	५-५
२८,२६	कामजो दशको गण	मनुस्मृति.	७-४७
४६०	केली कन्दलितस्य	..	...

परिशिष्ट [२]

अभिनवभारतीके प्रथम द्वितीय तथा षष्ठ अध्यायोमें आए हुए आचार्यों तथा ग्रन्थोके नामोंकी सूची

परिशिष्ट [३]

शुद्धिपत्र

हमें अत्यन्त खेद है कि पर्याप्त प्रयत्न करनेपर भी इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके मुद्रणमें बहुत अशुद्धियाँ रह गई हैं। इसकेलिए क्षमा-याचना करते हुए हम प्रार्थना करते हैं कि निम्नाङ्कित पृष्ठों और पङ्क्तियोंमें अशुद्ध-मुद्रित पाठके स्थानपर यहाँ दिए हुए शुद्ध पाठ अङ्कित कर लेनेकी कृपा करें।

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध पाठ
		[प्रथमोध्याय]
१७	१	मानसी
२४	३	शब्द
३५	६	पर्यग्रहीत्
३८	३	तथाधीयीत
६३	१	कर्तव्ये
१६०	६	स ['समः' छपा है]
१६०	९	नाट्यगृहं
२११	७	वस्तूच्यते
२१२	५	अधर्मप्रवृत्ताना
		[द्वितीयोध्याय]
२४६	२	तदङ्गत्वात्
२८२	४	वास्त्विति
२८५	२	प्रथमपरिग्रहे
२८७	१	चतुष्पष्टि
३२५	५	प्रदक्षिणाप्रदक्षिण
३३०	५	बुद्ध्या
३३७	५	पातीत्यन्ये
३४५	९	दृष्टान्
३७७	७	पूर्वकोणयोर्द्वौ
३८०	१०	प्रवेशार्थं
३९१	१	भित्तिस्तम्भसमाश्रय.
३९१	३	दन्यूनाधिकत्वमय
३९१	४	यदि चाभितः
		[षष्ठाध्याय]
३९५	२	पय
३९८	२	प्रश्नान्
३९९	१	भावयन्त्यपि
३९९	३	पूर्वमपि [दो बार छपा है]
४००	१	'भविष्यति युगे प्रायो' [दो बार छप गया है]
४०२	१	व्याख्यान-प्रसङ्गे
४०४	४	शब्दप्रादुर्भावे
४०६	४	प्रश्नान्तर
४०६	५	वृत्या
४१०	१	श्रुत्वा
४१०	२	प्रत्युवाच
४११	६	समीपामित्यभिप्रायेण
४१७	१-३ तथा ५-८ [दुबारा छप गया है]	
४१८	१	रसनामानामपि
४२१	१	सूनालब्धो
४२१	४	प्युपचारात्
४२३	१०	निघण्टुना
४३२	३	निमित्त
४३२	३	कामार्थयोधर्मनुरयान्
४३२	७	प्रवृत्तिधर्मं
४३३	२	रविर्हविश्च
४३२	८	प्रणीनिताः
४३३	८	धर्मोपजीविन्र
४३६	७	तदनन्तर
४४२	६	निनवृत्यन्तरेपरा
४४३	३	मनुष्कारि

४५१	८	गद्गदव्यादि
४५२	२	इति
४५३	३	अपि काव्ये
४५९	२	त्वानुपपत्ते
४७०	३	प्रथमप्रवृत्ता
४७१	७-८	धूमाग्न्योर्भय
४७३	५	नियन्त्रणात्
४७४	१	विरहो
४७५	६	तदपसारणे
४७५	१२	निह्नवमात्रे
४७६	१०	साकाक्षत्वात्
४७७	१	प्रत्यक्षपरा
४८५	१	वृत्त्यनुमाने
४८८	७	स्वसंवेदन
४८९	९	संविदो
४९५	१	पाडवादयो रसा
४९६	१	तावल्लौकिको
४९६	६	निर्वत्य, तेन
४९७	१०	प्रतिपत्तृभिः
४९९	१	साम्य
५०५	३	यद्वक्ष्यते
५०५	७	रससञ्चयो
५०७	४	मध्यस्थत्वात्
५०९	६	रसनिष्पत्तिरुक्ता
५१६	१०	दैवत, व्याख्यास्यामः
५१७	६	वर्णदैवतयो
५१८	६	स्थायिकल्पत्वेन
५१८	८	मयीयमनुरक्ता
५१९	१०	करुणाद्याभासेष्वपि
५२२	१	क्रोधस्य
५२५	२	महापुरुषोत्साहो
५२५	[illegible]	[illegible]
५२५	५	[illegible]
५२६	१	[illegible]
५४४	४	[illegible]
५५०	७	[illegible]
५५१	१	[illegible]
५६३	१	[illegible]
५७२	५	[illegible]
५७२	८	[illegible]
५७३	१	करोतीति
५७५	९	[illegible]
५८०	३	उपघातो
५८१	१	[illegible]
५८१	१०	नन्वादे
५८३	५	क्रोधमय्येवेति
५८४	८	अधिक्षेप
५८४	१०	आधर्षण
५८६	२	समारभन्ते
५८६	३	शब्दस्तत्र
५८६	१०	असम्मोह
५८७	१३	रौद्रो रसो
५९०	९	वागङ्गचेष्टितेन
५९७	१२	पुनरनुसन्धानेन
५९८	७	रोमोद्गमैरस्य
५९८	९	कार्यम् ?
५९८	१०	अयमाशयः ?
६००	३	समाधानम्
६०१	२	मृदून्
६०१	१०	कण्ठैर्भयानक
६०३	११	लक्षयितु
६०६	९	धर्मोपघातज
६०८	१	उपाध्यायस्त्वाह

समाप्तम्